अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

INTERNATIONAL POLITICS

डॉ० प्रभुदत्त शर्मा
एम. ए. (राजनीति एवं इतिहास), पी-एच. डी. (अमेरिका)
एम. पी. ए. (अमेरिका), स्वर्ण-पदक विजेता
संयोजक, राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम समिति एवं सदस्य, एकेडेमिक कौंसिल
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कॉलेज बुक डिपो
83, त्रिपोलिया बाजार (आतिश गेट के पास)
जयपुर–2 (राज०)

Published by College Book Depot, Tripolia Bazar, Jaipur-2
Printed at Hema Printers, Jaipur.

नए संस्करण की नई बात

'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' का यह नया संस्करण नए परिवेश में प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। पिछले सभी संस्करणों का पाठ्य-जगत में जो स्वागत हुआ है उससे हमें सदैव उत्साह मिला है। इस संस्करण को पूर्ण रूप से पुनर्गठित और संशोधित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों को परिवर्द्धित और परिमार्जित किया गया है। नए संस्करण की कुछ नई बातें इस प्रकार हैं--

(1) 1982 के प्रथम चरण तक की महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का विवेचन किया गया है।

(2) कुछ सर्वथा नए अध्याय/टॉपिक्स जोड़े गए हैं, यथा—नव-उपनिवेशवाद, अन्तर्राष्ट्रीय विकास और संयुक्त राष्ट्रसंघ, महाशक्तियाँ और तृतीय विश्व, भारत और उसके पड़ौसी, पूर्वी यूरोप, हिन्द महासागर आदि।

(3) संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और चीन के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए यथासम्भव नवीनतम प्रवृत्तियों और सम्भावनाओं का उद्घाटन किया गया है।

(4) 'एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के पुनर्जागरण' नामक अध्याय में पर्याप्त नवीन सामग्री जोड़ी गई है और विश्व की इस्लामी राजनीति का विवेचन किया गया है।

(5) अधिकांश विषय-सामग्री के मूल्यांकन पक्ष को अधिक सबल बनाया गया है।

(6) महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का तिथिक्रम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहार पक्ष के चरित्र को एक ही झलक में प्रस्तुत करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी है।

(7) विद्यार्थियों के हितार्थ अब तक के परीक्षा प्रश्न-पत्र पुस्तक के अन्त में दे दिए हैं।

विषय-सामग्री के प्रस्तुतीकरण में आधिकारिक और प्रामाणिक स्रोतों से सहायता ली गई है। सरकारी प्रकाशनों, विदेशी दूतावासों से प्राप्त की गई सूचनाओं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं को प्रस्तुत करने वाली महत्त्वपूर्ण समाचार-पत्र-पत्रिकाओं का पूरा उपयोग किया गया है। विश्वास है कि अपने नए परिवेश में यह पुस्तक पाठकों और छात्रों के लिए अधिक उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगी और पिछले संस्करणों से कहीं अधिक स्वागत इसे मिलेगा।

पुस्तक में सुधार के लिए रचनात्मक सुझाव सदैव सहर्ष आमन्त्रित हैं।

प्रकाशक

आभार

हिन्दी-भाषा में ऐसी गुणविपूर्ण और श्रेष्ठ पुस्तकों को भी, अंग्रेजी के माहौल में, उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है और यहाँ तक कि कई पुस्तकालयों में एक प्रति का भी मिल पाना टेढ़ी खीर है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रस्तुत पुस्तक ने अपना नाम और स्थान बनाया है, यह सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए उत्साहवर्द्धक है।

इस पुस्तक के नवीन संस्करण ने आज जो रूप धारण किया है उसमें हमें सर्वश्री न्यायमूर्ति डॉ. नागेन्द्रसिंहजी, श्री टी एन. चतुर्वेदी, डॉ. ए. अवस्थी, डॉ. आर. के. अवस्थी, डॉ. पी. एन. मसलदान, प्रो. ए. बी लाल, डॉ. के. वी. राव, डॉ. बी. एस. बुद्धराज, डॉ. बी. पी शर्मा, डॉ. हरद्वार राय, डॉ. आर. एन त्रिवेदी, डॉ. आर. सी. प्रसाद, डॉ. सुभाष कश्यप, डॉ बी. आर. पुरोहित, डॉ. एम. डी. मिश्रा, डॉ एल पी. सिन्हा, डॉ वीरकेश्वर-प्रसाद सिंह, डॉ. वी. एन. श्रीवास्तव, डॉ. एम. एम. पुरी, डॉ. ए. डी. पन्त, डॉ. जे. एस. बेन्स, डॉ. रघुवीरसिंह, डॉ. डी. एन. पाठक, डॉ आर. पी. श्रीवास्तव, डॉ. एन. आर. देशपाण्डे, डॉ. लक्ष्मणसिंह, डॉ. पी. एन सेठ, डॉ. मुरलीधर भगत, डॉ. डी. पी. सिंह, डॉ. आई. एन तिवाड़ी, डॉ पी. पी. गोयल, एवं अन्य विद्वानों से आशीर्वाद एवं सक्रिय सहयोग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्राप्त हुआ है, हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रकाशक

प्राक्कथन

राष्ट्रीय राज्य का विकास मानव सभ्यता के विकास की लम्बी कहानी है। इतिहास के इस चरण से अन्तर्राष्ट्रीय राज्य अथवा संघ तक पहुँचने का मानव प्रयास अभी भागीरथ प्रयत्न चाहता है। राष्ट्रीय राज्यों का राष्ट्रेत्तर आचरण जिसे हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहते आए हैं, दुनिया के छोटे-बड़े राष्ट्रों के सम्मुख इस प्रकार के विकल्प प्रस्तुत करता रहता है जिन्हें कुल मिलाकर इस विषय के अध्येता 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' कहना अधिक पसन्द करते हैं। एक जमाना था जब यूरोपीय महाद्वीप की घटनाओं और शक्ति-सन्तुलन की तकनीकों को विश्व राजनीति माना जाता था। दो विश्व युद्धों ने, जो मूल रूप से यूरोपीय युद्ध थे, नए शक्ति-पुन्जों को जन्म दिया और सामूहिक सुरक्षा तथा महाशक्ति युग का आरम्भ कर विश्व राजनीति के सम्मुख नए चुनौती क्षेत्र प्रस्तुत किए। 1950, 1960, 1970 और 1980 के दशकों ने साम्राज्यवाद के पलायन तथा एफ्रो-एशियाई मुक्ति की जिन महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं को आरम्भ किया है उनका दूरगामी प्रभाव आज की राष्ट्रेत्तर राजनीति एवं शक्ति सम्बन्धों पर स्पष्ट है और दृष्टव्य भी। वियतनाम का सफल संघर्ष महाशक्ति अभिनय का एक पटाक्षेप कहा जा सकता है। इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले नए शक्ति-पुन्ज एवं असन्तुलन भावी सम्बन्धों की राष्ट्रेत्तर राजनीति को परिचालित करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन आज इतिहासगत न होकर राजनीति-परक बनने के लिए प्रयत्नशील है। वैज्ञानिकता की कठिनाइयों और सीमाओं को जानते हुए भी वैज्ञानिक अध्ययन विधियाँ एवं पद्धतियाँ विदेश नीतियों की उन शैलियों के अध्ययन में लगी हुई हैं जो राष्ट्रेत्तर व्यवहार-जनित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को वर्णित करने की अपेक्षा अधिक गहराई से विश्लेषित करना चाहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के विद्वानों द्वारा किया गया इस प्रकार का बहुत सारा अध्ययन हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थताओं को समझने में सहायता प्रदान करता है, किन्तु दूसरी ओर यह भी सही है कि ये अध्ययन एक अमेरिकी दृष्टि विशेष को लेकर किए गए हैं और उनकी सीमाएँ तथा अपूर्णताएँ भी अपने आप में स्पष्ट हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और उसके बदलते घटनाचक्रों पर क्रमबद्धता एवं समीचीनता से लिखना और वह भी हिन्दी माध्यम से, अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तों पर जहाँ तक हमें ज्ञात है, हिन्दी माध्यम से यह पहला गम्भीर प्रयास है। अतः इसका महत्व एवं दुर्बलताएँ स्पष्ट हैं और गम्भीर भी।

अपने इस प्रयास में विषय को सरलता से नियोजित कर अंग्रेजी में उपलब्ध नवीनतम साहित्य को हिन्दी पाठक के सम्मुख बोधगम्य शैली में प्रस्तुत करने की हमारी चेष्टा रही है। पाठक भी यदि ऐसा ही समझेंगे तो हम मानेंगे कि हमारा श्रम सफल रहा है। प्रस्तुत संस्करण में अब तक के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नवीनतम घटना-चक्रों और प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जो नए आयाम खुल रहे हैं और पुराने आयाम नया परिवेश धारण कर रहे हैं, उन्हें समीक्षात्मक रूप में प्रस्तुत करने का हमारा प्रयास रहा है।

हम उन सभी लेखकों के ऋणी हैं जिनके विद्वतापूर्ण लेखों एवं ग्रन्थों की सहायता से हमने अपने विश्लेषण को सशक्त, समीचीन एवं सगतिपूर्ण बनाया है। आशा है प्रस्तुत रचना के प्रकाशन से हिन्दी प्रकाशनों की दुनिया का एक अभाव पूरा होगा और अन्य मानक रचनाओं को प्रकाश में आने की प्रेरणा मिल सकेगी।

प्रभुदत्त शर्मा

अनुक्रमणिका

1 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का परिचय

(An Introduction to International Politics and International Political System)

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सभी राजनीतिक उद्देश्यों की भाँति शक्ति के लिए संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम उद्देश्य कुछ भी हो, उसके पीछे शक्ति प्राप्त करना ही सदैव अन्तिम उद्देश्य होता है।"

—हैंस जे. मॉर्गेन्थो

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ कभी यूरोप की राजनीति से ही लिया जाता था। उस समय लगभग समूचे विश्व में यूरोपीय राष्ट्रों की राजनीति ही प्रभावी थी और एशिया तथा अफ्रीका में अपने आर्थिक एवं औपनिवेशिक विस्तार के लिए यूरोप के राज्य युद्धों तथा कूटनीतिक दाव-पेचों में संलग्न थे। उनकी शक्ति-सम्पन्नता, औद्योगिक प्रगति, विकसित तकनीक और प्रसारवादी महत्त्वाकांक्षाओं से पूर्ण राजनीति की तुलना में विश्व के अन्य देशों की राजनीति बहुत-कुछ शान्त और स्थानीय थी। लेकिन कालान्तर में इतिहास की धारा पलटी और प्रथम महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बदला। दो महायुद्धों के बीच अधिकांश विश्व के एक बड़े भाग में आर्थिक सांस्कृतिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने देशों की आन्तरिक और बाह्य राजनीति को आधारभूत रूप में प्रभावित किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद अणु-शक्ति ने राष्ट्रों की राजनीति और सामरिक नीति को एक नया मोड़ दिया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों का प्रभुत्व एवं प्रभाव तेजी से बढ़ा जिसकी उपेक्षा करना किसी भी महाशक्ति के लिए आत्मघाती हो सकता था। इन सब घटनाओं तथा क्रिया-प्रतिक्रियाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदल दिया तथा उसके आकार और आयामों को सच्चे अर्थों में 'अन्तर्राष्ट्रीय' बना दिया। इसके फलस्वरूप आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को केवल यूरोप की राजनीति मानने के दिन समाप्त हो चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्त्व आज निर्विवाद है और एक स्वतन्त्र विषय के रूप में उसका महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतन्त्र विषय के रूप में
(International Politics as an Independent Discipline)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कलेवर बढ़ा और उसके अध्ययन को महत्व दिया जाने लगा। इससे यह विवाद उठा कि इसे एक स्वतन्त्र अध्ययन-शास्त्र के रूप में मान्यता दी जाए अथवा नहीं। मैनिंग, क्विंसी राइट, हाफमन जैसे विद्वान् इसे एक स्वतन्त्र विषय अथवा शास्त्र मानने के पक्ष में हैं। मैनिंग (A. W. Manning) का प्रमुख तर्क यह है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक वृहद् विषय तथा विशाल सामाजिक विश्व (Social Cosmology) का अंग है।" इस सम्बन्ध में वह तीन बातें बतलाते हैं—"(i) सामाजिक विश्व के अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक जाल है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वतन्त्र अध्ययन आवश्यक है। (ii) इसके लिए एक सर्वव्यापी दृष्टिकोण (Universalistic Angle) आवश्यक है और यह दृष्टिकोण तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हम एक स्वतन्त्र विषय न मान लें। अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर जो भी अनगिनत घटनाएँ घटित होती हैं, उन्हें समझने, सही और समुचित सन्दर्भ में रखने तथा उनकी दिशाओं को जानने का यही सही एवं सर्वोत्तम तरीका है। (iii) यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की घटनाओं के सही स्वरूप को न समझ सकें अथवा उनकी दिशाओं का आभास न पा सकें तथा समस्याओं के समाधान की दिशा में समुचित रूप से विचार न कर सकें तो इसके अध्ययन का कोई लाभ नहीं होगा।"[1] क्विंसी राइट (Quincy Wright) ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वतन्त्र शास्त्र मानने के सम्बन्ध में प्रमुख तर्क यह दिया है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय आज दूसरे विभिन्न विषयों से लाभ उठाकर समन्वयात्मक ढंग से उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता जा रहा है। उन्होंने ऐसे आठ विषय भी गिनाए हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन की मूल सामग्री हैं।"[2] हाफमन ने इस विषय के स्वतन्त्र अस्तित्व के सम्बन्ध में एक भिन्न तर्क देते हुए कहा है कि ये विश्व-राज्य रूपी इकाइयों में प्रगाढ़ सम्बन्ध हैं जो इन इकाइयों के अथवा राज्यों के बाह्य आचरणों के और नीतियों के परिणाम हैं। इस प्रकार हाफमन यह प्रतिस्थापित करना चाहते हैं कि हम राज्यों के आन्तरिक मामलों का विवेकपूर्ण अध्ययन तभी कर सकते हैं जब उनकी बाह्य क्रियाओं का विशद, गहन और समुचित अध्ययन करें। स्पष्ट है कि इस अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतन्त्र विषय के रूप में उतना ही मान्य है जितना कि राजनीतिशास्त्र। आखिर राष्ट्रीय राजनीति को भी हम सही रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में समझ सकते हैं।

कैपर जॉनसन (Capper Johnson) ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हम इतिहास अथवा राज-शास्त्र का अंग नहीं मान सकते क्योंकि इसका क्षेत्र उनसे

1 *A W Manning (Ed)* : The University Teaching of Social Sciences-International Relations (UNESCO 1254), p. 10.
2 *Quincy Wright* : The Study of International Relations, pp. 23-24

कहीं अधिक व्यापक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र जो सामग्री एकत्रित करता है वह दूसरे शास्त्रों की सामग्री से स्पष्टतः भिन्न है। साथ ही इस सामग्री को समन्वित करने की उसकी पद्धति भी निराली है। अतः सामाजिक विज्ञानों में उसे एक स्वतन्त्र शास्त्र मानना उचित है।"[1] जे. डब्ल्यू. बर्टन (J. W. Burton) ने अपना निष्कर्ष दिया है कि "अन्ततः इसका (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का) एक अपना अन्तर्शास्त्रीय ढाँचा विकसित होगा जो राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के विविध पक्षों के बारे में किए गए विशिष्ट अध्ययनों से गठित होगा और तब उसे अन्यान्य सामाजिक विज्ञानों से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।"[2]

पी. डी. मर्चेण्ट, रॉबर्ट स्ट्रॉस, काप्लान, जॉर्ज केनन आदि ऐसे विद्वान् भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता देने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। विरोध में पहला तर्क यह दिया जाता है कि किसी भी शास्त्र के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—निश्चित अध्ययन-सामग्री, स्पष्ट गवेषणा-पद्धति और सर्वमान्य सिद्धान्त-निकाय, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य कार्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों और उनके प्रेरक तत्वों अर्थात् राज्यों की नीति-निर्धारण-प्रक्रिया का सम्पूर्ण अध्ययन करना है और यह अध्ययन वह स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकता, अपितु उसे राजशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि पर निर्भर रहना पड़ता है। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र शास्त्र का दर्जा देना उपयुक्त नहीं है। काप्लान इसे राजशास्त्र अथवा राजनीतिशास्त्र (Political Science) के विभाग के रूप में मानने के पक्ष में है और जॉर्ज केनन का भी बहुत-कुछ यही अभिमत है। अपने पक्ष में इन विद्वानों का तर्क है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अभी तक राजनीतिशास्त्र का अंग माना जाता रहा है। राष्ट्र मूलतः एक राजनीतिक इकाई है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्व के राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्धों, राजनय, शक्ति के लिए संघर्ष आदि से सम्बद्ध है, अतः इसे राजनीतिशास्त्र का अंग मानते रहना ही उचित होगा।

चाहे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय स्वीकार करने के विचार का विरोध किया जाए, किन्तु दो बातें निश्चित रूप से स्पष्ट हैं—पहली बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन-सामग्री निरन्तर बढ़ती जा रही है और आज इसका ताना-बाना इतना जटिल, बहुरूपी और विशिष्ट बनता जा रहा है कि यह विषय किसी अन्य शास्त्र जैसे राजनीतिशास्त्र, इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय कानून या अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं रह सकता। दूसरी बात यह है कि आज भले ही इसके स्वतन्त्र रूप पर सन्देह किया जाए, लेकिन कल ऐसा नहीं रहेगा। इस मान्यता की पुष्टि में यथेष्ट कारण हैं। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए सिद्धान्तों (Theories) का विवेचन होने लगा है। 1947 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'राष्ट्रों के

1 *Karlin M. Capper Johnson* : The Discipline of International Affairs, pp. 6-7.
2 *J. W Burton* : International Relations, p. 13.

मध्य राजनीति' (Politics Among Nations) में हँस जे. मॉर्गेन्थो ने पहली बार एक व्यवस्थित सिद्धान्त का निरूपण किया जो 'यथार्थवादी सिद्धान्त' (Realist Theory) कहलाता है। इसके बाद से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए और भी अनेक सिद्धान्तों का आंशिक रूप से निरूपण किया जा चुका है और इस बात की प्रबल सम्भावना है कि शीघ्र ही सामान्य सिद्धान्तों का गठन किया जा सकेगा। इस विषय के अध्ययन में व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप में जो विभिन्न दृष्टिकोण अथवा ढंग (Approaches) विकसित हो रहे हैं वे उत्साहवर्द्धक चिह्न हैं और जिस दिन सिद्धान्तों में स्थिरता आ जाएगी उस दिन इसके स्वतन्त्र विषय होने पर कोई सन्देह नहीं रहेगा। निश्चित अध्ययन-सामग्री, जिसके विश्लेषण द्वारा सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण किया जा सकता है, उपलब्ध है, स्पष्ट गवेषणा-पद्धति का अस्तित्व किसी से छिपा नहीं है, केवल एक सर्वमान्य सिद्धान्त अथवा सिद्धान्त-निकाय का आविर्भाव बाकी है। इस दिशा में भी प्रयास काफी प्रगति पर है और समस्या का समाधान निश्चित रूप से निकट भविष्य में ही हो जाने की सम्भावना है। विभिन्न राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए पृथक् विभागों अथवा संस्थाओं की व्यवस्था कायम की जा चुकी है। विकासशील देश तक इस दिशा में आगे बढ़ चुके हैं। उदाहरणार्थ, भारत में 'Indian School of International Studies इसको एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता दिलाने की ओर गम्भीर प्रयास है तथा विश्वविद्यालयों में इस पर पृथक् रूप से परीक्षा-पत्र दिए जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विकास के चार स्तर
(Four Stages of Development of the Study of International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वतन्त्र शास्त्र मानने की आधुनिक धारणा पर विद्वान् एकाएक ही नहीं पहुँचे हैं। इस विषय के कतिपय प्रमुख अध्ययन-सोपान रहे हैं और विकास की महत्वपूर्ण मंजिलों को पार करके यह अपनी आधुनिक अवस्था में पहुँचा है। कैनेथ थॉम्पसन ने इस विषय के अध्ययन के चार मुख्य स्तर स्वीकार किए हैं।[1]

प्रथम स्तर (The First Stage)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास का प्रथम चरण प्रथम महायुद्ध के अन्त तक रहा जिसमें कूटनीतिक इतिहासज्ञों का एकाधिकार छाया रहा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को पढ़ाते समय समकालीन राजनीतिक घटनाओं की गहन ज्ञान की उपेक्षा कर भूतकालीन राजनीतिक और कूटनीतिक इतिहास का परिचय देना ही पर्याप्त समझा गया। इतिहास से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल कर उनसे समकालीन

1 *Kenneth W. Thompson* : The Study of International Politics—A Survey of Trends and Developments-Review of Politics (14 Oct., 1952), pp. 433-67.

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की सगति बैठाने का कोई प्रयास नही किया गया। कूटनीतिक इतिहासज्ञों ने तथ्यों के अपने वर्णनात्मक अध्ययन से कोई सार्वभौमिक सिद्धान्त निकालने की चेष्टा नही की। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उनके अध्ययन और अध्यापन से विगत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की तथ्यात्मक जानकारी तो समुचित रूप से मिली, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के तत्कालीन स्वरूप अथवा उनकी भावी दिशा को समझने में कोई सहायता नही मिल सकी। इस एकांगी ऐतिहासिक अध्ययन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त-पक्ष का विकास नही हो पाया। अध्ययन की यह एकांगी परम्परा बहुत पुरानी और अपूर्ण होते हुए भी एशिया तथा अफ्रीका के कुछ अविकसित और विकासशील राष्ट्रों में जीवित है। उदाहरणार्थ, कुछ वर्षों पूर्व तक अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालयों में यही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रचलित थी।

द्वितीय स्तर (The Second Stage)

महायुद्धकालीन अनुभवों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को एक नया मोड़ दिया। महायुद्ध के बाद 1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विभाग खुला और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में समकालीन घटनाओं और समस्याओं (Current Events and Problems) के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा। यद्यपि यह कदम कूटनीतिक ऐतिहासिक अध्ययन के एक अभाव की पूर्ति था तथापि यह भी एकांगी ही था। इस नवीन दृष्टिकोण में भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समुचित अध्ययन सम्भव नही था क्योंकि विगत अथवा भूतकालीन घटनाओं की उपेक्षा करते हुए केवल वर्तमान के अध्ययन पर ही अधिकाधिक आग्रह था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास के प्रथम चरण में विद्वान् केवल विगत कूटनीतिक इतिहास के अध्ययन से ही सन्तुष्ट हो जाते थे और वर्तमान से उसका सम्बन्ध स्थापित नही करते थे, किन्तु अब विद्वान् केवल वर्तमान के अध्ययन में ही इतने लीन होने लगे थे कि उन्होंने अतीत के इतिहास के अध्ययन की ओर अप्रत्याशित बेरुखी अपनाई। इस एकांगी दृष्टिकोण का भी यह स्वाभाविक परिणाम निकला कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-क्षेत्र में कोई समुचित सैद्धान्तिक अथवा विधिशास्त्रीय आधारशिला नही रखी जा सकी और ऐसे प्रयासों की स्थापना नही हो सकी जिनके द्वारा इतिहास की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में वर्तमान घटनाओं के महत्व को समझा जा सकता और अन्तर्राष्ट्रीय आचरण की भावी दिशा का संकेत प्राप्त हो सकता। इस बात की उपेक्षा ही रही कि वास्तव में भूत और वर्तमान की युक्तियुक्त सम्बन्ध-स्थापना द्वारा ही किसी विषय का सम्यक् विकास सम्भव है।

तृतीय स्तर (The Third Stage)

द्वितीय स्तर के विकास के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का तृतीय स्तर भी आरम्भ हुआ और ये दोनों ही स्तर दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में प्रभावशाली रहे तथा द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में भी ये अप्रचलित नही

है। इस तृतीय स्तर में कानून और संगठन के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संस्थानीकरण (Institutionalization of International Relations) पर बल दिया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध-काल के दौरान तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के 14 सूत्रों ने राष्ट्रों के लिए नवीन सन्देश, नवीन आशा और भावी सम्बन्धों की सम्भावित आधारशिला प्रस्तुत की और पेरिस-सम्मेलन से एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्था 'राष्ट्रसंघ' का जन्म हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी एक नए परिवेश और नए स्वरूप में सामने आया। इन सब ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आदर्शवादिता का पुट दिया जिससे फलस्वरूप इसका अध्ययन आदर्शोन्मुख हो गया।

अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन इस विश्वास से प्रेरित हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज ऐसी संस्थाओं का निर्माण कर सकने में समर्थ होगा जिनके द्वारा सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ संवैधानिक एवं शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाई जा सकेंगी। अतः अब उन उद्देश्यों और मूल्यों की खोज की जाने लगी जिन्हें प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को प्रयत्नशील होना चाहिए। साथ ही ऐसी *संस्थाओं के निर्माण की कल्पनाएँ सजोई जाने लगी जिनके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय* समुदाय इन उद्देश्यों और मूल्यों को प्राप्त कर सके। आशावाद की इस नवीन लहर ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में आदर्शवादी और सुधारवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का अर्थ था राष्ट्रसंघ का अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन, शान्ति कायम रखने के मार्ग का अध्ययन आदि। भावात्मक और काल्पनिक सुधारवाद का तत्व इतना प्रबल हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित विद्वान् एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय समाज के निर्माण की कल्पना के रंगीन स्वप्नों में खो गए और अन्तर्राष्ट्रीय जगत की वास्तविकताओं तथा कटु सत्यों की उपेक्षा कर आदर्शवाद और सुधारवाद के जोश में सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान केवल कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से सम्भव मानने लगे। हंस मॉर्गेन्थो ने ठीक ही लिखा है कि दो महायुद्धों के बीच की इस अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों की प्रवृत्ति "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति को समझने की नहीं रही बल्कि उन कानूनी संस्थाओं और संगठनों के विकास की रही जो तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर छा सकें।"[1] *विद्वान् इस दिशा में इतने डूब गए कि मानों अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और कानून की* स्थापना मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय जगत की समस्याएँ हल हो जाएँगी।

चतुर्थ और वर्तमान स्तर
(The Fourth and the Modern Stage)

इस प्रकार 1919 से लेकर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विकास के तीन मुख्य स्तर रहे—कूटनीतिक इतिहास; अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन एवं सामयिक घटनाओं के अध्ययन पर एकाग्रता;

1 *Hans J. Morgenthau* : The Intellectual and Political Functions of a Theory of International Relations, in Horrace V. Harrison, ed , The Role of Theory in International Relations, p. 107.

तथा राजनीतिक सुधार व आदर्शवाद। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने जो पलटा खाया, राष्ट्रसंघ की असफलता ने जो आघात पहुँचाया और सामूहिक सुरक्षा-प्रणाली की अव्यावहारिकता ने लोगों की ऊँची आशाओं पर जो तुषारापात किया, उससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी प्रवृत्ति को बल मिला। वास्तव में इस प्रवृत्ति के शक्तिशाली अंकुर तो 1930 की महान् आर्थिक मन्दी के बाद से ही प्रस्फुटित हुए और एक के बाद एक तेजी से घटने वाली राजनीतिक और सैनिक घटनाओं ने इस प्रवृत्ति की जड़ें जमा दीं। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद थोथे आदर्शवाद और काल्पनिक सुधारवाद अतीत की चीज बन कर रह गई।

विकास के इस चौथे और वर्तमान चरण में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में उन शक्तियों और प्रभावों पर बल दिया जाने लगा जिनसे राष्ट्रों के व्यवहारों का निरूपण होता है। यह अनुभव हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ एक ढंग से घटित होती हैं और आदर्श के धरातल से बहुत कुछ परे रहती हैं। यह सुस्पष्ट हो गया कि 'शक्ति' (Power) की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र में सबसे अधिक है। शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय जगत का सबसे बड़ा यथार्थ प्रतीत होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का 'यथार्थवादी सिद्धान्त' भी प्रतिपादित हुआ। अब इन बातों का अध्ययन होने लगा कि विदेश नीतियों को निश्चित करने और संचालित करने वाले कौन-कौन से तत्व हैं, विदेश नीति किस ढंग से और कैसे कार्यान्वित होती है, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का समाधान कैसे किया जाए, आदि। पहले के संस्थापरक दृष्टिकोण (Institutional Approach or System-Oriented View) के स्थान पर अब इकाईपरक दृष्टिकोण (Entity Oriented View) अपनाया जाने लगा जिसके अनुसार विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को स्वतन्त्र इकाई मानकर उनके गठन, कार्य और लक्ष्यों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति विकसित हुई। सम्पूर्ण विश्व को एक अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक इकाई और विभिन्न राष्ट्रों को उसका अंग मानकर दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने की आदर्शवादी और अयथार्थवादी प्रवृत्ति के दिन लद गए। दोनों महायुद्धों के बीच के काल में जहाँ राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन का केन्द्र था वहाँ अब विश्व-राजनीति के ढाँचे में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन होने लगा। आज संयुक्त राष्ट्र-संघ के कार्यों और उद्देश्यों का अध्ययन सांविधानिक सन्दर्भ की अपेक्षा राजनीतिक सन्दर्भ में अधिक किया जाता है। विश्व-समस्याओं के अध्ययन का उद्देश्य अब उनकी प्रशंसा या निन्दा करना नहीं है, बल्कि उन्हें समझना और समाधान के सन्तुलित और समुचित साधन खोजना है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-क्षेत्र में आज मुख्य विषय सैद्धान्तिक खोजबीन का है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिए सैद्धान्तिक योगदान बहुत लम्बे अर्से से अप्रभावशाली रहा है। क्विंसी राइट ने ठीक ही लिखा है कि जो सिद्धान्त निरूपित किए गए उनका मुख्य उद्देश्य सैनिक व्यूह रचनाकारों, कूटनीतिज्ञों, न्यायविदों, साम्राज्यवादियों, मानसशास्त्रियों, प्राविधिज्ञों, अर्थशास्त्रियों और दार्शनिकों जैसे वर्गों या समूहों के लिए उपयोगी होना था। उन

सिद्धान्तों में सिद्धान्तवादियों के सङ्कीर्ण हितों का ही प्रतिबिम्ब झलकता था, उनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सम्पूर्ण क्षेत्र से सम्बन्ध नहीं था। लेकिन द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के वैधानिक सिद्धान्तों के विकास के प्रशंसनीय प्रयास हुए हैं और यद्यपि अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सका है तथापि जो कुछ भी प्रगति इस दिशा में की गई है वह निःसन्देह उत्साहवर्धक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्धान्तों का विवेचन होने लगा है। उदाहरण के लिए, हैंस मोर्गेन्थो द्वारा प्रतिपादित 'यथार्थवादी सिद्धान्त' इस क्षेत्र में एक क्रान्ति का द्योतक है और जिस गम्भीरता से विभिन्न आंशिक सिद्धान्तों का निरूपण होता जा रहा है उनसे यह सुनिश्चित है कि शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-क्षेत्र में एक सामान्य सिद्धान्त (A General Theory) का गठन भी किया जा सकेगा।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अपने स्वरूप और विषय-सामग्री की दृष्टि से क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तित हो गया है। *इस परिवर्तन में अनेक महत्वपूर्ण कारकों का योग रहा है।* अणुशक्ति के विकास, तकनीकी प्रगति, उपनिवेशवाद की तेजी से समाप्ति, नए राष्ट्रों का उदय, पुराने अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों की समाप्ति और उनका नवीनीकरण, नए अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का आविर्भाव, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और जनमत की बढ़ती हुई भूमिका और इन सबसे परे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के ज्ञान-क्षेत्र में एक सैद्धान्तिक व्यवस्था के निर्माण की इच्छा आदि तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-दृष्टिकोण में युगान्तरकारी परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इसका अभिप्राय है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवर्तित स्वरूप का अध्ययन इन और इसी प्रकार के अन्य तत्वों के सन्दर्भ में करना होगा। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप का अध्ययन तब तक एकांगी और अपूर्ण रहेगा जब तक हम बीसवीं शताब्दी के सामाजिक स्वरूप (Sociological Nature) के प्रासंगिक अध्ययन को साथ लेकर न चलें।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान अध्ययन में यह भी एक प्रमुख प्रवृत्ति है कि अब आदर्शवादी अथवा यथार्थवादी दृष्टिकोणों से बँधकर चलना उपयुक्त नहीं समझा जाता। आज का अध्ययन किसी पूर्वकालिक अन्य अध्ययन की अपेक्षा अधिक सन्तुलित दृष्टि लिए हुए है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की वर्तमान पद्धति वैज्ञानिक एवं तटस्थ विश्लेषण की है यद्यपि उसका अन्तिम लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पारस्परिक सद्भाव और शान्ति की अभिवृद्धि ही है। यहाँ वैज्ञानिक तटस्थता का प्रयोग अपने कठोर अर्थों में नहीं किया गया है क्योंकि किसी भी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञान के अध्येता के समान निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाना सम्भव नहीं है। सम्भवतः इसीलिए कुछ विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहना अधिक उपयुक्त समझा है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की इन वर्तमान प्रवृत्तियों के विकास का आशय यह नहीं है कि द्वितीय महायुद्ध से पहले की प्रवृत्तियों का कोई महत्व नहीं

रहा है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि जब तक हम 1945 से पूर्व की इस शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को नहीं समझेंगे तब तक 1945 के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप का भली प्रकार अध्ययन नहीं कर सकते। अतीत को पूरी तरह भुलाकर नवीन को पूरी तरह अपना लेने का दृष्टिकोण एकांगी और खतरनाक होगा। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान स्वरूप में दिखाई देने वाले परिवर्तन कोई 'सम्पूर्ण परिवर्तन' (Total Changes) नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने जहाँ कुछ पुरातन बातों को अपना रखा है, वहाँ बहुत से पुराने घेरों को तोड़ कर कुछ सर्वथा नवीन बातों को अपना लिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ, स्वरूप और क्षेत्र
(Meaning, Nature and Scope of International Politics)

अर्थ एवं स्वरूप (Meaning and Nature)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को भली प्रकार समझने की दृष्टि से उपयुक्त होगा कि हम पहले 'राजनीति' (Politics) शब्द के अर्थ को संकेत रूप में जान लें। राजनीति का स्वरूप चाहे घरेलू हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, उसमें प्रत्येक बात इस तथ्य से प्रकट होती है कि लोगों की अपनी-अपनी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ हैं। इन आवश्यकताओं और इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के प्रयासों के फलस्वरूप लोगों में सम्पर्क स्थापित होता है और इस सम्पर्क के कारण अन्ततोगत्वा समूहों या वर्गों (Groups) का निर्माण होता है। किसी एक समूह के सदस्यों की आवश्यकताओं और इच्छाओं में आमतौर पर अति निकटता हो सकती है, किन्तु विभिन्न समूहों की आवश्यकताओं और इच्छाओं का परस्पर भिन्न होना स्वाभाविक है। ये समूह अपने सदस्यों की आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की गतिविधियों में लीन होते हैं और अलग-अलग नीतियाँ अपनाते हैं। इस प्रकार राजनीति का उदय विभिन्न समूहों के अस्तित्व और उनके बीच पाई जाने वाली असहमतियों तथा लोगों द्वारा अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को अधिकाधिक सन्तुष्ट करने के लिए विभिन्न सम्बन्धों के निर्माण के प्रयासों में होता है। इसी प्रक्रिया अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया को ध्यान में रखते हुए क्विंसी राइट ने राजनीति को एक ऐसी 'कला' माना है "जिसके द्वारा बड़े गुटों अथवा समूहों को प्रभावित, छलयोजित या नियन्त्रित करके कोई समूह दूसरे समूहों के विरोध के बावजूद अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।"[1]

स्पष्ट है कि राजनीति के लिए तीन बातें अनिवार्य हैं—समूहों का अस्तित्व, समूहों के बीच असहमति और उनमें से कुछ का अपने हित साधन के लिए दूसरों को प्रभावित या नियन्त्रित करने का प्रयत्न। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राजनीति समूहों, असहमति और सामूहिक कार्यों की घटना अथवा क्रिया है। पूर्ण असहमति (Complete Disagreement) तथा पूर्ण सहमति (Complete

1 *Quincy Wright* : The Study of International Relations, p. 130.

Agreement) इन दोनों ही दशाओं में राजनीति का अस्तित्व सम्भव नहीं है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति का उपस्थित होना भी असम्भव प्रायः ही है क्योंकि समूहों के परस्पर विरोधी स्वार्थों में टकराहट और उन स्वार्थों की पूर्ति के लिए जोड़-तोड़ अवश्यम्भावी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए शेल्डोन वोलिन (Sheldon S. Volin) ने राजनीति को हमारे उन अनवरत प्रयासों की प्रक्रिया माना है जिनका उद्देश्य दूसरों के साथ ऐसे सम्बन्धों की स्थापना करना हो जो हमारे हक में सर्वाधिक लाभकारी सिद्ध हो सकें।[1] इस प्रक्रिया में संघर्ष (Conflict) स्वतः निहित है जो राजनीति का मूल है। यह ध्यान रहे कि संघर्ष (Conflict) और विवाद (Disputes) एक नहीं है। संघर्ष राजनीति की प्रक्रिया में निरन्तर बने रहने वाली अवस्था है जबकि विवाद कुछ विशेष मामलों के सम्बन्ध में उठते हैं और शान्त हो जाते हैं। संघर्ष अमूर्त है जबकि विवाद उस संघर्ष का ठोस मूर्त रूप। चूँकि समूहों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ असीमित होती हैं तथा उनकी पूर्ति के साधन सीमित होते हैं, अतः उन इच्छाओं और आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के प्रयासों में गुटों द्वारा अपना पक्ष प्रभावित या नियन्त्रित करने की जोड़-तोड़ चलती रहती है और इस प्रकार संघर्ष की अमूर्त स्थिति सदैव विद्यमान रहती है। उसकी मात्रा में अवश्य ही समयानुसार अन्तर हो सकता है। संघर्ष की यह स्थिति शक्ति (Power) की भूख बढ़ाती है। हँस मार्गेन्थो के शब्दों में, "दूसरे गुटों या वर्गों के क्रिया-कलापों अथवा नीतियों को प्रभावित या नियन्त्रित कर सकने की क्षमता का नाम 'शक्ति' (Power) है"; और शक्ति-प्राप्ति के लिए किया गया संघर्ष (Conflict) ही राजनीति का मूल है। वस्तुतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि राजनीति वह प्रक्रिया है जिससे शक्ति का अर्जन, रक्षण, प्रयोग और संवर्द्धन होता है।

'राजनीति' शब्द के अभिप्राय को संकेत रूप में समझ लेने के उपरान्त अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ समझना अति सुगम है। विश्व-राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की राजनीति ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्र अपने हित-साधन के लिए आपसी सम्बन्धों में संघर्ष की जिस स्थिति में रहते हैं उसी का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में राष्ट्र समूह (Groups) हैं, उनकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ राष्ट्रीय हित (National Interests) हैं और राष्ट्रों या हितों के बीच असहमति ही संघर्ष (Conflict) है, किन्तु शक्ति का तत्व (Element of Powers) वही है। राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों में संघर्ष का उद्देश्य भी राष्ट्रीय क्षेत्र के समान ही *अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी दूसरों की तुलना में अधिक लाभकारी स्थिति प्राप्त करना* होता है। अपने पक्ष में दूसरे राष्ट्रों के क्रिया-कलापों या नीतियों को प्रभावित, नियन्त्रित अथवा छलयोजित करने की क्षमता का विकास करने के लिए विश्व के

1 *Sheldon S. Volin* : Politics and Vision—Continuity and Innovation in Western Political Thought, p. 11.

राष्ट्र अनवरत जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं, संघर्ष की स्थिति में उलझे रहते हैं। सारांश में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीन तत्व आवश्यक हैं—राष्ट्रीय हित, संघर्ष और शक्ति (National Interest, Conflict and Power)। राष्ट्रीय हित उद्देश्य है, संघर्ष स्थिति विशेष है और शक्ति उद्देश्य-प्राप्ति का साधन है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष (Conflict) विशेष महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज से संघर्ष की स्थिति का लोप नहीं हो सकता, अतः शक्ति के माध्यम से सामञ्जस्य की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। संघर्ष की निरन्तर उपस्थिति का आशय यह नहीं है कि विश्व के राष्ट्र सदैव एक दूसरे से टकराव रखते हैं। जिन राष्ट्रों के हित परस्पर समान होते हैं उनमें सहयोग भी होता है। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष और सहयोग दोनों सन्निहित हैं। पर सहयोग भी अन्तिम रूप में संघर्ष का ही परिणाम है, क्योंकि एक तो जिन राष्ट्रों के हित परस्पर समान होते हैं वे आपस में सहयोग इसीलिए करते हैं कि दूसरे राष्ट्रों के संघर्ष पर विजय पा सकें और दूसरे, सहयोग की आकांक्षा इसलिए की जाती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्वभावतः संघर्षपूर्ण होते हैं। कहने का आशय यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्य किसी भी राजनीति की तरह, अपनी प्रकृति में एक निरन्तर गतिमान घटना अथवा क्रिया है—ऐसी क्रिया जिसमें संघर्ष को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है और इसके माध्यम से अथवा इससे उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियों के माध्यम से शक्ति (Power) के अर्जन, रक्षण, प्रयोग और सवर्द्धन का प्रयास किया जाता है।

क्षेत्र (Scope)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ, स्वरूप और क्षेत्र को विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। इसके अर्थ और स्वरूप से हमें इसके क्षेत्र का आभास मिल चुका है। अधिक स्पष्टता के लिए उचित होगा कि हम पहले कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं को जान लें और फिर विषय-क्षेत्र की व्याख्या करें। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ ये हैं—

हंस मॉर्गेन्थो—"राष्ट्रों के मध्य शक्ति (Power) के लिए संघर्ष तथा उसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"

फेलिक्स ग्रास—"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में राष्ट्रों की विदेश-नीतियों का अध्ययन ही है।"

स्प्राउट—"स्वतन्त्र राजनीतिक समुदायों (अर्थात् राज्यों) के अपने-अपने उद्देश्यों अथवा हितों के आपसी विरोध-प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं और सम्बन्धों का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है।"

थॉम्पसन—"राष्ट्रों के बीच छिड़ी प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ उनके पारस्परिक सम्बन्धों को सुधारने या बिगाड़ने वाली परिस्थितियों और संस्थाओं के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहते हैं।"

हार्टमेन—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से अभिप्राय उन प्रक्रियाओं के अध्ययन से है जिनके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का सामञ्जस्य अन्य राज्यों के राष्ट्रीय हितों के साथ बैठाते है।"

पैडेलफोर्ड एवं लिकन—"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राजसत्ताओं के बदलते सम्बन्धों के सन्दर्भ में राज्यों की नीतियों की अन्त क्रिया है।"

बर्टन—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में सामान्य बातों के अतिरिक्त वे सभी घटनाएँ और परिस्थितियाँ भी सम्मिलित हैं जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों पर पड़ता है।"

हैंस मॉर्गेन्थो का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'शक्ति' का तत्व प्रधान है। प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के लिए प्रयत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति 'शक्ति' की राजनीति है। न केवल राष्ट्रीय हित को बढ़ाने, प्राप्त करने अथवा कार्यान्वित करने के लिए अपितु अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपनी भूमिका निभाने के लिए यह क्षमता अर्थात् 'शक्ति' अनिवार्य है। मॉर्गेन्थो के अनुसार, राष्ट्रों के बीच सभी सम्बन्ध राजनीतिक नहीं होते क्योंकि राष्ट्र सामान्यतः अनेक ऐसे कार्य भी करते हैं जिनका शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता और न ही उनसे राष्ट्र की शक्ति पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रों के अनेक कानूनी, आर्थिक, मानवीय और सांस्कृतिक कार्य-कलापों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। मॉर्गेन्थो का निष्कर्ष है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सभी राजनीतियों के समान, शक्ति के लिए संघर्ष का ही नाम है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे अन्य कुछ भी उद्देश्य हो पर उसका तात्कालिक उद्देश्य सदैव शक्ति ही रहता है।"[1] मॉर्गेन्थो के तर्क में बल है तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि 'शक्ति' एक साधन मात्र है, साध्य नहीं। राष्ट्र केवल 'शक्ति' के लिए ही कोई राजनीति संचालित नहीं करते। साथ ही यह तथ्य भी विस्मृत नहीं किया जा सकता कि 'शक्ति' चाहे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कितना ही प्रमुख तत्व हो, इसकी सीमाएँ हैं।[2] यदि शक्ति की सीमाओं को भुला कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन किया जाएगा, तो न तो वह अध्ययन सही होगा और न ही उसके आधार पर हम सही नतीजे पर पहुँच सकेंगे।

फेलिक्स ग्रॉस, रसेल फाइफील्ड आदि विद्वानों ने राष्ट्रों की विदेश-नीतियों के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति माना है।[3] यह तर्क दिया गया है कि जब तक हम राष्ट्रों की विदेश-नीतियों को नहीं समझ लेंगे तब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ही नहीं समझ सकते। इन विद्वानों ने दोनों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि एक का अध्ययन दूसरे का अध्ययन बन गया है, एक को दूसरे का

1 *Hans J Morgenthau* : Politics Among Nations, p. 27.
2 *B Russel* : A New Social Analysis, 1934.
3 *Feliks Gross* : Foreign Policy Analysis, pp 2, 24, 49.
Russell H Fifield : The Introductory Course in International Relations (American Political Science Review, Dec. 1948, p. 1190)

पर्यायवाची मान लिया गया है। हम इस बात से तो सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों की विदेश-नीतियों में चोली दामन का साथ है, पर यह नहीं माना जा सकता कि दोनों एक हैं अथवा विदेश-नीतियों का अध्ययन मात्र ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। सॉण्डरमान ने लिखा है कि विदेश-नीति के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पर्याय नहीं माना जा सकता क्योंकि विदेश-नीति की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र अधिक विस्तृत है जिसमें विदेश-नीति के अध्ययन के अलावा और भी अनेक विषयों का अध्ययन शामिल है।[1] यह सही है कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा महत्वपूर्ण ढंग से विदेश-नीति द्वारा की जाती है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की यह महत्वपूर्ण सामग्री है, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन तो इसकी गहराइयों में घुसने का प्रयत्न करता है और यहाँ आकर केवल इस बात से सन्तोष नहीं हो पाता कि अमुक देश की विदेश-नीति क्या है, बल्कि असलियत जानने के लिए यह देखना पड़ता है कि उस विदेश-नीति को स्वरूप प्रदान करने वाले और उसका निश्चय तथा निर्धारण करने वाले कौन से तत्व और शक्ति-स्रोत हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन हमें विदेश-नीति को निश्चित करने वाली प्रक्रिया से अवगत कराता है। अध्ययन की यह प्रणाली नवीन है। अमेरिका ने 'निर्णय-प्रक्रिया-प्रणाली' (Decision Making Process) के अध्ययन को अपनाकर विदेश-नीति के अध्ययन की एक उपयोगी और महत्वपूर्ण पद्धति प्रस्तुत की है। विदेश-नीति के अध्ययन को ही सब कुछ मानने के पीछे एक भ्रान्त धारणा यह है कि विदेश-नीति के निर्धारक व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को बनाने, बिगाड़ने व मोड़ने वाले हैं। लेकिन इस बात की उपेक्षा क्यों कर दी जाती है कि कई बार अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी नीति-निर्माताओं को कोई विशिष्ट नीति अपनाने के लिए बाध्य कर देता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तथा विदेश नीति-निर्धारकों पर पड़ने वाले उसके प्रभाव की जानकारी भी सम्मिलित है। क्विंसी राइट के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अन्तर्गत इन बातों का अध्ययन अपेक्षित है—विश्व में तनाव एवं हलचल की सामान्य दशा, आर्थिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक क्षेत्रों में राज्यों की पारस्परिक निर्भरता की मात्रा, कानून एवं मूल्यों का सामान्य स्तर, जनसंख्या तथा साधन, उपज और खपत, जीवन के आदर्श एवं विश्व-राजनीति की स्थिति। इन सभी बातों के कारण हेराल्ड और मॉर्ग्रेट स्प्राउट ने विदेश-नीति को, इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक उप-विभाग बताया है।

स्प्राउट के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत राष्ट्रों के उन्हीं सम्बन्धों का अध्ययन अपेक्षित है जिनमें किसी न किसी प्रकार का सैनिक या असैनिक संघर्ष विद्यमान है, अन्य प्रकार के सम्बन्धों का नहीं।[2] स्प्राउट का यह भी कथन

1 *Fred A Soudermann's* article "The Linkage between Foreign Policy and International Politics" in The Theory and Practice of International Relations (New Jersey, 1966), pp.16-23.

2 *Harold and Margaret Sprout* : Foundations of International Politics, p. 76

है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत हम एक और तो राजनेताओं और उनके घटकों के दल तथा उनके द्वारा लिए गए निर्णयों का और दूसरी ओर उन निर्णयों के लागू किए गए जाने के परिणामों का अध्ययन करते हैं।[1] स्प्राउट ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यद्यपि व्यापकता का समावेश किया है, तथापि संघर्षों के पीछे और राष्ट्रों के व्यवहारों के मूल में पर्दे के पीछे छिपी प्रेरक शक्तियों के अध्ययन का *महत्व स्पष्ट नहीं किया है।*

कुछ अन्य विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र को अपेक्षाकृत विस्तृत या सीमित किया है। चार्ल्स श्लीचर ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत सभी अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को शामिल करने का समर्थन किया है, यद्यपि उसने यह भी माना है कि इस प्रकार के सारे सम्बन्ध केवल राजनीतिक ही नहीं होते।[2] पामर एवं पर्किंस ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का सीधा सम्बन्ध राज्य-प्रणाली (State-System) से जोड़ा है।[3] बर्टन के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अन्य बातों के अतिरिक्त वे सभी घटनाएँ और परिस्थितियाँ भी सम्मिलित हैं जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों पर पड़ता है।" रॉबर्ट स्ट्रॉस-ह्यूप तथा स्टेफन पॉसोनी ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत नागरिकों के कार्यों एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण गैर-सरकारी गुटों के निर्णयों को शामिल करने का समर्थन किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-क्षेत्र में उपर्युक्त बातों के साथ ही 'विचारधारा' (Ideologies) और 'राष्ट्रीयता' (Nationality) भी प्रमुख हैं। विचारधारा आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख सूत्रधारों में से है। साम्यवाद, लोकतन्त्र, वैयक्तिक स्वतन्त्रता आदि विचारधाराएँ अपने आप में प्रबल शक्तियाँ हैं और अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों की प्रेरक हैं। अफ्रीका और एशिया की राजनीति बहुत कुछ राष्ट्रीयता की राजनीति है जिसका सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ रहा है। वर्तमान परिस्थितियों में अफ्रो-एशियाई देशों की राष्ट्रीयता की राजनीति क्या गुल खिला रही है, कहने की आवश्यकता नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ और उनसे सम्बन्धित उप-संस्थाएँ, जिनके अध्ययन पर दो महायुद्धों के बीच की अवधि में अधिक जोर था, इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं कि विश्व-समाज को वे एक रूप प्रदान करने और विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में सहयोग और सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न करती हैं। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ का अध्ययन संवैधानिक रूप से चाहे उतना महत्वपूर्ण न हो, लेकिन राजनीतिक सन्दर्भ में उसके कार्यों और उद्देश्यों के अध्ययन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संयुक्त राष्ट्र-संघ और उससे सम्बन्धित अनेक संस्थाओं का विश्व-राजनीति के क्षेत्र और साधन दोनों रूप में अपना स्थान है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि ये

1 Ibid, p. 39.
2 *Charels S. Schleicher* : Introduction to International Relations, p. 31.
3 *Palmer and Perkins* : International Relations, p. 35.

ग्रन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ ही ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कल्पनावादी सम्प्रदाय (Utopian School) के विचारों को कुछ ग्रर्थों में यथार्थता प्रदान करने का काम कर सकती हैं।

शान्ति ग्रौर युद्ध जैसे विषय ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ग्रध्ययन की परिधि में ग्रपने ग्राप समाविष्ट हो जाते हैं। जब संघर्ष ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल में है तो ग्रगला कदम युद्ध हो सकता है ग्रौर शान्ति विश्व-मानव की प्यास है। शान्ति ग्रौर युद्ध से सम्बन्धित विभिन्न समस्याएँ, प्रेरक शक्तियाँ ग्रादि स्वत ही ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-सामग्री बन जाती हैं।

ग्रन्त में, यह कहा जा सकता है कि जिस ढंग से ग्राज ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ग्रध्ययन के लिए गम्भीर प्रयास हो रहे हैं तथा उसे एक वैज्ञानिक विषय बनाने के लिए सिद्धान्तों (Theories) की खोज हो रही है, उसके ग्राधार पर यह विषय ग्रपनी परिधि में विभिन्न विषयों को समेटने ग्रौर ग्रपना क्षेत्र समुचित रूप में व्यापक करने को प्रयत्नशील है।

नामकरण की समस्या
(Problem of Nomenclature)

'ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' विषय को व्यक्त करने के लिए 'ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' (International Relations), 'ग्रन्तर्राष्ट्रीय मामले' (International Affairs), विश्व-राजनीति' (World Politics), ग्रादि विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इन सभी नामों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में कर दिया जाता है तथापि गहराई से देखने पर इन नामों में ग्रन्तर है ग्रौर ग्रन्तिम विश्लेषण करने पर 'ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' (International Politics) नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त ठहरता है।

सबसे पहले हम ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शब्दों पर विचार करेंगे। 'ग्रन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्दावली में एक व्यापकता है जिसके ग्रन्तर्गत राष्ट्रों के ग्रार्थिक, व्यापारिक, सांस्कृति, शैक्षणिक, कानूनी, राजनीतिक, खोज एवं ग्रन्वेषण सम्बन्धी ग्रौर इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध ग्रा जाते हैं। इन शब्दों से वास्तव में विविध राष्ट्रों के सम्पर्क, सहयोग, क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होना है ग्रर्थात् 'सम्बन्धों के जाल' का ग्रर्थ निकलता है।[1] यह शब्द ग्रन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी ग्रौर निजी दोनों हो ग्रन्त:क्रियाग्रों (Both Public and Private Interactions) की विस्तृत विविधताग्रों की ग्रोर सकेत करते हैं।[2] इसके विपरीत 'ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' शब्दावली मुख्यत: राज्यों के राजनीतिक सम्बन्धों तक सीमित है। ग्राशय यह है कि जहाँ पहली शब्दावली से व्यापक सम्बन्धों का बोध होता है, वहाँ दूसरी से एक विशेष प्रकार का। फिर पहली शब्दावली इतनी व्यापक है कि उसके द्वारा

1 *Manning* : The University Teaching of Social Sciences-International Relations, p. 10.

2 *Keith R. Legg and James F. Morrison* : Politics and the International System—An Introduction, p. 32.

व्यापक भाव में दूसरी शब्दावली (अन्तर्राष्ट्रीय नीति) भी निहित है। स्प्राउट तथा स्प्राउट ने लिखा है कि एक की व्यापकता में दूसरे को पृथक् करने के लिए ही 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पद में 'अराजनीतिक' (Non-Political) तत्त्व अधिक है।[1] इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' शब्दावली विषय-बोध की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में जो विषय-सामग्री निहित है उसकी समीक्षा इस शब्दावली के प्रयोग की उपयुक्तता सिद्ध करती है। राष्ट्रीय-हित (National-Interests), संघर्ष (Conflict) और शक्ति (Power) की जिन अवधारणाओं का संकेत पिछले पृष्ठों में किया गया है उनका बोध 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' शब्दावली में अधिक अच्छी तरह सन्निहित है। यह एक प्रक्रिया की ओर संकेत करती है जिसमें संघर्ष उठते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जिनका समाधान होता है।[2] किन्तु दूसरी ओर पामर एवं परकिन्स जैसे विद्वानों ने दोनों शब्दावलियों में अन्तर स्वीकार करते हुए भी अपने विषय को 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है। उनका मुख्य तर्क यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कई विषयों और कई प्रकार के सम्बन्धों का प्रभाव है, अतः 'सम्बन्ध' शब्द से राजनीति सही प्रकार समझी जाती है।[3]

'अन्तर्राष्ट्रीय मामले' (International Affairs) और 'विश्व-राजनीति' (World Politics) आदि शब्दावलियाँ 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' की अपेक्षा कम उपयुक्त हैं और भाव की सूक्ष्मता की दृष्टि से खरी नहीं उतरतीं। इनसे एक सामान्य भाव का ही बोध होता है, विशिष्ट भाव का नहीं। 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' एक स्वतन्त्र विषय के रूप में जो महत्व प्राप्त करती जा रही है उसके प्रकाश में 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' और 'वर्ल्ड पॉलिटिक्स' शब्दों से अत्यधिक व्यापकता अथवा विस्तार का बोध होता है। साथ ही विश्व-राजनीति का अर्थ 'विश्व' शब्द के समावेश से कुछ ऐसा बनता है जैसे राष्ट्र को लेकर 'राष्ट्रीय राजनीति' (National Politics) यह अर्थ तभी उपयुक्त है जब एक 'विश्व-राज्य' (World State) हो। इसी प्रकार 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' शब्दावली की परिधि में कोई भी सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक घटना आ जाती है जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटित हुई हो। अर्थ की निश्चितता के अभाव में 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' या 'वर्ल्ड पॉलिटिक्स' शब्दावली विषय के अध्ययन की दृष्टि से लोकप्रिय नहीं है।

नामकरण की यह समस्या तब बहुत-कुछ हल हो जाती है जब हम देखते हैं कि 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' शब्दावली अधिकाधिक प्रचलित होती जा रही है। एक स्वतन्त्र विषय के रूप में इसका महत्व प्रस्थापित हो गया है और विश्वविद्यालयों में इस नामकरण पर आधारित प्रश्न-पत्र और पाठ्यक्रमों का निर्माण होने लगा है।

1 *Sprout and Sprout* : Formulation of International Politics, p. 12.
2 *Legg and Morrison* : Ibid, p. 32.
3 *Palmer and Perkins* : op. cit., XIV.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाँति ही आज 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था' (International Political System) की चर्चा उसी तरह होने लगी है जिस तरह आन्तरिक समाज या राज्य में 'राजनीतिक व्यवस्था' (Political System) की होती है। अग्रिम पृष्ठों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था और उसके कतिपय पहलुओं का विवेचन किया जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था
(International Political System)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था एक नई अवधारणा (A New Concept) है।[1] यद्यपि यह व्यवस्था विभिन्न क्षेत्रों में अधिकांश घरेलू राजनीतिक व्यवस्थाओं (Domestic Political Systems) से मौलिक रूप में भिन्न है तथापि राजनीतिक व्यवस्था की सामान्य अवधारणा (The General Concept of Political System) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कतिपय पहलुओं पर विचार करने में उपयोगी हो सकती है। "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को हम क्षेत्रीय आधार पर सगठित अर्द्ध-स्वायत्त-कानूनी और तथ्यात्मक राजनीतिक इकाइयों के एक सेट (A Set) के रूप में देख सकते हैं। इन राजनीतिक इकाइयों का अभिप्राय राष्ट्रों अथवा राज्यों (Nations or States) से है जो इस विश्व को घेरे हुए हैं और बड़ी संख्या में विभिन्न विवाद-क्षेत्रों (Issue Areas) में एक दूसरे के प्रति स्वतन्त्र और सामूहिक रूप से कार्य करते हैं।"[2] राज्य राजनीतिक संगठन का एक विशिष्ट रूप है, यह क्षेत्र-विशेष के नियन्त्रण का दावा करता है और विभिन्न रूपों में अन्य राज्यों के साथ अन्तःक्रिया करता है। इनमें से एक रूप या तरीका अपनी प्रादेशिक एकता अथवा नियन्त्रण कायम रखना है। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को हम उन राज्यों की एक व्यवस्था कह सकते हैं जिनमें से प्रत्येक अपनी सीमाओं में अपने नियन्त्रण का दावा करता है और घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उस नियन्त्रण को कायम रखने के लिए कार्य करता है।[3] यह बात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा से सम्बन्धित नहीं है कि कोई राज्य अपने नियन्त्रण का विस्तार किसी दूसरे राज्य के प्रदेश पर करने का प्रयत्न करता है या नहीं। इसी प्रकार इस परिभाषा में यह बात भी नहीं आती कि प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों की प्रादेशिक एकता (Territorial Integrity) का सम्मान करेगा अथवा प्रत्येक राज्य केवल

1 *William D. Coplin*: Introduction to International Politics—A Theoretical Overview, Second Edition, 1974, p. 329-331.

2 "The international political system may be viewed as set of semi-autonomous—in law and in fact-political units organized on a territorial basis Called nations or states, these political units that now encompass the earth act independently and collectively toward each other in a large number of issue areas." —*William D Coplin*: Ibid, p. 329.

3 "The international political system is a system of states, each of which claims control within its boundaries and acts to maintain that control domestically and internationally." —*William D Coplin* - Ibid, p. 330.

अपने ही प्रदेश के नियन्त्रण और सुरक्षा का दावा करेगा। इन बातों के प्रकाश में यह व्यवस्था (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था) ऐसी प्रतीत होती है मानो कि हम किसी अव्यवस्था (Non-System) की बात कर रहे हों क्योंकि इस व्यवस्था में कार्यकर्त्ताओं (Actors, राज्य) पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है न कि उन कानूनों और संस्थाओं पर जो कार्यकर्त्ताओं के व्यवहार को ढालते हैं। हमारा जोर या आग्रह (Emphasis) राज्य पर है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था 'विकेन्द्रीकृत' (Decentralized) होती है। अन्तर्राष्ट्रीय अन्त क्रियाओं के लिए वैधानिक, सामाजिक और आर्थिक संदिग (The Legal, Social and Economic Settings) विकेन्द्रित होते हैं और टुकड़ो-टुकड़ों में विभाजित होते हैं तथा स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण करने वाले विभिन्न राज्य ऐसे नाजुक निर्णय (Crucial Decisions) ले बैठते हैं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून और विश्व-अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। इसी प्रकार, राज्यों के मध्य राजनीतिक दशाओं का निर्धारण भी उन निर्णयों से होता है जो राज्यों द्वारा व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में कार्य करते हुए किए जाते हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ अथवा विश्व न्यायालय जैसी केन्द्रीय संस्थाएँ मौजूद हैं, तथापि उनकी सत्ता राज्यों की इच्छा द्वारा सीमित है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता दुर्बल होती है और राज्यों की गतिविधियाँ ही व्यवस्था में महत्वपूर्ण दशाओं का निर्धारण करती हैं, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अवलोकन करना महत्वपूर्ण है। व्यवहारों और गतिविधियों के कुछ प्रतिमान (Patterns) सैकड़ों सालों से चलते आ रहे हैं। उदाहरणार्थ, क्षेत्रीय आधार पर संगठित अर्द्ध-स्वायत्त राजनीतिक इकाइयों के रूप में इस व्यवस्था (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था) की चुनौतियों का सामना राज्यों ने सामूहिक रूप से किया है। इसी प्रकार अनेक कारक भी इस बात को महत्व प्रदान करते हैं कि हम राज्यों में घटनाओं की समग्रता पर (At the Totality of Events Among Nations) एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में दृष्टिपात करें। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्सरकारी संगठनों (Inter-governmental Organizations) के विकास के अतिरिक्त राज्यों द्वारा एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को उपयोगी बनाता है। इस प्रकार अन्तर्हस्तक्षेप (Interpenetration) दीर्घकाल में राज्य को एक राजनीतिक संगठन के रूप में कम आत्म-निर्भर (Less Viable) बना कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की सम्पूर्ण संरचना को बदल सकते हैं अथवा ये अधिक विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को जन्म दे सकते हैं। उलझनें जो भी पैदा हों या हम निहितार्थ कुछ भी लें, ये विभिन्न कारक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रतियोगी राज्यों की केवल अराजकतापूर्ण गतिविधियों से कुछ अधिक ही विस्तृत बनाते हैं।

सारांश में, "राज्यों के बीच अन्त क्रियाओं के औपचारिक और अनौपचारिक ढंगों या आदर्शों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था विकेन्द्रीकृत होती है क्योंकि केन्द्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, जो अस्तित्व में हैं, बहुत कम सत्तापूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, राज्यों के बीच जो अन्तःक्रियाएँ होती हैं उनसे ऐसे व्यवहार-प्रतिमानों (Patterns) का जन्म हुआ है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने का अर्थ है स्वायत्त राज्यों की एक व्यवस्था का संपोषण (Maintenance of a System of Autonomous States)।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का संपोषण
(Maintaining the International Political System)

विलियम डी. कोपलिन (William D. Coplin) ने अपनी पुस्तक 'Introduction to International Politics' के ग्यारहवें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के कायम रखने की समस्या और समय-समय पर उसके समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों की विवेचना की है।[2] कोपलिन के अनुसार, लगभग 1648 से ही निरन्तरता का एक ऐसा सूत्र दिखाई देता है जिससे यह प्रकट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने में राज्यों ने परस्पर सहयोग किया है। कोपलिन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि भूतकाल में राज्यों का व्यवहार कैसा रहा और आज भी एक विश्व राजनीतिक संगठन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने में राज्यों की गतिविधियाँ कैसी हैं। एक राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व का निश्चय करने में घरेलू राजनीति में केवल यही देखना होता है कि कतिपय केन्द्रीय संस्थाएँ कार्य कर रही हैं या नहीं अर्थात् वे संस्थाएँ क्रियाशील हैं या नहीं जो व्यवस्था को आन्तरिक गड़बड़ और बाह्य आक्रमण दोनों चुनौतियों से सुरक्षित रखने का कार्य करती हैं—जैसे पुलिस और न्यायालय तथा सशस्त्र सेनाएँ। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में ऐसी कोई केन्द्रीय संस्था नहीं होती जिनके सतत् कार्य इस व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक समझे जाएँ जैसे कि पुलिस, न्यायपालिका तथा सशस्त्र सेना घरेलू राजनीति में राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने के लिए आवश्यक मानी जाती है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के विनाश का खतरा पैदा हो सकता है, तथापि इसका यह मतलब नहीं है कि इस व्यवस्था का विनाश अवश्यमेव हो ही जाएगा। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्रसंघ की पुलिस और सैनिक शक्ति के अभाव का अर्थ होगा संयुक्त राष्ट्रसंघ का, एक प्रभावकारी राजनीतिक व्यवस्था के रूप में अन्त। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ निर्बल हैं, हम उनके निरन्तर अस्तित्व और कार्य-व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के कायम रखने का संकेत नहीं मान सकते। इसकी बजाय हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के केन्द्रीय संरचनात्मक तत्वों (Central Structural Features) पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए अर्थात् प्रादेशिक क्षेत्र पर आधारित एक स्वायत्त राजनीतिक संगठन के रूप में राज्य पर ध्यान देना

1 Ibid, p. 360.
2 Ibid, pp. 332-362.

चाहिए। यदि हम मान लें कि अपने आन्तरिक मामलों के नियमन में अपेक्षाकृत स्वतन्त्र राज्यों के समूह का अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का आधारभूत स्वरूप रहा है तो हम एक राजनीतिक संगठन के रूप में राज्यों की व्यवस्था की प्रस्तुत चुनौतियों की जाँच करके उन तरीकों का विश्लेषण कर सकते हैं जिनके अनुसार या जिनके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रखी गई है।[1] विलियम कोपलिन के अनुसार इस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को दो प्रमुख चुनौतियों (Threats) का सामना करना पड़ा है और ये हैं, सार्वभौमिक साम्राज्य (Universal Empire) और बड़े पैमाने पर युद्ध (Large-scale War)। कोपलिन ने इस बात पर विचार किया है कि वे कौन से तरीके रहे हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के सम्मुख प्रस्तुत इन दो चुनौतियों ने अग्रांकित तीन ऐतिहासिक युगों में व्यवहार के कतिपय प्रतिमानों (Patterns of Behaviour) को सुदृढ़ बनाया है—

(i) पुरातन व्यवस्था (The Classical System), 1648-1815,

(ii) संक्रमणकालीन व्यवस्था (The Transitional System), 1815–1945,

(iii) समकालीन व्यवस्था (The Contemporary System), 1945 से आज तक।

चूँकि ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की अवधि के अनुसार कोई कठोर विभाजक रेखा नहीं हो सकती, अतः तीनों ऐतिहासिक युगों की उपर्युक्त तिथियों को हमें सामान्य मार्ग-दर्शक रेखाओं के रूप में लेना चाहिए।

पुरातन व्यवस्था कायम रखना
(Maintaining the Classical System)

पुरातन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था (The Classical International Political System) का अस्तित्व यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से फ्रांसीसी क्रान्ति और 1815 के नैपोलियन-युद्धों तक रहा। इस पुरातन ऐतिहासिक युग के कुछ पहलू सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से भी पहले के थे तो कुछ 1815 के बाद के। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व को मुख्य चुनौती साम्राज्य-निर्माण की ओर से मिली, बड़े पैमाने पर युद्ध को उस समय एक गौण चुनौती समझा गया। विलियम कोपलिन ने इस युग की अर्थात् पुरातन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की अनेक आधारभूत विशेषताओं की ओर संकेत किया है—

1. इस व्यवस्था के सदस्य यूरोपीय राज्य थे। संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य राष्ट्र अपने आन्तरिक विकास में लगे हुए थे और स्वयं को

1 "If we assume that the basic nature of the international political system has been the existence of a group of states relatively free to regulate internal matters, we can analyze the way in which the system has been maintained by examining the threats to the system of states as a form of political organization." —*William D Coplin* : Ibid, p. 333.

आर्थिक नहीं तो राजनीतिक दृष्टि से यूरोप से पृथक् मानते थे। यूरोपीय राज्य भी विश्व के गैर-यूरोपीय क्षेत्रों की उपेक्षा करते थे। इस प्रकार कुल मिला कर पुरातन युग के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था यूरोपीय राज्यों की आपसी अन्त-क्रियाओं के प्रतिमान (Consisted of patterns of Interactions among European States) में सन्निहित थी। उस समय फ्रांस, रूस और ऑस्ट्रिया महाशक्तियाँ (The Great Powers) थी और ग्रेट-ब्रिटेन, स्पेन, स्वीडन, नीदरलैण्ड्स टर्की तथा प्रशिया महाशक्ति का स्तर (Great Power States) पाने की आकांक्षा रखते थे, हालाँकि वे काफी समय तक वास्तव में इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सके। यूरोपीय राज्य विश्व के गैर-यूरोपीय क्षेत्रों को अपने आपसी संघर्ष में मोहरों की तरह समझते थे। इसी प्रकार स्वयं यूरोप में भी जो सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य थे उन्हें यूरोप के बड़े राज्य आपसी झगड़ों में मोहरों के रूप में प्रयोग करने को लालायित रहते थे। बड़े और छोटे राष्ट्रों में यह एक मुख्य अन्तर था। सारांश में पुरातन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में बड़ी शक्तियाँ छोटी शक्तियों को अपने प्रभाव में रखती थी।

2. बड़ी शक्तियाँ (Major Powers) एक-दूसरे पर सीधा आक्रमण करने की अपेक्षा औपनिवेशिक प्रदेशों और लघु शक्तियों (Small Powers) पर नियन्त्रण के प्रश्न पर लड़ती थीं।

3. निर्णयकारी शक्तियाँ नीति को प्रभावित करने वाली शक्तियों पर हावी रहती थी। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में अधिकांश राज्यों का आन्तरिक ढाँचा इस प्रकार का था कि निर्णयकर्त्ताओं (Decision makers) को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से निपटने की दृष्टि से काफी छूट थी। वह युग ऐसा था जिसमें सरकार के लोकतान्त्रिक स्वरूपों का विकास केवल शुरू ही हुआ था और औद्योगिक क्रान्ति ने राजनीतिक व्यवस्था को उस आधुनिक स्वरूप में रूपान्तरित नहीं किया था जिसमें नीतियों को प्रभावित करने वाले लोगों (Policy influencers) की बड़ी माँग होती है। यही कारण है कि पुरातन युग में (In the Classical Period) बहुत ही लचीली विदेश नीतियों का अनुसरण करना सम्भव था।

4. सामाजिक-सांस्कृतिक बन्धन (Socio-cultural Ties) युद्धों की तेजी को सीमित कर देते थे। चूँकि पुरातन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के सदस्य यूरोपीय राज्य ही थे, अतः सामाजिक-सांस्कृतिक बन्धनों के कुछ ऐसे सामान्य सूत्रों का अस्तित्व था जो सभी राज्यों को या कम से कम शेष विश्व सम्बन्धी मामलों में परस्पर संगठित रखते थे। ये सामाजिक-सांस्कृतिक तत्व अधिकांश राज्यों के नेताओं को इस इच्छा को बल प्रदान करते थे कि लम्बे युद्धों को टाला जाए और ऐसे कदमों को उठाने से बचा जाए जिनसे सम्पूर्ण व्यवस्था के पंगु हो जाने का भय हो।

5. सामाजिक-सांस्कृतिक बन्धनों की भाँति ही प्राविधिक या तकनीकी तत्व (Technological Factors) भी युद्धों की भीषणता को सीमित रखने में सहायक थे। उदाहरणार्थ, स्थल पर वह युग घुड़सवारों और पैदल सैनिकों का था और समुद्र

पर उस समय तक वाष्प नौकाएँ महत्वपूर्ण सैनिक तत्व के रूप में नहीं उभरी थी। रेलों का सैनिक दृष्टि से महत्व स्थापित नहीं हो सका था। इस प्रकार फौजों की गतिशीलता बहुत बड़ी-चढ़ी नहीं थी। इसके अतिरिक्त आज की तुलना में आग्नेयास्त्र (Fire arm) भी बहुत कम विकसित थे। उस समय महामारियों या गम्भीर बीमारियों को भी नियन्त्रित कर सकना एक दुष्कर काम था।

6 किसी एक शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने का पुरातन ढंग यह था कि विरोध में एक सन्तुलनकारी गठबन्धन या गुट (A Balancing Coalition or Alliance) बना लिया जाता था।

7 सन्तुलनकारी गठबन्धन या गुट बनाने का ढाँचा अच्छी तरह इसलिए कार्य करता रहा क्योंकि विदेश नीति के निर्णयकर्त्ताओं (Foreign Policy Decision Makers) के लिए लचीली विदेश नीतियाँ अपनाना सुगम था।

8. लचीली विदेश नीति, सामाजिक-सांस्कृतिक बन्धन और प्राविधिक या तकनीकी तत्व—ये सब मिलकर बड़े पैमाने पर युद्धों को रोकने में सहयोग देते थे।

पुरातन युग में यद्यपि यूरोप में साम्राज्य-निर्माण की चुनौती कायम रही तथापि उपर्युक्त विभिन्न कारणों और विशेषताओं के बल पर विनाशकारी बड़े पैमाने के युद्धों को रोका जा सका और पुरातन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखा जा सका।

संक्रमणकालीन व्यवस्था को कायम रखना
(Maintaining the Transitional System)

हमने 1815 से 1945 तक के युग को संक्रमणकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का युग माना है। इस युग में पुरातन राजनीतिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए। विलियम कोपलिन ने इस संक्रमणकालीन व्यवस्था में हुए परिवर्तनों के आधारभूत लक्षणों को निम्नानुसार प्रस्तुत किया है और यह भी बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने की दृष्टि से इन परिवर्तनों के क्या परिणाम निकले—

1. व्यवस्था की सदस्यता का प्रसार यूरोप के बाहर भी होने लगा अर्थात् . . . का विश्वव्यापी रूप (Universalization of the System) हुआ। 1815 में संयुक्तराज्य अमेरिका के सिवाय व्यवस्था के सभी राज्य यूरोपीय थे। संयुक्तराज्य अमेरिका का प्रवेश कभी-कभी हो जाता है। किन्तु 1945 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के सदस्य संसार भर में फैल गए, उपनिवेशों के रूप में ही नहीं बल्कि ऐसे शक्तिशाली राज्यों के रूप में भी जिनसे कि बराबरी का बर्ताव करना होता था।

2. विदेश नीति के निर्णयकर्त्ताओं को अब नीतियों को प्रभावित करने वाली शक्तियों (Policy Influencers) के आन्तरिक दबावों का सामना करना पड़ा, अर्थात् ये 'पालिसी इनफ्लूएंसर्स' भी महत्वपूर्ण बन गए।

3. पहले शक्ति के प्रयोग पर जो सामाजिक-सांस्कृतिक सीमाएँ (Socio-cultural Limitations) लगी थी, वे गायब हो गईं। संक्रमणकाल में यद्यपि यातायात और संदेश-वाहन के साधनों में प्रसार हुआ और उनमें गति आई, लेकिन उनसे राष्ट्रों के आन्तरिक सहयोग में तो वृद्धि हुई पर राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहन नहीं मिला।

4. प्राविधिक प्रगति (Technological Progress) ने राज्यों की एक दूसरे को हानि पहुँचाने की क्षमता को बढा दिया। वाष्पयानों, वायुयानों आदि के कारण राज्यों की सैनिक गति की क्षमता (Mobility of military capability) बहुत अधिक बढ गई और इसके विनाशकारी परिणाम द्वितीय महायुद्ध में देखने को मिले।

5. सार्वभौमिक या विश्व-साम्राज्य (Universal Empire) में अभिरुचि के स्थान पर क्षेत्रीय साम्राज्य (Regional Empire) में अभिरुचि बढ़ने लगी।

6. *विदेशनीति के निर्णयों में लचीलापन कम हो गया।*

7. प्रथम महायुद्ध के बाद से ही बड़े पैमाने के युद्ध का भय (Fear of large scale war) बढ गया जिसके फलस्वरूप 'शान्ति अविभाज्य है' (Peace is indivisible) जैसे नारे लगाए जाने लगे और निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न होने लगे।

8. सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त (Principle of collective security) का महत्व बढा और सन्तुलनकारी गठबन्धन के संस्थानीकरण के लिए एक प्रभावी तर्क के रूप में (An Argument for institutionalization of the Balancing Coalition) इसे पेश किया जाने लगा।

9. सामूहिक सुरक्षा-सिद्धान्त के बावजूद दो महायुद्धों के बीच की अवधि में संतुलनकारी गठबन्धनों का निर्माण (Formation of a Balancing Coalition) बहुत धीमा हुआ।

10. फ्रांस और इंग्लैण्ड की 1930 के दशक की विदेश-नीतियों में सम्भावित युद्ध का भय दिखाई देता था जिसके कारण हिटलर को रोकने के किसी सन्तुलकारी गठबन्धन के निर्माण के प्रयत्नों को धक्का लगा। जापान या जर्मनी के आक्रामक रवैये के विरोधी राज्यों ने प्रतिरोधी गठबन्धन (Counter-Coalition) बनाने की चेष्टा नहीं की। ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीतियों की कमजोरी के फलस्वरूप जर्मन चुनौती के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सका और युद्ध टालने के आवरण में तुष्टिकरण की ऐसी नीति अपनाई गई जिसने जर्मनी के आक्रामक साहस को बहुत अधिक बढा दिया।

इस प्रकार 19वी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर 20वी शताब्दी के मध्य तक का युग स्पष्ट रूप से संक्रमणकालीन (Transitional) था। राज्य-व्यवस्था के सार्वभौमीकरण (Universalization of State System) ने विश्व-साम्राज्य की चुनौती को विभिन्न क्षेत्रों में बिखेर दिया और अब क्षेत्रीय सन्तुलन (Regional

Balances) अधिक महत्वपूर्ण बन गए। पुरातन युग (Classical Period) में निर्णयकर्त्ताओं को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सन्दर्भ में सुनी छूट प्राप्त थी, वह अब नहीं रही क्योंकि तकनीकी प्रगति से व्यापक सैनिक योजनाओं को आवश्यक बना दिया और घरेलू राजनीतिक व्यवस्थाएँ ऐसी बन गईं कि नीति को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ प्रधानता प्राप्त करने लगीं। संक्रमणकालीन युग में महायुद्धों की चुनौती बढ़ गई क्योंकि एक तो सैनिक क्षमता में विस्तार हुआ और दूसरे सामाजिक तथा सांस्कृतिक बन्धन भी शिथिल पड़ गए। *यद्यपि युद्ध के भय के फलस्वरूप कुछ सीमाएँ लगी रहीं, लेकिन ये इतनी प्रभावकारी नहीं थीं जो किसी बड़े युद्ध को रोक पातीं। इसके अतिरिक्त ये सीमाएँ सार्वभौमिक नहीं थीं और हिटलर तथा* मुसोलिनी के रूप में ऐसे निर्णयकर्ता मौजूद थे जो आत्म-रक्षा से भिन्न दूसरी बातों के लिए भी शक्ति के प्रयोग के लिए लालायित थे। हिटलर और मुसोलिनी उन लोगों में से थे जिनके लिए शान्ति मृत्यु थी और युद्ध जीवन। दो महायुद्धों की बीच की अवधि में हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोगों ने उन राज्यों को खूब ठगा जो युद्ध के भय से आक्रान्त थे और किसी भी प्रकार युद्ध को टालने की इच्छा रखते थे। प्रथम महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयासों ने तेजी पकड़ी थी, लेकिन ये प्रयास असफल रहे और भावी महायुद्ध को रोका नहीं जा सका। राष्ट्रसंघ शान्ति को स्थापित करने और युद्धों को रोकने के यन्त्र के रूप में असफल रहा। चूँकि राष्ट्रों को निःशस्त्रीकरण और राष्ट्रसंघ दोनों में सन्देह रहा, अतः वे अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हुए और उन्होंने सन्तुलनकारी सन्धियों या गुटों के निर्माण का परम्परागत साधन अपनाया। उनका प्रयत्न प्रयत्न रहा कि सार्वभौम या क्षेत्रीय साम्राज्य-निर्माण अथवा युद्ध के विस्तार को रोका जाए। तीस के दशक में ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीतियाँ सम्भावित युद्ध के भय से उत्पन्न कमजोरियों का शिकार बनी रहीं, अतः न तो हिटलर और मुसोलिनी के सर्वग्राही रूप के विरुद्ध सन्तुलनकारी गुट का निर्माण किया जा सका और न सामूहिक सैनिक शक्ति का प्रयोग ही हो पाया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए महायुद्ध की गम्भीर चुनौती बनी रही।

समकालीन व्यवस्था को कायम रखना
(Maintaining the Contemporary System)

समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पुरातन और संक्रमणकालीन दोनों युगों की व्यवस्था से अपेक्षाकृत भिन्न है। द्वितीय महायुद्ध में धन-जन का भीषण विनाश हुआ और युद्ध की परिसमाप्ति नागासाकी तथा हिरोशिमा पर अणुबमों के प्रलयंकारी प्रहार के साथ हुई। महायुद्ध की घटनाओं और परिणामों ने उस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दिया जो सामयिक परिवर्तन के साथ आज तक चल रही है। विलियम कोपलिन के अनुसार इस वर्तमान व्यवस्था के विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं—

1. द्वितीय महायुद्ध के अन्त में आणविक हथियारों के प्रयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने की दिशा में एक नए तत्व का प्रवेश कर दिया और वह तत्व है—युद्ध के भय की तीव्रता (Intensifying Fear of War)। द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व में पहले संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ ही इतने क्षमता सम्पन्न थे जो न केवल एक दूसरे का विनाश करने बल्कि विश्व के अधिकांश भाग को नष्ट करने की शक्ति रखते थे। तत्पश्चात् अब और भी राष्ट्र अणु और परमाणु आयुधों से सज्जित हो गए हैं, और आज आणविक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों में प्रत्यक्ष युद्ध को रोकने की आवश्यकता अन्य किसी भी समय से अधिक महसूस की जा रही है। यह समझा जाने लगा है कि ऐसा कोई भी युद्ध समूची अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक भयावह चुनौती है।

2. राज्य-व्यवस्था पूरी तरह विश्वव्यापी बन चुकी है। आज विश्व का लगभग प्रत्येक राज्य *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था* का सदस्य है और इस बात का व्यवस्था के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ा है। यद्यपि दो सर्वोच्च महा शक्तियाँ एक दूसरे पर विश्व-प्रभुत्व के प्रयत्नों का आरोप लगाती हैं, तथापि यह स्पष्ट हो चुका है कि किसी एक शक्ति द्वारा विश्व-साम्राज्य का यह भय यथार्थ न होकर काल्पनिक है।

3. सार्वभौमिक अथवा विश्व-प्रभुत्व की बात तो आज मिथ्या लगती है, किन्तु क्षेत्रीय प्रभुत्व (Regional Dominance) की चुनौती वास्तविक है और इस दिशा में बड़े तथा शक्तिशाली राज्यों में प्रतिस्पर्द्धा है। विश्व के किसी भी राष्ट्र के पास आज इतनी जबरदस्त सैनिक और आर्थिक शक्ति नहीं है कि वह सारे संसार पर राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित कर सके—विशेषकर वहाँ जहाँ की जनसंख्या उसका दृढ़तापूर्वक विरोध करती हो। छापामार युद्ध-प्रणाली (Guerrilla Warfare) ने विश्व-साम्राज्य की धारणा की धज्जियाँ उड़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यदि एक शक्तिशाली राज्य किसी प्रदेश को जीत भी लेता है तो भी उस प्रदेश के निवासी भीषण छापामार युद्ध द्वारा उस शक्तिशाली राज्य को अपनी विजय के लाभों से ही वंचित नहीं कर पाते बल्कि उसके लिए और भी अनेक विकट परिस्थितियाँ पैदा कर सकते हैं। वियतनामियों के छापामार युद्धों ने अमेरिका जैसी महाशक्ति को कितना थका-थका दिया, कहने की आवश्यकता नहीं। पुनश्च, हाल ही के इतिहास ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि सैद्धान्तिक निकटता अथवा आर्थिक सहयोग का आशय राजनीतिक नियन्त्रण नहीं है। कम्यूनिस्ट क्यूबा अपनी सैद्धान्तिक सहानुभूति और आर्थिक परतन्त्रता के बावजूद चीनी या सोवियत 'साम्राज्य' का अंग नहीं है। इस प्रकार आधुनिक परिस्थितियों में, विश्व-साम्राज्य का भय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए कोई वास्तविक चुनौती नहीं रह गया है। हाँ, क्षेत्रीय साम्राज्य का भय अवश्य मौजूद है और अनेक राज्यों की नीतियों को गतिशील बनाए हुए है। यही कारण है कि आज के युग में क्षेत्रीय युद्ध (Regional Wars) सामान्य बन गए हैं। क्षेत्रीय हितों को लेकर राज्यों में युद्ध होते रहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत और पाकिस्तान में तथा इजरायलियों और अरबों में जब तब युद्ध होते रहे

है। यह भी हुआ कि दोनों महाशक्तियों तथा कुछ अन्य राज्यों ने संघर्ष को सीमित बनाए रखने के लिए दोनों प्रतिरोधी पक्षों पर दबाव डाला है। यह दबाव कभी तो परामर्श के रूप में और कभी समर्थन देने से इन्कारी के रूप में, कभी आर्थिक सहायता बन्द करके तो कभी सैनिक सामग्री को देने पर प्रतिबन्ध लगा कर, कभी अन्य प्रकार के कूटनीतिक दबाव द्वारा डाले जाते रहे हैं। विलियम कोपलिन के अनुसार समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए महाशक्तियों ने मुख्य रूप से तीन प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है—

(क) जिन क्षेत्रों में उनके अपने हित हैं, वहाँ वे स्वयं स्थायित्व कायम रखने का प्रयत्न करते हैं।

(ख) कुछ क्षेत्रों में वे संघर्ष और क्षेत्रीय साम्राज्य को रोकने में परस्पर सहयोग करते हैं।

(ग) कुछ क्षेत्रों में वे विरोधी पक्षों को समर्थन देकर एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी एशिया में संयुक्तराज्य अमेरिका इजरायल का पृष्ठपोषण करता है तो सोवियत संघ अरब राष्ट्रों का।

4. वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में यह भी एक आम बात हो गई है कि महाशक्तियाँ युद्ध छिड़ने से पहले ही क्षेत्रीय मामलों में बहुधा सजग हो जाती हैं। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में क्षेत्रीय 'सुरक्षा संगठनों' (Regional Security Organizations) की तकनीक का विकास हुआ है जो बहुत कुछ क्षेत्रीय गठबन्धनों (Regional Alliances) जैसी दिखाई देती है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने नाटो, दक्षिण-एशियाई सन्धि संगठन, केन्द्रीय-सन्धि संगठन, अमेरिकी राज्यों का संगठन एंजुस परिषद् (*NATO, The South Asian Treaty* Organization, the Central Treaty Organization, the organization of American States, the Anzus Council) जैसे *क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों की* स्थापना की है तो दूसरी ओर सोवियत संघ ने वारसा पैक्ट (Warsaw Pact) संगठित किया है।

5. महाशक्तियाँ गृह युद्धों में भाग लेकर भी क्षेत्रीय राजनीति में हस्तक्षेप करती रही हैं। रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियों ने गृह युद्धों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किए हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1960 के प्रारम्भिक वर्षों में साइप्रस के गृह-युद्ध में कूटनीतिक हस्तक्षेप किया तो 1965 में डोमिनीकन गणराज्य में सैनिक हस्तक्षेप किया। सोवियत संघ ने 1956 में हंगरी में हस्तक्षेप किया तो 1968 में गृह-युद्ध छिड़ने का बहाना लेकर चेकोस्लोवाकिया में सैनिक हस्तक्षेप किया। महाशक्तियों ने इस पुरातन अवधारणा पर आचरण करते हुए कि एक राज्य में गृह-युद्ध या घरेलू गड़बड़ी विस्तारवादी राज्यों को नियन्त्रण का आमन्त्रण देती है, उन राज्यों में जो कि गृह-युद्ध से पीड़ित थे या जिनके समक्ष गृह-युद्ध की चुनौती प्रस्तुत थी, राजनीतिक स्थायित्व बनाए रखने का प्रयत्न किया है।

6. उन क्षेत्रों में जहाँ महाशक्तियों ने महसूस किया कि किसी एक महाशक्ति का वहाँ अपना विशिष्ट हित है, हस्तक्षेप एकपक्षी रहा है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी भी राज्य में घरेलू गड़बड़ी की सूरत में अकेले संयुक्तराज्य अमेरिका का हस्तक्षेप सामान्यतः पर्याप्त समझा जाता है। यह हस्तक्षेप प्रत्यक्ष भी हो सकता है जैसा कि 1965 में डोमिनीकन गणराज्य में सेनाएँ भेजकर अस्थिरता के समय कूटनीतिक तथा अन्य दबाव डालकर किया गया। पूर्वी यूरोपीय राज्यों में सोवियत संघ के विशेष हित हैं, अतः इन राज्यों में घरेलू अव्यवस्था के प्रति वह विशेष चौकन्ना रहता है। 1950 के दशक में हंगरी, पोलैण्ड तथा पूर्वी जर्मनी में रूसी सैनिकों ने हस्तक्षेप किया और यही बात 1968 में चेकोस्लोवाकिया में हुई और कुछ हद तक दिसम्बर, 1981 में पोलैण्ड में हुई। सम्भवतः दोनों महाशक्तियों में इस बात पर अप्रत्यक्ष सहमति हो गई है कि अपने-अपने हित-क्षेत्रों में यदि घरेलू राजनीतिक अस्थिरता की चुनौती प्रस्तुत हो तो अकेली महाशक्ति उस चुनौती से निबट ले चाहे प्रत्यक्ष रूप से दिखाने के लिए दोनों पक्ष सार्वजनिक रूप से एक दूसरे के विरुद्ध वक्तव्य दें। इस प्रकार जहाँ पश्चिमी गोलार्द्ध अकेले संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए छोड़ दिया गया है वहाँ पूर्वी यूरोप में सोवियत संघ के लिए छूट है।

7. कुछ क्षेत्रों में, विशेषकर पश्चिमी यूरोप में, घरेलू अस्थिरता आम तौर पर दोनों महाशक्तियों में असहमति और संघर्ष की दशाएँ उत्पन्न कर देती है। यद्यपि कभी-कभी इन मामलों में वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से सहयोग करती हैं, जैसा कि 1960 में कांगो में हुआ, परन्तु ऐसा सहयोग प्रायः अल्पकालिक होता है। कांगो में भी दोनों शक्तियों में सहयोग अल्पकालीन रहा था क्योंकि सोवियत संघ ने अनुभव किया कि संयुक्तराज्य अमेरिका वहाँ राजनीतिक शक्तियों से निपटने में तटस्थ मार्ग का अनुसरण न कर पक्षपात की नीति पर चल रहा था। ऐसी भी स्थिति पैदा हो जाती है कि अशान्त या चुनौती-ग्रस्त राज्य में संयुक्तराज्य अमेरिका तो यथास्थित शक्तियों (Status-quo Powers) की रक्षा करता है जबकि सोवियत संघ क्रान्तिकारी शक्तियों (Revolutionary Powers) को समर्थन देता है। उदाहरणार्थ, 1940 के दशक के उत्तरार्द्ध में अमेरिका ने यूनान और टर्की को इसलिए मदद दी कि वह समझता था कि सोवियत संघ द्वारा समर्थित राजनीतिक गुट वहाँ की राजनीतिक स्थिरता को चुनौती दे रहे थे। 1960 के दशक में वियतनाम संघर्ष में यही प्रतिमान (Pattern) दिखाई दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम में सक्रिय हस्तक्षेप शुरू कर दिया और यह निर्णय अमेरिका की इस पिछली नीति पर आधारित था कि मौजूदा शासन की रक्षा कर क्षेत्रीय व्यवस्था में स्थायित्व कायम रखा जाए। यद्यपि प्रारम्भ में सोवियत संघ ने वियतनाम में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं किया तथापि जब अमेरिका का निर्णय उत्तर वियतनामी शासन के विरुद्ध सैनिक हस्तक्षेप की सीमा तक जा पहुँचा तो सोवियत संघ में भी क्रान्तिकारी शक्तियों को पूर्ण समर्थन देने की तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई।

8. विदेश-नीति में निर्णय लेने का कार्य (Foreign Policy Decision Making) आज पूर्वापेक्षा कम लचीला हो गया है क्योंकि एक तो नीति-प्रभावकर्त्ताओं (Policy Influencers) की भूमिका विदेश-नीति-निर्माण में बढ़ती जा रही है और दूसरे प्राविधिक स्थितियों (Technological Conditions) ने गठबन्धनों को अधिक स्थिर (Static) *बना दिया है। आज लगभग प्रत्येक राज्य में एक दोहरी नीति* प्रभाव-व्यवस्था (Pluralized Policy Influence System) है जिसके अन्तर्गत एक ओर तो निर्णय करने वाले (Decision Makers) हैं और दूसरी ओर नीति को प्रभावित करने वाले (Policy Influencers)। फिर स्थिति यह है कि विदेश-नीति के निर्माण में इन नीति प्रभावकर्त्ताओं (Policy Influencers) की माँगें बढ़ती जा रही हैं और उनके दबाव के आगे निर्णयकर्त्ताओं (Decision Makers) *को झुकना पड़ता है। दूसरी ओर विभिन्न गठबन्धनों* (Alliances) *की प्रकृति* भी पूर्वापेक्षा काफी बदल गई। आज के सैनिक गठबन्धन सेनाओं के आदान-प्रदान और अन्य प्रकार के सैनिक सहयोग की माँग करते हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिकी फौजें विश्व के लगभग उस प्रत्येक राज्य में तैनात हैं जो संयुक्तराज्य अमेरिका से सैनिक गठबन्धन में बँधा हुआ है। इस प्रकार के सैनिक सहयोग ने गठबन्धनों को पुरातन युग (Classical Period) की अपेक्षा अधिक स्थायी (Stable) बना दिया है *क्योंकि जहाँ गठबन्धनों के उपकरणों पर लाखों डॉलरों और बड़ी संख्या में व्यक्तियों* का विनिमय होता है वहाँ इस बात की सम्भावना बहुत कम रहती है कि गठबन्धन प्रतिमानों (Alliance Patterns) को निरन्तर बदला जाए। आज के सैनिक सगठन या गठबन्धन अपने सभी सदस्यों के हाथ बँधे रखते हैं (Military alliances tie the hands of all members of the alliance)।

9. लचीलेपन की कमी ने शक्ति-सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा दोनों की *कार्यात्मकता (The operation of both the balance of power* and collective security) को सीमित बना दिया है।

10. क्षेत्रीय साम्राज्यों (Regional Empires) को रोकने के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस दोनों ने विश्वव्यापी चौकसी की व्यवस्था (Universal Survellance) अपनाई है। महाशक्तियाँ इस बात पर निगरानी रखती हैं कि क्षेत्र-विशेष में किसी महाशक्ति द्वारा चुनौती प्रस्तुत की गई है या किसी *अन्य राज्य द्वारा। जब चुनौती किसी महाशक्ति की ओर से नहीं आती तो दोनों ही* महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से अथवा पर्दे के पीछे की कूटनीति से (Behind-the-scenes diplomacy) प्रायः परस्पर सहयोग करती हैं। जहाँ चुनौती दोनों में से किसी एक महाशक्ति द्वारा प्रस्तुत हुई हो, वहाँ प्रायः अवरोध (Deadlock) की स्थिति पैदा हो जाती है। बर्लिन, वियतनाम आदि के सन्दर्भ में इस प्रकार की अवरोधपूर्ण स्थितियाँ पैदा हो चुकी हैं। *अन्य राज्यों द्वारा क्षेत्रीय प्रभुत्व के प्रयत्नों* को रोकने में रूस-अमेरिकी सहयोग के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक महत्वपूर्ण संस्थात्मक आधार-स्थल (An important institutional setting) के रूप में

काम किया है। दोनों महाशक्तियों ने किसी युद्ध-विराम को लागू करने के लिए कई बार महासचिव के सद्-प्रयासों का स्वागत किया है। साइप्रस, मध्य-पूर्व और भारत-पाक संघर्षों में ऐसा हो चुका है। युद्ध के विस्तार को रोकने में कई अवसरों पर संयुक्त राष्ट्रसंघ एक प्रभावी अन्तर्राष्ट्रीय यन्त्र सिद्ध हुआ है।

11. आज के विश्व में आकस्मिक या संयोगवश घटित होने वाले आणविक युद्ध की सम्भावना बढ़ गई। यह स्थिति समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक गम्भीर चुनौती है।

12. दोनों ही महाशक्तियों की द्वितीय-आघातकारी क्षमता (The Second-Strike Capability) पहलकारी आक्रमणों पर एक निरोधक का काम करती है।

13. वर्तमान विश्व में यह खतरा बढ़ गया है कि कोई भी संघर्ष आणविक युद्ध में परिणत हो सकता है।

14. महाशक्तियों ने अपनी रण-नीतियों और व्यूह-रचनाओं को उग्र बनाने की नीति का अनुसरण किया है, लेकिन प्रत्यक्षतः एक दूसरे से संघर्ष की नौबत को सदैव टाला है। यह स्थिति वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने में सहायक सिद्ध हुई है।

15. समकालीन विश्व में दो महायुद्धों के बीच की अवधि की तुलना में निःशस्त्रीकरण ने एक अधिक मधन प्रतिमान (A More Moderate Pattern) का अनुसरण किया है। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में इस पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अधिकांश समकालीन निर्णयकर्ता निःशस्त्रीकरण को एक ऐसा साधन या उपाय मानने लगे हैं जो युद्ध के खतरे को कम करता है।

16. संयुक्त राष्ट्रसंघ ने राज्यों के बीच सम्पर्क के द्वार खुले रख कर और 'मौखिक संघर्ष' (Verbal Conflict) के सार्वजनिक मंच (A Public Forum) के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कर बड़े पैमाने के युद्धों के खतरों को कम करने में प्रभावी भूमिका निभाई है।

17. यद्यपि कतिपय क्षेत्रों में कभी-कभी विश्व-साम्राज्य की चुनौती को एक 'सम्भावना' (Possibility) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन समकालीन विश्व की स्थितियों को देखते हुए यह एक बहुत दूर का स्वप्न है।

18. समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को मुख्य चुनौती व्यापक युद्धों और सैनिक-वृत्ति (Warfare) से है। इस प्रकार के युद्धों का होना यदि अनिवार्य नहीं है तो असम्भव भी नहीं है।

इस स्थिति में सुगमता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के समक्ष उपस्थित चुनौतियाँ वास्तविक हैं। क्षेत्रीय साम्राज्य, इधर-उधर भड़क उठने वाले व्यापक युद्ध, आकस्मिक आणविक युद्ध का खतरा, राजनीतिक तनाव के बहुमुखी केन्द्र और इसी प्रकार की अन्य चुनौतियाँ व्यवस्था के सामने मौजूद हैं। निकट भविष्य में तो हम एक ऐसे ही विश्व में रहेंगे जिसमें आणविक युद्ध का खतरा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का एक प्रमुख तथ्य

बना रहेगा और इस खतरे को उत्पन्न करने वाली स्थितियों से निपटने की हमारी योग्यता पर ही बहुत-कुछ यह निर्भर है कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रहेगी या नहीं और यह मानव-जाति समृद्ध होगी या विनष्ट।

अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की प्रक्रिया में प्रवृत्तियाँ
(Trends in the International Bargaining Process)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के पूर्ववर्ती विश्लेषण के प्रसंग में अब हमें देखना चाहिए कि *वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई दिशाएँ, उलझनें, प्रवृत्तियाँ* आदि क्या हैं। अन्य दिशाओं और उलझनों की विवेचना से पूर्व सर्वप्रथम हम उन प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करेंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की प्रक्रिया को प्रभावित किए हुए हैं। जिस तरह दुकानदार और ग्राहक सौदेबाजी करते हैं, राज्यों में राजनीतिक नेताओं और राजनीतिक दलों में अपने-अपने *हितों की खातिर तरह-तरह की* सौदेबाजियाँ होती हैं, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंग-मंच पर राजनीतिक कार्यकर्ता या राज्य तरह-तरह की सौदेबाजी करते हैं। तथापि, जैसा कि विलियम *कोप्लिन ने लिखा है, पुरातन युग की तुलना में आज के युग में राज्यों के मध्य* प्रतियोगितापूर्ण सौदेबाजी की क्षमता में भारी परिवर्तन आ गया है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था आज भी वही है जिसमें राज्य इस बात के निर्धारण के लिए एक दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं कि किसको क्या, कब और कैसे मिला, तथापि यह तरीके बदल गए हैं जिनमें वे एक दूसरे से प्रतियोगितापूर्ण सौदेबाजी करते हैं, और साथ ही बहुत से ऐसे मसले (Issues) भी बदल गए हैं जिन पर सौदेबाजी की जाती है।[1] इस दृष्टि से परिवर्तन के निम्नलिखित तीन क्षेत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) क्षेत्रीयकरण
(2) विवाद क्षेत्रों का विभाजन
(3) शक्ति के प्रयोग में प्रवृत्तियाँ।

क्षेत्रीयकरण (Regionalization)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की प्रक्रिया की एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रवृत्ति क्षेत्रीकरण की है अर्थात् सौदेबाजी के अनेक मसले केवल उन्हीं राज्यों से सम्बन्धित हैं जो एक क्षेत्र विशेष के हों। क्षेत्रीकरण की इस स्थिति को हम 'क्षेत्रीय आधारों के अनुरूप विभाजन' (Fragmentation Along Regional Lines) कह सकते हैं। पुरातन युग में यूरोपीय राज्यों की ही प्रमुखता थी। उदाहरणार्थ,

1 "The international political system continues to be a system in which states compete with each other in order to determine who gets what, when and how with only minor influence from international institutions. Even so, the ways in which they competitively bargain with each other and the classical issues over which they bargain have changed radically since the classical period." —*William D. Coplin* : Introduction to International Politics, Second Edition, 1914, p. 368.

17वीं शताब्दी और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'उत्तरी अमेरिका की राजनीति' यथार्थतः यूरोपीय राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ही एक अंग थी और अमेरिका का जो स्वाधीनता-संग्राम छिड़ा वह भी यूरोपीय राजनीति की ही उपज (Product) था।

किन्तु आज हम भौगोलिक क्षेत्रों की 'राजनीति' की बात सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम पश्चिमी यूरोप की राजनीति, पूर्वी यूरोप की राजनीति, मध्य यूरोप की राजनीति या लेटिन अमेरिका की राजनीति की चर्चा करते हैं। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र सौदेबाजी का एक ऐसा क्षेत्र बना हुआ है जिसमें उस क्षेत्र के राज्य विभिन्न मसलों पर एक-दूसरे से सौदेबाजी करते हैं। यद्यपि वे राज्य दूसरे क्षेत्रों के राज्यों से भी कुछ मामलों पर सौदेबाजी में उलझे रहते हैं, तथापि यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि भौगोलिक क्षेत्र-विशेष के मसलों पर उस क्षेत्र के राज्य सौदेबाजी में अधिकाधिक लिप्त हों, सौदेबाजी की अन्त:क्रियाओं (Interactions) का प्रसार हो। सौदेबाजी के क्षेत्रीय विभाजन (Regional Fragmentation of Bargaining) की यह प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के सार्वभौमीकरण (Universalization) का एक स्वाभाविक परिणाम या विकास है।[1] आज विश्व में 150 से भी अधिक राज्य हैं और भौगोलिक दशाओं में अपने-अपने भौगोलिक क्षेत्रों के राज्यों के हितों को पूर्वापेक्षा अधिक घनिष्ठता के साथ आबद्ध करने की प्रवृत्ति है जिसके फलस्वरूप वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जिनसे सौदेबाजी की स्थितियों को प्रोत्साहन मिलता है।

क्षेत्रीकरण की प्रवृत्ति का एक प्रमुख परिणाम यह देखने को मिला है कि क्षेत्रीय अन्तर्सरकारी संगठनों (Regional Inter-governmental Organizations) का काफी विकास हुआ है। अफ्रीकी एकता संगठन (The Organization of African Unity), अमेरिकी राज्यों का संगठन (The Organization of American States), अरब लीग (The Arab League), यूरोपीय परिषद् (The Council of Europe) आदि ऐसे ही क्षेत्रीय अन्तर्सरकारी संगठन हैं, जो एक ऐसा रंगमंच प्रदान करते हैं जिस पर उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों की राजनीति का नाटक खेला जा सके। और तो और, संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे विश्व-व्यापी अन्तर्सरकारी संगठन (Global Inter-governmental Organization) का क्षेत्रीय विभाजन पर अस्पष्ट प्रभाव (An Ambiguous Impact on Fragmentation) दिखाई देता है। एक ओर तो ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्सरकारी संगठन संसार भर में राज्यों को एक-दूसरे के निकट लाने और क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर आकर अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर सहयोगिता-पूर्ण सौदेबाजी के लिए प्रेरित करते हैं तो दूसरी ओर यह प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि एक क्षेत्र-विशेष के राज्य एकजुट होकर संयुक्त राष्ट्रसंघ में मतदान करते हैं और इस प्रकार अपने क्षेत्र का प्रभाव दिखाने को उत्सुक रहते हैं।

1 "This trend toward regional fragmentation of bargaining is a natural outgrowth of the universalization of the international political system."
—*William D. Coplin* : Ibid, p. 369.

अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की प्रक्रिया में क्षेत्रीयकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम सम्भवतः यह हुआ है कि अनेक राज्यों को ऐसे बहुत कम अवसर प्राप्त होते हैं कि वे एक दूसरे से सीधे सौदेबाजी कर सकें। उदाहरणार्थ, सहारा प्रदेश के छोटे अफ्रीकी राज्य गैबो (Gabon, a Small Sub-Saharan African State) और मध्य अमेरिकी छोटा राज्य ग्वाटेमाला (*Guatemala, a Small Central American State*) में आपस में कोई नियमित कूटनीतिक सम्पर्क नहीं रहता और उन्हें एक-दूसरे से प्रत्यक्ष सौदेबाजी का अवसर प्रायः नहीं मिलता, सिवाय इसके कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे विश्वव्यापी अन्तर्सरकारी संगठन में कभी किसी सौदेबाजी की स्थिति में आ सकते हैं।

विवाद-क्षेत्रों का विभाजन (*Fragmentation of Issue Areas*)

यदि हम समकालीन और पुरातन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तुलना करें तो एक मुख्य अन्तर यह दिखाई देगा कि उन विवाद-क्षेत्रों की संख्या और विविधता बढ़ती जा रही है जिन पर राज्य परस्पर सौदेबाजी करते हैं। पुरातन युग में राज्य मुख्यतः उस क्षेत्र के नियन्त्रण पर सौदेबाजी करते थे जो उनकी भौगोलिक सुरक्षा से सम्बन्धित होता था। किन्तु समकालीन राज्य एक दूसरे से व्यापक और विविध विवाद-क्षेत्रों पर सौदेबाजी करते हैं जिनमें से अनेक का प्रादेशिक नियन्त्रण जैसे प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, राज्यों के बीच अन्तर्सरकारी संगठनों के निर्माण और कार्य-कलाप आर्थिक विकास की नीतियों अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे में आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान, आदि प्रश्नों पर सौदेबाजी होती है यहाँ तक कि कुछ राज्यों की आन्तरिक सामाजिक नीतियों (जैसे दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद नीति) पर भी राज्यों के मध्य सौदेबाजी होती है। जो प्रश्न प्रादेशिक नियन्त्रण और राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित हैं उन पर सौदेबाजी की स्थितियाँ अधिक पेचीदा बन गई हैं। उदाहरणार्थ, गुटीय नीति (Alliance Policy) के सम्बन्ध में कोई समझौता केवल किन्हीं प्रादेशिक लक्ष्यों को लेकर ही नहीं किया जाता या किसी समझौते का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं होता कि एक राज्य या राज्यों के गुट-विशेष से सुरक्षा की जाती है, बल्कि उस समझौते में और भी व्यापक हित-प्रश्न सन्निहित होते हैं। नाटो, वारसा पैक्ट आदि संगठन केवल प्रादेशिक नियन्त्रण और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे प्रश्नों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि प्रतिबद्धताओं (Extensive Commitments) से बँधे हुए हैं जिनसे अनेक प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जैसे विदेशी सेनाओं की तैनाती (Stationing of Foreign Troops), प्रशासकीय कर्मचारियों की नियुक्ति (Appointment of Administrative Personnel), *आधार-स्थलों की स्थिति (Location of Bases)*, संगठन-सदस्यों के समर्थकों का आवंटन (Allocation of Support from Alliance Members), आदि। राष्ट्रीय सुरक्षा की राजनीति (National Security Politics) से शस्त्र-नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण जैसा विवाद-क्षेत्र या मसला (Issue Area) उत्पन्न हुआ है और आज 20वीं शताब्दी की विदेश नीति में यह

मसला अधिकाधिक विवादास्पद बनता जा रहा है। विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद इस बात के प्रयासों ने जोर पकड़ा है कि आधुनिक सैनिक तकनीक के कुछ पहलुओं पर नियन्त्रण स्थापित किया जाए। पुनश्च, अन्तर्सरकारी संगठनों के विकास ने भी विवाद-क्षेत्रों की संख्या बढ़ाई है। उदाहरण के लिए, इन संगठनों की राजनीति के प्रश्न जिनमें सांविधानिक परिवर्तन, पदाधिकारियों के चुनाव, बजट सम्बन्धी आवंटन, संगठनों में राज्यों की स्थिति आदि शामिल हैं। राज्यों की विदेश-नीति के नए विवाद-क्षेत्र बन गए हैं। इसके अतिरिक्त, अन्तर्सरकारी संगठन मानव-अधिकारों, साम्यवाद बनाम पूंजीवाद, उपनिवेशवाद बनाम उपनिवेशवाद-विरोधी आदि मसलों पर मौखिक संघर्ष का रंगमंच प्रदान करते हैं। विवाद-क्षेत्र-विभाजन (Issue Area Fragmentation) का ही एक प्रभाव इस बात में दिखाई देता है कि राज्यों के भीतर विदेश-नीति-निर्माण प्रक्रिया का बढ़ता हुआ विशेषीकरण और विभाजन (Growing Specialization and Fragmentation of the Foreign Policy making Process within States) हो रहा है। विवाद-क्षेत्रों का ही एक अन्य पहलू यह है कि कुछ विवादों पर दो राज्य परस्पर विरोध और शत्रुतापूर्ण रुख अपनाते हैं जबकि दूसरे कुछ मसलों पर इन्हीं दो राज्यों में सहयोग होता है। जिस प्रकार घरेलू समाजों में राजनीतिक कार्यकर्ता प्राय निरन्तर संघर्षरत रहते हैं वैसा राज्यों के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में नहीं होता, अर्थात् राज्य निरन्तर पूर्ण संघर्ष में लीन नहीं रहते बल्कि पारस्परिक सहयोग के क्षेत्रों को ढूंढ निकालते हैं और इन हित-क्षेत्रों पर आपस में सौदेबाजी की व्यूह-रचना करते हैं।

शक्ति के प्रयोग में प्रवृत्तियाँ (Trends in the Use of Force)

पुरातन युग में युद्ध (War-fare) ही राज्यों के मध्य विवादों में अन्तिम मध्यस्थ या निर्णायक (A Final Arbiter) की भूमिका अदा करता था। "युद्ध एक न्यायालय अथवा व्यवस्थापन विभाग के समान कार्य करता था अर्थात् एक निर्णयकारी संस्था के रूप में था जो यह निर्धारित करता था कि किन राज्यों के हिसाब में क्या आया है। यद्यपि आज की भाँति ही चुनौतियाँ देने और हिसाब-किताब (Pay offs) को बदल देने के लिए शक्ति का प्रयोग भी होता था, तथापि युद्ध ही अन्तिम निर्णायक था अर्थात् यह निश्चित करने के लिए कि सौदेबाजी करने वाले राज्यों में जीत किस की हुई, लड़ाई लड़नी पड़ती थी।"[1] उस समय की तकनीकी दशाएँ (Technological Conditions) ऐसी थी कि राजनीतिक रूप से यह सम्भव था कि जीते हुए भूखण्ड पर अधिकार बनाए रखा जाए। इसी तरह उस समय की राजनीतिक दशाएँ ऐसी थी कि विदेश नीति के निर्णयकर्त्ता किसी छोटे भू-क्षेत्र को

1 "War functional like a court or a legislature does—as a decision-making institution determining which states received what pay-offs. Although force was also used, is to-day, to communicate threats and to change pay-offs, war functioned as 'trial by combat'—that is, a fight to determine, not who was right, but who won what the states were bargaining over."
—*William D. Coplin* : Ibid, pp. 374-75.

वास्तव में समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की प्रक्रिया में राज्य एक दूसरे के मामलों में इतने विविध और व्यापक क्षेत्रों में फँस गए हैं कि उनके लिए एक दूसरे को चुनौती देने या नुकसान पहुँचाने अथवा एक दूसरे की सहायता करने के लिए खुला और समृद्ध क्षेत्र है। अब यह उन पर, विशेषकर बड़े राज्यों पर निर्भर है कि वे सहयोग के क्षेत्र को बढ़ाकर मानवता को निरन्तर प्रगति और समृद्धि की दिशा में अग्रसर करते हैं या तनाव अथवा संघर्ष के क्षेत्र बढ़ाकर मानवता को विनाश के कगार पर पहुँचाते हैं।

वर्तमान विश्व राजनीति के अन्य परिवर्तनशील तत्त्व एवं नई दिशाएँ तथा उलझनें
(Other Dynamic Elements of Contemporary World Politics and New Dimensions and Tensions)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जिस युग का सूत्रपात हुआ उसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहार-क्षेत्र में अनेक 'नूतन क्षितिज' उभरे हैं, प्रभुत्व-क्षेत्र बदल गए हैं, नवीन प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् को नवीन समस्याएँ सताने लगी हैं, विदेश नीतियों के चेहरे बदलते जा रहे हैं—संक्षेप में विश्व-राजनीति का ताना-बाना महान् परिवर्तनों के दौर से गुजर चुका है और गुजरता जा रहा है। अनेक प्रवृत्तियों और पहलुओं का वर्णन पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। कतिपय अन्य प्रमुख मोड़ और उलझनें जिनकी जानकारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उस व्यावहारिक पक्ष के लिए भी पृष्ठभूमि का काम करेगी जिनका विवेचन पुस्तक के कुछ अन्तिम अध्यायों में किया गया है, इस प्रकार है—

1. विचारधाराओं का परिवर्तित रूप

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह एक रोचक पक्ष है कि साम्यवाद और पूंजीवाद—इन दो परम्परागत और परस्पर घोर विरोधी विचारधाराओं में जहाँ संघर्ष शिथिल पड़ रहा है और इन विचारधाराओं के प्रतिपादक राष्ट्र एक दूसरे के निकट आकर सह-अस्तित्व की बात करने लगे हैं, वहाँ एक ही विचारधारा के बीच विभाजन की खाई चौड़ी हो रही है और उसके प्रतिपादक एक दूसरे को पूर्ण शंका की दृष्टि से देखते हुए पारस्परिक युद्ध तक की नौबत से आशंकित हैं। जो साम्यवादी राष्ट्र, रूस और चीन, पूंजीवादी देशों को बर्दाश्त करने को भी तैयार न थे और अमेरिकी नेतृत्व के पूंजीवादी खेमे को अपना सर्वोपरि शत्रु मानकर उसके उन्मूलन को प्राणपण से तत्पर थे, वे ही राष्ट्र अब पूंजीवाद के साथ सह-अस्तित्व को स्वीकार करने लगे हैं। जो अमेरिका साम्यवादी चीन से वैमनस्य और शत्रुता को अपनी विदेश नीति की आधारशिला बनाए हुए था, वही अब उसकी ओर दोस्ती का हाथ बढ़ा रहा है। इस प्रकार कल के शत्रु आज के मित्र बनने लगे हैं और जो विचारधाराएँ हर क्षण परस्पर टकराव की स्थिति में थीं, वे अब सह-अस्तित्व की ओर उन्मुख हैं। दूसरी ओर एक ही विचारधारा और खेमे के दो राज्य रूस और

चीन एक दूसरे से भयभीत हैं। मार्क्स के दो चेले मार्क्सवाद की अपनी-अपनी व्याख्या करते हुए एक दूसरे पर कीचड़ उछाल रहे हैं। साम्यवादी चीन की विस्तारवादी आकांक्षाओं ने सोवियत रूस की आँखें खोल दी हैं और उसे बाध्य होकर चीन से लगती हुई अपनी सीमा पर विशाल सैन्य शक्ति संयोजित करनी पड़ी है ताकि कहीं चीन उस इतिहास को न दोहरा दे जो 1962 में वह अपने घनिष्ठ मित्र देश भारत के विरुद्ध प्रकट कर चुका है।

2 बहुकेन्द्रवाद की ओर प्रवृत्ति

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर उन्मुख है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा में द्विध्रुवीयता (Bi-Polarity) का अर्थ है विश्व का दो शक्ति-गुटों या केन्द्रों में विभाजित हो जाना और बहुकेन्द्रवाद का अर्थ है शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हो जाना। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के नेतृत्व में दो शक्ति गुटों का तेजी से उदय हुआ, पर 1960 के आते-आते इस द्विध्रुवीयता के बन्धन शिथिल पड़ने लगे और विश्व शनैः-शनैः बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर होने लगा। सबसे पहले द्विध्रुवीयता को राष्ट्रीयता की शक्तियों ने चुनौती दी। एशिया और अफ्रीका के नवजागरण ने दोनों गुटों से पृथक् रहने की नीति अपनाकर द्विकेन्द्रित व्यवस्था को और अधिक शिथिल बनाया। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका भारत ने अदा की। इसके अतिरिक्त पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपने आर्थिक पुनर्निर्माण द्वारा स्वयं को पुनः शक्ति सम्पन्न कर यह चाहा कि अब वे अमेरिका के पिछलग्गू बनकर नहीं रहेंगे। विशेषकर फ्रांस ने स्वर्गीय जनरल डिगाल के नेतृत्व में विश्व की द्विध्रुवीय व्यवस्था को विशेष आघात पहुँचाया। इस व्यवस्था को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में इस बात से भी आघात पहुँचा कि अणु-आयुधों का एकाधिकार अमेरिका और रूस के पास से खिसकने लगा तथा ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणु-शक्ति सम्पन्न बन गए।

नवोदित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रूपरेखा यद्यपि अभी सुस्पष्ट और सुनिश्चित नहीं है, तथापि दो शक्ति-गुटों की जगह अधिक शक्ति-केन्द्र साफ तौर पर उभर आए हैं। एशिया में भारत और चीन की उपेक्षा करना अब विश्व की दो महाशक्तियों, रूस और अमेरिका के लिए सम्भव नहीं है तो पश्चिमेशिया में इजराइल और मिस्र प्रमुख शक्ति केन्द्रों के रूप में उभरे हैं—यद्यपि यथार्थ रूप में वे क्षेत्रीय शक्ति-केन्द्र ही हैं।

वस्तुतः वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बहुकेन्द्रीय है जिसमें केवल पूँजीवादी, साम्यवादी और तटस्थतावादी खेमे ही नहीं हैं बल्कि अन्य राष्ट्र और संयुक्त राष्ट्रसंघ भी सम्मिलित हैं। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है कि मौके पर कमजोर से कमजोर राष्ट्र की आवाज भी अपना महत्व रखती है। इजराइल और मिस्र अपने रवैये में परिवर्तन द्वारा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को और महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों को झकझोर सकते हैं। शक्ति-सन्तुलन की ऐतिहासिक परम्परा का आज विशेष महत्व नहीं रह गया है और सामूहिक-सुरक्षा व्यवस्था की बात

अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी है। वर्तमान के आधार पर यही प्रतीत होता है कि भविष्य में अभी अनेक महत्वपूर्ण शक्ति-केन्द्रों का उदय होना बाकी है।

3. क्षेत्रीय संगठनों के रूप और प्रकृति में अन्तर

क्षेत्रीय संगठनों (Regional Orgnizations) का आधारभूत तत्व राष्ट्रों की सुरक्षा था और यह आशा की गई थी कि ये संगठन किसी भी सदस्य-राष्ट्र पर विदेशी आक्रमण होने की दशा में आक्रमणकारी का विरोध मिलकर करेंगे, किन्तु आज की बदली हुई परिस्थितियों में क्षेत्रीय संगठनों पर किस सीमा तक निर्भर रहा जा सकता है, यह 1965 और 1971 में भारत-पाक युद्धों से स्पष्ट हो चुका है। नाटो और सीटो के बल पर कूदने वाले पाकिस्तान को इन संगठनों से कितनी निराशा हाथ लगी होगी, इसका सही अनुमान तो वह स्वयं ही लगा सकता है। पुनश्च, आज की तेजी से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों में ये सैन्य-संगठन पहले के समान महत्वपूर्ण नहीं रह गए हैं। एक तो पहले के शत्रु-राष्ट्र अब एक दूसरे के निकट आने लगे हैं और दूसरे, संगठनों के सदस्य-राष्ट्र उन देशों के साथ मैत्री स्थापित करके, जिनके विरुद्ध संगठनों का निर्माण किया गया है, संगठनों में दरार डाल चुके हैं। तीसरे, कुछ सैन्य-संगठनों द्वारा सदस्य-राष्ट्रों को साम्यवाद का प्रतिरोध करने के लिए जो हथियार दिए जाते हैं उनका प्रयोग साम्यवाद के विरुद्ध नहीं बल्कि प्रजातन्त्र के विरुद्ध किया जाने लगा है। चौथे, यह भय बहुत प्रबल है कि आज के आणविक युग में इन संगठनों द्वारा की गई जरा सी भूल अथवा विस्फोटक कार्यवाही महाविनाशक युद्ध में परिणत हो सकती है। संक्षेप में, क्षेत्रीय संगठनों के रूप और उनकी प्रकृति में अन्तर आ गया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति परिवर्तित दृष्टिकोण के अनुरूप प्रभावित होने लगी है।

4. विभिन्न देशों के स्तरों में परिवर्तन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आज यूरोपीय देशों की राजनीति ही नहीं रह गई है। एशिया और अफ्रीका का नवजागरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नए महत्व, नए सम्बन्ध और नए प्रभाव का सूचक है। आज अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों का भाग्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ बँधा हुआ नहीं है, अब वे अपनी स्वतन्त्र विदेश-नीति का प्रयोग करने लगे हैं और संयुक्त राष्ट्रसंघ में उनकी आवाज की उपेक्षा करना किसी भी महाशक्ति के लिए सुगम नहीं है। इन राष्ट्रों के निर्णयों का आधुनिक विश्व-राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत और चीन नई महाशक्तियों के रूप में उदित हो रहे हैं और अपने सिद्धान्तों के अनुरूप विश्व-राजनीति पर व्यापक प्रभाव डाल रहे हैं। भारत एशिया में लोकतन्त्र का गढ़ है और उसके भविष्य पर समूचे विश्व के लोकतन्त्र का भविष्य बहुत कुछ निर्भर करता है तो चीन प्रादेशिक विस्तारवादी, सैन्यवादी तथा कुटिल राजनीति का खिलाड़ी है जो विश्व की सभी लोकतान्त्रिक शक्तियों के लिए चुनौती है। इजराइल आज इतना शक्ति सम्पन्न बन चुका है कि अरब राष्ट्र उसके अस्तित्व को अनचाहे भी स्वीकार करने को बाध्य हैं। पाकिस्तान सैनिक तानाशाही के अधीन अपने ही हाथों अपने पैरों कुल्हाड़ी मार कर विखण्डित हो

ही चुका है। यह दुर्भाग्य की बात है कि पाकिस्तान सैनिक तानाशाही के शिकन्जे में बार-बार फँस जाता है।

आशय यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में विभिन्न देशों के स्तरों में कभी मन्थर गति से तो कभी तेजी से परिवर्तन आते जा रहे हैं, उनकी विदेश-नीतियाँ नए रूप धारण कर रही हैं और यह सब घटनाचक्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को जटिल से जटिलतर बना रहा है।

5. विश्व-संस्था के प्रति परिवर्तित रुख

विश्व-संस्था, संयुक्त राष्ट्रसंघ, के प्रति संसार के राष्ट्रों का रुख आज उतना उत्साहप्रद नहीं है जितना इस संस्था की स्थापना के समय मौजूद था। अधिकांश राष्ट्र इसके सिद्धान्तों के प्रति समुचित रूप से निष्ठावान नहीं हैं और सुरक्षा-परिषद् महाशक्तियों के हाथों का खिलौना बनी हुई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सफलता या तो उन मामलों में पाई है जिनमें महाशक्तियों से इसे पूरा सहयोग मिला अथवा उन छोटे और कम महत्त्व के विवादों में जिनमें महाशक्तियाँ प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं थीं और जिनमें उनके हितों की टकराहट न थी। अतः अब अधिकांश देशों में यह दृष्टिकोण जड़ पकड़ने लगा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ईमानदारी से अपनी भूमिका निभाने में सक्षम नहीं है। बंगलादेश के स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान पाकिस्तान के बर्बर अत्याचारों के प्रति संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो निष्क्रियता प्रदर्शित की, उसने इस संस्था में शान्तिप्रिय राष्ट्रों की आस्था को झकझोर दिया है। साम्यवादी चीन के प्रवेश से विश्व-संस्था की सदस्यता व्यापक हुई है, लेकिन चीन का दृष्टिकोण उस संस्था को कहाँ तक रचनात्मक शक्ति दे सकेगा, यह सन्देहास्पद है। इजराइल और अरब-राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ की रीति-नीति से ऊब चुके हैं और मध्य-पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया के संकट के समाधान में विश्व-संस्था से कोई विशेष आशा नहीं की जा सकती। वियतनाम-युद्ध में भी, जो अब सम्बन्धित राष्ट्रों की प्रत्यक्ष वार्ता के कारण समाप्त हो चुका है, इस संस्था की अक्षमता ही प्रदर्शित हुई है।

अभिप्राय यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सद्भावना और सक्रिय सहयोग की अपेक्षा राष्ट्रों का उदासीन रुख अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में चिन्ता का विषय है। हेनरी स्पार्क के चेतावनी भरे ये शब्द भुलाए नहीं जा सकते कि "हमें अपने देश के हितों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, लेकिन हमें तब तक सफलता नहीं मिल सकेगी जब तक अपने देश के हितों को हम सामान्य हितों की दृष्टि से नहीं देखेंगे और विश्व तथा मानव-हितों को ध्यान में नहीं रखेंगे।" इस स्पष्ट कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि "हम आदर्शवाद की झोंक में चाहे कितने ही सुझाव दें, लेकिन यथार्थ स्थिति यही है कि यदि सदस्य-राष्ट्र और विशेषकर महान् राष्ट्र सहयोग से कार्य नहीं करेंगे तो संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रसंघ की भाँति ही नष्ट हो जाएगा।" यह चिन्ताजनक बात है कि ऐसे राष्ट्रों की संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है जो विश्व-संस्था द्वारा अपनी समस्या को हल करने की अपेक्षा शक्ति प्रयोग द्वारा सुलझाना अधिक उचित समझते हैं।

6. अणुशक्ति के नए स्वामी

हेनरी एल. रॉबर्ट्स ने ठीक ही कहा है कि आधुनिक विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचाने वाली सबसे बड़ी समस्याएँ हैं 'अणु' और सम्पूर्णतावाद। अणु-शक्ति का निरन्तर विस्तार होने के साथ-साथ इससे प्रभावित राजनीति अपना रंग ला रही है। अणु-शक्ति के विकास के मूल में दो दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर रहे हैं—

प्रथम, भारत, कनाडा जैसे देश अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग की विचारधारा को बल प्रदान कर रहे हैं, एव

द्वितीय, अमेरिका, चीन आदि राष्ट्रों में अणुशक्ति सम्पूर्णतावादी विचारधारा को बल प्रदान कर रही है।

शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए अणुशक्ति के विकास पर जो राष्ट्र शोर मचा रहे हैं, यह एक समझ में न आने वाली बात है विशेषकर उस सूरत में जबकि वे राष्ट्र स्वयं आणविक शस्त्रास्त्रों के भण्डार खड़े कर रहे हैं। भारत के परमाणु कार्यक्रम में कहीं भी आक्रमणकारी विचार के चिन्ह तक नहीं है। 18 मई 1974 को पश्चिमी राजस्थान में भारत का पहला नाभिकीय विस्फोट अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण विकास और अनुसंधान का प्रतीक था किन्तु अमेरिका जैसी महाशक्ति ने आशंका प्रकट कर दी कि भारत के परमाणु विस्फोट से विश्व में स्थायित्व को धक्का पहुँचेगा। अमेरिका स्वयं यह भूल गया कि वह अणु शक्ति के प्रसार में स्वयं कितने जी-जान से लगा है। वह यह भी भूल गया कि आणविक युद्ध का प्रारम्भ करके लाखों व्यक्तियों की खून की होली सबसे पहले 1945 में उसी ने खेली थी। भारत के विरुद्ध शत्रुता रखने वाले चीन, पाकिस्तान जैसे देशों का विरोध तो स्वाभाविक ही था, पर कनाडा, जापान आदि देशों ने भी जो विरोध किया उसके मूल में सम्भवतः विरोध कम था, गलतफहमी अधिक थी। और अब जबकि पाकिस्तान परमाणु विस्फोट की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है, तो अमेरिका और उसके साथी राष्ट्र चुप्पी साधे हुए हैं। राजनीतिक क्षेत्रों में इस प्रकार का मत व्याप्त है कि पाकिस्तान को अनेक विशिष्ट क्षेत्रों से इस दिशा में पूरा सहयोग और समर्थन मिल रहा है।

विश्व की समूची वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए सबसे बड़ा खतरा यही है कि अणुशक्ति के विनाशकारी विकास को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है और कुछ राष्ट्रों में सम्पूर्णतावादी विचारधारा बहुत जोर पकड़ रही है। अमेरिका तो घोर विध्वंसकारी न्यूट्रान बमों के निर्माण की योजना पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अमल करने लगा है। वस्तुतः विनाश के लिए अणु शक्ति के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अनेक समस्याओं को अधिक जटिल बना दिया है और इन खतरों के बीच आशा की किरण यही है कि सहअस्तित्व और समझौतावादी प्रवृति भी पनपी है। प्रलयकारी आयुधों के रहते हुए आज कोई भी राष्ट्र यथाशक्ति महायुद्ध का खतरा मोल नहीं लेना चाहता। जो महाशक्तियाँ

आणविक शस्त्रास्त्रों के भण्डारों की स्वामी हैं वे भी यह समझने लगी हैं कि युद्ध के क्षेत्र को अधिकाधिक सीमित रखने और अणुअस्त्रों के प्रयोग को टालने में ही उनका खुद का भला है। अणुशक्ति के भयंकर संकट ने ही अमेरिका और रूस तथा चीन और अमेरिका को परस्पर निकट आने के लिए बाध्य किया है तथा अणुशक्ति-सम्पन्न चीनी अजगर की फुंकार से त्रस्त सोवियत रूस ने भारत की मैत्री का और भारत ने रूसी मैत्री का महत्व समझा है। सारांश में, अणुशक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही रूपों में प्रभावित कर रही है।

7. शीत-युद्ध

युद्धोत्तर युग में महाशक्तियों के संघर्ष ने एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को जन्म दिया है जो 'शीत-युद्ध' (Cold War) के नाम से विख्यात है। इस स्थिति में विरोधी राष्ट्रों में यद्यपि कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रहते हैं और प्रत्यक्ष शत्रुता नहीं होती, तथापि उनका पारस्परिक व्यवहार शत्रुवत् रहता है। अमेरिका रूस-चीन और उनके पिछलग्गू राष्ट्रों के बीच जो तीव्र शीत-युद्ध रहा, वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किसी भी प्रबुद्ध पाठक के लिए एक सुपरिचित तथ्य है। शीत-युद्ध ने ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में खतरनाक मोर्चे गुटबन्दियाँ है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी शक्तियों ने नाटो की स्थापना की तो रूस ने वारसा पैक्ट किया। कोरियाई युद्ध के समय शीत-युद्ध ने उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध का रूप धारण करके महाशक्तियों की विदेश नीति को प्रभावित किया। शीत-युद्ध के तनावों को कम करने के लिए शीर्ष नेताओं के शिखर सम्मेलन हुए और समयानुसार विदेश नीति को उग्र तथा नरम बनाया जाता रहा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर विश्व राष्ट्रों ने जो भूमिकाएँ अदा कीं उन पर शीत-युद्ध के उतार-चढ़ाव का सदैव स्पष्ट प्रभाव रहा। सोवियत-अमेरिका वैमनस्य और शीत-युद्ध ने विश्व के राष्ट्रों को तेजी से दो खेमों में विभाजित कर दिया और उनसे उत्पन्न परिस्थितियों ने गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति को प्रोत्साहन दिया। दो खेमों की टक्कर को रोकने और दोनों के बीच पुल का काम करने के लिए असंलग्नता की विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अधिकाधिक सम्मान मिलता गया। पाश्चात्य शक्तियों ने भारत और पाकिस्तान के बीच शीत-युद्ध की आग प्रज्ज्वलित रखी जिससे दोनों देशों के बीच अनेक युद्ध हुए। पाकिस्तान की विदेश नीति में सैनिक गुटबन्दी का तत्व सर्वोपरि रहा और भारत को अपनी अर्थव्यवस्था की कीमत पर सैनिक तैयारियाँ करनी पड़ीं। शीत-युद्ध के अखाड़े ने ही महाशक्तियों को पश्चिमी एशिया, वियतनाम, दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा अफ्रीका में एक दूसरे के सामने ताल ठोकने को विवश किया है। यह शीत-युद्ध न चले तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सहयोग और सह-अस्तित्व की दिशा में दौड़ पड़ेगी, इसमें सन्देह नहीं। पिछले कुछ वर्षों में शीत-युद्ध पिछले दौर की तुलना में बहुत कुछ शान्त रहा है, तथापि 1981 के अन्तिम चरण से कुछ घटनाओं के कारण इसे पुनः बल मिला है, यथा: दिसम्बर, 1981 में पोलैण्ड में तथाकथित सोवियत हस्तक्षेप और अमेरिका द्वारा पोलैण्ड तथा सोवियत संघ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध, अमेरिका

द्वारा पाकिस्तान को एफ-16 विमान देने सम्बन्धी निर्णय, 15 दिसम्बर, 1981 को इजरायल द्वारा गोलान पहाड़ियों पर विधिवत् कब्जा करने का फैसला आदि।

8. मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व की विशिष्ट स्थिति

महायुद्ध के उपरान्त एशिया के दो प्रदेश मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में निरन्तर विशेष महत्व प्राप्त करते गए और आज भी ये विश्व का प्रधान संकटस्थल (Danger spots) बने हुए हैं। मध्यपूर्व तेल के वृहत् भण्डारों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षण केन्द्र है तो भारत और लाल चीन के उदय ने सुदूरपूर्व के प्रदेश को सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। वास्तव में एशिया द्वितीय महायुद्ध के बाद में ही विश्व-राजनीति का तूफान केन्द्र (Storm centre) बना हुआ है। शान्ति की शक्तियां प्रबल होती हैं, सकट के बादल कुछ समय के लिए छट जाते हैं और फिर पुन बरस पड़ते हैं। इजरायल और अरब राष्ट्रों की शत्रुता, अरब राष्ट्रों का पारस्परिक वैमनस्य, ईरान-इराक संघर्ष आदि ने मध्य पूर्व को एक 'विस्फोटक केन्द्र' की स्थिति प्रदान की। इधर भारत के प्रति पाकिस्तान, चीन और बगलादेश के रवैये को मित्रतापूर्ण नहीं कहा जा सकता। तथापि यह बात उत्साहवर्द्धक है कि भारत और चीन के बीच वार्ता के द्वार पुनः खुले हैं, पाकिस्तान और भारत के बीच अनाक्रमण सधि की दिशा में 1981 के अन्तिम चरण से बातचीत चली है और बगलादेश के साथ भी तनाव के बिन्दु कुछ कम हुए हैं। भारत उत्तरोत्तर आर्थिक और सैनिक दृष्टि से एक सबल राष्ट्र बनता जा रहा है और उसकी स्थिति को अनदेखी करना किसी भी महाशक्ति लिये 'आत्मघातक' होगा।

9. साम्राज्यवाद का बदलता हुआ स्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक नई विस्फोटक प्रवृत्ति यह है कि साम्राज्यवाद के नए परिवेश में उभरने के आसार नजर आ रहे है। प्रादेशिक साम्राज्यवाद तो अस्ताचल की ओर है, लेकिन आर्थिक और राजनीति साम्राज्यवाद पैर पसारने के लिए प्रयत्नशील है। जून, 1976 में इलाहाबाद (भारत) में 'अफ्रीका दिवस समारोह' में साम्राज्यवाद के इस नए रूप का पर्दाफाश करते हुए ठीक ही कहा गया था "विश्व के सभी अविकसित देशों की जनता का संघर्ष एक-सा है। उनकी समस्याएँ एक-सी हैं। सभी अविकसित देशों का शत्रु बढ़ता हुआ साम्राज्यवाद है जो दूसरे महायुद्ध के बाद अनेक नए रूपों में अविकसित देशों का शोषण कर रहा है। यह सही है कि आज साम्राज्यवाद का रूप वह नहीं है जो आज से पचास वर्ष पहले था, लेकिन आज नव साम्राज्यवाद का जो रूप है वह भयानक है। इसमें रूप-भेद भले ही हो, शोषण-भेद नहीं है। साम्राज्यवाद के इस नए रूप को समाप्त करने के लिए सभी अविकसित देशों की जनता को एक जुट होकर संघर्ष करना चाहिए तभी एक तीसरे विश्व की कल्पना सार्थक होगी।" अफ्रीका इस नए साम्राज्यवाद का विशेष स्थल है, लेकिन अफ्रीकी जनता अब जाग उठी है और विभिन्न प्रकार से साम्राज्यवाद के विरुद्ध मोर्चा ले रही है। यह संघर्ष जहाँ एक ओर जन-आन्दोलनों

के रूप में है, वहीं दूसरी ओर इसके साथ बुद्धिजीवियों का आन्दोलन भी इस मुक्ति संघर्ष को तीव्र और स्थायी बनाने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर रहा है और बौद्धिक तथा वैचारिक स्तर पर नई दुनिया का सूत्रपात कर रहा है। यह एक शुभ लक्षण है। हमें इसका स्वागत करना चाहिए।

10. युद्धोपरान्त विश्व में समायोग

युद्धोपरान्त के विश्व में शान्तिपूर्ण समायोग की समस्या (Problem of Peaceful Co-existence) अनेक कारणों से महत्वपूर्ण बन चुकी है। प्रथम, परमाणु शस्त्रों के विकास से युद्ध-सम्भावना के लिए बहुत भारी खतरा बन चुका है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने एक बार कहा था कि शान्तिपूर्ण समायोग का एकमात्र विकल्प सामूहिक विनाश ही है। द्वितीय, इस समय साम्यवादी और पूंजीवादी राष्ट्रों के गुट आणविक शस्त्रों और सैनिक शक्ति में इतने समान रूप से सन्तुलित हैं कि कोई भी आने वाले कई काल तक के लिए एक दूसरे को हराने की आशा नहीं कर सकता। यह उचित भय है कि तीसरा विश्व युद्ध इतना लम्बा होगा कि इसके भयानक परिणामों और प्रभावों का इस समय अनुमान नहीं लगाया जा सकता।[1]

संयुक्त राज्य और सोवियत संघ की युद्धोपरान्त नीतियों का मूल्यांकन ध्यानपूर्वक किया जाए तो पता चलता है कि दोनों देशों की सरकारों ने विश्व राजनीति में इतने विभिन्न उद्देश्यों को अपनाया है कि समय के साथ इन दोनों प्रणालियों में शान्तिपूर्ण समायोग की सम्भावना और भी अधिक कम होती जा रही है। किसी भी पक्ष की प्रशंसा करने या आरोप लगाए जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोनों पक्ष ही शीत युद्ध की नीतियों की क्रिया और प्रतिक्रियाओं के चक्कर में अत्यधिक फंस चुके हैं।[2] तथापि यह भी स्वीकार करना होगा कि शक्ति केन्द्रों के विस्तार, सैनिक शक्ति के सन्तुलन, परमाणु युद्ध के असीम विनाश के भय आदि के कारण शान्तिपूर्ण समायोग की संभावनाओं को बल मिला है। यह आवश्यक है कि शांतिपूर्ण समायोग की इच्छा के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को शान्तिपूर्वक सुलझाने के वास्तविक प्रयत्न भी होने चाहिए। प्रत्येक पक्ष को दूसरे पक्ष की विचारधारा के साथ कहीं समायोजन करना पड़ेगा तभी सामान्य समझौते की स्थिति हो सकती है। रूस और संयुक्त राज्य में शान्तिपूर्ण समायोग तभी हो सकता है जब वे पारस्परिक झगड़ों को वार्तालाप और मध्यस्थता द्वारा सुलझा सकें।[3]

11. गुटनिरपेक्ष देशों की उत्तरोत्तर बढ़ती भूमिका

गुट-निरपेक्षता आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इतना प्रभावी होता जा रहा है कि महाशक्तियों और विश्व के पूंजीवादी तथा साम्यवादी खेमों द्वारा गुट-निरपेक्ष देशों की आवाज को दबाया नहीं जा सकता। गुट निरपेक्ष देशों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। सितम्बर, 1961 के बेलग्रेड गुट-निरपेक्ष प्रथम शिखर सम्मेलन में केवल 5 देश ही शामिल हुए थे जबकि सितम्बर, 1979 के *हवाना शिखर सम्मेलन* में 94 देश शामिल हुए जिसमें 20 देश

1-3 के. के. मिश्र एवं इन्दु खन्ना : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृष्ठ 314.

और संगठन प्रेक्षक थे तथा 18 देश अतिथि थे। समय के साथ गुट-निरपेक्षता का रूप निखरता जा रहा है और अधिक वास्तविक होता जा रहा है। प्रारम्भ में इसकी नीति आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी थी, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं ने गुट-निरपेक्ष देशों को यह अनुभव करा दिया कि इस नीति को अधिक यथार्थवादी बनाया जाए, और राष्ट्रीय हित के तत्व को प्रधानता दी जाए। भारत ने इस नीति को परिष्कृत करने तथा इसके विभिन्न पहलुओं को उजागर करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हाल ही के वर्षों में गुट-निरपेक्षता की नीति में पारस्परिक आर्थिक सहयोग के तत्व पर विशेष बल दिया जाने लगा है। राजनीतिक पहलू की तुलना में आर्थिक पहलू पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिए जाने से गुट-निरपेक्षता की धारणा की सार्थकता सिद्ध हुई है। गुट-निरपेक्षता का परस्पर विरोधी स्वरूप भी अस्तित्व में है जिसका स्पष्ट उदाहरण पश्चिमेशिया में दृष्टिगोचर होता है। कतिपय अरब राष्ट्रों के सोवियत संघ के साथ अत्यधिक बंध जाने से गुट-निरपेक्षता को शंका की दृष्टि से देखा जा रहा है तथापि इस तथ्य को भुलाया नहीं जाना चाहिए कि अरब राष्ट्र अपनी राजनीतिज्ञ प्रभुता पर कोई आँच न आने देने के प्रति सचेत हैं। वास्तव में पश्चिमेशिया का क्षेत्र एक तरह से सचेत और सावधान गुटबन्दी का अखाड़ा बन गया है।

12. सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त, उपनिवेशवाद का लोप होने के साथ-साथ, *सम्प्रभु राज्यों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। जहाँ 1955 में संयुक्त राष्ट्रसंघ* के सदस्यों की संख्या केवल 51 थी वहाँ 1982 के प्रारम्भ में यह 156 थी। 26 सितम्बर, 1981 को बेलीज संयुक्त राष्ट्र का 156वां सदस्य स्वीकार किया गया था। सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि के कारण विश्व राजनीति का स्वरूप बहुत-कुछ बदल गया है और विभिन्न राज्यों के स्तरों तथा स्थितियों में तेजी से परिवर्तन आ रहे हैं। *अफ्रेशियाई राष्ट्रों की आवाज विश्व-संस्था में आज* अधिक बुलन्द है।

अन्य उलझनें

अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की और भी अनेक उलझनें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को *प्रभावित कर रही हैं। ये उलझनें सैद्धान्तिक भी हैं और व्यावहारिक भी। एक बड़ी* उलझन यह है कि राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बीच संघर्षों की एक शृंखला सी बन गई है। इन दोनों के बीच समायोजन करना है। दूसरा तनाव राष्ट्रीय सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बीच समुचित सामञ्जस्य सम्बन्धी है। जब तक राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था राजनीतिक संगठन का मुख्य रूप है, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अपेक्षा राष्ट्रीय सुरक्षा को ही प्रधानता मिलेगी। दोनों के बीच संघर्ष अनिवार्य नहीं है क्योंकि एक को प्राप्त करने के लिए जिन साधनों को अपनाया जाता है, वे कभी-कभी दूसरे को प्राप्त करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। पर दोनों

के मध्य टकराहट का क्षेत्र भी कम नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तीसरी सैद्धान्तिक उलझन सहयोग और संघर्ष के सापेक्षिक महत्त्व की है। दोनों ही प्रवृत्तियों के उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में उपस्थित होते रहते हैं जिनसे शान्ति तथा युद्ध जैसी मूल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। पर रचनात्मक पहलू ही मानवता का संरक्षक है और इसीलिए संघर्ष की अपेक्षा सहयोग अधिक सामान्य है तथा इसे प्रोत्साहित करने की दिशा में लगातार प्रयास किए जाते हैं। चौथी उलझन यह है कि एक ओर तो वैभव की अट्टालिकायें हैं और दूसरी ओर निर्धनता का ताण्डव नृत्य है। एक ओर वैज्ञानिक प्रगति तथा तकनीकी विकास ने धरती पर स्वर्ग उतार दिया है और दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान तथा साधनों के पिछड़ेपन ने मानव-सभ्यता के बहुत से क्षेत्रों में इस धरती को नर्क बना रखा है। ये दोनों ही स्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गम्भीर रूप से प्रभावित किए हैं। विकासशील, अविकसित और विकसित राष्ट्रों की राजनीति अपना-अपना खेल, खेल रही है और विश्व-राजनीति के नाटक को रचनात्मक और विध्वंसात्मक अभिनयों से पूर्ण बना रही है। पाँचवीं उलझन लोकतान्त्रिक और प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का संघर्ष है। रंगभेद की नीति तो मानव-अधिकारों पर तमाचा है ही, शस्त्रीकरण जैसी लहर विश्व-राजनीति को और भी विनाशक बना रही है, यह आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गम्भीर समस्या बन चुकी है। छठा विरोधाभास यह है कि एक ओर तो मानव-इतिहास में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव कल्याण के प्रयास किए जा रहे हैं, दूसरी ओर प्रतिक्रियावाद के नाम पर सामूहिक हत्याओं, अत्याचार और अमानवीय परिस्थितियों का जोर बढ़ रहा है। समता के प्रयत्नों की तुलना में विषमताएँ इतनी बढ़ रही हैं कि प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से विश्व राजनीति के कार्य-कर्ताओं के लिए ये सिरदर्द हैं।

इन विभिन्न उलझनों, विरोधाभासों और तनावों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ग्रस्त है तथा नित नई समस्याएँ उठ रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अभिनेताओं को इनका समाधान करना है और इसकी सफलता पर ही मानव जाति का भविष्य निर्भर करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मुक्ति-संघर्ष
(Freedom Struggles In International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्त्वपूर्ण आधुनिक पक्ष मुक्ति-संघर्षों की स्वायत्तता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सत्ता-केन्द्रों की चर्चा में इस घटना की उपेक्षा करना उचित नहीं होगा। कोई भी सत्ता-केन्द्र स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक और आर्थिक निर्णय लेने में सक्षम होता है और राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम भी वह शक्तिशाली घटक है जिसमें स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने की ताकत सन्निहित है। वियतनाम-युद्ध, बंगलादेश संघर्ष, आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के चीनविद् गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन एक स्वतन्त्र घटक है। इसका

तात्पर्य क्या है ? इस घटक की स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने की शक्ति कितनी है ? सत्ता-केन्द्र गुट या कि सत्तात्रय (अर्थात् अमेरिका, सोवियत रूस और चीन) एक होकर भी क्या मुक्ति-संग्राम को रोक सकते हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर पर आने वाले कुछ वर्षों में एशियायी राजनीति का भविष्य अवलम्बित रहेगा।"

हम देख चुके हैं कि *वियतनाम-युद्ध ने सर्वशक्ति सम्पन्न अमेरिका तक को* नाकों चने चबा दिए। लगभग 149 खरब डॉलर खाक में मिलाकर और एक लाख के आस-पास अमेरीकियों की जान गवां कर भी आखिर अमेरिका को क्या हासिल हुआ ? बंगलादेश के मुक्ति-संग्राम को कुचल देने के पाकिस्तानी प्रयासों का क्या परिणाम निकला ? इन सबका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष "किसी के द्वारा न तोड़ी जा सकने वाली ऐसी राजनीय और सैनिक शक्ति का निर्माण कर लेता है कि उसकी ताकत से टक्कर लेना सहज नहीं होता।" आज वस्तुतः राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम की स्वायत्तता स्पष्ट हो गई है और खास तौर पर एशियायी राजनीति के बारे में विचार करते समय तो इस तत्व के महत्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। श्री देशपाण्डे का यह अभिमत सर्वथा ठीक है कि "कठिनाइयों से उत्पन्न होने वाला यह आत्म-विश्वास और आन्तरिक बल (मुक्ति-संघर्ष) यदि ध्यान में न रखा जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर किया गया कोई भी विचार अधूरा रहेगा। एशियायी राजनीति में सही जोश की राष्ट्रवादी शक्ति मुक्ति-संग्राम से सम्बन्धित है। चीन का उदय भी राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष का ही परिणाम था और अब वियतनाम यदि खड़ा होगा तो इसी मुक्ति-संग्राम के बल पर।"

अपने विश्लेषण में श्री देशपाण्डे ने आगे लिखा है कि "अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मुख्य संघर्ष के घटक महाशक्ति और छोटी शक्ति ही होते हैं। राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम इस संघर्ष में एक महत्वपूर्ण शस्त्र होता है। इसके मुकाबले में अभी तक तो अन्य किसी प्रभावकारी अस्त्र का निर्माण नहीं हो पाया है और जब तक ऐसा न हो पाए तब तक मुक्ति-संघर्षों का महत्व हमें अपने सामने रखना ही होगा, नहीं तो जाने-अनजाने हमारे कदम इतिहास की धारा के विपरीत चलने लगेंगे।"



2 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त : विभिन्न दृष्टिकोण

(Theories of International Politics: Different Approaches)

"सिद्धान्त का निर्णय किसी पूर्व-निश्चित, निगूढ़ एवं अवास्तविक विचार से नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसके उद्देश्य से ही इसका निर्णय होना चाहिए।"

—हैंस जे. मॉर्गेन्थो

द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन अधिकाधिक वैज्ञानिक बनता जा रहा है और विद्वानों ने इसके कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया है। हैंस जे मॉर्गेन्थो का यथार्थवादी सिद्धान्त (Realistic Theory) तो इतना महत्वपूर्ण है कि उसे भली-भाँति समझे बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सुचारु रूप से अध्ययन करना कठिन है।

किसी भी विषय के समुचित अध्ययन और सचालन में सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि सिद्धान्त कुछ सामान्य नियमों का एक ऐसा सुव्यवस्थित समूह होता है जिसके आधार पर घटनाओं और क्रिया-कलापों का गहन एव व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है। सिद्धान्त के अन्तर्गत जो नियम गठित होते हैं, वे अमुक परिस्थितियों और घटनाओं से उत्पन्न प्रश्नों को समझने में हमारी सहायता करते हैं। सिद्धान्त वे साधन हैं जो हर कार्य और घटना से उत्पन्न होने वाले प्रश्नों—क्या, क्यों और कैसे—का कुछ न कुछ उत्तर प्रस्तुत करते हैं।[1] इनके आधार पर हम अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ पाते हैं और सम्बन्धित नीतियाँ निर्धारित कर सकते हैं। आशय यह है कि सिद्धान्त केवल अध्ययन का साधन ही नहीं होते, बल्कि नीति-निर्माण में भी हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। यदि हम उन सिद्धान्तों को समझ लें जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में प्रतिपादित किए गए हैं तो विषय-सामग्री के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को समझने

1 *Stainley H. Hoffmann (ed.)* : Contemporary Theory in International Relations, pp. 29–54.

में सहायता मिलती है। प्रस्तुत अध्याय में यद्यपि हमारा मन्तव्य मुख्य रूप से यथार्थवादी सिद्धान्त का अध्ययन है, तथापि कतिपय अन्य सिद्धान्तों और सम्बन्धित बातों का संक्षिप्त विश्लेषण भी अपेक्षित है।

विभिन्न दृष्टिकोण
(Different Approaches)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन सम्बन्धी जो विभिन्न दृष्टिकोण प्रकट किए जाते रहे हैं, उन्हें सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(1) ऐतिहासिक दृष्टिकोण (Historical Approach)
(2) यथार्थवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण
(Realistic and Idealistic Approach)
(3) समन्वयवादी दृष्टिकोण (Eclectic Approach)
(4) व्यवस्थावादी दृष्टिकोण (System Approach)
(5) नीति-विज्ञानवादी दृष्टिकोण (Policy-Science Approach)

(1) ऐतिहासिक दृष्टिकोण (Historical Approach)

यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक मुख्य परम्परावादी दृष्टिकोण है जो इतिहास को एक ऐसी प्रयोगशाला के रूप में देखता है जिसमें वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषण एवं परीक्षण होता रहता है। अतीत की आधारशिला पर वर्तमान का निर्माण किया जाता रहा है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ अतीत की परम्पराओं और विचारों से बड़ी सीमा तक प्रभावित हुई हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वर्तमान परिस्थितियों से भावी घटनाओं का स्वरूप बहुत-कुछ निर्धारित होता है। भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की ओर विकास का क्रम सदैव विद्यमान रहा है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तन और विकास का नियम सदैव अस्तित्व में रहता है, अतः नीतियों के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं स्थायी दिशानिर्देश न तो उपयुक्त ही है और न समुचित रूप से सम्भव ही। इस दृष्टिकोण के अनुसार राजनयिक इतिहास (Diplomatic History) का अध्ययन अत्यावश्यक है क्योंकि कुशल राजनय के बल पर, चाहे उसका स्वरूप द्विपक्षीय हो अथवा बहुपक्षीय, हम समस्याओं का उपयुक्त समाधान करने की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक उपयुक्त और शक्तिशाली पक्ष प्रस्तुत करता है, तथापि यह अपूर्ण एवं अपर्याप्त है। पैडेलफोर्ड एवं लिंकन के शब्दों में, "वर्तमान युग में केवल राजनीतिक इतिहास का अध्ययन लाभप्रद होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। आज राजनीति शास्त्र के अध्येता के लिए अतीत के इतिहास से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में नीति-निर्धारण-प्रक्रिया तथा राजनीतिक सौदेबाजी की कला का ज्ञान कहीं अधिक आवश्यक है।" यह आलोचना बहुत-कुछ वजन रखती है, इससे इन्कार नहीं

किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा अन्य किसी भी विषय के सांगोपांग अध्ययन में हम इतिहास की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते, पर साथ ही उस पर ही पूरी तरह निर्भर करना भी एकपक्षीय तथा हानिकारक होगा। ब्रिटेन और वहां की शिक्षा प्रणाली से प्रभावित बहुत से देशों में द्वितीय महायुद्ध से कुछ वर्षों बाद तक इतिहासवादी दृष्टिकोण काफी प्रभावशाली रहा, लेकिन ज्यों-ज्यों शीत-युद्ध की उग्रता बढ़ती गई और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की यथार्थता उजागर होती गई, इतिहासवादी दृष्टिकोण की लोकप्रियता घटती गई। आज के प्रचलित सन्दर्भ में यह दृष्टिकोण पुरातन, परम्परावादी और घिसापिटा माना जाता है जो हमें अध्ययन की गहराइयों तक नहीं पहुँचाता, घटनाओं के अनेक वास्तविक और प्रभावशाली तत्वों पर प्रकाश नहीं डालता। फिर भी जहाँ तक अपने अध्ययन और विश्लेषण में इतिहास का सहारा अपेक्षित है, वहाँ तक इसकी उपयोगिता ठुकराई भी नहीं जा सकती।

(2) राजनीतिक यथार्थवाद और राजनीतिक आदर्शवाद
(Political Realism and Political Idealism)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में प्रमुख टक्कर यथार्थवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोणों की है। ये दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का सही और सुदृढ़ सिद्धान्त होने का दावा करते हैं। जार्ज केनन तथा हंस मॉर्गेन्थो समकालीन यथार्थवादियों में सबसे प्रमुख हैं। थाम्पिसन, लॉगवेल, ईस्टन आदि ने भी यथार्थवादी दृष्टिकोण के विभिन्न पहलुओं पर बल दिया है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के प्रमुख प्रवक्ताओं में वुडरो विल्सन, बर्ट्रेण्ड रसेल आदि हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद अनुभव और तर्क पर आधारित है जिसमें तथ्यों तथा घटनाओं के वास्तविक स्वरूप के अध्ययन के उपरान्त तर्कसंगत निष्कर्ष निकाले जाने पर आग्रह है। यह दृष्टिकोण सुरक्षा और शक्ति तत्वों के निहितार्थों (Implications of Security and Power Factors) पर विचार करता है।[1] इस प्रकार के विचार व्यक्ति के ऐसे विश्वासों के परिणाम होते हैं कि दूसरे लोग उसे सदा नष्ट करने की फिराक में रहते हैं, अत: अपनी सुरक्षा की खातिर उसे दूसरों को मार डालने के लिए सदैव सजग और तत्पर रहना चाहिए। यथार्थवादी दृष्टिकोण में यह विचार निहित है कि विश्व के राष्ट्रों के बीच किसी न किसी रूप में वैमनस्य, संघर्ष आदि मौजूद रहता है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय समाज में शक्ति अथवा प्रभाव की प्रतिस्पर्धा सदैव चलती रहती है और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा सरकार द्वारा इस प्रतिस्पर्धा या संघर्षात्मक स्थिति को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता अतः कूटनीति और राजनीतिज्ञता का प्रमुख कार्य यही है कि शक्ति-प्रतिस्पर्धा पर किसी न किसी रूप में अंकुश लगाया जाए और इस प्रकार के साधनों का सहारा लिया जाए कि यथासाध्य संघर्ष का विस्फोट न हो पाए। शक्तिस्पर्धा पर अंकुश रखने के लिए अपनाए जाने

1 *John H. Herz*: Political Realism and Political Idealism, p. 18.

वाले इस प्रकार के साधन वास्तव में 'नया शक्ति-सन्तुलन' (A new balance of power) है। यथार्थवाद शक्ति-संघर्ष के स्थायित्व को स्वीकार करता है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में साधनों तथा उद्देश्यों जैसे प्रश्नों के प्रति उदासीन है। काल्पनिक उडानों और अमूर्त मान्यताओं के स्थान पर यह दृष्टिकोण इस वास्तविकता में विश्वास करता है कि यह संसार विभिन्न परस्पर-विरोधी हितों और स्वार्थों का रंगमंच है जो आपस में टकराते रहते हैं, अतः किन्हीं नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर हम किसी संघर्ष-रहित आदर्श अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते और उपयुक्त यही है कि विभिन्न विरोधी स्वार्थों के मध्य सन्तुलन की स्थापना द्वारा संघर्ष को टालते रहने का प्रयत्न किया जाए। इस बहुलवादी समाज पर अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त ही लागू किया जा सकता है।

जॉर्ज केनन और हंस मॉर्गेन्थो दोनों ही इस विश्वास को आधार मानकर चले हैं कि राष्ट्रीय हित ही किसी भी बुद्धिमत्तापूर्ण नीति तथा विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण के लिए अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय मार्गदर्शक है। लेकिन जहाँ तक राष्ट्रीय हित तथा नैतिक सिद्धान्तों के बीच सम्बन्ध की प्रकृति का प्रश्न है, दोनों ही विचारकों के मत एक-दूसरे से भिन्न हैं। जॉर्ज केनन के अनुसार हम केवल अपने ही हितों को जान और समझ सकते हैं तथा कोई भी समाज दूसरों की घरेलू समस्याओं और आवश्यकताओं का निर्णायक नहीं हो सकता।[1] अतः उचित यही है कि एक ओर तो हम अपने राष्ट्रीय हितों की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी विदेश-नीति और वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन का प्रयास करें और दूसरी ओर उन नैतिक तथा आदर्श सिद्धान्तों के अनुसरण का भी प्रयास करें जो हमारी सभ्यता में अन्तर्निहित हैं। पर इस प्रकार के नैतिक और आदर्श सिद्धान्त केवल हमारे अपने लिए ही वैध अथवा मान्य हो सकते है, दूसरों के लिए नहीं, और इसीलिए हमें दूसरों पर इन सिद्धान्तों को थोपने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जॉर्ज केनन के इन विचारों के विपरीत हंस मॉर्गेन्थो ने राष्ट्रीय हित की सर्वोच्चता की वकालत की है और यह सुनिश्चित विचार प्रकट किया है कि नैतिकता के सभी सिद्धान्त राष्ट्रीय हित की बलिवेदी पर चढ़ाए जा सकते हैं। मॉर्गेन्थो के यथार्थवादी दृष्टिकोण का विवेचन पृथक् से इसी अध्याय में आगे किया गया है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि यथार्थवादियों में इस बात पर वास्तविक मतैक्य नहीं पाया जाता कि राष्ट्रीय हित को किसी सीमा तक प्रमुखता दी जानी चाहिए। इस बात पर अवश्य ही उनमें सहमति है कि हमारी विदेश-नीति और वैदेशिक सम्बन्धों का मार्गदर्शक राष्ट्रीय हित है न कि नैतिक सिद्धान्त।

यथार्थवादियों के विपरीत आदर्शवादी शक्ति-राजनीति (Power-politics) को इतिहास तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अस्थायी पक्ष मानते हैं। उनके मतानुसार यथार्थवाद एक ऐसी अवधारणा है जो इतिहास के वास्तविक अर्थ को

1 *George F. Kennan* : American Diplomacy, pp. 53-101.

सोडनी-मरोड़नी तथा भ्रष्ट करनी है। आदर्शवाद समाज के अमित विकास में विश्वास करता है। इस दृष्टिकोण का उदय 18वीं शताब्दी में हुआ था और अमेरिकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों के पीछे यह प्रेरणा का एक मुख्य स्रोत माना जाता है। प्रारम्भिक आदर्श विचारों में कॉण्डरसेट (Condorcet) का नाम उल्लेखनीय है जिसने सन् 1795 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में एक ऐसी आदर्श विश्व-व्यवस्था की कल्पना प्रस्तुत की है जिसमें युद्ध, विषमता और अत्याचार का सर्वथा अभाव हो तथा विवेक, शिक्षा, विज्ञान आदि के माध्यम से मानव-कल्याण की अविराम धारा बहती रहे।

सारांश में आदर्शवाद भावी अन्तर्राष्ट्रीय समाज की वह तस्वीर खींचता है जो शक्ति-राजनीति, अनैतिकता, हिंसा आदि से मुक्त एक सुधरी हुई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विचार पर आधारित है। आदर्शवादियों का विश्वास है कि समुचित शिक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रभावशाली सहायता से हम आज की अपेक्षा एक अधिक सुन्दर और अधिक समृद्ध संसार का निर्माण कर सकते हैं। उनका तर्क है कि अतीत में जो राजनीतिक संघर्ष हुए वे शक्ति अथवा प्रभाव के लिए नहीं हुए थे, बल्कि वे परस्पर विरोधी आदर्शों और सिद्धान्तों के बीच होने वाले संघर्ष थे। आदर्शवादियों में भी जो स्वप्नदर्शी हैं अर्थात् कल्पनालोक में अधिक उड़ान भरते हैं, उन्होंने शक्ति-राजनीति पर आधारित इस विश्व को विनाश से बचाने के लिए तीन मार्ग सुझाए हैं–(1) नैतिक राष्ट्रों को चाहिए कि वे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में परम्परागत शक्ति-नीति के स्थान पर सदैव नैतिक सिद्धान्तों का अनुसरण करें, (2) सभी सम्भव उपायों से निरन्तर यह प्रयास होना चाहिए कि लोकतन्त्र-विरोधी सर्वाधिकारवादी शक्तियों का प्रभाव समाप्त हो, एवं (3) एक विश्व-सरकार की स्थापना द्वारा शक्ति-राजनीति को समाप्त किया जाए। इस प्रकार कल्पनावादियों अथवा आदर्शवादियों का विश्वास है कि यदि एक विश्व अथवा विश्व-संघवाद के आदर्श को अपना लिया जाए तो हम शक्ति-राजनीति के अभिशापों से बच सकते हैं, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का चित्र ही बदल सकते हैं।

राजनीतिक यथार्थवाद और राजनीतिक आदर्शवाद में परस्पर विरोध का सबसे बड़ा केन्द्र-बिन्दु शक्ति की समस्या है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान युग में प्रथम महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के स्व. राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के नेतृत्व में आदर्शवाद पर जोर दिया गया था और द्वितीय महायुद्धोत्तर अवधि में बर्ट्रेण्ड रसेल इसके सबसे बड़े प्रवक्ता रहे हैं। दो महायुद्धों के बीच के युग में यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच विरोध काफी खुल कर सामने आया। यथार्थवाद को राष्ट्रीयता और आदर्शवाद को अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बद्ध समझा गया और इस धारणा को बल मिला कि जहाँ यथार्थवादी नीतियाँ शान्ति-विरोधी हैं तथा राष्ट्रीय शक्ति के प्रसार को अपना लक्ष्य मानती हैं, वहाँ आदर्शवादी नीतियाँ शान्ति को प्रोत्साहित करने वाली हैं।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकार के विवेचन को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता और यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप का बहुत अधिक सरलीकरण है, तथापि इसमें

कोई सन्देह नहीं कि यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच संघर्ष का मुख्य कारण यही है कि यथार्थवादी यह पूर्ण निश्चय नहीं कर सके हैं कि शक्ति की दौड़ (Pursuit of Power) एक लक्ष्य है अथवा साधन। एक ओर तो उन्होंने शक्ति को वह सर्वोच्च मूल्य माना है जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य को प्रयत्नशील होना चाहिए, दूसरी ओर शक्ति को साधन के रूप में भी देखा है। अनेक विद्वानों का तर्क है कि चूँकि मूल्यों की खोज (Pursuit of Values) सामान्यतया आदर्शवाद से सम्बन्धित है अतः हम यथार्थवाद को भी उस सीमा तक आदर्शवादी जामा पहना सकते हैं जहाँ तक वह मूल्यों की खोज पर बल देता है, पर दोनों में बड़ा भारी अन्तर यह है कि जहाँ आदर्शवाद उन मूल्यों पर आधारित है जो दार्शनिक दृष्टि से ठोस हैं और प्राथमिक महत्व के हैं वहाँ आदर्शवाद शक्ति की प्राथमिकता से शुरू होता है और अन्त में इसे एक मूल्य के स्तर तक ऊँचा उठा देता है ताकि इस आपत्ति का निराकरण किया जा सके कि यह सिद्धान्त मूल्य-रहित (Valueless) है। चूँकि यथार्थवाद भी मूल्यों की भूमिका को स्वीकार करता है, अतः स्पष्ट है कि हम किन्हीं भी सामाजिक और राजनीतिक मामलों में मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस प्रकार राजनीतिक यथार्थवाद और राजनीतिक आदर्शवाद में विरोध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में नैतिकता और मानदण्डों के सम्बन्धों के प्रश्न को प्रभावित करता है।

ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर हम यही पाएँगे कि राजनीति का प्रत्येक रूप और स्तर, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी सम्मिलित है, नैतिकता की समस्या (Problem of Ethics) से अछूता नहीं है। ऐसा कोई भी सामाजिक विज्ञान नहीं हो सकता जो किसी न किसी रूप में और किसी न किसी मात्रा तक नैतिक पहलू से असम्बद्ध हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में इस स्थिति को राइनहोल्ड नीबूर, हर्बर्ट बटरफील्ड, ई. एच. कार आदि विद्वान् बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के कम से कम तीन पहलुओं का स्पष्ट रूप से संकेत किया है—प्रथम, राष्ट्रों को नैतिक मूल्यों के लिए प्रयास करना चाहिए; द्वितीय राष्ट्रों को अपने हितों में सामञ्जस्य लाने के साधन और उपाय खोजने का प्रयत्न करना चाहिए; एवं तृतीय, अत्याचार का विरोध करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में जिन नैतिक तत्वों की चर्चा ऊपर की गई है उनसे स्पष्ट है कि राजनीतिक आदर्शवाद के अनुसार राष्ट्रीय हितों में परस्पर ताल-मेल बैठाया जाना अपेक्षित भी है और सम्भव भी पर यह विचार यथार्थवादी दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता। वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी रुख अपनाए हुए हैं, एक उत्तर की ओर जाता है तो दूसरा दक्षिण की ओर। उपयुक्त यही है कि समय और आवश्यकता के अनुरूप दोनों दृष्टिकोणों की अच्छाइयों को ग्रहण किया जाए। राजनीतिक रूप से यह उपयुक्त है कि राष्ट्रीय हितों के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य किया जाए, पर साथ ही राजनीतिक और नैतिक विवेक की माँग है कि यथासम्भव सर्वाधिक नैतिक मार्ग का भी इस ढंग से अनुसरण किया जाए कि आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नैतिकता-अनैतिकता के विवाद में न पड़ें पर आधुनिक शताब्दी के सुविख्यात दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने ठीक ही लिखा है कि आज लोगों के एक-दूसरे प्रति राजनीतिक व्यवहार पूर्णत: गलत आदर्शों पर आधारित है और *उनसे बचने के लिए हमें बिलकुल भिन्न आदर्शों पर आचरण करना होगा।* हमें अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा, शक्ति-लालसा और द्वेष को जन्म देने वाली अधिकार-लिप्सा के स्थान पर रचनात्मक प्रेरणाओं को अपनाना और विकसित करना होगा।[1] तभी विश्व के राष्ट्रों के बीच प्रेम और सहयोग का वातावरण पनप सकेगा। रसेल ने आगे एक स्थल पर विश्वास प्रकट किया है कि सुख और समृद्धि से परिपूर्ण विश्व का निर्माण कोई ऐसी बात नहीं है जो मानव-शक्ति से परे हो। अचेतन प्रकृति द्वारा जो बाधाएँ थोपी गई हैं उन पर तो विजय पायी ही जा सकती है, पर वास्तविक बाधाएँ तो मानव-मन में विद्यमान हैं और इनका निदान सुविचारित दृढ़ आशा में ही सन्निहित है।[2]

(3) समन्वयवादी दृष्टिकोण (Eclectic Approach)

आदर्शवाद और यथार्थवाद के अतिवादी दृष्टिकोणों का परित्याग करते हुए दोनों के *मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करने वाला समन्वयवादी दृष्टिकोण है।* यह यथार्थवाद की निराशा और आदर्शवाद की आशा में समन्वय स्थापित करता है। यह दोनों में से किसी भी दृष्टिकोण को पूर्णत: सन्तोषजनक नहीं मानता। समन्वयवाद का आग्रह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय पद्धति अपनाई जाए अर्थात् कोई पूर्वाग्रह या पूर्व-मान्यता न रखते हुए विश्व की राजनीतिक गतिविधियों का तटस्थ भाव से पर्यवेक्षण किया जाए और तथ्यों के संग्रह तथा विश्लेषण के मार्ग पर बढ़ा जाए। यह उचित नहीं है कि हम पहले किसी सिद्धान्त को निश्चित करलें और तब उसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् की घटनाओं की व्याख्या करें। उपयुक्त मार्ग तो यह है कि हम विश्व अथवा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की घटनाओं के विश्लेषण के माध्यम से किसी परिणाम तक पहुँचने का प्रयत्न करें। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक बहु-पक्षीय और निरन्तर गतिशील जटिल विषय है जिसे हम पहले से ही किसी एक सिद्धान्त की सीमा में नहीं बाँध सकते। विश्व-राजनीति की उलझी हुई परिस्थितियों के तथ्यात्मक (Factual) विश्लेषण द्वारा ही हम विषय-वस्तु को अधिक गहराई से समझ सकते हैं।

स्टैनले हॉफमैन, फंडेलफोर्ड, जॉर्ज लिस्का आदि विद्वान् समन्वयवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। स्टैनले हॉफमैन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इन चार अंगों अथवा तत्वों (Components) पर विशेष बल दिया है—*(1) किसी समय विशेष में* विश्व का राजनीतिक ढाँचा, (2) उस ढाँचे की इकाइयों अर्थात् राज्यों को प्रभावित

1 *Bertrand Russel* : Political Ideals, p 9.
2 *Bertrand Russel* : Roads to Freedom, Ch. VI.

करने वाली आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियाँ, (3) राज्यों की गृह तथा विदेश नीतियों का परस्पर सम्बन्ध, एवं (4) इन सभी तत्वों के संयोग से प्रकट होने वाले राजनीतिक सम्बन्धों का तानाबाना। हॉफमैन की निश्चित धारणा है कि प्रथम तीन तत्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं पर ही किसी समय विशेष में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वास्तविक स्वरूप निर्भर रहता है। अतः अपेक्षित है कि इन प्रमुख तत्वों और अन्य सहयोगी उप-तत्वों तथा उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का गहन अध्ययन कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को समझा जाए और इस तथ्यात्मक विश्लेषण के माध्यम से किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाए। पैडेलफोर्ड एवं लिंकन का भी मत है कि यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समुचित अध्ययन करना चाहते हैं तो उपयुक्त और व्यावहारिक तरीका यही है कि विभिन्न राज्यों की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करने वाले तथा उनके माध्यम से विश्व-राजनीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्वों-उपतत्वों को भलीभाँति जान लें और उनका सम्यक् विश्लेषण करें।

(4) व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण (System Approach)

इस दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'एक व्यवस्था' अथवा एक सुव्यवस्थित ढाँचा विद्यमान है जिसके विभिन्न अंग पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा परस्पर सम्बन्ध स्थापित रखते हैं। विश्व की सभी राजनीतिक गतिविधियाँ इस सुव्यवस्थित ढाँचे के अंगों की इन्हीं आपसी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का परिणाम हैं। आजकल 'व्यवस्था' शब्द तीन भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—प्रथम अर्थ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक ढाँचा स्वयं तो निष्क्रिय है, किन्तु उसका गठन करने वाले अंग अर्थात् राज्य सक्रिय हैं जिनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा ढाँचे को आकार और गतिशीलता प्राप्त होती है, अतः ढाँचे को अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए इसके प्रत्येक अंग के क्रियाकलापों को जानना आवश्यक है। द्वितीय अर्थ के अनुसार ढाँचा ही प्रधान है जो अपने विभिन्न अंगों की गतिविधियों तथा उनके कार्यकलापों को नियन्त्रित एवं उनके स्वरूप को निर्धारित करता है। तृतीय अर्थ के अनुसार 'व्यवस्था' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन एवं विश्लेषण की पद्धति-विशेष है। प्रो. गुडमैन के अनुसार 'व्यवस्था' के ये सभी अर्थ प्रचलित हैं। व्यवस्थापरक दृष्टिकोण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के सन्दर्भ में हमारे समक्ष कुछ उपयोगी प्रतिमान (Model) प्रस्तुत करता है और कुछ ऐसे नियम भी प्रस्तुत करने में समर्थ है जो हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भावी दिशा का कुछ आभास दे सकें।

अपनी विशिष्ट मान्यताओं के अनुरूप विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-क्षेत्र में अनेक व्यवस्थापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं जिनमें प्रमुख ये हैं—

(1) शक्ति-सन्तुलन सम्बन्धी दृष्टिकोण (The Balance of Power System Approach)

(2) साम्यावस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण (Equilibrium Approach)

(3) द्विध्रुवीय दृष्टिकोण (Bipolar System)
(4) विश्व-व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण (Universal System Approach)
(5) कापलान का छः व्यवस्थाओं सम्बन्धी दृष्टिकोण (Morton Kaplan's Six Systems Theory)

1. शक्ति-सन्तुलन सम्बन्धी दृष्टिकोण (The Balance of Power System Approach)—यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो व्यवस्था और सम्बद्धता है वह शक्ति-सन्तुलन के कारण है। राष्ट्रीय शक्ति किसी भी राज्य-व्यवस्था का मुख्य अंग होती है, अतः राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं सम्वर्द्धन के लिए विभिन्न राज्यों के बीच स्पर्द्धाओं और संघर्षों का अस्तित्व रहता है। कोई एक राज्य अथवा राज्य-समूह अत्यधिक शक्ति ग्रहण न कर ले, इसके लिए विभिन्न राष्ट्र सदैव सजग रहते हैं अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में यथास्थिति बनाए रखने के लिए शक्ति-सन्तुलन का निर्माण करते हैं। गत तीन शताब्दियों का सम्पूर्ण यूरोपीय राजनीतिक इतिहास शक्ति-सन्तुलन के बनने-बिगड़ने का इतिहास था और वर्तमान शताब्दी में भी शक्ति-सन्तुलन कायम रखने के लिए विभिन्न सन्धियों और समझौतों का आश्रय लिया जाता रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद शीत-युद्ध के सन्दर्भ में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-सन्तुलन की धारणा अपनी भूमिका अदा करती रही है। साम्यवादी शक्तियों के मुकाबले पश्चिमी राष्ट्रों ने अमेरिका के नेतृत्व में शक्ति-सन्तुलन कायम किया है। विभिन्न सैनिक सन्धियाँ और प्रति-सन्धियाँ शक्ति-सन्तुलन कायम रखने के ही प्रयास हैं। एशिया और अफ्रीका के तटस्थतावादी राज्य भी शक्ति-सन्तुलन के सन्दर्भ में 'सन्तुलक' (Balancer) का कार्य कर रहे हैं। यह शक्ति-सन्तुलन कई प्रकार का हो सकता है—जैसे लचीला एवं कठोर सन्तुलन; स्थानीय, क्षेत्रीय एवं विश्वव्यापी सन्तुलन; सरल एवं जटिल सन्तुलन। आज की परिस्थितियों में विश्वव्यापी शक्ति-सन्तुलन का भार अमेरिका और सोवियत रूस के साथ-साथ साम्यवादी चीन और लोकतान्त्रिक भारत पर भी आ गया है।

यद्यपि इतिहास शक्ति-सन्तुलन के दृष्टिकोण का समर्थन करता है और वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी शक्ति-सन्तुलन की भूमिका स्पष्ट है, तथापि इसकी परम्परागत सार्थकता में सन्देह है। एक तो आज के लगभग 156 स्वतन्त्र राज्यों की पारस्परिक सांस्कृतिक विविधताएँ इतनी अधिक हैं कि उनमें वह राजनयिक निकटता सम्भव नहीं है जो यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन के सन्दर्भ में थी, और दूसरे आज के अणु युग में इतने भयावह अस्त्र-शस्त्र बनाए जाने लगे हैं कि उनसे शक्ति-सन्तुलन सम्बन्धी व्यवस्था अथवा धारणा पहले के समान प्रभावकारी नहीं रही है।

2. साम्यावस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण (Equilibrium Theory)—यह दृष्टिकोण शक्ति-सन्तुलन का ही एक अन्य रूप है जिसकी मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की सामान्य प्रवृत्ति सन्तुलन की ओर होती है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में परस्पर-विरोधी शक्तियाँ एक-दूसरे के प्रभाव को निरस्त कर किसी न किसी रूप में

स्थापित बनाए रखती हैं। इस साम्य-अवस्था के दो रूप हैं—सामान्य (General) तथा संरचनात्मक (Constitutional)। सामान्य साम्यावस्था के समर्थकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विभिन्न तत्वों में अर्थात् राज्यों, उनकी नीतियों, उनकी परिस्थितियों आदि में सन्तुलन की सहज प्रवृत्ति होती है। संरचनात्मक साम्यावस्था के समर्थकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विभिन्न तत्वों में या तो साम्यावस्था पहले से ही मौजूद होती है अथवा उसे लाया जा सकता है। साम्यावस्था-सिद्धान्त के एक मुख्य समर्थक जॉर्ज लिस्का के अनुसार आर्थिक-सांस्कृतिक एवं सामाजिक समुदाय, राजनीतिक-सामरिक क्षमता, व्यक्ति विशेष, आदि विभिन्न तत्व भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन के अंग हैं। अतः उन्होंने इसे 'बहुल साम्यावस्था' (Multiple Equilibrium) नाम देना उचित समझा है।

साम्यावस्था-सिद्धान्त यद्यपि सन्तुलन में विश्वास प्रकट करता है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं करता कि सन्तुलन के लिए 'किस ओर कितनी शक्ति और अपेक्षित है' (How much more on which side)। शक्ति के निश्चित कार्य क्या हैं, यह भी इस दृष्टिकोण में स्पष्ट नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में इस सिद्धान्त की उपयोगिता केवल इतनी ही मानी जा सकती है कि यह एक व्यवस्था की ओर संकेत करता है।[1]

3. द्विध्रुवीय दृष्टिकोण (Bipolar System)—इस दृष्टिकोण के अनुसार सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शक्तिशाली और निर्णायक शक्तियाँ पूर्व तथा पश्चिम के दो शक्ति-केन्द्रों में अर्थात् साम्यवादी और साम्यवाद-विरोधी गुटों में विभाजित हैं। द्वितीय महायुद्ध काल में धुरी-राष्ट्रों (Axis Powers) और मित्र राष्ट्रों (Allied Powers) के रूप में द्विध्रुवत्व अथवा द्विकेन्द्रवाद स्पष्ट रूप में प्रकट हुआ और युद्धोत्तर युग में इसने साम्यवादी एवं साम्यवाद-विरोधी खेमों का रूप धारण कर लिया तथा इसका एक नया स्वरूप मॉडल शीत-युद्ध के रूप में भी विकसित हुआ। यह द्विध्रुवीय दृष्टिकोण भी एक प्रकार का शक्ति-सन्तुलन सम्बन्धी दृष्टिकोण ही है। द्विध्रुवीय व्यवस्था कठोर (Tight) भी हो सकती है और शिथिल (Loose) भी। कठोर व्यवस्था में सभी राज्य स्पष्टतः किसी न किसी गुट अथवा शक्ति-केन्द्र से संलग्न रहते हैं और संकट के समय अपने गुट का पक्ष लेते हैं। शिथिल व्यवस्था में भी यद्यपि राष्ट्र गुटों में विभाजित रहते हैं किन्तु किन्हीं विशेष मसलों पर विरोधी गुट के साथ भी सहयोग करते हैं।

द्विध्रुवीय दृष्टिकोण भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक समुचित दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करता विशेषकर वर्तमान सन्दर्भ में जबकि शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हो रहा है अर्थात् बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर है। पुनश्च राज्यों में परस्पर संघर्षों और सहयोगों का सिलसिला चलता रहता है,

1 *Stanley Hoffmann* : Contemporary Theory in International Relations, pp. 50-51.

उनके आपसी सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आते रहते हैं और इन सबके कारणों को हम द्विध्रुवीय व्यवस्था में नहीं ढूंढ सकते।

4. विश्व-व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण (Universal System Approach)—यह दृष्टिकोण आदर्शवाद का अनुसार जो सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार या समुदाय के रूप में मानता है और विश्वास करता है कि अलग-अलग राज्यों का अध्ययन न करके सम्पूर्ण मानव-जाति की समस्याओं के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। *यह दृष्टिकोण राष्ट्रसंघवाद का समर्थक है, अत: राज्यों की सम्प्रभुता को सीमित अथवा समाप्त करके एक विश्वसंघ की स्थापना चाहता है। यह राज्यों की पृथक् सम्प्रभुताओं और राष्ट्रवाद को विश्व की सभी बुराइयों की जड़ मानता है।* इसका तर्क है कि यदि सारा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् भ्रातृत्व के सूत्र में बँध जाएगा तो हमारी परेशानियाँ दूर हो जाएँगी।

यद्यपि यह दृष्टिकोण 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' के महान् आदर्श से अनुप्राणित है, तथापि आज की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में विशेषकर सम्प्रभु राज्यों की महत्त्वाकांक्षाओं के प्रकाश में, यह आदर्श कभी पूरा हो सकेगा इसमें पूरा सन्देह है। विश्व-शासन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि को इस दृष्टिकोण की विजय स्वीकार किया जाता है, पर विश्वसंघ (World Federation) जैसे आदर्श की प्राप्ति हो सकेगी, यह सम्भव दिखाई नहीं देता। इस दृष्टिकोण की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसमें मानव-मनोविज्ञान तथा विश्व को प्रभावित करने वाले समाजशास्त्रीय तत्वों की उपेक्षा करके कल्पना की उड़ान भरी गई है।

5. काप्लान का षट् व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण[1] (Morton Kaplan's Six Systems Theory)—शक्तिसन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषण का आधार मानते हुए *मार्टन काप्लान का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक क्रम और सम्बद्धता है तथा आगे भी रहेगी।* काप्लान ने अपनी मान्यता में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था दोनों को सम्मिलित किया है। उनका आशय है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रीय राज्यों ने सदैव अपनी प्रमुख भूमिका निभाई है और भविष्य में भी निभाते रहेंगे, तथापि यह भूमिका समय और परिस्थितियों के अनुरूप बदलती रहती है। काप्लान का विचार है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को सुगठित रखने के लिए शारीरिक शक्ति (Physical Force) आवश्यक है। उनका विश्वास है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था है, तथापि यह कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं है, क्योंकि इसमें निर्णयकर्त्ताओं की भूमिका राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था में उनकी भूमिका के अधीनस्थ होती है। *काप्लान का विश्वास है कि राष्ट्रीय राज्यों (National Actors) का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवहार सदैव राष्ट्रीय हित के आधारभूत विचारों से अनुशासित होता है।* उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया

1 *Morton A. Kaplan* : System and Process in International Politics.

है–राष्ट्रीय राज्य (National Actors) तथा राष्ट्रोपरि राज्य (Super–national Actors)। संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रांस और इटली यदि राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के उदाहरण हैं तो नाटो (NATO) राष्ट्रोपरि कार्यकर्त्ताओं का उदाहरण है। काप्लान के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के बीच घटित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं को काप्लान ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के तत्व (Elements) माना है। समुचित अध्ययन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव की परीक्षा ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के व्यवहार की परीक्षा भी आवश्यक है।

उपर्युक्त दार्शनिक भूमि के आधार पर काप्लान ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व्यवस्था के लिए छः प्रकार की व्यवस्थाएँ सुझाई हैं—

(1) शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था (The Balance of Power System)
(2) शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था (The Loose Bipolar System)
(3) कठोर द्विध्रुवीय व्यवस्था (The Tight Bipolar System)
(4) सार्वभौम राज्य-व्यवस्था (The Universal Actor System)
(5) श्रेणीबद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (The Hierarchical International System)
(6) इकाई निषेधाधिकार व्यवस्था (The Unit Veto System)

काप्लान के अनुसार इन विभिन्न व्यवस्थाओं के गम्भीर अध्ययन के आधार पर हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के भूत, भावी और वर्तमान स्वरूप का समुचित विवेचन कर सकते हैं। ये सभी व्यवस्थाएँ काप्लान के प्रक्रिया-निकाय सिद्धान्त (Process System Theory) के प्रतिरूप हैं। उसने इन व्यवस्थाओं अथवा प्रतिरूपों की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं उनसे इनकी परस्पर सम्बद्धता स्पष्ट होती है।

काप्लान के अनुसार प्रथम राष्ट्रीय-राज्य-व्यवस्था के साथ-साथ तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था स्थापित हुई। पाश्चात्य देशों और विशेषकर यूरोप में यह व्यवस्था 18वीं और 19वीं शताब्दियों में प्रचलित रही। काप्लान के अनुसार इस व्यवस्था में काम करने वाले राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राज्य होते हैं जो एक उप-श्रेणी के रूप में राष्ट्रीय राज्य भी होते हैं। शक्ति-सन्तुलन-व्यवस्था का अनुभव बतलाता है कि इस व्यवस्था में कम से कम 5 अथवा 6 मुख्य राष्ट्रों का होना आवश्यक है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य, इटली तथा संयुक्तराज्य अमेरिका प्रधान राष्ट्रीय राज्य थे। काप्लान के अनुसार शक्ति-सन्तुलन की इस व्यवस्था की क्रियाशीलता के लिए छः महत्वपूर्ण नियमों का पालन किया जाना जरूरी है—(1) प्रत्येक मुख्य राष्ट्र (Essential Actor) राजनय के माध्यम से अपनी क्षमताओं में वृद्धि करे, युद्ध के माध्यम से नहीं; (2) प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य अपने हितों की सुरक्षा है और क्षमताओं के विकास के बिना हितों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, अतः यदि आवश्यक

हो तो युद्ध का खतरा उठाकर भी अपनी शक्ति को बढ़ाया जाए; (3) युद्ध की अवस्था में मुख्य शत्रु राज्य का सर्वनाश करने की अपेक्षा युद्ध रोका जाए; (4) राष्ट्रों के किसी भी ऐसे गुट के निर्माण का विरोध करना जो व्यवस्था में प्रमुख अथवा आधिपत्य की स्थिति ग्रहण करने; (5) किसी भी शक्ति अथवा राष्ट्र को अथवा अन्य राज्यों को राष्ट्रोपरि सिद्धान्तों पर चलने से रोकना; एवं (6) किसी भी मुख्य पराजित राष्ट्र को व्यवस्था में पुन. शामिल कर लेना। मॉर्टन काप्लान का विश्वास है कि इन नियमों का पालन न होने पर शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था भंग होने की सम्भावना रहती है। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में इस व्यवस्था ने एक पूर्ण व्यवस्था के रूप में कार्य किया और इसे एक नियम के रूप में व्यापक मान्यता मिली। लेकिन बाद में उपर्युक्त नियमों का समुचित पालन न होने से यह व्यवस्था भंग हो गई और परिणामस्वरूप हमें महायुद्ध का सामना करना पड़ा। काप्लान के अनुसार शक्ति-सन्तुलन के भंग होने पर विभिन्न शक्तियों में जो भारी असन्तुलन पैदा हो जाता है, उसके फलस्वरूप इस व्यवस्था का रूपान्तरण भी हो जाता है।

काप्लान के अनुसार शक्ति-सन्तुलन-व्यवस्था का सर्वाधिक सम्भावित रूपान्तरण द्विध्रुवीय व्यवस्था में होता है। यह परिवर्तन तब होता है जब दो राष्ट्रीय राज्य अपने सहयोगी राज्यों के साथ दो भिन्न-भिन्न गुटों पर नेतृत्व स्थापित कर लेते हैं। काप्लान ने इस द्विध्रुवीय व्यवस्था के दो रूप बतलाए हैं–शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था और कठोर अथवा दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, शिथिल स्वरूप में शक्ति-गुट के अन्तर्गत मतभेद की गुंजाइश रहती है—खास तौर पर तटस्थ राज्यों के अस्तित्व की वजह से जबकि दृढ़ व्यवस्था में ऐसी गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि तटस्थ राज्य इस व्यवस्था से सम्बद्ध नहीं होते।

काप्लान के मत में सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का विकास तब सम्भव होता है जब शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था के मुख्य राज्यों (Essential Actors) के कार्यों का विस्तार हो जाता है। इस व्यवस्था में सार्वभौम अथवा विश्वव्यापी संगठन (A Universal Actor, जैसे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ) राष्ट्रीय राज्यों (राष्ट्रों) के मध्य युद्ध रोकने की दृष्टि से यद्यपि काफी शक्तिशाली होता है, लेकिन राष्ट्रीय राज्य अर्थात् विभिन्न राष्ट्र अपना अस्तित्व कायम रखते हैं और राष्ट्रीय हितों तथा अधिकाधिक शक्ति-संचय के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। काप्लान के विचारानुसार यह सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक एकीकृत व्यवस्था (An Integrated System) होगी जो न्यायिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक आदि सभी कार्य करेगी। राष्ट्र इस एकीकृत व्यवस्था के ढाँचे में (जैसे विश्वसंघ) रहते हुए ही अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। सम्पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के हितों को प्राथमिकता दी जाएगी अर्थात् राष्ट्रीय हित इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के हितों के अधीनस्थ समझे जाएँगे और सभी राष्ट्र अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण उपायों का आश्रय लेंगे, यहाँ तक कि बल-प्रयोग की धमकी भी नहीं देंगे। राष्ट्रीय राज्य अपनी नीतियाँ यथासम्भव ऐसी बनाएँगे जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्थायित्व को बल

मिले। पर चूँकि इस प्रकार की सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति की प्रबलता नहीं होगी, अतः इस बात की पूरी सम्भावना है कि समुचित रूप में स्थायित्व ग्रहण करने अर्थात् काफी लम्बे समय तक इस व्यवस्था में अस्थिरता व्याप्त रहेगी।

यदि उपर्युक्त व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई तो सम्भव है कि यह आगे श्रेणीबद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का रूप ग्रहण करले जिसमें सभी राष्ट्र व्यावहारिक रूप से एक शक्तिशाली राष्ट्र के नेतृत्व में आ जाएंगे। काप्लान के अनुसार यह व्यवस्था निदेशात्मक (Directive) भी हो सकती है और अ-निदेशात्मक (Non-d.rective) भी। निदेशात्मक श्रेणीबद्ध व्यवस्था तभी स्थापित हो सकती है जब नाजी व्यवस्था के समान कोई एक राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था (A National Actor System) विश्व-विजय करले। अ-निदेशात्मक व्यवस्था तब होगी जब वह उन राजनीतिक नियमों पर आधारित हो जो सामान्यतः लोकतन्त्रों में प्रचलित होते हैं। काप्लान का मत है कि एक निदेशात्मक श्रेणीबद्ध व्यवस्था में समूहों और व्यक्तियों के बीच तनाव बहुत अधिक रहने की सम्भावना होती है जबकि अ-निदेशात्मक श्रेणीबद्ध व्यवस्था में तनाव अपेक्षाकृत बहुत कम होता है।

काप्लान की योजना में छठी और अन्तिम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था इकाई निषेधाधिकार व्यवस्था है जिसमें इस प्रकार के घातक अस्त्रों का अस्तित्व होगा कि कोई भी राष्ट्र स्वयं नष्ट होने से पहले दूसरों को नष्ट कर देने में समर्थ हो। यह एक ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें प्रत्येक राज्य के पास मानो निषेधाधिकार होगा अर्थात् उसके खुद के निर्णय ही अन्तिम होंगे। इस प्रकार यह विचित्र व्यवस्था हाब्स द्वारा वर्णित प्रकृति की अवस्था होगी जिसमें सभी हितों में परस्पर विरोध होना है और सभी एक दूसरे के विरुद्ध युद्धरत होते हैं। इस व्यवस्था की मुख्य बात यही है कि प्रत्येक राज्य दूसरे को नष्ट कर देने की दृष्टि से समान रूप से समर्थ होगा। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में राष्ट्र केवल एक ही स्तर पर (Only at One Level) कायम रह सकते हैं। ऐसी व्यवस्था में सार्वभौमिक संगठनों का अस्तित्व नहीं हो सकता। काप्लान के मतानुसार यह इकाई-निषेधाधिकार-व्यवस्था शेष पाँचों व्यवस्थाओं (शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था, द्विध्रुवीय व्यवस्था आदि) में से किसी से भी विकसित हो सकती है पर यह श्रेणीबद्ध व्यवस्था से तब तक विकसित नहीं हो सकती जब तक कि वह व्यवस्था आन्तरिक क्षीणता की प्रक्रिया में न हो। इस बात की सम्भावना भी बहुत कम है कि यह सार्वभौमिक व्यवस्था से विकसित हो सके। काप्लान की दृष्टि में इकाई-निषेधाधिकार व्यवस्था स्थायी तभी सिद्ध हो सकती है जब गड़बड़ या शान्ति भंग करने वाले राष्ट्र के विरोध में शेष सभी राष्ट्र सामूहिक रूप से खड़े हो जाएँ। यदि कोई भी राष्ट्र असहिष्णु और दुर्धर्ष (Unresistant) है तो व्यवस्था समाप्त होने लगेगी अथवा कम से कम सामयिक रूपान्तरण की ओर प्रवृत्त हो जाएगी।

(5) नीति-विज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोण (Policy-Science Approach)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में प्रयास करते हुए

अमेरिकी विद्वानों ने अन्य समाजशास्त्रों और विभिन्न विधियों का सहारा लेते हुए इस क्षेत्र में नीति-विज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इस पद्धति में उन परिस्थितियों का व्यापक विश्लेषण किया जाता है जिनके अन्तर्गत विदेश-नीतियों का निर्धारण होता है। देश के निवासी, उनका चरित्र, उनकी आशाएँ-आकांक्षाएँ, नेतृत्व, सामाजिक एवं प्रशासकीय दशा, आदि उन विभिन्न बातों को परिस्थिति में सम्मिलित किया जाता है जो नीति-निर्धारण-प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। इस नीति-विज्ञान-परक दृष्टिकोण के अन्तर्गत अनेक दृष्टिकोण अथवा पद्धतियाँ विकसित हुई हैं जैसे व्यवहारवादी दृष्टिकोण (Behavioural Approach), खेल-सिद्धान्त (Game Theory), सौदेबाजी का सिद्धान्त (Bargaining Theory), आदि। आज राजनीति विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अमेरिकी दृष्टिकोण प्रमुखता प्राप्त कर रहे हैं और विलक्षणता भी लिए हुए हैं। उनके खेल-सिद्धान्त, सौदेबाजी का सिद्धान्त आदि का आगे कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाएगा और 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक सामान्य सिद्धान्त' (A General Theory of International Politics) के बहुचर्चित पक्ष पर भी प्रकाश डाला जाएगा।

क्षेत्र-सिद्धान्त
(*Field Theory*)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में एक धारणा विश्व को एक अप्रतिबद्ध क्षेत्र के रूप में (World as an Uncommitted Field) देखने की है। यह विचार विश्व को अलग-अलग क्षेत्रों (Fields) से युक्त मानता है और इसी आधार पर क्विंसी राइट ने पृथक् से क्षेत्र-सिद्धान्त (Field-Theory) का प्रतिपादन किया है। क्षेत्र-सिद्धान्त के अनुसार यह विश्व विविधतापूर्ण और अत्यन्त जटिल (Complicated) है। एक क्षेत्र के निवासियों की मूल्य-व्यवस्था (Value System), सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions) तथा सरकार के रूप (Forms of Govt.) उनके अपने होते हैं जो दूसरे क्षेत्र में नहीं अपनाए जा सकते। इन क्षेत्रों में पाई जाने वाली विविधताओं को दूर करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही।

नीतियों को बनाने, निर्णयों को लेने तथा उनको व्यावहारिक रूप देने का काम किसी एक का नहीं होता। इस कार्य में राज्य, सरकार, राष्ट्र और जनता सभी का सहयोग रहता है। आवश्यक नहीं कि एक क्षेत्र की जनता का स्तर वही हो जो वहाँ सरकार का है। सरकार के अपने कुछ ऐसे मूल्य हो सकते हैं जो जनता के मूल्यों से भिन्न हों तथा जो उस देश की संस्कृति तथा राज्य के कानूनों में समाहित मूल्यों का प्रतिनिधित्व न करते हों। इन दोनों मूल्यों के बीच संघर्ष होता है—देश में स्पष्टतः दो पक्ष बन जाते हैं। एक पक्ष में सरकार एवं प्रशासक रहते हैं और दूसरे पक्ष में जनता अथवा प्रशासित रहते हैं। यदि शासन-व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक है तो जनता का पक्ष विजयी होगा और यदि तानाशाही है तो शासक या सरकार की मनमानी चलेगी अर्थात् जिसके हाथ में शक्ति है वह दूसरे के मूल्यों को कुचल देगा। क्षेत्र-सिद्धान्त वालों का दावा है कि उनका सिद्धान्त इस दृष्टि से पृथक् है

और दूसरे सिद्धान्त यह मानकर चलते हैं कि एक दिन सभी लोग एक प्रकार की विश्व-व्यवस्था (World Order) पर एकमत हो जाएँगे। क्षेत्र-सिद्धान्त यह मानता है कि 'क्षेत्र' (Field) है, सम्भवतः भविष्य में कभी मतों (Opinions) में एकता की थोड़ी बहुत स्थापना कर सके, किन्तु अभी तो जैसे इसके कार्यों की व्यवस्था में तथा उनके आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन होता है, इसमें भी परिवर्तन हो जाता है। एक क्षेत्र के निवासियों के मूल्य, भावनाएँ एवं लक्ष्य आदि जब तक एक जैसे रहते हैं तब तक तो उनके मतों में भी सामन्जस्य रह सकता है, किन्तु ज्यों ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता है त्यों ही उनके बीच मतभेद भी हो जाता है। हो सकता है कि 'क्षेत्र' भविष्य में एक समायोजित वैधानिक व्यवस्था व एक स्थायी सन्तुलन या एक समर्थ संगठन बन जाए, या कोई सद्भावपूर्ण समुदाय बन जाए, किन्तु सिद्धान्त इनमें से किसी को अपना लक्ष्य बना कर नहीं चलता। इस विचारधारा का उद्देश्य यह नहीं है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का दर्शन या उनके व्यवहार की कला का आदर्श (Model) प्रस्तुत करे वरन् यह तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास की व्याख्या करने अथवा उसे वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करती है।[1]

क्विन्सी राइट का कहना है कि क्षेत्र-सिद्धान्त को सामान्य सिद्धान्त माना जा सकता है। साम्राज्यवादी युग में जिस विचारधारा का प्रभाव था, यह विश्व को एक योजना मान कर चलती थी। राष्ट्रीयतावाद के युग में यह विचारधारा महत्वहीन हो गई तथा इसका स्थान शक्ति-सन्तुलन को महत्व देने वाली विचारधारा ने ले लिया। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के वर्तमान युग में शक्ति-संतुलन के विचार भी असामयिक बन गए हैं और आज विश्व-संगठन एवं विश्व-सरकार की मान्यता को अधिक महत्वपूर्ण माना जा रहा है। प्रो. क्विन्सी राइट का विचार है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्र-सिद्धान्त को अपना लिया गया तो यह कभी भी असामयिक न बनेगा क्योंकि यह परिवर्तन का विरोध नहीं करता वरन् उसको मान कर चलता है तथा अनुकूल समायोजित होने का प्रयास करता है।

खेल तथा सौदेबाजी का सिद्धान्त
(Games and Bargaining Theory)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा इसकी व्याख्या जिन तीन विद्वानों ने की है उनके नाम हैं—काप्लान (Morton A. Kaplan), बर्न्स (Arthur Lee Burns) तथा क्वांट (Richard E. Quandt)। इन विद्वानों ने खेल-सिद्धान्त के आधार पर शक्ति-संतुलन (Balance of Power) की सैद्धान्तिक व्याख्या की है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए खेलों का माध्यम अपनाया है। इस प्रणाली में अधिक समय तथा शक्ति की आवश्यकता होती है, नहीं तो अब तक इसका काफी विकास हो गया होता।

1 *Quincy Wright* : "Development of a General Theory of International Relations", in the role of theory in International Relations, edited by Harrison, p. 40.

यह सिद्धान्त उन लोगों के लिए बहुत उपयोगी है जो एक विशेष समस्या पर निर्णय लेना चाहते हैं, जो एक बौद्धिक सिद्धान्त चाहते हैं, अथवा जो अपने विकल्पों की तुलनात्मक रूप से उपयोगिता देखना चाहते हैं। युद्ध-कौशल के बारे में खेल सिद्धान्त बहुत-कुछ कहता है तथा एक व्यवस्थित रूप में कहता है। जहाँ यह सिद्धान्त लागू हो जाता है, वहाँ भूलें रहने की सम्भावना काफी कम हो जाती है। खेल-सिद्धान्त को यदि अच्छी प्रकार समझ लिया जाए तो हम उन समस्याओं को भी जान सकते हैं जिन पर अभी खेल-सिद्धान्त को लागू नहीं किया गया है।

एक खेल की भाँति इस सिद्धान्त में भी खेल के नियम (Rules), खिलाड़ी (Players), क्रियाएँ (Moves), रणनीति (Strategies), तथा क्षतिपूर्ति (Pay off) आदि होते हैं। यह खेल स्पर्द्धापूर्ण (Competitive) तथा सहकारिता-पूर्ण (Co-operative) दोनों ही प्रकार का हो सकता है। खेल के सैद्धान्तिक विश्लेषण की इकाई खिलाड़ी होता है। वह अभिनेता (Actor) होता है। अन्तर्राष्ट्रीय खेल में खिलाड़ी दो भी हो सकते हैं तथा अधिक भी। खिलाड़ी का अर्थ उससे है जो निर्णय लेता है। खिलाड़ी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए या प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति को कम करने के लिए जिनसे मध्यस्थी करता है वे राष्ट्र खिलाड़ी नहीं माने जाते।

खेल के नियम होते हैं। इन नियमों पर खिलाड़ियों का वश नहीं रहता। जैसे शतरंज का नियम है कि पैदल मोहरा एक बार में एक या दो घर पार कर सकता है, इसी तरह अमेरिकी शासन-व्यवस्था में नियम है कि जिस उम्मीदवार को बहुमत प्राप्त हो जाए वही राष्ट्रपति बन जाता है। खेल-सिद्धान्त उन तत्वों को ध्यान में नहीं रखता जो अन्तर्राष्ट्रीय खेल पर प्रभावी नहीं होते। खेल के नियम ही यह निर्णय करते हैं कि एक खिलाड़ी क्या कदम उठाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सामाजिक नियम स्थिर होने की अपेक्षा लचीले होते हैं, जैसे कि 'शक्ति-सन्तुलन' के अनुसार यह आशा की जाती थी कि एक राष्ट्र उस पक्ष में नहीं मिलेगा जो पहले से ही शक्तिशाली है; किन्तु यह भी सम्भव है कि वह देश उस पक्ष में मिल जाए।

सामान्य खेलों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का खेल भी दो प्रकार का होता है—(1) जिसमें कि सभी विकल्पों तथा उनके परिणामों की सूचना खिलाड़ी को दे दी जाए, (2) जिसमें इस प्रकार की सूचना न दी जाए। सूचना पूरी तथा अधूरी दोनों ही प्रकार की हो सकती है। इस खेल में खिलाड़ी के सामने कुछ विकल्पों में से चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी रहती है। एक बार डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा था कि ताश के खेल में हमारे पास क्या पत्ते आएँगे, यह हमारे अधिकार की बात नहीं है किन्तु जो पत्ते आए हैं उनका प्रयोग हम किस प्रकार करेंगे यह बहुत कुछ हमारी स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति पर आधारित है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ व स्थितियाँ किस करवट बैठती हैं, यह एक राष्ट्र की शक्ति के बाहर की बात है; किन्तु उन स्थितियों में वह किस विकल्प को चुनेगा यह उसी की इच्छा पर निर्भर है। एक विकल्प के चुनने का परिणाम क्या होगा यह भी बहुत कुछ अनिश्चित ही होता है,

क्योंकि 'परिणाम' पर दूसरे राष्ट्र द्वारा चुने गए विकल्पों का भी प्रभाव पड़ता है जो अनिश्चित है।[1] खेल भी कई प्रकार के होते हैं जैसे—

1. Zero-sum Games—जिसमें कुछ खिलाड़ियों की हानियों (Losses) का अर्थ दूसरे खिलाड़ियों का लाभ (Gains) होता है।

2. Constant-sum Games—इस खेल को समझने के लिए हम एक बाजार की कल्पना कर सकते हैं जिसमें कुछ सामान एक निश्चित संख्या व कीमत में बिकते हैं। इस बाजार के प्रतिद्वन्द्वी जो लाभ प्राप्त करेंगे वह दूसरे की हानि देकर नहीं करेंगे। सभी को समान लाभ मिलेगा।

3. Non-Zero-sum Games—यह खेल उक्त दोनों के बीच का है। इसमें प्रतिद्वन्द्वियों के बीच का सम्बन्ध सहयोगितापूर्ण भी रह सकता है और परस्पर विरोधी भी।

शक्ति के खेल का एक उदाहरण
(An Example of the Game of Power)

शक्ति का खेल विभिन्न राष्ट्रों द्वारा खेला जाता है। ये राष्ट्र एक मेज के चारों ओर बैठ जाते हैं और गोटियों के माध्यम से प्रतियोगिता करने लगते हैं। प्रत्येक राष्ट्र के पास एक बोर्ड होता है। इस बोर्ड पर वे सीमाएँ अंकित रहती हैं जिनका वह प्रत्येक अन्य प्रतियोगी के साथ हिस्सेदार है। साथ ही उसका स्वयं का प्रदेश भी अंकित रहता है। गोटियाँ स्रोतों की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती हैं। जिस देश के पास जितनी अधिक गोटियाँ हैं वह उतने ही अधिक स्रोतों का स्वामी माना जाएगा। कुछ गोटियाँ सुरक्षित सेनाओं (Reserved Forces) के रूप में भी रखी जा सकती हैं। जब इनको दूसरे देशों के विरुद्ध सीमा पर लगा दिया जाता है तो वे विध्वंसक शक्ति का स्रोत बन जाती हैं। जिन स्रोतों को प्रयुक्त नहीं किया जाता अर्थात् जिनको न तो सीमाओं पर ही लगाया जाता है और न ही सुरक्षित सेना के रूप में रखा जाता है, वे आनुपातिक मात्रा में आय कमाती हैं, किन्तु यह अनुपात प्रत्येक बार अवसर के अनुसार बदलता रहता है।

चलने के लिए प्रत्येक खिलाड़ी की अपनी बारी आती है। यदि कोई चाहे तो वह अपनी बारी को छोड़ भी सकता है अथवा इसे स्वीकार कर अपनी शक्तियों को कार्यरत कर सकता है, सुरक्षित रख सकता है या वापस ले सकता है अथवा जो सेनाएँ पहले से ही सीमा पर भेजी जा चुकी हैं उनके द्वारा युद्ध प्रारम्भ कर सकता है। यदि युद्ध प्रारम्भ हो जाता है तो उस सीमा पर की गोटियाँ विरोधी पक्ष की गोटियों को समाप्त करने का प्रयास करेंगी। प्रत्येक पक्ष उस समय तक गोटियों को सीमा पर भेजता रहेगा जब तक कि दूसरे पक्ष की सारी गोटियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। चलने की नियमित बारी को उस समय तक के लिए रोक दिया जाता है जब तक वह संघर्ष अथवा युद्ध समाप्त नहीं हो जाता अथवा जब तक किसी पक्ष के पास

1 *Morton A. Kaplan* : System and Process in International Politics, p 174.

पुनः सेना भेजने तथा युद्ध को प्रारम्भ करने का अवसर होता है। इस खेल के खिलाड़ियों को यह विदित रहता है कि यह खेल या तो समाप्त होने तक खेला जाएगा अथवा कुछ विशेष बारियों के बाद समाप्त हो जाएगा। बारियों की संख्या गोटियों की संख्या पर निर्भर करती है।

सन्धि दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच में हो जाती है और जब सन्धि हो जाती है तो सम्बन्धित देश समान्य सीमाओं पर से अपनी सेनाओं को हटा लेते हैं। जब एक देश दूसरे देश के विरुद्ध सीमा पर अपनी सेना को बढ़ाता है तो यह दबाव डालने की स्थिति में हो जाता है। जिस देश का दबाव जितना अधिक होता है, सीमा पर उसकी प्रभुता उतनी ही अधिक मानी जाती है।

शक्ति के इस खेल का उद्देश्य यह होता है कि खेल के अन्त तक यथासम्भव अधिक गोटियाँ प्राप्त करली जाएँ। यदि खेल की समाप्ति के बाद एक खिलाड़ी के पास थोड़ी-सी गोटियाँ ही बच जाती हैं तो वह हारा हुआ खिलाड़ी माना जाता है। खेल से पूर्व ही खिलाड़ियों द्वारा जो संख्या तय कर दी गई थी, यदि किसी खिलाड़ी के पास उस संख्या से कम गोटियाँ बच पाती हैं तो उसको शून्य प्रदान किया जाता है तथा उसकी गोटियों को उन सभी खिलाड़ियों में बाँट दिया जाता है जिनके पास कम से कम इतनी गोटियाँ हों जितनी के साथ उन्होंने खेलना प्रारम्भ किया है।

खिलाड़ियों द्वारा खेल प्रारम्भ करने से पूर्व ही यह तय कर लिया जाता है कि कितनी बारियों के बाद खेल को समाप्त कर दिया जाएगा। जब दो से अधिक खिलाड़ी खेलते हैं और अपनी गोटियों से अधिक संख्या तक की बारियों तक खेलते हैं तो वह खेल पर्याप्त उत्तेजक बन जाता है। खिलाड़ियों की संख्या जितनी कम होती है उनकी बारी आने में उतना ही कम समय लगता है।

खेल के लिए आवश्यक सामग्री के रूप में एक बड़े आकार की मेज होनी चाहिए जिस पर 20×30 इंच के दो नक्शे रखे जा सकें तथा उनके बीच कोई ऐसा प्रतिरोध लगाया जा सके कि खिलाड़ी एक दूसरे के नक्शों को तथा एक दूसरे के चेहरों को न देख सकें। उनका एक मानीटर होता है जो एक ही समय में दोनों नक्शों पर नजर रखता है। खिलाड़ी वैकल्पिक रूप से कमरे के दोनों ओर बैठाए जाते हैं। उनको टेलीफोन पर विचारों के आदान-प्रदान का अवसर दिया जाता है। जहाँ खेल व्यक्तियों की जगह टीम के बीच होता है वहाँ गोपनीयता की दृष्टि से दो कमरों की आवश्यकता होती है। यह खेल जिस रूप में खेला जाता है उसमें केवल कुछ घण्टे ही लगते हैं। खिलाड़ी को खेल की तकनीक समझाने में ही लगभग एक घण्टा व्यतीत हो जाता है। प्रत्येक खिलाड़ी को यह समझा दिया जाता है कि वह सापेक्षिक रूप से अधिक नम्बर पाने के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण नम्बरों को पाने के लिए खेल रहा है। कुछेक ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो खेल में विभिन्नता ला सकती हैं। उदाहरण के लिए, राज्यों के मूल्य अलग-अलग हो सकते हैं, दो खिलाड़ियों की मूल्य-व्यवस्था का पारस्परिक सम्बन्ध अलग-अलग हो सकता है, प्रत्येक खिलाड़ी को अपने प्रतिपक्षी के सम्बन्ध में जो सूचना प्राप्त है उसकी मात्रा भी अलग-अलग हो

सकती है। संचार-व्यवस्था का रूप अलग-अलग हो सकता है। संचार-व्यवस्था सीधी हो सकती है यह प्रत्येक प्रकार की बात के लिए स्वतन्त्र हो सकती है अथवा केवल कुछ प्रस्तावों एवं कथनों तक ही सीमित हो सकती है। इस प्रकार शक्ति के खेलों के बीच अनेक विभिन्नताएँ पाई जा सकती हैं।

ये खेल प्रायः उन सौदेबाजियों के प्रायोगिक अध्ययन होते हैं जो सीमित युद्ध अथवा अन्य संघर्षों में की जाती हैं। यह सौदेबाजी शब्दों के आधार पर भी की जाती है और कार्यों के आधार पर भी। इन सौदेबाजी में संचार-व्यवस्था को कमजोर रखा जाता है, इसे कानूनी रूप में लागू करने की कोई व्यवस्था नहीं होती। जब सौदेबाजी करने वाले भागीदार एक-दूसरे से सम्पर्क करते हैं तो वे एक-दूसरे के मूल्यों से प्रायः अनभिज्ञ होते हैं। वैसे उनके पास एक-दूसरे को नुकसान पहुँचाने के लिए पर्याप्त शक्ति रहती है। सौदेबाजी की इस स्थिति को खेल का रूप देकर उस पर विभिन्न प्रकार के अनुसंधान एवं खोजें की जाती हैं।

वर्तमान समय में प्रयोग के लिए जिन खेलों को अपनाया जाता है वे युद्ध के सदृश नहीं होते। अनुसंधान हेतु आयोजित इन खेलों तथा परम्परागत युद्ध के खेलों के बीच अन्तर होता है। प्रथम अन्तर तो यह है कि प्रायः सभी युद्ध-खेल पूर्ण रूप से जीरो-सम (Zero-sum) खेल होते हैं। इनमें विरोधियों के साथ सहयोग के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। विजेता केवल वही माना जाता है जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त कर सके अथवा उसको दबा सके। दूसरे, इस खेल को जो रूप दिया जाता है वह युद्ध जैसा नहीं होता। इसमें कम से कम तकनीकी जटिलता रहती है। इसे प्रशिक्षण की अपेक्षा शोध-कार्य के लिए व्यवस्थित किया जाता है। इसका रूप अत्यन्त सरल बनाया जाता है। इसमें सैद्धान्तिक दृष्टि से मापन, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि किया जा सकता है। कई बार खेलों का आयोजन सुविधाजनक बनाने के लिए इनको कम खर्चीला बनाया जाता है। इसमें अधिक प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं होती।

खेल सिद्धान्त की प्रक्रिया
(The Methodology of Game Theory)

प्रायोगिक खेल-सिद्धान्त के द्वारा सौदेबाजी की प्रक्रिया का व्यावहारिक अध्ययन किया जाता है तो यह मान लिया जाता है कि कोई भी औपचारिक सिद्धान्त या विचारधारा अपने आप में अपर्याप्त होती है। कम से कम सौदेबाजी के खेलों में यह आवश्यक रूप से अपर्याप्त होती है। इस प्रकार के खेलों में एक अनिश्चितता की मात्रा रहती है। खेल की मात्रात्मक बनावट द्वारा जो बाधाएँ प्रस्तुत की जाती हैं वे किसी भी सुझाव का निर्णय करने के लिए उसे अपर्याप्त बना देती हैं, यहाँ तक कि बुद्धिपूर्ण एवं आन्तरिक रूप से समायोजनपूर्ण खेल में भाग लेने वालों के व्यवहार की रण-नीतियाँ भी कुछ उपयोगी नहीं बनती। इस प्रकार के किसी भी खेल में वस्तु-स्थिति को समझने के लिए अभिप्रायों को जानने एवं उनका अनुमान लगाने के लिए, प्रत्येक की समायोजित आकांक्षाओं तक पहुँचने के लिए और एक सीमित युद्ध में सीमा

निर्धारित करने के लिए आवश्यक मान्यता, परम्परा एव रोक विकसित करने के लिए कार्यो मे एकीकरण की आवश्यकता होती है। एक खेल मे भाग लेने वाले लोग एक दूसरे की आकांक्षाओ का ज्ञान कराने के लिए किस प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया करेंगे, वे अपने अभिप्रायों को जताने के लिए कौन से साधन अपनाएँगे तथा वे सयुक्त रूप से किन नियमो एव परम्पराओ को जानेगे मानेंगे—ये सारी बाते पहले से ही तय नही की जा सकती। चाहे कोई खिलाड़ी कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो इनके बारे मे पहले से ही कुछ तय नही कर सकता। खेल-सिद्धान्त मे व्यावहारिक अध्ययन का आवश्यक तत्व रहता है। *बौद्धिक व्यवहार की विचारधारा द्वारा जो तरीका सुझाया जाता है एक खेल के खिलाडी उससे भिन्न रूप मे भी व्यवहार कर सकते हैं।* यह भिन्नता बुराई की अपेक्षा अच्छाई की दिशा मे भी अग्रसर हो सकती है। कुछ परिस्थितियो में खिलाडी उससे भी अच्छा व्यवहार कर सकते है जैसाकि एक शुद्ध औपचारिक बौद्धिक व्यवहार की विचारधारा द्वारा सुझाया जाता है। ये खिलाडी अच्छा व्यवहार किस तरह कर सकते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका सैद्धान्तिक विश्लेषण किया जा सकता है, किन्तु अन्त मे उसे व्यवहार के आधार पर ही प्रमाणित करना होता है। खेल-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह किया जाता है कि इसके आधार पर *हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं अथवा जिस वातावरण को देखते हैं क्या उसके आधार पर वास्तविक सघर्ष की स्थितियो का अथवा वास्तविक* सौदेबाजी की प्रक्रियाओ का सामान्यीकरण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे पहली बात यह है कि इस प्रकार का खेल वास्तविक संघर्ष की सभी महत्त्वपूर्ण विशेषताओ को सामने नही लाता। यह हमारे सामने कोई ऐसा सन्तुलित प्रतिमान नही रखता जिसमे सभी तत्त्वो को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त हो। इसका मुख्य उद्देश्य समस्या के उन पहलुओ को सामने लाना है जो विश्लेषण के लिए सन्देह प्रदर्शित करते हैं *अथवा प्रयोगशाला मे किए जाने वाले प्रयोगों को सन्देह की नजर से देखते हैं। इस प्रकार के खेल द्वारा खिलाड़ियो की ज्ञान एवं सूचना सम्बन्धी प्रक्रियाओ पर प्रकाश* डाला जाता है, उनके भावनात्मक व्यवहार या व्यक्तिगत मूल्य-व्यवस्था पर नही। जहाँ तक सम्भव होता है वहाँ तक खिलाडी की मूल्य-व्यवस्था उसे खेल द्वारा ही प्रदान की जाती है। यदि रोकने पर भी भावनात्मक पक्ष उभर आता है तो उसका स्तर उस मनमुटाव, जलन, ईर्ष्या आदि से भिन्न होता है जो वास्तविक संघर्ष एवं जीते-जागते युद्ध की स्थिति मे हो सकता है। इस प्रकार के खेल मे व्यक्तियो के *व्यवहारों एवं संगठनात्मक व्यवहार, नौकरशाही के व्यवहार, सामूहिक राजनीतिक व्यवहार एव अन्य सयुक्त निर्णय प्रक्रियाओं पर भाग लेने वाले व्यक्तियो की विशेषताओ* एव सामर्थ्य के द्वारा सीमाएँ लगाई जाती हैं।

इस प्रकार के खेल की इतनी अधिक सीमाएँ होती हैं, किन्तु फिर भी यह सीमित युद्ध तथा ऐसे संघर्षो के कुछ तत्त्वों को जानने के लिए एक आकर्षक साधन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि हमारे पास अनुभवात्मक रूप में वस्तु-स्थिति का अध्ययन करने के लिए बहुत कम विकल्प हैं। खेल के आधार पर किए

जाने व.ले प्रयोगों से हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह यद्यपि पर्याप्त व्यापक या विश्वसनीय नहीं होता, तथापि दूसरे तरीकों से प्राप्त होने वाले ज्ञान की तुलना में यह अच्छा प्रतीत होता है। खेल-सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्षों या परिणामों का एक अन्य महत्त्व यह है कि यथार्थ जगत् में भी ये कुछ उपयोगी सिद्ध होते हैं। सीमित युद्ध, औद्योगिक संघर्ष आदि के बारे में अनेक प्रस्ताव सामान्य रूप में रखे जाते हैं तथा उन्हें इतने सरल एवं सामान्य प्रमाणों या तर्कों पर आधारित किया जाता है कि वे उतनी सरल और बनावटी स्थिति पर लागू किए जा सकें जो खेल द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि यद्यपि खेल के निष्कर्षों की उपयोगिता एवं प्रामाणिकता संदिग्ध है, फिर भी किसी अन्य सिद्धान्त द्वारा इनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रायोगिक खेलों की उपयोगिता को इस आधार पर प्रदर्शित किया जा सकता है कि हम सामान्य रूप से तर्क करके जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं उनको खेल प्रक्रिया द्वारा असत्य सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हम खेल का आयोजन करते हैं। इस खेल में प्रत्येक खिलाड़ी दूसरे खिलाड़ी का मूल्य-व्यवस्था के प्रति अनभिज्ञ है अथवा उसे यह जानकारी नहीं है कि दूसरे खिलाड़ी को चलने के कितने अवसर प्राप्त होंगे अथवा वह कितनी बार चल सकता है। ऐसी स्थिति में यदि हम यह प्रस्ताव करें कि प्रत्येक खिलाड़ी को दूसरे खिलाड़ी की मूल्य-व्यवस्था का, उसकी चाल के अवसरों का तथा जितनी बार वह चल चुका है इसका ज्ञान करा दिया जाए तो दो खिलाड़ियों को इससे क्या लाभ प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में यदि बौद्धिक रूप से विचार किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जिस खिलाड़ी को अपने विरोधी के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त है, वह लाभ में रहेगा; किन्तु जब हम इस बात को तर्कों के आधार पर नहीं, बल्कि खेल के आधार पर जानने की चेष्टा करते हैं तो विदित होता है कि इसमें दोनों ही खिलाड़ियों को लाभ हो सकता है अथवा दोनों को हानि हो सकती है। यदि वह खेल नान-जीरो-सम (Non-Zero-sum) प्रकार का है तो प्रस्ताव को दूसरे रूप में रखा जा सकता है कि अन्य चीजें समान होने पर उस खिलाड़ी को अधिक प्राप्तियाँ होंगी अथवा अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा जिसे अपने विरोधी के सम्बन्ध में अधिक सूचनाएँ प्राप्त हैं। यह प्रस्ताव एक दोषपूर्ण तर्क प्रक्रिया पर आधारित है, किन्तु यह बुद्धि-संगत् प्रतीत होता है। यदि हम इसकी गलती को प्रदर्शित करना चाहते हैं तो इसके लिए खेल का तरीका अपनाना होगा। जो लोग इस प्रकार के प्रस्ताव को मानते हैं उनकी मान्यता का आधार सामान्य सूझ-बूझ होती है। यह सूझ-बूझ इतनी सामान्य होती है कि यदि खेल द्वारा प्रस्ताव को दोषपूर्ण सिद्ध कर दिया गया तो इसमें विरोधाभास पैदा हो जाएगा।

इस उदाहरण से खेल की प्रक्रिया का एक अन्य पहलू प्रकट होता है। खेल का प्रयोग सरल होता है कि उसका आसानी से विश्लेषण किया जा सके। जब इस खेल के परिणाम आशा के विपरीत होते हैं तो इनके कारणों का आसानी से समझा जा सकता है। प्रयोगात्मक खेल द्वारा जिस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है

उसके लिए यह आवश्यक नही कि हर बार खेले जाने वाले खेलो द्वारा उसका समर्थन किया जाए। जब एक बार प्रयोगात्मक खेल द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच गए तो उस निष्कर्ष का सैद्धान्तिक रूप मे बौद्धिकीकरण कर देना चाहिए। इस प्रकार प्रयोगात्मक खेल सैद्धान्तिक मॉडल का एक प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व है। इस मॉडल के सक्रिय भागो को उस समय अच्छी तरह समझा जाता है जबकि उनको प्रायोगिक रूप प्रदान किया जाए।

इसी बात को अन्य रूप से भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रयोगात्मक खेलो का प्रयोग उन महत्वपूर्ण सम्भावनाओ को खोजने एव प्रदर्शित करने के लिए किया जा सकता है जो अन्य प्रकार से प्रकट नही होती। इन सम्भावनाओ का महत्व एवं उपयोगिता तार्किक रूप से अथवा अन्य प्रमाणो के आधार पर सिद्ध की जा सकती है, किन्तु इन सम्भावनाओं का अस्तित्व है तथा ये सम्भावनाएँ अन्य भागो से किस प्रकार सम्बन्धित है, यह बात केवल प्रयोगात्मक खेल द्वारा ही खोजी जा सकती है। उदाहरण के लिए एक सम्भावना यह है कि अधिक ज्ञान और सूचना रखने वाले खिलाडी को लाभ प्राप्त न हो और अन्य खिलाडी को प्राप्त हो जाए जिसे इतनी सूचना और ज्ञान प्राप्त नही है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि नई सूचना प्राप्त करने पर यदि वह उस सूचना को गुप्त न रख सके तो एक खिलाडी को लाभ होने की अपेक्षा नुक्सान हो सकता है।

कुल मिलाकर यह आशा की जाती है कि इस प्रकार के प्रयोगात्मक अनुसंधान द्वारा प्राप्त किए गए निष्कर्ष सांख्यिकीय विश्लेषण पर आधारित नही होगे। हमारा अभिप्राय यह रहता है कि परीक्षण किए गए वातावरण को किसी सिद्धान्त से सम्बन्धित करें तथा साथ ही निरीक्षण किए जाने वाले तत्वो के सम्भावित महत्व को प्रदर्शित करें। प्रयोगात्मक खेल मे यह जानने का प्रयास किया जाता है कि खेल की बनावट सम्बन्धी विशेषताओ को किस प्रकार रखा जाए कि उनके द्वारा कुछ विशेष परिणाम एवं वातावरण प्राप्त किए जा सकें। इस प्रकार प्रयोगात्मक खेल के आयोजन मे हमारा अभिप्राय यह नही होता कि पूर्व-निर्धारित निष्कर्ष की प्रामाणिकता की जाँच करें तथा उसके लिए सांख्यिकी प्रमाण प्रस्तुत करें। इसके स्थान पर परीक्षित परिणामो एवं प्रयोगों के आगामी रूपो के बीच निरन्तर सम्पर्क बना रहता है।

इस प्रकार के प्रयोगों का एक अन्य गौण उद्देश्य भी होता है जो सिद्धान्त के विकास से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार के खेल का आयोजन करने के लिए तथा खेल मे कुछ विशेषताओ को लाने के लिए पहले व्यावहारिक मान्यताओ को परिभाषित करना जरूरी होता है। इस प्रकार का खेल सैद्धान्तिक मॉडल-निर्माण पर अनुशासन कायम करता है। इसके द्वारा यह जाँच की जा सकती है कि मान्यताएँ एव प्रस्ताव सार्थक हैं अथवा नही। यदि वे सार्थक हो तो उन्हें प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रयोगात्मक खेल को सैद्धान्तिक सम्प्रेषण (Theoretical Communication) के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। यदि हम यह चाहते हैं कि संघर्ष की रण-नीति

के बारे में किसी प्रस्ताव को सावधानी के साथ परिभाषित और चित्रित करें तो इसके लिए खेल के रूप में हमें एक देखने योग्य साधन प्राप्त हो जाता है।

खेल-सिद्धान्त द्वारा अनुसंधान
(The Research through Game Theory)

खेल-सिद्धान्त के आधार पर किए जाने वाले अनुसन्धान में हमको तीन बातों का ध्यान रखना होता है। प्रथम, यह देखना होता है कि किन नियमों एवं प्रतिबन्धों के अधीन खेल-खेला जाएगा तथा इस खेल की पृष्ठभूमि क्या है और खेलने वाले लोग कौन-कौन हैं। दूसरी देखने योग्य बात यह होती है कि खेल का परिणाम क्या रहा, खिलाड़ियों का व्यवहार कैसा रहा; खिलाड़ियों द्वारा जो अभिलेख रखे गए वे क्या थे; खेल के दौरान जो विशेष परिस्थितियाँ विकसित हुईं वे कौन-कौन सी थीं, आदि-आदि। तीसरे, यह देखना होता है कि वे प्रश्न या परिकल्पनाएँ कौन-कौन-सी हैं जिनके आधार पर जाँच को निर्देशित किया जा सकता है।

प्रथम शीर्षक के अधीन वह तरीका निश्चित किया जाता है जिसके द्वारा खेल खेला जाएगा। इस तरीके का एक निश्चित रूप में प्रबन्ध किया जाता है। सर्वप्रथम तो अनेक खिलाडियों से युक्त खेल का एक मान्य रूप प्रयुक्त किया जाता है। इसके आधार पर खिलाडी खेल के परिणामों एवं खेल के रूप के बीच पारम्परिक सम्बन्ध एवं खेलने वाले की अपनी व्याख्या के परिणामों और एक-दूसरे के खेल के तरीकों का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से परिणामों के वर्गीकरण एवं विश्लेषण के लिए खेल के तरीकों एवं रण-नीतियों के लिए तथा खेलने वालों की व्याख्याओं के लिए सैद्धान्तिक रूप से रचना करनी होती है। यह सब केवल तभी किया जा सकता है जबकि यथार्थ में खेल खेला जाए। दूसरे, खेल की कुछ विशेषताओं में भिन्नता हो सकती है। उदाहरण के लिए, सम्प्रेषण की व्यवस्था, सूचना की व्यवस्था, आदि में भिन्नता हो सकती है। इसके अतिरिक्त खेल में प्रयुक्त किए जाने वाले नक्शे, परम्पराएँ, खेल एवं इसके लक्ष्य का वर्णन करने वाली भाषा, खेल की मात्रात्मक विशेषताएँ आदि अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैं। तीसरे, खेलने वालों के आधार पर अलग-अलग प्रकार की व्यवस्था की जाएगी। स्वयं-पूरित समूहों के बीच के खेल के लिए, विभिन्न समूहों के उन सदस्यों के बीच खेल के लिए जो पहले से ही अन्तर्सामूहिक खेल का अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, अनुभवी खिलाडियों के बीच होने वाले खेल के लिए, अनुभवी एवं अनुभवहीन के बीच होने वाले खेल के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य खेलों के लिए व्यवस्था अलग-अलग प्रकार से करनी होती है। कुछ खेल मध्यस्थ के अधीन खेले जाते हैं जो खेलने वालों को कुछ सुझाव दे सकता है। कुछ खेलों में तीन या तीन से अधिक खेलने वाले होते हैं; वहाँ संयुक्त व्यवहार (Coalition Behaviour) सम्भव होता है। कुछ खेल ऐसे होते हैं जिनमें एक खिलाड़ी को रण-नीति पहले से ही स्पष्ट कर दी जाती है।

दूसरे शीर्षक के खेल-परिणामों का अभिलेख रखने की एक सार्थक योजना अपनानी होती है। इस योजना में व्यक्तिगत रूप से प्राप्त सभी अंकों को रखा जा

सकता है अथवा सापेक्ष रूप से रखा जा सकता है। खेल के विभिन्न प्रकारों के परिणामों की तुलना करने के लिए प्राप्त अंकों को साधारण स्तर पर रखने हेतु प्रयास करना होता है। ऐसा करना सरल नहीं होता क्योंकि इसका मार्ग कठिन होता है। उदाहरण के लिए यह जानना बड़ा कठिन होता है कि खेलने वाले ने खेल के दौरान क्या आशा की थी और उसे उसके अनुकूल परिणाम प्राप्त हुए या नहीं। खेलने वाले की व्याख्याओं को वर्गीकृत करने के लिए भी एक योजना अपनाई जाती है। खेलने वाले खेल को जिस रूप में देखते हैं तथा खेल का जो तरीका अपनाते हैं उस पर उनको प्रदान किए गए निर्देशों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है एवं उन प्रश्नावलियों का प्रभाव पड़ता है जो वे बनाते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनी एवं अपने भागीदार के खेल तथा रण-नीतियों पर जो बातें नोट करते हैं, वे भी प्रभाव डालती हैं। खेल के सम्बन्ध में अभिलेख रखना जरूरी है, क्योंकि इसके बिना कोई अनुसन्धान कार्य नहीं किया जा सकता। अध्ययन करते समय हमारा मुख्य उद्देश्य जानकारी एवं नाजानकारी के विकास को देखना, प्रस्तावों को प्रसारित करने के लिए भाषा के आविष्कार की प्रक्रिया को जानना तथा खेल के दौरान आलोचनात्मक अवसरों को ध्यान में रखना होता है। यह भी देखा जाता है कि खेलने वाले की आशाओं का खेल में सुझाए गए विस्तारों से क्या सम्बन्ध था तथा खेलने वाले की रण-नीति कितनी सही थी। पर्याप्त भूल-सुधार के बाद ही हम यह जान पाते हैं कि रोचक एवं उपयोगी अभिलेख किस प्रकार रखा जा सकता है।

जिस समय खेल हो रहा है उस समय उसे किस प्रकार देखना चाहिए तथा उसका अभिलेख किस प्रकार रखना चाहिए, इसके लिए विश्लेषणात्मक श्रेणियाँ अपनानी होती हैं। अभिलेख एवं निरीक्षण की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं, जैसे—सहयोगपूर्ण बनाम असहयोगपूर्ण, आक्रमणकारी बनाम बुद्धिपूर्ण, आदि-आदि। ये अन्तर वास्तविक व्यवहार में उपयोगी भी सिद्ध हो सकते हैं और नहीं भी, इसलिए ये अपर्याप्त हैं। यह भी देखना होता है कि क्या खिलाड़ी, उसका दूसरा भागीदार एवं खेल देखने वाला खेल के तरीकों के सम्बन्ध में एक जैसी धारणा रखते हैं और क्या इसके पीछे उनका अभिप्राय एक जैसा ही है।

तीसरे, खेल का निरीक्षण करने के बाद उसके सम्बन्ध में कुछ जाँच-पड़ताल की जाती है। जिस विशेष वस्तुस्थिति की जाँच होती है उसमें भाषा, नियमों एवं परम्पराओं का विकास सम्मिलित होता है। अस्थिरता के कारण बने तत्त्वों की विशेष रूप से जाँच की जाती है। अस्थिरता से यहाँ हमारा अर्थ खेल की उस प्रवृत्ति से है जो विध्वंसात्मक व्यवहार एवं कम अंकों का कारण होती है। प्रयोगों के आधार पर यह बात विदित हुई है कि जब नक्शे पर राज्यों के मूल्यों को पुनः व्यवस्थित किया जाता है तो अधिक संघर्ष पैदा हो जाता है। यदि चाल में किए जाने वाले परिवर्तन से समझौता तोड़ने वाले किसी खिलाड़ी को भारी लाभ प्राप्त हो जाए तो इससे अस्थिरता आ जाती है। इसके अतिरिक्त खेल की तेजी (Tempo) भी स्थायित्व पर प्रभाव डालती है। खेल की विश्लेषणात्मक रचना करने के लिए

पर्याप्त भूल-सुधार से काम लेना होता है। प्रयोगात्मक खेल का लक्ष्य यह नहीं होता कि स्थिर परिकल्पनाओं की सत्यता को परखा जाए वरन् इसके द्वारा नवीन परिकल्पनाएँ निर्धारित की जाती हैं।

सौदेबाजी की विचारधारा बहुत कुछ रूढ़िवादी खेल-सिद्धान्त का एक विस्तार है। दोनों के तरीके प्रायः एक जैसे होते हैं तथा दोनों की मूल मान्यताएँ भी एक जैसी ही हैं। जे. सी. हरसान्यी ने इन सिद्धान्तों की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार बौद्धिकता की दो मान्यताएँ हैं जो मौलिक होते हुए भी कमजोर हैं, इसलिए इस मान्यताओं के साथ अन्य चार और जोड़ दी जाती हैं। हरसान्यी (J. C. Harsanyi) के कथनानुसार ये छः बौद्धिक मान्यताएँ हैं—

(1) व्यक्तिगत उपयोगिता का आधिक्य (Individual Utility Maximization),
(2) कार्यकुशलता (Efficiency),
(3) उच्च क्षतिपूर्ति की स्वीकृति (Acceptance of Higher Pay-off),
(4) प्रतिसाम्य (Symmetry),
(5) परिवर्तनियों का प्रतिबन्ध (Restriction of Variables), तथा
(6) पारस्परिक रूप से प्रत्याशित बौद्धिकता (Mutually Expected Rationality)।

इन मान्यताओं के बीच कितना तार्किक सम्बन्ध है, यह एक विवाद का विषय है।

खेल-सिद्धान्त का मूल्यांकन
(Evaluation of Game Theory)

खेल-सिद्धान्त का व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिए केवल बौद्धिक चिन्तन की परिधियों से विचारकों को बाहर निकालता है तथा उनको व्यावहारिक निरीक्षण के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालने के अवसर प्रदान करता है। इसके मुख्य उपयोग निम्न प्रकार हैं— . .

1. जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्वयुद्ध के बाद स्पष्ट रूप से दो गुटों में विभाजित हो गई तो इन गुटों के बीच बहुत कुछ ऐसा ही खेल-खेला गया था जैसा कि खेल-सिद्धान्त के प्रयोगों में खेला जाता है। नाटो शक्तियाँ, साम्यवादी शक्तियाँ एवं तटस्थ शक्तियाँ—ये इस खेल के तीन खिलाड़ी थे। यदि इस खेल का विश्लेषण किया जाए तो हमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होंगी जिनको बाद में हम सैद्धान्तिक प्रतिमान (मॉडल) के रूप का आधार बना सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति में इस सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण मानने वालों का यह दावा है कि तथ्यपूर्ण-रूप में जितनी सूचना खेल से प्राप्त हो सकती है वह साहित्यिक विश्लेषण द्वारा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। साहित्यिक विश्लेषण से प्राप्त सूचना को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

2. खेल-सिद्धान्त की यह विशेषता है कि इसके आधार पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना का विश्लेषण करने के बाद दूसरी अन्य घटनाओं को समझने का मार्ग खुल जाता है।

3. यह सिद्धान्त अनुभव पर आधारित (Empirical) है, इस कारण इसमे भविष्यवाणियाँ की जा सकती है, समस्या के लिए समाधन ढूंढे जा सकते हैं।

उक्त लाभो को स्वीकार करते हुए भी खेल-सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि विश्व की जटिल समस्याओं पर अभी तक इसे लागू नही किया गया है। दूसरे कुछ विचारकों द्वारा खेल-सिद्धान्त को केवल मात्र खेल की दृष्टि से ही देखा जाता है अर्थात् विद्वानो मे यह सिद्धान्त कोई गम्भीर समर्थन प्राप्त नही कर सका। अधिकांश के विचार से गम्भीर, सश्लिष्ट तथा उलझी हुई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ इस सिद्धान्त द्वारा नही समझी जा सकती। क्विसी राइट (Quincy Wright) का मत है कि यदि हम शीतयुद्ध का विश्लेषण इस सिद्धान्त के आधार पर करें और तब अपने देश की विदेश-नीति का निर्धारण करे तो वह नीति न तो विजय प्राप्त करा सकेगी और न ही हमे निष्पक्ष रख सकेगी वरन् यह तो देश की पूरी हत्या का कारण बन जाएगी, ऐसी हत्या जिसे उसने स्वय ही चुना है।

खेल-सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने का एक अपूर्ण माध्यम है। इसमे समय तथा शक्ति का इतना अपव्यय होता है कि उनकी तुलना मे इससे प्राप्त होने वाले परिणाम नगण्य रह जाते हैं। इस सिद्धान्त की अपनी कुछ समस्याएँ भी हैं जिनके कारण इसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे लागू नही किया जा सकता। अनेक विद्वान् इसे वैज्ञानिक मानने को भी तैयार नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सामान्य विचारधारा
(General Theory in International Field)

सामान्य विचारधारा वह होती है जो समान परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर सभी देशो द्वारा अपनाई जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे सामान्य सिद्धान्तों का परिणाम अधिक नही है। सम्भवत. इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के ऊपर समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा विचार प्रकट किए जाते हैं, किन्तु ये विचार इतने एकपक्षीय तथा सीमित होते हैं कि इनके माध्यम से स्थिति के पूर्ण रूप को नही समझा जा सकता। इन एकपक्षीय सिद्धान्तो मे सामर्थ्य नही कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के वास्तविक व्यवहार का चित्र प्रस्तुत कर सकें। भूतकाल मे इन सिद्धान्तो का निर्माण एक विशेष हित रखने वाले समुदाय के लिए किया जाता था जैसे सैनिक समुदाय, कूटनीतिज्ञ, न्यायिक (*Jurist*), क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी, साम्राज्यवादी, शान्तिवादी, शिक्षक तथा अन्य। क्विसी राइट के मतानुसार क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ के लिए प्रतिपादित सिद्धान्तों का शान्तिवादी व अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लोगो के लिए कोई महत्त्व नही होगा। इन सिद्धान्तो के निर्माता भी इतिहासकार, भूगोलशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, नीतिशास्त्री आदि थे। उन्होने

केवल विशिष्ट तथा संकुचित दृष्टिकोण से ही वस्तुस्थिति को परखा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सम्पूर्ण चित्र को अंकित करने में सफल नहीं हो सके।

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक सामान्य सिद्धान्त की आवश्यकता को कई दृष्टियों से स्वीकार किया जा रहा है। कहा जाता है कि सामान्य सिद्धान्त राजनीतिज्ञों की सहायता करेगा। जिन लोगों को विदेश-नीति के सम्बन्ध में निर्णय लेने होते हैं उनके पास प्रदर्शक के रूप में एक ऐसे सिद्धान्त का होना आवश्यक है जो उनके लक्ष्य तथा साधनों की समुचित व्याख्या कर सके। राजनीति अथवा निर्णयकर्त्ता (Decision-maker) के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कूटनीतिज्ञों, सैनिकों, कानूनवेत्ताओं, अर्थशास्त्रियों, उपनिवेशीय प्रशासकों, अन्तर्राष्ट्रीय लोकसेवकों आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का कार्य है कि इन सभी को सुविज्ञ-परामर्श (Expert Adv.ce) प्रदान करे। इसके अतिरिक्त सामान्य सिद्धान्त (General Theory) का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है नागरिकों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का समुचित ज्ञान कराना। आज प्रजातन्त्र का युग है तथा प्रत्येक व्यक्ति विदेश-नीति के निर्णयों पर अपना प्रभाव डालना चाहता है, किन्तु कोई प्रभाव डालने से पूर्व आवश्यक है कि व्यक्ति को उस विषय का ज्ञान हो। सामान्य सिद्धान्तों का एक सबसे बड़ा उपयोग यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शोध-कार्य को आसान बना देता है।

सामान्य सिद्धान्त का अर्थ व स्वरूप

सामान्य सिद्धान्त का अर्थ बताते हुए क्विन्सी राइट ने लिखा है कि यह ज्ञान का वह रूप है जो विस्तृत, समझने योग्य, सम्बद्ध तथा आत्म-शोधक हो तथा इससे जानकारी, भविष्यवाणी, मूल्यांकन, विश्व के राज्यों के आपसी सम्बन्धों तथा विश्व की परिस्थितियों के नियन्त्रण को कुछ योगदान मिल सके।[1] क्विन्सी राइट के विचारानुसार इन समस्त गुणों से युक्त सिद्धान्त को प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है।

क्विन्सी राइट की परिभाषा में प्रकृति एवं उद्देश्य की दृष्टि से सामान्य सिद्धान्त की जिन विशेषताओं का संकेत किया गया है वे निम्नलिखित हैं—

सामान्य सिद्धान्त की प्रकृति एवं उद्देश्य

सामान्य सिद्धान्त में किसी एक विषय की व्याख्या नहीं होनी चाहिए। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सभी पहलुओं पर विचार होना चाहिए। उदाहरण के लिए, शान्तिपूर्ण एवं युद्ध-सम्बन्धी, सहकारितापूर्ण व परस्पर विरोधी, सार्वभौमिक तथा क्षेत्रीय, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि। सामान्य सिद्धान्त उलझा हुआ और विस्तृत नहीं होना चाहिए। विस्तृत सिद्धान्त प्रायः उलझनपूर्ण होता है और उलझन के कारण यह अपने गुणों से वंचित रह जाता है जिनकी उससे आशा की जाती है। यह ऐसे सामाजिक व्यवस्थाओं में अभिव्यक्त किया गया हो जो

1 *Quincy Wright :* The Study of International Relations, pp. 498.

समझ मे आने योग्य हों, सगठित हों तथा कम से कम हो। मूल बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने की अपेक्षा उसे उसी रूप मे प्रस्तुत कर दिया जाए। अत्यधिक संक्षेप भी कई बार अस्पष्टता का कारण बन जाता है, किन्तु फिर भी आवश्यकता से अधिक स्पष्टीकरण में विरोधाभास या असंगतियाँ पैदा होने का डर रहता है।

सामान्य सिद्धान्त के निष्कर्ष किसी तार्किक विश्लेषण के सहज एवं स्वाभाविक परिणाम होने चाहिए। इसका प्रत्येक भाग एक दूसरे से सम्बन्धित तथा समायोजित हो तथा उनमे परस्पर विरोध न हो। इसके अतिरिक्त सामान्य सिद्धान्त मे स्वयं की कमियो को पूरा करने तथा स्वय के दोषो को दूर करने की भी सामर्थ्य होनी चाहिए क्योंकि सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र मे किसी का यह सोचना गलत होगा कि उसके निष्कर्ष अन्तिम सत्य है तथा हमेशा ही रहेंगे, यह आवश्यक है कि समय एवं परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ ही उनके रूप मे यथोचित परिवर्तन कर दिए जाएँ।

सामान्य सिद्धान्त का प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह जनता और राजनीतिज्ञो के मस्तिष्क मे बहुत समय पहले से जमे हुए उन विचारो को खुरच दे जिनका आज की परिस्थितियो मे कोई महत्त्व नही रह गया है। इसके अध्ययन का रूप वस्तुपरक (Objective) होना चाहिए क्योंकि सत्य एव तथ्य की पूर्णता के लिए ऐसा होना जरूरी है। इस अर्थ मे सामान्य सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे वही कार्य है जो खगोल शास्त्र के क्षेत्र मे कापरनिकस ने किया था। सामान्य सिद्धान्त को ऐसे मार्गों को प्रदर्शित करना चाहिए जिनमे भविष्य के शोधकर्त्ता तथा अध्ययनकर्त्ता आगे बढ सकें और इस क्षेत्र मे अपना अनुदान प्रदान कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नवीन विचारो का स्वागत होना चाहिए, क्योंकि वे भी उतने ही मूल्यवान हैं जितने हमारे स्वय के। नवीन विचारो के सन्दर्भ में यदि समय-समय पर अपने मतो एव धारणाओं को भी संशोधित कर लिया जाए तो उचित रहेगा।

2. अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का दूसरा लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भविष्यवाणी करने के कार्य को सम्भव बनाना है। इसके लिए यह जरूरी है कि कारण-कार्य सम्बन्ध को उचित रूप से बैठाया जाए। इसका स्वरूप वैज्ञानिक होना चाहिए। 'इन परिस्थितियो के होने पर यह कार्य होगा' अथवा 'ऐसा करिए, ऐसा हो जाएगा' आदि कहने की सामर्थ्य इनमे होनी चाहिए, किन्तु प्राय यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में सम्भव नही हो पाता। इसके अनेक कारण हैं जैसे कि मानवीय व्यवहार एकसा नहीं होता, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की तुलना नही की जा सकती, हम अपनी परिकल्पनाओं पर प्रयोग नही कर सकते, आदि। फिर भी कुछ बातों पर कुछ मात्रा मे भविष्यवाणी की जा सकती है और हमे अवश्य ही इस प्रवृत्ति को बढाने का प्रयास करना चाहिए।[1]

3. अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सिद्धान्त का तीसरा लक्ष्य परिस्थिति का मूल्यांकन करना है। इसका यह कार्य है कि आवश्यकता के समय लोगो को केवल तथ्यों का

1 *Quincy Wright* : A Study of War, 1942, pp. 681, 717.

ज्ञान कराने की अपेक्षा यह भी बताए कि उनके लिए अच्छा क्या है। इसी अर्थ में प्लेटो कहा करता था कि समय पर राजनीतिज्ञ को सज्जनतापूर्ण झूठ (Noble lies) भी बोल देना चाहिए। इस दृष्टि से सत्य का मापदण्ड प्रमाण अथवा बुद्धि नहीं है वरन् इसका व्यावहारिक प्रयोग है। हमें जनता से जो कराना है तथा जिन सिद्धान्तों को ग्रहण कराना है उनका उद्देश्य बनाते समय कूटनीति से काम लेना आवश्यक हो जाता है। सामान्य जनता बालक-बुद्धि से काम करती है। यदि बालक से आप कहें कि "वह अध्ययन में रुचि ले, इससे व्यक्तित्व का विकास होगा" तो इस कथन का व्यावहारिक प्रभाव इतना न होगा जितना कि यह कहने पर कि "वह अध्ययन करेगा तो उसे मिठाई व खिलौने दिए जाएँगे।" यद्यपि दोनों परिस्थितियों में अध्ययन का लक्ष्य व्यक्तित्व का विकास ही है। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के अध्ययन का विषय है मनुष्य तथा उसके समुदाय। मनुष्यों के जीवन के कुछ मूल्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सिद्धान्तों को उन मूल्यों के समायोजन में ही अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए वरना मनुष्य जिन मूल्यों को महत्त्व देता है उनकी सुरक्षा के लिए वह सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे सकता है। कुछ विचारकों का मत है कि समाज-विज्ञानशास्त्रियों को केवल तथ्यों व प्रमाणों से सम्बन्ध रखना चाहिए 'मूल्यों' से नहीं, किन्तु क्विंसी राइट के मतानुसार सामाजिक विज्ञान 'मूल्यों' की अवहेलना नहीं कर सकते, यह तो इनका मूल तत्त्व होता है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को यह बताना चाहिए कि क्या होने को है; यह भी बताना चाहिए कि क्या होना अच्छा है तथा साथ ही सरकार व जनता के लिए जो अच्छा है उसे कायम रखने के लिए निर्णय लेने में सहायता देनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर सरकारें तब तक नियन्त्रण नहीं रख सकती जब तक उन्हें साफ-साफ यह पता न हो कि वे ऐसा क्यों करना चाहती हैं। कोई निर्णय लेने से पूर्व हमारे सामने कुछ मूल्यों का रहना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सिद्धान्त इस प्रकार के मूल्यों की प्राप्ति में सहायता करते हैं।

5. अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण कार्य आज यह है कि विश्व-समुदाय की परिस्थितियों को परिवर्तित करने के लिए प्रयास करें। आज का युग सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्यों की स्थिति में परिवर्तन की माँग करता है। वह विश्व-सरकार की स्थापना चाहता है। सामान्य सिद्धान्तों का यह कर्तव्य बन जाता है कि समय की इस आवश्यकता व युग की इस माँग को ध्यान में रख कर ही आगे बढ़ें।

उपर्युक्त उद्देश्यों एवं तत्त्वों को अपने-आप में धारण करने वाला कोई अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त हो सकेगा, ऐसी आशा नहीं है। उपर्युक्त सभी विशेषताएँ एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का चित्रण करती हैं। सिद्धान्तशास्त्रियों का यह प्रयास होना चाहिए कि वे अपने सिद्धान्तों में इन विशेषताओं को अधिक से अधिक समाविष्ट करें। कोई भी सिद्धान्त इन विशेषताओं के जितना नजदीक होगा वह उतना ही उपयोगी, श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक माना जाएगा।

यथार्थवादी सिद्धान्त
(The Realistic Theory)

हम बता चुके है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त के रूप मे मान्यता पाने के क्षेत्र मे राजनीतिक यथार्थवाद और राजनीतिक आदर्शवाद दो प्रमुख प्रतियोगी हैं।[1] आदर्शवाद का दर्शन 18वी और 19वी शताब्दियो मे काफी प्रचलित था तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद इसे पुनर्जीवन मिला। आज विख्यात राजनीतिशास्त्री हंस मॉर्गेन्थो यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता है। यद्यपि यथार्थवाद के क्षेत्र मे और भी अनेक विद्वानो का योगदान है, तथापि मॉर्गेन्थो को ही इस बात का वास्तविक श्रेय प्राप्त है कि उन्होने यथार्थवाद को एक सैद्धान्तिक अनुस्थापन (Theoretical Orientation) प्रदान किया। *हंस मॉर्गेन्थो को ही श्रेय है* कि उन्होने सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण को चिन्तन के एक पृथक् और स्पष्ट सम्प्रदाय का रूप दे दिया। यथार्थवाद पर अनेक लेखको ने लिखा है, अनेक विद्वानों ने अपने *विचार प्रकट किए हैं, लेकिन मॉर्गेन्थो ही वह प्रथम विद्वान् है जिसने एक यथार्थवादी* प्रतिमान (A Realistic Model) विकसित किया है। इस क्षेत्र के मॉर्गेन्थो के महान् योगदान को स्वीकार करते हुए ही अनेक विद्वान् 'यथार्थवाद' और *'मार्गेन्थोवाद' को समानार्थी मानते हैं।*

मॉर्गेन्थो की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार 'शक्ति के रूप मे परिभाषित हित की अवधारणा' (Concept of Interest Defined in Terms of Power) है। यह दृष्टिकोण हमारा ध्यान उन इकाइयो पर अर्थात् राज्यो पर, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख कार्यकर्त्ता हैं, केन्द्रित कर देती है। इसे यथार्थवादी दृष्टिकोण की सज्ञा इसलिए दी जाती है क्योंकि एक तो यह राष्ट्रीय हित के महत्त्व पर उसी रूप मे बल देती है जिस रूप मे किसी राष्ट्र-विशेष के राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय हित को मान्यता देते हैं; और दूसरे, यह शक्ति अथवा प्रभाव (Power or Influence) को राष्ट्रीय हित के सवर्द्धन का एकमात्र साधन मानती है। जिस सीमा तक इसमे शक्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, उस सीमा तक इसे शक्तिवादी दृष्टिकोण (Power Approach) भी कहा जा सकता है। मॉर्गेन्थो ने स्पष्ट लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्य सभी राजनीतियो की तरह, शक्ति के लिए सघर्ष है और चाहे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम उद्देश्य कुछ भी हो, इसका तात्कालिक लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना ही रहता ।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गूढता को समझने के लिए शक्ति की महत्ता तथा व्यावहारिकता को समझना नितान्त आवश्यक है। शक्ति को परिभाषित करते हुए एक अन्य स्थल पर

1 *George F. Kennan* : American Diplomacy (1900-50)

2 "*International Politics, like all politics, is a struggle for power, whatever* the ultimate aims of international politics, power is always the immediate aim" —*Hans J. Morgenthau* : Politics Among Nations, p. 2

मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि 'यह अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्कों और कार्यों पर मनुष्य का नियन्त्रण' (Man's control over the minds and actions of other men) है।

मॉर्गेन्थो के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक विचारकों ने शक्तिवादी दृष्टिकोण पर बल दिया है। उदाहरणार्थ, 19वीं शताब्दी में ट्रीट्श्के (Treitschke) और नीत्शे (Nietzsche) ने शक्ति के विचार और शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा की भारी वकालत की। प्रथम महायुद्ध से पूर्व एरिख कॉफमैन (Erich Kaufmann) ने एक पुस्तक लिखी जिसमें बताया कि शक्ति के विकास, सवर्द्धन और प्रदर्शन (Machtentfaltung) में ही राज्य का सार है। कॉफमैन ने एक विश्व-राज्य की अवधारणा को इस आधार पर ठुकरा दिया कि ऐसी अवधारणा में शक्ति के विकास-सवर्द्धन-प्रदर्शन की आवश्यकता का अभाव पाया जाएगा जबकि यह बात एक राज्य का आवश्यक तत्त्व है। फ्रैड्रिक वाल्किस, हैरॉल्ड लासवेल, डेविड ईस्टन आदि ने भी राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं पर जोर दिया है, इन सभी का 'शक्ति-राजनीति' (Power Politics) पर आग्रह है। डेविड ईस्टन ने राजनीति-विज्ञान को 'मूल्यों के सत्तात्मक आवटन का अध्ययन' माना है क्योंकि "यह शक्ति के प्रयोग और वितरण से प्रभावित होता है।"[1] मॉर्गेन्थो के समान ही ई एच कार, क्विसी राइट, जॉर्ज श्वार्जन बर्गर, मार्टिन वाइट आदि आधुनिक विचारक भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राजनीति-विज्ञान की 'शक्ति' सम्बन्धी अवधारणा के विस्तार के समर्थक हैं। पर इन सभी में मॉर्गेन्थो ही एक विद्वान् है जिसने 'शक्ति' के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों अथवा राजनीति पर सबसे अधिक व्यवस्थित काम किया है। अन्य विद्वानों ने मॉर्गेन्थो द्वारा स्थापित परम्परा को ही आगे बढ़ाया है अथवा मॉर्गेन्थो द्वारा प्रतिपादित विचारों में अपनी व्याख्याएँ जोड़ी हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यथार्थवाद को समझने के लिए मॉर्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धान्त[2] को समझना परमावश्यक है।

मॉर्गेन्थो के दार्शनिक आधार
(Philosophical Basis of Morgenthau)

मॉर्गेन्थो ने अपना विख्यात यथार्थवादी सिद्धान्त अपने ग्रन्थ 'राष्ट्रों के मध्य राजनीति' (Politics Among Nations) में प्रकट किया है। उनकी मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किसी भी सिद्धान्त की परीक्षा की कसौटी अमूर्त न होकर अनुभववादी और व्यावहारिक (Empirical and Pragmatic) होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, सिद्धान्त का निर्णय किसी पूर्व-निश्चित अमूर्त विचार

1 *David Easton* : The Political System, p. 146.

2 *Hans J. Morgenthau* : Ibid, pp. 3–14.

अथवा वास्तविकता से असम्बद्ध धारणा से नहीं किया जाना चाहिए वरन् उसके उद्देश्य से (By Its Purpose) किया जाना चाहिए। मॉर्गेन्थो के अनुसार उनके द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त समस्त राजनीति की प्रकृति (The Nature of all Politics) से सम्बन्धित है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास उन दो प्रणालियों अथवा विचारधाराओं के बीच संघर्ष की कहानी है जो मनुष्य, समाज और राजनीति की प्रकृति से सम्बन्धित अपनी अवधारणाओं में एक दूसरे से मौलिक रूप में भिन्न है। यहाँ मॉर्गेन्थो का संकेत आदर्शवादी तथा यथार्थवादी अवधारणाओं से है। आदर्शवादी सिद्धान्त पूर्वकल्पित अमूर्त सिद्धान्तों और मान्यताओं पर आधारित होता है जिसका वास्तविक जगत् की घटनाओं से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए इसे उपयुक्त नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के कोरे आदर्शों से काम नहीं चलता कि चूँकि मानव-प्रकृति विवेकशील है और उसमें सहिष्णुता तथा आदर्श के प्रचुर तत्त्व विद्यमान है, अतः मानव के व्यवहार में जो भी त्रुटियाँ दिखाई देती हैं उन्हें उचित संस्थाओं की स्थापना और शिक्षा के प्रसार से दूर किया जा सकता है अथवा यदि बहुत ही अनिवार्य हो जाए तो यदाकदा शक्ति के प्रयोग द्वारा मनुष्य को सही मार्ग पर लाया जा सकता है। इस प्रकार का विश्वास कोरी कल्पना है कि सर्वमान्य अमूर्त सिद्धान्तों से उद्भूत विवेकपूर्ण और नैतिक राजनीतिक व्यवस्था यहीं और अभी (Here and Now) प्राप्त की जा सकती है।

मॉर्गेन्थो ने वास्तविकता अर्थात् यथार्थ का समर्थन किया है। उनकी मान्यता है कि यह विश्व विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से जिस रूप में अपूर्ण है उस रूप में वह मानव-प्रकृति में अन्तर्निहित सहज शक्तियों (Forces) का परिणाम है और ऐसे विश्व को सुधारने के लिए इन शक्तियों के साथ सहयोग करके चलने से ही लाभ है, इनके विरुद्ध चलने या इनकी अवहेलना करने से नहीं। चूँकि यह संसार परस्पर विरोधी हितों और उनके बीच टकराव का प्रकट स्वरूप है, अतः इसमें नैतिक सिद्धान्तों का पूरी तरह अनुसरण नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि इन परस्पर विरोधी हितों के मध्य अस्थायी रूप से सन्तुलन स्थापित कर तथा संघर्षों को यथासम्भव कम कर नैतिक सिद्धान्तों का यथासाध्य पालन करने का प्रयत्न किया जाए। वास्तविकता यह है कि विश्व एक बहुल समाज है जिसमें नियन्त्रण तथा सन्तुलन से ही व्यवस्था कायम रह सकती है। चूँकि सर्वोत्तम को प्राप्त करना असम्भव है, अतः जहाँ तक हो सके बुराई को कम करना ही उचित है। यथार्थवादी सिद्धान्त का यही दार्शनिक आधार है।

राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धान्त
(Six Principles of Political Realism)

राजनीतिक यथार्थवाद को समझने और उस पर अमल करने के लिए मॉर्गेन्थो ने छः नियम प्रतिपादित किए हैं जो इस प्रकार हैं—

पहला सिद्धान्त—राजनीतिक यथार्थवाद का विश्वास है कि सामान्यतः

समाज की भाँति राजनीति भी उन यथार्थवादी अथवा वस्तुपरक नियमों (Objective Laws) से अनुशासित होती है जो मानव-प्रकृति में निहित हैं। समाज को सुधारने के लिए आवश्यक है कि पहले उन नियमों को समझ लिया जाए जो समाज के जीवनाधार हैं। इन नियमों की प्रक्रिया पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, अतः यदि इन्हें चुनौती दी गई तो इसमें हमारी ही हानि तथा असफलता की सम्भावना अधिक है। यथार्थवाद राजनीति के प्रत्यक्ष स्वरूप को महत्व देता है, अतः इसका विश्वास है कि एक ऐसे विवेकपूर्ण सिद्धान्त (A Rational Theory) का विकास किया जा सकता है जो इन वस्तुपरक नियमों को प्रतिबिम्बित करे और जिसके द्वारा हमारे लिए यह जानना सम्भव हो जाए कि राजनीति के प्रकट स्वरूप में सच्चाई का कितना पुट है और व्यक्ति के काल्पनिक सिद्धान्तों ने राजनीति को यथार्थ से कहाँ तक दूर कर दिया है।

मॉर्गेन्थो का मत है कि मानव-प्रकृति, जिसमें राजनीति के नियम सन्निहित हैं, प्राचीन काल से अभी तक मूल रूप में बदली नहीं है, अतः इतिहास द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों के सन्दर्भ में वर्तमान राजनीतिक घटनाओं का मूल्यांकन करना विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से सर्वथा सम्भव है। उन विकल्पों का, जो अतीत के इतिहास में उत्पन्न तत्कालीन समस्याओं के समाधान में कारगर सिद्ध हुए थे, आज भी उतना ही महत्त्व है। इतिहास में शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बड़ा उपयोगी आधार रहा है और आज भी उसका महत्त्व है। शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को केवल यह कह कर नहीं ठुकराया जा सकता कि वह अब पुराना पड़ गया है। उचित यही है कि हम प्रत्येक सिद्धान्त को सदैव विवेक और अनुभव की कसौटी पर परखें और उसका बहिष्कार तभी करें जब वह कसौटी पर खरा न उतरे। यथार्थवाद यह मानकर चलता है कि तथ्यों का मूल्यांकन करने और विवेक द्वारा अर्थ प्रदान करने में ही एक सिद्धान्त का समुचित अस्तित्व है। यथार्थवादी सिद्धान्त की धारणा है कि विदेश-नीति के स्वरूप को हम तभी समझ सकते हैं जब किए गए राजनीतिक कार्यों और इन कार्यों के सम्भावित परिणामों का मूल्यांकन कर लिया जाए। तभी हम यह जान सकते हैं कि राजनीतिज्ञों ने वास्तव में क्या किया है और उनके कार्यों के सम्भावित परिणामों से यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि उनके उद्देश्य क्या थे।

लेकिन केवल तथ्यों के संकलन से ही विदेश-नीति का मूल्यांकन पूरा नहीं हो जाता। विदेश-नीति की तथ्य सम्बन्धी सामग्री को अर्थ प्रदान करने के लिए हमें राजनीतिक यथार्थता की एक प्रकार की तार्किक दृष्टि से जांचना होगा—इस प्रकार देखना होगा जो हमें विदेश-नीति का सम्भावित अर्थ ज्ञात हो सके। दूसरे शब्दों में, हमें स्वयं को उस राजनीतिज्ञ के स्थान पर रखना होगा जिसे अवस्था-विशेष में विदेश-नीति की समस्या-विशेष का सामना करना है और हमें स्वयं से पूछना होगा कि वे बौद्धिक अथवा विवेकपूर्ण विकल्प क्या हैं जिनमें से वह राजनीतिज्ञ, जिसे समस्या का उन्हीं अवस्थाओं में सामना करना है, चुनाव (यह अनुमान लगाते हुए

कि उस राजनीतिज्ञ का व्यवहार विवेकपूर्ण ही होगा) करना चाहेगा। इस विवेकपूर्ण कल्पना को वास्तविक तथ्यो की कसौटी पर कसने से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्य समुचित रूप से अर्थपूर्ण हो सकेंगे और राजनीति के एक सिद्धान्त का निर्माण हो सकेगा।

दूसरा सिद्धान्त—राजनीतिक यथार्थवाद की दूसरी प्रमुख मान्यता है 'शक्ति के रूप मे परिभाषित हित की अवधारणा' (Concept of Interest Defined in Terms of Power) अर्थात् राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए शक्ति का प्रयोग। मॉर्गेन्थो के अनुसार यह एक ऐसा विचार है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथ्यो और उन्हे समझने वाले विवेक के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। हित का केन्द्र-बिन्दु सुरक्षा है और सुरक्षा के लिए शक्ति अर्जित की जाती है। दूसरे शब्दो मे हित की कल्पना शक्तिविहीन सन्दर्भ मे नही की जा सकती। राजनीति का मुख्य आधार हित और उनकी सुरक्षा है और इसीलिए हम राजनीति को भी शक्ति से अलग रख कर नही समझ सकते। तात्पर्य यह है कि शक्ति राजनीति का केन्द्र-बिन्दु है और इस आधार पर हम किसी भी आन्तरिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय मानकर उसका अध्ययन कर सकते हैं। मॉर्गेन्थो की मान्यता है कि विदेश-नीति-निर्माता राजनीतिज्ञ शक्ति को, जो राजनीति की केन्द्र-बिन्दु है, आधार मानकर ही नीतियो की रचना करते हैं और इतिहास भी इसी बात की पुष्टि करता है।

इतिहास के उदाहरणों को देखने पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ 'शक्ति के रूप मे परिभाषित हित' की दिशा मे ही सोचता और कार्य करता है। इस आधार पर हम यह मान सकते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र मे राजनीतिज्ञो द्वारा जो कुछ कदम उठाए गए हैं, उठाए जा रहे हैं या उठाए जाएँगे वे 'हित अथवा स्वार्थ' (Interest) साधन की दिशा मे ही होगे। राजनीतिज्ञ जो भी बोलता, सोचता अथवा लिखता है, उसे समझने के लिए हमे यह ध्यान रखना होगा कि यह सब करते समय उसका उद्देश्य अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना है और इसी ढग से हम उसकी क्रियाओ का मूल्यांकन कर सकेंगे। 'शक्ति के रूप मे परिभाषित हित' के आधार पर ही हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को सैद्धान्तिक रूप प्रदान कर सकते हैं। यही एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर राष्ट्रो की विदेश-नीतियो मे निरन्तरता का आभास मिलता है चाहे इनका निर्माण करने वाले समय-समय पर बदलते रहे हो और उनके बौद्धिक स्तर, उद्देश्य, नैतिक गुण आदि भिन्न-भिन्न रहे हो। इस दृष्टि से यथार्थवादी सिद्धान्त को अपने आपको दो भ्रान्तियो से बचाए रखना चाहिए—एक, मंतव्यो से सम्बन्धित भ्रान्ति से (The Concern with Motives) तथा दूसरी, वैचारिक वरीयताओ से सम्बन्धित भ्रान्ति से (The Concern with Ideological Preferences)।

यदि हम राजनीतिज्ञो के मतव्यो (Motives) को देखकर ही किसी देश की विदेश-नीति को समझने का प्रयास करेंगे तो असफल रहेंगे और धोखा खाएँगे।

मंतव्य अथवा प्रयोजन (Motives) एक ऐसी मनोवैज्ञानिक चीज है जिसका रूप कर्त्ता और दर्शक (Actor and Observer) दोनों के हितों और भावनाओं से प्रभावित होता रहता है। हम स्वय अपने ही प्रयोजन को समझने मे भूल कर जाते हैं तो फिर दूसरे की तो बात ही क्या है।

मॉर्गेन्थो का मत है कि राजनीतिज्ञो के वास्तविक प्रयोजनों (Real Motives) के आधार पर ही हम यह निर्णय नही ले सकते कि उनकी विदेश-नीतियाँ नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय तथा राजनीतिक दृष्टि से सफल रहेंगी। इतिहास प्रयोजनों के गुण और विदेश-नीति के गुण मे कोई सही तथा आवश्यक सहसम्बन्ध (Exact and Necessary Correlation) स्थापित नही करता। विश्व-शान्ति और भ्रातृत्व की भावना का उद्देश्य लेकर चलने वाली नेहरूवादी विदेश-नीति को अयथार्थवादी कहकर आलोचना का विषय बनाया जाता है। चैम्बरलेन की तुष्टिकरण की विदेश-नीति का उद्देश्य था ससार मे शान्ति स्थापित रखना, किन्तु आज का विद्यार्थी जब द्वितीय महायुद्धो के कारणो का अध्ययन करता है तो यह नीति आलोचना का पात्र बनती है। दूसरी ओर विन्सटन चर्चिल की विदेश-नीति का प्रयोजन मानव-कल्याण की अपेक्षा सकीर्ण स्वार्थ था, लेकिन उसके परिणाम चैम्बरलेन की शान्तिवादी नीति के परिणामो की अपेक्षा अधिक नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से अधिक उच्चस्तर के समझे गए। अभिप्राय यह है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण किसी कार्य का नैतिक तथा राजनीतिक स्तर उसके प्रयोजनों मे नही बल्कि उसके परिणामों मे देखा जाता है। एक उचित राजनीतिक सिद्धान्त वह है जो राजनीतिज्ञ के प्रयोजनो या अभिप्रायों की अपेक्षा उसके विवेक, संकल्प और उसकी क्रियाशीलता के राजनीतिक स्तर पर निश्चित हो। यथार्थवादी सिद्धान्त विदेश-नीति के मूल्यांकन का एक ऐसा आधार प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा अविवेकपूर्ण प्रभावो का सही अनुमान लगाया जा सकता है।

मॉर्गेन्थो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त अपने आपको इस प्रचलित भ्रान्ति से दूर रखता है कि हम एक राजनीतिज्ञ की विदेश-नीति और उसकी दार्शनिक तथा राजनीतिक सहानुभूति को एक ही मानलें। विदेश-नीति को यथार्थ रूप से समझने के लिए यह देखना आवश्यक नहीं है कि एक राजनीतिज्ञ की दार्शनिक एवं राजनीतिक सद्भावनाएँ किसके साथ हैं। आज के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे यह एक सामान्य परम्परा-सी बन गई है कि प्रत्येक देश अपनी विदेश-नीति को सैद्धान्तिक आवरण पहना कर आकर्षक बना देता है ताकि युवा-जनमत उसकी ओर खिचता चला जाए। साम्यवादी चीन यथार्थ रूप में विस्तारवादी और सैन्यवादी नीति पर आचरण कर रहा है, किन्तु वैदेशिक क्षेत्र में अपने आपको पचशील का समर्थक, सहअस्तित्व का पालक और पूंजीवादी शोषण को मिटाने वाला घोषित करता है और एशिया तथा अफ्रीका के कुछ देश उसके मायावी रूप की ओर आकर्षित भी हो गए हैं।

राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तों का विरोधी

नही है । वह स्वीकार करता है कि इन बातो का भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे कुछ न कुछ महत्त्व है । लेकिन यह समझ लेना निनान्त आवश्यक है कि एक देश जो करना चाहता है और जो कर रहा है—इन दोनो के बीच बहुधा भारी अन्तर रहता है अर्थात् 'कथनी' और 'करनी' मे बडा फर्क पाया जाता है । हर जगह और हर समय जो कार्य हमे करने चाहिए (Desirable) तथा एक स्थान-विशेष और समय-विशेष मे क्या किया जा सकता है (Possible)—इन दोनों बातो मे भारी अन्तर रहता है जिसकी अवहेलना यथार्थवादी सिद्धान्त नही कर सकता । यथार्थवादी विदेश-नीति एक आदर्श है जिसको यथासम्भव प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । यह तभी सम्भव है जब वास्तविक विदेश-नीति को आदर्श के परिप्रेक्ष्य मे देखा जाए और वास्तविकता मे से अयथार्थवादी तत्त्वो को निकालने का प्रयत्न किया जाए ।

मॉर्गेन्थो के अनुसार राजनीतिक यथार्थवाद केवल एक सैद्धान्तिक विचार ही नही है अपितु एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी है । इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि नीतियो मे यथासम्भव विवेकपूर्ण तत्त्वो का समावेश हो और जहाँ तक हो सके अविवेकपूर्ण भ्रान्तियो और भटकावो से बचा जाए । विवेकपूर्ण विदेश-नीति ही श्रेष्ठ विदेश-नीति होती है क्योकि वह हानि की सम्भावनाओ को कम करती है तथा लाभ की सम्भावनाओं को बढाती है । राजनीतिक यथार्थवाद एक विवेकपूर्ण नीति की सैद्धान्तिक रचना प्रस्तुत करता है जिसे कोरा अनुभव कभी पूर्णतया प्राप्त नही कर सकता । यथार्थवादी विदेश-नीति का आधार नैतिक भी होता है और साथ ही इसमे सफलता के लिए राजनीतिक आवश्यकताओ का समावेश भी होता है ।

तीसरा सिद्धान्त—यथार्थवादी राजनीति के तीसरे नियम के अनुसार शक्ति नाम से परिभाषित हित का कोई ऐसा अर्थ नही है जो सदैव के लिए अपरिवर्तनीय हो । हित का विचार वस्तुत. राजनीति का एक गूढ तत्त्व है जिस पर परिस्थितियो, स्थान और समय का कोई प्रभाव नही पडता । फिर भी इतिहास के किसी भी युग मे राजनीतिक कार्यों का स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियो से अवश्य ही किसी न किसी रूप मे प्रभावित होता है । इस प्रकार मॉर्गेन्थो के अनुसार हित दो प्रकार के होते हैं—अपरिवर्तनीय और परिवर्तनीय । राजनीति का गूढ तत्त्व सुरक्षा मे निहित है जिसके बिना न तो किसी व्यक्ति का कोई अस्तित्व रह सकता है और न किसी राष्ट्र का । सुरक्षा किसी भी राष्ट्र का न्यूनतम कार्य है । यह सुरक्षा ही वह अपरिवर्तनीय हित है जो कभी नही बदलता । किन्तु इस हित को चरितार्थ करने के साधनो और उससे सम्बन्धित हितो पर राजनीतिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव पडता है तथा उनका स्वरूप परिस्थितियो के अनुकूल बदलता है । सुरक्षा हेतु अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए ही राष्ट्र शक्ति का प्रयोग करते हैं, किन्तु समय और परिस्थिति के अनुसार इस प्रभुत्व का स्वरूप विभिन्न प्रकार का हो सकता है । यथार्थवाद इस तथ्य से इंकार नही करता कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति मे परिवर्तन आते हैं । वास्तव मे परिवर्तन तथा यथार्थवादी सिद्धान्त मे कोई विरोधाभास नही है । राजनीतिक यथार्थवाद केवल इस बात पर जोर देता है कि परिवर्तन लाने

के लिए यह आवश्यक नही है कि हम राजनीति के गूढ तत्त्व को ही तिलांजलि दे दें। परिवर्तन राजनीतिक यथार्थ के ऊपर अमूर्त आदर्शों को वरीयता देकर नहीं लाया जा सकता। परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि सदा-जीवित शक्तियों (Perennial Forces) को चतुराई से सन्तुलित किया जाता रहे।

चौथा सिद्धान्त—राजनीतिक यथार्थवाद स्वीकार करता है कि राजनीतिक कार्यों का नैतिक महत्त्व भी है। वह इस बात से भी इंकार नहीं करता कि नैतिक आह्वान तथा राजनीतिक कार्यों के बीच तनाव की स्थिति बनी रहती है। पर साथ ही उसका विश्वास है कि सम्पूर्ण नैतिक सिद्धान्त अपने निगूढ स्पष्टीकरण मे अथवा अमूर्त एव सार्वभौमिक रूप में राज्य के कार्यों पर लागू नही किए जा सकते। उन्हें समय और स्थान की ठोस परिस्थितियों की कसौटी पर कसा जाना चाहिए और परिस्थितियों के अनुकूल उनका चयन करना चाहिए। यथार्थवाद का आग्रह है कि राष्ट्रों को नैतिक सिद्धान्तो का पालन विवेक और सम्भावित परिणामों के आधार पर ही करना चाहिए। बिना विवेक के राजनीतिक नैतिकता कोई अर्थ नही रखती। एक व्यक्ति नैतिक सिद्धान्तो पर सब कुछ न्यौछावर कर सकता है, लेकिन राज्य पर यह बात लागू नही होती। व्यक्ति कह सकता है कि "न्याय की विजय हो चाहे उसके पीछे दुनिया नष्ट हो जाए" किन्तु एक राज्य जिसमें नागरिक रहते हैं और जिनके समक्ष राष्ट्रीय अस्तित्व (Nat onal Survival) का नैतिक कर्तव्य उपस्थित है, ऐसा नही कह सकता। कोई भी राष्ट्र नैतिकता की दुहाई के आधार पर अपनी सुरक्षा को खतरे में नही डाल सकता।

पाँचवाँ सिद्धान्त—राजनीतिक यथार्थवाद किसी राष्ट्र के नैतिक मूल्यों को सार्वभौम नैतिक मूल्यों से पृथक् मानता है। किसी सार्वभौम नैतिक कानून का पालन *एक देश-विशेष के लिए आवश्यक रूप से लाभदायक ही हो, यह सत्य नहीं है। सम्भव* है कि वह उसके लिए भयकर परिणाम पैदा कर दे। नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने देश के हितो को बलिदान कर देने वाला व्यक्ति राजनीतिक दृष्टि से बुद्धिमान नही माना जा सकता। दूसरी ओर राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिकता को तिलाञ्जलि देना भी इतिहासकारो की निगाह में प्रशंसनीय नही है। ये दोनों ही अतियाँ (Extremes) हैं और इनसे बचने का उपयुक्त मार्ग यही है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित (शक्ति के रूप मे परिभाषित) की दिशा मे अग्रसर हो।

मॉर्गेन्थो ने यथार्थवाद के अपने पाँचवें सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिज्ञो और अध्येताओं को चेतावनी दी है कि वे राष्ट्रो द्वारा दी जाने वाली नैतिकता की दुहाई से प्रभावित न हो। प्रत्येक राष्ट्र अपने कार्यों के समर्थन में नैतिकता की दुहाई अवश्य देता है, लेकिन वास्तव मे वह केवल एक अभीष्ट की सिद्धि के लिए कार्य करता है और यह अभीष्ट है अपने हित की सुरक्षा। इतिहास सिद्ध करता है कि नैतिकता की दुहाई देते हुए *धर्म के नाम पर* कई राज्यो ने दूसरे राज्यों को *नष्ट कर दिया।* मध्यकालीन युग इस बात का प्रतीक है। दूसरे राष्ट्र की सहायता करने अथवा दूसरे

के विकास मे मदद देने मे भी एक राष्ट्र अपने हितो की रक्षा करता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका यदि दूसरे राष्ट्रो को आर्थिक और नैतिक सहायता देता है तो ऐसा करने से वह अपने हितों की पूर्ति करता है अर्थात् साम्यवाद के प्रवाह को रोकता है। सन् 1975 के आरम्भ मे अमेरिका ने पाकिस्तान को पुन. हथियार देने का निर्णय किया, क्योंकि उसके राष्ट्रीय हित की माँग है कि वह पाकिस्तान मे सैनिक-सुविधाएँ प्राप्त करे या अरब राष्ट्रो से तेल के प्रश्न पर सहानुभूति प्राप्त करे। भारत द्वारा नेपाल को आर्थिक सहायता देने का उद्देश्य बहुत कुछ यही है कि यह पड़ौसी राष्ट्र सुदृढ बन कर चीनी साम्यवाद के मार्ग मे अवरोधक शक्ति बन जाए।

मॉर्गेन्थो का कथन है कि यदि प्रत्येक राष्ट्र एक ही अभीष्ट सिद्धि (हित की सुरक्षा) के लिए उत्सुक है और यही उसके व्यवहार का मुख्य कारण है तो यह भी सम्भव है कि सभी राष्ट्र इस आधार पर सन्तुलित सम्बन्ध कायम कर लें और यदि ऐसा हो जाता है तो यह विश्व-शान्ति का एक प्रबल आधार बन जाएगा। राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक सूझ-बूझ के आधार पर सन्तुलन स्थापित कर लेना आज के युग की सबसे बड़ी नैतिकता होगी और यही वाँछनीय भी है।

छठा सिद्धान्त—मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि उपर्युक्त सभी सिद्धान्तो के आधार पर यह स्पष्ट है कि राजनीतिक यथार्थवाद तथा अन्य दृष्टिकोणो मे वास्तविक और गम्भीर अन्तर है। राजनीतिक यथार्थवाद के सिद्धान्त को चाहे कितना ही गलत समझा गया हो और उसे तोड-मरोड कर प्रस्तुत किया गया हो, लेकिन सच्चाई यह है कि राजनीतिक मामलों के प्रति इसके स्पष्ट बौद्धिक और नैतिक दृष्टिकोण का हम विरोध नही कर सकते।

यथार्थवाद के अपने इस छठे सिद्धान्त मे मॉर्गेन्थो ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय मानने की बात कही है। बौद्धिक रूप से राजनीतिक क्षेत्र उसी प्रकार से एक स्वतन्त्र क्षेत्र है जिस प्रकार अर्थशास्त्र अथवा समाजशास्त्र हैं। राजनीतिक यथार्थवाद मानव-प्रकृति के बहुत स्वरूप पर आधारित है। एक यथार्थवादी व्यक्ति आर्थिक मानव, राजनीतिक मानव, नैतिक मानव, धार्मिक मानव आदि का सम्मिलित स्वरूप है। किन्तु यदि हम इनमे से किसी एक स्वरूप का गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उसको अन्य स्वरूपो से अलग रखकर ही ऐसा कर सकते हैं। तभी यह अध्ययन सुव्यवस्थित ढग से होगा। राजनीतिक अध्ययन मे मानव-प्रकृति के अन्य स्वरूपो का स्थान अति गौण है और यही कारण है कि राजनीतिक यथार्थवाद मे राजनीति की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल दिया जाता है। राजनीति के भी विभिन्न स्वरूप होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उनमे से एक है। अत यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सुव्यवस्थित और गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उसे भी अन्य राजनीतिक प्रभावो जैसे आन्तरिक राजनीति आदि से यथासम्भव पृथक् रखना होगा। स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का भी अपना स्वतन्त्र स्वरूप है।

राजनीतिक यथार्थवाद मानव-प्रकृति के बहुलवादी दृष्टिकोण पर किस तरह आधारित है और एक राजनीतिक यथार्थवादी किस प्रकार यह देखता है कि अमुक नीति राष्ट्रीय शक्ति के हित में है अथवा नहीं—इसे मॉर्गेन्थो ने कतिपय उदाहरणों से प्रकट किया है।

(क) सन् 1939 में सोवियत संघ ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया। इस कार्य ने फ्रांस और इंगलैण्ड के सामने दो विवादपूर्ण विषय उपस्थित कर दिए—एक कानूनी और दूसरा राजनीतिक। क्या इस कार्य ने राष्ट्रसंघ के नियम को भंग किया है? यदि किया है तो फ्रांस तथा ब्रिटेन को कौनसे प्रतिरोधी उपाय अपनाने चाहिए थे? कानूनी रूप से कहा जा सकता था कि रूस ने जो कुछ किया वह राष्ट्रसंघ के नियमों के विरुद्ध था। राजनीतिक प्रश्न का उत्तर तीन बातों पर निर्भर था—फ्रांस और ब्रिटेन के हितों पर प्रभाव, फ्रांस और ब्रिटेन के बीच विद्यमान शक्ति-विभाजन तथा दूसरी ओर सोवियत रूस और अन्य प्रबल शत्रु-राष्ट्रों (विशेषकर जर्मनी) के मध्य शक्ति-वितरण एवं इनका फ्रांस तथा ब्रिटेन के हितों और भावी शक्ति-विभाजन आदि पर प्रभाव। मॉर्गेन्थो का कहना है कि राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्य होने के नाते फ्रांस और ब्रिटेन ने रूस को संघ से निकलवा दिया और उनकी फिनलैण्ड को जाने वाली टुकड़ियों को स्वीडिश भू-भाग से मार्ग देने की स्वीडिश अस्वीकृति ने ही उन्हें रूस के विरुद्ध युद्ध में फिनलैण्ड का साथ देने से रोका। यदि स्वीडन की अस्वीकृति ने उन्हें बचाया न होता तो थोड़े ही समय में फ्रांस और ब्रिटेन को रूस और जर्मनी से एकसाथ युद्ध करना पड़ता। मॉर्गेन्थो के अनुसार फ्रांस और ब्रिटेन ने जो नीति अपनाई वह वैधानिकतावाद (Legalism) का एक सुन्दर उदाहरण थी। इन राष्ट्रों ने एक कानूनी प्रश्न को, जो अपने क्षेत्र में तर्क-सम्मत था, अपने राजनीतिक कार्यों द्वारा हल होने दिया। कानून और शक्ति दोनों ही प्रश्नों पर शंका-समाधान करने के स्थान पर उन्होंने केवल कानून का प्रश्न ही पूछा और जो उत्तर उन्हें मिला वह उस विषय से तनिक भी सम्बन्धित नहीं था जिस पर उनका अस्तित्व निर्भर हो सकता था।

(ख) दूसरा उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'नैतिक-दृष्टिकोण' को स्पष्ट करता है। चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना ने पश्चिमी देशों को दो बातें सोचने के लिए विवश कर दिया—प्रथम, नैतिक और दूसरी, राजनीतिक। नैतिक दृष्टि से साम्यवादी सरकार को मान्यता दी जानी चाहिए थी, लेकिन ऐसा न किया जाकर राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रभावित होकर श्वेत चीन को वास्तविक चीन माना गया और संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्यता प्रदान की गई। यह नीति अमेरिका के राष्ट्रीय हितों के अनुकूल थी। राजनीतिक प्रश्न से सम्बद्ध हितों ने इस निष्कर्ष पर पहुँचने में मदद दी कि चीन की साम्यवादी सरकार से बिलकुल व्यवहार न रखना ही तत्कालीन परिस्थितियों में अधिक विवेकपूर्ण था। पर चतुराई इस बात में थी कि राजनीतिक प्रश्न का नैतिक विषय के रूप में उत्तर प्रस्तुत किया गया अर्थात् इस बात पर विचार किया गया कि क्या साम्यवादी चीन की सरकार का स्वभाव और

नीतियाँ विश्व-शान्ति के नैतिक-आदर्शों (पाश्चात्य दृष्टिकोण से) के अनुरूप थी। नैतिकता के जामे की आड में साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने योग्य नही पाया गया। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति 'नैतिकतापूर्ण *दृष्टिकोण' का यह एक बौद्धिक खेल था।*

मॉर्गेन्थो महोदय ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त के जो उपरोक्त 6 नियम प्रतिपादित किए हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि राजनीति का अध्ययन दो आधारों पर अपेक्षित है—(1) राजनीति जैसी कि वह वास्तव में है, (2) राजनीति जैसा कि उसे यथार्थवादी दृष्टिकोण से होना चाहिए। यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार ठोस तथ्य और इतिहास के अनुभव हैं, अत विश्लेषण की यह एक वैज्ञानिक पद्धति है। इसका पथ-प्रदर्शक विवेक है और इसलिए यह यथार्थ तथा अयथार्थ मे अन्तर करने मे समर्थ है। मॉर्गेन्थो के अनुसार यही यथार्थवादी राजनीति का मुख्य लक्षण है।

यथार्थवादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा
(Critical Evaluation of the Realist c Theory)

कोई भी सिद्धान्त सर्वथा पूर्ण और त्रुटिरहित होने का दावा नही कर सकता। *मॉर्गेन्थो ने सम्भावित आलोचनाओं के प्रति सजग रहते हुए यथार्थवादी राजनीति के* नियमो का विस्तृत विवरण दिया है और स्पष्टीकरण के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, तथापि उनके सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विद्वानो द्वारा *कटु आलोचना की गई है। रॉबर्ट टकर के अनुसार मार्गेन्थो के सिद्धान्त न तो* वास्तविकता से मेल खाते हैं और न अपने आप मे। स्टेनले एच हॉफमैन का कहना है कि इस सिद्धान्त मे असगतियो की भरमार है। हॉफमैन ने व्यवस्थित ढग से *मॉर्गेन्थो के सिद्धान्त और नियमो का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।*[1]

1. हॉफमैन मॉर्गेन्थो के शक्ति-सम्बन्धी विचारो से असहमत है। यदि हम शक्ति के यथार्थवादी विश्लेषण को एकदम सही मान लें तो यह विश्व एक ऐसा स्थिर *रगमंच प्रतीत होगा जिस पर चिरन्तन काल से केवल शक्ति-सम्बन्धो की पुनरावृत्ति* के अतिरिक्त और कुछ नही हो रहा है। शक्ति की इसी भूमिका के आधार पर मॉर्गेन्थो ने राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय माना है और बहुत-कुछ इसीलिए उनका *यथार्थवादी राजनीतिक विषय एकपक्षीय हो गया है।* फिर, मॉर्गेन्थो यह भी स्पष्ट नही कर सके हैं कि वे स्वायत्तता की बात किस आधार पर कर रहे हैं जबकि उनके यथार्थवाद का यह एक मुख्य तत्त्व है।

2. *हॉफमैन का कहना है कि राजनीति को शक्ति का पर्यायवाची बना देना* और शक्ति-संघर्ष को ही राजनीति का 'सब कुछ' मान लेना उचित नही है। राजनीतिक मानव में आर्थिक मानव, धार्मिक मानव आदि भी सम्मिलित हैं, अत:

1 *Stalnley H. Hoffman (ed.)* : Contemporary Theory in Internationa Relations, pp. 30-38.

उसके केवल एकपक्षीय स्वरूप पर ही बल देने और उसे ही सम्पूर्ण राजनीति मान लेने का दृष्टिकोण भ्रामक है। यह स्थिति तो कुछ इस प्रकार की ही है जिसमें 'राजनीतिक मानव' को मानवता से गिराकर 'हैवान' बना दिया जाए। यह मानव का एक ऐसा विकृत स्वरूप होगा जिसे न तो यथार्थ ही कहा जा सकता है और न सत्य ही। 'शक्ति के अद्वैतवाद' (*Power Monism*) को सम्पूर्ण राजनीति का द्योतक नहीं माना जा सकता और यह स्थिति तब और भी अधिक अशोभनीय हो जाती है जब हम मॉर्गेन्थो द्वारा परिभाषित शक्ति की व्याख्या को स्वीकार कर लेते हैं। शक्ति को बुराई के समकक्ष और राजनीति को सक्षम बना देना एक दोषपूर्ण और घातक विचार है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि राजनीति केवल बुराई है पर यह तो राजनीति का विकृत स्वरूप होगा, यथार्थ नहीं। राजनीति को केवल बुराई नहीं कहा जा सकता क्योंकि मानव-प्रकृति में निहित तत्त्व अच्छे और बुरे दोनों होते हैं और इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति राजनीति में भी होती है।

3 हॉफमैन के अनुसार यह स्वीकार करना भी अनुचित है कि सभी मानव-कार्यों के मूल में उसकी प्रकृति सन्निहित है। हम परिस्थितियों के प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकते। कई बार मनुष्य स्वभाववश नहीं बल्कि परिस्थितिवश बुराई कर बैठता है। इस प्रकार मॉर्गेन्थो का यथार्थवाद मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में भी एक दोषपूर्ण तथा बहुत कुछ एकांगी विचार पर आधारित है।

4 हॉफमैन की दृष्टि में मॉर्गेन्थो ने शक्ति पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने शक्ति को राजनीतिक कार्यों का 'साध्य' बना दिया है जबकि वास्तव में शक्ति राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने का 'साधन' मात्र है। शक्ति के स्वरूप, उसकी मात्रा आदि का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि उद्देश्य क्या है ? यदि मॉर्गेन्थो ने उद्देश्यों के अध्ययन पर समुचित बल दिया होता तो शक्ति को 'साध्य' बना देने की भूल न करते। यह एक खेदपूर्ण तथ्य है कि मॉर्गेन्थो ने उन सभी मान्यताओं की अवहेलना कर दी है जिनके आधार पर उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है। हम सभी इस बात से परिचित है कि आन्तरिक राजनीति इस दिशा में कम प्रभावशाली नहीं होती। इसी तरह सरकार के स्वरूप, नेतृत्व, शासकवर्ग की मान्यताओं आदि का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में विदेश-नीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है। मॉर्गेन्थो ने शक्ति के तत्त्व पर ही अत्यधिक बल दिया है और इस ज्वलन्त प्रश्न का कोई उत्तर प्रस्तुत नहीं किया है कि अमुक राष्ट्र अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अमुक साधन क्यों अपनाता है। यह उपेक्षा मॉर्गेन्थो के राजनीतिक यथार्थवाद का एक गम्भीर दोष है।

5. अध्ययन-पद्धति (Methodology) के दृष्टिकोणों से भी केवल शक्ति के विचार पर ही बल देना अनुचित है। 'शक्ति' स्वयं विभिन्न तत्त्वों का सम्मिलित स्वरूप है। उदाहरणार्थ, शक्ति-नीति की शर्त का स्वरूप शक्ति-नीति का आधार, वर्तमान शक्ति तथा सम्भावित शक्ति आदि वे विभिन्न तत्त्व है जिनका शक्ति के

प्रयोग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शक्ति की इन विभिन्नताओं की उपेक्षा करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र को भली प्रकार नही समझा जा सकता। मॉर्गेन्थो का राजनीतिक यथार्थवाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र के एक शक्ति-आवृत्त विकृत स्वरूप को ही प्रस्तुत करता है और बहुत-कुछ यही कारण है कि मॉर्गेन्थो ने 18वी तथा 19वी शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया है और इस तथ्य को भुला दिया है कि आधुनिक 20वी शताब्दी के ससार मे विभिन्नता और टकराव की जो स्थितियाँ मौजूद हैं वैसी पहले नही थी। राष्ट्रों की आन्तरिक राजनीतिक घटनाएँ भी उनकी विदेश-नीतियों पर गहरा प्रभाव डालती है। विभिन्न और परस्पर विरोधी राजनीतिक गुट तथा दबाव-समूह निरन्तर सक्रिय रहकर विदेश-नीति के निर्णयकर्त्ताओं को प्रभावित करते हैं। नीतियो को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ आज जितनी प्रबल हैं उतनी 18वी और 19वी शताब्दी मे नही थी। उस समय राष्ट्रीय सरकारें आज जैसे राजनीतिक प्रभावों और दबावों से बहुत-कुछ मुक्त थी।

6. यथार्थवादी सिद्धान्त मे अन्तर्निहित राष्ट्रहित सम्बन्धी विचार भी दोषपूर्ण है। मॉर्गेन्थो ने राष्ट्रहित की सामान्य परिभाषा देते हुए यह समझ लिया है कि इस सम्बन्ध मे विवाद जैसी कोई बात नही है। हॉफमैन का कहना है कि मॉर्गेन्थो की राष्ट्रहित की कल्पना उस युग के लिए तो ठीक हो सकती थी जिसमे समाज एकरूपता लिए हुए हो, लेकिन आधुनिक समाज ऐसे नही है। वे विरोधो और अन्तर्विरोधो से परिपूर्ण हैं। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् मे राष्ट्रहित पर कहीं भी मतैक्य नही पाया जाता। आज का युग महान् प्राविधिक और वैज्ञानिक विकास का है जिसमे आए दिन भारी राजनीतिक उथल-पुथल होती रहती है। भौगोलिक स्थितियो, प्राकृतिक साधनो तथा औद्योगिक क्षमताओं के बारे मे हमारी पूर्व-मान्यताओं मे आज काफी परिवर्तन आ गया है और प्राविधिक तथा वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ ये मान्यताएँ तेजी से बदलती जा रही है। इन परिवर्तित परिस्थितियो और मान्यताओं के प्रकाश मे इस प्रकार का विचार सर्वथा दोषपूर्ण है कि राष्ट्रहित के बारे मे कोई एक ही दृष्टिकोण अपनाया जाए।

7. यदि मॉर्गेन्थो के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह स्वीकार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केवल एक ही पहलू है और वह है—विभिन्न राष्ट्रो के हितों मे टक्कर। इस मान्यता को स्वीकार करने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हमे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के विचार को सदैव के लिए तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी।

8. मॉर्गेन्थो की यथार्थवादी राजनीति का एक मुख्य तत्त्व 'विवेक' है। मॉर्गेन्थो ने विदेश-नीति के विवेक-पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है जबकि हॉफमैन का मत है कि जटिलताओं से परिपूर्ण आज के क्रान्तिकारी युग मे कुछ राष्ट्र ऐसी विदेश-नीतियों का अनुसरण करते हैं जो सर्वथा अविवेकपूर्ण लगती हैं, तथापि वे उनके अपने हित मे होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का तानाबाना इतना पेचीदा और

दुर्बोध हो रहा है कि कितनी ही बार राष्ट्र अपनी विदेश-नीति के संचालन में बाध्य होकर विवेक-पक्ष को तिलाञ्जलि देकर ऐसे कदम तक उठा लेते हैं जो उनके लिए अहितकर होते हैं। उद्देश्यों के सम्बन्ध में भी मॉर्गेन्थो ने यथार्थ की बात की है लेकिन इस बात की क्या गारण्टी है कि यथार्थ 'विवेकपूर्ण' है।

9. मॉर्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार मानव-प्रकृति है, किन्तु मानव-प्रकृति सम्बन्धी धारणाएँ वैज्ञानिक न होकर बहुत कुछ अनुमान पर आधारित होती हैं। बैनो वासरमैन[1] (Benno Wasserman) के अनुसार तो वे नितान्त अप्रमाणीय सारभूत नियमों (Unverifiable Essentialist Laws) पर आधारित हैं। वास्तव में अनुमानों के आधार पर सिद्धान्त-रचना करना वैज्ञानिक पद्धति नहीं कही जा सकती।

10. राजनीतिक यथार्थवाद में नैतिकता का तत्त्व भी आलोचना का पात्र है। मॉर्गेन्थो के अनुसार राष्ट्रहितों की पारस्परिक मान्यता के आधार पर विश्व के राष्ट्र सन्तुलित सम्बन्ध कायम कर सकते हैं और यही सर्वोच्च नैतिकता है, किन्तु इस प्रकार की मान्यता उसी सन्दर्भ में उचित हो सकती है जिसमें राष्ट्रहित विवादग्रस्त विषय न हों, पर आज के संघर्षरत जटिल युग में राष्ट्रहितों की सर्वमान्यता की बात करना वास्तविकता से मुख मोड़ना है। पुनश्च राष्ट्रहित क्या है, यथार्थवादी सिद्धान्त इसकी कोई स्पष्ट और निश्चित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। राष्ट्रहित समय, परिस्थिति तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण आदि के कारण सदैव एकसा नहीं रहता और यथार्थवादी सिद्धान्त भी राष्ट्रीय हितों को कोई निश्चित अर्थ प्रदान नहीं करता, तो फिर इस सिद्धान्त को राज्यों के आचरण के विश्लेषण का सर्वोत्तम सिद्धान्त भी नहीं माना जा सकता।

11. रॉबर्ट टकर[2] और कैनेथ वाल्ट्ज[3] जैसे विद्वानों ने तो मॉर्गेन्थो के सिद्धान्त को यथार्थवादी ही नहीं माना है। उनका आरोप है कि मॉर्गेन्थो ने स्थान-स्थान पर वस्तुस्थिति का उल्लेख करने के साथ-साथ 'चाहिए' (Ought) जैसे आदर्शमूलक शब्द का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार मॉर्गेन्थो के विचार विशुद्ध यथार्थवाद से दूर जाते दिखाई देते हैं और उन्हें मानव-प्रकृति एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रामाणिक तथा यथार्थवादी आधार नहीं माना जा सकता। मॉर्गेन्थो के विचारों में असंगतियाँ भी हैं। एक ओर तो उसने यथार्थवादी तथा आदर्शवादी तत्त्वों के बीच समन्वय का प्रयास किया है, दूसरी ओर नियतिवाद (Determinism) तथा पुरुषार्थवाद जैसे विरोधी विचारों में तालमेल बैठाने का प्रयत्न किया है। विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि मॉर्गेन्थो का सिद्धान्त यथार्थवादी होने के साथ-साथ आदर्शवादी और मूल्य-परक (Value-Oriented) भी है। इसी प्रकार हम

1 *Benno Wasserman* : "The Scientific Pretensions of Professor Morgenthau's Theory of Power Politics," Australian Outlook (March 1959), p. 67.
2 *Robert W. Tucker* : Professor Morgenthau's Theory of Political Realism, American Political Science Review (March 1952), p. 214–24.
3 *Kenneth N. Woltz*: "Review Dilemmas of Politics"; American Political Science Review (June 1959), pp. 529-32.

देखते हैं कि राजनय द्वारा शक्ति-स्थापना के प्रसंग मे मॉर्गेन्थो ने योग्य राजनीतिज्ञों की आवश्यकता पर बल दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नही किया है कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति 'शक्ति-संघर्ष' पर आधारित है और संघर्षों का समाधान राजनय द्वारा ही सम्भव है, तो इस प्रकार की कुचक्रपूर्ण स्थिति मे बेचारे शान्तिवादी राजनयिक कैसे प्रवेश पा सकेंगे और शान्ति-स्थापना का आदर्श कैसे प्राप्त कर सकेंगे। आलोचकों का आरोप है कि मॉर्गेन्थो ने वस्तुत परस्पर विरोधी तत्त्वों और विचारों का सहारा लेकर अपने सिद्धान्त मे विभिन्न सैद्धान्तिक जटिलताओं को पैदा कर दिया है।

सिद्धान्त का महत्त्व (Importance of the Theory)

मॉर्गेन्थो का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानो के लिए भारी वाद-विवाद का प्रश्न बना हुआ है। बैंनो वासरमैन, हॉफमैन जैसे कटु आलोचको ने इसकी धज्जियाँ उडाई हैं, तो थॉम्पसन तथा डेविड सिंगर जैसे विद्वानो ने प्रशसा के पुल बाँधे हैं। हैरोल्ड स्प्राउट, क्विंसी राइट जैसे विद्वानो ने मॉर्गेन्थो की देन को स्वीकार करते हुए भी उस पर अपूर्णता का दोषारोपण किया है। वास्तव मे मॉर्गेन्थो आज के एक बहुचर्चित विद्वान् हैं जिनके सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा गया है, जिनके विचारो की आलोचना-प्रत्यालोचनाओं ने अनेक सैद्धान्तिक विवादो को जन्म दिया है और इन सबके परिणामस्वरूप उनका तथा उनके सिद्धान्तो का समुचित मूल्यांकन बड़ा कठिन हो गया है।

मॉर्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धान्त की आलोचनाएँ सबल हैं, किन्तु पूर्ण सत्य नही। हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ मे इस सिद्धान्त की उपेक्षा नही कर सकते। इस सिद्धान्त ने राष्ट्रीय हितों और उनकी सिद्धि के लिए शक्ति के प्रयोग सम्बन्धी गम्भीर विचारो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पहली बार व्यापक विश्लेषण किया है और इस प्रकार इस विषय को सैद्धान्तिक आधार दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे राष्ट्रीय हितो के महत्त्व और उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले संघर्षों आदि तथ्यो को हम ठुकरा नही सकते। हम इस कटु सत्य की उपेक्षा नही कर सकते कि आज का युग बहुत बडी सीमा तक 'शक्ति-संघर्ष' का युग है जिसमे राजनीति के सभी दाँव-पेचो का प्रयोग किया जाता है और राष्ट्र अपने हित को ध्यान मे रखकर ही विदेश-नीति का सचालन करता है। हम चीन को लें या पाकिस्तान को, रूस को लें या अमेरिका को, उगाण्डा को लें या रोडेशिया को, श्रीलंका को लें या बर्मा को—सभी राष्ट्र समयानुसार नैतिक-अनैतिक कार्यों और नीतियों की परवाह न करते हुए राष्ट्रीय हित के सवर्द्धन मे ही लगे रहते हैं और अपनी सामर्थ्य तथा साधन-सम्पन्नता के अनुरूप 'शक्ति-संघर्ष' अथवा 'शक्ति-राजनीति' का खेल खेलते हैं। इस खेल को खेलने के स्वरूप मे अन्तर हो सकता है, लेकिन खेल की प्रवृत्ति आधारभूत रूप में वही है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ की पूर्ति मे सलग्न है। उसका स्वार्थ यह है कि वह अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करे। इस बात पर जोर देकर यथार्थवादी विचारधारा दो प्रमुख सन्देश देती है, जिनको अपनी विदेश-नीति निर्धारित करते समय प्रत्येक

राष्ट्र को ध्यान में रखना चाहिए। पहला सन्देश यह है कि विदेश-नीति ऐसी बनाई जाए जो शक्ति बढ़ाने एवं बनाए रखने मे हमारे राष्ट्र की अधिक से अधिक सहायता कर सके। दूसरा सन्देश, जो इसी से सम्बन्धित है, यह है कि हम अपनी विदेश-नीति का निर्माण करते समय यह भी ध्यान रखें कि दूसरे देश का राष्ट्रीय हित क्या है तथा वह हमारे हित से (जहाँ तक सम्भव हो सके) टकराए नही।

इसके अतिरिक्त चूंकि यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार बुद्धि है, अतः इससे प्रभावित विदेश-नीति भी बुद्धि तथा तर्क पर आधारित होगी। ऐसी विदेश-नीति मे खतरा (Risk) लेने का स्थान कम रहता है तथा अधिकांश बातें एक योजना के अनुसार घटती चली जाती हैं। इस प्रकार की विदेश-नीति राजनीतिक रूप से सफल होगी है तथा नैतिक रूप से भी इसकी प्रशसा की जाती है। यह विदेश-नीति का एक बड़ा गुण माना जाता है कि वह यथार्थवादी हो।

विगत कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक आधार पर अधिकाधिक व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया गया है और अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे रिचर्ड स्नाइडर का नीति-निर्धारण सम्बन्धी दृष्टिकोण, काप्लान का व्यवस्था-विश्लेषण, चार्ल्स मैक्लेलैण्ड का सामान्य व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण, जॉर्ज लिस्का का साम्यावस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण, आदि। ये विभिन्न प्रयास इस बात की ओर सकेत करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र मॉर्गेन्थो के सिद्धान्त से आगे बढ़ चुका है। व्यवस्था-दृष्टिकोण (System Approach) को आज यथार्थवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक विकसित माना जाता है, लेकिन यह सारी प्रगति भी मॉर्गेन्थो के सिद्धान्त के महत्त्व की उपेक्षा नही करती। व्यवस्था-दृष्टिकोण के विकास का आंशिक श्रेय भी मॉर्गेन्थो को ही है, क्योकि यह उन्ही के द्वारा इस क्षेत्र मे किए गए अध्ययन तथा शोध का परिणाम है। मॉर्गेन्थो ने इस विषय को आदर्शवाद से हटा कर व्यवस्थापरक दृष्टिकोण तक लाने मे महती भूमिका निभाई है। मॉर्गेन्थो की देन इस रूप मे भी कम नही है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दूसरे विचारकों को भी इस दिशा में कार्य करने को प्रेरित किया। कैनेथ वाल्ट्ज ने लिखा है कि मॉर्गेन्थो ने किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की अपेक्षा उसके निर्माण के लिए सामग्री प्रस्तुत की है।[1] इसी प्रकार कैनेथ थॉम्पसन का विचार है कि मॉर्गेन्थो का सिद्धान्त अभी विकास की स्थिति में है और उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होना अभी शेष है।[2] इन सभी आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं के परिवेश मे यह निष्कर्ष असन्दिग्ध है कि मॉर्गेन्थो के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बने सिद्धान्तों को चुनौती नही दी जा सकती और उनके यथार्थवादी सिद्धान्त को समय ने पूरी तरह असत्य सिद्ध नही किया है। हम उनके सिद्धान्त की उपादेयता को अस्वीकार नही कर सकते।

---

1 *Kenneth W. Waltz* : Review Dilemmas of Politics, pp. 529-30.
2 *Kenneth W. Thompson* : Christian Ethics and the Dilemmas of Foreign Policy, p. 133.

3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-विज्ञान : पुराने और नए विकासों का सर्वेक्षण

(Science of International Politics : A Survey of Old and New Developments)

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्य निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं, विश्व की घटनाएँ आश्चर्यजनक ढंग से घटित होती रहती हैं। जो व्यक्ति उनमें अपने भूतकालीन ज्ञान अथवा वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर भविष्य का अनुमान करना चाहता है, उसके लिए विश्व की समस्याओं के भण्डार में सदा आश्चर्यान्वित करने वाले तथ्य विद्यमान रहते हैं।" —मॉर्गेन्थो

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वैज्ञानिकता विद्वानो मे पर्याप्त विवाद का विषय है। कुछ विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान है तो कुछ इस मत के विरुद्ध हैं। क्विंसी राइट जैसे विद्वानो का विश्वास है कि यह निकट भविष्य मे विज्ञान बन सकेगा जबकि स्टेनले हॉफमैन को सन्देह है कि यह कभी भी विज्ञान बन पाएगा।

विख्यात राजनीति-शास्त्री हंस जे मॉर्गेन्थो ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'राष्ट्रो के मध्य राजनीति' (Politics Among Nat'ons) मे 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-विज्ञान' पर एक पृथक् अध्याय लिखा है और इस सम्बन्ध मे बडे तार्किक ढग से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। हम पहले मॉर्गेन्थो के दृष्टिकोण[1] को विस्तार से प्रकट करेंगे और बाद मे कुछ वर्षों मे उठे 'विज्ञान तथा परम्परावाद' (Sc ence V/s Traditionalism) सम्बन्धी उस गम्भीर विवाद की विवेचना करेंगे जिसे मॉर्टन काप्लान ने 'नवीन महान् बहस' (The New Great Debate) की सज्ञा दी है।

मॉर्गेन्थो के विचार
(Morgenthau's Views)

मॉर्गेन्थो के अनुसार प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की भांति अन्तर्राष्ट्रीय

1 *Hans J Morgenthau* : Politics Among Nations, pp. 15-22.

राजनीति की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। प्रत्येक वैज्ञानिक ज्ञान का स्वाभाविक लक्ष्य उन शक्तियों की खोज है जो किसी सामाजिक घटना के पीछे व्याप्त हैं और साथ ही यह भी देखना होता है कि वे शक्तियाँ कैसे कार्य करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के प्रसग मे भी इस लक्ष्य पर जोर देना युक्तिसंगत है। उन शक्तियों को जानना और समझना चाहिए जो राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धो को निर्धारित करती हैं और साथ ही उन तरीकों को भी समझना चाहिए जिनके द्वारा ये शक्तियाँ एक-दूसरे पर और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों तथा संस्थाओं पर प्रकाश डालती हैं।

विभिन्न दृष्टिकोण (Different Approaches)

उपर्युक्त प्रसग मे कई दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं। डॉ. ग्रेसन कर्क ने संयुक्तराज्य अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के अध्ययन के सन्दर्भ मे तीन दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है—

प्रथम दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। इतिहासकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को केवल आधुनिक इतिहास समझते हैं जिसमे अधिकृत सामग्री पर्याप्त मात्रा मे न होने से विद्यार्थी को कठिनाइयाँ होती हैं।

द्वितीय दृष्टिकोण वैधानिक है। अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं ने अपने आपको राज्यों के आपसी सम्बन्धो के कानूनी पक्ष के अध्ययन मे सलग्न रखा है, पर उन्होंने इस बात का कभी भी गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न नही किया कि वे कौन-से आधारभूत कारण हैं जिनसे यह वैधिक (Legal) परिधि सदा ही अधूरी और अपूर्ण रहती चली आई है।

तृतीय दृष्टिकोण के समर्थकों में वे लोग हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के यथार्थ रूप से अधिक रुचि नहीं रखते, केवल उस आदर्श रूप में अधिक रुचि रखते हैं जो अपने आप में पूर्ण हो और जिसे वे स्वयं निर्मित करना चाहते है।

डॉ. ग्रेसन कर्क ने आगे लिखा है कि काफी समय बाद केवल आधुनिक काल में ही ऐसे विद्यार्थी आगे आए हैं जिन्होंने विश्व-राजनीति की आधारभूत एवं शाश्वत शक्तियों का अध्ययन प्रारम्भ किया है तथा उन संस्थाओं का अध्ययन भी शुरू किया है जो इन शक्तियों को अपने में समेटे हुए हैं। यह अध्ययन इस इच्छा से प्रेरित है कि उन आधारभूत हलचलों को समझा जाए जो किसी राज्य की विदेश-नीति का निर्माण करती हैं। डॉ. कर्क का निष्कर्ष है कि "इस प्रकार अन्त मे राजनीतिक *वैज्ञानिक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पदार्पण कर ही रहा है।*"

डॉ. कर्क की विषय-वस्तु के आधार पर ही प्रो चार्ल्स ई. मार्टिन ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के शिक्षकों और छात्रो के सामने सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या द्वैतवाद (Dualism) है जिसका हमे दो भिन्न और विरोधी क्षेत्रों में सामना करना पड़ता है। मेरा तात्पर्य एक ओर शान्ति-संस्थाओ के क्षेत्र (The Area of Institutions of Peace) से है जो आपसी झगड़ों को सुलझाने से सम्बन्धित हैं

और दूसरी ओर शक्ति-राजनीति तथा युद्ध के क्षेत्र (The Area of Power Politics and War) से है। ऐसा होना सर्वथा अपेक्षित है। इससे कोई बचाव नही है।""""मेरा विचार है कि हमारे अध्ययन-अध्यापन के दृष्टिकोण का पिछले 20 वर्षों मे एक सबसे बड़ा दोष शायद यह रहा है कि हमने युद्ध-पद्धति और शक्ति-राजनीति के प्रभाव से सम्बन्धित पुस्तको के प्रभाव को अनदेखा ही कर दिया है। मेरा विचार है कि ऐसा करने मे राजनीतिक-वैज्ञानिक बड़ी भूल कर रहे हैं। हमको शक्ति-राजनीति और उसके परिणामो तथा उससे उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियो का अध्ययन करना चाहिए और हमे युद्ध-पद्धति के अध्ययन से भी मुख नही मोडना चाहिए।"

हस मॉर्गेन्थो का कथन है कि यदि उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक अध्ययन-विषय के रूप मे आधुनिक इतिहास और वर्तमान घटनाओं, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राजनीतिक सुधारो से भिन्न होगी। मॉर्गेन्थो का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे आधुनिक इतिहास और वर्तमान अथवा प्रचलित घटनाओ के अतिरिक्त और भी अन्य तथ्यो का समावेश होता है। पर्यवेक्षक वर्तमान स्थिति और उसके निरन्तर बदलते हुए दृष्टिकोणो से घिरा हुआ है। उसे खडे होने के लिए कोई ठोस भूमि प्राप्त नही है और न ही उसके पास मूल्यांकन के कोई वस्तुपरक मापदण्ड हैं। इस आधारभूमि और मापदण्ड की प्राप्ति उन आधारभूत तत्वों तक पहुँचे बिना नही हो सकती जो तभी स्पष्ट हो सकते है जब आधुनिक घटनाओ को सुदूर अतीत से जोडा जाए और दोनो को मानव-स्वभाव की शाश्वत प्रवृत्तियो के सन्दर्भ मे देखा जाए।

हस मॉर्गेन्थो के अनुसार हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वैधिक नियमो अथवा सस्थाओ पर ही सीमित नही कर सकते। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इन नियमो के ढाँचे मे तथा इन सस्थाओं द्वारा कार्यशील होती है, किन्तु उनके समान ठीक यह उसी प्रकार साम्य नही रखती जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिकी राजनीति वहाँ के सविधान, सघीय कानूनो और सघीय सरकार के अभिकरणो से रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव मे क्या है और किस लिए है—इन बातो को समझे बिना इसको सुधारने के प्रयत्नो के बारे मे हम विलियम ग्राहम समनेर के निम्नलिखित दृष्टिकोण से सहमत हो सकते हैं—

"परिस्थितियों और मानव-प्रकृति के यथार्थ स्वरूप की ठीक-ठीक परीक्षा करने के स्थान पर केवल कुछ महान् आदर्शों और मान्यताओ को पूर्वाग्रह के रूप मे मानकर चलना राजनीतिक वाद-विवाद का सबसे बड़ा दोष है। कतिपय उच्च और अधिक श्रेष्ठ वस्तुओ का एक आदर्श पहले से ही बना लिया जाता है जो यथार्थतः वर्तमान परिस्थिति से कही ऊँचा होता है और प्राय. अनजाने ही आदर्श का अस्तित्व वर्तमान स्थिति मे मान लिया जाता है। उसे पुन ऐसे चिन्तन का मानदण्ड मान लिया जाता है जिसकी कोई बुनियाद नहीं होती। राजनीतिक विषयो पर सूक्ष्म अथवा अमूर्त चिन्तन का तरीका ही वास्तव मे गलत है। इस तरीके को लोकप्रियता इसलिए प्राप्त है क्योंकि यह सरल है। इस जगत को जानने की अपेक्षा

एक नए जगत की कल्पना करना आसान होता है। राज्यो के इतिहास और संस्थाओं के अध्ययन की अपेक्षा कुछ लोकप्रिय स्वीकृत तथ्यों के आधार पर चिन्तन की उड़ान अधिक आसान है। इस *अध्ययन की अपेक्षा कि वे सही हैं अथवा नहीं,* लोकप्रिय नारे भी आसान होते हैं। ये सब बातें शकाओं और गड़बडी को प्रोत्साहन देती हैं, कोरे उपदेशों और लोकोक्तियों को बढ़ावा देती हैं तथा विवादों अथवा संघर्षों को बढाती हैं, किन्तु राष्ट्रों की समृद्धि में इनसे कोई लाभ नहीं होता।"

समझ की सीमाएँ (Limitations to Understanding)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन एकदम सुगम नहीं है। सैद्धान्तिक खोज मे निरीक्षणकर्त्ता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडता है। विवसी राइट, हंस मॉर्गेन्थो, आदि विद्वानो ने इन कठिनाइयों अथवा सीमाओं का रूप मे स्पष्टीकरण बड़े तर्कसम्मत किया है—

1. अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ परिवर्तनशील हैं। मानवीय क्रियाएँ होने के कारण इनके बारे मे यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि यदि कुछ विशेष परिस्थितियाँ उपस्थिति हो जाएँ तो फिर उनका क्या परिणाम होगा और एक देश-विशेष की नीति पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। राज्य अथवा सरकारो के व्यवहार को समझने के लिए वैज्ञानिक तरीका तभी अपनाया जा सकता है जब हम यह मानकर चलें कि ये मनुष्यों और उनके दृष्टिकोणों का सयोग है अथवा एक विश्व-व्यवस्था का भाग है।[1]

2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मानवीय क्रियाएँ हैं और यह अस्वाभाविक नहीं है कि वैज्ञानिक निष्कर्ष निष्पक्ष या तटस्थ न रह सकें। जब किसी जड वस्तु के बारे मे *अध्ययन किया जाता है तो अध्येता निष्पक्ष रहते हुए भविष्यवाणी कर* सकता है, लेकिन मानव-सम्बन्धों के अध्ययन के बारे मे यह सदेहास्पद है। किसी का यह सामान्यीकरण हास्यास्पद ही होगा कि "एक पाकिस्तानी सैनिक तीन भारतीय सैनिको के बराबर होता है" और यदि इस सामान्यीकरण को सच भी मान लिया जाए तो इससे भारतीय जवानों में प्रतिक्रिया होगी, उनका साहस बढ जाएगा। सन् 1965 और बाद मे सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध इस तथ्य को अच्छी तरह दोहरा चुके हैं।

3. तीसरी बड़ी कठिनाई तथ्यों की दुरूहता और अस्पष्टता सम्बन्धी है। *पर्यवेक्षक जिन घटनाओं को जानने का प्रयत्न करता है वे स्वयं विलक्षण होती हैं।* ये घटनाएँ एक विशेष प्रकार से एक ही बार घटित होती है और उस रूप मे न तो पहले घटी थीं और न भविष्य मे घटेंगी। इसके अतिरिक्त ये घटनाएँ मिलती-जुलती भी होती हैं क्योकि वे सामाजिक शक्तियो का स्पष्टीकरण हैं। सामाजिक शक्तियाँ मानव-स्वभाव का गतिशील रूप हैं, अतः जब एक ही परिस्थिति के अन्तर्गत सामाजिक शक्तियाँ समान रूप मे प्रकट होती हैं तो यह समस्या उत्पन्न हो जाती है

1 *Quincy Wright* : The Study of International Relations, p. 116.

कि समान घटनाओं और विलक्षण घटनाओं के बीच रेखा कहाँ खींची जाए। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की प्रकृति ऐसी है कि इनमें एकदम सुनिश्चित वैज्ञानिक विधि का प्रयोग नही हो सकता और न ही ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जैसे भौतिक शास्त्रो मे। मॉर्गेन्थो के शब्दो मे, "जो पहला पाठ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी को सीखना है और जिसे कभी भी नही भूलना चाहिए, वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की जटिलता सामान्य समाधान तथा विश्वसनीय भविष्यवाणी को असम्भव बना देती है।" आगे मॉर्गेन्थो लिखते है कि "इसीलिए सबसे श्रेष्ठ काम जो एक विद्वान् विद्यार्थी कर सकता है वह यह है कि किसी विशेष अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की विभिन्न प्रवृत्तियो की खोज करे जो उसमे सम्भावनाओ के रूप मे निहित रहती हैं। वह उन विशेष परिस्थितियो की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है जिनके फलस्वरूप एक तरह की प्रवृत्ति के व्यापक हो जाने की अधिक सम्भावना है और इस प्रकार वह अनुमान लगा सकता है कि वास्तव मे भिन्न परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ प्रकट होकर किस प्रकार प्रभावकारी होगी।" मॉर्गेन्थो का विचार है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्य निरन्तर बदलते रहते है, विश्व की घटनाएँ आश्चर्यपूर्ण ढग से घटती रहती हैं और जो व्यक्ति उनमे अपने भूतकालीन ज्ञान तथा वर्तमान परिस्थितियो के आधार पर भविष्य का अनुमान लगाना चाहता है उसके लिए विश्व की समस्याओ के भण्डार में सदैव आश्चर्यचकित करने वाले तथ्यो की कमी नही है।" जब बड़े-बड़े राजनीतिज्ञो की भविष्यवाणियाँ बुरी तरह असफल सिद्ध हो जाती हैं तो सामान्य विद्यार्थियो अथवा अध्येताओ के छोटे मस्तिष्को की भविष्यवाणी से क्या आशा की जा सकती है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे हम उन लोगो पर क्या विश्वास कर सकते हैं जो दृढतापूर्वक बतलाते हैं कि "कल व परसो क्या होने वाला है?"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में क्विसी राइट का मत कुछ उदार है। उनका विचार है कि यद्यपि अनेक कठिनाइयो के फलस्वरूप हम इस विषय को पूरी तरह विज्ञान का रूप नही दे सकते तथापि यह मानना भ्रामक होगा कि वैज्ञानिक विधियो (निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण, सारणीकरण का प्रयोग, निष्कर्ष, आदि) का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के अध्ययन मे किसी भी स्तर पर प्रयोग नही किया जा सकता। विज्ञान की अनेक विशेषताएँ जैसे वस्तुपरकता (Objectivity), निश्चितता (Accuracy), मात्रानुकरण (Quantification), तर्क (Logic) आदि का प्रयोग नागरिको, नेताओ तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अन्य कार्यकर्त्ताओ के दृष्टिकोणो को प्रभावित करने के लिए किया जा सकता है। आधुनिक युग मे सभी व्यवस्थाओ को आवश्यक रूप से विज्ञान बन जाना है, चाहे उनके विज्ञान बनने के मार्ग मे कितनी ही बाधाएँ क्यो न आएँ।[1] अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को भी समय की माँग के अनुसार विज्ञान बनना ही होगा। इनका प्रारम्भ

1 *Hedley Ball*: International Theory—The Case for a Classical Approach, World Politics (April 1966), pp. 361-77.

कला या इतिहास के रूप में हुआ, तत्पश्चात् दर्शन की भाँति सामान्यीकरण हुआ और अब समय है कि इनको वैज्ञानिक रूप दिया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विशिष्ट समस्याओं पर विलियम डी. कापलिन का विश्लेषण[1]
(William D. Coplin's Analysis of the Problems Specific to International Politics)

विलियम डी. कॉपलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वैज्ञानिकता से सम्बन्धित विशिष्ट समस्याओं पर अपने जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे विषय-वस्तु को और अधिक अच्छी तरह समझने में उपयोगी होंगे। कापलिन ने सर्वप्रथम ज्ञान-प्राप्ति की दिशा में वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method as an Approach to Knowledge) को स्पष्ट किया है और तत्पश्चात् वैज्ञानिक पद्धति के बिन्दुओं को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के सन्दर्भ में लागू करके बतलाया है कि वैज्ञानिकता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विशिष्ट समस्याएँ क्या हैं। कॉपलिन ने स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अवधारणाओं और सिद्धान्तों (Concepts and Theories) के विकास के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं और इसी प्रकार सिद्धान्तों के परीक्षण सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी विद्यमान हैं। ये कठिनाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विशुद्ध विज्ञान बनने से रोकती हैं, लेकिन उनके आधार पर हम उसे एक विकासशील सामाजिक *विज्ञान* के पद से नहीं हटा सकते।

ज्ञान-प्राप्ति की दिशा में वैज्ञानिक द्धति
(Scientific Method as an Approach to Knowledge)

किसी भी ज्ञान (Knowledge) के समुचित उपार्जन के लिए वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का विशेष महत्त्व है। *विज्ञान को कार्यविधियों या प्रक्रियाओं का एक पुञ्ज* (A Set of Procedures) कहा जा सकता है जिसके आधार पर हम किसी विषय के बारे में ज्ञान की सरचना करते हैं और इस तरह न केवल पूर्वापेक्षा अधिक ज्ञानवान बन पाते हैं बल्कि *भविष्यवाणियाँ करने अथवा भावी घटनाओं का सकेत देने और मानकीय या नियामक निर्णय* (Normative Judgements) देने में समर्थ होते हैं।[2] *विज्ञान का लक्ष्य एक सहभागी ज्ञान की रचना के लिए* (For Building Shared Knowledge) एक आधार प्रदान करना है।[3] सहभागी ज्ञान (Shared Knowledge) के आधार-निर्माण में यह विचार अन्तर्निहित है कि एक वैज्ञानिक के निष्कर्ष और अध्ययन इस प्रकार के होने चाहिए जिन्हें दूसरे वैज्ञानिक उसी प्रकार समझ सकें जिस प्रकार कि उस मूल वैज्ञानिक

1 *William D Coplin : Introduction to International Politics*—A Theoretical Overview, 1974, pp. 7-22.

2 "Science is a set of procedures for building knowledge about what exists so that men not only are more knowledgeable but also are better able to predict, make normative judgements, and prescribe."
—*William D. Coplin* : op. cit., p 7.

3 "The goal of science is to provide a basis for building *shared knowledge*."
—Ibid, p. 7.

(The Original Scientist) ने समझाना चाहा था। ज्ञान (Knowledge) का अभिप्राय इस बात से है कि एक व्यक्ति अपने विचारों के सहीपन (Accuracy) का मूल्यांकन कैसे करता है। जो कथन प्रामाणिक समझे जाते हैं उन्हे ज्ञान कहा जा कता है।

वैज्ञानिक क्षेत्र के विकास मे सामान्य भाषा (A Common Language) के महत्व की उपेक्षा नही की जा सकती क्योंकि विज्ञान की किसी भी शाखा की प्रभावशीलता की कुंजी यह है कि कुछ ऐसी विशिष्ट भाषा (Specialized Language) हो जिसके माध्यम से विषय-विशेष के विचारों का आदान-प्रदान हो सके। प्रत्येक विज्ञान का इतिहास यह बताएगा कि उसकी एक अपनी विशेष भाषा का विकास हुआ है जिसमे न केवल सक्षेप मे परिभाषित शब्दावलियाँ (Precisely Defined Terms) उपलब्ध होती हैं बल्कि विशेष दशाम्रो या अवस्थाओं को परिभाषित करने के लिए प्रमापों की व्यवस्थाएँ (Systems of Measurements to Define Conditions) भी होती हैं। वास्तव मे एक सामान्य भाषा के विकास को अशत: सहभागी अवधारणाओ के विकास की प्रक्रिया के रूप मे (As a Process of Evolving Shared Concepts) लिया जा सकता है। एक अवधारणा (A Concept) को हम एक शब्द या कुछ शब्दो का समूह मान सकते हैं जिसका प्रयोग किसी चीज को सक्षेप में बताने के लिए किया जाता है ताकि दूसरे लोग (जो समाजशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आदि क्षेत्र से सम्बन्धित हो) उसे सुगमता से समझ सकें। जो विद्वानों को एक-दूसरे को समझने और अध्ययन-विषय की व्याख्या मे सहायता करने मे जितने समर्थ होते हैं वे उतने ही अधिक प्रभावशाली माने जाते हैं। यह अपेक्षा की जाती है कि एक क्षेत्र-विशेष के सभी विद्यार्थी सम्प्रत्ययो (Concepts) की एक-सी व्याख्याएँ देंगे। इस क्षमता की एक कसौटी यह है कि सम्प्रत्ययों को व्यावहारिक परिभाषाओं के माध्यम से परिवर्तनीय तत्त्वो या चलो मे रूपान्तरित किया जा सकता है अथवा नही। दूसरे शब्दो मे परिभाषाएँ सक्षिप्त और स्पष्ट भाषा मे होनी चाहिए ताकि उन परिभाषाओ को प्रयोग मे लाने वाले विभिन्न विद्वान् एक ही घटना के बारे मे समान आँकडो या सामग्री को एकत्र कर सकें। कोई भी चल (Variable) तभी विश्वसनीय माना जाता है जबकि परिभाषा संक्षिप्त और स्पष्ट हो तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा लगभग समान सामग्री या सूचना उत्पन्न करने मे सक्षम हो। यद्यपि सभी सम्प्रत्ययो को सफलतापूर्वक चलो मे रूपान्तरित नही किया जा सकता, तथापि इस प्रकार की सम्भावनाओ का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक बनाया जाना चाहिए। चलो के विकास की विधि का विशेष महत्त्व है, क्योकि जो विधि जितनी कुशल होगी, विभिन्न सम्प्रत्ययों की व्याख्या मे त्रुटियाँ रहित होने की उतनी ही कम सम्भावना रहेगी।

सहभागी भाषा को आगे लाने मे सम्प्रत्यो का विकास महत्वपूर्ण है और इस बात से ही सम्बन्धित दूसरी बात सम्प्रत्ययों का आपसी सम्बन्ध है। प्राय किसी एक कथन के लिए विभिन्न शब्दावलियाँ दी जाती हैं, जिनमे दो अथवा अधिक सम्प्रत्यय एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। जब कोई कथन किसी अपरीक्षित विचार

का प्रतिनिधित्व करता है तो उसे साधारणतया प्रस्थापना (Proposition) कहा जाता है। यदि इस प्रस्थापना को परीक्षण योग्य रूप में (In a Testable Form) प्रस्तुत किया जाता तो उसे उपकल्पना (Hypothesis) कहते हैं। उन *प्रस्थापनाओं और/अथवा एक-दूसरे से सम्बन्धित उपकल्पनाओं* के पुञ्जों को सिद्धान्त (Theory) कहते हैं। विज्ञान वास्तव में वही है जो वैज्ञानिक या अध्ययनकर्त्ता को अपने सिद्धान्तों में विश्वास के निर्माण के लिए *पद्धतियाँ* प्रदान करे।

किसी भी ज्ञान की प्राप्ति की दिशा मे वैज्ञानिक पद्धति की इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम अपने मूल विषय पर आ सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करने मे अर्थात् सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो के विकास मे तथा प्रस्थापनाओ और सिद्धान्तो को जाँचने में क्या कठिनाइयाँ हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विशिष्ट समस्याएँ
(Problems Specific to International Politics)

विलियम डॉ. कापलिन (William D. Coplin) ने वैज्ञानिक पद्धति सम्बन्धी उपर्युक्त सामान्य बिन्दुओ को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में ज्ञान-प्राप्ति की दिशा मे लागू किया है और अपने विवेचन को मुख्यत दो वर्गों मे विभाजित किया है—

(1) सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो के विकास मे कठिनाइयाँ, तथा
(2) सिद्धान्तों और उपलब्ध प्रस्थापनाओ के जाँचने मे कठिनाइयाँ।

इनमे प्रथम विवेचना का सम्बन्ध ज्ञान की सहभागिता (The Sharing of the Knowledge) से है और दूसरी का सम्बन्ध सिद्धान्तो की प्रामाणिकता (The Validity of the Theories) से है।

(1) सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तों के विकास में कठिनाइयाँ (Difficulties in *Developing Concepts and Theories*)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तो के विकास के मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ हैं—

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों और राजनीतिक कर्त्ताओं (The Political Actor) के बीच जो उन्मुक्त और तीव्र अन्त क्रियाएँ होती हैं उनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तों के प्रयोग में संक्षिप्तता और स्पष्टता का अभाव बढ जाता है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों द्वारा सम्प्रभुता, राष्ट्रीय-हित और शक्ति जैसे सम्प्रत्ययो का और इसी तरह शक्ति-सन्तुलन अथवा राज्यो के व्यवहार पर भूगोल का प्रभाव जैसे सिद्धान्तो का विकास किया गया है और इन सम्प्रत्ययो तथा सिद्धान्तो के माध्यम से उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न पहलुओ की व्याख्या करने की चेष्टा की है, लेकिन राजनीतिज्ञों और विदेश-नीति निर्माताओ ने भी अपने भाषणों और विचारो मे इन सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो का प्रयोग किया है। दोनों ही पक्षो की इस सहभागिता का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो के विकास मे संक्षिप्तता और स्पष्टता का अभाव रहा है। राजनीतिक

नेताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तों का प्रयोग अपने राज्यों की नीतियों का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया है और फलस्वरूप इन सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तो के अनेक अर्थ निकल आए हैं तथा एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि उनके बारे मे कोई मतैक्य नही पाया जाता, कोई ऐसा सहभागी ज्ञान (A Shared Knowledge) विकसित नही हो पाता जिस पर विद्वान् और राजनीतिक नेता दोनो एकमत हो या एक से विचार रखते हो ।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र इतना विशाल और जटिल है कि सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो के विकास मे दो परस्पर विरोधी किन्तु निरोधक प्रवृत्तियाँ (Inhabiting Tendencies) उत्पन्न हो गई हैं—

(i) कुछ विद्वान् पूरी तरह किन्ही विशिष्ट नीतियो अथवा घटनाओं पर ध्यान केन्द्रित करते है और सामान्य निष्कर्षों के विकास की समुचित चिन्ता नही करते ।

(ii) *ऐसे भी विद्वान् हैं जो अमूर्त व्याख्याओ के विकास पर अत्यधिक बल* देते हैं और इस बात की उपेक्षा कर देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति बहुकारणात्मक (Multicasual) है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र की जटिलता परस्पर विरोधी *प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है जो सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तों के विकास के* विपरीत होती हैं । एकदम कठोर रुख अपनाने और सामान्यीकरण की आवश्यकता की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति भी उतनी ही हानिकारक है जितनी कि वह प्रवृत्ति कि किन्हीं विशिष्ट सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तो से सगति बैठाने के लिए अत्यधिक सरलीकृत व्याख्याओं का विकास किया जाए । वास्तव मे उन सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो मे, जिनको बडी संकीर्णता से परिभाषित और प्रयुक्त किया है और उनमे जिनको बहुत विस्तृत रूप से परिभाषित और लागू किया जाता है, एक सन्तुलन आवश्यक है, *हालांकि विषय-वस्तु की जटिलता विद्वानो को किसी अति (Extremes)* की ओर धकेलती है ।

(2) सिद्धान्तों और प्राप्त प्रस्थापनाओं को जांचने में कठिनाइयाँ (Difficulites in Testing Theories and Derived Propositions)—*अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलता सिद्धान्तो को जाँचने मे भी कठिनाइयाँ* प्रस्तुत करती है । जिन सिद्धान्तो मे बडी सख्या मे अन्त क्रिया करने वाले चल (Interacting Variables) निहित होते हैं, उन्हे सुगमतापूर्वक परीक्षणयोग्य प्रस्थापनाओं तक नही लाया जा सकता । अध्ययनकर्त्ता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बहुकारणात्मक सिद्धान्तो का निर्माण करने को विवश हो जाता है, अत· अपने विचारों के सदीपन की उसकी औपचारिक जाँच प्राय. सीमित होती है । उदाहरणार्थ, यदि हमने यह सिद्धान्त विकसित किया है कि विदेश-नीति-व्यवहार (Foreign Policy Behaviour) नीति-निर्णयकर्ताओ के व्यक्तित्व की, इन लोगो पर डाले जाने वाले राजनीतिक दबावों की, राज्य की आर्थिक और सैनिक क्षमताओ की तथा

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की उपज है, तो फिर भला हम सिद्धान्त की जाँच कैसे कर सकते हैं ? यह माना जा सकता है कि कुछ निर्णयों में निर्णयकर्त्ता का व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक है, लेकिन यह बात भी नहीं भूली जा सकती कि दूसरे कुछ निर्णयों में उनका व्यक्तित्व बहुत ही कम महत्त्व रखता हो और चुनावों के समय घरेलू राजनीति का अथवा किन्हीं अन्य अवसरों पर कुछ आकस्मिक बातों का अधिक महत्त्व रहा हो। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सम्भावनाओं के रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययनकर्ता के लिए यह काम सरल नहीं होता कि वह सिद्धान्तों अथवा प्राप्त प्रस्थापनाओं का सही परीक्षण कर सके। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाएँ अपनी प्रकृति में बहुकारणात्मक होती हैं और सिद्धान्त के परीक्षण को कठिन बना देती हैं।

सिद्धान्तों और प्राप्त प्रस्थापनाओं के परीक्षण की दूसरी सीमा यह है कि सम्बन्धित सामग्री या आँकड़ों का अभाव रहता है। यहाँ हमें 'सम्बन्धित या सम्बद्ध' (Relevant) शब्दावली पर अधिक बल देना चाहिए। उदाहरणार्थ, यद्यपि चुनाव व्यवहार जैसे क्षेत्र पर सम्बन्धित सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है, तथापि एक राजनीतिक वैज्ञानिक तब 'दरिद्र सामग्री वाला' (Data-poor) बन जाता है जब वह इस प्रकार की सूचना एकत्र करना चाहता हो जो यह निर्धारित करने के लिए आवश्यक हो कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में राजनीतिक कर्त्ताओं ने अमुक व्यवहार क्यों और कैसे किया। जो सामग्री वह संकलित कर पाता है वह प्रायः उन प्रश्नों से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित नहीं होती जिनमें उसकी रुचि है। उदाहरणार्थ, विदेश-नीति-निर्माण प्रक्रिया के बारे में सर्वेक्षण सामग्री (Survey Data) बहुत कम मिल पाती है। यह भी होता है कि प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित सामग्री-संकलन बहुत व्यय-साध्य और समय-साध्य हो; यह भी सम्भव है कि कुछ सामग्री प्राप्त हो न हो सके (उदाहरण के लिए, किसी संकटकाल में राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के विचार)।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सिद्धान्तों और प्राप्त-प्रस्थापनाओं के परीक्षण में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं क्योंकि—

(अ) अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं की बहुकारणात्मक प्रकृति (Multicausal Nature) सिद्धान्तों के परीक्षण को दुरूह बना देती है।

(ब) पर्याप्त सामग्री या आँकड़ों का अभाव भी सिद्धान्तों के व्यवस्थित परीक्षण को सीमित बना देता है।

पर सम्प्रत्ययों और सिद्धान्तों के विकास में और सिद्धान्तों के परीक्षण में कठिनाइयों का अभिप्राय यह नहीं है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वैज्ञानिकता को नकार रहे हैं। यह दिन-प्रतिदिन सामाजिक विज्ञानों की भाँति अधिकाधिक वैज्ञानिक अध्ययन बनती जा रही है।

विज्ञान बनाम परम्परावाद
(Science V/s Traditionalism)

आदर्शवादियों और यथार्थवादियों में चलते आ रहे विवाद के स्थान पर सन् 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में प्रमुखता उस विवाद ने ले ली जिसे मार्टन

काप्लान ने 'The New Great Debate' कहा है। यह विवाद विज्ञान और परम्परावाद के बीच है। विज्ञानवादियों अथवा व्यवहारवादियों में तथा परम्परावादियों में इस प्रश्न पर खुलकर बहस हुई है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए दोनों में से कौनसी पद्धति (Method) सर्वाधिक उपयुक्त है। यद्यपि विज्ञानवादियों *और परम्परावादियों के मतभेद स्वभावतः पहले से ही चले आ रहे थे*, *तथापि* वैज्ञानिक पद्धति को प्रथम गम्भीर चुनौती सन् 1966 में हैडले बुल (Hedley Bull) द्वारा प्रकाशित एक लेख से मिली। हैडले बुल से पहले अनेक विद्वानों ने परम्परावाद अथवा शास्त्रीय दृष्टिकोण (Classical Approach) के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन प्रस्तुत किए थे। ई. एच. कार, अल्फ्रेड जिमर्न, जॉर्ज स्वार्जनबर्गर, हंस मॉर्गेन्थो, रेमण्ड एरोन, मार्टिन ह्वाइट आदि के अध्ययन इसी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। लेकिन हैडले बुल को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उसने परम्परागत और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के सापेक्षिक गुण-दोषों पर प्रभावी ढंग से ध्यान आकर्षित किया।

बुल द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर प्रहार
(Bull's Attack on Scientific Method)

हैडले बुल ने अपने लेख में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर गिन-गिन कर प्रहार किए। उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि हाल के वर्षों में जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है उसे हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं मान सकते। बुल ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध अपने सात सुनिश्चित तर्क दिए हैं जिन्हें उसने प्रस्तावों अथवा समस्याओं के रूप में (In the Form of Propositions) प्रस्तुत किया है *ताकि विद्वान् इनका सावधानीपूर्वक अध्ययन करके* वैज्ञानिक और परम्परावादी दृष्टिकोण के बीच चल रहे विवाद की प्रकृति को समुचित रूप में समझें और अपना मत स्थिर करें।

1. बुल के अनुसार प्रथम समस्या यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु की ऐसी प्रकृति है कि हम उसे केवल आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से नहीं जाँच सकते। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्न मूलतः नैतिक प्रश्न हैं जिनमें सम्प्रभु राज्यों की संरचना और उद्देश्य, अन्तर्राष्ट्रीय समाज में युद्ध का महत्त्व, आदि *अनिश्चित प्रकृति की समस्याओं* पर विचार किया जाता है। ये प्रश्न अस्थिर प्रकृति के हैं और ऐसे हैं जिन्हें वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप में नहीं अपनाते।

2. दूसरी समस्या यह है कि वैज्ञानिक विधि के प्रतिपादक अधिकांशतः छोटे-मोटे सामान्य प्रश्नों के अध्ययन में ही उलझे रहे हैं। आधारभूत प्रश्न उनके अध्ययन-क्षेत्र में समुचित स्थान नहीं पा सके हैं और वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त के विकास की दिशा में कोई वास्तविक योगदान नहीं कर सके हैं। उनका जो थोड़ा-बहुत योगदान है वह भी परम्परावादी पद्धति को ग्रहण करने के फलस्वरूप *ही सम्भव हो सका है।* इसके अतिरिक्त *यह योगदान भी ऐसे निर्णयों के रूप में है* कि उन पर पहुँचने के लिए वास्तव में किन्हीं भी वैज्ञानिक अथवा गणितीय पद्धतियों

की सहायता की आवश्यकता नहीं है। जब हम इन निर्णयों पर बिना वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लिए ही पहुँच सकते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति का क्या उपयोग है ?

3. बुल के अनुसार तीसरी बात यह है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तवादियों के इस दावे को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके अध्ययन अभी तक तो प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं, लेकिन जब शीघ्र ही वे परिपक्व अवस्था में पहुँच जाएँगे तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक सामान्य और विश्वसनीय विज्ञान की प्रस्थापना की जा सकेगी। बुल का तर्क है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तवादी आँकड़ों, आदि के सकलन पर अत्यधिक निर्भर रहते हैं और उनके आँकड़े, आदि इतनी भारी सख्या में और इतने विविध रूपों में होते हैं कि उनके आधार पर राज्य-व्यवहार (State Behaviour) का कोई सामान्यीकरण सम्भव नहीं है। आँकड़ों की दुनिया में इतना अधिक खो जाने से हम व्यावहारिक बुद्धि से काम नहीं ले सकते और सामान्य निष्कर्ष निकालने के मार्ग से भटक जाते हैं।

4. चौथी समस्या यह है कि सिद्धान्तवादियों ने अनावश्यक रूप से 'प्रतिमानों' (Models) का झंझट खड़ा किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में यह 'मॉडलवाद' चला कर उन्होंने इस क्षेत्र में उपकार करने की अपेक्षा अपकार ही अधिक किया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-सामग्री की जो प्रकृति है उसे देखते हुए मॉडल-निर्माण अनावश्यक है। इससे विषय-वस्तु को समझने में हमें कोई सहायता नहीं मिलती, बल्कि हम चक्कर में पड़ जाते हैं। मॉडल-निर्माता बहुधा यथार्थ की उपेक्षा कर देता है और सब चीजों को केवल अपने ही दृष्टिकोण से आँकता है। मॉडल-निर्माण की प्रक्रिया राज्य-व्यवहार की वास्तविकता से इतनी दूर होती है कि उसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सही रूप में नहीं समझा जा सकता। ऐसे मॉडलों पर विश्वास करना सही मार्ग से भटकना है।

5. बुल की पाँचवीं आपत्ति यह है कि वैज्ञानिक पद्धति को व्यवहार में लाने वाले व्यक्ति वैज्ञानिक उपकरणों के पीछे इतने पागल हो जाते हैं कि उन्हें एक तरह की धुन सवार हो जाती है और वे उस धुन में डूबे हुए व्यावहारिकता तथा वास्तविकता से अलग हट जाते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तवादियों का एकमात्र उद्देश्य परिशुद्धता और मात्रानुकरण (Precision and Quantification) प्राप्त करना होता है; अतः वे विभिन्न समाजों के सापेक्ष अन्तरों की उपेक्षा कर बैठते हैं।

6. बुल के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्तों में यद्यपि परिशुद्धता (Precision) की महती आवश्यकता है, लेकिन यह परिशुद्धता वैज्ञानिक सिद्धान्तवादियों की परिशुद्धता से भिन्न है। वैज्ञानिक सिद्धान्तवादी परिशुद्धता का एक सीमित दृष्टिकोण अपनाते हैं और अपने द्वारा एकत्र आँकड़ों एवं तथ्यों के सन्दर्भ में ही परिशुद्धता पर जोर देते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में परिशुद्धता ऐसी होनी चाहिए जो अध्ययन की सम्पूर्ण विषय-वस्तु को अपने में समेट ले। बुल का विश्वास है कि इस प्रकार की परिशुद्धता केवल परम्परावादी दृष्टिकोण की सहायता

से ही सम्भव है। बुल ने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सिद्धान्त अवश्य ही वैज्ञानिक होना चाहिए किन्तु केवल इसी अर्थ में यह ज्ञान का एक सुसंगत, संक्षिप्त और व्यवस्थित निकाय हो तथा आधुनिक विज्ञान की दार्शनिक आधार-शिलाओं के अनुकूल हो।

7. बुल द्वारा प्रस्तुत अन्तिम तर्क यह है कि वैज्ञानिक पद्धति के समर्थकों ने अपने आपको इतिहास और दर्शन से पृथक् कर लिया है जबकि इनके माध्यम से हम आत्म-विवेचन कर सकते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तवादी आधुनिक इतिहास की *अवस्थाओं को जानने की चेष्टा नहीं करते जबकि ये अवस्थाएँ ही अन्तर्राष्ट्रीय जीवन* की वर्तमान अवस्थाओं को उत्पन्न करने वाली हैं।

परम्परावाद पर प्रत्याक्रमण
(Counter-attack on Traditional.sm)

हैडले बुल ने *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परम्परावादी अध्ययन* पर बल देते हुए वैज्ञानिक पद्धति पर जो तीव्र प्रहार किए हैं उनकी गम्भीर प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। यद्यपि वैज्ञानिक पद्धति के अनेक समर्थकों ने बुल के आक्रमण के विरुद्ध अपना बचाव किया, लेकिन सर्वाधिक शक्तिशाली बचाव-पक्ष मार्टन काप्लान की ओर से प्रस्तुत हुआ। उसने अपने विख्यात लेख 'The New Great Debate Traditionalism V/s Science in International Relations' में बुल द्वारा समर्थित परम्परावाद पर एक प्रकार से जबरदस्त प्रत्याक्रमण किया और बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति क्यों अधिक सहायक है। मार्टन काप्लान ने जो तर्क प्रस्तुत किए वे संक्षेप में निम्न प्रकार से हैं—

1. काप्लान ने सबसे पहले परम्परावादियों की इस धारणा को आड़े हाथों लिया है कि हम वैज्ञानिक पद्धति द्वारा नहीं वरन् अन्य पद्धतियों से मानव-उद्देश्य (Human Purpose) को समझ सकते हैं। काप्लान के अनुसार यह धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि मानव-उद्देश्य परीक्षण अथवा सत्यापन (Verificat.on) की अपेक्षा प्रयोजनों (Motives) से अधिक सम्बन्धित है जिनका सफलतापूर्वक विश्लेषण केवल सहज-ज्ञान और अन्तर्दर्शन अथवा आत्म-निरीक्षण द्वारा ही किया जा सकता है। *काप्लान का मत है कि यद्यपि यह ठीक है कि मानव-उद्देश्य प्रयोजनों* (Motives) से सम्बन्धित है, लेकिन इन प्रयोजनों की पुष्टि लोगों के व्यवहार-आदर्शों (Behaviour Patterns) के समुचित निरीक्षण और विश्लेषण से ही हो सकती है। हम व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को सीधे व्यक्तिगत प्रयोजनों से नहीं आँक सकते। काप्लान को यह आरोप भी मान्य नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अपेक्षित परिशुद्धता और मात्रानुकरण (Precision and Quant.fication) वैज्ञानिक विधियों द्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते। काप्लान का निश्चित मत है कि कोई भी सिद्धान्त अनुशासन की दशा और विषय-वस्तु के स्वरूप दोनों पर निर्भर करता है।

2. परम्परावादियों का यह विचार बहुत ही पिछड़ा हुआ और 17वीं शताब्दी का विचार है कि राजनीतिक जगत् में घटने वाली घटनाओं का समुचित अध्ययन वैज्ञानिक विधियों द्वारा नहीं किया जा सकता। आज का युग विज्ञान का युग है, हर क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन अपना चमत्कार दिखा रहा है और राजनीतिक क्षेत्र इसका अपवाद नहीं है।

3. परम्परावादियों की इस धारणा में भी कोई बल नहीं है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तवादी अपने मॉडलों को सही अथवा यथार्थ मानने की भूल करते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तवादियों का तर्क है कि इस प्रकार का खतरा तो प्रत्येक प्रकार की मानव-गतिविधियों में होता है। चाहे वैज्ञानिक हो या समाजशास्त्री अथवा मानवशास्त्री, सभी इस प्रकार की भूल के शिकार बनते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत अवधारणाएँ भी अनेक बार वास्तविकता से मेल नहीं खाती। काप्लान का तो विश्वास है कि मॉडलों को वास्तविकता मान लेने की भूल का दोषारोपण विज्ञानवादियों पर वस्तुतः उतना लागू नहीं होता जितना परम्परावादियों पर। *यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और* राजनयिक इतिहास के विशाल साहित्य पर दृष्टिपात करें तो हमें ऐसे ढेर के ढेर उदाहरण मिल जाएँगे जो यह सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि परम्परावादियों द्वारा मानव-प्रयोजनों और अन्तर्सम्बन्धों के बारे में कितनी भ्रामक अवधारणाएँ निरूपित की जाती रही हैं। काप्लान के अनुसार परम्परावादियों का दोष यह है कि वे प्रमाण (Evidence) के महत्त्व की जानबूझ कर उपेक्षा करते हैं जबकि विज्ञानवादी इसकी सार्थकता में पूरा विश्वास रखते हैं।

4. परम्परावादियों का यह आरोप भी गलत है कि विज्ञानवादी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में दर्शन (Philosophy) की पूर्ण उपेक्षा करते हैं। काप्लान तो उलटे यह आरोप लगाता है कि सिवाय रेमण्ड एरोन के अन्य परम्परावादियों ने दर्शन का समुचित रूप से 'अनुशासित अनुमान' (Disciplined Speculation) के रूप में प्रयोग किया है। काप्लान का दावा है कि अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जो आधारभूत रूप में दार्शनिक हैं और व्यवस्थावादी सिद्धान्त (System Theory), जो कि वैज्ञानिक पद्धति का एक भाग है, उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। वास्तव में वैज्ञानिक सिद्धान्तवादियों ने दार्शनिक प्रश्नों को अथवा दर्शन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की दृष्टि से जितने सुव्यवस्थित रूप में और जितनी गम्भीरता से लिया है उतने अच्छे ढंग से स्वयं परम्परावादी, जो दर्शन की वकालत करते हैं, नहीं ले पाए हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का सुनिश्चित मत है कि चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी अन्य किसी सामाजिक गतिविधि की भाँति मनुष्यों से सम्बन्धित है, अतः मनुष्यों के व्यवहार के विश्लेषण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समुचित रूप में अध्ययन हो सकता है। आखिर मानव-व्यवहार ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में मनुष्यों की गतिविधियों को प्रतिबिम्बित करता है। वैज्ञानिक अथवा व्यवहारवादी दृष्टिकोण सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का पोषक है

और इसका आग्रह है कि सामाजिक रूप मे परिभाषित भूमिकाओं मे लोगों के व्यवहार का अध्ययन ही हमारा केन्द्रीय उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम सामाजिक विज्ञान के विभिन्न शास्त्रो—विशेषकर समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और मानव-शास्त्र की ओर अपना कदम बढाएँ क्योंकि ये सब शास्त्र मानव-व्यवहार को समझने मे हमारी मदद करते है। निरन्तर परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक सत्ता के वितरण की उचित जानकारी के लिए इन सामाजिक विज्ञानों का सहारा लेना आवश्यक है क्योंकि इनके आधार पर ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण किया जा सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र मे घटित होने वाली घटनाओं के पूर्वानुमान मे सहायक सिद्ध हो सकें और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समुचित अध्ययन करने की दिशा मे हमे आगे बढ़ा सके। यद्यपि परम्परावादी भी *अन्य शास्त्रो के अध्ययन को आवश्यक मानते हैं, लेकिन उनका आग्रह इतिहास, कानून और दर्शन पर है।* विज्ञान बनाम परम्परावाद (Science V/s Traditionalism) का सघर्ष जारी है तथापि आधुनिक प्रवृत्ति विज्ञानवाद की ओर है और विज्ञानवादियो अथवा व्यवहारवादियो का विश्वास है कि एक दिन वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) का निर्माण कर सकेंगे।



4 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष के रूप में : राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा

(International Politics as a Struggle for Power : Concept of National Power)

"अपने हितों के अनुकूल दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता का नाम शक्ति है। जब तक कोई राष्ट्र ऐसा नहीं कर सकता, वह विशाल हो सकता है, धनवान हो सकता है और महान् भी हो सकता है, किन्तु वह शक्तिशाली नहीं कहा जाएगा।" —मार्गेन्सथो

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की एक बडी कठिन समस्या यह स्पष्ट करना है कि एक राष्ट्र ने जिस रूप से व्यवहार किया है, उसने उसी रूप में क्यों किया अन्य रूपों में क्यों नहीं किया। विचारकों ने इसके अनेक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किए हैं। किसी ने 'शक्ति' को प्रमुखता दी है तो किसी ने 'राष्ट्रीय हित' को, जबकि कुछ ने दोनों को एक साथ मिलाकर प्रस्तुत किया है। ऐसे भी विचारक हैं जो विचारधारा को राष्ट्रीय व्यवहार की सबसे अधिक प्रेरक-शक्ति मानते हैं। कतिपय व्यक्ति राष्ट्रीय व्यवहार का बौद्धीकरण उस राष्ट्र के उपलब्ध साधनों, महत्त्वाकांक्षाओं, राष्ट्रीय चरित्र, आर्थिक स्थिति, भौगोलिक स्थिति, आदि के आधार पर करने का प्रयास करते हैं, किन्तु आधुनिक प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को शक्ति (Power) के आधार पर समझने की है। अधिक विद्वान् यह मानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्पन्न किया गया प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्राप्त करने, प्राप्त शक्ति की वृद्धि करने, उसका प्रदर्शन करने आदि से सम्बन्ध रखता है। हेराल्ड स्प्राउट तथा मार्ग्रेट स्प्राउट (Harold & Margaret Sprout) ने लिखा है—

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में सर्वाधिक बहु-प्रयुक्त शब्दों में से एक है पावर (शक्ति)। राज्यों को शक्तियाँ कहा जाता है और उनका वर्गीकरण महाशक्ति (सुपर पावर), विश्व-शक्ति (वर्ल्ड पावर), बडी शक्ति (ग्रेट पावर), दूसरे नम्बर की शक्ति (सैकेंड रेट पावर), कमजोर शक्ति (वीक पावर) आदि किया

जाता है। राजनेता पूरा ध्यान शक्ति-सन्तुलन पर देते हैं। शक्ति-सन्तुलन ठीक करने, शक्ति में वृद्धि करने या अन्य प्रकार से राज्य की शक्ति-स्थिति सुधारने के लिए गठबन्धन किए जाते हैं। ऐसी क्रियाओं को 'शक्ति की राजनीति' कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बहुधा परिभाषा ही 'शक्ति के लिए संघर्ष' के रूप में की जाती है। पारस्परिक राजनीतिक क्रिया घरेलू हो या अन्तर्राष्ट्रीय, उसके प्रायः हर वर्णन की तह में शक्ति का कोई सम्प्रत्यय होता है। राजनीतिशास्त्र के अनुशासन की परिभाषा 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र जिसकी एक शाखा है—समाज में शक्ति का अध्ययन'—के रूप में की गई है।"[1]

चाहे राष्ट्रीय राजनीति हो या अन्तर्राष्ट्रीय, शक्ति-तत्त्व दोनों में सन्निहित होता है। इसका कभी विलोप नहीं होता। अवश्य ही शिथिलता और तीव्रता की लहरें आती-जाती रहती हैं। स्प्राउट एवं स्प्राउट (Sprout & Sprout) ने एक अमेरिकी इतिहासवेत्ता कार्ल बेकर के सारगर्भित कथन को प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"सामान्य तथ्य यह है कि राजनीति को शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। राज्यों और सरकारों का अस्तित्व ही शक्ति-प्रयोग के लिए होता है। प्रत्येक देश में और आम तौर पर विश्व में या तो शक्ति-सन्तुलन स्थिर होता है या अस्थिर या बिल्कुल नहीं होता लेकिन शक्ति सदा रहती है। संसार में राजनीतिक शक्ति का अस्तित्व है और जिनके पास वह है वे उसका प्रयोग भी करेंगे।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रख्यात विद्वान् हंस जे. मॉर्गेन्थो (Hans J. Morgenthau) ने तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति को बहुत ही प्रमुख स्थान दिया है। तदनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य राजनीति की तरह शक्ति के लिए संघर्ष (Struggle for Power) है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्ततोगत्वा चाहे कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, उसका तत्कालीन लक्ष्य शक्ति प्रदान करना ही होता है।"[3] अतः यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मर्म को समझना है और उसकी गूढ़ता को हृदयगम करना है, तो हमें शक्ति की महत्ता अर्थात् राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा (Concept of National Power) को समझना होगा।

राष्ट्रीय शक्ति क्या है ?
(What is National Power?)

कतिपय प्रमुख परिभाषाएँ
(Some Important Definitions)

दूसरों को प्रभावित कर सकने की क्षमता को साधारणतया हम 'शक्ति' के नाम से सम्बोधित करते हैं। यदि शक्ति को व्यक्तिगत शक्ति के सन्दर्भ में न लेकर

1 *Harold Sprout & Margaret Sprout*: Foundations of International Politics (Hindi ed.), p. 183.
2 Quoted by *Sprout & Sprout*: Ibid, p 183.
3 *Hans J Morgenthau*: op. cit, p. 25.

हम राष्ट्रीय सन्दर्भ में लें तो उसे 'राष्ट्रीय शक्ति' कहेंगे। राष्ट्रीय शक्ति किसी राष्ट्र की आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का एक ऐसा अस्त्र है जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उसका स्तर, महत्त्व एवं स्थान आंका जाता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय शक्ति उस मापदण्ड का कार्य करती है जिसके आधार पर हम अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर पड़ने वाले किसी राष्ट्र के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकते हैं और इस प्रकार अन्य विषयों को भी अपनी विदेश-नीति में तदनुकूल समायोजन करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति को एक राष्ट्र का सबसे बड़ा केन्द्र-बिन्दु माना है जिसके चारों ओर उसकी विदेश-नीति के विभिन्न पहलू चक्कर काटते रहते हैं। राज्य का सबसे बड़ा हित यह है कि वह अधिकाधिक राष्ट्रीय शक्ति का अर्जन करे, जिन साधनों और तत्त्वों द्वारा राष्ट्र की शक्ति बढ़ाई जा सकती है उनकी ओर पर्याप्त ध्यान दे और उनके विकास, अभिवर्द्धन, सरक्षण, सपोषण, आदि पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करे। यदि राष्ट्र विपरीत आचरण करते हुए अपनी राष्ट्रीय शक्ति को क्षीण होने देता है तो इसका स्पष्ट आशय 'आत्मघात' है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त, जिसका पिछले अध्याय में विस्तार से विवेचन किया जा चुका है, इसी बात पर बल देता है कि प्रत्येक राष्ट्र 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' (Interest Defined in Terms of Power) की दृष्टि से ही सोचता है।

राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा को विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। कुछ प्रमुख विचारों और परिभाषाओं पर विचार करना उपयुक्त होगा—

स्प्राउट एवं स्प्राउट—हेराल्ड तथा मार्ग्रेट स्प्राउट ने राजनीतिक शक्ति की अवधारणा को समझाते हुए राष्ट्रीय शक्ति को स्पष्ट किया है, क्योंकि राजनीतिक शक्ति का विवेचन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए प्रासंगिक है।[1] स्प्राउट के अनुसार राजनीतिक शक्ति की धारणा परिमापन उपकरण के स्थान पर व्यवहारगत सम्बन्धों की होती जा रही है। राजनीतिक शक्ति के सम्प्रत्यय की इस अवधारणा को समझाने के लिए स्प्राउट ने सेमुअल एच बियर की निम्नलिखित परिभाषा उद्धृत की है—

"एक व्यक्ति दूसरे पर शक्ति प्रयोग करता है जबकि वह जानबूझ कर ऐसे तरीके से काम करे जिससे दूसरे का कार्य भविष्यवाणी करने योग्य ढंग से प्रभावित हो""शक्ति समाज में कई रूप धारण करती है। एक स्पष्ट रूप है सम्पदा। हममें से प्रत्येक व्यक्ति शक्ति के इस रूप का प्रयोग वस्तुओं या सेवाओं के लिए भुगतान करके करता है। शक्ति के अन्य परिचित रूप हैं-शारीरिक शक्ति, सामाजिक हैसियत, शिक्षा, नैतिक आचरण, व्यक्तिगत आकर्षण, फौजी, कानूनी या प्रबन्ध की योग्यता। बहुधा हम एक व्यक्ति की दूसरों पर शक्ति का स्रोत इन कारणों में से एक या अनेक के रूप

1 *Sprout and Sprout*: op. cit., pp. 188-89.

मे खोज सकते हैं जो उसका 'शक्ति-आधार' है। इस प्रकार 'शक्ति के आधार' की चर्चा का अर्थ यह नही है कि शक्ति कोई ऐसी चीज होती है जो किसी व्यक्ति या गुट के पास ही है। शक्ति सापेक्ष होती है। एक व्यक्ति का दूसरे पर पडने वाला प्रभाव केवल शक्ति रखने वाले पर ही नही, उस व्यक्ति पर भी निर्भर है जिसे प्रभावित किया गया है। प्रभावित व्यक्ति की स्थिति मे अवश्य अन्तर पड जाएगा। सम्पन्न की तुलना मे शायद गरीब आदमी, धन के प्रभाव मे अधिक आ जाएगा। हथियारबन्द व्यक्ति की तुलना मे इसी प्रकार निहत्था व्यक्ति हथियार के प्रभाव मे अधिक आएगा। इनके अलावा जिसे प्रभावित करना अभीष्ट है उस व्यक्ति के स्वार्थ और मनोवैज्ञानिक धारणा भी परिणाम पर असर डालेगे। शहीद को हिंसा का डर, मूर्ख को तर्क की अपील, नास्तिक को स्वर्गीय सुख का आश्वासन डिगा नही सकेगा। जहाँ ये व्यक्तिगत रुझानो के उदाहरण हैं, इनसे यह भी पता चलता है कि एक समाज की संस्कृति उनके भीतर उभरने वाली शक्ति के रूपो पर किस प्रकार गहरा प्रभाव डालती है।"

बियर के इस शक्ति-विवेचन को स्प्राउट एव स्प्राउट ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए प्रासगिक मानते हुए लिखा है—"*मुख्य सम्प्रत्यय परस्पर क्रिया का है।* पारस्परिक क्रिया का मर्म है, माँग और प्रतिक्रिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ मे माँग करने वाले होते हैं राज्य के सरकारी प्रतिनिधि या प्रवक्ता—वह व्यक्ति या गुट जिन्हे राज्य के नाम पर कदम उठाने का कानूनी अधिकार मिला होता है। उनकी माँगों का राजनीतिक महत्त्व तभी होगा जब उनके फलस्वरूप कुछ विरोध उत्पन्न हो, कुछ प्रतिरोध हो, कुछ स्वार्थ-सघर्ष सामने आएँ। लेकिन *माँग हो या प्रतिक्रिया*—उसे राजनीतिक होने के लिए युद्धरत या युद्ध की सम्भावना दिखाना आवश्यक नही है। माँगें विनम्र या आदेशपूर्ण, अत्यन्त स्पष्ट या अस्पष्ट और सामान्य प्रकार की हो सकती हैं। प्रतिक्रियाएँ भी मैत्रीपूर्ण या नाराजी की स्थिति मे हर सम्भव प्रतिरोध के बीच, कही भी हो सकती हैं।"

स्प्राउट एवं स्प्राउट महोदय ने 'क्रियाशील अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति' पर अपनी सुविख्यात पुस्तक के अध्याय चार मे अपने विचार विस्तार से प्रकट किए है। इस सम्बन्ध मे उनके विचारों के सारांश को हम इसी अध्याय मे आगे 'क्रियाशील राष्ट्रीय शक्ति' के शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे।

मॉर्गेन्थो—यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रतिपादक मॉर्गेन्थो के मतानुसार राष्ट्रीय शक्ति "राष्ट्र की वह शक्ति है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति दूसरे राष्ट्रो के कार्यों, व्यवहारो और नीतियो पर प्रभाव तथा नियन्त्रण रखने की चेष्टा करता है।"[1] यह राष्ट्र की वह क्षमता है जिसके बल पर एक व्यक्ति दूसरे राष्ट्रो से अपनी इच्छा के अनुरूप कोई कार्य करा लेता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई व्यक्ति दूसरे के मन और विचारो को प्रभावित कर उनमे अपना वांछित कार्य करा लेता है। राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा के साथ मॉर्गेन्थो का नाम सुप्रतिष्ठित रूप मे जुडा

1 *Morgenthau* : op. cit., p. 28.

हुआ है और उनके विचारों पर भी विस्तार से आगे एक पृथक् शीर्षक में प्रकाश डाला गया है।

पैडलफोर्ड तथा लिंकन—इन लेखक द्वय का मत है कि "यह शब्द राष्ट्रीय शक्ति की भौतिक और सैनिक शक्ति तथा सामर्थ्य का सूचक है। किन्तु उस व्यापक अर्थ में, जिसमें यह शब्द अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के मध्य शक्ति-संघर्ष में प्रयुक्त किया जाता है, यह इससे अधिक व्यापक है। राष्ट्रीय शक्ति को हम शक्ति एवं सामर्थ्य का वह योग मान सकते हैं जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाता है।"[1]

शूमां—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ख्याति-प्राप्त विद्वान् शूमा ने लिखा है कि वह शक्ति, जिसको अपने राज्य में उत्सुकतापूर्वक सुरक्षित रखना और दूसरों में व्यग्रतापूर्वक देखना आवश्यक होता है, अन्तिम विश्लेषण में सैनिक शक्ति अथवा बौद्धिक योग्यता है। शक्ति का स्वतः अर्थ मित्रों को प्राप्त करने और लोगों को प्रभावित करने, सहानुभूति जाग्रत करने, आज्ञापालन तथा सहयोग प्राप्त करने वाले भौतिक साधनों एवं घूर्ततापूर्ण उपायों द्वारा दृढ़तापूर्वक कार्य लेने की योग्यता ही है। लेकिन वह शक्ति जो मुख्यतः एक राजसत्ता के अन्य राजसत्ताओं से व्यवहार करने से सम्बन्ध रखती है, एक सुसंगठित ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों, राजनीतिक दलों, दबाव-समुदायों, गोष्ठी-गृहों और मतदाताओं की शक्ति की अपेक्षा एक सरल, अधिक सीमित एवं अधिक अनिश्चित गुण है। यहाँ शक्ति का आश्रय लेने का अवसर कम हो जाता है और वस्तुत: शक्ति पर एकाधिकार रखने वालों द्वारा बल-प्रयोग को दृढ़तापूर्वक रोक दिया जाता है। कपट और अनुग्रह, विचार-शक्ति और आकांक्षा के प्रति अपीलों का नियमित परिस्थितियों में प्राधान्य रहता है। किन्तु स्वतन्त्र राज्यों के प्रभाव के ये साधन प्रायः महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विस्तार और गुण की दृष्टि से सीमित होते हैं। एक सम्राट् की दूसरे सम्राटों के साथ व्यवहार करने की अन्तिम युक्ति शक्ति ही है।[2]

हार्टमैन के शब्दों में, "राष्ट्रीय शक्ति से यह बोध होता है कि अमुक राष्ट्र कितना शक्तिशाली अथवा निर्बल है या अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से उसमें कितनी क्षमता है।"[3] आर्गेंसकी का मत है कि "अपने हितों के अनुकूल दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता का नाम शक्ति है। जब तक कोई राष्ट्र ऐसा नहीं कर सकता तो वह विशाल, धनवान और महान् होते हुए भी शक्तिशाली नहीं कहा जाएगा।"[4]

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय शक्ति के अनिवार्यतः दो उद्देश्य होते हैं—(क) आत्म-रक्षा, एवं (ख) अपने प्रभाव का विस्तार।

1 *Padleford & Lincoln* : International Politics, p. 193.
2 *Schuman* : International Politics, p. 250
3 *Hartmann* : The Relations of Nations, p. 10.
4 *Organsky* : World Politics, p. 96.

राष्ट्रीय सुरक्षा किसी भी राज्य का न्यूनतम दायित्व है। इसके लिए उसे शक्ति-सम्पन्न होना ही पड़ता है। लेकिन कई राष्ट्र केवल अपनी सुरक्षा से ही सन्तुष्ट नहीं रहते, अतएव दूसरे राष्ट्रों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना महत्त्व बढ़ाना चाहते हैं। इस महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति तभी सम्भव है जब वह राष्ट्र विपुल साधन-सम्पन्न हो। साधनों से अभिप्राय धन, जनसख्या, भौगोलिक स्थिति, सैन्य-शक्ति आदि विभिन्न बातों से है जिनका विस्तार से विवेचन अगले अध्याय में किया गया है। यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि साधनों की प्रचुरता होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि कोई राष्ट्र अनिवार्य रूप से शक्तिशाली भी है अर्थात् इस बात में समर्थ है कि दूसरे राष्ट्रों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ला सके। वास्तव में जब तक किसी राष्ट्र में अपने साधनों को समुचित रूप से प्रयुक्त कर अपने प्रभाव का विस्तार करने की कला अथवा सामर्थ्य न हो तब तक साधन-सम्पन्न होते हुए भी वह शक्ति-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, सन् 1947 तक चीन विशाल भू-भाग, विशालतम जनसख्या और बड़ी भारी सेना रखते हुए भी बड़े राष्ट्रों में नहीं गिना जाता था जबकि आज स्थिति सर्वथा विपरीत है। इसी प्रकार अरब राष्ट्रों के पास विपुल तेल-शक्ति है, लेकिन उनमें दूसरे राष्ट्रों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेने की शक्ति का अभाव है। आशय यह है कि शक्ति-सम्पन्न बनने के लिए साधनों के समुचित उपयोग द्वारा दूसरे राष्ट्रों को प्रभावित करने की इच्छा और सामर्थ्य भी होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति के अस्तित्व का मुख्य आधार यह है कि राष्ट्रों के मध्य किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध विद्यमान हो और जहाँ कहीं दो राष्ट्रों के बीच आपसी सहमति न हो, वहाँ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने अनुकूल व्यवहार के लिए प्रभावित करने की योग्यता रखता हो। उदाहरणार्थ, द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका ने रूसी प्रभाव-विस्तार को रोकने के लिए पश्चिमी जर्मनी के सैनिकीकरण करने की इच्छा प्रकट की थी। लेकिन फ्रांस ने, जो रूस की अपेक्षा सदैव जर्मन सेनाओं से भयभीत रहा है, इसका विरोध किया तथा गुप्त रूप से अनेक कूटनीतिक कदम उठाए परन्तु अन्त में वह पश्चिमी जर्मनी के सैन्यीकरण के लिए तैयार हो गया। यहाँ पर कहा जा सकता है कि अमेरिका ने फ्रांस पर अपनी 'शक्ति का प्रयोग किया अर्थात् वह फ्रांस को अपने प्रभाव में ला सका।

राष्ट्रीय शक्ति पर मॉर्गेन्थो के विचार
(Morgenthau's Views on National Power)

राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा के साथ मॉर्गेन्थो का नाम सुप्रतिष्ठित रूप में जुड़ा हुआ है। अतः उनके विचारों को कुछ विस्तार से जान लेना उपयुक्त होगा। मॉर्गेन्थो ने प्रथम तो यह स्पष्ट किया है कि राष्ट्र क्या है और तदुपरान्त बतलाया है कि हम राष्ट्रीय शक्ति किसे मानें। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि राष्ट्रीय शक्ति की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है तथा एक राष्ट्र के निवासी उसकी अनुभूति से

रोमांचित हो उठते हैं। अग्रिम पंक्तियों में हम मॉर्गेन्थो के स्वयं के शब्दों में[1] सारांश मे उनके विचार प्रस्तुत करेंगे।

"राष्ट्र स्वयं में एक वस्तु तो है नही जिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। वह स्वय दृष्टिगोचर नही हो सकता। राष्ट्र तो उन तमाम व्यक्तियों का अदृश्य अथवा अमूर्त रूप है जिनके कुछ लक्षण सामान्य है और उन लक्षणों के कारण ही वे सब एक राष्ट्र के सदस्य बनते है। इसीलिए जब हम व्यावहारिक रूप मे किसी राष्ट्र की शक्ति अथवा वैदेशिक नीति की बात कहते हैं तो हमारा अर्थ केवल उन विशेष व्यक्तियों की शक्ति अथवा विदेश-नीति से होता है जो उसी राष्ट्र के सदस्य हैं।"

"परन्तु इससे एक दूसरी कठिनाई पैदा हो जाती है। संयुक्तराज्य की शक्ति तथा विदेश-नीति स्पष्ट रूप से उन तमाम व्यक्तियो की शक्ति तथा नीति नही है जो उस राष्ट्र के सदस्य हैं जिसे 'संयुक्तराज्य' कहा जाता है। यह तथ्य कि द्वितीय विश्व-महायुद्ध के उपरान्त सयुक्तराज्य विश्व मे सर्वशक्तिमान राष्ट्र होकर उभरा है, अमेरिकी जनता के बहुत से व्यक्तियो की शक्ति मे कोई परिवर्तन नही ला सका है परन्तु उसने उन तमाम व्यक्तियों की शक्ति मे परिर्तवन ला दिया है जो संयुक्तराज्य के वैदेशिक मामलो का नियन्त्रण करते हैं। चूंकि कोई राष्ट्र अपनी विदेश-नीति का संचालन एक कानूनी सस्था के रूप मे करता है जिसे राज्य कहा जाता है एवं जिसके प्रतिनिधि राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे प्रतिनिधित्व करते है। ये उसकी ओर से बोलते हैं, उसके नाम से सन्धियां करते हैं और उसकी शक्ति स्थापित, परिवर्धित अथवा प्रदर्शित करते रहते हैं। ये व्यक्ति ही राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शक्ति का प्रयोग करते हैं और अपने राष्ट्र की नीतियो का अनुसरण करते हैं। जब कभी भी हम *व्यावहारिक* रूप मे किसी राष्ट्र की शक्ति अथवा विदेश-नीति का प्रश्न उठाते हैं, तब हमारा तात्पर्य इन्ही व्यक्तियो से होता है।"

"तो फिर *यह कैसे सम्भव हो जाता है कि राष्ट्र के वे बहुसंख्यक जन जिनकी* व्यक्तिगत शक्ति राष्ट्रीय शक्ति के भाग्य के उलटफेर से प्रभावित नही होती, राष्ट्र की शक्ति अथवा उसकी विदेश-नीति से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते है तथा उस शक्ति को बिलकुल अपनी ही अनुभव करते हैं। यह सब उस प्रेरणा तथा भावात्मक *अनुभूति की गहराई से करते है जिसका लगाव उनकी स्वयं की व्यक्तिगत शक्ति* की आकांक्षाओ से भी कही अधिक गहरा और परे होता है? यह प्रश्न उठाकर हम वास्तव मे आधुनिक राष्ट्रवाद की समस्या का प्रश्न उठा रहे हैं।"

होता यह है कि अधिकांश व्यक्ति राष्ट्रीय समुदाय के भीतर अपनी शक्ति-लिप्सा को शान्त करने मे असफल रहते हैं। जन-साधारण का एक बहुत बड़ा समूह बहुत सीमा तक केवल शक्ति का लक्ष्य-मात्र रहता है, स्वयं शक्ति उपार्जन करने

1 *Morgenthau* : op. cit., pp. 121-123 (Hindi ed.)

वाला नही होता। अपनी शक्ति-लोलुपता की आकांक्षाओं को राष्ट्रीय परिधि के अन्तर्गत पूर्ण तृप्ति प्रदान करने मे सफल न होने के कारण जनता इन असतुष्ट आकांक्षाओं को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सक्रमित कर देती है। वहां राष्ट्र की शक्ति की आकांक्षाओ से तादात्म्य करके अप्रत्यक्ष तृप्ति का अनुभव करता है। जब भी सयुक्तराज्य का नागरिक अपने देश की शक्ति के बारे मे सोचता है, तो उसे उसी प्रकार की उच्चता का अनुभव होता है जो कि रोम के नागरिक को रोम तथा उसकी शक्ति से तादात्म्य करने के उपरान्त अनुभव होता होगा और उसी आधार पर वह विदेशियो से घृणा करता होगा। जब हम अपने आपको एक ऐसे शक्तिशाली राष्ट्र का सदस्य अनुभव करते हैं जिसकी औद्योगिक सामर्थ्य तथा भौतिक वैभव अद्वितीय है, तो हमे उच्चता की अनुभूति होती है और हम बहुत गर्व अनुभव करते हैं। ऐसा लगता है कि हम सब व्यक्तिगत तौर पर नही वरन् सामूहिक तौर पर एक ही राष्ट्र के सदस्य होने के नाते इस महान् शक्ति पर प्रभुत्व तथा नियन्त्रण स्थापित करते हैं। जो शक्ति हमारे प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उपभोग करते हैं, वह हमारी अपनी ही प्रतीत होने लगती है और जो विफलताएँ हम राष्ट्रीय समुदाय के अन्दर अनुभव करते हैं, उनकी पूर्ति राष्ट्र की शक्ति के आनन्ददायक उपभोग द्वारा हो जाती है। चूंकि ऐसे मामलो मे पूर्ण मतैक्य असम्भवप्राय है, अत जनता मे कुछ वर्ग तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपने राष्ट्र की शक्ति या आकांक्षाओं के पूर्ण समर्थक होते हैं और कुछ वर्ग ऐसे भी होते हैं जो इस बात से सम्बन्ध नही रखते अथवा कुछ अन्य शिथिल विचार रखते हैं।

राष्ट्रीय शक्ति की मॉर्गेन्थोवादी व्याख्या को सरल शब्दो मे यो प्रकट किया जा सकता है कि राष्ट्र की विदेश-नीति का सचालन एव राष्ट्र की शक्ति का प्रयोग प्रत्येक निवासी की सामर्थ्य एव योग्यता के बाहर का विषय है। यह उस राष्ट्र के चुने हुए नेताओ के हाथ मे रहती है और इसीलिए एक राष्ट्र की शक्ति मे वृद्धि का तात्पर्य यह नही होता कि अब उसका प्रत्येक व्यक्ति शक्तिशाली हो गया है, किन्तु केवल वे लोग ही जो अन्तर्राष्ट्रीय रगमंच पर होने वाले अभिनय मे सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, एक राष्ट्र की बढ़ती हुई शक्ति से लाभान्वित हो सकते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारतवर्ष का स्थान ऊँचा है तो निश्चिय ही उसके राजनीतिज्ञो का स्थान भी सम्माननीय एवं उत्कृष्ट समझा जाएगा। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब एक व्यक्ति पर उसके राष्ट्र की शक्ति एव विदेश-नीति का सीधा प्रभाव नही पड़ता तो वह किस आधार पर अपने आप को उसके समरूप मान लेता है। इस प्रश्न का उत्तर एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा दिया जा सकता है जिसके अनुसार अधिकांश व्यक्तियो को उनके राष्ट्रीय जीवन मे कोई सम्मान और इज्जत प्राप्त नही हो पाती जिसके लिए वह सर्दैव प्रयत्न करता रहता है। अपने इस अभाव की पूर्ति वह दूसरे रूप में कर लेता है अर्थात् उसके देश के प्रतिनिधियों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे जो सम्मान प्राप्त होता है उसको वह स्वयं का सम्मान मान लेता है। जिस शक्ति को व्यक्तिगत जीवन में एक बुराई माना जाता है तथा जिसे प्रजातन्त्र, समानता व

स्वतन्त्रता के विरुद्ध माना जाता है, उसी शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है तथा शक्ति प्राप्त करने के सभी प्रयासों को न्यायोचित ठहराया जाता है। राष्ट्रीय शक्ति के साथ अपनी शक्ति का तादात्म्य करने वाले लोग प्रायः मध्यमवर्गीय परिवारों के होते हैं जिनके पास शक्ति की मात्रा अपर्याप्त रहती है तथा जो अपने आपको अरक्षित अनुभव करते हैं।

अन्त में उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय शक्ति का रूप एवं स्तर का निर्धारण हमेशा तुलनात्मक रूप से ही किया जाता है। एक राष्ट्र कमजोर है यह कहते समय हमारे मस्तिष्क में एक दूसरे राष्ट्र का चित्र भी रहता है जो इससे अपेक्षाकृत शक्तिशाली होता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र को शक्तिशाली कहते समय हमारे ध्यान में कमजोर राष्ट्र की मूर्ति भी रहती है। इस प्रकार की तुलना करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि हम एक राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्त्व की तुलना दूसरे राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के उसी तत्त्व के साथ ही कर सकते हैं।

राष्ट्रीय शक्ति की विशेषताएँ
(Characteristics of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति के विचार को हम राष्ट्रीय शक्ति की विशेषताओं के आधार पर और अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(1) अस्थायी चरित्र,
(2) सापेक्षता,
(3) तुलात्मक स्वरूप,
(4) शक्ति की दृष्टि से राष्ट्रों में असमानता,
(5) सभी तत्त्वों का समान महत्त्व,
(6) राष्ट्रीय शक्ति के सही मूल्यांकन की कठिनाई।

अस्थायी चरित्र—राष्ट्रीय शक्ति के चरित्र में कोई स्थायित्व नहीं पाया जाता और समय-समय पर इसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। भारत की राष्ट्रीय शक्ति का जो स्वरूप अथवा चरित्र पहले था वह आज नहीं है। सैनिक दृष्टि से निर्बल और अपनी सुरक्षा के प्रति शंकाशील भारत आज सैन्य-बल, प्रभाव तथा सुरक्षा की दृष्टि से आत्म-विश्वास से परिपूर्ण राष्ट्र है। सन् 1947 में चीन की राष्ट्रीय शक्ति का जो स्वरूप था, उसकी तुलना में आज वह विश्व की एक बड़ी शक्ति है। उसका विशाल भू-भाग लगभग वही है, जनसंख्या भी थोड़ी-बहुत ही बढ़ी है, लेकिन सैन्य बल, गुण और संख्या की दृष्टि से, प्रहार-क्षमता की दृष्टि से, बहुत वृद्धि हुई है। कूटनीतिक कौशल, विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा, नित्यप्रति बढ़ती हुई सैनिक शक्ति आदि के बल पर वह बहुत से राष्ट्रों पर अपने प्रभाव का विस्तार करने में सफल हुआ है। पाकिस्तान की राष्ट्रीय शक्ति का जो स्वरूप दिसम्बर, 1971 से पूर्व था वह आज नहीं है। तथाकथित पूर्वी पाकिस्तान स्वतन्त्र बंगला देश के रूप में जन्म ले चुका है और विखण्डित पाकिस्तान की स्थिति आज दयनीय है। संक्षेप में, राष्ट्रीय

शक्ति का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहता है। जापान, जर्मनी आदि के उदाहरण राष्ट्रीय शक्ति के अस्थायी चरित्र के अन्य ज्वलन्त प्रमाण हैं।

सापेक्षता—राष्ट्रीय शक्ति की दूसरी विशेषता उसकी सापेक्षता है। जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ अपने शक्ति-सम्बन्धो मे परिवर्तन करता है तो उस राष्ट्र के शेष सम्बन्धो मे स्वत. परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब हिन्द-चीन ने फ्रांस से और भारत ने ब्रिटेन से स्वतन्त्रता प्राप्त की तो इनके पारस्परिक शक्ति-सम्बन्धो मे स्वत परिवर्तन आ गया। इसी प्रकार का उदाहरण हम बगला देश और पाकिस्तान के सन्दर्भ मे देखते हैं। सापेक्षता के सम्बन्ध मे आर्गेसकी ने लिखा है कि "चाहे दो राष्ट्र मित्र हो अथवा शत्रु केवल सुयोग्य साथी हो या मिलकर लडते हों, मिलकर व्यापार करते हो या उनके केवल कुछ समान साँस्कृतिक हित हो, प्रत्येक राष्ट्र यह ध्यान रखता है कि दूसरा क्या कर रहा है तथा जिस क्षण राष्ट्र को यह ध्यान आता है उसी क्षण उसके पास दूसरे को प्रभावित करने की शक्ति आ जाती है।"[1]

तुलनात्मक स्वरूप—राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप सदैव तुलनात्मक पद्धति से आँका जाता है। किसी भी राष्ट्र को शक्तिशाली कहते समय हमारे मस्तिष्क मे उन राष्ट्रो का चित्र रहता है जो अपेक्षाकृत निर्बल होते है। इसी तरह किसी राष्ट्र को निर्बल कहते समय हम शक्तिशाली राष्ट्रो की तस्वीर से परिचित रहते है।

शक्ति की दृष्टि से दो राष्ट्र समान नहीं होते—राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से कोई भी दो राष्ट्र समान नही हो सकते, ठीक उसी तरह जिस तरह कि शक्ति की दृष्टि से हम किन्ही भी दो व्यक्तियो को पूरी तरह समान नही पाते। यदि भारत की तुलना चीन, अमेरिका, रूस, पाकिस्तान या किसी भी अन्य राष्ट्र से करें तो स्पष्ट है कि हम या तो किसी राष्ट्र को भारत से अधिक शक्ति-सम्पन्न पाएँगे या निर्बल। लेकिन यह नही हो सकता कि भारत और कोई अन्य राष्ट्र पूरी तरह समान शक्ति-सम्पन्न हों। राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से न्यूनाधिक अन्तर पाया जाएगा।

सभी तत्वों का समान महत्त्व—राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्त्वो का समान महत्त्व होता है। राष्ट्रीय शक्ति के किसी एक तत्व को अधिक महत्त्व देकर उसके आधार पर यदि एक देश अपनी विदेश-नीति का निर्माण करेगा तो उसे निश्चय ही असफलता प्राप्त होगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे प्राय भूगोल की राजनीति (Geo-Politics), राष्ट्रवाद (Nationalism) और सैनिकवाद (Militarism) पर अधिक जोर दिया जाता है जो राष्ट्रीय शक्ति के प्रतिनिधि न होकर उसके केवल एक तत्त्व के परिचायक मात्र है।

राष्ट्रीय शक्ति का सही मूल्यांकन कठिन है—अन्तिम मुख्य विशेषता यह है कि हम किसी भी राष्ट्र की शक्ति का एकदम सही मूल्यांकन नही कर सकते। कोई भी देश दूसरे देश की शक्ति को सही रूप मे कभी नही आँक सकता। प्रायः यह

1 *Organski* : op. cit., p. 97.

प्रवृत्ति देखी गई है कि लोकतान्त्रिक देश सामान्यत: दूसरे देशों की शक्ति को अधिक और सर्वाधिकारवादी देश दूसरे की शक्ति को कम करके आँकते हैं। एक राष्ट्र स्वयं अपनी ही शक्ति का समुचित मूल्यांकन नहीं कर पाता तो दूसरे राष्ट्रों का क्या कर पाएगा। अपनी शक्ति का सही मूल्यांकन अवश्य ही किसी भी राष्ट्र के लिए शक्ति का एक साधन सिद्ध होता है जबकि अपनी शक्ति का गलत मूल्यांकन उसके लिए सदैव विफलता और कमजोरी का कारण सिद्ध होगा। भारत के विरुद्ध पाकिस्तान सदैव अपनी शक्ति का गलत मूल्यांकन करता रहा है जिसका परिणाम विश्व के सामने है। इजराइल के विरुद्ध अरब-राष्ट्रों ने अपनी शक्ति का सही मूल्यांकन न कर पाने के कड़वे फल भोगे हैं।

कुछ विद्वानों के मतानुसार एक देश के व्यवहार, रहन-सहन, निर्णय लेने की प्रक्रिया पर दूसरे देशों का जो प्रभाव पड़ता है, वह भी शक्ति का एक रूप माना जाएगा, क्योंकि शक्ति आवश्यक रूप से सदैव अपने आपको हिंसात्मक रूप में ही प्रकट नहीं करती। वह शान्तिपूर्ण तरीके से प्रभावी हो सकती है। आज के युग में विश्व-जनमत (World Opinion) का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भारी प्रभाव होता जा रहा है। अनेक देशों को अपनी विदेश-नीति से सम्बन्धित निर्णय केवल विश्व-जनमत के कारण ही बदलने पड़े हैं। विश्व-जनमत को बनाने के लिए प्रत्येक देश प्रचार-साधनों का समुचित विकास करता है ताकि विश्व के अन्य देश भी उसकी नीतियों का समर्थन कर सकें। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आज विश्व-जनमत को भी शक्ति के रूप में उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है जितना सैनिक शक्ति को। यथार्थ में शक्ति एक अविभाजित इकाई है जिसे व्यावहारिक रूप से कभी विभाजित नहीं किया जा सकता।

शक्ति-राजनीति इस तथ्य को मान कर चलती है कि आज राज्यों के आपसी सम्बन्ध अराजकतापूर्ण हैं। इसके मुख्य रूप से तीन कारण हैं—प्रथम, राज्यों की तथाकथित सम्प्रभु स्वतन्त्रता; दूसरे, उच्च सत्ता का अभाव; और तीसरे, बाहरी अवरोधों से स्वतन्त्रता।[1] इस अराजकता की स्थिति में एक देश अपने शत्रु के बराबर शक्ति प्राप्त करने मात्र से ही सुरक्षित नहीं बन जाता, वह केवल तभी सुरक्षित रह सकता है जबकि वह उससे कुछ अधिक शक्तिशाली हो। निरन्तर शक्ति-प्राप्ति का प्रयास ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वास्तविकता है। राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की शक्ति भी एक ऐसा तत्त्व है जिसे राज्य-व्यवस्था से अलग नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत अध्ययन में हम राष्ट्रीय शक्ति के सामान्य रूप, इसकी आवश्यकता, इसके आधार तथा इससे सम्बन्धित यथार्थवादी एवं आदर्शवादी विचारधारा का अवलोकन करेंगे।

राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप
(The Nature of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति का विश्व-राजनीति के क्षेत्र में जितना महत्त्व एवं प्रभाव है

1 *Nicholas Spykman* : America's Strategy in World Politics, p. 16.

उसे देखते हुए इस विषय पर किए जाने वाले बौद्धिक विचार-विमर्श का परिणाम नगण्य है। 'शक्ति' को राजनीति का एक मूल तत्त्व माना जाता है। शक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया जाता है और संघर्ष करने के लिए शक्ति प्राप्त की जाती है। यह प्रक्रिया प्रत्येक काल में तथा प्रत्येक स्थान पर चलती रही है। यह एक ऐसा तथ्य है जो अनुभव पर आधारित है और जिसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ लेखक तो यहाँ तक कहते हैं कि शक्ति के बिना राजनीति का अस्तित्व ही नहीं होता। जिस प्रकार डार्विन ने जीव-विकास में अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for Existence) एवं योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the Fittest) के नियमों का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक विश्व-राजनीति के विकास में भी इन नियमों को लागू करने का प्रयास करते हैं। डार्विन के विकास की प्रक्रिया की इकाई जीव था जबकि इन विचारकों के अध्ययन में विकास की इकाई राज्य है। यह कहा जाता है कि राज्य शक्ति के लिए संघर्ष में केवल इसलिए उलझते हैं, क्योंकि वे अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं। यहाँ तक कि अनेक देशों द्वारा क्षेत्रीय प्रसार एवं युद्ध की जो नीतियाँ अपनाई जाती हैं उनके पीछे भी सुरक्षा की भावना प्रेरक के रूप में कार्य करती है। वैसे राइनहोल्ड नीबर (Reinhold Niebuhr) की तो यह मान्यता है कि जीने की इच्छा और शक्ति प्राप्त करने की इच्छा के बीच अन्तर नहीं किया जा सकता।[1] एक देश किसी व्यवहार विशेष के समय अपने अस्तित्व की आकांक्षा से प्रेरित हुआ है अथवा शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से यह निर्णय करना कई बार असम्भव हो जाता है। प्रत्येक राज्य का यह अधिकार होता है कि वह शक्ति प्राप्त करे क्योंकि इसके बिना वह अपने नागरिकों की रक्षा एवं विकास के उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सकता। शक्ति का दुरुपयोग भी किया जा सकता है और किया जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि एक राज्य को शक्ति-प्राप्ति का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। दूसरे राज्य द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ एक राज्य के शक्ति प्राप्त करने के अधिकार को और भी अधिक आवश्यक बना देती हैं।

राष्ट्रीय शक्ति का आधार सम्प्रभुता की मान्यता को माना जाता है। जब राज्य अपने नागरिकों के विकास का उत्तरदायित्व सम्भाल लेता है तो वह इस दायित्व की पूर्ति के लिए अपनाई गई नीतियों पर किसी भी बाहरी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं चाहता। सम्प्रभुता की मान्यता राज्य को अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने की ओर प्रेरित करती है, और यह चुनौती भी देती है कि यदि उसने शक्ति-प्राप्ति के प्रयासों में ढील की तो उसका स्वयं का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। शक्ति को सम्प्रभुता का एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है और कोई भी राज्य सम्प्रभुता के बिना नहीं रह सकता; इसलिए स्वाभाविक है कि कोई भी राज्य शक्ति के बिना भी नहीं रह सकता। राष्ट्रीय शक्ति को सम्प्रभुता की मान्यता द्वारा एक कानूनी औचित्य

1 *Reinhold Neibuhr :* Moral Man and Immoral Society, 1933, p. 42.

प्रदान किया जाता है, दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की *यथार्थताएँ* भी इसे अपरिहार्य तत्त्व बना देती हैं।

राष्ट्रीय शक्ति की तुलना किसी भी अन्य संस्था या व्यक्ति की शक्ति से नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि राज्य की शक्ति पर कोई भी सैद्धान्तिक सीमा नहीं होती। राज्य के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, व्यावसायिक आदि संस्थाओं के पीछे भी कुछ शक्ति है, किन्तु इनमें से प्रत्येक संस्था की शक्तियों पर सीमाएँ तथा प्रतिबन्ध हैं जबकि राज्य की दमनकारी शक्ति पर कोई मर्यादा नहीं होती। इस अर्थ में राज्य अपने प्रकार की एक अलग ही संस्था है तथा राष्ट्रीय शक्ति इसकी प्राणवायु है। राज्य द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों के परिणामस्वरूप उसकी शक्तियों पर अन्य किसी राज्य की शक्ति की मर्यादाएँ भी प्रभावी नहीं हो सकती। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि जब एक राज्य के पास सैनिक शक्ति की मात्रा कम होती है तो उसकी शक्तियों को अधिक सैनिक शक्ति वाले राज्य द्वारा सीमित किया जाता है।

इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति के कानूनी एवं नैतिक दो आधार बन जाते हैं। कानूनी आधार सम्प्रभुता की मान्यता द्वारा प्रतिपादित किया जाता है और नैतिक आधार राज्य के उस उत्तरदायित्व से प्रकट होता है जिसके अनुसार वह अपने नागरिकों के अच्छे जीवन की प्राप्ति में सहायता करता है। राष्ट्रीय शक्ति को प्राप्त करने एवं उसमें अधिक से अधिक वृद्धि के लिए किए जाने वाले राज्य के प्रयासों का पहला कारण यह है कि वर्तमान राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था में शक्ति ही सुरक्षा का एकमात्र साधन है। इसका दूसरा कारण शक्ति का आकर्षक रूप है। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शान्तिवादी बर्ट्रेण्ड रसल (Bertrand Russel) का कहना है कि यदि सम्भव हो तो प्रत्येक व्यक्ति यह चाहेगा कि वह ईश्वर बन जाए। कुछ लोग तो इस बात को असम्भव मानने से भी इकार करते हैं अर्थात् वे सचमुच ही ईश्वर बनने का प्रयास करते हैं तथा उनका यह विश्वास रहता है कि वे इस प्रयास में सफल हो जाएंगे। शक्ति-राजनीति का यह एक रोचक पहलू है कि जब भी किसी देश से यह पूछा जाता है कि वह अपनी शक्ति को क्यों बढा रहा है तो वह हमेशा यही जवाब देता है कि विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए वह ऐसा कर रहा है। वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में यह बात भारत, पाकिस्तान और साम्यवादी चीन के उदाहरणों में देखी जा सकती है। चीन व पाकिस्तान की सैनिक तैयारियाँ देख कर भारत को अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई देती है, अतः वह भी सैनिक तैयारियाँ करता है। भारत की सैनिक तैयारी में पाकिस्तान व चीन को असुरक्षा की अनुभूति होती है और इसलिए वे अपने प्रयासों की गति को और भी बढा देते हैं। इस प्रकार शस्त्रों की होड़ लग जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रायः ऐसा होता रहता है। शस्त्रों की होड़ के अतिरिक्त मानसिक, नैतिक एवं क्षेत्रीय आधार पर मनमुटाव, तनाव और खिचाव बढ़ता है। इसकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है और एक दिन युद्ध का रूप धारण कर लेती है। यह शक्ति-राजनीति का एक स्पष्ट तथ्य है।

राष्ट्रीय शक्ति के अनेक रूप होते हैं। ई. एच. कार ने इसे तीन श्रेणियों मे विभाजित किया है—सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति तथा मत-शक्ति (Opinion)। शक्ति-प्रदर्शन के इन रूपो के अतिरिक्त हत्या एवं आतक आदि राजनीतिक युद्ध के कुछ रूपों का भी उल्लेख किया जा सकता है। सैनिक शक्ति का महत्व इसलिए है क्योंकि वह एक अन्तिम साधन है। जब एक राज्य शक्ति के अन्य रूपो के प्रयोग द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त नही कर पाता तो वह युद्ध का सहारा लेता है। यह एक प्रकार से ब्रह्मास्त्र है जिसका प्रयोग बहुत कम तथा मजबूरी की अवस्था मे ही किया जाता है। कार का कहना है कि शक्ति के क्षेत्र मे राज्य का प्रत्येक कार्य युद्ध की दिशा मे संचालित होता है, किन्तु यह युद्ध को एक वांछनीय हथियार नही मानता अपितु एक ऐसा हथियार मानता है जिसका प्रयोग यह अन्य कोई उपाय शेष न रहने पर ही करता है।

'राष्ट्रीय शक्ति' मूल रूप से सैनिक शक्ति ही है, किन्तु इस शक्ति की रचना मे अनेक तत्त्व कार्य करते हैं और इसलिए वे भी शक्ति के प्रतीक कहे जा सकते हैं। कई बार ये प्रतीक ही राज्य के लक्ष्य की पूर्ति मे सफल हो जाते है और युद्ध का मार्ग नही अपनाना होता। उदाहरण के लिए, हम एक देश की आर्थिक शक्ति को ले सकते है। सैनिक शक्ति के प्रसार के लिए इसका होना परम आवश्यक है। यह कहा जाता है कि युद्धों के वर्तमान स्वरूप को देखते हुए आर्थिक शक्ति ही सैनिक शक्ति है। इस कथन मे चाहे अतिशयोक्ति हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि करोडो रुपये प्रतिदिन का भार डालने वाले युद्ध मे कोई भी देश उस समय तक प्रवृत्त नही हो सकता जब तक कि उसके आर्थिक साधन मजबूत न हो। लोकमत पर प्रभाव की शक्ति प्रचार के माध्यम से सम्भव होती है। प्रचार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय मनोबल की स्थापना का प्रयास किया जाता है और विदेशो मे इसे मनोवैज्ञानिक युद्ध के साधन के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। प्रचार को भी राष्ट्रीय शक्ति के अन्य रूपो से अलग नही किया जा सकता क्योंकि यह देश मे उत्पादन बढाने तथा बलिदान करने की तत्परता पर जोर देता है तथा विदेशो मे मैत्री बढाने तथा दुश्मनों को कम करने का प्रयास करता है।

कूटनीति को भी राष्ट्रीय शक्ति का एक रूप माना जाता है। अधिकांश लेखको के कथनानुसार यह राष्ट्रीय शक्ति का स्रोत एवं रूप दोनो हैं।

शक्ति के लिए संघर्ष के आधार
(The Basis of Struggle for Power)

अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे शक्ति का संघर्ष अकारण ही नही होता, उसके कुछ आधार होते हैं। इस संघर्ष के प्रथम आधार की प्रकृति मानवीय है। इसके अनुसार किसी भी देश की सुरक्षा और एकता अच्छे जीवन की एक शर्त होती है। यदि उस देश की स्वतन्त्रता के लिए कोई धमकी दी जाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसके जीने के तरीके तथा उसके मूल्यो को धमकी दी जा रही है। अतः राज्य का यह मुख्य कर्त्तव्य माना जाता है कि वह अपने नागरिकों को शान्ति का वातावरण एवं

सम्पन्नता के अवसर प्रदान करे। राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संघर्ष का एक प्रमुख कारण है, किन्तु यही एकमात्र कारण नहीं है। संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस के बीच अनेकों प्रश्नों पर मतभेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक एवं राजनीतिक संगठनों तथा विश्वासों के बीच स्थित भिन्नताएँ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के मुख्य कारण हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि विचारधारा (Ideology) कभी-कभी तो राष्ट्रीयता की भावना से भी ऊपर उठ जाती है। एक देश के लोग दूसरे देश का समर्थन केवल इसी बात के आधार पर करने लगते हैं कि वहाँ के लोगों के विचार तथा विश्वास उन्हीं के जैसे हैं। विचारधारा के आधार पर ही विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत जो संघर्ष या गृह-युद्ध प्रारम्भ होते हैं वे बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप धारण कर लेते हैं। इस दृष्टि से द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद प्रारम्भ होने वाला शीत-युद्ध दो नैतिक दर्शनों के मध्य छिड़ने वाला एक विवाद था। मॉर्गेन्थो महाशय इस मत के समर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि राज्य जो भी कार्य करता है या जो भी निर्णय लेता है उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है। वह विचारधाराओं के आधार पर तो अपने व्यवहार एवं निर्णयों का औचित्य मात्र सिद्ध करता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक तीसरा आधार मूल्यों को माना जाता है। क्लाइड क्लखोन (Clyde Kluckhohn) आदि जाति-शास्त्र के विद्वानों का मत है कि संघर्षपूर्ण नैतिक मूल्य मनमुटाव के प्रधान कारण होते हैं। मूल्यों के द्वारा व्यवहार को प्रभावित किया जाता है और कभी-कभी तो उस पर निर्णय भी किया जाता है।

विचारधारा एवं विश्वास के आधार पर मनुष्य की बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को बल दिया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति किस दिशा में जा रहा है तथा वह जो कुछ कर रहा है वह ठीक है अथवा नहीं। मूल्य-व्यवस्था को चुनौती देने का अर्थ होता है एक ऐसी चीज को चुनौती देना जो मानव-जाति के लिए गम्भीर अर्थ रखती है। इस प्रकार का व्यवहार नैतिक सुरक्षा एवं निश्चिन्तता को खतरे में डाल देता है। एक देश की विदेश-नीति पर वहाँ के लोगों के सामाजिक मूल्यों का पर्याप्त प्रभाव रहता है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि नैतिक एवं सैद्धान्तिक विश्वासों के अतिरिक्त लोगों का या राज्य का कोई अन्य हित नहीं होता। अपने स्वीकृत नैतिक विचारों के दृष्टिकोण से ही वे यह तय करते हैं कि उनके हित क्या हैं।[1] विदेश-नीति के सम्बन्ध में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। जब एक देश यह मान लेता है कि पूँजीवादी व्यवस्था का अपरिहार्य गति के कारण संघर्ष अनिवार्य है, तब वह यह नीति अपनाता है कि गैर-साम्यवादी देशों की यथाशक्ति सहायता करे ताकि वे यथास्थिति को बनाए रखें और क्रान्ति का विरोध करें। सैद्धान्तिक मूल्यों को विदेश-नीति का अन्तिम निर्णायक माना जाए अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर अधिकांश विचारकों के बीच मतभेद है। वैसे अधिक विचारक यही मानते हैं कि कोई भी राजनीतिज्ञ उन मूल्यों की अवहेलना

1 *Partridge*: Paths to Peace, p. 102.

नहीं कर सकता जो उसके बहुसंख्यक देशवासियों द्वारा मान्य हैं। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की कोई भी ऐसी विचारधारा यथार्थवादी नहीं कही जा सकती जो विरोधी मूल्यों पर गम्भीर रूप से विचार करने में असमर्थ हो।

कोई भी देश जब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रवेश करता है तो उसके व्यवहार को प्रभावित करने मे उक्त तत्वो के अतिरिक्त समाज के दबाव-समूह भी पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। एक देश मे रहने वाले विभिन्न सामाजिक समूहों एवं बुद्धिजीवी वर्गों के अलग-अलग आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थ होते हैं और उसी के अनुरूप वे देश की विदेश नीति को प्रभावित करना चाहते हैं। प्रत्येक समाज मे ऐसे अनेक लोग होते हैं जिनकी स्वामिभक्ति उनके देश की अपेक्षा उनके धार्मिक, व्यावसायिक अथवा ऐसे ही अन्य संगठनों के प्रति अधिक रहती है। जब ये लोग अपने देश की विदेश-नीति के लक्ष्यों का मूल्यांकन करने लगते हैं तो उनका दृष्टिकोण भिन्न प्रकार का होता है।

लेनिन ने राज्यों के व्यवहार एव शक्ति-सघर्ष के लिए एक अन्य आधार को उत्तरदायी ठहराया है। उनका कहना है कि 'साम्राज्यवाद' पूँजीवाद का दूसरा सोपान है। पूँजीवादी देश अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए सुरक्षित बाजार चाहते है। अपने देश मे उनको यह प्राप्त नहीं हो पाता। लेनिन की व्याख्या चाहे वैज्ञानिक हो अथवा न हो, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक औद्योगिक एव बैंक-संस्थाओं को देश की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करना होता है। लेनिन ने इस तथ्य का उद्‌घाटन किया कि प्रत्येक समाज मे कुछ ऐसे लोग या वर्ग होते है जो दूसरे लोगो की जमीन, जीवन एव भूमि पर अपनी राष्ट्रीय सत्ता का प्रसार करना चाहते है।

शक्ति-संघर्ष के रूप
(The Forms of Struggle for Power)

मॉर्गेन्थो (Morgenthau) ने शक्ति-सघर्ष के तीन मुख्य रूपों का वर्णन किया है। ये रूप शक्ति सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण से प्रभावित रहते है। शक्ति के ये तीन मूल रूप निम्न प्रकार हैं—

1. शक्ति को कायम रखना (To Keep Power)—शक्ति का यह वह रूप (Pattern) है जिसमे एक देश शक्ति-स्थिति को यथावत् रखना चाहता है। शक्ति के इस रूप से प्रभावित विदेश-नीति का प्रमुख लक्ष्य यह होता है कि विश्व के देशो की शक्ति-स्थिति इस समय जैसी है वह वैसी ही रहे, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। यह नीति यथास्थिति (Statusquo) की नीति कही जाती है।

2. शक्ति में अभिवृद्धि (To Increase Power)—कुछ देशों की विदेश-नीति का लक्ष्य वर्तमान शक्ति-स्थिति को पलटना होता है। ऐसे देशो के पास जितनी शक्ति होती है वे उसमे और भी अधिक वृद्धि करना चाहते हैं। शक्ति-स्थिति मे ये देश ऐसा परिवर्तन करना चाहते हैं जो उनके पक्ष मे हो। ऐसे देश साम्राज्यवाद की नीति का संपोषण करते हैं।

3. शक्ति का प्रदर्शन (To Demonstrate Power)—बहुत से देश ऐसी नीति अपनाते हैं जिनके अनुसार उनको शक्ति का प्रदर्शन करने का अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हो सके। यह प्रदर्शन शक्ति को यथावत् रखने तथा उसे बढाने या इन दोनों ही लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। इस नीति को प्रतिष्ठा-नीति कहते हैं।

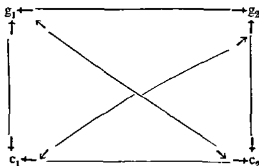
उक्त तीनों ही रूपों मे शक्ति के विभिन्न खेल समय-समय पर खेले जाते हैं तथा ये ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को नियमित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का शक्ति-संघर्ष हमें डार्विन के अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for Existence) तथा योग्यतम का उत्तरजीवन आदि सिद्धान्तों का स्मरण कराता है जिनका उल्लेख जीवन विकास के प्रसग मे किया जा चुका है, किन्तु यह राज्य-व्यवस्था के विकास पर पूरी तरह लागू होता है जब विश्व के राज्यों के हित आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक एव सैनिक आदि विभिन्न क्षेत्रों मे परस्पर टकराते हैं तो एक *संघर्ष की सी स्थिति पैदा हो जाती है। इस संघर्ष मे जो राष्ट्र विजयी होता है वह* आगे बढ़ जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसको सम्माननीय पद प्राप्त हो जाता है। इस पद की प्राप्ति के लिए प्राय. सभी राष्ट्र समान रूप से लालायित रहते हैं।

क्रियाशील राष्ट्रीय शक्ति—स्प्राउट एवं स्प्राउट के विचार[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति (पावर) को बहुधा 'सैनिक शक्ति' के रूप मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति रही है। अमेरिका जैसी महाशक्ति के सन्दर्भ मे स्प्राउट एवं स्प्राउट ने लिखा है—"*यह जोर देकर कहना पड़ेगा कि अमेरिकी प्रयोग मे* पावर शब्द बहुधा सैनिक शक्ति का बोध कराने का प्रयास करता है या कम से कम बल-प्रयोग या उसकी धमकी का बोध कराता है जो सैनिक शक्ति का सार है।" लेखक द्वय का मत है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सैनिक तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक आग्रह से बचने का एक तरीका यह है कि राज्यों की परस्पर क्रियाओं को अधिक सार्थक शब्दों मे व्यक्त किया जाए।" इसे यानी क्रियाशील राष्ट्रीय शक्ति को स्पष्ट समझ पाने के लिए लेखक महोदयों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अत्यधिक सरलीकृत मॉडल पर विचार किया है। तद्नुसार (संक्षेप में)—

इस मॉडल मे केवल दो राज्य हैं—राज्य 1 और राज्य 2। प्रत्येक राज्य *में क्रिया के दो स्रोत हैं—सरकार (g से अभिहित) अर्थात् एक संगठन जो राज्य* के नाम पर कदम उठाने का अधिकारी है तथा जन-क्षेत्र (c से अभिहित) जिसमे वे सभी लोग सम्मिलित हैं जो कानूनन सरकारी सत्ता के अधीन हैं। इन अतिसरलीकृत दो राज्यों की व्यवस्था में यह कल्पना की जा सकती है कि सन्देश दुतरफा विभिन्न धाराओं मे अग्रलिखित रीति से चलेंगे—

1 *Sprout and Sprout* : op. cit., pp. 190-211.



g_1-c_1 और g_2-c_2 धाराएँ सरकार और उसकी जनता के बीच एक राष्ट्रीय समुदाय के अन्तर्गत सन्देश वहन करती हैं। इस धारा में सन्देश होंगे—कानून, विशेष आदेश, घोषणाएँ, सार्वजनिक सम्बोधन, प्रेस-विज्ञप्ति और सरकार से जनता के नाम प्रसारित अन्य सन्देश। इसी धारा में माँगें, अपीलें, सरकारी नीतियों की आलोचनाएँ, वोट अर्थात् जनता से सरकार के नाम सन्देश प्रवाहित होते हैं। एक बिरादरी के भीतर सरकार-जनता धारा में बहने वाले कार्य-व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की हमारी परिभाषा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-व्यापार नहीं हैं। *फिर भी वे राज्य के सरकारी निर्णयकर्ताओं (अर्थात् सरकार) के पर्यावरण में* बहुत महत्त्वपूर्ण पक्षों का निर्माण कर सकते हैं।

धारा c_1-c_2 विभिन्न राज्यों में स्थित व्यक्तियों या गुटों के बीच सभी गैर-सरकारी सन्देशों का वहन करती है। इस धारा में—गैर-सरकारी खत, तार, टेलीफोन वार्ताएँ और रेडियो प्रसारण, पर्यटकों, छात्रों और अन्य विदेशियों के स्थानीय जनता से सम्पर्क सम्मिलित हैं। अखबार, पत्रिका, पुस्तक और अन्य गैर-सरकारी मुद्रित सामग्री जो देश में बाहर से आती है, अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य और वित्त का वह अंश जिसका संचालन गैर-सरकारी तौर पर होता है, और कई अन्य प्रकार के गैर-सरकारी कार्य-व्यापार भी इसी के अन्तर्गत शामिल होते हैं। ये कार्य-व्यापार अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की सामान्य कोटि में आ जाते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय- राजनीतिक सम्बन्धों के लिए अर्थात् उन सम्बन्धों के लिए जिनमें संगठित राष्ट्रीय बिरादरियों के बीच उद्देश्य या स्वार्थ का कुछ संघर्ष हो, बहुत महत्त्वपूर्ण हो या न हो, किन्तु सभी राज्यों में खास तौर पर कम्युनिस्ट तथा अधिनायकवादी व्यवस्थाओं में, यह सदा कठिन, कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-व्यापारों में सरकारी-गैरसरकारी का स्पष्ट अन्तर असम्भव होता है अर्थात् यह तय करना कठिन होता है कि विशिष्ट कार्य-व्यापार को c_1-c_2 कोटि में माना *जाए या g_1-c_2 अथवा g_2-c_1 में।*

g_1-c_2 और g_2-c_1 धाराएँ सन्देशों का वहन मुख्यतः एक ही दिशा में करती हैं—सरकार से किसी विदेशी जनता की ओर। कुछ सन्देश विपरीत दिशा में भी जाते हैं—उदाहरणार्थ गैर-सरकारी बैंकों द्वारा विदेशी सरकारों को ऋण या अधिक

स्पष्ट रूप में फारस की खाड़ी के चारों ओर अरब-राज्यों के लिए अमेरिकी तेल कम्पनियों के व्यापारिक कार्यक्रम। कुछ राज्यों में, खासकर अमेरिका में, गैर-सरकार व्यक्तियों द्वारा विदेशी सरकारों से राजनीतिक समझौते अवैध माने जाते हैं। दूसर ओर यह चिरपरिचित तथ्य है कि एक सरकार दूसरी सरकारों पर उनकी जनता के बीच धुआंधार प्रचार द्वारा असर डालने की कोशिश करती है। g_1-c_2 और g_2-c_2 ही वे धाराएँ हैं जिनमें होकर दूसरे राज्य की राजनीतिक व्यवस्था को उलटने वाले कार्य-व्यापार चलते हैं और उन्ही धाराओं में वास्तविक या शीतयुद्ध के कार्य-व्यापारों में से अनेकों का प्रवाह होता है।

धारा g_1-g_2 सरकारों के बीच सभी सन्देशों के विनिमय की धारा है। यह कूटनीति तथा अन्य सरकारों के बीच होने वाले कार्य-व्यापारों का ही वहन करती है।

राष्ट्रान्तरीय क्रियाओं की यान्त्रिकताओं, पद्धतियों, लक्ष्यों और प्रभावों की रूपरेखा में इन चार प्रकार की धाराओं को ध्यान में रखना लाभप्रद होगा और इस तरीके से शक्ति के सामान्य सम्प्रत्यय में परिणत किया जा सकेगा।

राज्यशिल्प के यन्त्रों से अभिप्राय है केवल वह मानवीय या अमानवीय तन्त्र, जिसका उपयोग राजनेता अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को अभीष्ट ढंग से प्रभावित करने के लिए करते हैं। इस तन्त्र की प्रकृति और क्षेत्र नीचे की रूपरेखा से स्पष्ट होंगे—

1. अमानवीय यन्त्र, जिनमें शामिल हैं—
   (अ) संचार की यन्त्र-सज्जा
   (ब) औचित्यवादी विचार
   (स) प्राविधिक जानकारी
   (द) दबाव और ध्वंस की यन्त्र-सज्जा
   (य) अन्य वस्तुएँ—खाद्य-सामग्री, कच्चा माल, पूंजीगत सामान, सामग्री आदि।
2. मानवीय यन्त्र, जिनमें शामिल हैं—
   (अ) सरकारी एजेन्सी और कर्मचारी—कूटनीतिक, सैनिक जनसम्पर्क और कई अन्य।
   (ब) गैर-सरकारी एजेन्सी और व्यक्ति—बैंक और बीमा व्यवसाय के कर्मचारी, शिक्षक, इंजीनियर, पत्रकार और कई अन्य।

व्यवहार में, राज्य-शिल्प के गैरमानवीय यन्त्र मानव द्वारा ही क्रियाशील होते हैं। संवाद-प्रेषण-यन्त्र तभी कार्य करता है जब कोई उसका उपयोग करे। यही बात औचित्यवादी विचारों, प्राविधिक ज्ञान, सैनिक सज्जा और गैर-सैनिक वस्तुओं और सेवाओं के बारे में भी है।

यहीं पर यन्त्रों और पद्धतियों के बीच अन्तर का प्रश्न उपस्थित होता है। पद्धति' शब्द से हमारा अभिप्राय है विभिन्न यन्त्रों या उनके समूहों द्वारा किए जाने वाले कार्य। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, विदेश-कार्यालय और राजदूतावास, अपने कर्मचारियों समेत राज्य-शिल्प के यन्त्र हैं, लेकिन कूटनीति एक पद्धति है। सैनिक, आयुध और उन्हें चलाने वाले सैनिक, यन्त्र हैं, विविध प्रकार की सैनिक गतिविधियां पद्धति

हैं। एक लोकतन्त्रीय देश में स्थित कम्यूनिस्ट पार्टी किसी विदेशी कम्यूनिस्ट सरकार का यन्त्र हो सकती है; उस दल के सदस्यों द्वारा की जाने वाली ध्वंस-क्रियाएँ पद्धति है। इंजीनियर, फार्म-विशेषज्ञ, अन्य विशेषज्ञ यन्त्र हो सकते हैं, प्राविधिक सहायता पद्धति है। विविध प्रकार की आर्थिक सामग्रियाँ यन्त्र हो सकती हैं, विदेशी राष्ट्रों द्वारा उपहार और ऋण पद्धति है।

राज्य-शिल्प की पद्धतियों का वर्गीकरण कई तरीको से किया जा सकता है—प्रयुक्त यन्त्रो के अनुसार, क्रिया के लक्ष्य के अनुसार, अभीष्ट प्रभावो के अनुसार या वस्तुत: उपलब्ध प्रभावो के अनुसार। निम्नांकित विश्लेषण काम मे आने वाले यन्त्रो के अनुसार है—

1. *पद्धतियाँ—प्रथमत संचार के यन्त्रों से सम्बन्धित—*
   (अ) समझौता वार्ता—कूटनीतिक सम्मेलन आदि।
   (ब) नीति की एकतरफा घोषणा।
   (स) जन-सम्पर्क—जो ख स नीतियो से साफ-साफ सम्बन्धित न हो।
   (द) मनोवैज्ञानिक आक्रमण—तोड़-फोड़, मनोबल पर आघात।
2. *पद्धतियाँ—प्रथमत. औचित्यवादी विचारो और/या प्राविधिक ज्ञान से सम्बन्धित—*
   (अ) *सामाजिक उपलब्धियों का प्रदर्शन*—वैज्ञानिक एव इजीनियरिंग प्रदर्शन, निर्देशित पर्यटन, प्रदर्शनियाँ, मेले आदि।
   (ब) सैनिक विकास मे सहायता।
   (स) अन्य प्राविधिक सहायता कार्य।
3. *पद्धतियाँ—प्रथमत: गैर-सैनिक वस्तुओ और सेवाओ की सुविधाओं से सम्बन्धित—*
   (अ) वस्तुओ और सेवाओ का दान—उपहार, ऋण आदि।
   (ब) वस्तुओ और सेवाओ को देने से इकार—बहिष्कार, नाकेबन्दी आदि।
   (स) अन्य प्रकार की आर्थिक कार्यवाही।
4. *पद्धतियाँ—प्रथमत: दबाव और ध्वंस के यन्त्रों से सम्बन्धित—*
   (अ) तोड़-फोड।
   (ब) आतंक—आयुध प्रदर्शन, सैनिक कार्यवाही की धमकी आदि।
   (स) सीमित सैनिक गतिविधियाँ—सैनिक हस्तक्षेप, सीमित युद्ध आदि।
   (द) असीमित सैनिक गतिविधियाँ—पूर्ण-युद्ध आदि।

पूर्व पृष्ठो मे कई स्थलो पर लक्ष्य-राज्य शब्द का प्रयोग किया गया है और उस राज्य की सरकार और जनता का क्रिया के विशिष्ट लक्ष्य के रूप मे उल्लेख किया है। लक्ष्य का अर्थ है वह व्यक्ति, व्यक्ति-समूह या भौतिक वस्तुएँ जिनकी ओर विभिन्न पद्धतियो का निर्देश होना हो। ध्वंसात्मक सैनिक अर्थ का लक्ष्य इसमें शामिल है। लेकिन लक्ष्य का राजनीतिक सम्प्रत्यय उसके अलावा बहुत कुछ अपनी

परिधि में समाविष्ट कर लेता है। यह शब्द क्रियाशील राज्य की माँगों के प्रति सक्रिय या निहित विरोध का निश्चित भाव लिए है, लेकिन उसके साथ युद्ध या शत्रुता का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार ब्रिटेन, उन राज्यों में से एक है, जिनके साथ अमेरिका की निकटतम एकरूपता है और जो बार-बार अमेरिकी क्रिया का एक लक्ष्य बनता है, लेकिन किसी कल्पनाजन्य परिस्थिति में सम्भावित शत्रु के रूप में उसका सम्प्रत्यय नहीं हो सकता। संक्षेप में क्रिया-लक्ष्य का सम्प्रत्यय स्वतः, सम्भावित, द्वेष या शत्रुता का भाव व्यक्त नहीं करता, केवल कुछ अंश में विरोध या प्रतिरोध व्यक्त करता है जिसे उक्त क्रिया पार करने वाली होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशिष्ट क्रिया-लक्ष्यों में निम्नांकित शामिल हैं—

1. लक्ष्य-राज्य के सरकारी निर्णयकर्ता।
2. लक्ष्य-राज्य के भीतर अन्य प्रबुद्ध गुट।
3. लक्ष्य-राज्य की पूरी जनसंख्या।
4. लक्ष्य-राज्य का भौतिक भू-भाग।
5. लक्ष्य-राज्य के भू-भाग पर मानव-निर्मित प्रतिरूप।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि क्रिया का उद्देश्य उनके व्यवहार को अभीष्ट दिशाओं में प्रभावित करना है जो लक्ष्य-राज्य पर शासन करते हैं और अन्य सरकारों से साधिकार व्यवहार करते हैं। इस परिणाम के लिए समझाने या दबाव डालने की क्रिया सीधे राज्य-प्रमुख, विदेश मन्त्री या लक्ष्य-राज्य के अन्य साधिकार प्रबन्ध पर लागू की जानी चाहिए। लेकिन उन पर समझाने या दबाव डालने की क्रिया अप्रत्यक्ष भी हो सकती है। प्रभावशाली गुटों या पूरे राजनीतिक क्षेत्र की राय या मनःस्थिति बदल कर भी वही परिणाम प्राप्त किया जा सकता है अथवा क्रियाशील राज्य अपनी माँगें थोपने के लिए उनके नगरों या अन्य निर्माण कार्य का ध्वंस करने या लक्ष्य-राज्य के भू-भाग पर कब्जा करने का भी प्रयास करता है।

चाहे जो भी पद्धति या पथ अपनाएँ, सरकारें अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही कदम उठाती हैं। सरकारी अफसर, राजनीतिज्ञ और उनकी जनता आमतौर पर अपनी माँगों को, आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रीय सुरक्षा के औचित्य का जामा पहना देती है। शायद उतनी ही दृढ़ता से उनके विरोधी उन्हीं माँगों के लिए आक्रमणकारी इरादों के आरोप लगाते हैं। हमने पहले ही उस कठिनाई को देख लिया है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वर्तमान तनावपूर्ण स्थिति में किसी राज्य की, विशेषकर अपने राज्य की विदेश-नीति के उद्देश्यों का आवेश-रहित मूल्यांकन करने में आती है, फिर भी यह काम कठिन और शायद अधिक फलप्रद होगा यदि क्षण भर के लिए राज्यों की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न प्रभावों पर उनकी तह में छिपी नीयत और उद्देश्य की परवाह न कर ध्यान केन्द्रित किया जाए।

ऐसे प्रभावों का स्थूल वर्गीकरण विशिष्ट नीतिपरक और विशिष्ट नीति-रहित हो सकता है। विशिष्ट नीतिपरक प्रभाव—यानी विशिष्ट माँगों से सम्बन्धित प्रभाव—में माँगों की मान्यता, परस्पर-विरोधी माँगों के बीच समझौता या माँगों

का तिरस्कार कुछ भी हो सकता है। विशिष्ट नीतिरहित प्रभाव व्यवहारों और वस्तुस्थितियों की पूरी श्रेणी को अपनी परिधि मे समेट लेते हैं। हो सकता है माँग करने वाले राज्य के पक्ष या विपक्ष मे मनोवैज्ञानिक रुचि का विकास हो अथवा प्रभाव लक्ष्य-राज्य की आर्थिक या सैनिक क्षमताओ को कमजोर करने वाला हो या हो सकता है कि प्रभाव लक्ष्य-राज्य की आर्थिक या सैनिक क्षमताओं को विवश या कमजोर करने वाला हो। यह भी सम्भव है कि प्रभाव लक्ष्य-राज्य की या गैर-सैनिक या दोनो प्रकार की जनता को आतंकित करने का हो, या उसके भू-भाग पर पूर्ण या आंशिक कब्जे का हो या उसकी जनसख्या और भौतिक निर्माण के कुछ भाग का विनाश हो या उसे निरन्तर चिन्ताप्रद समझ कर उस राज्य का पूर्ण अथवा आंशिक विनाश हो।

अग्रांकित सारणी मे कुछ पैमानो के विन्यास दिए जा रहे है जिनके क्रिया-विन्यास के प्रेक्षित अमली प्रभाव स्थिर किए जाने चाहिए। विभिन्न प्रेक्षको के बीच खास क्रियाओ के प्रभावो के बारे मे मतभेद हो सकता है। लेकिन प्रेक्षण और भाष्य मे ऐसे अनिवार्य विवरण की गुंजायश छोड़कर भी इन पैमानो पर उठाए गए कदमो के प्रभावो को स्थिर करने के अभ्यास से कई लाभ होने चाहिए। इससे किसी राज्य की विदेश-नीति की तह मे छिपी रणनीति को समझने मे सहायता मिलनी चाहिए। इससे दी हुई अमली स्थिति मे उस रणनीति के विभिन्न पक्षो की तुलनात्मक सप्रभावता (या निष्प्रभावता) पर भी प्रकाश पड़ेगा। विशेष रूप से इसके द्वारा दो या अधिक सम्बन्धित राज्यो की सापेक्ष राजनीतिक सामर्थ्य—यानी प्रत्येक की अन्य के व्यवहार को प्रभावित करने की वास्तविक योग्यता—के बारे मे निष्कर्ष के लिए आंकड़े मिल जाएँगे। सारिणी की राजनीतिक सामर्थ्य और राजनीतिक क्षमताओ के सम्प्रत्ययो के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाला पुल माना जा सकता है।

सारणी मे प्रस्तुत विश्लेषण-पद्धति के विस्तार से कई अतिरिक्त काम किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई दो या अधिक राज्यो की रणनीतियो सापेक्ष सप्रभावता को एक-एक कोटि लेकर तुलना की जा सकती है। ऐसा करने पर ये प्रश्न प्रखर हो जाएँगे जैसे—राज्य A की रणनीति राज्य B की तुलना मे अधिक (या कम) सप्रभावी क्यों है? मतलब यह है कि A का असर B के (हर प्रकार के) व्यवहार पर, B के A पर असर की तुलना मे इतना अधिक (या कम) क्यो है? ऐसे प्रश्नो का पूछा जाना और उत्तर देने का प्रयास, राज्यों के शक्ति-सम्बन्धो मे शक्ति के तथा उसके प्रकट रूपो के अमली सम्प्रत्यय की दिशा मे राजमार्ग से आगे बढ़ना होगा।

सारणी—क्रियाशील राष्ट्रीय शक्ति

प्रभाव—A की विशिष्ट माँगो का B की सरकार की प्रतिक्रियाओ पर
स्वीकृति…… समझौता…… तिरस्कार……

प्रभाव—A की जनसम्पर्क क्रियाओ का B की सरकार,अन्य प्रबुद्धवर्ग या पूरी जनता पर
मैत्रीपूर्ण…… कोई प्रभाव नही…… शत्रुतापूर्ण……

प्रभाव—A के सर्वविधि कार्यों का B के पूरे समाज की एकता और मनोबल पर
दृढ़तर……… कोई प्रभाव नहीं……… क्षीणतर………

प्रभाव—A के कार्यों का B की अर्थव्यवस्था की उत्पादकता पर
बढ़ी हुई……… कोई प्रभाव नहीं……… घटी हुई………

प्रभाव—A के अहिंसात्मक कार्यों का B की सैनिक शक्ति की अवस्था पर
दृढ़तर……… कोई प्रभाव नहीं……… क्षीणतर………

प्रभाव—A की सैनिक गतिविधि का B की सैनिक शक्ति की अवस्था पर
दृढ़तर……… कोई प्रभाव नहीं……… क्षीणतर………

प्रभाव—A की सैनिक गतिविधि का B के भू-भाग की भौतिक स्थिति, जनसंख्या या निर्माण आदि की दशा पर
सुरक्षित……… कोई प्रभाव नहीं……… ध्वस्त………



5 राष्ट्रीय शक्ति का सार और तत्त्व—राष्ट्रीय शक्ति का उदय और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय
(Essence and Elements of National Power—Evolution of National Power and International Community)

"भौतिक भूगोल विश्व-राजनीति को निरन्तर रूप से अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है। यह उन आवश्यकताओं, लक्ष्यों, नीतियों एवं शक्तियों को प्रभावित करता है जिनको राज्य अपने हितों की दृष्टि से अपनाते हैं।"

—पैडलफोर्ड तथा लिंकन

राष्ट्रीय शक्ति के कुछ आधारभूत तत्त्व होते हैं जिनके बिना कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली नहीं बन सकता। इन तत्त्वों में कुछ तो दृश्य हैं जैसे सैनिक-शक्ति और कुछ अदृश्य हैं जैसे विचारधारा, मनोबल आदि। इसीलिए कहा जाता है कि राष्ट्रीय शक्ति की परिधियाँ इतनी अस्पष्ट हैं कि हम उन्हें प्रत्यक्ष रूप से पूरी तरह नहीं देख सकते। ये सभी तत्त्व किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति एक अविभाज्य वस्तु है। इसके पहले कि हम इन विभिन्न तत्त्वों का उल्लेख करें, यह ध्यान में रखना जरूरी है कि केवल इन तत्त्वों की उपस्थिति मात्र से ही कोई राष्ट्र शक्तिशाली नहीं बन जाता। राष्ट्र के शक्तिशाली होने के लिए आवश्यक है कि इन तत्त्वों के अस्तित्व के साथ-साथ राष्ट्र में इनके समुचित उपयोग करने की क्षमता भी हो तभी वह अपने प्रभाव का विस्तार करने में सफल हो सकता है। पुनश्च, यह भी स्मरण रखना होगा कि राज्य आपस में आर्थिक, सांस्कृतिक, मानवीय आदि अनेक धरातलों पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं जिनका शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता, लेकिन यदि इन सम्बन्धों का उपयोग भी प्रभाव-विस्तार के उद्देश्य से किया जाए तो हम उन्हें शक्ति से सम्बद्ध मानेंगे।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वों का वर्गीकरण और प्रकृति

राष्ट्रीय शक्ति के इन तत्त्वों को मॉर्गेन्थो ने दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। प्रथम वर्ग को वे सापेक्षतया स्थायी तत्त्व (Relatively Stable Elements) कहते हैं और दूसरे वर्ग को अस्थायी तत्त्व अर्थात् निरन्तर परिवर्तित होने वाले तत्त्व

(Elements Subject to Constant Change) कहते हैं। इन दोनों वर्गों में समाविष्ट राष्ट्रीय शक्ति के तत्व मॉर्गेन्थो के मतानुसार नौ होते हैं जो ये हैं—

1. भूगोल (Geography)
2. प्राकृतिक साधन (Natural Resources)
3. औद्योगिक क्षमता (*Industrial Capacity*)
4. सैनिक तैयारियाँ (Military Preparedness)
5. जनसंख्या (Population)
6. राष्ट्रीय चरित्र (National Character)
7. राष्ट्रीय मनोबल (National Morale)
8. कूटनीति का गुण (Quality of Diplomacy)
9. सरकार का गुण (The Quality of Government)

पामर तथा पार्किंस ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को गैर-मानवीय एवं मानवीय वर्गों में विभाजित किया है। गैर-मानवीय तत्वों में वे भूगोल तथा प्राकृतिक साधनों को सम्मिलित करते हैं और मानवीय तत्वों में वे निम्नलिखित पाँच का उल्लेख करते हैं—

1. जनसंख्या (Population)
2. तकनीकी ज्ञान (Technology)
3. विचारधाराएँ (Ideologies)
4. मनोबल (Morale)
5. नेतृत्व (Leadership)

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का वर्णन अन्य अनेक लेखकों द्वारा भी किया गया है। इनमें थोड़ा-बहुत ही अन्तर है। उदाहरण के लिए, श्लीचर ने अन्य तत्वों के अतिरिक्त उत्पादन क्षमता (Productive Capacity) एवं आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं (Economic and Political Institutions) का भी उल्लेख किया है।

मॉर्गेन्थो (Morgenthau) की भाँति श्लीचर (Schleicher) भी यह स्वीकार करता है कि राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों में स्थायित्व (Stability) की दृष्टि से अन्तर रहता है। कुछ तत्व दूसरों की अपेक्षा अधिक स्थायी होते है तथा उनको मापना भी सरल होता है। उदाहरण के लिए, भूगोल तथा प्राकृतिक साधनों में स्थायित्व और मापे जाने की सम्भावनाएँ जनसंख्या की संस्थाओं एवं गुणों की तुलना में अधिक होती हैं। ये सभी तत्व मिलकर एक देश को तीन प्रकार की सामर्थ्य प्रदान करते हैं—

1. आर्थिक सामर्थ्य (Economic Capacity),
2. मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य (Psychological Capacity), तथा
3. भौतिक सामर्थ्य (Physical Capacity)।

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों का महत्त्व समय और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तनशील है। दो सौ वर्ष पूर्व जनसंख्या अथवा भौगोलिक स्थिति का

राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से जो महत्त्व था वह आज के प्रक्षेपास्त्रों और ध्वनि से भी तेज चलने वाले बम-वर्षकों के युग मे नही है। पुनश्च, यह तथ्य भी स्मरणीय है कि विभिन्न तत्त्वों का योग मात्र ही राज्य की शक्ति का परिचायक नही होता। राज्य की शक्ति को यथार्थ रूप मे तो हम उसके व्यवहार तथा विभिन्न तत्त्वों के प्रयोग की कला और सामर्थ्य के माध्यम से ही परख सकते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वों का समुचित अध्ययन हमे राज्य की सामर्थ्य का अनुमान लगाने मे सहायक होता है, अतः आवश्यक है कि किसी भी राज्य की शक्ति के किसी तत्त्व का विश्लेषण करते समय निम्नलिखित सामान्य बातो को अवश्य ध्यान मे रखें—

प्रथम, शक्ति के सभी तत्त्व सापेक्ष महत्त्व रखते है। उनका मूल्यांकन करते समय अन्य राज्यों, विशेषतः पड़ोसी एवं विरोधी राज्यों के ऐसे तत्त्वों को ध्यान मे रखना चाहिए जैसे यदि हम यह कहे कि ग्रेट-ब्रिटेन की जनसंख्या 60 मिलियन (6 करोड़) है तो यह कथन उस समय तक उसके शक्ति-सम्बन्धो की दृष्टि से कोई महत्त्व नही रखता जब तक कि उसके आस-पास के देशों की जनसंख्या को तथा महाशक्तियों की जनसंख्या को न देखा जाए।

दूसरे, राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वों की मात्रा का उल्लेख मात्र कर देना भी निरर्थक होगा। हमे यह भी देखना होगा कि 60 मिलियन जनसंख्या मे कितने लोग वयस्क हैं, कितने वृद्ध हैं, कितने बालक हैं, कितने रोगी, अपाहिज तथा असमर्थ हैं? कुल जनसंख्या मे स्त्रियों की संख्या क्या है तथा पुरुषों की संख्या क्या है? इनमे भी शिक्षित लोग कितने हैं और अशिक्षित कितने? आदि-आदि। इन सारी बातो का स्पष्टीकरण करने के बाद ही जनसंख्या के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि एक विशेष देश की राष्ट्रीय शक्ति कितनी है।

तीसरे, राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व अपने आप मे कोई महत्त्व नही रखते। उनकी उपयोगिता एवं सार्थकता इस बात पर निर्भर है कि उनके लिए शक्ति के अन्य तत्त्वो का कितना बल प्राप्त है। जब कभी हम एक तत्त्व का मूल्यांकन करेंगे तो इसके लिए दूसरे तत्त्वों की स्थिति की भी जानकारी प्राप्त करनी होगी। यदि शक्ति के अन्य तत्त्वों का एक राज्य मे अभाव है तो किसी भी एक तत्त्व की पर्याप्त मात्रा को वहाँ सार्थक नही माना जा सकता और इसलिए वह भी महत्त्वहीन बन जाएगा। उदाहरण के लिए, यदि एक देश सैनिक तैयारियों की दृष्टि से पर्याप्त आगे है, किन्तु उसके पास पर्याप्त जनसंख्या एवं औद्योगिक स्रोत नही हैं तो वह अपने उस शत्रु के सामने नही टिक सकेगा चाहे उसकी सैनिक तैयारियाँ उतनी अधिक नही थी। इसका कारण यह है कि जब उस देश विशेष को युद्ध मे क्षति होगी तो वह उसकी पूर्ति करने में अपने आपको असमर्थ पाएगा। जब एक देश के पास अतिरिक्त साधन होते हैं तो उनका महत्त्व भविष्य की रणनीति की दृष्टि से होता है, किन्तु तत्कालीन स्थिति मे उनको राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि का एक आवश्यक साधन नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष एवं साम्यवादी चीन की जनसंख्या एक दृष्टि से उनकी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाते हैं, किन्तु दूसरी दृष्टि से वे उसकी कमजोरी के कारण हैं क्योंकि

इन देशों के पास इतने साधन-स्रोत नहीं हैं कि वे अपनी जनसंख्या का स्वयमेव ही भरण-पोषण कर सकें। सच तो यह है कि जिसे एक स्थिति में शक्ति का तत्त्व माना जाता है वही दूसरी स्थिति में एक भार बन सकता है। उदाहरण के लिए, यदि एक देश अन्य तत्त्वों की दृष्टि से गरीब है, किन्तु उसके प्राकृतिक स्रोत पर्याप्त सम्पन्न हैं तो वह देश बड़ी शक्तियों की ललचायी नजरों का शिकार बन जाएगा और अपनी स्वतन्त्रता खोकर साम्राज्यवादी शक्तियों का उपनिवेश मात्र रह जाएगा।

चौथे, शक्ति के तत्त्वों का प्रयोग कम कुशलता के साथ भी किया जा सकता है और अधिक कुशलता के साथ भी। एक विशेष देश में किसी विशेष समय शक्ति का एक तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है जबकि दूसरे समय में उसका महत्त्व इतना नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए, एक हथियार का शक्ति-मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह रणनीति में किस स्थान पर कार्य कर रहा है। मई,1940 में जब फ्रांस पर हिटलर का आक्रमण हुआ तो उस समय फ्रांस की अपेक्षा जर्मनी के हाथों में एक टैंक का मूल्य अधिक था।

पाँचवें, वर्तमान युग तकनीकी विकास का युग है। इस काल में परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से हो रहे हैं। शक्ति के विभिन्न तत्त्व जो कभी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण थे आज उतने महत्त्वपूर्ण नहीं रहे हैं तथा अन्य नए महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का विकास होता जा रहा है। पहले कोयले को ईंधन का मुख्य स्रोत माना गया था, किन्तु बाद में इसका स्थान तेल ने ले लिया। तेल का स्थान यूरेनियम लेता जा रहा है। यह भी सम्भव है कि विज्ञान का विकास यूरेनियम को भी महत्त्वहीन बना दे। ठीक इसी प्रकार हथियार भी असामयिक बन जाते हैं। विज्ञान एवं तकनीकी विकास के साथ-साथ शक्ति के कम दृश्य तत्त्वों में भी परिवर्तन होता रहता है। जब कभी सरकार की कुशलता एवं जनता के मनोबल में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं तो इसके कारणवश शक्ति-सम्बन्धों में भी गम्भीर परिवर्तन आ जाते हैं।

छठे, तैयारी के पहलू को भी नहीं भुलाया जाना चाहिए। अतीत काल में भी रणनीतियाँ तय करते समय सिपाहियों के बीच इस आधार पर भेद किया जाता था कि वे हथियारों से लैस तथा युद्ध के लिए तैयार हैं अथवा नहीं। जो सैनिक सशस्त्र खड़े हैं वे उनसे अधिक मूल्यवान हैं जिनको कि तैयार होने में समय लगेगा। आज का जमाना बटन को दबा कर युद्ध करने का जमाना है। ऐसी स्थिति में बमबारी करने वाला वह जहाज जिसे उड़ने के लिए कुछ घण्टे चाहिए, उस जहाज से भिन्न है जो बमबारी के लिए बिलकुल तैयार है। यदि अचानक ही आक्रमण कर दिया जाए तो वह बम-वर्षक जहाज निरर्थक रहेगा जिसे तैयार होने के लिए कुछ समय की जरूरत है। यही बात शक्ति के अन्य तत्त्वों पर भी इसी प्रकार लागू होती है। यदि वे क्रियान्वित होने के लिए तैयार हैं तब तो ठीक है, वरना उनका महत्त्व एवं प्रभाव उतना नहीं रहेगा।

इस प्रकार जब भी किसी राष्ट्रीय शक्ति का अध्ययन किया जाए तो उसके विश्लेषण को केवल प्राप्त आँकड़ों तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए वरन् उनको

भावी प्रवृत्तियों के सन्दर्भ मे देखना चाहिए। यहाँ एक समस्या यह उठ खडी होती है कि विश्वसनीय सांख्यिकीय एव अनुमानो तथा उनके समय के बीच किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया जाए। राष्ट्रीय शक्ति की प्रकृति सापेक्ष होने के कारण एक अन्य समस्या यह उठती है कि दूसरे देश की शक्ति को किस प्रकार जाना जाए। केवल अनुमानो एव सम्भावनाओं के आधार पर किया गया मूल्यांकन कई बार गलत साबित होता है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वों की संक्षिप्त व्याख्या
(Elements of National Power Briefly Explained)

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न आधारभूत तत्त्वो का विस्तार से विवेचन अगले अध्याय मे किया गया है, तथापि पृष्ठभूमि के रूप मे उनका सक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है—

भूगोल (Geography)

यह राष्ट्रीय शक्ति का सबसे अधिक अस्थायी तत्त्व है। अतीत का इतिहास साक्षी है कि राष्ट्र की शक्ति, सभ्यता और विकास पर उस देश की भौगोलिक स्थिति का अनेक अवसरो पर निर्णायक प्रभाव पडा है। आज यातायात तथा सैनिक क्षेत्रो मे वैज्ञानिक और द्रुतगामी आविष्कारो के कारण दुनिया बहुत छोटी हो गई है तथा कोई भी देश या स्थान अनुलघनीय नही है, तथापि भूगोल या भौगोलिक स्थिति के महत्त्व की उपेक्षा नही की जा सकती। वियतनाम की भौगोलिक स्थिति से अनभिज्ञ होने के कारण ही अमेरिका विपुल सैन्यबल के प्रयोग के बावजूद विजयी नही हो सका। रूस के सुविस्तृत भू-क्षेत्र कडकडाती सर्दी आदि ने नाजी जर्मनी के भयानक और विद्युत आक्रमण से न केवल उसकी रक्षा की बल्कि नाजी सेनाओं का इतना विनाश किया कि महायुद्ध का पासा ही जर्मनी के विरुद्ध पलट गया। भारत के उत्तर मे गगनचुम्बी हिमालय पर्वतशृ खला यद्यपि आज अभेद्य नही रही है, तथापि देश की रक्षा के लिए उसका सैनिक महत्त्व चिरपरिचित है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व के रूप मे भूगोल का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम इसके चार मुख्य भागो पर ध्यान दें—आकार (Size), जलवायु (*Climate*), भूकृति (*Topography*) एव स्थिति (*Location*)। ये विभिन्न बातें देश-विदेश के भौगोलिक तत्त्व को महत्त्व प्रदान करती हैं। उदाहरणार्थ, बडे आकार वाले राष्ट्र मे बडी जनसख्या रह सकती है, विभिन्न खनिज-पदार्थों की सम्भावना हो सकती है, आक्रमणकारी सेनाओं को दूर तक पीछे हटते हुए थकाया और फँसाया जा सकता है, आदि। जलवायु की दृष्टि से ठण्डे देशों के लोग प्रायः गरम देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक उद्यमी होते हैं, अत्यधिक ठण्डे और बर्फीले भू-भाग वाले देश को जीतना सुगम नहीं होता, अनिश्चित वर्षा देश की खाद्य-स्थिति को चिन्ताजनक बनाए रखती है, आदि। भूकृति की दृष्टि मे जिन राष्ट्रों की सीमा प्रकृति द्वारा निर्धारित हो वहाँ प्रायः सीमा-सघर्ष के प्रश्न नहीं उठते, वाह्य शत्रुओं से रक्षा के लिए व्यूह-रचना की सुविधा होती है, आदि। स्थिति की दृष्टि मे देश

की अर्थ-व्यवस्था और नीतियाँ प्रभावित होती हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव-क्षमता कम या अधिक होती है, आदि। समुद्रों से घिरे होने के कारण ही जापान और इंग्लैण्ड सामुद्रिक शक्ति बन सके हैं, राष्ट्रों से घिरा होने के कारण बेल्जियम अपनी सुरक्षा के लिए फ्रांस तथा इंग्लैण्ड का समर्थक रहा है और अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही भारत बहुत कुछ तटस्थता की नीति पर चलने को प्रेरित हुआ है।

अतः स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण और निर्धारण में भौगोलिक तत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन इसके प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर आँकना भी समुचित नहीं है। आज की परिवर्तित परिस्थितियों में भूगोल राष्ट्रीय शक्ति को सीमित रूप से ही निर्धारित करता है।

प्राकृतिक साधन (Natural Resources)

राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारक तत्त्वों में प्राकृतिक साधन का विशेष महत्त्व है। प्राकृतिक साधन राष्ट्र की पूँजी होते हैं, लेकिन तभी जबकि राष्ट्र उनका समुचित विदोहन और उपयोग कर सके। प्राकृतिक साधनों में खाद्यान्न और कच्चा माल दोनों गिने जाते हैं। कच्चे माल में खनिज पदार्थ, वानस्पतिक उत्पादन तथा पशुओं द्वारा उत्पादित माल शामिल किए जाते हैं। खाद्यान्न की दृष्टि से आत्म-निर्भर राष्ट्र निश्चित रूप से उस देश की अपेक्षा लाभ की स्थिति में होता है जो समुचित मात्रा में खाद्यान्न पैदा न कर सकने के कारण हमेशा दूसरे देशों से उनका आयात करता है। कच्चे माल के बिना देश का औद्योगीकरण असम्भव है। कच्चे माल में भी कोयला, लोहा और पैट्रोल मुख्य हैं क्योंकि ये तीनों ही वस्तुएँ आधुनिक उद्योग-धन्धों तथा व्यवसाय के आधार हैं। कोई भी राष्ट्र आर्थिक और सैनिक दृष्टि से तब तक सबल नहीं हो सकता जब तक कि ये तीनों वस्तुएँ उसे सुलभ न हों।

जनसंख्या (Population)

मानव-शक्ति किसी भी राष्ट्र की निर्बलता और सबलता का कारण हो सकती है। यदि जनसंख्या विशाल है पर कार्यक्षम नहीं है अथवा उसके समुचित पालन-पोषण के लिए प्राकृतिक साधनों का अभाव है, तो वह जनसंख्या राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में सहायक न होकर बाधक सिद्ध होगी। दूसरी ओर, प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश की कार्यशील और क्षमतावान जनसंख्या उस देश के लिए अथाह राष्ट्रीय शक्ति के द्वार खोल देगी। जनसंख्या चाहे कम हो, लेकिन उसका गुणी होना, क्षमतावान होना, शिक्षित होना अतिआवश्यक है। छोटी-सी मानव-शक्ति का धनी राष्ट्र जापान या जर्मनी या ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में क्या-क्या करिश्मे दिखा चुका है यह किसी से छिपा नहीं है। अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीय शक्ति के सन्दर्भ में जनसंख्या का अध्ययन करते समय राष्ट्र के निवासियों की संख्या-मात्र के आधार पर परिणाम निश्चित नहीं किया जा सकता। निवासियों की संख्या के साथ-साथ हमें यह भी जानना होगा कि निवासी किस प्रकार के, कितने परिश्रमी हैं और उनमें भविष्य में क्या करने की सामर्थ्य और आकांक्षा है।

प्राविधिक ज्ञान (Technology)

प्राविधिक ज्ञान का मूल्यांकन राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, सुरक्षा और शक्ति के *अन्य तत्त्वों के सन्दर्भ में किया जाता है।* इसमें *यान्त्रिक पद्धतियों के* विकास, रणनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, संचार-साधनों की प्रगति आदि वे विभिन्न बातें सम्मिलित हैं जो राष्ट्रीय शक्ति के विकास में सहायक होती हैं। प्राविधिक ज्ञान में सैनिक और औद्योगिक दोनों ही तकनीकी विकास शामिल किए जाते हैं। सैनिक तकनीक पर राष्ट्रीय सुरक्षा और औद्योगिक तकनीक पर राष्ट्रीय आय एवं देश की *औद्योगिक संरचना निर्भर करती है। प्राविधिक ज्ञान राष्ट्रीय शक्ति को अनेक प्रकार* से प्रभावित करता है, जैसे—यह राष्ट्र के स्वरूप को बदल देता है, राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक संरचना को गतिशील बना कर, देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता को अर्थपूर्ण बनाता है, आदि। अपने महान् सैनिक और औद्योगिक तकनीकी विकास के बल पर सोवियत रूस, अमेरिका, जर्मनी और जापान विश्व के अग्रणी राष्ट्र बने हुए हैं। वैज्ञानिक संचार-साधनों की प्रगति के अनुपात में ही राजनीतिक समुदाय का आकार विकसित होता है। बिना सुविकसित प्राविधिक ज्ञान के संचार-साधनों की प्रगति नहीं हो सकती। प्राविधिक ज्ञान के विकास ने वास्तव में आज विश्व को दोराहे पर ला खड़ा किया है। एक ओर तो राष्ट्र अपनी युद्ध-तकनीक का विस्तार करके विश्व को विनाश की ओर धकेल रहे हैं और दूसरी ओर रचनात्मक साधनों के अधिकाधिक निर्माण द्वारा मानवता को दुःख और दरिद्रता से मुक्ति दिलाने के लिए प्रयत्नशील हैं। प्राविधिक ज्ञान ने विश्व को इतना छोटा बना दिया है कि या तो सम्पूर्ण दुनिया के लोग मिल कर सहयोग के साथ चलें अथवा अपने आप को समाप्त कर देने का रास्ता पकड़ लें।

विचारधारा (Ideology)

पेडलफोर्ड तथा लिंकन के अनुसार विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए *कार्यों की योजना तैयार* करती है। विचारधारा व्यक्तियों और समूहों को एक ऐसे समाज में बाँध देती है जो सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए समान तरीकों में विश्वास करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से इसका प्रभाव राष्ट्रीय शक्ति के विकास पर पड़ता है। जिस विचारधारा को एक देश मानता है उस विचारधारा को मानने वाले अन्य देशों की सद्भावना और मैत्री उसके प्रति रहना स्वाभाविक है। *सैद्धान्तिक विचारधाराएँ आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राष्ट्रीय शक्ति के* प्रभाव-विस्तार में कितना योग दे रही हैं और क्या करतब दिखा रही हैं, यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रत्येक साधारण छात्र जानता है। साम्यवाद की सैद्धान्तिक शक्ति को इतिहास के वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के आधार पर बढ़ाया जाता है और पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद पर श्रमिक वर्ग की विजय का वायदा किया जाता है। लोकतान्त्रिक विचारधारा *साम्यवाद के प्रसार पर अंकुश रखने के नाम पर* अपने राष्ट्रों के माध्यम से साम्यवादी विश्व को घेरने और सीमित रखने को प्रयत्नशील

है। फासिस्ट और नाजी विचारधाराओं ने इटली और जर्मनी की विस्तारवादी आकांक्षाओं को किस कदर बढ़ाया था, यह सभी जानते हैं। विचारधाराएँ वास्तव में ऐसी मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ हैं जो राष्ट्रों की विदेश-नीतियों को अपरिहार्य रूप से प्रभावित करती हैं और अप्रत्यक्ष रूप में शक्ति-संघर्ष का माध्यम बनती हैं। विचारधाराएँ राष्ट्रीय मनोबल को उठा कर राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि करती हैं।

मनोबल (Morale)

यह राष्ट्रीय शक्ति का कोई स्थायी तत्त्व नहीं है, तथापि एक ऐसा तत्त्व है जो संकटकाल में सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रेरणा देता है, उसकी वास्तविक शक्ति को कई गुना बढ़ा देता है। मॉर्गेन्थो के अनुसार, "राष्ट्रीय मनोबल एक ऐसा निश्चय है जिसके द्वारा जनता युद्ध अथवा शान्ति में राष्ट्र की विदेश-नीति का समर्थन करती है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो लोकमत का निर्माण करता है तथा जिसके समर्थन में कोई भी सरकार चाहे वह लोकतन्त्रीय हो या अधिनायकवादी, अपनी नीतियों को मनवा सकती है।" मनोबल कभी-कभी युद्ध के प्रतिरोध के रूप में भी काम करता है अर्थात् जिस देश के लोगों में एकता होती है और जिस प्रकार की नीतियों के पीछे सारी जनता का बल होता है, उस देश पर सहसा ही कोई आक्रमण करने की हिम्मत नहीं करता। राष्ट्रीय चरित्र, संस्कृति, नेतृत्व, अच्छी सरकार, देश की परिस्थितियाँ आदि विभिन्न तत्त्व मनोबल का निर्माण करते हैं। लोकतान्त्रिक राज्यों में लोकमत के रूप में मनोबल देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को जितना प्रभावित करता है उतना अधिनायकवादी राज्यों में नहीं लेकिन अपवाद भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, हिटलर की विदेश-नीति को लगभग 90 प्रतिशत से भी अधिक जर्मन जनता का समर्थन प्राप्त था। अपने अपार मनोबल के कारण ही अकेला जर्मनी अनेक सुविशाल और शक्तिशाली राष्ट्रों को छठी का दूध पिला सका। यदि सेना का मनोबल गिर जाए, राष्ट्र का मनोबल टूट जाए, तो राष्ट्रीय शक्ति के अन्य प्रभावशाली तत्त्व भी विपरीत रूप में प्रभावित होकर अपनी क्षमता खो बैठते हैं।

नेतृत्व (Leadership)

राष्ट्रीय शक्ति का यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्राय: नेतृत्व की महानता और निपुणता पर ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में किसी देश का सम्मान और प्रभाव निर्भर करता है। योग्य नेतृत्व के अभाव में शक्तिशाली राष्ट्र भी शीघ्र ही निर्बल हो जाएगा। यदि योग्य सेनापति न हो तो एक विशाल और सुसज्जित सेना भी अपेक्षाकृत छोटी सेना से, जिसका संचालन कुशल सेनापतियों के हाथ में है, हार जाएगी। नेतृत्व मुख्य रूप से दो रूपों में राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने में सहायक होता है—प्रथम, यह राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्वों के बीच समन्वय स्थापित करता है एवं दूसरे, राष्ट्रीय शक्ति को गति और विकास देता है। भारत को सौभाग्यवश सदैव ही सुयोग्य और कुशल नेतृत्व मिला जबकि पाकिस्तान को नहीं और इसके परिणाम स्पष्ट हैं। बंगलादेश को शेख मुजीब का कुशल नेतृत्व मिला जिससे एक गुलाम जनता सम्प्रभु जनता के रूप में परिवर्तित हो गई।

उपर्युक्त सभी तत्त्व मिलकर राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करते हैं। सभी तत्त्व सम्बद्ध होते हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते है और सयुक्त रूप से राष्ट्र को शक्ति प्रदान करते हैं। *अतः किसी एक तत्त्व के आधार पर राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन के* प्रलोभन से हमे बचना चाहिए। जो तत्त्व गतिशील और परिवर्तनशील प्रकृति के हैं उन्हे अधिकाधिक सशक्त और उपयोगी बनाने के लिए सतत् रूप से प्रयास होना चाहिए। उदाहरणार्थ, राष्ट्र की जनसंख्या के गुण और कार्य-क्षमता का निरन्तर विकास किया जाना चाहिए। यह तथ्य कभी विस्मृत नही किया जाना चाहिए कि केवल विभिन्न तत्त्वों की उपस्थिति से ही राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण अथवा विस्तार हो जाएगा। मूल आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध तत्त्वों का प्रभावशाली *रूप मे समुचित उपयोग किया जाए और यदि कोई तत्त्व निर्बल या पिछड़ा हुआ है* तो इस कमी को यथासाध्य दूर किया जाए। एशिया और अफ्रीका के बहुत से राष्ट्र प्राविधिक ज्ञान की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, अतः अपेक्षित है कि वे उन्नत देशो से उसका आयात करें, अपने देश मे इसकी सुदृढ नीव डालें और स्वयं को अपने पैरों पर खडा करने का प्रयत्न करें। विभिन्न तत्वो की प्रचुरता और सम्पन्नता के आधार *पर तथा उनके समुचित उपयोग से एक प्रचण्ड राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण सम्भव है,* लेकिन हम किसी राष्ट्र के उत्थान या पतन के कारणो के सम्बन्ध मे कोई निश्चित *नियम निर्धारित नही कर सकते।* अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भँवर मे फँस कर अथवा युद्ध की चपेट मे आकर सर्वसाधनसम्पन्न राज्यों का भी पतन होते देखा गया है।

राष्ट्रीय शक्ति का उत्थान और पतन

राष्ट्रीय शक्ति के सार और तत्त्व के प्रसग मे हमे राष्ट्रीय शक्ति के उत्थान और पतन पर भी सक्षेप मे विचार कर लेना चाहिए। चूँकि शक्ति की प्राप्ति और रक्षा मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि सम्बन्धित राष्ट्र शक्ति के अवयवो अथवा तत्त्वो का उपयोग उचित रीति से कहाँ तक कर पाते है, और शक्ति-तत्त्वों के उचित उपयोग का प्रश्न स्वयं अनिश्चित प्रकार का है, अत. स्वाभाविक है कि ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नही बनाया जा सकता जिसके अनुसार राष्ट्र शक्ति पाते अथवा खोते हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान मे अभी तक ऐसे किसी निश्चित नियम का प्रतिपादन नहीं हो पाया है और न ही व्यवहार मे किसी राष्ट्र ने ऐसा कोई पक्का नियम कार्यान्वित किया है कि हम इस प्रकार का निर्णय कर सकें कि कोई *राष्ट्र कब शक्ति प्राप्त करता है और कब उसे खो बैठता है अथवा कुछ समय के* उत्कर्ष के बाद राष्ट्रीय शक्ति का पतन कब हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि अनेक राष्ट्र शक्ति पाकर ऊँचे उठे, विश्व मे उन्होंने अपना शक्ति-ध्वज फहराया, अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया, फिर वे पतन की ओर उन्मुख हुए और लुप्त भी हो गये। इन राष्ट्रो के इतिहास से हमे यह अनुमान तो होता है कि विभिन्न तत्त्वो के सहयोग से कोई राष्ट्र शक्ति ग्रहण करता है और विभिन्न तत्त्वो अथवा किसी तत्त्व विशेष के ह्रास से वह राष्ट्र अपनी शक्ति खोने लगता है तथा पतन की और उन्मुख हो जाता है। किन्तु किसी तत्त्व विशेष को ही सुनिश्चित नही किया

जा सकता अथवा राष्ट्रीय शक्ति के उत्थान और पतन का कोई पक्का नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः राष्ट्रीय शक्ति के उदय, उत्कर्ष और पतन के पीछे कुछ ऐसा रहस्य छिपा है जिसे ठीक से समझ पाना मुश्किल है। हैंस मॉर्गेन्थो के विश्वासानुसार राष्ट्रों का उत्थान और पतन ऐसी विविध और बहुरूपी परिस्थितियों का परिणाम होता है जिन पर व्यक्ति तथा राष्ट्र का साधारणतया कोई वश नहीं होता। इतिहास बताता है कि कभी किसी राष्ट्र का अथवा राष्ट्रीय शक्ति का उदय उस राष्ट्र के किसी महापुरुष के कारण हुआ तो कभी सैनिक तत्त्व ने राष्ट्रीय शक्ति के उदय और उत्कर्ष में सर्वोपरि भूमिका निभाई तो कभी आर्थिक तत्त्व ने किसी राष्ट्र को प्रमुखता प्रदान की। नेपोलियन फ्रांस के उत्थान के लिए, लेनिन बोल्शेविज्म के उत्कर्ष के लिए, मुसोलिनी इटली में फासीवाद के उदय और उत्कर्ष के लिए तो हिटलर नाजीवाद के प्रभुत्व के लिए उत्तरदायी रहे हैं। व्यक्तियों की महानता के कारण राष्ट्रीय शक्ति के उदय और उत्थान के ये उदाहरण हैं। वर्तमान में कतिपय अरब राष्ट्रों का 'तेल' उनकी राष्ट्रीय शक्ति का मुख्य आधार बना हुआ है—यहाँ तक कि एक अरब देश की 'तेल-नीति' समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के घटनाचक्र को नया मोड़ देने की शक्ति रखती है। वस्तुनिष्ठ कारकों का राष्ट्रों के उत्थान और पतन में भारी महत्त्व होता है और इन पर राष्ट्रों का कोई वश नहीं होता। इसके दो सशक्त उदाहरण हैं—एक तो दोनों महायुद्धों के बीच के काल में और दूसरा महायुद्धों के बाद में *ब्रिटेन का पतन* तथा अमरिका का दीर्घकालीन एकान्तवास के बाद अभ्युदय।

राष्ट्रीय शक्ति के उदय और उत्कर्ष की दृष्टि से घरेलू अथवा स्वराष्ट्रीय *शासन* का क्षेत्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति और महानता बनाए रखने के लिए *यह नितान्त आवश्यक* है कि उसमें अपनी संस्थाओं को पुनर्जीवित करने, पुनः समायोजन करने, अपनी नीति में *संशोधन-परिवर्तन* करने, नवीन कार्यों में प्रवेश करने, नवीन चुनौतियों का सामना करने, अपने विचारों *का* नए सिरे से मूल्यांकन करने आदि की सामर्थ्य हो। इसके अतिरिक्त, जैसा कि डॉ. महेन्द्रकुमार ने लिखा है : "शक्ति चूँकि अन्य राज्यों के व्यवहार पर प्रवर्तक या निवर्तक रीति से प्रभाव डालने की सामर्थ्य का नाम है, इसलिए इस शक्ति की प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि तभी की जा सकती है जब इसके सब घटक अवयवों का चतुराई और सूझबूझ से उपयोग किया जाए, क्योंकि साधनों या शक्ति के अवयवों के उपयोग से शक्ति पैदा होती है और उसी से राष्ट्र शक्तिशाली बनता है।"

राष्ट्रीय शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में शक्ति-स्तर का वर्गीकरण

राष्ट्रीय शक्ति के उत्कर्ष के अनुरूप विभिन्न राष्ट्रों की शक्ति का स्तर अलग-अलग होता है। इसीलिए कुछ राष्ट्र 'बड़े राष्ट्र' तो कुछ 'छोटे राष्ट्र' कहलाते हैं। बड़े राष्ट्रों को *'महाशक्ति'* (Great Power) की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। किन्तु परमाणु शक्ति के प्रसार और स्वामित्व के साथ-साथ 'महानतम् शक्तियों' (Super Powers) का भी उदय हुआ है। हमें देखना चाहिए कि

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न स्वामियो मे यह शक्ति-स्तरीय भिन्नता किस रूप मे है। जो राष्ट्र विशाल भूक्षेत्र और विशाल जनसख्या वाले होते हैं उनको भी प्रायः 'बड़ा देश' की संज्ञा दी जाती है—जैसे कि भारत और चीन। ये दोनों राष्ट्र राष्ट्रीय शक्ति के दो मुख्य तत्वो—भूभाग और जनसख्या—की दृष्टि से धनी हैं पर साथ ही आर्थिक और सैनिक तत्व की दृष्टि से भी प्रबल होते जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे ये दोनो ही राष्ट्र 'राष्ट्रीय शक्ति' की दृष्टि से बहुत ही अग्रणी राष्ट्र बन जायेंगे, इसमे कोई सन्देह नही है। फिर भी इन्हे रूस और अमेरिका के समकक्ष नही माना जा सकता क्योकि रूस और अमेरिका राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वो की दृष्टि से जितने अधिक धनी हैं उतने अधिक धनी भारत या चीन नही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारको ने कुछ अरसे पूर्व तक पाँच महाशक्तियां गिनाई थी—ब्रिटेन, फ्रास, चीन, सोवियत रूस और सयुक्त राज्य अमेरिका। यह वर्गीकरण अब कुछ अयथार्थ सा लगता है क्योकि ब्रिटेन अपना पुरातन वैभव और प्रभाव खो चुका है जबकि भारत यथार्थ मे एक महाशक्ति के रूप मे तेजी से उभर आया है और उसे चीन की तुलना मे कम करके नही आका जा सकता। दूसरी ओर सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ अणुशक्ति, सैनिक शक्ति और आर्थिक शक्ति के बल पर 'महानतम शक्ति' (Super Power) बन गये हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, भारत या चीन अथवा कोई भी अन्य देश रूस अथवा अमेरिका का मुकाबला नही कर सकता, ये दोनो राष्ट्र शक्ति और प्रभाव की दृष्टि से अन्य सभी राष्ट्रो की तुलना मे बहुत-बहुत आगे हैं। हमे, अधिक स्पष्टता के लिए, महाशक्ति और महानतम शक्ति के अन्तर को समझ लेना चाहिए।

वास्तव में 'महाशक्तियों' (Great Powers) के सप्रत्यय का जन्म 1815 के वियना सम्मेलन मे हुआ और इसलिए इसे 19वी सदी का सप्रत्यय माना जाता है। दीर्घकाल तक रूस और अमेरिका दोनो ही की गणना विश्व की महाशक्तियो में की जाती रही क्योकि इन दोनों ही की शक्ति का स्तर लगभग वैसा ही रहा जैसा पहले ब्रिटेन और फ्रास जैसी महाशक्तियो का रहा था। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन और फ्रास की शक्ति का पराभव खोता चला गया जबकि सोवियत सघ और अमेरिका ने न केवल अपने महाशक्ति के स्तर को बनाये रखा बल्कि अन्य सभी देशों की तुलना मे सैनिक, आर्थिक तथा कूटनीतिक दृष्टि से अत्यधिक श्रेष्ठता प्राप्त कर ली। आज रूस और अमेरिका ऐसी जबरदस्त शक्तियाँ बन चुकी हैं कि विश्व को मोटे तौर पर दो खेमो मे विभाजित करके देखा जाता है—रूसी खेमा और अमरीकी खेमा।

महाशक्ति और महानतम् शक्ति के सप्रत्ययो का एक अच्छा विश्लेषण डॉ महेन्द्रकुमार ने किया है जो उन्ही के शब्दों मे इस प्रकार है—

महाशक्ति और महानतम् शक्ति का भेद समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी महाशक्ति से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे राष्ट्र से होता है जो किसी दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रों पर अपनी इच्छा तो थोप सके परन्तु उन दूसरे राष्ट्रो का उस पर कोई प्रभाव न हो। इस प्रकार अपनी इच्छा दूसरे राष्ट्र पर

थोप सकने वाला राष्ट्र महाशक्ति कहलाता है और जिस राष्ट्र पर इच्छा थोपी जाती है वह छोटा राष्ट्र कहलाता है। महानतम् शक्तियों का प्रादुर्भाव होने के पहले स्थिति यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी अनेक महाशक्तियाँ थीं जो छोटे राष्ट्रों पर अपनी इच्छा लाद सकती थीं। ये महाशक्तियाँ अपने-अपने अलग-अलग ढंग से छोटे राष्ट्रों के व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती थीं परन्तु ऐसा करते समय प्रत्येक महाशक्ति इस बात के लिए भी प्रयत्नशील रहती थी कि किसी दूसरी महाशक्ति का छोटे राष्ट्रों पर प्रभाव इतना न बढ़ जाय कि स्वयं उसके अपने महाशक्ति के दर्जे को खतरा पैदा होने लगे। इसलिए प्रत्येक महाशक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह अन्य महाशक्तियों के प्रभाव को बढ़ने से रोकने के लिए निरन्तर प्रयास करती रहे। यह प्रयास अक्सर शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त के द्वारा किया जाता था परन्तु प्रत्येक महाशक्ति के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह अपना महाशक्ति का स्तर सदैव बनाये रखे। बहुधा यह देखने में आता था कि यदि कोई राष्ट्र कुछ समय के लिये महाशक्ति बन जाता था तो बाद में वह कभी-कभी द्वितीय श्रेणी के राष्ट्र की स्थिति में पहुँच जाता था। इसी प्रकार कभी-कभी कोई छोटा राष्ट्र भी महाशक्ति बन जाता था। इस प्रकार महाशक्ति और छोटे राष्ट्र का भेद अस्थायी ही होता था और इस भेद की सार्थकता केवल उस समय तक ही रहती थी जब तक कि किसी महाशक्ति को किसी युद्ध में भाग न लेना पड़े। परन्तु जब-जब युद्ध होता था तब-तब महाशक्ति के स्तर को खतरा उत्पन्न हो जाता था। इतना ही नहीं, समय-समय पर होने वाले युद्ध के परिणाम भी स्थायी नहीं होते थे। अर्थात् यह आवश्यक नहीं था कि यदि कोई देश एक बार किसी युद्ध में विजयी होकर महाशक्ति का दर्जा प्राप्त कर ले तो उसका यह दर्जा हमेशा बना रहे। महाशक्ति का दर्जा हमेशा बनाये रखने के लिए यह आवश्यक था कि वह देश बार-बार युद्ध में विजयी होकर अपनी सैनिक श्रेष्ठता स्थापित करता रहे परन्तु ऐसा अक्सर असम्भव होता था। इसलिए जब कोई राष्ट्र युद्ध में विजयी हो जाता था तो वह महाशक्ति बन जाता था और उसका यह स्तर उस समय तक कायम रहता था जब तक कि उसे अगले युद्ध में भाग न लेना पड़े। इस प्रकार युद्ध में विजय प्राप्त करने पर महाशक्ति का दर्जा प्राप्त होता था और युद्ध में पराजित होने पर वही देश द्वितीय श्रेणी का राष्ट्र बन जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक महाशक्ति की एक मुख्य विशेषता यह रही कि किसी भी क्लासिकी महाशक्ति का दर्जा स्थायी नहीं होता था, क्योंकि उस समय कई राष्ट्र एक साथ छोटे राष्ट्रों पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करते थे। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र के क्रियाकलापों पर अन्य बड़े राष्ट्रों की होड़ के कारण कुछ प्रतिबन्ध लग जाते थे।

महानतम् शक्ति की मुख्य विशेषता यह है कि उसके क्रियाकलापों पर इस प्रकार के कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं। आज की महानतम् शक्ति अर्थात् सुपर पावर उन्नीसवीं शताब्दी की महाशक्ति अर्थात् ग्रेट पावर से इस अर्थ में भिन्न है कि महानतम शक्ति के सामने ऐसे अन्य बड़े प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र नहीं हैं जिनके पास उतनी

ही सैन्य शक्ति हो जितनी कि महाशक्ति के पास, या जो छोटे राष्ट्रों पर उतना ही प्रभाव डाल सकते हों जितना कि एक महानतम् शक्ति डाल सकती है। न ही दूसरे राष्ट्र किसी महानतम् शक्ति को अपना प्रभाव दूसरे राष्ट्रों पर डालने से रोक सकते हैं। पहले संयुक्त राज्य अमेरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन, फ्रांस और आस्ट्रिया जैसे देश इसलिए महाशक्ति कहलाते थे कि वे सभी अपने-अपने ढंग से दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को नियंत्रित कर सकते थे, क्योंकि इन सभी बड़े राष्ट्रों की शक्ति लगभग बराबर होती थी इसलिए उनमे से प्रत्येक राष्ट्र की महाशक्ति का स्तर अन्य शक्तियों के कारण सीमित हो जाता था परन्तु आज स्थिति बदल गई है। कारण यह है कि *अमेरीका और सोवियत संघ अब केवल प्राचीन अर्थ में महान शक्तियाँ* नहीं हैं बल्कि उनकी शक्ति का स्तर अब अत्यधिक बढ़ गया है। वैसे तो साधारण अर्थ मे ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और चीन सभी महाशक्तियाँ कहलाते हैं। परन्तु सोवियत संघ और अमरीका की सैन्य शक्ति अन्य तीनों महान *शक्तियों की अपेक्षा इतनी अधिक बढ़ गई है कि अब उनको महान शक्तियों की एक* विशिष्ट श्रेणी मे रखना आवश्यक हो गया है। यह विशिष्ट श्रेणी ही महानतम शक्ति अर्थात् सुपर पावर की श्रेणी है। इस प्रकार सोवियत संघ और अमरीका महानतम् शक्तियों की श्रेणी में आते है और फ्रांस, ब्रिटेन और चीन महाशक्तियों की श्रेणी में आते हैं।

आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सोवियत संघ और अमरीका दोनों ही अपनी-अपनी इच्छा छोटे राष्ट्रों पर निर्द्वन्द्व होकर लाद सकते हैं क्योंकि उनके क्रियाकलापों पर फ्रांस, ब्रिटेन और चीन कोई भी बन्धन नहीं लगा सकता। परन्तु यदि फ्रांस, ब्रिटेन, या चीन में से कोई भी महाशक्ति छोटे राष्ट्रों पर नियन्त्रण करना चाहे तो वह ऐसा केवल *उसी सीमा तक कर सकता है जहाँ तक सोवियत संघ और* अमरीका उसे करने दें। इस प्रकार क्लासिकी महाशक्ति और आधुनिक महानतम् शक्ति के भेद का मुख्य आधार यह है कि विभिन्न महाशक्तियों के निर्द्वन्द्व व्यवहार पर अंकुश लगाने की जो पारस्परिक क्षमता पहले पाई जाती थी वह अब समाप्त हो गई है।

यहाँ तक बतला देना आवश्यक है कि इस प्रकार की पारस्परिक क्षमता केवल आंशिक रूप में ही समाप्त हुई है, क्योंकि सोवियत संघ और अमेरीका के बीच यह पारस्परिक क्षमता अब भी पाई जाती है। कहने का आशय यह है कि सोवियत संघ और अमरीका एक-दूसरे को अब भी अपनी इच्छा दूसरे देशों पर थोपने से उसी प्रकार रोक सकते हैं जिस प्रकार दूसरे महायुद्ध के पहले पांच बड़े राष्ट्र आपस मे *एक दूसरे को मनमानी करने से रोक सकते थे। इस प्रकार महाशक्ति का पुरातन* सम्प्रत्यय अब केवल सोवियत संघ और अमरीका के बारे में ही लागू होता है। इसका कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के बहुध्रुवीय निकाय का स्थान अब द्विध्रुवीय निकाय ने ले लिया है। द्विध्रुवीय निकाय के प्रादुर्भाव के कारण महाशक्ति और महानतम् शक्ति में भेद करना अब आवश्यक हो गया है। दूसरे महायुद्ध के बाद

यदि द्विध्रुवीयता का जन्म न होता तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वही सिलसिला चलता रहता जिसमें बराबर की शक्ति वाले कुछ महान् राष्ट्र अपनी मनमानी करते थे। वास्तविकता यह है कि वर्तमान काल में केवल सोवियत संघ और अमरीका ही दो ऐसे देश हैं जिनकी सैन्यशक्ति एक-दूसरे के लगभग बराबर है। इसलिए महानतम् शक्ति का सम्प्रत्यय केवल सोवियत संघ और अमरीका के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त होता है, क्योंकि इन दो राष्ट्रों की सैन्यशक्ति उन समस्त अन्य देशों की शक्ति से बहुत अधिक है जिन्हें परम्परागत रूप से महाशक्तियाँ माना जाता था।

राष्ट्रीय शक्ति-स्तर में उतार-चढ़ाव के साथ अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राष्ट्रों के विकास और ह्रास की प्रक्रिया चलती रहना स्वाभाविक है। जो आज छोटा राष्ट्र है, वह राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों के विकास के बल पर कल बड़ा राष्ट्र या महाशक्ति या महानतम शक्ति बन सकता है। आज का युग परमाणु शक्ति का युग है और महाशक्ति तथा महानतम शक्ति का ध्येय मुख्यतः इसी बात पर निर्भर है कि कौन देश कितनी विशाल और सक्षम परमाणु शक्ति का स्वामी है। यह ध्यान रखना होगा कि किसी भी देश का महानतम शक्ति का दर्जा किन्हीं अन्य महाशक्तियों के सन्दर्भ में ही आँका जा सकता है। डॉ. महेन्द्र कुमार ही के शब्दों में महाशक्ति और महानतम शक्ति के बीच भेद करते समय हमें पहले उन सभी राष्ट्रों को ध्यान में रखकर चलना चाहिए जो दूसरे महायुद्ध तक महाशक्तियाँ कहलाते थे और फिर उनको महाशक्तियों एवं महानतम शक्तियों की दो श्रेणियों में विभाजित करना चाहिए। सोवियत संघ, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन और चीन सभी देश दूसरे महायुद्ध तक बराबर की हैसियत की महाशक्तियाँ कहलाते थे परन्तु दूसरे महायुद्ध के बाद फ्रांस, ब्रिटेन और चीन की महाशक्ति का दर्जा वह नहीं रहा जो कि अब सोवियत संघ और अमरीका का हो गया है। हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि एक ओर फ्रांस ब्रिटेन और चीन और दूसरी ओर सोवियत संघ और अमरीका ने सर्वविनाशकारी हथियार जमा कर लिए हैं बल्कि इसलिए भी कि अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति में महाशक्ति की भूमिका निभाने में फ्रांस, ब्रिटेन और चीन की सामर्थ्य अब बहुत कम हो गई है। फ्रांस, ब्रिटेन और चीन कुछ तो इसलिए महाशक्तियाँ कहलाते हैं कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी और कुछ इसलिए कि ये तीनों देश संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य हैं। परन्तु यदि महाशक्ति के संप्रत्यय को उसके पुराने रूप में आज लागू किया जाए तो ब्रिटेन, फ्रांस या चीन किसी को भी महाशक्ति नहीं कहा जा सकता कारण यह है कि केवल वही राष्ट्र महाशक्ति कहला सकता था जिसके पास किन्हीं अन्य राष्ट्रों के विरोध के बावजूद अपनी इच्छा दूसरे राष्ट्रों पर लादने की क्षमता हो। यह क्षमता अब केवल सोवियत संघ और अमरीका के पास ही है। फ्रांस और ब्रिटेन तथा चीन अपनी यह क्षमता खो चुके हैं।

---

6 राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व : भूगोल, प्राकृतिक साधन, जनसंख्या एवं प्राविधिक ज्ञान

(Elements of National Power : Geography, Natural Resources, Population and Technology)

" 'राष्ट्रीय शक्ति' शब्द राष्ट्र की भौतिक और सैनिक-शक्ति तथा सामर्थ्य की सूचक है; किन्तु जिस व्यापक अर्थ में यह शब्द अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों में शक्ति-संघर्ष के लिए प्रयुक्त किया जाता है, यह इससे भी अधिक व्यापक है। राष्ट्रीय शक्ति, शक्ति और सामर्थ्य का वह योग है जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाता है।" —पैडलफोर्ड एवं लिंकन

राष्ट्रीय शक्ति के आधारभूत तत्त्वों का प्रारम्भिक परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है पर इन तत्त्वों की प्रकृति कुछ ऐसी है कि विस्तृत विश्लेषण के बिना हम उनके समुचित स्वरूप और प्रभाव को नहीं आँक सकते। अतः विभिन्न प्रमुख तत्त्वों और उनके विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से चर्चा अपेक्षित है।

भूगोल
(Geography)

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्त्वों में भूगोल सबसे अधिक स्थायी तत्त्व माना गया है। अनेक विचारकों ने तो इसके आधार पर ही एक देश की विदेश-नीति के स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। भौगोलिक राजनीतिज्ञों (Geo-Politicians) के अनुसार किसी देश की भौगोलिक स्थिति ही उसकी शक्ति अथवा निर्बलता का प्रधान कारण होती है। नैपोलियन ने एक बार कहा था कि "एक देश की विदेश-नीति उसके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।" इस प्रकार के विचार यद्यपि अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय शक्ति, सभ्यता और विकास पर भूगोल का व्यापक प्रभाव पड़ता है। पैडलफोर्ड तथा लिंकन के अनुसार भौतिक भूगोल अन्य तत्त्वों की तुलना में विश्व-राजनीति को

अधिक निरन्तर रूप से प्रभावित करने वाला तत्व है। यह उन आवश्यकताओं, लक्ष्यों, नीतियों, शक्तियों आदि को प्रभावित करता है जिनको राज्य अपने हितों की दृष्टि से अपनाते हैं। वास्तव में राष्ट्रीय शक्ति के प्रत्येक तत्व का सापेक्ष महत्त्व है, अतः भूगोल के अर्थ और प्रभाव को भी अन्य तत्वों के सन्दर्भ में देखने पर ही हम समुचित मूल्यांकन की स्थिति में हो सकते हैं। जनसंख्या, प्राविधिक ज्ञान, नेतृत्व आदि की प्रकृति परिवर्तनशील है जिनके संसर्ग से भूगोल का प्रभाव भी गत्यात्मक बन जाता है।

भूगोल-तत्त्व के अध्ययन के विभिन्न भाग

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में भूगोल का अध्ययन करते समय हम इसे मुख्यतः पाँच भागों में विभक्त करते हैं—मानचित्र, आकार, जलवायु, भूकृति अथवा राष्ट्रीय सीमाएँ एवं स्थिति।

1 मानचित्र (Maps)—भौगोलिक तत्त्व के क्षेत्र में मानचित्रों का महत्त्व इस रूप में है कि कई बार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध की गई *आक्रामक कार्यवाही* को न्यायोचित ठहराने के लिए मानचित्र या नक्शे का प्रयोग करता है और विश्व-जनमत को अपने पक्ष में लाने तथा उसकी सद्भावना प्राप्त करने का प्रयास करता है। भारत-चीन सीमा-संघर्ष के समय 'मेकमोहन रेखा' का प्रयोग और अखबारों में प्रकाशित सीमा-मानचित्रों के सन्दर्भ में हम समझ सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नक्शों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। 13 मार्च, 1973 के दैनिक हिन्दुस्तान में समाचार था कि—"पेकिंग ने विश्व का एक नया एटलस प्रकाशित किया है जिसमें सोवियत संघ की 15 लाख वर्ग किलोमीटर भूमि को चीनी क्षेत्र के रूप में दिखाया गया है। इस प्रकार चीन ने इस क्षेत्र पर दावा किया है। इससे सोवियत अधिकारी चिन्तित हो रहे हैं और उन्होंने चीन की असमान सीमा-सन्धियों के सिद्धान्त को अस्वीकृत करवाने के लिए चीन के दावे के विरुद्ध अभियान चला रखा है।"

मानचित्र को प्रस्तुत करने के विभिन्न तरीके होते हैं—जैसे मरकेटर प्रक्षेपण विधि (Mercator Projection), समान क्षेत्रीय मानचित्र (Equal Area Maps), लम्बकोणीय प्रक्षेपण (Orthographic Projection), आदि। मानचित्र को प्रस्तुत करने का कोई भी एक तरीका पूर्णरूप से सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। प्रत्येक तरीके का एक लक्ष्य होता है और उस लक्ष्य की दृष्टि से हम उसे सही मान सकते हैं।

2. आकार (Size)—किसी भी देश का बड़ा आकार उसके लिए जहाँ अनेक दृष्टियों से लाभकारी है, वहाँ कुछ दृष्टियों से अहितकार भी है। जैसा कि श्लीचर ने कहा है, अन्य बातों के समान होने पर एक देश जितना बड़ा होगा उसकी सुरक्षात्मक शक्ति उतनी ही अधिक होगी। सन् 1937 और 1945 में जापान चीन को उसके विशाल आकार के कारण ही नहीं कुचल सका। अपने बड़े आकार के कारण ही रूस ने सन् 1812 में नैपोलियन के विरुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के समय नाजी जर्मनी के विरुद्ध सफलतापूर्वक अपनी रक्षा की। यदि आक्रान्त देश का आकार

सुविशाल है तो आक्रमणकारी के सामने बहुत-सी बाधाएँ प्रस्तुत हो जाती हैं, जैसे—सचार और यातायात मे बडी कठिनाई होती है, आवश्यक वस्तुएँ समय पर और समुचित स्थान पर पहुँचने मे विलम्ब होता है। यदि देश के किसी भाग पर अधिकार कर भी लिया तो वह बहुधा प्रभावकारी तथा स्थायी नही रह सकता।

विशाल आकार वाले देश मे बडी जनसख्या रह सकती है और विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों की प्रचुर उपलब्धि की सम्भावना रहती है। उसके महत्त्वपूर्ण औद्योगिक और सैनिक सयन्त्र सीमाओ से दूर, देश के अन्दर, सुरक्षित स्थानो पर लगाए जा सकते है। युद्धकाल मे उस देश की सेनाएँ बहुत दूर तक पीछे हटकर शत्रु की सेना को थका सकती है और तब घेरा डालकर पराजित कर सकती हैं। द्वितीय महायुद्ध मे रूसी फौजो ने यह रणनीति अपनाकर नाजी फौजो का सर्वनाश कर दिया था। *विशालकाय देश वैज्ञानिक कृषि द्वारा आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न* उत्पादन कर दूसरे देशो को अधिक अन्न का निर्यात कर सकता है और आर्थिक लाभ अर्जित कर सकता है। साथ ही इसकी आड मे अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति भी कर सकता है। इस प्रकार आकार विभिन्न रूपों मे राष्ट्र की शक्ति मे वृद्धि करता है।

लेकिन आकार की विशालता राष्ट्रीय शक्ति की अनिवार्य वृद्धि की गारण्टी नही है। देश का आकार तो सुविशाल है, लेकिन उसकी रक्षा के लिए पर्याप्त सैन्य-बल नही है, धरती बजर है, इलाका मैदानी है और युद्ध की दृष्टि से रक्षात्मक नही है, जनता का मनोबल ऊँचा नही है, तो उस देश का आकार राष्ट्रीय शक्ति को बढाने के बजाय कमजोर करेगा। जब बेकार की भूमि जनसख्या के केन्द्रों को बाँट देती है और प्रभावशील सचार-व्यवस्था कायम नहीं होती, तो देश का आकार उसकी प्रगति के मार्ग मे एक रोड़ा बन जाता है। दूसरी ओर छोटे आकार वाले राष्ट्र अपनी तकनीकी प्रगति, राष्ट्रीय चरित्र-बल और सुगठित औद्योगिक एवं सैनिक व्यवस्था आदि के कारण बहुत प्रगति कर लेते हैं। ब्रिटेन अथवा जापान इसके उदाहरण हैं।

यह भी स्मरणीय है कि राष्ट्र का आकार परिवर्तनशील है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे राष्ट्र के आकार मे वृद्धि और सकुचन की जितनी घटनाएँ होती हैं उतनी सम्भवतः किसी और तत्त्व की नही होती। यह आकार-परिवर्तन राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारण पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है।

3. जलवायु (Climate)—जलवायु भी एक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक तत्त्व है जिसका देश के उत्पादन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और चरित्र पर व्यापक प्रभाव पडता है। *प्राय: ठण्डे देशो के लोग गर्म देशो के निवासियो की अपेक्षा अधिक परिश्रमी और कर्मठ होते हैं* जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति प्रभावित होती है। राष्ट्रीय शक्ति एवं उत्पादन-क्षमता पर अधिक सर्दी और अधिक गर्मी दोनो का ही अनुकूल प्रभाव नही पडता। उदाहरण के लिए, यदि इगलैण्ड के बन्दरगाहो पर उत्तरी यूरोपीय बन्दरगाहों *की भाँति साल मे 6 महीने बर्फ जमती होती तो इंगलैण्ड का इतिहास कुछ और ही* होता। वह समुद्री शक्ति का सिरमौर बनकर अपना सुविशाल साम्राज्य स्थापित नही कर सकता था और न ही विपुल समुद्री व्यापार द्वारा अपनी आर्थिक समृद्धि की

नीव रख सकता था। भारत में वर्षा अनिश्चित न होती तो कृषि की दृष्टि से देश कभी का आत्मनिर्भर बन गया होता और उसे विदेशों की 'अन्न-कूटनीति' का शिकार न बनना पड़ता। अनावृष्टि या अतिवृष्टि के फलस्वरूप देश में खाद्यान्न की शोचनीय स्थिति ने देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा शक्ति पर कितना प्रतिकूल प्रभाव डाला है, कहने की आवश्यकता नहीं। जलवायु युद्ध की दृष्टि से भी राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव डालती है। खून तक को जमा देने वाली रूस की भीषणतम सर्दी ने अनेक बार आक्रमणकारी फौजों को महाविनाश के गर्त में ढकेला है।

4. राष्ट्रीय सीमाएँ तथा भूकृति (National Boundaries and Topography)—जिन राष्ट्रों के मध्य पर्वत, नदी, समुद्र आदि की प्राकृतिक सीमा-रेखा होती है, उनमें सीमा-संघर्ष प्राय: नहीं उठते अथवा बहुत कम उठते हैं। इसके विपरीत जिन राष्ट्रों के बीच प्राकृतिक सीमा नहीं होती, वहाँ प्राय: सीमा-संघर्ष उठते ही रहते हैं। नदियों, पर्वतों या समुद्रों से घिरे हुए राष्ट्र उन देशों से अधिक सुरक्षित रहते हैं जिनकी सीमाएँ प्राकृतिक नहीं होती। प्राकृतिक सीमाओं से राष्ट्रीय एकता और शक्ति में वृद्धि होती है। ये सीमाएँ बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करती हैं और अन्तर्देशीय व्यापार की सुविधा प्रदान करती हैं। आल्पस पर्वत-श्रृंखलाओं द्वारा इटली की जो रक्षा-रेखा बनी है, उसने इतिहास में कई बार इटली की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की है। अतीत से हिमालय भारत का उत्तरी सीमा का प्रहरी रहा है और आज भी उत्तर की ओर से आक्रमण के विरुद्ध एक रक्षात्मक ढाल के रूप में उसका महत्त्व कम नहीं है। यद्यपि वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में युद्ध की दृष्टि से प्राकृतिक सीमाओं का पहले जैसा महत्त्व नहीं रहा है, तथापि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। देश की समृद्धि आदि पर भूकृति का काफी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, यूरोप की भूकृति उसके लिए एक वरदान सिद्ध हुई है। अनुकूल भूकृति के कारण ही वहाँ प्राकृतिक एवं कृत्रिम बन्दरगाहों की प्रचुरता है।

प्रत्येक राज्य की सीमाएँ उन क्षेत्रों से मिली होती हैं जो अन्य सम्प्रभु राज्यों के *नियन्त्रण में हैं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय* जल को छूती हैं। प्रदेश के ऊपर का मुक्त आकाश भी राज्य की 'वायु-सीमा' में सम्मिलित होता है। ये राष्ट्रीय सीमाएँ देश की राष्ट्रीय शक्ति और स्वतन्त्रता की प्रतीक होती हैं तथा राज्य की सुरक्षा करने की योग्यता को प्रदर्शित करती हैं। राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर देता है और कभी-कभी गम्भीर युद्धों का विस्फोट कर देता है। इसीलिए राज्य द्वारा सीमाओं पर रक्षा-दल नियुक्त किए जाते हैं, सीमाओं की किलेबन्दी की जाती है, सीमा पार से आने वाले लोगों की जाँच की जाती है, आदि। वर्तमान समय में क्षेत्रीकरण की जो प्रवृत्ति बन रही है उससे यूरोप और एशिया महाद्वीपों में इन राष्ट्रीय बाधाओं का महत्त्व कम हो गया है ताकि व्यापार का संचालन और लोगों का आवागमन सुविधापूर्वक किया जा सके। रेडियो-संचार के माध्यम से भी राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघा जा सकता है।

प्राकृतिक सीमाएँ कई बार राष्ट्र के लिए बाधक भी बन जाती हैं, उनसे

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे रुकावट पडती है तथा राष्ट्रीय एकता की समस्या उत्पन्न हो जाती है। *उदाहरण के लिए, अफ्रीका की भूकृति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में* बाधक है तो बर्मा को पर्वत-शृंखलाओ ने विश्व-मार्ग से पृथक् कर दिया है। उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के बीच जो प्राकृतिक सीमाएँ विद्यमान थी उनसे इस दोनो भागों की संस्कृति मे अन्तर पैदा हो गया और इस स्थिति ने राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचाया है। सीमा सम्बन्धी विवाद राष्ट्रीय शक्ति को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सदैव प्रभावित करते है। रूस और चीन, चीन और भारत, मिस्र और इजराइल, भारत और पाकिस्तान आदि देशो के बीच सीमा सम्बन्धी गम्भीर विवाद समय-समय पर सशस्त्र संघर्षों का रूप लेते रहे है। एशिया और अफ्रीका मे नवीन राज्यो के निर्माण के समय उनके साथ ऐसी भूमि मिला दी गई जिस पर विश्व के दूसरे देश सहमत नही हैं। इन नई अपरिभाषित समस्याओ के परिणामस्वरूप काश्मीर-समस्या अरब-इजराइली संघर्ष, सोमालीलैण्ड-इथोपिया-केन्या-संघर्ष उठ खडे हुए। राष्ट्रीय *सीमाएँ प्रायः इस प्रकार निर्धारित की जाती हैं कि सम्बन्धित राष्ट्र प्रदेश की* प्राकृतिक विशेषताओ का पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। राष्ट्रीय सीमाओ के लिए राजनीतिक या ऐतिहासिक स्पष्टीकरण ही मान्य समझे जाते है। कभी-कभी सैनिक शक्ति के आधार पर भी एक देश की सीमाएँ बदली जाती है। जर्मनी का विभाजन उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सीमाएँ इटली एव यूगोस्लाविया की सीमाएँ इसके कुछ उदाहरण है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय सीमाओ को निर्धारित करने मे जनता के आत्म-निर्णय की मान्यता का भी पर्याप्त प्रभाव था। भारत और पाकिस्तान की सीमाओ का आधार मुख्य रूप से धार्मिक और साम्प्रदायिक था। वैसे जाति, धर्म, सम्प्रदाय, आदि को अविचल रूप से राष्ट्रीय सीमाओ के निर्धारण का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योकि ये तत्त्व राष्ट्रीय सीमाओ को ध्यान मे रखे बिना ही परस्पर विद्यमान रहे हैं।

5. स्थिति (**Location**)—इस भौगोलिक तत्त्व का देश की अर्थव्यवस्था, संस्कृति, राष्ट्रीय शक्ति तथा विदेश-नीति पर प्रभाव पडता है। यद्यपि स्थिति को *परिवर्तित करना देश की सामर्थ्य के बाहर है तथापि स्थिति-जन्य समस्याओं का* सामना करने के लिए प्रयास करने पडते हैं। स्थिति से यह बहुत कुछ स्पष्ट होता है कि देश मे *क्या पैदा हो सकता है, कौन-कौन से खनिज पदार्थ मिल सकेंगे, मौसम* कैसा रहेगा, औद्योगिक विकास के लिए क्या परिस्थितियाँ हैं, आदि। पामर एव पर्किस ने लिखा है कि प्रादेशिक स्थिति *एक राज्य की* संस्कृति और अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है तथा उसकी सैनिक एव आर्थिक शक्ति पर भी व्यापक प्रभाव डालती है। *एक देश की स्थिति वहाँ की राजनीति और युद्ध-कौशल का निर्धारण* करने मे भी सहयोग देती है। चारो ओर समुद्रो से घिरे होने के कारण ही जापान और इग्लैंड बडी समुद्री शक्ति बन सके हैं। राष्ट्रों से घिरा होने के कारण ही बेल्जियम अपनी सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से फ्रांस और इग्लैंड का समर्थक रहा है। अपनी विशेष केन्द्रीय स्थिति के कारण ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् मे

तटस्थता की नीति से चिपका हुआ है। अपनी स्थिति-विशेष के कारण ही बहुत से राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल पाते। अमेरिका के होते हुए यह अत्यधिक कठिन है कि कनाडा महाशक्तियों की श्रेणी में आ सके। जापान चमत्कारिक रूप से सफल और शक्तिशाली होने पर भी लाल चीन के अभ्युदय के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर वह प्रभाव नहीं डाल पा रहा है जो अन्य स्थिति में होने पर वह डाल सकता था। स्थिति ही बहुत-कुछ स्पष्ट कर देती है कि कोई देश युद्ध का अखाड़ा बना रहेगा अथवाएकअवरोधक राज्य (Buffer State) के रूप में काम करेगा। आशय यह है कि स्थिति का राष्ट्रीय शक्ति पर किसी न किसी रूप में अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है।

इस विवेचन के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूगोल राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रमुख निर्धारक तत्व है जिसका महत्व अन्य तत्वों की स्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहता है। अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों का राष्ट्रीय शक्ति के विकास के लिए उतना ही महत्व है जितना एक पौधे के विकास के लिए उपजाऊ भूमि एवं अनुकूल जलवायु का।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर भौगोलिक दृष्टिकोण
(The Geographical Approaches towards International Affairs)

आज के कुछ दशकों पूर्व भूगोल को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अतिशय महत्त्व दिया जाता था। 'भौगोलिक राजनीति' (Geo-Politics) शब्द का प्रयोग सबसे पहले सन् 1916 में रूडोल्फ जैलिन (Rudolf Kjellen) द्वारा किया गया जिसने अपनी पुस्तक 'The State as a Form of Life' में बतलाया कि भौगोलिक राजनीति राज्य की वह विचारधारा है जो उसे एक भौगोलिक सावयवी मानती है। पैडलफोर्ड और लिंकन के अनुसार भौगोलिक राजनीति, विज्ञान तथा राजनीति के क्षेत्र को जोड़ने का एक प्रयास है। यह भौगोलिक सम्बन्धों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, राष्ट्रीय हित और रणनीति के रूप में मूल्यांकित करने का प्रयास करती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सन्दर्भ में 19वीं 20वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख भूगोल-शास्त्रियों और राजनीतिज्ञों रोचक दृष्टिकोण जान लेना उपयुक्त होगा। इन दृष्टिकोणों से हमें स्पष्ट पता लग सकेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भूगोल को कितना महत्त्व दिया जाता रहा है।

1 मैकींडर के विचार (The Ideas of Mackinder)—भौगोलिक राजनीति के आधुनिक विचारों के विकास का श्रेय सर हाल्फर्ड मैकाइडर (Sir Halford Mackindar) को दिया *जाता है जो इंगलैण्ड के भूगोल-शास्त्री* और राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने दुनिया की भूमियों की कुछ भौगोलिक विशेषताओं का विद्वत्ता-पूर्ण विश्लेषण किया और समुद्रों से उनका सम्बन्ध दर्शाते हुए बताया कि कुछ भौगोलिक वास्तविकताएँ भावी विश्व की घटनाओं के विकास को मोड़ने में महत्त्वपूर्ण कार्य करेंगी। मैकाइडर ने अपने विचार सर्वप्रथम सन् 1904 में प्रतिपादित किए और

इनको सन् 1919 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'प्रजातन्त्रात्मक आदर्श और यथार्थ' (Democratic Ideals and Realities) में परिवर्तित किया तथा सन् 1943 में उनको पुनः समायोजित किया।

मैकाइंडर ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका को विश्व द्वीपों के रूप में वर्गीकृत किया। उन्होंने यूरेशिया के आन्तरिक क्षेत्र को इस प्रदेश की केन्द्रीय भूमि (Heart Land) बताया। यह पश्चिम जर्मनी से आरम्भ होकर सोवियत यूरोप में होता हुआ केन्द्रीय साइबेरिया तक पहुँचा है। उन्होंने विश्व के अन्य भागों को भी आन्तरिक क्रीसेंट (Inner Crescent), रिमलैण्ड (Rim Land), व बाहरी क्रीसेंट (Outer Crescent), आदि शीर्षकों में वर्गीकृत किया तथा उनकी अलग-अलग विशेषताओं एवं प्रभावों का वर्णन किया। मैकाइंडर का विश्वास था कि समुद्र-शक्ति का प्रभावशाली युग समाप्त होने को है। उनका कहना था कि फेंक कर मारे जाने वाले शस्त्रों के आविष्कार से पूर्वी यूरेशियन मुख्य भूमि आक्रमणों से अपेक्षाकृत मुक्त रहेगी और क्योंकि इस भूमि में प्राकृतिक साधन और मनुष्य-शक्ति की अधिकता है इसलिए यह महान् शक्ति प्राप्त करने में सक्षम है। मैकाइंडर का तर्क था कि यदि अन्य चीजें समान हैं तो मुख्य भूमि (Heart Land) दुनिया का मुख्य क्षेत्र बन जाता है। उनका कहना था कि जो पूर्वी यूरोप पर शासन करता है वही मुख्य भूमि (Heart Land) पर अधिकार रखता है और जो मुख्य भूमि पर शासन करता है वह विश्व द्वीप पर अधिकार रखता है और जो विश्व द्वीप पर शासन करता है वह संसार पर अधिकार रखता है।

वार्साय के शान्ति-सम्मेलन के दौरान मैकाइंडर ने यह चेतावनी दी थी कि जर्मनी पुनः यूरोपीय रूस पर अधिकार कर मुख्य भूमि पर नियन्त्रण कर सकता है। सन् 1943 में उन्होंने यह चेतावनी दी कि यदि रूस जर्मनी पर अधिकार कर लेता है तो वह आन्तरिक क्रीसेंट को जीत सकता है और उसके बाद विश्व-साम्राज्य बनाने की ओर अग्रसर हो सकता है। यह डर उस समय और अधिक बढ़ गया जब द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लाल सेनाओं ने केन्द्रीय यूरोप और पूर्वी जर्मनी पर अधिकार कर लिया। जब चेकोस्लोवाकिया में फरवरी सन् 1948 में साम्यवादी क्रान्ति हो गई तो पश्चिमी यूरोप के देश कनाडा, संयुक्तराज्य अमेरिका आदि ने नाटो सन्धि सम्पन्न की। ट्रूमैन-प्रशासन की सन्धियों की नीति, ट्रूमैन सिद्धान्त, नाटो, सिएटो और सेंटो आदि सन्धियाँ मैकाइंडर के विश्लेषण के आधार पर ही संचालित हो रही थीं ताकि रिमलैंड को मुख्य भूमि की शक्ति द्वारा प्रशासित होने से रोका जा सके।

विश्व की घटनाओं को देखने तथा उनका अनुमान लगाने की दृष्टि से मैकाइंडर के विचार पर्याप्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इस आधार पर किसी भी देश की सम्भावित सामर्थ्य को आँका जा सकता है। मैकाइंडर के विश्लेषण के आधार पर ही महाशक्तियाँ यूरोप से एशिया की ओर बढ़ रही हैं। यदि सोवियत संघ और चीन एक साथ मिलकर कार्य कर रहे होते तो शायद मैकाइंडर की भविष्यवाणी पूरी हो गई होती। मैकाइंडर का विचार मुख्यतः यूरोप से प्रभावित था और उन्होंने अमेरिका को

एक बड़ी शक्ति के रूप में नहीं आँका। बाद में उन्होंने उत्तरी अटलाण्टिक मुख्य भूमि के विकास को पहचाना और उसके विश्लेषण को केवल अभिलेख मात्र नहीं बना सकता।

2 समुद्री शक्ति पर माहन के विचार (The Ideas of Mahan on Sea Power)—माहन ने भी एक विद्वतापूर्ण भौगोलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है और समुद्र की शक्ति के महत्व पर जोर डाला है। माहन का दृष्टिकोण मैकाइण्डर के इस विचार से भिन्न है कि समुद्री शक्ति का महत्व घट रहा है। वैसे तो इन दोनों ही विचारकों ने यह कल्पना नहीं की थी कि भूमि, समुद्र, वायु और प्रक्षेपास्त्रों की शक्ति को एक ही सैनिक शक्ति में एकीकृत किया जा सकता है। माहन के विचार इस मान्यता पर आधारित थे कि यूरोप या एशिया की कोई भी महाद्वीपीय शक्ति ब्रिटेन या अमेरिका के नौ-सैनिक नेतृत्व को सफलतापूर्वक चुनौती नहीं दे सकती। माहन का विश्वास था कि कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसके पड़ोसी फ्रांस, जर्मनी और रूस जैसे शक्तिशाली देश हो और वह समुद्री का नियन्त्रण कर सके। ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका ऐसे देश है जिनके पास ऐसी सीमाएँ नहीं हैं जिनकी वे रक्षा कर। इसलिए वे बड़ी नौ-सेना की स्थापना पर अपने सुरक्षा-कार्यों को केन्द्रित कर सकते हैं। माहन का विश्वास था कि समुद्र पर ही बड़े शक्ति-युद्धों का निर्णय होना है। उसकी मान्यता थी कि ब्रिटेन अपनी नौ-सैनिक सर्वोच्चता को स्थायी रूप से बनाए नहीं रख सकता, इसलिए संयुक्तराज्य अमेरिका को चाहिए कि बड़ी नौ-सेना का संगठन करे ताकि वह बाह्य युद्धों मे भाग ले सके। राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट माहन के विचारों में रुचि लेते थे, किन्तु सयुक्तराज्य अमेरिका की नीति इन विचारों पर आश्रित नहीं थी। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में जो विजय प्राप्त हुई वह सयुक्त-राज्य अमेरिका और ब्रिटेन की कुशल नौ-सेना पर आधारित थी जो अपने देश से दूरस्थ स्थानों पर लड़ने में सक्षम थी। आधुनिककालीन विकासों ने माहन के विचारो को कई दृष्टियों से सीमित कर दिया है। हवाई जहाज, अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र आधुनिक औद्योगीकरण आदि के कारण माहन की कई मान्यताएँ महत्त्वहीन बन गई हैं। माहन के विचारानुसार महाशक्ति के बनने के लिए एक देश को ऐसी सैनिक शक्ति का निर्माण करना चाहिए जो अपने देश से बाहर लड़ाई लड़ सके। यदि माहन ने वायु सेना और भूमि-सेना को भी अपने विचारो में स्थान दे दिया होता तो उनका महत्त्व बढ़ जाता। माहन के विचारो का आज की दुनिया मे प्रभाव ग्रेट-ब्रिटेन और सयुक्तराज्य अमेरिका की नीतियो द्वारा ही प्रकट नहीं होता वरन् द्वितीय विश्वयुद्ध मे जर्मनी और जापान की शक्तिशाली नौ-सेना और वायु-सेना और सन् 1947 के बाद से सोवियत सघ की जल-सेना एव वायु-सेना के विकास उसके विचारो की उपयुक्तता को सिद्ध करते है। यदि माहन ने आज की परिस्थितियों मे लिखा होता तो वह थल एव वायु-सेना पर अधिक जोर देता।

3. स्पाइकमैन के विचार (The Ideas of Spykman)—प्रोफेसर स्पाइकमैन (सन् 1893–1943) का मुख्य उद्देश्य दुनिया के भौगोलिक एवं राजनीतिक तत्वो

का संयुक्तराज्य अमेरिका की रणनीति की स्थिति एवं विदेश-नीति से सम्बन्ध ज्ञात करना था। उनके विचारों मे वायु एव प्रक्षेपास्त्रो के रणनीति सम्बन्धी महत्त्व को ध्यान में रखा गया है। स्पाइकमैन के मतानुसार विदेश-नीति की रचना मे भूगोल सर्वाधिक मौलिक रूप से प्रभावी तत्त्व है। उन्होने यह बताया कि एक देश की सापेक्ष शक्ति केवल उसकी सैनिक सामर्थ्य पर ही निर्भर नही करती वरन् वह अन्य अनेक तत्वों पर आश्रित रहती है जैसे प्रदेश का आकार, सीमाओ की प्रकृति, जनसख्या, कच्चा माल, आर्थिक और तकनीकी विकास, वित्तीय शक्ति, प्रभावशाली सामाजिक एकता, राजनीतिक स्थायित्व एव राष्ट्रीय भावना, आदि। जिस समय संयुक्तराज्य अमेरिका पृथक्ता की नीति को अपना रहा था उस समय स्पाइकमैन ने इस बात पर जोर दिया कि यदि संयुक्तराज्य अमेरिका विश्व-शक्ति मे सन्तुलन की स्थापना के लिए ब्रिटेन के साथ सहयोग करके अपनी क्षमता को प्रयुक्त नही करेगा तो पुरानी विश्व-शक्तियाँ नए विश्व को घेरने के लिए सगठित हो सकती हैं। स्पाइकमैन के विचानुसार अमेरिका की नीति प्रभावशाली शक्तियो को यूरोप के महाद्वीपीय रिमलैण्ड मे स्थापित होने से रोकने की थी। यदि यूरोप, मध्यपूर्व अफ्रीका, दक्षिण एशिया और सुदूरपूर्व रिमलैण्ड मे से किसी भी क्षेत्र मे कोई विरोधी महाशक्ति विकसित हो गई तो वह संयुक्तराज्य अमेरिका के हितो के लिए एक चुनौती बन जाएगी। संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन के पास पर्याप्त नौ-सेना है। यदि ये दोनो मित्र बन गए तो उस प्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं जिसे मैकाइण्डर ने आन्तरिक क्रीसेंट कहा था और स्पाइकमैन उसे रिमलैण्ड कहते है। स्पाइकमैन का विचार है कि जो रिमलैण्ड पर नियन्त्रण करता है वह यूरेशिया पर शासन करता है और जो यूरेशिया पर शासन करता है वह विश्व पर नियन्त्रण करता है। स्पाइकमैन के अध्ययन का उद्देश्य यह नही था कि संयुक्तराज्य अमेरिका दुनिया पर शासन करे। वह विश्व मे शान्ति चाहते थे और इसके लिए यूरेशिया के अन्तर्गत शक्ति-सन्तुलन को आवश्यक समझते थे। स्पाइकमैन के समय से ही यह स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक स्थानीय शक्ति-सन्तुलन विश्व-शक्ति-सन्तुलन के अधीनस्थ होता है और संयुक्तराज्य अमेरिका की शक्ति किसी भी शक्ति-सन्तुलन के लिए परमावश्यक है।

4. हाशोफर के विचार (The Ideas of Haushofer)—जर्मनी के भूगोल-शास्त्री कार्ल हाशोफर (सन् 1869–1946) ने भौगोलिक राजनीति पर बहुत कुछ लिखा है। उसका नाजी विचारो पर बहुत प्रभाव था। हाशोफर तथा उसके अनुयायियो के मतानुसार भौगोलिक-राजनीति एक गुप्त वस्तु थी जो जेलेन (Kjellen) के इस विचार पर आधारित थी कि राज्य अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है तथा शक्ति राज्य का महत्त्वपूर्ण अग है। इस आधार पर हाशोफर ने यह बताया कि जर्मनी-निवासियो की उच्च जाति के रहने के लिए पृथक् क्षेत्र की आवश्यकता है। इसे भौतिक स्रोतो की दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहिए तथा यूरोपीय मुख्य भूमि का नियन्त्रण करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के मार्ग मे ग्रेट-ब्रिटेन की नौ-शक्ति

एवं सोवियत संघ की थल-सेना बाधक थी, अतः जर्मनी के सामने युद्ध करने के अलावा और कोई रास्ता न था। नाजी पार्टी की हार के साथ ही हाशोफर के विचारों का प्रभाव भी समाप्त हो गया। संक्षेप में उसने नाजी आक्रमण का समर्थन करने के लिए भूमि-प्रसार की विचारधारा का पक्ष लिया तथा भौगोलिक राजनीति के विश्लेषण की अवहेलना की।

5 भूगोल पर साम्यवादी विचार (Communist Ideas on Geography) – साम्यवादी पद्धति पूर्ण शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करती है, किन्तु साम्यवादी लेखकों द्वारा कहीं भी भौगोलिक राजनीति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। इसके विपरीत उनका विश्वास इतिहास के विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में है तथा वे मजदूरों की वर्ग-युद्ध जीतने की योग्यता में विश्वास करते हैं। साम्यवादी नेतृत्व भूगोल की रणनीति के दृष्टिकोण से व्याख्या करता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के द्वारा प्रदान किए गए अवसरों का साम्यवादी रूस ने प्रयोग किया और पूर्वी यूरोप में प्रभावित राज्यों की स्थापना की। इसके अतिरिक्त टर्की के दर्रे में, उत्तरी ईरान में, बोरनम द्वीप में तथा बॉल्टिक में भी इसने अपने पाँव जमाने का प्रयास किया, किन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी। इसी प्रकार साम्यवादी चीन भी दक्षिण एवं दक्षिणपूर्व एशिया में पैर फैलाता जा रहा है तथा इन क्षेत्रों से साम्राज्यवादी शक्तियों के हटने की निरन्तर माँग करता रहता है। वह भारत के कुछ भाग पर तथा सोवियत संघ के मध्य एशिया के कुछ प्रदेश पर दावा कर रहा है। यह कहा जाता है कि साम्यवाद को पेकिंग से पेरिस पहुँचने के लिए जो रास्ता अपनाना होगा वह है यूरेशियन रिमलैण्ड (Eurasian Rimland) का। यदि इस मार्ग में अफ्रीका या संयुक्तराज्य अमेरिका ने टाँग फँसाई तो साम्यवाद की विजय लम्बी पड़ सकती है। सन् 1945 में जापान के आत्म-समर्पण की वर्षगाँठ के अवसर पर साम्यवादी चीन के उप-प्रधानमन्त्री लिन पियाओ (Lin Piao) ने साम्यवादी विश्व-विजय की राजनीति की एक रूपरेखा प्रस्तुत की थी। इसमें भौगोलिक रणनीति के कुछ तत्वों को स्थान दिया गया था। यह बताया जाता है कि चीन में माओत्सेतुंग की साम्यवादी विजय की राजनीति की सफलता का कारण यह था कि उसने देहाती क्षेत्रों को क्रान्ति का आधार बनाया था और बाद में शहरों की भी घेराबन्दी की थी। इसी नीति को विश्व में साम्यवादी क्रान्ति लाते समय काम में लाया जा सकता है। चीनी नेताओं के मतानुसार यदि हम सम्पूर्ण विश्व पर विचार करें तो उत्तरी अमेरिका एवं पश्चिमी यूरोप को 'दुनिया के नगर' माना जा सकता है तथा एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका को दुनिया के देहाती क्षेत्र कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के पूँजीवादी देशों में मजदूरों का क्रान्तिकारी आन्दोलन कई कारणों से मन्द पड़ गया है जबकि एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका में जन-आन्दोलन व्यापक रूप से बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार साम्यवादी विचारकों के मतानुसार विश्व का वर्तमान स्वरूप वह है जिसमें शहरों के चारों ओर देहाती क्षेत्रों का घेरा पड़ा हुआ है। देहाती क्षेत्रों की जनसंख्या अधिक है और ये ही विश्व में क्रान्ति ला सकते हैं।

इस प्रकार चीन के नेता भौगोलिक राजनीति को एक विशेष रूप मे अपनाते हैं। *उनकी दुनिया की तस्वीर अलग है और जब तक उसको नहीं समझा जाता तब तक* साम्यवादी देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को सही रूप मे समझना कठिन होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भूगोल का प्रभाव (The Influence of Geography upon *International Politics*)

वर्तमान काल मे अधिकांश भूगोल-शास्त्री भूगोल की सापेक्षता के सम्बन्ध मे पर्याप्त सजग हैं तथा यह मानते हैं कि भूगोल कोई निर्णायक तत्त्व नही है वरन् यह राज्य-व्यवहार को स्वरूप प्रदान करने वाले कई तत्त्वों मे से एक है। भूगोल का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कितना प्रभाव है यह जानने के लिए पी ई जेम्स (**P. E. James**) *का यह पर्याप्त उपयोगी प्रतीत होता है कि धरती का भौतिक स्वरूप* अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ रखता है अर्थात् व्यक्ति के लिए भौतिक वातावरण का क्या महत्त्व है यह तय करना उसके स्वयं के दृष्टिकोण, तकनीकी योग्यता एव उद्देश्यो पर निर्भर करता है। मानव-संस्कृति के इन तत्त्वो मे से किसी मे भी परिवर्तन होने पर धरती द्वारा प्रदत्त आधार का पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए। इस प्रकार शक्ति के तत्त्व के रूप मे भूगोल का महत्त्व सापेक्ष है, किन्तु इस तथ्य से *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भूगोल का प्रभाव कम नही हो जाता क्योंकि शक्ति* के प्राय. सभी तत्त्वों का महत्त्व सापेक्ष है। यह सच है कि भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या, वातावरण एवं उद्योग आदि के आँकड़ो के उल्लेख मात्र का कोई महत्त्व नही है जब तक कि इसे मनुष्य द्वारा प्रयोग के उद्देश्य के प्रसग मे न देखा जाए जिसके लिए कि मनुष्य अपने वातावरण को अलग-अलग रूप से देखने और नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से भूगोल का सम्बन्ध भी *बदलता रहता है अर्थात् स्पष्ट रूप मे यह नही कहा जा सकता कि क्या भूगोल का रूप एक देश के लिए उपयुक्त रहेगा तथा उसकी शक्ति को बढाने का साधन होगा तथा किस प्रकार की भौगोलिक स्थितियाँ उसकी शक्तियो को कम कर देंगी।*

भौगोलिक तत्त्व पर विचार करते समय उसकी सापेक्षता को तो ध्यान मे रखना ही चाहिए, किन्तु साथ ही यह तथ्य भी जान लेना चाहिए कि भूगोल राष्ट्रीय शक्ति एवं रणनीति से अनेक विशेष रूपों मे सम्बन्ध रखता है। एक के बाद एक होने वाले तकनीकी विकासो के कारण विश्व मे अनेक प्रकार के परिवर्तन आते रहते है, किन्तु इससे स्थिति, जलवायु, आकार एव मानचित्र का महत्त्व कम नही होता है। *स्टीफेन बी जोन्स* (Stephen B.Jones) ने *सुझाया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भूगोल के प्रभाव को दो दृष्टिकोणों से देखा जाना चाहिए*—प्रथम, गत्यात्मक पदार्थों की विस्तृत सूची (Inventory) और दूसरी 'रणनीति' (Strategy)। जोन्स के मतानुसार इन्वेंट्री शब्द एक देश की उस सम्भावित शक्ति को इगित करता है जो उसके आकार, जनसख्या, साधन-स्रोत एव औद्योगिक आधार के कारण उसे प्राप्त होती है। इसमें आकार एवं विकास का अधिकतम सम्मिश्रण होता है। यह शक्ति

उत्पादित वस्तुओं के प्रकार के आधार पर अनेक रूपों वाली हो सकती है। इसके अतिरिक्त उत्पादित वस्तुओं का वितरण इस प्रकार किया जाए कि व्यय की अधिक से अधिक मात्रा सैनिक सामान में खपे। स्विट्जरलैण्ड में प्राकृतिक साधन पर्याप्त हैं, उनको प्रयुक्त करने के साधनों की भी कमी नहीं है, किन्तु फिर भी वहाँ ये सब चीजें लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में ही सहयोग कर सकती हैं। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ के पास पर्याप्त आर्थिक आधार हैं जिन पर शक्ति अन्तिम रूप से आश्रित रहती है। 'रणनीति' उन उलझनों की ओर संकेत करती है जो भौगोलिक स्थिति को तकनीक से मिला देने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभुत्व स्थापित करने से उत्पन्न होती है।

यदि हम पिछली शताब्दी के ऐतिहासिक अभिलेखों पर दृष्टिपात करें तो इन्वेंट्री तथा रणनीति के मध्य स्थित अन्तर का विश्लेषणात्मक मूल्य स्पष्ट हो जाएगा। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में जर्मनी के एकीकरण एवं द्रुतगति से होने वाले औद्योगिक विकास ने उसकी आर्थिक, जनसंख्या-सम्बन्धी एवं औद्योगिक इन्वेंट्री को व्यापक रूप से बढ़ा दिया। इसके फलस्वरूप जर्मनी इस आशा और विश्वास के साथ दो बार विश्व-युद्ध में उलझा कि इसके कारण उसे यूरोप में प्रभुत्व प्राप्त हो जाएगा। रणनीति की दृष्टि से जर्मनी के एकीकरण एवं औद्योगीकरण ने उसे भौगोलिक विघटन की स्थिति के दुष्परिणामों से मुक्त कर केन्द्रीकृत शक्ति के लाभों को प्राप्त करने की क्षमता प्रदान की। एक देश के अस्तित्व पर स्थिति (Location) के रणनीति सम्बन्धी परिणाम क्या हो सकते हैं, इसके लिए अन्य उदाहरण स्विट्जरलैण्ड तथा बेल्जियम आदि देशों के हैं। बेल्जियम की स्थिति तीन बड़ी शक्तियों—ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस एवं जर्मनी के लिए रणनीति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है, अतः वह चाहते हुए भी निष्पक्ष (Neutral) नहीं रह सकता। दूसरी ओर स्विट्जरलैण्ड की स्थिति ऐसी है कि इसका पश्चिमी यूरोप की इन बड़ी शक्तियों के लिए रणकौशल की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि यह देश अपने आपको दो विश्व-युद्धों से बचाए रख सका।

कनाडा एवं लेटिन अमेरिका के गणराज्यों में कुछ समय पूर्व तक न तो पर्याप्त जनसंख्या थी और न ही औद्योगिक आधार, ताकि इनको बड़ी शक्ति कहा जा सके। ये देश भौगोलिक रूप से शक्ति के मुख्य केन्द्रों से दूर थे और इसलिए वे आक्रमणों से सुरक्षित रहे। संयुक्तराज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ को सर्वोच्च शक्ति इसलिए माना जाता है क्योंकि वे राष्ट्रीय सम्पत्ति की उपयुक्त इन्वेंट्री एवं एक रणनीतियुक्त स्थिति—दोनों ही भौगोलिक लाभों का उपभोग करते हैं। इन लाभों के परिणामस्वरूप ही एक शताब्दी पूर्व डी. टॉकविल ने यह भविष्यवाणी की थी कि एक दिन रूस और अमेरिका आधी दुनिया के भाग्य निर्माता बन जाएँगे। मैकाइण्डर ने यद्यपि विश्व के आधुनिक विकासों के बारे में नहीं सोचा था और न ही इनकी कल्पना की थी, किन्तु भौगोलिक आधार पर अध्ययन करने के बाद उसने जो निष्कर्ष निकाले वे आज भी सही हैं और उसने संसार के जिन क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बताया था उनमें से कई-एक अब भी संघर्ष के केन्द्र हैं।

मध्यपूर्व एवं एशिया के जलवायु पर राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि की दृष्टि से कभी विचार नही किया गया जैसा कि यूरोप मे किया गया है। इसके साथ ही इन क्षेत्रो मे जनसख्या की समस्या भी अधिक है, इसलिए अरब एव एशिया के राष्ट्र अपने स्रोतो का विकास नही कर पाते। परिणामस्वरूप ये क्षेत्र शक्ति के केन्द्र रहने की अपेक्षा *शक्ति से शून्य रहे है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भूगोल के महत्त्व के सम्बन्ध* मे मेकलेलन एवं अन्य का यह कथन उचित ही है कि भूगोल वह नीव स्थापित करती है जिस पर कि सामर्थ्य, पारस्परिक निर्भरता एव सघर्ष निर्भर रहते है। इसके महत्त्व को कम नही आँका जाना चाहिए।

प्राकृतिक साधन
(Natural Resources)

राष्ट्रीय शक्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व प्राकृतिक साधन है। *प्राकृतिक साधन राष्ट्र की पूँजी होते है परन्तु कोई भी प्राकृतिक साधन उस समय तक* राष्ट्र की पूँजी नही कहा जा सकता जब तक कि राष्ट्र उसका उचित उपयोग करना न जानता हो। सम्भावित (Potential) और वास्तविक (Actual) प्राकृतिक स्रोत मे भी अन्तर करना आवश्यक है क्योकि वास्तविक स्रोत ही दरअसल एक देश को *शक्ति प्रदान करते हैं। पर सम्भावित स्रोत महत्त्वहीन नहीं होते* और कभी-कभी तो उनका भी उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है जितना कि वास्तविक स्रोतों का।

पामर एवं पर्किंस ने प्राकृतिक स्रोतों के इन रूपो का उल्लेख किया है—कच्चा माल, खनिज पदार्थ, औद्योगिक शक्ति के साधन, खाद्य-पदार्थ तथा कृषि-उत्पादन। श्लीचर ने *इन स्रोतो के तीन प्रकारो का उल्लेख किया है*—खाद्यान्न, निर्माणात्मक सामान (Construction Materials) एव शक्ति-उत्पादक (Energy Producers)। हंस मॉर्गेन्थो ने प्राकृतिक साधनो को दो वर्गों मे विभाजित किया है—प्रथम, खाद्यान्न (Food) और द्वितीय, कच्चा माल (Raw Material)। *यह वर्गीकरण सरल भी है और इसमे प्राकृतिक साधनो के सभी रूप आ जाते हैं।* कच्चे माल के तीन भाग किए जा सकते है—खनिज पदार्थ, वानस्पतिक उत्पादन और पशुओं द्वारा उत्पादित कच्चा माल। खनिज पदार्थों मे कोयला, पैट्रोल, लोहा, ताँबा, जस्ता, टीन, मैंगनीज आदि की गणना होती है। वानस्पतिक उत्पादनो मे *कपास, रबर, बाँस, नारियल,* आदि सम्मिलित हैं। इनमे *वे तत्त्व भी शामिल हैं* जिनसे दवाइयाँ, रंग, वार्निश आदि बनाई जाती हैं। पशुओ द्वारा उत्पादित वस्तुओं मे दूध, अण्डे, गोश्त, रेशम, ऊन आदि का नाम लिया जा सकता है।

खाद्यान्न

यह राष्ट्रीय शक्ति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व अथवा उप-तत्त्व है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे कहावत प्रसिद्ध है कि 'सेनाएँ अपने उदरों पर यात्रा करती हैं' (Armies travel on their stomach) अर्थात् सैनिक भूखे पेट रह कर नही लड़ सकते। प्राचीन काल में दुश्मन किले को घेर लेते थे, रसद-मार्ग बन्द कर देते थे और विजय *प्राप्त करते थे। स्थानीय स्तर की ये चालें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लागू की जा*

सकती हैं। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी को अपनी जीवन-रक्षा के लिए तीन प्रकार की नीतियों को व्यवहार में लाना पड़ता था—(क) खाद्यान्न समाप्त होने से पूर्व ही शीघ्र विजय प्राप्त कर एक लम्बे युद्ध से बचना, (ख) पूर्वी यूरोप के अधिक अन्न-उत्पादक क्षेत्रों पर अधिकार जमा लेना, एवं (ग) ब्रिटिश नौ-शक्ति का विनाश ताकि वह जर्मनी के उन मार्गों को अवरुद्ध न कर सके जिनसे वह खाद्यान्न आयात करता था। वास्तव में ब्रिटिश और जर्मनी की खाद्यान्न-निर्भरता उनकी बहुत बड़ी कमजोरी रही। जर्मनी तो खाद्यान्न में आत्म-निर्भर रहने के लिए विजित प्रदेशों की जनता को भूखा तक रखता था अथवा भारी संख्या में लोगों को मार देता था। खाद्य-मोर्चे पर भारत की कमजोरी ने हमारी विदेश-नीति को किस तरह प्रभावित किया है, कहने की आवश्यकता नहीं।

मॉर्गेन्थो के इस दृष्टिकोण से असहमत होना कठिन है कि अनाज की दृष्टि से आत्म-निर्भर राष्ट्र उस राष्ट्र की तुलना में अनेक दृष्टियों से श्रेष्ठ है जो अनाज का आयात करते हैं, स्वयं नहीं उगा पाते या भूखों मरते हैं। जब तक देश अन्न की दृष्टि से आत्म-निर्भर नहीं हो जाता तब तक उस देश को महान् शक्ति का स्तर प्रदान नहीं किया जा सकता और यदि वह अन्न की दृष्टि से लगातार अभावग्रस्त बना रहा तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी लगातार कमजोर बना रहेगा। किसी भी देश में अनाज की अभावग्रस्त अवस्था के मुख्य पहलू होते हैं—उस देश की निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या, जनसंख्या-वृद्धि के मुकाबले खाद्यान्न उत्पादन की कमी, विदेशों से आयात के अवसरों की कमी या उन वस्तुओं का निर्यात न हो पाना जिनके बदले अनाज आयात किया जा सकता है, आदि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खाद्यान्न का अभाव समूचे राष्ट्र का ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। खाद्यान्न से पीड़ित लोग कार्य करने में असमर्थ होते हैं और साथ ही राष्ट्र के लिए अशान्ति तथा असन्तोष-वृद्धि का कारण बन जाते हैं।

कच्चा-माल

पैडलफोर्ड एवं लिंकन ने लिखा है—"आधुनिक युग में औद्योगीकरण के बिना राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करना असम्भव है। औद्योगीकरण कच्चे माल विशेषतः खनिज पदार्थों की प्राप्ति पर निर्भर करता है।" जर्मनी के हरमन गोयरिंग का कहना था—"मक्खन खाने से हमारी सेनाएँ सिर्फ मोटी होती हैं जबकि इस्पात हमको शक्तिशाली बनाता है।" कच्चा माल राष्ट्र की शक्ति को ही नहीं बरन् राष्ट्रीय नीति और विदेशी व्यापार को भी प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, विश्व के सभी देशों में टीन का उपयोग होता है और सारा विश्व इसके लिए मलाया और बोलेविया की ओर देखता है। इन दोनों राष्ट्रों की विदेश-नीति और उनका विदेशी-व्यापार बहुत-कुछ टीन पर आश्रित है। डेनमार्क आर्थिक स्थिति से सम्पन्न होते हुए भी औद्योगिक शक्ति नहीं बन सका है क्योंकि वहाँ औद्योगीकरण के लिए आवश्यक कोयले और अन्य शक्ति-साधनों का अभाव है।

कच्चे माल की दृष्टि से दुनिया के लगभग सभी देश एक दूसरे से भिन्न हैं और न्यूनाधिक रूप मे परस्पर आश्रित है। केवल सोवियत रूस ही अकेला ऐसा देश है जिसके पास सभी आवश्यक प्राकृतिक साधनो के विपुल भण्डार हैं। अमेरिका भी इस दृष्टि से भाग्यशाली है, लेकिन उसके बहुत से भण्डार अब खाली होने की स्थिति मे आ गए है और सैनिक दृष्टि से आवश्यक कई पदार्थों के लिए (कोबाल्ट, मैंगनीज, क्रोम, निकल, प्लेटीनम आदि) वह बडी सीमा तक दूसरे राष्ट्रो पर निर्भर है। कच्चे माल मे तीन चीजें—कोयला, लोहा और पैट्रोल मुख्य होते हैं, क्योकि ये तीनो ही वस्तुएँ आधुनिक उद्योग-धन्धो, व्यवसाय और परिवहन का आधार है। वही राष्ट्र आर्थिक और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बन सकता है जिसके पास या तो ये खनिज पदार्थ समुचित मात्रा मे मौजूद हो या वह अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो द्वारा इन्हे प्राप्त करने की स्थिति मे हो। संयुक्तराज्य अमेरिका के पास कोयले, पैट्रोल और लोहे के सर्वोत्तम भण्डार हैं। रूस के पास भी तेल के विशाल भण्डार है और रूमानिया से वह विपुल मात्रा मे तेल प्राप्त करने मे सफल हुआ है। कोयले और लोहे के भण्डारो की भी उसके पास कोई कमी नही है। पैट्रोल या तेल पश्चिमी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र है। इस दृष्टि से अमेरिका, इगलैण्ड, फ्रांस, रूस आदि देशो ने पश्चिमी एशिया के प्रति जो नीति अपनाई है वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् मे 'तेल-राजनय' (Oil-diplomacy) के नाम से विख्यात है। विगत कुछ वर्षों से आणविक शक्ति के विकास के साथ यूरेनियम भी एक महत्त्वपूर्ण खनिज बन गया है। यूरेनियम के अणु से आणविक शक्ति उत्पन्न होने तथा उस शक्ति की सैनिक उपयोगिता होने के कारण राष्ट्रो की श्रेणियो मे अन्तर आ गया है। यूरेनियम ने कनाडा, रूस, अमेरिका, चेकोस्लोवाकिया आदि की राष्ट्रीय शक्ति को बहुत बढाया है जबकि उसके अनुपात मे अन्य देशो की स्थिति मे गिरावट आई है।

शक्तिशाली बनने के लिए किसी भी देश के पास प्राकृतिक साधन यथेष्ठ मात्रा मे होने चाहिए। पर्याप्त प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न राष्ट्र शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लेता है क्योकि दूसरे राष्ट्रो को उसके सहयोग की आवश्यकता होती है और इससे वह उन पर प्रभाव डालने की स्थिति मे आ जाता है। दूसरे देशो पर आश्रित रहने वाले राष्ट्र महाशक्ति बनने का केवल स्वप्न ही देख सकते हैं। अनेक खनिज-पदार्थ हाल ही मे विकसित हुए हैं। कहा जाता है कि मशीनीकृत युद्ध का विकास होने के बाद केवल वे ही देश बडी शक्ति बन सकते हैं जिनमे गुणात्मक एव सख्यात्मक दृष्टि से पर्याप्त कल-कारखाने हैं और खनिज पदार्थों द्वारा ही इन कल-कारखानों की क्षमता निश्चित होती है अत: अप्रत्यक्ष रूप मे वे प्रभावशाली सैनिक शक्ति की आवश्यक शर्तें हैं।

जनसंख्या
(Population)

श्लीचर का यह अभिमत रहा है कि "जब तक उत्पादन और युद्ध के लिए मनुष्यो की आवश्यकता होगी, तब तक यदि अन्य तत्व समान रहे तो जिस राज्य के

पास इन दो कार्यों के लिए बड़ी संख्या में लोग होंगे, वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान होगा।"[1] युद्ध में विजय पाने के लिए, आर्थिक समृद्धि के लिए, राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए, औद्योगिक साधनों को सचालित करने के लिए मानव-शक्ति नितान्त आवश्यक है। आज के स्वचालित मशीनों और हथियारो के युग में भी जनसंख्या के महत्व में कोई कमी नहीं आई है। इन्हे संचालित करने, सुधारने, इधर-उधर ले जाने आदि के लिए मनुष्यो के बिना काम नहीं चल सकता।

संख्यात्मक पहलू

राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से जनसख्या के सख्यात्मक और गुणात्मक दोनों ही पहलू महत्वपूर्ण हैं। अधिक जनसंख्या युद्ध मे लड़ने के लिए अधिक सैनिक और उत्पादन-कार्यों के लिए अधिक श्रमिक प्रदान कर सकती है। अधिक जनसंख्या युद्ध और शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए योग्यतम व्यक्तियो को छांटने की सुविधा प्रदान करती है। युद्ध काल मे अधिक सख्या का ज्ञान सैनिको के आचरण और मनोबल को ऊँचा उठाने में सहायक होता है। अधिक जनसख्या वाला देश अपने प्राकृतिक साधनो का समुचित विदोहन करके और अपनी शक्ति पहचान कर जब जाग उठता है तो विश्व-राजनीति में उसकी आवाज की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अधिक जनसंख्या वाला देश जब स्वतन्त्रता के लिए छटपटाने लगता है तो उसे विदेशी नियन्त्रण मे नहीं रखा जा सकता। अधिक जनसख्या वाले देश को आसानी से हड़पा भी नहीं जा सकता। इतिहास मे अनेक ऐसे उदाहरण हैं जबकि आक्रमणकारी राष्ट्र अच्छे नेतृत्व, अच्छे हथियारो और कुशल सैनिकों के होते हुए भी अधिक जनसख्या वाले राष्ट्र पर विजय प्राप्त करने मे सफल नहीं हो सके। पिछली शताब्दी मे तो यह आम कहावत थी कि "ईश्वर सदैव बड़ी सैनिक टुकडी के पक्ष मे रहता है।" हमारे समय में भी कोरिया-युद्ध का इतिहास साक्षी है कि चीन ने भारी सख्या मे सैनिक भेजकर अमेरिका के हौसले पस्त कर दिए थे। भारत-चीन युद्ध मे भी चीन की विजय एक का मुख्य कारण उसकी भारी सैनिक सख्या थी।

उपर्युक्त विश्लेषण का यह अभिप्राय नही है कि अधिक जनसख्या वाला राष्ट्र कम जनसंख्या वाले राष्ट्र से अवश्य ही शक्तिशाली होता है। जनसख्या के आकार और राष्ट्रीय शक्ति के बीच कोई आवश्यक एव समान सम्बन्ध नही है। जर्मनी, जापान, अमेरिका, रूस आदि की जनसख्या भारत और चीन की जनसख्या से बहुत कम है, लेकिन विश्व के आर्थिक और सैनिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्रो मे जो स्थान उनका है वह भारत या चीन का नही। अरब-राष्ट्रो के मुकाबले इजरायल कम जनसख्या वाला छोटा-सा देश है, लेकिन सम्पन्नता और शक्ति मे वह अरब देशो से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। जनसख्या की अधिकता की वकालत सामान्यतः इसलिए की जाती है कि कम जनसख्या वाला देश साधारणतया बड़ी शक्ति नहीं बन सकता, अपवाद की बात अलग है। पैडलफोर्ड एव लिंकन ने भी लिखा है कि यद्यपि

1 *Charles P. Schlicher* : International Relations, p. 241.

बड़ी जनसंख्या का आशय यह नही है कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रभाव डालेगा, लेकिन फिर भी कम जनसंख्या वाले देश अधिक जनसख्या वाले देशों की तुलना मे नुकसान में रहते है। आज का साम्यवादी चीन अपनी अपार जन-शक्ति के बल पर ही विश्व की एक बडी सैनिक शक्ति बन गया है और रूस तथा अमेरिका जैसी महाशक्तियो के लिए भी चुनौती बना हुआ है।

जनसंख्या की अधिकता कभी-कभी युद्धों और प्रादेशिक विस्तार का कारण बन जाती है। अधिक जनसख्या को बसाने के लिए राज्य अपने क्षेत्र का विस्तार करने को बाध्य होते है। जर्मनी की विस्तारवादी आकांक्षा के मूल मे बडा कारण जर्मनी की बढ़ती हुई जनसख्या का था। वर्तमानकाल मे चीन भी अपनी निरतर बढती हुई जनसख्या को खपाने के लिए पडोसी देशों के भू-क्षेत्रो पर अपनी गिद्ध-दृष्टि जमाए हुए है। पुनश्च, अधिक जनसख्या के पोषण के लिए यदि राष्ट्र सक्षम नही है तो वह जनसख्या उसके लिए विभिन्न समस्याओ का अम्बार खडाकर देती है और राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि का नही, कमजोरी का कारण बनती है। यदि देश मे प्राकृतिक साधन कम और जनसख्या अधिक हो तो उसके लिए अपने निवासियो को एक निश्चित न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना मुश्किल हो जाएगा और खाद्यान्न आदि के लिए उसे दूसरे राष्ट्रो पर आश्रित रहना होगा जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उसकी स्वतन्त्र आवाज नही होगी। भारत की विशाल जनसंख्या के सामने जिस प्रकार अन्न सकट हमेशा मुँह बाए रहता है, वह एक शोचनीय स्थिति है। इस स्थिति के रहते हुए देश की विशाल जनसख्या राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण मे सहायक न होकर बाधक सिद्ध हो रही है और इसीलिए सरकार विपुल धनराशि परिवार-नियोजन कार्यक्रमो पर व्यय कर रही है।

गुणात्मक पहलू

जनसख्या के सख्यात्मक पहलू की विवेचना से ही इसके गुणात्मक पहलू का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। जनसख्या की अधिकता का महत्त्व तो है ही, लेकिन राष्ट्र का शक्तिशाली होना वास्तव मे जनता की प्रकृति, उसके चरित्र और उसके गुणो पर निर्भर करता है। श्लीचर ने लिखा है कि "यद्यपि युद्ध और शान्ति दोनों ही स्थितियो मे जनसख्या की मात्रा महत्त्वपूर्ण है, लेकिन गुण इससे भी अधिक अपेक्षित हैं।" जनसख्या की अधिकता को ही शक्ति का प्रतीक मानें तो क्रमश: चीन, भारत, रूस, अमेरिका, जापान, बगलादेश, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, पश्चिमी जर्मनी, इटली और फ्रांस शक्तिशाली देशो की श्रेणी मे आते हैं, पर राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से यह क्रम अर्थहीन है। भारत या पाकिस्तान या बगलादेश या ब्राजील आदि कोई भी राष्ट्र महाशक्ति नही है। अकेला रूस या अकेला अमेरिका विश्व के सभी राष्ट्रों से लोहा ले सकता है और सम्भवत विजय भी पा सकता है। लगभग 5 करोड की जनसख्या वाले ब्रिटेन का साम्राज्य कभी इतना फैला हुआ था कि उसमे 'सूर्य कभी अस्त नही होत, था' आशय यह है *कि लोगो की सख्या का राष्ट्रीय शक्ति के* तत्व-रूप मे निश्चित ही महत्त्व है लेकिन उनके चरित्र और गुण तुलनात्मक रूप से अधिक अपेक्षित हैं।

राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्त्व के रूप में जनसंख्या का अध्ययन करते समय हमें राष्ट्र के निवासियों की आयु, लिंग, जन्म-दर की गति, जीवन-स्तर, स्वास्थ्य, शिक्षा, उत्पादन-क्षमता, आदि का भी ध्यान रखना चाहिए। हमें यह भी देखना चाहिए कि गांवों और शहरों में लोग किस अनुपात में रहते हैं और उस देश का सामाजिक संगठन कैसा है। द्वितीय महायुद्ध ने जर्मनी और जापान का लगभग पूर्ण विनाश ही कर दिया था, लेकिन अपनी जनता के चरित्र, मनोबल, कार्यक्षमता, प्राविधिक ज्ञान आदि के बल पर इन्होंने न केवल अपना पुनर्निर्माण ही कर लिया है बल्कि आज इनकी गिनती विश्व के चोटी के देशों में है।

लोगों की जाति का भी राष्ट्रीय शक्ति पर भारी असर पड़ता है। एक जाति के लोगों के बीच विचारों की समानता, परम्पराओं की निकटता एवं आपसी मेल-जोल का भाव पाया जाता है। उनकी यह एकता राष्ट्र को शक्ति प्रदान करती है। विभिन्न जातियों और प्रजातियों वाले राज्य में अनेक प्रकार के विवाद उठते रहते हैं, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का प्रश्न समस्याएँ पैदा करता है और अल्पमत तथा बहुमत के बीच विवाद देश की शक्ति को क्षीण करने में दीमक का काम करते हैं।

संक्षेप में, राष्ट्रीय शक्ति के सन्दर्भ में जनसंख्या का अध्ययन करते समय उस राष्ट्र के निवासियों की संख्यामात्र के आधार पर परिणाम निकालने से बचना चाहिए। निवासियों की संख्या के साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि निवासी किस प्रकार के हैं और भविष्य में वे क्या करने की सामर्थ्य तथा आकांक्षा रखते हैं। समाज के स्रोतों और जनसंख्या के आकार के बीच एक सन्तुलन अथवा तुल्यभारिता अपेक्षित है ताकि एक देश अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर सके और इस प्रकार महाशक्ति बनने की दिशा में अग्रसर हो सके। आज की एक गम्भीर समस्या यही है कि जनसंख्या और साधन-स्रोतों के बीच गम्भीर असन्तुलन बढ़ता जा रहा है। अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या को प्रकृति की देन माना जाता है तथा उसे रणनीति की दृष्टि से महत्त्वहीन बताया जाता है, किन्तु विकसित देशों में जनसंख्या के नियन्त्रण की प्रक्रिया को सफलता के करीब ला दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जनमत का स्थान

एक देश की विदेश-नीति में जनमत द्वारा जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है वह इस बात का द्योतक है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जनता का स्थान महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। वैसे भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रणेता सदा से ही इतिहास के निर्णायक तत्त्व रहे हैं, किन्तु फिर भी इनका योगदान इतना महान कभी नहीं रहा जितना आधुनिक युग में पाया जाता है। आज का युग मजदूरों की क्रान्ति का युग कहलाता है जिसमें संसार के अधिकांश भागों को समाजवाद के रंग में रंगना एक उद्देश्य है। इस युग में जनसंख्या का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है तथा कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर निर्णय लेते समय जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता।

मजदूर-वर्ग हमारे समय के सामाजिक विकास की एक मुख्य प्रेरक शक्ति है। मानव इतिहास मे आज तक जिन वर्गों ने समाज मे प्रधानता प्राप्त की है उनमे यह वर्ग सख्या मे सभी से अधिक है और प्रायः सभी दलित वर्गों का नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। लेनिन ने विश्व मे होने वाले किसानों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बताया था कि साम्यवाद की विजय का कारण यह है कि सैकड़ो और हजारों लोग धीरे-धीरे इसके समर्थक बन गए हैं। यह बहुमत अब जाग्रत हो चुका है तथा कुछ कर गुजरने के लिए आतुर है। इसको मजबूत से मजबूत और शक्तिशाली से शक्तिशाली सत्ताओ द्वारा भी रोका नही जा सकता।

मार्क्स और लेनिन के प्रयासो से मजदूर वर्ग मे यह पहचानने की शक्ति आ गई है कि उनका हित क्या है तथा वे इसकी साधना किस प्रकार कर सकते है। राष्ट्रीय राजनीति मे मजदूर वर्ग के योगदान के साथ अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे भी *उनका प्रभाव बढता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे इसके प्रभाव मे एक नया* विकास यह हुआ है कि विदेश नीतियो का भावात्मक एकीकरण हो गया है। आज युद्ध और शान्ति जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो मे जनता की रुचि बढती जा रही है और वह विदेश-नीति के विभिन्न पहलुओ मे पर्याप्त रुचि लेती है। इस सबके परिणामस्वरूप विदेश-नीति को जनता की इच्छाओ से प्रभावित होना पडता है।

आरबेटोव (Y. Arbatov) जैसे साम्यवादी लेखको का कहना है कि शोषित मजदूर वर्ग चुनावो मे भाग लेता है, इसके अतिरिक्त भी उसके पास कुछ साधन हैं जिनके माध्यम से वह विदेश नीति को प्रभावित कर सके। मजदूर वर्ग का लक्ष्य *अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एव भ्रातृत्व का विकास करना है। मार्क्स द्वारा दुनिया के* मजदूरो को एक होने का जो नारा दिया गया उससे साम्यवादियो की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि जाहिर होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने के बाद ही साम्यवादी क्रान्ति के लक्ष्यो को पूरा किया जा सकता है। मजदूर-वर्ग के पास हडताल आदि के रूप मे कई एक शक्तिशाली हथियार है जो यदि प्रयुक्त किए जाएँ तो पर्याप्त प्रभावशाली साबित हो सकते हैं।

आजकल के युद्ध केवल व्यावसायिक सेनाओं के माध्यम से ही नही लडे जाते। लेनिन के कथनानुसार आज के युद्ध राष्ट्रो द्वारा लड़े जाते हैं। इन युद्धो के सचालन *के लिए आवश्यक व्यापक सख्या मे जो सेना नियुक्त की जाती है वह मूल रूप से* काम करने वाली जनता के कन्धो पर बन्दूक रख कर ही चलती है। जनसख्या का कार्य गृह-स्तर पर भी बढ़ जाता है क्योकि प्रत्येक सेना का भाग्य उसके श्रम एव मनोबल पर निर्भर करता है। यही कारण है कि युद्ध, शान्ति एव विदेश-नीति के *बारे मे बहुसंख्यक विचार एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बनते जा रहे हैं। इनसे एक देश की सैनिक सामर्थ्य का निश्चय होता है तथा सेना के मनोबल, अपने डिवीजन के* गुण एवं गृहस्तर पर स्थायित्व आदि का निर्धारण होता है। यह कहा जाता है कि पिछले दो विश्व-युद्धो के अनुभव के बाद यह बात उजागर हुई कि युद्धों एवं विदेश-नीति के प्रति जनता का दृष्टिकोण केवल नैतिक तत्त्व तक ही मर्यादित नहीं है।

यह उग वर्ग के शासन को भी समाप्त कर सकता है जो युद्धरत है। यह शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नवीन शक्ति के रूप में उदित हो रही है। इसके फलस्वरूप प्रजातन्त्रात्मक विदेश-नीतियाँ बनने लगी हैं। इस दृष्टि से उपनिवेशों एवं आश्रित देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मोर्चे हैं उनका भी अपने आप में पर्याप्त महत्त्व है।

यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जन-साधारण का जो महत्त्व बढ़ा है वह न तो दैव योग से हुआ है और न राजनीतिज्ञों एवं कूटनीतिज्ञों के विषयगत गलत आंकलन का परिणाम है। यह विषयगत ऐतिहासिक विकास का प्राकृतिक परिणाम है, यह एक सामाजिक वातावरण है जो मानवता की प्रगतिशील एव शान्तिवादी शक्तियों का पक्ष है। विदेश-नीति पर जन-साधारण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रतिक्रियावादी एव आक्रमणकारी नीतियों को सफल नहीं होने देता। यह आज की दुनिया की एक अद्वितीय उपलब्धि है। कोई भी देश इस उपलब्धि को छोड़ना नहीं चाहेगा।

तकनीकी अथवा प्राविधिक ज्ञान
(Technology)

तकनीकी अथवा प्राविधिक ज्ञान का कोई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ नहीं है। राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व के रूप में इसका मूल्यांकन राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, सुरक्षा और शक्ति के अन्य तत्त्वों के सन्दर्भ में किया जाता है। क्विंसी राइट के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रशिक्षण के रूप में प्राविधिक ज्ञान वह विज्ञान है जो आविष्कार और भौतिक संस्कृति की प्रगति को विश्व-राजनीति से संयुक्त करता है। यह यान्त्रिक पद्धतियों के विकास तथा युद्ध-कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, यात्रा एवं संसार में उनके प्रयोग की कला है।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले प्राविधिक ज्ञान अथवा तकनीक के रूपों में संचार, औद्योगिक तकनीक, सैनिक तकनीक आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। तकनीक के अन्य रूप भी विश्व-राजनीति को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य विज्ञान का जनसंख्या के विस्तार पर काफी प्रभाव पड़ता है और जनसंख्या-नियन्त्रण एव भोजन की समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की मुख्य समस्याएँ बन जाती हैं। तकनीक के जिन दो प्रकारों को भावी विश्व-घटनाओं की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है वे हैं—कृषि एवं जनसंख्या-नियन्त्रण।

जनसंख्या की विशेषताओं तथा भौगोलिक एव अनेक आर्थिक तत्त्वों को नक्शों, आँकड़ों और चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है जबकि तकनीक का अनुमान हम प्रायः कुछ प्रतीकों के आधार पर लगाते हैं। उदाहरणार्थ, एक प्रतीक यह है कि एक देश विशेष की जनसंख्या का कितना अनुपात कृषि में लगा हुआ है। यदि कृषि-कार्य में लगे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है तो यह माना जाएगा कि

1 *Quincy Wright* : The Study of International Relations, p. 369.

कृषि तकनीक बहुत पिछड़ी हुई है और औद्योगिक तकनीक ने भी अपनी पिछड़ी स्थिति के कारण अधिक मजदूरों की माँग नहीं की। दूसरा प्रतीक यह है कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन कितना होता है। तीसरा प्रतीक यह माना जा सकता है कि प्रति व्यक्ति शक्ति का व्यय (खपत) कितना है। किसी राज्य के स्तर को मापने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इन सभी प्रतीकों अथवा सूचकों का वर्णन किया जाए या ये सब प्रतीक समान महत्त्व रखते हों, क्योंकि एक राज्य अपनी प्राथमिकता के आधार पर तकनीक के किसी भी एक पहलू पर अधिक जोर दे सकता है और उस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर एक उच्च स्तर प्राप्त कर लेता है।

तकनीक मानव सभ्यता के लिए वरदान है या अभिशाप, यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिस पर शायद कभी मतैक्य नहीं हो सकता। पर यह निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि तकनीक का राष्ट्रीय शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। चिरकाल से तकनीक ने राष्ट्रीय शक्ति की स्थिति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और यह माना जाता है कि तकनीक अथवा प्राविधिक ज्ञान की दृष्टि से एक राष्ट्र जितना आगे बढ़ जाता है वह उतना ही अधिक शक्ति की दृष्टि से भी आगे आ जाता है। तकनीक से राष्ट्रीय शक्ति अनेक रूपों में प्रभावित होती है जैसे—यह राष्ट्र के स्वरूप को बदल देती है, इससे राष्ट्रों की शक्ति-स्थिति में परिवर्तन आ जाता है, राष्ट्र की आक्रमणकारी शक्ति बढ़ जाती है, राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ जाते हैं, आदि। इन विभिन्न प्रभावों पर कुछ विस्तार से विवेचन अपेक्षित है।

तकनीक द्वारा राष्ट्र के स्वरूप में परिवर्तन

तकनीक राज्य के स्वरूप में परिवर्तन लाने में सक्षम है। आर्नोल्ड टायनबी की मान्यता है कि राजनीतिक समुदाय का आकार संचार-साधनों की प्रगति के अनुपात में विकसित होता है। जब आवागमन के साधन स्थानीय अथवा एकदम अनुन्नत थे तब लोग कुछ ही मीलों के दायरे में सामूहिक रूप से रहते थे। कालान्तर में जब लोगों ने घोड़ों आदि का प्रयोग आरम्भ किया तो नगर-राज्य और प्रारम्भिक राज्य की स्थापना हुई। आवागमन के साधनों के विकास के साथ लोग अधिकाधिक क्षेत्रों पर नियन्त्रण करने की ओर प्रेरित हुए और इस प्रकार के आकार की वृद्धि के साधन के रूप में तकनीकी आविष्कारों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा। 15वीं शताब्दी में जब समुद्रों पर विजय पा ली गई तथा विशालकाय जहाजों का निर्माण हुआ तो अन्तर्महाद्वीपीय साम्राज्य स्थापित हुए और आज ध्वनि की गति से भी तीव्रगामी वायुयानों ने दुनिया को एक परिवार का रूप दे दिया है। इसी प्रकार जो समुद्र पहले दो राष्ट्रों के मध्य सम्पर्क बढ़ाने में बाधक थे वे आज सम्पर्क को घनिष्ठ बनाने के साधन बन गए हैं। यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि दूरी का भौगोलिक तत्त्व आज बहुत कुछ अंशों में अपना परम्परागत अर्थ खो चुका है। आधुनिक संचार-साधनों के बल पर किसी भी समाचार को विश्व के कोने-कोने में कुछ ही क्षणों में प्रसारित किया जा सकता है। संचार-साधनों और सैनिक संसाधनों के क्षेत्र में तकनीकी खोजों ने शक्ति के नए स्रोत खोल दिए हैं। तकनीकी प्रगति ने उत्पादन के

नए साधन प्रदान किए हैं तथा जनसंख्या-नियन्त्रण के कार्यक्रम को प्रभावशाली बनाकर राष्ट्र की सामाजिक शक्ति को बढ़ाया है और निवासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया है।

तकनीकी विकास ने राज्यों के केन्द्रीकरण एवं एकता में वृद्धि की है। द्रुतगामी संचार-साधनों के माध्यम से कूटनीतिज्ञ अपने विदेश-कार्यालयों से सीधा सम्पर्क बनाए रख सकते हैं। आज उन्हें नए-नए उत्तरदायित्व सौंपे जा रहे हैं। इस प्रकार विदेश-नीति-निर्माण का कार्य सरकार में अधिकाधिक केन्द्रित हो गया है और दुनिया के प्रत्येक भाग में सरकारी नीति को दूसरे भागों से सम्बन्धित किया जा सकता है। एक उपयुक्त नीति अपनाने के लिए विश्वभर के राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों को संयुक्त कर देखा जा सकता है और अपनाई गई नीति को साकार करने के लिए सैनिक, आर्थिक, प्रचारात्मक एवं कूटनीतिक साधनों का सहारा लिया जा सकता है। संचार-साधनों तथा आवागमन के क्षेत्र में तकनीकी प्रसार ने और सैनिक तकनीक के विकास ने घरेलू क्रान्तियों की सम्भावनाओं को कम कर दिया है।

तकनीक द्वारा राष्ट्रों की शक्ति-स्थिति में परिवर्तन

तकनीक अथवा प्राविधिक विज्ञान राज्य की शक्ति-स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इतिहास साक्षी है कि प्रारम्भ में शक्ति उन देशों के हाथ में थी जो पर्याप्त अश्व-बल के स्वामी थे और कृषि-कार्य में उन्नत थे। मध्ययुग में शक्ति का केन्द्र उत्तरी यूरोप, पश्चिमी एशिया, भारत और चीन के कृषि क्षेत्र बन गए। पुनर्जागृति के बाद शक्ति अधिकांशतः उन देशों के हाथ में केन्द्रित होती गई जो विशाल जहाजी बेड़े के स्वामी थे। बाद में जिन राष्ट्रों ने बन्दूक बनाने की कला पहले सीख ली वे उन राष्ट्रों पर हावी हो गए जो परम्परागत हथियारों से लड़ते थे। समुद्री संचार-व्यवस्था का विकास करके इंग्लैण्ड अनेक दशाब्दियों तक विश्व पर छाया रहा और वायु-शक्ति की दौड़ में पिछड़ जाने पर महायुद्ध के बाद ब्रिटेन आदि देशों के स्थान पर अमेरिका एवं रूस प्रभावशाली शक्ति के रूप में उभर आए। आज के अणु और स्पूतनिक युग में तकनीकी ज्ञान राष्ट्र की शक्ति को कितना गरिमामय और प्रभावशाली बनाता है, यह रूस और अमेरिका की प्रगति से स्पष्ट है। कहने का आशय यह है कि तकनीकी विकास युद्ध की पद्धति और राज्यों की शक्ति-स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न करता है जिससे शक्ति-सन्तुलन बड़ी शीघ्रता से बदल जाता है। तकनीकी आविष्कारों ने आज छोटे और बड़े राज्यों के शक्ति के अन्तरों को बहुत अधिक बढ़ा दिया है तो दूसरी ओर सभी राज्यों की सुरक्षा की शक्ति को घटा दिया है। तकनीकी विकास की सामान्य प्रवृत्ति देश की सुरक्षात्मक वृद्धि की अपेक्षा आक्रमणकारी शक्ति को बढ़ाने की अधिक रही है। आज सैनिक तकनीक का जो विकास हो चुका है वह विश्व-इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। आज का आक्रान्ता यह नहीं देखता कि शत्रु की किलेबन्दी कैसी है या उसके सुरक्षात्मक हथियार कितने प्रभावशाली हैं, बल्कि खासतौर पर यह

देखता है कि शत्रु के विरोध की क्षमता कितनी है अर्थात् वह विध्वंस की कितनी जवाबी क्षमता रखता है।

(तक)नीक द्वारा राष्ट्रों की आक्रमणकारी शक्ति में वृद्धि

ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि तकनीक अथवा प्राविधिक विज्ञान से राज्यों की आक्रमणकारी शक्ति में भारी वृद्धि हुई है। तकनीकी हथियारों को अपनाने में पहल करने वाले राष्ट्र उन देशों की अपेक्षा प्रायः लाभ में रहते हैं जो इन शस्त्रों का प्रयोग अथवा सुरक्षात्मक उपयोग बाद में सीखते हैं। युद्ध की तकनीक पर विचार करते हुए मॉर्गेन्थो ने 20वीं शताब्दी की चार महान् नई पद्धतियों की ओर संकेत किया है[1]—प्रथम, प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश जहाजों के विरुद्ध विशेष रूप में प्रयोग की गई जर्मनी की पनडुब्बियाँ थीं जिनसे यह भय पैदा हो गया कि शायद युद्ध का निर्णय जर्मनी के पक्ष में होगा, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन ने उसके जवाब में सशस्त्र-रक्षक जहाजी बेड़े का आविष्कार करके पासा पलट दिया। दूसरे, जर्मनी के मुकाबले ब्रिटेन ने प्रथम महायुद्ध के अन्तिम दिनों में टैंकों का भारी संख्या में और मुख्य रूप में प्रयोग किया जिससे मित्रराष्ट्रों की विजय का मार्ग महत्त्वपूर्ण रूप में प्रशस्त हुआ। तीसरे, जल, थल और वायु-सेना के युद्ध-संचालन और चातुर्यपूर्ण व्यूह-रचना के बल पर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में जर्मनी और जापान ने चारों ओर तहलका मचा दिया। चौथे, जिन राष्ट्रों के पास अणुअस्त्र और उन्हें फेंकने के साधन हैं वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में तकनीकी दृष्टि से बहुत लाभपूर्ण स्थिति में हैं। वास्तव में न केवल तकनीकी आविष्कार बल्कि युद्ध-तकनीक भी लड़ाई का नक्शा बदल देती है। जून, 1965 के युद्ध में इजरायल ने आकस्मिक सामूहिक वायु-आक्रमण द्वारा एक ही साथ मिस्र की तीन चौथाई से भी अधिक वायु-शक्ति को धराशायी करके युद्ध विशारदों को स्तम्भित कर दिया था। आज तो अनेक ऐसे जैविक और रासायनिक हथियार तैयार कर लिए गए हैं जिनसे सम्पूर्ण मानव-जाति को ही कुछ घण्टों में नष्ट किया जा सकता है। हैराल्ड तथा मॉर्गेट स्प्राउट ने लिखा है कि बोटुलिनस (Botulinas) नामक विषैले पदार्थ की केवल साढ़े आठ औंस की मात्रा इस धरती पर बसने वाली सम्पूर्ण मानव-जाति को नष्ट कर सकती है।[2] स्पष्ट है कि इस प्रकार की तकनीकी प्रगति और संहारक शक्ति के स्वामी राष्ट्रों की शक्ति इतनी बढ़ गई है कि हम उसका सही अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं।

तकनीक द्वारा राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक अवस्था में परिवर्तन

तकनीकी ज्ञान राज्य की आर्थिक और सामाजिक प्रगति में भी सहायक होता है। यह राष्ट्रीय उत्पादन को सामर्थ्य प्रदान करता है, नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाता है, स्वास्थ्य के क्षेत्र में महामारियों और सांघातिक बीमारियों से नागरिकों की रक्षा करने में राज्य को समर्थ बनाता है, राष्ट्र की आर्थिक शक्ति और आशाओं की वृद्धि करता है। वास्तव में तकनीकी विकास राज्य के छोटे से लेकर बड़े से बड़े

1 *Hans J Morgenthau* : op. cit., pp. 115-16
2 *Harold and Sprout* : Foundations of International Politics, p. 262.

काम में सहायता पहुँचाना है। जनसंख्या और भोजन के अनुपात को तकनीकी प्रगति के बल पर विनियमित किया जा सकता है। तकनीकी ज्ञान ऊर्जा (Energy) को उत्पन्न करने वाला मुख्य तत्त्व है। तकनीक के बल पर ही यह ऊर्जा कोयला, पानी प्राकृतिक गैस, तेल आदि से प्राप्त की जाती है और आज तो अणु-शक्ति भी ऊर्जा के साधन के रूप में अधिकाधिक प्रभावी बनती जा रही है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि अणुशक्ति का इस रूप में समुचित विकास हो जाने पर भविष्य में राष्ट्रों की स्थिति, उनकी सम्पन्नता और उनकी शक्ति के स्तर में व्यापक परिवर्तन आ जाएँगे और यह भी सम्भव है कि आज के बहुत से विपन्न तथा अविकसित राष्ट्र कल के शक्तिशाली और सम्पन्न राष्ट्र बन जाएँगे। तकनीकी विकास ने ही विश्वव्यापी आर्थिक सामाजिक सहयोग को इतना बढ़ा दिया है कि हम विश्व को 'एक आर्थिक इकाई' की संज्ञा देने लगे हैं।

तकनीक द्वारा देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता को अर्थपूर्ण बनाना

तकनीकी विकास राजनीतिक स्वतन्त्रता को अर्थपूर्ण बनाता है। स्प्राउट के मतानुसार कोई भी राष्ट्र तकनीकी विज्ञान की दृष्टि से आत्म-निर्भर बन कर ही अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को अधिक सार्थक और प्रभावशाली बना सकता है तथा स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति का विकास कर सकता है। विश्व-राजनीति का इतिहास यही सिद्ध करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वही राष्ट्र स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय ले पाते हैं जो तकनीकी विकास के लिए दूसरों का मुँह नहीं ताकते। तकनीकी विकास के बल पर राष्ट्र अपनी शक्ति के दूसरे तत्त्वों को भी प्रभावशाली बना लेता है। उदाहरण के लिए, उन्नत और विकसित तकनीक के बल पर कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्ति लाई जा सकती है, सैनिक-शक्ति को संख्या में अधिक न होते हुए भी, प्रभावकारी रूप में सबल बनाया जा सकता है और इस प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता को सही रूप दिया जा सकता है। विश्व के पिछड़े हुए देश, खासतौर पर अफ्रो-एशियाई देश, महाशक्तियों से 'अणु-छत्री' की अपेक्षा इसीलिए करते हैं क्योंकि तकनीकी दृष्टि से और साधनहीनता के कारण वे स्वयं की अणु-शक्ति का विकास करने में सक्षम नहीं हैं। यदि भारत भी परमाणु-शक्ति के विकास की दिशा में शीघ्र ही अपने बल-बूते पर खड़ा न हुआ तो भविष्य में उसके परमाणु क्षेत्र में पिछड़ जाने की आशा है। राष्ट्रीय शक्ति का विकास करने के लिए भारत को अपनी परमाणु-नीति में परिवर्तन करना होगा और अपनी तकनीकी सम्पन्नता को कार्यरूप में परिणत करके एशिया में चीन के नेतृत्व और भय की चुनौती का सामना करना होगा।

तकनीक द्वारा विश्व-सरकार के प्रयासों को प्रभावित करना

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में तेजी से बदलती हुई शक्ति-स्थिति जनित राजनीतिक असुरक्षा की भावना, आक्रमण की सामान्य शक्ति और युद्ध में आक्रमणकारी होने के लाभ आदि बातों ने मिलकर शक्ति को नया रूप दे डाला है। तकनीकी विकास ने विश्व को दोराहे पर ला खड़ा किया है। युद्ध-तकनीक के विस्तार से संसार को विनाश की ओर ले जाया जाए या प्राविधिक ज्ञान के अधिकाधिक रचनात्मक उपयोग

से मानवता को दुःख और दरिद्रता से छुटकारा दिलाया जाए—यह प्रश्न विकट है। तकनीकी विज्ञान ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि या तो सारा विश्व सहयोग के सूत्र मे बँध जाए अथवा संघर्ष का मार्ग अपना कर महायुद्ध का विस्फोट करके समाप्त हो जाए। समय की माँग है कि विश्व के राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मे अपना विश्वास रखें तथा सामूहिक सुरक्षा के विकास का प्रयास करें। पर चूँकि इस मार्ग को अपनाने मे सबसे बड़ी आशंका यह है कि दूसरे राज्य सहयोग न कर सामूहिक सुरक्षा के विकास मे बाधक बनेंगे, अतः आवश्यक है कि हम 'विश्व-सरकार' की दिशा में गम्भीरता से सोचें। 'अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर दौड़' मे ही मानव जाति का भविष्य सुरक्षित है।

तकनीक द्वारा राष्ट्रों की गोपनीयता की समाप्ति

तकनीक अथवा प्राविधिक ज्ञान के विकास ने आज राज्यो के बीच गोपनीयता को बहुत कुछ समाप्त कर दिया है। सैनिक तकनीक को गुप्त रखने के प्रयास आज पहले की भाँति प्रभावशील नही रहे हैं। आज इस प्रकार की नीति विशेष महत्त्व रखती कि अपने देश को तकनीकी मशीनों और अन्य प्राविधिक विधियों के निर्यात पर रोक लगादी जाए। वर्तमान शताब्दी का इतिहास बताता है कि तकनीक की कोई राष्ट्रीय सीमा नही होती। ज्योंही कोई राज्य वैज्ञानिक सफलता प्राप्त करता है त्योंही कुछ अर्से मे दूसरे राज्य भी तत्परता से उस वैज्ञानिक सफलता को प्राप्त कर लेते है। अमेरिका ने अणु बम के रहस्य को गुप्त रखा, लेकिन ब्रिटिश और रूसी वैज्ञानिकों ने रहस्य का पता लगा लिया और आज चीन, भारत, फ्रांस, जापान आदि अनेक देश इस रहस्य को समझ चुके हैं।

तकनीक द्वारा शीत-युद्ध को प्रोत्साहन

तकनीकी विकास ने शीतयुद्ध को प्रोत्साहन देकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को और राष्ट्रीय शक्ति के विकास के दाव-पेचों को प्रभावित किया है। अणु-शक्ति-तकनीक के विकास ने ही मुख्य रूप से अमेरिका और रूस के बीच भारी सन्देह जाग्रत करके शीतयुद्ध का विस्तार किया। सैनिक तकनीक से गुटबन्दियों को प्रेरणा मिली और राष्ट्रों मे अशान्ति, असुरक्षा की भावना तथा शस्त्र-प्रतिस्पर्द्धा मे वृद्धि हुई। तकनीक का यह प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सदैव किसी न किसी रूप मे कायम रहेगा।

पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार तकनीकी प्रभाव

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ख्याति प्राप्त विद्वान् पैडलफोर्ड एवं लिंकन ने किसी राष्ट्र के शेष विश्व के साथ सम्बन्धों पर पड़ने वाले मुख्य तकनीकी प्रभाव को पाँच *श्रेणियों में विभाजित किया है—*

प्रथम, तकनीक के कारण एक देश अपनी मान्यताओं और लक्ष्यों में परिवर्तन कर लेता है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने जिस समय अपनी पृथक्तावादी नीति को छोड़ा उस समय नई तकनीक के कारण देश की आक्रामक क्षमता बहुत बढ़ चुकी थी। आज तकनीकी ज्ञान ने दुनिया को एक बना दिया है तथापि वह 'एक विश्व' उन

आदर्शवादी स्वप्न-दृष्टाओं की कल्पना से भिन्न है जो विश्व-शान्ति के लिए विश्व-सरकार की स्थापना करना चाहते हैं। आज की दुनिया इस अर्थ में एक है कि सचार-साधनों का विकास हो चुका है, देशों की परस्पर निर्भरता बढ़ चुकी है, अत. संसार के किसी भी भाग में होने वाला छोटा-सा सघर्ष भी सब देशों की रुचि का विषय बन जाता है। इस स्थिति मे विश्व के राज्य अपने हितों को व्यापक बना लेते हैं और कभी-कभी तो यह व्यापकता सम्पूर्ण पृथ्वी पर विस्तृत हो जाती है। तकनीकी प्रभाव के फलस्वरूप स्थिति यह हो गई है कि एक देश अपनी इच्छाओं को केवल शक्ति के माध्यम से क्रियान्वित नही कर सकता और न ही यह सोच सकता है कि पर्याप्त दूरी की समस्याओं का उससे कोई सम्बन्ध नही है।

दूसरे, तकनीक द्वारा अन्य तत्त्वों जैसे आर्थिक तत्त्व, जनसख्या आदि को भी प्रभावित किया जाता है। उदाहरण के लिए, तेल का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों को परम्परागत रण-कौशल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, किन्तु अणु-शक्ति का प्रसार हो जाने के बाद इन क्षेत्रों को दी जाने वाली प्राथमिकता घट सकती है। दूरी का भौगोलिक तत्त्व अपने परम्परागत अर्थ को बहुत-कुछ खो चुका है। जनसंख्या का प्रभाव भी तभी बढ सकता है जब वह तकनीक पर अधिकार रखती है। तकनीकी से सम्पन्न जनसंख्या वाला देश ही महाशक्ति बनने की आकांक्षा रख सकता है।

तीसरे, तकनीक विदेश-नीति की विषय-वस्तु को प्रभावित करती है और इसके द्वारा समर्थित कार्यक्रमों पर प्रभाव डालती है। तकनीकी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय किया जाता है, तकनीकी सहायता कार्यक्रम चलाए जाते हैं, शस्त्रों के नियन्त्रण पर अधिक बल दिया जाता है, बाह्य अन्तरिक्ष तथा सचार-स्थलों को नियमित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया है, तकनीक के आदान-प्रदान द्वारा विदेशी मुद्रा कमाई जाती है, आदि। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले ये विभिन्न कार्य तकनीकी ज्ञान से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

चौथे, तकनीक राष्ट्र निर्माण का प्रमुख साधन है। यह औद्योगिक देशों को वह सामर्थ्य भी देती है जिसके आधार पर वे सम्पत्ति का प्रचुर निर्माण कर उसका निर्यात कर सकें। यह अर्द्ध-विकसित देशों को पूँजी के उपयोग की सामर्थ्य प्रदान करती है। विभिन्न देश राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी विशेषज्ञों का आदान-प्रदान करते हैं, इस तरह मानवीय एवं लाभकारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय तकनीकी क्रियाएँ सरकारी एव गैर-सरकारी स्तरों पर विकसित होती हैं जिससे राष्ट्र-निर्माण के कार्य को गति मिलती है।

पाँचवें, तकनीक का विदेश-नीति के सचालन के तरीकों पर क्रान्तिकारी रूप से प्रभाव पड़ा है। पहले के कूटनीतिक तरीके आज असामयिक हो गए हैं। सचार-साधनों पर किया गया प्रचार, तकनीकी सहायता तथा वैज्ञानिक आदान-प्रदान, अन्तरिक्ष एव अन्य प्रकार के कार्यक्रम, आदि विदेश-नीति के कार्यान्वयन को प्रभावित करते हैं।

यद्यपि तकनीकी ज्ञान का पर्याप्त भौतिक प्रभाव होता है, तथापि विश्व-राजनीति की घटनाओं के विकास के पीछे इसका कोई मान्य बौद्धिक औचित्य नही है। तकनीक एक साधन है, साध्य नही। इसकी स्वयं की कोई अन्तर्राष्ट्रीय सार्थकता नही है और इसका मूल्यांकन अर्थशास्त्रीय, सुरक्षात्मक तथा अन्य तत्वो के सन्दर्भ मे करना होता है। वैसे यह मूल्यांकन अन्तिम रूप से एक राजनीतिक निर्णय होता है। यह पर्याप्त सम्भव है कि राजनीतिज्ञ अपने निर्णय लेते समय तकनीक की पर्याप्त जानकारी से सम्पन्न हो, लेकिन किसी व्यक्ति के एक श्रेष्ठ तकनीकी विशेषज्ञ होने का यह अर्थ नही होता कि वह एक कुशल राजनीतिज्ञ भी होगा। आधुनिक तकनीक बड़ी जटिल और व्यय-साध्य है। जो देश इस बोझ और व्यय को वहन करने के लिए तैयार है वही तकनीकी क्षेत्र मे आगे बढ सकता है।

तकनीकी विकास का आधार

राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होने के कारण तकनीकी विकास सभी देशों के लिए आज जबरदस्त आकर्षण है। सभी राष्ट्र प्रयास करते हैं कि विभिन्न क्षेत्रो में तकनीकी ज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग कर राष्ट्रीय शक्ति को तेजी से गतिमान बनाया जाए और उच्चता के शिखर पर पहुँचा जाए, लेकिन सभी राज्य आशानुरूप परिणाम प्राप्त नही कर पाते। इस असफलता का मुख्य कारण देश-विशेष मे स्थित सामाजिक परम्पराएँ, सोचने के तरीके, विकास के प्रति लोगो का दृष्टिकोण आदि हैं। हम देखते हैं कि एक ओर रूस और जापान जैसे राष्ट्र हैं जिन्होने बहुत कम अवधि मे आश्चर्यजनक तकनीकी विकास कर लिया है। जापान ने अपने दृष्टिकोण तथा संस्थाओ मे बिना कोई भारी परिवर्तन किए ही औद्योगिक एवं सैनिक संगठनो की पश्चिमी तकनीको को द्रुतगति से अपना लिया है। दूसरी ओर भारत, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, चीन आदि की स्थिति को देखकर यह नही कहा जा सकता कि यहाँ तकनीकी ज्ञान का प्रसार इतनी तेजी के साथ हुआ है अथवा निकट भविष्य मे हो सकता है। विभिन्न राष्ट्रो के उदाहरणों को देखने के उपरान्त तकनीकी विकास के आधार के रूप मे हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

1. किसी भी देश मे होने वाले तकनीकी विकास पर उस देश की सरकार के स्वरूप का अधिक प्रभाव नही पडता अर्थात् तकनीकी ज्ञान पश्चिमी देशों का एकाधिकार नही है, यह साम्यवादी देशो मे भी सम्भव है और अपेक्षाकृत अधिक तेजी से सम्भव है।

2 तकनीकी विकास साम्यवादी व्यवस्था मे अधिक तेजी से होगा, यह कोई एकदम ठोस या सरल विचार नही है। रूस के मुकाबले चीन मे तकनीकी विकास की गति बड़ी धीमी है।

3. तकनीकी विकास पर सरकार के रूप की अपेक्षा सामाजिक शक्तियो का अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि समाज परिवर्तनशील और विकासशील दृष्टिकोण

अपनाए तो तकनीकी विकास का मार्ग सुगम होगा । इसके विपरीत परम्परावादी और रूढ़िवादी विचारों से ग्रस्त समाज में तकनीकी प्रगति को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा । दूसरे शब्दों मे जिस समाज का ढाँचा वैज्ञानिक आधार से मेल नहीं खाता वह समाज पिछड़ जाता है ।

साम्यवादी चीन मे वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के मार्ग की जिन प्रमुख बाधाओं का फेयरबैंक ने उल्लेख किया है वे अधिकांश अफ्रो-एशियायी देशो पर लागू होती हैं जिनमे भारत भी सम्मिलित है । ये बाधाएँ मुख्यतया सात हैं—

तर्क पद्धति (System of Logic), चरित्र-चित्रण (Character Writing), सांस्कृतिक शिक्षा (Classical Education), शारीरिक श्रम का विरोध (Aversion of Manual Labour), अर्थ-व्यवस्था पर राज्य का अधिकार (State Monopoly of the Economy), अतिशय मनुष्य शक्ति (Abundant Man Power), घोर शक्तिशाली एवं रूढ़िवादी नौकरशाही (The Powerful and Conservative Bureaucracy) ।

प्राविधिक परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

स्प्राउट एवं स्प्राउट ने एक सारिणी प्रस्तुत की है जो समानान्तर स्तम्भो मे विगत लगभग 300 वर्षों में हुई प्रमुख प्राविधिक प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं तथा प्रवृत्तियों मे से कुछ प्रस्तुत करती है । यहाँ हम विद्वान् लेखकों द्वारा दी गई विस्तृत व्याख्या को प्रस्तुत न कर केवल सारिणी को ही प्रस्तुत कर रहे हैं जो बहुत-सी बातों का स्वतः स्पष्टीकरण करती है, यथा—परस्पर क्रियारत राष्ट्रों के उद्देश्यों और रणनीतियों के सन्दर्भ मे नए उपकरण और मशीनो सुविधाएँ वाध्यताओं की सीमा बदल देती है, वही आविष्कार दोनों पक्षों की सुविधाओं मे वृद्धि या कमी कर सकते हैं, अथवा यह भी हो सकता है कि एक ही आविष्कार से एक का उद्देश्य पूरा हो और दूसरे की हानि हो जाए । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ मे प्राविधिक प्रगति की इस प्रकार की सूची से हम (1) क्षेत्रीय राष्ट्रीय राज्यों की रचना और सुरक्षा-योग्यता, (2) यूरोप के ऐतिहासिक समुद्रपारीय विस्तार, (3) यूरोपीय औपनिवेशिक साम्राज्यों के पूर्ववर्ती संकोच और ध्वंस, (4) हमारे युग में राष्ट्रों में राजनीतिक क्षमताओं का द्वि-ध्रुवीकरण, (5) अन्तर्राष्ट्रीय राज्य शिक्षा के संचालन में नए प्रतिरूप आदि के परीक्षण में आगे बढ़ सकते हैं । स्प्राउट महोदय की सूची इस प्रकार है—

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में प्राविधिक प्रगति*

अवधि	अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ	सामान्य रूप से प्रयुक्त आविष्कार
1650 तक	30 वर्षीय युद्ध की समाप्ति, वेस्टफालिया की सन्धि, आधुनिक यूरोपीय व्यवस्था की रचना।	समुद्र-यात्रा के यन्त्र(कुतुबनुमा और आदिम अक्षांश गणक यन्त्र); महासागर पर यात्रा के लायक जलपोत जो आंधी के साथ भी चल सकें; टाइप बदल कर मुद्रण; अपेक्षाकृत अचल तोप के ठोस प्रहार-प्रक्षेप; आदिम छोटे आयुध।
1650-1815	यूरोप मे अनवरत युद्ध-क्रम, अमेरिकी क्रान्ति फ्रांसीसी क्रान्ति और नैपोलियनयुगीन युद्ध, वियना की सन्धि।	वाष्प एंजिन, उनका खानों से पवारने मे, सूती वस्त्र-निर्माण और आदिम वाष्प नौकाओं मे उपयोग, गतिशील घोडे, जीतने वाला तोपखाना, स्टैंडर्ड चिकने बोर वाली मस्केट आदिम रायफल जैसे छोटे आयुध और तोपखाने के विस्फोटक गोले।
1815-1914	पश्चिम यूरोप का औद्योगीकरण, अमेरिका और जापान तक औद्योगिक विकास का विस्तार तथा अन्यत्र उसकी शुरुआत, एशिया और अफ्रीका मे यूरोपीय औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार, अमेरिका और जापान की बडी शक्ति के रूप मे मान्यता, कई क्षेत्रीय युद्ध, किन्तु कोई बडा युद्ध नहीं।	खनिज-विज्ञान मे प्रगति विशेषकर इस्पात निर्माण का विकास; स्थल-परिवहन मे वाष्प-शक्ति का उपयोग, यूरोप मे रेल-पटरियों का जाल; उत्तरी अमेरिका और अन्यत्र भी यही सत्र; वाष्प टर्बाइन का विकास और तेलदग्ध वायलरो का ज्ञान, सुधरी हुई पद्धतियों के फलस्वरूप अन्न और कपास आदि की उपज मे वृद्धि; अवधि के अन्तिम दिनो मे रसायन उद्योगो का तेजी से विस्तार जिनमे वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को स्थिर करना और अति प्रभावकारी रासायनिक विस्फोटको का विकास शामिल था, बिजली, तार, टेलीफोन, जेनरेटर, मोटर, रोशनी, बेतार का तार, भीतरी दबाव वाले एंजिन, अनेक उपयोग, मोटरगाड़ी, पनडुब्बी, विमान आदि, फौजी मारक शक्ति में अधिक वृद्धि, समुद्री खानें,तारपीड़ो, शीघ्र प्रहारक तोपें और तोपखाने।

अवधि	अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ	सामान्य रूप से प्रयुक्त आविष्कार
1914 से आज तक	प्रथम विश्व-युद्ध; रूसी क्रान्ति; फासिस्ट इटली; नाजी जर्मनी और जापान द्वारा उत्तेजित बार-बार संकट; द्वितीय विश्व-युद्ध; औपनिवेशिक साम्राज्यों का अन्त; कम्युनिज्म का प्रसार; राष्ट्रों मे राजनीतिक क्षमताओं का क्रान्तिकारी पुनर्वितरण; कम्युनिस्ट शिविर और कम्युनिस्ट विरोधी गठबन्धन के बीच शीत–युद्ध; एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका में विशाल राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन।	खनिज विज्ञान में, खासकर फेरो एलाय और हल्की धातु मे और विकास; उच्च क्षमतावान् मीटर ईंधन, प्राकृतिक सामग्री के मानवकृत विकल्प-धागे, पालीमार, प्लास्टिक, आदि। 'चमत्कारपूर्ण दवाएँ–सल्फा, एंटीबायोटिक एंटी वाइरस टीके, आदि; कड़ी सतह वाली दूरगामी सड़कें; बड़ी मोटर गाड़ियाँ; रेडियो; राडार; टेलीविजन; गतिशील बख्तरबन्द फौजी उपकरण; टैंक आदि; रॉकेट; तोपखाने; विषैली गैस और (अब तक अप्रयुक्त) रोगाणु आयुध; फौजी नभ शक्ति, मानव चालित यान और मिसाइल, आणविक विघटन और फैलाव, ऐटम बम, हाइड्रोजन बम, अणु शक्ति युक्त जलपोत; आदि मानव निर्मित उपग्रह; वायु समुदाय विश्लेषण और अन्तरिक्ष विज्ञान मे अन्य प्रगतियाँ।

* *Sprout and Sprout* : Foundations of International Relations. (Hindi ed.), 1974, pp. 303-05.

विज्ञान को विदेश-नीति से संयुक्त करने वाले क्रम

स्प्राउट एवं स्प्राउट ने ही अपनी एक अन्य सारिणी में विज्ञान को विदेश-नीति से संयुक्त करने वाले क्रम की सूची प्रस्तुत की है—

विज्ञान को विदेश-नीति से संयुक्त करने वाले क्रम[1]

मुख्य क्रम	पुष्टपोषण करने वाले		शब्दों का अर्थ	और अधिक व्याख्या
		←अनुसन्धान →(विज्ञान)	नए विज्ञान की प्राप्ति	स्थापना और प्रेक्षण के बीच परस्पर क्रियाकलाप
		←आविष्कार →(प्रविधि)	उद्देश्यपूर्ति के लिए नए तरीकों की सृष्टि	व्यावहारिक विज्ञान और विकास की इंजीनियरिंग
		← नव-संस्कार →	किसी आविष्कार को जनता में लाना	किसी नए उत्पादन, प्रक्रिया या सामाजिक पद्धति का परिचय देना, नवनिर्माण कार्य, औद्योगिक तथा सामाजिक नेतृत्व
		← फैलाव →	विज्ञान और प्रविधि का नए स्थानों या समुदायों में प्रसारण	शिक्षण, प्रशिक्षण, विक्रय, विस्तार-कार्य अन्तर्राष्ट्रीय प्राविधिक सहायता
		←समाज में →परिवर्तन	रिवाजों, सस्थानों, चिन्तन-पद्धतियों में परिवर्तन	नई नीतियाँ, नए कानून, नई सामाजिक आदतें, नई शिक्षा
		← विदेश-नीति →	राष्ट्रीय उद्देश्यों के प्रकाश में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के बारे में प्रतिक्रियाएँ	वैज्ञानिक विकास द्वारा प्रभावितऔर उन्हें प्रचरित करने वाली भी होती है।

1 अन्योन्याश्रित सम्बन्ध और पुष्टपोषक बहुत होते हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान, विचारों की जलवायु बदल कर सीधे सामाजिक परिवर्तनों को प्रेरणा दे सकते हैं। विभिन्न प्रकार के सामाजिक परिवर्तन वैज्ञानिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन या अवरोध प्रदान कर सकते हैं अथवा वैज्ञानिकों का ध्यान नए क्षेत्रों की ओर मोड़ सकते हैं। आविष्कार कभी-कभी अनुसन्धान के पूर्वगामी होते हैं।

—*Sprout and Sprout* : op. cit., 1974, p. 300.

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में अच्छा शासन
(Good Government as an Independent Requirement of National Power)

इस अध्याय में यद्यपि हमारा मूल उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों के रूप में भूगोल, प्राकृतिक साधन, जनसंख्या और प्राविधिक ज्ञान का विवेचन करना है, तथापि हम राष्ट्रीय शक्ति के एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व के रूप में अच्छे शासन (Good Govenrment) की उस अवधारणा पर भी संक्षेप में विचार करेंगे जो हंस मॉर्गेन्थो ने प्रस्तुत की है।[1] अन्ततोगत्वा यह सरकार ही होती है जो राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का सदुपयोग और दुरुपयोग कर सकती है। राज्य तो अमूर्त है, सरकार ही वह मशीन है जो राज्य के विभिन्न कार्यकलापों को, राज्य की इच्छाओं को मूर्त रूप देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में हंस मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि सुविचारित कौशलपूर्ण विदेश-नीति भौतिक और मानवीय साधनों की बहुलता पर आधारित होने के बावजूद तब तक अच्छे परिणाम नहीं दिखा सकेगी जब तक कि वह अच्छे शासन पर अवलम्बित नहीं है। मॉर्गेन्थो के मतानुसार राष्ट्रीय शक्ति के स्रोत के रूप में अच्छे शासन के तीन अर्थ होते हैं।

(1) राष्ट्रीय शक्ति में योग देने वाले भौतिक और मानवीय साधनों का सन्तुलन,
(2) इन तत्वों का विदेश-नीति के संचालन में सन्तुलन, एवं
(3) विदेश-नीतियों के पक्ष में जनता का समर्थन।

नीतियों तथा साधनों के सन्तुलन की समस्या
(The Problem of Balance Between Resources and Policy)

एक अच्छे शासन से अपेक्षित है कि विदेश-नीतियों के लक्ष्यों और साधनों का इस दृष्टिकोण से चयन करें कि इनके समर्थन में प्राप्त शक्ति के आधार पर सफलता की अधिक से अधिक सम्भावना रहे। एक राष्ट्र यदि अपनी दृष्टि बहुत निम्न (too low) रखता है और उन विदेश-नीतियों को छोड़ देता है जो उसकी सामर्थ्य के अन्तर्गत हैं तो वह राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनी सही भूमिका अदा करने में असफल हो जाता है। उदाहरणार्थ, दोनों महायुद्धों के बीच के काल में संयुक्तराज्य अमेरिका इसी भूल का शिकार था। इसी प्रकार एक राष्ट्र अपनी दृष्टि अति उच्च (too high) रखकर ऐसी नीतियों का अनुसरण कर सकता है जिन्हें उपलब्ध शक्ति के बल पर सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। यह गलती संयुक्तराज्य अमेरिका में सन् 1919 में शान्ति वार्ताओं के समय की थी। जैसा कि लॉयड जॉर्ज ने कहा था—"ऐसा प्रतीत होता था कि अमेरीकियों ने 'दसों निर्देशों' (Ten Commandments) तथा 'सरमन ऑन द माउण्ट' (The Sermon on the

1 *Hans J. Morgenthau* : op. cit., pp. 139-144.

Mount) की पूर्ण सुरक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण कर रखा था। फिर भी जब व्यावहारिक प्रश्नों में सहायता और उत्तरदायित्व का समय आया तो वे बिल्कुल पीछे हट गए। एक राष्ट्र बिना समुचित क्षमता के महान् भूमिका निभाने की महत्त्वाकांक्षा कर सकता है किन्तु इस प्रयास में वह सर्वनाश का भागी ही बनेगा। दोनों महायुद्धों के बीच पोलैण्ड के साथ असहयोग था। यह भी हो सकता है कि एक महाशक्ति होने के कारण कोई राष्ट्र उस असीमित विजय-नीति के मार्ग पर अग्रसर हो जाए जो उसकी शक्ति के बाहर हो। ऐसा करने पर वह राष्ट्र 'असफल विश्व-विजेताओं' (The Unsuccessful World Conquerors) की श्रेणी में ही गिना जाएगा। सिकन्दर से हिटलर तक के इतिहास में ऐसे उदाहरण सरलता से ढूँढे जा सकते हैं।"

इस प्रकार विदेश-नीति की सीमाएँ उस उपलब्ध राष्ट्रीय शक्ति से निर्धारित होती है। इस नियम का केवल एक अपवाद हो सकता है कि जिस समय राष्ट्र का जीवन ही दाँव पर लगा हो उस समय राष्ट्रीय जीवन की नीति (The Policy of National Survival) राष्ट्रीय शक्ति के सभी विवेकपूर्ण विचारों पर हावी हो जाती है और संकटकाल शक्ति तथा नीति के बीच के सामान्य सम्बन्धों को पलट देता है तथा राष्ट्र अपने समस्त हितों को अपनी रक्षा के दाव पर लगा कर इस प्रकार के राष्ट्रीय प्रयत्नों का आश्रय भी लेता है जो साधारण समय में विवेक के आधार पर उसके द्वारा सोचे भी नहीं जा सकते थे। उदाहरणार्थ, सन् 1940–41 के शीतकाल में ग्रेट-ब्रिटेन ने ऐसा ही किया था।

साधनों में सन्तुलन की समस्या
(The Problem of Balance Among Resources)

जब एक बार कोई सरकार राष्ट्र की विदेश-नीति और राष्ट्रीय शक्ति में सन्तुलन स्थापित कर लेती है तो उसे राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्त्वों में सन्तुलन स्थापित करना होता है। कोई भी राष्ट्र केवल इसलिए आवश्यक रूप से अधिकतम राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त नहीं कर लेता कि वह प्राकृतिक साधनों में अत्यन्त सम्पन्न है अथवा उसके पास विशाल जनसख्या है या उसने एक बहुत ही समृद्ध औद्योगिक और सैनिक सगठन का निर्माण कर रखा है। वह अधिकतम राष्ट्रीय शक्ति तभी प्राप्त कर पाता है जब उसके पास सही अनुपात में शक्ति के पर्याप्त साधन गुण और मात्रा दोनों में उपलब्ध हो। जिस समय ग्रेट ब्रिटेन अपनी शक्ति के शिखर पर था, उसके पास राष्ट्रीय शक्ति के अनेक तत्त्वों की कमी थी जैसे प्राकृतिक साधन, जनसख्या की मात्रा और स्थल सेना। फिर भी उसने राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्त्व नौसेना को इतना श्रेष्ठ बना लिया था कि उसके द्वारा वह समुद्री विकास की अपनी नीति पूर्ण सफलता के साथ सचालित कर सका जिसके कारण ब्रिटेन में विदेशों से उन कच्चे माल तथा खाद्य-पदार्थों का आना जारी रह सका जिनके बिना वह जीवित नहीं रह सकता था। इस नीति के तथा उपलब्ध प्राकृतिक साधनों और अपनी भौगोलिक स्थिति के सन्दर्भ में एक विशाल जनसख्या तथा स्थायी सेना ग्रेट-ब्रिटेन के लिए लाभदायक

होने के स्थान पर असुविधाजनक ही होती। दूसरी ओर यदि वह मध्य युग की भाँति महाद्वीपीय विस्तार की नीति अपनाता तो उसको इन दोनों ही तत्त्वों की सदा आवश्यकता रहती।

एक विशाल जनसंख्या शक्ति का स्रोत होने के स्थान पर निर्बलता का कारण भी बन सकती है, जैसा कि भारत और कतिपय अन्य एशियायी राष्ट्रों के सन्दर्भ में कहा जा सकता है। यदि हम उपलब्ध साधनों द्वारा अपनी जनसंख्या की आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति नहीं कर पाते, यहाँ तक कि उसे आवश्यक भोजन भी नहीं दे पाते तो ऐसी जनसंख्या शक्ति की प्रतीक नहीं बन सकती। यदि निरंकुशतावादी तरीकों से विशाल औद्योगिक और सैनिक संगठनों का जल्दी-जल्दी निर्माण भी कर लिया जाए तो राष्ट्रीय शक्ति के कुछ तत्त्व पैदा अवश्य हो सकते हैं, लेकिन साथ ही इस प्रक्रिया में राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्व जैसे राष्ट्रीय मनोबल और जनसंख्या की शारीरिक समुत्थान शक्ति नष्ट भी हो जाते हैं। पूर्वी यूरोप के रूसी उपनिवेशों या पिछलग्गू राष्ट्रों के विकास की स्थितियों से यह बात स्पष्ट है। उपलब्ध औद्योगिक क्षमता से बढ़ कर विशाल सैनिक संगठनों के निर्माण का वास्तविक अर्थ राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि नहीं है बल्कि राष्ट्र को निर्बल बनाना है। हंस मॉर्गेन्थो का कहना है कि राष्ट्रीय संकटकाल के समय, जबकि राष्ट्र का जीवन ही दाव पर लगा हो, अमेरिकी सरकार को (इसी प्रकार किसी भी अन्य राष्ट्र की सरकार को) अपने लोगों को मक्खन की जगह बन्दूकें दे देनी चाहिए; लेकिन यदि ऐसा संकट उपस्थित न हो तो सैनिक और नागरिक आवश्यकताओं के बीच नागरिक उपभोग के लिए पर्याप्त आर्थिक उत्पादन द्वारा सही सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए। कोई भी सरकार राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करते समय अपने देश के राष्ट्रीय चरित्र के प्रश्न की ओर से उदासीन नहीं रह सकती। एक राष्ट्र उन्हीं कठिनाइयों के विरुद्ध क्रान्ति कर सकता है जिन्हें दूसरा राष्ट्र सन्तोषपूर्वक झेलता चला जाता है और कभी एक राष्ट्र अपने हितों और अपने जीवन की रक्षा में स्वेच्छापूर्वक इतने महान् त्याग कर सकता है कि संसार चकित हो जाए।

जनता के समर्थन की समस्या
(The Problem of Popular Support)

मॉर्गेन्थो का कथन है कि किसी भी आधुनिक सरकार ने, विशेषकर एक लोकतान्त्रिक सरकार ने, यदि उपर्युक्त दोनों सन्तुलनों में सफलता प्राप्त करली है तो भी उसने वास्तव में अपने दायित्व का केवल एक अंश ही पूर्ण किया है क्योंकि उसके समक्ष एक सबसे बड़ी कठिन समस्या और भी उपस्थित रहती है और वह है--जनता के समर्थन की समस्या। एक सरकार को अपनी विदेश-नीतियों के पक्ष में, और उन विदेश-नीतियों के समर्थन में राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वों को जुटाने वाली गृह-नीतियों के पक्ष में अपनी जनता का समर्थन प्राप्त करना चाहिए, लेकिन यह कार्य बहुत कठिन है क्योंकि जिन परिस्थितियों में विदेश-नीति के पक्ष में जन-समर्थन प्राप्त किया जा सकता है वे आवश्यक रूप से ऐसी परिस्थितियाँ नहीं होतीं जिनके अन्तर्गत एक विदेश-नीति को सफलतापूर्वक संचालित किया जा सके।

लोकतन्त्र की यह एक प्रवृत्ति है कि वह दूरदर्शिता की अपेक्षा क्षणिक आवेग की ओर जल्दी आकृष्ट होता है और एक परिपक्व परियोजना का तिरस्कार कर क्षणिक उन्माद के आनन्द को अधिक पसन्द करता है। फ्रांसीसी क्रान्ति के विस्फोट पर अमेरिकी लोकतन्त्र मे जो प्रतिक्रिया हुई उससे इस प्रवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। उस समय सामान्य बुद्धि वाले लोगो तक को स्पष्ट अहसास था कि तत्कालीन प्रतिद्वन्द्विता में, जो शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप को खून की नदी मे डुबो सकती थी, अमेरिकियो को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन फिर भी अमेरिकी जनता ने अपनी सहानुभूति को फ्रांसीसियो के पक्ष मे इतनी उग्रता के साथ व्यक्त किया कि केवल जॉर्ज वाशिंगटन की कठोरता और अत्यधिक लोकप्रियता ही अमेरिकियों को इंग्लैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने से रोक सकी। अपने नागरिको के उदार, किन्तु अदूरदर्शी उन्मादो को सन्तुलित विवेक द्वारा दबाने के प्रयत्न मे जॉर्ज वाशिंगटन को लोकप्रियता से ही हाथ धो बैठने की नौबत आ गई और उस समय बहुमत ने उसकी नीति का तिरस्कार भी किया, लेकिन आगे चल कर सम्पूर्ण राष्ट्र ने *वाशिंगटन की नीति का समर्थन किया। स्पष्ट है कि यदि वाशिंगटन*-सरकार जनता के क्षणिक उन्माद से प्रभावित हो जाती तो जबरदस्त गलती कर बैठती, पर उसने विवेक से काम लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि क्षणिक उन्माद जब शान्त हो गया तो वाशिंगटन की नीति को जनता का भरपूर समर्थन मिला।

मोर्गेन्थो ने इस बात पर बल दिया है कि राजनीतिज्ञो और सरकार को अपने पक्ष में जनता का समर्थन प्राप्त करना चाहिए, लेकिन 'विवेकशून्य' होकर नही। हो सकता है कि क्षणिक आवेग मे जनता जिस नीति का विरोध कर रही है, कुछ समय बाद वह उस नीति का पूर्ण समर्थन करे—क्योकि वह नीति वस्तुत: राष्ट्रीय हित की सम्बन्धक है। एक सफल विदेश-नीति के संचालन के लिए जैसी विचारधारा की आवश्यकता होती है वह कभी-कभी उन विचारों के विपरीत हो सकती है जो आम जनता या उनके प्रतिनिधियो को प्रेरित करते हैं। राज्य के कर्णधारों के मस्तिष्क के विशेष गुण सदैव ही जनता की प्रतिक्रियाओं को अपने पक्ष मे प्राप्त करने मे सफल नही होते। राजनीतिज्ञों को शक्तियों के मध्य शक्ति के सन्दर्भ मे राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से सोचना चाहिए। जनता का मस्तिष्क राजनीतिज्ञों की विचारधाराओं की सूक्ष्मताओं से अनभिज्ञ रहता है और फलस्वरूप वस्तु-स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता। एक राजनीतिज्ञ को दूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाकर चक्करदार मार्ग शनै:-शनै: अपनी नीतियो की पूर्ति की ओर अग्रसर होना पडता है और कई बार समझौतावादी मार्ग अपनाकर अवसर की बाट जोहनी पडती है। उसे समय के साथ चलना होता है और भावी बडे लाभो के लिए वर्तमान में छोटे लाभ त्यागने पडते हैं। लेकिन सामान्य जनता की प्रवृत्ति यह होती है कि वह तुरन्त फल चाहती है और कल के वास्तविक लाभ को आज के दिखावे के लाभ पर बलिदान कर देती है। कोई भी अच्छा राजनीतिज्ञ ऐसा नहीं कर सकता, कोई भी अच्छी सरकार कल के वास्तविक लाभ को आज के साधारण बल्कि 'छलिया' लाभ पर बलिदान नही कर सकती।

जनमत कभी-कभी इतना उन्मादी यल्कि अन्धा हो जाता है कि एक अच्छी विदेश-नीति को बुरी विदेश-नीति और एक बुरी विदेश-नीति को अच्छी विदेश-नीति मान बैठता है, अतः विदेश-नीति का निर्धारण करते समय इस सम्बन्ध में किसी भी सरकार को दो अज्ञात गुप्त सकटों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए—प्रथम, जिस नीति को सरकार वास्तव में अच्छा समझती है उसे जनमत की वेदी पर बलि चढ़ा देने के मोह से बचना चाहिए, अन्यथा राष्ट्र के स्थायी हितों की बलि-वेदी पर अस्थायी लाभों की ही प्राप्ति हो सकेगी, एव द्वितीय, एक अच्छी विदेशी-नीति की आवश्यकताओं तथा जनमत के रुझानों के मध्य खाई को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए, अर्थात् विवेकपूर्ण ढंग से सन्तुलनकारी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यदि जनमत के रुझानों से उचित समझौता करने के बजाय विदेश-नीति के सूक्ष्मतम ब्यूरो पर अडे रहने की नीति अपनाई गई तो इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता और इसी प्रकार यदि जनमत की माँग के औचित्य-अनौचित्य को एकदम अनदेखा करके विदेश-नीति का संचालन किया जाए तो इसमे भी खतरा है। वास्तव में एक अच्छे राजनीतिज्ञ और एक अच्छी सरकार से अपेक्षा की जाती है कि जब जनमत अविवेकपूर्ण ढंग से उन्मादी अवस्था में हो तो वह उसे किसी प्रकार शान्त कर दे और राष्ट्र के लिए हितकारी विदेश-नीति का अनुपालन करे, और यदि जनमत की माँग तर्कपूर्ण और उचित हो तो विदेश-नीति की रूपरेखा में सामयिक संशोधन करने को तत्पर रहे।

हंस मॉर्गेन्थो का मत है कि अपनी विदेश और गृह दोनों ही नीतियों में किसी भी सरकार को तीन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए—

1. इस तथ्य को मान्यता देनी चाहिए कि एक अच्छी विदेश-नीति की आवश्यकताओं और जनमत के रुझानों के मध्य का विरोध स्वाभाविक है और इसे कम किया जा सकता है, किन्तु उस खाई को गृह-विरोधी तत्वों को छूट देकर पाटा नहीं जा सकता।

2. शासन को यह समझना चाहिए कि वह जनमत का नेता है, न कि उसकी दास। उसे यह समझना होगा कि जनमत कोई ऐसी स्थिर वस्तु नहीं जिसे जनमत-निग्रह-साधनों द्वारा उस ढंग से खोजा या वर्गीकृत किया जा सकता है जिस तरह कि एक वनस्पति विज्ञानवेत्ता पेड़-पौधों को करता है। इसके विपरीत जनमत एक गतिमान और परिवर्तनशील तत्व है जो निरन्तर उत्पन्न होता चलता है और जिसे पुनः जन्म देने का दायित्व एक बुद्धिमान और कुशल नेतृत्व का है। यह किसी सरकार का ऐतिहासिक उद्देश्य है कि वह इस नेतृत्व के लिए आगे बढ़े, अन्यथा विरोधी नेता इस कार्य को हथिया लेंगे।

3. सरकार को अपनी विदेश-नीति के ऐच्छिक और अनिवार्य तथ्यों को पृथक् कर लेना चाहिए। ऐच्छिक तथ्यों पर तो उसे जनमत से समझौता करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए, किन्तु अपनी अच्छी विदेश-नीति के समर्थन में उसे अपने स्वयं के भाग्य तक को दाँव पर रख कर उसके लिए लड़ना चाहिए।

अन्त मे, कोई भी सरकार जनमत की दीर्घ समय तक उपेक्षा नही कर सकती। एक सरकार को विदेश-नीति तथा उसके समर्थन में आवश्यक गृह राजनीति की सही परख हो सकती है, पर यदि वह इन नीतियों के पक्ष मे जनमत प्राप्त करने मे असमर्थ रहती है तो उसका श्रम बेकार हो जाएगा और राष्ट्रीय शक्ति के उन अन्य तत्वों को जिन पर कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है, पूरी तरह प्रयोग मे नही लाया जा सकेगा। आधुनिक लोकतान्त्रिक सरकारें इस सत्य की बारम्बार पुष्टि कर रही है।

गृह-शासन तथा विदेश-नीति

फिर भी किसी भी सरकार के लिए यही पर्याप्त नही है कि वह अपनी विदेश-नीतियो के समर्थन मे राष्ट्रीय जनमत का सहयोग प्राप्त कर ले। उसे अपनी गृह और विदेश-नीतियों के समर्थन में अन्य देशो के जनमत का सहयोग भी प्राप्त करना चाहिए। यह आवश्यकता आधुनिक युग की विदेश-नीति के चारित्रिक परिवर्तनो की द्योतक है। आज विदेश-नीति परम्परागत कूटनीति और सैनिक शक्ति रूपी अस्त्रो द्वारा ही *सचालित नही की जाती बल्कि उसका सचालन 'प्रचार' नामक एक नए* और विलक्षण अस्त्र द्वारा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आज तक शक्ति-सघर्ष केवल सैनिक श्रेष्ठता और राजनीतिक प्रभुत्व तक ही सीमित नही बल्कि एक विशेष अर्थ में मानव-मस्तिष्कों पर विजय का प्रश्न बन गया है। तो फिर किसी राष्ट्र की शक्ति केवल उसके कूटनीतिक कौशल और उसकी सैनिक क्षमता पर ही अवलम्बित नही है वरन् इस बात पर भी निर्भर है कि वह राष्ट्र दूसरे देशों को अपने राजनीतिक दर्शन, अपनी राजनीतिक सस्थाओ और राजनीतिक नीतियो के पक्ष मे कहाँ तक आकर्षित कर पाता है। साधारण रूप से तो यह बात सभी राष्ट्रो पर लागू होती है, लेकिन विशेष तौर पर संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत सघ पर अधिक लागू होती है क्योंकि ये दोनो महाशक्तियाँ न केवल अति महान् राजनीतिक और सैनिक शक्ति के रूप मे होड़ कर रही हैं बल्कि दो विभिन्न राजनीतिक दर्शनों, शासन-व्यवस्थाओं और जीवन-पद्धतियो के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूपो मे भी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता कर रही हैं। अत. जो कुछ भी ये महाशक्तियाँ करती हैं या नही करती हैं, जो कुछ भी वे प्राप्त करती हैं अथवा नही करती है, उनकी गृह और विदेश-नीतियों मे इन बातों का इस पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और इसके फलस्वरूप उनकी शक्ति पर भी प्रभाव पड़ता है। तुलनात्मक रूप से निम्न स्तर पर यह बात [illegible] पर भी लागू होती है। उदाहरण के लिए यदि एक राष्ट्र रगभेद की नीति [illegible] है तो वह इस पृथ्वी के काले लोगो के मस्तिष्क पर विजय प्राप्त करने के सघर्ष मे असफल हो जाएगा। इसी तरह *यदि एक कम विकसित राष्ट्र* अपनी जनता के स्वास्थ्य, जीवन-स्तर आदि को आश्चर्यजनक रूप मे बढाने मे सफल हो जाता है तो वह संसार के अविकसित क्षेत्रो मे पर्याप्त रूप से अपनी शक्ति की वृद्धि करने मे सफल हो जाएगा। भारत गुट-निरपेक्ष नीति को कितनी सफलतापूर्वक अपनाता है, यह बात गुट-निरपेक्ष विश्व का नेतृत्व कर सकने की उसकी क्षमता के लिए निर्णायक सिद्ध होगी।

7 राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व : विचारधारा, मनोबल एवं नेतृत्व, राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन

(Elements of National Power : Ideology, Morale and Leadership, Evaluation of National Power)

"एक राज्य की सेनाओं के आकार में वृद्धि अथवा कटौती हो सकती है, उसका मनोबल गिर या उठ सकता है, नेतृत्व बदल सकता है, कच्चे माल का अभाव या बाहुल्य हो सकता है, प्राविधिक प्रक्रिया सुधर सकती है, युद्ध में प्रयुक्त होने वाले नए हथियारों का आविष्कार हो सकता है, महामारी, बाढ़ और भू-चाल उत्पादन गिरा सकते हैं, श्रमिकों को मार सकते हैं और मनोबल गिरा सकते हैं, सन्धियाँ की और तोड़ी जा सकती हैं—ये सब अवस्थाएँ राष्ट्रीय शक्ति के एक अथवा अनेक तत्त्वों को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं और इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की शक्ति-स्थिति में परिवर्तन का कारण बन सकती हैं।" —पामर एवं पर्किन्स

विचारधारा
(Ideology)

भूगोल, जनसंख्या, तकनीकी आदि जिन तत्त्वों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनकी प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि हम उनके अस्तित्व को देख सकते हैं और उनके प्रभाव को आँक सकते हैं, इसलिए आवश्यकतानुसार उनका नियमन एवं नियन्त्रण भी कर सकते है। लेकिन राष्ट्रीय शक्ति के कुछ तत्त्व ऐसे भी है जो दिखाई नहीं देते और जिनके अस्तित्व का हम केवल अनुभव ही कर सकते हैं। ये तत्त्व भौतिक न होकर मानवीय तत्त्व है जैसे, विचारधारा (Ideology), मनोबल (Morale) तथा नेतृत्व (Leadership)। इन मानवीय तत्त्वों का प्रभाव भौतिक तत्त्वों का प्रयोग करने मे निर्णय-शक्ति का काम करता है। ये मानवीय तत्त्व मौलिक

रूप से व्यक्ति के दृष्टिकोणों, विश्वासों और सामाजिक वातावरण से प्रभावित होते हैं। राज्यों के व्यवहार पर इनका गहरा प्रभाव पड़ता है। एक देश के लोग अपने भौतिक तथा राजनीतिक वातावरण के प्रति किस प्रकार की प्रतिक्रिया करेंगे, इसका निर्धारण बहुत कुछ इन तत्वों के समुचित मूल्यांकन से किया जा सकता है। देश के विभिन्न सामाजिक समूह सामान्य दृष्टिकोणों, मूल्यों और लक्ष्यों में जितना अधिक भाग लेते हैं, वहाँ उतनी ही अधिक चेतना पाई जाती है और वहाँ की राजनीतिक संस्थाओं को उतना ही अधिक स्थायित्व प्राप्त होता है। प्रायः देखा गया है कि जिन देशों के दृष्टिकोणों और मूल्यों में समानता होती है, उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी शान्तिपूर्ण, सहयोगपूर्ण और मैत्रीपूर्ण रहते हैं। जिस देश के लोगों के दृष्टिकोणों और मूल्यों के बीच एकरूपता नहीं रहती, वहाँ प्रायः अस्थिरता और संघर्ष का बोलबाला रहता है। यही बात अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में दो अथवा अधिक देशों के पारस्परिक सम्बन्धों पर लागू होती है। राष्ट्रीय शक्ति के मानवीय तत्त्व अर्थात् विचारधारा, मनोबल, नेतृत्व आदि देश के लोगों के दृष्टिकोणों, विश्वासों और मूल्यों से पर्याप्त प्रभावित होते हैं।

विचारधारा का अभिप्राय

'विचारधारा' शब्द लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। वेब्सटर के नवीन अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोष के अनुसार 'विचारधारा' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम डेस्टट डिट्रेसी (1754-1836) द्वारा किया गया था जबकि कुछ लोगों का विचार है कि इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम नेपोलियन ने किया। पामर एवं पर्किंस का यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है कि यद्यपि विचारधारा सम्बन्धी तत्त्व शताब्दियों तक सामाजिक और राजनीतिक जीवन के निरन्तर तत्त्व रहे हैं, लेकिन बीसवीं शताब्दी से पूर्व उनको कदाचित् ही निर्णायक महत्त्व था। आधुनिक युग तो विचारधाराओं का ही युग है। विभिन्न विचारधाराएँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा विश्व-राजनीति में नई जान फूंकने का काम कर रही हैं।

विचारधारा द्वारा एक देश की जनता अपने मूल्यों और दृष्टिकोणों को अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त करती है। पेडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना तैयार करती है। स्नाइडर एवं विल्सन ने लिखा है कि "एक विचारधारा जीवन, समाज और सरकार से सम्बन्धित विचारों का वह समूह है जो प्रायः सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक नारों या युद्ध के नारों में उत्पन्न होती है और जिसका लगातार प्रयोग उसे एक विशेष समुदाय, दल या राष्ट्रीयता का प्रमुख विश्वास या सिद्धान्त बना देता है।"[1] श्लीचर के मतानुसार विचारधारा व्यक्ति के अमूर्त विचारों की व्यवस्था है। ये विचार वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं, मूल्यात्मक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं तथा उस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने और

1 *Snyder and Wilson* : Roots of Political Behaviour, p. 511.

बनाए रखने का प्रयास करते हैं जिसमें उनके विश्वास के अनुरूप लक्ष्यों को सर्वश्रेष्ठ रूप में साकार किया जा सकता है।[1] इस प्रकार सरकार, अर्थव्यवस्था, समाज या जीवन सम्बन्धी अन्य बातों के निश्चित विचार-समूह को हम विचारधारा कह सकते हैं। व्यापक अर्थ में विचारधारा के अन्तर्गत वे सभी 'वाद' आ जाते हैं जिन्हें हम सर्वाधिकारवाद, फासीवाद, नाजीवाद, प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, समष्टिवाद, गाँधीवाद, माओवाद या उदारवाद आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। दुनिया के प्रमुख धर्मों-हिन्दू, इस्लाम, ईसाई—को भी हम विचारधारा मान सकते हैं। स्प्राउट ने विचारधाराओं को दो वर्गों में विभाजित किया है—राजनीतिक विचारधाराएँ और गैर-राजनीतिक विचारधाराएँ। स्प्राउट का मत है कि सांविधानिक जनतन्त्र, साम्यवाद, राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद प्रमुख विचारधाराएँ हैं। हंस जे. मॉर्गेन्थो ने अपने ग्रन्थ 'पालिटिक्स अमोंग नेशंस' में विचारधाराओं को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँटा है—

(1) यथास्थिति (Status-quo) बनाए रखने वाली विचारधाराएँ, जैसे शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून।

(2) विस्तारवादी अथवा साम्राज्यवादी विचारधाराएँ, जैसे फासीवाद, नाजीवाद, माओवाद आदि।

(3) अस्पष्ट तथा अनेकार्थी विचारधाराएँ जैसे आत्मनिर्णय का सिद्धान्त।

अनेक विद्वानों ने विचारधारा का बहुत व्यापक अर्थ लगाया है और एक विचारधारा में अनेक विचारधाराओं को सम्मिलित किया है। उदाहरण के लिए, उदारवाद के अन्तर्गत जनतन्त्र के विभिन्न रूपों और व्यक्तिवादी विचारधाराओं को सम्मिलित किया जाता है तो सर्वाधिकारवाद के अन्तर्गत नाजीवाद, फासीवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं की गणना की जाती है। विचारधाराओं का वर्गीकरण विवादास्पद है, लेकिन इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति दो प्रमुख विचारधाराओं की रंगस्थली है—जनतन्त्र और साम्यवाद। कुछ राष्ट्रों ने दोनों की मध्यवर्ती विचारधारा को 'जनतान्त्रिक समाजवाद' का नाम दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधाराओं के संघर्ष की बात आम हो गई है। राष्ट्रों के मध्य मतभेदों और संघर्षों का एक प्रमुख कारण उनकी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ ही हैं।

विचारधारा का कार्य

एल्जर, हर्ज एवं केलमैन ने विश्व की कुछ प्रमुख विचारधाराओं का विश्लेषण करते हुए विचारधारा के कार्य पर प्रकाश डाला है और अपने विश्लेषण में यह भी स्पष्ट किया है कि विचारधारा किस प्रकार दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य विवाद का मूलाधार बन जाती है। एल्जर, हर्ज एवं केलमैन का विश्लेषण इस प्रकार है[2]—

1 Schleicher : op. cit., p. 74.

2 एल्जर, हर्ज एवं केलमैन : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृष्ठ 43-47.

"हाल की सभी विचारधाराओं में, विश्व के सभी मामलों पर कदाचित सबसे अधिक प्रभाव साम्यवाद का पड़ा है। साम्यवादी विचारधारा का आरम्भ कार्ल मार्क्स से हुआ। मार्क्सवाद के मौलिक स्वरूप में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सिद्धान्त नाम मात्र उल्लिखित था। मार्क्स के अनुसार, सभी प्रकार के वर्ग-समाज युद्धकारक है। युद्ध राष्ट्रों के बीच संघर्ष का नहीं, बल्कि उनके शासक वर्गों के पारस्परिक संघर्षों का द्योतक है, जिसमे शासित जनता का प्रयोग बलि के बकरे के समान किया जाता है। मार्क्सवादी संकल्पना के अनुसार मजदूर वर्ग के बीच एकता तथा उसके द्वारा विश्वव्यापी संघर्ष के द्वारा, जिस वर्गविहीन समाज की स्थापना की जाएगी, उसमे राष्ट्रों का स्थान समाजवादी भ्रातृभाव ले लेगा और इस प्रकार युद्ध सदा के लिए समाप्त हो जाएगा।

मार्क्सवादी विचारधारा के सभी उत्तराधिकारियों ने, इस लक्ष्य को अपनी प्रत्याशा बनाया, पर इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध मे इन सभी के बीच पर्याप्त मतभेद रहा। लोकतन्त्रीय समाजवाद ने तो नरमपंथी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्तों को अपना लिया, पर साम्यवादियों ने तो लेनिन के साम्राज्यवादी सिद्धान्त के ही समान, इसे बुर्जुआ 'भ्रम' की संज्ञा दी।

लेनिन का कहना था कि साम्राज्यवाद विश्व मे, पूंजीवादी देशों और उनके हितों का प्रसार पूंजीवादी प्रणाली की परमावस्था है। जिन संघर्षों को, उनके कथनानुसार साम्राज्यवाद उत्पन्न करता है, उनके कारण—बाजार के लिए प्रतिस्पर्द्धा निवेश के अवसर, कच्चे माल के स्रोतों पर अधिकार और सस्ते श्रम की उपलब्धि। इस प्रकार ये संघर्ष उस प्रणाली मे ही सन्निहित हैं, जो देर-अबेर साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच विश्वव्यापी युद्ध उत्पन्न करती है। ये युद्ध की मजदूर वर्ग के सम्मुख वह अब सुअवसर प्रस्तुत करेंगे कि उपनिवेशी तथा अर्द्ध-उपनिवेशी विश्व की शोषित जनता के सहयोग से वे विश्वशान्ति ला सकें और इस प्रकार पूंजीवाद को समाजवाद के रूप मे बदल सकें।

लेनिन के सिद्धान्त ने, अवश्यम्भावी भविष्यवाणी के रूप मे, विजेता बोल्शेविकवाद ही की विचारधारा का रूप ले लिया पर सोवियत शासकों के सम्मुख, शीघ्र ही एक नई समस्या उठ खड़ी हुई है। पहले उन्होंने जिस विश्वव्यापी शान्ति की आशा की थी, वह जब नहीं हुई, तब यह जटिल समस्या उठ खड़ी हुई है कि समाजवाद तथा साम्राज्यवाद की दो दुनियाओं के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित रहे। उन्हें इस सम्बन्ध में न तो पहले कभी कोई सन्देह था और न अब ही है कि साम्राज्यवाद और साम्यवाद के मध्य संघर्ष परस्पर विरोधी हैं, जो आगे चल कर विश्वव्यापी हो जाएँगे तथा अन्ततः समस्त विश्व मे विजय साम्यवाद की की ही होगी, फिर भी इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित दाँव-पेचों के बारे मे साम्यवादी विचारधारा अनिश्चित तथा अस्पष्ट रही है।

लेनिन ने कहा था कि साम्यवादी देशों तथा उनको चारों ओर से घेरने वाले साम्राज्यवादी देशों के बीच संघर्ष का होना अवश्यम्भावी है, किन्तु स्तालिन ने, कभी

तो 'शान्तिपूर्ण सहग्रस्तित्व' का समर्थन किया और कभी-पूंजीपतियों पर आक्रमण किए जाने पर जोर दिया। अपने शासन के अन्तिम दिनों में, लेनिन के समान ही उसने भी साम्राज्यवादी शक्तियों के पारस्परिक युद्ध की अनिवार्यता पर जोर दिया, किन्तु इसके साथ ही साथ उसकी यह भी धारणा थी कि साम्यवादी देश अब पूर्वापेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गए हैं और साम्राज्यवादी देशों के साथ उनकी लड़ाई को रोका भी जा सकता है। स्तालिन के बाद ख्रुश्चेव ने यह दावा किया कि सोवियत संघ के अणु शक्ति सम्पन्न हो जाने के फलस्वरूप साम्यवादी देशों पर, साम्राज्यवादियों के आक्रमण का खतरा टल ही नहीं गया है, बल्कि अब साम्राज्यवादियों की आपसी लड़ाइयों को भी रोका जा सकता है। इस प्रकार, उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि लेनिन का 'युद्ध की अनिवार्यता' का सिद्धान्त अब पुराना पड़ गया है। इस सम्बन्ध में 'भाग्यवादी' अनिवार्यता की गुंजाइश नहीं रही है तथा वर्तमान में शान्तिपूर्ण सहग्रस्तित्व और अन्त में हिंसा के बिना ही पूंजीवाद को समाजवाद के रूप में बदल देना, केवल सम्भव ही नहीं, बल्कि श्रेयस्कर भी है, क्योंकि बड़े पैमाने पर होने वाले युद्ध का अर्थ तो सबका विनाश या कहिए सर्वनाश ही है। फिर भी उनकी यह मान्यता बनी रही कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तो आर्थिक और वैचारिक प्रतिस्पर्द्धाओं के रूप में वर्ग-संघर्ष चलता ही रहेगा।

इसके विपरीत, साम्यवादी चीन के नेता, युद्ध की अनिवार्यता के सिद्धान्त में पूर्णतया आस्था नहीं रखते हुए भी यह कहते हैं कि दृढ़ और शक्तिशाली नीति का अनुसरण करके ही साम्राज्यवादी आक्रमण को रोका जा सकता है। उनकी यह मान्यता रही है कि शान्तिपूर्ण सहग्रस्तित्व पर जोर देने वाली कम खतरे की नीति तो ऐसे खतरे को और भी अधिक बढ़ाती है। देशगत क्रान्ति के सम्बन्ध में, विशेषतः अल्पविकसित देशों के सन्दर्भ में, माओत्से-तुंग के विचार इस बात पर जोर देते हैं कि विश्व में हिंसा जरूरी है और साम्यवादी खेमे का यह कर्त्तव्य है कि वह यत्र-तत्र-सर्वत्र मुक्ति-युद्धों का समर्थन कर, समस्त विश्व की क्रान्तिकारी शक्तियों की सहायता करे। इस सम्बन्ध में यह दृष्टव्य है कि सोवियत संघ की रीति-नीति शान्तिपूर्ण परिवर्तन पर जोर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सोवियत संघ तथा चीन के मध्य विद्यमान विचारधारा विवादों के आधारभूत मताग्रहों को, यदि हम एक ओर रख दें तो देखेंगे कि इन देशों के नेताओं के बीच मुख्य मतभेद युद्ध-कौशल तथा रण-नीति से ही सम्बन्धित है। ये मतभेद विशेषतया इस सम्बन्ध में हैं कि अपने सिद्धान्त उद्घोषित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, किस सीमा तक टकराव आवश्यक है। दोनों ही पक्ष इस बात से सहमत हैं कि साम्यवादी खेमों के बीच सैद्धान्तिक समानता और वैचारिक एकता का होना आवश्यक है। जैसा कि इस विचारधारा के इतिहास में पहले भी प्रायः घटित हो चुका है, दोनों विवादी पक्षों के बीच फूट का मुख्य कारण यह रहा है कि इनमें आपस में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है कि सैद्धान्तिक विवाद का या वैमत्य की स्थिति में निर्णय का अधिकार किसे प्राप्त हो। सोवियत संघ का यह

दावा कि सैद्धान्तिक प्रधानता का अधिकार उसे ही प्राप्त हो, चीन को मान्य नही है और वस्तुतः यही बात दोनों के मध्य विवाद का मूलाधार है।

ऊपर जिन बातों पर विचार हुआ है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वदेशिक मामलों मे विचारधारा का क्या स्थान होता है, विशेषतया हाल ही मे, ऐसे प्रश्न कम देखने में आए हैं, जिनका सैद्धान्तिक ढांचे से सम्बन्ध न हो, इसलिए प्रायः प्रेक्षक, व्यवहारज्ञ तथा सिद्धान्तकार, कारण और प्रभाव की समस्या की ओर अपना ध्यान अधिक देने लगे हैं। प्रश्न यह है कि सैद्धान्तिक विचारधाराएँ, घटनाओं तथा नीतियों के प्रमुख कारण हैं क्या वे गौण घटनाएँ हैं, जिनका कार्य राष्ट्र और शक्ति-गुटों के सामरिक, आर्थिक व अन्य हितों की व्याख्या या रक्षा करना या उनके मूल कारणों पर पर्दा डालना मात्र है? उदाहरणार्थ, इतिहास की सर्वाधिक शक्तिशाली विचारधाराओं मे से एक मार्क्सवादी विचारधारा की व्याख्या के अनुसार पूँजीवादी विचारधारा वस्तुतः आर्थिक हितों का तथा वर्ग हितों का ऊपरी ढांचा मात्र है।

किस विचारधारा मे, किस वर्ग के कौन से हित निहित होते हैं, इनका पता करना कठिन कार्य नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषयक प्रचलित अभी हाल के सिद्धान्तो मे शक्ति-हितो और राष्ट्रीय हितो पर जोर देने की जो यथार्थवादी प्रवृत्ति आई है उसका भी कारण स्पष्ट है। सत्ता हथियाने के महत्त्वाकांक्षी वे सभी आन्दोलन, जिनमे हितो से अधिक प्रभाव प्राय विचारधारा का होता है, वस्तुतः उन शक्ति गुटों से प्रेरित होते हैं, जिनके मुख्य प्रेरक तत्त्व उनके अपने हित ही होते हैं। निःसन्देह इस प्रकार के विश्लेषण के लिए गहन अध्ययन और पैनी दृष्टि की आवश्यकता है।

यह दृष्टव्य है कि विचारधाराओं पर आश्रित नीतियो का प्रयोग असैद्धान्तिक तौर पर शायद नही किया जाता हो। इनका प्रयोग यदि विचारधाराओं मे नही तो विचारों के पर्यावरण में इस प्रकार किया जाता है कि नेताओ तथा जनता या दोनों मे से किसी एक के दृष्टिकोण पर इनका प्रभाव पडे। इस सम्बन्ध मे प्रायः कोई समान अनुभूति नही होती। अत्यन्त यथार्थवादी राज-नेता भी ससार को, यदि पर्दे से नहीं तो 'प्रिज्म' से देखते हैं और विदेशी मामलों मे सामान्यतया अपने व्याख्यात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग करते हैं। कोई भी साम्यवादी नेता, विश्व के मामलो के प्रति कितना ही यथार्थवादी तथा निर्मम क्यों न हो, पर जब वह संसार को वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से देखता है तो उसकी यही धारणा होती है कि सारा ससार, शान्तिप्रिय शक्तियाँ और आक्रामक शक्तियों के मध्य बँटा हुआ है। यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि स्तालिन, किसी हद तक सैद्धान्तिक तथ्यो से, स्वय को बिल्कुल ही अलग कर चुका था और संसार को केवल शक्ति ही की दृष्टि से देखने लगा था, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वह अपने दल, अपने देश की जनता तथा अन्य देशों के साम्यवादियों के साथ साम्यवादी विचारधारा तथा सिद्धान्तों के माध्यम से ही सम्पर्क बनाए रख सकता था। इसी प्रकार, आज भी रूस और चीन के बीच सम्बन्धों को बिगाड़ने की

मुख्य जिम्मेदारी विचारधारा पर ही आयद होती है। इन दोनों देशों के मध्य, पारस्परिक हितों के क्षेत्रों में कितना भी विरोध क्यों न रहा हो, पर विचारधारा सम्बन्धी मतभेद यदि नहीं हुए होते तो उनका वैमत्यपूर्ण संघर्ष निश्चय ही इतना उग्र रूप धारण नहीं कर पाता कि समस्त विश्व के साम्यवादी देश तथा दल उससे प्रभावित हो वैमत्य की दलन्दल में धँस जाते।

विचारधारा राष्ट्रीय शक्ति के सन्दर्भ रूप में

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा को वास्तविक तत्त्व तब माना जाता है जब उसे राष्ट्रीय शक्ति के साथ जोड़ दिया जाता है। जब शक्ति विचारधारा के आधार पर राष्ट्रीय आकांक्षा का साधन बन जाती है तो विचारधारा प्रबल हो उठती है। शक्ति के अभाव में विचारधारा निष्क्रिय है, महत्त्वहीन है और उसे हम केवल मिले-जुले खोखले विचारों की धारा मात्र कह सकते हैं। विश्व में साम्यवादी विचारधारा का भय मार्क्स या लेनिन के विचारों से पैदा नहीं हुआ बल्कि रूस और चीन की शक्ति ने जो, साम्यवाद के रक्षण, प्रसार और प्रभुत्व के लिए कृतसंकल्प है, इसे एक प्रमुख विचारधारा बना दिया।

विख्यात दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने विचारधारा को राज्य-शक्ति का एक आवश्यक तत्त्व माना है।[1] यह राष्ट्रीय शक्ति को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती है—

1. विचारधारा राष्ट्रों के निवासियों के लिए एक सामान्य स्तर निर्धारित करती है जिसके अधीन व्यक्तियों और वर्गों को एक साथ एकत्रित किया जा सकता है। विचारधारा में वह शक्ति है जो एक उत्तेजित और असंगठित गतिविधि को एक सशस्त्र और संगठित राजनीतिक आन्दोलन में बदल देती है। विचारधारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का एक निकाय होती है जो समाज या राष्ट्र के लक्ष्यों को स्पष्ट करती है जिससे जनता का मनोबल ऊँचा उठता है, जनता में लक्ष्य प्राप्ति की प्रबल प्रेरणा जाग्रत होती है और जनता अनुशासन एवं आज्ञापालन की अभ्यस्त हो जाती है। इतिहास बताता है कि जब कभी किसी विचारधारा को जनता ने दृढ़ता से अपना लिया तभी उस विचारधारा ने जनता के व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों को भारी शक्ति प्रदान की, देश में वह फिजा पैदा कर दी जिसने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए, अपने गौरव की रक्षा के लिए, अपने राजनीतिक प्रभुत्व की भूख को मिटाने के लिए राष्ट्रीय शक्ति के प्रसार के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया। उदाहरण के लिए, नाजीवादी विचारधारा ने जर्मन जनता को जिस रूप में संगठित, आक्रामक और विस्तारवादी बना दिया था वैसे उदाहरण इतिहास में कम ही देखने को मिलते हैं।

2. जिस राष्ट्र की कोई निश्चित विचारधारा नहीं होती अथवा जो राष्ट्र अनेक विचारधाराओं का शिकार होता है, वह सरलता से विदेशी प्रचार-प्रभाव में आ

1 *Bertrand Russel* : Power–A New Social Analysis, pp. 145-46.

जाता है। ऐसा राष्ट्र अपनी शक्ति का समुचित विकास नही कर पाता। उदाहरण के लिए, द्वितीय महायुद्ध काल में फ्रांस मे कोई निश्चित विचारधारा-जनित शक्ति प्रभावी नहीं थी, हिटलर ने इस कमजोरी का फायदा उठाया और वहा पचमागियो (Fifth Columnists) को संगठित कर फ्रांस को आन्तरिक रूप से और भी दुर्बल बना दिया तथा युद्ध मे बुरी तरह पराजित किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद के युग मे देखा गया है कि जिन अफ्रोशियाई राष्ट्रो मे अनेक विचारधाराएँ प्रचलित थी वहाँ इस फूट और दुर्बलता का साम्यवादियो ने लाभ उठाने की पूरी और बहुत हद तक सफल चेष्टा की। चीन का गृहयुद्ध परस्पर विचारधाराओ का युद्ध था जिसमे साम्यवादियों ने विजय प्राप्त की जिसके फलस्वरूप 'लाल चीन' का उदय हुआ। विश्व नेतृत्व की आकांक्षी साम्यवादी शक्तियो ने विभिन्न देशो मे साम्यवादी दलो के सगठन मे सहयोग देने की नीति इसी आधार पर अपनाई है कि उन देशो मे व्याप्त विरोधी विचारधाराओ की फूट को अधिकाधिक चौडा किया जाए और साम्यवाद समर्थक तत्त्वो को लाल झण्डे के नीचे एकत्र कर साम्यवाद की विजय का प्रयत्न किया जाए।

जिस विचारधारा को एक देश मानता है उसी विचारधारा को मानने वाले दूसरे देशो की सद्‌भावना और मैत्री उसके प्रति रहना स्वाभाविक है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में दो अथवा अधिक राष्ट्रो की मैत्री का मार्ग तब अधिक प्रशस्त हो जाता है जब उनके राजनीतिक सिद्धान्त, उनकी आर्थिक नीतियाँ, उनकी विदेश-नीतियाँ मिलती-जुलती हों या कम से कम एक दूसरे की विरोधी न हो। अमेरिका और पश्चिमी जगत् के बहुत से यूरोपीय राष्ट्र लोकतन्त्र के समान आदर्शों से प्रेरित और प्रभावित होकर ही साम्यवादी शक्तियों के विरुद्ध मोर्चा सम्भाले हुए हैं। 'स्वतन्त्र विश्व' और 'साम्यवादी विश्व' के बीच विरोध अथवा सघर्ष की स्थिति इसीलिए है कि दोनों पक्षो के राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक आदर्श भिन्न-भिन्न हैं और एक के अहित मे दूसरा अपना हित समझता है।

3. कुछ राष्ट्रो की जनता यद्यपि विचारधारा की दृष्टि से विभाजित होती है, लेकिन उसके राजनीतिक लक्ष्य लगभग समान होते हैं। आधुनिक इंग्लैण्ड की जनता रूढ़िवादी, उदारवादी और समाजवादी वर्गों मे बँटी है, लेकिन राजनीतिक लक्ष्यों मे बहुत-कुछ एकरूपता है, विदेश-नीति के क्षेत्र मे बहुत-कुछ समान लक्ष्य हैं। भारतीय जनता भी विभिन्न विचारधाराओ मे विभाजित है और फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, स्वीडन या जापान की जनता की भी कोई एक राजनीतिक विचारधारा नही है पर विचारधाराओं की भिन्नता के बावजूद भारत की जनता मे मौलिक एकता विद्यमान है। भारतीय एकता के बारे मे 'विभिन्नताओ मे एकता' की कहावत प्रसिद्ध है। यही बात बहुत से अन्य देशो पर न्यूनाधिक रूप में लागू होती है। इन देशों की जनता वास्तव मे अपने आन्तरिक मतभेदों को लोकतान्त्रिक तरीकों से दूर करने की अभ्यस्त हो गई है। संकटकाल मे अथवा किसी भी विदेशी आक्रमण के समय सारा राष्ट्र अपने मतभेदो को भुला कर एकजुट हो जाता है, सभी विचारो के लोग

राष्ट्रीय सेवा और त्याग के लिए तैयार हो जाते है। सन् 1962, 1965 और फिर 1971 में यही कहानी भारत की जनता ने दोहराई और इस प्रकार अपनी राष्ट्रीय शक्ति का परिचय दिया। तथापि उल्लेखनीय बात यह है कि राष्ट्रीय भावनाओं के साथ मेल न खाने से इन देशों में साम्यवादी दल की स्थिति और रीति-नीति अलग-थलग रही है। हर देश में साम्यवादी दल का सामान्य रवैया प्रायः यही देखने में आया है कि वह स्वयं को राष्ट्र विशेष का दल न समझ कर विशाल साम्यवादी आन्दोलन का अंग मानते हुए अपने सिद्धान्तों और विचारों को दूसरों पर थोपना चाहता है, देश की विद्यमान संस्थाओं को मिटा कर अपनी संस्थाएँ लादना चाहता है। यही कारण है कि लोकतान्त्रिक देशों में सरकारें साम्यवादी विचारधारा के प्रति प्रायः कठोरता का रुख अपनाती हैं। लेकिन साथ ही यह बात भी है कि वही साम्यवादी दल, जो पहले राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में लीन रहता है, सत्तारूढ़ होने पर कट्टर राष्ट्रवादी बन जाता है। आशय यह है कि विचारधारा सत्ता के साथ जुड़ कर हर दृष्टि से राष्ट्रीय शक्ति के प्रदर्शन और प्रभाव को प्रोत्साहन देती है।

4. विचारधारा का प्रयोग प्रायः सभी राष्ट्र अपने हितों के संरक्षण-सम्वर्द्धन में किया करते हैं। प्रायः हर राज्य अपनी विचारधारा के आधार पर अपने कार्यों को 'शक्ति के लिए संघर्ष' में उचित ठहराता है। वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक आड़ में प्रत्येक देश अपनी व्यावहारिक नीतियों और आचरण पर पर्दा डालता है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के उत्कर्षकाल में पश्चिमी राष्ट्र 'गोरे व्यक्ति के बोझ' (White Man's Burden) के आधार पर अपने विस्तारवाद को उचित ठहराते थे। अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को इस विचारधारा के आधार पर उचित ठहराया जाता था कि 'गोरी जाति का कर्त्तव्य विश्व को सभ्य बनाना है। विचारधारा के आधार पर ही 19वीं शताब्दी में अमेरिकी रिपब्लिकन सिद्धान्तों के विश्व में प्रचार-प्रसार और अमेरिका के लिए प्रादेशिक क्षेत्रों की प्राप्ति को अपना कर्त्तव्य मानते थे। साम्यवादी शक्तियाँ अपनी विस्तारवादी और साम्राज्यवादी नीति को 'साम्यवादी विचारधारा' के आवरण में ही छिपती हैं। पैडलफोर्ड एवं लिंकन का कथन है—"रूस के बाहर साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करके, स्थानीय दलों को संगठित करके, तोड़-फोड़ की कार्यवाई करने वालों को प्रशिक्षण देकर और दूसरे देशों में उन्हें भेज कर तथा स्थानीय संकटों से लाभ उठाकर ही क्रेमलिन अपनी शक्ति को चेकोस्लोवाकिया से चीन तक विस्तृत करने और यूरोप तथा एशिया के अन्य स्थानों में अपना प्रभाव फैलाने में सफल हुआ है। कहीं-कहीं लाल सेना का सहयोग लेना पड़ा है, लेकिन हर जगह नहीं।"[1] वास्तव में महायुद्धोत्तर युग में 'इसी 'विजय' सैनिक शक्ति की अपेक्षा 'विचारधारा की शक्ति' की अधिक रही है।

1 *Padleford & Lincoln*: op. cit., pp. 138-139.

5. विचारधारा विभिन्न राष्ट्रीयता वाले व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधती है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व के दशक में चीन-जापान संघर्ष में संयुक्तराज्य अमेरिका सहानुभूति चीन के साथ बहुत कुछ इसीलिए थी कि ईसाई धर्म-प्रचारकों को चीन में कार्य करने की छूट थी और अमेरिका एवं उसके साथी राष्ट्रों को भरोसा था कि चीन धीरे-धीरे ईसाई धर्म तथा जनतन्त्र की ओर बढ़ रहा है। समान धर्म और विचारधारा के प्रभाव का दूसरा ज्वलन्त उदाहरण 'अरब राज्यों का संघ' है जिसके सदस्य इस्लाम के अनुयायी और यहूदियों के विरोधी हैं, अतः वे विषय आन्तरिक मतभेदों के बावजूद इजरायल के विरुद्ध भावनात्मक रूप से संगठित हो जाते हैं। यहूदी विरोध विचारधारा उन्हें राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में अनेक अवसरों पर एकजुट कर देती है। पैडलफोर्ड एवं लिंकन ने लिखा है कि 19वीं सदी के अन्तिम चरण और 20वीं सदी के प्रारम्भिक चरण में यूरोपीय समाजवादी नेताओं ने समाजवाद के सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने का प्रयत्न किया लेकिन समाजवादी देशों के बीच एकता न होने तथा राष्ट्रीय भावनाओं के अपेक्षाकृत अधिक प्रबल होने के कारण उनके ये प्रयत्न अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सके। पर यदि पश्चिमी यूरोपीय राजनीतिक समुदाय में कोई ऐसा संगठन स्थापित किया जाए तो वह सम्भवतः सफल हो सकता है। राजनीतिक संगठन पर विचारधारा के प्रभाव का एक अन्य उदाहरण यह लिया जा सकता है कि अटलाण्टिक चार्टर में निहित सिद्धान्तों तथा अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा उद्घोषित मूलभूत स्वतन्त्रताओं के आधार पर ही सैद्धान्तिक आधारभूमि तैयार हो सकी जिसके अन्तर्गत द्वितीय महायुद्ध-काल में मित्रराष्ट्र धुरीराष्ट्रों के विरुद्ध संगठित हुए। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व के रूप में विचारधारा बहुत महत्त्वपूर्ण है जो अनेक अवसरों पर राष्ट्रों के मध्य एकता स्थापित करने में सहायक होती है।

विचारधारा का आश्रय क्यों लिया जाता है ?

उपर्युक्त विवरण यह प्रस्थापित करता है कि विचारधारा राष्ट्रीय शक्ति का प्रबल और आज के युग में अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रणेता 'शक्ति-संघर्ष' को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और उनका कहना है कि विचारधारा अथवा सिद्धान्त इस शक्ति-संघर्ष की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। विश्व-राजनीति में जो वास्तविकता है और जो दिखाई देती है उन दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर है। राष्ट्र शक्ति प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियाँ निर्धारित करते हैं, किन्तु ये नीतियाँ उनके द्वारा नैतिक, कानूनी या जीव-शास्त्रीय अर्थ में अभिव्यक्त की जाती हैं। कहने का अर्थ यह है कि नीति के सही रूप को सैद्धान्तिक न्यायोचितता एवं बौद्धिकता के द्वारा छिपाया जाता है। मॉर्गेन्थो के मतानुसार जो लोग शक्ति-संघर्ष में जितने उलझे रहते हैं वे इस बात को उतना ही कम देख पाते हैं कि यह शक्ति-संघर्ष किसलिए हो रहा है। राजनीतिक रंगमंच के अभिनेता राजनीतिक विचारधारा के पीछे की राजनीतिक क्रियाओं की सच्ची प्रकृति को छिपाने का प्रयास करते हैं। एक व्यक्ति संघर्ष से जितना अधिक दूर होता है वह उसकी

सही प्रकृति को समझने में उतना ही अधिक समर्थ होता है। इस आधार पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि एक देश विशेष की राजनीति को उसके मूल निवासियों की अपेक्षा प्रायः विदेशी अधिक अच्छी तरह समझ पाता है। साथ ही एक विद्वान् अध्ययनकर्त्ता राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक जानकारी प्राप्त कर लेता है। राजनीतिज्ञों की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे जो कुछ भी करते हैं उसे छिपाना चाहते है और इसलिए अपने कार्यों को शक्ति की शब्दावली मे व्यक्त करके नैतिक और कानूनी सिद्धान्तो या जैविक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में प्रकट करते है। मॉर्गेन्थो के शब्दो मे जबकि समस्त राजनीति आवश्यक रूप से शक्ति की खोज है, विचारधाराएँ इस शक्ति-संघर्ष को ऐसा रूप देती हैं जो नेताओं और उनके श्रोताओं के लिए मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक रूप से स्वीकार्य हो।

कहा जाता है कि राजनीति की यह प्रकृति है कि वह राजनीतिक रंगमंच के अभिनेता को अपने कार्यों के तत्कालीन लक्ष्य को छिपाने के लिए विचारधारा का प्रयोग करने के लिए बाध्य करती है। प्रत्येक राजनीतिक कार्य का तात्कालिक उद्देश्य शक्ति है और राजनीतिक-शक्ति व्यक्तियों के कार्यों एवं मस्तिष्क की शक्ति होती है। शक्ति की राजनीति में जो व्यक्ति दूसरो की शक्ति का विषय है वह दूसरो पर अपनी शक्ति स्थापित करना चाहता और है दूसरे उस पर अपनी शक्ति स्थापित करना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वभाववश अपनी शक्ति-प्राप्ति की इच्छा को कानूनी और न्यायशील मानता है तथा दूसरो की ऐसी इच्छाओं को जो उसे अपनी शक्ति से प्रभावित करने का प्रयास करती हैं वह अनुचित और अन्यायपूर्ण मानता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से सोवियत संघ अपनी नीति को सुरक्षा की दृष्टि से न्यायोचित् मानता है, किन्तु अमेरिकी शक्ति के प्रसार को वह विश्व-विजय की तैयारी या साम्राज्यवादी प्रयास कह कर उसकी आलोचना करता है। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका भी रूस की महत्त्वाकांक्षाओं को यही उपाधि प्रदान करता है और अपने अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों को राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकता बताता है। मॉर्गेन्थो द्वारा उद्धृत जॉन एडम्स के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि शक्ति हमेशा यह सोचती है कि इसकी आत्मा महान् है, इसके दृष्टिकोण व्यापक हैं तथा जिस समय ईश्वरीय कानूनों को तोड़ रही है उस समय यह ईश्वर की सेवा कर रही है।[1]

यदि कोई देश खुले रूप में स्वीकार करले कि वह शक्ति का आकांक्षी है और इसीलिए दूसरे राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षाओं का विरोध कर रहा है तो वह राष्ट्र न केवल कठिन स्थिति में पड जाएगा बल्कि उसे शक्ति-संघर्ष में भी नुकसान पहुँचेगा। इस प्रकार की स्पष्टवादिता एक ओर तो दूसरे राष्ट्रों को उसके विरुद्ध बना देगी जो संयुक्त होकर उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करेंगे अथवा उसकी विदेश-नीति के लक्ष्यों को पूरा नहीं होने देंगे तथा दूसरी ओर वह राष्ट्र सामान्य रूप से स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्डों को ठुकरा देने के कारण ऐसी स्थिति में आ जाएगा जहाँ स्वयं की

1 *John Adams*, Quoted by *Morgenthau* : op. cit., p. 88.

विदेश-नीति को वह आधे मन से अथवा बुरे भाव से सम्पन्न करेगा। यह कहा जाता है कि अगर कोई सरकार जनता को अपनी विदेश-नीति के समर्थन में लाना चाहती है या समस्त राष्ट्रीय शक्तियों तथा साधनों को उसके पीछे लगा देना चाहती है तो उसे चाहिए कि जीव-शास्त्रीय आवश्यकताओं पर जोर डाले, जैसे राष्ट्र का अस्तित्व, आदि। नैतिक सिद्धान्तों जैसे न्याय पर जोर डालना भी उपयोगी हो सकता है, किन्तु उसे शक्ति की शब्दावली में नहीं बोलना चाहिए। केवल इसी मार्ग को अपनाकर एक राष्ट्र बलिदान के लिए उत्साह एवं स्वेच्छा प्राप्त कर सकता है जिसके बिना उसकी विदेश-नीति शक्ति के अन्तिम मापदण्ड से बाहर नहीं निकल सकती।

विचारधारा का राष्ट्रीय शक्ति पर नकारात्मक प्रभाव

विचारधारा राष्ट्रीय शक्ति पर सदैव सकारात्मक प्रभाव ही डाले, यह आवश्यक नहीं है। अनेक दृष्टियों से और अनेक अवसरों पर विचारधारा का राष्ट्रीय शक्ति पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, जहाँ-जहाँ नाजीवाद ने जर्मन जनता का अन्ध-समर्थन प्राप्त किया और जर्मनी की राष्ट्रीय शक्ति को प्रबल बनाया वहाँ उसने दूसरे राष्ट्रों के कोप और विरोध को आमन्त्रित कर जर्मनी को विनाश के कगार पर भी ला पटका। विचारधारा यदि राज्यों की एकता और संगठन में सहायक होती है तो दूसरी ओर वह कई बार उनके संघर्ष और विघटन का कारण भी बन जाती है। पामर और पर्किंस के शब्दों में, "विचारधाराएँ, वास्तव में, *अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का शक्तिशाली साधन होती हैं और वे सभी संघर्षों के शान्तिपूर्ण* समाधान के कार्यों को बहुत अधिक जटिल बना देती हैं।"[1] इसका एक मुख्य कारण यह है कि विचारधारा कई बार सामान्य विवेक का उल्लंघन कर भावनाओं के तीव्र आवेग द्वारा निर्देशित होती है और वैसे भी सामान्यतः इसके मूल में विवेक की अपेक्षा भावनात्मक वेग ही अधिक प्रबल होता है। यदि विचारधारा का प्रयोग बड़ी *कट्टरता से किया जाए तो राष्ट्रीय शक्ति पर इसका अत्यधिक नकारात्मक प्रभाव* पड़ सकता है और इसके अनेक दुष्परिणाम हो सकते हैं, यथा—

1 विरोधियों के बीच समझौते और विचार-विमर्श के मार्ग कण्टकाकीर्ण हो जाएँगे, यहाँ तक कि समझौता असम्भव भी बन सकता है।

2 समझौते के क्षेत्र ढूँढने के लिए किए जाने वाले प्रयासों को धक्का लगेगा और निराशा मिलेगी।

3 राष्ट्र में इतनी उत्तेजना और विस्तारवादी आकांक्षा व्याप्त हो जाएगी कि राष्ट्रीय शक्ति के आत्मघाती विस्फोट को रोकना असम्भव प्रायः हो जाएगा। जर्मनी में हिटलर और उसकी नाजी विचाराधारा विस्फोट के लिए उत्तरदायी थी।

4 राष्ट्रीय *सम्मान का अनुचित रूप से त्याग अथवा बलिदान* किए बिना अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना कठिन हो जाएगा।

1 *Palmer & Perkins : op. cit., p. 84.*

5. शस्त्रीकरण और सैनिकवादी आकांक्षाओं को प्रोत्साहन मिलेगा। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान इस्लामी विचारधारा को इतनी कट्टरता और मदान्धता से अपनाए हुए है कि वह भारत से 'हजारों वर्ष' लड़ते रहने की बात आज भी नहीं भूला है जबकि सन् 1965 और 1971 में उसे शिक्षा मिल चुकी है और विखण्डित भी हो चुका है। आधुनिक राष्ट्रों में मजहबी कट्टरता का ऐसा उदाहरण विरले ही देखने को मिलता है।

6. कूटनीतिक समझौतों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का उपयोग किया जाना कठिन हो जाएगा। राष्ट्रों का प्रयास यही होगा कि वे सम्मेलनों का उपयोग अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए करें।

पामर एवं पर्किंस का विचार है कि यदि उन दो देशों के बीच जो अपनी-अपनी विचारधारा का कट्टरता से पालन व प्रचार करते हैं, मन-मुटाव एवं वैमनस्य पैदा हो गया तो वह एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संकट बन कर रहेगा जिससे पार पाना असम्भव हो जाएगा। विचारधारा सम्बन्धी संघर्ष आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीत-युद्ध का केन्द्र-बिन्दु रहा है। पर, विचारधारा के इन नकारात्मक प्रभावों के बावजूद समझौतावादी तत्त्वों का अपना महत्त्व होता है, इसमें सन्देह नहीं यदि राष्ट्रों में समझौतावादी प्रवृत्ति का बिलकुल ही लोप हो गया होता तो हम शान्ति और सहअस्तित्व की बात न करते तथा पुनर्निर्माण, आर्थिक सहायता, तकनीकी प्रसार आदि क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की बात न सोचते। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-संघर्ष का खेल निरन्तर होता रहता है, लेकिन साथ ही सहयोग और सामञ्जस्य की शक्तियाँ राष्ट्रों को हिंसात्मक संघर्षों अथवा युद्धों में उलझने से बचाती भी रहती हैं और युद्धों को शान्त करती हैं। राजनीतिक समझौतों द्वारा किसी राष्ट्र की विचारधारा को नहीं बदला जा सकता, किन्तु सहयोग के आधार तो पैदा किए ही जा सकते हैं।

विचारधारा और विदेश-नीति

विचारधारा और विदेश-नीति के पारस्परिक सम्बन्ध एवं अन्तर को समझना भी आवश्यक है। इसका अच्छा स्पष्टीकरण डॉ. गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे ने अपने एक लेख में किया है। उन्हीं के शब्दों में—

"हम विदेश-नीति और विचारधारा के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करेंगे। यह कुछ कठिन विषय इसलिए है कि प्रत्येक आदमी, जो एक क्षण विदेश-नीति और विचार को परस्परावलम्बित मानता है, तो दूसरे ही क्षण अपने कथन से मुकर जाता है, इससे इकार कर देता है। यह अग्रांकित दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाएगा। विदेश-नीति मुख्यतया राष्ट्रीय हित से सम्बद्ध होती है। ऐसा मानने वाले किसी समीक्षक को लीजिए। उसका यह प्रिय आग्रह ठीक है किन्तु वह विदेश-नीति की विचारधारा के सन्दर्भ में टीका करने से कतराता नहीं। 1971 में श्री लंका में जनता विमुक्ति पेरूमना नामक संगठन जब आन्दोलन के रास्ते पर था तब भारतीय सरकार ने

श्रीमती भण्डारनायके की सरकार के प्रति सहानुभूति दिखायी थी। मेरे एक मित्र को, जो विदेश-नीति और राष्ट्र-हित के परस्पर सम्बन्धों को स्वीकार करते हैं, भारत सरकार की यह भूमिका पसन्द नही आई, मैंने उनसे कहा, कि हमारी सरकार को महसूस हुआ कि जनता विमुक्ति मोर्चे की शक्ति बढने से भण्डारनायके सरकार खतरे में पड जाएगी जो भारत के राष्ट्र हितो के प्रतिकूल होगा। तब वह इसे गलत क्यो मानते हैं?

वे मेरे प्रश्न का उत्तर देने मे (प्रश्न ज्यादा कठिन नही था) जरा गडबडाये और मुझसे ही पूछने लगे कि भण्डारनायके सरकार के पतन से क्या बिगडने वाला है? इस बात को इतने विस्तार से लिखने का कारण यह है कि हर आदमी राष्ट्रीय हितों की व्याख्या अपनी विचारधारा के अनुरूप करने लगता है। समाजवादियो, इंदिरा गांधी पथियो, जन-सघियो और साम्यवादियों के राष्ट्रीय हित के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण है: संक्षेप मे यह कि विचारधारा से परे कोई देखना नही चाहता।

लोगो का मत है कि विदेश-नीति के सम्बन्ध मे विचारधारा का प्रश्न प्रमुखत: साम्यवादी राष्ट्रो में उपस्थित होता है। साम्यवादी नेता उठते-बैठते अन्तर्राष्ट्रीयवाद का उद्घोष करते हैं। इसीलिए यह धारणा बनी लगती है। इसलिए उनके सन्दर्भ मे यह प्रश्न निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है परन्तु श्रीलंका-भारत के उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया है कि यह प्रश्न उन तक ही मर्यादित नही है, इसलिए विचार और विदेश-नीति के परस्पर सम्बन्ध को समझना महत्त्वपूर्ण है।

विदेश-नीति पर जरा बारीकी से विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसमे विचारधारा का प्रश्न कैसे घुस जाता है। विदेश-नीति के अन्य कोई भी हेतु हों, उनका एक हेतु विचारधारा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। कोई भी सरकार आर्थिक और सामाजिक तन्त्र की सुरक्षा को विदेश-नीति एक प्रमुख उद्देश्य मानती है। साधारणतया सरकार उस तन्त्र को खतरे मे नहीं डालेगी। उस तन्त्र की सुरक्षा को मद्देनजर रखकर ही सरकार समस्याओं से निपटती है।

विकसित राष्ट्रो मे विभिन्न राजनीतिक दलो के बीच स्थूल रूप से विदेश-नीति सम्बन्ध मतैक्य होते हैं। अमेरिका के डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दलो मे नीति विषयक कोई सुनिश्चित और परस्पर भिन्न मत होने की सम्भावना नही होती। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वहाँ विदेश-नीति सम्बन्धी कोई मतभेद नहीं होते परन्तु सामान्यत ये मतभेद विवरण विषयो और नीतियो के क्रियान्वयन सम्बन्धी होते हैं। वियतनाम जैसे मसले पर जो तीव्र मतभेद थे वे किसी विशिष्ट राजनीतिक दल या उसके राजनीतिक तत्वज्ञान की उपज नही थे। अनेक बार तो इन मतभेदों का राजनीतिक दलो से कोई सम्बन्ध भी नहीं होता।

इससे भिन्न दशा भारतीय उपमहाद्वीप के विकासशील देशो की है। इस फर्क के क्या कारण हैं। इसका स्पष्ट उत्तर है विचारधारा। अमेरिका जैसे देश मे प्रचलित आर्थिक और सामाजिक तन्त्र मे दोनो पक्षो के स्वार्थ परस्पर गुथे हुए हैं। उस तन्त्र मे किसी भी प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का वायदा कोई दल नहीं करता।

इसके विपरीत दशा हमारे देश की है। इसलिए हमारे यहाँ विदेश-नीति विषयक इतने तीव्र मतभेद हैं। इन मतभेदों की जड़ से हमारे आर्थिक और सामाजिक तन्त्र का निर्माण और विकास होता है।

विचारधारा और विदेश-नीति बाबत दूसरा प्रश्न साम्यवादी राष्ट्रों की विदेश-नीति के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। ये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारावाद का ढोल चाहे जितनी जोर से पीट रहे हों उनकी विदेश-नीति बहुत अधिक भिन्न नहीं होती। जब वीयतनाम पर बमबारी हो रही हो तब ब्रेझनेव या मास्को, निक्सन के साथ शैंपेन या माओत्ताई(एक प्रख्यात चीनी मद्य) का रसास्वादन कर सकते है। यह कैसे सम्भव होता है? तब 'अन्तर्राष्ट्रीयतावाद' कहाँ तक मारता है?

फिर भी हमें एक अन्तर ध्यान में रखना होगा। युद्धविराम से पूर्व वियतनाम को सोवियत संघ और चीन की ओर से अविरत सहायता मिलती रही, बल्कि युद्धविराम के छ महीने पहले तक परस्पर सन्देह से देखने वाले चीन और रूस जैसे राष्ट्रों ने सहायता कार्य में परस्पर सहयोग का उपक्रम किया।

जिस प्रकार और जिस वेग से वियतनाम मे मदद पहुँची उस पर विचार करते ही यह सवाल खड़ा होता है कि चीन और सोवियत संघ में वास्तव में कोई संघर्ष है या नहीं, यहाँ विचारधारा जो भूमिका अदा करती है उसका खयाल आता है। सोवियत संघ के भय से अमेरिका से सम्बन्ध जोड़ने वाला चीन और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद आन्दोलन में चीन ने जो सुप्रसिद्ध क्रान्ति की उसकी ओर शत्रुता से देखने वाला रूस—इन दोनों में यह सहयोग कैसे सम्भव हुआ? इन दोनों में यह सहयोग कैसे सम्भव हुआ? राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के प्रति वैचारिक साम्य का ही परिणाम है, राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में हमें कोई रुचि नहीं है, चीन कभी यह स्वीकार नहीं करेगा कि वह कहीं भी, किसी भी राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में सहयोग न देगा, इसका कारण भी वैचारिक है।"

सारांश यह है कि विदेश-नीति मे सर्वत्र विचारधारा चाहे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो, पर वह एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य घटक है। इसे दृष्टि से ओझल कर देने पर विदेश-नीति का विवेचन अपूर्ण और दिग्भ्रमित हो जाता है।

कुछ प्रमुख विचारधाराएँ

हम कह चुके हैं कि मॉर्गेन्थो ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधाराओं को तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया है—यथापूर्व-स्थिति की विचारधाराएँ, साम्राज्यवाद की विचारधाराएँ, एवं अस्पष्ट तथा अनेकार्थी विचारधाराएँ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि साम्राज्यवादी नीतियों पर हमेशा ही विचारधारा का पर्दा डाला जाता रहा है। अग्रिम पंक्तियों मे हम मॉर्गेन्थो द्वारा प्रस्तुत विचारधाराओं की विवेचना करेंगे और तदुपरान्त प्रजातन्त्र तथा साम्यवाद इन दो विचारधाराओं पर विचार करेंगे जो आज समूचे अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर छाई हुई हैं।

यथापूर्व-स्थिति (Status-quo) की विचारधाराएँ—यथापूर्व-स्थिति की नीति मे विश्वास करने वाला राष्ट्र अपने व्यवहार को विचारधाराओ के आवरण मे छिपाना नही चाहता। इसका मुख्य कारण यह है कि वस्तु-स्थिति का अस्तित्व होता है और इस आधार पर उसे नैतिक न्यायोचितता प्राप्त हो जाती है । जो वर्तमान है, उसके पक्ष मे कुछ तो होना चाहिए, अन्यथा वह वर्तमान नही होता ।

मार्गेन्थो का कथन है कि जो देश *यथापूर्व-स्थिति की नीति* अपनाता है वह उस शक्ति की रक्षा का प्रयास करता है जो कि उसको प्राप्त है अत सम्भव है कि वह किसी को भी अपना शत्रु अथवा मित्र न बनाए । खासतौर पर यह उस समय होता है जबकि उसकी क्षेत्रीय यथापूर्व-स्थिति को कोई कानून या नैतिक चुनौती नही दी गई हो और परम्परागत रूप से इस यथापूर्व-स्थिति की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय शक्ति ही अनन्य रूप से प्रयोग मे लाई गई हो। स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन जैसे राष्ट्र अपनी विदेश-नीति को यथापूर्व-स्थिति मे रखने वाली नीति के रूप मे व्यक्त कर सकते हैं क्योंकि इनकी यथापूर्व-स्थिति को न्यायोचित मान लिया गया है।

जो देश *यथापूर्व-स्थिति को अपनाते हैं वे आवश्यक रूप से शान्ति और* अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समर्थक बन जाते है । दूसरी ओर साम्राज्यवादी नीतियाँ यथापूर्व-स्थिति मे अव्यवस्था पैदा करके प्राय युद्ध की ओर अग्रसर होती हैं और युद्ध की सम्भावना को ही वे सदैव ध्यान मे रखती हैं । जो विदेश-नीति शान्तिवाद का समर्थन करती है वह साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए यथापूर्व-स्थिति को कायम रखने का पक्ष लेती है । अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर्श भी यथापूर्व-स्थिति की नीति के लिए समान सैद्धान्तिक कार्य करता है । कानून सामान्य रूप से और अन्तर्राष्ट्रीय कानून विशेष रूप से एक स्थिर सामाजिक शक्ति है । अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दुहाई किसी विशेष विदेश-नीति के पक्ष मे सदैव यथापूर्व-स्थिति की नीति के वैचारिक आवरण के रूप मे प्रयुक्त होती है । यथापूर्व-स्थिति की नीति का समर्थन करने के लिए सयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का भी प्रयोग किया जाता है । यथापूर्व-स्थिति *कायम रखने का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का सपोषण समझा जाता* है । दोनो के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बताकर ही इस नीति के प्रतिपादक अपने समर्थकों की सख्या बढाते हैं । यह नीति सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की ओर भी प्रेरित हो सकती है क्योंकि यथापूर्व-स्थिति के समर्थक देश बदलने वाले देशों के विरुद्ध सगठित हो सकते हैं । इस नीति की एक अन्य विचारधारा यह है कि छोटे राष्ट्रो के अधिकारो की रक्षा की जाय । यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि यथापूर्व स्थिति मे किए जाने वाले परिवर्तन प्राय छोटे राष्ट्रो की कीमत पर ही किए जाते हैं ।

साम्राज्यवाद की विचारधाराएँ—साम्राज्यवादी नीति को सदा ही एक विचारधारा की आवश्यकता होती है क्योंकि यथापूर्व-स्थिति की नीति के विपरीत साम्राज्यवाद सदा ही अपने कन्धों पर प्रामाणिकता का भार लेकर चलता है । उसे यह प्रमाणित करना होता है कि वह जिस यथा स्थिति को पलटना चाहता है वह पलट देने लायक है, और इसके बाद शक्ति का जो नए सिरे से वितरण किया जाएगा

वह नैतिक एवं न्यायपूर्ण होगा। गिबन के शब्दों में, "प्रत्येक युद्ध के लिए सुरक्षा अथवा बदले का, मर्यादा अथवा उत्साह का, अधिकार अथवा उपयुक्तता का उद्देश्य तुरन्त विजेता के कानूनी शब्दकोष में ढूंढ लिया जाता है।"

साम्राज्यवाद की कुछ विचारधाराएँ कानूनी मान्यताओं का भी प्रयोग करती है, लेकिन ऐसा करते समय वे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हवाला नहीं देती। अन्तर्राष्ट्रीय कानून तो स्थायी रूप से वर्तमान यथापूर्व-स्थिति का पोषक होता है जबकि साम्राज्यवाद का चरित्र गतिमान विचारधारा की माँग करता है। कहा जाता है कि प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त साम्राज्यवाद की सैद्धान्तिक आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त है। साम्राज्यवादी राष्ट्र यथापूर्व-स्थिति को पलट देने के आकांक्षी होते हैं, अत: वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अन्यायपूर्ण अथवा अनगत बताते हुए उससे भी उच्च कानून की बात करते हैं जो न्याय की माँगों को पूरा करता है। प्राय: औपनिवेशिक साम्राज्यवाद को ऊँचे-ऊँचे सैद्धान्तिक नारों के आवरण में दबाने का प्रयास किया जाता है। अरब-विस्तार के युग में अरब साम्राज्यवाद को यह कह कर न्यायोचित ठहराया गया कि वह धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक था। नैपोलियन का साम्राज्यवाद यूरोप भर में स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के नाम पर फैला था। इसी प्रकार रूसी साम्राज्यवाद विश्व-शान्ति और पूँजीवादी घेरे के विरुद्ध सुरक्षा के नाम पर फैल रहा है, तो अमेरिकी साम्राज्यवाद साम्यवाद से सुरक्षा और स्वतन्त्र विश्व के हितों की रक्षा के नाम पर फैल रहा है।

मॉर्गेन्थो के अनुसार आधुनिक युग में, विशेषकर डार्विन और स्पेंसर के सामाजिक दर्शन के प्रभाव में, साम्राज्यवादी विचारधाराओं ने जीवन-शास्त्रीय तर्कों को प्राथमिकता प्रदान की है। योग्यतम की विजय एवं अस्तित्व के लिए संघर्ष के सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में लाद दिया गया है। फलस्वरूप सैनिक शक्ति की दृष्टि से सबल राष्ट्रों को दुर्बल देशों की अपेक्षा अधिक सम्मान दिया जाता है। इस दर्शन के अनुसार, यदि शक्तिशाली राष्ट्र कमजोर राष्ट्रों का अस्तित्व नहीं मिटाता अथवा कमजोर राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्र के बराबर होने का प्रयास करता है तो यह बात प्रकृति के विरुद्ध है क्योंकि प्रकृति के नियम के अनुसार तो शक्तिशाली एवं योग्यतम की ही विजय होनी चाहिए। साम्राज्यवादी विचारधारा की यह मान्यता है कि शक्तिशाली और योग्यतम राष्ट्रों का स्थान सर्वोच्च है, वह इस धरती पर रत्न की भाँति हैं। इतिहास साक्षी है कि जर्मनी के नाजीवाद, इटली के फासीवाद और जापान के सैनिकवाद ने अपने समर्थन में जीव-शास्त्रीय तर्कों का सहारा लिया और कहा कि प्रकृति ने उन्हें विश्व का स्वामित्व करने के लिए भेजा है, लेकिन कमजोर राष्ट्रों की चालाकी और हिंसा के कारण वे अपने निश्चित पद पर नहीं हैं।

मॉर्गेन्थो के अनुसार साम्राज्यवाद का सबसे प्रचलित आवरण और दोषमुक्ति का स्रोत जो व्यवहार में लाया गया है, वह है साम्राज्यवाद-विरोधी विचार-पद्धति अर्थात् साम्राज्यवादी अपने व्यवहार को न्यायोचित सिद्ध करने और अपनी महत्वाकांक्षा पर पर्दा डालने के लिए साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा का जामा पहनते

हैं। साम्राज्यवादी देश यह सिद्ध करता है कि दूसरे देश शक्ति-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपनी नीतियों को संचालित कर रहे हैं जबकि उसकी स्वयं की नीति शुद्ध रूप से आदर्श उद्देश्यों से प्रेरित है। पिछले दोनों महायुद्धों में भाग लेने वाले दोनों पक्षों का दावा था कि वे दूसरे पक्ष के साम्राज्यवादी विस्तार के विरुद्ध अपनी रक्षा कर रहे हैं। सन् 1941 में रूस पर आक्रमण करते समय जर्मनी ने कहा था कि वह रूसी साम्राज्यवादी इरादों को तोड़ने के लिए ऐसा कर रहा है। महायुद्धोत्तर युग में साम्यवादी और गैर-साम्यवादी दोनों ही पक्षों की विदेश-नीतियाँ स्वयं को साम्राज्यवाद-विरोधी घोषित करती हैं और एक-दूसरे पर साम्राज्यवादी होने का आरोप लगाती हैं जबकि वास्तविकता यह है कि दोनों ही साम्राज्यवादी आकांक्षा से परिपूर्ण हैं। दोनों पक्षों में प्रादेशिक साम्राज्यवाद की भी भूख है और आर्थिक साम्राज्यवाद की भी।

अनेकार्थक एवं अस्पष्ट विचारधाराएँ—मॉर्गेन्थो के अनुसार साम्राज्यविरोधी विचारधाराएँ अपनी स्पष्टता और अनेकार्थकता से ही प्रभावी होती हैं। वे निरीक्षण-कर्त्ता को चक्कर में डाल देती हैं जो यह निश्चय नहीं कर पाता कि वह साम्राज्यवादी विचारधारा का अध्ययन कर रहा है अथवा यथापूर्व-स्थिति की नीति के वास्तविक रूप का निरीक्षण कर रहा है। ऐसा प्राय तब होता है जब एक विचाराधारा किसी विशेष नीति को समर्थित करने के लिए नहीं अपनाई जाती और उसे यथापूर्व-स्थिति तथा साम्राज्यवाद दोनों के समर्थकों द्वारा अपना लिया जाता है। उदाहरण के लिए, 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में शक्ति-सन्तुलन को यथापूर्व-स्थिति और साम्राज्यवाद दोनों के समर्थकों द्वारा एक सैद्धान्तिक हथियार के रूप में प्रयुक्त किया गया। वर्तमान काल में राष्ट्रीय आत्म-निर्णय तथा संयुक्त-राष्ट्रसंघ की विचारधाराएँ भी यही कार्य सम्पन्न कर रही हैं। शीत-युद्ध के आरम्भ से निरन्तर विकसित होती हुई ये विचार-धाराएँ शान्ति की विचारधारा से संयुक्त हो गई हैं।

मॉर्गेन्थो ने अनेकार्थी एवं अस्पष्ट विचारधाराओं की पुष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक इतिहास के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर वैदेशिक दमन से केन्द्रीय एवं पूर्वी यूरोप की राष्ट्रीयताओं की स्वतन्त्रता को उचित ठहराया गया था। सैद्धान्तिक स्तर पर यह केवल साम्राज्य की यथापूर्व-स्थिति के विरोध में ही नहीं वरन् किसी भी प्रकार के साम्राज्यवाद के विरोध में था फिर भी आत्म-निर्णय के नाम पर ही पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्था के विनाश के तुरन्त बाद नए साम्राज्यवाद का जन्म अवश्यम्भावी हो गया। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया तथा यूगोस्लाविया के उदाहरण उतने ही विलक्षण थे जितने वे आवश्यक थे, क्योंकि पुराने साम्राज्यवादी ढाँचे के ढह जाने से उत्पन्न शक्ति-शून्यता की पूर्ति करना जरूरी था। पर जैसे ही नए स्वतन्त्र राष्ट्र शक्ति-सम्पन्न हुए, वैसे ही उन्होंने भी उसी राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को नई यथापूर्व-स्थिति की रक्षा के लिए प्रयोग किया। प्रथम महायुद्ध के अन्त से लेकर द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक यह सिद्धान्त उनका सबसे शक्तिशाली वैचारिक अस्त्र रहा।

हिटलर ने अपने प्रचार-कार्य के प्रभाव के कारण राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर करारी चोट की ताकि वह अपनी प्रादेशिक प्रसार-नीतियों को छिपा कर उनको उचित ठहरा सके। चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में रहने वाले जर्मन अल्प संख्यक, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के झण्डे के नीचे इन देशों के राष्ट्रीय अस्तित्व को मिटाने के लिए वही कार्य करने लगे जो चेकोस्लोवाक और पोलिश राष्ट्रीयताओं ने इसी सैद्धान्तिक झण्डे के नीचे आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्यवाद को मिटाने के लिए किया था। इस प्रकार वर्साय सन्धि की यथापूर्व-स्थिति से लाभान्वित होने वाले देशों का सैद्धान्तिक हथियार उन्हीं के विरुद्ध उपयोग में आया और जब उनके पास यथापूर्व-स्थिति की रक्षा करने के लिए कोई विचारधारा न रही, तो वे कानून और व्यवस्था की दुहाई देने लगे। चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में जो म्यूनिख-समझौता हुआ उसमें भी राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त उलझा हुआ था।

मॉर्गेन्थो का मत है कि संयुक्त-राष्ट्रसंघ की विचारधारा को भी अनेकार्थकता और अस्पष्टता का जामा पहनाया गया है। उन्हीं के शब्दों में, "अपने जन्म से ही संयुक्त-राष्ट्रसंघ को, चीन, फ्रांस, ब्रिटेन, सोवियत रूस तथा संयुक्तराज्य व उनके मित्र राष्ट्रों के लिए उनकी द्वितीय महायुद्ध की विजय के उपरान्त स्थापित यथापूर्व-स्थिति की रक्षा के यन्त्र के रूप में संगठित किया गया था। परन्तु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद के वर्षों में ही यह दृष्टिगोचर होने लगा कि यह यथापूर्व-स्थिति केवल अस्थायी तथा विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किए गए विरोधी दावों व व्याख्याओं से ग्रस्त है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ की विचारधारा विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी विशेष व्याख्याओं को न्यायसंगत प्रमाणित करने तथा अपने विशेष दावों के समर्थन के प्रयोग में लाई जाती है। प्रत्येक राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थक दृष्टिगोचर होता है और सभी राष्ट्र अपनी विशेष नीति के पक्ष में चार्टर की धाराओं की दुहाई देते हैं। इन नीतियों के विरोधाभासी होने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ का सन्दर्भ अपनी स्वयं की नीति को न्यायसंगत प्रमाणित करने के लिए और साथ ही साथ उन नीतियों के वास्तविक चरित्र को छिपाने के लिए एक वैचारिक साधन बन जाता है, क्योंकि यह दुहाई साधारणतः मानवीय सिद्धान्तों के आवरण में दी जाती है। उसकी अस्पष्टता ही इस विचार-पद्धति का एक ऐसा साधन बन जाती है जिसके द्वारा अपने शत्रुओं को भ्रम में डाल दिया जाता है तथा मित्रों को शक्ति प्रदान की जाती है।"

द्वितीय महायुद्ध के बाद से शान्ति की विचारधारा ने भी अधिकाधिक मात्रा में इसी प्रकार का कार्य सम्पन्न किया है। आज वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण युद्ध का स्वरूप इतना विध्वंसकारी बन गया है कि कोई भी देश अपनी विदेश-नीति पर अपनी जनता तथा अन्य देशों का समर्थन तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह यह सिद्ध न कर दे कि उसका ध्येय शान्तिपूर्ण है। अपने विरोधियों को बदनाम करने के लिए उन्हें 'शान्ति-विरोधी', 'शान्ति-घाती' एवं 'शान्ति-विध्वंसक' आदि कहने का रिवाज हो गया है। आज शान्ति की दुहाई देना और अपने उद्देश्यों को शान्तिपूर्ण बताना बिल्कुल अर्थहीन बन गया है क्योंकि कोई

भी देश शान्तिवादी विदेश-नीति को आज इसलिए नहीं अपनाता कि उसे शान्ति से स्नेह है वरन् इसलिए अपनाता है कि वह युद्ध छेड़ कर जोखिम नहीं लेना चाहता। वर्तमान युद्ध की अकल्पनीय विध्वंसकता के कारण प्रत्येक देश अपनी विदेश-नीति के लक्ष्यों को शान्तिपूर्ण साधनों से ही प्राप्त करने का प्रयास करेगा। किन्तु फिर भी शान्ति का नाम लेकर एक देश दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य करता है—प्रथम, वह अपनी वास्तविक नीति के उद्देश्यों को छिपाना चाहता है; और दूसरे, वह अपनी नीतियों के लिए सर्वत्र सद्भावना प्राप्त करना चाहता है।

प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा—जो विचारधारा एक सगठित आन्दोलन द्वारा समर्थित होती है अथवा राजनीतिक संस्था का रूप ले लेती है उसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर अधिक होता है। कुछ विचारधाराएँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से दूर का रिश्ता रखती हैं, उनका प्रभाव अपेक्षाकृत कम होता है, अपेक्षाकृत उनके जो ऐसे मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। आज के युग मे प्रजातन्त्रात्मक और साम्यवादी—ये दो विचारधाराएँ सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आच्छादित किए हुए हैं। ये दोनों परस्पर-विरोधी हैं और विरोधी लक्ष्यों की पूर्ति का साधन बन रही हैं।

प्रजातन्त्र की मौलिक सरचना में कुछ केन्द्रीय विश्वास होते हैं जिनकी साधना में सलग्न व्यवस्था ही प्रजातन्त्रात्मक मानी जा सकती है और जो व्यवस्था इन विश्वासों के मार्ग में बाधक बनती है उसे अप्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। मानव-व्यक्तित्व की महत्ता, जनता की स्वीकृति से शासन, न्याय का सम्वर्द्धन, कानून के शासन की स्थापना, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक न्याय की स्थापना, विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सार्वभौम मानव-अधिकारों की व्यवस्था आदि मान्यताएँ प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के मूल में विद्यमान हैं। ये विश्वास एक प्रजातन्त्र के राजनीतिक जीवन का स्वरूप निर्धारित करते हैं। सघर्षों के समायोजन को शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा सस्थागत रूप देने में प्रजातन्त्र का मौलिक योग माना जाता है। प्रजातन्त्र की यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गहरा प्रभाव डालती है। समानता का आदर्श केवल राष्ट्रीय सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहता क्योंकि प्रजातन्त्र तो मनुष्य मात्र की समानता में विश्वास करता है। प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करते समय अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ प्राय. इसीलिए उत्पन्न होती हैं कि राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर सामाजिक एकता और मजबूती नहीं रहती, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समझौते की तकनीकें जटिल होती हैं एव राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया हर देश में चलती रहती है। श्लीचर महोदय का यह अभिमत सही है कि चाहे कारण कुछ भी हो, लेकिन असमानता-विरोधी प्रजातन्त्रात्मक आदर्श को प्रजातन्त्रात्मक सरकारों और जनता द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने में कठिनाई होती है।

प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों की राष्ट्रवाद के साथ भी कुछ असंगति बताई जाती है। प्रथम, प्रजातन्त्र व्यक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य मानता है तथा राज्य को मानव-कल्याण

का साधनमात्र समझता है जबकि राष्ट्रवाद राज्य को सर्वोच्च मूल्य प्रदान करता है। द्वितीय, प्रजातन्त्र हर जगह व्यक्ति की अधिकाधिक स्वतन्त्रता का पोषक है और स्वतन्त्रता के मार्ग में प्रत्येक बाधा का विरोध करता है, जबकि राष्ट्रवाद व्यक्ति को राज्य के अधीनस्थ बना देता है और राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर अत्यधिक बल देते हुए प्रत्येक हस्तक्षेप का विरोध करता है, चाहे वह प्रजातन्त्र के अनुकूल हो या नहीं। इस प्रकार राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र दोनों अपने विशुद्ध रूप में साथ-साथ नहीं चल सकते। समाधान के लिए सुझाव दिया जाता है कि मानव-अधिकारों के विषय को राज्यों के क्षेत्राधिकार से निकाल कर अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का विषय बना दिया जाए। प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा साम्राज्यवाद के विरुद्ध है। साम्राज्यवादी व्यवस्था को प्रजातन्त्रात्मक केवल तभी बनाया जा सकता है जब निर्णय-प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित व्यक्तियों को समान अधिकार प्रदान किया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा के प्रभाव का विश्लेषण करने पर विदित होगा कि यह अनेक प्रकार से इसके व्यवहार का स्वरूप-निर्धारण करती है। प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार जातीय, आर्थिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर की ओर ध्यान दिए बिना ही सभी व्यक्तियों के कल्याण का प्रयास करता है। प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा की मान्यता है कि किसी भी देश का कल्याण दूसरे देश के विरुद्ध नहीं किया जाएगा, एक को दबा कर दूसरे को उठाने की प्रक्रिया नहीं अपनाई जाएगी। दूसरे, व्यक्तिगत सम्मान और गौरव की अभिवृद्धि में हर सम्भव योगदान किया जाएगा तथा इस पर देश के नागरिकों की दृष्टि से ही नहीं वरन् सामान्य मानव-जाति की दृष्टि से विचार किया जाएगा। तीसरे, मानव-अधिकारों और मूल्यों की रक्षा के मार्ग में सम्प्रभुता बाधक नहीं बनेगी। चौथे, उन संस्थाओं की स्थापना में सहयोग दिया जाएगा जो व्यक्तियों को शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा उन महत्त्वपूर्ण निर्णयों को लेने का अवसर प्रदान कर सकें जो कि उनके हितों और मूल्यों को प्रभावित करते हैं। समान व्यक्तियों द्वारा असमान शक्तियों के उपयोग को रोका जाएगा। उपनिवेशवाद के प्रत्येक रूप का विरोध होगा। पाँचवें, सभी झगड़ों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए उपयुक्त एवं अनुकूल वातावरण तैयार किया जाएगा तथा बहुमत के आधार पर शान्तिपूर्ण परिवर्तन लाया जाएगा। अपनी इन्हीं विशेषताओं के बल पर प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करती है। कुछ विचारकों का तर्क है कि प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों को प्रभावशाली बनाने का प्रयास करना उपयोगी रहेगा या नहीं, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। मानव-इतिहास में अत्याचारों के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो सद्-उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गए थे। प्रजातन्त्र में विश्वास रखने वाला व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोणों और व्यवहारों के प्रति सहनशील होता है और सभी सत्यों को सन्देहशील की दृष्टि से देखता है, यहाँ तक कि स्वयं के सत्य पर भी उसे पूरा विश्वास नहीं होता।

साम्यवादी विचारधारा—साम्यवाद की प्रकृति मूल रूप से सत्तावादी है, अतः प्रजातन्त्र की तुलना में इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट है। कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन,

माओ आदि ने साम्यवादी विचारधारा की व्याख्याएँ की है। इसकी आधारभूत मान्यताओं मे प्रथम यह है कि इतिहास एक निरन्तर सघर्ष की कहानी है और वर्ग-सघर्ष मे साम्यवाद की प्रगतिशील शक्तियाँ अन्ततोगत्वा पूँजीवादी शक्तियों को समाप्त कर देंगी। दूसरे साम्यवाद और उदार सांविधानिक प्रजातन्त्र के बीच मूलभूत संघर्ष हैं जिन्हें केवल साम्यवाद की अन्तिम विजय द्वारा ही मिटाया जा सकता है। तीसरे, एक वर्गहीन समाज की रचना अनिवार्य है और अन्तिम रूप से राज्य-संस्था की समाप्ति करनी होगी। चौथे, श्रमिक वर्ग की तानाशाही लानी होगी, सभी देशो में साम्यवाद स्थापित करना होगा और एकमात्र साम्यवादी दल की पूर्ण आज्ञाकारिता ही ठीक है। पाँचवें, शक्ति एवं शक्ति-सघर्ष तथा क्रान्ति से ही साम्यवाद को सार्वभौमिक बनाया जा सकेगा। लेनिन, स्टालिन, माओ आदि ने मुख्य रूप से शक्ति प्राप्त करने *तथा एकीकृत करने की रणनीति और तकनीक की व्याख्या की है।* छठे, साम्यवादी विचारधारा की मान्यता है कि गैर-साम्यवादी व्यवस्थाओं को समाप्त करने के लिए, विरोधियों के आपसी विरोधों का लाभ उठाने के लिए तथा क्रान्तिकारी दशाओं को प्रोत्साहन देने के लिए साम्यवादी आन्दोलनकारी कोई भी साधन अपना सकते हैं। साम्यवादी विचारधारा मे साम्यवादी दल की शक्ति के एकाधिकार को सैद्धान्तिक आधार पर न्यायोचित् ठहराया जाता है। साम्यवाद के प्रचार-प्रसार का बीड़ा सोवियत रूस ने उठाया हुआ था तथापि अब रूस और लाल चीन दोनो मैदान मे हैं। *साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के लिए दोनों मे प्रतिस्पर्द्धा है जिसके लिए सैद्धान्तिक* सघर्ष भी पैदा किए गए हैं। रूस और चीन के सैद्धान्तिक सघर्षों का विस्तार से विवेचन पुस्तक के अगले अध्याय मे किया गया है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि साम्यवादी विचारधारा आज दो भागो मे विभाजित हो गई। सोवियत सघ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की बात करने लगा है और यह सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है कि स्टालिन की आक्रमणकारी नीतियों को त्याग दिया गया है। इसके विपरीत चीन सोवियत रूस को 'सशोधनवादी' की सज्ञा देते हुए उसे साम्यवाद के लक्ष्य से पीछे *हटना हुआ मानता है और रूस को पूँजीवादी शक्तियो के सामने 'कायर' की* सज्ञा देता है।

साम्यवादी विचारधारा जिस रूप मे साम्यवादी राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करती है उसे निर्धारित करना बड़ा कठिन है। विभिन्न समयो और स्थानो पर इसके अर्थ अलग-अलग रहे हैं तथापि कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व हैं जिन्हें महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। साम्यवादी-दर्शन विश्व की घटनाओं को देखने के लिए एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह विचारधारा यह मानकर चलती है *कि इतिहास कुछ ऐतिहासिक कानूनों पर आधारित है जिन्हें भौतिक दशाओं द्वारा* निर्धारित किया जाता है। संस्थाएँ तथा संस्कृति और कुछ भी नहीं हैं, केवल सामाजिक विकास के एक विशेष स्तर पर पाई जाने वाली भौतिक दशाओं की ही अभिव्यक्ति मात्र हैं। यद्यपि व्यक्ति ऐतिहासिक परिवर्तन के मूल रूप को नहीं बदल सकता, किन्तु वह अपरिहार्य को शीघ्र ला सकता है।

साम्यवाद की विचारधारा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा-वर्ग का हित-साधन मुख्य उद्देश्य है। इसलिए साम्यवादियों को हर जगह नैतिक, प्राकृतिक एवं प्रगतिशील कर्तव्यों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को मुख्य स्थान देना चाहिए तथा सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी राज्यों के हितों की साधना करनी चाहिए न कि अपने पूंजीवादी स्वामियों की। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार ऐसा करके वे साम्यवाद के उस उद्देश्य की पूर्ति करते हैं जिसकी साधना के लिए वर्तमान साम्यवादी विचारधारा सच्चे रूप में अन्तर्राष्ट्रीय है जिसका आधार वर्गवाद है। राष्ट्रवाद के लिए यह जो भी छूट प्रदान करती है वह अस्थायी है तथा इसकी रणनीति है।

विचारधारा सम्बन्धी अनुसन्धान की समस्याएँ

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विचारधारा सम्बन्धी विशिष्ट समस्याओं पर अत्यधिक ध्यान दिया जा रहा है (उदाहरणार्थ चीन और रूस का विवाद ही लिया जा सकता है)। हितों के साथ विचारधाराओं का क्या सम्बन्ध है और सैद्धान्तिक नीतियों पर विचारधाराओं का कितना प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में सामान्य और मौलिक अध्ययन ही नहीं, आवश्यक विश्लेषण और अपेक्षित अनुसन्धान भी हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में, केवल राष्ट्रीय हितों या समस्त राष्ट्रों के राजनीतिक हितों पर ही नहीं, बल्कि राष्ट्र के अन्तर्गत सभी उपवर्गों के आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार के विशेष हितों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी स्थान या काल विशेष में, किसी वर्ग, गुट या राष्ट्रीय हित विशेष के साथ, किसी विशिष्ट विचारधारा के सम्बन्ध में, यदि ध्यानपूर्वक और विस्तार के साथ अध्ययन किया जाए तो वह राष्ट्रीय हितों तथा वृहत् विचारधाराओं के मध्यवर्ती कारण और प्रभाव सम्बन्धी अटकलों की अपेक्षा निश्चय ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

यदि हम और भी बारीकी में जाना चाहते हैं तो निश्चय ही हमें निम्नलिखित अनुसन्धान क्षेत्रों में अवगाहन करना पड़ेगा, विशिष्ट विचारधाराओं पर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव, उदाहरणार्थ—शक्ति की नई धुरियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव, उदाहरणार्थ—शक्ति की नई धुरियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में, अनेक धौगीय ध्रुवीकरण के स्थान पर, द्विध्रुवीकरण की प्रक्रिया तथा प्रमुख विचारधाराओं पर इस प्रकार के परिवर्तन का प्रभाव, विभिन्न विचारधाराओं की अन्योन्य क्रिया, उदाहरण के लिए उदार लोकतन्त्रीय शासन के विरोध में सर्वाधिकारी शासन। इस सम्बन्ध में हमें यह भी अन्वेषण करना पड़ेगा कि आम जनता किस सीमा तक अपने नेताओं की विचारधाराओं से सहमत और प्रभावित होती है तथा ये नेता अपनी नीति विशेष के प्रति किस प्रकार सैद्धान्तिक समर्थन प्राप्त करते हैं? नेताओं और राष्ट्रीय हितों की निर्धारण प्रक्रिया में, विचारधाराओं का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है? इसके अतिरिक्त यह भी हमें देखना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं की 'प्रचार विद्या' के सम्बन्ध में किस प्रकार का कार्य करने की आवश्यकता है?

इस प्रकार के विश्लेषण का प्रभाव नीतियों पर भी पड़ेगा। विचारधाराओं के अध्ययन से, अन्य व्यक्तियों के 'पदों' को समझने में सहायता मिलेगी और वे स्वय अपने 'पर्दे' को भी समझ सकेंगे। इस प्रकार पश्चिम के देश यह देखेंगे कि अब साम्यवादी देशों की नीतियों का आधार, आंशिक रूप में भले ही सही हो, पर उसका आधार भय ही है, उनकी अन्तर्निहित आक्रमकता नहीं। इसी प्रकार साम्यवादी देश भी यह जान पाएँगे कि उनके बारे में पश्चिमी देशों की पूर्व-धारणा का कारण पश्चिमी प्रेक्षकों द्वारा यह देखा जाता है कि साम्यवादी देशों में विचारधाराओं का महत्त्व दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। इस प्रकार निश्चय ही विदेश नीति पर, विचारधाराओं का प्रभाव कम होगा, जिसके फलस्वरूप उनके भावनात्मक प्रभाव तथा लक्ष्य के प्रति निष्ठावाला रूप क्षीण हो जाएगा। इससे अपने हितों के लिए संघर्षजन्य तनाव दूर होगा तथा ऐसी स्थिति पैदा हो सकेगी, जिसके अन्तर्गत विचारधाराओं के पारस्परिक सघर्ष की अपेक्षा, समझदारी और अधिक आसानी से समझौता हो सकेगा। संहारक अणु-शस्त्रों ने, समस्त मानव-जाति को जिस खतरे में डाल दिया है, उसकी अनुभूति मात्र से विचारधारा का महत्त्व घटने में सहायता मिलेगी, जैसा कि सोवियत सघ की नीति से स्पष्ट होता है। इस प्रक्रिया से एक ऐसा सत्य सन्देश प्रस्तुत किया जा सकेगा, जो सभी देशों पर लागू हो सके। विचारधाराओं के प्रभाव के घटने के साथ-ही-साथ सच्चे सिद्धान्तों तथा शान्ति के वातावरण का उदय होगा ऐसी सदाशयी आशा तो आज भी की जा सकती है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल्य और दृष्टिकोण
(Values and Attitudes in International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए यह मान कर चलना चाहिए कि मानव-समूहों में अनेक दृष्टिकोण, विश्वास एव मूल्य पाए जाते हैं। मनुष्य भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और भौतिक वातावरण में रहते हैं। वातवरण की इन विशेषताओं द्वारा ही यह तय किया जाता है कि किसी व्यक्ति का मित्र अथवा शत्रु कौन होगा। व्यक्ति अपने उपलब्ध साधनों की सीमा को भी जान लेता है जिनके साथ रहने के लिए समायोजन करना जरूरी है। राजनीतिक एवं सामाजिक मूल्य तथा सहयोग की परम्पराएँ इसी पृष्ठभूमि में विकसित होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यह विचार किया जाना जरूरी है कि व्यक्ति कुछ मूल्यों को क्यों अपनाता है और अन्य संस्कृति तथा शक्तियों के प्रभाव में वह उन्हें कैसे बदल लेता है। एक राष्ट्र के लोगों के दृष्टिकोणों, मूल्यों एव उद्देश्यों की समानता यह निर्धारित करती है कि उनके बीच विभिन्न प्रश्नों पर कितना मतैक्य रहेगा। इससे राजनीतिक संस्थाओं को स्थायित्व प्राप्त होता है। जिन देशों के मूल्य और दृष्टिकोण एक समान हो जाते हैं, उनके बीच सहयोग, शान्ति एव विचार-विमर्श

1 एल्गर, हूर्स एवं कैसमेन : वही, पृष्ठ 48-49.

की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। दूसरी ओर जहाँ दृष्टिकोण और मूल्यों में भारी असमानता रहती है, वहाँ सम्बन्धों मे अस्थिरता एव सघर्ष पाया जाता है।

विभिन्न राज्यों की जनता और नेता अनेक विषयों पर अपना मत निर्धारित करते हैं और यह मत उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करता है। शान्ति, युद्ध, साम्राज्यवाद, जातिवाद, पूँजीवाद, अणु-अस्त्र एव विदेशी सहायता आदि विषयों पर एक राज्य के लोगो तथा नेताओ का जो दृष्टिकोण होता है, वही उसकी विदेश-नीति को तय करता है। यह दृष्टिकोण उनके मूल्यो द्वारा निर्धारित किया जाता है और यह मूल्य-व्यवस्था ही तय करती है कि उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए वह राज्य क्या साधन अपनाए। अतीत के अनुभव से इन दृष्टिकोणों एव प्रतिक्रियाओं के निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

दृष्टिकोण वास्तविकता को प्रकट कर सकते हैं अथवा उसे ओझल बना सकते हैं। व्यक्ति की प्रक्रिया उसके वातावरण द्वारा निर्धारित होती है। यदि व्यक्ति का ज्ञान यह कहता है कि पृथ्वी चपटी है तो वह उस-उस जगह पर अपनी नाव नही चलाएगा जहाँ कि उसके मतानुसार किनारा है। इस प्रकार वाल्टर लिपमैन ने यह ठीक ही कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह उसके प्रत्यक्ष या निश्चित ज्ञान पर आधारित न होकर उन चित्रों पर आधारित होता है जो उसने स्वय बनाए हैं अथवा उसे दिए गए हैं।[1]

संसार को वस्तुगत रूप से देखने मे दो चीजें हमारी योग्यता को सीमित करती हैं। पहली से तो व्यक्ति की तथ्यो को जानने की क्षमता सीमित होती है। उसका ज्ञान अपूर्ण होता है और तथ्यो के समझने की उसकी योग्यता, समय, अनुभव, सम्पर्क एवं कुशलता के अभाव के कारण सीमित रहती है। लिपमैन के कथनानुसार हमारे मन को एक व्यापक क्षेत्र से सम्पर्क रखना होता है, बहुत शीघ्र ही वस्तु-स्थिति का पता लगाना होता है तथा इतनी सारी चीजें देखनी होती हैं जिनको हम प्रत्यक्ष रूप से देखने मे असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में हमें बहुत कुछ दूसरो के द्वारा कही गई बातों पर निर्भर रहना पड़ता है जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं। यह समस्या उस समय और भी कठिन बन जाती है जबकि समान तथ्यों द्वारा दो व्यक्ति निर्धारित कार्य के सम्बन्ध मे विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

सीमा निर्धारित करने वाली दूसरी बात अत्यन्त अस्पष्ट एव उलझी हुई है। यह अनेक मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का संयोग है। वास्तविकता को पहचानने की हमारी योग्यता, हमारे ज्ञान और दुराग्रह, हमारे पहले के प्रतीक एव हमारे तरीको द्वारा सीमित होती है। व्यक्ति ने दुनिया के बारे मे जो स्वय की मान्यताएँ बना रखी हैं वह अपने सीमित ज्ञान को उन्ही से बैठाने की सोचता है। व्यक्ति की पूर्व मान्यताएँ एक प्रकार से सुरक्षा-यन्त्र का काम करती हैं और वह दुनिया की तस्वीर को इस रूप मे देखता है जिस रूप में वह उसकी मान्यताओं के अनुसार निर्धारित हो चुकी है।

1 *Walter Lippman* : Public Opinion, 1961, p. 17.

व्यक्ति के मस्तिष्क मे यह शक्ति है कि वह अपने ही विचारो और कार्यों के उद्देश्यों को छिपा सकता है। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए *मनोविश्लेषण का महत्त्व बढ जाता है। राजनीतिक क्रियाओं को प्रभावित करने* वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण वे होते हैं जिनको अपरिवर्तनशील प्रतिमाओ के रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है। ये वे निर्णय होते है जिनको एक व्यक्ति स्वय निर्णय लेने मे समर्थ होने से पहले ही दूसरो से प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति जब विचार करता है तो उसके सामने ऐसे अनेक अपरिवर्तनीय 'स्टीरियो टाइप्स' होते है जैसे 'फाँसीसी', 'सैनिक मस्तिष्क', 'विदेशी', 'बोल्शेविक', 'युद्ध-प्रेमी' आदि। इन शब्दो का अपना एक विशेष अर्थ होता है। इन अपरिवर्तनीय प्रतिमाओ को तर्कपूर्ण मतो के स्थान पर रखा जाता है। व्यक्ति उन चीजो को तुरन्त ग्रहण कर लेता है जो उसकी सस्कृति ने पहले से ही परिभाषित की हुई है। ये प्रतिमाएँ व्यक्तिगत जीवन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे भी होती हैं।

विदेशियों तथा उनके लक्ष्यो के प्रति अविश्वास रहना लोगो की परम्परागत विशेषता है। इसमे वे लोग अधिक विश्वास करते है जो विदेशी शासन या शोषण के शिकार रहे हैं *अथवा हैं। एशिया और अफ्रीका के देशो मे जो तटस्थता की नीति* अपनायी जा रही है उसका कारण केवल यह नही है कि ये देश युद्ध को टालना चाहते है अथवा महाशक्तियो के युद्ध मे तटस्थ रहना चाहते है। इस नीति की जड़ो मे उन पश्चिमी शक्तियो से स्वतन्त्र रहने की कामना है जिन्होने अतीत काल मे एशिया और अफ्रीका पर शासन तथा उसका शोषण किया था। अब ये देश पश्चिमी प्रभाव का विरोध करने के लिए राजनीतिक शक्ति का निर्माण करना चाहते हैं। आज सयुक्तराज्य अमेरिका के प्रति लेटिन अमेरिका का दृष्टिकोण डर और ईर्ष्या से पूर्ण है। इसका आधार अतीत काल मे सयुक्तराज्य अमेरिका के हस्तक्षेप तथा उसके कुछ व्यावसायिक व्यवहार है। ये मतभेद और विरोध केवल ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर ही नही पनपते वरन् विभिन्न सस्कृतियो एव सामाजिक रूपो पर आधारित भिन्न मूल्यो के कारण भी बढते हैं।

दुराग्रह और प्राथमिकताएँ (Prefudiros and Preterences) भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। पश्चिमी राज्यो ने घनिष्ठ पारस्परिक राजनीतिक एकता विकसित कर ली है उनकी सामान्य सांस्कृतिक एव ऐतिहासिक परम्पराएँ हैं। उनके मूल्यों तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं मे भी पर्याप्त एकरूपता देखने को मिलती है। दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित देश समाज की प्रकृति के सम्बन्ध मे विरोधी मान्यताएँ लेकर चलते हैं। वे आपस मे भी मतभेद रख सकते हैं जैसा कि सोवियत सघ और चीन के बीच पाया जाता है। जिन राज्यों के बीच इन विषयो पर मूल अन्तर रहते हैं, उनमें मैत्री एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की कल्पना नही की जा सकती। उनका कोई समझौता अधिक दिनो तक नही टिकता।

यह कहा जाता है कि सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण का मूल आधार 'वे बनाम हम' की भावना है जो सामूहिक जीवन से प्रभावित होती है। राष्ट्रवाद का विचार, आधुनिक संचार-साधन, ऐतिहासिक परम्पराएँ तथा अन्य वैज्ञानिक तत्त्व भी इसमे सहयोग प्रदान करते हैं। प्रजातन्त्रीय समाजों में ये तत्त्व सरकार को अधिक प्रभावित कर विदेश-नीति के सम्बन्ध मे उसकी स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं।

जो राज्य अपने पडोसियों की ओर से सुरक्षित अनुभव करते है, वे प्रायः अपने मतभेदों को शान्तिपूर्ण साधनो से सुलझा लेते हैं, किन्तु जब किसी राज्य के हितो को चुनौती दी जाती है और चुनौती देने वाले राज्य के साथ उसके सहयोग का कोई इतिहास या परम्परा नही होती, तो उनके मतभेदो को मिटाना बडा कठिन बन जाता है। कनाडा और सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो की एक लम्बी परम्परा है और इसलिए उनको पारस्परिक प्रबन्ध करने मे पर्याप्त सुविधा रहती है। दूसरी ओर रूस और टर्की के बीच यद्यपि औपचारिक सम्बन्ध है, तथापि टर्की के दर्रे पर नियन्त्रण के लिए प्रतियोगिता के इतिहास ने टर्की को रूसी उद्देश्यो के प्रति सन्देहशील बना दिया है। इसलिए वह अपनी सुरक्षा के प्रति जागरूक है तथा उसने नाटो की सदस्यता स्वीकार की है। भारत और पाकिस्तान के बीच सहयोग की सम्भावनाएं कश्मीर विवाद के कारण असम्भव बन गई हैं।

नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(Morality and International Politics)

नैतिक एवं कानूनी व्यवस्थाएँ मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार को नियमित करती हैं। ये प्रत्येक व्यक्ति पर दूसरे के अधिकारो का आदर करने का कर्त्तव्य डालकर सभी को स्वतन्त्रता मे वृद्धि करती हैं। यदि नैतिक मापदण्ड पूरी तरह से प्रभावशाली रहे तो कानून अनावश्यक बन जाएँगे। नैतिक आचार-संहिता सदैव ही कानूनी व्यवस्था को प्रभावित करती है। केवल तानाशाह ही मात्र कानून द्वारा प्रशासन कर सकता है। हम समाज उसी को कहते हैं जो अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध मे एकमत होता है तथा दूसरे के अधिकारों का आदर करता है। जो समाज सामान्य मापदण्ड नही रखता उसमे नैतिक दृष्टिकोणों पर थोडा ही समझौता रहता है। एक सच्चा समाज वह है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य प्रायः समान होते हैं, कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का स्वामी या सेवक नहीं होता। आज हम जब 'अन्तर्राष्ट्रीय समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह वास्तविकता की अपेक्षा एक वांछनीय आशा मात्र प्रतीत होता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इसमे इकाइयों की समानता का तत्त्व नही पाया जाता। अन्तर्राष्ट्रीय समाज (International Community) जैसी कोई चीज न होने की वजह से ही यह कहा जाता है कि एक राज्य के अधिकारी को दूसरे राज्यो के साथ व्यवहार मे नैतिक नियमो के अनुसार चलना चाहिए।

नैतिकता की परिभाषा करना बडा कठिन है। नैतिकता की न तो कोई सर्वमान्य परिभाषा है और न ही इसका कोई सर्वमान्य व्यवहार है। व्यवहार के नैतिक मापदण्ड प्रत्येक सस्कृति एवं सभ्यता मे भिन्न-भिन्न होते हैं। एक देश की

सभ्यता तथा संस्कृति मे जो मापदण्ड तथा मूल्य प्रचलित हैं उनको दूसरे देश पर लागू नही किया जा सकता। संयुक्तराज्य अमेरिका मे जिस चीज को आदर्श माना जाता है, यह जरूरी नही है कि अफ्रीका और एशिया के देशो मे भी उसे आदर्श माना जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे नैतिकता का वही अर्थ नही होता जो व्यक्तिगत *सम्बन्धो मे हुआ करता है। एक देश के नेता जब विदेश-नीति के सम्बन्ध मे निर्णय* लेते हैं तो वे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्डो से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक देश अपनी विदेश-नीति के लक्ष्यो को नैतिक तथा मानवीय सिद्ध करने का प्रयास करना है। प्राय. सही आचरण को नैतिकता कहा जाता है, किन्तु सही आचरण वास्तव मे क्या है, यह जानना बड़ा कठिन है। एक स्थिति मे जो आचरण एक व्यक्ति विशेष की दृष्टि से सही है, वही आचरण अन्य स्थिति मे उनके लिए अथवा उसी स्थिति मे अन्य व्यक्ति के लिए अनैतिक हो सकता है। नैतिकता के सम्बन्ध मे अनेक विचार हैं। इनमे से मुख्य दो ये हैं—

1. कुछ लेखक यह मानते हैं कि एक सार्वभौमिक नैतिक मापदण्ड होता है और वही कार्य नैतिक कहा जा सकता है जो उसके अनुरूप हो। नैतिकता का मापदण्ड केवल एक ही होता है, अनेक नही। व्यक्ति यह जान सकता है कि नैतिक मापदण्ड उससे किस प्रकार के व्यवहार की आशा करता है। यह नैतिक मापदण्ड सभी व्यक्तियो पर समान रूप से लागू होता है चाहे वे कुछ भी कार्य करते हो। इसके विरुद्ध किया गया आचरण अनैतिक है। इस पर समय तथा स्थान का कोई प्रभाव नही पड़ता। यदि हत्या करना पाप है, तो वह प्रत्येक परिस्थिति मे पाप ही होगा।

2. नैतिकता के इस अर्थ की पर्याप्त आलोचना की जाती है। इसे आदर्शवादी *तथा अव्यावहारिक बताया जाता है। कुछ लेखको का कहना है कि नैतिकता का* केवल एक ही मापदण्ड नही होता। इतिहास एव अनुभव के आधार पर इसमे परिवर्तन आते रहते हैं। एक व्यक्ति के लिए शत्रु को मार कर खा जाना एक अनैतिक कार्य है, किन्तु वह यह सिद्ध नही कर सकता कि उसके मूल्य उस जगली व्यक्ति के मूल्य से किस प्रकार उच्चतर हैं जो शत्रु तो क्या मित्र को भी मार कर खा जाता है। इन विचारको की मान्यता है कि कार्य एव स्थिति के अनुसार व्यक्ति के नैतिक आचरण का रूप भी परिवर्तित होता रहता है। यदि एक लखपति व्यक्ति चोरी नही करता तो हम उसको एक महान् नैतिक व्यक्ति नही मान सकते। असल मे उसकी नैतिकता उस व्यक्ति से भी नीची है जो अपने बच्चो की भूख मिटाने के लिए चोरी कर लेता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आचार-संहिता जैसी कोई चीज है भी अथवा नही, इस सम्बन्ध मे विचारको मे मतभेद हैं। प्रत्येक देश अपने इतिहास, अनुभव एव परम्पराओ के आधार पर स्वयं के नैतिक मापदण्ड निर्धारित करता है और उसी के अनुसार आचरण *करता है। इस प्रकार आचरण का कोई अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्ड होने की अपेक्षा* प्रत्येक देश की विशेष आचरण-संहिता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक आचरण-संहिता के अस्तित्व से सम्बन्धित समस्या का समाधान अनेक रूपों में किया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कोई नैतिक आचरण की संहिता नही होती। दूसरे लोग कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए भी नैतिक मापदण्ड होता है। किन्तु यह मापदण्ड क्या है, उसके बारे में वे एकमत नहीं। कुछ का कहना है कि यह व्यक्तिगत आचरण-संहिता जैसी ही होती है। अन्य विचारकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के नैतिक मापदण्ड एक विशेष प्रकार के होते हैं।

नैतिक मापदण्ड के अस्तित्व की भाँति इस प्रश्न पर भी विचारकों में पर्याप्त मतभेद हैं—क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार अनैतिक होता है ? जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्ड के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते, उनके मतानुसार यह प्रश्न अप्रासंगिक है। दूसरों के लिए यह प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी है। इस सम्बन्ध में एक सामाजिक धारणा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और कानून का जितना पालन किया जाता है उससे अधिक उसका उल्लंघन किया जाता है।

कुछ विचारक यह मानते हैं कि अधिकांश व्यक्ति प्रायः अपराधी प्रकृति के होते हैं। कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उन नैतिक मापदण्डों का पालन करते हैं जिनका कि वे उपदेश देते हैं। कुछ नैतिक आचरण ऐसे होते हैं जिनको व्यक्ति सामान्य परिस्थितियों में अपना लेता है, किन्तु असाधारण परिस्थितियों में वह उनका पालन नहीं कर सकता और इस उल्लंघन को विवेकपूर्ण एवं न्यायोचित ठहराया जाना चाहिए। एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार आवश्यकता कोई कानून नहीं जानती। कुछ परिस्थितियों में राजनीतिज्ञ आवश्यकता के अनुसार ही व्यवहार करते हैं तथा उन्हें अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध भी निर्णय लेने पड़ते हैं क्योंकि उनके सामने कोई विकल्प नहीं होता।

नैतिकता के इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए अन्य विचारक यह मत व्यक्त करते हैं कि नैतिक आचरण और सुगमता का मेल नहीं है। आवश्यकता और मजबूरी यदि हमको नैतिकता के विरुद्ध कर देती है तो यह हमारी स्वयं की कमजोरी की प्रतीक है। आर्नोल्ड वुल्फर्स (Arnold Wolfers) के कथनानुसार, "यदि एक राजनीतिज्ञ यह निर्णय लेता है कि उसके देश की सुरक्षा के लिए खतरा इतना महान् है कि उसका युद्ध में उलझना आवश्यक हो गया है तो यहाँ वह राष्ट्रीय सुरक्षा को अत्यधिक मूल्य प्रदान कर रहा है।' कहने का अर्थ यह है कि कई बार मूल्यों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और उस समय प्राथमिकता के आधार पर वह चुनना होता है कि किस मूल्य को महत्त्व दिया जाए। कुछ मूल्यों की साधना में रहने पर युद्ध आवश्यक हो सकता है किन्तु तब निर्णायक को यह तय करना होगा कि क्या वे मूल्य इतने उच्च हैं कि उनके लिए अन्य मूल्यों को बलिदान किया जा सकता है। इस प्रकार आवश्यकता एवं मजबूरी का नाम लेना तो केवल बहाना मात्र है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई भी कार्य पूर्ण शुभ या अशुभ नहीं होता, वरन् प्रत्येक कार्यों में अच्छाई व बुराई दोनों तत्त्व पाए जाते हैं और तब यह तय करना कि कम बुराई क्या है उसी को अपनाया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नैतिकता का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। अधिकांश व्यक्ति आत्मरक्षा के लिए दूसरो की हत्या कर देना उचित मानते हैं। उनके मतानुसार न्यायपूर्ण युद्धो मे जो हत्याएँ होती हैं वे उचित तथा नैतिक हैं। एक देश जिस समय युद्ध कर रहा होता है उस समय उसका कोई भी नागरिक यह मानने को तैयार नही होता कि उसका देश अन्यायपूर्ण युद्ध मे सलग्न है। प्राय सभी व्यक्ति इस बात मे विश्वास करते हैं कि अपराधी को उसके दुष्कर्मों के लिए दण्ड दिया जाना चाहिए और गम्भीर अपराध के लिए व्यक्ति की जान भी ले ली जाए तो बुरा नही है। यह कार्य भी न्यायपूर्ण एवं नैतिक ही माना जाएगा, किन्तु यह व्यवहार इन कथनो के विपरीत पडता है कि 'अपने शत्रु को प्यार करो', 'बुराई का बदला बुराई से न दो', आदि। नैतिकता के समर्थकों का कहना तो यह है कि "भला करने वाले भलाई किए जा, बुराई के बदले दुआएँ दिए जा।" नैतिकता का यह रूप आदर्श है, किन्तु केवल व्यक्तिगत जीवन मे ही इसे व्यवहार मे लाया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नैतिकता को राष्ट्रीय हित से ऊपर नही रखा जा सकता। यहाँ विदेश-नीति के निर्णायको के हाथ मे असख्य लोगो का जीवन होता है और अपने व्यक्तिगत मूल्यो की खातिर उन्हे इसकी बाजी लगाने का कोई अधिकार नही है। कभी-कभी अन्याय का विरोध करने के लिए हिंसात्मक साधनो को अपनाना जरूरी हो जाता है। जो लोग यथास्थिति से सन्तुष्ट हैं वे यह कहते हैं कि यथास्थिति को बदलना और इसके लिए शक्ति का प्रयोग करना अन्याय है, किन्तु यही लोग उस यथास्थिति को कायम रखने के लिए शक्ति के प्रयोग को न्यायोचित मानते हैं।

निहित दबाव के कारण विभिन्न देश अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता मानने के लिए बाध्य होते हैं। आन्तरिक दबावो मे निर्णायको की स्वय की अन्तरात्मा एव देशी लोकमत की गणना की जा सकती है। वैसे लोगो की प्राय: यह प्रवृत्ति रहती है कि वे अपनी सरकार की अपेक्षा दूसरे देशो की सरकार को भला-बुरा कहते हैं, किन्तु उनके स्वयं के देश की सरकार भी उनकी आलोचना से बच नही पाती। संयुक्तराज्य अमेरिका मे वियतनाम युद्ध एव बमबारी के विरुद्ध जो प्रदर्शन हुए तथा जुलूस निकाले गए वे इसी बात के प्रमाण हैं। यह कहा जाता है कि सन् 1961 मे क्यूबा के विरुद्ध अमेरिकी शक्ति के प्रयोग करने पर देश मे भारी विरोध होने की आशका थी और इसीलिए वह प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त नहीं की गई।

जनमत की आलोचना एव विरोध का भय होने के कारण ही आज के देश केवल सुरक्षात्मक एवं न्यायपूर्ण युद्ध ही लडना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक कारणो से आज विश्व के अधिकांश देश स्थायी विश्व-व्यवस्था चाहते हैं। ऐसी स्थिति मे वे अपने दीर्घकालीन लक्ष्य को ध्यान मे रखकर कुछ छोटी-मोटी इच्छाओ की अभिव्यक्ति की उपेक्षा कर सकते हैं।

विदेश-नीति के निर्णायको पर विश्व जनमत का प्रभाव भी उल्लेखनीय रूप से पडता है। यही कारण है कि प्रत्येक देश संसार के सामने अपना सर्वश्रेष्ठ स्वरूप रखना चाहता है। साथ ही वह अपने प्रत्येक कार्य को न्यायोचित ठहराने के लिए

प्रचार-साधनों का आश्रय लेता है। जिन लोगों का यह विश्वास है कि केवल शक्ति ही सब कुछ होती है, वे भी इस तथ्य को अप्राट रखते है। प्रत्येक राज्य की सामर्थ्य उसकी शक्ति एवं सहमति (Consent) पर निर्भर करती है। उसे जितनी अधिक सहमति प्राप्त होती है उसे शक्ति की उतनी ही कम जरूरत होती है।

मनोबल
(The Morale)

अंग्रेजी शब्द Morale का हिन्दी रूपान्तर मानसिक या नैतिक अवस्था के रूप में किया जाता है। व्यवहार में इसको 'मनोबल' शब्द द्वारा भी व्यक्त किया जाता है जो अन्य शब्दों में अधिक उपयुक्त है।

मनोबल का अर्थ
(Meaning of the term Morale)

मनोबल की परिभाषा देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसिद्ध विचारक मॉर्गेन्थो ने बताया था कि राष्ट्रीय मनोबल निश्चय (Determination) का वह अनुपात (Degree) है जिसके अनुसार एक राष्ट्र शान्ति एवं युद्ध के समय अपनी सरकार की विदेश-नीति का समर्थन करता है। मनोबल में राष्ट्र की सारी क्रियाएँ—औद्योगिक व कृषि-उत्पादन तथा सैनिक तैयारियाँ व कूटनीतिक सेवाएँ समाहित होती हैं। लोकमत के रूप में राष्ट्रीय मनोबल सरकार की विदेश-नीति को इतना प्रभावित करता है कि कभी-कभी तो यदि दोनों के बीच मतभेद पैदा हो जाय तो सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है अथवा सरकार को अपनी नीति लोकमत के अनुकूल परिवर्तित करनी पड़ती है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में मनोबल या लोकमत का प्रभाव स्पष्ट एवं वास्तविक रूप से उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करता है जबकि तानाशाही या राजतन्त्रात्मक राज्यों में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन राज्यों में मनोबल या लोकमत का कोई महत्त्व नहीं होता। हिटलर की विदेश-नीति को जर्मनी की जनता के 90 प्रतिशत से भी अधिक का समर्थन प्राप्त था।

यह कहा जाता है कि युद्ध केवल सेनाओं को रणक्षेत्र में भेजने से नहीं जीते जा सकते। जब तक जनता का पूरा सहयोग एवं हार्दिक सद्भावनाएँ अपने वीर सिपाहियों का उत्साह-वर्धन न करेंगी, तब तक वे अपनी पूरी शक्ति से नहीं लड़ सकते। वे अपनी कुर्बानी को मातृभूमि की सेवा में बलिदान न मानकर आत्म-हत्या समझने लगेंगे। इस प्रकार जनता का मनोबल किसी भी युद्ध की सक्रियता, उत्साह एवं सफलता के लिए एक आवश्यक तत्त्व होता है।

मनोबल कभी-कभी युद्ध के प्रतिरोध (Deterrent) के रूप में भी काम करता है अर्थात् जिस देश के लोगों में एकता होती है तथा वहाँ की सरकार की नीतियों के पीछे जनता का बल रहता है उस देश पर कोई भी शत्रु-देश आक्रमण करने का साहस नहीं कर पाता; यदि करता भी है तो सोच समझ कर। इस प्रसंग में

भारत पर किए गए पाक आक्रमण के कारणो पर यदि गौर किया जाए तो विदित होगा कि पाकिस्तान ने जो दुस्साहस किया उसके प्रमुख कारणो मे एक यह भी था कि उसने भारत मे विद्यमान अनेक समस्याओ एवं भेदभावो से गलत अनुमान लगा लिया कि यहां का मनोबल ऊँचा नही है तथा सरकार की नीतियो को जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त होना असम्भव है। ऐसी स्थिति मे असगठित भारत शीघ्र ही उसके कदमो पर आ गिरेगा, किन्तु भारतवासियो ने सकट के समय जो अद्वितीय एकता दिखाई वह आश्चर्यजनक थी। सभी विरोधी दलो ने सरकार की नीतियों को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। सकट का मुकाबला करने के लिए सभी मतभेदो को भुला दिया गया। समय-समय पर सरकारी प्रवक्ताओ एव विदेशी पत्रो ने यह स्वीकार किया कि भारत का मनोबल बहुत ऊँचा है। इस दृष्टि से गृह मन्त्री नन्दा तो पाकिस्तानी आक्रमण को एक परीक्षा की घडी कहकर यह मानने लगे थे कि इस सकट को पार कर भारत वैसा ही होगा जैसा कि आग से तपा हुआ सोना, उसमे कुन्दन जैसी ही चमक आ जाएगी।

पामर तथा पर्किस ने मनोबल (Morale) को परिभाषित करते हुए इसे आत्मा का एक तत्त्व माना है जो स्वामिभक्ति, साहस तथा विश्वास से मिलकर बनता है। यह व्यक्तित्व एवं सम्मान की रक्षा की लालसा है, ज्ञात के प्रति 'भावना' है तथा अज्ञात के प्रति भय एवं अरुचि है। यह आत्म-स्वार्थ है। यह आत्म-स्वार्थ इस अर्थ मे है कि एक देश का स्वस्थ मनोबल (Healthy Frame of M nd) उस देश के निवासियो मे 'समात्मभाव' की स्थापना करता है। इसके अस्तित्व मे वह समाज प्रेम, सेवा, बलिदान बन्धुत्व, दाम्पत्य, सख्य, वात्सल्य, भक्ति आदि के भावो से परिपूर्ण हो जाता है। स्थूल जगत् मे इन दो भावो के अनेक परिणाम परिलक्षित होते हैं। जब लोग सबके सुख मे अपना सुख और सबके दु ख मे अपना दु.ख देखने लगते हैं, तो स्वाभाविक रूप से उस देश की विकास-योजनाओ की गति तीव्र हो जाती है। सभी लोग मिल कर सच्चे दिल से परिश्रम करते हैं, राष्ट्रीय हित के आगे वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान कर देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि वह देश आर्थिक स्थिति, औद्योगिक उत्पादन, सैनिक तैयारी अथवा और जिस किसी भी क्षेत्र मे कदम बढाता है, वही सफलता उसके कदम चूमती है।

मनोबल के निर्माण के साधन
(Means for Maintain ng Morale)

किसी भी देश मे मनोबल के निर्माण के समय कौन-कौन से तत्त्व प्रभावकारी होते हैं इस सम्बन्ध मे विद्वानों के भिन्न मत हैं। कुछ विचारकों के मतानुसार मनोबल विकसित होता है; इसका निर्माण नही किया जा सकता। इन विचारकों की मान्यता है कि कोई सरकार या व्यक्ति विशेष यदि किसी भी कारण देश में मनोबल का निर्माण करना चाहे तो वह ऐसा नही कर सकता। पामर तथा पर्किस के मतानुसार इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) कुछ निश्चित तथा अनेक अनिश्चित तत्त्वो का उलझनपूर्ण समन्वय है।

दूसरी ओर विचारकों का एक अन्य समुदाय है जो उक्त मत के सम्बन्ध में दो आपत्तियाँ उठाता है। प्रथम, उनका कहना है कि यदि यह मान लिया जाए कि मनोबल निर्माण का नहीं वरन् विकास का परिणाम है तो भी क्या यह उपयुक्त न रहेगा कि इस विकास पर प्रभाव डालने वाले तत्त्वों की खोज की जाए। दूसरे, प्रायः *यह देखा जाता है कि युद्ध के समय संकट का मुकाबला करने की* दृष्टि से राष्ट्रीय मनोबल एकाएक उठ खड़ा होता है। ऐसी अवस्था मे उसे हम विकास का परिणाम न मान कर एक विशेष परिस्थिति की उपज कहेंगे। चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणों के समय भारत मे जिस *मनोबल का निर्माण हुआ था वह इतना तत्काल* हुआ कि उसे विकसित मानना असंगत प्रतीत होता है।

उक्त बौद्धिक मतभेदो मे अधिक उलझनो की अपेक्षा यह उपयुक्त होगा कि राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) के विकास या निर्माण पर सम्भावित या वास्तविक रूप से प्रभाव डालने वाले तत्त्वो की सक्षिप्त जानकारी की जाए। ये तत्त्व निम्न प्रकार हैं—

1. राष्ट्रीय चरित्र (National Character)—राष्ट्रीय चरित्र का अर्थ उन मूल्यों तथा आदर्शों से है जिन्हें एक देश प्राथमिकता देता है जबकि दूसरे देश उसे नही देते। एक देश लोगो का चरित्र अर्थात् उनका रहन-सहन, विचार, भाषा, आदर्श, धर्म, *संस्कृति आदि* उस देश के *मनोबल* पर बड़ा प्रभाव डालते हैं। एक धर्म-प्रधान राष्ट्र के लोगों मे युद्ध के विरुद्ध मनोबल तैयार करना दुरूह कार्य है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित देश के लोग अन्तर्राष्ट्रीय समाज के पक्ष मे मनोबल का निर्माण नही होने देंगे।

पामर तथा पर्किंस के मत मे राष्ट्रीय चरित्र एक देश के मनोबल (Morale) के *निर्माण मे बहुत कम असर डालता है। वे इतिहास के आधार पर यह सिद्ध करना* चाहते हैं कि समय-समय पर एक ही देश मे दो विरोधी प्रकृति के मनोबल उभरते देखे गए हैं जो इस बात का प्रमाण है कि उस देश के चरित्र की दोनो मे से किसी एक मनोबल के साथ एकरूपता नहीं होगी।

2. संस्कृति (Culture)—सस्कृति एक देश के निवासियो के मानसिक एवं बौद्धिक स्तर को प्रभावित करती है। बदलती हुई सस्कृति के लोगो का सोचने एव अनुभव करने का तरीका भी बदल जाता है। बहुत से विचार एव व्यवहार जिन्हे प्राचीन-संस्कृति आदर्श मानती है, नवीन सस्कृति उन्हे मूर्खतापूर्ण समझती है तथा *नवीन संस्कृति* मे जो आचार-विचार उपयुक्त माने जाते हैं प्राचीन सस्कृति उनको अमानवीय या अमर्यादित घोषित करती है।

कुछ विचारक यह सोचते हैं कि पुरानी सस्कृति से प्रभावित देश के मनोबल की प्रकृति तथा परिणाम उस देश के मनोबल की प्रकृति एव परिणामो से भिन्न प्रकार के होगे जिसमे नवीन सस्कृति का प्रभाव है। किन्तु पामर तथा पर्किंस इस मत को भी नही मानते और इतिहास के आधार पर ही दोनो प्रकार के मनोबलों मे समानता दर्शाते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि सांस्कृतिक अन्तर एक देश के मनोबल को निश्चित करने के तत्त्व नही होते।

3. नेतृत्व (Leadership)—एक राष्ट्र का मनोबल उस देश के महान् पुरुषों के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित होता है। भारत-पाक संघर्ष में आकाशवाणी थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर उन वाक्यों को दोहराती थी जो नेहरू ने कभी संसद में कहे थे। यह प्रयत्न लाभकारी सिद्ध हुआ क्योंकि जब एक भारतवासी को यह याद दिलाया जाता था कि उसके एक स्वर्गीय नेता ने आजादी की रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर करने का आह्वान किया था, तो उसकी नसों का रक्त-प्रवाह उत्तेजित हो जाता था। वह मातृभूमि की रक्षा के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर देने में गौरव का अनुभव करने लगता था। इस प्रकार देश में एक उच्च मनोबल की सृष्टि होती है। पामर तथा पर्किंस ने इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि यदि एक नेता जनता में लोकप्रिय हो चुका है तो उसके विचारों का प्रभाव उस देश के मनोबल पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

राष्ट्रीय मनोबल पर प्रभाव डालने वाले उपर्युक्त तीनों ही तत्त्वों का स्वरूप 'सम्भावित' है अर्थात् ये तत्त्व प्रभाव डाल भी सकते हैं और नहीं भी। इनके अलावा कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो आवश्यक रूप से मनोबल पर प्रभाव डालते हैं। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय दो हैं—सरकार का सक्रिय रूप और अवसर।

4. अच्छी सरकार (A Good Govt.)—एक राष्ट्र में स्वस्थ एवं सुगठित मनोबल का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ की सरकार सक्रिय हो, गुणवान हो, तथा प्रजा की इच्छा एवं लोकमत के प्रभाव से सचालित हो। जिस देश की सरकार जनतान्त्रिक तरीके से सचालित होती है वहाँ जनता की महत्त्वाकांक्षाओं तथा सरकार की नीतियों में एकरूपता पाई जाती है। एक देश के मनोबल का वहाँ की राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि का साधन बनना वहाँ की सरकार के गुणों पर निर्भर करता है। जिन देशों की सरकार अच्छी होती है वहाँ का मनोबल उन देशों की तुलना में ऊँचा होता है जहाँ कि सरकार कमजोर है।

सरकार यदि कमजोर होगी तो उसका कुप्रभाव राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्वों जैसे प्राकृतिक स्रोत, औद्योगिक सामर्थ्य, सैनिक तैयारियाँ आदि पर भी पड़ेगा और वह देश कमजोर हो जाएगा। मॉर्गेन्थो (Morgenthau) महोदय के मतानुसार राष्ट्रीय मनोबल को सुधारने का एकमात्र उपाय यह है कि सरकार के रूप को सुधार दिया जाए।

5. परिस्थिति (Circumstances)—*राष्ट्रीय मनोबल के निर्माणक तत्त्वों* में यह भी एक प्रमुख तत्त्व है जो प्रभावपूर्ण रूप में कार्य करता है। अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ तथा अवसर आ जाते हैं जो राष्ट्रीय मनोबल की सृष्टि का कारण बन जाते हैं। युद्ध में घटने वाली अनेक घटनाएँ राष्ट्र के मनोबल को उत्तेजित करती हैं। सितम्बर, 1965 में जब भारतीय सेनाएँ लगातार युद्ध विराम रेखा के उस पार बढ़ती जा रही थीं, भारतीय जनता में जोश की एक लहर आई हुई थी। प्रत्येक रेडियो के चारों ओर एक मेला-सा लग जाता था तथा प्रत्येक खबर

के साथ जनता की करतल ध्वनि के नीचे रेडियो की आवाज भी दब जाती थी। लोगों में एक अपूर्व उल्लास था। दुश्मन के उखडते हुए पैरों को देखने में वे इतने खो गए कि उन्हे यह भी ध्यान न रहा कि उनकी स्वय की कितनी क्षति हो रही है। राष्ट्र का मनोबल युद्ध की इन विजयों के कारण इतना बढ गया था कि कई ओर से पूरे लाहौर पर अधिकार करने की या पाकिस्तान को दुनिया के नक्शे से हटाने की बातें की जाती थी। सन् 1971 के युद्ध मे तो भारतीय सेना का मनोबल अपूर्व सिद्ध हुआ जबकि पाक फौजो का मनोबल इतना टूट गया कि युद्धो के इतिहास मे एक बहुत बडे आत्म-समर्पण का कलंक पाक सैनिक नेतृत्व को झेलना पडा। मनोबल परिस्थितियो से बहुत प्रभावित होता है। मॉर्गेन्थो ने इसी अर्थ मे कहा था कि यह सब अवसरो पर ही निर्भर करता है।

अवसर राष्ट्रीय मनोबल को गिरा भी सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि लड़ाई मे हार हो जाए, कोई बडा नेता मर जाए, जहाज डूब जाए, कोई मित्र धोखा दे जाए, शत्रु की शक्ति बढ जाए अथवा देश में ही फसल मारी जाए, हडताल हो जाए, बाढ आ जाए, रेल दुर्घटनाएँ हो जाएँ, बीमारी फैल जाए तो देश का मनोबल गिर सकता है। कभी-कभी जीत की खबर भी लोगों के उत्साह एवं प्रयासो को ढीला कर देती है।

राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) को एक देश की रीढ कहा जा सकता है जिसके टूटते ही राष्ट्र का सारा ढाँचा धराशायी हो जाता है। एक देश का गिरा हुआ मनोबल उठाना उतना ही कठिन तथा समय साध्य है जितना टूटी रीढ को पुन: कार्यक्षम बनाने का प्रयास। मॉर्गेन्थो ने राष्ट्रीय मनोबल को राष्ट्रीय शक्ति का एक अभिन्न अग माना है जिसके बिना राष्ट्र की शक्ति एक निर्जीव शक्ति बन कर रह जाएगी। यह केवल आशा बनकर रह जाएगी जिसे कभी भी वास्तविक नही बनाया जा सकता।

नेतृत्व
(The Leadership)

राष्ट्रीय शक्ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्व नेतृत्व है। राज्य चाहे प्रजातन्त्रात्मक हो या राजतन्त्रात्मक, केवल कुछ लोगो द्वारा ही सचालित किया जाता है। स्विट्जरलैण्ड को अपवाद मान लेने के बाद विश्व का कोई भी देश ऐसा नहीं रह जाता है जहाँ की सरकार के कार्य अथवा विदेश-नीति के मामलो मे जनता का हस्तक्षेप हो। देश की बागडोर कुछ नेताओं के हाथो मे होती है। इन नेताओ के गुण एवं महानता पर ही उस देश का भविष्य निर्भर करता है। जितने कुशल नेता होंगे तथा जितना प्रभावकारी उनका नेतृत्व होगा, उतना ही अधिक शक्तिशाली वह देश बन जाएगा।

नेतृत्व के मुख्य रूप से दो कार्य हैं जिनसे वह राष्ट्र की शक्ति को बढाने मे सहायक होता है। प्रथम, नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों के बीच समन्वयकी

स्थापना करता है; दूसरे, राष्ट्र अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर सके इसके लिए भी नेतृत्व का अस्तित्व आवश्यक होता है। मॉर्गेन्थो (Morgenthau) के शब्दों में सैनिक नेतृत्व के गुण का राष्ट्रीय शक्ति पर बड़ा गहरा असर रहता है। उदाहरण के लिए, 18वीं शताब्दी में प्रशा (Prussia) फ्रेडरिक महान् के नेतृत्व में था। उस समय उसकी शक्ति भी बढ़ी-चढ़ी थी, किन्तु उसकी मृत्यु होते ही प्रशा की शक्ति गिर गई और सन् 1806 में नेपोलियन द्वारा उसकी सेना को हरा दिया गया। इसी प्रकार हम *जर्मनी का उदाहरण ले सकते हैं जहाँ बिस्मार्क और हिटलर के* नेतृत्व में इतनी राष्ट्रीय शक्ति संचित हो गई थी कि उसने संसार को चकित कर दिया था। सही तथा प्रभावशाली नेतृत्व होने पर एक देश के भूगोल, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या आदि का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है कि ये सभी तत्त्व उस राष्ट्र को विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र बना सकते हैं। इस प्रकार नेतृत्व का राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्वों से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहता है। नेतृत्व के अभाव में एक देश की सरकार कोई काम नहीं कर सकती, एक विकसित एवं संगठित तकनीक का सदुपयोग नहीं हो सकता; इसके अभाव में मनोबल भी महत्त्वहीन रहता है। नेतृत्व ही वह तत्त्व है जो शक्ति के सम्भावित *कारणों को वास्तविक रूप प्रदान करता है। नेतृत्व दूसरे लोगों के व्यवहार को प्रभावित करता है, किन्तु दूसरे लोगों* के व्यवहार से वह स्वयं अधिक प्रभावित नहीं होता। मैकाइवर और पेज ने नेतृत्व को एक व्यक्ति की ऐसी योग्यता माना था जो उसके पद से सम्बन्धित न होकर उसके स्वयं के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होती है। इस योग्यता के आधार पर ही वह लोगों को प्रोत्साहित व निर्देशित करता है। गिब ने नेतृत्व को केवल व्यक्तिगत गुण न मान कर यह स्वीकार किया है कि उस पर सामाजिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

नेतृत्व के काल तथा स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप बदलते रहते हैं। युद्ध के समय किसी दूसरे प्रकार के नेतृत्व की आवश्यकता रहती है जबकि शान्तिकाल में किसी दूसरे ही प्रकार की।

नेतृत्व की विशेषताएँ (Characteristics of Leadership)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नेतृत्व के स्वरूप, महत्त्व एवं उत्तरदायित्वों के उक्त संक्षिप्त परिचय के बाद यह उचित होगा कि उसकी कुछ सामान्य विशेषताओं को भी समझ लिया जाए जिनके कारण एक नेतृत्व को अधिक से अधिक सक्रिय, सफल एवं प्रभावकारी बनने के अवसर प्राप्त होते हैं। ये विशेषताएँ मुख्यतः निम्न हैं—

1. नेतृत्व एक आन्तरिक एवं व्यक्तिगत गुण होता है; यह दूसरे व्यक्तियों को प्रेरित *करने तथा उनको प्रभावित करने का कार्य करता है।*

2. नेतृत्व एक बहुँमुखी व्यक्तित्व की माँग करता है। राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक पहलू पर निर्देशन एवं मार्गदर्शन की आवश्यकता रहती है। यह मार्गदर्शन किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यक्ति अपूर्ण है तथा उसकी योग्यता एवं ज्ञान की कुछ सीमाएँ भी होती हैं।

3. उक्त कमी को दूर करने के लिए आवश्यक है कि उच्च शिखर पर राजनीतिज्ञों की सहायता के लिए विशेषज्ञ हों और इस प्रकार नेतृत्व किसी व्यक्ति विशेष का एकाधिकार न होकर विशेषज्ञ के सामान्य निर्देशन के अधीन किया जाए।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए पामर तथा पर्किंस ने कहा है कि नेतृत्व एक लचीला पद है, इसका प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जा सकता है किन्तु जिस अर्थ मे यह राष्ट्रीय शक्ति का तत्व है, इसमे अनेक ऐसे व्यक्तियो को सम्मिलित करना चाहिए जिनके नेतृत्व के गुणों पर सैनिक सम्भावनाओं का विकास निर्भर करता है।

शान्तिकाल में नेतृत्व (Leadership in Peace-time)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे नेतृत्व का सर्वव्यापी महत्व है। दो राज्यों के सम्बन्धो को निर्धारित करने वाली इकाइयाँ उन देशों की नेता होती हैं। सामान्य जनता समस्या एव परिस्थिति को न तो भली प्रकार समझ पाती है और न ही वह इतना समय एव योग्यता रखती है कि सरकार के निर्णयो को बदल सके। सरकार की कोई भी नीति यदि प्रजा के हितों पर सीधा आघात करती हो तो बात दूसरी है, वरना देश के नेताओं ने जो नीतियाँ अपना ली हैं, प्रजा उनका समर्थन कर देती है।

नेतृत्व का यह उत्तरदायित्व है कि वह दूसरे देशो के साथ आर्थिक, सैनिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं अन्य ऐसे सम्बन्ध स्थापित करे जिनके द्वारा उसके देश की राष्ट्रीय शक्ति घटने के बजाय बढती चली जाए तथा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्त्व परस्पर सहयोग द्वारा शक्ति के उच्चतम शिखर की ओर अग्रसर हों। यह सब करने के लिए नेतृत्व जिस नीति को अपनाता है वह कूटनीति कहलाती है।

जिस प्रकार राष्ट्रीय मनोबल एक देश की आत्मा होता है इसी प्रकार कूटनीति उस देश का मस्तिष्क होती है। इसके अभाव मे राष्ट्र के पास चाहे कितने ही अन्य साधन क्यो न हो, वह स्थायी रूप से एक शक्तिशाली देश कभी नही बन पाता। कूटनीति (Diplomacy) का मुख्य कार्य, जैसा कि मॉर्गेन्थो भी मानते हैं, यह है कि यह विदेश-नीति के साध्य और साधनो को राष्ट्रीय शक्ति के स्रोतो के साथ एकरूप करती है। कूटनीति के माध्यम से उन सभी रास्तो को खोजा जाता है जिनके द्वारा उस राष्ट्र की शक्ति को बढाया जा सके। कूटनीतिक व्यवहार के लिए एक कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है।

शान्तिकाल मे नेतृत्व का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह कूटनीति के माध्यम से दूसरे राष्ट्रो के साथ सम्बन्धो मे वृद्धि करे, अपने आत्म-सम्मान की रक्षा तथा राष्ट्रीय हितो की पूर्ति का भरसक प्रयास करे।

युद्धकाल में नेतृत्व (Leadership in War-time)

शान्तिकाल मे राष्ट्र की शक्ति कूटनीति मे रहती है जिसका सचालन नेतृत्व द्वारा किया जाता है। कूटनीति जहाँ असफल हो जाती है वही पर युद्ध प्रारम्भ हो जाते हैं। युद्ध कूटनीति की असफलता का परिणाम है और इस प्रकार यह नेतृत्व

की नीतियों की कुछ अंशों मे कमजोरी मानी जाएगी। युद्ध-काल मे नेतृत्व को जो उत्तरदायित्व सम्भालने पडते है वे गुण एव अनुपात दोनो ही दृष्टियों से शान्तिकालीन उत्तरदायित्वो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

पुराने समय मे युद्धकालीन नेतृत्व का स्वरूप आज से भिन्न था क्योकि युद्ध का स्वरूप भी उस समय आज जैसा न था। उदाहरण के लिए हम महाभारत से लेकर सन् 1857 के स्वतन्त्रता सग्राम तक के भारतीय युद्धो को ले सकते हैं। इनमे सेनाएँ आमने-सामने लडती थी, युद्ध की हार-जीत का निर्णय बहुत कुछ योद्धाओं की वीरता शौर्य, कौशल एवं सेनानायक के नेतृत्व की योग्यता पर निर्भर करता था। सेनापति के गुण और शक्ति को उसकी सेना का गुण एवं शक्ति माना जाता था। कुशल सेनापतित्व, मोर्चाबन्दी, घेराबन्दी आदि द्वारा सेना का नेता विजयश्री का वरण कर लेता था। उस समय के युद्ध सीमित थे; केवल सेनाएँ ही लड कर निर्णय कर लेती थी कि कौन शासन करने का अधिकार रखता है।

आज के युद्ध इतने सीमित नहीं वरन् व्यापक प्रकृति के हैं। इसी कारण इनको सर्वांगीण युद्ध (Total War) की सज्ञा प्रदान की जाती है। युद्ध के समय सारा राष्ट्र ही सक्रिय बन जाता है। राज्य के प्रत्येक स्रोत को सरक्षित व विकसित कर उनको काम मे लाने की आवश्यकता पड जाती है। देश के नेता का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह राष्ट्र की समस्त सामर्थ्य को तथा उसकी शक्ति के प्रत्येक पहलू को सगठित एव नियोजित करे। इस प्रकार आज के युद्धो के स्वरूप को देखते हुए नेतृत्व का कार्य केवल यही नही है कि वह रणक्षेत्रो मे जाकर सेना का सचालन करे, अपितु आज उसे रणभूमि से अलग सामान्य नागरिक जीवन मे समस्त देश की शक्तियों को सुसगठित करना होता है।

राज्य चाहे वह प्रजातन्त्रात्मक हो या सर्वाधिकारवादी अथवा राजतन्त्र, राज्य के नेतृत्व की शक्ति कुछ चुने हुए लोगो के हाथो मे ही केन्द्रित रहती है। ये चुने हुए लोग ही यह देखते है कि देश के सारे साधन युद्ध मे देश के पक्ष को शक्तिशाली बनाने मे रत हैं अथवा नही। पामर तथा पर्किंस के मतानुसार आज के युद्धों को सर्वांगीण युद्ध (Total War) इसलिए कहा जाता है क्योकि इसमे सम्पूर्ण स्रोतों की, सम्पूर्ण सगठन की तथा सम्पूर्ण प्रयत्नो की तथा कभी-कभी सरकार की सारी शक्ति की आवश्यकता पड जाती है। राज्य के राजनीतिक नेताओ का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे राज्य की सारी शक्तियो का समन्वय (Co-ordination) करें।

हैंस मॉर्गेन्थो का कथन है कि युद्ध मे सैनिक नेतृत्व मे राष्ट्रीय शक्ति पर सदा से ही निर्णायक प्रभाव डाला है।[1] अठारहवी शताब्दी मे प्रशा की शक्ति वास्तव मे फ्रैड्रिक महान् की सैनिक योग्यता के विलक्षण गुण और युद्ध सम्बन्धी व्यूह-रचना के नए दाव-पेचो की झलक मात्र ही तो थी। फ्रैड्रिक महान् की सन् 1786 मे मृत्यु तथा सन् 1806 की लड़ाई के बीच के काल मे युद्ध-कला मे परिवर्तन हो गए थे जिनके

1 *Hans J. Morgenthau* : op. cit., pp. 116-117.

कारण नेपोलियन ने प्रशा की सेना को ध्वस्त कर दिया जो उस समय भी उतनी ही अच्छी और सबल थी जितनी कि बीस वर्ष पूर्व। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि फ्रेड्रिक महान् के पक्ष में लड़ने वाले सैन्य-संचालकों में अपेक्षित सैनिक प्रतिभा का अभाव था जबकि दूसरी ओर अपूर्व सैनिक प्रतिभा का नेतृत्व था और यह नेतृत्व नई व्यूह-रचना तथा नई चालों का युद्ध में प्रयोग कर रहा था। इस तत्त्व ने अन्त में फ्रांस के पक्ष में युद्ध का निर्णय किया। पुनश्च, जबकि युद्ध-तकनीक के विकास के कारण यातायात और परिवहन के साधनों का प्रचुर प्रयोग हो रहा था तब फ्रांस के सेना-संचालक प्रथम महायुद्ध की 'खन्दक में से लड़ने' की तकनीक सोच रहे थे और उधर दूसरी ओर जर्मन जनरल यन्त्रचालित युद्ध की व्यूहकारी सम्भावनाओं की ओर से पूरी तरह सचेत होकर अपने युद्ध कार्यक्रम को पूर्वापेक्षा कहीं अधिक और अपूर्व गतिशीलता के साथ आयोजित कर रहे थे। इन दोनों दृष्टिकोणों की टकराहट में केवल फ्रांस में ही नहीं बल्कि पोलैण्ड और सोवियत संघ में भी जर्मनी की श्रेष्ठता 'आँधी के झोंके' के रूप में प्रकट हुई जिसने जर्मन शक्ति को लगभग अन्तिम विजय के सन्निकट लाकर खड़ा कर दिया। पोलैण्ड की घुड़सवार सेना पर तथा फ्रांस की स्थिर सेना पर सन् 1934 और 1940 में हिटलर की चक्रव्यूहभेदी सेनाओं के आक्रमणों और गोताखोर बमवर्षकों के सैनिक तथा राजनीतिक विनाश से, जिसके फलस्वरूप पोलैण्ड को बौद्धिक धक्का लगा, सैनिक इतिहास में उसी प्रकार के नए अध्याय का सूत्रपात हुआ जैसा कि सन् 1494 में चार्ल्स अष्टम् के इटली पर आक्रमण के बाद हुआ था। सैनिक नेतृत्व की कुशलता किस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति को उजागर करती है, इसका एक प्रमाण यह है कि द्वितीय महायुद्ध काल में संयुक्तराज्य की उच्च तकनीक और सोवियत संघ की उच्च जनशक्ति ने स्वयं हिटलर के आविष्कारों को अपना कर ही उसका तख्ता पलट दिया और उसका नाश कर दिया। अरब-इजरायल युद्धों में भी इजरायल के सैनिक नेतृत्व ने सदैव अरबों को निराश किया। सन् 1973 के युद्ध में पासा कुछ पलटा, लेकिन प्रारम्भिक कुछ दिनों के बाद सैनिक नेतृत्व और सैनिक-कौशल की दृष्टि से इजरायल हावी हो गया। सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध में यह भारतीय सैनिक नेतृत्व ही था जिसने ढाका की लगभग एक लाख पाकिस्तानी फौजों को मय जनरलों के आत्म-समर्पण के लिए मजबूर कर दिया और भारतीय राष्ट्रीय शक्ति को गौरव प्रदान किया।

स्पष्ट है कि चाहे शान्तिकाल हो या युद्धकाल, चाहे विकास-योजनाओं को क्रियान्वित करना हो या युद्ध-सामग्री का निर्माण करना हो, प्रत्येक देश को प्रत्येक परिस्थिति में 'नेतृत्व' की आवश्यकता पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने के लिए प्रत्येक देश को नेतृत्व के रूप में एक 'श्रवणकुमार' की आवश्यकता होती है। 'नेतृत्व' देश को लेकर राष्ट्रीय शक्ति के अन्य स्रोतों के बल पर आगे बढ़ाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि किसी दशरथ द्वारा जाने या अनजाने एक देश के नेतृत्व की हत्या कर दी जाए तो वह देश शक्तिहीन हो जाएगा, उसके शक्ति के सारे स्रोत बिखर जाएँगे तथा अन्धदम्पत्ति की भाँति वह रो-रोकर अपने आप को विनष्ट कर देगा।

अन्त मे 'नेतृत्व' पर समाप्ति हम स्टीवेन रोजन और वाल्टर जोंस के ओजस्वी शब्दो के साथ करना चाहेगे।

स्टीवेन रोजन एव वाल्टर जोस (Steven Rosen & Walter Jones) ने नेतृत्व को राष्ट्रीय शक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग माना है। उनके कहने का सारांश यह है कि नेतृत्व वह शक्तिशाली तत्त्व है जो राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्वो को सगीत देता है, उद्देश्यो को प्राप्त करने योग्य ढग मे परिभाषित करता है और रणनीनि के मार्ग का निर्धारण करता है।[1] चीन इस बात का जीता-जागता उदाहरण है कि नेतृत्व मात्र मे परिवर्तन के फलस्वरूप एक राष्ट्र की सुप्त शक्तियाँ और क्षमताएँ किस प्रकार गतिमान हो उठती हैं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमच पर एक दुर्बल अभिनेता किस प्रकार एक ऐसी आत्म-निर्भर शक्ति बन जाता है कि विदेशी मामलो पर उसकी आवाज सुनी जाने लगती है। यह नेतृत्व के गुण पर ही निर्भर है कि समाज जनसख्या, भू-क्षेत्र और प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न दो देशों मे से एक तो दुर्बल, कलहग्रस्त और निष्प्रभावी बना रहता है जबकि दूसरा मजबूत, तेजस्वी और गतिमान बन जाता है। वास्तव मे कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी विशेष क्षण मे एक ऐसी असाधारण प्रतिभा का उदय होता है जो सुप्त ऐतिहासिक शक्तियों को जगा देती है, घटनाओ के प्रवाह को बदल देती है, एक शान्त और निस्तेज जल-धारा को वेगवती और प्रबल महानदी का रूप दे देती है। नैपोलियन, बिस्मार्क, हिटलर, डिगॉल, स्टालिन, कास्ट्रो, माओ—ये ऐसी ही करिश्मावादी ऐतिहासिक विभूतियाँ हुई हैं जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के समीकरण को बदल कर अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के मार्ग को परिवर्तित कर दिया है। कौन नही जानता कि जब ब्रिटेन नाजी भूत के आगे निराश और पस्तहिम्मत हो चला था तब विंस्टन चर्चिल के इन शब्दो ने राष्ट्र मे प्राण फूंक दिए थे कि "हम समुद्र तटो पर लड़ेंगे, हवाई क्षेत्रो मे लड़ेंगे, खेतों मे लड़ेंगे और गलियो मे लड़ेंगे। हम पहाड़ो पर लड़ेंगे, लेकिन हम कभी आत्म-समर्पण नही करेंगे।"[2] यह सच है कि नेतृत्व हवा मे शक्ति पैदा नही कर सकता, लेकिन यह राष्ट्रीय रचनात्मक शक्ति से उन स्रोतो को जगा सकता है जिन्हे स्पर्श न किया गया हो या जो सोए पड़े हो।[3] इतिहास साक्षी

1 "The quality of leadership is the most unpredictable component of national power. Leadership orchestrates the other components, defines goals in a realizable manner, and determines the path of strategy."
—*Steven Rosen and Walter Jones* : The Logic of International Relations, 1974, p. 146.

2 "We shall fight on the beaches, we shall fight on the landing grounds, we shall fight in the fields and in the streets, we shall fight in the hills, we will never surrender."
—*Winston Churchill*, Quoted by *Rosen and Jones* : Ibid, p 147.

3 'यदि युद्ध एक बार शुरू हो गया तो हम युद्ध विराम मजूर नहीं करेंगे और विश्व युद्ध छिड़ जाने से भी सकोच नहीं करेंगे। यदि समूचा पाकिस्तान भी नष्ट हो जाए तो कोई बात नहीं, परन्तु हम दुश्मन को अपनी धरती पर पैर नहीं रखने देंगे।"—हिन्दुस्तान, दिनांक 23-3-75

है कि कभी-कभी अकेले एक राजनीतिज्ञ ने निस्तेज प्रवाह को उलट दिया है, एक ऐसा अन्तर पैदा कर दिया है जो राष्ट्र को एक शक्ति के रूप में बदलने वाला हो। क्या यह श्रेय बहुत-कुछ नेतृत्व को नहीं जाता कि जिस भारत की तस्वीर सन् 1962 के चीनी आक्रमण के बाद अन्तर्राष्ट्रीय चित्रपट पर धुँधली हो चली थी आज उसी भारत के लिए एक 'महाशक्ति' की संज्ञा दी जाने लगी है; जो भारत अमेरिकी दोनों का मोहताज था वही भारत राष्ट्रीय अभिमान से सिर ऊँचा उठाए हुए भीषण कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए भी एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उभर रहा है। नेहरू के बाद नेतृत्व की एक झलक क्रमशः लालबहादुर शास्त्री, मोरारजी देसाई एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी में देखने को मिली है जो कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर उभर कर आए, स्वतः स्पष्ट तथ्य है। अयोग्य और निष्प्रभावी नेतृत्व एक शक्तिशाली राष्ट्र को भी गिरा देता है जबकि योग्य और तेजस्वी नेतृत्व एक निर्बल राष्ट्र को सबल राष्ट्र में बदल देता है।

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन
(Evaluation of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति के महत्त्वपूर्ण तत्वों–भूगोल, प्राकृतिक साधन, जनसंख्या, प्राविधिक ज्ञान, विचारधारा, मनोबल, नेतृत्व आदि का विवेचन किया जा चुका है। ये सभी तत्त्व परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और मिलकर राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि करते हैं। यह अलग बात है कि किसी एक अथवा दो तत्त्वों का अन्य तत्त्वों के मुकाबले अधिक योग हो। स्टीवेन रोजन एवं वाल्टर जोन्स (Steven Rosen and Walter Jones) ने लिखा है कि "सभी तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि औद्योगिक क्षमता एक असाधारण आर्थिक चल (Economic Variable) है और नेतृत्व का गुण सबमें प्रमुख राजनीतिक तत्त्व (Political Factor) है।"[2] लेखक द्वय ने आगे लिखा है कि प्रत्येक राज्य में कुछ न कुछ ऐसी क्षमता (Capacity) होती है जिसके प्रभाव से वह इस विश्व के रंगमंच पर प्रभाव डालता है और नेतृत्व उन सीमाओं तथा उद्देश्यों का निर्धारण करता है जिनके लिए इस क्षमता (Capacity) का प्रयोग किया जाना है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि एक राष्ट्र को शक्तिशाली बनना है तो उसे औद्योगिक क्षमता और योग्य नेतृत्व से सम्पन्न होना पड़ेगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्वों के संरक्षण, सम्वर्द्धन और विकास की उपेक्षा कर देगा। सभी तत्त्वों का सन्तुलित समन्वय न केवल उपयोगी है बल्कि राष्ट्रीय शक्ति की प्रभावोत्पादकता के लिए आवश्यक है। अल्पविकसित और विकसित राष्ट्रों की परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ अलग-अलग हैं। उनके अनुसार ही राष्ट्र विशेष को शक्ति-तत्त्वों की प्राथमिकता निर्धारित करनी होगी। उदाहरणार्थ, एक अल्पविकसित राष्ट्र केवल औद्योगिक

1 *Steven Rosen and Walter Jones* : op. cit., 1974, p. 147.

क्षमता के विकास मे जुट जाता है और अन्य आर्थिक कारकों की उपेक्षा कर देता है तो असन्तुलित अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्वो पर विपरीत प्रभाव डालेगी। इसी तरह युद्ध अथवा सैनिक क्षमता के विकास की जगह आर्थिक क्षमताओं के विकास को प्राथमिकता देना अल्पविकसित राष्ट्र के लिए अधिक आवश्यक है।

शक्ति का प्रयोग (Exercise of Power) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे अनेक रूप धारण करता है। उदाहरण के लिए, आर्थिक पारितोषिक और दण्ड के माध्यम से दूसरे देशो पर प्रभाव डाला जाता है, विभिन्न उपायो से (जैसे विद्यार्थियो के आदान-प्रदान से, प्रकाशित सामग्री से) सांस्कृतिक प्रभाव का विस्तार किया जाता है, प्रत्यक्ष प्रचार-प्रयत्नो द्वारा (जैसे वायस ऑफ अमेरिका प्रोग्राम द्वारा) दूसरे देशों मे जनमत को प्रभावित किया जाता है, और इसी तरह शस्त्रास्त्रो की अन्तर्राष्ट्रीय बिक्री द्वारा दूसरे राष्ट्रो पर प्रभाव डाला जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका किसी राष्ट्र को शस्त्रास्त्र-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर तो किसी राष्ट्र को भारी मात्रा मे हथियार बेचकर या उपहार मे देकर अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए दबावकारी नीति अपनाता रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और सन्धि-गुटो के भीतर भी सौदेबाजी तथा लाबिइग के रूप मे शक्ति-प्रसार के प्रयत्न किए जाते रहे हैं। इस प्रकार विभिन्न साधनों द्वारा प्रभाव का विस्तार किया जाता है, कभी-कभी सैनिक बल-प्रयोग द्वारा भी। वस्तुत., सैनिक शक्ति का प्रयोग आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। अरब राज्य कूटनीतिक दबाव, प्रचार, आर्थिक प्रबन्धो आदि के माध्यम से इजरायल के साथ अपनी सीमाओ मे सशोधन का प्रयत्न कर सकते हैं लेकिन प्रादेशिक सघर्षो मे बहुधा युद्ध ही अन्तिम साधन (The ultimate means) माना जाता है।

राष्ट्रीय शक्ति एक 'समग्र वस्तु' है जिसके निर्माण मे सभी तत्त्व एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए अपना योग देते हैं। जब कभी शक्ति की दृष्टि से हम एक राष्ट्र का स्तर मापें तो यह अपेक्षित है कि हम अग्रांकित महत्त्वपूर्ण बातो को अवश्य ध्यान मे रखें—

1. समन्वयात्मकता—राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्त्वो के बीच अन्धे और लगड़े का सा सम्बन्ध है अर्थात् यदि ये तत्त्व परस्पर मिलकर समन्वित रूप से कार्य करते हैं तो अवश्य ही एक राष्ट्र की शक्ति मे अभिवृद्धि होती है। पर यदि ये अलग-अलग रहें, हर तत्त्व अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकायें तो न केवल इनसे राष्ट्र कमजोर होगा बल्कि इनका महत्त्व भी खो जाएगा। पामर एव पर्किस ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'इंटरनेशनल रिलेशस' मे राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्त्वों पर एक-एक करके विचार किया है और बताने का प्रयत्न किया है कि परस्पर सम्बन्धित न रहने पर वे नष्ट हो जाएँगे अथवा प्रभावहीन रहेंगे।

2. सापेक्षता—शक्ति अपने आप मे पूर्ण नही होती और किसी भी राष्ट्र की शक्ति का मूल्यांकन सापेक्ष (Relative) होना चाहिए। जब कभी हम एक राष्ट्र को शक्तिशाली कहते हैं तो हमारे मस्तिष्क मे दूसरे ऐसे राष्ट्रो का चित्र होना है जिन्हें

हम उस राष्ट्र की तुलना में कमजोर मानते हैं। पामर एवं पर्किंस ने इस तर्क को बड़े रोचक और युक्तिपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है कि एक लखपति व्यक्ति करोड़पतियों के समूह में धनवान नहीं कहा जाएगा, एक चालीस वर्षीय व्यक्ति दस वर्ष के बालक की तुलना में वृद्ध माना जाएगा, लेकिन अस्सी वर्षीय व्यक्ति के समक्ष वह युवक समझा जाएगा। पचास डिवीजन सेना, तीन सौ युद्धपोत और दो हजार बमवर्षकों वाला राष्ट्र शक्तिशाली लग सकता है, लेकिन जो राष्ट्र इससे भी अधिक सैनिक शक्ति और साधनों से सम्पन्न है उसके समक्ष वह शक्तिशाली नहीं माना जाएगा।[1] अभिप्राय यह है कि राष्ट्र की शक्ति का मूल्यांकन करने के लिए तुलनात्मक रूप में दूसरे राष्ट्रों की शक्ति को भी कसौटी पर कसना पड़ेगा।

3 परिवर्तनशीलता—राष्ट्रीय शक्ति एक गतिशील वस्तु है और उसके विभिन्न तत्त्वों की स्थिति समयानुसार बदलती रहती है। यदि कल कोई देश सर्वोच्च शक्ति था तो आवश्यक नहीं है कि आज या आने वाले समय में भी वह अपनी उसी स्थिति को बनाए रख सकेगा। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के परिणाम राष्ट्रीय शक्ति के उत्थान और पतन, राष्ट्रों के प्रभुत्व में कमी और अभिवृद्धि के जीते-जागते प्रमाण हैं। वास्तव में प्रत्येक देश का भविष्य बहुत कुछ इन तीन विकल्पों पर आधारित होता है—(क) देश की शक्ति इतनी ही बनी रहेगी, (ख) देश की शक्ति का ह्रास हो जाएगा, एवं (ग) देश की शक्ति में वृद्धि हो जाएगी। राष्ट्रों की शक्ति-स्थिति में इस परिवर्तन के सम्भावित कारणों को व्यक्त करते हुए पामर एवं पर्किंस ने लिखा है—"एक राज्य की सेनाओं के आकार में वृद्धि अथवा कटौती हो सकती है, उसका मनोबल गिर अथवा उठ सकता है, नेतृत्व बदल सकता है, कच्चे माल का अभाव या बाहुल्य हो सकता है, प्राविधिक प्रक्रिया में सुधार आ सकता है, युद्ध में प्रयुक्त होने वाले नवीन हथियारों का आविष्कार हो सकता है, महामारी बाढ़ और भूचाल से उत्पादन में गिरावट आ सकती है और श्रमिकों का नाश हो सकता है तथा मनोबल गिर या टूट सकता है, सन्धियाँ की और तोड़ी जा सकती हैं—ये सभी अवस्थाएँ राष्ट्रीय शक्ति के एक अथवा अनेक तत्त्वों को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं और इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की शक्ति-स्थिति में परिवर्तन का कारण बन सकती हैं।"

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह अपेक्षित है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति के विषय में कोई निर्णय लेते समय हम रचनात्मक कल्पना को काम में लें, इतिहास की परिवर्तनशील घटनाओं को ध्यान में रखें, इतिहास द्वारा परिवर्तित परिस्थितियों के साथ समायोजन के लिए तैयार रहें और वर्तमान में जो हो रहा है तथा भविष्य में जो हो सकता है इनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रस्तुत रहें। भविष्य को सुनिश्चित की अपेक्षा सम्भावित मानकर आगे बढ़ें।

मॉर्गेन्थो के विचार

मॉर्गेन्थो ने एक राष्ट्र द्वारा अपनी शक्ति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में तीन विशेष भूलों (Typical Errors) की ओर संकेत किया है—

1 *Palmer and Perkins :* op. cit., p. 90.

प्रथम भूल वह है जब एक राष्ट्र स्वयं एल निरंकुश शक्ति बन बैठता है और दूसरी शक्तियो के सापेक्ष महत्त्व की अवहेलना करता है।

दूसरी भूल यह है जब कोई राष्ट्र अतीतकाल मे निश्चित रूप से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले अपने किसी एक शक्ति-तत्त्व को ही स्थायी मान बैठती है और उस परिवर्तन की उपेक्षा करता है जो अधिकाँश शक्ति-तत्त्वो को शासित करता है।

तीसरी भूल तब होती है जब कोई राष्ट्र अपने किसी एक ही शक्ति-तत्त्व को निर्णायक महत्त्व देता है और अन्य शक्ति-तत्त्वो की परवाह नही करता।

दूसरे शब्दो मे मॉर्गेन्थो के अनुसार, "प्रथम भूल एक राष्ट्र की शक्तियो का अन्य राष्ट्रो की शक्तियो के साथ सामञ्जस्य स्थापित न करने मे निहित है, दूसरी भूल एक समय की वास्तविक शक्ति का भविष्य की सम्भाव्य शक्ति से सामञ्जस्य स्थापित न करने मे और तीसरी भूल एक ही राष्ट्र के एक शक्ति-तत्त्व का उसी राष्ट्र के अन्य तत्त्वो के साथ सामञ्जस्य स्थापित न करने मे निहित है।"

मॉर्गेन्थो ने एक तत्त्व को प्रधानता देकर और उसी के आधार पर किसी राष्ट्र की शक्ति का मूल्यांकन करने की आधुनिक प्रवृत्ति की जोरदार आलोचना की है। उनका निश्चित मत है कि एक तत्त्व के आधार पर किसी राष्ट्र को शक्ति के सम्बन्ध मे निकाले गए निष्कर्ष केवल आंशिक रूप से ही सत्य हो सकते हैं। अपने तर्क के समर्थन मे उन्होंने भू-राजनीति, राष्ट्रवाद तथा सैनिकवाद नामक तीन विचारधाराओ के उदाहरण प्रस्तुत किए है जो केवल एक ही तत्त्व को प्रधान मान कर आगे बढती है—भू-राजनीति (Geo-pol tics) की विचारधारा के समर्थक मेकाइडर का कहना था कि पूर्वी यूरोप पर शासन करने वाली शक्ति को यूरोप और एशिया पर नियन्त्रण स्वाभाविक है और यूरोप तथा एशिया पर नियन्त्रण रखने वाला विश्व का स्वामी बन जाएगा। राष्ट्रवाद (Nationalism) की विचारधारा जाति, रक्त, धर्म आदि पर आधारित एकता को प्रधान मानकर चलती है और सैनिकवादी (M litar sm) विचारधारा यह मानकर चलती है कि जिस देश के पास जल, थल तथा वायु सेना की सख्या अधिक है, वही देश शक्तिशाली होगा। ये तीनो ही विचारधाराएँ एक पक्षीय हैं जो हमे पूर्ण सत्य से ओझल रखती हैं। अत: अत्यावश्यक है कि किसी एक तथ्य के आधार पर राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन न किया जाए।

मुख्य शक्तियाँ—सैनिक दृष्टि से, जनसंख्या की दृष्टि से और कुल राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से (Major Powers—From Military, Population and G. N. P. Point of View)

यदि भिन्न-भिन्न तत्त्वो की दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों को प्रमुखता दें तो हम कुछ इस प्रकार का वर्गीकरण कर सकते हैं जैसे प्रमुख सैनिक शक्तियाँ, जनसंख्या के आकार की दृष्टि से बड़े देश, कुल राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से प्रमुख शक्तियाँ, आदि। स्टीवेन रोजन एव वाल्टर जोन्स ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वो के विवेचन मे सैन्य-बल, जनसंख्या, एव कुल राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से विश्व की प्रमुख शक्तियो (प्रमुख राष्ट्रों) का उल्लेख किया है। यद्यपि जो सूचियाँ दी गई हैं वे सन् 1968 के वर्ष से सम्बन्धित हैं, लेकिन हमारे सामने महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक आधार प्रस्तुत करती

हैं और सूचीबद्ध राष्ट्रों की स्थिति में अभी तक ऐसा कोई विशेष परिवर्तन भी नहीं आया है कि जो राष्ट्र सैनिक दृष्टि से *1968* में नम्बर *3* या *4* था वह *1975* में नम्बर 1 या 2 बन गया हो या जो राष्ट्र जनसंख्या की दृष्टि से 1968 में नम्बर 3, 4 या 5 पर हो वह नम्बर 1 या 2 पर आ गया हो। रोजन एवं जोन्स द्वारा प्रस्तुत सूचियाँ इस प्रकार हैं[1]—

I दस प्रमुख सैनिक शक्तियाँ, 1968

(Ten Major Military Powers, 1968)

देश	सैनिक व्यय (Billion Dollars)	सशस्त्र सेनाएं (Million Men)	सैनिक व्यय प्रति व्यक्ति (Dollars)
1. संयुक्तराज्य अमेरिका	81	3 5	23,000
2. सोवियत संघ	55	3·5	15,900
3. चीन	8	3·1	2,400
4. फ्रांस	6	0·5	12,100
5 यूनाइटेड किंगडम	6	0 4	13,000
6 पश्चिम जर्मनी	5	0·5	10.900
7 इटली		0 4	5,100
8. पोलैण्ड	2	0·3	6,100
9. कनाडा	2	0 1	17,500
10. भारत	2	1·1	1,400

II राष्ट्रीय क्रम 1968 में

(National Ranking in 1968)

जनसंख्या की दृष्टि से (By Population) देश	मिलियन	कुल राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से (By GNP) देश	डॉलर बिलियन
1. चीन	800	1. संयुक्तराज्य अमेरिका	866
2 भारत	527	2. सोवियत संघ	413
3. सोवियत संघ	238	3. जापान	142
4. संयुक्तराज्य अमेरिका	201	4. पश्चिमी जर्मनी	133
5. पाकिस्तान	123	5. फ्रांस	127
6 इण्डोनेशिया	114	6. यूनाइटेड किंगडम	103
7. जापान	101	7. चीन	90
8. ब्राजील	*80*	*8. इटली*	*75*
9. पश्चिमी जर्मनी	60	9. भारत	43
10 यूनाइटेड किंगडम	55	10 ब्राजील	28
11. नाइजीरिया	54	11. पाकिस्तान	15
12. इटली	53	12. इण्डोनेशिया	11
13 फ्रांस	50	13. नाइजीरिया	6

1 *Steven Rosen and Walter Jones* : op. cit., pp. 144-145.

8 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन : कूटनीति, प्रचार और राजनीतिक युद्ध

(Instruments for the Promotion of National Interest : Diplomacy, Propaganda and Political Warfare)

"अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के सभी साधनों और तकनीकों का मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों, शान्ति एवं युद्ध दोनों ही कालों में प्रयोग किया जा सकता है, तथापि इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ की प्रकृति अधिकतर समझाने-बुझाने की है तो दूसरों की दबावकारी।" —फ्रेंकेल

यह बताया जा चुका है कि राष्ट्रीय हित और संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं और दोनों के बीच सम्बन्धों की महत्ता इस तथ्य से प्रकट होती है कि एक राष्ट्र का हित सदैव दूसरे राष्ट्रों के हित से मेल नहीं खाता और इसलिए राष्ट्रों के बीच परस्पर संघर्ष (Conflict) की स्थिति बनी रहती है। इस प्रकार संघर्ष का स्रोत राष्ट्रीय हितों के मेल न खाने में है और चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् से यह स्थिति अर्थात् राष्ट्रीय हितों में मेल न होने की स्थिति कभी समाप्त नहीं हो सकती, अतः स्वाभाविक है कि संघर्ष का तत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर प्रभावशाली बना रहेगा। संघर्ष एवं प्रतियोगिता की स्थिति मुख्यत: इसीलिए कायम रहती है कि प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है और उसके ये प्रयास दूसरे राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के प्रयासों से टकराते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास बतलाता है कि अपने राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए राज्य प्रायः अनेक साधन अपनाते हैं। अपनी सामर्थ्य और योग्यता *तथा अवसर की अनुकूलता, आदि के आधार पर प्रत्येक राज्य यह तय करता है कि* उसे इस साधन को किस राज्य के साथ कब अपनाना चाहिए। राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए अपनाए जाने वाले साधनों में प्रमुख ये हैं—

(1) कूटनीति (Diplomacy),

(2) प्रचार एवं राजनीतिक युद्ध (Propaganda and Political Warfare),
(3) राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन (Economic Instruments for National Policy),
(4) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (Imperialism & Colonialism),
(5) राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध (War as an Instrument for National Policy)।

प्रस्तुत अध्याय में प्रथम दो साधनों का और अगले अध्यायों में शेष साधनों का विवेचन किया गया है। अपनी विदेश नीति के लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रत्येक राज्य समयानुसार इन साधनों का आश्रय लेता है। कूटनीतिक सम्बन्ध तो सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की विशेषता है जो विशेषतः राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्रचार-कार्य और राजनीतिक युद्ध के कूटनीतिक सचालन में सहायता करते हैं और आर्थिक साधन देश के हितों को सुदृढ़ आधारभूमि प्रदान करने के लिए अपनाए जाते हैं। इन तीनों साधनों का आश्रय तो प्रायः प्रत्येक राष्ट्र हर समय लेता है। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद तथा युद्ध के साधन ऐसे हैं जो अवसर के अनुसार अपनाए जाते हैं। राष्ट्रीय हितों को महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर राष्ट्र प्रसारवादी नीतियां अपनाता है और साम्राज्य तथा उपनिवेशों की स्थापना करता है। युद्ध का साधन प्रायः बहुत कम अपनाया जाता है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में युद्ध का मार्ग सामान्यतः तभी अपनाया जाता है जब कूटनीति, प्रचार एवं राजनीतिक युद्ध के साधन असफल हो जाते हैं और राष्ट्र वार्ता द्वारा नहीं बल्कि शक्ति द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का निर्णय ले लेता है। युद्ध के समय भी अन्य साधन सक्रिय रह सकते हैं और प्रायः रहते भी हैं, और इसीलिए युद्ध-विराम हो जाता है। विजय-पराजय द्वारा जब युद्ध का निर्णय होता है तो भी अन्य साधनों द्वारा राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा और अधिकाधिक प्राप्ति के दाँव-पेच खेले जाते हैं।

राष्ट्रीय-हित का अर्थ
(The Meaning of National Interest)

मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की भाँति राष्ट्रीय जीवन में भी व्यवहार के दो पक्ष होते हैं—पहला, स्वार्थ पक्ष और दूसरा, परमार्थ पक्ष। पहले पक्ष के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक कार्य का प्रमुख लक्ष्य उसके स्वयं के स्वार्थों की पूर्ति करना होता है। इस दृष्टि से एक राष्ट्र का न तो कोई स्थायी मित्र होता है और न कोई स्थायी दुश्मन, केवल स्थायी स्वार्थ होते हैं। अन्य देश यदि उस राष्ट्र के स्वार्थ की पूर्ति में सहायक कार्य करेंगे तो अवश्य ही गहरे मित्र बन जाएँगे, किन्तु यह मित्रता केवल तभी तक स्थिर रहेगी जब तक कि इसका आधार 'स्वार्थ-पूर्ति' रहता है। इस आधार के समाप्त होते ही मित्रता का महत्त्व भी समाप्त हो जाता है और यह भी सम्भव है कि वे देश परस्पर उतने ही शत्रु बन जाएँ जितने कि पहले मित्र थे। विश्व का इतिहास एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का क्रम इस कथन

की पुष्टि के लिए इतने प्रमाण दे सकता है कि *यह कथन आज स्वयं सत्य-सा बनता* जा रहा है।

राष्ट्रीय क्रियाओं के परार्थमूलक पक्ष में उन सभी कार्यों को समाविष्ट किया जा सकता है जो *अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विश्व-शान्ति एवं विश्व-समाज में समानता,* स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व (Liberty, Equality and Fraternity) के सिद्धान्त को सफल बनाने की दिशा में किए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से अनेक राष्ट्र पिछड़े देशों के उत्थान के लिए अनेक प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं। वे उनके शैक्षणिक, आर्थिक, तकनीकी, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार सहयोग *प्रदान कर वहाँ के जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।* संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनेक अभिकरण इन परार्थमूलक क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (ILO), खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO), अन्तर्राष्ट्रीय अणु-शक्ति अभिकरण (IAEA), विशेष अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास कोष (SUNFED), अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था (IDA) तथा बाल-विकास कोष (UNICEF) आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय क्रियाओं के स्वार्थमूलक तथा परार्थमूलक पक्ष का तुलनात्मक महत्व आँकते समय प्रायः स्वार्थमूलक क्रियाओं को ही प्रभावशील ठहराया जाता है। अनेक विचारकों की यह मान्यता बहुत कुछ सत्य है कि परार्थमूलक क्रियाएँ अपने आप में साध्य नहीं हैं, वे साधन हैं *तथा उनका अन्तिम लक्ष्य है उस राष्ट्र के स्वार्थों की पूर्ति।* उदाहरण के लिए, हम भारत की विदेश-नीति के समर्थकों के तर्कों को ले सकते हैं। यह कहा जाता है कि भारत की शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर आधारित गुटनिरपेक्षता की विदेश-नीति को केवल आदर्शवादी मानना भ्रमपूर्ण है क्योंकि देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए विश्व में शान्ति कायम रखना परम आवश्यक है। भारतीय विदेश-नीति विश्व-शान्ति एवं विश्व-सहयोग *की अभिवृद्धि का प्रयास करती* है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय-हित (National Interest) को उपेक्षणीय या गौण नहीं बनाती वरन् सच्चे अर्थों में उसकी पूर्ति का प्रयास करती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सहयोग एवं सहायता इसलिए देता है कि वह उसके स्वयं के दूरगामी हित में है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक व्यापार के समान है जिसमें कोई भी खर्चा उससे दुगुनी आय की आशा से किया जाता है। मूल रूप में क्रूर स्वार्थ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों का प्रेरक है। इतिहास इस बात का *साक्षी है कि राष्ट्रों के बीच जो युद्ध, विवाद, शान्ति, आदि हुई इन सबके मूल में* एक ही कारण था और वह था प्रभावशील राष्ट्रों का अपना-अपना स्वार्थ।

यदि यह मान लिया जाए कि राष्ट्रीय हित ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सब कुछ है तो अब समस्या यह आती है कि आखिर इस 'हित' की प्रकृति एवं स्वरूप क्या है। किन-किन बातों को इस शब्द की परिधि में समाहित किया जाए और किस

आधार पर ? दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय हित को परिभाषित करने की समस्या उठ खड़ी होती है । राष्ट्रीय हित कोई स्थिर या शाश्वत वस्तु नहीं है, वह तो एक परिवर्तनशील तत्त्व है जिसे गत्यात्मक (Dynamic Element) कहा गया है । लम्बे इतिहास में एक समय ब्रिटेन का स्वार्थ भारतवर्ष में अपना साम्राज्य कायम रखना था तो दूसरे चरण में उसका यह कार्य हित-साधना की अपेक्षा इसका विरोध भी कहा जा सकता है । राष्ट्रीय हित स्थान एवं काल (Time and Place) के परिवर्तन के साथ अपने स्वरूप को बदलता रहता है । एक राष्ट्र के एक ही समय में अनेक हित हो सकते हैं। इन हितों के बीच परस्पर विरोधाभास भी रह सकता है । ऐसी अवस्था में जो हित महत्त्व एवं प्रभाव की दृष्टि से उच्च स्तर का होता है उसको वह राष्ट्र प्राथमिकता प्रदान करता है । निम्न-स्तर वाले राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देने के कारण अनेक बार राष्ट्रों की राजनीति को असफल होते देखा गया है ।

राष्ट्रीय हित (या हितों) के स्वरूप में भिन्नता, अस्थिरता, विरोधाभास, स्तरों की असमानता, आदि अनेक बातें देखने को मिलती हैं । मॉर्गेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार, राष्ट्रीय हित में प्रायः दो तत्त्व निहित होते हैं—एक तो यह कि यह तार्किक रूप से वांछनीय है और इस प्रकार आवश्यक भी । दूसरे, यह स्थिर तथा परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है । राष्ट्रीय स्वार्थ को आवश्यक मानने का अर्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी भौतिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता (Identity) की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है । इसके अभाव में स्वयं का अस्तित्व भी मिट सकता है । एक देश का राष्ट्रीय हित दूसरे देश के राष्ट्रीय हित के अनुकूल भी हो सकता है और विपरीत भी, किन्तु आज के सम्पूर्ण युद्ध (*Total War*) के युग में एक राष्ट्र के अस्तित्व के लिए तथा राजनीतिक नैतिकता को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्र अपने स्वार्थों को निर्धारित करते समय दूसरे राष्ट्रों के हितों का भी ध्यान रखें तथा दोनों के बीच सामंजस्य की स्थापना का प्रयास करे । राष्ट्रीय हितों की मान्यता यह नहीं होती कि विश्व में सहयोग रहेगा तथा संसार में शान्ति बनी रहेगी और न ही यह होनी है कि संसार में संघर्ष एवं युद्ध छिड़ जाएगा वरन् इसका यह विश्वास है कि संसार में हमेशा संघर्ष तथा विवाद बने रहेंगे तथा ये विवाद युद्ध का रूप धारण न कर लें इसके लिए कूटनीति (Diplomacy) के माध्यम से इन संघर्षों के बीच *सन्तुलन की स्थापना कर ली जाएगी ।*

राष्ट्रीय स्वार्थ अथवा राष्ट्रीय हित के उपर्युक्त रूप को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय हित के साधनों को जानना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है ।

राष्ट्रीय शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित
(National Interest Defined in Terms of National Power)

राष्ट्रीय हित की प्रकृति एवं स्वरूप सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों को मानकर अध्ययन करने से मार्ग में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा । राष्ट्रीय हित को

प्राप्त करने का मुख्य साधन 'शक्ति' है। राष्ट्र हित का चाहे कोई भी स्वरूप एवं लक्ष्य क्यो न हो एक देश उसे तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके पास ऐसा करने के लिए पर्याप्त शक्ति हो। शक्ति अनेक प्रकार की हो सकती है, जैसे आर्थिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति, भौगोलिक शक्ति, सैनिक शक्ति, आदि। शक्ति के इन रूपो का वर्णन राष्ट्रीय शक्ति के तत्वो का अध्ययन करते समय किया जा चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के गणमान्य विद्वानो के मतानुसार राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय हित के बीच इतना गहरा एव अभिन्न सम्बन्ध है कि दोनों को पृथक् करने से दोनों का ही अस्तित्व खतरे मे पड जाता है। इन विचारको के अनुसार यदि राष्ट्रीय शक्ति को ही राष्ट्रीय हित *मान लिया जाए तो अतिशयोक्ति नही होगी। यह मत सही भी है क्योंकि प्रत्येक* राष्ट्र सदैव शक्तिशाली बनने के लिए प्रयत्नशील रहता है और शक्ति का संघर्ष ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास का मूल तत्त्व है। 'शक्ति' यद्यपि एक साधन है जिसका प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय हितो को प्राप्त करना, उन्हे सम्भव बनाना तथा राष्ट्र को विश्व-समाज मे उच्च स्थान प्रदान करना है, तथापि ये समस्त बातें इतनी प्रचलित चुकी हैं कि आज शक्ति एक साधन मात्र न रह कर साध्य बन गई है। यही कारण है कि अनेक राष्ट्र शक्ति प्राप्त करने की धुन मे अपने अस्तित्व तक को दाव पर लगा देते हैं। हिटलर के जर्मनी और मुसोलिनी के इटली के सदर्भ मे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति एक राष्ट्र का सबसे प्रमुख 'राष्ट्रीय हित' (National Interest) है जिसे प्राप्त करने के बाद ही अन्य हितो को प्राप्त करना सम्भव होता है। राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्त्व यदि एक देश मे सन्तुलित एव सुविकसित रूप मे प्राप्त होते हैं तो स्पष्ट है कि वह देश उन देशो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है जिनके पास इन तत्त्वो का अभाव है। एक राष्ट्र का यह सबसे बडा हित होगा कि राष्ट्रीय शक्ति के इन तत्त्वो का सन्तुलित विकास किया जाए और उन सभी बाधाओ को दूर किया जाए जो राष्ट्रीय शक्ति को उच्च शिखर तक पहुँचने मे रुकावट डालती है। उदाहरण के लिए यदि हम एक देश की आर्थिक शक्ति को बढाना चाहते हैं तो वहाँ औद्योगीकरण करना पडेगा। जिस देश मे औद्योगीकरण (Industrialization) किया जाता है वे देश अविकसित होने के कारण मुख्यत· कृषि-प्रधान होते हैं तथा वे उन सभी दृष्टिकोणो, सामाजिक सगठनो एव तक्नीको का विरोध करते हैं जिनको एक औद्योगिक समाज की विशेषता माना जाता है। ऐसी स्थिति मे वहाँ तीव्र गति से औद्योगीकरण नही किया जा सकता यद्यपि वह उस देश का प्रधान राष्ट्रीय हित होता है। इस हित को प्राप्त करने के लिए जनता मे शिक्षा का प्रसार किया जाएगा, वहाँ के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जाएगा तथा साथ ही विकसित राष्ट्रो से उसका सम्पर्क स्थापित किया जाएगा। किन्तु यह सब करने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। बिना पूंजी के एक अर्द्ध विकसित (Semi-developed) देश के नागरिको को परिवर्तन के लिए पहल करने योग्य बनाना असम्भव है, साथ ही पूँजी का औद्योगीकरण की प्रक्रिया

में भी महत्त्व है। अतः पूँजी प्राप्त करना उस देश का राष्ट्रीय हित बन जाता है। इसे प्राप्त करने के मुख्य रूप से तीन तरीके हो सकते हैं—

प्रथम, पूँजी दूसरे देशों से सहायता एवं कर्ज के रूप में प्राप्त की जाय;

द्वितीय, पूँजी अपने देश में ही उत्पादन की मात्रा बढ़ा कर प्राप्त की जाए; और

तृतीय, पूँजी बढ़ाने का तीसरा उपाय निषेधात्मक है अर्थात् देश की खपत (Consumption) को कम कर दिया जाए—जैसा कि खाद्य-स्थिति में स्वावलम्बन प्राप्त करने के लिए भारत सरकार द्वारा एक समय का खाना छोड़ने एवं इसी प्रकार के अन्य प्रतिबन्ध लगा कर किया गया था।

जहाँ तक पूँजी को विदेशों से प्राप्त करने का प्रश्न है वह किया जाना चाहिए और उसके बिना प्रगति नहीं की जा सकती, किन्तु साथ ही केवल विदेशी सहायता पर निर्भर रह कर ही एक देश आत्म-सम्मान के साथ अपना समुचित विकास नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि देश की पैदावार को बढ़ाया जाए। साम्यवादी चीन में मानव-शक्ति का अमानवीय रूप से प्रयोग इसी लक्ष्य को लेकर किया गया है। इस प्रकार औद्योगीकरण की प्रक्रिया में एक देश का जीवन-स्तर प्रारम्भ में तो बढ़ने की अपेक्षा घटता है और यह जीवन-स्तर की कसौटी अप्रत्यक्ष रूप से उस देश का राष्ट्रीय हित (National Interest) है।

असल में राष्ट्रीय हित गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है क्योंकि परिस्थितियाँ एवं समय की आवश्यकताएँ उसे जैसा चाहती है मोड़ देती हैं, किन्तु फिर भी यह एक सार्वभौमिक सत्य (Universal Truth) है कि राष्ट्रीय हित बिना शक्ति के प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करना एक राष्ट्र का ऐसा हित है जो कि सभी कालों में एवं सभी स्थलों में स्थिर रहता है। परिस्थितियों में उतार-चढ़ाव आते हैं और जाते हैं, किन्तु राष्ट्र की 'राष्ट्रीय शक्ति' में वृद्धि की आकांक्षा अप्रभावित बनी रहती है। अब तक के अनुभवों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'राष्ट्रीय शक्ति' के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित (National Interest Defined in Terms of National Power) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक सार्वकालिक अपरिवर्तनशील सत्य है और शायद इसी कारण मॉर्गेन्थो (Morgenthau) ने यथार्थवाद के समर्थकों को अपनी विदेश-नीति का निर्धारण करते समय दूसरे देश के 'शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित' को ध्यान में रखने का परामर्श दिया है। राष्ट्रीय हित के स्वरूपों को ध्यान में रखकर यदि अध्ययन किया जाए तो हम एक देश के व्यवहार तथा उसके विशिष्ट दृष्टिकोण के बारे में भविष्यवाणियाँ कर सकते हैं।

राजनय अथवा कूटनीति
(Diplomacy)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सम्पूर्ण ताना-बाना ही कूटनीतिपूर्ण है। कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्त्वों को गतिशीलता एवं एकरूपता प्रदान करती है।

राष्ट्रीय हितो की प्रगति के लिए शक्ति के जो विभिन्न तत्त्व हैं उन्हें कूटनीति के माध्यम से ही वास्तविक रूप मे प्रभावी बनाया जा सकता है। कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क है। यदि उसका दृष्टिकोण दूषित है, उनके निर्णय गलत हैं और उसके निश्चय कमजोर हैं तो भौगोलिक स्थिति के तमाम लाभ, खाद्य पदार्थ व कच्चे माल, औद्योगिक उत्पादन की आत्म-निर्भरता, सैनिक तैयारी, जनसख्या के गुण व अधिक लाभ, तकनीकी प्रगति आदि विभिन्न बातें अन्त मे एक राष्ट्र के लिए कम योगदान दे पाएँगी। वह राष्ट्र, जो इन लाभो अथवा इन तत्त्वो की उपलब्धियो पर गर्व कर सकता है, अपेक्षित और स्थायी सफलताएँ तभी प्राप्त कर सकेगा जब उसकी कूटनीति उत्तम है। यदि कूटनीति गलत और अविवेकपूर्ण है तो वह अन्य तत्त्वो से प्राप्त लाभो को खो बैठेगा और अपने अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यो मे क्षीण हो जाएगा।[1]

कूटनीति राष्ट्रीय हित मे अभिवृद्धि का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। विदेश नीति को चाहे जितनी अच्छी तरह योजनाबद्ध किया जाए, उसकी सफलता अन्ततोगत्वा उत्तम कूटनीति पर निर्भर है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारत की विदेश-नीति आदर्श है, उसके तत्त्व यथार्थवादिता के गुण भी लिए हुए हैं, लेकिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय समस्याओं मे हम अपने वाञ्छित उद्देश्यो को बहुत कुछ इसीलिए प्राप्त नही कर पाए हैं क्योकि विदेश-नीति को सही कूटनीतिक ढग से क्रियान्वित नही किया जा सका। एक सही, सुनियोजित, विवेकपूर्ण और सक्रिय कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि मे जितना महत्त्वपूर्ण योग दे सकती है, उतना अन्य कोई साधन नही। कूटनीति के महत्त्व का उल्लेख करते हुए मॉर्गेन्थो ने लिखा है, "ऐसे राष्ट्र को उस राष्ट्र के सम्मुख झुकना पडेगा जिसकी कूटनीति अपनी राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्वो का सम्पूर्ण प्रयोग करती है और इस प्रकार अपनी स्वय की उत्तमता से अन्य क्षेत्रो की कमी की पूर्ति करने मे सफल हो जाती है। अपने राष्ट्र की शक्ति-सम्भावनाओ का पूर्ण लाभप्रद प्रयोग करते हुए एक योग्य कूटनीति अपने राष्ट्र की शक्ति आशा से कही अधिक बढ़ाती है।"

पुनश्च, मॉर्गेन्थो के अनुसार "उत्तम श्रेणी की कूटनीति विदेश-नीति के लक्ष्य तथा साधन का राष्ट्रीय शक्ति के साधनो से सामञ्जस्य स्थापित कर देगी। वह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त स्रोतो की खोज कर लेगी और उन्हे पूर्ण स्थायी रूप से राजनीतिक यथार्थता मे परिणत कर देगी। राष्ट्रीय प्रयत्नो को दिशा प्रदान कर वह अन्य तत्त्वों जैसे—औद्योगिक सम्भावनाएँ, सैनिक तैयारी, राष्ट्रीय चरित्र तथा राष्ट्रीय मनोबल, का प्रभाव बढा देगी।"

कूटनीति का अर्थ (*Meaning of Diplomacy*)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विद्वानो ने कूटनीति का कई अर्थों मे प्रयोग किया है। हैराल्ड निकोल्सन के अनुसार कूटनीति शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जाता है, जैसे—विदेश-नीति, वार्ता (Negotiation), वार्ता की प्रक्रिया और

1 *Morgenthau :* Politics Among Nations (Hindi), p. 169.

मशीनरी, वैदेशिक सेवा की एक शाखा, आदि ।[1] निकोलसन के अनुसार कूटनीति का सबसे अच्छा रूप वार्ता का और सबसे बुरा रूप छल छद्म का है ।

निकोल्सन द्वारा बताए गए कूटनीति के अधिकांश अर्थों को आर्गेन्स्की आदि विद्वानो ने अस्वीकार किया है तथापि दो अर्थों—वार्ता एवं वार्ता या समझौते की प्रक्रिया को—सामान्यतः सभी ने स्वीकार किया है ।[2] आर्गेन्स्की के अनुसार कुशलता, चतुराई और कपट कूटनीति के लक्षण भले हो सकते हैं, किन्तु इन्हें कूटनीति को परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं कहा जा सकता । कूटनीति को विदेश-नीति के समकक्ष भी नहीं माना जा सकता । विदेश-नीति का निर्माण राष्ट्रीय हित के अनुरूप तथा परिस्थितियों के सन्दर्भ मे होता है जबकि कूटनीति विदेश-नीति का वह अंग है जो उसे सक्रियता प्रदान कर राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति मे सहायता देती है । चाइल्ड्स का कथन है कि विदेश-नीति सम्बन्धो का सार है जबकि कूटनीति विदेश-नीति के सचालन की प्रक्रिया है ।[3] इसी तथ्य को पामर एवं पर्किंस ने अन्य शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि कूटनीति का कार्य विदेश-नीति के सचालन को मनुष्य और मशीनें प्रदान करना है । एक सार है, दूसरी पद्धति ।[4] आर्गेन्स्को ने कूटनीति को 'दो या दो से अधिक देशो के प्रतिनिधियो के बीच होने वाले समझौतो की प्रक्रिया माना है । मैकलेलन, ओलसन तथा सोडरमैन के कथनानुसार, "कूटनीति की एक सर्वाधिक मूल परिभाषा यह है कि यह प्रत्येक राज्य के स्थायी प्रतिनिधित्व पर आधारित राष्ट्रों के मध्य सम्पर्क का एक रूप है ।" अर्नेस्ट सैटोव के अनुसार "कूटनीति स्वतन्त्र राज्यो के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धो के सचालन मे बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है ।"[5]

क्विसी राइट के मतानुसार, "लोकप्रिय रूप मे कूटनीति का अर्थ है किसी सौदे या लेन-देन मे चतुरता, धोखेबाजी तथा कुशलता का प्रयोग । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे प्रयुक्त किए जाने वाले अर्थ मे यह सौदेबाजी की वह कला है जो राजनीति की उस व्यवस्था मे कम मूल्य मे अधिक से अधिक सामूहिक लक्ष्यो को प्राप्त करती है जिसमे कि युद्ध एक सम्भावना है ।"

यदि हम विश्व-विख्यात् ज्ञानकोषो की परिभाषाओ पर विचार करें तो एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार कूटनीति 'अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि-वार्ताओ के संचालन की कला' है । वेबस्टर्स न्यू इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार कूटनीति की परिभाषाएँ ये हैं—"(क) राष्ट्रो के मध्य सन्धि-वार्ता सचालन की कला और आचार, जैसे सन्धियो की (बहुधा प्रयुक्त की जाने वाली प्रणालियो और रूपो सहित) व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय समागम के सचालन का कार्य या कला अथवा ऐसे समागम मे

1 *Nicolson, H* : Diplomacy, pp. 13-14.
2 *Organski* : op. cit., p. 341.
3 *Childs, J. R.* : American Foreign Service, p 64.
4 *Palmer and Perkins* : op. cit., p 84.
5 *Ernest Satow* : Guide to Diplomatic Practice, p. 1.

कौशल या कुशलता का प्रयोग" एव (ख) "लाभ प्राप्त करने के लिए कौशल या पटुता का प्रयोग।" ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार—"(क) सन्धि-वार्ता द्वारा *अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के व्यवस्थापन को कूटनीति कहा जाता है*" एव (ख) "राजदूतों तथा दूतो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवस्थापन और संचालन की विधि" ही कूटनीति है।

कूटनीति वास्तव मे एक अनेकार्थक शब्द है जिसकी कोई सामान्य, संतोषजनक और सर्वसम्मत परिभाषा कठिन है। कूटनीति की प्रकृति को समझाते हुए के. एम पनिक्कर ने महाभारत के एक वृत्तान्त को उद्धृत किया है जिसमे युद्ध से पूर्व समझौते के लिए कौरवो के दरबार मे जाने वाले श्रीकृष्ण से द्रोपदी ने उनके जाने के महत्त्व पर सन्देह प्रकट किया था। *उस समय श्रीकृष्ण का उत्तर था कि* "मैं कौरवों को तुम्हारा पक्ष सही रूप मे समझाने जा रहा हूँ, मैं प्रयत्न करूँगा कि वे तुम्हारी माँगों को स्वीकार कर लें। किन्तु यदि ऐसा न हुआ और युद्ध करना पडा तो दुनिया यह समझ जाएगी कि गलत कौन था और इस प्रकार वह हमारे बारे मे गलत निर्णय नही देगी।"[1] कूटनीति का पूरा रहस्य पनिक्कर के मतानुसार कृष्ण के इस कथन मे *निहित है। श्री पनिक्कर के कथनानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे प्रयुक्त 'कूटनीति'* अपने हितो को दूसरे देशो से अग्रिम रखने की एक कला है।" एक अन्य राजनयज्ञ के शब्दो मे, "वास्तव मे कूटनीति एक श्रमसाध्य व्यवसाय है। यह जादू अथवा रहस्य के परे है। इसे किसी भी अन्य सरकारी कार्य की भाँति एक गम्भीर व्यवसाय के रूप मे देखा जा सकता है।"[2]

कूटनीति की परिभाषाएँ पूर्णत उपयुक्त इसलिए नहीं बन पाती क्योंकि समय और परिस्थितियों मे परिवर्तन के साथ-साथ इसका अर्थ भी बदलता रहता है। पामर एवं पर्किंस ने कूटनीति की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है जो उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की दृष्टि से उपयोगी हैं—

(क) कूटनीति एक मशीन की भाँति अपने आप मे नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है। इसका मूल्य इसको प्रयोग करने वाले के अभिप्रायो और योग्यताओ पर निर्भर करता है।

(ख) 'कूटनीति' विदेशी कार्यालयों, दूतावासो, दूतकार्यों, राजपुरुषो तथा विश्वव्यापी विशेष मिशनो के माध्यम से कार्य करती है।

(ग) कूटनीति प्रधान रूप से द्विपक्षीय है, अर्थात् यह दो राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का कार्य करती है।

(घ) आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों, क्षेत्रीय प्रबन्धो और सामूहिक सुरक्षा-प्रयत्नो का महत्त्व बढ जाने के कारण कूटनीति के बहुपक्षी रूप का महत्त्व बढ गया है।

1 *K. M. Panikkar* : The Principles and Practice of Diplomacy, pp 6-7.
2 *Hugh Gilson* : The Road to Foreign Policy, p. 31.

(ङ) कूटनीति राष्ट्रों के बीच साधारण मामले से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े-बड़े सभी मामले कूटनीति का विचार क्षेत्र है। जब कूटनीति असफल हो जाती है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े संकट का खतरा पैदा हो जाता है।

पैडलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में—"कूटनीति को प्रतिनिधित्व एवं सौदेबाजी की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा परम्परागत रूप से शान्तिकाल में राज्यों का परस्पर सम्बन्ध कायम रहता है।"

निकोल्सन और अनेक विचारक यह मानते हैं कि कूटनीति की असफलता के बाद राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाते हैं और जब युद्ध प्रारम्भ होता है तो कूटनीतिक व्यवहार रुक जाता है। पामर एवं पर्किंस इस मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि विदेश-नीति की भाँति कूटनीति का उद्देश्य भी देश की सुरक्षा कायम रखना है, इसके लिए वह यथासम्भव शान्तिपूर्ण साधन अपनाती है, किन्तु यदि युद्ध अपरिहार्य बन जाए तो कूटनीति सैनिक कार्यों में प्रत्येक सहयोग प्रदान करती है। युद्ध के समय *कूटनीति का कार्य रुक नहीं जाता, बल्कि इसका रूप बदल जाता है। युद्धकाल में कूटनीति का कार्य अधिक बढ़ जाता है। पिछले दो महायुद्धों की घटनाओं के अवलोकन* से यह बात स्वतः स्पष्ट है।

कूटनीति एवं विदेश-नीति
(Diplomacy and Foreign Policy)

कूटनीति के स्वरूप को समझने के लिए इसका विदेश-नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं कूटनीतिक रणनीति से सम्बन्ध और अन्तर समझ लेना आवश्यक है। बहुत से लेखकों ने 'कूटनीति' शब्द का प्रयोग विदेश-नीति के पर्यायवाची रूप में किया है जबकि दोनों में अन्तर है। सर विक्टर विलेजली के कथनानुसार "कूटनीति विदेश-नीति नहीं है, वरन् इसे क्रियान्वित करने वाला एक अभिकरण है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक के बिना दूसरा कार्य नहीं कर सकता। *कूटनीति का विदेश-नीति से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है वरन् ये दोनों मिल कर कार्यपालिका की नीति निर्धारित करते हैं—विदेश-नीति द्वारा रण-नीति तय की जाती है और कूटनीति द्वारा तकनीकें तय की जाती हैं।*"[1] इस प्रकार जहाँ *विदेश-नीति वैदेशिक सम्बन्धों की आत्मा है* वहाँ कूटनीति वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विदेश-नीति को सचालित किया जाता है। कूटनीतिज्ञों द्वारा अपनी सरकारों की विदेश-नीति के सिद्धान्त निर्धारित नहीं किए जाते, लेकिन वे अपने प्रतिवेदनों द्वारा इस नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। विदेश-नीति तय करते समय कूटनीतिज्ञों के प्रतिवेदनों को सदैव ही बहुमूल्य कच्चा माल समझा जाता है।[2]

हैराल्ड निकोल्सन के मतानुसार दोनों का सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों के साथ समायोजन करने से है। एक और विदेश-नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की एक

1 *Sir Victor Welesly* : Diplomacy in Fetters, p. 30.
2 *Childs, J. R.* : op. cit., p. 9.

सामान्य धारणा पर निर्भर है तो दूसरी ओर कूटनीति एक लक्ष्य न होकर साधन है, उद्देश्य न होकर एक तरीका है। यह बुद्धि, समझौता-वार्ता एवं हितों के आदान-प्रदान द्वारा सम्प्रभु राज्यों के बीच संघर्ष को रोकता है। यह एक ऐसा अभिकरण है जिसके माध्यम से विदेश-नीति युद्ध के अलावा अन्य साधनों से अपना लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करती है। कूटनीति शान्ति का साधन है। जब समझौता करना असम्भव बन जाता है तो कूटनीति निष्क्रिय बन जाती है और अकेली विदेश-नीति कार्यरत रहती है।[1] यदि एक राज्य अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में सफलता प्राप्त करना चाहता है तो इसके लिए सक्षम कूटनीति एवं बुद्धिपूर्ण विदेश-नीति का संगम वांछनीय है।

कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(Diplomacy and International Law)

कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच भी स्पष्ट अन्तर है कूटनीति *विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का साधन है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून* राष्ट्रीय हित से परे अन्तर्राष्ट्रीय कानून-व्यवस्था को सम्मान देता है। कूटनीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को इसी अर्थ में सम्मान दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में व्यवस्था बनी रहे और कूटनीति क्रियाशील रह सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के कुछ मौलिक नियमों के अनुपालन से प्राय ऐसी परिस्थितियाँ कायम रहने में सहायता मिलती है जिनमें कूटनीति समुचित रूप से क्रियाशील हो सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के बीच पारस्परिक विश्वास को प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे कूटनीति का आचरण सम्भव बनता है। यदि राज्य, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा नियम या सदाचार की परवाह न कर, राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए पूर्णतः कूटनीति का प्रयोग करेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी और सदैव युद्ध का संकट बना रहेगा।

कूटनीतिक अधिकारों के अधिकार और स्वतन्त्रताएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। अग्रत्व का क्रम (Order of Precedence) तथा कूटनीतिक अधिकारियों की श्रेणियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय किए जाते हैं। कूटनीति द्वारा राज्यों के आपसी सम्बन्धों को सुधारने के तरीकों एवं सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय हैं, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ में सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि जिस प्रकार कार्य करते हैं वह कूटनीति का विषय है अन्तर्राष्ट्रीय कानून कूटनीति के साधन के रूप में भी उपयोगी है। *यह कूटनीतिक लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए साधन प्रस्तुत करता है। कूटनीतिज्ञों* के लिए सामान्य भाषा, प्रक्रिया सम्बन्धी सुविधा, समझाने-बुझाने का तरीका, विवाद तय करने तथा समझौता करने के मापदण्डों आदि की आवश्यकता रहती है जो उन्हें

1 *Harold Nicolson* : The Congress of Vienna : A Study in Allied Unity, P. 164.

अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उपलब्ध होते हैं। इनके होने से सन्धि-वार्ता सुगम बन जाती है। जिन सन्धियों में अस्पष्टता रहती है वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाती। सन्धि-वार्ता की प्रक्रिया और रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय किया जाता है। कूटनीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

जब कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने का प्रयास करती है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक प्रकार से उसका सहायक सिद्ध होता है। यह अन्य राज्यों में एक राज्य के अभिकरणों की रक्षा करता है, उसकी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करता है, अन्य राज्यों की नीति को प्रभावित करता है तथा राष्ट्रीय सम्पन्नता की अभिवृद्धि करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के सभी तरीकों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अनुसरण किया जाता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून कूटनीति का अत्यन्त उपयोगी साधन है। यह एक दृष्टि से कूटनीति का परिणाम भी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकांश भाग रिवाजों पर आधारित है। यह कूटनीति द्वारा की गई सन्धि-वार्ताओं एवं समझौता-वार्ताओं की परम्परा को अपने नियमों का आधार बनाता है। सम्मेलनीय कूटनीतिक (Conference D plomacy) के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सामान्यतः स्वीकृत अंग बन बन जाते हैं। कूटनीतिक पत्र-व्यवहारों एवं औपचारिक घोषणाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया जाता है। स्पष्ट है कि ये दोनों एक दूसरे के सहायक हैं।[1]

कूटनीतिक रणनीति (D plomat c Strategy)

प्रत्येक देश के राजनीतिज्ञ एवं नेता अपनी सरकार की विदेश-नीति की सामान्य रूपरेखा तैयार करते हैं। इस नीति का नियोजन करते समय वे राजनयिक रणनीति भी तैयार करते हैं क्योंकि विदेश-नीति एवं राजनयिक रणनीति दो भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ. ए. कीसिंगर लिखते हैं—"शान्ति को सीधे रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह कुछ परिस्थितियों एवं शक्ति-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। अतः कूटनीति को शान्ति की अपेक्षा इन शक्ति-सम्बन्धों की ओर ही प्रेरित होना चाहिए।"[2] कूटनीति के स्वरूप का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेश-नीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और कूटनीतिक राजनीति से उसके सम्बन्ध की उक्त जानकारी अत्यन्त उपयोगी है। कूटनीति एक गत्यात्मक तत्त्व है। समय की परिस्थितियों में परिवर्तन एवं नवीन विकासों के साथ-साथ इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह एक विकासशील धारणा है।

कूटनीति के लक्ष्य *(Object ves of Diplomacy)*

जैसा कि कहा जा चुका है, युद्ध और शान्ति दोनों ही कालों में कूटनीति

1 *Quincy Wright* : International Law and the United Nations, p. 362.
2 *Dr. A. Kissinger* : Reflections on American Diplomacy, Foreign Affairs, Oct. 1956.

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का मुख्य साधन है। राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत देश की सुरक्षा, जन-कल्याण तथा अन्य लाभ सम्मिलित है और कूटनीति का अन्तिम लक्ष्य इनकी सुरक्षा और अभिवृद्धि है। पनिक्कर के शब्दों में, "समस्त कूटनीतिक सम्बन्धों का मूलभूत उद्देश्य अपने देश के हितो की रक्षा करना होता है और हर राज्य का मूलभूत हित स्वय अपनी सुरक्षा करना होता है। परन्तु इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार, देशवासियो की रक्षा आदि भी ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना कूटनीति का उद्देश्य है।"[1]

कूटनीति प्रत्येक परिस्थिति मे राष्ट्रीय हित की प्राप्ति और अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है, तथापि अपने मूल रूप मे यह एक शांतिकालीन साधन है। यदि कूटनीति का अन्त युद्ध मे होता है तो इसे कूटनीति की असफलता का द्योतक माना जाता है। किन्तु युद्धकालीन स्थिति मे भी कूटनीति विशेष रूप से सक्रिय रहती है क्योकि युद्ध और शान्ति जैसी गम्भीर समस्याओ को सेनापतियो पर पूरी तरह नही छोडा जा सकता। शान्तिकाल मे कूटनीति प्रत्यक्ष योगदान करती है जबकि शक्ति पृष्ठभूमि मे रहती है, किन्तु युद्धकाल मे शक्ति आगे रहती है और कूटनीतिक दांव-पेच पृष्ठभूमि मे खेले जाते है। फिर भी युद्ध के सन्दर्भ मे कूटनीति के कार्य बड़े व्यापक हो जाते हैं। द्वितीय महायुद्धकाल मे कूटनीतिक सम्मेलनो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी और युद्ध सम्बन्धी नीति-निर्णय इन सम्मेलनो मे लिए जाते थे। आशय यह है कि कूटनीति विभिन्न परिस्थितियो मे अलग-अलग ढग से अपनी भूमिका का निर्वाह करती है और हर समय हर परिस्थिति मे इसका मूलभूत लक्ष्य *राष्ट्रीय हित का सरक्षण और सम्वर्द्धन होता है।* पामर एव पर्किस के अनुसार—"विदेश-नीति की भाँति कूटनीति का उद्देश्य, सम्भवत शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा, लेकिन युद्ध न रोके जा सकने की दशा मे सैनिक गतिविधियो की सहायता द्वारा, राष्ट्रीय सुरक्षा प्राप्त करना है। कूटनीति, जैसा कि निकोल्सन ने कहा है, युद्धकाल मे समाप्त नही हो जाती अपितु युद्धकाल मे उसे पृथक् भूमिका निभानी पडती है तथा विदेश-मन्त्रियो की तरह कूटनीतिज्ञो का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इस शताब्दी के दो महायुद्ध इस धारणा की पुष्टि करते हैं।" मॉर्गेन्थो का विचार है कि "*यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप से विदित हो तो राष्ट्रीय शक्ति सामान्यतया किन्तु* युद्धकाल मे विशेष रूप से अपनी तमाम सम्भावनाओं का पूरा सदुपयोग कर उच्चतम शिखर पर पहुँच सकती है।"

के. एम. पनिक्कर ने राज्यो के कूटनीतिक व्यवहार के प्रमुख लक्ष्यों का विभाजन किया है जो सक्षेप मे निम्नवत् हैं—

1. मित्रराष्ट्रो के साथ सम्बन्धो को मजबूत बनाना और जिन देशों के साथ मतभेद हो उनसे यथासम्भव तटस्थ रहना।

2 अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियो को तटस्थ बनाए रखना।

3. अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रो का एक गुट बनने से रोकना।

1 पनिक्कर : *कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार (हिन्दी)*, पृष्ठ 18.

4. यदि दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपने हितों की रक्षा करते समय साम, दाम और भेद—ये तीनों ही नीतियाँ असफल हो जाएँ तो युद्ध का सहारा लिया जाए। किन्तु कूटनीति का कार्य है कि युद्ध ऐसी परिस्थिति में तथा ऐसे रूप में अपनाया जाए कि दूसरे देश यह समझ जाएँ कि तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण है तथा तुम अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहे हो और आक्रमणकारी तुम नहीं वरन् दूसरा पक्ष है।

5. चाणक्य का मत था कि यदि युद्ध और शान्ति दोनों से समान परिणाम प्राप्त होता हो तो शान्ति को अपनाओ, तथा युद्ध और निष्पक्षता का समान लाभ मिल रहा हो तो निष्पक्षता को अपनाओ। युद्ध को तो केवल तभी अपनाना चाहिए जब अन्य सभी साधन असफल हो जाएँ।

6. युद्ध कूटनीति की असफलता का द्योतक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि युद्ध के समय कूटनीति ही समाप्त हो जाती है, वरन् सच तो यह है कि बिना कूटनीति के न तो युद्ध किए जा सकते हैं और न ही जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियाँ तथा युद्ध के समय की प्रभावहीन कूटनीति 'हार' को निश्चित बना कर शक्तिशाली राष्ट्रों का भी विध्वंस कर देती है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कूटनीति निम्न तीन साधनों को काम में ला सकती हैं—(i) समझाना (Persuasion); (ii) समझौता करना (Compromise); एवं (iii) शक्ति प्रयोग की धमकी देना (*Threat of Force*)। सफल कूटनीति के लिए अपेक्षित है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह प्रथम दो साधनों के माध्यम से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करे क्योंकि कोई भी कूटनीति, जो केवल शक्ति की धमकी देकर ही काम निकालना चाहती है, न तो शान्तिप्रिय कही जाएगी और न ही बुद्धिपूर्ण। किन्तु कभी-कभी ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाए। कूटनीति की कला इसी बात में है कि वह समय व परिस्थिति के अनुसार ही तीनों में से किसी एक का प्रयोग करे।

कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना और मान्यता द्वारा राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि
(Promotion of National Interest through Recognition and the Establishment of Diplomatic Relations)

जब कोई भी नया राज्य स्वतन्त्रता प्राप्त करके अस्तित्व में आता है तो अन्य देशों की सरकारें सामान्यतया उसे मान्यता प्रदान करती हैं। इसी प्रकार जब कोई नई सरकार वैधानिक और व्यवस्थित प्रक्रिया से सत्तारूढ होती है अथवा जब राज्य में उसका निर्विवाद प्रभुत्व स्थापित होता है तो अन्य सरकारें सामान्यतया उसे अपनी मान्यता प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार की मान्यता देने के कूटनीतिक कदम के पीछे राज्य के अपने हित छिपे होते हैं। मान्यता देने वाली सरकार समझती है कि अमुक राज्य या अमुक सरकार को मान्यता देने अथवा दूसरे राज्यों और सरकारों से कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना करने से उसके हितों का संवर्द्धन होगा। आज के

विश्व में प्रत्येक राज्य की सुरक्षा और कल्याण आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर है कि अन्य राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध कहाँ तक सन्तोषजनक हैं।[1] कूटनीतिक सम्बन्धों के माध्यम से एक सरकार नीतियों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकती है, वह अपने लिए एक सम्मानजनक वातावरण का निर्माण कर सकती है और *अपनी नीतियों के लिए दूसरे राज्यों का क्रियात्मक समर्थन* प्राप्त कर सकती है। कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना द्वारा लाभकारी वाणिज्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। जो नागरिक विदेशों की यात्रा करते हैं और वहाँ अपने व्यापार का विस्तार करते हैं, उनके हितों की भी सुरक्षा हो जाती है। *नवोदित बंगलादेश को भारत द्वारा तुरन्त मान्यता देना एक ऐसा* शक्तिशाली कूटनीतिक कदम था जिसमें दोनों देशों की प्रगाढ़ मैत्री के भाव सन्निहित थे। जब पाकिस्तान और चीन ने बंगलादेश को लम्बे समय तक मान्यता नहीं दी, तो इसका अर्थ था कि बंगलादेश के साथ वे सामान्य सम्बन्धों की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। तत्कालीन परिस्थितियों में सम्भवतः दोनों देश यह समझते थे कि बंगलादेश को कूटनीतिक मान्यता न देकर वे अपनी नीतियों की रक्षा कर रहे हैं, बंगलादेश के साथ सौदेबाजी की पृष्ठभूमि मजबूत बना रहे हैं तथा दबाव की राजनीति का खेल खेल रहे हैं। लेकिन जब उन्होंने देखा कि विश्व का बहुमत बंगलादेश के पक्ष में है, विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों ने बंगलादेश को मान्यता दे दी है तो उन्हें स्पष्ट महसूस हुआ कि बंगलादेश को कूटनीतिक मान्यता न देने के दुराग्रह से वे बदनाम हो रहे हैं, उनके हितों को ठेस पहुँच रही है और फलस्वरूप उन्होंने भी मान्यता दे दी।

कभी-कभी सरकारें अपनी मान्यता सशर्त देती हैं अर्थात् मान्यता प्रदान करने के *बदले में किसी 'समर्थन' की माँग करती हैं या कोई 'परिवर्तन' चाहती हैं।* जब कभी ऐसा होता है तो प्रायः दूसरी सरकारें, जिनकी नीतियों से अमुक समर्थन या परिवर्तन टकराता है, अपनी आपत्ति प्रकट करती हैं। फ्रांस ने सन् 1778 में संयुक्त-राज्य अमेरिका को मान्यता दी जिसका एक उद्देश्य ब्रिटेन को कमजोर बनाना था। *इस मान्यता के साथ एक सन्धि की गई थी जिसका अर्थ था युद्ध में सहभागिता।* थियोडोर रूजवेल्ट ने पनामा में क्रान्ति को प्रोत्साहन दिया और ज्योंही क्रान्ति शुरू हुई उसने क्रान्तिकारियों को मान्यता दे दी और ऐसे अन्य कदम भी उठाए जिनसे नए राज्य की सुरक्षा निश्चित हो जाए। प्रथम महायुद्ध काल में मित्रराष्ट्रों ने *चेकोस्लोवाकिया के नए राज्य की सरकार को उस समय ही मान्यता दे दी जबकि* उसका राज्य के किसी भी क्षेत्र पर वास्तविक नियन्त्रण था ही नहीं। स्पेन के गृह-युद्ध के प्रारम्भ में ही इटली और जर्मनी दोनों ने फ्रांको के क्रान्तिकारी गुट को मान्यता दे दी और ऐसे अनेक कदम उठाए जिनसे फ्रांको-गुट की विजय सुनिश्चित हो जाए।

1 *Vernon Van Dyke* : International Politics, p. 245.

कभी-कभी सरकार मान्यता रोक भी देती है—विशेषकर तब जबकि वह किसी परिवर्तन का विरोध करती है या कोई परिवर्तन न चाह कर यथास्थिति की समर्थक होती है। संयुक्तराज्य अमेरिका का यह रवैया रहा है कि उसने प्रायः क्रान्तिकारी सरकारों को मान्यता देने में संकोच प्रदर्शित किया है या लम्बे समय तक उन्हें मान्यता नहीं दी है। बहुत से लेटिन अमेरिकी राज्यों को अमेरिका ने किसी समय मान्यता देने से इंकार किया क्योंकि सत्ता-परिवर्तन असंवैधानिक तरीकों से हुआ था। पर इसका यह मतलब नहीं है कि अमेरिका *'संवैधानिक परिवर्तन' का हिमायती था बल्कि बात यह थी अमेरिका पिछली सरकार का पतन नहीं चाहता था अर्थात् नई क्रान्तिकारी सरकार को सत्तारूढ़ नहीं देखना चाहता था।* साम्यवादी चीन के लिए अमेरिकी मान्यता वर्षों तक अधर में लटकी रही, यही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक ऐतिहासिक तथ्य है। कभी-कभी यह भी होता है कि दो सरकारें आपस में कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ देती हैं क्योंकि किन्हीं मसलों पर उनमें कटु विवाद उठ खड़े होते हैं। बंगलादेश की घटनाओं के कारण सन् 1971 में भारत और पाकिस्तान के कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद हो गए थे जो अब तक पूरी तरह सामान्य नहीं हो सके हैं।

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में कूटनीतिज्ञों का योगदान (Role of Diplomats in the Promotion of National Interest)

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि को ध्यान में रखते हुए विदेश-नीति के उद्देश्यों तथा कूटनीति के लक्ष्यों की प्राप्ति का मुख्य उत्तरदायित्व कूटनीतिज्ञों पर होता है। राष्ट्रीय हित का संरक्षण और सम्वर्द्धन बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि उस देश के कूटनीतिज्ञ कितने निपुण हैं। उनके कार्यों और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए *आचार्य कौटिल्य ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में लिखा है—"अपनी सरकार के दृष्टिकोण को दूसरी सरकार तक पहुँचाना, सन्धियों को कायम रखना, अपने राज्य के हितों की, यदि आवश्यक हो तो डरा-धमका कर भी, रक्षा करना, मित्र बनाना,* फूट डालना, गुप्त संगठन बनाना, गुप्तचरों की गतिविधियों के बारे में जानकारी प्राप्त करना, जो सन्धियाँ अपने राज्य के हित में न हों उन्हें निष्फल बनाना, उस देश के (जिसमें वह नियुक्त हो) शासनाधिकारियों को अपने पक्ष में करना, आदि *राजदूत के कर्त्तव्य हैं।"*[1]

कौटिल्य ने राजदूत के जिन कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है, सामान्यतः वे सभी आधुनिक कूटनीतिज्ञों के लक्ष्य हैं जिनसे राष्ट्रीय हित-साधन होता है। हम उन्हें आधुनिक राजनयज्ञों में सम्मिलित कर सकते हैं—सरकार के अध्यक्ष विदेश-सचिव तथा उनके विदेश अधिकारी, दूसरे देशों में स्थित कूटनीतिज्ञ कर्मचारी वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने वाले सैनिक तथा अन्य विशेषज्ञ सेवी-वर्ग आदि। इनके अतिरिक्त

1 पनिक्कर द्वारा सन्दर्भित : कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार (हिन्दी), पृष्ठ 4.

अन्य लोग भी होते हैं जैसे, भ्रमणशील राजदूत, व्यक्तिगत प्रतिनिधि, सैलानी लोग आदि। कूटनीति और कूटनीतिज्ञों का आज स्थायी महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है। यह स्थिति लगभग 15वीं शताब्दी से ही विकासशील है।

राज्य के नाममात्र के अध्यक्ष जैसे ग्रेट ब्रिटेन के राजा या रानी, भारत का राष्ट्रपति, आदि विदेशी मामलो मे मूलत औपचारिक योगदान करते हैं। वे जब विदेश भ्रमण पर जाते हैं तो उनका उद्देश्य मुख्यत सद्भावना की अभिवृद्धि होता है। सरकारों के अध्यक्ष अपने देश की कूटनीति मे व्यक्तिगत रूप से भाग लेते है। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, ट्रूमैन, रूजवेल्ट, आइजनहॉवर, कैनेडी, जानसन, निक्सन आदि सभी अपने देश की सरकार के अध्यक्ष होने के साथ-साथ देश तथा विदेश मे सन्धि-समझौते भी करते है। यही बात भारत के प्रधान मन्त्री नेहरू, फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल, ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल, रूस के प्रधान मन्त्री स्टालिन आदि के बारे मे भी कही जा सकती है।

कूटनीतिक क्षेत्रो मे तानाशाहो द्वारा जो कार्य किया जाता है वह कुछ भिन्न प्रकार का होता है। तानाशाह किसी अन्य माध्यम से अपने लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करते हैं। वैसे स्टालिन ने मित्रराष्ट्रो के साथ तेहरान, याल्टा, पोटस्डम आदि सम्मेलनों मे भाग लिया था, किन्तु साधारणत वह पृष्ठभूमि मे रहता था और अपने विदेश-मन्त्री मोलोटोव (Molotov) के माध्यम से विदेशी मामलो पर नियन्त्रण रखता था। दूसरी ओर प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने विश्व-राजनीति मे स्वय सक्रिय रुचि ली और ब्रेझनेव, कोसीगिन आदि ने भी यही किया। इसी प्रकार संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने मिस्री कूटनीति का उत्तरदायित्व सम्भाला और एक अरब नेता के रूप मे मान्यता प्राप्त करने की कोशिश की ताकि वह महाशक्तियों के साथ सौदेबाजी करने के लिए सक्षम तटस्थ गुट सगठित कर सकें।

'जैसे को तैसा' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक सिद्धान्त है जो सरकार के अध्यक्षो को एक की पहल पर कूटनीति मे खीच लाता है। इस सिद्धान्त के क्रियान्वयन से यह आशा की जाती है कि सरकार के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी नेता कूटनीति मे आज की भाँति ही सक्रिय रहेगे। इस नीति का एक उदाहरण हम प्रधान मन्त्री कोसीगिन के उस आमन्त्रण को मान सकते हैं जो उन्होने भारतीय प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब खाँ को उनके आपसी मतभेद मिटाने के लिए ताशकन्द मे आने के लिए भेजा था। इस आमन्त्रण को दोनों ही देशों के नेता नही ठुकरा सके।

कूटनीति के क्षेत्र मे सर्वाधिक सक्रिय कार्यकर्त्ता विदेशी मामलों के राज्य-सचिव होते हैं। विदेश-सम्बन्ध उनका मुख्य कार्य है। वे जीवन भर कूटनीतिक वार्ताएँ करते हैं, अन्य देशों के दौरे करते हैं, सम्मेलनों मे उपस्थित होते हैं तथा महत्त्वपूर्ण सौदेबाजियों की तैयारी करते हैं। वे अपने राज्याध्यक्षों को परामर्श देने के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा विदेशी मामलों के सम्बन्ध मे उनको सूचित करते रहते हैं। अपने विदेश-कार्यालय एवं विदेश-सेवा की बहुत बड़ी नौकरशाही पर शासन

करना भी उनका उत्तरदायित्व है। वे मन्त्रिमण्डल तथा अन्य नीति सम्बन्धी बैठकों में उपस्थित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश-सचिवों ने सन् 1945 के बाद अपना अधिकांश समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उपस्थित रहने में व्यतीत किया। अनुमानतः यह कहा जाता है कि जॉन फॉस्टर डलेस (John Foster Dulles) ने अपने पाँच वर्ष के कार्यकाल में प्रति वर्ष एक लाख हवाई मील से भी अधिक की यात्रा की। इतनी लम्बी यात्रा करके वे चाँद तक जाकर वापस आ सकते थे। यही सारी यात्रा उन्होंने दुनिया के अन्य नेताओं के साथ बातचीत के लिए की। विदेश-सचिव डीन रस्क ने स्वयं अधिक यात्रा करने की अपेक्षा यह उचित समझा कि दूसरे लोग ही वाशिंगटन आएँ। वर्तमान विदेश मन्त्री डॉ हेनरी किसिंगर को तो मानों कूटनीतिक यात्राओं के पर लग गए हैं। उन्हें आज के युग का एक करिश्मावादी कूटनीतिज्ञ माना जाता है।

आज कूटनीति में सलग्न अनेक लोग ऐसे हैं जिनको हम व्यावसायिक विशेषज्ञ कह सकते हैं। इनमें हम नागरिक सेवकों एवं विशेषज्ञों को सम्मिलित करेंगे जो विदेशों में दूतावासों एवं देश में विदेश कार्यालय में कार्य करते हैं। ये अधिकारी विदेशी सम्बन्धों के प्रचलित पहलुओं को सम्पादित करते हैं। ये अध्ययन, प्रतिवेदन एवं निर्देशन तैयार करते हैं। ये दूसरे देशों के अधीनस्थ अधिकारियों के साथ विचार करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जाने वाले प्रतिनिधि-मण्डल के स्टाफ का काम करते हैं। उनके कार्य मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं—प्रथम यह कि अपने मालिकों के काम को सम्पन्न करें और दूसरा यह कि दूसरों के कार्यों का पता लगाएँ। व्यावसायिक विशेषज्ञों का यह दल एक दिन में संगठित नहीं हो जाता। आज के युग की परिस्थितियों में एक योग्य विदेश-सेवा के विकास के लिए पर्याप्त समय एवं अनुभव की आवश्यकता होती है।

सरकारें समय-समय पर विशेष गुप्त दूत (Emissary) नियुक्त करती है जो महत्वपूर्ण अवसरों पर विशेष समझौते करते हैं तथा सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने हैरी हार्पकिंस (Harry Hopkins) को अपना विश्वास प्रदान किया और राज्य-सचिव तथा सम्बन्धित राजधानियों के राजदूतों की अवहेलना करके कई बार चर्चिल और स्टालिन के पास गुप्त वार्ता के लिए भेजा। इसी प्रकार राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने अपने भाई मिल्टन आइजनहॉवर को अनेक विशेष अवसरों पर प्रयुक्त किया। राजदूत एवरल हैरीमैन (Averell Harriman) को राष्ट्रपति ट्रूमैन, कैनेडी और जॉनसन द्वारा अनेक विशेष अवसरों पर नियुक्त किया गया। राज-सचिव बनने से तीन वर्ष पूर्व जॉन फास्टर डलेस को जापान की शान्ति-सन्धि में वार्तालाप का काम सौंपा गया। ये सारी नियुक्तियाँ राज्य के अध्यक्ष के विशेषाधिकार हैं। यह हो सकता है कि कुछ देशों को प्रभावित करने वाले क्षेत्र की किसी विशेष समस्या में गुप्त दूत राजदूत की अपेक्षा अधिक कुशल हो। किन्तु फिर भी सम्भावना यह रहती है कि वह उस देश के राजदूत के प्रभाव एवं सम्मान को कम कर देगा और ऐसी स्थिति में इस तकनीक का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

आज के जटिल वातावरण मे राज्यों के आपसी सम्बन्ध राजनीतिक, आर्थिक, सुरक्षात्मक एवं वैज्ञानिक अनेक विषयों से युक्त हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यह *स्वाभाविक है कि सरकारी के विभिन्न विभागों के सेवीवर्ग को कूटनीतिक सम्बन्धों* मे तथा नीति-निर्माण मे भाग लेने का अवसर दिया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे सर्वाधिक सक्रिय रूप से भाग लेने वालो मे सशस्त्र सेनाओ एवं सुरक्षा संस्थानो के सदस्य होते हैं। नाटो देशो के सुरक्षा-सचिव तथा उनके अधीनस्थ अधिकारी जब नाटो की बैठकों मे नए सुरक्षा प्रबन्धों पर विचार करते हैं, तो एक प्रकार से कूटनीति मे उलझ जाते हैं। इसी प्रकार जब जन-स्वास्थ्य अधिकारी विश्व-स्वास्थ्य सगठन (W. H. O.) की बैठक मे भाग लेते हैं या राजकोष के प्रतिनिधि विश्व-बैंक की बैठक मे भाग लेते हैं तो वे भी कूटनीति मे उलझ जाते हैं। इसी प्रकार से पारस्परिक सुरक्षा, सांस्कृतिक सम्बन्ध, आर्थिक एव तकनीकी सहायता कार्य आदि भी किसी न *किसी प्रकार से कूटनीति से सम्बन्ध रखते हैं। पीयरसन के कथनानुसार अफगानिस्तान* मे संयुक्तराज्य अमेरिका का भू-वैज्ञानिक संयुक्तराज्य अमेरिका की नीति के बारे मे अमेरिकी राजदूत की अपेक्षा अफगानिस्तान के मत को अच्छे या बुरे के लिए अधिक प्रभावित कर सकता है।

कूटनीतिक विशेषाधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ
(Diplomat c Previleges and Immunities)

आधुनिक युग मे कूटनीतिज्ञों को अनेक विशेषाधिकार और स्वतन्त्रताएँ दी जाती हैं ताकि वे अपने उत्तरदायित्वों का भली प्रकार निर्वहन कर सकें। सामान्यतः निम्नलिखित विशेषाधिकार और स्वतन्त्रताएँ आवश्यक रूप से प्रदान की जाती हैं—

(1) व्यक्तिगत सुरक्षा, (2) फौजदारी कानून के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, (3) दीवानी कानून के क्षेत्राधिकार से मुक्ति, (4) राजनयिकों से सम्बन्धित लोगों की स्वतन्त्रताएँ, (5) निवास-स्थान से सम्बन्धित विशेषाधिकार, (6) करों से मुक्ति, एवं (7) संचार-साधनों की स्वतन्त्रता।

पामर एवं पर्किंस के मतानुसार इन विशेषाधिकारों और स्वतन्त्रताओं को देने के मूल मे दो महत्वपूर्ण कारण हैं—प्रथम यह कि कूटनीतिज्ञ अपने राज्य के अध्यक्षों के व्यक्तिगत प्रतिनिधि होते हैं और साथ ही अपनी सरकार तथा अपने देश की जनता का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे, वे अपने कार्यों को सन्तोषजनक रूप से तभी सम्पन्न कर सकते हैं जब स्थानीय कानून द्वारा आरोपित कुछ बाधाओं से उन्हें मुक्त रखा जाए।

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए कूटनीति के मूलभूत कार्य
(Substantive Funct ons of D plomacy for the Promotion of National Interest)

कूटनीति का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्रीय हित का संवर्द्धन तथा निर्धारित नीति के उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न है। कूटनीतिज्ञ राष्ट्रीय नीति को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न गतिविधियों में भाग लेते हैं। स्टॉलिन ने कूटनीति को एक प्रकार की कला मानते

हुए कहा था कि कूटनीतिज्ञ के शब्दों का उसके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, यदि ऐसा है तो वह कूटनीति ही कैसी ? 'कथनी' एक चीज है और 'करनी' दूसरी। अच्छे शब्द बुरे कार्यों को छिपाने में ढाल का काम करते हैं। एक निष्कपट कूटनीति उसी तरह असम्भव है जिस तरह कि 'सूखा पानी' या 'गरम लोहा'।[1]

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि सम्बन्धी कूटनीति के मूलभूत कार्यों को विभिन्न विचारकों, राजदूतों और राजनीतिज्ञों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है।

(क) हिन्दू नीति-शास्त्रों का मत

हिन्दू नीति-शास्त्रों में चार प्रकार के कूटनीति के साधन और उपाय बताए गए—साम, दाम, दण्ड और भेद। 'साम' के अनुसार एक देश मित्रतापूर्ण व्यवहार सुझाव एवं बौद्धिक तर्कों द्वारा अपने राष्ट्रीय हित साधन का प्रयास करता है। 'दाम' के अनुसार एक देश अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए धन व्यय करता है। ऐसे समझौते करता है जिसमें स्वय के धन से दूसरे पक्ष का लाभ हो। कुछ महत्वपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कुछ देना, कुछ व्यय करना आवश्यक बन जाता है। यह समझौते का एक तरीका है। जहाँ साम और दाम से काम बनता न दीखता हो वहाँ 'भेद' का सहारा लेना होता है अर्थात् शत्रु के शत्रु से मेल कर लेना और शत्रु के मित्रों में आपस मे फूट डाल देना। कूटनीति का सबसे अन्तिम हथियार शक्ति है। जब सभी अन्य साधन असफल हो जाएँ तो कूटनीति को युद्ध का मार्ग अपना पड़ता है।

(ख) सरदार पनिक्कर का मत

कूटनीतिज्ञ को एक देश का दूसरे देश मे स्थित *आँख और कान कहा जाता* है। कोई भी देश अपने कूटनीतिज्ञों के माध्यम से दूसरे देश की घटनाओं, नीतियों और दृष्टिकोणों के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त कर अपनी विदेश-नीति को आवश्यक मोड देता रहता है। बहुत से विचारकों ने चातुर्य, कुशलता, कपट आदि को कूटनीतिक गुण माना है जबकि ख्यातिप्राप्त भूतपूर्व भारतीय राजदूत पनिक्कर के अनुसार धूर्तता, कपट आदि से पूर्ण कूटनीति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति मे बहुत कम सहायक हो सकती है। कारण यह है कि कूटनीति अपने देश के प्रति दूसरे देशों की *शुभ कामना प्राप्त करने की दृष्टि से प्रेरित होती है* और कपट आदि इस उद्देश्य के मार्ग मे खतरनाक साधन हैं। दूसरे देशों की शुभ कामना प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति चार प्रकार से अधिक अच्छी तरह हो सकती है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझें और उसके प्रति सम्मान की भावना रखें, वह देश दूसरे देशों *की जनता के न्यायोचित हितों को* समझे एवं सर्वोपरि, *वह ईमानदारी से व्यवहार* करें। आप बहुत से लोगों को सदा के लिए धोखे मे नहीं रख सकते और इस दृष्टि से चातुर्य, कपट आदि से पूर्ण कूटनीति के पर्दे मे जब छिद्र हो जाएँगे और देश की

1 *Joseph Stalin*, Quoted in *David Dallen*: The Real Soviet Russia, 1944, p. 74.

नीति की असलियत जाहिर हो जाएगी तो विश्व-समाज मे उस देश के स्तर को बड़ा धक्का पहुँचेगा। पनिक्कर जैसे विचारकों का मत है कि व्यक्तिगत जीवन की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

(ग) पामर एवं पर्किंस का मत

पामर एव पर्किंस ने कूटनीतिज्ञ को दूसरे देशो मे अपनी सरकार की आँख और कान (Eyes and ears of his Government) कहा है जिसके मुख्य कार्य हैं—*अपने देश की नीतियो को क्रियान्वित करना, अपने देश के हितो और देशवासियों* (जो विदेश मे हो) की रक्षा करना तथा अपनी सरकार को शेष विश्व में होने वाली मुख्य घटनाओ के बारे मे सूचित रखना।[1] कूटनीतिज्ञो के कार्यों को आगे चलकर और भी स्पष्ट करते हुए पामर एव पर्किंस ने इन्हे चार आधारभूत वर्गों मे विभाजित किया है— (1) प्रतिनिधित्व (Representation), (2) समझौता-वार्ता (Negotiation), (3) प्रतिवेदन (Reporting), एव (4) विदेशो मे अपने राष्ट्र और अपने देश के नागरिको के हितो की सुरक्षा (The Protection of the interests of the Nation and of its Citizens in Foreign Land)। एक अन्य स्थल पर लेखकद्वय ने लिखा है कि *विदेश-नीति की भाँति ही कूटनीति का यह लक्ष्य है कि यथासम्भव शान्तिपूर्ण साधनो से देश की रक्षा करे, लेकिन यदि युद्ध अपरिहार्य ही हो जाए तो सैनिक तैयारी कर युद्ध करे।* युद्ध के समय 'शान्तिकालीन कूटनीति' का रूप बदलकर युद्ध की अवस्थाओ के अनुरूप हो जाता है।

(घ) क्विन्सी राइट, ओपेनहेम, चाइल्ड्स तथा पैडलफोर्ड एवं लिंकन का मत

क्विन्सी राइट के अनुसार कूटनीति युद्ध से भिन्न इसलिए है क्योकि यह भौतिक शस्त्रो के स्थान पर शब्दो का प्रयोग करती है। शक्ति-प्रदर्शन और युद्ध की धमकी कूटनीति के साधन हैं पर जब युद्ध छिड़ जाता है तो दोनो पक्षो के बीच प्रायः *कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाते हैं।* ओपेनहेम ने *कूटनीतिज्ञो के कार्यों को तीन भागो मे विभाजित किया है*—(i) समझौता (Negotiation), (ii) पर्यवेक्षण (Observation) एवं (iii) सुरक्षा (Protection)। चाइल्ड्स ने भी पामर एव पर्किंस की भाँति ही कूटनीतिज्ञो के कार्यों को इन चार भागो मे बाँटा है—(1) प्रतिनिधित्व करना, (2) समझौता करना, (3) प्रतिवेदन करना, एवं (4) विदेशी भूमि मे अपने देश के नागरिकों तथा देश के हितों की रक्षा करना। पैडलफोर्ड एव लिंकन ने भी चार कार्यों को ही प्रमुखता दी है—सुरक्षा, प्रतिनिधित्व, पर्यवेक्षण एव प्रतिवेदन तथा समझौता।

(ङ) मार्गेन्थो का मत

मॉर्गेन्थो के अनुसार कूटनीतिज्ञ के अग्रलिखित चार प्रमुख कार्य हैं—प्रथम राज्य की शक्ति को ध्यान मे रखकर अपने लक्ष्यों को निर्धारित करना; द्वितीय, अपने

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 58.

उद्देश्यों और राज्य-शक्ति के साथ-साथ दूसरे राज्य की शक्ति का समुचित मूल्यांकन, तृतीय, यह पता लगाना कि विभिन्न राज्यों के लक्ष्य एक दूसरे से कहाँ तक मेल खाते हैं और यदि इन लक्ष्यों के मध्य साम्य न हो तो उनके बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना एवं चतुर्थ, अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समझौता, समझाना-बुझाना, बलप्रयोग की धमकी आदि उपायों का आश्रय लेना।

(च) लियो बी पौलाद का मत

एक भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत लियो बी पौलाद (Leon B. Poullada) ने अपने एक लेख 'Diplomacy : The Missing Link in the Study of International Politics' में कूटनीति के पाँच कार्यों का उल्लेख किया है[1]--

1. संघर्ष का प्रबन्धन (The Management of Conflict)
2. समस्या-समाधान (Problem-solving)
3. परा-सांस्कृतिक कार्य (Trans-cultural Functions)
4. समझौतावार्ता और सौदेबाजी (Negotiations and Bargaining)
5. कार्यक्रम व्यवस्था (Programme Management)

संघर्ष का प्रबन्ध (The Management of Conflict)—कूटनीतिज्ञ का एक प्रमुख मूलभूत कार्य संघर्ष का प्रबन्धन है अर्थात् जहाँ कहीं हितों का भारी कटाव (Intersection of Interests) हो वहाँ एक कूटनीतिज्ञ को समझाने-बुझाने, सौदेबाजी करने, सुलह कराने आदि विभिन्न उपायों द्वारा संघर्षपूर्ण स्थितियों के समाधान में प्रवृत्त होना चाहिए। घरेलू क्षेत्र में पेशेवर राजनीतिज्ञ जिस प्रकार इन कार्यों का निर्वहन करते हैं उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कूटनीतिज्ञ इन कार्यों का निर्वहन विभिन्न संस्कृतियों और मूल्य-व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में करते हैं और इस हैसियत से वे मुख्यतया एक 'परा-सांस्कृतिक संघर्ष दलाल' (Trans-cultural Conflict Broker) की भूमिका निभाते हैं। एक कूटनीतिज्ञ यद्यपि प्रधान रूप से अपने देश के हितों का प्रतिनिधित्व करता है लेकिन वह इस बात से भी परिचित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई भी पक्ष पूर्ण 'सही' होने का दावा नहीं कर सकता और बहुधा ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं जब हितों में सामञ्जस्य बैठाना पड़ता है। कूटनीतिज्ञ विभिन्न हितों के प्रसारकों में इस तरह सामञ्जस्य बैठाने का प्रयत्न करता है कि सभी सम्बन्धित पक्षों को शुद्ध लाभ (Net Gain for All Concerned) प्राप्त हो। खेल सिद्धान्त के रूप (Game Theory Targon) कूटनीतिज्ञ सदैव एक 'नान-जीरो-सम गेम' (A Non-zero-sum Game) के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस भूमिका में वह तभी सफल हो सकता है जब विभिन्न पक्षों के सांस्कृतिक अनुदेशों, निर्णयकारी शक्ति के स्रोतों, शक्ति-संचालकों के सही दावपेचों आदि को भली प्रकार समझ कर कार्य करे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष-प्रबन्धन

1 *Leon B. Poullada's* Article in "The Theory and Practice of International Relations", 1974, pp. 196-199 by *David Mclellan, W. C. Olson and Fred A. Sondermann.*

निरोधात्मक कूटनीति (*Preventive Diplomacy*) का बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यवहार है, तथापि इसकी खोजबीन उतनी ही कम की गई है जितनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में इस पहलू के अध्ययन की उपेक्षा की गई है। एक कूटनीतिज्ञ को राबर्ट नार्थ के इन शब्दों को समझना चाहिए कि "संघर्ष के तीव्रीकरण को दूर करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि सर्वप्रथम संकट के विकास को टाला जाए।"[1]

समस्या-समाधान (Problem-solving)—मूलभूत कूटनीतिक गतिविधि का दूसरा क्षेत्र समस्या-समाधान है। विदेश-सम्बन्धों के संचालन में अनेक समस्याएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तथा कई बार सीमान्त पसन्दिगियों (*Marginal Choices*) को चुनने की स्थिति उत्पन्न होती है अतः कूटनीतिज्ञ का प्रतिवेदन सम्बन्धी काम सुगम नहीं होता। देखने में प्रतिवेदन तथ्यों के संग्रह का सीधा साधा काम लगता है, लेकिन यह आवश्यक रूप से समस्या-समाधान का एक अभ्यास-क्रम है। कूटनीतिज्ञ को चाहिए कि वह सर्वप्रथम विभिन्न सम्भव व्याख्याओं में से चुनाव करे, सूचना-संग्रह में से विभिन्न सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों या पक्षपातों की छँटनी कर दे और उपलब्ध सूचना को प्रयोग में लाने का बहुत ही रचनात्मक तरीका चुने ताकि नीति-निर्माण और क्रियान्वयन दोनों को प्रभावित किया जा सके। समस्या-समाधान की दिशा में गम्भीर सैद्धान्तिक कार्य किसी भी कूटनीतिज्ञ के लिए मूल्यवान है क्योंकि इससे न केवल संघर्ष प्रबन्धन (Conflict Management) में सहायता मिलती है बल्कि सहयोग को उन क्षेत्रों में भी जिनमें हितों का कोई संघर्ष नहीं होता समस्याओं के समाधान में मदद मिलती है।

परा-सांस्कृतिक कार्य (*Trans-cultural Functions*)—मूलभूत कूटनीतिक गतिविधि का तीसरा क्षेत्र कूटनीतिक व्यवसाय के परा-सांस्कृतिक कार्यों पर केन्द्रित है। कूटनीतिज्ञ के कार्य का यह पहलू उसके व्यवसाय को एक अद्भुत स्वरूप प्रदान करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी कूटनीतिज्ञ परा-सांस्कृतिक कार्यों में निपुण होते हैं। इसका आशय केवल यही है कि उन्हें इस कार्य में निपुण होना चाहिए। पौलाद ने इस सम्बन्ध में रोसो (Rossow) के एक लेख का उद्धरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—"कूटनीतिज्ञ स्वयं को विभिन्न संस्कृतियों के बीच कार्य करते हुए पाता है और कभी-कभी तो अनेक संस्कृतियों के बीच एक साथ ही कार्य-व्यस्त रहता है। कूटनीतिज्ञ का मुख्य योगदान उसकी इस निपुणता में प्रकट होता है कि वह विभिन्न संस्कृतियों के मध्य किस प्रकार अपनी व्याख्याओं पर पहुँचता है। वह इस सम्बन्ध में दो दिशाओं में अपनी निपुणता का प्रयोग कर सकता है—प्रथम, वह विदेशी सांस्कृतिक सन्दर्भों में अपने देश की स्थितियों और विकासों की व्याख्या करता है और उन्हें फिट बैठाता है, तथा द्वितीय, वह विदेशों में अपने देश के नीति-उद्देश्यों की वकालत करता है, उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है।" विभिन्न

1 "*The best way to avoid escalation of conflict is to avoid the development of a crisis in the first place.*"
—*Robert North*, Quoted from *Leon B. Poullada* : Ibid, p. 196.

संस्कृतियों के मध्य कार्य करते हुए भी कूटनीतिज्ञ अपने राष्ट्रीय हित के सम्वर्द्धन में लगा रहता है। अन्योन्य सांस्कृतिक व्यवस्था (Cross-Cultural Interpretation) कूटनीतिज्ञ का एक आधारभूत व्यावसायिक कार्य है।

समझौता-वार्ता और सौदेबाजी (*Negotiation and Bargaining*)—कूटनीति का चौथा मूलभूत कार्य समझौता-वार्ता और सौदेबाजी है। समझौता-वार्ता केवल अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों में ही नहीं होती बल्कि कूटनीतिज्ञ अपने दैनिक कार्यों में विभिन्न तरीकों से विचार-विमर्श, सौदेबाजी और समझौते सम्बन्धी कार्यों में लगा रहता है। एक छोटे धरातल पर आरम्भ में वह जिस सहयोगपूर्ण और मैत्रीपूर्ण वातावरण का निर्माण करता है वही वातावरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वृहत्तर रंगमंच पर सहयोग और मैत्री के लिए आधार-स्थल का काम करता है।

कार्यक्रम-व्यवस्था (Programme Management)—कुछ दृष्टियों से यह कार्य लोक-प्रशासन का प्रतीत होता है, लेकिन वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीतिज्ञ इस कार्य द्वारा राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए तथा सहयोग और मित्रता के विकास के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। विदेशों में अपने देश के किसी कार्यक्रम के प्रबन्ध की कुशलता या विदेशी-सम्बन्धों के संचालन पर काफी प्रभाव पड़ता है। उसके माध्यम से विदेशों में देश की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाती है। आज के युग में इस प्रकार के कार्यक्रमों का महत्त्व द्वि-राष्ट्रीय और बहु-राष्ट्रीय दोनों ही स्तर पर बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है।

(छ) सामान्य निष्कर्ष

यद्यपि विद्वानों ने कूटनीतिज्ञों के प्रमुख कार्यों की विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यवस्था की है और अलग-अलग रूप से किसी विशेष कार्य को अधिक महत्व दिया है, तथापि कुल मिलाकर कार्यों के बारे में कोई विशेष मतभेद नहीं है। अतः यह उचित होगा कि अलग-अलग विद्वानों द्वारा प्रतिपादित कार्यों की अलग-अलग व्याख्या न करके सामूहिक ढंग से प्रमुख कार्यों की व्याख्या की जाए।

सुरक्षा (Protection)—सभी विद्वानों के अनुसार एक कूटनीतिज्ञ का यह प्रमुख कार्य है कि वह अपने देश के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करे और उनको प्रोत्साहन दे तथा विदेशों में रहने वाले अपने देशवासियों के अधिकारों की रक्षा करे। उसे नित्यप्रति की धमकियों अथवा असमानताओं के प्रति जागरूक रहना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि उसके देश के सम्मान के प्रति कोई सौदेबाजी न हो। यह उत्तरदायित्व प्रतिनिधित्व, समझौता, सन्धि एवं कार्यपालिका की सहमति द्वारा पूरा किया जा सकता है। कूटनीतिक मिशन के अधिकारियों को उन लोगों से बातचीत करनी होती है जो सहायता की माँग करते हैं तथा जिनके अधिकारों को छीना गया है, सम्पत्ति जब्त कर ली गई है या उनके व्यक्ति हताहत हुए हैं अथवा उन्हें पूरी कानूनी सुरक्षा प्रदान नहीं की गई है। ऐसी स्थिति में ये कूटनीतिज्ञ उनके कष्टों को दूर करने में पूरा सहयोग देते हैं। जब राजनीतिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त होती हैं तो यह सुरक्षात्मक कार्य एक भारी उत्तरदायित्व बन जाता है और

दूतावास शरणार्थियो का आश्रयस्थल बन जाता है। जिस समय गृह-युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना हो अथवा छिड रहा हो उस समय कूटनीतिक मिशनो से उसकी शक्ति-भर वह सब करने की आशा की जाती है जिससे उनके राष्ट्र के लोग अपने घर सुरक्षित लौट जाएँ अथवा सुरक्षित स्थानो पर पहुँच जाएँ। जब युद्धरत देशो के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाते हैं तो परम्परागत रूप से तटस्थ देशो के राजनयिको से यह कहा जाता है कि वे वहाँ उनके देशवासियो के हितो की रक्षा करें। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय स्विट्जरलैण्ड तथा स्वीडन ने सुरक्षात्मक एवं मध्यस्थता का यह कार्य किया था।

प्रतिनिधित्व (Representation)—प्रत्येक कूटनीतिज्ञ का यह उत्तरदायित्व है कि उसे चाहे दूसरे राज्यो मे भेजा जाए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मे, वह अपने देश का प्रतिनिधित्व करेगा और अपनी सरकार तथा जनता के हितो का प्रतिनिधित्व करेगा। एक प्रतिनिधि के रूप मे कूटनीतिज्ञ अपने राज्य और सरकार का प्रतीक होता है और उनके विचारो को स्पष्ट करता है। यदि दूसरे देश के अधिकारी या गैर-सरकारी व्यक्ति एव समूह एक देश के दृष्टिकोण तथा अभिप्रायो को जानना चाहते है तो वे कूटनीतिज्ञो से सम्पर्क स्थापित करते हैं। कूटनीतिज्ञ अपने देश के दृष्टिकोण एवं अभिप्रायो को बडी चतुरता, स्पष्टता एवं सक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है। उसके व्यक्तिगत विचार चाहे कुछ भी हो, किन्तु दूसरे देशवासियो को वह उन्ही विचारो को बतलाएगा जो उसके देश की सरकार के हैं। अपनी सरकार के प्रतीक और प्रवक्ता के रूप मे कार्य करते हुए राजदूत विदेश मे अपने देश के लिए मित्रता की वृद्धि करता है और इसके लिए वह सरकार के नेताओ एव व्यापार, समाज शिक्षा और राजनीतिक जीवन के नेताओं के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाता है। एक कूटनीतिज्ञ के उत्तरदायित्व का वर्णन करते हुए जोसेफ सी. सी. क्रयू (Joseph C. C. Crew) का कथन है कि "उसे सबसे पहले और सबसे प्रमुख रूप से एक व्याख्याता (Interpreter) होना चाहिए।" वह व्याख्याता का कार्य दोनो तरीकों से कर सकता है। प्रथम, वह जिस देश मे कार्य कर रहा हो उस देश की परिस्थितियो, मनोदशा, कार्य और उसके मूल अभिप्रायो को समझेगा और उनसे अपनी सरकार को परिचित कराएगा। दूसरी ओर वह जिस देश मे रह रहा है उसकी सरकार और जनता को अपने मूल देश के उद्देश्य, आशा एव इच्छाओ से अवगत कराएगा। वह उन विचारों और शक्तियो के बीच पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापित करने वाला एक अभिकरण है जिसके आधार पर राष्ट्र कार्य करते हैं। प्रतिनिधित्व का अर्थ होता है कि कूटनीतिक मिशन के सदस्य अपने स्वय के देश के बारे मे अच्छी प्रकार से सूचित हो और जहाँ आवश्यकता हो वे निरन्तर और तुरन्त सूचना प्रदान करें। जब सार्वजनिक सभाओं मे बोलने का अवसर प्राप्त करें तो व्यापार एवं गृहनीति के सम्बन्ध मे अपनी नीतियो को स्पष्ट करें, सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रगति का उल्लेख करें तथा अपने देश की कला की प्रमुख विशेषताओ की जानकारी दें।

वरिष्ठ कूटनीति एवं कूटनीतिक मिशन के अध्यक्ष महत्त्वपूर्ण अवसरों पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे यात्रा के माध्यम से पूरे देश की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। वे अन्य राजदूतों के सम्मान में स्वयं भोज देते है और दूसरों के द्वारा दिए जाने वाले भोजों में सम्मिलित होते हैं। हेराल्ड सीमर (Harold Seymour) के अनुसार एक अच्छा भोज कूटनीति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

अधिकांश देश अपने कूटनीतिज्ञों को खर्च करने के लिए पर्याप्त धन देते हैं ताकि वे अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकें। संयुक्तराज्य अमेरिका मे पहले इस बात पर जोर दिया जाता था और इसलिए कूटनीतिक पद उस व्यक्ति को सौंपे जाते थे जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो, किन्तु अब नए समायोजन के कारण अन्य अधिकारी भी इन पदों को सम्भाल सकते हैं। परम्परागत रूप से अपने देश का सर्वोच्च अधिकारी होने के नाते राजदूत प्राय प्रमुख प्रशासकीय एव प्रबन्धात्मक उत्तरदायित्वों को पूरा करता है।

पर्यवेक्षण एवं प्रतिवेदन (Observation and Reporting)—कूटनीतिज्ञों को विदेशों में स्थित एक देश के आंख और कान कहा जाता है। वे विदेशी मामलों के विवेकपूर्ण संचालन मे अपनी सरकार को सक्षम बनाते हैं तथा उन्हें इस बात की भी जानकारी देते हैं कि कहाँ उनके मित्र हैं और कहाँ उनके विरोधी हैं। विदेशों मे काम करने वाले प्रत्येक मिशन का यह प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह अपने देश को निरन्तर प्रतिवेदन भेजता रहे। ये प्रतिवेदन अनेक विषयों पर भेजे जाते हैं जैसे, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सैनिक परिस्थितियाँ, विचाराधीन व्यवस्थापन, नवीन उत्पादन एवं उद्योग, तकनीकी उपलब्धियाँ तथा शैक्षणिक परिवर्तन आदि।

इसके अतिरिक्त सरकार को विकासशील मामलों पर समझौते की प्रवृत्तियों तथा महत्त्वपूर्ण नेताओं, उत्तरदायी अधिकारियों एवं लोकमत पर प्रभाव डालने वालों के राजनीतिक दृष्टिकोणों का महत्त्व आदि जानने की भी जरूरत रहती है। एक देश के अन्य राज्यों से कैसे सम्बन्ध हैं, सरकार यह जानने के लिए भी प्रयत्नशील रहती है। कूटनीतिज्ञ इन सूचनाओं को केवल तभी भेज सकते है जबकि वे सूचना के सभी स्रोतों का तथा सांख्यिकीय आँकडों का निरन्तर अध्ययन करते रहें। इन सारी सूचनाओं को एकत्रित करने एवं मूल्यांकित करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है। औपचारिक कूटनीतिक प्रतिनिधियों से यह आशा नही की जाती कि वे दूसरे देश मे जाकर गुप्तचर का कार्य करेंगे यद्यपि उनका देश दूसरे साधनों से यह कार्य कर सकता है। गुप्तचर का कार्य उन देशों में जरूरी बन जाता है जहाँ तथ्यों को छिपाया जाता है और सरकार जानबूझ कर वास्तविकता पर पर्दा डालती है, किन्तु जब एक देश मे पर्याप्त सूचना, उचित अधिकारियों, सरकारी एवं गैर-सरकारी स्रोतों तथा अन्य प्रकार से प्राप्त हो जाती है, वहाँ गुप्तचरी को आवश्यक नहीं समझा जाता। अमेरिकी लेखकों के मतानुसार साम्यवादी देश अपने कूटनीतिक अधिकारियों द्वारा गुप्तचरी किए जाने से एतराज नही करते। इसी कारण एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों ने चीनी कूटनीतिक अधिकारियों को

अपने देश से निकाल दिया था। साम्यवादी देशों ने भी अनेक ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि सयुक्त-राज्य अमेरिका का सी. आई. ए विदेशों मे सक्रिय है। भारत मे सी. आई ए. की क्रियाओं के प्रति हाल ही मे पर्याप्त विवाद उठा था जिसमे यह कहा गया था कि सी. आई. ए. ने अपने धन द्वारा चतुर्थ आम चुनावों को प्रभावित किया और अनेक शैक्षणिक सस्थाओ तथा सरकारी सस्थाओं को प्रभावित किया।

समझौता-वार्ता (Negotiation)—कूटनीतिज्ञ का अन्तिम कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजदूत जॉर्ज केनन (George Kennan) ने इसे केन्द्रीय कूटनीतिक कार्य कहा है। यह कार्य है सरकारो से समझौते की वार्ता करना। चाहे कूटनीतिज्ञ व्यक्तिगत रूप से एक राज्य के साथ समझौते की वार्ता करे अथवा एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे अनेक राज्यो के साथ वार्ता करे, उसका यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह अपने देश का पक्ष प्रस्तुत करे। यद्यपि कूटनीतिज्ञ अपने देश तथा अन्य देश के विवाद को सुलझाने का प्रयास करता है, तथापि हम उसे मध्यस्थ नही कह सकते। वह केवल कुछ ही मामलो मे ऐसा कर सकता है। वह तो अपने पक्ष के लिए सौदेबाजी करता है और समझौता करते समय वह एक पक्ष की ओर पूरी तरह से झुका रहता है। वह अपने पक्ष के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करता है। जब कूटनीतिज्ञ अपने देश के पक्ष निरन्तर प्रस्तुत करता है तो दूसरे देश के लोगो पर उसका प्रभाव जाने या अनजाने पडता ही है।

समझौते की वार्ता के कई स्तर होते हैं। वह एक ही साथ दो-तीन स्तरों पर चल सकती है। यह राज्य के अध्यक्षो के बीच प्रत्यक्ष रूप से हो सकती है, इसे विदेश सचिव पत्र-व्यवहार द्वारा कर सकते हैं अथवा विदेश-मन्त्रियो का सम्मेलन किया जा सकता है। राजदूत भी इसके लिए उपयुक्त अधिकारियो के साथ बातचीत कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का स्थान
(Place of Diplomacy in International Politics)

अभी तक के विवरण से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कूटनीति के महत्त्व पर विभिन्न सन्दर्भों में प्रकाश डाला जा चुका है, तथापि मॉर्गेन्थो ने 'कूटनीति के गुण' शीर्षक के अन्तर्गत जो विचार प्रकट किए हैं वे अपठनीय हैं[1] क्योंकि उनसे हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कूटनीति के महत्त्व के सार का अच्छा बोध होता है। मॉर्गेन्थो के अनुसार राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में जो भी तत्त्व योग देते हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व कूटनीति की उत्तमता है, भले ही यह तत्त्व कितना ही ... क्यो न हो। राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित करने वाले अन्य सभी तत्त्व तो वास्तव में वह कच्चा माल है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति गढी जाती है। यह राष्ट्र की कूटनीति की उत्तमता ही है जो इन तत्त्वों को एक लड़ी मे गूँथती है,

1 *Morgenthau* : op. cit., pp 135-39.

उन्हें दिशा और गुरुता प्रदान करती है तथा उनकी सुप्त सम्भावनाओं को वास्तविक शक्ति की साँसें प्रदान कर जाग्रत करती है। किसी राष्ट्र के विदेशी मामलों का उसके कूटनीतिज्ञों द्वारा सचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना कि युद्ध के समय राष्ट्रीय शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा व्यूह-रचना और दाव-पेचों का सचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे राष्ट्रीय हितों से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित मामलों मे अधिकाधिक प्रभावी रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है।

मॉर्गेन्थो ने कूटनीति को राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क (Brain of National Power) *माना है और राष्ट्रीय मनोबल या हौसले को उसकी आत्मा* (National morale is its soul) की सज्ञा दी है। यदि कूटनीति का दृष्टिकोण दूषित है, *इसके निर्णय गलत हैं तो अन्य तत्त्व अन्ततोगत्वा एक राष्ट्र के लिए कम योगदान* दे पाएँगे। कूटनीति मे पिछड जाने पर एक देश अन्ततोगत्वा अपने अन्य तत्त्वो के *लाभों को भी खो बैठेगा और अपने अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति मे असफल रहेगा* या बहुत दुर्बल सिद्ध होगा। मॉर्गेन्थो का स्पष्ट मत है कि अन्त मे ऐसे राष्ट्र को *उस राष्ट्र के सम्मुख झुकना ही पड़ेगा जिसकी कूटनीति अपने अन्य राष्ट्रीय शक्ति* के तत्वों का सम्पूर्ण प्रयोग करती है और इस तरह अन्य क्षेत्रों की कमी की पूर्ति *अपनी स्वय की श्रेष्ठता से करने मे सफल हो जाती है।* अपने राष्ट्र की शक्ति-सम्भावनाओं का पूर्ण लाभकारी प्रयोग कर एक योग्य कूटनीति अपने राष्ट्र की शक्ति को उस सीमा से कहीं अधिक बढ़ा सकती है जितनी कि अन्य तत्त्वों के समन्वय के उपरान्त कोई आशा कर सकता है। मॉर्गेन्थो के ही ओजस्वी शब्दों मे "*इतिहास में प्रायः बुद्धि तथा आत्मा से रहित 'गोलियाथ' 'डेविड' द्वारा मारा गया* है जिसके पास मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही थे। उत्तम श्रेणी की कूटनीति विदेश-*नीति के लक्ष्य तथा साधनों का राष्ट्रीय शक्ति के प्राप्य साधनों से सामञ्जस्य स्थापित* कर देगी। वह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त स्रोतों की खोज कर लेगी और उन्हें स्थायी *रूप से राजनीतिक सत्यताओं में परिणत कर देगी।* राष्ट्रीय प्रयत्न को दिशा प्रदान कर वह अन्य तत्वों जैसे, औद्योगिक सम्भावनाओं, सैनिक तैयारी, राष्ट्रीय चरित्र *तथा राष्ट्रीय हौसले का प्रभाव बढ़ा देगी।* यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप से विदित हो तो राष्ट्रीय शक्ति अपनी तमाम सम्भावनाओं का पूरा सदुपयोग कर सामान्यतया किन्तु युद्ध के समय विशेष रूप से उच्चतम शिखर पर पहुँच सकती है।"

मॉर्गेन्थो ने अपने विवरण मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् के उदाहरणों को प्रचुर मात्रा मे देकर बताया है कि कूटनीति किस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क है तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व है। दो महायुद्धों के बीच संयुक्तराज्य अमेरिका ने उस राष्ट्र का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया जो शक्तिशाली होने के बावजूद विश्व-मामलो

मे हल्की भूमिका अदा करता है। संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश-नीति इतनी शिथिल रही कि वह अपनी शक्ति के पूर्ण प्रभाव को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर केन्द्रित नही कर सका। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर संयुक्तराज्य की शक्ति का असर निराशाजनक प्रतीत हुआ क्योकि अमेरिकी कूटनीति इस तरह संचालित हुई मानो अमेरिका की भौगोलिक स्थिति के लाभ, उसके प्राकृतिक साधनो, उसकी औद्योगिक सम्भावनाओं, जनसख्या, गुण आदि तत्त्वो का अस्तित्व ही न हो। सन् 1890 से 1914 के मध्य का फ्रांस एक ऐसे राष्ट्र का उदाहरण है जो अन्य पक्षो में बुरी तरह पिछड गया हो लेकिन केवल शानदार कूटनीति (Brilliant Diplomacy) के बल पर शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँच गया हो। सन् 1870 मे जर्मनी के हाथों बुरी तरह पराजित होने के बाद फ्रांस एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया और बिस्मार्क की जादुई कूटनीति ने उसे यूरोप के राष्ट्रो से अलग-थलग कर बराबर द्वितीय श्रेणी की शक्ति ही बनी रहने दिया, लेकिन सन् 1890 मे बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी की विदेश-नीति रूस से दूर होने लगी, वह ग्रेट-ब्रिटेन की शकाओ के समाधान के लिए इच्छुक नही रही और जर्मन विदेश-नीति की इन त्रुटियो का फ्रांसीसी कूटनीति ने पूरा लाभ उठाया। सन् 1894 में फ्रांस ने रूस से किए गए सन् 1891 के राजनीतिक समझौते मे सैनिक सन्धि को जोड दिया और सन् 1904 तथा 1912 मे उसने ग्रेट-ब्रिटेन से औपचारिक समझौते किए। सन् 1914 मे जहाँ फ्रांस ने एक समृद्ध मित्रराष्ट्र को अपना मददगार पाया वहाँ जर्मनी के एक मित्र इटली ने अपने मित्र को ही धोखा दे दिया और जर्मनी के अन्य मित्रों आस्ट्रिया, हगरी, बल्गेरिया तथा टर्की आदि की कमजोरियाँ भी जर्मन पर भार बन गई। मॉर्गेन्थो के अनुसार यह कार्य फ्रांस के प्रतिभावान कूटनीतिज्ञो के माइल बैरे (इटली मे फ्रांस का राजदूत), जलसकैंबोन (जर्मनी में फ्रांस का राजदूत), पोल कैंबोन (ब्रिटेन मे फ्रांस का राजदूत), मोरिस पोलियो लोग (रूस मे फ्रांस का राजदूत), आदि का था।

पुनश्च, दोनो विश्व-महायुद्धो के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे रूमानियो ने अपने साधनों की तुलना से कही अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी, उसका मुख्य श्रेय एक व्यक्ति अर्थात् विदेश मन्त्री टिटुलेस्क्यु को था। इसी प्रकार इतने छोटे तथा अनिश्चित स्थिति में होने के बावजूद उन्नीसवी शताब्दी मे बेल्जियम ने जो शक्ति प्राप्त कर ली थी, वह उसके तीक्ष्ण बुद्धि वाले तथा चुस्त राजा लिओपोल्ड प्रथम व लिओपोल्ड द्वितीय के व्यक्तित्व के कारण थी। सत्रहवी शताब्दी मे स्पेन की कूटनीति ने तथा उन्नीसवी शताब्दी में तुर्किस्तान की कूटनीति ने उनके राष्ट्रीय क्षय की खाई को कुछ समय के लिए पाटे रखा था। ब्रिटिश शक्ति के उतार-चढाव ब्रिटिश कूटनीति की उत्तमता के परिवर्तनों से जुडे रहे हैं। कार्डिनल वूल्जे, कासलरे तथा कैनिंग ब्रिटिश कूटनीति के उच्चतम शिखर का प्रदर्शन करते हैं, जबकि लॉर्ड नार्थ तथा नेवाइल चैम्बरलेन दोनो ह्रास के द्योतक हैं। रिचेलू मजारिन अथवा तेलेराँ की कूटनीति के बिना फ्रांस की शक्ति क्या होती? बिना बिस्मार्क के जर्मनी की शक्ति क्या होती? बिना कैवूर के इटली की शक्ति क्या होती? इसी तरह नवीन

अमेरिकी गणतन्त्र अपनी शक्ति के लिए क्या फ्रैंकलिन, जेफ़रसन, मेडीसन, जेय तथा एडम्स के प्रति ऋणी नहीं हैं जो उसके राजदूत व राज्य-सचिव थे ? और भी उदाहरण लें तो सन् 1890 में बिस्मार्क के राजनीतिक मंच से हट जाने के उपरान्त जर्मन कूटनीति के गुणों में गम्भीर तथा स्थायी गिरावट आ गई। फलस्वरूप जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की क्षति का अन्त उस सैनिक परिस्थिति में हुआ जिसका सामना उसे प्रथम विश्व-महायुद्ध में करना पड़ा। हिटलर के मामले में जर्मनी की कूटनीति की दृढ़ता फ्युहरर के मस्तिष्क में निहित थी। सन् 1933 से 1940 तक की जर्मन कूटनीति की विजय एक व्यक्ति के मस्तिष्क की विजय का परिणाम थी और उस मस्तिष्क के क्षय के कारण ही नाजी शासन के अन्तिम वर्षों में उसे विध्वंसकारी दुर्घटनाओं को सहन करना पड़ा था।

मॉर्गेन्थो का मत है कि राष्ट्रों को अपनी कूटनीति पर उन विभिन्न तत्त्वों के उत्प्रेरक के रूप में अवलम्बित रहना चाहिए जो कि राष्ट्र की शक्ति के अंग होते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार भी ये विभिन्न-तत्त्व कूटनीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर हावी कराए जाते हैं, वही उस क्षेत्र में राष्ट्रीय शक्ति का रूप होता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वैदेशिक कूटनीतिक संगठन सदा उत्तम अवस्था में रहे। स्थायी श्रेष्ठता परम्पराओं पर अवलम्बित होकर ही सर्वोत्तम रूप में हासिल की जा सकती है न कि कभी-कभी अति-कुशल व्यक्तियों के सम्मुख आ जाने से।

स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का महत्त्व सुदूर अतीत से रहा है और आधुनिक युग में तो यह अत्यधिक बढ़ गया है। एक भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत लियो बी. पौलाद (Leon B. Poullada) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का स्थान इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कूटनीति का अधिक अच्छा ज्ञान, (1) शक्ति और प्रभाव के अध्ययन को (Studies of Power and Influence), (2) महत्त्वपूर्ण अन्त-क्रियाओं के अध्ययन को (Studies of Strategic Interactions), (3) सौदेबाजी और समझौता-वार्ता सम्बन्धी अध्ययनों को (Studies of Bargaining and Negotiations), एवं (4) निर्णय करने सम्बन्धी अध्ययनों को (Studies of Decision-Making) सुधारता है।[1]

कूटनीति के विभिन्न प्रकार
(Different Kinds of Diplomacy)

कूटनीति का प्रयोग किसके द्वारा किया जा रहा है, किस विधि से किया जा रहा है, उसका लक्ष्य क्या है, उसका क्या स्वरूप है तथा उसके परिणाम क्या हो सकते हैं, आदि महत्त्वपूर्ण बातों के अन्तर के कारण कूटनीति को अनेक रूपों में विभाजित किया जाता है, जैसे—

(1) प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति (Democratic Diplomacy)

1 *David S. Mclellan, Willam C Olson, Fred A Sandermann* : The Theory and Practice of International Relations, 1974 (Article by Leon B. Poullada), p. 199.

(2) सर्वाधिकारवादी कूटनीति (Totalitarian Diplomacy)
(3) सम्मेलनों की कूटनीटि (Diplomacy by Conferences)
(4) व्यक्तिगत (प्रतिनिधि द्वारा) कूटनीति (Personal Diplomacy)
(5) गुप्त कूटनीति (Secret Diplomacy)
Vs. खुली कूटनीति (Open Diplomacy)
(6) दूकानदार जैसी कूटनीति (Shopkeeper Diplomacy)
Vs युद्धप्रिय कूटनीति (Warrior Diplomacy)
(7) प्रचार की कूटनीति (Propaganda Diplomacy)

कूटनीति के विभिन्न रूपो मे परस्पर कोई सम्बन्ध न हो, ऐसी बात नही है। *यद्यपि इनमे से कुछ तो एक दूसरे की विरोधी प्रकृति की है फिर भी यह सम्भव है* कि एक देश की कूटनीति मे इनमे से कुछ रूप एक साथ प्राप्त हो सकें। उदाहरण के लिए एक कूटनीति प्रजातन्त्रात्मक होने के साथ-साथ प्रचार की, खुले सम्मेलनो की एवं दूकानदार जैसी भी हो सकती है। इस दृष्टि से यदि कूटनीति के उपर्युक्त विभिन्न अन्तरो को 'अन्तर' की सज्ञा न देकर केवल कूटनीति की विशेषताएँ कहे तो भी अनुचित न होगा।

1. प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति (Democratic Diplomacy)—बीसवीं शताब्दी को 'प्रजातन्त्र' के जन्म एवं विकास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस समय शासनसत्ता राजा और सम्राटों के हाथ से निकल कर सामान्य जनता के हाथो मे आ गई। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का निर्णायक एक देश का शासक मात्र न रह कर पूरी जनता बन गई। प्रजातन्त्रात्मक प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता ने कूटनीतिक व्यवहार पर प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया। कूटनीतिज्ञ अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी बन गए, किन्तु जैसा कि पामर तथा पर्किस का विचार है, कूटनीतिक कार्यों पर आज भी उन्ही लोगो का अधिकार है जिनके हाथ मे शक्ति, प्रभाव और धन है। प्राचीन भारत के अनेक राजा, महाराजा और जागीरदार *स्वतन्त्र भारत के राजदूतो का पद सम्भाले हुए हैं।*

प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति की कुछ विशेषताएँ है जैसे—

1. कूटनीतिज्ञों को केवल अपने देश के शासकों की रुचि का ध्यान रखना ही पर्याप्त नही है, उन्हे लोक-रुचि और लोकहित का भी ध्यान रखना होता है।

2. कूटनीतिक स्तर पर किए गए सन्धि एवं समझौतों से सामान्य जनता को परिचित रखना आवश्यक है ताकि जनता उन पर अपना मत व्यक्त कर सके।

3. जनता के अनेक समुदाय एवं संस्थाएँ भाषण, प्रचार, आन्दोलन एवं जुलूसो द्वारा विदेशो से किए गए सन्धि या समझौतो का विरोध या समर्थन कर सकते हैं।

4. प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति एक देश की स्वतन्त्र प्रेस, भाषण की स्वतन्त्रता सरकारी अधिकारियो पर जनमत का प्रभाव, विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनो के विशेष हितो आदि के साँचों के ढलने के बाद रूप ग्रहण करती है तथा कूटनीति के इस रूप का लक्ष्य होता है—सम्पूर्ण देश का सामान्य हित।

प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति के अब तक के अनुभव अधिक अच्छे नहीं हैं। निकल्सन ने अपनी पुस्तक 'कूटनीति' (Diplomacy) के पांचवें अध्याय में प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति के अनेक दोषों का वर्णन किया है। प्रथम दोष यह है कि इसमें 'सम्प्रभु जनता' अनुत्तरदायी होती है। कूटनीतिक कार्यों पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालना जनता का अधिकार समझा जाता है, किन्तु उन कार्यों से होने वाले दुष्परिणामों के लिए वह जिम्मेदार नहीं बनना चाहती।

दूसरा दोष यह है कि सामान्य नागरिक विदेश-नीति से सम्बन्धित निर्णय लेने में अक्षम रहता है। *यदि उसके सम्मुख सभी तथ्य यथाविधि प्रस्तुत कर दिए जाएँ* तो भी वह अपने मस्तिष्क पर विश्व-राजनीति का सन्तोषजनक चित्र नहीं उतार सकता और न ही वह उनके आगामी परिणामों का अनुमान लगा सकता है।

तीसरा दोष यह है कि आंशिक रूप से सूचित लोग विदेश-नीति के उलझे हुए प्रश्नों पर शीघ्रतापूर्ण विधायी (Positive) निर्णय ले लेते हैं। इससे उन लोगों के लिए एक दुखद स्थिति पैदा हो जाती है जो तथ्यों के आधार पर कुछ बौद्धिक निर्णय लेना चाहते हैं।

चौथा दोष यह है कि प्रजातन्त्र में लोकमत द्वारा एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है जिसके आधार पर एक देश की विदेश-नीति संचालित होनी चाहिए। इस सीमा के अनेक लाभ हैं, साथ ही सबसे बड़ा दोष यह है कि देश के नेता अवसर के अनुकूल कोई निर्णय तत्काल नहीं ले पाते। पामर तथा पर्किंस के कथनानुसार प्रजातन्त्रीय देशों द्वारा **'बहुत कम और बहुत देर की नीति' (Too Little and Too Late)** अपनाने के लिए उनकी आलोचना की जाती है। समय पर कोई कदम न उठाने के बाद में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

पाँचवां दोष यह है कि कथनी और करनी के बीच भारी अन्तर रहने लगता है। वार्तालाप, भाषण एवं कार्यों द्वारा यही प्रयास किया जाता है कि नीति का वास्तविक स्वरूप लोगों की आँखों से ओझल रहे।

2. सर्वाधिकारवादी कूटनीति (Totalitarian Diplomacy)—बीसवीं शताब्दी का ही एक दूसरा विकास सर्वाधिकारवाद है। इस व्यवस्था में देश की कूटनीति के संचालक उच्च स्तर के कुछ गणमान्य नेता होते हैं। प्रचार एवं प्रसार के माध्यम से ये लोग देश में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं एवं सही लक्ष्यों को पर्दे के पीछे डाल देते हैं। सर्वाधिकारी राज्यों के *आदर्श, विश्वास, लक्ष्य एवं कार्य* भिन्न होने के कारण उनकी कूटनीति का रूप भी प्रजातन्त्रात्मक देशों से भिन्न रहता है। इस कूटनीति की विशेषताएँ निम्न प्रकार है—

1. यह कूटनीति विचारधारा (Ideology) को आधार बना कर आगे बढ़ती है तथा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय गौरव, भौतिकवाद, सैनिकवाद आदि का सहारा लेती है।

2. सर्वाधिकारी कूटनीतिज्ञों का मूल उद्देश्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्माण करना न होकर अपनी विचारधारा का प्रसार करना है। इसके लिए दूसरे देशों में वे विशेष दलों का निर्माण, पोषण एवं समर्थन करते हैं।

3. सर्वाधिकारी कूटनीतिज्ञ कूटनीनि के सामान्य नियमों का पालन तभी तक करते हैं जब तक वह उनके स्वामियों की योजनाओं से मेल खाता हो।

4. उनके मतानुसार किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि एवं समझौते को इच्छानुसार तोडा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

5. ये कूटनीतिज्ञ प्रचार करते हैं कि साम्यवादी एवं पूंजीवादी राज्यो के बीच संघर्ष एवं मतभेद स्थायी हैं।

6. सर्वाधिकारी राज्यो के साथ अन्य राज्यो के सम्बन्ध प्राय बड़े भेदपूर्ण एवं संघर्षपूर्ण होते हैं—कभी-कभी तो इतने कि कूटनीति का व्यवहार तक असम्भव बन जाता है। शीतयुद्ध समाप्त होने के साथ-साथ अब दोनो पक्षो के बीच समझौतो की मात्रा बढ़ती जा रही है।

3. सम्मेलनों की कूटनीति (Diplomacy by Conference)—कूटनीति के रूप मे प्रथम विश्व-युद्ध के बाद एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। इस काल मे लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना की गई। इससे विश्व के राष्ट्रो को मिल कर तथा सम्मेलनों मे विचार-विमर्श से अपनी समस्याओ को सुलझाने की प्रेरणा मिली। समय के अनुसार यह विचार व्यवहार मे लोकप्रिय बनता चला गया और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सम्मेलनो के माध्यम से कूटनीतिक व्यवहारो को संचालित करना एक साधारण बात हो गई।

सम्मेलन दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे सम्मेलन जो महत्त्वपूर्ण तथा तकनीकी मामलों पर विचार-विमर्श करते हैं। ऐसे सम्मेलनों मे भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या थोडी होती है; केवल विशेषज्ञ ही भाग लेते हैं। दूसरे प्रकार के वे सामान्य सम्मेलन होते हैं जिनमें सैकड़ो व्यक्ति भाग लेते हैं। ऐसे सम्मेलन प्रायः संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वधान में आमन्त्रित किए जाते हैं तथा उच्च स्तर के कूटनीतिज्ञ भी इनमें भाग लेते हैं।

लाइड जॉर्ज के युद्ध-मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य मॉरिस हैंके (Lord Maurice Hankey) ने 'सम्मेलन की कूटनीति' को युद्ध रोकने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय माना है। उनके अनुसार ऐसी कूटनीति के अनेक लाभ हैं जैसे—इसकी प्रक्रिया लचीली होती है, अनौपचारिकता रहती है, सदस्य एक दूसरे से परिचित रहते हैं, सिद्धान्तों के बीच मैत्री रहती है, गुप्त प्रक्रियाओं एवं प्रकाशित परिणामों के बीच सामंजस्य रहता है, सचिव एवं व्याख्याता विश्वसनीय होते हैं।[1]

अनेक क्षेत्रीय तथा अन्य प्रकार के समूह जैसे नाटो (NATO), अमेरिकी राज्यों का संगठन (OAS) तथा योरोपीय एकता आन्दोलन आदि को भी सम्मेलन की कूटनीति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इन सीमित समूहों के बीच समझौते की वार्ता कभी-कभी पर्याप्त कठिन हो जाती है क्योंकि इन देशों का सम्बन्ध पर्याप्त निकट का है। पेडलफोर्ड तथा लिंकन के मतानुसार राजनीतिक विरोधियों एवं

1 *Lord Maurice Hankey* : Diplomacy by Conference (1946), pp. 37-38.

विरोधियों की अपेक्षा कई बार मित्रों के साथ लेन-देन की बात करना अधिक कठिन होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब से जनता रुचि लेने लगी है, तब से सम्मेलन की कूटनीति अधिक लोकप्रिय बन गई है। अब महाशक्तियाँ छोटे राज्यों की आवाज को महत्त्व देने लगी हैं और इनके समर्थन की आवश्यकता महसूस करने लगी हैं। अतः एक समस्या यह उत्पन्न हो गई है कि जब बड़े राज्य कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय लेना चाहते हैं तो छोटी शक्तियाँ माँग कर सकती है कि किसी राज्य की आलोचना या निन्दा करने से पूर्व उस पर मतदान करा लिया जाए। यह माँग बड़ी शक्तियों को कितनी ही बार बड़ी परेशानी मे डाल देती है क्योंकि वे छोटे राज्यों पर आक्रमण करने की इच्छा को पूरी नही कर पाती। इसीलिए वे कभी-कभी इस प्रकार के मतदान की उपयुक्तता के बारे मे सन्देह प्रकट करती हैं। सम्मेलन की कूटनीति, संयुक्त नियोजन एवं क्रिया का प्रयोग करके विशेष क्षेत्रों के बीच सहयोग मे वृद्धि करती हैं। उदाहरण के लिए, नाटो की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसने शान्तिकालीन सैनिक सहयोग का विकास किया है।

सम्मेलन की कूटनीति का एक दूसरा विकास समाज की मान्यता का विकास है। यह यूरोपीय आर्थिक समाज तथा इससे सम्बद्ध निकायो की रचना द्वारा प्रोत्साहित किया गया है। सम्मेलन की कूटनीति ने ही संसदीय कूटनीति को जन्म दिया है जो आज के कूटनीतिक क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

सम्मेलन की कूटनीति हमेशा खुली कूटनीति होती है। जिस प्रकार खुले समझौते खुले मे किए जाते है उसी प्रकार खुले मतभेद भी खुले में ही प्रदर्शित किए जाते है। इससे यह सम्भावना रहती है कि सम्बन्धित दोनो पक्षो के हितो का नुकसान हो और उस सम्मेलन या संगठन का नुकसान हो जिसमे कि ये किए गए हैं। कभी-कभी वाद-विवाद और असहमति को जनता की आँखों से ओझल रखना अच्छा समझा जाता है क्योंकि इससे समस्या स्पष्ट होनी है और विवादपूर्ण समस्याओ पर विचार-विमर्श अच्छी तरह किया जा सकता है। सम्मेलन की कूटनीति को कभी-कभी प्रचार के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रवृत्ति खतरनाक है क्योंकि इससे हर देश अपनी शक्ति बढाने और अन्य की शक्ति को कम करने का प्रयास करता है।

सम्मेलन की कूटनीति की अनेक सीमाएँ हैं। कूटनीति के इस रूप का समर्थन इसलिए किया जाता है क्योंकि यह एक ऐसी प्रक्रिया दिखाई देती है जैसी किसी राज्य की व्यवस्थापिका के अधिवेशन मे रहती है। किन्तु असल मे किसी व्यवस्थापिका के अधिवेशन तथा सम्प्रभु राज्यों के सम्मेलनो मे पर्याप्त अन्तर रहता है। दूसरे, इन राज्यों के प्रतिनिधि स्वतन्त्र एजेन्ट नही होते, अपितु अपनी सरकारों के निर्देशनों से बँधे रहते हैं और उनका काम होता है कि वे अपने राज्य के हितो की रक्षा एवं अभिवृद्धि करें।

साम्यवादी राज्यो एवं पश्चिमी शक्तियों के बीच सम्मेलन की कूटनीति के विषय कुछ बातों पर मित्र राष्ट्रों के बीच समझौता होना जरूरी है कि किस विषय

पर समझौता-वार्ता की जाए ? कब की जाए ? क्या समझौते' तथा मुक्तियाँ की जा सकती हैं और कब कड़ा दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है ? जो भी महत्त्वपूर्ण समझौते किए जाएँ वे सम्बन्धित सरकार द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। कुछ स्थितियो में महत्त्वपूर्ण समझौते देश की व्यवस्थापिकाओ के सम्मुख स्पष्ट करने होते हैं क्योंकि उनकी स्वीकृति परमावश्यक है। जेम्स रेस्टन (James Reston) का कहना है कि समझौतों को करते समय प्रेस पर भी दृष्टि रखनी होती है क्योंकि प्रजातन्त्र मे प्रेस पर्याप्त साधनसम्पन्न होता है और वह यह मान कर कार्य करता है कि सभी कूटनीतिक प्रयास समाचार होते हैं।

सर्वाधिकारवादी राज्यो के अधिकारियो को राजनीतिक स्थिति एवं प्रेस के इतने दबावो के अधीन कार्य नही करना होता। ये देश समझौतो को किसी भी समय बिना निस्संकोच बदल सकते है। इसके अतिरिक्त यहाँ का प्रेस भी उपयुक्त सत्ता की स्वीकृति प्राप्त किए बिना सम्मेलन के वार्तालाप को प्रकाशित नहीं करता। इसके अतिरिक्त प्रेस निर्णय लेने वालों के मध्य स्थित विवादों को भी प्रकाशित नही करती और न ही यह प्रकाशित करती है कि निर्णायकों द्वारा अपनी बात मनवाने के लिए किस प्रकार प्रयास किया गया, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसा करने से विरोधियो को बल मिलेगा।

4. *व्यक्तिगत कूटनीति (Personal Diplomacy)*—कूटनीति के इस रूप के अनुसार दो देशों के कूटनीतिक विषयो का संचालन स्वय उन देशों के विदेश मन्त्रियो, प्रधानों एवं प्रमुखों द्वारा किया जाता है, न कि उनके कुछ प्रतिनिधियो द्वारा। कूटनीति के इस रूप का प्रयोग पहले भी होता था, किन्तु वर्तमान युग मे तो यह एक सामान्य प्रक्रिया बन गई है। अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर इन उत्तरदायी व्यक्तियो द्वारा ही निर्णय लिए जाते हैं। जेनेवा सम्मेलन, बाण्डुंग सम्मेलन, अल्जीयर्स सम्मेलन एवं अन्य अनेक शिखर-सम्मेलनों को इस प्रकार की कूटनीति के उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध-काल मे एवं उसके बाद भी बडी शक्तियों के विदेश-मन्त्री अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श करने को मिले हैं। शीतयुद्ध-काल मे नाटो (NATO) शक्तियो के विदेश-मन्त्री अपने सामान्य हित के मामलों पर विचार करने के लिए कई बार मिल चुके हैं।

व्यक्तिगत कूटनीति को क्रियान्वित करने के लिए कई बार एक देश के प्रधानमन्त्री एवं विदेश मन्त्रियो द्वारा प्रतिनिधियो की सहायता ली जाती है। स्वय के कार्य को हल्का करने एवं कार्य की सम्पन्नता मे समय की बचत करने के लिए ऐसा किया जाता है। भारत-पाक संघर्ष के समय भारत ने अनेक मन्त्रियो एव महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को कार्यकारिणी के एजेन्ट अथवा प्रधानमन्त्री के प्रतिनिधि के रूप मे विदेशो से भेजा था; क्योंकि इस संघर्ष मे भारत के पक्ष को स्पष्ट करना तथा दूसरे देशों की सहानुभूति एवं सहयोग शीघ्र ही प्राप्त करना आवश्यक था। ताशकन्द में शास्त्री-अयूब भेंट और सन् 1971 मे शिमला मे इन्दिरा-भुट्टो भेंट व्यक्तिगत कूटनीति का ही एक रूप कहा जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अभिनेता चर्चिल और रूजवेल्ट प्रायः अनौपचारिक एवं व्यक्तिगत रूप से ही मिला करते थे।

कुछ विचारकों के मतानुसार व्यक्तिगत कूटनीति हानिकारक है। प्रधानमन्त्री, विदेशमन्त्री आदि उच्च स्तर के नेताओं का काम नीति का निर्माण करना है न कि समझौते करना, यह काम तो कूटनीतिक विशेषज्ञों को सौंप देना चाहिए। कारण यह है कि उच्च स्तर के अधिकारी समझौते करने के लिए योग्य नहीं होते। साथ ही यह डर रहता है कि वे विषय को व्यक्तिपरक (Subjective) दृष्टि से देखेंगे जो राष्ट्रीय हित के विपरीत भी जा सकता है। गलार्ड वसिटार्ट (Lord Vans ttart) के मत में ऐसी कूटनीति का उपयोग कभी-कभी ही सफल हो पाता है क्योंकि 'परामर्श' की प्रत्येक को आवश्यकता रहती है। हेराल्ड निकल्सन (Harold Nicolson) तथा सिसली हाडल्स्टन (S sley Huddleston) आदि *का विचार भी व्यक्तिगत कूटनीति के विरुद्ध है।*

दूसरी ओर लॉर्ड हेंकी (Lord Hankey) आदि के विचार से व्यक्तिगत कूटनीति का अपना महत्त्व है क्योंकि कई समस्याओं का समाधान इतना कठिन हो सकता है कि कूटनीतिज्ञों के पास जो साधन हैं वे उसके लिए अपर्याप्त रह जाएँ। इन विचारकों के मत में संसदात्मक प्रजातन्त्र के युग में मध्यस्थों पर निर्भर रहना उपयुक्त नहीं है।

5. दूकानदार जैसी कूटनीति बनाम युद्धप्रिय कूटनीति (Shopkeeper Diplomacy Vs. Warrior Diplomacy)—यदि हम विभिन्न देशों की कूटनीति पर दृष्टि डालें तो विदित होगा कि उन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। निकल्सन (N colson) ने ग्रेट ब्रिटेन की कूटनीति में वे सभी गुण पाए हैं जो किसी व्यापार में पाए जाते हैं।[1] जो कूटनीति बुद्धिपूर्ण समझौते करने को तैयार रहती है, दूसरे राष्ट्रों के साथ प्रेम बढ़ाती है तथा विभिन्न सन्धियों द्वारा शान्ति-निर्माण में प्रयत्नशील रहती है, वही कूटनीति व्यवहार में वाञ्छित परिणामों को प्राप्त कर पाती है। एक दूकानदार जैसी यह कूटनीति महत्त्वपूर्ण एवं लाभदायक होती है क्योंकि यह *अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक नैतिक है तथा उन रूपों की तुलना में अधिक सफलता प्राप्त* करने में समर्थ रहती है। एक देश की सफलता एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उसका स्थान मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर करता है—वह देश किस प्रकार की कूटनीति *अपना रहा है, उस देश की राष्ट्रीय नींव कैसी है, तथा समझौता-कर्त्ताओं का* व्यक्तित्व कैसा है।

कूटनीति का एक दूसरा युद्धप्रिय रूप है। इसका समझौतों में विश्वास नहीं होता वरन् यह युद्ध के वातावरण को अधिकाधिक उत्तेजित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार की कूटनीति को मानने वाला देश अन्त में स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

दूकानदार जैसी एवं युद्धप्रिय कूटनीतियों के बीच अनेक भिन्नताएँ हैं। दोनों ही विशेषताएँ परस्पर विरोधी हैं। जो देश की व्यवस्था को यथास्थिति में रखने के

1 *Harold Nicolson* : Diplomacy, p. 132.

पक्ष में हैं। वे पहली को दूकानदार जैसी कूटनीति को अपनाते हैं और जो देश की यथास्थिति को चुनौतियाँ देते है तथा बदलने की टोह मे रहते है वे युद्धप्रिय नीति को अपनाते है। पश्चिमी प्रजातन्त्रों मे दूकानदार जैसी कूटनीति की सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं। दूसरी ओर साम्यवादी देशों की कूटनीति मे युद्धप्रियता का आभास मिलता है—विशेषत साम्यवादी चीन की कूटनीति मे।

दोनों ही प्रकार की कूटनीतियो का आधार परिस्थितियाँ, राज्य का स्वरूप एवं विचारधारा है, अत. दोनों का ही अपना महत्त्व है। दूकानदार जैसी कूटनीति को क्रियान्वित करते समय ब्रिटेन ने कई बार चातुर्य, कुशलता एव कपट से काम लिया है। इसमे उसे सफलता भी मिली है और असफलता भी। एक देश कूटनीति के किस रूप को अपनाता है तथा उस रूप को अपनाने मे उसे कितनी सफलता प्राप्त होती है, इन दोनों ही प्रश्नो का उत्तर बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वह देश कौन-सा स्थान रखता है और उस देश की शक्ति कितनी है। प्रारम्भ मे ब्रिटेन की कूटनीति सफल रही थी इसका कारण उसकी शक्ति थी। मिस्र के मामले में उसे पीछे हटना पडा; इसका कारण यह था कि अब वह दूसरी श्रेणी की शक्ति रह गया है।

युद्धप्रिय तथा दूकानदार जैसी कूटनीतियो के बीच का मुख्य अन्तर इस प्रकार है—

1. युद्धप्रिय कूटनीति जब समझौते करने बैठती है तो अविवेकपूर्ण (Unreasonable) बन जाती है क्योंकि विवेक से सोचने पर यथास्थित-व्यवस्था को बदला नही जा सकता। इसके विपरीत दूकानदार जैसी कूटनीति बुद्धिपूर्ण समझौते करती है।

2. प्रभावशाली (Dom·nant) देशो की माँग थोडी तथा बुद्धिपूर्ण होती है। वे यथास्थित-व्यवस्था से सन्तुष्ट रहते हैं और इसलिए शक्ति के प्रयोग के प्रत्येक रूप को बुरा समझते रहते हैं और समझौतो को आवश्यक मानते हैं। इसके विपरीत चीन जैसे देश युद्ध को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का आवश्यक साधन मानते है।

3. प्रभावशाली देशो की (जो यथास्थित-व्यवस्था के पक्षधर हैं) कूटनीति अस्पष्ट रहती है। उनके कूटनीतिक समझौतो का कोई स्पष्ट उद्देश्य नही होता।

4. प्रभावशाली देश ऐसी किसी चीज की माँग नही करते जो उनके पास नही है। साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि दूसरे देश भी उन चीजो की माँग न करें जो उनके पास नही हैं। ये देश स्थित विश्व-व्यवस्था से सन्तुष्ट रहते हैं, अतः स्पष्टतः नही जान पाते कि उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं?

5. युद्धप्रिय कूटनीति को अपनाने वाले देशो के कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं। वे वर्तमान को बदल कर अपने अनुकूल विश्व का निर्माण करना चाहते हैं जहाँ उनके हितों को सन्तुष्ट किया जा सके। इस नए विश्व का मानचित्र उनके मस्तिष्क मे रहता है। जैसे, साम्यवादी चीन सारे संसार को लाल झण्डे के नीचे लाने का स्वप्न देख रहा है।

6. युद्धिप्रिय कूटनीति अपनाने वाले देश प्रायः गरीब, दुर्बल तथा असन्तुष्ट होते हैं। शक्ति के अभाव मे उनको कूटनीतिक सफलताएँ कम मिल पाती हैं, विश्व-समाज मे भी उनका स्तर अधिक ऊँचा नही उठता। यही कारण है कि वे वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए युद्ध और संघर्ष का सहारा लेते हैं, अविवेकपूर्ण समझौतो द्वारा आगे बढते हैं। दूकानदार जैसी कूटनीति अपनाने वालो का स्वभाव व लक्ष्य इसके विपरीत होता है।

6. खुली कूटनीति बनाम गुप्त कूटनीति (Open Diplomacy Vs. Secret Diplomacy)—*प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति का वर्णन करते समय प्रसंगवश यह बताया* गया था कि आज के प्रजातन्त्रात्मक युग मे जनसाधारण अपना यह अधिकार मानने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो भी सन्धियाँ, समझौते अथवा कूटनीतिक व्यवहार हो उन सबकी जानकारी उनको दी जानी चाहिए। खुली कूटनीति का समर्थन नैतिक एवं आदर्शात्मक दृष्टिकोणो से भी किया जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस प्रकार की कूटनीति की माँग बढी थी। वुडरो विल्सन के 14 सिद्धान्तो में से पहला सिद्धान्त था कि सभी शान्तिपूर्ण समझौते खुले रूप मे किए जाने चाहिए। कूटनीति हमेशा जनता के दृष्टिकोण से एवं स्पष्ट रूप मे संचालित की जाए न कि व्यक्तिगत दृष्टिकोणो के आधार पर।[1] खुली कूटनीति के समर्थक अपने पक्ष मे निम्नलिखित तर्क देते हैं—

1. एक राष्ट्र के लोगों को यह अधिकार है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सरकार द्वारा किए गए समझौतों को जानें क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर धन और जीवन का बलिदान वे ही करते हैं।

2. प्रजातन्त्र मे सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। यह उत्तरदायित्व तब तक क्रियान्वित नहीं किया जा सकता जब तक कि जनता को तथ्यो से परिचित न रखा जाए।

3. कूटनीतिज्ञों द्वारा जिन विध्वंसकारी युद्धो का वातावरण तैयार किया जाता है तथा जिसमें लोगों को जबरदस्ती झौंक दिया जाता है, वह सब न हो यदि जनता का कूटनीतिक कार्यों पर संरक्षण रहे।

4. खुली कूटनीति का अर्थ, जैसा कि स्वयं विलसन ने सीनेट को लिखा था, यह कदापि नही है कि महत्त्वपूर्ण मामलों पर व्यक्तिगत रूप से विचार-विमर्श ही न किया जाए। इसका अर्थ तो यह है कि कोई समझौता गुप्त न रखा जाए, तय करने के बाद सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्पष्ट कर देने चाहिए और प्रकाशित कर देने चाहिए।

उन तर्कों का विरोध करते हुए गुप्त कूटनीति के समर्थक अपने पक्ष मे निम्नलिखित मुख्य तर्क प्रस्तुत करते है—

1. एक सफल कूटनीति के लिए गोपनीयता आवश्यक है।

1 *Woodrow Wilson* : Message to Congress on Jan. 8th, 1918.

2. गुप्त रूप से जो समझौते किए जाते हैं उनमें स्पष्टता (Frankness) रहती है तथा कूटनीतिज्ञ उन सुविधाओं को देने के लिए भी राजी हो जाते हैं जिनको वे तब नही दे सकते जबकि जनता उनसे परिचित हो।

3. प्रकाशन की परम्परा से 'कूटनीतिज्ञ' प्रचारक (Propagandists) बन जाएँगे तथा वे जनता के क्षणिक दुराग्रहों से भी प्रभावित किए जाएँगे।

दोनों ही पक्षों के तर्कपूर्ण सन्तोषजनक नही हैं। खुली कूटनीति के समर्थकों का सबसे बडा तर्क यह है कि कूटनीति को प्रजातन्त्रात्मक बनाने से युद्ध का खतरा टल जाएगा तथा शान्ति की जड़ें गहरी होगी, किन्तु यह मत दीखने मे जितना सही लगता है, व्यवहार मे हवाई किले से अधिक नही है।

गुप्त कूटनीति के समर्थकों का मुख्य विश्वास यह है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को प्रकाशित कर दिया गया तो इससे समझौता करने वालों मे लचीलापन नही रह पाएगा। वर्तमान समय के अधिकांश सम्मेलनो मे समझौता करने वालो मे लचीलापन नही रहता। इसका कारण यही माना जाता है कि उनको प्रकाशित कर दिया जाता है किन्तु यह विश्वास भ्रामक है। गुप्त कूटनीति के पक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आज खुली कूटनीति असफल हो गई है। पहले कूटनीति सफल थी क्योंकि वह गुप्त होती थी। यह तर्क भी युक्तिसगत प्रतीत नही होता क्योंकि कूटनीति की असफलता के अन्य दूसरे कारण बहुत हैं।

प्रजातन्त्रात्मक होने के लिए कूटनीति का खुला होना न आवश्यक है और न उपयोगी ही। पामर तथा पर्किंस के विचार से जनता का भला इसमे है कि समझौतों के परिणामो एवं उद्देश्यो के लिए नेताओं को उत्तरदायी ठहराया जाए, न कि इसमें कि समझौते ही टेलीविजन के पर्दे पर किए जाएँ।[1]

7. प्रचार की कूटनीति (Diplomacy by Propaganda)—कूटनीतिक निर्णयो को अपने हितो के अनुकूल बनाने मे प्रचार का महत्त्वपूर्ण योग है। रेडियो, प्रेस तथा प्रचार के अन्य साधनो द्वारा जनता को एक विशेष नीति के सम्बन्ध मे प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। जॉर्ज वी एलेन (George V. Allen) के मतानुसार प्रचार कूटनीतिक का एक सचेतन (Conscious) हथियार बन गया है। बिस्मार्क द्वारा इस हथियार का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया जाता था। ब्रेस्ट लिटोवस्क (Brest Litovosk) मे ट्रॉटस्की ने भी समझौते के तरीके के रूप में प्रचार का प्रयोग किया था। बाद मे यह व्यवस्था साधारण बन गई तथा अनेक देश इसे अपनाने लगे। कूटनीति मे प्रचार दो प्रकार से सहायक बनता है—

1. प्रचार द्वारा समझौते पर पर विचार करने योग्य वातावरण तैयार किया जाता है।
2. जब समझौता हो रहा हो तो उसे प्रभावित करके अपने हित के अनुकूल बनाया जाता है।

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 115.

जहाँ तक पहले कार्य का सम्बन्ध है, प्रचार उपयोगी है और इसलिए प्रत्येक देश प्रकाशन एवं प्रचार पर बहुत धन खर्च करता है किन्तु दूसरे कार्य का जहाँ तक सम्बन्ध है प्रचार बहुत कम ही सफल हो पाता है। प्रचार-कार्य मुख्य रूप से विदेश-मन्त्री या अन्य राजनीतिज्ञों द्वारा किया जाता है, न कि कूटनीतिज्ञों द्वारा। यद्यपि प्रचार के द्वारा जनता में अनेक मिथ्या विश्वास एवं भ्रम पैदा होते हैं, किन्तु आज की परिस्थितियों में यह अपरिहार्य बन गया है। पनिक्कर ने समझौते (Negotiation) को एक गुप्त प्रणाली माना है। उनके मतानुसार जिस समय समझौते चल रहे हों उस समय प्रचार बड़ा खतरनाक होता है।[1]

प्रचार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कूटनीति को क्रियान्वित किया जाता है। पामर तथा पर्किंस के कथनानुसार, "कूटनीति में प्रचार के समस्त साधनों का पूरा प्रयोग सर्वाधिकारवादी राज्यों में किया जाता है।" मास्को तथा पीकिंग आदि द्वारा यह साधन पूरी शक्ति से अपनाया जाता है। कूटनीति के व्यवहार पर इसका जो प्रभाव पड़ता है उसको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसे एक उच्च स्थान प्रदान किया है। युद्ध के समय प्रचार का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। शान्ति और संघर्ष प्रत्येक अवस्था में प्रचार का अपना उपयोग है।

कूटनीति पर प्रभाव डालने वाले कुछ नए विकास (New Developments Responsible for Changing Role of Diplomacy)

आज कूटनीति द्वारा विश्व राजनीति में उस कार्य का सम्पादन नहीं किया जा रहा है जो विश्व-युद्धों के पूर्व होता था। मॉर्गेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार, "द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद कूटनीति अपना महत्त्व खो चुकी है। इसके कार्य अब जितने कम रह गए हैं उतने राज्य-व्यवस्था के इतिहास में कभी नहीं रहे थे।" कूटनीति का महत्त्व घटाने के लिए उन्होंने पाँच कारणों को उत्तरदायी ठहराया है। ये निम्न प्रकार हैं—

1. संचार-साधनों का विकास (Development of Communications)
2. कूटनीति का अवमूल्यन (Depreciation of Diplomacy)
3. संसदात्मक प्रक्रिया द्वारा कूटनीति (Diplomacy by Parliamentary Procedure)
4. सर्वोच्च-शक्तियाँ—कूटनीति में नवागन्तुक (The Super Powers—Newcomers in Diplomacy)
5. वर्तमान विश्व-राजनीति का स्वरूप (The Nature of Contemporary World Politics)।

उपर्युक्त कारणों से कूटनीति का व्यवहार कठिन बन गया है। विचारधारा के आधार पर संसार के दो गुटों में बँट जाने से सबसे बड़ा खतरा कूटनीति को ही

1 *K. M. Panikkar* : op. cit., p. 93.

हुआ है। कूटनीतिक व्यवहार केवल वहीं सम्भव होता है जहाँ इसकी इकाइयों के बीच कुछ बातों में समानता हो। समझौते का प्रश्न भी वहीं उठता है जहाँ कुछ बातों मे दोनो पक्ष सहमत हो तथा कुछ बातो पर उनमे मतभेद हो। समझौते द्वारा इस मतभेद को मिटाने का प्रयास होता है, किन्तु जिन देशो के बीच प्रत्येक बात मे अन्तर एवं विरोध हो वहाँ समझौता सम्भव नही हो सकता। पनिक्कर के मतानुसार "विश्व के दो प्रधान गुटो के बीच इतनी गहरी खाई है कि उनके बीच कूटनीतिक सम्बन्ध रह ही नही सकते।"

एक ओर तो विभिन्न कारणो के फलस्वरूप कूटनीति का व्यवहार आज के युग मे दुरूह बन गया है और दूसरी ओर उसकी आवश्यकता जितनी आज के अणुयुग मे है उतनी शायद ही किसी युग मे रही होगी। विश्व में शक्ति के लिए सदैव संघर्ष होता रहता है, इस संघर्ष को सीमित एव सन्तुलित बना कर कूटनीति विश्व मे शान्ति स्थापना का एक प्रमुख साधन बनती है। कूटनीति के अभाव का अर्थ होगा 'युद्ध' और युद्ध का अर्थ होगा प्रलय तथा मानव-सभ्यता और संस्कृति का विनाश। इस खतरे को टालने के लिए उन तत्त्वों की खोज करना आवश्यक है जो वर्तमान विश्व की परिस्थितियो मे भी कूटनीति को सम्भव बना सकें। कूटनीति को पुनः स्थापित करने के लिए पहले तो उन सभी तत्त्वों का मिटाना होगा या कम करना होगा जो कि पुरानी कूटनीति के ह्रास का कारण माने जाते हैं। हेराल्ड निकोलसन (Harold Nicolson) के मतानुसार तीन ऐसे विकास हैं जिन्होंने कूटनीति के सिद्धान्त एवं व्यवहार को प्रभावित किया है—

(1) राष्ट्रीय समुदाय के प्रति बढती हुई चेतना (Growing Sense of the Community of Nations)
(2) लोकमत का बढ़ता हुआ महत्त्व (*Increasing Appreciation of the Importance of Public Opinion*)
(3) संचार-साधनो का द्रुत विकास (Rapid Increase in Communications)

मॉर्गेन्थो के मतानुसार आज की परिस्थियो में एक देश की कूटनीति को सफल रूप से कार्य करने के लिए नौ नियमो का पालन करना चाहिए। इनमे चार मौलिक नियम निम्न प्रकार हैं—

(1) कूटनीति को आन्दोलनकारी विचारधारा से पृथक् रखा जाए। इस नियम का उल्लघन करने पर युद्ध का खतरा बढ जाता है।
(2) विदेश-नीति को राष्ट्रीय हित के शब्दो मे परिभाषित किया जाना चाहिए तथा राष्ट्रीय शक्ति द्वारा उसे समर्थित किया जाना चाहिए।
(3) कूटनीति के लिए आवश्यक है कि वह राजनीतिक घटना-चक्र को दूसरे देशों के दृष्टिकोण से देखा जाए।
(4) एक राष्ट्र को उन सभी विषयो पर समझौता करने को तैयार रहना चाहिए जो उसके लिए अधिक महत्त्व के नहीं हैं।

समझौतों के सफल होने के लिए पांच अन्य नियमों का पालन करना चाहिए, जो इस प्रकार है—

(1) समझौता करते समय कानून की तरफ ध्यान न देकर जनता के हित का ही ध्यान रखना चाहिए।
(2) ऐसी स्थिति मे कभी मत रहो जहाँ से पीछे हटने के लिए तुम्हे अपमानित होना पडे तथा आगे बढ़ने के लिए गम्भीर सकट का सामना करना पडे।
(3) कमजोर मित्रराष्ट्र को अपने लिए निर्णय बनाने का अवसर न दो।
(4) सशस्त्र सेना विदेश-नीति का साधन होती है, उसकी स्वामिनी नही। एक विदेश-नीति, जो सैनिको द्वारा सैनिक कला के नियमो के अनुसार सचालित होती है, हमेशा युद्ध का ही कारण बनती है; क्योंकि जैसा बीज बोया जाता है वैसे ही फल भी चखने को मिलते हैं।
(5) सरकार जनमत का नेतृत्व करती है न कि गुलामी का। लोकमत के पीछे भागने वाली कूटनीति सफल नहीं हो पाती क्योंकि लोकमत विवेकपूर्ण की अपेक्षा भावात्मक अधिक होता है।

कूटनीति के विषय पर अपना निष्कर्ष देते हुए मॉर्गेन्थो ने बताया है कि अब तक के इतिहास मे कूटनीति सफल ही रही है। प्राचीन समय के राजाओ द्वारा युद्ध रोकने मे नही वरन् युद्ध करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था, अतः वह अपने लक्ष्य मे सफल रही यद्यपि शान्ति की दृष्टि मे वह असफल थी। किन्तु कूटनीति तो एक साधन मात्र है जिसे एक राष्ट्र अपने हितो की रक्षा व अभिवृद्धि के लिए अपनाता है। कूटनीति का स्वरूप एव परिणाम प्रयोगकर्त्ताओं की योग्यता एवं उद्देश्यों पर निर्भर करता है।

संसदीय कूटनीति (Parliamentary Diplomacy)

संसदीय कूटनीति शब्द के प्रचलन का श्रेय डीन रस्क को दिया जाता है। इसके मतानुसार सयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकें राष्ट्रीय संसद् से मिलती-जुलती हैं क्योंकि उनमे भी प्रक्रिया के नियमो के अनुसार कार्य किया जाता है। प्रस्तावों पर संयुक्त राष्ट्रसघ मे जो वाद-विवाद एवं कार्य होता है, अधिकारियों के चुनाव होते हैं, बजट का निर्धारण होता है और महासचिव का वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है वे राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की प्रक्रियाओं के अनुरूप होते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया के परिणामों को प्रभावित करने के लिए क्षेत्रीय तथा राजनीतिक गुट ऐसे ही प्रयास करते हैं जैसे कि संसदीय व्यवस्था मे राजनीतिक दलों, क्षेत्रीय गुटो एवं विशेष हित-समूहों द्वारा किया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाहरी कक्षों मे प्रतिनिधि मतों का आदान-प्रदान करते है, अपनी स्थिति के सम्बन्ध में तर्क देते हैं और अपने पक्ष मे समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। सयुक्त-राष्ट्रसंघ के अधिवेशन काल भी भोजन-कक्षों में तथा प्रतिनिधियों के विश्राम-स्थलों मे विचार-विमर्श होते हैं। महासभा के सत्र के दौरान तथा अन्तर्राष्ट्रीय संकट

के समय न्यूयॉर्क नगर मे विश्व की किसी राजधानी की अपेक्षा अधिक कूटनीतिक क्रियाएँ होती हैं।

समदीय कूटनीति की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। यह इस बात पर जोर देती है कि एक मामले को सबके सामने लाने से तथा उस पर वाद-विवाद करने एव प्रस्ताव पास करने मात्र से सुलझाया जा सकेगा किन्तु यह बात काफी भ्रामक है। व्यावहारिक रूप मे इस प्रकार के प्रयासो के परिणामस्वरूप मनमुटाव और राष्ट्रीय भावनाएँ उभरती हैं। यह भी सम्भव है कि एक राज्य बिना प्रश्न को समझे हुए तथा उसके परिणामो पर विचार किए गए ही प्रस्तावित प्रारूप पर मत प्रदान कर दे। जब पूर्ण मतदान होता है तो उसमे अनुपस्थित रहने वालो की सख्या का महत्व भी हो जाता है। सयुक्त-राष्ट्रसघ मे गुट-राजनीति शक्ति-राजनीति का रूप धारण कर सकती है।

ससदीय कूटनीति उपयोगी भी है क्योंकि यह विश्व-जनमत को रोक देने में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह अनेक देशो के सहयोग को सुविधाजनक बनाती है तथा सामूसिक कार्य के लिए नीव तैयार करती है। इस प्रकार की कूटनीति को अन्य प्रकार की कूटनीति का विकल्प नहीं माना जा सकता।

प्रचार
(Propaganda)

राष्ट्रीय हित के साधन के रूप मे प्रचार एक बहुत ही प्रभावशाली शस्त्र है। इसका दो रूपो मे महत्त्व है। प्रथम तो यह प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधन जैसे कूटनीति, आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद, युद्ध को अधिक सफलतापूर्वक तथा अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। दूसरे, प्रचार स्वय मे भी इतना सक्रिय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला होता है कि बिना इसके शक्तिशाली स्वरूप के कोई भी देश प्रगति नही कर सकता, और न वह विश्व-समाज मे उच्च स्तर ही प्राप्त कर सकती। आज के प्रजातन्त्र के युग ने भी प्रचार के महत्व को कई गुना कर दिया है क्योकि वर्तमान युग मे अपनी नीतियो के प्रति दूसरे देशो की सक्रिय सद्भावना प्राप्त करने के लिए इतना पर्याप्त नही है कि आप उस देश के के कुछ व्यक्तियो को प्रसन्न करके अपने पक्ष मे कर लें वरन् प्रचार के समस्त साधनों द्वारा उस देश की जनता को प्रभावित किया जाता है। अपने देश की नीतियो के पक्ष मे जनमत तैयार करके ही उस देश की सरकार को अपने पक्ष मे लिया जा सकता है। साम्यवादी देशो द्वारा प्रचार के साधन का उपयोग पूर्ण शक्ति द्वारा किया जाता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि वर्तमान व्यवस्था को परिवर्तित करके एव नई व्यवस्था कायम करने वाले देशो को प्रचार के हथियार की अधिक आवश्यकता पडती है। कारण यह है कि उनका कार्य वस्तुस्थिति को कायम रखने वालों की अपेक्षा दुगुना है। एक ओर तो उन्हे यह सिद्ध करना पडता है कि वर्तमान स्थिति की क्या बुराइयाँ हैं तथा इसे किस प्रकार बदला जा सकता है और दूसरी ओर उन्हे अपनी आदर्श

योजना का चित्र भी खींचना होता है। इन दोनो लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साम्यवादी देश प्रचार के *प्रभावशाली यन्त्रों का प्रयोग करते हैं।*

प्रचार के प्रभावशाली यन्त्र कोई सुनिश्चित नही होते वरन् समय की आवश्यकता एवं नवीन आविष्कारों के प्रवाह मे उनका प्रभाव एव महत्व घटता-बढ़ता रहता है। आज के युग मे छापाखाना, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन, सस्ती पत्रिकाएँ, अखबार, चलचित्र आदि साधनो को प्रचार कार्य मे प्रयुक्त किया जाता है। साम्यवादी देशों को अपने प्रचार मे वही सुविधा रहती है जो एक आक्रमणकारी को रहती है। वे प्रचार द्वारा स्थित व्यवस्था की कडी से कडी आलोचना कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से उनके प्रचार का प्रभाव विश्व के छोटे देशो पर अधिक होता है जो शक्तिहीन तथा कमजोर हैं तथा जिनका साम्यवाद का ताकतवर टॉनिक बडा लुभावना प्रतीत होता है। दूसरी ओर पश्चिमी प्रजातन्त्रो के पास ऐसा कोई प्रभावोत्पादक टॉनिक नही है और उनका साम्राज्यवादी इतिहास भी विश्व के देशो से छिपा नही है। इस प्रकार पश्चिमी प्रजातन्त्रो के प्रचार का प्रभाव इतना अधिक नही होता। दूसरी ओर साम्यवादी देशों की अपेक्षा इन देशो को प्रचार की इतनी आवश्यकता भी नही रहती। इनके प्रचार का मूल लक्ष्य होता है साम्यवाद के प्रसार को रोकना। अपने प्रचार-यन्त्रों का प्रयोग वे केवल असाम्यवादी देशों मे ही कर सकते हैं क्योंकि साम्यवादी देश मे *साम्यवाद विरोधी विचार एवं प्रक्रिया का प्रवेश असम्भव-सा है।* ऐसी समस्या साम्यवादी देशों के प्रचार के मार्ग मे नही आती।

वर्तमान परिस्थितियों में विश्व का कोई भी देश प्रचार की अवहेलना नही कर सकता अन्यथा वह शक्ति-संघर्ष की दौड़ में पिछड जाएगा।

प्रचार का अर्थ एवं परिभाषा
(The Meaning and Definition of Propaganda)

प्रचार की आवश्यकता देश मे राष्ट्रीय एकता की स्थापना तथा विदेशों मे अपनी नीतियो पर समर्थन प्राप्त करने के लिए इतनी बढ चुकी है तथा व्यक्तिगत, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे प्रचार इतना लोकप्रिय बन चुका है कि इसका अर्थ एवं परिभाषा देने का कोई महत्व नही रह जाता। 20वी शताब्दी मे राष्ट्रीय नीतियो का यह प्रमुख अस्त्र बन गया है।

प्रचार का अर्थ सामान्यत: उन कार्यों से लिया जाता है जो दूसरे व्यक्ति को अपना पक्ष समझाने तथा तदनुकूल आचरण कराने के लिए किए जाते हैं। जोसेफ फ्रैंकेल के शब्दों मे, "प्रचार से हमारा अर्थ सामान्यत किसी भी ऐसे व्यवस्थित प्रयास से होता है जो किसी विशेष उद्देश्य के लिए एक प्रदत्त समूह के मस्तिष्कों को, भावनाओ को तथा क्रियाओं को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।" प्रोफेसर पॉल एस. लाइम्बर्गर ने भी प्रचार का अर्थ इन्ही शब्दो मे वर्णित किया है। पामर तथा पर्किंस के मतानुसार "प्रचार नैतिक रूप मे निष्पक्ष होता है; वह जिस तरह अच्छे उद्देश्य के लिए लोगों को फुसला सकता है उसी तरह बुरे उद्देश्यो के लिए भी कर सकता है। इसलिए नैतिक निर्णय 'प्रचार' पर न दिया जाकर फुसलाने वाले के

उद्देश्यों पर दिया जाना चाहिए।" चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) के विचार में, "प्रचार का अर्थ है एक बड़े जन-समूह पर सुनियोजित एवं व्यवस्थित रूप में सुझावों का प्रयोग करना। यह इसलिए किया जाता है ताकि उन लोगों के दृष्टिकोणों पर नियन्त्रण किया जा सके और उनसे मनमाना आचरण कराया जा सके।" अकोल्कर प्रचार को व्यक्ति अथवा एक समूह का संगठित एवं व्यवस्थित प्रयास मानते हैं जो *किसी भी क्षेत्र में लोकमत एवं दृष्टिकोणों को प्रभावित करने के लिए किया जाता* है। इस प्रकार प्रायः सभी विद्वान् प्रचार को परिभाषित करते समय उसे तीन भागों में विभाजित करते हैं अर्थात् यह किसके द्वारा किया जा रहा है (व्यक्ति या समूह)? किस रूप में किया जा रहा है (संगठित एवं व्यवस्थित सुझाव)? क्यों किया जा रहा है (लोकमत के दृष्टिकोणों को या उनके कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए)?

प्रचार एवं कूटनीति (*Propaganda and Diplomacy*)

कूटनीति अथवा राजनय के साधनों में प्रचार एक महत्त्वपूर्ण साधन है। राष्ट्रीय हित के अनुसार एक देश का कूटनीतिज्ञ जब अपने मित्रों और शत्रुओं का चयन करता है तो प्रचार-यन्त्र उसका मुख्य सहायक बनता है। प्रचार के माध्यम से मित्रराष्ट्रों के प्रति सद्भावनाएँ व्यक्त करने और उनमें वृद्धि करने तथा शत्रु राज्यों के प्रति विष उगलने में सुविधा रहती है। प्रचार द्वारा विरोधी पक्ष को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बदनाम किया जाता है, उसके रूप को कलंकित किया जाता *है तथा उसके हितों को आघात पहुँचाने के हर अवसर का उपयोग किया जाता है।* दूसरी ओर अपने अनुकूल राज्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करने में प्रचार यन्त्र कदम-कदम पर राजनयज्ञ की सहायता करता है। प्रचार की सहायता से एक राजनेता किसी राज्य से सन्धि के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करता है तथा सन्धि को प्रभावी बनाने के लिए स्वदेश और विदेश में जनमत तैयार करता है। नाज़ियों के प्रचार-यन्त्र ने तो इतिहास में अपना कीर्तिमान स्थापित कर दिया था। द्वितीय महायुद्ध के समय नाजी जर्मनों ने शत्रु-राज्य की जनता को प्रभावित करने के लिए अभिनव तरीकों का आविष्कार किया। कहा जाता है कि उस समय नाजी समर्थन में बोलने वाले इतने रेडियो स्टेशन पैदा हो गए थे कि उसके प्रसारण केन्द्र का पता लगाना भी दुष्कर था। *गोएबल्स नाजी प्रचार यन्त्र का मुख्य संचालक था* जिसने झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध कर देने में अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया। प्रचार द्वारा एक देश का राष्ट्राध्यक्ष दुनिया को किस तरह भुलावे में डालने की कोशिश कर सकता है, इसका उदाहरण पाकिस्तान के श्री भुट्टो के इन शब्दों में ढूँढना कठिन नहीं है जो उन्होंने अगस्त, 1974 के अपने एक भाषण में बंगलादेश की यात्रा के सन्दर्भ में कहे—

"बंगलादेश की अपनी हाल ही की यात्रा में मैं एक तरह से नजरबन्द-सा था। *मैंने बंगलादेश के लोगों से मुलाकात करनी चाही लेकिन मुजीब सरकार ने* मुझे मुलाकात नहीं करने दी और बहाना यह किया कि लोगों के बीच जाना आपके लिए खतरे से खाली नहीं है। मैंने मुजीब साहब से कहा कि नहीं ऐसा कोई खतरा

नहीं, लेकिन उन्होंने मेरी बात नहीं मानी और बंगलादेश के लोगों से मिलने की मेरी ख्वाहिश पूरी नहीं हो सकी। पाकिस्तान के लिए बंगलादेश के लोगों की मुहब्बत के जजबात इसी बात से जाहिर हैं कि लोग वहां 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। मुजीब साहब शायद दुनिया को यह जानने देना नहीं चाहते कि बंगालियों में पाकिस्तान के लिए कितना प्रेम है और वे पाकिस्तानियों को आज भी अपना भाई समझते हैं। ढाई साल की जुदाई के बाद भी मैंने यह देखा कि बंगलादेश में पाकिस्तानियों के लिए जबरदस्त सद्भाव है।"[1]

दुनिया जानती है कि पाकिस्तान ने बंगलादेश (पहले पूर्वी पाकिस्तान) की जनता के साथ कैसा 'भाईचारा' निभाया था। पुनश्च, दुनिया जानती है कि हर बार पाकिस्तान ने भारत पर युद्ध थोपा, लेकिन पाक-नेतृत्व की प्रचार-कला का नमूना देखिए कि उसने भारत और अफगानिस्तान को चेतावनी दी कि "यदि पाकिस्तान पर युद्ध थोपा गया तो समूचे उपमहाद्वीप और अफगानिस्तान को उसका अंजाम भुगतना होगा।"[2] दरअसल प्रचार रूपी यन्त्र के सहारे कूटनीति कई बातें व्यक्त करती है जिनमें कुछ का उद्देश्य अपने देश और अपने मित्रराज्यों की जनता के मनोबल को ऊँचा उठाना होता है, कुछ का उद्देश्य शत्रुराज्य की जनता के मनोबल को गिराना होता है, कुछ का उद्देश्य विश्व के दूसरे देशों को भुलावे में डालकर उनकी सहानुभूति अर्जित करना होता है तथा कुछ का उद्देश्य सत्य बात को सामने रखकर अपना पक्ष मजबूत बनाना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रायः सभी विचारक कूटनीति में प्रचार के महत्त्व के सम्बन्ध में एकमत हैं। मॉर्गेन्थो ने प्रचार को मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological War) की स्थिति माना है। उन्हीं के शब्दों में, "मनोवैज्ञानिक युद्ध अथवा प्रचार कूटनीति तथा सैन्य बल के साथ तृतीय शक्ति (Third Force) के रूप में संयुक्त होता है जिसके द्वारा विदेश-नीति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करती है।"[3] आधुनिक युग में प्रचार का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि कूटनीति और युद्ध के बाद इसे ही राष्ट्रीय नीति की 'तृतीय शक्ति' (Third Force) माना जाता है। प्रचार कभी-कभी यह स्थिति पैदा कर देता है कि बरबस हमें यह शेर याद आ जाता है—

"दहशत में हर नक्शा उल्टा नजर आता है,
मजनू नजर आती है, लैला नजर आता है।"

जब सन् 1971 में रेडियो पाकिस्तान से प्रचार के इन गोलों की बार-बार वर्षा हुई, चुनाव के दिनों में भारतीय सेना के दो लाख जवान पश्चिम बंगाल में गोलियाँ चलाते रहे जिससे कई बड़े-बड़े नेता मारे गए[4] या जब इसी प्रकार की अनर्गल बातें सुनने को मिलीं तो राह-चलतों को ऊपर लिखा शेर जरूर याद आया

1 दिनमान, दिनांक 25 अगस्त 1974, पृष्ठ 5.
2 हिन्दुस्तान, दिनांक 23-3-75.
3 *Morgenthau* : op. cit., p. 339.
4 दिनमान, दिनांक 25-4-71, पृष्ठ 7.

होगा। प्रचार का लक्ष्य ही अपने पक्ष को दृढ़ता प्रदान करना होता है। प्रत्येक देश की विदेश नीति का यह मुख्य लक्ष्य रहता है कि विरोधी के विचारों को परिवर्तित कर अपने राष्ट्रीय हित की पूर्ति की जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कूटनीति का उपयोग करते हुए कभी तो एक राज्य दूसरे राज्य को आश्वासन देता है और कभी उसे चुनौतियाँ देता है। प्रचार के माध्यम से एक राज्य अपने राष्ट्रीय हित के अनुकूल विश्वास पैदा करने, नैतिक मूल्यों का विकास करने, भावनात्मक प्राथमिकताओं को उभारने तथा लोगों के मस्तिष्कों को बदलने का प्रयास करता है।

प्रचार विदेश-नीति के एक साधन के रूप में
(Propaganda as an Instrument of Foreign Policy)

स्पष्ट है कि प्रचार-यन्त्र को राज्य विदेश-नीति के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं। आज की विश्व-राजनीति में गुटबन्दियों का जाल बिछा हुआ है और प्रत्येक गुट अपने हितों की प्राप्ति के लिए प्रचार-साधनों का प्रयोग करता है। संक्षेप में, दूसरे गुट को कमजोर बनाने के लिए, उसके सहयोगियों को तोड़ने के लिए, अपने पक्ष को मजबूत बनाने के लिए, अधिकाधिक देशों को अपने पक्ष की ओर खींचने के लिए, अपनी विदेश-नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए, अपनी शान्ति-प्रियता का सिक्का बैठाने आदि के लिए प्रचार तकनीकों को विभिन्न रूपों में प्रयोग में लाया जाता है। प्रचार के माध्यम से विदेश-नीति के लक्ष्यों को परिभाषित किया जाता है। आज सभी देश प्रचार-साधनों का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं। सभी प्रचार असत्य हों, यह आवश्यक नहीं है। प्रचार का उद्देश्य किसी राज्य की सरकार को गिराना या दबाना भी हो सकता है और नहीं भी, सत्य बात को सामने रखना भी हो सकता है और गलत बातों को सही रूप में पेश करना भी। यह अपनी-अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है कि कुछ राज्य प्रचार में नैतिक बल का अंश अधिक रखते हैं और कुछ नैतिकता-अनैतिकता जैसी बातों की कोई परवाह नहीं करते। अपनी बात से मुकर जाने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता।

प्रचार के उद्देश्य : राष्ट्रीय हित में वृद्धि
(*The Objects of Propaganda :*
Promotion of National Interest)

प्रचार एक ऐसा साधन है जिसके उद्देश्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ज्ञान के क्षेत्र में इसकी पहुँच है। यहाँ हमारा सम्बन्ध प्रचार के केवल उसी रूप से है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने में समर्थ होता है। पैडलफोर्ड तथा लिंकन *का कथन है कि "प्रचार का रूप चाहे कुछ भी हो अथवा* इसमें किसी भी तकनीक को अपनाया गया हो, इसका मुख्य उद्देश्य नीति एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति होती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला प्रचार केवल एक देश की सरकार द्वारा ही किया जाता हो ऐसी बात नहीं है। गैर-सरकारी स्रोतों से भी प्रचार

के इस रूप का प्रयोग हो सकता है । अनेक व्यक्ति, व्यापारिक हित, असंख्य सगठन इस प्रकार के कार्य मे सक्रिय सहयोग दे सकते हैं। विभिन्न राजनैतिक दल दूसरे देशों मे प्रचार द्वारा अपने राष्ट्र हित के लिए समर्थन प्राप्त करते है। समय के अनुसार प्रचार के अभिनव साधनो का विकास होता रहता है ।

प्रचार के उद्देश्यो पर यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि मूल रूप मे सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रीय हित को ध्यान मे रख कर ही क्रियान्वित किए जाते है । ऐसा अनेक रूपो मे हो सकता है । उदाहरण के लिए—

प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते जिस समय होते हैं उनको अपने हित मे मोडने के लिए एक देश प्रचार का सहारा ले सकता है ।

दूसरे, किसी समस्या या विशेष प्रश्न पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन बुलाने हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए भी प्रचार का सहारा ले सकता है ।

तीसरे, प्रचार द्वारा विचारधारा का प्रचार भी किया जाता है । एक देश के राजनीतिज्ञ सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते है कि जिस विचारधारा पर उनका देश आरूढ है उसी को दूसरे देश भी माने क्योंकि मैत्री एव सहयोगपूर्ण सम्बन्धो का दृढ आधार विचारों की एकता होती है ।

चौथे, प्रचार का सहारा अपनी राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो पर समर्थन प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है ।

प्रचार का महत्त्व युद्ध से पूर्व एव युद्ध के दौरान बहुत बढ जाता है। शान्तिकाल की भाँति सकटकाल एव युद्धकाल मे भी प्रचार द्वारा विभिन्न तरीके अपनाकर राष्ट्रीय हित की साधना की जाती है । कूटनीति और युद्ध के बीच जो सघर्षपूर्ण स्थिति रहती है उसमे दो देशो के बीच बडे कटुतापूर्ण सम्बन्ध रहते हैं । दोनों पक्षो की ओर से एक-दूसरे पर विष वमन किया जाता है तथा दूसरे को गलत ठहरा कर अपनी नीति का औचित्य प्रस्तुत किया जाता है। इस स्थिति को राजनीतिक युद्ध की सज्ञा दी जाती है । प्रत्येक राज्य के सामने ऐसे अवसर आते हैं जबकि वह दूसरे राज्यो पर प्रभाव डाल सके । यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी । इन अवसरो पर प्रचार का सहारा लिया जाता है। प्रचार द्वारा कभी-कभी राजनीतिक युद्ध (Political Warfare) की सी स्थिति पैदा कर दी जाती है किन्तु जैसा कि पामर तथा पर्किस का कहना है, इन दोनो के बीच अभिन्नता का सम्बन्ध नही है । प्रचार का प्रयोग करने पर आवश्यक नही है कि राजनीतिक युद्ध (Polit cal Warfare) की सी स्थिति पैदा हो जाए, राजनीतिक युद्ध प्रचार का रूप ले भी सकता और नही भी ले सकता है, दोनो ही बातें सम्भव हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का इतिहास बतलाता है कि प्रचार के माध्यम से युद्ध के परिणामो को भी बदला जा सकता है ।

राज्य की उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए प्रचार वस्तुतः बहुत ही प्रभावशाली साधन है । नाजी जर्मनी की राजनीति पूरी तरह प्रचार पर आधारित थी । प्रचार

को साधन के रूप मे प्रमुखता देते हुए हिटलर ने लिखा था, "प्रचार एक साधन है और जिन उद्देश्यो की प्राप्ति करनी है उसी सन्दर्भ मे प्रचार को आँकना है। इसे इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए ताकि यह उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य बन सके, और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सामान्य उद्देश्यो का महत्त्व आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है, इसलिए प्रचार का आन्तरिक रूप भी तदनुसार बदलता रहना चाहिए।"

प्रचार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अनेक राजनीतिज्ञो और विचारको ने इसे न केवल राष्ट्रीय हितो की अभिवृद्धि का बल्कि राष्ट्रीय शक्ति का भी एक तत्त्व माना है। पामर एव पर्किस ने लिखा है, "प्रचार राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ मे *अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है क्योंकि इससे राज्य मे संगठित जनमत निर्माण* और विदेश मे अपने हितो मे वृद्धि होती है।" बीसवी शताब्दी मे प्रचार राष्ट्रीय नीति का एक परिपक्व साधन बन गया है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमच पर यदि राज्य प्रचार-यन्त्र का सहारा न ले और प्रभावशाली रूप मे प्रचार-नीति का अनुशीलन न करे तो वह नि सदेह भारी कठिनाई मे फँस सकता है। श्रीमती गांधी के हाल ही के नेतृत्व से पूर्व भारत की कूटनीति का प्रचार-पक्ष हमेशा दुर्बल रहा क्योकि हमारा दृष्टिकोण व्यावहारिक कम और आदर्शवादी अधिक था। लेकिन सन् 1970 से देश ने राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के रूप मे प्रचार-साधन पर अधिक बल दिया है और हमारी वर्तमान विदेश-नीति अपने मौलिक सिद्धान्तो का परित्याग न करते हुए अधिक व्यवहारवादी रूप धारण किए हुए हैं।

प्रचार के तरीके (Techniques of Propaganda)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भी प्रचार के वे ही तरीके प्रचलित हैं जो व्यापार मे विज्ञापन के लिए अपनाए जाते हैं। प्रायः मस्तिष्क मे सदैव यह बात रहती है कि लोगो की इच्छाएँ, भय तथा कमजोरियाँ क्या हैं। इन सब के अनुकूल ही नीति तैयार की जाती है। प्रचार करने की विधियाँ अनेक हैं। हार्टर तथा सूलीवान (Harter and Sullivan) ने प्रचार की 12 विधियो का उल्लेख किया है। इनको पामर तथा पर्किस ने चार शीर्षको मे विभाजित किया है[1]—

- (क) प्रस्तुत करने की विधि (Method of Presentation)
- (ख) ध्यान-आकर्षण विधि (Techniques for gaining Attention)
- (ग) अनुक्रिया प्राप्त करने की युक्ति (Devices for gaining Response)
- (घ) स्वीकृति पाने के साधन (Methods of gaining Acceptance)

उक्त चारो विधियों को अपनाकर एक देश द्वारा प्रचार-यन्त्र का उपयोग किया जाता है।

(क) प्रस्तुत करने की विधि (Method of Presentation)

इस पहली विधि के अनुसार प्रचारकर्त्ता देश किसी समस्या को प्रस्तुत करते

1 *Palmer and Perkins* : International Relations, pp. 111-115.

समय उसका पूरा विवरण नहीं देता, वह केवल उसके उसी पक्ष को प्रकट करता है जो उसके हित में होता है । उदाहरण के लिए भारत-पाक संघर्ष के समय काश्मीर समस्या के बारे मे पाकिस्तानी अखबार तथा अन्य स्रोतो से बराबर यही प्रचार किया जाता रहा कि काश्मीर पाकिस्तान का अंग है क्योंकि वहाँ की जनता मुसलमान है और वहाँ के जनमत की माँग है कि काश्मीर पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए, काश्मीर समस्या पर युद्ध छेड़ने का उत्तरदायित्व भारत का है न कि पाकिस्तान का, आदि । इन कथनों के प्रमाणस्वरूप बहुत-सी घटनाओ एव निर्णयों का हवाला दिया जाता है जो यदि सही रूप मे रखी जाएँ तो पाकिस्तान के दावे के विपरीत जाएँ, किन्तु उनको तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है—ठीक उस वकील की तरह जो अपने पक्ष के समर्थन के लिए किसी तथ्य के पूर्ण रूप को देखने की अपेक्षा उसके अश मात्र को ही देखता है । कहा जाता है कि अब्राहम लिंकन जिन दिनो वकालत करते थे एक न्यायाधीश ने उनके तर्कों पर आपत्ति की और कहा, "मि. लिंकन, इस समय आप जो तर्क दे रहे है, वे आपके द्वारा ही एक दूसरे केस मे कल दिए गए तर्कों के विपरीत हैं ।" इस पर लिंकन का उत्तर था, "माई लॉर्ड, हो सकता है कि मैंने कल जो तर्क दिए थे वे गलत हो किन्तु मेरे ये तर्क पूर्णत सत्य हैं ।" प्रत्येक प्रचारक अब्राहम लिंकन के इस उत्तर को ध्यान मे रख कर ही अपना कार्य करता है । वह उन सभी तथ्यों को छिपा लेता है जो उसके मामले के विपरीत जाते हो । प्रचार-यन्त्र के कुशल उपयोग से बिस्मार्क तथा हिटलर ने कई बार अपने उद्देश्यो को बडी सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया था । इस प्रकार के प्रचार के कई रूप हो सकते हैं, उदाहरण के लिए—

1. भूतकाल के किसी तथ्य को, जो अन्य किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही है, आप इस तरह से तोड-मरोड़ सकते हैं कि वर्तमान मे उससे आपके हितों के अनुकूल परिणाम प्राप्त किया जा सके ।

2. प्रचार मे ऐसी घटनाओं एवं प्रमाणों का अपने पक्ष के समर्थन मे उपयोग किया जा सकता है जिनका उद्देश्य कुछ और ही होता है, किन्तु आप उनसे अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं । हिटलर यहूदियों के विरुद्ध जर्मनो मे रोष भडकाना चाहता था । उसने अनेकों कहानियाँ तथा पुस्तकें प्रस्तुत की और उनके आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि यहूदी लोग पूरे विश्व पर राज्य करने की योजना बना रहे है । इस प्रचार का तत्काल परिणाम हुआ और यहूदियों के प्रति जर्मनो मे क्रोधाग्नि भडक उठी ।

3. प्रचार करते समय झूठ और धोखे का मार्ग सर्वाधिकारवादी और लोकतान्त्रिक दोनों ही राज्यो द्वारा प्रयोग मे लाया जाता है । किन्तु दोनो व्यवस्थाओ द्वारा किया जाने वाला ऐसा प्रचार एक ही कोटि मे नही रखा जा सकता । दोनों के बीच उद्देश्य का अन्तर रहता है । प्रजातान्त्रिक देशो का ऐसा प्रचार तानाशाही देशो की तुलना मे प्रायः अच्छे उद्देश्यो के लिए किया जाता है । वैसे अपवाद तो प्रत्येक आशा के मिल ही जाते हैं ।

4.घटनाओं के सत्य रूप को भी प्रचार का विषय बनाया जा सकता है और यह भी सम्भव है कि ऐसा प्रचार काफी प्रभावकारी सिद्ध हो। जब श्रीमती इन्दिरा गाँधी एवं अन्य नेताओं द्वारा भारतीयो को चीन और पाकिस्तान के विरुद्ध सावधान रहने की चेतावनी दी जाती है तो प्रचार सत्य होता है और भारतीयों को जागरूक रखता है। चीन और पाकिस्तान के पिछले आक्रमण और उनका शत्रुतापूर्ण रवैया इस प्रचर को सम्बल प्रदान करते हैं।

5. प्राय झूठी और महत्त्वहीन घटनाओं को युद्ध का कारण बना लिया जाता है। भारत-पाक युद्ध-काल में साम्यवादी चीन ने भारत पर भेडें चुराने जैसे महत्त्वहीन और भद्दे आरोप लगाए और ऐसा वातावरण बनाने का प्रयत्न किया कि वह जब चाहे तब भारत पर हमला कर सके। हमला करने का विचार तो उसने पहले बनाया और बाद मे इन अनर्गल घटनाओं के अपने विचार को क्रियान्वित करने के लिए प्रचार का विषय बना लिया।

(ख) ध्यानाकर्षण विधि

(Techniques for gaining Attention)

दूसरी विधि—यह विचार-प्रक्रिया की अगली सीढी है। जब प्रचारक के मस्तिष्क मे एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तो उसे प्राप्त करने के लिए वह विभिन्न साधन अपनाना प्रारम्भ करता है ताकि दूसरे देशो का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया जा सके। ध्यानाकर्षण विधि के प्रमुख रूप ये हो सकते हैं—

1. सरकारी प्रयत्न (Official Devices)—दूसरे देश की सरकार के लिए समय-समय पर नोट्स (*Notes*) भेजे जाते है, विरोध प्रकट किया जाता है और राजनीतिज्ञों तथा नेताओं के भाषणों का हवाला दिया जाता है। भारत-चीन संघर्ष एवं भारत-पाक युद्ध के समय विरोध-पत्रो का आदान-प्रदान एक सामान्य बात बन गई थी।

2. शक्ति का प्रदर्शन (Power Demonstration)—अपनी माँगो तथा हितों की ओर दूसरे देशों का ध्यान आकर्षित करने का दूसरा तरीका यह भी है कि एक देश अपनी शक्ति बढा ले तथा उसका प्रदर्शन करता फिरे। जल, थल, नभ सेना की पूरी तैयारी करने पर उस देश की ओर विश्व सशंकित दृष्टि से देखने लगेगा।

3. सांस्कृतिक कार्यक्रम (Cultural Programme)—सांस्कृतिक कार्यक्रमो द्वारा एक देश की जनता को अपने पक्ष मे किया जा सकता है। विभिन्न देशो के दूतावासो द्वारा यह प्रबन्ध किया जाता है कि विभिन्न तरीको द्वारा उनके देश की संस्कृति, रहन-सहन, साहित्य, परम्पराएँ आदि से विदेशो को परिचित कराया जाए।

4. राजनीतिक दौरे (Political Visits)—विदेशो से मित्रता बढाने का एक सफल साधन, जो अब पर्याप्त लोकप्रिय बनता जा रहा है, सरकार के अध्यक्षों के दौरे हैं। एक देश का नेता जब दूसरे देश मे सद्भावना यात्रा के लिए जाता है तो उस देश की जनता और नेता दोनों पर बहुत अनुकूल प्रभाव पडता है। सर्वोच्च स्तर पर व्यक्तिगत वार्ता द्वारा पारस्परिक सन्देह का निराकरण करके अनेक विवादास्पद मुद्दो का हल करना वस्तुतः एक प्रभावशाली उपाय है।

5. रचनात्मक कार्यक्रम (Constructive Programmes)—दूसरे देशों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अखबारों, पत्रिकाओं, रेडियो आदि द्वारा प्रचार तब तक प्रभावहीन रहेगा जब तक उसके साथ एक रचनात्मक कार्यक्रम को संलग्न न किया जाए। कार्य प्रमुख है और बातें गौण। पामर तथा पर्किंस ने भी कहा है, "एक रचनात्मक नीति द्वारा प्रचार का अभिकरण कमजोर होने पर भी दूसरे देशों का ध्यान अपने पक्ष मे आकर्षित किया जा सकता है।"

(ग) अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त करने की युक्ति
(Devices for gaining Response)

प्रचार की तीसरी युक्ति द्वारा देशवासियो की अनुकूल प्रतिक्रिया (Response) करने की चेष्टा की जाती है। प्रचारकर्त्ता द्वारा लोगो की देश-भक्ति, आत्मरक्षा एवं न्यायप्रियता आदि की भावनाओ को प्रभावित करके अपनी इच्छानुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। देशवासियो की भावनाओ को प्रभावित करने के लिए अनेको तरीके अपनाए जाते हैं।

1. नारों का उपयोग (Slogan Tactics)—जिस कार्य को आप करना चाहते हैं उसके लिए एक दो-चार शब्दो का वाक्य रच दीजिए और उसे प्रचारित कीजिए। वह वाक्य लोगों के दैनिक जीवन मे घुल-मिल जाएगा, उनके घरो मे बच्चे-बच्चे की जबान पर होगा तब निश्चय ही वह उनके कार्यों को भी प्रभावित किए बिना नही रह सकता। 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे ने फ्रांस की क्रान्ति मे तथा 'प्रतिनिधित्व नही तो कर नहीं' (No Taxation Without Representation) के नारे ने इंगलैण्ड के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इसी प्रकार मार्क्स की उक्ति 'दुनिया के मजदूरों एक हो' (Workers of the World Unite) का प्रभाव सभी देशो के मजदूरों मे चेतना जाग्रत करने का प्रमुख साधन बन गया है। 'अफ्रीकी एकता', 'अरब एकता', 'जनतन्त्र खतरे मे है', आदि आधुनिक नारे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को काफी प्रभावित किए हुए हैं।

2. प्रतीकों का प्रचलन (*Symbolic Devices*)—नारों की भाँति प्रतीक भी मनुष्य की भावनाओं को प्रभावित करने मे बहुत सफल रहते हैं। देशवासियो में *भावनात्मक एकता पैदा करने एवं राष्ट्रीय नीतियो का समर्थन करने के लिए प्रत्येक देश* द्वारा चित्र, जानवर, संकेत, राष्ट्रीय, झण्डा एवं अनेक प्रकार के प्रतीको का उपयोग किया जाता है। इतिहास में सबसे प्रभावशाली प्रतीक की भूमिका नाजी जर्मनी मे 'स्वस्तिक' की थी। राष्ट्रीय नेताओं के रूप मे चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टालिन, नेहरू आदि ने प्रभावशाली प्रतीको का कार्य किया।

3. विचारों का वैयक्तिकरण (Personification of Ideas)—विचारो के साथ व्यक्ति को एकाकार कर दिया जाता है। एक व्यक्ति जब यह कहता है कि वह महात्मा गाँधी का अनुयायी है तो तुरन्त ही हमारा मस्तिष्क यह स्वीकार कर लेता है कि उस व्यक्ति मे शान्ति, अहिंसा और सत्य आदि गुणों के प्रति श्रद्धा है। गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति (Non-Aligned Foreign Policy) का प्रसग छिड़ते

ही हमारे मानस-पटल पर स्वर्गीय प. नेहरू का चित्र उभर आता है। व्यक्ति को प्रायः उस देश के साथ एकाकार कर दिया जाता है। महात्मा गाँधी को राष्ट्रपिता मानने के पीछे यही भावना है।

4. **परिस्थिति और दृष्टिकोणों का उपयोग (Utilization of Situations and Attitudes)**—एक सफल प्रचारक वह माना जाएगा जो *परिस्थितियों और दृष्टिकोणों का लाभ उठा कर उन्हें अपने हित मे मोड़ ले और उनका प्रचार करे।* प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी मे सुरक्षा और आर्थिक सकट की जो स्थिति पैदा हुई उसके कारण वहाँ के लोग हिटलर की तानाशाही को स्वीकार करने के लिए सहमत हो गए। साम्यवादी चीन ने भारत विरोधी प्रचार कर पाकिस्तान की मैत्री प्राप्त कर ली। पामर एवं पर्किंस के मत मे "प्रत्येक प्रचारक वर्तमान दृष्टिकोणो से लाभ उठा कर उन्हे ऐसी दिशा मे मोड़ने का प्रयास करता है जिससे उसका हित-साधन हो सके।"

(घ) स्वीकृति प्राप्त करने के साधन
(Methods of gaining Acceptance)

प्रचार-प्रक्रिया की **अन्तिम सीढ़ी** अपने प्रचारित लक्ष्यो पर स्वीकृति प्राप्त करने की है। प्रचारक द्वारा ऐसे प्रयत्न किए जाते है जिनके द्वारा दूसरे देश उसकी नीतियों को स्वीकृति प्रदान करे। अपनी योजनाओ पर स्वीकृति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रचार के विषय एव वस्तु के बीच का भेद मिटा दिया जाए। आपका प्रचार तब तक महत्त्वहीन रहेगा जब तक कि उन लोगो के साथ आप एकाकार न हो जाएँ या घनिष्ठ रूप मे घुल-मिल न जाएँ जिनमे प्रचार करना चाहते है।

प्रचार पर *स्वीकृति प्राप्त करने का दूसरा तरीका है धर्म और जाति के नाम* पर प्रभावित करना। मनोवैज्ञानिक रूप से यह सच है कि यदि व्यक्ति आप मे और अपने आप मे समानता देखने लग जाए तो आपके लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाएगा। यह समानता धर्म और जाति के नाम पर भी स्थापित की जा सकती है। भारत पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान ने धर्म के नाम पर मुस्लिम देशों से सहायता प्राप्त करने की कोशिशें की थी। टर्की आदि देश उसके प्रचार के प्रभाव मे आकर 'जिहाद' का समर्थन करने को अग्रसर हुए थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय आर्य जाति की श्रेष्ठता के नाम पर हिटलर ने जर्मनी को अपने प्रचार से वशीभूत कर लिया था।

प्रचार को प्रभावकारी बनाने के लिए एक तीसरा तरीका अपनाते समय धर्म की दुहाई दी जाती है। ईश्वर के नाम पर आज तक अनेको युद्ध लडे गए हैं। भारत पर होने वाले प्राचीन मुस्लिम आक्रमणों के पीछे धर्म-प्रचार की भावना ही थी। धर्म के नाम पर पाकिस्तान का निर्माण किया गया और आज इजरायल अरब सघर्ष विश्व-शान्ति के लिए महान् संघर्ष बना हुआ है।

प्रचार की प्रक्रिया के इन स्तरों के सम्बन्ध मे विधायी कदम उठाने से प्रचार को सफल बनाया जा सकता है। किन्तु हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि प्रत्येक

प्रचार को उसके विरोधी प्रचार का भी सामना करना पड़ता है। विरोधी प्रचार भी एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में दूसरे का ध्यान आकर्षित करने, अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त करने एवं उनकी स्वीकृति प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास करता है। प्रचार पर सरकार का नियन्त्रण रहता है, ऐसा किए बिना कोई भी शासन सफल रूप से कार्य नहीं कर सकता, किन्तु इस नियन्त्रण के रहते हुए भी एक देश की जनता बाकी विश्व के प्रचार के प्रभावों से पूर्णतः अछूती नहीं रह सकती।

प्रचार के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता बहुत रहती है, इसलिए प्रचार-क्रिया में एक तत्व यह भी जोड़ना पड़ता है कि विरोधी प्रचार का खण्डन किया जाए। विरोधी का खण्डन करते समय उसके विपरीत तरह-तरह के नारों का निर्माण किया जाता है। उदाहरण के रूप में उन सभी शक्तियों को ले सकते हैं जो पश्चिमी प्रजातन्त्र साम्यवादी देशों के लिए तथा साम्यवादी देश पश्चिमी प्रजातन्त्रों के लिए प्रयुक्त करते हैं। पामर तथा पर्किंस के शब्दों में, "यह एक प्रमुख तथ्य है कि प्राय. प्रत्येक पक्ष प्रचार की प्रभावशीलता को रोकने के लिए उसका प्रतियोगी रहता है।"

विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ प्रचार के नए-नए साधनों का प्रचलन होता जा रहा है। प्रचार की प्रक्रियाएँ एवं विधियाँ भी समय और आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती हैं।

प्रभावशाली प्रचार की आवश्यकताएँ
(The Requisites for Effective Propaganda)

प्रभावशाली प्रचार के लिए कई बातें जरूरी होती हैं जैसे उसकी सरलता, रुचि, उपयुक्तता, आदि। प्रचारक को अपना विशेष उद्देश्य प्रभावी रूप से प्रचारित करने के लिए समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, सामूहिक विश्लेषण आदि का सहारा लेना होता है। यह प्रभावशीलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि विभिन्न माध्यमों द्वारा एक बात को कई बार दुहराया जाए ताकि श्रोतागण उसे भली प्रकार सुन सकें। श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए प्रचारित विषय को देखने, सुनने और पढ़ने योग्य बनाया जाए। ये सब बातें एक प्रचार कार्य को प्रभावशाली बना देती हैं।

प्रचार कार्य की वस्तुनिष्ठता (The Objectivity of Propaganda)—इसका सरल तरीका यह है कि खबरों तथा सूचनाओं को यथासम्भव वस्तुनिष्ठ तथा तथ्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाए और श्रोता अथवा पाठक को स्वयं ही अपने निर्णयों पर पहुँचने के लिए अवसर प्रदान किया जाए। सीधी और बिना मिलावट की सूचना राजनीतिक दृष्टि से प्रभावकारी होती है। इसका प्रभाव उस समय और भी अधिक होता है जबकि यह उन सर्वाधिकारवादी राज्यों पर प्रभाव डालती है जो सूचना को नियन्त्रित रखते हैं। वस्तुनिष्ठ एवं तथ्यात्मक सूचना का लाभ यह है कि श्रोता उसे यह जानने के लिए सुनना चाहते हैं कि उन्होंने जो भी खबरें सुनी हैं उनमें सत्य का कितना अंश है। वैसे पूर्ण सत्यता तो प्राय. प्राप्त नहीं हो पाती।

द्वितीय विश्व युद्ध काल मे बी. बी. सी. को वस्तुनिष्ठता के लिए पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी।

बड़ा झूठ और उसका दोहराव (Big Lie and its Repetition)—प्रचार-कार्य को प्रभावशाली बनाने की एक तकनीक यह है कि कोई बड़ा झूठ बोला जाए और उस झूठ को बार-बार दोहराया जाए। हिटलर का विश्वास था कि यदि एक बहुत बड़े झूठ को बार-बार दोहराया जाता है तो वह जनता का विश्वास प्राप्त कर लेता है। अधिकांश जनता मे यह समझने की कल्पना नही होती कि बार-बार दोहराए जाने वाले कथन पूर्णत सत्य नही होते। इस तकनीक को प्रभावकारी बनाने के लिए विभिन्न स्रोतो पर नियन्त्रण रखना जरूरी है ताकि परस्पर विरोधी बातें सामने न आएँ। छोटे स्तर का झूठ कम लाभदायक होता है और इससे खबर देने वाले की विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है।

सरलता (Simplicity)—जनता के मस्तिष्क पर सीधे-सीधे नारो का अधिक प्रभाव होता है। वह विभिन्न राजनीतिक एव आर्थिक विचारधाराओ के तुलनात्मक गुणो के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क सुनने की अपेक्षा सरल नारे सुनना अधिक पसन्द करती है। जैसे—*'सामान्य और पूर्ण नि.शस्त्रीकरण', 'बम पर रोक लगाओ'* तथा पूँजीवादी, साम्राज्यवादी आदि। हगरी के 'स्वतन्त्रता सेनानियो की प्रशसा की गई।' इसी प्रकार आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे स्वतन्त्र विश्व (Free World) और शीत-युद्ध (Cold War) पर्याप्त सामान्य शब्द बन गए हैं।

रुचि एवं आकर्षण (Interest and Attraction)—प्रचार उस समय तक प्रभावहीन रहता है जब तक कि वह सुनने वालो को रुचिकर न लगे। एशिया और अफ्रीका के जिन देशो का सम्बन्ध आर्थिक विकास एव राष्ट्रीय निर्माण से है वहाँ सयुक्तराज्य अमेरिका जब साम्यवाद को रोकने पर जोर देता है तो इन देशो पर इसका प्रभाव नही होता। किसी विषय पर लोगो की रुचि उतनी ही कम हो जाती है जितना कि वह उनसे दूर है। दूसरी ओर सयुक्तराज्य अमेरिका के सूचना-अभिकरण के एक प्रकाशन मे अफ्रीका से सम्बन्धित लेख छपते हैं और अफ्रीकी पाठको को यह अनुभूति देते हैं कि अमेरिका उनके मामलो मे रुचि लेता है। प्रचार-कार्य को रुचिपूर्ण बनाने के लिए शारीरिक प्रदर्शन एव दृश्य प्रभाव भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।

स्पष्टता एवं प्रामाणिकता (Clearity and Factuality)—यदि प्रचार का विषय बनावटी है या झूठी प्रकृति का है तो उससे प्रायः वाञ्छित लक्ष्य प्राप्त नही हो सकते। प्रचार भी दीर्घकालीन नीति के साथ सयुक्त होना चाहिए। किसी भी प्रचार पर तब विश्वास किया जाता है जब उसके अनुसार कार्य भी किया जाए।

स्थानीय अनुभवों एवं दृष्टिकोण में समरूपता (Identification with Local Experiences and Outlook)—*प्रचार-कार्य लोगो का अपनी ओर ध्यान ही* आकर्षित नही करना चाहता वरन् उनकी प्रतिक्रिया भी चाहता है। प्रचारक जिनको प्रभावित करना चाहता है उनकी स्थानीय रुचियो, अनुभवों एवं दृष्टिकोणो का ध्यान

रख कर अपने और उनके बीच की दूरी को मिटाता है। एक प्रभावशाली प्रचारक वह है जो सामान्य विशेषताओं और सामान्य रुचियों पर जोर देता है। साम्यवादी रूस द्वारा विकासशील देशों की एकता का नाम लेकर इसी तकनीक को अपनाया जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा जो साम्यवाद विरोधी भावनाएँ फैलाई जाती है उनका प्रभाव कम होता है क्योंकि दूसरे लोग प्राय उनमें विश्वास नही करते।

स्थिरता (Consistency)—जोसफ फ्रैंकल (Joseph Frankel) का यह कहना उपयुक्त है कि "प्रचार का प्रभाव उसकी निरन्तरता एव स्थिरता के कारण बहुत बढ़ जाता है। साथ ही सूचना के प्रतियोगी स्रोतों को समाप्त कर देना भी उपयोगी रहता है।" आर्थर क्रोक (Arthur Krock) का कथन है कि एक प्रजातन्त्रात्मक सरकार को अपना प्रचार प्रभाव बनाने के लिए अपने कथनों की सत्यता वास्तविक कार्यों से सिद्ध करनी चाहिए। *प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था* अपनी असफलताओं को नही छिपा सकती। दूसरी ओर स्वेच्छाचारी सरकार अपनी असफलताओं तथा असगतियों को छिपा सकती है और छिपाती है। इस प्रकार की सरकारों का प्रचार उनके कार्यों से मेल नही खाता है और रातों-रात उल्टा बन सकता है।

सूचना और प्रचार के रूप
(The Types of Information and Propaganda)

प्रचार-कार्यक्रम के लक्ष्य अथवा उद्देश्य अनेक होते हैं और ये कर्त्ता के उद्देश्य के आधार पर समय-समय पर बदलते रहते हैं। प्रचार अथवा सूचना के उद्देश्य के आधार पर ही उसका रूप भी निश्चित किया जाता है। प्रचार के विभिन्न रूपों एव प्रकारों में से कुछ ये हैं—

1. समाचार एवं सूचना (News and Information)—इस प्रकार का अधिकांश प्रचार खबर देने के अलावा और कुछ नही करता तथा सुनने वाले को स्वय ही निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए आमन्त्रित करता है। यह दृष्टिकोण राजनीतिक सचार में आंग्ल अमेरिकी प्रयासों की विशेषता है। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में सयुक्तराज्य अमेरिका ने जो प्रचार-नीति अपनाई उसे *सत्य की रणनीति (Strategy of Truth)* कहा जाता है। आज के संयुक्तराज्य अमेरिका का सूचना-अभिकरण दूसरे देशों की जनता को प्रभावित करने के लिए और विदेशों में सयुक्तराज्य का चित्र प्रस्तुत करने के लिए तथ्यों एवं स्पष्टीकरणों का एक प्रमुख साधन के रूप में प्रयोग करता है। इस दृष्टि से रूसी तकनीक भी प्रभावशाली बनती जा रही है। सत्य प्रतिवेदन अथवा समाचार के आधार पर *एक प्रचार-यन्त्र श्रोताओं का विश्वास प्राप्त कर लेता है* और यह एक बड़ी उपलब्धि है।

2. चयन द्वारा तथ्यों को मोड़ना (To Distort the Facts through Election)—जब एक देश विदेशी जनमत को एक विशेष रूप देना चाहता है तो वह तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर उसके सामने प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की संचार-व्यवस्था में ईमानदारी जैसी चीज नही रहती और रण-नीति की दृष्टि से कभी भी

भूठ को अपनाया जा सकता है। इस प्रकार प्रचार के दो मार्ग दिखाई देते हैं। एक मार्ग यह है कि भूठे तथ्यों को सामने लाया जाए और दूसरा यह है कि भूठे तथ्यों को प्रचारित किया जाए। इन दोनों के बीच का भी एक मार्ग होता है और वह यह कि भूठ तो न बोला जाए लेकिन कुछ तथ्यो को छिपा लिया जाए ताकि लोग सत्य को समझ न सकें। इस मार्ग को अपना कर प्रचारक उन तथ्यो पर अत्यधिक जोर देता है जो सत्य तो हैं किन्तु उसके पक्ष मे है। दूसरी ओर वह उन तथ्यो की ओर से श्रोताओ का ध्यान हटा देता है जो सत्य होते हुए भी उसके पक्ष मे नही हैं। इस प्रचार द्वारा भावनात्मक व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती है जिनको प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध नही किया जा सकता। इस प्रकार के प्रचार मे प्रचारक यह सिद्ध करता है कि वह स्वयं निरपराध है और जो भी गलती की गई है वह सब विरोधी द्वारा की गई है। दोनों पक्ष अपने शान्ति-प्रेम की दुहाई देते हैं और यह सिद्ध करते है कि उन्होंने इस प्रेम के निर्वाह मे क्या बलिदान किया और दूसरे पक्ष ने उन पर क्या अत्याचार किए। इस प्रकार के प्रचार मे तथ्यो की जानकारी का कार्य श्रोता पर छोड दिया जाता है। एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष की तस्वीर खीची गई है। यदि वह उस तस्वीर को मिटा कर दूसरी नही बना सकता तो निश्चय ही वह आक्रमणकारी या साम्राज्यवादी समझा जाएगा। इस प्रकार का प्रचार विदेशो मे दृष्टिकोणो को ढालने के लिए तथा दूसरो पर दबाव डालने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। प्रचार के इस रूप मे तथ्यो को अथवा तथ्यो से मिलती-जुलती चीज को केन्द्र-बिन्दु बनाया जाता है अ अपने स्वार्थ की दृष्टि से उनकी व्याख्याएँ की जाती है।

3. आच्छादित प्रचार (*Covert Propaganda*)—कभी-कभी प्रचार-कार्य मे ऐसे साधन अपनाए जाते है जो दृष्टि से ओझल होते हैं। अनेक देश ऐसा करते हैं कि वे अन्य राज्यो के समाचार-पत्रो एव प्रकाशनो को खरीद लेते हैं तथा उनसे पक्षपातपूर्ण तथा मिथ्या कहानियाँ प्रकाशित करवाते है जो स्पष्टतया उनके स्वय के ही हित में होती हैं। जनता की मान्यताओ एव प्रतिभूतियो को बदलने के लिए दुनिया के विभिन्न भागो मे विशेष रूप से तैयार की गई फिल्मे वितरित की जाती हैं। इन फिल्मो के मूल निर्माता एव प्रसारक का नाम प्रकट नही किया जाता। जब शुद्ध भूठ का प्रचार किया जाता है तो वह सामान्य जन को स्वीकार्य नही होता क्योकि वह नैतिक दृष्टि से गलत है और प्रचारक की बदनामी होने का डर रहता है। भूठे तर्क दीर्घकालीन नीति के रूप मे अधिक उपयोगी सिद्ध नही होते।

किसी तथ्य विशेष की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए भी सूचना का प्रसार किया जा सकता है और उससे ध्यान हटाने के लिए भी। किसी प्रेस-सम्मेलन मे किए जाने वाले प्रश्न भी एक विशेष समस्या को अधिक प्रकाश में लाने के लिए किए जा सकते हैं। इस प्रकार के प्रचार-कार्य के लिए कभी-कभी विशेष संचार-साधनो का प्रयोग किया जाता है। जब इस प्रकार के समाचार सामने आते है तो उस देश की सरकार प्राय: उनको छिपाने का प्रयास करती है तथा उनके अस्तित्व को सार्वजनिक रूप से प्रकट नही करती।

4. आदर्शवादिता का प्रचार (Propaganda of Idealism)—राज्य विचारधारा को आधार बना कर भी दूसरे देशों पर वांछित प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। पश्चिमी देश स्वतन्त्रता की आवश्यकता एवं महत्त्व का प्रचार करके अपने विश्वासों एवं मान्यताओं को दूसरे देशों द्वारा स्वीकृत कराने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर साम्यवादी देश अन्य राज्यों के युवकों के आन्दोलनों को प्रोत्साहन देते हैं तथा उन्हें समाजवादी आन्दोलन के पवित्र कार्य में सहयोग करने के लिए प्रभावित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय युवक समारोह के माध्यम से प्रचार-कार्य के क्षेत्र को व्यापक बनाया जाता है।

5 विचार सुधार (Thought Reform)—कुछ साम्यवादी देश राष्ट्र व्यापी आधार पर विचारों को सुधारने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास किया जाता है कि पश्चिमी देशों के प्रति कटुबाहट पैदा की जाए तथा देश के लोगों के विचार के तरीकों को निर्देशित किया जाए। साम्यवादी व्यवहार के प्रति तथा साम्यवादी लक्ष्यों के प्रति रुचि पैदा की जाती है। देश, समाज, संस्थाओं एवं मूल्यों के प्रति यहाँ स्वामिभक्ति का उपदेश दिया जाता है। साम्यवादी चीन द्वारा अब ये तकनीकें सोवियत रूस के संशोधन के विरुद्ध भी प्रयुक्त की जा रही हैं।

सोवियत रूस का प्रचार-यन्त्र
(Propaganda Machinery of U.S.S.R.)

द्वितीय महायुद्ध का पूर्वकाल—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व सोवियत रूस में प्रचार का लक्ष्य एक तो पार्टी और सरकार के तानाशाही नियन्त्रण को संगठित बनाना था, दूसरे अपने कार्यक्रम के लिए अनुयायी प्राप्त करना था और तीसरे, लोगों को मातृभूमि के लिए बलिदान करने, कष्ट सहने और मर जाने के लिए तैयार करना था। *इस काल में सोवियत प्रचार की मुख्य विशेषताएँ ये थीं—*

1. उसका प्रचार देश के सभी क्षेत्रों के सभी वर्गों के व्यक्तियों को प्रभावित करना था। दल के कार्यकर्त्ताओं ने स्थानीय सोवियतों, कस्बों, गाँवों और सेना तक अपना सन्देश पहुँचाया तथा समाज के सभी वर्गों, किसानों, मजदूरों सिपाहियों, बुद्धिजीवियों तथा जातीय अल्पसंख्यक समुदायों आदि को समझाया कि साम्यवादी समाज वर्गभेद, संघर्ष और पूँजीवाद से मुक्त रहेगा। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्राप्त होगी।

2. साम्यवादियों ने अपने प्रचार के लिए नवीन शब्दों को चुना। अपने पक्ष-समर्थन एवं विरोधियों के खण्डन के लिए ऐसे शब्दों को चुना जो बहुत प्रभावकारी थे। बाद में ये शब्द साम्यवादी जगत में लोकप्रिय बन गए।

3. साम्यवादीयों द्वारा अनेकों नए नारों का उपयोग किया गया तथा अनेकों प्रतीक जैसे लाल सितारा, हथौड़ा व हसियाँ आदि का प्रयोग किया गया।

4. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब रूसी क्रान्ति सफल हो गई तो प्रचार का एक लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद बन गया। इसके लिए कामिंटर्न (Comintern) आदि संस्थाएँ स्थापित की गईं जो विश्व के दूसरे देशों के साम्यवादी दलों को भी

निर्देशन देती थी तथा दूसरे देशों पर ऐसी विदेश-नीति अपनाने के लिए दबाव डालती थी जो सोवियत रूस के अनुकूल हो। सन् 1935 के बाद यूरोपीय देशों के साम्यवादी दलों ने मास्को के निर्देशन पर ही नाजी जर्मनी के विरुद्ध उदारवादी समुदायों से सहयोग करना चालू किया था।

द्वितीय विश्व युद्ध का उत्तर काल—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत रूस के प्रचार की लक्ष्य-प्रक्रिया मे पर्याप्त अन्तर आ गया। इसका क्षेत्र केवल राष्ट्रीय न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय अधिक बन गया तथा इसका प्रयोग शीतयुद्ध को बनाए रखने के लिए किया गया। पामर तथा पर्किंस के मतानुसार सन् 1945 से 47 तक सोवियत प्रचार के दो लक्ष्य थे—(1) जन प्रजातन्त्र के विकास को प्रोत्साहन, और (2) अमेरिका के प्रभाव को कम करना। महायुद्धोत्तर काल में किए गए सोवियत प्रचार की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं।—

1. साम्यवादी प्रचार का क्षेत्र मुख्य रूप से अर्द्धविकसित या अविकसित देशो को बनाया गया।

2. साम्यवादी जीवन-पद्धति की प्रशसा की गई और पूंजीवादी राष्ट्रो के अत्याचारो और शोषणों का रक्तरजित काला चित्र खींचा गया।

3. पूर्व मे चीन तथा पश्चिम मे यूरोप मे साम्यवाद फैलाने के लिए प्रबल व प्रभावकारी प्रचार किया गया।

4. अमेरिका द्वारा विभिन्न देशो को दी जाने वाली आर्थिक व सैनिक सहायता को उसके साम्राज्यवाद का ही दूसरा रूप माना गया। पत्रो और लेखों द्वारा यह जोरदार प्रचार किया गया कि अमेरिका दुनिया को गुलाम बनाना चाहता है।

5 सोवियत रूस ने शान्ति अभियान शुरू किया। प्रचार द्वारा सोवियत जनता एव विश्व के लोगो को यह बताने का भरसक प्रयत्न किया गया कि रूस अपनी पूरी शक्ति से शान्ति स्थापना के लिए तत्पर है तथा अणु-अस्त्रों को मिटा कर वह नि.शस्त्रीकरण करना चाहता है।

6. कोरिया के मामले पर सोवियत प्रचार बहुत प्रभावशाली रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होते ही रूस ने यह प्रचार प्रारम्भ कर दिया कि कोरिया की जनता अमेरिकी नीति व व्यवहार के प्रति असन्तुष्ट व क्षुब्ध है और रूस की प्रशंसा करती है। उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया की राजनीतिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक स्थिति की तुलना करके यह प्रचारित किया गया कि अमेरिका कोरिया को अपना सैनिक अड्डा बनाना चाहता है। वियतनाम, इजरायल आदि के सन्दर्भ में भी रूसियों द्वारा इसी प्रकार के तर्क दिए जाते रहे हैं।

सयुक्तराज्य अमेरिका का प्रचार-यन्त्र
(Propaganda Machinery of U.S.A.)

सोवियत रूस की तुलना मे अमेरिका ने प्रचार के महत्व को बाद में समझा। मुनरो सिद्धान्त पर चलाने वाले देश के लिए प्रचार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कोई

महत्त्व नहीं था। किन्तु जब रूस में साम्यवाद का उदय हुआ और साम्यवादी प्रचार के तीक्ष्ण बाणों ने पश्चिमी प्रजातन्त्रों को घायल कर दिया तथा अनेक कारणों से जब अमेरिका को द्वितीय विश्वयुद्ध में सक्रिय भाग लेना पड़ा तो उसे ज्ञान हुआ कि राष्ट्रीय हित के साधन के रूप मे प्रचार का कितना महत्त्व होता है।

1. द्वितीय विश्वयुद्ध-कालीन प्रचार—युद्ध काल मे विदेशों मे मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक युद्ध छेड़ने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की गई जैसे युद्ध सूचना कार्यालय (OWI) तथा ब्रिटेन के सहयोग से स्थापित (PWD-SHAEF) आदि। इन संस्थाओं द्वारा राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक युद्ध के संचालन के लिए अनेक तरीके अपनाए गए। जर्मन मनोबल (Morale) को गिराने की चेष्टाएँ की गई।

युद्धकाल मे मित्रराष्ट्रों (अमेरिका, रूस और ब्रिटेन) के रेडियो स्टेशन मिलते-जुलते से थे। ये मुख्य रूप से तीन प्रकार के थे। एक सफेद (White) स्टेशन कहलाता था जिसके द्वारा जर्मनी के लिए खबरें तथा परामर्श प्रसारित किए जाते थे। दूसरा काला (Black) स्टेशन था जो था तो मित्र राष्ट्रों का, किन्तु अपने आपको जर्मन कहता था। इसका उद्देश्य था शत्रु को भ्रम मे डालना और सच बात की जानकारी के लिए मित्रराष्ट्रो के प्रसारणो को सुनने के लिए सुविधा प्रदान करना। तीसरे प्रकार के स्टेशन भूरे (Grey) थे जो न तो जर्मन होने का दावा करते थे और न मित्रराष्ट्रों के।

युद्ध के अन्तिम दिनों में कुछ सेनापतियों ने लाउडस्पीकरों को अपने अग्रिम टैंकों पर लगवा दिया ताकि शत्रु को आत्म-समर्पण करने के लिए फुसलाया जा सके।

इस काल का मित्रराष्ट्रो का प्रचार तथा मनोवैज्ञानिक युद्ध के लिए किए गए उनके प्रयास पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके। उन्होंने जो मार्ग अपनाए, शत्रु उन्हें पहले से ही अपना रहा था। मित्रराष्ट्रो के प्रचार की असफलता के कई कारण थे—

1. प्रारम्भ में मनोवैज्ञानिक युद्ध की जो उच्चस्तरीय योजनाएँ बनाई गई उनको शत्रु के विरुद्ध क्रियान्वित नहीं किया गया। यदि प्रचार द्वारा जापान के मनोबल (Morale) को गिरा दिया जाता तथा मनोवैज्ञानिक युद्ध द्वारा उसे कमजोर बना दिया जाता तो वहाँ बम गिराने का व रूस द्वारा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

2. एक दूसरी बड़ी गलती यह की गई कि मित्रराष्ट्रों ने अपने प्रचार द्वारा जर्मनी के सामान्य नागरिकों और शासन के बीच कोई भेद नहीं किया। उनके प्रचार के फलस्वरूप वहाँ के नागरिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मित्रराष्ट्र न केवल नाजी सरकार के ही नहीं उनके भी दुश्मन अतः उन्होंने नाजी शासन का पूरा-पूरा समर्थन किया। नाजी प्रचार-यन्त्र के संचालक गोएबल्स (Goebbels) ने कहा था कि "अगर मैं शत्रु पक्ष मे होता तो नाजीवाद के विरुद्ध लड़ने का नारा लगाता, न कि जर्मन-जनता के विरुद्ध।"[1]

1 *Lochner Louis P.* (ed.) : The Goebbels Diaries, 1948.

2. युद्ध के बाद अमेरिकी प्रचार—शीतयुद्ध के प्रवाह के साथ अमेरिकी जनता और सरकार द्वारा प्रचार के महत्त्व को समझा जाने लगा। सन् 1948 में स्मिथ मंड एक्ट (Smith Mundt Act) पास किया गया। इसका उद्देश्य था कि अमेरिकी जनता और विश्व की जनता के बीच सद्भावना की स्थापना की जाए। प्रचार से सम्बन्धित नवीन योजना को क्रियान्वित करने के लिए एक संगठन की स्थापना की गई। सन् 1951 मे राज्य विभाग (State Department) के अन्तर्गत एक पृथक् अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सूचना प्रशासन (IIA) स्थापित किया गया। 1 अगस्त, 1953 को राष्ट्रपति द्वारा संयुक्तराज्य सूचना अभिकरण (USIA) को एक स्वतन्त्र कार्यालय के रूप मे स्थापना की गई। इसको समुद्रपार के सूचना कार्यक्रमो का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

USIA ने विश्व मे बड़ी सख्या मे सूचना-चौकियाँ स्थापित की हैं। यह असाम्यवादी देशो के हजारो अखबारो के लिए करोड़ो की सख्या मे परचे, पोस्टर, अखबार एव पत्रिकाओ के लिए विशेष सामग्री, व्यगचित्र तथा सूचना सम्बन्धी सामग्री आदि भेजती है। 'वाइस ऑफ अमेरिका' (Voice of America) भी USIA का एक महत्वपूर्ण एव प्रसिद्ध भाग है। यह लगभग 38 भाषाओ मे प्रतिदिन चौबीसो घण्टे प्रसारण करता है। इसके अधिकांश प्रसारणो का निशाना साम्यवादी देश होते है।

अमेरिकी प्रचार मे से *अधिकांश तो प्रचार की प्रतिक्रिया* (Counter Propaganda) होता है। इसके अतिरिक्त विदेश-नीति के मुख्य तथ्यो को भी प्रचारित किया जाता है। मार्शल योजना का प्रचार प्रभावकारी रूप मे किया *गया था।*

प्रचार मे सरकार के अतिरिक्त निजी सस्थाएँ भी अपना सहयोग प्रदान करती है। अनेको अन्तर्राष्ट्रीय मेलो और नुमाइशो मे अमेरिका के निजी सगठनो *एव व्यापारिक सस्थाओ ने सक्रिय रूप से उत्साहपूर्वक भाग लिया है।*

अमेरिकी प्रचार साम्यवादी देशो की तुलना मे कम प्रभावशाली हैं; पामर तथा पर्किस ने इसके दो कारण बताए हैं—

1. सोवियत *यूनियन का* प्रचार के क्षेत्र मे अनुभव अधिक है अर्थात् साम्यवादी क्रान्ति के पूर्व से ही वे इसके अभ्यस्त हैं। इसके बाद अनेको ऐसे अवसर आए जबकि उनको इसे एक प्रभावकारी अस्त्र के रूप में अपनाना पड़ा था।

2. अमेरिकी प्रचार भाषण की स्वतन्त्रता पर आधारित है, सरकारी नियन्त्रण पर नही।

सांस्कृतिक सम्बन्ध और विदेश-नीति
(Cultural Relations and Foreign Policy)

सूचना कार्यक्रमो के अतिरिक्त अनेक देश सांस्कृतिक माध्यम से भी अपना प्रचार-कार्य सचालित करते हैं। यह कहा जाता है कि ज्ञान के आदान-प्रदान का सर्वाधिक प्रभावी तरीका यह है कि व्यक्ति को अपने साथ बाँध लिया जाए। पश्चिमी

शक्तियाँ परस्पर शैक्षणिक सम्बन्धो के माध्यम से एक दूसरे के पर्याप्त निकट आ गई हैं। उन देशो के हजारों छात्र एक दूसरे के देश मे अध्ययन करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के अपने उपनिवेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध थे, इसीलिए वह अधिकांश को शान्तिपूर्वक प्रादेशिक स्वतन्त्रता प्रदान करके राष्ट्रमण्डल के आधार पर उसने इस सांस्कृतिक सम्बन्ध को कायम रखने की व्यवस्था कर ली। इन देशों के नेताओ को ग्रेट ब्रिटेन मे प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था, उसके कारण वे यहाँ के मूल्यों तथा मूल राजनीतिक एव कानूनी सस्थाओ की सराहना करते हैं।

फ्रांस वह पहला बड़ा देश है जिसने साँस्कृतिक सम्बन्धो को सरकारी कर्तव्य बना दिया था। फ्रांस के उदाहरण को देख कर 19वीं शताब्दी के अन्तिम दिनो मे इग्लैण्ड तथा जर्मनी ने भी सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिए। ब्रिटेन की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप तथा अमेरिकी मिशनरियों एव अमेरिकी सरकार के प्रयास से आज अर्द्धविकसित देशो के लगभग दस मिलियन (एक करोड) से भी अधिक लोग अंग्रेजी पढ लिख सकते हैं तथा इनके माध्यम से ये सरकारें इन क्षेत्रों मे आसानी से सचार व्यवस्था-सचालित रख सकती हैं।

संयुक्तराज्य अमेरिका का साँस्कृतिक कार्यक्रम—अमेरिका मे सन् 1938 मे राज्य विभाग के साथ साँस्कृतिक सम्बन्धो का एक सम्भाग जोड दिया गया। इसने सबसे पहले लैटिन अमेरिका पर अपना ध्यान आकर्षित किया क्योकि नाजीवाद तथा फासीवाद का प्रभाव वहाँ बढता जा रहा था। सरकारी एवं गैर-सरकारी सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय-शिक्षा संस्था को विकसित किया गया ताकि विद्यार्थियो का आदान-प्रदान एव विदेशी-अध्ययन सम्भव हो सके।

सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बढाने की दृष्टि से विद्यार्थियों के आदान-प्रदान को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया है। साथ ही पासपोर्ट तथा वीसा के सम्बन्ध मे उदार नीति अपनाकर पर्यटन को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। विकासशील देशो में प्रशिक्षित मानव-शक्ति का पर्याप्त महत्त्व होता है, इसलिए वहाँ पर विद्यार्थियों एवं शिक्षकों द्वारा राजनीति मे महत्त्वपूर्ण रूप से भाग लिया जा सकता है। जो विद्यार्थी अमेरिका मे शिक्षा प्राप्त करते है वे राजनीति को पर्याप्त प्रभावित करेंगे और हो सकता है कि वे ही नेता बनें। इसी प्रकार अमेरिका के जो विद्यार्थी एवं शिक्षक विदेशों मे अध्ययन कार्य मे रत है वे भी उन लोगों पर प्रभाव डालने का पर्याप्त अवसर पाते है जो अपने देश मे सम्मान एव उत्तरदायित्व के पद पर हैं अथवा होंगे। सन् 1946 के फुलब्राइट कानून ने विदेशी छात्रो को छात्रवृत्ति देने का प्रावधान रखा तथा सन् 1948 के स्मिथ-मण्ड अधिनियम ने नेतृत्व के आदान-प्रदान का प्रबन्ध किया। इन अधिनियमो ने संघीय सरकार को साँस्कृतिक सम्बन्धो की रचना मे रुचि लेने की ओर अग्रसर किया। व्यक्तिगत निकाय भी अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के आदान-प्रदान के क्षेत्र मे पर्याप्त कार्य करते हैं।

संयुक्तराज्य अमेरिका के करीब दस-पन्द्रह हजार लोग ऐसे हैं जो विदेशो मे रह रहे हैं। इससे अमेरिका को अन्य देशों की जनता से सम्पर्क बनाए रखने का

अवसर प्राप्त होता है। इन अमेरिकी लोगों मे से अधिकांश का सम्बन्ध सशस्त्र सेनाओं से है तथा पांच लाख से भी अधिक लोग व्यक्तिगत उद्यमो मे संलग्न हैं। प्रतिवर्ष दस लाख के लगभग अमेरिकी पर्यटक के रूप मे अमेरिका से जाते हैं। इन सम्पर्कों एव मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो से विदेश के लोगो के साथ निकटता बढती है। किन्तु इसमे एक यह खतरा भी है कि जाने वाले लोगो ने अमेरिकी जीवन के उत्तम पक्ष का प्रतिनिधित्व न किया तो वहां की सस्कृति के प्रति सम्मान पैदा नही किया जा सकता तथा इससे उल्टा प्रभाव पड सकता है।

सयुक्तराज्य अमेरिका के सांस्कृतिक कार्यक्रम की एक विशेषता यह है कि विदेशों को यहाँ से प्रतिवर्ष कम कीमत की लाखो पुस्तकें विदेशो को भेजी जाती हैं।

स्टालिन की मृत्यु के बाद सयुक्तराज्य अमेरिका तथा सोवियत सघ के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धों का विकास हो गया है। सन् 1958 से रूस जाने वाले अमेरिकियो की सख्या लगभग दो गुनी हो गई है। इसी प्रकार अमेरिका मे आने वाले रूसियो की सख्या भी बढी है।

सोवियत सांस्कृतिक कार्यक्रम—यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि सोवियत सरकार द्वारा सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए कितना खर्च किया जाता है। सन् 1953 मे सोवियत सरकार इस कार्य पर दो बिलियन डॉलर प्रति वर्ष खर्च करती थी। इसके बाद इस खर्च मे वृद्धि ही हुई है। कुछ लेखको का अनुमान है कि सोवियत सघ इस कार्य पर जितना धन व्यय करता है उतना शायद सभी देशो द्वारा मिल कर भी नही किया जाता।

विकासशील देशो को अपने प्रभाव मे लाने के लिए तथा अपनी सस्कृति का निर्यात करने के लिए सोवियत सघ, शोध कार्य, भाषा एव अन्य विशेषीकृत प्रशिक्षणों पर धन खर्च करता है तथा प्रकाशित सामग्री वितरित करता है। सोवियत प्रचार, सांस्कृतिक कार्यक्रम, शैक्षणिक कार्य, सचार-अनुसधान आदि के द्वारा विदेशो मे सोवियत सघ का जो चित्र प्रस्तुत किया जाता है वह एक शान्तिप्रिय किन्तु शक्तिसम्पन्न देश के रूप मे होता है जिसने बहुत कम समय मे ही अपनी आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक व्यवस्था के कारण महान् उपलब्धियां अर्जित की हैं • सोवियत सघ मे जो विदेशी पर्यटक आते हैं उनको सरकारी कर्मचारियो द्वारा निर्देशित किया जाता है तथा जहां वे चाहे वहीं उनको ले जाया जाता है।

सोवियत सघ मे राष्ट्रों का एक मैत्री विश्वविद्यालय (Friendship of Nations University) स्थापित किया गया है जो मास्को विश्वविद्यालय से अलग है। यहां एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशो के युवकों को रूसी भाषा विज्ञान, कला एव साम्यवाद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इन सम्पर्कों के माध्यम से यह आशा की जाती है कि जब ये युवक अपने देश को वापस लौटेंगे तो साम्यवाद के हित मे कार्य करेंगे। अनेक अमेरिकी शिक्षा-शास्त्रियों ने जब व्यक्तिगत रूप से उच्च सोवियत शिक्षा-शास्त्रियों से बातें की तो उनको यह विश्वास हो गया कि सोवियत सघ विकासशील देशो में अमेरिका को पूरी तरह

निकालना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो गया है कि उदार प्रजातन्त्र अपने सांस्कृतिक सम्बन्धों का प्रसार करें तथा विदेशों से आने वाले छात्रों के साथ अधिक नम्रता एवं शिष्टता का व्यवहार करें। यह एक चुनौती है जिसका सामना करना जरूरी हो गया है।

राजनीतिक युद्ध
(Political Warfare)

मानव-सभ्यता के प्रभाव से ही 'युद्ध' समाज की एक अभिन्न विशेषता बना हुआ है। पामर तथा पर्किंस के शब्दों में "शान्ति तो एक अल्पकालीन सन्धि के समान है जिसमें विचारधारा का प्रत्येक समर्थक अपने लिए उपयुक्त स्थिति प्राप्त करने के हेतु दूसरे को धोखा देने को तत्पर है।" युद्ध केवल सेना द्वारा हथियारों से रणक्षेत्र में ही नहीं लड़े जाते। युद्ध के कई रूप होते हैं। उदाहरण के लिए—(1) मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological Warfare), (2) राजनीतिक युद्ध (Political Warfare), (3) सैनिक युद्ध (Military Warfare) आदि।

राजनीतिक युद्ध का अर्थ
(Meaning of Political Warfare)

राजनीतिक युद्ध का अर्थ किसी सुनिश्चित शब्दावली में व्यक्त करना कठिन है। इतिहास के उदाहरणों द्वारा ही यह भली प्रकार जाना जा सकता है कि इस प्रकार की नीति अथवा कार्यक्रम अपनाने पर अमुक देश राजनीतिक युद्ध का कर्त्ता माना जा सकता है। इसमें कोई राष्ट्र सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करता, लेकिन शक्ति के किसी न किसी रूप का प्रयोग अवश्य होता है। युद्ध का निहितार्थ यह है कि विपक्षी को कोई बात स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया जाए। सैनिक-बल से ऐसा करने पर उसे हम सैनिक युद्ध की संज्ञा देते हैं, लेकिन कूटनीति, प्रचार आदि द्वारा भी राष्ट्र को इस प्रकार विवश किया जा सकता है। जब हम प्रचार, कूटनीति, आर्थिक दबाव आदि का प्रयोग इस रूप में करें कि दूसरा देश हमारी नीतियों को मानने के लिए विवश हो जाए तो यह प्रक्रिया राजनीतिक युद्ध कहलाएगी। राजनीतिक युद्ध की असफलता प्रायः सैनिक युद्धों में परिणत हो सकती है।

राजनीतिक युद्ध के अर्थ को विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त करने की चेष्टा की है। स्ट्रोज-ह्यूप एवं पासनी ने लिखा है, सूक्ष्म रूप में "राजनीतिक युद्ध एक व्यवस्थित क्रिया, अधिकांशतः गुप्त स्वभाव की है जो बिना शक्ति अथवा सैनिक अधिकार के दूसरे राज्य की नीतियों को प्रभावित और निर्देशित करती है।"[1] पामर तथा पर्किंस के शब्दों में, "सामान्यतः युद्ध को छोड़कर इसमें (राजनीतिक युद्ध में) वे साधन शामिल किए जाते हैं जिनका किसी विशेष शत्रु या शत्रुओं को निर्बल करने के लिए प्रयोग किया जाता है।"[2] इन परिभाषाओं की विवेचना से यही स्पष्ट होता

1 *Strausz-Hupe and Possony* : International Relations, p. 422.
2 *Palmer and Perkins* : op cit., p. 125.

है कि राजनीतिक युद्ध भी राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का एक प्रमुख साधन है। इसका उद्देश्य पहले शत्रु को कमजोर बनाना, उसके मनोबल को क्षीण करना और शत्रु अथवा विरोधी राज्य में अव्यवस्था फैला कर उद्देश्यों की प्राप्ति करना है। सामान्यतः ये ही कार्य कूटनीति, प्रचार और अन्य साधनों के होते हैं, तथापि अपनी प्रकृति और स्वरूप में ये राजनीतिक युद्ध से भिन्न हैं।

सामान्य प्रचार को हम राजनीतिक युद्ध की संज्ञा नहीं देते, लेकिन प्रचार का उद्देश्य यदि विरोधी राज्य को निर्बल बनाना, डराना या धमकाना अथवा अपनी नीति मानने के लिए विवश करना है तो वह राजनीतिक युद्ध का अंग बन जाता है। इसी प्रकार सामान्य कूटनीति भी राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत नहीं आती, पर ज्योंही कूटनीति का प्रयोग उपर्युक्त उद्देश्यों की दृष्टि से किया जाता है तो वह भी राजनीतिक युद्ध की परिधि में आ जाती है। सारांश में कूटनीति या प्रचार या आर्थिक उपाय आदि को राजनीतिक युद्ध की परिधि में तभी लिया जा सकता है जबकि उनका उद्देश्य या परिणाम विवशकारिता हो। कौनसी क्रिया सामान्य है अथवा राजनीतिक युद्ध का अंग है, यह उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि नाकाबन्दी (Embargo) आर्थिक स्रोतों के संरक्षण के लिए की गई है तो यह सामान्य क्रिया है, लेकिन यदि इसका उद्देश्य विरोधी राज्य को आर्थिक वस्तुओं से वंचित रखकर दुर्बल बनाना है तो यही क्रिया राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत गिनी जाएगी।

राजनीतिक युद्ध सैनिक युद्ध छिड़ने से समाप्त नहीं हो जाता, अपितु युद्ध काल में प्रचार, कूटनीति, आर्थिक साधन सभी राजनीतिक युद्ध के साधन बन जाते हैं और युद्ध में राष्ट्रीय हित के पक्ष में सहायक होते हैं। सन् 1962 के चीनी आक्रमण और सन् 1965 तथा 1971 के पाकिस्तानी आक्रमण में राजनीतिक युद्ध के इस स्वरूप का परिचय हम भली प्रकार पा चुके हैं।

राजनीतिक युद्ध के साधन
(Devices of Pol tical Warfare)

राजनीतिक युद्ध के विभिन्न साधनों को समय और परिस्थिति के अनुसार अपनाया जाता है। इस दिशा में कुछ प्रमुख साधन ये हैं—

1. विरोधी पक्षों में भ्रम फैलाने और फूट डालने के लिए प्रचार का आश्रय लिया जाता है। विरोधी पक्ष में फूट पड़ जाने से वह दुर्बल हो जाता है जिसका लाभ दूसरे पक्ष को मिल सकता है।

2. विरोधी समुदाय को आतंकित अथवा भयग्रस्त करने वाला प्रचार किया जाता है। कभी-कभी अनावश्यक रूप से आतंकित होकर विरोधी पक्ष झुक जाता है अथवा अचानक ही युद्ध का आश्रय ले बैठता है। अतः इस प्रकार के प्रचार को सोच विचार कर काम में लाना चाहिए।

3. शत्रु-देश में रहने वाले अल्पसंख्यकों को समर्थन देकर अपने पक्ष में किया जाता है और विरोधी पक्ष को कमजोर बनाने की चाल खेली जाती है। पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध नागाओं को आश्रय और प्रोत्साहन देने की नीति में यही

चाल थी। किसी देश के अल्पसंख्यक समुदायों का पक्ष लेकर सरकार के सुचारू-संचालन में भी बाधा डाली जा सकती है। लेकिन ऐसी सम्भावना लोकतान्त्रिक प्रणाली वाले देशों मे ही हो सकती है, सर्वाधिकारवादी साम्यवादी देशों मे नही।

4. दूसरे राज्यो को निर्बल करने वाले आर्थिक साधनों को अपनाया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत-पाक युद्ध के समय अमेरिका ने भारत पर दबाव डालने के लिए आर्थिक सहायता बन्द करदी थी।

5. दूसरे राज्य के राजनीतिक अपराधियो को सरक्षण देना, दूसरे राज्यो मे *गुप्तचर-गतिविधियो मे वृद्धि करना आदि भी राजनीतिक युद्ध के प्रमुख साधन हैं।* अमेरिका और रूस की गुप्तचर मशीनरी के कारनामो का भण्डाफोड अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पाठको के लिए कोई छिपी बात नही है।

6 क्रान्ति को प्रोत्साहन देना राजनीतिक युद्ध का बडा प्रभावशाली साधन है। साम्यवादी देश इस साधन को बड़े सुव्यवस्थित और कारगर ढंग से प्रयोग मे लाते है। पाकिस्तान ने भी सन् 1965 मे योजनाबद्ध तरीके से घुसपैठिए भेजकर भारत अधिकृत कश्मीर मे क्रान्ति कराने की चाल चली थी और रेडियो से प्रसारित भी करा दिया था कि कश्मीर मे क्रान्ति हो गई है। लेकिन पाकिस्तान की यह *चाल व्यर्थ रही क्योंकि कश्मीर की जनता सच्चे अर्थों मे भारतीय नागरिक है जिनमे* बगावत या क्रान्ति के शोले भडकाने मे कोई पाकिस्तानी चाल सफल नही हो सकती। क्रान्ति का कुछ इसी प्रकार का तरीका साम्यवादी चीन ने इण्डोनेशिया मे अपनाया था और सुकार्नो-सरकार को उलटने का षड्यन्त्र रचा था, तथापि उसके ये इरादे सफल नही हो सके।

7 दूसरे राज्य की विरोधक निर्वासित सरकार को अपने देश मे बढने देना, दूसरे राज्यो मे राजनीतिक हत्याएँ कराना, आर्थिक तोड-फोड की नीति अपनाना, शक्ति का प्रदर्शन करना आदि भी राजनीतिक युद्ध के प्रमुख साधन हैं।

इन सभी साधनों का प्रयोग राज्य अपने हितो की अभिवृद्धि के लिए करते हैं, तथापि इनका प्रयोग सामान्यतः मित्र देशो के साथ नही किया जाता।



9 राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन: साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं युद्ध राष्ट्रीय नीति के एक साधन के रूप में

(Economic Instruments for National Policy: Imperialism, Colonialism, Neo-Colonialism, and War as an Instrument of National Policy)

"साम्राज्यवाद ऐसी नीति के अनुगमन अथवा समर्थन अथवा उसकी मौन स्वीकृति को कहते हैं जिसका लक्ष्य किसी राष्ट्र के नियन्त्रण-क्षेत्र अथवा साम्राज्य को उसकी प्राकृतिक सीमाओं से बाहर स्थित नए प्रदेशों या अधीनस्थ क्षेत्रों की प्राप्ति द्वारा विस्तृत करना या उसके शासन को अन्य मानव-जातियों तक फैलाना है।"

—वेब्सटर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के जिन साधनों का उल्लेख पिछले अध्याय मे हो चुका है, उनके अतिरिक्त आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा युद्ध भी प्रमुख साधन हैं। आर्थिक साधन और युद्ध की उपेक्षा करना तो प्राय किसी राष्ट्र के लिए सम्भव नही है, तथापि वर्तमान युग मे साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद अवश्य उपेक्षणीय बन गए हैं—विशेषकर एशिया और अफ्रीका के कुछ राष्ट्रो के लिए।

राष्ट्रीय नीति के लिए आर्थिक साधन
(Economic Instruments for National Policy)

आधुनिक युग मे कोई भी राज्य पूर्णतया आत्म-निर्भर होने का दावा नही कर सकता। एक देश की आर्थिक स्थिति दूसरे देशों को भी न्यूनाधिक रूप से प्रभावित करती है और इस प्रकार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों पर प्रभाव पडता है। कोई भी देश अपनी समस्याओ को ध्यान में रखते हुए ही अपनी आर्थिक नीति का निर्धारण करता है जिसका उद्देश्य अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय हित में अभिवृद्धि करना होता है। आर्थिक नीतियों के विभिन्न रूपों को सामान्य रूप से आर्थिक साधनों (Economic Instruments) की संज्ञा दी जाती है।

आर्थिक साधन : अर्थ और महत्त्व (Economic Instruments : Meaning and Importance)

पामर एवं पर्किस ने आर्थिक साधनों को परिभाषित करते हुए लिखा है, "राष्ट्रीय उद्देश्यों की अभिवृद्धि के लिए जब आर्थिक नीतियों का निर्माण किया जाता है—चाहे वह दूसरे राज्यों को हानि पहुँचाने के लिए हो अथवा नहीं—वे राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन मानी जाती हैं।"[1] पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार, "विदेश-नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, प्रत्यक्ष या संयुक्त रूप से, कोई भी आर्थिक क्षमता संस्था अथवा तकनीक आर्थिक साधन हैं। जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इनका प्रयोग किया जाता है वे आर्थिक (उदाहरणार्थ कच्चे माल की प्राप्ति अथवा निर्यात-व्यापार में वृद्धि), राजनीतिक (अल्पविकसित राज्य में विकास अथवा व्यवस्थित परिवर्तन), सैनिक (अड्डों की प्राप्ति) अथवा मनोवैज्ञानिक (अन्य राष्ट्रों की नीति के प्रति सद्भावना अथवा सहायता) हो सकते हैं।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से आर्थिक साधनों के दो पहलू स्पष्ट हैं—एक तो वे राष्ट्रीय उद्देश्यों की अभिवृद्धि के साधन हैं और दूसरे वे आर्थिक नीति के साधन हैं। राष्ट्रीय उद्देश्य अनेक हो सकते हैं, जैसे—राज्य के निवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, निर्यात में वृद्धि, नए बाजारों की प्राप्ति, देश में उपलब्ध आर्थिक साधनों और स्रोतों की सुरक्षा, कच्चा माल प्राप्त करना, युद्ध की तैयारी, रोजगार के अवसरों में वृद्धि आदि। आर्थिक नीति के साधनों के रूप में ये इस प्रकार हैं—आयात कर, कम मूल्य पर निर्यात-कर, आर्थिक सहायता आदि। इन सभी का प्रयोग राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन और विदेश-नीति के प्रभावशाली सहायक तत्त्वों के रूप में किया जाता है। आर्थिक साधनों के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वरनान वान डाइक (Vernon Van Dyke) का कथन है—"अर्थशास्त्र (आर्थिक साधन) केवल प्रभावशाली ही नहीं बल्कि एक साधक-भूमिका का भी निर्वाह करते हैं। आर्थिक साधन विदेश-नीति के निर्धारक ही नहीं बल्कि विदेश-नीति के साधक भी हैं। एक राज्य आर्थिक कारणों से किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है अथवा ऐसी आर्थिक विधियों को स्वीकार कर सकता है जिनसे किन्हीं भी कारणों पर आधारित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।"[3]

आर्थिक साधनों के अर्थ और महत्त्व को स्पष्ट करने वाले इस विचार को ही पैडलफोर्ड एवं लिंकन ने सारांश में इस प्रकार व्यक्त किया है, "आर्थिक स्रोत शक्ति-प्रयोग के साधन हैं। इस प्रकार वे विदेश-नीति के साधक हैं। आर्थिक व्यवस्थाओं की बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता के फलस्वरूप आर्थिक साधन राज्यीय सम्बन्धों में अधिक महत्त्वपूर्ण हो रहे हैं।"

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 132.
2 *Padleford and Lincoln* : op. cit., p. 205.
3 *Vernon Van Dyke* : op. cit., p. 91.

आर्थिक लक्ष्यों का उनके साधनों के साथ और साधनों का उनके लक्ष्यों के साथ समायोजन अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का एक सर्वाधिक जटिल पहलू है। ये जटिलताएँ एक तो इसलिए पैदा होती हैं क्योंकि स्वतन्त्र दुनिया के देशों में गैर-सरकारी पहल आर्थिक क्रिया का सचालनकारी तत्त्व है। गैर-सरकारी पहल हमेशा मूल्यों एवं लाभ से प्रभावित होती है और इसलिए वह सुरक्षा, कल्याण एव विकास के राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा नीतियों के अनुरूप भी हो सकती है और नही भी। राष्ट्रवाद की शक्तिशाली सत्ताएँ, जिनके द्वारा देशों के बीच अनेक सघर्ष पैदा किए जा रहे हैं, परम्परागत आर्थिक लक्ष्यों से मिश्रित हो जाते हैं।

आर्थिक सम्बन्धों की दुनिया अनेक विरोधों से पूर्ण है। प्रत्येक राज्य एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करता है जो उसके स्वयं के हितों के अनुरूप हो। दूसरी ओर उसे अन्य राज्यों के साथ भी सहयोग करना पडता है जो उसके सर्वश्रेष्ठ ग्राहक होते हैं और शक्तिशाली प्रतियोगी भी। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से कमजोर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि उनको परिवर्तन की दिशाएँ चुननी होती हैं। राज्यों के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध इतने अधिक तथा व्यापक होते हैं कि वे अन्य सभी प्रकार के अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों की कुल सख्या से अधिक होते हैं। कभी-कभी इन आर्थिक सम्बन्धों को राष्ट्रवाद एव सुरक्षा की भावनाओं से प्रभावित होना पडता है।

आर्थिक शक्ति विश्व की घटनाओं को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित करती है। एक कमजोर अर्थ-व्यवस्था राजनीतिक अस्थिरता का कारण बनती है और साम्यवाद के लिए अनुकूल भूमि तैयार करती है। किसी भी देश के आर्थिक मामलों को *अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आर्थिक दृष्टि से* जो महान् प्रतिद्वन्द्वी हैं वे भी आर्थिक एव राजनीतिक दृष्टि से एक-दूसरे की अर्थ-व्यवस्था की मजबूती पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका के अनेक निगम ये चाहेंगे कि ग्रेट-ब्रिटेन के समुद्र पार के व्यापार को वे स्वयं सम्भाल लें, किन्तु सयुक्तराज्य अमेरिका यह भी सहन नही कर सकता कि उसका मित्र ग्रेट-ब्रिटेन *आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर हो जाए।*

सयुक्तराज्य अमेरिका की आर्थिक शक्ति द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से ही उसकी शक्ति का प्रधान स्रोत रही है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि सयुक्तराज्य अमेरिका इसलिए महाशक्ति बन सका क्योंकि उसके पास अणुशक्ति थी। किन्तु अणुशक्ति भी अमेरिका को केवल इसलिए प्राप्त हो सकी थी क्योंकि वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। *संयुक्तराज्य अमेरिका अधिकाँश देशों का सबसे बड़ा ग्राहक है* और सबसे बडा व्यापारी है। अमेरिका की आर्थिक शक्ति ने ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मामलों का नेतृत्व प्रदान किया है। इसकी आर्थिक शक्ति साम्यवाद के विरुद्ध स्वतन्त्र दुनिया के देशों को सैनिक सहायता देने का आधार रही है। सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा विदेश-नीति के जिन साधनों को अपनाया जाता है उन सभी का समर्थन मुख्य रूप से *आर्थिक-व्यवस्था करती है। यही कारण है कि सरकारी*

अधिकारी कई बार यह तर्क देते हैं कि आर्थिक मन्दी देश की सुरक्षा के लिए उतनी ही खतरनाक है जितनी कि साम्यवाद की प्रत्यक्ष चुनौती।

एक देश विशेष की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था विश्व की घटनाओं को प्रभावित करती है। बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति विदेश-नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अधिक स्रोत प्रदान करती है। योजनाओं मे जब सफलता प्राप्त होती चली जाती है तो एक देश उन साधनों का प्रचार कर सकता है जिनको उसने प्रयुक्त किया था। आर्थिक सम्बन्धो के आधार पर राजनीतिक प्रभाव बढ़ता है।

आर्थिक शक्ति को राष्ट्रीय सैनिक शक्ति एवं कुल राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण का मूलभूत आधार-स्तम्भ कहा जाता है। आज के युग मे मानव-शक्ति, सैनिक शक्ति का उतना महत्त्वपूर्ण भाग नही है जितना पहले कभी थी। आज की सैनिक शक्ति अधिकतर तकनीकी उद्योग एवं सरकारी वित्त पर आधारित है। घरेलू आर्थिक संस्थाएँ एवं साधन-स्रोत विदेशी मामलों मे एक राज्य की नीतियों एवं कार्यक्रमों को निर्धारित करते हैं। अनेक राज्य उस समय तक पर्याप्त सैनिक शक्ति का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि दूसरे राज्यों के उद्योगों का समर्थन प्राप्त न कर लें। वे ऐसे समर्थन के बिना बड़े संघर्षों को नही चला सकते।

आर्थिक साधनों के निर्धारक तत्त्व
(Determinants of Economic Instruments)

प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान मे रखकर अपनी घरेलू आर्थिक नीतियों (Domestic Economic Policies) पर प्रतिबन्धो अथवा स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था करता है तथा विदेशों के साथ आर्थिक सम्बन्धो का नियमन करता है। ऐसा करते समय स्वाभाविक रूप से एक देश का व्यवहार अनेक तत्त्वो से प्रभावित होता है।

सर्वप्रथम तो आर्थिक क्षेत्र मे दूसरे देश को सुविधा देते समय या प्रतिबन्ध लगाते समय प्रत्येक देश पर उसकी विचारधारा एवं आदर्शों का प्रभाव रहता है। उदाहरण के लिए, साम्यवादी देश में आर्थिक क्रियाओं पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है किन्तु पूंजीवादी प्रजातन्त्रों में स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था होती है जबकि भारत जैसे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाने वाले देश साम्यवादी और पूंजीवादी देशो के बीच का मार्ग अपनाते है।

एक देश के आर्थिक व्यवहार को प्रभावित करने वाला **दूसरा तत्त्व** है उसका 'राष्ट्रीय स्वार्थ या हित।' पामर तथा पर्किंस (Palmer and Perkins) का कहना है कि नियन्त्रण और स्वतन्त्रता तो ऐसी नीतियाँ है जो प्रत्येक राष्ट्र द्वारा उनके राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर अपनायी जाती हैं।[1]

आर्थिक क्रियाओं के स्वरूप को निर्धारित करने वाला **तीसरा तत्त्व** है—उन दो राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों का रूप। यदि वे सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हैं तो एक देश अपने आन्तरिक विकास एवं कल्याण के लिए ऐसी नीतियाँ अपनाएगा जो दूसरे देश

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 150.

के हितों के लिए घातक न हो। किन्तु यदि उन देशों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण न होकर परस्पर शत्रुतापूर्ण हैं तो वह देश ऐसी आर्थिक नीतियों का अनुसरण कर सकता है जिसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से दूसरे देश को हानि पहुँचाना हो।

चौथा तत्त्व है दूसरे देशों का प्रभाव। उदाहरण के रूप में रोडेशिया पर लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्धों पर ब्रिटेन के रुख को लिया जा सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन के रुख को देख कर लगता था कि वह इन प्रतिबन्धों का हृदय से समर्थन नहीं करता किन्तु विश्व-जनमत के प्रभाव से उसने रोडेशिया को तेल न भेजने की नीति को अपना लिया। दूसरे देश के प्रभावों को मानने के पीछे दो कारण हैं। पहला कारण यह कि है आज विश्व का प्रत्येक देश किसी न किसी सीमा तक दूसरे देश पर आश्रित रहता है और दूसरा तर्क यह है कि प्रत्येक देश को कुछ चीजों का आयात और कुछ चीजों का निर्यात करने की आवश्यकता रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन की प्रकृति
(The Nature of International Economic Life)

राष्ट्रों के *आर्थिक सम्बन्धों* का इतिहास 19वीं शताब्दी के साथ प्रारम्भ होता है। इस काल में अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला तथा पर्याप्त मात्रा में एक देश द्वारा आयात व निर्यात प्रारम्भ हो गया। इन कारणों में उल्लेखनीय हैं जैसे—तकनीकी शक्ति के कारण होने वाला औद्योगिक विकास अमेरिकी क्रान्ति, जनसंख्या में वृद्धि तथा औद्योगिक क्रान्ति और उसके कारण लोगों द्वारा देशान्तरीकरण (Migration) आदि।

19वीं शताब्दी में उदारवादी विचारधारा का बोलबाला था। अन्तर्राष्ट्रीय *आर्थिक जीवन पर इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा और यह सोचा जाने लगा कि* आयात तथा निर्यात पर यदि राज्य का नियन्त्रण कम से कम रखा जाएगा तो इससे दोनों ही पक्ष (निर्यात एवं आयात) लाभान्वित होंगे, किन्तु व्यवहार में यह विचारधारा अधिक कारगर सिद्ध न हो सकी और राज्य का थोड़ा बहुत नियन्त्रण रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जब वस्तुओं के आयात और निर्यात की परम्परा का श्रीगणेश हुआ तब प्रत्येक देश यह प्रयत्न करने लगा कि वह अपने देश के आयात और निर्यात के बीच सन्तुलन स्थापित करे ताकि उसे विदेशों में धन न भेजना पड़े। लाभ प्राप्त करने के लिए विदेशों में धन लगाया जाने लगा। विदेशों में धन लगाने के दो तरीके थे। एक तरीके के अनुसार तो पूंजी मिल, कारखाने आदि खोलने में लगाई जाती थी जहाँ उत्पादन द्वारा लाभ प्राप्त किया जा सके। दूसरा तरीका यह था कि वहाँ अथवा उसके किसी भाग को ऋण दे दिया जाए।

प्रथम विश्वयुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। युद्ध के परिणामस्वरूप जो परिस्थितियाँ पैदा हुई उनके कारण प्रारम्भ में तो यह प्रयास किया गया कि उसी अर्थ-व्यवस्था को कायम रखा जाए जो युद्ध से पहले थी, किन्तु यह व्यवस्था बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। फलत. राष्ट्रों को विश्व-व्यापी आर्थिक-मंदी (Economic Depression) का सामना करना पड़ा। पहले

राज्यों द्वारा आर्थिक जीवन मे जो निषेधात्मक रुख अपनाया जाता था उसे अब छोड़ दिया गया। इसके स्थान पर आर्थिक मामलों मे राज्य के प्रतिबन्ध बढ़ गए और राज्य ही समस्त आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करने लगा। इस प्रकार आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) का जन्म हुआ जो आगे जाकर द्वितीय विश्व-युद्ध के कारणों की शृंखला मे तिरोहित हो गया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक मन्दी के कारण व्यक्तिवादी अर्थ-व्यवस्था का स्थान समाजवादी अर्थ-व्यवस्था ने ले लिया। पामर तथा पर्किस ने ठीक ही लिखा है कि "एक राष्ट्र जब राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण लगाता है तो उसे चाहे या अनचाहे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं।"

जब व्यापार पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं तो व्यापार का क्षेत्र एव आकार सीमित रह जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। दो विश्व-युद्धों के बीच के समय मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र निरन्तर सीमित होता गया। सन् 1933 के बाद स्थिति में कुछ परिवर्तन आया, किन्तु इस परिवर्तन का कारण यह था कि अधिकांश देशों द्वारा पुन शस्त्रीकरण किया जा रहा था और सभी बड़ी शक्तियों का सैनिक बजट बहुत बढ गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व की अर्थ-व्यवस्था स्पष्ट रूप से दो भागों मे विभाजित हो गई। एक ओर साम्यवादी देश हैं जहाँ आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) का प्राधान्य है और दूसरी ओर पूँजीवादी प्रजातन्त्र है जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र-विश्व-व्यापार के समर्थक है। वर्तमान विश्व की अर्थ-व्यवस्था का इतिहास इन दो प्रमुख समुदायों के बीच के मौलिक विरोध एवं संघर्ष की कहानी है। एक राष्ट्र के राष्ट्रीय हित-साधन के आर्थिक हथियारों का अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

आर्थिक साधनों के प्रकार
(*Kinds of Economic Instruments*)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने हितो को प्राप्त करने के लिए विभिन्न आर्थिक साधन अपनाए जाते है जिन्हे संयुक्त रूप मे पामर तथा पर्किस ने आर्थिक शस्त्रागार (Economic Arsenal) का नाम दिया है। इस शस्त्रागार के आयुधो का प्रयोग केवल सरकार ही नही करती वरन् गैर-सरकारी रूप से व्यक्ति भी कर सकते है। विभिन्न प्रकार के इन आर्थिक दबावों का उपयोग किसी आर्थिक लक्ष्य की अपेक्षा मुख्यतः राजनीतिक लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ये सभी साधन परस्पर इतने सम्बन्धित है कि एक को अपनाने पर दूसरे को अपनाना आवश्यक बन जाता है। सभी साधनों का महत्त्व परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। शान्तिकालीन स्थिति में जो साधन उपयोगी रहते हैं, युद्धकाल में उनका महत्त्व प्रायः नहीं रहता और युद्धकालीन उपयोगी साधन शान्तिकाल मे अपनी उपयोगिता खो देते हैं।

वर्तमान काल मे एक देश द्वारा अपनी राष्ट्रीय नीति के लिए जिन विभिन्न प्रकार के आर्थिक साधनों का उपयोग किया जाता है, वे मुख्य रूप से निम्न हैं—

1. शुल्क लगाना (The Tariff)—बाहर से आयातित अथवा देश से निर्यातित माल पर लगाए जाने वाले कर को चुंगी शुल्क कहते हैं अर्थात् इसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आयात-निर्यात से है। सामान्यतः निर्यातित सामान पर कर नही लगाया जाता। पर जब आयात शुल्क लगाया जाता है तो उसके कई उद्देश्य हो सकते है—राज्य की आय मे वृद्धि करना, विदेशी उद्योगों से स्वदेशी उद्योगों की रक्षा करना अर्थात् उन्हे संरक्षण देना, दूसरे राज्यो की तुलना मे अपने राज्य की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करना, विलासिता की वस्तुओं मे आयात को हतोत्साहित कर देश मे ही आवश्यक नागरिक वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन देकर अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ बनाना, आयात घटाकर विदेशी मुद्रा को सुरक्षित रखना एवं बदले की भावना पूरी करना अर्थात् यदि दूसरे देश ने किसी देश के माल पर शुल्क लगा दिया हो तो वह देश भी उस देश से आने वाले माल पर वैसा ही शुल्क लगा दे। ऊँचे शुल्क का परिणाम सदैव ही ऊँचा शुल्क होता है, अत जब कोई भी देश शुल्क की दीवार लाँघ जाता है तो उसका प्रभाव अनेक देशों पर भी पड़ता है।

एक देश शुल्क या अन्य प्रतिबन्धित नीतियो द्वारा जब स्वय को दूसरे देशो की कीमत पर सम्पन्न बनाना चाहता है तो यह 'पडोसी को भिखारी बनाओ' (Beggar my-neighbour) नीति कहलाती है वास्तव मे शुल्क किसी भी देश के पास एक ऐसा आर्थिक अस्त्र है जिससे वह दूसरे देश को नुकसान पहुँचा सकता है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स का प्रयोग (The Use of International Cartels)—व्हिटलेसी (Whittlesy) के अनुसार "कार्टेल एक से या एक जैसे ही स्वतन्त्र उद्योगो की सस्था है जिसे प्रतियोगिता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखने के लिए स्थापित किया जाता है।" जब इस सस्था के सदस्य अलग-अलग देशो के होते है अथवा विदेशो मे व्यापार करते हैं तो यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेती है। कार्टेल्स का मुख्य तत्त्व विभिन्न व्यापारिक सगठनो के बीच एक समझौता है जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को कार्टेल्स के सदस्यो के पक्ष मे प्रभावित करना होता है। कार्टेल्स बाजारों को नियमित करते है। इनका प्रयत्न रहता है कि बाजार मे किसी का एकाधिकार स्थापित न हो जाए। कार्टेल्स केवल विक्रेताओ के हितो के सरक्षक होते है, वे उपभोक्ताओं से कोई सरोकार नही रखते। कार्टेल्स सगठन मे राज्य-सरकारें भाग ले सकती हैं तथापि वे प्राय. ऐसा नही करती। कार्टेल्स मुख्यत तीन प्रकार के होते हैं—(1) मूल्य निर्धारित करने वाले, (2) उत्पादन को सीमित करने वाले, एव (3) विक्रय के प्रदेशो को विभाजित करने वाले।

कार्टेल्स का प्रयोग उन्ही उद्योगो में प्रभावशील ढग से हो सकता है जहाँ उत्पादन प्रचुर मात्रा मे होता हो। लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे कार्टेल-प्रथा को प्राय. उचित नही समझा जाता। इस व्यवस्था के विरुद्ध ये तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—(1) यह व्यवस्था स्वामिभक्ति के विभाजन द्वारा संकीर्ण स्वार्थों को देश-भक्ति के ऊपर रखकर युद्ध को प्रोत्साहन देती है, (2) इस व्यवस्था मे उत्पादन और वितरण पर लगाए जाने वाले प्रतिबन्धो के फलस्वरूप एक देश किसी बड़े युद्ध के लिए उपयुक्त

आवश्यक सामग्री प्राप्त करने में असफल रहता है, (3) कार्टेल-संस्थाएँ गुप्तचर-अभिकरण का काम करती हैं, (4) कार्टेल द्वारा विदेशों में पूंजी लगाने की ब्याज-दर निश्चित कर देने से कोई अन्य देश वहाँ पूंजी लगाने में असमर्थ रहता है, (5) कार्टेल्स पूंजीवादी एकाधिकारवादी व्यवस्था की अभिव्यक्ति है, एवं (6) यह व्यवस्था सर्वाधिकारवादी राज्यों का विशेष साधन है जिसका अन्त किया जाना चाहिए।

व्हिटलेसी ने कार्टेल्स का पक्ष लेते हुए स्वीकार किया है कि इनसे यदि राष्ट्रवाद का सपोषण होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है। कार्टेल-व्यवस्था गुप्तचर इसलिए नहीं मानी जा सकती कि इसके द्वारा दी जाने वाली सूचनाएँ एकपक्षीय नहीं होतीं। व्हिटलेसी के शब्दों में, "कार्टेल अपने आप में कोई दोष नहीं है, यह तो एक साधन है जिसका प्रयोग अच्छे-बुरे दोनों ही लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। यह मानना अनुचित है कि इस व्यवस्था द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा को निर्बल बनाया जाता है।"[1]

3. अन्तर्सरकारी वस्तु-समझौता (Inter-Governmental Commodity Agreement)—यदि किसी एक वस्तु का उत्पादन एक से अधिक देशों में होता है तो उत्पादक राज्यों के बीच प्रतिस्पर्द्धा का निराकरण करने और उस वस्तु-विशेष के मूल्य के विश्व-बाजार में स्थिर करने के लिए उत्पादक राज्यों के बीच जो समझौता होता है उसे अन्तर्सरकारी वस्तु समझौता कहते हैं। यह व्यवस्था प्रायः इन मुख्य उद्देश्यों से प्रेरित होती है—(1) विभिन्न राज्यों में वस्तु-विशेष के उत्पादन की व्यवस्था, (2) उत्पादक राज्यों के हितों की रक्षा, (3) उत्पादक राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा की समाप्ति, एवं (4) वस्तु-विशेष से लाभ-प्राप्ति का मूल्य निर्धारण। स्मरणीय है कि ये समझौते कृषि और खनिज-उत्पादन पर ही होते हैं, औद्योगिक उत्पादन पर नहीं। विविध राज्यों में औद्योगिक वस्तुओं के प्रतिमानों में बहुत भिन्नता होती है जबकि यह भिन्नता कृषि एवं खनिज-उत्पादन में बहुत कम पाई जाती है। ये समझौते सरकारों के मध्य ही होते हैं, कार्टेल्स की भाँति निजी उद्योगपतियों द्वारा नहीं।

अन्तर्सरकारी समझौतों की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इन्हें केवल संकटकाल का सामना करने के लिए किया जाता है, लेकिन वास्तव में जहाँ अकुशल पद को बनाए रखा जाता है ये स्थायी आश्रय बन जाते हैं। जब ये समझौते अपने इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाते तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में बाधक बन जाते हैं। इस प्रकार इन समझौतों को आर्थिक युद्ध के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

4. कम मूल्य पर निर्यात करना (Dumping)—यदि कोई देश घरेलू बाजार में प्रचलित मूल्यों से भी कम मूल्यों पर किसी वस्तु का निर्यात करता है तो इस व्यवस्था को 'डम्पिंग' कहते हैं। प्रायः इन उद्देश्यों के लिए इस व्यवस्था का आश्रय लिया जाता है—(1) देश की आवश्यकता से अधिक एकत्रित या उपलब्ध वस्तु-भण्डार को कम करने के लिए, (2) किसी वस्तु की माँग बाजार में घट गई हो तो

1 *Whittlesy Charles R* : National Interests and International Cartels, p 36.

उसकी कीमत घटाकर मन्दी के बाजार को उठाने के लिए, (3) यदि कोई दूसरा देश प्रतियोगी हो तो प्रतियोगी देश के मूल्य से कम मूल्य मे वस्तु बेचकर उसकी प्रतियोगिता समाप्त करने के लिए, (4) विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए, एवं (5) धनी राज्य द्वारा किसी निर्धन राज्य को अपने प्रभाव मे लाने के लिए। महाशक्तियाँ कम मूल्य पर निर्यात की नीति अपनाकर पहले तो निर्धन राज्यो के प्रति उदार होने का स्वाँग भरती है और फिर उन पर राजनीतिक रूप से छा जाने का प्रयत्न करती हैं।

5 पहले से ही माल की खरीद (Pre-empture Buying)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत दूसरे राज्यो के सामान को शत्रु के हाथो मे पड़ने से पूर्व ही खरीद लिया जाता है। उद्देश्य यह रहता है कि शत्रु-राज्य के पास वह सामान किसी भी राज्य से न पहुँचने पाए। सामान खरीदते समय उनके व्यापारिक पक्ष अर्थात् लाभ-हानि पर ध्यान नही दिया जाता। पाल एजिग (Paul Einzig) ने लिखा है कि "ज्योंही द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ त्योंही जर्मनी ने अपने एजेंटों को आज्ञा दी कि बाल्टिक और बल्कान क्षेत्रों मे से किसी भी कीमत पर वे अधिक से अधिक माल की खरीददारी कर डालें। दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन ने इस सम्बन्ध मे पैसे और परेशानी की ओर ध्यान दिया। फलत वह असफल रहा।"[1] पूर्व-क्रय प्रणाली का शत्रु-देश पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। युद्धों अथवा सघर्षों के समय आर्थिक युद्ध का यह एक महत्वपूर्ण अस्त्र है।

6. व्यापार और भुगतान समझौते (Trade and Payment Agreements)—ये समझौते दो देशो के बीच भी हो सकते हैं और दो से अधिक देशों के बीच भी। इन समझौतो द्वारा अन्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से पृथक्-सा कर दिया जाता है। इस अर्थ मे इनको राष्ट्रीय नीति का एक महत्वपूर्ण साधन माना जा सकता है।

7. शत्रु सम्पत्ति पर नियन्त्रण (Control of Enemy Assets)—प्रत्येक देश मे कुछ विदेशी राष्ट्रीयता वाले लोग रहते हैं जिनकी उस देश मे सम्पत्ति उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है। लेकिन जिस राज्य मे वे रह रहे हैं उसे उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति अपहरण करने का अधिकार होता है। शत्रु-राष्ट्र या प्रतिविरोधी देश के विरुद्ध प्रतिशोधात्मक कार्यवाही करने के लिए सम्पत्ति-अपहरण की इस प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

सम्पत्ति-अपहरण की परम्परा बहुत पुरानी है। वर्साय की सन्धि के अधीन यह स्पष्ट व्यवस्था की गई थी कि मित्रराष्ट्र अपने अधिकार-क्षेत्रो मे बसने वाले सभी जर्मन राष्ट्रीयता वाले लोगों की सम्पत्ति का अपहरण कर सकते हैं और जर्मनी का यह उत्तरदायित्व माना गया कि वह ऐसे लोगो की क्षतिपूर्ति करे। द्वितीय महायुद्ध के समय डेनमार्क और नार्वे पर जर्मनी का हमला होने पर अमेरिका ने वहाँ के लोगों की सम्पत्ति को हस्तगत कर लिया ताकि निरपराध तटस्थ लोगों के हितों की रक्षा की जा सके; पर इसका एक बड़ा कारण हिटलर को सम्भावित प्राप्तियो से वंचित रखना था।

1 *Paul Einzig* : Economic Warfare, pp. 57-58.

8. ऋण तथा अनुदान (Loans and Grants)—राज्यों के आपसी सम्बन्धों को बढ़ाने में अनुदान और ऋण प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रहे हैं। ऋण किसी देश के आर्थिक विकास के लिए लिया जाता है जिसमें अन्तर्निहित लक्ष्य उस देश के साथ मैत्री बढ़ाना होता है। एक महत्वपूर्ण उद्देश्य ऋण और उपहारों की आड़ में उस देश को अपने राजनीतिक प्रभाव में लेना होता है। ऋण लेने वाले देश को ऋण के प्रभाव से अपनी नीतियाँ बदलने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। राजनीतिक रूप से अनुचित प्रभाव डालने की नीति के रूप में ऋण और उपहार आज महत्त्वपूर्ण साधन बन चुके हैं। भारत-पाक संघर्ष के समय ब्रिटेन ने भारत को शस्त्रास्त्र भेजना बन्द कर दिया था क्योंकि भारत सरकार पाकिस्तान सम्बन्धी ब्रिटिश रवैये की विरोधी थी। अमेरिका ने सन् 1971 के युद्ध के बाद भारत को आर्थिक सहायता देना इसलिए बन्द कर दिया था क्योंकि भारत अमेरिकी दृष्टिकोण से सहमत न था। यदि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण करें तो अमेरिका, रूस आदि महाशक्तियाँ ऋण और अनुदान के साधन का बहुत अधिक प्रयोग करती रही हैं। अमेरिका ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने के नाम पर मार्शल योजना, ट्रूमैन सहायता सिद्धान्त, पारस्परिक सहायता योजना आदि के रूप में अपनी ऋण और उपहार नीति का प्रयोग किया जिसे रूस ने साम्राज्यवाद के ही एक रूप की संज्ञा दी। भारत के विरोध में पाकिस्तान के प्रति इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया जा रहा है।

9. विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता प्रायः तब होती है जब किसी देश के विदेशी विनिमय की माँग पूर्ति से अधिक हो। विनिमय नियन्त्रण द्वारा कोई देश अपनी पूँजी को विदेश जाने से रोक सकता है, अपनी मुद्रा की अधिक कीमत स्थिर कर सकता है, आयात और निर्यात के बीच सन्तुलन ला सकता है, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को पृथक् कर घरेलू योजनाओं की सुरक्षा कर सकता है। वर्तमान में विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था लगभग सभी अविकसित राज्यों द्वारा की जाती है। भारत ने इस व्यवस्था का बड़ी दक्षता से प्रयोग किया है।

10. आर्थिक सहायता (Subsidies)—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त विदेशी आर्थिक सहायता राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का एक बहुत ही प्रभावशील अस्त्र बन गया है। युद्धोत्तर युग में इसके तीन मुख्य रूप रहे हैं—(1) युद्ध-पीड़ित देशों को राहत और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए आर्थिक सहायता देना, (2) नवोदित राष्ट्रों को सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक आधुनिकीकरण के लिए सहायता देना, एवं (3) साम्यवादी दबाव या आन्तरिक उपद्रवों आदि का सामना करने के लिए सम्बन्धित देशों को आर्थिक सहायता देना।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका ने विदेशी आर्थिक सहायता को साम्यवाद-अवरोध-नीति के रूप में बड़े जोर शोर से अपनाया है। एशिया और अफ्रीका में नवोदित स्वतन्त्र राज्यों को आर्थिक विकास के लिए प्रचुर विदेशी सहायता देने की नीति रूस, अमेरिका आदि महाशक्तियों ने व्यापक रूप में अपनाई है। इसके मूल में

यह महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्य निहित है कि सहायता पाने वाला देश सहायता देने वाले देश के प्रभाव मे रहे, कही विरोधी खेमो में न चला जाए। पश्चिमी जर्मनी जापान, चीन और किसी सीमा तक भारत ने भी आर्थिक सहायता के शक्तिशाली साधन को अपनाया है। नवोदित बगला देश को भारत सरकार ने उदारतापूर्वक आर्थिक एव अन्य आवश्यक सहायता इसीलिए दी थी कि वह अपनी विनष्ट अर्थ-व्यवस्था का पुनरुद्धार करे, भारत-बगला देश की मैत्री मे वृद्धि हो और बगला देश को चीन आदि भारत विरोधी राष्ट्रो के सामने आर्थिक सहायता के लिए हाथ न पसारना पड़े।

आर्थिक सहायता का अभिप्राय केवल अनुदान आदि से होना भ्रामक है। आर्थिक सहायता का अर्थ वस्तुत बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत ये बातें सम्मिलित हैं—(1) शस्त्रास्त्रो की सहायता, (2) विकास-ऋण, (3) तक्नीकी सहायता, एव (4) अनुदान। ये सभी प्रकार की आर्थिक सहायता लचीली भी हो सक्ती है और कठोर भी अर्थात् इनके साथ जो शर्तें आदि जुडी होती है वे काफी उदार भी हो सक्ती हैं और अनुदार या अपेक्षाकृत कडी भी। विकास ऋण अधिक या मामूली ब्याज पर कम या अधिक समय के लिए दिया जा सकता है। यदि कोई राज्य भुगतान करने की स्थिति मे न हो या अन्य कोई राजनीतिक कारण हो तो ऋणदाता राष्ट्र सहायता का कुछ भाग या पूरा भाग अनुदान मे ही परिवर्तित कर सक्ता है। यह बहुत कुछ सहायता देने वाले और लेने वाले राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, हाल के वर्षों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे वाशिंगटन पेकिंग-पिण्डी गठबन्धन तेजी से विकसित हुआ है और अमेरिका तथा चीन ने पाकिस्तान को बहुत-सा ऋण अनुदान के रूप मे परिवर्तित कर दिया है। दोनो ही देश पाकिस्तान पर अपने प्रभाव के आकांक्षी है, अत उसे आर्थिक सहायता देने के मामले मे यदि प्रतिस्पर्द्धा हो तो आश्चर्य की बात नही है। भारत के विरुद्ध जो दुरभिसन्धि चल रही है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता सुपरिचित है।

विदेशी आर्थिक सहायता केवल मानवीय व सहयोगपूर्ण आदि भावनाओ से प्रेरित होकर नही दी जाती। आज के युग मे वे अधिकांशत राजनीतिक उद्देश्यो से प्रेरित होती हैं। यह एक ऐसा साधन है जो सहायता देने वाले राज्य की उदारता प्रकट करता है जबकि वास्तव मे सहायक राज्य किसी न किसी राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही सहायता के लिए आगे आता है और इसमे अपने राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि देखता है। अमेरिका जब एशियाई राष्ट्रो को आर्थिक सहायता देता है तो उसके मूल मे दो तीन राजनीतिक उद्देश्य अवश्य निहित होते हैं—सहायता पाने वाले राज्य पर साम्यवादी दबाव प्रभावी न हो सके, वह राज्य अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र में आ जाए, आर्थिक सहायता के माध्यम से अमेरिकी राजनीतिक तत्त्व उस देश में प्रवेश कर जाएँ आदि। रूसी आर्थिक सहायता के मूल मे भी कुछ इसी प्रकार के उद्देश्य छिपे होते हैं। यदि आर्थिक सहायता देना राज्य विशेष के हित मे न हो तो वह आर्थिक सहायता देगा ही क्यो? हाँ अकाल, बाढ, भुखमरी आदि सकटों के समय मानवीय भावनाओ से प्रेरित होकर आर्थिक सहायता अवश्य दी जाती है, पर इसमे

भी राष्ट्रीय सम्मान मे वृद्धि की आकांक्षा छिपी रहती है। रूस, अमेरिका जैसे सम्पन्न राज्यों को आशंका रहती है कि यदि संकटग्रस्त देश को कोई सहायता न दी गई तो विश्व-जनमत के सामने वे बदनाम हो जायेंगे।

विदेशी आर्थिक सहायता के माध्यम से राज्य अपने हितों मे अभिवृद्धि किस प्रकार करते हैं, इसका कुछ आभास हमे निम्नलिखित बातों से मिलता है—

1 जब एक राज्य दूसरे राज्य को सामान आदि के रूप मे सहायता देता है तो सहायक राज्य के उद्योगो और उत्पादन को प्रोत्साहन देता है।

2. सहायता देने के लिए अधिक उत्पादन किया जाता है जिससे आर्थिक मन्दी का भय नही रहता।

3. सहायता लेने वाला राज्य सहायता देने वाले राज्य के राजनीतिक, आर्थिक प्रभाव क्षेत्र मे आ सकता है। सामान आदि भेजने के साथ ही सहायता देने वाला राज्य अपने राजनीतिक उद्देश्यो को भी सहायता पाने वाले राज्य मे विशेष सक्रिय कर देता है।

4 सहायक राज्य मे अधिक उद्योग-धन्धो के चलते रहने से वहाँ के लोगो को रोजगार के अधिकाधिक अवसर सुलभ होते हैं।

5. सहायता देने वाले राज्य के पास जब किन्ही वस्तुओं का प्रचुर भण्डार एकत्रित हो जाता है या कुछ ऐसी वस्तुएँ बडी मात्रा मे एकत्र हो जाती हैं जो गुणों की दृष्टि से गिरी हुई हों तो उनको सहायता प्राप्त करने वाले राज्य को दे दिया जाता है। इससे एक ओर तो सहायता देने वाले राज्य का निकम्मा माल खप जाता है और दूसरी ओर उसे आर्थिक व राजनीतिक लाभ प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका जो खाद्यान्न भारत को देता है उसकी उपयोगिता अमेरिका मे केवल इतनी ही है कि उसे ईंधन के रूप मे जला दिया जाय या फैंक दिया जाए।

6. जब सहायता देने वाला राज्य ऋण आदि देता है तो उसे ब्याज प्राप्त होना है। ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था का तो यह प्रमुख आधार रहा है और वर्तमान अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था का भी यह एक मुख्य आधार है।

7. सहायता प्राप्त करने वाला राज्य सामान आदि को सहायक राज्य के जहाजों मे ही ले जाता है जिससे माल ढोने आदि मे भी सहायक राज्य के व्यापारियों को लाभ प्राप्त होता है। अमेरिका मे तो कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि इस प्रकार का लगभग आधा माल अमेरिकी जहाजो से ही जाएगा।

उपर्युक्त सभी कारणों से विदेशी आर्थिक सहायता राष्ट्रीय उद्देश्यो की अभिवृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गई है। विदेशी सहायता जब तकनीकी रूप मे दी जाती है तो विदेशी विशेषज्ञों को सहायता पाने वाले देश मे ऊँचे वेतन मिलते है। साथ ही विशेषज्ञों के रूप मे सहायक राज्य के गुप्तचर और राजनीतिक अधिकारी भी आ जाते है जो उस राज्य मे अपना कुचक्र चलाते है। सारांशतः यह कहना होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उदीयमान देशों के सम्बन्ध मे साम्यवादी और पश्चिमी शक्तियों के बीच जो प्रतिद्वन्द्विता है तथा साम्यवादी गुट मे नेतृत्व का जो

आपसी संघर्ष है उसने विदेश नीति के इस साधन (आर्थिक सहायता) की अवहेलना करना महाशक्तियों के लिए अव्यावहरिक बना दिया है।

11. कोटा और लाइसेंस (*Quotas and License*)—जब सरकार आयात पर सीधा नियन्त्रण रखना चाहती है तो वह कोटा-व्यवस्था का आश्रय लेती है। इसके अधीन एक देश से या विभिन्न देशों से आने वाले माल की एक सीमा निश्चित कर दी जाती है। कोटा-व्यवस्था इसलिए अपनायी जाती है कि देश के उत्पादकों की रक्षा की जा सके और देश का आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक न हो पाए। निर्यात-व्यापार पर कोटा व्यवस्था का प्रयोग प्राय युद्धकाल मे ही किया जाता है क्योंकि यह आशका रहती है कि जिस देश को माल निर्यात किया जा रहा है वह उसी माल को कही शत्रु देश के लिए निर्यात न कर दे। आयात पर और भी अधिक नियन्त्रण लगाने के लिए लाइसेस-व्यवस्था अपनायी जाती है। इसके अधीन कोई भी दूसरा देश जब कभी निर्यात करना चाहेगा तो उसे इसके लिए लाइसेंस लेना पडेगा। लाइसेंस देते समय देश अपनी तत्कालीन आवश्यकताओ आदि को ध्यान मे रखेगा। कोटा और लाइसेंस प्रणाली भी प्रभावी आर्थिक अस्त्र हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रवाह मे बाधा डाल देते हैं।

12 वर्ज्य सूची (Black Lists)—इस साधन के अधीन एक देश द्वारा ऐसी सूची प्रसारित की जाती है जिसमे उन राष्ट्रो के नाम होते हैं जिनके साथ व्यापार का बहिष्कार करना हो। सूचीबद्ध नामो के साथ देश का कोई व्यक्ति या सस्था व्यापारिक सम्बन्ध नही रख सकती। सूचीबद्ध लोगो की सम्पत्ति का भी उस देश द्वारा प्राय. अपहरण कर लिया जाता है। उल्लेखनीय है कि वर्ज्य सूची किसी राज्य के सम्बन्ध मे नही बनायी जाती अपितु केवल व्यक्तिगत उद्योगो और व्यक्तियो पर ही लागू होती है।

13 मूल्य निर्धारण (*Valorization*)—जब सरकार किसी वस्तु का मूल्य बढाने के लिए कोई कदम उठाती है तो इसे 'मूल्य निर्धारित करना' कहा जाता हैं। यहाँ इसका अर्थ केवल यह है कि उस वस्तु को खरीद कर अपने पास रख ले अथवा उसके उत्पादन को घटा दे। अन्तर्सरकारी वस्तु-समझौतो के प्रचलन के फलस्वरूप अब इस साधन का महत्त्व बहुत कम हो गया है।

14. घाटबन्दी (Embargo)—यदि कोई राज्य दूसरे राज्य को कुछ वस्तुओं या सम्पूर्ण व्यापार से वचित रखना चाहता है तो वह अपने व्यापारियो और व्यापारिक सस्थाओं पर दूसरे राज्य से लेनदेन या व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा देता है। घाटबन्दी का प्रयोग सामान्य रूप से किसी राज्य को दण्डित करने अथवा उसके प्रति अपनी नाराजगी प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ सन् 1959 से चीन के प्रति अमेरिका ने घाटबन्दी की नीति का अनुसरण किया था जिसे अब प्राय: समाप्त कर दिया गया है।

जिन विभिन्न आर्थिक साधनों का उल्लेख किया गया है उन्हें समय, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार विभिन्न देश अपनी-अपनी सामर्थ्य और क्षमता के अनुरूप

उपयोग में लाते हैं ताकि उनके राष्ट्रीय हितों का संरक्षण और यथाशक्ति सम्वर्द्धन हो सके। राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन केवल वे ही नहीं जिन्हें ऊपर गिनाया गया है वरन् समयानुसार सरकारें और भी नए रूपों में अपना लेती हैं।

आर्थिक युद्ध (Economic Warfare)

एक देश अपने आर्थिक साधनों का प्रयोग कर जब दूसरे विरोधी राज्य की सम्भावित एवं वास्तविक शक्ति को कम करने का प्रयास करता है तो उसे हम प्रायः आर्थिक युद्ध का नाम देते हैं। इस प्रकार के संघर्ष परम्परागत रूप से होते रहते है, इसलिए यह कोई नई बात नहीं है। इस सम्बन्ध में क्लासविज का यह कहना अत्यन्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि "शान्तिकाल में अपने शत्रु को कूटनीति और व्यापार द्वारा निःशस्त्र बना दो, तब उसे तुम युद्ध के मैदान में आसानी से जीत सकोगे।" प्रत्येक राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में समझाने-बुझाने से लेकर हिंसात्मक साधनों तक प्रत्येक कार्यवाही को अपना सकता है। आर्थिक तकनीकें तथा प्रसाधन इन तरीकों के बीच में ही स्थान रखते हैं। आर्थिक साधन जैसे किसी की सहायता के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं वैसे किसी के विरुद्ध भी काम में लाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) एक देश में विनिमय की साख को आर्थिक सुधारों से संयुक्त कर सकता है, किन्तु यदि एक देश से इस प्रकार की साख को रोक दिया जाए तो उस देश के विरुद्ध आर्थिक दबाव कहलाएगा और स्पष्ट रूप से आर्थिक युद्ध की कोटि में आएगा। आर्थिक दबाव एक देश की आर्थिक स्थिति एवं सामर्थ्य को कमजोर बना देते है।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व दुनिया के देश आर्थिक दबावों के प्रभाव को बहुत महत्त्व देते थे। सन् 1935 में राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक दबावों का उपयोग किया क्योंकि उसने इथोपिया के विरुद्ध आक्रमण कर दिया था, किन्तु दबाव प्रभावहीन रहे। ऐसे ही प्रतिबन्ध संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा सन् 1951 में साम्यवादी चीन के विरुद्ध लगाए गए थे जबकि उसने कोरिया पर आक्रमण किया था। ये दोनों ही प्रतिबन्ध प्रभावहीन रहे। ग्रेट-ब्रिटेन ने सन् 1965 में रोडेशिया पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए और संयुक्तराज्य अमेरिका तथा अन्य कुछ देशों ने उनको सहयोग दिया। केवल कागजी रूप से घेराबन्दी उस समय तक प्रभावहीन रहती है जब तक कि इसका समर्थन करने वाले एक या अधिक राज्य उस देश के महत्त्वपूर्ण आर्थिक स्रोतों के स्वामी न हों, जैसे—तेल, हथियार, खाद्य सामग्री आदि।

आर्थिक दबाव किसी देश के विरुद्ध केवल सीमित प्रभाव ही डाल पाते हैं। ये केवल थोड़े समय तक ही प्रभावशाली रहते हैं और बाद में मित्रराष्ट्रों में अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। सम्बन्धित देश यह सोचते हैं कि उनका कितना नुकसान हो रहा है। व्यापारिक लेन-देन के सन्तुलन को प्राथमिकता दी जाती है और इन दबावों की प्रभावशीलता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे इन दबावों का प्रभाव कम हो जाता है। पैडलफोर्ड तथा लिंकन का यह कथन उपयुक्त है कि शान्तिकालीन आर्थिक युद्ध की प्रकृति सम्बद्ध रहनी चाहिए,

इसमें पर्याप्त कूटनीति एवं समायोजन की आवश्यकता है तथा यह देखना जरूरी है कि बढते हुए मनमुटावो का लाभ हो रहा है या नही।

साम्राज्यवाद
(Imperialism)

समाजवाद की भाँति ही साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की तुलना एक ऐसे टोपे से की जा सकती है जिसे हर कोई पहन लेता है, अत: उसका रूप, आकार और अर्थ सुनिश्चित नही रह गया है। साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद कभी बडी प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता था और साम्राज्यवादी देशों को विश्व-कल्याण का प्रतीक माना जाता था, लेकिन आज के लोकतान्त्रिक युग मे साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी या विस्तारवादी कहलाने से हर एक भय खाता है, इसे एक आरोप समझा जाता है। जो देश वास्तव मे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति अपनाए हुए हैं वह भी स्वय को साम्राज्यवादी कहलाना पसन्द नही करते। साम्राज्यवाद के स्वरूप, उद्देश्य, साधन और परिणामो के बारे मे विचारको मे काफी मतभेद हैं तथापि इस बात को प्राय. सभी स्वीकार करते हैं कि यह राष्ट्रीय हित की प्राप्ति का एक प्रभावशाली साधन रहा है और आज भी है।

साम्राज्यवाद क्या है ?–अर्थ की समस्या
(What is Imperialism ?– The Problem of the Meaning)

साम्राज्यवाद के वास्तविक अर्थ को सुनिश्चित शब्दो मे बताना कठिन है। इसका प्रयोग इतने व्यापक रूप मे किया जाता है कि इसके अन्तर्गत लगभग प्रत्येक प्रकार की विस्तारवादी प्रक्रिया आ जाती है। पामर एव पर्किस के अनुसार, "साम्राज्यवाद की विवेचना, निन्दा और रक्षा की जा सकती है और इसके लिए प्राणो का उत्सर्ग तक किया जा सकता है, लेकिन इसकी ऐसी परिभाषा नही की जा सकती जो सामान्यतया सभी को स्वीकार्य हो।"[1] साम्राज्यवाद का अर्थ विभिन्न लोगो के लिए भिन्न-भिन्न है, तथापि हम कुछ प्रमुख परिभाषाओ के आधार पर साम्राज्यवाद की प्रकृति को समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

रेमण्ड ब्यूएल (Raymond Buell) के शब्दों मे, "एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार पर प्रत्येक अन्यायोचित् माँग, प्रत्येक आक्रामक युद्ध साम्राज्यिक युद्ध कहलाता है। साम्राज्यवाद एक ऐसा शब्द है जिसके अन्तर्गत वास्तव मे सभी प्रकार के पाप आ जाते हैं।"[2]

मॉरिज जूलियस बोन (Moritz Julius Bonn) ने लिखा है कि "साम्राज्यवाद एक ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य अथवा एक ऐसे विशाल राज्य का निर्माण, संगठन और अनुरक्षण करना होना है जो न्यूनाधिक

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 158.
2 *Raymond Buell* ; International Relations, p. 305.

भिन्न प्रकार की राष्ट्रीय इकाइयों के सयोग से बना हो ग्रौर एक केन्द्रीकृत इच्छा के ग्रधीन हो।"[1]

चार्ल्स बियर्ड (Charles A. Beard) के मतानुसार, "साम्राज्यवाद वह होता है जिसमें एक देश की सरकार ग्रौर कूटनीतिक मशीनरी दूसरी जाति के लोगों के प्रदेशों (Territories), रक्षित राज्यों (Protectorates) तथा प्रभाव-क्षेत्रों (Spheres of Influence) को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है ग्रौर ग्रौद्योगिक, व्यापारिक एव धन लगाने के ग्रवसरों को बढ़ाने का कार्य करती है।"[2]

सी डी बर्न्स (C. D. Burns) ने साम्राज्यवाद के प्रशासनिक ग्रौर कानूनी रूप पर बल देते हुए लिखा है कि "विविध देशों ग्रौर जातियों पर एक ही प्रकार के कानून तथा शासन की व्यवस्था का नाम ही साम्राज्यवाद है।"[3] उन्होंने साम्राज्यवाद को विश्व-सरकार की ग्रोर एक महत्त्वपूर्ण कदम माना है। उनका कथन है कि वह क्षेत्रीय राष्ट्रीयता के दोषों को दूर कर उससे ऊपर उठता है। साम्राज्यवाद क्षेत्रीय राष्ट्रीयता ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीयता के बीच की स्थिति है। बर्न्स के विचारों से ग्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ग्रधिकांश विद्वान् सहमत नहीं हैं। शूमा ने लिखा है कि चाहे कितने ही बहाने बनाएँ ग्रौर नैतिकता का चाहे कितना ही ढोल पीटें, लेकिन सत्य तो यह है कि ग्रधीन देशों पर शक्ति ग्रौर हिंसा के बल पर विदेशी राज्य स्थापित करना साम्राज्यवाद है।

एच. जी वेल्स (H. G. Wells) के ग्रनुसार, "एक राष्ट्रीय राज्य का विश्व व्यापक बनने के लिए प्रयत्नशील होना ही साम्राज्यवाद है।" पार्कर मून (Parker T Moon) के शब्दों मे, "साम्राज्यवाद का ग्रर्थ गैर यूरोपीय जातियों पर उनसे सर्वथा भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों के शासन से है।"[4] मॉर्गेन्थो (Morgenthau) ने विशाल ग्राथिक लक्ष्यों की प्राप्ति, बड़े प्रदेश की प्राप्ति, दूसरी जातियों पर शासन ग्रादि विशेषताग्रों को गौण मानते हुए विचार प्रस्तुत किया है कि एक देश द्वारा ग्रपने राज्य की सीमाग्रों से बाहर शक्ति का विस्तार ही साम्राज्यवाद है। एक ग्रन्य विचारक बुखारिन (N. L. Bukharin) का कहना है कि साम्राज्यवाद मे दूसरे देशों को जीतने का प्रयास निहित रहता है, किन्तु दूसरे देशों को जीतने की नीति को ही हम साम्राज्यवाद नही कह सकते।[5] शुम्पीटर (Schumpeter) के ग्रनुसार साम्राज्यवाद का कोई स्पष्ट लक्ष्य नही होता तथा इसके उद्देश्यों की सुनिश्चित परिभाषा भी नहीं की जा सकती।

1 *Moritz Julius Bonn* : "Imperialism", Encyclopaedia of the Social Sciences, VII, 605–Quoted by *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 158.

2 *Charles A. Beard* : American Foreign Policy in the Making, 1932–1940, A Study in Responsibilities, p. 113 n.

3 *C. D. Burns* : Political Ideals, p. 154.

4 *Parker T. Moon* : Imperialism and World Politics, p. 33.

5 *N L. Bukharin* : Imperialism and World Economy, p. 114.

साम्राज्यवाद से सम्बन्धित विभिन्न परिभाषाओं के अवलोकन से प्रकट होता है कि इस शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा अपने तर्कों अथवा अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अलग-अलग अर्थों में किया गया है और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि साम्राज्यवाद शब्द अपना सही अर्थ खो बैठा है। आज किसी भी देश को आप 'साम्राज्यवादी' कह सकते हैं यदि उसकी विदेश नीति आपके देश की विदेश नीति के विपरीत पड़ती हो। पामर एवं पर्किन्स ने साम्राज्यवाद के निम्नलिखित तत्वों तथा उद्देश्यों का उल्लेख किया है[1]

(i) *"साम्राज्यवाद के गैर-आर्थिक आकर्षण हो सकते हैं।*

(ii) साम्राज्यवाद का कार्यक्रम सीमित हो सकता है। यह आवश्यक ही नहीं है कि एक वृहद् साम्राज्य की स्थापना ही हो।

(iii) साम्राज्यवाद का अभिप्राय एक जाति का दूसरी जाति पर ही अधिकार नहीं है, यह एक जाति के अन्तर्गत ही स्थापित हो सकता है।

(iv) साम्राज्यवाद व्यवस्थित ढंग से ही स्थापित हो सकता है और अव्यवस्थित ढंग से भी।

(v) *साम्राज्यवाद के मुख्य परम्परावादी तत्व हैं :* राजनीतिक अधिकार, आर्थिक प्रभुत्व, सत्ता का प्रयोग आदि।

मून (Parker T. Moon) ने 'साम्राज्यवाद' शब्द को औपनिवेशिक विस्तार का समानार्थक माना है। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि आखिर औपनिवेशिक विस्तार शब्द से आपका क्या अभिप्राय है क्योंकि विस्तार के रूप सैनिक, आर्थिक सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि कई होते हैं।

मॉर्गेन्थो (Morgenthau) इस बात से क्षुब्ध है कि 'साम्राज्यवाद' शब्द *का निरर्थक प्रयोग अपनी सीमा लाँघ गया है और इसे किसी भी विदेश-नीति से जोड़* दिया जाता है, केवल इसीलिए कि वह विदेश-नीति आपकी नीति के विपरीत है। अंग्रेजों से घृणा करने वाले सन् 1960 के ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ठीक उसी तरह एक वास्तविकता के रूप में प्रदर्शित करेंगे जिस तरह कि वे सन् 1940 अथवा 1941 में करते थे। रूस से घृणा करने वाले रूस की विदेश-नीति को साम्राज्यवादी कहेंगे स्वयं रूस द्वितीय महायुद्ध में भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों को 'साम्राज्यवादी लक्ष्य से प्रेरित होकर लड़ने वाले राष्ट्र' मानता रहा किन्तु सन् 1941 में जर्मनी द्वारा आक्रमण कर दिए जाने पर जो युद्ध लड़ना पड़ा वह उसकी दृष्टि में साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध बन गया। संयुक्तराज्य अमेरिका के आलोचकों के लिए हर स्थान पर 'अमेरिकी साम्राज्यवाद' एक पारिभाषिक शब्द बन गया है और शंका तब और भी बढ़ जाती है जब कुछ विशेष आर्थिक तथा राजनीतिक पद्धतियों, आर्थिक गुटों आदि *को बिना प्रभेद किए साम्राज्यवादी विदेश-नीतियों से सम्बद्ध कर दिया जाता है।* वस्तुतः हालत यह हो गई है कि प्रत्येक व्यक्ति या राज्य, जो किसी राष्ट्र की विदेश

1 *Palmer & Perkins* : International Relations, pp. 159-160.

नीति के अतिरिक्त कोई अन्य विदेश-नीति अपनाता है, प्रतिपक्षी द्वारा साम्राज्यवादी मान लिया जाता है।[1]

मॉर्गेन्थो का कहना है कि साम्राज्यवाद का सही अर्थ जानने के लिए यह आवश्यक है कि उससे सम्बन्धित कुछ भ्रान्तियों का निवारण कर लिया जाए—(1) प्रथम, प्रत्येक विदेश-नीति, जिसका उद्देश्य एक राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाना है, आवश्यक रूप से साम्राज्यवाद का प्रदर्शन नहीं कही जा सकती। केवल उसी नीति को साम्राज्यवादी कहा जा सकता है जिसका लक्ष्य यथापूर्व-स्थिति (Status-quo) को नष्ट-भ्रष्ट करना है। (2) द्वितीय, वे लोग भी भ्रम मे हैं जो पहले से ही स्थित साम्राज्य की रक्षा करने वाली विदेश-नीति को साम्राज्यवादी कहते हैं। वर्तमान साम्राज्य की सुरक्षा, उसके स्थायित्व और सन्तुलन के सपोषण को 'साम्राज्यवाद' की सज्ञा देना उचित नहीं कहा जा सकता। मॉर्गेन्थो का विचार है कि साम्राज्यवाद की प्रकृति गत्यात्मक (Dynam c) होती है जिसके द्वारा एक नया साम्राज्य स्थापित किया जाता है। पूर्वस्थित साम्राज्य की रक्षा करने वाली नीति से इस 'गत्यात्मक प्रकृति' का आभास नही होता, अतः इस नीति को हम रूढ़िवादी कह सकते हैं न कि साम्राज्यवादी। साम्राज्य (Empire) की रक्षा और सुदृढ़ता (Consolidation) एक चीज है तथा साम्राज्यवाद दूसरी। दोनों के बीच भारी अन्तर रहता है। सन् 1942 मे चर्चिल ने जब 'ब्रिटिश साम्राज्य के समापन-समारोह मे सभापतित्व करने से इंकार कर दिया था' तो वह एक साम्राज्यवादी की हैसियत से नही बल्कि विदेशी मामलों मे एक रूढ़िवादी की हैसियत से बोल रहा था, साम्राज्य की यथा-स्थिति के संरक्षक के रूप में (A Defender of the Status-quo of Empire) बोल रहा था।

मॉर्गेन्थो के अनुसार जब हम साम्राज्यवाद सम्बन्धी भ्रान्तियों से दूर रहकर वास्तविक स्थिति पर विचार करेंगे तो हमे साम्राज्यवाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। पर आधुनिक युग मे केवल औपनिवेशिक साम्राज्य की ही चर्चा नहीं की जाती बल्कि आर्थिक साम्राज्यवाद की भी बात कही जाती है और जब हम साम्राज्यवाद से सम्बन्धित आर्थिक सिद्धान्तो पर विचार करते हैं तो साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति फिर अस्पष्ट बन जाती है।

साम्राज्यवाद के आर्थिक सिद्धान्त
(Economic Theories of Imperialism)

मॉर्गेन्थो के अनुसार साम्राज्यवाद के आर्थिक सिद्धान्त तीन पृथक् विचारधाराओं से विकसित हुए हैं। पहली मार्क्सवादी विचारधारा (The Marxist Theory of Imperialism) है जो पूँजीवाद को मुख्य बुराई तथा साम्राज्यवाद को उसी का आवश्यक या सम्भावित परिणाम मानती है। दूसरी, उदारवादी विचारधारा (The Liberal Theory of Imperialism) है जिसके प्रमुख प्रतिनिधि

1 *Morgenthau* : op. cit., p. 41.

है ए. हॉब्सन। इस विचारधारा के अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद का परिणाम न होकर वास्तव मे पूँजीवादी व्यवस्था के कुछ असन्तुलन का परिणाम है। मार्क्सवाद की भाँति ही उदारवादी विचारधारा भी साम्राज्यवाद की जड़ अतिरिक्त उत्पादन और पूँजी मे मानती है जिसके लिए विदेशी बाजारो की खोज अनिवार्य हो जाती है। फिर भी हॉब्सन तथा उसकी विचारधारा के अनुसार यह अतिरिक्त उपज खरीदने की शक्ति के गलत सन्तुलन का परिणाम मात्र है, उसका हल घरेलू बाजार के विकास मे निहित है जो क्रय-शक्ति मे वृद्धि और आवश्यकता से अधिक बचत की समाप्ति आदि आर्थिक सुधारो द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। साम्राज्यवाद के प्रति एक घरेलू विकल्प मे विश्वास ही उदारवाद को मार्क्सवाद से पृथक् करता है। तीसरी विचारधारा 'दानवी सिद्धान्त' (The 'Devil Theory' of Imperialism) है। यह सिद्धान्त उपर्युक्त दोनो सह-सिद्धान्तो के विपरीत बहुत ही भिन्न बौद्धिक स्तर पर सचालित होता है। इस सिद्धान्त को साम्यवादी अपनाते है और आज तो यह उनके प्रचार का एक मुख्य हथियार बन गया है। इसे 'न्ये कमेटी (Nye Committee) का आधिकारिक दर्शन' कहा जा सकता है, जिसने सयुक्तराज्य-सीनेट की ओर से सन् 1934-36 मे प्रथम महायुद्ध मे सयुक्तराज्य के हस्तक्षेप पर वाणिज्य व उद्योग-धन्धो के प्रभाव की खोज की थी। कमेटी की बैठको को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, उसके कारण कुछ समय तक यह 'दानवी-सिद्धान्त' सयुक्त-राज्य मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का स्पष्टीकरण करने का मुख्य साधन बना रहा। सिद्धान्त की सरलता ने उसकी लोकप्रियता मे भारी योग दिया। इसने कुछ विशेष गुटो की ओर सकेत किया जो कि स्पष्ट रूप से युद्ध से लाभ उठाते हैं जैसे युद्ध की वस्तुओ को बनाने वाले उद्योगपति (हथियार बनाने वाले वर्ग) अन्तर्राष्ट्रीय बैंकर्स (वाल स्ट्रीट) आदि। चूँकि उनको युद्ध मे लाभ होता है, इसलिए उनके लिए उसमे संलग्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार युद्ध से लाभ उठाने वाले युद्ध-प्रचारको में बदल जाते हैं अर्थात् उन 'दानवो' मे जो युद्ध की योजना बनाते है ताकि उससे स्वयं को धनी बना सकें। सक्षेप मे, दानवी सिद्धान्त के अनुसार युद्ध के कारण जिन समुदायो या व्यक्तियो को लाभ होता है वे सदैव युद्ध को प्रोत्साहन देते रहते हैं ताकि वे स्वय सम्पन्न बन सकें। इन युद्धो का परिणाम ही साम्राज्यवाद है।

मॉर्गेन्थो महोदय के अनुसार ये तीनो ही विचारधाराएँ एकपक्षीयता (Onesidedness) के दोष से ग्रसित हैं। 'साम्राज्यवाद' असल मे एक राजनीतिक तत्त्व है और जैसा कि कुछ विचारकों का कहना है, इन विचारधाराओं द्वारा इसको आर्थिक रूप देने का असफल प्रयास किया गया है।

साम्राज्यवाद सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष
(Some Conclusions about Imperialism)

जब साम्राज्यवाद को किसी निश्चित परिभाषा मे नही बाँधा जा सकता, इसमे सम्बन्धित जो सिद्धान्त विकसित हुए हैं वे एकपक्षीय है, तो फिर साम्राज्यवाद

के स्वरूप को इसकी कुछ विशेषताओं के आधार पर ही अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, जो निम्न प्रकार है—

1. 'साम्राज्यवाद' शब्द स्वानुभूतिमूलक (Subjective) है और इसीलिए विचारक अपनी इच्छानुसार जैसा चाहते हैं इसकी परिभाषा दे देते हैं।

2 'साम्राज्यवाद' शब्द अपने विरोधी देशों की नीतियों की आलोचना करने का एक साधन बन गया है।

3. साम्राज्यवाद की कुछ अवसरगत विशेषताएँ जैसे आर्थिक लाभ का लक्ष्य, क्षेत्र का विस्तार, दूसरी जातियों पर शासन एक सुनियोजित कार्यक्रम, आदि साम्राज्यवाद के साथ रहती हैं, किन्तु साम्राज्यवाद इनके बिना भी रह सकता है।

4 साम्राज्यवाद नैतिक दृष्टि से शून्य होता है। यह राष्ट्रीय नीतियों का एक ऐसा साधन है जिसका उद्देश्य बुरा भी हो सकता है और अच्छा भी। हो सकता है कि साम्राज्यवाद के अधीनस्थ देश आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में पर्याप्त विकास करें और यह भी सम्भव है कि साम्राज्यवादी देशों द्वारा अधीनस्थ जनता का शोषण किया जाए, उसका दमन किया जाए तथा उसकी सभ्यता और संस्कृति के विकास को अवरुद्ध किया जाए। पामर तथा पर्किस के मतानुसार साम्राज्यवाद तो शक्ति-सम्बन्धों का उच्च और अधीनस्थ के बीच के सम्बन्धों का नाम है, नैतिकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

5. साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्व मॉर्गेन्थो के मतानुसार तीन हैं। पहला तत्त्व वे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ हैं जो युद्ध के बाद शान्ति स्थापनार्थ की जाती हैं तथा जिनके द्वारा युद्ध से पूर्व की स्थिति को परिवर्तित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए वर्साय की सन्धि का नाम लिया जा सकता है। दूसरा तत्त्व वह प्रयास है जो कुछ राष्ट्रों को स्थायी रूप से अधीन (Subordinate) बनाए रखने के लिए किया जाता है। ऐसे प्रयासों की प्रतिक्रिया यह होती है कि हारा हुआ राष्ट्र अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करने की कोशिशें करता है। फलत: उसकी नीति साम्राज्यवादी हो जाती है। साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देने वाला तीसरा तत्त्व कमजोर एवं राजनीतिक शक्ति से हीन राज्यों का अस्तित्व है। ऐसे राज्य शक्तिशाली राज्यों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे 'शव' द्वारा गिद्धों को आकर्षित किया जाता है। ये तीनों ही तत्त्व ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करते हैं जिनमे साम्राज्यवाद की नीतियाँ बनती, क्रियान्वित होती तथा सफल होती हैं।

साम्राज्यवाद के तीन लक्ष्य
(Three Goals of Imperialism)

मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि चूँकि साम्राज्यवाद तीन विशेष परिस्थितियों (ऊपर वर्णित) से उत्पन्न होता है, अत: साम्राज्यवाद तीन लक्ष्यों की ओर अग्रसर होता है[1]—

1 *Morgenthau* : op. cit., pp. 52-54.

(1) विश्व-साम्राज्य (World Empire),
(2) महाद्वीपीय साम्राज्य (Continental Empire),
(3) *स्थानीय प्रभुता (Local Preponderance)* ।

विश्व-साम्राज्य (World Empire)—साम्राज्यवाद का पहला विशिष्ट लक्ष्य सम्पूर्ण पृथ्वी के राजनीतिक रूप से सगठित प्रदेशो पर प्रभुत्व स्थापित करना होता है *अर्थात् एक विश्व-व्यापी साम्राज्य की स्थापना करना* । इस प्रकार के असीमित साम्राज्यवाद के असाधारण उदाहरण सिकन्दर महान्, रोम, सातवी तथा आठवी शताब्दियो मे अरबो, नेपोलियन प्रथम, हिटलर आदि की विस्तारवादी नीतियो मे देखा जा सकता है। जैसे कि मॉर्गेन्थो ने लिखा है—इन सभी की नीतियो मे विस्तार की ओर एक सामान्य प्रवृत्ति प्रकट होती है जिसकी कोई भी विवेकपूर्ण सीमा नही है और जो अपनी सफलताओ पर पनपती है और यदि अपने से अधिक शक्तिशाली शक्ति द्वारा रोक न दी जाए तो सम्पूर्ण राजनीतिक जगत् मे विस्तार के लिए प्रवृत्त होती है । यह प्रवृत्ति उस समय तक तुष्ट नही हो सकती जब तक कि *कही भी साम्राज्य का कोई सम्भव लक्ष्य मौजूद है* । सौभाग्यवश अतीत मे इस प्रकार का असीमित साम्राज्यवाद ही साम्राज्यवादी नीतियो के अन्त का कारण बनता रहा है । केवल रोम ही कुछ विशेष कारणोवश अपवाद रहा था ।

महाद्वीपीय साम्राज्य (Continental Empire)—साम्राज्यवाद का दूसरा विशिष्ट लक्ष्य एक महाद्वीपीय सीमा के अन्तर्गत साम्राज्य स्थापित करना हो सकता है । इसे *भौगोलिक रूप से निर्धारित साम्राज्यवाद (Geographically Determ ned* Imper alism) कहा जा सकता है और इस प्रकार के साम्राज्यवाद के स्पष्ट उदाहरण हमे यूरोपीय शक्तियो की उन नीतियो मे मिलते है जिनका लक्ष्य यूरोपीय महाद्वीप मे प्रभुत्व स्थापित करना था । लुई चौदहवाँ, नेपोलियन तृतीय और विलियम द्वितीय इसके उदाहरण हैं । सन् 1850 के दशक मे कैवूर की अध्यक्षता मे विडमौन्ट राज्य की इटली प्रायद्वीप पर प्रभुत्व की अभिलाषा, सन् *1912* और *1913* मे बलकान युद्ध के विभिन्न भागीदारों की बलकान प्रायद्वीप में प्रभुत्व की अभिलाषा, भूमध्य सागर को इटालियन झील बनाने का मुसोलिनी का प्रयत्न—ये सब महाद्वीपीय सीमाओ के अन्तर्गत भूगोल द्वारा निर्धारित साम्राज्यवाद के उदाहरण हैं । उन्नीसवी शताब्दी मे अमेरिकी नीति, जिसके अन्तर्गत उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप के अच्छे भू-भाग मे शनैः-शनैः अमेरिकी विस्तार की योजना रही, पूर्ण रूप से नही तो मुख्यतः महाद्वीप की भौगोलिक सीमाओ द्वारा निर्धारित थी, क्योकि सयुक्तराज्य ने कनाडा और मैक्सिको को अपने आधिपत्य मे लाने का प्रयत्न नही किया यद्यपि ऐसा करने मे वह निश्चय ही सफल हो सकता था । महाद्वीपीय साम्राज्यवाद इस स्थान पर स्थानीय सीमाओ के लक्ष्य द्वारा संशोधित कर दिया गया । इसी प्रकार का मिश्रित साम्राज्यवाद पश्चिमी गोलार्द्ध से सम्बन्धित अमेरिकी नीति का तत्त्व बन जाता है । मुनरो सिद्धान्त ने पश्चिमी गोलार्द्ध के लिए अमेरिकी शक्तियों से सम्बन्धित एक यथापूर्व-स्थिति की नीति निर्धारित कर बचाव की एक ढाल तैयार कर दी जिसके

पीछे संयुक्तराज्य उस भौगोलिक क्षेत्र में अपना स्वयं का प्रभुत्व स्थापित कर सके। परन्तु उन भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत अमेरिकी नीति स्थायी रूप से सदा साम्राज्यवादी नहीं थी।

स्थानीय प्रभुत्व (Local Preponderance)—स्थानीय साम्राज्यवाद का रूप 18वीं और 19वीं शताब्दियों की राजतन्त्रात्मक नीतियों में देखने को मिलता है। 18वीं सदी फ्रेडरिक महान्, लुई पन्द्रहवें, मेरिया थेरसा, पीटर दी ग्रेट और केथरीन द्वितीय इस प्रकार की विदेश-नीति की सचालक-शक्तियां थी। उन्नीसवीं शताब्दी में बिस्मार्क इस प्रकार की साम्राज्यवादी नीति का उस्ताद था जिसने यथास्थित-व्यवस्था (The Status-quo) को पलट कर स्वयं निर्धारित की हुई सीमाओं के भीतर राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का लक्ष्य बनाया है। इस प्रकार की स्थानीय साम्राज्यवादी नीति और महाद्वीपीय साम्राज्यवाद तथा असीमित साम्राज्यवाद में वही अन्तर है जो बिस्मार्क, विलियम द्वितीय तथा हिटलर की विदेश-नीतियों में था। *बिस्मार्क मध्य यूरोप में जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित करना* चाहता था, विलियम समस्त यूरोप में और हिटलर सम्पूर्ण जगत् में। रूसी साम्राज्यवाद के परम्परागत लक्ष्य, जैसे फिनलैण्ड, पूर्वी यूरोप, बलकान, दारदनेल्स व ईरान पर नियन्त्रण भी स्थानीय साम्राज्यवाद के रूप हैं। इस प्रकार के साम्राज्यवाद की सीमाएँ, भौगोलिक साम्राज्यवाद की तरह प्रकृति के बाह्य तथ्यों द्वारा निर्धारित नहीं होती, बल्कि यह कई पक्षान्तरों में से स्वतन्त्रतापूर्वक चुना हुआ एक मार्ग होता है जैसे—यथापूर्व-स्थिति की नीति, महाद्वीपीय साम्राज्यवाद या तीसरा स्थानीय साम्राज्यवाद। अठारहवीं शताब्दी में तीसरा पक्षान्तर इस कारण श्रेयस्कर था, क्योंकि उस समय शक्तियों का एक जमाव ऐसा था जो एक-दूसरे के प्रायः बराबर थी और महाद्वीपीय साम्राज्यवाद के प्रयत्न को हतोत्साहित करती थी। लुई चौदहवें के अनुभव ने दर्शा किया कि इस प्रकार का प्रयत्न कितना सकटपूर्ण बन सकता है और फिर 18वीं सदी का साम्राज्यवाद मुख्यतः राजाओं की व्यक्तिगत शक्ति और यश-लोलुपता से संचालित होता था, न कि आधुनिक राष्ट्रवाद की जनवादी भावनाओं से। ये मान्यताएँ यूरोपीय संस्कृति की राजतन्त्रात्मक परम्पराओं के ढांचे के अन्तर्गत सचालित होती थी जो कि राजनीतिक रंगमंच के नेताओं पर एक नियन्त्रण का कार्य करती थी। 19वीं शताब्दी में स्थानीय साम्राज्यवाद की नीति का यह चुनाव-तत्त्व बिस्मार्क की विदेश-नीति में सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में दृष्टिगोचर होता है। सबसे पहले उसे प्रशा के उन दक्षिण पंथी तत्त्वों के विरोध का सामना करना पड़ा जो प्रशा के लिए यथापूर्व-स्थिति के समर्थन के पक्ष में थे और बिस्मार्क की स्थानीय साम्राज्यवादी नीति को पसन्द नहीं करते थे। इस नीति के द्वारा *बिस्मार्क जर्मनी में प्रशा का अधिनायकत्व स्थापित करना चाहता था।* जब विजयी युद्धों ने बिस्मार्क की नीति को सम्भव बना दिया तो इस नीति की रक्षा करना भी आवश्यक हो गया—विशेषकर उनसे जो कि बिस्मार्क द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन करना चाह रहे थे। सन् 1890 में विलियम द्वितीय द्वारा बिस्मार्क को

पदच्युत करना इस स्थानीय साम्राज्यवाद की समाप्ति का और जर्मन विदेश-नीति मे महाद्वीपीय साम्राज्यवाद की ओर बढती हुई प्रवृत्ति के प्रारम्भ का द्योतक था।

साम्राज्यवाद के तीन साधन
(Three Methods of Imperialism)

मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि जिस तरह विशेष परिस्थितियोवश तीन प्रकार का साम्राज्यवाद पनपता है और अपने लक्ष्य के अनुसार भी तीन प्रकार के साम्राज्यवाद होते हैं, उसी तरह साम्राज्यवादी नीतियो के साधनो मे तीन प्रकार की विभिन्नताएँ स्थापित करनी होगी। तदनुसार हमे निम्नलिखित तीन साम्राज्यवादो मे अन्तर करना चाहिए—

(1) सैनिक साम्राज्यवाद (Military Imperialism),
(2) आर्थिक साम्राज्यवाद (Economic Imperialism),
(3) सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism)।

मॉर्गेन्थो की दृष्टि मे सैनिक साम्राज्यवाद सैनिक विजय की माँग करता है, आर्थिक साम्राज्यवाद दूसरे लोगो का आर्थिक शोषण चाहता है तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का लक्ष्य एक सस्कृति को दूसरी सस्कृति द्वारा उन्मूलन करना होता है—किन्तु ये सब सदैव एक ही साम्राज्यवादी लक्ष्य के साधन के रूप मे काम करते हैं और यह लक्ष्य होता है यथापूर्व-स्थिति को पलट देना अर्थात् साम्राज्यवादी राष्ट्र तथा उसके होने वाले शिकार के शक्ति-सम्बन्धों को पलट देना। इस लक्ष्य को या तो सैनिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक साधनों द्वारा प्राप्त किया जाता है या किसी एक ही साधन द्वारा अथवा साधनो के सयोग द्वारा प्राप्त किया जाता है। यहाँ हम इन्ही तीनों साधनो का उल्लेख कर रहे है—

सैनिक साम्राज्यवाद (Military Imperialism)—साम्राज्यवाद का सबसे स्पष्ट, सबसे प्राचीन और सबसे असस्कारी रूप सैनिक विजय है। सभी युगो के महान् विजेता महान् साम्राज्यवादी भी रहे हैं। एक साम्राज्यवादी राष्ट्र के दृष्टिकोण से इस पद्धति का लाभ यह है कि सैनिक विजय के फलस्वरूप जो नए शक्ति-सम्बन्ध स्थापित होते हैं उन्हें पराजित राष्ट्र द्वारा भडकाए हुए अन्य युद्ध द्वारा ही बदला जा सकता है और इस युद्ध मे सफलता की सम्भावना प्राय. उस पराजित राष्ट्र की उतनी नही होती जितनी कि साम्राज्यवादी राष्ट्र की होती है। लेकिन साम्राज्यवाद के सैनिक साधन के इस सबसे बड़े दोष की उपेक्षा नही की जा सकती कि युद्ध एक जुआ है, वह जीता भी जा सकता है और हारा भी जा सकता है। एक राष्ट्र जो *साम्राज्यवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए युद्ध प्रारम्भ करता है, साम्राज्य प्राप्त कर उसे अपने अधीन भी रख सकता है जैसा कि रोम ने किया था अथवा वह उसे जीत* कर खो भी सकता है अर्थात् दूसरों के साम्राज्यवाद का शिकार बन सकता है जैसा कि नाजी जर्मनी और जापान के मामले मे हुआ। सैनिक साम्राज्यवाद वह जुआ है जो सर्वोच्च दाव के लिए खेला जाता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद (Economic Imperialism)—मॉर्गेन्थो के अनुसार आर्थिक साम्राज्यवाद कम क्रूरतापूर्ण और सामान्यतया सैनिक प्रणाली से कम प्रभावकारी है। एक विवेकपूर्ण साधन द्वारा शक्ति हथियाने के रूप में यह आधुनिक युग की उपज है। यह व्यापारिक और पूंजीवादी विस्तार के आधुनिक युग की उत्पत्ति है जिसका आधुनिक विलक्षण उदाहरण 'डॉलर साम्राज्यवाद' (Dollar Imperial sm) है। इसने ब्रिटिश तथा फांसीसी साम्राज्यवाद के इतिहास मे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 18वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही पुर्तगाल मे ब्रिटिश प्रभाव शक्तिशाली आर्थिक नियन्त्रण द्वारा समर्थित रहा है। अरब जगत् मे ब्रिटिश सर्वोच्चता उन आर्थिक नीतियो का ही परिणाम थी जिन्हे 'तेल कूटनीति' (O.l D plomacy) कहा जाता है। दो महायुद्धो के बीच फ्रांस ने जो अपना प्रबल प्रभाव रूमानिया जैसे देशो पर थोपा वह काफी हद तक आर्थिक तत्त्वो पर आधारित था।

जिन नीतियो को हम आर्थिक साम्राज्यवाद की सज्ञा देते हैं उनकी एक सामान्य प्रवृत्ति यह है कि वे साम्राज्यवादी राष्ट्र और दूसरे देशों के बीच के शक्ति सम्बन्धो की *यथापूर्व स्थिति को उलट देती हैं और ऐसा करने मे प्रादेशिक विजय का* नही, वल्कि आर्थिक नियन्त्रण का सहारा लिया जाता है। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय अमेरिका के सब प्रभुत्व सम्पन्न राज्य सयुक्तराज्य अमेरिका के आर्थिक साम्राज्यवाद के शिकार हैं। इन राज्यों का आर्थिक जीवन प्रायः पूरी तरह सयुक्तराज्य अमेरिका के निर्यात पर निर्भर है, अतः ये राज्य अधिक समय तक किसी ऐसी विदेश नीति या गृह-नीति का अनुसरण नही कर सकते जिसका सयुक्तराज्य अमेरिका विरोध करता हो। आर्थिक साम्राज्यवाद के माध्यम से दूसरे देशों पर प्रभुत्व स्थापित करने या उसे कायम रखने का अति प्रभावशाली रूप तब बहुत साफ-साफ दिखाई देता है जबकि दो प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी राष्ट्र एक-दूसरे के आर्थिक साधनों द्वारा एक ही सरकार पर नियन्त्रण के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उदाहरणार्थ, ईरान पर नियन्त्रण के लिए रूस और ब्रिटेन के बीच प्रतिद्वन्द्विता सदियो पुरानी है जो कई बार लम्बे *समय तक सैनिक साधनो द्वारा भी संचालित रही है। ग्रेट ब्रिटेन के हाथो मे दक्षिण* फारस का तमाम विदेशी व्यापार था, वह अदन से लेकर बिलोचिस्तान तक सम्पूर्ण एशियायी तट पर अपने आर्थिक नियन्त्रण का दावा करता था। उसने उधर कभी भी क्षेत्रीय सम्पत्ति की अभिलाषा नहीं की। परन्तु रूस के व्यावसायिक अस्त्र दो रहे—या तो उसने व्यापार पर एकाधिकार चाहा या इसमे असफल रहने पर उसका निषेध किया। उसने ईरान मे रेल बनाने के लिए अनिच्छा व्यक्त की और उन लक्ष्यो का प्राय: विरोध किया जिनके फलस्वरूप देश का पुनरुत्थान हो सकता था। इस प्रकार ईरान ब्रिटेन और रूस के बीच आर्थिक तथा राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का शिकार बना रहा। रूस उस पर उत्तर से दबाव डालता था तो ब्रिटेन दक्षिण से। ईरान की तत्कालीन विदेश-नीति और गृह-नीति इन दो प्रतियोगी गुटो के दबावो के बीच पिसती रही। जब रूस उन आर्थिक लाभों को प्रदान करता था या उनका *आश्वासन देता था जो ब्रिटेन की ओर से ईरान को नही* मिल सकते थे अथवा जब

रूस स्वीकृत लाभों को वापस ले लेने की धमकी देता था तो रूस का प्रभाव बढ़ जाता था और इसी तरह विपरीत स्थिति होने पर ब्रिटेन के प्रभाव में वृद्धि होती थी। न तो रूस ने ईरान की भूमि हड़पने का साहस किया और न ब्रिटेन की ही ऐसी कोई इच्छा थी। लेकिन दोनों ही ईरानी सरकार पर नियन्त्रण रखने के आकांक्षी थे, ईरान में अपने आर्थिक साम्राज्यवाद के प्रसार को फलीभूत देखना चाहते थे। आज भी अमेरिका डॉलरों द्वारा एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए अनेक राष्ट्रों में अपना आर्थिक साम्राज्यवाद फैलाए हुए है। अमेरिका ने—निक्सन प्रशासन ने—भारत के लिए आर्थिक सहायता का निषेध कर 'डॉलर कूटनीति' का दबाव डालना चाहा और फोर्ड प्रशासन भी पीछे नहीं रहा तथा उनके पश्चात्वर्ती राष्ट्रपति जिमी कार्टर की नीतियों में भी कोई खास सुधार नहीं हुआ। वर्तमान में रोनाल्ड रीगन भी उसी परिपाटी पर चल रहे हैं जो उन्हें उनके पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों से विरासत में मिली है परन्तु विश्व के इस सर्वाधिक धन-सम्पन्न राष्ट्र को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारत भीषण कठिनाइयाँ झेल सकता है लेकिन स्वाभिमान को नहीं बेच सकता, किसी के आर्थिक-राजनीतिक दबाव से नहीं झुक सकता। भारत पिण्डी-पेकिंग-वाशिंगटन गठजोड़ के कारनामों के प्रति भी सजग रहा है।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism)—मॉर्गेन्थो का मत है कि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद सबसे सूक्ष्म और यदि अपने आप ही (बिना सैनिक तथा *आर्थिक साम्राज्यवाद का सहारा लिए) सफल हो जाए तो सबसे सफल साम्राज्यवादी* नीतियों में से है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का लक्ष्य भू-क्षेत्रों की विजय अथवा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण नहीं होता, बल्कि लोगों के मस्तिष्कों पर विजय पाकर उन्हें नियन्त्रित करना होता है ताकि उनके माध्यम से दो राष्ट्रों के बीच शक्ति-सम्बन्धों को पलट दिया जाए। यदि हम कल्पना करें कि 'अ' राज्य की संस्कृति और विशेषकर उसकी राजनीतिक विचारधारा, अपने सभी ठोस साम्राज्यवादी लक्ष्यों के साथ, 'ब' राज्य की नीतियों का निर्धारण करने वाले सभी नागरिकों के मस्तिष्कों को जीत लेती है तो हम देखेंगे कि 'अ' राज्य की विजय किसी भी सैनिक या आर्थिक साम्राज्यवादी की विजय से कहीं अधिक पूर्ण होगी। 'अ' राज्य को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए न किसी फौजी ताकत का इस्तेमाल करना होगा और न आर्थिक दबाव डालने की आवश्यकता होगी, क्योंकि वह तो 'ब' राज्य के नागरिकों को अपनी राजनीतिक विचार-पद्धति की सम्मोहन शक्ति से बाँध चुका है और इस प्रकार 'ब' राज्य ने 'अ' राज्य की इच्छा के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर दिया है—वह 'अ' राज्य की उच्चतर संस्कृति का और उसके अधिक आकर्षक राजनीतिक दर्शन का गुलाम बन चुका है।

परन्तु यह तो एक काल्पनिक उदाहरण है। व्यवहार में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ऐसी सम्पूर्ण विजय से काफी पीछे रह जाता है अर्थात् उसकी विजय इतनी 'पूर्ण' नहीं होती कि साम्राज्यवाद के अन्य साधनों का महत्त्व न रहे। आधुनिक युग में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की विशिष्ट भूमिका अन्य साधनों की सहकारिता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद शत्रु को शिथिल बना देता है और इस तरह सैनिक विजय अथवा

आर्थिक प्रवेश के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण कर देता है। इसका एक प्रमुख आधुनिक उदाहरण है 'पांचवी पंक्ति' (The Fifth Column) और उसकी दो विलक्षण सफलताओं में से एक तो नाजी सेना की पांचवी पंक्ति है जिसका प्रयोग द्वितीय महायुद्ध के पूर्व और प्रारम्भ में किया गया था और जिसकी सफलता आस्ट्रिया में सबसे अधिक दिखाई देती थी। उस समय जबकि वहां की नाजीवादी सरकार ने जर्मन फौजों को देश पर कब्जा करने के लिए आमन्त्रित किया। नाजियों की पांचवी पंक्ति ने फ्रांस और नार्वे में भी काफी सफलता प्राप्त की क्योंकि वहां की सरकार के भीतर और बाहर अनेक प्रभावशाली नागरिक देशद्रोही बन गए। वे नाजी दर्शन और उसके अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों के अनुयायी हो गए। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि जर्मनी की सैनिक विजय से पूर्व ही ये देश अधूरे दौर पर सांस्कृतिक साम्राज्यवादी साधनों द्वारा जर्मनी के कब्जे में लाए जा चुके थे। ग्रेट-ब्रिटेन नाजी सांस्कृतिक प्रवेश के भय से हर समय चौकन्ना रहता था और इसीलिए उसने द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में ही अपनी राज्य-सीमाओं के भीतर प्रत्येक नाजी को और उनके प्रति सहानुभूति रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को नजरबन्द कर दिया था। वास्तव में जर्मन साम्राज्यवाद को तीव्र गति से प्रारम्भिक सफलताएँ इसीलिए मिलीं कि वह अपने सांस्कृतिक प्रभाव के विस्तार द्वारा अपनी सैनिक विजयों का मार्ग अधिक आसान बना चुका था। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के दूसरे विलक्षण उदाहरण के रूप में साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (The Communist International) की गणना की जा सकती है और यह बात राजनीति के किसी भी साधारण छात्र तक से छिपी नहीं है कि जिस सीमा तक साम्यवादी दल किसी देश में अपना वैचारिक प्रभाव स्थापित कर लेता है उसी अनुपात में सोवियत रूस या चीन का प्रभाव उस देश में बढ़ता जाता है और जहां साम्यवादी दल राष्ट्रीय सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है वहां रूसी या चीनी सरकार का व्यावहारिक नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत रूस आदि महाशक्तियाँ जब अफ्रो-एशियायी देशों में अपने साहित्य का विशाल मात्रा में प्रचार-प्रसार करती हैं तो उसका एक मुख्य लक्ष्य 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' का प्रसार होता है ताकि उनके राजनीतिक प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए समुचित आधार तैयार हो जाए। कौन नहीं जानता कि अनेक अफ्रो-एशियायी देशों के विश्वविद्यालयों में, जिनमें भारत के विश्वविद्यालय भी हैं, अमेरिकी साहित्य का साम्राज्य-सा छाया हुआ है और हमारे शिक्षा तन्त्र पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। ऐसे पढ़े-लिखे भारतीयों की संख्या कम नहीं है जो 'तन' से हिन्दुस्तानी पर 'मन' से इंगलिस्तानी या 'अमेरिकी' हैं। जब तक देश में इन बुद्धिजीवियों का प्रभाव व्याप्त रहेगा, और जब तक ये लोग अपने प्रभाव के बल पर विदेशी साहित्य को प्रश्रय देते रहेंगे, तब तक भारत में उस राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान नहीं हो सकता जो किसी स्वाधीन देश की जनता का 'वास्तविक आत्मबल' होता है। देश का उच्चतम नेतृत्व इस प्रवृत्ति का विरोधी है, लेकिन 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' वाली कहावत चरितार्थ होती है। यह देश के बुद्धिजीवियों का 'धार्मिक और राष्ट्रीय

कर्त्तव्य' है कि वे देश मे विदेशी शक्तियो के 'साँस्कृतिक प्रवेश' के विरुद्ध शक्तिशाली ढाल का काम करें न कि उसे प्रोत्साहन दें। हाँ, यदि 'काली' चमडी को 'गोरी' चमडी बनाने का कोई नुस्खा ईजाद हो गया हो तो फिर यह माथापच्ची करने के प्रश्न पर शायद पुनर्विचार करना पडे।

साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद
(Imperialism, Colonialism and Nationalism)

साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के बीच का अन्तर इतना कम है कि प्राय: एक के लिए दूसरे का प्रयोग कर दिया जाता है। हॉब्सन (Hobson) ने साम्राज्यवाद विषयक अपनी पुस्तक मे साम्राज्यवाद की जो परिभाषा दी है वह असल मे उपनिवेशवाद पर अधिक लागू होती है। उनके मतानुसार, "उपनिवेशवाद अपने सर्वश्रेष्ठ रूप मे राष्ट्रीयता का स्वाभाविक अतिरेक (Overflow) है। इसकी परीक्षा उपनिवेशो की वह शक्ति है जिसके द्वारा वे अपनी सभ्यता को अपने नवीन सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण के अनुसार ढाल सकें।"[1] साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद का ही एक रूप समझा जाता है, किन्तु यह उपनिवेशवाद की तुलना मे अधिक सगठित, अधिक सैनिक, प्रत्यक्ष रूप से अधिक आक्रमणकारी तथा विभिन्न उद्देश्यो से पूर्ण होता है। इतने अन्तरो के रहते हुए भी व्यवहार मे इन दोनो के बीच *एक विभाजन रेखा खीचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।* इन दोनों ही पदो का प्रयोग उच्च तथा निम्न का सम्बन्ध (Superior-inferior Relationship) *बताने के लिए किया जाता है।*

सैद्धान्तिक रूप मे राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद परस्पर विरोधी हैं क्योंकि *साम्राज्यवाद दूसरे देशों को पराधीनता के पाश मे जकडता है जबकि राष्ट्रीयता* प्रत्येक देश को स्वतन्त्र रहने के लिए प्रोत्साहित करती है। किन्तु व्यवहार मे पराधीन देश *स्वतन्त्र होने के बाद जब शक्तिशाली बन जाता है तो प्राय. साम्राज्य-निर्माण का* स्वप्न देखना प्रारम्भ कर देता है। पराधीन राष्ट्रो मे साम्राज्यवाद के प्रभाव से *राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत होती है और स्वतन्त्र राष्ट्रो मे राष्ट्रीयता साम्राज्यवादी* भावनाओं को उकसाती है। ब्यूअल (Buell) का कहना है कि "शुद्ध राष्ट्रवाद *सरकारो को साम्राज्यवाद का मार्ग अपनाने के लिए मजबूर कर देता है।*"[2]

उपनिवेशवादी नीति और साम्राज्यवादी नीति के बीच बहुत थोड़ा अन्तर *होता है। साम्राज्यवाद का अस्तित्व वहाँ समझा जाता है जहाँ स्थानीय विरोध का* अन्त करने के लिए, उपनिवेशवाद कायम रखने के लिए या अपना प्रभाव स्थापित *करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक होता है। जहाँ यह शक्ति प्रयुक्त* नही की जाती तथा जहाँ विदेशी शासन के प्रति कोई विरोध प्रदर्शित नही किया जाता, वह *उपनिवेशवाद कहलाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने फिलीपाईंस को स्पेन* मुक्त कराने के बाद उस पर औपनिवेशिक शासन लागू किया। उपनिवेशवाद और

1 *J. A. Hobson* : Imperialism-A Study, 1948, p. 7.
2 *Buell, Raymond L.* : International Relations, 1929, p. 315.

साम्राज्यवाद के बीच का अन्तर स्वानुभूतिपूर्ण है और अंशतः सम्बन्धित लोगों की प्रतिक्रिया पर आधारित है। पैडलफोर्ड तथा लिंकन के अनुसार दो प्रकार के प्रशासनों को सामान्य रूप से साम्राज्यवादी या उपनिवेशवादी शासन नहीं समझा जाता। प्रथम, उन संरक्षित देशों का प्रशासन जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के समझौते के अधीन हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक छोटे-छोटे पराधीन देशों को संरक्षण परिषद् के अधीन रख दिया गया जो बड़े देशों को पृथक् रूप से आत्म-प्रशासन की क्षमता का विकास करने का उत्तरदायित्व सौंप देती है। दूसरे, किसी अन्य राज्य के प्रदेश में अस्थायी हस्तक्षेप को भी उपनिवेशवादी या साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता जो अल्पकालीन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया गया हो, जैसे वहाँ रहने वाले अपनी राष्ट्रीयता के लोगों की सम्पत्ति एवं जीवन की रक्षा के लिए अथवा शान्ति कायम रखने के लिए। यहाँ हस्तक्षेप का उद्देश्य शासन स्थापित करना नहीं होता। संयुक्तराज्य अमेरिका ने सन् 1964 मे वहाँ रहने वाले मिशनरियों की सहायता के लिए काँगो में हस्तक्षेप किया। सन् 1965 मे अमेरिका ने अमेरिकी राज्यों के सगठन के सहयोग से गृहयुद्ध की स्थिति रोकने के लिए डोमिनिकन गणराज्यों को सेनाएँ भेजीं। जब एक राष्ट्र किसी देश के मामलों में हस्तक्षेप करता है तो उसे साम्राज्यवादी कहा जा सकता है। जब ग्रेट ब्रिटेन की सेनाओं को सन् 1965 में जाम्बिया में रोडेशिया सरकार द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों से देश की रक्षा के लिए आमन्त्रित किया गया तो ग्रेट ब्रिटेन को साम्राज्यवादी कहा गया। इन दोषारोपणों से बचने के लिए राज्य को अपने ऐसे कार्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए। काँगो, साइप्रस, स्वेज-प्रदेश, आदि स्थानों पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की अस्थायी शान्ति-सेनाएँ रखी गई हैं। उनको साम्राज्यवाद का प्रतीक नहीं माना जाता क्योंकि उनका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय है और वे जहाँ स्थित है वहाँ की स्थानीय सरकार का उनको समर्थन प्राप्त है। यह माना जाता है कि इन शान्ति-सेनाओं का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज की ओर से शान्ति कायम रखना है, इसलिए यहाँ अपने ऐतिहासिक अर्थ मे 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

साम्राज्यवाद की नींव के पत्थर
(Foundation Stones of Imperialsm)

साम्राज्यवाद का विशाल भवन क्यों निर्मित किया जाता है तथा उसके स्थिर रहने का क्या आधार है यह जानना साम्राज्य के समर्थकों एवं आलोचकों दोनों के लिए उपयोगी है। जिस प्रकार आधार को मजबूत करके साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को उकसाया जा सकता है उसी प्रकार आधार को कमजोर करके साम्राज्यवाद के महल को गिराया भी जा सकता है। साम्राज्यवाद के अधीनस्थ क्षेत्र, जिनको प्रायः सम्पत्ति (Possessions), उपनिवेश (Colonies), रक्षित-राज्य (Protectorates), अर्द्धरक्षित राज्य (Semi-protectorates) और आश्रित राज्य (Dependent States) आदि की संज्ञा दी जाती है, साधारणतया अपनी स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं रहते। साम्राज्यवादी देश और प्रभावित राज्यों के आर्थिक,

सामाजिक, धार्मिक आदि हित परस्पर टकराते है और यही कारण है कि उनके बीच सघर्ष और कटु भाव बने रहते हैं। कारण यह है कि साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा *प्रभावित प्रदेशो का प्राय शोषण किया जाता है, उनका दमन किया जाता है तथा* उनका इतना दमन किया जाता है कि वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तिलमिला उठते हैं। प्रभावित प्रदेशो के सतत् और कडे विरोध के बाद भी साम्राज्यवादी शक्तियां अपने पाँव जमाए रखती हैं। ऐसा क्यो होता है यह जानने के लिए यह ज्ञात करना उपयुक्त रहेगा कि साम्राज्यवाद के उद्देश्य अथवा कारण क्या हैं।

1 डार्विन का सिद्धान्त (Darvin's Theory)—डार्विन ने जीव विज्ञान मे दो सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया। पहला था जीवन के लिए सघर्ष (Struggle for Existence) और दूसरा था योग्यतम का उत्तर जीवन (Survival of the Fittest)। ये सिद्धान्त सामाजिक जीवधारी रचना (Social Organism) पर लागू नही होते, फिर भी ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो का एक महत्त्वपूर्ण अग बन गए हैं। लैंगर (Langer) के मतानुसार इसने विस्तार के लिए एक दैवी अनुमोदन (Divine Sanction) प्रदान किया है।

साम्राज्यवाद मूल रूप से मनुष्य की लुटेरी प्रवृत्तियो का परिणाम है। जिस प्रकार छोटी मछली को बडी मछली निगल जाती है उसी प्रकार छोटे राष्ट्रो का बडे और शक्तिशाली राष्ट्रो द्वारा शक्ति तथा हिंसा द्वारा शोषण किया जाता है। राज्यो मे शक्ति के लिए सघर्ष (Struggle for Power) बहुत पहले से ही पाया जाता है। प्रो शूमाँ *(Schuman) के विचार से आधुनिक साम्राज्यवाद शक्ति प्राप्त करने* की इच्छा तथा विजय प्राप्त करने की लालसा की एक नई अभिव्यक्ति है। प्रायः सभी तानाशाह और सर्वाधिकारवादी राज्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे साम्राज्यवाद का समर्थन और अनुपालन करते हैं। जिस प्रकार साम्यवादी चीन विश्व को भडे के नीचे लाना चाहता है वैसे ही हिटलर भी सारे विश्व को जर्मनी के अधीन लाना चाहता था। मुसोलिनी ने शक्ति एव साम्राज्य प्राप्ति की इच्छा को ही फासिस्ट राज्य बताया था। उसके मतानुसार साम्राज्यवाद का अर्थ प्रादेशिक, सैनिक और व्यापारिक विस्तार के साथ आध्यात्मिक और नैतिक प्रसार भी था। साम्राज्यवादी विस्तार को सर्वाधिकारवादी देश द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यही कारण है कि सर्वाधिकारवादी राज्यो की जनता अपने तानाशाहो की नीतियो को पूर्ण समर्थन प्रदान करती है। हस कोहन (Hans Kohn) के मतानुसार साम्राज्यवाद में मनोवैज्ञानिक लक्ष्यो का बडा महत्त्व है। साम्राज्यवादी देश की जनता स्वयं राज्य से अधिक उच्च है तथा साम्राज्य को अपने सम्मान, गौरव एव प्रतिष्ठा का प्रतीक मानती है।[1]

2 बढ़ती हुई आबादी (Growing Population)—यह तर्क दिया जाता है कि बढी हुई जनसख्या को बसाने के लिए नए साम्राज्य बनाना और नए उपनिवेश

1 *William L. Langer* : 'A Critique of Imperialism', Foreign Affairs, XIV (Oct. 1935), p. 109.

प्राप्त करना आवश्यक है। इटली, जापान आदि देशों ने समय-समय पर अपनी नीतियों के समर्थन में इस प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए थे। किन्तु यथार्थ में यह तर्क अधिक सार्थक नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि साम्राज्यवादी देशों की बहुत थोड़ी जनता उपनिवेशों में जाकर बसती है। जब तक जितने लोग उपनिवेशों में जाकर बसते हैं, तब तक देश में उतने नए लोग जन्म ले लेते है।

3 आर्थिक उपलब्धियाँ (Economic Achievements)—आर्थिक कारण प्रारम्भ से ही साम्राज्यवाद के सबसे अधिक मौलिक कारणों में से एक रहा है। साम्राज्यवादी देशो में प्राय कच्चे माल की कमी पाई जाती है। वे इस कमी को अपने उपनिवेशो से पूरा करते हैं। डॉ शाक्ट (Dr. Shacht) के अनुसार विश्व की राजनीति मे होने वाले अधिकाँश संघर्षों का आधार कच्चे माल की प्राप्ति होता है। साम्राज्यवादी राज्य प्राय: औद्योगीकृत (Industrialized) हैं। उत्पादित माल को खपाने के लिए उपनिवेशों में बाजार खोजे जाते हैं। इसी अर्थ में चेम्बरलेन कहा करता था कि साम्राज्यवाद का अर्थ है 'वाणिज्य'। दूसरी ओर कुछ विचारकों के मतानुसार साम्राज्यवाद द्वारा वाणिज्य को अधिक लाभ नहीं मिल पाता। ब्यूअल (Buell) के अनुमान से विश्व के व्यापार का पाँचवाँ भाग उन देशों के साथ होता है जो साम्राज्यवाद के अधीन हैं जबकि स्वतन्त्र देशों के साथ होने वाले व्यापार की मात्रा 4/5 भाग है। साम्राज्यवाद एक देश को ऐसे अवसर प्रदान करता है कि वह विदेशों में पूँजी लगा सके। अमेरिका ने विभिन्न देशो में पूँजी लगा रखी है, यही कारण है कि वह उन देशों की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित करता रहता है। यह डॉलर कूटनीति (Dollar Diplomacy) कहलाती है। कुछ विचारकों के अनुसार तो यह उतनी ही उपयोगी तथा प्रभावशाली होती है जितनी कि एक सशस्त्र सेना। प्रो. पामर तथा पर्किन्स ने साम्राज्यवाद होने वाली इन समस्त आर्थिक उपलब्धियों का अच्छा विवेचन किया है।

साम्राज्यवाद का आर्थिक कारण पर्याप्त लोकप्रिय माना जाता है। साम्यवादी विचारकों ने, मुख्य रूप से लेनिन ने, साम्राज्यवाद को पूँजीवाद के अन्तर-विरोधों का ही परिणाम माना है। लेनिन की व्याख्या के अनुसार पूँजीवाद मे एकाधिकार की प्रवृत्ति का विकास होता है और अतिरिक्त उत्पादन की व्यवस्था के कारण वह खपत के लिए बाजारों की माँग करता है। पूंजीवादी व्यवस्था की इस माँग के कारण ही साम्राज्यवाद के बल पर अतिरिक्त भूमि प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। साम्राज्यवाद और आर्थिक तत्त्व के बीच इतना गहरा सम्बन्ध है कि साम्राज्यवाद के एक रूप को ही आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। बारबरा वार्ड (Barbara Ward) के मतानुसार आर्थिक साम्राज्यवाद वह होता है जिसमें एक बाहरी शक्ति स्थानीय साधन-स्रोतों को अपने अधिकार में कर लेती है और उन्हें मुख्य रूप से या पूरी तरह से अपने लाभ के लिए प्रयुक्त करती है। आजकल यह परिभाषा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि आज की आर्थिक स्थिति में

विभिन्न देश आर्थिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर हैं। ऐसी स्थिति में अनेक नए राजनीतिक एवं नैतिक विरोधाभास उत्पन्न होते हैं।

विदेशी आर्थिक प्रभाव व्यक्तिगत पूंजी लगाने से हो सकता है और सरकारी आर्थिक कार्यों द्वारा भी। किन्तु इस नियन्त्रण की मात्रा और विधियां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ बड़े औद्योगीकृत देश अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की पूंजी, बाजार और विनिमय व्यवस्था को मुख्यत निजी उद्यमो के माध्यम से नियन्त्रित करते हैं। मध्यपूर्व से जो तेल का व्यापार किया जाता है वह बहुत कुछ व्यक्तिगत विदेशी निगमो के माध्यम से किया जाता है, यद्यपि इन क्रियाओ से स्थानीय राजनीतिक इकाइयां भी लाभान्वित होती है। आर्थिक कार्यों की सम्पन्नता के तरीके के आधार पर ही यह निश्चित किया जाता है कि इसे हम सहयोगी विकास के रूप मे वर्गीकृत करें अथवा साम्राज्यवादी शोषण के रूप मे। आधुनिक काल मे सरकार द्वारा जो विदेशी सहायता कार्यक्रम सचालित किए जाते हैं उनको भी साम्राज्यवाद का प्रतीक माना जाता है।

4. व्यक्तिगत उपलब्धियां (Personal Gains)—साम्राज्यवादी कार्यक्रमो द्वारा बहुत से लोगो का पोषण होता है। इससे साम्राज्यवादी देश के व्यापारियों को लाभ होता है क्योंकि उनको उत्पादन बढाने की प्रेरणा और स्रोत दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। उनको पर्याप्त रूप से कच्चा माल मिल जाता है तथा निर्मित माल की खपत के लिए बाजार भी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद के साथ देश के व्यापारियो के हित जुड जाते है और यही कारण है कि वे इन नीतियो को पूर्ण समर्थन प्रदान करते है। साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ विदेशी उप-वाणिज्य दूतो (Pro-consuls), कूटनीतिज्ञो (Diplomats) तथा विदेशी असैनिक प्रशासन-अधिकारियों (Civil-Servants) के अनेक स्थान रिक्त होते हैं। फलत साम्राज्यवादी देश के अनेक नागरिको को इससे रोजगार प्राप्त होता है। इन सबके अतिरिक्त साम्राज्यवादी देश की सेना के एक बहुत बडे भाग का विदेशी खर्च पर पोषण होता है। कहा जाता है कि सन् 1945 से पूर्व प्रत्येक चार अंग्रेजो मे से एक की जीविका का भार भारत पर पडता था। साम्राज्य के कारण जिन लोगों का स्वार्थ पूरा होता है वे अपेक्षाकृत देश के स्वशासित होने के प्रत्येक उपाय का दृढ़ता से विरोध करते हैं। साम्राज्यवाद मे निहित स्वार्थ रखने वालो का एक वर्ग बन जाता है जिसका सदैव यही प्रयास रहता है कि साम्राज्य का विस्तार और सरक्षण हो।

5 राष्ट्रीय सुरक्षा (Defence of the Nation)—सुरक्षा की दृष्टि से प्राय शान्तिप्रिय देश भी साम्राज्यवादी नीतियो को अपनाने लगते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह एक बडा विरोधाभास है कि यदि कोई देश शान्ति का समर्थक एवं इच्छुक है तो उसे बडे से बड़े युद्ध का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए क्योंकि कमजोर देश शक्तिशाली देशों के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के शिकार बन जाते हैं। दूसरे शब्दो मे निष्कर्ष यह है कि यदि आप किसी अन्य राष्ट्र का साम्राज्य बनने से बचना चाहते है और अपने देश की सुरक्षा चाहते है तो

साम्राज्यवाद के पथ पर आगे बढ़िये। अपने देश की सीमाओं को शत्रु से संरक्षित रखने के लिए सीमा के निकटवर्ती इलाकों को रक्षित-राज्य, अर्द्ध रक्षित राज्य, प्रभावकारी क्षेत्र अथवा मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) बना देना उपयोगी रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रूस से भारत की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन ने अफगानिस्तान, फारस और तिब्बत आदि राज्य से मध्यवर्ती राज्य (*Buffer State*) का काम लिया था। अधिकृत राज्यों के कच्चे माल और मनुष्य-शक्ति (Man-power) का प्रयोग कर साम्राज्यवादी देश अपनी अर्थ-व्यवस्था को भी मजबूत बना सकता है।

6. साम्राज्यवाद का धार्मिक आधार (Religion as the basis of Imperialism)—धर्म-प्रचारकों और साम्राज्यवादियों के हित प्राय. एक स्थल पर जाकर मिल जाते हैं। जहाँ धर्म-प्रचारक यह चाहता है कि उसकी बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य-शक्ति उसका समर्थन करे, वहाँ साम्राज्यवाद यह सोचता है कि उसकी नीतियों की बर्बरता को ढकने के लिए और नीतियों को एक आदर्शवादी रूप प्रदान करने के लिए धर्म प्रचारकों का सहयोग मिल जाए। फलतः दोनों का स्वार्थपूर्ण गठबन्धन हो जाता है और सेनाएँ 'जिहाद' या 'धर्म युद्ध' का नाम लेकर साम्राज्यवादियों की महत्त्वाकांक्षाओं को तृप्त करने के लिए आगे बढ़ती चली जाती हैं। इतिहास में ऐसे गठबन्धनों द्वारा साम्राज्य-निर्माण के उदाहरणों की कमी नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी में 'स्याम' पर फ्रांस का अधिकार जेसुइट (Jesuit) धर्म-प्रचारकों द्वारा किया गया था। अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार में लन्दन की धर्म-प्रचार-समिति (Missionary Society) ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। अमेरिकी राष्ट्रपति काल्विन कूलिज (Calvin Coolidge) का कहना था कि अमेरिका द्वारा जो सेनाएँ विदेशों में भेजी जाती हैं उनके साथ तलवार न होकर 'क्रास' (+) होता है।

धर्म-प्रचार का प्रभाव साम्राज्यवाद के निर्माण में तो अनुकूल रहता है, किन्तु जब उसकी रक्षा का प्रश्न आता है तो धर्म-प्रचार अप्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवादी बन्धनों को ढीला करता है। भारत में राष्ट्रीयता के उदय के कारणों में धर्म-सुधार आन्दोलनों का बड़ा महत्त्व है। ईसाईयों मिशनरियों द्वारा भारतीयों को सुशिक्षित, जागरूक, स्वतन्त्रता-प्रेमी एवं मानवतावादी बनाकर अनजाने ही साम्राज्यवादियों का विरोध करने के योग्य बना दिया गया था।

7. मानवतावादी दृष्टिकोण (Humanistic Outlook)—साम्राज्यवादी नीतियों के समर्थक मानवतावादी तर्कों के आधार पर अपने पक्ष का पोषण करते हैं। यह कहा जाता है कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ पिछड़े हुए देशों में व्याप्त अज्ञान, अविकसित शासन, न्याय सम्बन्धी आदिम विचार आदि बुराइयों को दूर करके वहाँ ज्ञान, विकसित शासन तथा आधुनिक विचारों की स्थापना करती हैं। असभ्य देशों में जहाँ दासता, मनुष्य भक्षण, कर्जदारी, सूदखोरी आदि की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, वहाँ साम्राज्यवादी देशों द्वारा सभ्यता का दीप जलाया जाता है। साम्राज्यवाद के समर्थक सीनेटर बेवरिज (*Beveridge*) का कहना था कि ईश्वर ने हमें (अमेरिकियों

को) प्रशासकीय दक्षता प्रदान की है और हमारा यह कर्त्तव्य है कि जंगलियों तथा असभ्यों पर शासन करें। सन् 1893 ई में डिजरेली (Disraeli) ने घोषणा की थी कि यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम अफ्रीका को सभ्य बनाने के कार्य में हाथ बटाएं। साम्राज्यवादी देशों के अधिकांश विचारक साम्राज्यवाद को मानवता की कसौटी पर वांछनीय ठहराते हैं किन्तु अधिकृत राज्यों अथवा साम्राज्यवादी शक्तियों से शासित राज्यों के विचारक इस दृष्टिकोण के समर्थक नहीं है। अपवादस्वरूप कुछ विचारकों को छोड़कर अधिकांश तो साम्राज्यवाद के काले कारनामों का ही चित्रण करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवतावादी तर्कों द्वारा साम्राज्यवाद को न्यायोचित ठहराना तथा इसे काले लोगों को सभ्यता सिखाने के गोरे लोगों के उत्तरदायित्व (The Wh te Man's Burden) की पूर्ति बताना एकपक्षीय, भ्रामक एवं मिथ्या तर्कों पर आधारित है।

साम्राज्यवाद के रूप (Forms of Imper alism)

साम्राज्यवाद को चाहे पामर तथा पर्किंस द्वारा परिभाषित अर्थ में लिया जाए अथवा मॉर्गेन्थो द्वारा परिभाषित अर्थ में, हम देखते हैं कि मात्रा और गुण के अनुसार इसके कई रूप हो सकते हैं। यदि 'साम्राज्यवाद' उच्च और निम्न (Super.or and Infer or) के बीच शक्ति-सम्बन्धों (Power Relations) का नाम है तो हमें यह भी देखना होगा कि (Superior ty) किन-किन विषयों में उच्चता है और किन-किन में नहीं है तथा सर्वोच्चता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। इस दृष्टि से साम्राज्यवाद के निम्न रूप हो सकते हैं—

1 संरक्षित तथा अर्द्ध-संरक्षित राज्य (Protectorate and Sem -protectorate)
2 प्रभाव के क्षेत्र (Spheres of Influence)
3. बाह्य प्रादेशिकता (Extra-territoriality)
4 अनौपचारिक नियन्त्रण (Informal Control)
5 शुल्क का नियन्त्रण (Tarrif Control)
6 संयुक्त विदेशी प्रशासन (Condomin um)
7 आर्थिक नियन्त्रण (Financial Control)
8. पट्टा (Lease-hold)

साम्राज्य-निर्माण में जो साधन अपनाए जाते हैं उनके अनुसार मॉर्गेन्थो ने साम्राज्यवाद के तीन रूपों का वर्णन किया है। उसके मतानुसार साम्राज्यवाद की स्थापना के लिए सैनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीन साधनों को अपनाया जा सकता है। ये साम्राज्यवाद के साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य भी तीन प्रकार के हो सकते हैं—

1 राजनीतिक रूप से संगठित सारी पृथ्वी पर शासन करना।
2. केवल महाद्वीपीय प्रदेशों पर शासन करना।
3. स्थानीय प्रदेशों पर शासन करना।

इन साध्यो को प्राप्त करने के लिए जो सैनिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक साधन अपनाए जाते हैं उनको प्रायः साध्य समझने की भूल कर दी जाती है। साधनो के अनुसार *साम्राज्यवाद का रूप भी बदल जाता है। सैनिक साम्राज्यवाद* मे सैनिक विजय (Military Conquest) की जाती है, आर्थिक साम्राज्यवाद मे दूसरे लोगो का आर्थिक शोषण किया जाता है, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद में एक सस्कृति के स्थान पर दूसरी सस्कृति की प्रस्थापना की जाती है। इन तीनों ही रूपों के अधीन जो भी नीतियाँ अपनाई जाती हैं उनका लक्ष्य साम्राज्यवादी अर्थात् वस्तु-स्थिति (Status-quo) को बदलना होता है।

साम्राज्यवाद का सबसे स्पष्ट और अत्यन्त प्राचीन रूप सैनिक विजय है। आज तक जितने भी विजेता हुए हैं, वे प्राय सभी बडे-बड़े साम्राज्यवादी थे। सैनिक साधनों से जब साम्राज्य-निर्माण का कार्य किया जाता है तो पराजित राज्यो को इसकी प्रक्रिया बडी शीघ्रता से होती है और वे भी उन्ही साधनों एवं नीतियो को अपनाते हैं जो साम्राज्यवादी राष्ट्रो द्वारा अपनाई थी। इस प्रकार 'साम्राज्यवाद' साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देता है। साम्राज्यवाद का दूसरा रूप 'डॉलर साम्राज्यवाद' कहलाता है। यह आधुनिक युग की उपज है तथा सैनिक साम्राज्यवाद की तुलना में कम विध्वंसात्मक तथा कम प्रभावशाली है। इन दोनो से भिन्न सांस्कृतिक साम्राज्यवाद एक सूक्ष्म साधन है। यदि कोई देश इसका सफल प्रयोग कर सकता है तो यह माना जाएगा कि उसकी साम्राज्यवादी कुशलता तीक्ष्ण है। मॉर्गेन्थो कहते हैं कि साम्राज्यवाद के इस रूप का उद्देश्य न तो प्रदेश जीतना होता है और न उसके आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करना; इसका लक्ष्य तो व्यक्तियों के मस्तिष्कों को जीतना व उस पर नियन्त्रण करना होता है ताकि दो देशों के बीच के शक्ति-सम्बन्धों को बदला जा सके। आजकल सांस्कृतिक साधन को साम्राज्यवाद के अन्य साधनों के सहायक के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। इसके द्वारा शत्रु को नम्र बना कर सैनिक आक्रमण अथवा आर्थिक शोषण के लिए भूमि तैयार की जाती है।

साम्राज्यवाद का मूल्यांकन : दोष एवं प्रतिरोध
(Imper'alism-An Evaluation)

दोष—अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बारे में प्राय यह कहा जाता था कि अंग्रेजी साम्राज्य विश्व-व्यापी न्याय और उदारता का चिरन्तन स्रोत (Perennial Spr ng) है जिस पर कभी सूर्य अस्त नही होता। कोह्न (Kohn) का विचार है कि एशिया और अफ्रीका में जातीय एव आर्थिक शोषण, गरीबी और युद्धो की रचना करने वाला साम्राज्यवाद नही था क्योंकि ये सारी बातें वहाँ पहले से ही वर्तमान थी। एशिया के लोग एशिया के दूसरे निवासियो को दास बनाते थे तथा अफ्रीकी जातियाँ दूसरी अफ्रीकी जातियों को अपना दास बना लेती थी। कोह्न के अनुसार पश्चिमी साम्राज्यवाद मे अन्य दोष हो सकते है, किन्तु यह तो सच है कि इन प्रदेशो मे उन्होंने जागृति फैलाई और सभ्यता का पाठ पढ़ाया। पामर तथा पर्किन्स के मतानुसार साम्राज्यवाद के समर्थको द्वारा जो तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं उनमे बहुत कुछ सत्य है।

साम्राज्यवाद के लाभ और हानियों का लेखा-जोखा करने के बाद अधिकांश विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह एक बुराई है। इससे प्राप्त होने वाले जिन लाभों की *आशा की जाती है वे काल्पनिक अधिक हैं। यदि वे प्राप्त भी होते हैं तो* इस रूप मे प्राप्त होते हैं कि उनका महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। साम्राज्यवाद का इतिहास हिंसा, युद्ध, दमन, शोषण, असमानता और बर्बरतापूर्ण कारनामों से भरा हुआ है। साम्राज्यवाद विश्व-शान्ति के लिए राहु के समान है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व बार्न्स (Barnes) ने लिखा था कि "ब्रिटेन इतने बडे साम्राज्य का अकेला ही स्वामी था, यह बात विश्व-शान्ति से मेल नही खाती, क्योंकि ससार के अन्य पूँजीवादी देशो की यह शिकायत रहती थी कि इसके कारण उनको ससार के व्यापार और भू-प्रदेशो मे उचित भाग नही मिल पाता।' ऐसे असन्तुष्ट वातावरण मे विश्व-शान्ति 'कच्चे धागो पर झूलती है।'

साम्राज्यवाद अमानवीय है। साम्राज्यवाद के समर्थन में ये तर्क दिए जाते हैं कि "यह मनुष्यो को इसलिए गुलाम बनाता है ताकि वे स्वतन्त्रता का महत्त्व सीख सकें, वह उनका इसलिए दमन करता है ताकि उनमे स्वशासन के लिए प्रेम उत्पन्न हो सके, उनका इसलिए आर्थिक शोषण किया जाता है ताकि वे गरीब बनने के बाद उद्योगो मे बरबस पहल करना सीखें; तथा साम्राज्यवाद मे अधिकृत प्रदेश की जातियो को इसलिए हीन और तुच्छ समझा जाता है जिससे कि उनमे आत्म-सम्मान तथा परस्पर एकता की भावनाएँ जाग्रत हो सकें।" ये सभी तर्क बडे हास्यास्पद हैं तथा प्रायः उद्देश्य और परिणाम मे भ्रम पैदा करने के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं। यह हो सकता है कि साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप मे ये सब परिणाम निकलें किन्तु साम्राज्यवाद इन परिणामो को अपना लक्ष्य बनाकर कभी नही चलता। व्यवहार मे हम देख सकते हैं कि भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलनो को साम्राज्यवादी सरकार द्वारा किस प्रकार दबाया गया था, भारतीयो को राजनीतिक अधिकार एव स्वतन्त्रता कितने त्याग और बलिदान के बाद प्राप्त हुए थे। अब यह बहु बार विश्व को भुलावे मे नही रखा जा सकता कि इन सब नीतियो के पीछे (फूट डालो और राज्य करो के व्यवहार के पीछे) भारतवासियों को राजनीतिक रूप से प्रशिक्षित करने का लक्ष्य था। कोई यह स्वीकार नहीं कर सकता कि जनरल डायर ने भारतीयों को मशीनगनों से इसलिए भूना था कि उनका दूसरा जन्म किसी स्वतन्त्र और समृद्ध देश मे हो। पार्कर मून (Parker Thompson Moon) के मतानुसार अंग्रेज पहले-पहल भारत मे आए और आकर बस गए। इसका कारण यह नही है कि वे भारत की भलाई चाहते थे बरन् यह था कि वे ब्रिटेन की भलाई चाहते थे। *महात्मा गाँधी कहा करते थे कि भारत मे अंग्रेजी कानून के शासन (Rule of* Law) का लक्ष्य जनता का शोषण था।

साम्राज्यवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी है। राजनीतिक दासता को साम्राज्यवाद का अभिन्न अग माना जाता है। साम्राज्यवादी शक्तियों की निरन्तर पराधीनता मे रहने वाले लोग स्वतन्त्रता को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार बहुत दिनों

वाद समझ पाते हैं। लोग पालतू कुत्तों को प्रायः इसलिए माँस नहीं देते कि कहीं किसी दिन भूल से अपने स्वामी को काट लें। यही मनोवृत्ति एक साम्राज्यवादी शासन की होती है। अपनी औपनिवेशिक जनता का शोषण करने वाली साम्राज्यवादी सरकार उसे वास्तविक स्वतन्त्रता देना चाहेगी, यह आशा नहीं की जा सकती। अत्याचार, दमन और परतन्त्रता की चक्की में पिसती हुई जनता जब क्रान्तिकारी बन जाती है, स्वाधीनता के लिए तड़पने लगती है और साम्राज्यवादी शक्ति समझ जाती है कि उस जनता को अब अधिक समय तक गुलाम बनाए नहीं रखा जा सकता, तभी वह उसे स्वतन्त्रता देने को विवश होती है। भारत का स्वाधीनता आन्दोलन इस बात का जीता-जागता ज्वलन्त प्रमाण है।

प्रतिरोधात्मक उपाय और कठिनाइयाँ—साम्राज्यवाद के दोषों के सन्दर्भ में यह विचार किया जाने लगा है कि साम्राज्यवाद का विरोध किस प्रकार किया जाए। कुछ विचारकों ने साम्राज्यवाद को समाप्त करने के बजाए उसे संशोधित करने के उपाय सुझाए हैं। पार्कर मून (Parker Moon) का कहना है कि साम्राज्यवाद मध्य-विक्टोरियन युग का बचा खुचा अंश है जो एक नितान्त गैर-विक्टोरियन युग में कायम है। यदि संक्रमणकाल में साम्राज्यवाद अपना औचित्य सिद्ध करना चाहता है तो उसे शोषण-मूलक न होकर उत्तरदायित्व-मूलक होना चाहिए। कुछ विचारकों के मतानुसार साम्राज्यवाद को बदलने, संशोधित करने या अन्त करने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की भावना का प्रचार करके लोगों की मनोवृत्ति को बदलने की आवश्यकता है। दूसरे लोग साम्राज्यवाद को संशोधित करने के लिए निम्न सुझाव देते हैं—

1. गोरी जाति को उच्चता प्रदान न की जाए,
2. साम्राज्यवादी देश मजदूरों का शोषण न करें;
3. पिछड़े देशों में व्यक्तिगत पूँजी के प्रयोग को नियन्त्रित रखा जाए;
4. पिछड़े देशों को स्वशासन के योग्य बनाया जाए;
5. बार्न्स (Barnes) के मतानुसार साम्राज्यवाद की जड़ें हिलाने के लिए उसके मुख्य आधार पूँजीवाद पर चोट की जाए। यह अच्छा रहेगा कि मातृदेश में पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना की जाए।

पूँजीवाद का विरोध करने के लिए मॉर्गेन्थो ने उन नीतियों का वर्णन किया है जो विभिन्न देशों द्वारा समय-समय पर अपनाई जाती रही है। ये नीतियाँ मुख्य रूप से तीन हैं—

1. तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement)
2. घेराबन्दी नीति (Policy of Containment)
3. भय की नीति (Policy of Fear)

मॉर्गेन्थो का कहना है कि साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में जब कोई राष्ट्र तुष्टिकरण या भय की नीति अपनाता है तो उसके कार्यों का परिणाम प्रायः

साम्राज्यवाद को सङ्गठित व अधिक शक्तिशाली बनाने के रूप में होता है। साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने के मार्ग मे कई कठिनाइयाँ हैं—

प्रथम, विजय की नीति को तभी साम्राज्यवादी माना जा सकता है जबकि वह यथा-स्थिति (Status-quo) को बदलने का प्रयास करे, किन्तु यह अन्तर बडा कठिन है कि कौन-सी नीति वास्तव मे साम्राज्यवाद की परिधि मे आती है और कौन-सी नही।

दूसरे, जब एक देश यथा-स्थिति कायम रखने की नीति अपनाता है तो यह निश्चित नही रहता कि वह अपनी इस नीति को छोड़कर कब साम्राज्यवादी बन जाएगा।

तीसरी, जब तक एक देश स्पष्ट रूप से क्षेत्रीय विस्तार की नीति अपनाता है तो उसकी अन्य नीतियो के उद्देश्यो को भी क्षेत्र (Territory) के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि यह देश अमुक प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। किन्तु परेशानी तो एक देश द्वारा अपनाई गई सांस्कृतिक तथा आर्थिक नीतियो का उद्देश्य स्पष्ट करते समय होती है। यह जानना बहुत मुश्किल है कि एक देश द्वारा अपनाई जाने वाली सांस्कृतिक एव आर्थिक नीति का उद्देश्य साम्राज्यवादी है अथवा नही। स्विट्जरलैण्ड द्वारा विश्व के प्रदेशो मे सक्रिय आर्थिक नीतियाँ अपनाई जाती हैं, किन्तु उनको साम्राज्यवादी नीति नही कहा जा सकता। इसी प्रकार स्पेन का लेटिन अमेरिका की सस्कृति मे प्रवेश साम्राज्यवाद की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता क्योकि अमेरिका की तुलना मे स्पेन की सैनिक शक्ति इतनी नही कि स्पेन द्वारा शक्ति-सम्बन्धो को अपने पक्ष मे परिवर्तित करने का कोई प्रयास किया जा सके।

चौथे, इन समस्त परेशानियो के बावजूद भी यदि यह प्रमाणित हो जाए कि एक देश की नीति साम्राज्यवादी है, तो यह कठिनाई आ उपस्थित होती है कि इस बात का निश्चय कैसे किया जाएगा कि साम्राज्यवाद का लक्ष्य क्या है अर्थात् यह देश केवल क्षेत्रीय आधिपत्य चाहता है या महाद्वीपीय अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी पर ही शासन करना चाहता है? सफलताओ और बदलती हुई परिस्थितियो के साथ-साथ प्राय. साम्राज्यवाद का लक्ष्य भी परिवर्तित होता रहता है। सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने का लक्ष्य लेकर चलने वाला देश जब प्रारम्भिक प्रयासो मे सफल नही हो पाता तो उसे अपना लक्ष्य बदलना पड़ता है। उसी प्रकार एक राज्य, जो केवल स्थानीय प्रदेशो पर ही अधिकार करने का लक्ष्य लेकर चलता है और इस लक्ष्य मे सफल हो जाता है तो वह महाद्वीप-विजय का और बाद मे सारी पृथ्वी पर शासन करने का उद्देश्य भी बना सकता है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद मे एक गतिशील ताकत (Dynamic Force) है। इस प्रकार साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ तथा उसकी प्रतिक्रियावादी नीतियाँ कभी निश्चित नही होती; दोनों ही बदलती रहती हैं तथा इनका मूल्यांकन भी समय-समय पर होना रहता है।

पाँचवी और अन्तिम कठिनाई यह है कि साम्राज्यवाद अपने आपको इस प्रकार प्रदर्शित करता है कि इसके सही रूप को नहीं समझा जा सकता। एक देश की विदेश-नीति अथवा साम्राज्यवादी नीति जैसी दिखायी देती है और जैसी वह वास्तव में होती है—इन दोनो के बीच भारी अन्तर रहता है। आज सर्वांगीण युद्ध के युग मे यह आवश्यक हो गया है कि साम्राज्यवाद के प्रसार को रोका जाए, उसका रूप परिवर्तित किया जाए और हो सके तो उसे समाप्त किया जाए। संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य शान्ति-दूत साम्राज्यवाद की विध्वंसकता को घटाने व इसके प्रसार को कम करने मे प्रयत्नशील हैं, किन्तु उनको कितनी सफलता प्राप्त हो सकेगी इसका निर्णय तो भविष्य ही करेगा।

उपनिवेशवाद एवं नव-उपनिवेशवाद
(Colonialism and Neo-Colonialism)

साम्राज्यवाद के सन्दर्भ मे हम प्रासंगिक रूप से उपनिवेशवाद पर कुछ चर्चा कर चुके हैं और बता चुके हैं कि दोनों के बीच का अन्तर इतना कम है कि प्राय. एक के लिए दूसरे का प्रयोग कर दिया जाता है। दोनो ही के तत्वों मे काफी कुछ समानताएँ पायी जाती हैं तथापि दोनों मे थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है। साथ ही यह भी है कि पुरातन उपनिवेशवाद के दिन लद चुके हैं और नए परिवेश मे उपनिवेशवाद नए ढंग से अपने प्रसार के लिए प्रयत्नशील है जिसे आधुनिक अथवा नव-उपनिवेशवाद की संज्ञा दी जाती है।

उपनिवेशवाद
(Colonialism)

उपनिवेशवाद आधुनिक साम्राज्यवाद का विकृत रूप है जिसका इतिहास कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज से प्रारम्भ होता है। पन्द्रहवी एवं सोलहवी शताब्दी मे यूरोप के शक्तिशाली, सम्पन्न और विकसित देशों ने नए क्षेत्रों की खोज करके वहाँ अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ कर दिए। साम्राज्यवादी शक्तियों ने प्रारम्भ में तो उपनिवेशों पर अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित किया और तब वे उनका आर्थिक शोषण करने लगे। साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद की इस दौड मे ब्रिटेन और फ्रांस काफी आगे निकल गए। जब उपनिवेशवासियों ने आर्थिक लूट का विरोध किया तो साम्राज्यवादी देशो के निवासियों ने उपनिवेशों मे बसना शुरू कर दिया। उनके इस प्रकार बस जाने को 'उपनिवेशीकरण' (Colonization) की संज्ञा दी गई। उपनिवेशवाद और उपनिवेशीकरण मे अन्तर को स्पष्ट करते हुए फ्रेंच विद्वान् रेमण्ड आरो (Raymond Aron) ने लिखा है, "उपनिवेशीकरण का अभिप्राय. एक राष्ट्र तथा दो जातियों से है जैसे दक्षिण अफ्रीका तथा रोडेशिया आदि मे हुआ जबकि उपनिवेशवाद से तात्पर्य दो राष्ट्र एवं दो जातियो से है। उपनिवेशवाद में शासक देश के अल्पसंख्यक साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतिनिधि रूप मे उपनिवेशो का प्रशासन चलाते हैं।"

उपनिवेशवाद को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। विन्स्लो (Winslow) के शब्दों मे, "यह अनाधिकृत भूमि पर आधिपत्य है जिसमे संघर्ष आकस्मिक रहा हो अथवा अनावश्यक हो तथा जो यूरोपवासियों की अपने रहने के लिए नई भूमि की खोज की आकांक्षा से अनुप्राणित हो।" वेब्स्टर शब्दकोश (Webster Dictionary) के अनुसार, "उपनिवेशवाद उन आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक नीतियो का नाम है जिन पर चलकर कोई साम्राज्यवादी शक्ति दूसरे क्षेत्रों अथवा लोगो तक अपना नियन्त्रण बनाए रखना अथवा उसका विस्तार करना चाहती है।" इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशवादियो का राजनीतिक लक्ष्य होता है—दूसरे लोगों के मन, व्यवहार, क्षमता तथा साधनो पर राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित करना, सामाजिक नीति का लक्ष्य होता है--शैक्षिक योजनाएँ चलाकर धर्म प्रचार को सहायता पहुँचाना तथा दूसरे लोगों के मस्तिष्क मे अपने विचार ठूंसना, आर्थिक नीति का लक्ष्य होता है—दूसरे देशो तथा वहाँ के निवासियो का आर्थिक शोषण करना। शोषणकारी आर्थिक नीति उपनिवेशवाद का सबसे मुख्य अग है। उपनिवेशवाद की दो प्रमुख विशेषताएँ होती है, प्रथम, अधीनस्थ लोगो को आत्म निर्णय के अधिकार से वचित रखना, एव द्वितीय, अधीनस्थ देश और उसके निवासियो का अधिकाधिक आर्थिक शोषण करना। ब्रिटेन ने भारत के साथ यही किया था। प्रारम्भ मे अग्रेज व्यापारी बनकर भारत आए, धीरे-धीरे वे यहाँ की राजनीति मे हस्तक्षेप करने लगे और फिर यहाँ के शासक बन बैठे और उन्होने देश का खुलकर शोषण किया। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका उपनिवेशवाद के केन्द्र बन गए। पुरातन उपनिवेशवाद का जो स्वरूप रहा है और नए चोले मे वह पुन किस प्रकार सक्रिय है—इसका विस्तार से स्पष्टीकरण आगे नव-उपनिवेशवाद के सन्दर्भ मे किया जाएगा।

नव-उपनिवेशवाद
(Neo-Colonialism)

प्रख्यात रूसी विद्वानो जुकोव, देल्यूसिन, इस्नेदेरोव तथा स्तेपानोव ने आधुनिक अथवा नव-उपनिवेशवाद पर विस्तार से चर्चा करते हुए पाश्चात्य राष्ट्रों को और सयुक्त राज्य अमेरिका को नव-उपनिवेशवाद के प्रसार के लिए दोषी ठहराया है। उन्होंने उपनिवेशवाद के प्रसार मे सयुक्त राज्य अमेरिका की मुख्य भूमिका की चर्चा की है। हम यहाँ उनके लेख के सारांश को प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे हमें उपनिवेशवाद के पुरातन स्वरूप और आधुनिक स्वरूप का भली-भाँति ज्ञान हो जाएगा। तथापि हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि नव-उपनिवेशवाद के प्रसार मे लगभग सभी महाशक्तियो तथा महानतम शक्तियों का किसी न किसी रूप मे हाथ है। लेख का सारांश इस प्रकार है—

"एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के युद्धोत्तरकालीन विराम मे सम्बन्धित साहित्य में कभी-कभी 'औपनिवेशिक प्रणाली' और 'उपनिवेशवाद' के बीच अन्तर न करने वाली तथा इन दोनों धारणाओं को समान मानने की प्रवृत्ति

पाई जाती है। चूंकि औपनिवेशिक प्रणाली समाप्त हो गई है, इसलिए निष्कर्ष निकाला जाता है कि उपनिवेशवाद भी खत्म हो गया है। किन्तु वास्तव में औपनिवेशिक प्रणाली का ध्वस्त होना किसी भी अर्थ में उपनिवेशवाद के अन्त का द्योतक नहीं है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के राष्ट्र नित्य ही यह अनुभव करते हैं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने और औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था समाप्त हो जाने पर भी वे विदेशी शोषण अथवा अपने आन्तरिक मामलों में क्रमबद्ध और बहुधा बहुत ही धृष्ट हस्तक्षेप से बच नहीं पाए हैं। शोषण और हस्तक्षेप की यह नीति ही आधुनिक उपनिवेशवाद अथवा नव-उपनिवेशवाद का स्वरूप है और इसे ऐसे तरीकों से अमल में लाया जाता है, जिन्हें साम्राज्यवादियों ने वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप बना लिया है।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों के लिए उपनिवेशवाद, अर्थात् दूसरे देशों तथा राष्ट्रों को अपने अधीन करने तथा उनका शोषण करने की नीति सबसे अधिक घातक रही है और आज भी है।

जब ये देश औपनिवेशिक प्रणाली के दृढ़ पाश में बँधे थे, उस समय की अपेक्षा अब उपनिवेशवाद के ध्येय और तरीके बहुत ही अधिक जटिल हो गए हैं। आजकल कोई भी साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी दूसरे देश पर न तो अपना प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर सकता है और न बिना किसी स्पष्ट मुआवजे के खुलेआम उसकी भौतिक सम्पदा को लूट सकता है। आधुनिक उपनिवेशवाद दूसरे देशों के राजनीतिक आर्थिक और आध्यात्मिक जीवन पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण से ही सन्तुष्ट रहने पर विवश है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों में इस समय जो आमूल सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं, वह उनके विकास को अपने स्वार्थ की दिशा में मोड़ने का प्रयास करता है। फलतः नव-उपनिवेशवाद परम्परागत उपनिवेशवाद से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसके रूप तथा तरीके बहुविध और इसके प्रभाव बहुत जटिल हैं।

फिर भी पुराने और नये उपनिवेशवाद की प्रकृति समान है। यही कारण है कि व्यवहार में नव-उपनिवेशवादी अपने ऐतिहासिक पूर्ववर्तियों के हथकण्डों का भी उपयोग खुलकर करते रहे हैं। लचीली तिकड़मबाजी और दलीलों के इस्तेमाल के साथ-साथ, जो नव-उपनिवेशवाद की विशेषता है, एशियाई, अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी देशों के राष्ट्रीय हितों तथा उनकी प्रभुसत्ता पर ऐसे सीधे और धृष्ट प्रहार किए जाते हैं कि औपनिवेशिक विजयों के युग के सबसे शर्मनाक काण्डों की याद ताजा हो जाती है।

यदि युद्धोत्तर काल में पुराने औपनिवेशिक साम्राज्य ध्वस्त हो रहे हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि साम्राज्यवादी एशिया अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में पुराने साम्राज्यों के ध्वंसावशेषों पर अथवा उनके निकटवर्ती इलाकों में अपने नये अधिकार तथा प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने की कोशिशें नहीं कर रहे हैं। संयुक्त राज्य

अमेरिका इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से सक्रिय है, फलत: अनेक देश एक प्रकार से आज के अमेरिकी उपनिवेशवादियों द्वारा अधिकृत भू-भाग हो गए हैं।

इसके कुछ उदाहरण ये हैं—हिन्दचीन की जनता के शौर्यपूर्ण राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस अचल मे फ्रांसीसी औपनिवेशिक प्रभुत्व समाप्त हुआ। चीनी जनक्रान्ति के फलस्वरूप अपदस्थ च्यांग-काई-शेक के गुट के ताईवान भाग जाने का लाभ उठाकर अमेरिकी साम्राज्यवादियो ने उस पर अर्थात् उस द्वीप पर कब्जा कर लिया, हालाँकि यह चीन का अविच्छिन्न भाग है। च्यांग-काई-शेक गुट की सुरक्षा तथा सुख-सुविधा को अपनी जिम्मेदारी बनाकर सयुक्तराज्य अमेरिका ने ताईवान को न केवल एक सैनिक शिविर तथा चीनी प्रतिक्रान्ति के अड्डे, बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की एक प्रकार की अग्रिम चौकी मे भी परिवर्तित कर दिया है।

किन्तु आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो को फिर भी ध्यान मे रखना पडता है और इसी कारण साम्राज्यवादी विजित देशों मे स्वदेशी सरकारो को रखने के लिए विवश है। झण्डा वही बना रहता है, परन्तु पराधीन देशो के लिए आधुनिक साम्राज्यवादी जुए का भार तनिक भी हल्का नहीं होता।

उपर्युक्त तथ्य हमे इस बारे मे विचार करने को मजबूर करते हैं कि क्या वर्तमान युग मे पुराने, कानूनी दृष्टि से स्पष्टत गठित औपनिवेशिक साम्राज्यो का स्थान नए 'अदृश्य' साम्राज्य तो नही लेने लगे? दूसरे शब्दो मे क्या औपनिवेशिक शासन-व्यवस्था का उन्मूलन एक प्रकार के औपनिवेशिक प्रभुत्व की जगह दूसरे प्रकार के औपनिवेशिक प्रभुत्व को कायम करना ही तो नही है।

यदि हम इस प्रश्न का ठीक उत्तर पाना चाहते हैं, तो हमे उन ऐतिहासिक शक्तियों को ध्यान में रखना होगा, जो एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका मे वर्तमान स्थिति का निर्धारण करती हैं। जिस काल मे इन तीन महाद्वीपों मे साम्राज्यवाद का एकछत्र आधिपत्य कायम था तब किसी एक उपनिवेश-स्वामी देश का अधिकार या प्रभाव खत्म हो जाने का अर्थ केवल यह होना था कि उसकी जगह किसी अन्य साम्राज्यवादी लुटेरे ने ले ली है। मिसाल के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ठीक यही हुआ, जब विजयी साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने पराजित जर्मनी के [illegible] हथिया लिया था। इसी प्रकार औपनिवेशिक साम्राज्यों के दौर मे अमेरिका ने विभिन्न उपनिवेशो तथा पराधीन देशो मे अपनी स्थिति बहुत ही प्रभावकारी बना ली, जिसके फलस्वरूप अमेरिकी झण्डा फहराए बिना ही अमेरिकी उपनिवेशवाद के अड्डे बन गए।

परन्तु इस समय, जब समाजवाद और राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलन एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के विकास की प्रवृत्तियों को निर्धारित करने वाले महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय कारक बनते जा रहे हैं, स्थिति आमूलचूल रूप से बदल गई है। अब मार भगाए गए किसी उपनिवेश-स्वामी देश द्वारा किसी अन्य उपनिवेशवादी को अपना शासन सौंपने का सवाल ही नहीं उठता। राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलन

उपनिवेशवाद को पीछे हटने के लिए विवश कर रहा है। इसका मतलब यह है कि विश्वव्यापी स्तर पर उपनिवेशवादियों का अधिकार और प्रभाव कम होता जा रहा है, परन्तु यह सोचना गलत होगा कि उपनिवेशवादी शासन की सभी सरहदें और चौकियाँ, सभी अधिकार और सभी सम्भावनाएँ पूर्णतया नव-उपनिवेशवाद, अर्थात् उपनिवेश-रहित उपनिवेशवाद को प्राप्त हो रही है। फलतः उपनिवेश-रहित उपनिवेशवाद को पीछे हटने वाला उपनिवेशवाद कहा जा सकता है।

किन्तु, फौजी मुठभेड़ों की भाँति इतिहास के क्षेत्र में भी सामाजिक शक्तियों के संघर्ष में आमतौर पर पीछे हटने का अर्थ यह नहीं होता कि अब आगे घमासान रक्षात्मक लड़ाइयाँ न होंगी, वगली जगी चालें न चली जाएँगी अथवा अस्थायी जवाबी हमले बिलकुल न होंगे। पीछे हटते समय उपनिवेशवाद इन सभी कार्यनीतिक हथकण्डों को अमल में लाता है। एशिया अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में अपनी स्थिति को कायम रखने तथा उसके विस्तार के प्रयास में उपनिवेशवाद किसी भी अनैतिक उपाय को काम में लाने से नहीं हिचकिचाता। वर्तमानकालीन राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का इरादा उपनिवेशवादियों के केवल प्रत्यक्ष कब्जे के अन्त, अर्थात् औपनिवेशिक शासन-प्रणाली के केवल उन्मूलन से कहीं अधिक है : उनके अप्रत्यक्ष नियन्त्रण के आधार का अन्त करना, दूसरे शब्दों में, आर्थिक निर्भरता को दूर करना। इस सम्बन्ध में उपनिवेशवाद न केवल राजनीतिक अथवा राजनीतिक-सैनिक दबाव और प्रभुत्व के तरीकों को काम में ला रहा है। वह आर्थिक कदमों की प्रपंचपूर्ण प्रणाली का उपयोग करता है और हाल ही में स्वाधीन हुए देशों में विचारधारात्मक तोड़-फोड़ के लिए प्रचार-कार्य शुरू करता है तथा भूतपूर्व उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में अलग-अलग नेताओं अथवा सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक तबकों को कभी-कभी विनीत एवं गूढ़ ढंग से, परन्तु बहुत खुलेआम तथा भद्दे ढंग में घूस देता है। अब विदेशी भू-भागों को हड़पने और पराधीन देशों में राजनीतिक प्रभुत्व को कायम रखने जैसे तरीके आधुनिक उपनिवेशवादियों द्वारा उपयोग किए जाने वाले उपायों में अपेक्षतः कम महत्त्व के हैं। इसलिए हालांकि उपनिवेशवादियों के कब्जे में आज भी कुछ उपनिवेश और प्रदेश हैं, फिर भी आज उपनिवेशवाद के कार्यकलाप का मुख्य क्षेत्र उनकी सीमाओं के बाहर है। पहले की भाँति उसमें एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका शामिल हैं, अन्तर केवल यह है कि अब उपनिवेशवादी इस तथ्य को दृष्टि में रखने के लिए विवश है कि इन तीनों महाद्वीपों के प्रायः सभी देश सार्वभौम राज्य हैं।

वर्तमान पूँजीवादी साहित्य में दो अन्त सम्बद्ध प्रस्थापनाएँ स्पष्टतः देखने में आती हैं, जो मुख्यतः नव-उपनिवेशवाद के सिद्धान्तकारों की धारणाओं का आधार बनती हैं। पहली प्रस्थापना से वे यह साबित करने की कोशिश करते है कि ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिवेशवाद अपरिहार्य था और उपनिवेशों, पराधीन तथा परतन्त्र देशों में पश्चिमी राष्ट्रों ने महत्त्वपूर्ण सभ्यकारी भूमिका अदा की है। दूसरी प्रस्थापना यह है कि उपनिवेशवाद के साथ ही साम्राज्यवाद भी विलुप्त हो

वर्ग द्वारा किसी अन्य राष्ट्र के शोषण और उत्पीड़न के अलावा और कुछ नहीं है। एशियाई तथा अफ्रीकी राष्ट्रों द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी उनका आर्थिक शोषण बन्द नही हुआ है। शोषण के केवल रूप और तरीके ही बदले हैं। लेनिन ने जोर देते हुए कहा था, न केवल हरेक परस्पर विरोधी सामाजिक ढांचे, बल्कि पूंजीवाद की प्रत्येक विकास अवस्था के भी औपनिवेशिक शोषण के अपने विशिष्ट ढंग होते हैं।

यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा सागर पार के देशों की भौतिक सम्पदा की सीधी सशस्त्र लूट आदिकालीन संचय का समानार्थक था, पर जब पूंजीवाद कायम हो रहा था, उस समय बेगार-प्रथा जैसे तरीकों से परतन्त्र राष्ट्रों को लूटा गया, औद्योगिक पूंजीवाद ने आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशो को अपने उपभोक्ता माल की मण्डियो मे परिवर्तित करके उनका शोषण किया, और अन्तत साम्राज्यवाद के प्रादुर्भाव के साथ उपनिवेश मुख्यतः कच्चे माल के स्रोतों और पूंजी-निवेश के क्षेत्रो के रूप मे महत्त्वपूर्ण हो गए। लेनिन ने लिखा है—"औपनिवेशिक नीति के अनेक 'पुराने' उद्देश्यो के साथ वित्तीय पूंजी ने कच्चे माल के स्रोतो के लिए, पूंजी के निर्यात के लिए, प्रभाव क्षेत्रों के लिए अर्थात् लाभप्रद सौदों, रियायती अधिकारों, इजारेदार मुनाफों आदि के क्षेत्रों के लिए, और अन्त मे आर्थिक दृष्टि से आम उपयोगी इलाकों के लिए संघर्ष जोड़ दिया है।"

औपनिवेशिक शोषण के मुख्य तरीकों का यह ऐतिहासिक तबादला न केवल उपनिवेश-स्वामी देशों मे पूंजीवाद द्वारा विकास की नई अवस्था में सक्रमण वरन् स्वयं उपनिवेशो और अर्द्ध-उपनिवेशों के सामाजिक-आर्थिक विकास की प्रक्रिया को भी प्रतिबिम्बित करता था।

इस बात से एक आधुनिक उपनिवेशवाद को मुख्यत बिना उपनिवेशों के काम चलाना और सामान्यतया राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के सामने पीछे हटना पड रहा है, तत्काल इस नतीजे पर नही पहुँच जाना चाहिए कि वह अब पहले की भांति खतरनाक नही है। यह देखते हुए कि वे अपना नियन्त्रण खो रहे हैं, आधुनिक उपनिवेशवादी कठिन क्षणो मे सर्वाधिक पाशविक तरीको अर्थात् फौजो का इस्तेमाल करते हैं। इससे आधुनिक उपनिवेशवाद केवल एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कुछ इलाकों के लिए नही, बल्कि सामान्यतया सारी दुनिया के लिए गम्भीर सैनिक खतरे का स्रोत बन गया है।

औपनिवेशिक प्रणाली के अनवरत विघटन की स्थिति मे उपनिवेशवाद ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का सामना करने के लिए बहुशाखीय सैनिक राजनीतिक मशीनरी खड़ी की। यह मशीनरी समूची भूतपूर्व औपनिवेशिक दुनिया मे काम कर रही है। इसमे बहुद्देशीय सैनिक-राजनीतिक गुट, साम्राज्यवादी शक्तियों और तीसरी दुनिया के अलग-अलग राज्यों अथवा निजामो के बीच द्विपक्षीय सैनिक गठबन्धन एशियाई, अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी देशो मे सैनिक (*स्थलीय, हवाई और नौसैनिक*) अड्डों का जाल कुछ देशों मे बड़ी संख्या मे साम्राज्यवादी फौजों की

तैनाती, नव-स्वाधीन देशों के सागरो मे साम्राज्यवादी देशों के नौसैनिक बेड़ो की सतत् उपस्थिति, और कुछ देशों की फौजो का भाड़े की साम्राज्यवादी फौजों मे रूपान्तरण शामिल है। नाटो (उत्तराण्टिक सन्धि संगठन), सेन्टो (मध्य सन्धि सगठन), सीटो (दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि सगठन), ऐंजुस (आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका का सैनिक गठबन्धन) और ओएस (अमेरिकी राज्यों का सगठन) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय गुट उपनिवेशवाद के सैनिक लक्ष्यों की पूर्ति करते हैं। मध्य तथा दक्षिण अमेरिका स्थित विदेशी सैनिक अड्डों मे अधिकांश संयुक्त राज्य अमेरिका के हैं जो साफ-साफ लैटिन अमेरिकी राष्ट्रों की राष्ट्रीय मुक्ति शक्तियों के विरुद्ध दण्डात्मक सैनिक कार्यवाइयो के लिए उन्हें चौकी मानता है।

नवोदित स्वाधीन राज्य की भूमि पर सैनिक अड्डे स्थापित करने तथा वहाँ अपनी सशस्त्र सेनाएँ तैनात करने का कानूनी अधिकार एक विदेशी शक्ति सामान्यतया सम्बन्धित देश से द्विपक्षीय समझौता करके प्राप्त कर लेती है। इसलिए सही तौर पर यह व्यवस्था पूर्णतया उचित प्रतीत हो सकती है यहा तक कि इससे 'समानता के आधार पर फौजी सहयोग' का भ्रम भी पैदा हो सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि आधुनिक उपनिवेशवादियो ने दबाव अथवा ब्लैकमेल के जरिए या इसे अधिक प्रीतिकर बनाने के लिए शासक गुट को घूस देकर ही इस प्रकार के सभी समझौते किए हैं।

तथापि देर-सबेर नवोदित राज्य स्पष्टत यह महसूस करने लगते हैं कि विदेशी सैनिक अड्डों के कायम रहने और विदेशी सैनिकों की उपस्थिति से उनके राष्ट्रीय हितो को काफी आघात पहुँचता है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देश अधिकाधिक शक्ति के साथ उपनिवेशवाद के इन दुर्गों को उद्ध्वस्त करने और इनके अस्तित्व को मान्यता देने वाली सन्धियो को रद्द करने पर जोर देने लगे हैं।

यदि औपनिवेशिक साम्राज्यो के ध्वस के इतिहास के पृष्ठो को पलटा जाए तो एक भी ऐसा साल दृष्टि मे नही आएगा जब किसी निवोदित सार्वभौम राज्य की राष्ट्रीय मुक्ति शक्तियों के विरुद्ध सशस्त्र दण्डात्मक आपरेशन न किया गया हो, सैनिक अभियान न छेड़ा गया हो अथवा सीधा साम्राज्यवादी आक्रमण न किया गया हो। जब कभी राष्ट्रीय क्रान्ति के बाद कोई राष्ट्र आमूल सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक सुधार के रास्ते पर कदम रखता है तो साम्राज्यवादियों का गुस्सा विशेष रूप से भड़क उठता है। उदाहरणार्थ, अरब देशों के विरुद्ध जून, 1967 के इजराइली आक्रमण का यही कारण था। ऐसे लोग भी हैं जो इसे केवल जातीय तथा धार्मिक भावनाओं की टक्कर का रूप प्रदान करना चाहते हैं, जबकि असल बात यह नही है। अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा समर्थित यह इजराइली आक्रमण मिस्र तथा सीरिया के क्रान्तिकारी जनवादी शासनो के विरुद्ध लक्षित था।

राष्ट्रीय पराधीनता के जुए को उतार फेंकने के बाद जब एक राष्ट्र तत्काल अपने जीवन को समाजवादी ढंग से पुनर्निर्मित करने लगता है तो इस बात से

आधुनिक उपनिवेशवादी आगबबूला हो उठते हैं। इसका प्रमाण पाने के लिए क्रान्तिकारी क्यूबा के घटना-क्रम पर दृष्टिपात करना ही पर्याप्त है, जिस पर सन् 1959 में बतिस्ता की तानाशाही का तख्ता उलटने के बाद से अमेरिका लगातार अपना दबाव डालता और उसके विरुद्ध आक्रमण करता रहा है। बीसवी सदी के सभी औपनिवेशिक युद्धों में सबसे अधिक पाशविक और शर्मनाक युद्ध वह था, जिसे अमेरिका साम्राज्यवादियों ने वियतनाम की वीर जनता के विरुद्ध छेड़ा था। वियतनाम की भूमि पर अमेरिकी साम्राज्यवाद परस्त शासन का समर्थन करने के इरादे की 'निर्दोष' घोषणाओं के साथ शुरू होने वाली नव-उपनिवेशवादी नीति अक्सर राष्ट्र की देशभक्त शक्तियों के विरुद्ध बाकायदा सैनिक कार्यवाही और उससे आसपास के इलाकों के भी उलझा लिए जाने का रास्ता खोल देती है, जिससे दुनिया की सुरक्षा और शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक या नव-उपनिवेशवाद का सैनिकतन्त्र प्राय: एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका की भूमि पर रक्तपात मचाता है। *वर्तमान समय में साम्राज्यवादियों द्वारा यत्र-तत्र शुरू किए गए औपनिवेशिक युद्ध* विशुद्ध स्थानीय महत्त्व के मामले नहीं रह गए हैं। साम्राज्वादी आक्रमण के खतरे से पूर्ववत् ग्रस्त एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देश समान हितों द्वारा समाजवादी देशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। *इसी कारण इस समय किसी भी औपनिवेशिक युद्ध से विश्वव्यापी युद्ध शुरू हो* सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उपनिवेशवाद के विरुद्ध हो रहा दृढ़ संघर्ष साथ ही विश्व शान्ति और सुरक्षा के लिए भी संघर्ष है।

आधुनिक या नव-उपनिवेशवाद खुले आक्रमण के अलावा नव-स्वाधीन देशों *तथा राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप के अन्य तरीकों और राष्ट्रीय मुक्ति* आन्दोलन पर दबाव डालने की अन्य रीतियों को भी काम मे लाता है।

नव-उपनिवेशवाद नवोदित सार्वभौम राज्यों की आर्थिक नाकेबन्दी करके बहुधा अपने उद्देश्यों को पूरा करने की कोशिश करता है। मिस्र को तेल की सप्लाई *बन्द करके तथा मिस्री कपास की खरीद पर रोक लगाकर इस देश को स्वेज नहर के* राष्ट्रीयकरण का इरादा त्याग देने के लिए विवश करने के प्रयास मे साम्राज्यवादियो ने सन् 1956 मे उस पर इस प्रकार का दबाव डाला था। सन् 1959 में फ्रांस ने अपने भूतपूर्व उपनिवेश गिनी के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की। जिसने अफ्रीका में विघटित फ्रांसीसी साम्राज्य का स्थान ग्रहण करने वाले नए औपनिवेशिक संगठन मे शामिल होने से इन्कार कर दिया था।

अनुदान और ऋण भी साम्राज्यवादियों द्वारा नवोदित सार्वभौम राज्यों की नीतियों को प्रभावित करने का एक और साधन हैं। सहायता-कार्यक्रम के अन्तर्गत दी गई धन-राशि अधिकांश मामलों में इन देशों के सत्तारूढ़ हल्कों को राजनीतिक घूस देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लाक्षणिक बात यह है कि अमेरिका द्वारा विकासमान देशों को सहायता के रूप मे दी गई धन राशि का करीब 80% ऐसी

सरकारों को दिया गया है, जो द्विपक्षीय समझौतों के अन्तर्गत तथा विविध सैनिक गुटों की सदस्यता के फलस्वरूप उसके सैनिक तथा राजनीतिक संघाती है। दूसरी ओर, आधुनिक उपनिवेशवादियों की आकांक्षाओं के प्रतिकूल नीतियों का अनुसरण करने वाले नवोदित स्वाधीन राज्य को 'दण्डस्वरूप' ऋण तथा अनुदान देना बन्द कर दिया जाता है तथा लागू आर्थिक समझौतों के अन्तर्गत मिलने वाली सप्लाई भी रोक दी जाती है।

नवोदित स्वाधीन राज्यों मे जहाँ भी सम्भव होता है, उपनिवेशवादी आज्ञाकारी कठपुतली शासन कायम करते हैं और अपने समर्थकों को राष्ट्रपति तथा मन्त्रियों के आसन पर बिठाते हैं। ऐसी कठपुतलियाँ अपने मालिकों की इच्छानुसार सर्वथा जनवाद-विरोधी नीतियों का अनुसरण करती है। फलतः कभी-कभी तो उपनिवेशवादियों की संगीनें और घूस भी उन्हें धराशायी होने से नही बचा पाती हैं, जैसा कि सन् 1960 मे दक्षिण कोरिया में सिंगमानरी की तानाशाही के साथ और इसके दो साल बाद दक्षिण वियतनाम मे 'ग्गो दिन दियेम' गुट के साथ हुआ। यही हश्र इराक के नूरी अल-सईद (1958), क्यूबा के बतिस्ता (1959), तुर्की के मेंदरीज (1960), डोमीनिकन गणराज्य के त्रुजिल्लो (1961), और कांगो (ब्राजविले) के फुलबर्ट योलोयू (1963) जैसे साम्राज्यवादी समर्थकों का हुआ, जो जन-आक्रोश की लहर मे बह गए। फिर भी, साम्राज्यवादी एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका मे यत्र-तत्र अपने दलालों को नेतृत्वकारी पदों पर बनाए रखने में सफल रहे हैं। कठपुतली सरकारें कायम करने की इस औपनिवेशिक नीति के फलस्वरूप अनेक प्रतिक्रियावादी राज्य विप्लव हुए हैं।

सशस्त्र आक्रामक कार्यवाइयाँ, आर्थिक नाकेबन्दियाँ और जरखरीद कठपुतली सरकारें, ये सभी बातें नवोदित स्वाधीन देशों के राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल है, और प्रासंगतः केवल मेहनतकश लोगों के ही नही, बल्कि स्थानीय पूंजीपति वर्ग के भी हितों के विरुद्ध हैं। दूसरे शब्दों में, आधुनिक या नव-उपनिवेशवादियों द्वारा अपनाई गई लुटेरू नीति का समर्थन भूतपूर्व उपनिवेशों तथा अर्द्ध-उपनिवेशों के मुट्ठी भर सामन्ती और फौजी-नौकरशाही तत्त्व ही करते हैं, क्योंकि वह केवल उन्हीं के रुझानों के अनुरूप हो सकती है।

प्रश्न पैदा होता है कि क्या सशस्त्र आक्रमण जैसे उपनिवेशवाद के हिंसात्मक रूप इसकी शक्ति के द्योतक हैं अथवा इसकी कमजोरी के? निस्सन्देह, इसका मतलब साम्राज्यवादियों की सैनिक शक्ति को आँकना नही है, क्योंकि हम जानते हैं कि उनके पास आधुनिकतम हथियारों से लैस बड़ी-बड़ी सेनाएँ और समुद्री बेड़े हैं। अतः इस प्रश्न का सम्बन्ध भूतपूर्व औपनिवेशिक साम्राज्य में साम्राज्यवाद की वर्तमान स्थिति को ढूढ़ना है।

हम इस पहलू की छानबीन कर चुके हैं और हमने इसे सिद्ध भी कर दिया है कि विश्वव्यापी स्तर पर तथा इतिहास की दृष्टि से उपनिवेशवाद पीछे हट रहा है। हम इस बात की ओर भी संकेत कर चुके हैं कि जब उपनिवेशवादी यह देखते है

कि उनके पैरों तले जमीन खिसक रही है तो वे अपनी सेनाओं का सहारा लेते है। अब हम इस दावे के अर्थ को कुछ अधिक स्पष्टता से समझा सकते है, जिसका सम्बन्ध उन देशों में उपनिवेशवाद के सामाजिक आधार से है, जिन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है अथवा जो प्राप्त करने की प्रक्रिया में हैं।

जब भी साम्राज्यवादी स्थानीय प्रतिक्रियावादियों के छोटे चाटुकार समूह का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते है, देश में तीव्र जन-आक्रोश का तूफान भड़क उठता है, जिसके फलस्वरूप उपनिवेशवादी जवाबी प्रहार के रूप मे सशस्त्र कार्यवाही का सहारा लेते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी कार्यवाहियों का कोई फल नहीं होता, क्योंकि उनके विरोध मे सारी जनता खड़ी होती है। दक्षिण वियतनाम मे इसी प्रकार की स्थिति का विश्लेषण करते हुए अमेरिकी सिनेटर जे. विलियम फुलब्राइट ने अपनी एक पुस्तक मे अमेरिका की वियतनाम सम्बन्धी कार्यवाही को नैराश्यपूर्ण जोखिम बताया था और अपने देशवासियों से "सच्ची राष्ट्रीय क्रान्ति को कुचलने का निर्मम और असम्भवप्राय कार्यभार हाथ मे न लेने" का अनुरोध किया है। संजीदा विचारों वाले दूसरे भी बहुत से प्रमुख पूँजीवादी नेता आधुनिक उपनिवेशवादियों द्वारा शुरू की गई दुस्साहसिक सैनिक कार्यवाहियों के इस मूल्यांकन से सहमत हैं।

अतः हमारे प्रश्न का उत्तर हो सकता है—"आधुनिक उपनिवेशवादी सशस्त्र हस्तक्षेप तथा बल-प्रयोग के अन्य तरीकों का सहारा इसलिए नहीं लेते कि वे शक्तिशाली हैं। उल्टे, इससे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका मे उनकी स्थिति की आम कमजोरी प्रकट होती है और उपनिवेशवाद के अनिवार्य विनाश का संकेत होता है।"

साम्राज्यवादी हल्कों के अनेक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने स्वाधीन देशो में अपनी नीतियों के लिए सामाजिक आधार को विस्तृत करने का महत्व महसूस कर लिया है। *उनके मतानुसार एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में पश्चिमी राष्ट्रों का* यही मुख्य दीर्घकालिक अथवा रणनीतिक उद्देश्य होना चाहिए। वे आधुनिक उपनिवेशवाद के 'कठोर' तरीकों की आलोचना मे समय-समय पर यही दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे दीर्घकालिक, विनम्र और सुव्यवस्थित तरीके से स्वाधीन राष्ट्रों को खुश करने की युक्ति अपनाने और तानाशाही तरीकों का परित्याग करने का सुझाव प्रस्तुत करते हैं। उनके मतानुसार इस प्रकार की युक्ति का अन्तिम लक्ष्य भूतपूर्व उपनिवेशों तथा अर्द्ध-उपनिवेशो मे ऐसे बड़े जनसमूहों और सार्वजनिक संगठनों को पैदा करना है जिनकी विचारधारा एवं राजनीतिक सद्भावना 'पश्चिमी जीवन-पद्धति', अर्थात् साम्राज्यवाद की ओर उन्मुख हो। इस ढंग से इस नीति के पोषकों को स्वाधीन देशों के जिम्मेदार सामाजिक समुदायों के साथ टिकाऊ मैत्री स्थापित करने तथा विभिन्न कठपुतली सरकारों के साथ तकलीफदेह और शर्मनाक साँठगाँठ को खत्म करने में सक्षम हो जाने की आशा है।

जिन विकासमान देशो मे बड़ा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग है, वहाँ साम्राज्यवादी स्पष्टतः उसी पर भरोसा करते है। किन्तु भूतपूर्व औपनिवेशिक दुनिया मे ऐसे देशों

की संख्या बहुत कम है, और आधुनिक उपनिवेशवादी अपनी समस्या का समाधान इसी में देखते हैं कि जहाँ ऐसा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग पहले से नहीं है, वहाँ उसे अस्तित्व मे लाया जाए। दूसरे शब्दों मे, वे भूतपूर्व उपनिवेशो और अर्ध-उपनिवेशो मे पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धो को 'रोपना' चाहते हैं।

नव-उपनिवेशवादियों ने जो सामाजिक-आर्थिक तरकीब अपनायी है, उसका यही सारतत्व है, उसका अन्तिम लक्ष्य है। पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत स्वाधीन देशो को बनाए रखना, जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय इजारेदार पूँजी उनका शोषण कर सकती है और विकास के गैर-पूँजीवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से उन्हे रोकना।

इस रणनीति के सिद्धान्तकार यह भी बताते हैं कि कैसे यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। वे सम्बन्धित देशो को कुछ रियायतें प्रदान करने, जैसे तटस्थता और सैनिक गुटो से अलग रहने की उनकी नीतियों को बर्दाश्त करने, उनके द्वारा उद्घोषित समाजवादी सिद्धान्तो तक की आलोचना न करने की और इस तरह अभूतपूर्व उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशो के पूँजीपति तथा निम्न पूँजीपति वर्ग को खुश करने का सुझाव प्रस्तुत करते हैं। विकासमान देशो को 'सहायता' प्रदान करना इस नव-उपनिवेशवादी रणनीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

नव-उपनिवेशवादी 'सहायता' को ही भूतपूर्व औपनिवेशिक दुनिया मे इस समय हो रही तीव्र सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने का सर्वोत्कृष्ट तरीका मानते हैं।

साम्राज्यवादी कठपुतली शासनो को वित्तीय अवलम्ब देने के लिए बहुधा अनुदानो और ऋणों का उपयोग करते हैं और इस प्रकार दीर्घकालिक दाँव-पेच द्वारा अपेक्षित आबादी के व्यापक हिस्सो, विशेष रूप से पूँजीपति और निम्न-पूँजीपति वर्ग की जगह, ऊपरी प्रतिक्रियावादी सामन्ती तथा सैनिक तबको से दोस्ती को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। यह सही है। मगर साथ ही यह भी सही है कि 'सहायता' को एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय घूस के रूप मे इस्तेमाल करने के अतिरिक्त साम्राज्यवाद प्राप्तकर्ता देशों पर सख्त राजनीतिक अथवा सैनिक शर्तें थोपे बिना उन्हें अधिकाधिक अनुदान तथा ऋण प्रदान करता जा रहा है। हाल के वर्षों मे यह बात *विशेष रूप से प्रकट हुई है और मुख्यतः इसका कारण समाजवादी राज्यों के साथ* स्वाधीन देशो का बढ़ता हुआ सहयोग है। तथ्य यह है कि साम्राज्यवादी अपनी *लूट पर अंकुश लगाने तथा अपने भूतपूर्व उपनिवेशो एवं अर्ध-उपनिवेशो को रियायतें* प्रदान करने के लिए विवश है, क्योकि ये देश सार्वभौम राज्य बनने के बाद समान अधिकारों तथा पारस्परिक लाभ के आधार पर समाजवादी देशो से आवश्यक ऋण, मशीनें और उपकरण प्राप्त सकते हैं। फलत. हाल के वर्षों मे पश्चिमी राष्ट्रों ने बहुधा अपेक्षाकृत कम ब्याज पर ऋण देना और पिछले ऋणो के भुगतान की अवधि लम्बा करना उचित समझा है। लेकिन इसके बदले में ऋण देने वाले साम्राज्यवादी राष्ट्र एक शर्त रखते है और वह यह है : पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को विकसित करने

और स्थानीय पूंजीपति वर्ग को सुदृढ़ बनाने के निमित्त ऋण पाने वाले देशों को पूंजीवादी सुधारों का कार्यक्रम अमल में लाना चाहिए।

आधुनिक उपनिवेशवाद के रणनीतिज्ञ विकासमान देशों के लिए 'तकनीकी सहायता' पर अपना विशेष ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका में साम्राज्यवादी विचारधारात्मक प्रसार के लिए 'तकनीकी सहायता' एक आवरण है, जिसके पीछे स्वाधीन देशों के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का प्रशिक्षण होता है और फिर वहाँ साम्राज्यवादी राज्यों से विशेषज्ञ, सलाहकार तथा प्रशिक्षक भेजे जाते हैं। वस्तुत एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के नवोदित स्वाधीन देशों में तकनीशियनों, डाक्टरों, शिक्षकों, अर्थशास्त्रियों और प्रशासकीय अधिकारियों की बहुत कमी है। औपनिवेशिक शासन-प्रणाली की यह सबसे निकृष्ट विरासत है। इसी लक्ष्य से वे विकासमान देशों के युवक-युवतियों को अपने कालेजों तथा विश्व-विद्यालयों में दाखिला देते हैं। आधुनिक उपनिवेशवाद एशियाई, अफ्रीकी, और लेटिन अमरीकी राष्ट्रों को इस प्रकार अभिभूत कर लेने, स्वाधीन देशों के यथासम्भव अधिक से अधिक लोगों के मन में पूंजीवादी प्रणाली और पश्चिमी जीवन-पद्धति के प्रति प्रशंसा भाव भरने का प्रयास करता है। अपने सलाहकारों और विशेषज्ञों के जरिये काम करते हुए आधुनिक उपनिवेशवादी आर्थिक और राजनीतिक विकास के लिए नवोदित स्वाधीन राज्यों पर पूंजीवादी परिपाटी थोपने की कोशिशें कर रहे हैं।

साम्राज्यवादी विचारधारात्मक प्रसार का एक रूप होने के नाते 'तकनीकी सहायता' स्वाधीन देशों में आधुनिक उपनिवेशवादियों द्वारा चलाये जाने वाले सतत प्रचार से भिन्न है, जिसमें पश्चिमी, अर्थात् पूंजीवादी जीवन-पद्धति की तारीफ करने वाले साहित्य, साम्राज्यवादी राष्ट्रों की नीतियों की प्रशंसा करने वाले रेडियो प्रसारणों और प्रचार के अन्य परम्परागत साधनों का व्यापक उपयोग किया जाता है। यह प्रचार किसी एक विकासमान देश का नहीं, अपितु एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के सभी देशों को समान रूप से सम्बोधित करता है। भूतपूर्व औपनिवेशिक दुनिया में नव-उपनिवेशवादियों का लक्ष्य स्पष्ट है वे अपने समर्थकों की एक जमात कायम करने में लगे हैं। अत स्वाधीन देशों में नव-उपनिवेशवाद की रणनीति का उद्देश्य वहाँ की सामाजिक आर्थिक प्रक्रियाओं तथा वहाँ के लोगों के बौद्धिक व मानसिक विकास पर साम्राज्यवादी नियन्त्रण स्थापित करना है। स्वाधीन देशों में पूंजीवादी प्रणाली कायम करने के लिए निर्धारित इस कार्यनीति का अन्तिम लक्ष्य उनमें बसे लोगों के राष्ट्रीय हितों के सर्वथा प्रतिकूल है, जो राष्ट्रीय मुक्ति क्रान्ति के वर्तमान दौर में अधिकाधिक रूप से विकास के गैर-पूंजीवादी रास्ते को पसन्द करते हैं।

आज के उपनिवेशवादियों के व्यवहार में विरोधाभास है। कुछ अवस्थाओं में वे नवोदित सार्वभौम राज्यों के प्रति सहिष्णुता की भावना प्रदर्शित करते हैं और उनकी माँगें भी स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु कुछ अन्य अवस्थाओं में नृशंस दमन के साथ उन पर टूट पड़ते हैं। सच बात तो यह है कि इसमें कोई असंगति है भी

नही। नव-उपनिवेशवादी रणनीति और दैनिक कार्यनीति दोनों स्वाधीन देशों के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप की ओर लक्षित है। केवल इस हस्तक्षेप के रूप बदल जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिन अवस्थाओ मे आधुनिक उपनिवेशवाद बल-प्रयोग की धमकी नही देता, उनमे भी स्वाधीन देशो के लिए इसका सभावित खतरा कम नहीं होता। जब नव-उपनिवेशवाद बहुत ही नेक रूप मे प्रकट होता है, उस समय भी उसका मुख्य उद्देश्य होता है विदेशी राजनीतिक बन्धन से मुक्त लोगो पर पूंजीवादी शोषण के जुए को लादना।

आज के नव-उपनिवेशवाद के स्वरूप की छानबीन समाप्त करने के पहले यह अवश्य ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि वह एक निश्चित आर्थिक आधार पर निर्मित ऊपरी ढाँचा है। हमने इस परिशीलन मे विश्व पूंजीवादी प्रणाली मे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशो की हीन और शोषित स्थिति के मुख्य लक्षणो की छानबीन की है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त और इजारेदार पूंजी द्वारा एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमरीकी देशो के जनबल तथा प्राकृतिक साधनो का शोषण ही स्पष्टत: वह आर्थिक आधार है, जिस पर नव-उपनिवेशवाद टिका हुआ है। यही वह आधार है, जिस पर सैनिक गुटो तथा सधियो, खुले हस्तक्षेप, कठपुतली सरकारों के आरोपण, कष्टदायक ऋण-नीति, स्थानीय पूंजीपति वर्ग को प्रलोभित करने की चाल आदि की अधिरचना अवलम्बित है।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशो मे साम्राज्यवाद आज भी आर्थिक दृष्टि से काफी गहरे बैठा हुआ है। इन देशों का प्राय दो-तिहाई विदेशी व्यापार विकसित पूंजीवादी राज्यों के साथ होता है और भूतपूर्व उपनिवेशों तथा अर्ध-उपनिवेशो मे विदेशी इजारेदारियो का प्रत्यक्ष पूंजी-निवेश दसियो अरब डालर का है। साम्राज्यवादी सरकारो द्वारा दिए गए ऋणो के मामले मे नव-स्वाधीन देशो का राष्ट्रीय कर्ज भी विपुल है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका मे आर्थिक प्रसार के इन मुख्य रूपो का इस्तेमाल करते हुए साम्राज्यवाद ने भूतपूर्व उपनिवेशो तथा अर्द्ध-उपनिवेशो के विरुद्ध राजनीतिक, सैनिक और विचारधारात्मक हमले मे सफलताएँ पाने की सम्भावना प्राप्त की है।

प्रश्न उठता है कि स्वाधीन देशो के भविष्य पर नव-उपनिवेशवादी दाँवपेंच का प्रभाव कैसे पडता है? उपनिवेशवाद एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशो का सबसे बडा शत्रु रहा है और है। हम दिखायेंगे कि किन-किन ठोस रूपो मे वह अपने को जाहिर करता है। निश्चिय ही सबसे पहले आर्थिक शोषण में, जिससे स्वाधीन देश आर्थिक विकास के लिए बहुत ही आवश्यक अपने प्राकृतिक साधनो के बडे भाग से वचित हो जाते हैं। साम्राज्यवादी आक्रामक नीति स्वाधीन देशो की राष्ट्रीय प्रगति के मार्ग मे एक और बाधा उत्पन्न करती है? सैनिक व्यय की पूर्ति के लिए काफी विनियोजन अपेक्षित है। ऐसा इसलिए होता है कि या तो साम्राज्यवादी अपने सैनिक गुटों मे शामिल देश से ऐसे कदमो की प्रत्यक्ष माँग करते हैं, अथवा सीमाओं पर पैदा हुई खतरनाक स्थिति के कारण शान्तिप्रिय देश अपनी प्रतिरक्षा

व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिए विवश हो जाता है। *साम्राज्यवाद* भूतपूर्व उपनिवेशो और अर्ध-उपनिवेशो की सामाजिक प्रगति का भी शत्रु है। कुछ अवस्थाओ मे वह उनके घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप के लिए नृशस कदम उठाता है और अक्सर सगीनो के बल पर सामन्ती-जमीदारी तबके के प्रतिक्रियावादियो को सत्तारूढ बनाता है। अन्य अवस्थाओं मे वह निजी पूंजी को अपना पूरा समर्थन प्रदान करता है तथा ऐसे समय उसकी स्थिति मजबूत करने मे जुटा रहता है। जब सामाजिक आर्थिक सुधार पूंजीवाद-विरोधी रूप ले चुके हैं। उपनिवेशवादी विचारधारात्मक प्रसार का *लक्ष्य होता है नव-स्वाधीन देशों की जनता की देशभक्तिपूर्ण और क्रान्तिकारी* भावनाओं को कुचलना तथा पूंजीवादी व्यवस्था एव 'पश्चिमी जीवन-पद्धति' की 'श्रेष्ठता' के प्रति विश्वास को बढावा देना।

फिर भी घटनाओ ने सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक उपनिवेशवादियो की सफलताएँ सामान्यतया टिकाऊ नही होती। आधुनिक उपनिवेशवाद का कोई ऐतिहासिक भविष्य नही रहा है। दुनिया का वर्तमान शक्ति-सन्तुलन साम्राज्यवादी स्वेच्छाचारिता के क्षेत्र को अधिकाधिक सीमित करता जा रहा है। जब साम्राज्य-वादी मनमाने ढंग से राष्ट्रो के भविष्य को गढ सकते थे, वे दिन लद गए है। आज अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ऐसी है कि राष्ट्रीय मुक्ति शक्तियाँ उपनिवेशवादियों पर एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करने मे समर्थ हो गई है। नव-उपनिवेशवाद की बहुत सी योजनाएँ यथार्थ मे उसकी विफलताएँ बन जाती है। यह अपने न्यायोचित ध्येय के लिए सघर्षरत, राष्ट्रीय मुक्ति शक्तियो द्वारा प्रदर्शित दृढता तथा स्थिरता पर निर्भर है। उदाहरण के लिए, स्वाधीन देशो को दी जाने वाली साम्राज्यवादी 'सहायता' को ही लें। नव-उपनिवेशवादी रणनीतिज्ञो को आशा है कि प्रचुर ऋणो और अनुदानों से नवोदित सार्वभौम राज्यो को अन्तत अपने पक्ष मे कर लिया जाएगा और साम्राज्यवाद के पक्ष मे उनका अभिमुखीकरण तथा पूंजीवादी पथ से उनका विकास सुनिश्चित हो जाएगा। परन्तु इसका मतलब यह नही होता कि वे अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेते है। नवस्वाधीन देश अपनी सार्वभौमता और राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हुए साम्राज्यवादी सरकारो द्वारा प्रदत्त धन-राशि को नव-उपनिवेशवादियों के प्रवेश का साधन बनने देने की अपेक्षा अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ बनाने मे समर्थ हो सकते हैं।

वर्तमान ऐतिहासिक परिवेश मे, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन—बशर्ते कि वह *शान्ति, समाजवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग की शक्तियों के साथ मिलकर* सघर्ष कर रहा हो—न केवल नव-उपनिवेशवाद के दबाव का सामना करने मे, बल्कि उसके विरुद्ध सफल संघर्ष करने मे भी सक्षम है।

आज पूंजीवाद लेखक भी नव-उपनिवेशवाद के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए विवश हैं। इस सम्बन्ध मे उनमे से एक का कहना इस प्रकार है: अपने क्लासिकल रूप मे नव-उपनिवेशवाद का अर्थ यह है कि अभी ऐसे लोग है, जो स्पष्टत. उपनिवेशवाद की पुरानी प्रणाली का परित्याग करने के इच्छुक होते हुए

भी सामान्यतया आर्थिक ढंग के नये पराश्रित सम्बन्धों को जिन्हें 'प्रच्छन्न उपनिवेशवाद' कहा जाता है—कायम करने का प्रयास करते हैं। वास्तविकता यह है कि अफ्रीका में नव-उपनिवेशवाद बड़े पैमाने पर अपना कार्य कर रहा है। निःसन्देह, कुछ ऐसे पूंजीवादीलेखक भी हैं, जो तथ्यों के प्रतिकूल यह दावा करते हैं कि नव-उपनिवेशवाद जैसी कोई चीज नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों का अन्य उपायों से साम्राज्यवादी शोषण जारी रखने का ही दूसरा नाम नव-उपनिवेशवाद है। आधुनिक पूंजीवाद के ढांचागत परिवर्तनों से सम्बद्ध आन्तरिक कारकों और दो निर्णायक बाह्य कारकों-विश्व समाजवादी प्रणाली की बढ़ती हुई शक्ति और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का उभार के प्रभाव से शोषण के रूप और तरीके बदल गए हैं। साम्राज्यवादी अपनी नव-उपनिवेशवादी नीति का इस्तेमाल करते हुए जनवादी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को सामाजिक अन्तर्य से वंचित करने और नवोदित स्वाधीन राज्यों को समानाधिकार दिए बिना उन्हें पूंजीवादी दायरे में बनाए रखना चाहते हैं। आधुनिक उपनिवेशवाद का मुख्य स्तम्भ संयुक्त राज्य अमरीका का साम्राज्यवाद है, जिसका अपनी राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्षरत लोगों के वास्ते अन्तर्राष्ट्रीय पुलिसमैन और जल्लाद के रूप में सर्वत्र पर्दाफाश हो चुका है। अमरीकी साम्राज्यवाद के हिमायती प्राय. एशिया और अफ्रीका में संयुक्त राज्य अमरीका के विशेष हितों की चर्चा करते हैं, जो मानो यूरोपीय औपनिवेशिक राष्ट्रों के हितों से भिन्न है। वे विश्वास दिलाना चाहते हैं कि इन क्षेत्रों में अमरीकी गतिविधियां केवल कम्युनिज्म का प्रसार 'रोकने' की तथाकथित नीति की आवश्यकताओं से निर्दिष्ट है।

नव-उपनिवेशवादी प्रचार का मुख्य लक्ष्य है उपनिवेशवादी का औचित्य सिद्ध करना, उत्पादन के पूंजीवादी ढंग और पूंजीवादी जीवन-पद्धति को कायम रखना और यह 'सिद्ध करना' कि पिछड़े हुए राष्ट्रों के पुनरुद्धार में केवल पूंजीवाद ही समर्थ है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के नव-उपनिवेशवादी सिद्धान्तों का इस्तेमाल किया जाता है, जिन्हें न केवल पूंजीवादी पश्चिम में बल्कि विकासमान देशों के कुछ हल्कों में भी स्वीकार कर लिया गया है। उपनिवेशवाद को उचित बताने के अपने प्रयास में कुछ पूंजीवादी सिद्धान्तकार एशियाई और अफ्रीकी देशों के सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन का दोष खुद वहाँ के लोगों पर मढ़ते हैं।

औपनिवेशिक युद्धों और सैनिक गुटों, साजिशों तथा आतंक, तोड़फोड़कारी कार्यवाइयों एवं आर्थिक दबावों व घूस के जरिए साम्राज्यवादी स्वाधीन देशों पर अपना प्रभुत्व कायम रखना अथवा इन देशों द्वारा प्राप्त स्वाधीनता को केवल दिखावे की बात बनाना या उन्हें उससे वंचित करना चाहते हैं। इसलिए नवोदित स्वाधीन राज्यों का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यभार है नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष, जो साथ ही उनके स्वतन्त्र विकास राष्ट्रीय तथा सामाजिक प्रगति का संघर्ष भी है।

वर्तमान युग और राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन

वर्तमान युग की एक विशेषता राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियों का तूफानी विकास है जिनके प्रभाव से विश्व की औपनिवेशिक प्रणाली ध्वस्त होती जा रही है। अब पुराने औपनिवेशिक साम्राज्यों के ध्वंसावशेषों पर स्वाधीन राष्ट्रों का आविर्भाव हुआ

3. स्वाधीन राज्यों के आविर्भाव से शेष पराधीन और अर्द्ध-पराधीन राष्ट्रों की मुक्ति की गति तीव्र हो जाती है। इस बात का भी संकेत है कि राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन नए दौर में प्रविष्ट हो गया है और अब सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाएगा।

जिन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है अथवा प्राप्त कर रहे हैं, उनके आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए उनमें राजनीतिक स्वाधीनता का प्रसार और सुदृढ़ीकरण नितान्त आवश्यक है जो वस्तुतः सच्ची स्वतन्त्रता की अपरिहार्य शर्त है। इसके साथ ही पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता सामाजिक-आर्थिक सुधारों की गहराई और व्यापकता का नतीजा होती है। जिस प्रकार विश्व की दो प्रणालियों के सम्बन्धों में आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के वर्तमान दौर में सामाजिक-आर्थिक हेतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसी कारण चीनी *सिद्धान्तकार गलत हैं जो एक ओर अपनी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास तथा अपनी* सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए नवोदित सार्वभौम राज्यों के प्रयासों और दूसरी ओर साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष के बीच असंगति देखने का दावा *करते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास को राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन* के ध्येयों का 'परित्याग' समझते हैं। उसके विपरीत सामाजिक-आर्थिक विकास की समस्याओं की उपेक्षा का अर्थ है हाल ही में प्राप्त स्वतन्त्रता को कमजोर करना और साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर प्रहार सुगम बनाना।

4. मौजूदा राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियां अपने स्वरूप की दृष्टि से अधिक गहन हो गई हैं। एक समय था जब पूंजीवादी-जनवादी क्रान्तियों के अलावा वे और कुछ नहीं थीं और ईरान तथा तुर्की की भांति उनसे केवल पूंजीवादी विकास का पथ ही प्रशस्त होता था। परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्गगत शक्तियों के परिवर्तित सम्बन्धों की वजह से साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति क्रान्तियों का समाजवादी क्रान्तियों के रूप में तीव्र विकास सम्भव हो गया है।

वर्तमान समय में दोनों प्रकार की क्रान्तियाँ—राष्ट्रीय मुक्ति और समाजवादी एक दूसरे के निकट आती जा रही हैं। राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियाँ शुरू से ही अधिकांशतः न केवल साम्राज्यवादी और सामन्ती व्यवस्था, बल्कि एक प्रकार से पूँजीवाद के विरुद्ध भी बुनियादी रूप से उसी शत्रु के खिलाफ लक्षित हैं जिसके विरुद्ध मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति लक्षित है।

5. समसामयिक राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियाँ संघर्ष के विभिन्न साधनों और रूपों का उपयोग करती हैं।

अपने देश की ठोस स्थिति और राष्ट्रीय क्रान्ति की अवस्था को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक जनता संघर्ष के किसी विशेष रूप को अपनाती है। राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने और इसकी सुरक्षा को सुनिश्चित बनाने की ओर लक्षित साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में सशस्त्र विद्रोह सहित सभी तरीके अपनाए जाते हैं।

6. यदि हम राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि कई भूतपूर्व उपनिवेशो ने बिना सशस्त्र संघर्ष के अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की है। राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के वर्तमान दौर मे, जब सारे एशिया और अफ्रीका *नवोदित स्वाधीन राज्यों का आविर्भाव हो रहा है और उनमें से अनेक प्रगतिशील* सामाजिक-आर्थिक सुधारो का मार्ग अपना रहे है, निष्पक्ष दृष्टिकोण से सशस्त्र संघर्ष का आह्वान या तो विकसित देशो सहित इन देशो की वर्तमान सरकारो के विरुद्ध विद्रोहों का औचित्य सिद्ध करने अथवा क्रान्तिकारी प्रक्रिया को 'तीव्र गति प्रदान करने' के उद्देश्य से विकासमान देशों और भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के बीच सशस्त्र संघर्ष भड़काने के लिए लक्षित है। इस प्रकार के 'क्रान्तिकारी' रुख से इन में विकासमान साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे में केवल दरार पैदा हो सकती है, राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन को गम्भीर क्षति पहुँच सकती है और इसका आगे का विकास अवरुद्ध हो सकता है।

राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन की कुछ नई विशेषताएँ, आज की दुनिया मे अपनी विशेष भूमिका और महत्त्व को प्रकट करती हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में सेना की भूमिका (सेना और राजनीति)

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और राजनीति के सन्दर्भ में सेना की भूमिका के बारे मे अ. इस्कैंदेरोव के विचार संक्षेप मे इस प्रकार हैं—

हाल मे सेना ने एशिया और अफ्रीका के कई नवोदित स्वाधीन राज्यों की राजनीतिक घटनाओं मे प्रमुख भाग लिया है। इस वस्तुगत विकास से कई समस्याएँ खड़ी हो गई हैं जिनका सैद्धान्तिक विश्लेषण राष्ट्रीय तथा सामाजिक प्रगति के लिए और साम्राज्यवादी तथा आन्तरिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध प्रगतिशील शक्तियों को एकजुट करने के तरीके व उपाय निश्चित करने की दृष्टि से व्यावहारिक महत्त्व का है उदाहरण के लिए, इन समस्याओं का सम्बन्ध राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन मे सेना की भूमिका और विकासमान देशों के राजनीतिक कार्यकलापो पर इसके प्रभाव तथा जन-समुदाय एवं उसके संगठनो द्वारा संघर्ष के महत्त्व से है।

राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष मे सेना की भूमिका के बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लेखक इसकी कोई भी प्रगतिशील भूमिका नहीं मानते और सैनिक विद्रोह के फलस्वरूप कायम किसी भी सरकार को प्रतिगामी सैन्यवादी बताते हैं। दूसरे लेखक राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्ति का नेतृत्व करने मे सक्षम सेना को लगभग एकमात्र राष्ट्रीय शक्ति के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी यह मत प्रकट किया जाता है कि जनसमुदाय के समर्थन और प्रगतिशील राजनीतिक पार्टी के अस्तित्व के बिना भी सेना स्वाधीन देश के राजनीतिक और आर्थिक विकास का पूरा दायित्व ग्रहण करने मे सक्षम है।

इनमे से कोई भी विचार सही नहीं है क्योंकि किसी भी अन्य सामाजिक व्यवहार की भांति राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की भूमिका के मूल्यांकन के लिए वर्गगत

दृष्टिकोण अपेक्षित है। समाज में उसकी स्थिति सम्बन्धित समाज के स्वरूप, वर्गगत एवं राजनीतिक शक्तियों के सन्तुलन और क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रसार तथा तीव्रता पर अवलम्बित है। *किसी भी वर्गगत समाज में श्रमिकों का क्रान्तिकारी संघर्ष* अनिवार्यतः सेना को राजनीतिक बवण्डर से खींच लेता है। लेनिन ने लिखा था— "सेना न कभी तटस्थ रह सकती है, न कभी थी और न कभी रहेगी।"

एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का विकास यह सिद्ध करता है कि तटस्थ रहने की जगह सेनाएँ अपने-अपने देश की राजनीतिक सरगर्मी में सक्रिय भाग लेती हैं तथा अक्सर घटनाक्रम के विकास में निर्णायक भूमिका अदा करती हैं। इसके अनेक कारण है—

1. जहाँ पूंजीवादी समाज के बुनियादी वर्ग अपर्याप्त रूप में विकसित होते है, वहाँ गैर-सैनिक तथा सैनिक बुद्धिजीवी समुदाय जैसे मध्यवर्गीय समुदाय की तटस्थ भूमिका बढ़ जाती है जो बहुत ही *अधिक विकसित वर्गीय ढाँचे वाले देशों के इसी प्रकार* के समुदाय की अपेक्षा वर्गों के प्रसंग में तुलनात्मक रूप में अधिक स्वतन्त्र होती है।

सामान्यतः इन देशों के अफसरों का समूह जमींदारों और बड़े पूंजीपति-वर्ग से बहुत कम सम्बन्धित होता है। अफसर मुख्यतः शहरी तथा ग्रामीण निम्न पूंजीवादी परिवारों, अर्थात् उस सामाजिक श्रेणी से आते हैं। इसी कारण देशभक्त अफसर केवल साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के ही विरुद्ध नहीं बल्कि पूंजीवाद के विरुद्ध भी होते है।

2. विकसित समाज के प्रतिकूल जहाँ सेना सर्वाधिक निश्चेष्ट तथा निष्क्रिय अंग है, औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देशों में वह सर्वाधिक प्रबुद्ध तथा गतिशील शक्ति होती है। इसका कारण यह है कि सेना को युद्ध सम्बन्धी आधुनिक सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है। जिसकी पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके अफसरों को दूसरे देशों की यात्रा करनी पड़ती है और उन्नत देशों के अफसरों से सम्पर्क स्थापित करना पडता है। वे स्वभावतः देश के आर्थिक तथा तकनीकी पिछड़ेपन से होने वाली क्षतियों को अन्य समूहों से बहुत पहले महसूस करने लगते हैं।

अफसरों का उत्पादन के आधुनिक तरीकों की जानकारी प्राप्त करने का मतलब है प्रगतिशील विचारों का ज्ञान प्राप्त करना, और जब वे स्वदेश वापस लौटते है तो चाहे नए समाज के निर्माण के लिए उनके पास कोई निश्चित कार्यक्रम न हो, *फिर भी वे राजनीतिक तथा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की आवश्यकता के प्रति* बहुत ही *जागरूक* हो जाते है।

3. सेना राष्ट्रीय मुक्ति के लिए जनता के संघर्ष से पृथक् नहीं रहती और प्रारम्भिक अवस्था में ही स्वतन्त्रता के विचारों से प्रभावित हो जाती है। अनेक एशियाई और अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के विकास के साथ ही राष्ट्रीय सेनाओं का गठन हुआ और इस कारण वे शुरू से ही प्रगतिशील एवं साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति रहे है। अल्जीरिया के सम्बन्ध में यही बात थी जहाँ उपनिवेशवाद-विरोधी युद्ध में लड़ते तथा सम्पूर्ण अल्जीरियाई जनता के हितों और आकांक्षाओं को

प्रकट करने वाले किसानों, मजदूरों तथा निम्न पूंजीपति वर्ग के सदस्यों को शामिल कर राष्ट्रीय मुक्ति सेना का गठन हुआ था। जापानी आक्रमणकारियों और ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को देश से मार भगाने वाली बर्मी स्वातन्त्र्य सेना के मुख्य भाग का गठन भी किसानो, मजदूरो और शहरो के गरीब लोगों को शामिल करके किया गया था।

4 राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष काल मे और अधिकतर राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद अनेक स्वाधीन देशो मे जो राजनीतिक पार्टियाँ अस्तित्व में आई, वे अपने गठन की दृष्टि से इतनी अविकसित थी कि अपने देशो के विकास का दायित्व ग्रहण नही कर सकती थी। सम्भवत भारत को छोड़कर प्रायः किसी भी नवोदित देश मे शासन करने मे सक्षम पूँजीवादी पार्टियाँ नही थी। जहाँ तक कम्युनिस्ट पार्टियों का सम्बन्ध है अधिकांश देशो मे या तो उनका अस्तित्व ही नही था अथवा भीषण दमन का शिकार होने के कारण वे छिपकर काम करने को विवश थीं और इसलिए घटनाक्रम पर पर्याप्त रूप से सक्रिय प्रभाव नही डाल सकती थी।

कई देशों मे जो *पार्टियाँ सत्तारूढ हुई उन्हें वास्तव मे सामाजिक, राजनीतिक* और विचारधारात्मक दृष्टियो मे विभिन्न शक्तियो को एकजुट करने वाले और सार्व-भौम राष्ट्रो के सम्मुख प्रस्तुत अतिजटिल कार्यभारो को पूरा करने के लिए अल्प *तैयारी वाले राष्ट्रीय मोर्चे के ढग के सगठनों के रूप मे ही समझा जा सकता था।*

ऊपर जिन कारणो का उल्लेख किया गया है, उनसे कुछ हद तक यह स्पष्ट हो जाता है कि तीसरी दुनिया के कई देशो मे राजनीतिक घटनाक्रम के फलस्वरूप सेना समाज की एक बहुत ही संगठित शक्ति के रूप मे किस प्रकार आगे आई।

किन्तु व्यवहार और सिद्धान्त मे भी इस तथ्य की उपेक्षा करना गलत होगा कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के विकास मे जब सामाजिक आर्थिक समस्याएँ प्राथमिकता ग्रहण करती हैं और नवोदित स्वाधीन देशो के लिए अर्थतन्त्र के अधिकाधिक महत्त्व-पूर्ण होते जाने से समाज मे सेना के कार्य और स्थिति मे भी काफी परिवर्तन हो जाते हैं तो सेना की सहायता से सत्तारूढ हुए सैनिक नेता यह महसूस करने लगते हैं कि सेना जिसके सारे कार्य आदेशो तथा हिदायतो द्वारा होते हैं, समाज की जनवादी सस्थाओं का स्थान ग्रहण कर सकती है और इसके बिना कोई भी राष्ट्रीय क्रान्ति अच्छी प्रगति नही कर सकती।

वास्तविकता का सामना करते हुए इनमे से कई सैनिक नेताओं को अधिकाधिक रूप मे यह पक्का विश्वास हो गया कि एक निश्चित राजनीति तथा सैद्धान्तिक कार्यक्रम से रहित और जनता मे समाज की पथ-प्रदर्शनकारी शक्ति के रूप मे एक पार्टी का स्थान नहीं कर सकती।

सेना को अपने विशिष्ट कार्यभार, मुख्यत: विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियो और घरेलू प्रतिक्रियावादियो के हस्तक्षेप से क्रान्तिकारी उपलब्धियो की रक्षा का काम पूरा करना पडता है। इसके अलावा सामाजिक और सैद्धान्तिक एकता से रहित सेना राष्ट्रीय विकास के पथ का चयन करने का प्रश्न होते ही स्वयं को दो विरोधी

है और उनके निवासी ऐतिहासिक परिस्थिति का शिकार होने के बदले स्वयं अपने भविष्य के जागरूक निर्माणकर्ता बने हैं। एशिया मे भारी राजनीतिक हार खाने के बाद औपनिवेशिक शक्तियों ने अफ्रीका में दृढ़ता से टिके रहने की आशा की, परन्तु अफ्रीका भी बहुत समय तक निश्चेष्ट नहीं रहा। सबसे पहले उत्तरी और उसके बाद उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका मे उपनिवेशवाद की आधारशिला को ध्वस्त करती हुई साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तियाँ उत्तरोत्तर जोर पकड़ने लगीं। आज, कुछ अपवादों को छोड़कर लगभग सारा एशिया और अफ्रीका साम्राज्यवाद से मुक्त हो चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सक्रिय साम्राज्यवाद-विरोधी शक्ति के रूप मे सर्वसत्ता सम्पन्न राज्यों का उदय राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम तथा गुलाम और पराधीन देशों के लोगो के लम्बे और कठोर संघर्ष की तर्कसंगत परिणति है। सोवियत सघ की विज्ञान अकादमी के सदस्य यू. जूकोव तथा अन्य लेखकों द्वारा सम्पादित पुस्तक 'तीसरी दुनिया' मे, अ. इस्कंदरोव ने अपने लेख 'वर्तमान युग और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन' में आधुनिक युगीन राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलनों की सफलता के कारणों तथा इसके नवीन पहलुओ का बड़ा तार्किक और विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की सफलता के कारण[1]

1. *सबसे मुख्य और निर्णायक कारक सन् 1917 की रूसी समाजवादी क्रान्ति* थी, जिसने लाखों-करोड़ो लोगों की प्रसुप्त शक्ति को जगाया और उन्हें राजनीतिक मामलो में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। रूस की क्रान्तिकारी घटनाओं के फलस्वरूप औपनिवेशिक जगत् में परिवर्तन आने लगे, पूँजीवादी दुनिया का विघटन शुरू हुआ, पूंजीवाद का आम संकट उभरने लगा और साथ ही साम्राज्यवादी औपनिवेशिक प्रणाली भी संकट में पड़ गई। सन् 1917 से पहले अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी शक्ति ने, जिसका उस समय सारी दुनिया पर एकछत्र शासन था, उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों के सभी राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों को कुचल दिया था। अक्तूबर क्रान्ति से इस स्थिति मे आमूल परिवर्तन हो गया। यह राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के विकास मे युगान्तरकारी परिवर्तन का द्योतक था। इसके बाद उपनिवेशो तथा गुलाम देशो में बहुत बड़े पैमाने पर क्रान्तिकारी आन्दोलन विकसित हुआ और सगठनात्मक रूप मे उसमे सुधार हुआ। अक्तूबर क्रान्ति ने अन्य देशो के क्रान्तिकारियों के मन में अपनी मुक्ति के लिए विश्वास की भावना पैदा कर दी।

2. नाज़ी जर्मनी और सैन्यवादी जापान की सामरिक पराजय तथा यूरोप और एशिया के कई देशो में विजयी समाजवादी क्रान्तियों से साम्राज्यवाद और उसकी औपनिवेशिक प्रणाली को गहरी चोट पहुँची। पहले से ही सकटग्रस्त यह प्रणाली खण्ड-खण्ड होने लगी।

3. समाजवाद के एक देशीय सीमा के बाहर भी फैल जाने और विश्व-समाजवादी प्रणाली के गठन से अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सन्तुलन में आमूल परिवर्तन आया

1 यू. जूकोव एवं अन्य : तीसरी दुनिया, पृष्ठ 12 19.

और राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के सफल विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हुई। यदि समाजवादी व्यवस्था सारी दुनिया के विकास पर उत्तरोत्तर अधिक प्रभाव डालने वाली महान् शक्ति न हो गयी होती तो साम्राज्यवादी औपनिवेशिक प्रणाली के द्रुत विघटन जैसी महत्त्वपूर्ण घटना कभी न घटी होती, जिसके फलस्वरूप 1 अरब 50 करोड से अधिक लोग स्वतन्त्र हो चुके है।

4 अब समाजवाद नही बल्कि, विश्व-समाजवादी प्रणाली और समाज के समाजवादी नव-निर्माण के हित साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने वाली ताकते मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास के मुख्य अन्तर्य, मुख्य रुझान और मुख्य लक्षणों को निर्धारित करती हैं। अपनी बढ़ती हुई आन्तरिक असगतियो से पूर्ण पूँजीवादी प्रणाली गम्भीर सकट के दौर से गुजर रही है। निस्सन्देह एक प्रणाली के रूप मे पूँजीवाद के बारे मे ऐसी धारणा बिलकुल गलत होगी कि वह आन्तरिक असगतियो *के ग्रस्त होने के कारण स्वत.ध्वस्त हो जाएगी। युद्धोत्तर-काल के अनुभावो से सिद्ध* होता है कि पूँजीवाद अपने लाभ के लिए वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति की उपलब्धियो, उत्पादन के स्वचालितीकरण, राजकीय नियन्त्रण के नए रूपो और तरीको, आर्थिक एकीकरण, अर्थ-व्यवस्था के सैन्यीकरण और अन्य अनेक कारको का उपयोग करने मे सफल रहा है। किन्तु इससे पूंजीवाद की बुनियादी त्रुटियाँ दूर नही हुई हैं और न कभी हो सकती हैं। सभी प्रयासो के बावजूद पूँजीवाद प्रणाली अपनी गतिहीनता को दूर करने मे विफल रही है। दूसरी तरफ, पूँजीवाद से अपनी आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता मे विश्व-समाजवाद निरन्तर सफलताएँ प्राप्त कर रहा है। यह चाहे-*अनचाहे पूँजीवाद अर्थशास्त्रियो को भी स्वीकार करना पडता है।*

आधुनिक पूंजीवाद के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे मे जो परिवर्तन हुए हैं, उनसे पूँजीवादी समाज की बुनियादी आन्तरिक असगति अर्थात् श्रम और पूंजी के बीच का विरोध दूर नहीं हुआ है। वास्तविकता तो यह कि वर्गगत शक्तियों का मतभेद बढ़ते जाने से यह असगति और अधिक तीव्र हो गई है। युद्धोत्तर-काल मे विकसित पूँजीवाद देशो मे हड़ताल-आन्दोलन का और विस्तार हुआ है। सन् 1919–1939 के बीच 1,65,600 हड़तालें हुई जिनमे 7,45,00,000 मजदूरो ने भाग लिया जबकि सन् 1946 से 1966 के बीच हड़तालों की सख्या 3,09,800 और उनमें भाग लेने वाले मजदूरों की संख्या 25,91,00,000 हो गई थी। इस तरह युद्ध-पूर्व काल की तुलना में हड़तालियो की औसत वार्षिक सख्या 3·5 गुना अधिक हो गई है।

5. आजकल मजदूर-वर्ग का संघर्ष दिनोदिन उपनिवेशवाद-विरोधी स्वरूप धारण करता जा रहा है। मजदूर वर्ग साम्राज्यवादी आक्रमण के शिकार राष्ट्रों की रक्षा मे अधिकाधिक सामने आता जा रहा है। *युद्धोत्तरकाल मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-*आन्दोलन के विकास का यह महत्त्वपूर्ण लक्षण है। फ्रांस, इटली, इंगलैण्ड, संयुक्तराज्य अमरीका, बेल्जियम, हालैण्ड, स्पेन और पुर्तगाल की प्रगतिशील शक्तियों ने पराधीन *तथा अर्द्ध-पराधीन राष्ट्रो की मुक्ति मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।*

6. एशिया और अफ्रीका की राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियाँ घनिष्ट आपसी सम्पर्क और सहयोग की परिस्थितियों मे विकसित होती हैं, उनमे अलग-अलग रूप से विकास

करने की प्रवृत्ति नही है। राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष करने वाला कोई भी राष्ट्र जब स्वतन्त्र राज्यत्व प्राप्त करता है तो अपनी आजादी और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्षरत पराधीन राष्ट्रों को भी इससे वास्तविक लाभ पहुँचता है। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष में अपनी एकता और भाई-चारे की भावना का अमोघ हथियार ढाल लिया है। जिन राष्ट्रों ने आजादी प्राप्त करली है अथवा प्राप्त करने वाले हैं, उनके ध्येय एक समान है और साम्राज्यवाद उनका समान शत्रु है। ठीक यही बात उनके सक्रिय, जुझारू संश्रय का वस्तुगत आधार है, हालाँकि उनके संघर्ष की पद्धतियों मे भेद हो सकता है जो उसमें भाग लेने वाले वर्गों अथवा सामाजिक श्रेणियों के स्वभावगत अन्तर और विचार पद्धति, राजनीतिक धारणाओं एव धार्मिक विश्वास मे भिन्नता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

7 एशिया और अफ्रीका मे राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियों के सफल विकास के विदेश-नीति सम्बन्धी यही बुनियादी कारक हैं। परन्तु यदि खुद उपनिवेशों और पराधीन देशो मे आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आधार तैयार न होता तो क्रान्तियां जिस रूप में सफल हुई हैं, उस रूप मे सफल न हो पाती। इसी प्रकार विजय का एक कारक उन सामाजिक शक्तियों का प्रादुर्भाव रहा है जो राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेने के अलावा उसका नेतृत्व करने मे भी सक्षम सिद्ध हुई है।

8. राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के ठीक पूर्ववर्ती वर्षो मे सभी सामाजिक श्रेणियों ने द्रुतगति से बढती हुई राजनीतिक क्रियाशीलता का परिचय दिया। प्रायः सर्वत्र मजदूरों और किसानों ने महत्त्वपूर्ण कार्यवाइयाँ की। राजनीतिक पार्टियों के साथ ही ट्रेड-यूनियनें और विविध आम जनवादी सगठन अस्तित्व में आ गए। उदाहरणार्थ, सन् 1946 के अन्त और 1947 के शुरू में भारत के स्वाधीनता आन्दोलन मे उद्योग की प्रायः सभी शाखाओं के मजदूर, किसान, बैंक-कर्मचारी, शिक्षक आदि शामिल हुए। स्वतन्त्रता की माँग अब आम माँग हो गई, मजदूरों से लेकर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग सहित सभी वर्गों तथा सभी प्रगतिशील पार्टियों और संगठनों ने इसका समर्थन किया। सन् 1946–47 मे बर्मा मे किसानों मजदूरों, नौकरीपेशा लोगों और विद्यार्थियों ने सच्ची स्वतन्त्रता की माँग के समर्थन मे सारे देश में अनेक सभाएँ, प्रदर्शन और हड़तालें की। सन् 1947 की जनवरी में बर्मा की स्थिति आम राजनीतिक हड़ताल के बिलकुल निकट थी।

9. पराधीन अफ्रीका मे भी आबादी की सभी श्रेणियां अधिकाधिक रूप में सक्रिय हो गई थीं। उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका में राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के विकास के साथ-साथ ट्रेड-यूनियनें तथा राजनीतिक पार्टियाँ संगठित की गईं जिन्होने विभिन्न सामाजिक वर्गीय शक्तियों को एकजुट किया और जो राजनीतिक स्वाधीनता के लिए उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करने वाले कार्यक्रम सहित राष्ट्रीय जनवादी मोर्चे के ढंग के संगठन थे।

10 उसी काल मे सभी देशभक्त शक्तियों और राजनीतिक पार्टियों का संश्रय अस्तित्व में आया और राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियो की अपेक्षाकृत द्रुत विजय का यह एक मुख्य कारण था। आज भी यह संश्रय भूतपूर्व उत्पीड़ित राष्ट्रों के हाथो में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हथियार है क्योंकि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष अभी समाप्त नही हुआ है।

राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्तियों के नए पहलू

वर्तमानकाल मे राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन की कुछ नई विशेषताएँ प्रकाश मे आई हैं जिनसे 19वी सदी के अन्त और 20वी सदी के प्रारम्भ की पूँजीवादी-जनवादी क्रान्तियो से इसकी भिन्नता प्रकट होती है—

1 वर्तमान समय में जितने अधिक देश और लोग राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन मे शामिल है उतने पहले कभी शामिल नही थे। अब यह एक ही देश तक सीमित नही है, इसमे दुनिया की कुल आबादी का तीसरा भाग शामिल है और यह कहा जा सकता है कि इसने *अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर लिया है। अब केवल किसी एक* औपनिवेशिक शक्ति के विरुद्ध लक्षित न होने के कारण, यह सम्पूर्ण साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के लिए चुनौती बन गया है।

पूँजीवाद के आम संकट की एक अभिव्यक्ति के रूप मे दुनिया के व्यापक क्षेत्रों मे न्यूनाधिक एक साथ ही पैदा होकर अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का यह राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन अपने में जिन राष्ट्रीय शक्तियो को शामिल करता है, उनके विकास के स्तर भिन्न-भिन्न होते है। यह इस आन्दोलन में सम्मिलित देशों की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विशेषताओं तथा भिन्न-भिन्न देशो मे इस आन्दोलन के स्वरूप, इसमें सम्मिलित होने वालो के वर्गीय ढाँचे और इसके नेताओ की कुशलता का परिणाम है।

2. वर्तमान राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप नए सार्वभौम राज्यो की एक शृंखला अस्तित्व मे आ गई है, जिन्होंने विश्व-पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से अपना *सम्बन्ध तो पूर्णतया समाप्त नही किया है,* परन्तु *अधिकांशत अब साम्राज्यवादी* राजनीतिक प्रणाली के अग भी नही है। अनेक स्वाधीन एशियायी और अफ्रीकी राज्य सक्रिय साम्राज्यवाद-विरोधी नीतियो का अनुसरण करते हैं और मानवजाति के हितों *से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय में भाग लेते हैं। वे आक्रमण* और युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करने मे समाजवादी देशो का साथ देते हैं और राष्ट्रो के बीच शान्ति तथा दोस्ती को सुदृढ बनाने में अपना योगदान करते हैं।

साम्राज्यवादी शक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नवोदित स्वाधीन राज्यों के बढते हुए प्रभाव और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे प्रगतिशील परिवर्तनो से भयभीत हैं। वे विकासमान देशों की विदेश-नीतियों मे किसी भी तरह की जनवादी प्रवृत्ति को रोकना चाहेंगी, और उनकी यही इच्छा होगी कि ये देश उनकी आक्रामक नीति का अनुसरण करें।

शिविरों में विभक्त पाएगी क्योंकि राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद वर्ग-विभेद की तीव्र प्रक्रिया से वह मुक्त नहीं होगी।

इन परिस्थितियों में जन-समुदाय की मनोभावना को प्रकट करने वाले तथा जन-समर्थन प्राप्त देशभक्त अफसरों का समूह निस्संकोच मुक्ति-क्रान्ति को अग्रसर करने और अपने देश के सामाजिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए मूलभूत सामाजिक-आर्थिक सुधारों को लागू करने का निर्णय करेगा, किन्तु साम्राज्यवादियों और घरेलू प्रतिक्रियावादियों से प्रभावित अफसर या तो 'प्रतीक्षा करो और देखो' की नीति अपनाएँगे अथवा खुले रूप में क्रान्ति को चुनौती देंगे। कई एशियाई और अफ्रीकी देशों के सैनिक विद्रोहों के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि सेना राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन में न केवल प्रगतिशील भूमिका अदा कर सकती है बल्कि जनवादी विचारों का प्रभाव कम होने पर वह आसानी से प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथों का खिलौना भी बन सकती है।

कुछ अवस्थाओं में सेना नवोदित स्वाधीन राज्य के प्रगतिशील विकास को तीव्रता प्रदान करती है, कुछ दूसरी अवस्थाओं में वह इस प्रकार के विकास में अवरोध पैदा कर सकती है। समाज के ढाँचे के अन्तर्गत सेना एक ऐसी संस्था है जिसमें जनवादी दृष्टिकोणों के साथ-साथ प्रतिक्रियावादी विचार भी विद्यमान रहते हैं, जिसके फलस्वरूप यह खतरा पैदा होता है कि इन विचारों के कुछ पक्षधर क्रान्ति के खिलाफ अथवा उसके एक पक्ष का इस्तेमाल करेंगे। सेना के भीतर छिपी इन प्रवृत्तियों (जनवादी अथवा प्रतिक्रियावादी) में से विशेष ऐतिहासिक अवस्था में कौन-सी हावी होगी, यह अनेक कारकों किन्तु सर्वोपरि रूप से देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन के दायरे और तीव्रता पर निर्भर करती है जो सेना में मानसिक हलचल पैदा कर सकता है तथा सारी सेना या उसके काफी बड़े भाग को क्रान्ति के पक्ष में कर लेने में समर्थ होता है।

कभी सैनिक विद्रोह के नेता सत्ता हथियाने की विशुद्ध पदलोलुपता की अपेक्षा राजनीतिक विचारों से कम प्रेरित होते हैं। इसलिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि साम्राज्यवादी अपने उपनिवेशवादी हितों में इन प्रवृत्तियों का उपयोग करने के लिए बड़ी उत्सुकता के साथ सेना में उनके विकास को देखते रहते हैं।

कुछ अफ्रीकी देशों के सैनिक विद्रोहों तथा अफ्रीका में साम्राज्यवादी राष्ट्रों की तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों के बीच इस तथ्य को देखना असम्भव नहीं है। साम्राज्यवादी बड़ी कुशलता के साथ इस बात का लाभ उठा रहे हैं कि उपनिवेशवादियों के हट जाने के बाद अनेक अफ्रीकी देशों की सेनाओं के स्वरूप और ढाँचे में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है। अधिकांश देशों की सेनाएँ भाड़े की होती हैं और उनका प्रशिक्षण पश्चिमी 'प्रशिक्षकों' के सुपुर्द कर दिया गया है।

राष्ट्रीय क्रान्ति के लिए सेना में राजनीतिक प्रचार के महत्त्व को कम आँकने अथवा इसे राजनीति से पृथक् शक्ति के रूप में समझने के परिणाम खेदजनक हो सकते हैं।

युद्ध
(War)

युद्ध का इतिहास मानव-जाति का इतिहास रहा है। राजनीतिक संस्थाओं, विशेषकर राज्य के विकास मे शक्ति अथवा युद्ध की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और सभ्यता के विकास के साथ-साथ युद्ध की भयानकता बढती गई है। आज के परमाणु-युग मे कोई महायुद्ध कितना भयानक हो सकता है—इसकी कल्पना भी कठिन है। प्राय यही स्वीकार किया जाता है कि कोई भी तृतीय विश्व-युद्ध, जिसमें अणु-आयुधो का खुलकर प्रयोग किया जाएगा, मानव-सभ्यता को ध्वस्त कर देगा। विजित और विजेता की स्थिति समान होगी। युद्ध के इसी भय की दृष्टि से नि.शस्त्रीकरण के प्रयास किए जा रहे हैं, तथापि अभी तक जो सफलता मिली है वह ऊँट के मुँह में जीरे के समान है।

युद्ध का अर्थ (Mean ng of War)

युद्ध क्या है? इसका क्या तात्पर्य है? आदि के सम्बन्ध मे विद्वानो ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। क्विसी राइट के अनुसार युद्ध व्यापक अर्थ मे--"स्पष्टत भिन्न किन्तु एक ही इकाइयो के बीच हिंसापूर्ण सम्पर्क है।" युद्ध के सीमित और संकीर्ण अर्थ को स्पष्ट करते हुए क्विसी राइट ने लिखा है कि इसका अभिप्राय "उस कानूनी स्थिति से है जो दो या उससे भी अधिक विरोधी समुदायो को सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से संघर्ष के संचालन की समान रूप से अनुमति प्रदान करती है।"

प्रो मेलिनोस्की (Professor Malinoski) के मतानुसार युद्ध स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयो के बीच का सशस्त्र सघर्ष है। यह राष्ट्रीय अथवा जातीय नीतियो की साधना के लिए सगठित सैनिक शक्तियो द्वारा किया जाता है। मेलिनोस्की की इस परिभाषा को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

(1) युद्ध करने वाली इकाइयाँ राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र होती हैं।
(2) युद्ध एक सशस्त्र सघर्ष है जो संगठित सैनिक शक्तियो द्वारा किया जाता है।
(3) युद्ध जातीय (Tr.bal) अथवा राष्ट्रीय नीतियो की साधना के लिए किया जाता है।

युद्ध की इस परिभाषा में युद्ध की जो विशेषताएँ बताई गई है वे प्राय. एक साथ संयुक्त रूप में प्रत्येक युद्ध मे प्राप्त नही होती। उदाहरण के लिए गृह-युद्ध होते हैं तो उनके कर्त्ता दो स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयाँ नही होतीं। इसी प्रकार वर्तमान काल में आर्थिक युद्ध, शीत-युद्ध, राजनीतिक-युद्ध आदि मे संगठित सशस्त्र सेनाओं का सहारा *नहीं लिया जाता। सन् 1965 का भारत-पाक-संघर्ष संगठित सशस्त्र सेनाओं* द्वारा राष्ट्रीय नीति की साधना के लिए किया गया दो स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयों के बीच का संघर्ष था, किन्तु ऐसा होते हुए भी उसको तकनीकी अर्थों मे युद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों देशो के बीच राजनयिक सम्बन्ध बने हुए थे तथा किसी भी पक्ष द्वारा सरकारी तौर पर युद्ध की घोषणा की गई थी।

नवीन अंग्रेजी शब्दकोष द्वारा की गई परिभाषा गृह-युद्ध को भी अपने में समाहित कर लेती है। उसके अनुसार युद्ध सशस्त्र शक्ति द्वारा शत्रुतापूर्ण व्यवहार है जो कि राष्ट्रों, राज्यों या शासकों के बीच होता है या एक ही देश के दलों के बीच होता है। यह विदेशी शक्ति के विरुद्ध या उसी राज्य के विरोधी दल के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग है। युद्ध के सामान्य स्वरूप को चित्रित करने वाली एक दूसरी परिभाषा सरल शब्दों में हॉफमैन निकर्सन (Hoffman Nickerson) द्वारा की गई है। वे कहते हैं कि युद्ध दो ऐसे मानव-समूहों के बीच किया जाने वाला व्यवस्थित बल प्रयोग है जो विरोधी नीतियों का अनुसरण करते हैं तथा जिनमें से प्रत्येक अपनी नीति को दूसरे पर लादने का प्रयत्न करता है। युद्ध के एक जर्मन विचारक कार्ल क्लाजविच (Karl Clausewitz) का कहना है कि 'युद्ध' राजनीतिक व्यवहार का आवश्यक अंग है और इसलिए अपने आप में कोई अलग चीज नहीं है। युद्ध और कुछ नहीं केवल कुछ अन्य साधनों के साथ राजनीतिक व्यवहार (Political intercourse) है। पामर तथा पर्किंस के कथनानुसार क्लाजविच की उपयुक्त नहीं है; फिर भी यह सच है कि इसके द्वारा युद्ध के स्वरूप की एक झलक का आभास मिलता है। 'न शान्ति न युद्ध' की जो स्थिति वर्तमान है उसका इसके द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है।

युद्ध की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे पूर्णतः उपयुक्त नहीं हैं तथा उनके आधार पर युद्ध के सभी रूपों का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता तथापि इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर युद्ध के निम्नलिखित मुख्य तत्व उजागर होते हैं—

1. युद्ध के लिए एक से अधिक समूहों की आवश्यकता होती है। इन समूहों के मूल उद्देश्य परस्पर विरोधी होते हैं।

2. इन समूहों के हित परस्पर इतने विरोधी और उग्र हो जाते हैं कि समझौते की सम्भावना प्रायः नहीं रहती। यदि सम्भावना होती भी है तो भी दोनों पक्ष या कोई एक पक्ष सशस्त्र संघर्ष की ही ठान लेता है। भारत-पाक युद्ध के सन्दर्भ में यह स्थिति हमारे समक्ष स्वतः स्पष्ट है।

3. अपने हितों की प्राप्ति के लिए शक्ति का कई प्रकार से व्यवस्थित प्रयोग किया जाता है।

4. युद्ध का उद्देश्य अपने हितों को प्राप्त करना और दूसरे पक्ष पर अपनी इच्छा को थोपना होता है।

सबसे प्रमुख बात यह है कि युद्ध के माध्यम से कोई राष्ट्र अपने हित की अभिवृद्धि का ही आकांक्षी होता है। यदि किसी देश को युद्ध से किंचित् मात्र भी लाभ की आशा दिखाई न देती हो तो वह इतनी भारी राष्ट्रीय जोखिम उठाने को तैयार नहीं होगा। लेकिन कभी-कभी यह भी होता है कि राष्ट्र युद्ध न चाहते हुए भी युद्ध में फँस जाता है। यह भी होता है कि युद्धोन्माद में राष्ट्र अपने हानि-लाभ को सोचने का सन्तुलन खो बैठता है और युद्ध छेड़ देता है। भारत पर

पाकिस्तान का आक्रमण इस मनोदशा का ज्वलन्त उदाहरण है। सामान्यतः युद्ध केवल आवश्यक हितो की प्राप्ति के लिए ही अपनाया जाता है, साधारण हित तो समझौतो द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं।

सन् 1945 से 1972 तक अट्ठावन युद्ध
(Fifty Eight Wars since 1945)

मानव-इतिहास के पृष्ठ छोटे-मोटे सहस्रो युद्धों से भरे पड़े हैं। रोजन एवं जोन्स ने सन् 1945 से लेकर 1972 तक विश्व मे हुए 58 युद्धो की सूची प्रस्तुत की है जो इस बात की परिचायक है कि—(i) युद्धो को रोकने के अनवरत प्रयासो के बावजूद युद्ध होते रहे हैं और इस प्रकार युद्धो की 'अनिवार्यता' प्रकट होती है, (ii) संयुक्तराष्ट्र संघ के रूप मे विश्व-शान्ति की स्थापना का जो शक्तिशाली यन्त्र है वह भी युद्धो पर कोई प्रभावी रोक नही लगा सका है। कुछ गम्भीर युद्धो को महायुद्धो मे परिणत होने से रोकने मे उसकी भूमिका अवश्य प्रशसनीय रही है, विशेषकर इसीलिए कि उन अवसरो पर इस सस्था को महाशक्तियो का सहयोग प्राप्त था, (iii) आज का युग 'आणविक' युग है और कोई भी छोटा-सा तथा स्थानीय युद्ध भी महायुद्ध के लिए 'विस्फोटक' बन सकता है अत विश्व के राजनीतिज्ञो और बुद्धिजीवियो को तथा विश्व की सरकारो को नि शस्त्रीकरण की दिशा मे ईमानदारी से प्रयत्न करने चाहिए। रोजन एव जोन्स की सूची इस प्रकार है—

सन् 1945 से 1972 तक अट्ठावन युद्ध[1]
(Fifty Eight Wars since 1945)

युद्ध	आरम्भ	युद्ध	आरम्भ
सीरिया लेबनान	1945	कांगो	1960
इण्डोनेशिया	1945	कोलम्बिया	1960
चीन	1945	क्यूबा (पिग्स की खाड़ी)	1961
मलाया	1945	गोआ	1961
इण्डोचीन	1946	अंगोला	1961
यूनान	1946	यमन	1962
मेडागास्कर	1947	पश्चिमी न्यू गाइना	1962
भारत-पाकिस्तान	1947	पुर्तगाली गाइना	1962
काश्मीर	1947	अल्जीरिया मोरक्को	1963
फिलिपाइन्स	1948	साइप्रस	1963
इजरायल	1948	मलेशिया	1963
हैदराबाद	1948	सोमालिया-केन्या	1963
बर्मा	1948	जंजीबार	1964
कोरिया	1950	थाईलैण्ड	1964

1 *Steven Rosen and Walter Jones*: The Logic of International Relations, 1974, p. 156.

युद्ध	आरम्भ	युद्ध	आरम्भ
फारमूसा	1950	मोजाम्बिक	1964
तिब्बत	1950	डोमिनिकन गणराज्य	1965
केनिया	1952	भारत पाकिस्तान	1965
ग्वाटेमाला	1954	इण्डोनेशिया	1965
अल्जीरिया	1954	बियाफ्रा	1966
सूडान	1955	इजरायल	1967
साइप्रस	1955	चैकोस्लोवाकिया	1968
सिनाई	1956	मलेशिया	1969
हंगरी	1956	अलसाल्वेडोर	1969
स्वेज	1956	छाद	1969
लेबनान	1958	उत्तरी आयरलैण्ड	1969
क्यूबा	1958	इथियोपिया (इरीट्रिया)	1970
वियतनाम	1959	ग्वाटेमाला	1970
हिमालय	1959	बंगलादेश/काश्मीर	1971
रुआंडा	1959	बुरुण्डी	1972
लाओस	1959		

इन युद्धों के बाद कुछ और भी युद्ध हो चुके हैं जिनमे सबसे महत्त्वपूर्ण अक्तूबर, 1973 का अरब-इजरायल युद्ध था। सन् 1975 मे वियतनाम युद्ध का भी पुन. गम्भीर रूप से विस्फोट हो गया था।

युद्ध के बारह कारण (Twelve Causes of War)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषय है—युद्ध के कारण। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विवाद आखिर क्यो हिंसात्मक बन जाते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के पृष्ठ खून से रगे हुए हैं और एक नैतिकतावादी यह प्रश्न कर सकता है कि लोग युद्ध मे उस व्यवहार को क्यो क्षमा कर देते हैं जिस व्यवहार को वे शान्ति-काल मे सहन करने को तैयार नही होते। क्या युद्ध मानवीय सामाजिक व्यवस्था मे एक अन्तर्राष्ट्रीय रोग है, एक सामूहिक पागलपन अथवा उन्माद है, सीढियो से गिर पडने जैसा एक दुष्कृत्य है? क्या यह कतिपय हितो और गुटो के षडयन्त्र की उपज है अथवा युद्ध, भयानक होते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक विवेकपूर्ण और प्रकार्यात्मक अंग है?[1]

विभिन्न विचारको ने युद्ध के मूल और गौण, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारणो का विवेचन किया है। युद्ध के कारणो को प्राय: दो भागो मे बाँटा गया है—प्रथम भाग मे उन तात्कालिक कारणो को सम्मिलित किया गया है जो युद्ध की आग भडका देते हैं, दूसरे भाग मे उन शेष कारणो को लिया जाता है जो युद्ध के लिए एक लम्बे समय से ही अनुकूल वातावरण तैयार कर रहे थे। प्रथम महायुद्ध के कारणो का

1 *Steven J. Rosen & Walter S. Jones* : The Logic of International Relations, 1974, p. 231

अध्ययन करते हुए प्रो. सिडनी बी. फे (Sidney B. Fay) ने बताया है कि युद्ध का सबसे मूल कारण गुप्त सन्धियों की व्यवस्था (System of Secret Alliances) थी जो फ्रांको-प्रशियन युद्ध के बाद प्रारम्भ हुई थी। दूसरे अन्य सहायक कारण चार थे—सैनिकवाद, राष्ट्रवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद और समाचार-पत्र प्रकाशन। क्विंसी राइट (Quincy Wright) ने युद्ध के विभिन्न कारणों का वर्णन किया है जिनमे कुछ तो मूल हैं और कुछ तात्कालिक। कभी-कभी कुछ घटनाएँ युद्ध का कारण बन जाती हैं, कभी लोगों की मनोभावनाएँ एवं महत्त्वाकांक्षाएँ युद्ध को उकसाती हैं। इनके अतिरिक्त शस्त्रों की दौड, कूटनीतिक व्यवहारों की अकुशलता, वाणिज्य-नीतियाँ, सम्प्रभुता की मान्यता, उपनिवेशों के मतभेद, देश के विस्तार की प्रवृत्ति, आदि अन्य बातें भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध को भड़काने में सहायक होती हैं। क्विंसी राइट के मतानुसार युद्ध के कारणों को कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। इसके राजनीतिक, तकनीकी, सैद्धान्तिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक कारण हैं। टर्नर (Tell A. Turner) ने अपनी पुस्तक 'युद्ध के कारण और नवीन क्रान्ति' (The Causes of War and the New Revolution) में युद्ध के 41 कारणों का उल्लेख किया है। वे इन कारणों को चार भागों में विभाजित करते हैं—आर्थिक, राजवंश सम्बन्धी, धार्मिक और भावात्मक। अन्य अनेक विचारकों द्वारा भी युद्ध के कारणों की व्यवस्था की गई है।

स्टीवेन जे. रोजन तथा वाल्टर एस जोन्स ने अपनी 1974 में प्रकाशित पुस्तक 'The Logic of International Relations' में बहुत ही व्यवस्थित और तार्किक रूप में युद्ध के बारह कारणों को प्रस्तुत किया है और इन्हें 'युद्ध के कारणों के बारह सिद्धान्तों' (Twelve Theories of the Causes of War) का नाम दिया है। ये बारह सिद्धान्त हैं—

(1) शक्ति-विषमता (Power Asymmetries)
(2) राष्ट्रवाद, पृथक्तावाद और भूमि-अपहरणवाद (Nationalism, Separatism and Irredentism)
(3) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक डार्विनवाद (International Social Darwinism)
(4) संचार-असफलता और पारस्परिक सन्देहबोध (Communications' Failure and Mutual Misperception)
(5) अनियन्त्रित शस्त्रास्त्र दौड़ (Runaway and Uncontrolled Arms Races)
(6) बाह्य संघर्ष के माध्यम से आन्तरिक एकीकरण की अभिवृद्धि (The Promotion of Internal Integration through External Conflict)
(7) स्वतः प्रेरित आक्रमण, हिंसा के प्रति सांस्कृतिक रुझान और युद्ध-शान्ति के चक्र (Instinctual Aggression, Cultural Propensities to Violence, and War Peace Cycles)

(8) आर्थिक और वैज्ञानिक उत्तेजनाएँ (Economic and Scientific Stimulation)
(9) सैनिक-औद्योगिक समूह (The Military-Industrial Complexes)
(10) सापेक्ष वंचन या हरण (Relative Deprivation)
(11) जनसख्या की सीमा (Population Limitation)
(12) सघर्ष सकल्प (Conflict Resolution)

1. शक्ति-विषमता (Power Asymmetries)—युद्ध का एक प्रमुख कारण शक्ति-विषमता है अर्थात् शक्ति के वितरण में एक प्रतिकूल झुकाव (An unfavourable tilt in the distribution of power) होने से युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है। विरोधियो में जब शक्ति का सावधानीपूर्ण सन्तुलन बना रहता है तो युद्ध पर रोक लगने की प्रवृत्ति पनपती है और जब विरोधियो में शक्ति का असन्तुलन पैदा हो जाता है तो आक्रमण का मार्ग खुल जाता है।[1] अतः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि दोनों पक्षों के तकनीकी और अन्य लाभों में सापेक्ष समता बनी रहे, सन्तुलन बिगड़ने न पाए। एक-पक्षीय निःशस्त्रीकरण द्वारा जब शक्ति-शून्यता (A 'Vacuum' of Power) की स्थिति उत्पन्न होती है तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे अस्थिरता आने लगती है और सैनिक महत्त्वाकांक्षाओ को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार के विचार के समर्थकों का विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे सघर्ष के अवसर और विवाद सदैव उपस्थित रहते हैं और युद्ध का तात्कालिक कारण प्रायः यही बनता है कि शक्ति-सन्तुलन विगड जाता है, शक्ति के वितरण मे विषमता आ जाती है।

संघर्ष मे एक पक्ष मूल्यों के महत्त्वपूर्ण पुनर्वितरण (Major Redistribution of Values) का पोषक होता है जबकि दूसरा यथापूर्व स्थिति (The Status-quo) बनाए रखना चाहता है अर्थात् जब आक्रमण और सुरक्षा (The Offence and the Defence) के बीच एक स्पष्ट अन्तर हो तो शान्ति एक विशेष प्रकार की विषमता (A certain kind of asymmetry) द्वारा ही कायम रखी जा सकती है अर्थात् शान्ति तभी अधिक सुरक्षित रह सकती है जब अक्रान्तिकारी विरोधी की श्रेष्ठता (Superiority of the Non-revolutionary Antagonist) स्थापित हो जाए। उदाहरणार्थ, विंस्टन चर्चिल ने मार्च, 1946 में 'लोह आवरण' की अपनी प्रसिद्ध फुल्टन वक्तृता मे कहा था कि सोवियत आक्रमण को केवल पाश्चात्य सैनिक श्रेष्ठता के बल पर ही रोका जा सकेगा।[2]

1 "There is widespread conviction that, whatever other impetuses to war may be present, a careful equilibration of power between antagonists will tend to prevent war while a disequilibrium will invite aggression."
—*Rosen & Jones* : op. cit., p. 232.

2 "Soviet aggression would be stopped only by Western military superiority." —*Rosen & Jones* : Ibid, p. 233.

विषमताओं या असमितियों (Asymmetries) से तात्पर्य औद्योगिक क्षमता, जनसंख्या एवं युद्ध-क्षमताओं के अन्य भौतिक तत्त्वों के विभिन्न स्तरों से ही नहीं है बल्कि अधिक गतिशील और चल राजनीतिक तत्त्वों से भी है। मित्र राष्ट्रों को, जो पारस्परिक सुरक्षा हेतु साधनों को संगठित करने के इच्छुक हों, एक सूत्र में बाँधे रखने की योग्यता का विशेष महत्त्व है। आधुनिक जगत् में केवल दो राज्य रूस एवं अमेरिका, अकेले सङ्कटों का सामना करने में समर्थ हैं परन्तु संयुक्त कार्यवाही से उन्हें भी अनेक राजनीतिक व रणनीति सम्बन्धी लाभ मिलते हैं। छोटे राज्यों के लिए विषमताओं को दूर करने में सन्धियों को कायम रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ इजराइल अमेरिका पर व सीरिया रूस पर आश्रित हैं।

अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व इच्छा है। यदि एक पक्ष लड़ने को उद्यत न हो तो श्रेष्ठ क्षमताएँ व ठोस सन्धियाँ भी विषमताओं की जनक बन जाती हैं। इसके विपरीत सीमित साधनों व समर्थन वाला राज्य भी अपनी क्षमताओं के पूर्ण उपयोग से विषमताओं को रोक सकता है। राजनीतिक विषमताओं को रोकने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दोनों राज्यों में पूर्ण सन्तुलन हो बल्कि केवल समर्थ आक्रामकों को इस बात का पूर्व ज्ञान हो कि विरोध पर विजय प्राप्त करने का मूल्य लाभों से अधिक है। अतएव, सत्ता का असन्तुलन युद्ध का एक कारण है जिसे नियन्त्रित किया जा सकता है।

2. राष्ट्रवाद, पृथकतावाद और भूमि-अपहरणवाद (Nationalism, Separatism and Irredentism)—राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन युद्ध के दूसरे कारण हैं। राष्ट्रवाद एक सामूहिक समूह बोध है जो विभिन्न व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधता है। राष्ट्र व्यक्ति का सर्वोपरि सम्बन्ध व कर्त्तव्य बन जाता है तथा वैयक्तिक रूप राष्ट्रीय 'हम-समूह' में परिवर्तित हो जाता है।

एक समूह से आवश्यक लगाव दूसरे समूहों से विवाद बन जाता है। सन् 1969 में एक शोध दल ने ऐसे 160 महत्त्वपूर्ण विवादों का उल्लेख किया था जिनके 15 वर्षों में विशाल मात्रा में हिंसा में परिणत होने की प्रबल सम्भावना है। उन विवादों की लम्बी सूची का वर्गीकरण निम्नांकित है—

(1) राष्ट्रीय विवाद जिनमें जातीय, धार्मिक व भाषाई समूहों के विवाद हैं।
(2) वर्ग-विवाद जिनमें आर्थिक शोषण के विवाद सम्मिलित हैं।
(3) अन्य विवाद जो समरूप समूहों व वर्गों के विवाद से परे हैं।

इन विवादों में 70 प्रतिशत राष्ट्रीय व जातीय विवाद हैं जबकि शेष वर्गीय व अन्य विवाद हैं। वस्तुतः युद्ध को जन्म देने की शृंखला में राष्ट्रीयता एक प्रभावी तत्त्व है जो अन्य कारणों की अपेक्षा रक्तपात के लिए उत्तरदायी है। जाति, भाषा, धर्म व वंश के आधार पर गठित हम-समूहों की सीमा व राजनीतिक माँगों द्वारा ही राष्ट्रीयता व युद्ध में सम्बन्ध स्थापित होता है।

आधुनिक युद्ध में राष्ट्रीय उग्रवाद के दो प्रमुख रूप मुख्यतया प्रभावी होते हैं—पृथकतावादी व भूमि-अपहरणवादी रूप। पृथकतावादी रूप में एक राष्ट्रीय

समूह वर्तमान राज्य से पृथक् होकर एक नए समूह की रचना का प्रयास करता है जबकि भूमि-अपहरणवादी रूप में एक वर्तमान राज्य दूसरे राज्य की भूमि व जनसंख्या का दावा करता है। इन दोनों बातों को कुछ विस्तार से समझ लेना उपयुक्त है—

पृथकतावाद और युद्ध (Separatism and War)—विश्व के 140 राष्ट्रीय राज्यों में अल्पसंख्यक सम्मिलित हैं। युगों तक अन्य समूहों के साथ रहते हुए भी अल्पसंख्यक समुदाय स्वयं को पृथक् अनुभव करते हैं। यह भावना पृथक्तावादी आन्दोलन में परिणत हो जाती है और राज्य की भूमि में से ही पृथक् भूमि पर पृथक् राज्य की अथवा वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के नियन्त्रण से मुक्त आन्तरिक स्वायत्तता की माँग की जाती है। सत्तारूढ़ राजनीतिक व्यवस्था द्वारा राज्य की राजनीतिक व सीमा सम्बन्धी एकता के हित में पृथकतावादी माँगों का साधारणतया विरोध किया जाता है। अत: पृथकतावादी माँगों के सम्बन्ध में विवाद युद्ध के कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, पाकिस्तान के पूर्वी भाग की बंगला जनता द्वारा सन् 1971 में पश्चिमी भाग से पृथक् होने के लिए युद्ध किया गया जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्र बंगलादेश के रूप में नए राज्य का निर्माण हुआ।

इसी प्रकार अनेक राज्यों में भाषा व नस्लों के आधार पर भी पृथक् राज्यों की माँग की जाती है। संघीय राज्यों में, जहाँ परिस्थितिवश अथवा इच्छा द्वारा विभिन्न जन-समूह अपने हितों की रक्षा के लिए सक्रिय हों, वहाँ विवाद खड़े हो जाते हैं तथा पृथकतावादी आन्दोलनों को जन्म देते हैं।

भूमि-अपहरणवाद एवं युद्ध (Irredentism and War)—भूमि-अपहरणवाद का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अधिक महत्त्व रहा है। वस्तुतः विश्व की समस्त जनसंख्या व धरातल किसी न किसी राष्ट्रीय राज्य की सीमा के अन्तर्गत है तथापि सीमा निर्धारण में (मुख्यतया युद्ध और विजय के द्वारा) प्राकृतिक विभाजनों की उपेक्षा हुई है। राजनीतिक सीमाएँ के आधार जन-समूह के अनुकूल नहीं हैं। बहुत से स्थानों पर एक जन-समूह दो राज्यों की सीमाओं में आ जाता है। इस समूह के पुनः एकीकरण के प्रयास स्वरूप भूमि अपहरणवाद का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ पाकिस्तान काश्मीर पर इसी आधार पर दावा करता है कि वहाँ की जनसंख्या मुस्लिम है। भूमि अपहरणवाद के कुछ दावे तो इस प्रकार के हैं कि सम्पूर्ण राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विलुप्त हो जाएँगे। यद्यपि पृथकतावाद और भूमि अपहरणवाद वंशीय प्रश्नों से प्रारम्भ होते हैं, परन्तु आर्थिक एवं प्राकृतिक साधनों से भी सम्बन्धित होते हैं। आर्थिक समस्याओं के अतिरिक्त इस प्रकार के आन्दोलनों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एक नैतिक धर्म-संकट उपस्थित कर दिया है। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है, अतः इस प्रकार के संघर्षों को समर्थन मिलता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक डार्विनवाद (International Social Darwinism)—अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक डार्विनवाद का दर्शन युद्ध का तीसरा

सिद्धान्त है। प्राणियों की तरह समाज भी विकसित होते हैं तथा प्रतियोगिता में सबल समाज आगे बढ़ जाते हैं और निर्बल पीछे रह जाते हैं। सभ्यता के विकास के लिए सामाजिक डार्विनवादी इसे आवश्यक मानते है। युद्ध के परिणामस्वरूप सत्ता की बागडोर निर्बल हाथो से निकल कर सबल और प्रगतिशील हाथों मे आ जाती है। यह दर्शन फासीवाद से सम्बन्धित रहा है। मुसोलिनी के शब्दो मे "फासीवाद सार्वजनिक शान्ति की सम्भावना अथवा उपयोगिता मे विश्वास नही करता तथा शान्तिवाद को, जो कायरता एवं समर्पण को प्रोत्साहित करता है, अस्वीकार करता है। केवल युद्ध मे ही मानवीय शक्तियो का विकास चरम सीमा तक होता है तथा युद्ध तो उन व्यक्तियो पर जिनमे सामना करने की क्षमता है श्रेष्ठता की मुहर लगाता है।"[1]

फासीवाद विभिन्न समाजो के उन प्राणियो को एक समान मानता है जो रक्त सम्बन्धो से बँधे हुए है तथा इस दर्शन का निष्कर्ष नाजीवाद है जिसके दो सिद्धान्त जाति तथा सीमा है और जो जातियो की समानता मे विश्वास न कर उनके अन्तर के अनुपात मे उनका मूल्यांकन करता है। जनसंख्या मे वृद्धि होती रहती है पर रहने का स्थान सीमित होने के कारण जातियो को स्थान के लिए संघर्ष करना पडता है। अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक डार्विनवाद विवाद तथा समूहो की विभिन्नताओं को महत्त्व देता है। फासीवादी व नाजीवादी आन्दोलनो का यद्यपि अन्त हो गया है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक डार्विनवाद का सिद्धान्त सजीव है।

4. संचार-असफलता (Communications Failure)—विवादो के साहित्य मे संचार-असफलता का सिद्धान्त भी युद्ध का कारण है। राष्ट्र एक दूसरे को अपनी विचारधाराओ के अनुसार देखते है जैसा कि शीत-युद्ध के विवादो मे प्राय. होता है। इस प्रकार की बोधात्मक विकृतियाँ पारस्परिक सन्देहो को जन्म देती हैं। एक सरकार द्वारा दिए गए सहयोगात्मक सन्देशो के अनुपात मे चेतावनियाँ अधिक प्रभावी होती हैं। एक राष्ट्र द्वारा अन्य राष्ट्र के विषय मे जो मान्यताएँ बनती हैं वे वास्तविकता से परे होती हैं और साक्षी तथा अनुभव के परिप्रेक्ष्य मे भी नही बदलती। संचार-असफलता और सुरक्षा का भय अन्तर्राष्ट्रीय तनावो को बढा कर विनाशकारी प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं।

5. शस्त्रास्त्रीय दौड़ (Arms Races)—अनियन्त्रित शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा का दर्शन भी युद्ध का कारण है। विरोधी राष्ट्र पारस्परिक भय के कारण एक दूसरे से डरते हैं तथा एक के द्वारा की गई सुरक्षात्मक कार्यवाही को आक्रामक विचारों से

1 "Fascism above all does not believe either in the possibility or utility of universal peace. It therefore rejects the pacifism which masks surrender and cowardice. War alone brings all human energies to their highest tension and sets a seal of nobility on the peoples who have the virtue to face it." —*Benito Mussolini* quoted by Steven Rosen and Walter Jones : The Logic of International Relations, 1974, p 242-243.

प्रभावित समझा जाता है और उसके प्रत्युत्तर में शस्त्रों से सुसज्जित होने का प्रयास किया जाता है। शस्त्रों तथा संगठित सैनिक संगठनों के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा होती है एवं प्रत्येक पक्ष श्रेष्ठता के लिए प्रयत्नशील रहता है। गणितीय अध्ययन के अनुसार शस्त्रास्त्रों की दौड़ सक्रिय विवादों को जन्म देती है और पराकाष्ठा पर पहुँच कर विस्फोटक हो जाती है। उदारवादी विचारकों के अनुसार अत्यधिक सैन्य सज्जा तथा शस्त्रास्त्रों का संचय युद्ध के कारण है जबकि अनुदारवादियों की मान्यता है कि ये शान्ति को अक्षुण्ण रखने में सहायक हैं। नारमन कजिंस द्वारा किए गए कम्प्यूटर अध्ययन के अनुसार 650 ई. पू. से अब तक 1956 शस्त्रास्त्रों की होड़ों में से केवल 16 युद्ध में परिणत नहीं हुई तथा इन अपवादों में से अधिकांश आर्थिक संकट का शिकार बनीं। सैम्युअल पी. हटिंगटन के अध्ययन के अनुसार शस्त्रास्त्रों की दौड़ *युद्ध की प्रस्तावना अथवा विकल्प सिद्ध हुई। शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा और युद्ध में* महत्त्वपूर्ण निकटता होते हुए भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शस्त्रास्त्रों की दौड़ के परिणामस्वरूप युद्ध हुए। महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विवाद ही शस्त्रास्त्र की दौड़ तथा युद्ध के कारण हैं। शस्त्रों की होड़ तथा भय वर्तमान विवादों की अग्नि में घी का काम करते हैं परन्तु नए विवाद इनके कारण उत्पन्न नहीं होते।

6 बाह्य संघर्ष के माध्यम से आन्तरिक एकीकरण (**Internal Cohesion through External Conflict**)—इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध आन्तरिक सामूहिक एकीकरण की अभिवृद्धि की नीतियों के परिणामस्वरूप होते हैं। बाह्य संघर्ष के माध्यम से आन्तरिक एकीकरण की दिशा में किए गए प्रयास कालान्तर में युद्ध को जन्म देते हैं—संयुक्त शत्रु का सामना करने के लिए एकीकरण की प्रक्रिया युद्ध को बढ़ावा देती है। सन् 1866 से 1871 के मध्य बिस्मार्क द्वारा प्रोत्साहित तीनों युद्ध जर्मन राज्यों के एकीकरण के उद्देश्य से लड़े गए थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आन्तरिक विघटन की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध पसन्द किया जाता है। वैज्ञानिक अध्ययनों के अनुसार आन्तरिक एकीकरण तथा बाह्य संघर्ष में सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता।

7. स्वतः प्रेरित आक्रमण (**Instinctual Aggression**)—आक्रमण की भावना का सिद्धान्त युद्ध के सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्धान्तों में से है। मानव का स्वभाव युद्धप्रिय होता है। हिंसा में उसे आनन्द की अनुभूति होती है, इसीलिए टेलीविजन तथा चलचित्रों में लड़ाई और हिंसा को प्रदर्शित किया जाता है। आक्रामक भावना और युद्ध के निश्चय के सम्बन्ध के विषय में मतभेद हैं। 25 युद्धों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि भावनाओं के कारण युद्ध करने का निश्चय नहीं किया गया। अन्य विचारक आक्रमण को भावना से सम्बन्धित करते हैं। राजनीतिक विवादों को छेड़ने में आक्रामक भावना बलवती रही है जिससे युद्ध का निश्चय किया गया।

क्रमबद्ध अध्ययन वास्तविक तथा अवास्तविक विवादों में अन्तर करता है। वास्तविक विवाद में संघर्ष का कारण उद्देश्य सम्बन्धी मतभेद होता है जबकि अवास्तविक विवादों में अन्य कारण तो बहाना मात्र होते हैं और लड़ने वालों का

मुख्य उद्देश्य हिंसा रहता है। कुछ विचारकों के अनुसार आक्रमण की समस्या का समाधान आक्रमण भावना को नष्ट करने में न होकर उसे रचनात्मक दिशा प्रदान करने में है। आक्रामक भावनाएँ राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण में सहायक होती हैं तथा राष्ट्रीय विचारधारा को प्रभावित करती है। विभिन्न संस्कृतियों के आक्रामक व्यवहार में भिन्नता होती है।

8 आर्थिक और वैज्ञानिक उद्दीपन (Economic and Scientific Stimulation)—युद्ध का अन्य सिद्धान्त आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित है। युद्ध ने वैज्ञानिक खोज, तकनीकी सुधार व औद्योगिक विकास को गति प्रदान की है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि सैन्य व्यय उचित है और उसमें कटौती करने से अनेक उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि यह मान लिया जाए तब भी यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि युद्ध व्यापार के लिए उचित है। बड़े युद्धों के आर्थिक दुष्परिणाम निकलते हैं, मुद्रा-प्रसार की अभिवृद्धि होती है, साख घट जाती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं तथा आर्थिक प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। चाहे युद्ध लाभकारी भले ही न हो, परन्तु रक्षात्मक व्यय पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बनाए रखना लाभकर होता है। युद्ध का प्रारम्भ न हो तब भी रक्षात्मक व्यय शीतयुद्ध को कायम रखने में सहायक होता है।

9. सैनिक औद्योगिक समूह (Military-Industrial Complexes)—सैनिक-औद्योगिक समूह भी युद्ध का कारण बन जाते हैं। शक्तिशाली आन्तरिक समूह, जिनके हित सैन्य-व्यय में निहित होते हैं, राष्ट्रों में तनाव व विरोध बनाए रखने में अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं। इन आन्तरिक समूहों में सैनिक-औद्योगिक संस्थाएँ सम्मिलित हैं—(1) व्यावसायिक सिपाही, (2) व्यवस्थापक तथा पूँजीवादी राज्यों में सैन्य उद्योगों के स्वामी, (3) राज्य के उच्च अधिकारी जिनके हित सैन्य-व्यय से जुड़े हुए होते हैं, तथा (4) विधायक जिनके निर्वाचन-क्षेत्रों को रक्षात्मक योजनाओं से लाभ पहुँचता है। इन सैनिक-औद्योगिक संस्थानों के सदस्यों को अन्य छोटे समूहों का समर्थन भी प्राप्त होता है। शनैः-शनैः ये समूह राजनीतिक व्यवस्था में अपना प्रभाव बढ़ा लेते हैं तथा रक्षात्मक व्यय की राशि में कटौती नहीं होने देते एवं राष्ट्रीय सुरक्षा-नीति के निर्माण को प्रभावित करते हैं। विरोधी हितों की तुलना में इन संस्थानों का प्रभाव अधिक होता है। सैन्य-व्यय के लिए ये सैद्धान्तिक विवाद खड़े कर देते हैं तथा शीतयुद्ध जैसी स्थिति को यथावत् बनाए रखने में अपने हितों का संरक्षण मानते हैं।

यह सिद्धान्त पूँजीवादी व समाजवादी व्यवस्थाओं में समान रूप से क्रियाशील रहता है। इसमें कुछ दोष हैं। राष्ट्रीय उत्पादन में कमी होने के कारणों पर इस सिद्धान्त का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता। फिर भी आर्थिक नीतियों के निर्माण में इन संस्थानों का बहुत योगदान होता है।

10 सापेक्ष वंचन (Relative Deprivation)—सापेक्षिक वचन का सिद्धान्त आन्तरिक युद्धो के कारणो का विश्लेषण करने मे सहायक होता है। जब व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि उन्हे उचित लाभ नही मिल रहा है तो राजनीतिक विद्रोहो तथा विप्लवो को प्रोत्साहन मिलता है तथा अधिक लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से राजनीतिक हिंसा व आक्रामक कार्यवाही की ओर झुकाव बढता है। परन्तु देखा गया है कि निर्धनता तथा अत्याचार प्रत्यक्षत विद्रोहो को जन्म नही देते, बल्कि इन दशाओं का मनोवैज्ञानिक प्रत्युत्तर निश्चित करते हैं। *प्राय हिंसा तब फैलती है जब स्थितियो मे सुधार हो रहा होता है, न कि तब जबकि स्थितियाँ खराब होती है।* सन् 1945 के बाद मे लडी गई लडाइयाँ विकासशील देशो मे हुई न कि विकसित देशो मे। विकसित देशो मे इस काल मे केवल छुटपुट घटनाएँ ही हुईं। धनी देश अपनी सीमाओ से परे अन्य देशो के विवाद मे पड जाते हैं।

11. जनसंख्या सीमा (Population Limitation)—जनसख्या मे वृद्धि युद्धों को जन्म देती है। खाद्यान्नो की तुलना मे जनसख्या मे वृद्धि अधिक होती है। खाद्यान्नों की मात्रा के अनुसार जनसंख्या को नियन्त्रित किया जाना चाहिए और युद्ध द्वारा यह नियन्त्रण सम्भव है। परन्तु यह सिद्धान्त तथ्यो पर आधारित नही है। युद्धो मे अधिक सख्या मे व्यक्तियों की मृत्यु नहीं होती। केवल अपवाद स्वरूप कुछ युद्धों मे ही अधिक संख्या मे जीवन का विनाश हुआ, परन्तु वहा भी अधिकाधिक 5 प्रतिशत व्यक्तियो की मृत्यु ही हुई। हरित क्रान्ति द्वारा खाद्यान्नो मे अधिक मात्रा मे वृद्धि सम्भव है तथा जनसंख्या के नियन्त्रण की समस्या उत्पन्न नही होती।

12. संघर्ष संकल्प (Conflict Resolution)—युद्ध विवादो के हल मे सहायक होते है। सामान्यतया दो अथवा दो से अधिक समूह किन्ही साधनों तथा स्थितियों पर अपना-अपना दावा करते हैं तथा ऐसी स्थिति मे युद्ध द्वारा समस्याएँ हल होती है। युद्ध विवादो के निर्णय का तार्किक माध्यम है तथा युद्ध-नीतियाँ उत्पादन-व्यय और लाभ की दृष्टि से निर्मित की जाती हैं। परन्तु यह विवादास्पद प्रश्न है। विवादों का हल पंच फैसले, चुनाव, अदालतो तथा प्रशासनिक निर्णयों द्वारा भी सम्भव है। सीधी वार्ता मध्यस्थता तथा समझौतो के द्वारा भी विवादो को हल किया जा सकता है। फिर भी अन्तत· युद्ध द्वारा विवादो के हल का प्रयास किया गया है।

युद्ध के 12 कारणो के अतिरिक्त षड्यन्त्रो, छिपे उद्देश्यो तथा गुप्ती लोगो के प्रभाव के कारण भी युद्ध लडे जाते है।

स्टीड (Wickham Steed) ने युद्ध के कारणो मे 'भय' को प्रधान माना है। असुरक्षा की भावना निश्चय ही आज के विश्व मे युद्ध का सबसे प्रमुख कारण है। दूसरे विचारक 'सम्प्रभु' राज्यों के अस्तित्व को युद्ध का प्रमुख कारण मानते हैं। आर्नल्ड ब्रेक्ट (Arnold Brecht) ने लिखा है कि राज्यो के बीच युद्ध होते है, इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि विश्व मे सम्प्रभु राज्य हैं। इसी बात पर टिप्पणी करते हुए क्विंसी राइट ने कहा है कि युद्ध का कारण सम्प्रभु राज्यो का

6. युद्ध आधुनिक विश्व का निर्माता है—कहा जाता है कि युद्ध द्वारा एक राष्ट्र के व्यक्तित्व का सही अर्थों मे निर्माण होता है । युद्धो के द्वारा ही एक राष्ट्र की सीमाएँ निर्धारित की जाती हैं । प्रोफेसर शॉटवैल का कथन है कि आज के विश्व का नक्शा अधिकांशत युद्ध के मैदानो मे ही निश्चित किया गया है । क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के मतानुसार युद्ध को विश्व के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तनो के लिए, राष्ट्रीय राज्यो के निर्माण के लिए, आधुनिक सभ्यता का विश्व-व्यापी प्रसार करने के लिए तथा उस सभ्यता के प्रभावकारी हितो को परिवर्तित करने के लिए उपयोग मे लाया गया है । कानून, विदेश-नीति, सैनिक, तकनीकी तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की कुछ परिस्थितियो मे युद्ध 'नीति का एक मूल्यवान साधन' बन जाता है । पामर तथा पर्किस के शब्दो मे, "संक्षेप मे युद्ध आधुनिक विश्व का उसके राज्यो, कारखानो, इसकी नैतिकता और इसके सॉंस्कृतिक रूप का प्रमुख निर्माता रहा है ।"

7. युद्ध व्यक्ति को ऊँचा उठाता है—युद्ध के जान-माल का जो विनाश होता है वह व्यक्ति के मन मे इन वस्तुओ की नश्वरता के भाव जाग्रत करता है । अत वह स्वार्थ, परिग्रह, लोभ, मोह आदि दुर्गुणो के स्थान पर उदार, निर्भीक तथा अपरिग्रही बनता है; उसमे बलिदान करने की शक्ति उत्पन्न होती है । दूसरे शब्दो मे, युद्ध के कारण व्यक्ति की नैतिक एव आध्यात्मिक विशेषताएँ प्रखर होकर प्रकाश मे आती है । भारत-पाक संघर्षों ने भारतीयो के साहस, मनोबल और आत्म-त्याग को कितना ऊँचा उठाया है, यह प्रकट तथ्य है । प्राय दवाइयाँ कडवी होती हैं, किन्तु रोग को दूर करने व स्वास्थ्य मे निखार लाने के लिए उनकी आवश्यकता होती है । उसी प्रकार युद्ध के भी कुछ बुरे परिणाम होते है, किन्तु देश के व्यक्तित्व के निर्माण मे यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है । तिरस्कापूर्ण एव भ्रष्ट शान्ति की अपेक्षा सम्मानपूर्ण युद्ध श्रेष्ठ है जो आत्म-बलिदान, समानता, ईश्वर-प्रेम, परार्थ, राष्ट्रीय एकता आदि भावो का विकास करता है ।

8 युद्ध विकास को सही दिशा देता है—डार्विन ने जीव-विकास के सम्बन्धो मे दो सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था । उन्ही के आधार पर यह कहा जाता है कि युद्ध राष्ट्रो के सही विकास के लिए आवश्यक है । युद्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जो कमजोर राष्ट्रो का उन्मूलन कर देती है तथा शक्तिशाली लोगों के उन्नति व विकास के लिए मार्ग प्रशस्त कर देती है । बर्नार्डी (Bernhardı) के मतानुसार युद्ध प्रथम महत्त्व की प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता है । बिना युद्ध के कमजोर जातियाँ स्वस्थ तत्त्वो के विकास को रोक देंगी तथा सामान्य रूप से पतन प्रारम्भ हो जाएगा ।[1]

युद्ध के उपर्युक्त कार्यों अथवा लाभों को अतिशयोक्ति बता कर इनकी आलोचना की जा सकती है, किन्तु इनको पूरी तरह से असत्य नही माना जा सकता ।

1 *Friedrich Von Bernhardı* : Germany and the Next War, pp. 18-20.

विलर्ड वालर (Willard Waller) के मतानुसार युद्ध से कोई लाभ नहीं है तथा किसी भी समस्या को इसके द्वारा नही सुलझाया जा सकता; किन्तु पामर तथा पर्किंस का कहना है कि प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि युद्ध के द्वारा कभी-कभी अनेक लाभ प्राप्त हो जाया करते हैं। इसलिए युद्ध का विरोध करते समय यह तर्क देना अनुचित है कि इससे कुछ भी प्राप्त नही होता या इसका कोई उपयोग नही है वरन् कहना यह चाहिए कि युद्ध एक अमानवीय तथा जगली साधन है जिसका उपयोग यथासम्भव अच्छे उद्देश्य प्राप्त करने के लिए भी नही करना चाहिए।

सम्पूर्ण युद्ध (The Total War)

आधुनिक युद्ध के स्वरूप को देख कर इन्हे समग्र युद्ध की संज्ञा प्रदान की जाती है। मॉर्गेन्थो ने स्वीकार किया है कि आधुनिक युद्धो को चार कारणों मे सम्पूर्ण युद्ध कहा जा सकता है। प्रथम, इसलिए कि जनसख्या का एक बहुत बड़ा भाग भावनाओ तथा प्रेरणाओं की दृष्टि से पूर्णतः एकरूप होकर राष्ट्रीय युद्धो मे लग जाता है। दूसरे, युद्ध मे योगदान करने वाले लोगो की सख्या बहुत बड़ी होती है। तीसरे, युद्ध से बडी संख्या में लोग प्रभावित होते हैं और चौथे, युद्ध द्वारा जिन उद्देश्यों की साधना के लिए प्रयास किए जाते हैं वे अत्यन्त व्यापक होते है। इन सभी दृष्टियो से पहले युद्ध सीमित हुआ करते थे क्योकि उनको थोड़े ही लोगो का भावनात्मक एव सैद्धान्तिक सहयोग प्राप्त होता था; युद्ध मे सक्रिय रूप से बहुत थोड़े लोग लडते थे, युद्ध से प्रभावित होने वाली जनसख्या अधिक नही होती थी और युद्ध के उद्देश्य भी सीमित होते थे; किन्तु आज स्थिति पूर्णतः विपरीत है।

1. वर्तमान युग मे जब युद्ध होता है तो देश के समस्त नागरिक युद्ध के साथ स्वयं को एकरूप कर लेते हैं। यह एकरूपता नैतिक एवं अनुभूतिपरक तत्त्वो के आधार पर स्थापित की जाती है। नैतिक तत्त्व न्यायपूर्ण युद्ध के सिद्धान्त की बीसवी शताब्दी की पुनरावृत्ति है। इसके अनुसार युद्ध मे सलग्न दो राज्यो के बीच भेद करते हुए यह निश्चित किया जाता है कि कौन कार्य कानून और नैतिकता की दृष्टि से न्यायोचित है तथा किसको कानूनी तथा नैतिक दृष्टि से हथियार उठाने का अधिकार नही है। यह सिद्धान्त मध्ययुग मे अत्यन्त प्रभावी था, किन्तु आधुनिक राज्य-व्यवस्था के जन्म ने इस पर पानी फेर दिया है। जिसके परिणामस्वरूप एक नया सिद्धान्त विकसित हुआ जो प्रत्येक प्रकार के युद्ध को न्यायोचित ठहराता है। सीमित युद्धो मे न्यायोचित और अन्यायपूर्ण युद्ध के बीच का अन्तर अस्पष्ट रूप से बना रहा, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी मे यह पूरी तरह से समाप्त हो गया। अब युद्ध को एक तथ्य मात्र समझा जाता है जिसके आचरण के नैतिक एवं कानूनी नियमों की रचना राज्य अपनी स्वेच्छा से कर सकते हैं। इस प्रकार युद्ध राष्ट्रीय एवं शासको के व्यक्तिगत हित का साधन बन गया है जिसे कूटनीति के साथ संयुक्त किया जाता है।

इस प्रकार के युद्ध के साथ जनता स्वयं को एकाकार करने में कठिनाई अनुभव करती है। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब युद्ध के उद्देश्य को नैतिक सिद्ध कर दिया जाए। दूसरे शब्दों मे, यह कहा जाता है कि शत्रु के विरुद्ध तथा अपने समर्थन मे नैतिक उत्साह जाग्रत करने के लिए यह जरूरी है कि अपने पक्ष को न्यायोचित बनाया जाए और दूसरे पक्ष को अन्याय पर आधारित ठहराया जाए। सम्भव है कि जो भाग्यवश या व्यावसायिक सैनिक है वे बिना इस सबके युद्ध में अपनी जान दे दें, किन्तु शस्त्र धारण करने वाले सामान्य नागरिक बिना इसके आगे नही बढ सकते। उन्नीसवी शताब्दी मे नेपोलियन के युद्धो मे तथा इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के युद्धो मे राष्ट्रवाद की भावना ने न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

जिस समय युद्धो के पीछे कोई नैतिक या कानूनी सिद्धान्त कार्य नही करता था उस समय कोई भी सेना कभी भी लडना बन्द कर सकती थी क्योकि लड़ने वालो की प्रेरणा का स्रोत केवल धन था। युद्ध के पूर्व सेना उस पक्ष का समर्थन छोड कर जिससे उसने वेतन प्राप्त किया है दूसरे गुट मे मिल जाती थी। सोलहवीं एवं सत्रहवी शताब्दी के धार्मिक युद्धो मे तो पूरी की पूरी सेना कई बार पक्ष बदल लेती थी।

पहले सैनिक सेवा को अपराधों के लिए दण्ड स्वरूप प्रयुक्त किया जाता था। जिन लोगो को मौत की सजा सुनाई जाती थी उनके सम्मुख एक विकल्प यह होता था कि वे चाहे तो सेना मे भर्ती हो जाएँ। इस प्रकार सगठित सेना मे मनोबल जैसी किसी चीज के अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। ऐसे लोग न तो अपने देश के प्रति स्वामिभक्ति रखते थे और न ही अपने राजा के प्रति स्वामिभक्त थे। इन लोगो को केवल कडे अनुशासन और इनाम के आधार पर साथ रखा जाता था। उस समय के युद्धो की प्रकृति, सैनिकों का सामाजिक सम्मान तथा सामाजिक पृष्ठ-भूमि आदि के सन्दर्भ मे ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

सीमित युद्धो के समय जब युद्ध सिंहासन-प्राप्ति के लिए या किसी नगर की प्राप्ति के लिए या राजा के सम्मान के लिए लडे जाते थे, वहाँ सैनिक सेवा को राजा का वंश-परम्परागत विशेषाधिकार समझा जाता था, किन्तु सन् 1793 के फ्रांसीसी कानून ने जब 18 और 25 के प्रत्येक स्वस्थ पुरुष के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी तो युद्ध के नए स्वरूप को पहली बार व्यवस्थापिका की मान्यता प्राप्त हुई। फ्रांस की भाँति प्रशा (Prussia) ने सन् 1807 मे कानून पारित किया जिसके अनुसार भाडे के सैनिको तथा मे विदेशियों को लेना बन्द कर दिया गया और सन् 1814 के कानून के अनुसार अपने देश की रक्षा प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य घोषित कर दिया। इस प्रकार युद्ध का स्वरूप ऐसा हो गया जिसमें सारी जनता भाग लेती है।

2. समग्र युद्ध की दूसरी विशेषता यह है कि यह युद्ध केवल सम्पूर्ण जनता का ही नही होता वरन् सम्पूर्ण जनता द्वारा लड़ा जाता है। जब बीसवी शताब्दी में युद्ध का स्वरूप परिवर्तित हो गया और इसका उद्देश्य केवल राष्ट्रीय मुक्ति न होकर राष्ट्रवादी विश्व-व्यापकता हो गया तो युद्ध मे जनता का योगदान भी अपेक्षाकृत बढ़

गया। अब न केवल स्वस्थ पुरुषों को ही युद्ध मे लिया जाता है वरन् सर्वाधिकारवादी देशों में तो स्त्रियों और बच्चों को भी युद्ध में भाग लेना पड़ता है। गैर-सर्वाधिकारवादी देशो मे भी स्त्रियो की सेवाएँ उनकी स्वेच्छा के आधार पर मांगी जाती हैं। हर देश मे राष्ट्र की भी शक्तियाँ युद्ध मे लगा दी जाती हैं। सीमित युद्ध के समय अधिकांश जनता का युद्ध से कुछ सम्बन्ध नहीं होता था। सामान्य जनता पर तो केवल यह प्रभाव पड़ता था कि उससे अधिक कर लिए जाते थे, किन्तु आज का युद्ध प्रत्येक व्यक्ति का युद्ध है और उसे इसमे अपना सक्रिय योगदान देना होता है।

इस विकास के लिए उत्तरदायी दो कारण माने जाते हैं। प्रथम यह कि सेनाओं के आकार मे वृद्धि हो गई है और दूसरे यह कि युद्ध का यान्त्रिकीकरण हो गया है। सोलहवी, सत्रहवी और अठारवी शताब्दियो मे सेनाओं का आकार बढ़कर अधिक से अधिक दस हजार हो जाता था। नेपोलियन के युद्धों में कुछ सेनाओं की संख्या कुछ लाख व्यक्तियो तक हो गई थी। प्रथम विश्वयुद्ध में पहली बार सेनाएँ दस लाख से ऊपर पहुँच गईं और द्वितीय विश्वयुद्ध मे इनकी संख्या एक करोड़ से ऊपर हो गई। युद्धों मे हथियारों, आवश्यक सामग्री, यातायात एवं संचार साधनों आदि का यन्त्रीकृत रूप तथा सेना का विशाल आकार आज यह मांग करता है कि कार्य करने वाली समूची जनसख्या अपना पूरा योगदान दे। ऐसा होने पर ही सैनिक संस्थान को युद्ध के लिए उपयुक्त स्थिति मे रखा जा सकता है। अनुमान लगाया गया है कि युद्धभूमि मे एक व्यक्ति को सक्रिय रखने के लिए कम से कम एक दर्जन व्यक्तियों के उत्पादनशील प्रयासों की आवश्यकता रहती है। युद्ध-भूमि मे लड़ रहे सैनिको के लिए भोजन, वस्त्र तथा हथियार मुहैया करने, यातायात और संचार की व्यवस्था करने आदि कार्यों मे जितने लोगो को सक्रिय होना पडता है उसके आधार पर यह कहना कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि वर्तमान युद्ध सम्पूर्ण जनता के युद्ध बन गए है।

3. युद्धों को समग्र कहने का एक तीसरा आधार यह है कि ये सम्पूर्ण जनसख्या के विरुद्ध लड़े जाते हैं। केवल यही नही कि प्रत्येक युद्ध मे भाग लेना पड़ता है वरन् प्रत्येक के युद्ध का परिणाम भी भुगतना पड़ता है। किसी भी युद्ध मे होने वाली क्षति के आंकड़े यद्यपि कम विश्वसनीय होते हैं, तथापि वे इस कथन को सत्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। पहले युद्धों मे जनसंख्या का जो प्रतिशत अपनी जान से हाथ धोता था वह आज की अपेक्षा बहुत कम था। बीसवी शताब्दी मे युद्ध का स्वरूप विध्वंसक बन गया है, इसलिए सैनिक कार्यवाही से होने वाले हताहतों की सख्या भी अपेक्षाकृत बढ गई है। धार्मिक युद्धों की समाप्ति के काल से ही गैर-सैनिक जनता को भी युद्धो के दुष्परिणाम भुगतने होते हैं। इसमे कोई सन्देह नही है कि द्वितीय विश्वयुद्ध की सैनिक कार्यवाही से सामान्य नागरिकों की जितनी जानें गईं वे सैनिको की तुलना मे अधिक थी। द्वितीय विश्वयुद्ध मे सोवियत संघ के हताहतो की सख्या उनकी कुल जनसंख्या का दस प्रतिशत थी। इस प्रकार आधुनिक युद्धों मे गैर-सैनिक लोगों के हताहत होने की प्रकृति बढती ही जा रही है।

4. आज के युद्धों को लक्ष्य की दृष्टि से भी समग्र युद्ध कहा जाता है। आज विश्व की महान् शक्तियाँ केवल इसलिए युद्ध नहीं लड़ती कि वे युद्ध-क्षेत्र में शत्रु की सेनाओं को हरा दें या अपनी क्षतिपूर्ति कर लें अथवा अपनी सीमाओं का विस्तार कर लें। आज के युद्धों का उद्देश्य शत्रु देश की जनता का पूर्ण विनाश होता है, उसके कल-कारखानों एवं युद्ध-क्षमता को समाप्त करना होता है, उसकी सरकार का पुनर्गठन होता है तथा उस देश की विचारधारा को बदलना होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में हारने वाले लोगों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन तक को परिवर्तित कर दिया गया। ऐसा परिवर्तन जापान में मित्र राष्ट्रों द्वारा और केन्द्रीय यूरोप में सोवियत संघ द्वारा किया गया।

युद्ध के आधुनिक स्वरूप में सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्यों को भी समाहित किया जाता है। मुक्ति के लिए युद्ध (Wars of Liberation) असुरक्षा की भावना को बढ़ाते हैं और ये न केवल विजित राष्ट्रों में वरन् तटस्थ एवं विजयी राष्ट्रों में भी छेड़ जा सकते हैं। युद्ध द्वारा जो सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न की जाती है, वह सैनिक पराजय के बिना भी क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देती है। आधुनिक समग्र युद्ध में पूर्ण पराजय की जोखिम रहती है। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध में असीमित राजनीतिक उद्देश्यों के लिए असीमित सैनिक साधनों का प्रयोग किया गया। इस दृष्टि से यह सुझाया जाता है कि यदि हम युद्ध में अपनाए जाने वाले साधनों के प्रयोग को सीमित करना चाहते हैं तो हमें लक्ष्यों को भी सीमित करना होगा।

आज के युद्ध विश्व-विजय को अपना उद्देश्य बना कर भी लड़े जाते हैं। अनेक यान्त्रिक विकासों के परिणामस्वरूप यातायात, सचार और शस्त्रों के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसने विश्व-विजय तथा विजयी राष्ट्र द्वारा उसकी व्यवस्था को भी सम्भव बना दिया है। यह सच है कि इससे पहले भी बड़े-बड़े साम्राज्य थे, किन्तु साम्राज्य अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सके, क्योंकि उस समय ऐसे यान्त्रिक साधनों का अभाव था जिनसे व्यापक जनता पर नियन्त्रण रखा जा सके।

एक विश्वव्यापी साम्राज्य को स्थायी रूप देने के लिए तीन चीजें मूल रूप से आवश्यक हैं। प्रथम, साम्राज्य के सभी लोगों के मस्तिष्क पर केन्द्रीकृत नियन्त्रण द्वारा सामाजिक एकीकरण लागू करना; दूसरे, साम्राज्य में जहाँ भी कहीं एकता के विरोध की सम्भावना हो वहाँ सर्वोच्च सगठित सेना रखना और तीसरे, नियन्त्रण एवं प्रभाव के इन साधनों में स्थायित्व लाना तथा सम्पूर्ण साम्राज्य में विस्तृत करना। इन तीनों सैनिक एवं राजनीतिक पूर्व-आवश्यकताओं में से अतीतकाल में एक भी प्राप्त नहीं की जा सकी; किन्तु आज ये तीनों ही सम्भव हैं।

पहले सचार के साधन गैर-यान्त्रिक थे और जहाँ कहीं यान्त्रिक थे वहाँ वे कठोर रूप से वैयक्तिक और इस प्रकार विकेन्द्रीकृत थे। ऐसी स्थिति में भावी विजेता को असंख्य विरोधियों से लड़ना होता था। विश्व-विजय की कामना रखने वाला यदि

अपने विरोधियों को पकड़ ले और पहचान ले तो उन्हें जेल में डाल सकता था, उनकी हत्या करा सकता था; किन्तु यह नहीं कर सकता था कि उनकी जबान को गरम बना दे या समाचार, रेडियो एवं चलचित्रों पर एकाधिकार कर ले।

पहले हिंसा के साधन भी बहुत कुछ गैर-यान्त्रिक, विकेन्द्रीकृत और व्यक्तिगत थे। ऐसी स्थिति में विश्वव्यापी साम्राज्य बनाने का स्वप्न देखने वाला पग-पग पर ऐसे संगठनों को खड़ा पाता था जो उससे लगभग समान-स्तर चाहते थे। दोनों के पास समान हथियार थे। ऐसी स्थिति में कोई भी विजेता साम्राज्य की स्थापना के लिए सभी सम्भावित विरोधियों के विरुद्ध हर जगह एक सर्वोच्च सगठित सेना सगठित नहीं कर सकता था। पहले के साम्राज्य का कोई भी अग कहीं विद्रोह कर दे तो उसे दबाना दुष्कर होता था, क्योंकि केन्द्रीय सत्ता को इसकी सूचना बहुत दिनों में प्राप्त होती थी और सूचना मिलने के बाद भी विद्रोह को दबाने के लिए जो प्रबन्ध किया जाता था उसमें भी पर्याप्त समय लग जाता था; किन्तु आज की स्थिति में कोई भी विश्व सरकार रेडियो के माध्यम से शीघ्र ही वस्तु-स्थिति से परिचित हो जाएगी और कुछ ही घण्टों में सैकड़ों बमवर्षक भेज देगी तथा पैराशूट मोर्टार, टैंक तथा हथियारों से भरे हुए बीसियों यान भिजवा देगी जिन पर उसका एकाधिकार है और इस प्रकार राजद्रोह-ग्रस्त नगर की स्थिति पर काबू पा लेगी।

आज यातायात के क्षेत्र में होने वाले आविष्कारों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि विश्व-साम्राज्य की स्थापना करने वाले को अनुकूल जलवायु और भौगोलिक स्थिति पर निर्भर नहीं रहना पड़ता जिसके कारण नेपोलियन के प्रयास निरर्थक बन गए थे और विश्व-विजय का विचार रखने वाले अन्य नेताओं ने अपना साहस खो दिया था।

आज की स्थिति में सम्भावित विश्व-विजेता के पास तकनीकी साधन हैं जिनके द्वारा वह एक बार की गई प्राप्तियों को स्थायी बना सकता है। जीते हुए प्रदेश में उसकी सगठित सेना की सर्वोच्चता हर समय और हर जगह मानी जाएगी इसमें मौसम और दूरी कुछ भी बाधक नहीं बन सकेंगे। सचार के सशक्त साधनों द्वारा विजेता अपने सम्भावित शत्रुओं पर सर्वोच्चता कायम कर सकता है। इस प्रकार यदि एक बार किसी ने विश्व-साम्राज्य स्थापित कर लिया तो वह उसको स्थिर रख सकता है और सफल रूप में उसका सचालन कर सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। जिन लोगों को एक बार जीत लिया गया वे हमेशा के लिए विजित बनाए जा सकते हैं। आज यदि एक देश प्रभावपूर्ण तकनीकी के साधनों में सर्वोच्चता रखने में सक्षम है तो वह विश्वव्यापी साम्राज्य भी स्थापित कर सकता है। यदि एक राष्ट्र अणुशस्त्रों पर और संचार तथा यातायात के प्रमुख साधनों पर एकाधिकार रख सके तो वह दुनिया को जीत सकता है और इस जीत को स्थायी बना सकता है किन्तु यह तभी सम्भव है जबकि वह इस एकाधिकार और नियन्त्रण को कायम रखने में समर्थ हो। आधुनिक तकनीक ने यह सम्भव बना दिया है कि

दुनिया के प्रत्येक कोने के लोगो के दिमाग और कार्यों पर प्रत्येक मौसम में नियन्त्रण रखा जा सकता है।

सैनिक शक्ति की सम्भावनाएँ
(The Possibilities of Military Power)

सैनिक शक्ति एक देश की रचना का आवश्यक अग होती है जिसके बिना वह एक कदम भी आगे नही बढ़ सकता। राज्य के जो चार आवश्यक तत्त्व माने गए हैं उनमें महत्त्व की दृष्टि से यदि देखा जाए तो सम्प्रभुता का स्थान सर्वोपरि माना जाता है और किसी भी राज्य की सम्प्रभुता उसकी सैनिक सामर्थ्य एव सम्भावनाओ द्वारा तय की जाती है। सैनिक शक्ति को सम्भावनाओ का चार शीर्षको के अन्तर्गत वर्णन किया जा सकता है—

1. आक्रमणकारी क्षमता (The Offensive Capability)—राज्य अपने पडोसियों के विरुद्ध प्राय आक्रमणकारी युद्ध लड़ते रहते हैं। राज्यो द्वारा अनेक राजनीतिक, आर्थिक एव अन्य गुप्त उद्देश्यो के लिए युद्ध किए जाते हैं। सैनिक शक्ति के प्रयोग के ये उद्देश्य प्राय. अप्रत्यक्ष रूप मे छिपे रहते हैं। प्रारम्भ मे इन युद्धो का स्वरूप एव प्रभाव सीमित था।

इतिहास साक्षी है कि आक्रमणकारी युद्धों ने आक्रमणकारियो को अनेक लाभ प्रदान किए। राज्य ने सैनिक शक्ति के प्रयोग के बल पर अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखा. अनेक राज्यो ने अपने क्षेत्र का विस्तार किया और अपनी धन-सम्पदा को भी सैनिक शक्ति के बल पर व्यापक बना लिया। अतीत मे सैनिक शक्ति द्वारा राज्यो ने अपने लक्ष्यो की प्राप्ति का सफल प्रयास किया और वर्तमान सशस्त्र संघर्षों द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रो ने सैनिक शक्ति द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की सिद्धि का मार्ग त्यागा नही है। कई बार विभिन्न कारणो से आक्रमणकारी को भारी असफलताएँ भी मिलती है। आक्रमणकारी को बडा लाभ यह रहता है कि वह आक्रमण के स्थान, समय एव प्रकार को निश्चित करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। आधुनिक शस्त्रो के आविष्कार ने आक्रमणकारी की शक्ति को पर्याप्त लाभदायक स्थिति मे रख दिया है।

प्रत्येक आक्रमणकारी को अपने आक्रमण के सम्बन्ध मे अनेक निर्णय लेने होते हैं। वही यह तय करता है कि आक्रमण द्वारा किन उद्देश्यों को प्राप्त करना है, किन हथियारों या शक्तियों का प्रयोग करना है, किन भौगोलिक क्षेत्रो को सम्मिलित करना है और किनको अलग करना है, युद्ध मे रणकौशल से काम लेना है अथवा कूटनीति से। तकनीकी युद्ध का अर्थ उस युद्ध से है जिसमे शत्रु की सशस्त्र सेना पर आक्रमण किया जाता है और रणकौशलयुक्त युद्ध वह होता है जो शत्रु की अर्थ-व्यवस्था एवं गृह-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए किया जाता है। युद्ध के उद्देश्य एवं पद्धति को निश्चय करने के बाद ही प्राय यह निर्णय किया जाता है कि कौन से हथियारों का प्रयोग करना होगा।

आक्रमणकारी को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह असीमित युद्ध छेड़ सकता है, शत्रु से बिना शर्त आत्मसमर्पण की माँग कर सकता है, घातक शस्त्रों का प्रयोग कर सकता है तथा भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है। वह चाहे तो अपने कार्यों को मर्यादित भी कर सकता है, सीमित युद्ध पद्धति अपना सकता है, कम हथियारों का प्रयोग कर सकता है, शत्रु की अर्थ-व्यवस्था को छुए बिना केवल सेना पर आक्रमण कर सकता है, आदि-आदि। इस प्रकार आक्रमणकारी द्वारा किए जाने वाले आक्रमण कई श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं; जैसे, सर्वविनाश के लिए आक्रमण, परम्परागत आक्रमण, शीत-युद्ध एवं गृह-युद्ध। बाद वाली श्रेणियों के बीच अन्तर करना असम्भव है क्योंकि किसी भी गृह-युद्ध में किसी भी महाशक्ति का ध्यान आकर्षित हो सकता है।

2. **सुरक्षात्मक क्षमता (Defensive Capability)**—शत्रु के आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा को सैनिक-क्षमता का एक मुख्य उद्देश्य समझा जाता है। आज के युग में एक प्रभावशाली सुरक्षा-व्यवस्था वह होती है जिसमें पहले की अपेक्षा बड़ी सेनाएँ हों, अनेक प्रकार के आयुध हों तथा अच्छी तरह से तैयारी की गई हो, क्योंकि आज आक्रमण किसी भी समय, किसी भी स्थान पर और अनेक रूपों में किया जा सकता है। जब देश की सुरक्षा-सेनाएँ सशक्त एवं तैयार रहती हैं तो वे एक प्रकार से प्रतिरोधात्मक शक्ति का कार्य करती हैं। आक्रमणकारी की भाँति रक्षक को भी हथियारों, लक्ष्यों, रणनीति एवं भूगोल के सम्बन्ध में निर्णय लेने होते हैं। इनमें से कुछ निर्णय तो आक्रमणकारी के व्यवहार द्वारा बाध्य हो कर लेने पड़ते हैं क्योंकि उसके विकल्पों को या तो सीमित या प्रभावहीन बनाना होता है। रक्षक को स्वतन्त्रता है कि वह युद्ध को असीमित बना दे अथवा अपने कार्यों को कई प्रकार से सीमित रखे। वह केवल यह उद्देश्य बना सकता है कि आक्रमणकारी को उस सीमा तक धकेल दे जहाँ से उसने युद्ध प्रारम्भ किया या अथवा वह आक्रमणकारी को पर्याप्त सजा देने के उद्देश्य से उसे बिना शर्त आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दे। हथियार अपनाने के सम्बन्ध में रक्षक को अधिक स्वतन्त्रता नहीं होती क्योंकि उसे उन हथियारों का प्रयोग करना होता है जिनमें शत्रुओं के आक्रमण को प्रभावहीन बनाया जा सके।

एक विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा मूल रूप में सैनिक शक्ति का निष्क्रिय प्रयोग है। जब सुरक्षा के लिए योजना बनायी जाती है तो दूसरे राष्ट्रों की सामर्थ्य तथा लक्ष्यों के सम्बन्ध में अनुमान लगाए जा सकते हैं। रक्षक द्वारा जो सैनिक शक्ति संगठित की जाती है तथा कायम रखी जाती है वह रक्षक के उद्देश्यों की अपेक्षा सम्भावित आक्रमणकारी के कार्यों पर निर्भर करती है। कुछ सैनिक पर्यवेक्षकों का तर्क है कि सुरक्षा-योजना दूसरे राष्ट्रों की सामर्थ्य पर आधारित होनी चाहिए। अन्य लोगों का कहना है कि प्रत्येक शत्रु की सामर्थ्य के विरुद्ध सुरक्षा-योजना नहीं बनायी जा सकती। आक्रमणकारी के अभिप्रायों को देख कर ही सुरक्षा का स्तर तय करना होता है। सुरक्षा में होने वाला व्यय भी एक निर्णयकारी तत्त्व होता है। रक्षात्मक

प्रयासो का रूप आक्रामक भी हो सकता है क्योंकि आक्रमणकारी के प्रयासों को शिथिल करने के लिए उसकी स्वय की रक्षा को चुनौती देना जरूरी हो जाता है। सुरक्षा के लिए नियोजन एक बड़ा ही जटिल विषय है जिसके सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद हैं।

3 प्रतिरोध की क्षमता (Deterrent Capability)—विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग प्रतिरोधात्मक रूप मे भी किया जा सकता है। शक्ति के प्रयोग का यह प्रतिरोधात्मक रूप सुरक्षात्मक योजना से भी अधिक भिन्न नही है। एक सफल सुरक्षात्मक योजना मे प्रतिरोधात्मक शक्ति का होना परमावश्यक है। जब आक्रमणकारी के विरुद्ध सुरक्षात्मक तैयारी मे सैनिक शक्ति की वृद्धि की जाती है तो इसके प्रतिक्रियास्वरूप आक्रमणकारी भी अपनी शक्ति को बढाता है और इस दौड मे सीमा-रेखा कहाँ आएगी यह निश्चित नही रहता। वैसे एक बड़े आकार की सेना में सदैव ही एक प्रतिरोधात्मक शक्ति रहती है। आज प्रतिरोधात्मक शक्ति का महत्त्व अधिक हो गया है। एक सफल प्रतिरोधात्मक शक्ति की कुछ *आवश्यकताएँ होती हैं। प्रथम आवश्यकता यह है कि रक्षक के पास इतनी पर्याप्त* सेना हो कि वह सम्भावित शत्रु के किसी भी प्रकार के आक्रमण का सामना कर सके। दूसरे, प्रोत्साहित किए जाने पर रक्षक को उस शक्ति का प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। तीसरे, सम्भावित आक्रान्ता को रक्षक की सामर्थ्य को थोडा-बहुत अनुमान रहना चाहिए। उसे रक्षक के अभिप्रायो का भी भान रहना चाहिए। यह बात उस परम्परागत सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार सेना सम्बन्धी प्रत्येक जानकारी को शत्रु के हाथो मे जाने से रोका जाता था। चौथे, रक्षक को आक्रान्ता के मूल्यो का ध्यान रखना चाहिए। पाँचवें, सम्भावित आक्रान्ता बुद्धिमान् होना चाहिए।

इन आवश्यकताओ के अतिरिक्त यह बात भी महत्त्व रखती है कि उस आक्रमण का प्रकार क्या है जिसका प्रतिरोध किया जाना है और क्या सेना द्वारा उसका प्रतिरोध किया जा सकेगा। आक्रमण व्यापक, विध्वंसक, परम्परागत, शीतयुद्ध एव गृह-युद्ध किसी भी रूप मे हो सकता है और प्रत्येक रूप मे आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए एक ही प्रकार की शक्ति अपर्याप्त रहती है। आजकल विध्वंसक शस्त्रो के प्रतिरोध की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यापक सहारक अथवा परम्परागत शस्त्रो का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि व्यापक संहार के शस्त्रो के विकास को एक मूल सैनिक आवश्यकता समझा जाता है।

व्यापक सहार के शस्त्रो द्वारा आक्रान्ता को व्यापक संहारक युद्ध करने मे अथवा परम्परागत युद्ध छेड़ने से रोका जा सकता है, किन्तु ये निश्चय ही शीतयुद्ध एव गृह-युद्ध जैसे आक्रमणो मे प्रतिरोध का काम नहीं कर सकते। इन आक्रमणो का विरोध करने के लिए अन्य साधनो एवं तरीकों से युक्त परम्परागत हथियारों की आवश्यकता है।

6. छापामार क्षमता (Guerrilla Capability)—छापामार तकनीक को सैनिक शक्ति की किसी भी मात्रा के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों को छापामार विरोधी तकनीकों का बहुत कम ज्ञान था। कोरिया के संघर्ष के समय संयुक्तराष्ट्र संघ की फौजो ने छापामार युद्ध का प्रतिरोध करने की कुछ तकनीकों को सीखा। जब कोरिया में साम्यवादी देशों द्वारा पश्चिम का विरोध किया गया तो उन्हें छापामार युद्ध के प्रतिरोध का अनुभव हुआ। साम्यवादियों को युद्ध के इस तरीके का महत्त्व ज्ञात है तथा वे इसका हर जगह प्रयोग करते हैं। माओत्से तुंग को छापामार युद्ध के प्रमुख विशेषज्ञ के रूप में याद किया जाता है। वियतनाम युद्ध छापामार लड़ाई में साम्यवादियों की उत्कृष्टता का परिचायक था।

युद्ध को रोकने का प्रयास
(Preventive and Detective Measures)

अमेरिका के राज्य-सचिव (Secretary of State) जॉन फास्टर डलेस (John Foster Dulles) द्वारा युद्ध को रोकने के लिए समय-समय पर दिए गए सुझावों की निम्नलिखित सूची पेश की गई थी—

(1) युद्ध के भयावह परिणामों की शिक्षा देना
(Education as to the fact Horrors of War)
(2) 'युद्ध से कोई लाभ नही होता' इस बात की शिक्षा देना
(Education to the fact that 'War does not pay')
(3) अलगाव और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयवाद
(Isolation and Economic Internationalism)
(4) कैलागब्रियाँ सन्धि या पेरिस की सन्धि
(The Pact of Paris Vs Kellogg-Briand Pact)
(5) राष्ट्रसंघ (League of Nations)
(6) आक्रमण से प्राप्त होने वाले लाभों को मान्यता प्रदान न करना
(Non-recognition of the Fruits of Aggress on)
(7) शस्त्रीकरण (Armament)
(8) नि.शस्त्रीकरण (Disarmament)
(9) अनुमति या दबाव (Sanctions)

युद्ध को रोकने तथा शान्ति की स्थापना करने के उक्त सभी प्रयासो को डलेस (Dulles) ने असत्य तथा अपर्याप्त समाधान (False and Inadequate Solutions) कहा था। उन्होंने इन सभी सुझावों का क्रमश. परीक्षण किया और पाया कि इनके द्वारा विश्व-शान्ति प्राप्त नही की जा सकती; ये वृथा हैं। पामर तक पर्किस के मतानुसार डलेस ने इन सुझावों पर जो विचार-विमर्श किया वह मुख्य रूप से सैद्धान्तिक (Theoritical or Academic) है। डलेस (Dulles)

द्वारा दी गई सूची में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा विश्व-सरकार का उल्लेख नहीं है। वैसे कई विचारकों ने इन दोनों ही साधनों द्वारा विश्व-शान्ति की स्थापना की सम्भावना पर जोर दिया है। किन्तु पामर तथा पर्किंस ने इन दोनों सुझावों पर विचार करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि युद्ध के विकल्प (Alternative) के रूप में दोनों ही सुझाव अपूर्ण तथा असन्तोषजनक हैं। आज के अणु-युग में युद्धों को रोकने का प्रयास करना परम आवश्यक बन गया है। राष्ट्रपति अयूब से वार्ता के लिए ताशकन्द जाने से एक दिन पूर्व (2 जनवरी, 1966) प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा था कि यदि हरेक समस्या का हल करने के लिए शस्त्रों का प्रयोग किया गया तो विश्व में शान्ति नहीं रह सकती। सभी देशों को अपने आपसी विवाद शान्तिपूर्ण वार्ताओं द्वारा तय करने चाहिए। युद्ध का विकल्प ढूंढना आज के युग की प्रमुख आवश्यकता बन गया है, किन्तु युद्ध के केवल वही विकल्प कारगर हो सकते हैं जो यौद्धिक सुरक्षा-कार्यों को नियन्त्रित कर सकें तथा जो बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा शान्ति स्थापित रखने के लिए प्रयुक्त किए जाएँ।



10 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ : शक्ति-सन्तुलन, सामूहिक सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान

(Limitations of National Power : Balance of Power, Collective Security and Pacific Settlement of International Disputes)

"शक्ति-सन्तुलन व्यक्तियों और समुदायों की सापेक्षिक शक्ति की ओर संकेत करता है।" —श्लीचर

स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् की प्राथमिक इकाइयाँ हैं। ये सभी राज्य राष्ट्रीय हितों से प्रेरित होकर पारस्परिक व्यवहार करते है और अपने हितों की सिद्धि के लिए शक्ति (Power) का प्रयोग करते हैं, तथापि वे मनमानी करने के लिए एकदम स्वतन्त्र नहीं होते क्योंकि विभिन्न कारणोंवश उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं का सम्मान करना पड़ता है और वे अपनी प्रभुसत्ता तथा शक्ति-प्रयोग के निरंकुश प्रयोग मे विवशता अनुभव करते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से राष्ट्रीय शक्ति तथा प्रभुसत्ता के निर्बाध प्रयोग पर नियन्त्रक का कार्य करती हैं। राष्ट्रीय शक्ति को मर्यादित करने वाली प्रमुख सीमाएँ ये हो सकती हैं—

1. शक्ति-सन्तुलन,
2. सामूहिक सुरक्षा एव अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का शान्तिपूर्ण समाधान,
3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून,
4. विश्व-सरकार,
5. नि शस्त्रीकरण,
6. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता,
7. विश्व-जनमत।

प्रस्तुत अध्याय में प्रथम दो सीमाओ का विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

शक्ति-सन्तुलन
(Balance of Power)

आधुनिक विचारको ने शक्ति-सन्तुलन को 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का आधार-

भूत सिद्धान्त'[1] (A Basic Principle of International Relations), 'सामान्य सामाजिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति'[2] (A Manifestation of General Social Principle), तथा 'राजनीति का यथासम्भव मूलभूत नियम'[3] (A Nearly Fundamental Law of Politics as it is Possible to Find) आदि की संज्ञा दी है। शक्ति-सन्तुलन की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं और राजनीतिज्ञों की व्यावहारिक नीतियों का विवेचन किया गया है। यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन को बनाने, बनाए रखने और उसकी रक्षा करने मे सलग्न रहते हैं। आधुनिक युग मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के एक बहुमूल्य यन्त्र के रूप मे शक्ति-सन्तुलन ने अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

शक्ति-सन्तुलन की परिभाषाएँ
(Definitions of Balance of Power)

शक्ति-सन्तुलन-सिद्धान्त की परिभाषाएँ इतने रूपो मे दी गई हैं कि यह सिद्धान्त अस्पष्टता से व्याप्त है। सामान्यत शक्ति-सन्तुलन का अर्थ प्राय: राष्ट्रो के बीच शक्ति के सामान्य वितरण से लिया जाता है और कभी-कभी स्थिति विशेष मे इसका अभिप्राय एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र पर छा जाने से होता है। यहाँ प्रमुख विचारकों की शक्ति-सन्तुलन सम्बन्धी परिभाषाएँ प्रस्तुत की जाती हैं और तब अगले शीर्षक के अन्तर्गत पृथक् से शक्ति-सन्तुलन के अनेक अर्थों और प्रयोगो की व्याख्या की जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सुविख्यात विचारक हस जे.मॉर्गेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार 'प्रत्येक राष्ट्र यथा-स्थिति (Status-quo) को बनाए रखने अथवा परिवर्तित करने के लिए दूसरे राष्ट्रो की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है।" इसके परिणामस्वरूप जिस ढाँचे (Configuration) की आवश्यकता होती है वह शक्ति-सन्तुलन कहलाता है और जिन नीतियो की आवश्यकता होती है उनका लक्ष्य शक्ति-सन्तुलन को बनाए रखना होता है। श्लीचर (Sheleicher) के अनुसार "शक्ति-सन्तुलन व्यक्तियो तथा समुदायो की सापेक्ष शक्ति की ओर सकेत करता है।" क्लॉड (I L Claude) ने शक्ति-सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे शक्ति-सम्बन्धो की समस्या से सम्बन्धित माना है। उनका कहना है कि "शक्ति-सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आपसी शक्ति-सम्बन्धो को बिना किसी बडी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वतन्त्रतापूर्वक सचालित करते हैं। इस प्रकार यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था (Decentralized System) है जिसमें शक्ति व नीति-निर्णायक इकाइयो के हाथो मे ही रहती है।" प्रो. फे (Prof. Fay) के शब्दो मे, "शक्ति-सन्तुलन का अर्थ है राष्ट्रो के परिवार के सदस्यो की शक्ति न्यायपूर्ण तुल्यभारिता

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 212.
2 *Morgenthau* : op. cit., p. 161.
3 *Martin Wright* : Power Politics, pp. 45-46.

(Just Equilibrium) जो किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लादने से रोक सके।" डिकिसन के मत मे 'सन्तुलन' (Balance) शब्द का प्रयोग समानता और असमानता दोनों ही अर्थों मे किया जाता है। लेखा (Account) सन्तुलन का अर्थ होता है समानता, किन्तु जब सन्तुलन किसी एक के हित में हो तो इसका अर्थ होता है असमानता। उनका कहना है कि शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त प्रथम अर्थ का दावा करता है, किन्तु दूसरे के लिए प्रयत्नशील रहता है। मॉर्गेन्थो भी 'शक्ति-सन्तुलन' शब्द का अर्थ 'राष्ट्रों के मध्य स्थित शक्ति की समानता' से मानते हैं, किन्तु यह तभी सम्भव है जब शक्ति शब्द के साथ कोई विश्लेषण न प्रयुक्त किया गया हो। इसके विपरीत स्पाइकमेन (Spykman) के कथनानुसार, "सच्चाई यह है कि प्रत्येक देश केवल उसी शक्ति-सन्तुलन में रुचि लेता है जो उसके हित मे होता है।" इस प्रकार जो राष्ट्र शक्ति-सन्तुलन की स्थापना करना चाहता है वह 'सन्तुलन' नही वरन् अपने हित मे असन्तुलन (Imbalance) की स्थापना का प्रयत्न करता है।

पामर तथा पर्किन्स ने शक्ति-सन्तुलन की मान्यता की निम्नलिखित सात विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. विश्व के राष्ट्रों के बीच शक्ति-सन्तुलन सदैव बना नही रह सकता;
2. शक्ति-सन्तुलन की स्थापना स्वत ही नही हो जाती, इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है,
3. शक्ति-सन्तुलन का मापदण्ड युद्ध है, क्योकि युद्ध प्राय. तभी आरम्भ होते हैं जबकि शक्ति-सन्तुलन विच्छिन्न हो जाता है,
4. शक्ति-सन्तुलन की नीति गतिशील (Dynamic) एव परिवर्तनशील (Changing) होती है;
5. इतिहासकार शक्ति-सन्तुलन को वस्तुनिष्ठ (Objective) दृष्टि से देखता है किन्तु राजनीतिज्ञ उसे व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) दृष्टि से देखता है;
6. शक्ति-सन्तुलन न तो प्रजातन्त्रात्मक देशो के लिए ही उपयुक्त है और न तानाशाही देशों के लिए ही;
7. शक्ति-सन्तुलन के खेल में केवल बड़े राष्ट्र ही खिलाड़ी होते है, छोटे राष्ट्र केवल प्रभावित (Victim) या दर्शक के रूप मे रहते हैं। किन्तु यदि वे आपस में मिल जाएँ तो इस खेल मे सक्रिय हिस्सेदार भी बन सकते हैं।

अवधारणा का इतिहास (The History of Concept)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति-सन्तुलन की अवधारणा का इतिहास पर्याप्त पुरातन । राज्यो के बीच सम्बन्धो मे बहुत पहले से ही सघर्ष, मतभेद, विरोध एव युद्ध रहे हैं। इनका निपटारा करने के लिए कोई स्थायी व्यवस्था करने की अपेक्षा प्रारम्भ मे एक या एक से अधिक राज्य अनेक राज्यों पर प्रभाव बढाने की चेष्टा करते थे और फिर विश्व को अपनी अवधारणा के अनुसार रूप प्रदान करने का प्रयास करते थे। दूसरे राज्यों द्वारा स्थिति को यथास्थित रखने की चेष्टा की जाती थी और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपने विभिन्न सोपानो मे गुजरती हुई आगे बढती

रहती थी। जब विरोधी राज्य कुछ राज्यों के सामान्य हितों को चुनौती देते थे तो वे मिलकर अपने हितो की रक्षा के लिए सन्धि-बद्ध हो जाते थे। शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया एक प्रकार से दूसरे राज्यों के शक्ति-प्रयोग को सीमित कहने का प्रयास है।

शक्ति-सन्तुलन की तुल्यभारिता का विचार मूल रूप से प्रकृति की विरोधी शक्तियों के बीच स्वाभाविक तुल्यभारिता से लिया गया। मनुष्य ने बहुत पहले से ही इस बात की अनुभूति की कि सारे सौरमण्डल में अनेक नक्षत्र और ग्रह किस प्रकार सन्तुलन बनाए रखते हैं। राजनीति के क्षेत्र में अरस्तू ने यह विचार प्रकट किया कि समाज गरीब, निर्धन और मध्यवर्ग के लोगों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप सन्तुलन बनाए रखते हैं। एक अन्य राजनीतिक विचार जेम्स मैडीसन (James Madison) का विश्वास था कि सरकार को उन तत्त्वों के बीच सन्तुलन बनाए रखना चाहिए जो परिवर्तन चाहते हैं और जो यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। राजनीतिक विचारकों ने बहुत पहले से ही शक्ति-सन्तुलन पर अपने विचार व्यक्त किए थे। ये विचार सही थे अथवा नहीं, यह अलग बात है, किन्तु अपने समय में ये पर्याप्त प्रभावशील रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति-सन्तुलन को पूर्ण शक्ति एवं तानाशाही को दबाए रखने के साधन के रूप मे देखा गया है। डेविड ह्यूम (David Hume) ने अपने निबन्ध 'शक्ति-सन्तुलन पर' (On the Balance of Power) मे पोलिबियस (Pol bious) को उद्धृत किया है जिसका कहना था कि किसी भी राज्य या शासक को इतना महान् न बनने दो कि वह अपने पडोसी को उसके अधिकारो की रक्षा मे असमर्थ बना दे। मैकियावेली ने अपनी रचना 'द प्रिन्स' (The Prince) मे यह परामर्श दिया है कि जो भी दूसरे की शक्ति को बढाने मे योगदान देता है वह अपनी शक्ति को नष्ट करता है। रिचार्ड कोब्डिन (Richard Cobden) ने शक्ति-सन्तुल को एक असम्भव कल्पना के रूप में विशिष्टता प्रदान की है। ये और कुछ नहीं केवल शब्द मात्र हैं। उनके मतानुसार शक्ति-सन्तुलन केवल मस्तिष्क को स्पर्श करता करता है, विचारो को नहीं। हमारे पूर्वजो ने उन शब्दो के सम्बन्ध में अपने आप को परेशान करने की जो नीति अपनाई थी यह उसी का एक उदाहरण है। फ्रांसीसी दार्शनिक फेनेलोन (Fenelon) इस मान्यता को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। उनके कथनानुसार अपने पडोमी को बहुत अधिक शक्तिशाली बनने से रोकना अपने आपको तथा अन्य पडोसियो को गुलाम बनने से रोकने का प्रयास है। यह स्वतन्त्रता, समानता एवं सुरक्षा की दिशा मे महत्वपूर्ण कदम है क्योंकि एक देश की अतिशय शक्ति एक सीमा से बाहर निकलने के बाद सम्बद्ध राज्यों की सामान्य व्यवस्था को परिवर्तित कर देती है। लियपोल्ड वॉन रौंके (Leopold Von Ranke) का मत है कि यूरोपीय राजनीति में एक ओर तो दबाव डाले जाते थे और दूसरी ओर उनका विरोध किया जाता था। इस व्यवस्था के कारण ही यूरोप अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सका तथा अपने प्रत्येक राज्य को स्वतन्त्रता की रक्षा कर सका था तथा अपने प्रत्येक राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रख सका। ऐसा ही कुछ मत एडवर्ड गिब्बन (Edward

Gibbon) ने प्रकट किया है। उनका कहना है कि यूरोप का अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजन होना अनेक लाभदायक परिणामों का जनक रहा है। इससे मानव-जाति की स्वतन्त्रता कायम रही। जिस तानाशाह को अपनी जनता के विरोध का सामना नहीं करना पड़ता उसे अपने समकक्ष राजाओं की शक्ति का प्रभाव शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है। उसे अपने मित्रों की सलाह और शत्रुओं की चुनौतियों से मर्यादित होना पड़ता है।"

सन् 1815 में जैफसन (Jeffarson) ने अपने एक मित्र को लिखा था कि इस बात में हमारा हित नहीं है कि समस्त यूरोप एक राजतन्त्र के रूप में संगठित हो जाए। उसने आशा की कि राष्ट्रों के बीच एक उपयुक्त शक्ति-सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए। संयुक्तराज्य अमेरिका ने अपने आप को यूरोपीय व्यवस्था से पृथक् रखा, किन्तु जब सन् 1917 और सन् 1941 में उसे सन्तुलन की स्थापना के लिए आमन्त्रित किया गया तो वह मना नहीं कर सका। राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट से बात करने के बाद सन् 1944 में फारेस्ट डेविस (Forest Davis) ने बताया कि इंगलैंड की भाँति हमारा ऐतिहासिक स्तर भी यह माँग करता है कि यूरोप में शक्ति-सन्तुलन की स्थापना रहे और कोई भी एक राष्ट्र इस महाद्वीप के साधन-स्रोतों तथा मानव-शक्ति को हमारी सम्भावित हानि के लिए प्रयुक्त न करे। इस मूल बात से प्रभावित होकर ही सन् 1971 में लड़े थे और इसीलिए अब लड़ रहे हैं, ताकि किसी एक आक्रमणकारी शक्ति को यूरोप पर स्वामित्व रखने से रोका जा सके। पर्ल हार्बर (Pearl Harbour) से लेकर अब तक संयुक्तराज्य अमेरिका यूरोपीय तथा विश्व रंगमंच को इसी दृष्टि से देख रहा है।

शक्ति-सन्तुलन या तुल्यभारिता की मान्यता अनेक संधियों का आधार मानी जाती है। सन् 1648 से सन् 1914 तक का काल स्पष्टतः शक्ति-सन्तुलन का काल कहलाता है। कहा जाता है कि सन् 1648 की वेस्टफालिया की सन्धि (The Treaty of West Phalia), सन् 1815 का वियना समझौता (Vienna Settlement), सन् 1919 की वर्साय सन्धि (The Treafy of Versaillis) तथा सन् 1945 में संयुक्तराष्ट्रसंघ की स्थापना के पीछे शक्ति-सन्तुलन की धारणा कार्य कर रही थी। ये विभिन्न सन्धियाँ एवं समझौते इसलिए हुए क्योंकि समय-समय पर नेपोलियन, कैसर विल्हेम (Kaisar Wilhem), हिटलर और साम्यवादी नेताओं ने विश्व पर स्वामित्व स्थापित करने का प्रयास किया। शक्ति-सन्तुलन की अवधारणा में विरोधाभास यह है कि जो देश इसका व्यवहार करते हैं वे भी यह घोषणा नहीं करना चाहते कि वे इसका व्यवहार कर रहे हैं। यही कारण है कि कोई भी देश शक्ति-सन्तुलन को अपनी नीति मानने का दावा नहीं करता। वे राजनीति की इस प्रकार की व्यवस्था में सम्मिलित होने से मना करते हैं यद्यपि उनकी नीतियाँ दूसरे राज्यों की शक्तियों को दबाने, विरोध करने, कम करने तथा उनसे आगे बढ़ने की ओर संचालित रहती है। शक्ति-सन्तुलन की नीति की राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में घोषणा दूसरे देशों को विरोधी नीति अपनाने के लिए प्रेरित कर सकती है। आक्रमणकारी देश ऐसी स्थिति में

अपने आपको संगठित तथा सशक्त बनाने के प्रयासों को न्यायोचित ठहरा सकता है उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक मान सकता है।

शक्ति-सन्तुलन की तीन अभिधारणाएँ
(Three Postulates of Balance of Power)

शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त की कुछ अभिधारणाएँ हैं। उनमें से तीन यहाँ उल्लेखनीय हैं—

1 प्रथम यह कि एक राज्य को परिस्थितियों के बदलने पर तथा नई धमकियों के आने पर अपनी सन्धियों में परिवर्तन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। *सिद्धान्त सम्बन्धी दुराग्रह एवं वचनबद्धता शक्ति-सन्तुलन में कठोरता एवं अपरिवर्तन-*शीलता उत्पन्न कर देते हैं, इसलिए शक्ति-सन्तुलन की राजनीति इनकी अवहेलना करती है। किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि साम्यवादियों ने दूसरे राज्यों पर अपनी विचारधारा को थोप दिया है इसीलिए विचारधारा सम्बन्धी संघर्ष वर्तमान विश्व-राजनीति की एक प्रमुख वास्तविकता बन गया है। शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था के समर्थकों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को न्यूनतम कर दिया जाता है, क्योंकि ये राजनीतिज्ञों को राष्ट्रीय हितों की साधना के लिए शक्ति की दृष्टि से सोचने से रोक देते हैं। *एक देश किसी भी सन्धि के अनुसार वचनबद्ध हो सकता है, किन्तु परिस्थितियाँ* बदलने पर यह वचनबद्धता टूट सकती है। उदाहरण के लिए ग्रेट-ब्रिटेन प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जापान के साथ सन्धि द्वारा वचनबद्ध था, किन्तु जब उसने संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ अपना सहयोग बढ़ा लिया तो इस सन्धि को तोड़ना आवश्यक हो गया। इस प्रकार राज्यों को अपने हितों तथा सम्बन्धों का पुनर्वीक्षण करने के लिए तैयार रहना चाहिए। फ्रांस के राष्ट्रपति जनरल डिगाल ने नाटो सन्धि के सम्बन्ध में ऐसे ही किया है। इस दृष्टि से यह भी सम्भावना है कि यदि इन देशों के राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से आवश्यकता हुई तो संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ साम्यवादी चीन का विरोध करने में उसी प्रकार मिल जाएँगे जैसे वे जर्मनी का विरोध करने में मिले थे। इतिहास में अचानक ही बड़े-बड़े परिवर्तन हो जाते हैं जिनकी हम पहले से कल्पना नहीं कर सकते थे। जिस जापान के विरुद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका ने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी वह अब इनका परम मित्र है।

2. दूसरी अभिधारणा यह है कि जब राज्यों को यह ज्ञात हो कि दूसरे राज्य शक्ति-सन्तुलन को उसके मुख्य हितों के विरुद्ध परिवर्तित कर रहे हैं तो उसे संघर्ष के लिए और यहाँ तक कि आवश्यकता हो तो युद्ध के लिए भी तैयार रहना चाहिए। क्यूबा के प्रश्न पर संयुक्तराज्य अमेरिका का दृष्टिकोण इस का द्योतक है। *जब सोवियत-संघ क्यूबा में बड़े स्तर पर प्रक्षेपास्त्र स्थापित करने जा रहा था* राष्ट्रपति कैनेडी ने 22 अक्टूबर 1962 को अमेरिकी जनता और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव को कहा कि "सोवियत भूमि के बाहर रणकौशल के हथियार स्थापित करने का यह आकस्मिक प्रथम निर्णय यथास्थिति में जानबूझ कर किया गया आक्रमणकारी एवं अन्यायपूर्ण परिवर्तन है जिसको इस देश द्वारा स्वीकार नहीं

किया जा सकता वरना इस देश के शत्रु और मित्र इसके साहस और वचनों में कभी दुबारा विश्वास नहीं करेंगे।" इतने पर भी जब चुनौती सामने आ गई तो राष्ट्रपति ने कहा कि "हम अनावश्यक रूप से अथवा बिना सोचे समझे विश्वव्यापी अणुयुद्ध की जोखिम नहीं लेंगे जिसमे विजय के फलस्वरूप हमारे लिए केवल राख बचेगी; किन्तु यदि हमे इस जोखिम मे पड़ने को बाध्य किया गया तो किसी भी समय उसका मुकाबला करने के लिए तैयार हैं।"

3 तीसरी अभिधारणा उपर्युक्त दोनो से ही सम्बद्ध है तथा उन्ही से उद्भूत है। इसके अनुसार यदि युद्ध या अन्य सकट उत्पन्न होता है तो उसमें किसी भी देश का इतना अधिक विनाश नहीं किया जाना चाहिए कि सम्बन्ध शक्तियाँ अकेली पड़ जाएँ और विजेता के लिए अनुपयुक्त शक्ति-सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न कर दें। ऐसा सन् 1945 मे जर्मनी के साथ किया गया। उनका पूरी तरह से विनाश कर दिया गया और इस प्रकार इटली और जापान की शक्ति कमजोर हो गई। इसकी पाँच वर्ष में ही पश्चिमी शक्तियों को यूरोप और एशिया मे साम्यवादी चुनौती के विरुद्ध शक्ति-सन्तुलन कायम रखने के लिए इन तीनो पूर्व शत्रु-शक्तियो की सहायता करना जरूरी हो गया।

शक्ति-सन्तुलन का मूल तत्त्व लॉर्ड पामर्स्टन (Lord Palmerston) ने अभिव्यक्त किया है। उनके कथनानुसार, "इग्लैण्ड का कोई अन्तरग मित्र नही है और न ही कोई अन्तरंग शत्रु है वरन् उसके तो अन्तरंग हित है।" प्रोफेसर निकोलस स्पाइकमैन ने भी कुछ इसी प्रकार के भावों को अन्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है कि "जो राज्य शक्ति-सन्तुलन का खेल खेलता है उसका कोई स्थायी मित्र नही हो सकता। *उसका सहयोग किसी एक राज्य के प्रति नही हो सकता वरन केवल सन्तुलित शक्ति के प्रति होगा। आज के मित्र आने वाले कल के शत्रु हो सकते हैं।*" स्पाइकमेन ने आगे बताया है कि शक्ति-राजनीति का एक मुख्य आकर्षण यह है कि यह एक राज्य के मित्रो को क्षुब्ध होने का अवसर नही देती। यदि हम सन् 1930 तथा उसके बाद होने वाली सन्धियो तथा सहयोगो पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था हमे इस बात का आश्वासन देती है कि कोई भी विरोधी हमेशा के लिए विरोधी नही बनता क्योंकि वह अवसर और परिस्थितियो के बदलते ही पुनः मित्रता का हाथ बढा देता है।

शक्ति-सन्तुलन की अस्पष्टता के अनेक अर्थ
(Balance of Power as an Ambiguous Concept)

मार्टिन वाइट (Martin Wight) के अनुसार, "एक इतिहासकार शक्ति-सन्तुलन तब मानता है जब विरोधी समुदाय की शक्ति उसके बराबर होती है, किन्तु एक राजनीतिज्ञ के मतानुसार शक्ति-सन्तुलन तब होगा जबकि उनका पक्ष दूसरे की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होगा और जबकि उसके देश को राष्ट्रीय हित के अनुसार चाहे जिस पक्ष मे मिलने की स्वतन्त्रता होगी।"

क्लाड (I. L Claude) का कथन है कि शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग मुख्यतः निम्न रूपों मे किया जा सकता है—

1. एक अवस्था के रूप में (As a Situation)—क्लाड के अनुसार शक्ति-सन्तुलन *का प्रयोग कभी तो तुल्यभारिता (Equilibrium) के लिए किया जाता है* और कभी इसे तुल्यभारिता के विरोधी अर्थ (Disequilibrium) मे किया जाता है। इस दृष्टि से शक्ति-सन्तुलन 'शक्ति-वितरण' का समानार्थक बन जाता है जिस प्रकार कि 'तापमान' जलवायु की स्थिति को बताता है चाहे वह गर्म हो या ठण्डा, इसी प्रकार शक्ति-सन्तुलन भी 'शक्ति-स्थिति' को बताता है चाहे वह सन्तुलित हो अथवा असन्तुलित।

2. नीति के रूप में (As a Policy)—शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग प्राय: ऐसी नीति के रूप मे भी किया जा सकता है जो तुल्यभारिता का निर्माण करने अथवा उसकी रक्षा करने का कार्य करती हो। यह नीति इस धारणा पर आधारित रहती है कि असन्तुलित शक्ति खतरनाक होती है। जब चर्चिल (Winston Churchill) ने यह लिखा कि शक्ति-सन्तुलन ब्रिटिश नीति की आश्चर्यजनक अनभिप्रेत परम्परा (Unconscious Tradition) रही है तब उनका अर्थ सन्तुलन की स्थिति से नही वरन् सन्तुलन करने वाली नीति से था। मोवर (Mowrer) ने शक्ति-सन्तुलन का जो रूप बताया है उससे भी शक्ति-सन्तुलन का अर्थ एक ऐसी नीति से लगाया जा सकता है जो कार्यों के बीच तुल्यभारिता (Equilibrium) लाने मे प्रयत्नशील हो। इस प्रकार शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग प्राय शक्ति-स्थिति से सक्रिय रूप से सम्बिन्धित रहता है। मॉर्गेन्थो और थॉम्पसन ने भी शक्ति-सन्तुलन का प्रयोग नीति के रूप मे ही किया है क्योंकि वे मानते है कि "शक्ति-सन्तुलन एक देश के उन प्रयत्नो को कहते हैं जिन्हे वह दूसरे देश के विरुद्ध अपनी शक्ति को इतनी बढाने के लिए करता है जिससे वह दूसरे देश से यदि अधिक नही तो कम से कम बराबर तो हो जाए।"

3. व्यवस्था के रूप में (As a System)—प्राय शक्ति-सन्तुलन का प्रयोग अनेक राज्यो से पूर्ण इस विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को क्रियान्वित करने की एक व्यवस्था के रूप मे भी कर दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित अनेक पुस्तको मे शक्ति-सन्तुलन-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। टेलर (Taylor) ने शक्ति-सन्तुलन का प्रयोग राज्यो के परस्पर सम्बन्धों के रूप मे किया है।

4. प्रतीक के रूप में (As a Symbol)—अनेक विचारको ने शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग किसी पारिभाषिक अर्थ मे न कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे शक्ति की सदस्या के यथार्थवादी तथा दूरदर्शी प्रतीक (Symbol) के रूप के किया है। इन विचारको के मतानुसार शक्ति-सन्तुलन की नीति के अभाव का अर्थ है सैनिक कमजोरी, मित्रो का अभाव तथा आक्रमणकारी की शक्ति को सन्तुलित करने

के प्रयत्नो का अभाव।[1] वुडरो विल्सन की नीति की आलोचना प्रायः इसी आधार पर की जाती है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति को एक तथ्य के रूप में देखने से मना कर दिया तथा एक आशावादी के मस्तिष्क से काम लेते हुए अन्तर्राष्ट्रीयवाद पर ही विचार करता रहा। इस सबका अर्थ यही होता है कि शक्ति सन्तुलन को यथार्थवाद का प्रतीक माना जाने लगा है और इसीलिए राजनीतिज्ञों एवं विचारको से आशा की जाती है कि वे इसका आदर करेंगे।

मि. ई. हैस (Mr Ernst Hass) ने शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग करने वाले विचारको के अर्थ एवं अभिप्राय का वर्णन किया है। मि. हैस के कथनानुसार कुछ लोग शक्ति-सन्तुलन को व्याख्या के रूप मे (As Description) प्रयुक्त करते हैं। ये विचारक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को किसी भी सैद्धान्तिक या विश्लेषणात्मक उद्देश्य के लिए समझने से पूर्व शक्ति-सन्तुलन को समझना आवश्यक मानते हैं। वर्तमान समय मे पत्र-सम्पादको एव रेडियो के आलोचको द्वारा इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया जाता है। जब श्रोतागण इस शब्द को सुनते हैं तो वे इसका अर्थ केवल शक्ति का वितरण ही लगाते है, न कि सन्तुलन। दूसरे अवसरों पर शक्ति-सन्तुलन का अर्थ शक्ति के वितरण से कुछ अधिक होता है। यहाँ इसका अर्थ तुल्यभारिता या प्रभुत्व या महत्त्व से हो सकता है। यहाँ एक बात यह उल्लेखनीय है कि इस शब्द का प्रयोग करने वाले के अभिप्राय भी शब्द के अर्थ पर पर्याप्त प्रभाव डाल सकते हैं। प्रत्येक लेखक अपने उद्देश्य के अनुसार ही एक कार्य को शक्ति-सन्तुलन का स्थापक मानता है जबकि दूसरा अपने उद्देश्य की दृष्टि से उसके विपरीत कार्य को ऐसा मान सकता है। पिछली शताब्दी मे फ्रांसीसी लेखको ने तुल्यभारिता (Equilibrium) शब्द का प्रयोग आस्ट्रिया पर युद्ध की माँग का समर्थन करने के लिए किया था। सात वर्ष तक यह युद्ध चला, किन्तु इस काल मे ब्रिटिश अधिकारी शक्ति-सन्तुलन की नीति के आधार पर प्रशा (Prussia) के समर्थन को न्यायोचित ठहराने लगे, क्योंकि उनके मतानुसार फ्रेडरिक द्वितीय (Fredrick II) ने ही आस्ट्रिया पर आक्रमण करके शक्ति-सन्तुलन को बिगाड़ा था। आज भी शक्ति-सन्तुलन शब्द का जो प्रयोग किया जाता है वह सदैव एक ही अर्थ मे नही होता। वह शक्ति का वितरण तुल्यभारिता एवं प्रभावशीलता मे से किसी भी अर्थ मे प्रयुक्त किया जा सकता है।

शक्ति-सन्तुलन के प्रयोग का दूसरा रूप प्रचार एव विचारधारा (Propaganda and Ideology) का है। जब सन्तुलन का अर्थ शान्ति अथवा युद्ध के साथ जोड़ दिया जाता है तो उसे समझना सहज बन जाता है। जब हम सन्तुलन शब्द का प्रयोग शान्ति की स्थापना एवं खतरे के लिए तथा युद्ध को छेड़ने एवं रोकने के लिए कर सकते हैं तो यह स्पष्ट है कि सन्तुलन जैसी कोई चीज 'सन्तुलन' (अर्थात् शान्ति एवं युद्ध) के द्वारा प्राप्त नही की जा सकती। यहाँ सन्तुलन शब्द का प्रयोग बिना किसी निश्चित अर्थ के केवल प्रचार के लिए किया जाता है। शक्ति-सन्तुलन

1 *Mill & Mc Laughlin* : World Politics in Transition, p. 109,

शब्द का प्रयोग करके एक राज्य अपनी नीतियों को यथास्थित रूप मे ही न्यायोचित सिद्ध करना चाहता है। कुछ उदाहरणों मे इस शब्द का प्रयोग सैद्धान्तिक मतभेदों के रूप मे किया गया तथा कुछ उदाहरणों मे हारे हुए राज्य की शक्ति एवं आकार को न्यायोचित बनाने के लिए इसका प्रयोग किया गया। इस प्रकार इस शब्द के प्रयोग का अर्थ यह नही है कि प्रयोगकर्त्ता किसी निश्चित सिद्धान्त मे विश्वास करता है वरन् यह है कि वह इसे अपने हितो की प्राप्ति मे उपयोगी मानता है।

प्रचार की दृष्टि से जब किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है तो तथ्यो का प्रयोग बेईमानी के साथ किया जाता है तथा बौद्धिक रूप से स्थापित मान्यताओं को तोड-मरोड कर प्रस्तुत किया जाता है। प्रचार तो झूठी बात का जानबूझ कर किया गया स्थापन होता है। शक्ति-सन्तुलन के द्वारा विचारधारा सम्बन्धी लक्ष्यो की प्राप्ति की जा सकती है। मानहीम (Mannheim) के कथनानुसार विचारधारा कुछ प्रतीकों मे विश्वास करती है चाहे वे प्रतीक वस्तुगत रूप से झूठे ही क्यों न हो। शक्ति-सन्तुलन का सहारा लेकर एक देश नीतियों को प्राकृतिक कानून के रूप मे अभिव्यक्त कर सकता है, नैतिक रूप से उचित सिद्ध कर सकता है अथवा इनको एक ऐतिहासिक आवश्यकता बता सकता है। इस अर्थ मे जब शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग किया जाता है तो हम इसे केवल प्रचार मात्र ही नही कह सकते क्योंकि इस प्रकार इसे प्रयोग करने वाला अपने आपको भी धोखा देता है।

18वीं शताब्दी में शक्ति-सन्तुलन की मान्यता की आलोचना की गई। जस्टी (Justi) ने अपने एक लेख मे बताया कि शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त और कुछ भी नही, केवल विचारधारा सम्बन्धी तर्क है जो राजनीतिज्ञों द्वारा अपने असली उद्देश्यों अर्थात् आक्रमणकारी उद्देश्यो को छिपाने के लिए अपनाया जाता है। जस्टी कहते है कि राज्य भी व्यक्तियो की भांति केवल अपने व्यक्तिगत हित से ही निर्देशित होते हैं। हित चाहे वास्तविक हो अथवा अवास्तविक वे शक्ति-सन्तुलन से निर्देशित नही होते। ऐसे किसी भी राज्य का उदाहरण नही दिया जा सकता जो केवल शक्ति-सन्तुलन की स्थापना के लिए ही अपने हितो के विरुद्ध अथवा किसी विशेष हित के बिना ही युद्ध में सम्मिलित हुआ हो। इस प्रकार प्रचार के लिए तथा विचारधारा के लिए शक्ति-सन्तुलन शब्द के प्रयोग मे कुछ अधिक अन्तर नही है। जब अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के अभिनेता यह मान लें कि शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने की सामान्य आवश्यकता मे ही उनका व्यक्तिगत हित संयुक्त है तो शक्ति-सन्तुलन का आश्रय प्रचारमात्र न रह कर विचारधारागत बन जाता है।

शक्ति-सन्तुलन शब्द के प्रयोग का तीसरा रूप विश्लेषणात्मक धारणा के रूप मे है। यह रूप प्रचार के उद्देश्य से प्रयुक्त शक्ति-सन्तुलन के रूप मे पूर्णत: भिन्न ही नही वरन् विपरीत भी होता है। इस प्रकार जब यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है तो प्रयोग करने वाला इसे अपने विश्लेषण का औजार बनाना चाहता है। इस अभिप्राय से युक्त होते-होते यह सब 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में अन्तर्राष्ट्रीय

विचारधारा के रूप में विकसित हो गया। इस रूप में प्रयुक्त होने पर भी 'शक्ति-सन्तुलन' शब्द के अनेक अर्थ लगाए गए। विद्वतापूर्ण विश्लेषण के लिए भी इस शब्द का शक्ति-राजनीति, तुल्यभारिता, प्रभुत्व एवं विश्वव्यापी कानून आदि अर्थों में प्रयोग किया गया।

रील डी करबाँ (Reel de Curban) के कथनानुसार शक्ति-सन्तुलन का मूल सिद्धान्त अविरोधिता है। यदि अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से देखा जाए तो एक शासन की शक्ति और कुछ न होकर केवल उसके पड़ोसियों की शक्तिहीनता होती है। दूसरों की शक्तिहीनता ही एक देश की शक्ति होती है। वर्तमान काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था से समानता रखती है और इस प्रकार की स्थिति में यह निष्कर्ष पर्याप्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त को एक विश्लेषणात्मक सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त करने की चेष्टा उन लेखकों द्वारा भी की गई है जो शक्ति-सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल तत्त्व मानते हैं। इस अर्थ में सन्तुलन इतिहास का कानून बन जाता है। प्रोफेसर मॉर्गेन्थो तथा शूमाँ ने शक्ति-सन्तुलन को व्यापक अर्थ प्रदान किया है। वे इसे केवल तुल्यभारिता एवं प्रभुत्वशीलता मात्र ही नहीं मानते। इन लेखकों का मत है कि 'शक्ति-सन्तुलन' सम्प्रभुता पर आधारित बहुराज्य व्यवस्था में निहित रहता है। वे राज्य किसी भी लक्ष्य के लिए पारस्परिक विरोधी नीतियों में संलग्न रहते हैं। इस प्रक्रिया में यह स्वाभाविक है कि राज्य सन्तुलित शक्ति की खोज में रहें तथा किसी को भी प्रभुतासम्पन्न बनने से रोकने के लिए गुट तथा विरोधी गुट बनाएं। परिवर्तन में रुचि रखने वाले राज्य सदैव ही उन राज्यों के विरुद्ध गुट बना *लेते हैं जो यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। यह प्रक्रिया इतनी सामान्य होती है* कि यह एक ऐतिहासिक कानून का रूप धारण कर लेती है। यह कानून राज्यों के व्यवहार का विश्लेषण करता है। जब शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग *विश्लेषण* के एक औजार के रूप में किया जाता है तो इसकी एक मुख्य विशेषता यह बन जाती है कि इसे सरकारों के लक्ष्यों से पृथक् कर दिया जाता है।

शक्ति-सन्तुलन' शब्द का चौथा प्रयोग एक उपचार के रूप में (As Prescription) किया जा सकता है। विश्लेषण के रूप में जब इसका प्रयोग किया जाता है तो इस बात पर जोर नहीं दिया जाता कि सरकारें सजगता के साथ सन्तुलनकारी नियमों को अपनाती हैं। किन्तु ऐसे अनेक विचारक थे तथा हैं जो मानते हैं कि शक्ति-सन्तुलन सरकारों की निर्णयकारी प्रक्रिया का निर्देशक सिद्धान्त है अथवा होना चाहिए। ये विचारक हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करने के बाद यह कहते हैं कि इस अवस्था ने ही शक्ति-सन्तुलन के समर्थक राज्यों को उन राज्यों के विरुद्ध सन्धिबद्ध होने के लिए मजबूर किया जो विश्व में अथवा किसी क्षेत्र में प्रभुत्व की *स्थापना करना* चाहते थे अथवा विश्वव्यापी *राजतन्त्र का निर्माण करना* चाहते थे। इनमें से कुछ का कहना है कि दुनिया के राज्य परस्पर-निर्भर होने के कारण आपस में बँधे हुए हैं। इसकी *सामान्य सस्थाएँ* हैं, *सामान्य कानून की व्यवस्थाएँ* हैं। इस

व्यवस्था मे यदि कोई भी एक राज्य प्रमुत्वसम्पन्न बनना चाहेगा तो इसे सम्पूर्ण सावयवी इकाई के विरुद्ध एक आक्रमण समझा जाएगा। यह राज्य-व्यवस्था स्वतन्त्र राज्यो से पूर्ण है तथा प्रभुत्व की इच्छा रखने वाले राज्य का विरोध प्रत्येक स्वेच्छा से ही करेगा। इस व्यवस्था मे शक्ति-सन्तुलन का होना जरूरी था। इसने राज्यो की नीतियो का निर्देशन किया।

व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक रूप मे शक्ति-सन्तुलन को विदेश-नीति की रचना के रूप मे निर्देशक माना जाना उपयुक्त प्रतीत होता है। मैटरनिक (*Matternich*) *जैसे परम्परावादियों एवं उदारवादियो का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय* सस्था के रूप मे यह सिद्धान्त पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह सम्पूर्ण संस्थागत यथास्थिति की रक्षा का प्रयास करता है। मैटरनिक के शब्दो मे आधुनिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि एकता एव शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्तो का प्रयोग हमारे सामने एक ऐसा नाटक प्रस्तुत करता है जिसमे कुछ राज्य मिलकर एक राज्य को प्रभुत्व प्राप्त करने से रोकते हैं तथा उसके प्रभाव को सीमित करते हैं।' इस प्रकार वे सामान्य कानून की ओर लौटाने के लिए बाध्य करते हैं।

शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त के आधार पर राज्य अपनी रक्षा का प्रयास करता है *अथवा इसे राज्य-व्यवस्था की रक्षा के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।* आज सयुक्त राष्ट्रसघ शक्ति-सन्तुलन का प्रतीक माना जाता है क्योकि यह संगठन आक्रमणकारी के इरादो को मोडने तथा उस पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास करता है।

इस प्रकार शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है जो भिन्न होने के साथ-साथ कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी भी हो जाते हैं। यदि आप शक्ति-सन्तुलन की मान्यता को समझना या उसका मूल्यांकन करना चाहे तो बडी परेशानी होगी क्योकि अनेक लेखको की यह प्रवृत्ति है कि इसके एक अर्थ का वर्णन करते-करते इसके दूसरे अर्थ का वर्णन करने लग जाते हैं और कुछ देर बाद पुनः उसी पूर्व अर्थ पर आ जाते हैं, किन्तु कही भी इस बात का उल्लेख तक नही करते कि उनके द्वारा शक्ति-सन्तुलन का प्रयोग भिन्न अर्थो मे किया गया है। डाइके के अनुसार, "हम सन्तुलन (Balance) शब्द का प्रयोग इस प्रकार करते रहे हैं कि मानो सभी इस बात को जानते हो कि इसका अर्थ क्या है, किन्तु वास्तविकता यह है कि कोई नही जानता कि इसका अर्थ क्या है।"[1]

शक्ति-सन्तुलन की स्थापना के तरीके
(Methods for Maintaining the Balance of Power)

राष्ट्र प्रायः शक्ति-सन्तुलन के सन्दर्भ मे ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे आचरण *और नीति निर्धारण करते हैं। अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियो के अनुसार* शक्ति-सन्तुलन कायम रखने के लिए राष्ट्रो द्वारा सामान्यतः अग्रांकित उपाय प्रयोग मे लाए जाते हैं—

1 *Vernon Van Dyke* : International Politics, p. 219.

1. मुआवजा या क्षतिपूर्ति (Compensation)—एक देश द्वारा जब किसी प्रदेश पर अधिकार करके सन्तुलन को खतरा पहुँचाया जाता है तो उसे रोकने के लिए उस देश की भूमि पर अधिकार कर पुनः शक्ति-सन्तुलन की स्थापना कर दी जाती है। यह प्रथा अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में पर्याप्त लोकप्रिय थी। सन् 1713 की यूट्रेक्ट सन्धि द्वारा प्रथम बार स्पेन द्वारा अधिकृत भूमि को बाँट कर शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की गई थी। इतिहास में पोलैंड का तीन बार विभाजन किया गया और तीनों बार उसका बँटवारा इस प्रकार किया गया कि सन्तुलन कायम रहे। उस समय इस साधन की लोकप्रियता का कारण यह था कि भूमि के उपजाऊपन तथा लोगों की संख्या और गुण को राष्ट्रीय शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता था। प्रदेशों के मुआवजे की व्यवस्था प्रायः युद्ध के बाद बड़ी और विजयी शक्तियों द्वारा पराजित व कमजोर देशों के विपरीत की जाती है। सन् 1870 से 1914 तक इस साधन का रूप केवल भूमि पर ही केन्द्रित नहीं रहा वरन् प्रभाव क्षेत्रों (Spheres of Influences) को भी विभाजित किया जाने लगा। इस युग में कोई भी राज्य दूसरे राज्यों को राजनीतिक लाभ देने को तैयार नहीं होता था जब तक कि उसे यह ज्ञात न हो जाए कि बदले में उसे कितना लाभ मिल रहा है या मिल सकता है। मॉर्गेन्थो के शब्दों में राजनीतिक मामलों में इस प्रकार के कूटनीतिक समझौतों की सौदेबाजी सामान्य रूप में मुआवजे का ही सिद्धान्त है तथा यह मूल रूप से शक्ति-सन्तुलन से सम्बन्धित है।[1]

2. हस्तक्षेप एवं युद्ध (Intervention and War)—शक्ति-सन्तुलन का दूसरा साधन हस्तक्षेप एवं युद्ध है। शक्ति-सम्बन्धों में परिवर्तन लाने के लिए कई बार युद्ध हुए हैं। हस्तक्षेप (Intervention) का अर्थ एक देश की विदेश-नीति के उन पहलुओं व कार्यों से लगाया जाता है जिन्हें दूसरा देश भी अपने कार्य मानता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ग्रेटब्रिटेन ने यूनान व जोर्डन में हस्तक्षेप किया, अमेरिका ने क्यूबा, लेबनान व लाओस में तथा रूस ने उत्तरी कोरिया, हंगरी व पूर्वी यूरोप में यही किया। इन सभी हस्तक्षेपों का उद्देश्य शक्ति-सन्तुलन की स्थापना था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह उसका परिणाम अवश्य था। कुछ विचारक शक्ति-सन्तुलन की स्थापना के लिए हस्तक्षेप न करने की नीति को भी इतना ही महत्त्व प्रदान करते हैं। इस नीति का प्रयोग या तो उन कमजोर राष्ट्रों द्वारा किया जाता है जो लड़ाई में भाग लेने की शक्ति नहीं रखते या उन शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा जो कि यथास्थिति राजनीतिक व्यवस्था से सन्तुष्ट हैं और शान्तिपूर्ण साधनों से ही शक्ति-सन्तुलन को बनाए रख सकते हैं। हस्तक्षेप की नीति का अन्तिम स्वर ही युद्ध है।

3. सन्धियाँ (Alliances)—यह साधन शक्ति-सन्तुलन की स्थापना के लिए सबसे अधिक प्रयुक्त किया जाता है। जब एक राष्ट्र की बढ़ी हुई शक्ति द्वारा

1 *Morgenthau* : Politics Among Nations, p. 166.

विश्व के शक्ति-सन्तुलन को चुनौती दी जाती है तो दूसरे राष्ट्र उसके विरुद्ध सन्धियाँ कर इस चुनौती का उत्तर देते हैं। सन्धियाँ दूसरे देशों पर आक्रमण करने की दृष्टि से भी की जा सकती हैं तथा आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करने के लिए भी। पहले प्रकार की सन्धियाँ आक्रमणात्मक (Offensive) हैं तथा दूसरे प्रकार की रक्षात्मक (Defensive)। वैसे दोनों का सम्बन्ध शक्ति-सन्तुलन से रहता है। आक्रमणात्मक सन्धियाँ शक्ति-सन्तुलन को अपने हित में बदलना चाहती हैं जबकि रक्षात्मक सन्धियाँ शक्ति-सन्तुलन को बनाए रखने का प्रयास करती हैं। पामर तथा पर्किंस के मतानुसार, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि राज्यों की प्रत्येक सन्धि का सम्बन्ध शक्ति-सन्तुलन से रहता है चाहे उसका विस्तार क्षेत्रीय हो, गोलार्द्धीय हो या विश्वव्यापी। समय की दृष्टि से कुछ सन्धियाँ अस्थायी एवं तात्कालिक आवश्यकता का परिणाम होती है जबकि दूसरी सन्धियाँ अधिक स्थायी एवं प्रभावपूर्ण होती है। किसी सन्धि को प्रभावपूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि सन्धि के लक्ष्यों को चाहे वे रक्षात्मक हो या आक्रमणात्मक, प्राप्त करने के लिए देशों के पास पर्याप्त शक्ति होनी चाहिए। दूसरे, सन्धि-कर्त्ता इकाइयों के हितों के बीच समानता होनी चाहिए। इसके अलावा युद्ध-कौशल, भूगोल, समान विचारधाराएँ, सांस्कृतिक समानताएँ और वर्तमान अर्थ-व्यवस्थाएँ आदि शर्तें एक सन्धि को अधिक स्थायी एवं टिकाऊ बनाने का काम करती हैं। अस्थायी एवं थोड़े समय के लिए आवश्यकता से प्रभावित होकर की गई सन्धियों के लिए ये सारी बातें आवश्यक नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सोवियत रूस व अमेरिका की सन्धि की गणना की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का विश्व-शान्ति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। आक्रमणात्मक सन्धियों का उद्देश्य तो युद्ध होता ही है। यदि वे सफल हो जाएँ तो विश्व-शान्ति के लिए भारी खतरा उत्पन्न हो जाता है। ऐसी सन्धियों को रोका जाना आवश्यक होते हुए भी कठिन है क्योंकि चाहे सन्धि स्पष्ट रूप से आक्रमणात्मक लक्ष्य से ही क्यों न की गई हो, इसकी इकाइयाँ विश्व को यही दिखाने का प्रयास करती हैं कि उनके गठबन्धन का लक्ष्य सुरक्षात्मक है। सच तो यह है कि प्रत्येक सन्धि उसकी इकाइयों के मतानुसार रक्षात्मक है, किन्तु उसके विरोधी उसको सदैव आक्रामक ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता। ये सभी प्रायः सन्देहशील प्रवृत्ति की होती हैं। आक्रमणात्मक सन्धियाँ होती हैं, इस कारण रक्षात्मक सन्धियों की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है। सन्धियों की इकाइयाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं। कभी-कभी एक राष्ट्र विश्व-साम्राज्य-निर्माण का स्वप्न देखता है तथा अपनी साम्राज्यवादी आक्रामक नीतियों को क्रियान्वित करने लगता है तो उससे प्रभावित या भयभीत राज्य परस्पर सन्धि-बद्ध होकर उसका विरोध करते हैं। दूसरी स्थिति में कुछ राष्ट्र दूसरे सन्धि-बद्ध राष्ट्रों के आक्रमणों का विरोध करने की दृष्टि से सगठित हो जाते हैं।

4 फूट डालो व शासन करो (*Divide and Rule*)—इसके अनुसार

एक वैज नीति अपनाता है जिसमें उसमें उसके शत्रु आपस में न मिल सकें, इनमें फूट रहे और वे कमजोर बने रहें। फ्रांस ने जर्मनी के सम्बन्ध में और सोवियत यूनियन ने शेष यूरोप के सम्बन्ध में इस नीति को अपनाने का प्रयास किया था। इसके द्वारा एक शक्तिशाली देश की शक्ति को घटा कर कम और सन्तुलन के निकट किया जाता है। बहुत समय से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इस साधन का महत्त्व रहा है। ग्रेट-ब्रिटेन को इस नीति का सबसे बड़ा पण्डित माना जाता है। इसी नीति के आधार पर वह अपने बड़े साम्राज्य पर शासन करता रहा था। इसी कारण सोवियत यूनियन द्वारा उन सभी योजनाओं और प्रस्तावों का विरोध किया जाता है जो पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक व आर्थिक एकीकरण ला सकते हैं। इसका लक्ष्य मूलतः साम्यवादी व गैर-साम्यवादी गुट के बीच सन्तुलन कायम रखना है।

5. मध्यवर्ती राज्य (Buffer State)—विश्व जब दो गुटों में बँट गया तो उनके बीच सन्तुलन की स्थापना करने के उद्देश्य से मध्यवर्ती राज्य के अस्तित्व का महत्त्व बढ़ गया जो राज्यों के बीच अवरोधक का काम करे। यदि विरोधी शक्तियाँ आमने-सामने हो जाएँ तथा उनके बीच कोई बाधक या मध्यवर्ती प्रदेश न हो तो सन्तुलन की स्थापना करना बड़ा कठिन हो जाएगा। मार्टिन वाइट के मतानुसार दुनिया का सबसे बड़ा अवरोधक क्षेत्र 'था' (Tha) है जो रूस को ब्रिटिश साम्राज्य से अलग करता था। यह क्षेत्र कमजोर व दूरस्थ राज्यों का था जिनके बीच भौगोलिक गढ़ बने हुए थे जिनमें राष्ट्रवाद का उदय हो रहा था। इस सदर्भ में उन देशों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो असंलग्नता की विदेश-नीति अपना रहे हैं। भारत के नेतृत्व में ऐसे देशों का महत्त्व विश्व में शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने की दृष्टि से बहुत बढ़ गया है।

6 शस्त्रीकरण तथा निःशस्त्रीकरण (Armament and Disarmament)—*मॉर्गेन्थो के मतानुसार शक्ति-सन्तुलन का एक तरीका यह है कि शक्तिशाली राष्ट्रों* की शक्ति को कमजोर कर दिया जाए। उन्हीं के कथनानुसार शस्त्रों की दौड़ अथवा निःशस्त्रीकरण द्वारा ऐसा किया जा सकता है। शस्त्रों के नए-नए रूपों का आविष्कार कर आक्रामक राज्य के विरुद्ध सुरक्षा-व्यवस्थाओं को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। सैनिक तैयारी तथा आधुनिकतम शस्त्रों का प्रयोग कर विश्व में असन्तुलन को रोका जा सकता है। सिद्धान्त रूप में एक स्थायी सन्तुलन की स्थापना तभी की जा सकती है जब शस्त्रों की दौड़ की समाप्ति द्वारा विरोधी शक्तियों के *शस्त्रों को सीमित कर दिया जाए। आज तक निःशस्त्रीकरण के अनेक प्रयास किए* गए हैं, किन्तु उनका परिणाम अधिक सन्तोषजनक नहीं रहा। स्पेन के एक विद्वान् सेल्वाडर मार्डरियागा (Salvador Madariaga) के मतानुसार, "निःशस्त्रीकरण की समस्या, निःशस्त्रीकरण की समस्या नहीं है, यह वास्तव में विश्व-समुदाय के संगठन की समस्या है।"[1] पामर तथा पर्किंस के मतानुसार मूल रूप में यह शक्ति-सन्तुलन की स्थापना की समस्या है।

1 *Salvador de Madariaga* : Disarmament, 1929, p. 56.

शक्ति-सन्तुलन तथा राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले अन्य तत्त्व
(Balance of Power and other Limiting Factors)

कई कारणों से जब राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले तत्त्व के रूप में शक्ति-सन्तुलन का महत्त्व कम हो गया तो इसके उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शक्ति-सन्तुलन के व्यावहारिक विकल्पों की खोज की जाने लगी। अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने शक्ति-सन्तुलन की आलोचना करके विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) पर जोर दिया। सामूहिक सुरक्षा के अधीन सभी देश परस्पर सम्बद्ध रहेंगे अतः यह कहा जाता है कि किसी प्रकार की सन्धियों की, अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ की, राजनीतिक मतभेदों की तथा परस्पर संघर्ष की कोई आवश्यकता न रहेगी। ये सभी बातें शक्ति-सन्तुलन में पाई जाती हैं। क्विंसी राइट (Quincy Wright) का मत है कि सामूहिक सुरक्षा से शक्ति-सन्तुलन का सम्बन्ध *एक ही साथ* पूरक *(Complementary)* तथा विरोधी *(Antagonistic)* दोनों रूपों में है। सामूहिक सुरक्षा का आधार शक्ति-सन्तुलन है जो ऐसे स्थायित्व का निर्माण करता है जिसमें नीति की क्रियाओं को स्थायित्व देना सम्भव होता है। सामूहिक सुरक्षा के उदाहरण हैं—यूरोप का मेल (Concert of Europe), राष्ट्रसंघ (League of Nations) और संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations)—ये तीनों ही शक्ति-सन्तुलन से सम्बन्धित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ भी शक्ति-सन्तुलन का वही सम्बन्ध है जो क्विंसी राइट द्वारा शक्ति-सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा के बीच बताया गया है। ओपेनहिम (L. F. Oppenheim) के मतानुसार शक्ति-सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए बहुत आवश्यक है। राष्ट्रों का कानून (A Law of Nations) केवल तभी रह सकता है जबकि विश्व में शक्ति का सन्तुलन या तुल्यभारिता रहे। राष्ट्रों के कोई सम्प्रभु व शक्तिशाली व्यवस्था न होने के कारण केवल शक्ति-सन्तुलन द्वारा ही ऐसी स्थिति पैदा की जा सकती है कि एक राष्ट्र दूसरे पर बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग न कर सके। कुछ विचारकों के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून शक्ति-सन्तुलन को धीरे-धीरे सामूहिक सुरक्षा में परिणत कर देगा। क्विंसी राइट का मत है कि यदि वर्तमान परिस्थितियों में शान्तिपूर्ण साधनों से कानून द्वारा प्रशासित विश्व का निर्माण करना हो तो राजनीतिज्ञों को अधिक संश्लिष्ट संतुलन (Complicated Balance) का प्रयत्न करना होगा।

शक्ति-सन्तुलन पर मॉर्गेन्थो के विचार
(The Concept of Morgenthau on Balance of Power)

शक्ति-सन्तुलन से सम्बन्धि कोई भी अध्ययन तब तक अधूरा माना जाएगा *जब तक इस विषय के प्रमुख विचारक मॉर्गेन्थो के विचारों का वर्णन न किया जाए।*

1. मॉर्गेन्थो के मतानुसार शब्द 'शक्ति-सन्तुलन' का प्रयोग तीन भिन्न अर्थों में किया जा सकता है—(i) नीति के रूप में जो कुछ निश्चित कार्य करना चाहती है, (ii) वास्तविक कार्यों के रूप में एवं *(iii) शक्ति के समान वितरण के रूप*

में। उनका कहना है कि जब 'शक्ति-सन्तुलन' शब्द का प्रयोग बिना किसी विशेषण (Qualification) के किया जाता है तो यह कार्यों के वास्तविक स्तर का बोध कराता है जिसमे कुछ राष्ट्रो के बीच शक्ति का लगभग समान वितरण कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों मे मॉर्गेन्थो के अनुसार शक्ति-सन्तुलन का अर्थ तुल्यभारिता है। किन्तु जैसा कि क्लॉड (I. L. Claude) का मत है, मॉर्गेन्थो द्वारा शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे किया गया है तथा इसकी सूचना भी पाठक को नही दी गई है।[1] उन्होने इस शब्द का प्रयोग शक्ति के वितरण के रूप मे भी किया है। मॉर्गेन्थो की पुस्तक का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना पडता है कि इस शब्द का प्रयोग कब किस अर्थ मे किया गया है। सच तो यह है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों मे किया है।

2. मॉर्गेन्थो ने शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को अपरिहार्य (Inev'table) बनाया है। उनका मत है कि शक्ति-सन्तुलन तथा इसे बनाए रखने वाली नीतियाँ न केवल अपरिहार्य हैं वरन् सम्प्रभु राष्ट्रों के समाज मे स्थायित्व लाने वाले मूल तत्त्व हैं।

3 मॉर्गेन्थो के अनुसार शक्ति-सन्तुलन विदेश-नीति का एक सामान्य साधन (Universal Instrument) है। इसका प्रयोग अपनी स्वतन्त्रता चाहने वाले प्रत्येक राष्ट्र द्वारा प्रत्येक समय मे किया गया है। यह शक्ति के संघर्ष का स्वाभाविक एवं अपरिहार्य परिणाम है।

4 मॉर्गेन्थो के शक्ति-सन्तुलन सम्बन्धी विचारों मे कुछ असंगतियाँ हैं। जब वे शक्ति-सन्तुलन को अपरिहार्य तथा स्वाभाविक बताते हैं तो वे यह स्पष्ट नहीं करते कि यह शक्ति-सन्तुलन के कौन से रूप पर लागू होता है। एक ओर वे इसे मनुष्यकृत मानते हैं। इसी प्रकार शक्ति-सन्तुलन का सामान्य रूप भी आजकल ज्ञात नही होता।

5 तुल्यभारिता को अपरिहार्य मान कर अमेरिकी विदेश-नीति के गुण को सुधारने के लिए मॉर्गेन्थो ने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। शक्ति-सन्तुलन को अपरिहार्य मानने का उनका अर्थ क्या हो सकता है यह जानना बडा कठिन है। उनके विचारों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति-सन्तुलन की अपरिहार्यता से उनका अर्थ न तो यह है कि तुल्यभारिता (Equilibr'um) की स्थिति सदैव कायम रहती है और न यह कि राज्यों की नीतियों का लक्ष्य सदैव ऐसी स्थिति कायम करने का होता है या उसकी रक्षा करने का मॉर्गेन्थो का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शान्ति व व्यवस्था बनाए रखने के लिए शक्ति-सन्तुलन के अतिरिक्त इतिहास मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आदि साधनों का भी विकास किया गया है। इस मान्यता का स्पष्ट अर्थ यह है कि शक्ति-सन्तुलन को अपरिहार्य नही माना जा सकता क्योंकि उसका कार्य सम्भालने के लिए दूसरे विकल्प मौजूद रहते हैं। मॉर्गेन्थो का कथन है कि राष्ट्रों के सामने

1 *I. L. Claude* : Power and International Relations, p. 27.

दूसरा रास्ता ही नहीं होता। एक विवेकपूर्ण विदेश-नीति सदैव शक्ति के सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाती है, किन्तु जो देश इसका बहिष्कार करता है, या तो उसे विश्व को विजय करना पड़ेगा अथवा वह नष्ट हो जाएगा।

शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त का मूल्यांकन
(An Evaluation of Balance of Power System)

शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त अतिशय प्रशंसा और गम्भीर आलोचना दोनों ही का पात्र रहा है। विद्वानों ने विगत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक इतिहास की विवेचना शक्ति-सन्तुलन के आधार पर की है और उदाहरण देते हुए इसे भला-बुरा कहा है।

शक्ति-सन्तुलन के समर्थकों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालक माना है। यथार्थवादी विचारकों ने इसका समर्थन दण्ड-नीति के आधार पर किया है। मॉर्गेन्थो के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माता के रूप में शक्ति-सन्तुलन इतिहास के विभिन्न स्तरों पर सफल रहा है। इसने कभी भी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली नहीं होने दिया है जो दूसरों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर सके।"[1] इनिस क्लाड ने स्वीकार किया है कि "शक्ति-सन्तुलन-व्यवस्था इस रूप में कार्य कर सकती है कि तुल्यभारिता (Equilibr um) की रचना और सम्भाल कर सके, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह ऐसा करे और वह परिणामों को उत्पन्न करने वाली उपयुक्त व्यवस्था भी नहीं है।"[2]

बहुत से विचारकों का मत है कि शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था ने कई बार युद्धों को रोका है। फ्रेडरिक गेंज (Friedr.c Geniz) का कहना है कि "युद्ध प्रायः तभी उत्पन्न होता है जब एक देश अत्यधिक शक्ति प्राप्त कर लेता है।" क्लेमेंसो (Clemenceau) का मत था कि प्रथम विश्व-युद्ध सन्तुलन के टूटने का परिणाम था। यदि शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था कायम रहती तो निश्चय ही विश्व-युद्ध न छिड़ता। क्विंसी राइट के शब्दों में, "शक्ति-सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जो प्रत्येक राज्य में निरन्तर यह विश्वास पैदा करती है कि यदि उसने आक्रमण करने का प्रयत्न किया तो दूसरे राज्यों के सगठित प्रयास द्वारा उसका विरोध किया जाएगा।"[3]

जो आलोचक शक्ति-सन्तुलन को युद्ध का कारण मानते हैं वे भूल जाते हैं कि यह व्यवस्था किसी शान्तिवादी दर्शन से सम्बन्धित नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि *राज्यों को अकेले ही या संगठित रूप से शक्ति का प्रयोग करने को तत्पर रहना* चाहिए, यहाँ तक कि ऐसी शक्ति को कुचल देना चाहिए जो भविष्य में उनकी स्वयं की रक्षा को चुनौती दे सकती है। इस प्रकार 'युद्ध' तुल्यभारिता की स्थापना के लिए आवश्यक हो सकता है अथवा तुल्यभारिता के द्वारा युद्ध रोका जा सकता है, दोनों ही बातें बहुत कुछ अंशों में सत्य हैं।

1 *Morgenthau and Thompson* : Principles and Problems of International Politics, p. 103.
2 *I. L. Claude* : Power and International Relations, p. 66.
3 *Quincy Wright* : A Study of War I, p. 254.

इसके समर्थकों ने शक्ति-सन्तुलन की मान्यता के अनेक लाभ बताए हैं जैसे, यह आक्रमणों को हतोत्साहित कर राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है, यह विजय-योजनाओं को हतोत्साहित कर विश्व-साम्राज्य के निर्माण को रोकता है, यह अव्यवस्था और गड़बड़ी को रोक कर यथास्थिति (Status-quo) स्थिर रखने में सहायक होता है। हो सकता है कि प्रतिरोध का यह साधन असफल हो जाए और युद्ध न रुक सके किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शान्ति-स्थापना शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त की भारी देन है।

आलोचना के पक्ष में कहा जाता है कि शक्ति-सन्तुलन ने चाहे यूरोपीय राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा में कुछ अवसरों पर सहयोग दिया हो, लेकिन युद्ध और आक्रमण को रोकने में यह एक प्रभावशाली व्यवस्था सिद्ध नहीं हुई है। 20वीं शताब्दी में इसके द्वारा इटली को इथियोपिया पर आक्रमण करने से नहीं रोका जा सका और जापान को चीन का एक बहुत बड़ा भाग हस्तगत करने से भी नहीं रोका जा सका। यूरोप में सन् 1930 में महा-शक्तियों के बीच जो सन्धि-समझौते किए गए वे अनेक राज्यों के मूल्य पर सम्पन्न हुए। हिटलर की माँग पर चैकोस्लोवाकिया को समाप्त कर दिया गया और पोलैण्ड को रूस तथा जर्मनी के बीच विभक्त कर दिया गया। चेम्बरलेन तथा दलादियर ने सोचा था कि हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाकर युद्ध को रोका जा सकता है, किन्तु इतिहास साक्षी है कि जब स्थित सन्तुलन को बिगाड़ने वाले राज्य की माँगों को स्वीकार किया जाता है तो वह और अधिक प्रोत्साहित होता है।

विल्सन, हल, रूजवेल्ट आदि ने शक्ति-सन्तुलन को संघर्षों और युद्धों का कारण मानते हुए इसके स्थान पर सामूहिक-सुरक्षा व्यवस्था की स्थापना का समर्थन किया है। विल्सन ने सन् 1971 में घोषित किया था कि अब मानव-जाति जीवन की स्वतन्त्रता की खोज में है न कि शक्ति-सन्तुलन की खोज में। मॉर्गेन्थो ने स्वीकार किया है कि शक्ति-सन्तुलन न केवल पोलैण्ड की रक्षा करने में ही असफल रहा, अपितु मुआवजे के रूप में भूमि वितरण के नाम पर पोलैण्ड को ही विखण्डित कर दिया गया। शक्ति-सन्तुलन ने किसी राज्य-विशेष या पूरी राज्य-व्यवस्था के किसी भी कार्य को युद्ध के साधन के अलावा अन्य किसी साधन से पूरा नहीं किया। मॉर्गेन्थो के मतानुसार इसका कारण शक्ति-सन्तुलन की तीन कमजोरियाँ हैं—(i) यह अनिश्चित है, (ii) यह अवास्तविक है, (iii) यह अपर्याप्त है।[1]

शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त की मान्यता का मूल्यांकन करते हुए पैडलफोर्ड एवं लिंकन ने लिखा है कि इस सिद्धान्त द्वारा यह दावा किया जाता है कि इसने युद्धों का विरोध और हतोत्साहित किया है, राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा की है और एक राज्य अथवा राज्य-समूह द्वारा अनुचित प्रभुत्व स्थापित करने पर रोक लगाई है, इस प्रकार इसने बहुराज्य-व्यवस्था को बनाए रखने में सहायता की है। इतिहास साक्षी

1 *Morgenthau* : Politics Among Nations, p. 105.

है कि शक्ति-सन्तुलन की राजनीति ने कुछ युद्धों को रोका, कुछ को विलम्बित और कुछ को हतोत्साहित किया, लेकिन युद्ध की दृष्टि में हम इसे एक अचूक औषधि नहीं मान सकते, क्योंकि यह अतीत काल मे अनेक युद्धो को रोकने मे असफल रहा है और भविष्य मे भी युद्ध का एक सफल अवरोधक नही है। शक्ति-सन्तुलन की नीति को व्यावहारिकता के आधार पर समर्थन दिया जाता है। यह कहा जाता है कि आक्रमक शक्ति को मर्यादित करने का यह सर्वश्रेष्ठ माध्यम है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय-सुरक्षा कायम रखता है। शक्ति-सन्तुलन का नैतिक रूप मे विश्लेषण करना उपयुक्त है क्योंकि राष्ट्रीय शक्ति का अस्तित्व एक तथ्य है और भविष्य मे भी यह एक तथ्य बना रहेगा। चाहे सन्तुलन को नैतिक माना जाए या अनैतिक, इसका अस्तित्व हर युग मे रहेगा। शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था मे आने वाले सम्प्रभु राज्यों के निर्णयो को उनके सहयोगियो द्वारा नियन्त्रित नही किया जा सकता। राजनीतिक नेताओ पर विभिन्न परिस्थितियो का प्रभाव पडता है। वे अपने राष्ट्रीय राजनीतिक तन्त्रो और दबाव-समूहों द्वारा प्रभावित होते है। शक्ति-सन्तुलन मे सहयोग करते हुए भी व्यक्तिगत राज्य द्वारा एक विषय की किस तरह व्याख्या की जाएगी यह किसी समस्या-विशेष की प्रकृति पर निर्भर करती है।

इससे इन्कार करना कठिन है कि शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् की एक वास्तविकता बन चुकी है तथापि इसमे अनेक सैद्धान्तिक और मध्य स्थायी तथा सम-स्तरीय सम्बन्धो पर विचार होता है, लेकिन औद्योगीकरण तकनीकी विकास, राजनीतिक परिवर्तन आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो शक्ति-वितरण मे निरन्तर परिवर्तन लाते रहते है। इनका मूल्यांकन करना सुगम नही है। पुनश्च-शक्ति-सन्तुलन मे विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पक्षो का बदलना सम्भव नही है। वर्तमान मे राष्ट्र विभिन्न राष्ट्रो से राजनीतिक, आर्थिक मनोवैज्ञानिक आदि स्तरो पर बंधे हुए हैं और गुटबन्दियो से निकलना दुष्कर है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान ढाँचे मे शक्ति-सन्तुलन-सिद्धान्त की सार्थकता विवादास्पद है। अधिकांश मत यही है कि आज की बदली हुई परिस्थितियो मे शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था शिथिल पड़ गई है। पामर एव पर्किस के अनुसार, "वर्तमान विश्व की परिस्थितियाँ शक्ति-सन्तुलन-व्यवस्था के लिए अनुकूल नही है, तथापि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का एक प्रभावकारी रूप है और अभी तक इसका कोई प्रभावकारी विकल्प नही बन पाया है।" रोजर्स जी मास्टर्स जैसे विचारक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के बहुगुटीय प्रतिरूप (*Multi Block Model*) के समर्थक हैं और वर्तमान बहुध्रुवीय व्यवस्था को शक्ति-सन्तुलन के अधिक अनुरूप मानते हैं।[1]

सामूहिक सुरक्षा
(Collective Security)

अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति को मर्यादित करने का एक-दूसरा साधन सामूहिक सुरक्षा

1 *Rogers G Masters*: "A Multi-Block Model of the International System" in American Political Science Review, Dec., 1961, pp. 789-98.

है जिसमें विभिन्न राष्ट्र सामूहिक रूप से संगठित होकर सम्भावित आक्रमणकारी का विरोध करने के लिए तैयार हो जाते हैं। शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था मे जो सन्धियाँ की जाती हैं उनका लक्ष्य एक देश या कुछ देशो के गुट का विरोध करना, उन पर आक्रमण करना या उनके आक्रमण से अपनी रक्षा करना होता है, किन्तु सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था में विरोधी अस्पष्ट एव सम्भावित होता है। इस प्रकार की सन्धि के अनुसार किसी भी एक इकाई पर आने वाला सकट या आक्रमण सन्धिबद्ध सभी इकाइयो के विरुद्ध आक्रमण समझा जाता है और सामूहिक रूप से ही उसका विरोध किया जाता है। इस व्यवस्था को शान्तिपूर्ण एव शान्तिवर्धक माना जाता है। क्लाड (Claude) के मतानुसार, केन्द्रीकरण की दृष्टि से सामूहिक सुरक्षा बीच की व्यवस्था है। इसमें शक्ति-सन्तुलन से अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध होता है, किन्तु विश्व-सरकार की मान्यता से यह कम रहता है।[1]

सामूहिक सुरक्षा का अर्थ
(The Meaning of Collective Security)

सामूहिक सुरक्षा जैसा कि शब्दो से ही प्रकट होता है, देश द्वारा सुरक्षा के लिए किए गए सामूहिक प्रयत्नों से सम्बन्धित होती है। प्रत्येक राष्ट्र अपने सुरक्षा प्रयत्नों मे सचेत रहता है, किन्तु यदि उस पर सकट आता है अथवा आक्रमण किया जाता है तो *सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था में सम्मिलित सभी राष्ट्र उसकी सुरक्षा के लिए* सामूहिक रूप से सगठित हो जाते है।

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को जॉन स्वजन बर्गर (John Schwazen Berger) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रमण रोकने अथवा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के लिए किए गए सयुक्त कार्यों का यन्त्र कहा है। साम्राज्यवादी तथा युद्ध-प्रिय देश विश्व-शान्ति को चुनौती देते रहते हैं। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का लक्ष्य है कि इस प्रकार की चुनौतियो का सक्षम मुकाबला सामूहिक रूप से किया जाए। मॉर्गेन्थो के अनुसार सामूहिक सुरक्षा की कार्यकारी व्यवस्था मे सुरक्षा की समस्या किसी अकेले राष्ट्र की समस्या नहीं होती वरन् उन सभी राष्ट्रों की समस्या होती है जो इस व्यवस्था के अन्तर्गत आपस मे प्रतिबद्ध होते है। 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' (One for all and all for one) यह सामूहिक सुरक्षा का नारा है।[2] कुछ अशो में यह व्यवस्था शक्ति-सन्तुलन का विस्तृत रूप कही जा सकती है, लेकिन दोनों मे निश्चित रूप से आधारभूत अन्तर है।

युद्ध को रोकने तथा *अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अभिवृद्धि* करने के प्रभावी साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा का विचार कुछ आधारभूत मान्यताओं पर आश्रित है—

प्रथम, सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था इस रूप मे पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हो ताकि वह आक्रमणकारी राज्य का मुकाबला कर सके। यह व्यवस्था प्रत्येक अवसर पर

1 *I. L. Claude*: Power and International Relations, p. 94.
2 *Morgenthau* : op. cit., pp. 412-413

शक्ति-संचय करने की इतनी जबरदस्त स्थिति में न हो कि आक्रामक राष्ट्र आक्रमण करने का दुस्साहस न करे।

द्वितीय, सामूहिक रूप से आक्रमण का मुकाबला करने को सहमत राष्ट्रों की सुरक्षा सम्बन्धी मान्यताओं और नीतियों मे यथासम्भव समानता हो।

तृतीय, ऐसे सभी राष्ट्र अपने परस्पर-विरोधी राजनीतिक हितों (Confl cting Political Interests) को सामूहिक सुरक्षात्मक कार्यवाही के हितार्थ बलिदान करने को तत्पर रहे।

चतुर्थ, सभी सम्बन्धित राष्ट्र यथास्थिति स्थापित रखना अपने राष्ट्रीय हित मे समझें।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था इस धारणा पर आधारित है कि शक्तियुक्त एकता का विरोध करने से पूर्व आक्रमणकारी राज्य भली प्रकार सोच-विचार कर लेंगे। इस व्यवस्था मे प्रत्येक देश को अपनी सम्प्रभुता को कुछ मर्यादित करना पड़ता है। व्यक्तिगत राष्ट्रीय सकल्प (National Will) का समर्पण सामूहिक निर्णय के लिए कर दिया जाता है। सफल सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था मे सैन्य एवं शस्त्र-बल पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। इस व्यवस्था का लक्ष्य केवल सामान्य शत्रु अथवा आक्रमण की चुनौती का सामना करना ही नही होना, बल्कि यह इकाइयो के विकास को प्रतिरोधक के रूप मे भी प्रभावित करती है। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था मे सभी अथवा अधिक से अधिक सख्या मे बड़ी शक्तियो को सम्मिलित करना होना है क्योंकि किसी भी विकट सकट का सामना करने की शक्ति उनमे ही होती है। सामूहिक सुरक्षा-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि मे ये पूर्व-धारणाएँ विद्यमान रहती हैं कि युद्ध की सम्भावनाएँ सदा विद्यमान रहने वाली हैं तथा आक्रामक शक्तियो को युद्ध करने से तभी रोका जा सकता है जब उनके लिए जबरदस्त शक्ति और विरोध का आतंक पैदा कर दिया जाए। इस प्रकार 'युद्ध' और निवारण के रूप मे 'शक्ति'—ये दोनों तत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किए गए हैं।

सामूहिक सुरक्षा के विचार का विकास
(Development of the Collect ve Secur.ty Idea)

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे लोकप्रिय बनाने का श्रेय भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन को दिया जाता है तथापि इस विचार का आरम्भ 17वीं शताब्दी की ओसनेब्रुक (Osnabruck) की सन्धि से माना जाता है। इस सन्धि की 17वीं धारा मे किसी भी सम्भावित शत्रु के विरुद्ध सामूहिक कदम की बात कही गई थी। 19वीं शताब्दी मे विलियम पेन तथा विलियम पिट ने यूरोप मे शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखने के लिए सामूहिक सुरक्षा जैसी व्यवस्था का विचार प्रचारित किया। विलियम पिट ने यूरोपीय महाशक्तियों को सुझाव दिया कि वे भविष्य मे शान्ति एवं व्यवस्था को समाप्त करने वाले किसी भी आक्रमण का सामूहिक रूप से विरोध करने की एक प्रभावी योजना बना लें।

सामूहिक सुरक्षा पद्धति का वास्तविक रूप 20वीं शताब्दी में प्रकट हुआ। सन् 1910 में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने कहा कि "शान्ति-प्रिय महाशक्तियाँ एक शान्ति-संघ (League of Peace) का निर्माण करें ताकि न केवल उनके बीच शान्ति स्थापित रहे वरन् किसी दूसरे राष्ट्र द्वारा भी यदि शान्ति भंग की कार्यवाही हो तो समुचित शक्ति द्वारा उसे रोका जा सके।" सन् 1910 में ही एक अन्य विचारक वान वुलेनहोवन (Von Wollenhoven) ने भी इसी प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सुझाव दिया जिसका अमेरिकी कांग्रेस द्वारा समर्थन किया गया।

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के अभियान को विशेष लोकप्रिय बनाने में प्रथम महायुद्ध काल में राष्ट्रपति विल्सन की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। विल्सन ने शान्ति-स्थापना के लिए 'सामूहिक-व्यवस्था' की जबरदस्त वकालत की और विशेषत. उन्हीं के प्रयत्नों से पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित रूप में राष्ट्रसंघ की स्थापना के साथ सामूहिक सुरक्षा को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया गया।

दुर्भाग्यवश राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था विभिन्न कारणोंवश असफल सिद्ध हुई, तथापि सामूहिक सुरक्षा का विचार द्वितीय महायुद्ध काल में ही और भी सजीव हो गया तथा नवीन विश्व-संस्था अर्थात् राष्ट्र-संघ में राजनीतिज्ञों और विश्व-नेताओं ने और भी मजबूती के साथ सामूहिक सुरक्षा को प्रस्थापित किया। चार्टर के अध्याय 7 तथा महासभा के 'शान्ति के लिए एकता' प्रस्ताव द्वारा सामूहिक सुरक्षा-पद्धति का विकास किया गया। वर्तमान विश्व-संस्था के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा-पद्धति निश्चित रूप से राष्ट्रसंघ की तुलना में श्रेष्ठतर व्यवस्था है।

सामूहिक सुरक्षा और शक्ति-सन्तुलन
(Collective Security and Balance of Power)

सामूहिक सुरक्षा को प्रायः शक्ति-सन्तुलन का विकल्प माना जाता है। सामूहिक सुरक्षा के व्यावहारिक रूप के जनक विल्सन ने अपने विचारों का प्रतिपादन शक्ति-सन्तुलन के विरोध में किया था। वे मानते थे कि शक्ति-सन्तुलन में राष्ट्र प्रतियोगितापूर्ण सन्धियों में बद्ध हो जाता है तथा बाध्यकारी शक्ति (Coercion) का प्रयोग राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं तथा स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों को पूरा करने के लिए किया जाता है जबकि सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था में देशों के सहयोग का अर्थ होता है सभी को न्याय एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना जिसमें *बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग* सामान्य शान्ति की स्थापना के लिए किया जाता है। क्लाड (I. L. Claude) ने लिखा है कि "विल्सन से लेकर आज तक सामूहिक सुरक्षा के सभी समर्थक इसे शक्ति-सन्तुलन से भिन्न रूप में परिभाषित करते रहे हैं।"[1]

विभिन्नताएँ (The Differences)—शक्ति-सन्तुलन एवं सामूहिक सुरक्षा की मान्यताओं के बीच कुछ अन्तर हैं जो मुख्यत. अग्रलिखित हैं—

1 *I. L. Claude* : Power and International Relations, p. 111.

1. सामूहिक सुरक्षा एक सार्वभौम सन्धि (Universal Alliance) है जो प्रतियोगी सन्धियों (Competitive Alliances) से भिन्न है जिनको शक्ति-सन्तुलन की विशेषता माना जाता है। कार्डेल हल (Cordell Hull) ने संयुक्तराष्ट्रसंघ के बारे मे लिखा है कि यह कुछ सगठित राष्ट्रों के विरुद्ध सन्धि नही है वरन् प्रत्येक आक्रमणकारी के विरुद्ध है। यह सन्धि युद्ध के लिए नही वरन् शक्ति के लिए है।[1] यह कथन दोनों मान्यताओं के मूल अन्तर को स्पष्ट करता है।

2 शक्ति-सन्तुलन की मान्यता दो या दो से अधिक विरोधी गुटो की कल्पना पर आधारित है जो परस्पर संघर्षशील प्रकृति के हैं, किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता 'एक विश्व' (One World) है जो सहयोग के आधार पर व्यवस्था का निर्माण करने के लिए सगठित होती है।

3. यद्यपि दोनो मान्यताएँ सघर्ष व सहयोग को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के मूलतत्त्व मानती है तथा संघर्ष का मुकाबला करने के लिए सहयोग की सिफारिश करती हैं, किन्तु शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था के निर्माण के लिए संघर्षपूर्ण सहयोग चाहता है जबकि सामूहिक सुरक्षा संघर्ष को प्रतिबन्धित रखने के लिए सामान्य सहयोग पर बल देती है।

4 शक्ति-सन्तुलन सीमित गुटबन्दी द्वारा ही आक्रमणकारी का विरोध करता है तथा यह मानता है कि संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सर्वकालीन विशेषता है, किन्तु सामूहिक सुरक्षा सामान्य सहयोग के आधार पर आक्रमणकारी का मुकाबला करने को तैयार रहती है तथा यह मानती है कि आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर केवल अपवाद है, नियम नही।

5. सामूहिक सुरक्षा यह मान कर चलती है कि किसी भी राष्ट्र द्वारा किसी भी राष्ट्र पर कभी भी किया गया आक्रमण विश्व-शान्ति के लिए खतरा है और इसका विरोध करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को कटिबद्ध रहना चाहिए, किन्तु शक्ति-सन्तुलन की मान्यता इससे भिन्न है। इसमे एक राष्ट्र पर आक्रमण होने के समय दूसरी सहयोगी इकाइयाँ उसका मुकाबला करने मे तभी साथ देंगी जब वह उनके हितो से मेल रखता हो। यदि एक राष्ट्र का राष्ट्रीय हित उस आक्रमण से प्रभावित नहीं होता तो वह युद्ध मे भाग लेने से विमुख हो सकता है।

6 इस प्रकार सन्तुलन व्यवस्था व्यवहारवादी (Pragmat c) है तथा एक राष्ट्र को आक्रमण का विरोध करने की केवल तभी सलाह देती है जब आक्रमण उसकी स्वय की सुरक्षा के लिए घातक हो। किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता में कुछ अधिक प्रभावशाली सैद्धान्तिक पुट है क्योंकि यह राज्य को सदैव आक्रमण का विरोध करने को प्रेरित करता है क्योंकि उसका हित आक्रमण से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता।

7. शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था बहुत ग्रस्त-व्यस्त होती है। यह अनेक स्वायत्त एवं स्वनिर्देशित राज्यो से मिलकर बनती है जिसमे बड़े राज्य थोड़े ही होते हैं, किन्तु

1 The Memoris of Cordell Hull II, 1948.

सामूहिक सुरक्षा में एक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को संगठनात्मक रूप देने की कोशिश की जाती है।

क्विंसी राइट के मतानुसार सामूहिक सुरक्षा व शक्ति-सन्तुलन के बीच यही अन्तर है जो कि कला (Art) और प्रकृति (Nature) के बीच होता है।

समानताएँ (The Similarities)—शक्ति-सन्तुलन व सामूहिक सुरक्षा के बीच उक्त अन्तरों के अतिरिक्त निम्न समानताएँ भी हैं—

1. कहा जाता है कि शक्ति-सन्तुलन की योजना का आधार दूसरे पक्ष की आक्रमणकारी सामर्थ्य (Aggressive Capacity) है जबकि सामूहिक सुरक्षा आक्रामक नीति पर अधिक ध्यान देती है। यह आंशिक सत्य है क्योंकि शक्ति-सन्तुलन में दूसरे पक्ष की केवल आक्रमणकारी सामर्थ्य पर ही ध्यान नहीं दिया जाता वरन् आक्रामक नीति को भी देखा जाता है।

2. दोनों मान्यताएँ प्रतिरोध (Detterrence) के सिद्धान्त की भूमि पर आरूढ़ है। शक्ति-सन्तुलन में स्वयं को इतना शक्तिशाली बनाया जाता है कि विरोधी मुँह न उठा सकें, सामूहिक सुरक्षा में भी शक्ति का एकीकरण कर आक्रमणकारी की महत्त्वाकांक्षाओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है।

3. शक्ति-सन्तुलन का आधार तुल्यभारिता तथा सामूहिक सुरक्षा का आधार प्रबलता (Preponderance) माना जाता है, किन्तु असल में तुल्यभारिता का रूप भी निश्चित नहीं है। शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था में कोई पक्ष किसी देश से यह नहीं कहता कि दूसरा पक्ष कमजोर है, अत. सन्तुलन के स्थापनार्थ वह उस पक्ष के साथ मिल जाए। इस प्रकार दोनों मान्यताओं के बीच वास्तविक अन्तर बहुत कम है।

4. दोनों ही व्यवस्थाएँ 'शान्ति के लिए युद्ध' (War for Peace) में विश्वास रखती हैं तथा कहती है कि शान्ति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि लड़ने की इच्छा पैदा करने की सामर्थ्य का विकास किया जाए।

5. दोनों ही राज्यों के सामूहिक सहयोग में विश्वास करते हैं यद्यपि आक्रमणकारी अर्थात् शान्दि को चुनौती देने वाला स्पष्ट नहीं होता।

6. दोनों ही अवधारणाओं की समानता उन आधारभूत परिस्थितियों के आधार पर भी बतायी जा सकती हैं जो दोनों ही व्यवस्थाओं के सफल व्यवहार के लिए आवश्यक मानी जाती है। उदाहरण के लिए, दोनों में शक्ति का फैलाव (Diffusion) इतना किया जाता है कि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र या पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा न पहुँचा सके। दुनिया का दो गुटों में बँट जाना (Bipolarity) दोनों ही मान्यताओं के सफल संचालन के लिए घातक माना जाता है। दोनों में लचीली नीति (Flexible Policy) अपनाई जाती है ताकि आवश्यकतानुसार पुराने शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु बनाने का मार्ग अवरुद्ध न हो जाए। प्रजातन्त्र के इस युग में दोनों ही धारणाएँ लोकमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती है। दोनों की स्थापना प्रायः एक-सी दुनिया में की

जाती है। विश्व के जिन परिवर्तनों ने शक्तिशाली सन्तुलन के मार्ग मे बाधा डाली है वे सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के सफल संचालन में भी बाधक हैं। एडवर्ड वी. गुलिक (Edward V Gulick) के मतानुसार शक्ति-सन्तुलन का विकास हुआ है। सन्धि (Alliance), सम्मिलन (Coalition) तथा सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) इसके विकास-क्रम के सोपान है। क्लाड (I L. Claude) का कहना है कि, "निष्कर्ष रूप मे अनेक विचारको ने यह स्वीकार किया है कि सामूहिक सुरक्षा को शक्ति-सन्तुलन का एक परिवर्द्धित सस्करण मानना चाहिए न कि पूरी तरह से भिन्न और शक्ति-सन्तुलन का विकल्प।"[1] शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त की मान्यताएँ सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की पूरक हैं।

सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ
(Collective Security and the League of Nations)

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा ने राष्ट्रसघ के रूप मे प्रथम बार संगठनात्मक रूप धारण किया। सविदा के अनुच्छेद 10 मे व्यवस्था थी कि "संघ के सदस्य उसके सभी सदस्यों की प्रादेशिक एकता और राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करने तथा उन्हे वाह्य आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षित रखने का वचन देते हैं। इसी प्रकार के किसी आक्रमण के होने अथवा इस प्रकार के आक्रमण की धमकी अथवा भय उत्पन्न होने की अवस्था मे परिषद् उन साधनो के बारे मे परामर्श देगी जिनसे इस उत्तरदायित्व को पूरा किया जा सके।" इस अनुच्छेद मे प्रस्थापित राष्ट्रसघ का यही प्रसिद्ध 'सामूहिक सुरक्षा' का सिद्धान्त था। अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत सदस्य-राष्ट्र आ श्यकता पडने पर सामूहिक सुरक्षा के लिए उपयुक्त कदम उठाने को वचनबद्ध थे। यह अलग बात है कि यथार्थ मे इस अनुच्छेद को कभी क्रियान्वित नहीं किया गया। पामर एवं पर्किस के अनुसार सघ के सदस्यो द्वारा इसके अर्थों की एकपक्षीय व्यवस्थाएँ की गईं तथा बातो के सिवाय और कुछ नही किया गया।

अपने जन्म के प्रारम्भिक वर्षों में सघ द्वारा कुछ समस्याओ को सुलझाया गया। किन्तु बडी व महत्त्वपूर्ण समस्याओ पर विचार करते समय बडे राष्ट्रों द्वारा इसके नियमो का उल्लघन किया गया। सन् 1931–33 मे मचूरिया ने सकट से लेकर हिटलर के आक्रमणों की शृंखला तक अर्थात् द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ तक प्रभावशाली सामूहिक सुरक्षा के अभाव मे एक के बाद एक अन्तर्राष्ट्रीय डकैती से पूर्ण कार्य होते रहे। संघ की असमर्थता एवं शक्तिहीनता सन् 1935-36 मे इटली के इथियोपिया के आक्रमण के समय पूरी तरह प्रकट हो गई थी। यह मामला उसकी परीक्षा का प्रतीक था जिसमें वह असफल हो गया।

सामूहिक सुरक्षा के यन्त्र के रूप में राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत एवं अमेरिकन दृष्टिकोण

फासिस्ट शक्तियों द्वारा पैदा किए गए यौद्धिक वातावरण और युद्ध रूपी संकट का मुकाबला करने के लिए राष्ट्रसंघ के व्यावहारिक उपायों पर सोवियत

1 *Andrew Martin* : Collective Security, p. 135.

दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रसंघ में सोवियत प्रतिनिधि लिटविनोव (Litvinov) ने कहा था—

"एक बात के प्रति मैं बहुत स्पष्ट विचार रखता हूँ कि शान्ति और सुरक्षा, शाब्दिक वचनों और घोषणाओं की बदलती हुई स्थितियों पर संगठित नहीं हो सकते। राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण इरादों के वचनों से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता, चाहे उन्हें कितनी ही बार क्यों न दोहराया जाए। विशेषतया, उन स्थानों पर जहाँ आक्रमण का खतरा नजर आ रहा हो और सभी ओर से युद्ध और विजयों की घोषणाएँ हो रही हों तथा भौतिक और आदर्शात्मक आधारों पर युद्ध की तैयारियाँ की जा रही हों। हमें यह निर्णय करना चाहिए कि प्रत्येक देश को, निकटतम या दूर के पड़ोसी से सुरक्षा की गारण्टी प्राप्त करने का अधिकार हो और इस प्रकार की माँग को अविश्वास की दृष्टि से न देखा जाए। वास्तव में, ईमानदार सरकारें कभी आक्रमणकारी इरादे नहीं रखती और घोषणाओं के स्थान पर ऐसी गारण्टी देने से इन्कार नहीं करेंगी जो स्वयं उन पर लागू होती हो और साथ ही उन्हें भी पूर्ण सुरक्षा का विश्वास दिला सके।"

"मैं यह नहीं कहूँगा कि राष्ट्रसंघ के पास शान्ति-संगठन के अवसरों और साधनों की कोई कमी नहीं थी। मैं शायद इसके साधनों की सीमाओं को आप से अधिक जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि लीग के पास युद्ध को पूर्णतया समाप्त करने के साधन नहीं हैं, फिर भी मुझे विश्वास है कि सभी सदस्यों के दृढ़-निश्चय और सहयोग के द्वारा इस खतरे को टालने के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होगा। सोवियत सरकार ने अपने पूर्ण अस्तित्व-काल में इसमें कभी रुकावट नहीं दी। यहाँ भी हम अपने प्रयत्नों को लीग के अन्य प्रतिनिधि राज्यों से मिलाने के लिए ही पहुँचे हैं।"[1]

इस प्रकार लिटविनोव ने फासिस्ट आक्रमण के भावी शिकारों को सचेत कर दिया, कि यदि आज वे एकत्रित होना स्वीकार नहीं करेंगे तो शीघ्र ही उन्हें पूर्णतया बिखर जाना पड़ेगा। परन्तु संयुक्त राज्य और यूरोप के बुर्जुआ राजवेत्ता अभी भी फासिस्ट उद्देश्यों के बहकावे में थे और तानाशाहों के युद्ध को स्थानीय बना देने के अभिलाषी थे।[2]

लिटविनोव के विपरीत राष्ट्रपति रूजवेल्ट का विचार था कि शान्ति को टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता है। बहुत से अन्य यूरोपियन देश भी इन्हीं विचारों का समर्थन कर रहे थे। परन्तु शान्ति के विभाजन का विचार केवल एक भ्रान्ति ही था जो कि आने वाली घटनाओं से सिद्ध हो गया और रूस के प्रतिनिधि का अविभाजित शान्ति पर बल दिया जाना आधारभूत गुणों से निहित विचार प्रमाणित हुआ।"

1 Quoted by Arthur Upham Pope in his biography, 'Maxim Litvinov'.
(मिश्र एवं खन्ना : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृष्ठ 168-169)

2 के. के. मिश्र एवं इन्दु खन्ना : वही, पृष्ठ 169.

तत्कालीन विश्व-राजनीति में सोवियत यथार्थवाद को दर्शाते हुए डॉ. मिश्र एवं खन्ना ने ठीक ही लिखा है, "संयुक्त राज्य के बुर्जुआ शासकों ने जहाँ तटस्थता और सिद्धान्तहीन निष्पक्षता पर बल देकर विश्व-शान्ति के प्रति विश्वासघात किया, वहाँ सोवियत दूरदर्शी नेताओं ने सभ्यता के प्रति फासिस्ट संकट को दूर करने की चेष्टा की। विश्व-शान्ति के हितों को ध्यान में रखते हुए सोवियत विदेश नीति फासिस्ट विरोधी लोकतन्त्रों के साथ सहयोग स्थापित करने की ओर झुकती रही और राष्ट्रसंघ को सामूहिक सुरक्षा का यन्त्र बना पाने के प्रयत्न में लगी रही।"

राष्ट्रसंघ की असफलता

सामूहिक सुरक्षा के यन्त्र के रूप में राष्ट्रसंघ अन्ततोगत्वा असफल रहा है। इसका एक मुख्य कारण सदस्यों का असंलग्नतापूर्ण दृष्टिकोण था। मार्च, 1949 में स्टालिन ने कहा था कि आक्रमणकारी राज्य, मुख्यतः इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरिका ने सामूहिक सुरक्षा की नीति अर्थात् आक्रमणकारी का सामूहिक विरोध करने की नीति को त्याग दिया और असंलग्नता तथा निरपेक्षता की नीति अपना ली। इस नीति का अर्थ था आक्रमणकारी को प्रोत्साहन देना। क्लाड का विचार है कि, जाने या अनजाने दुनिया के राज्यों ने सामूहिक सुरक्षा के साधन राष्ट्रसंघ के दोषों को कम करने की अपेक्षा और अधिक बढ़ाया। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को सामूहिक सुरक्षा के वे फल प्राप्त न हो सके जिनकी कल्पना की गई थी। सामूहिक सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के कारण नहीं वरन् राष्ट्रीय नीतियों के कारण असफल हो गई।"

समर वैल्ज (Summer Welles) के मतानुसार राष्ट्रसंघ समय पर कार्यवाही करने में प्रायः असफल रहा। राष्ट्रसंघ में सोवियत संघ ने सर्दव यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया और 'शक्ति अविभाजित है' के दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया जबकि अन्य शक्तियों का व्यवहार सोवियत संघ के प्रति उदासीनता अथवा उपेक्षा का रहा। ये बातें राष्ट्रसंघ को असफलता की ओर ले गईं। समर वेल्ज के ही शब्दों में—

प्रत्युत्तर में समर वैल्ज (Summer Welles) ने बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए कहा "जब सोवियत संघ ने लीग में प्रवेश किया तो बहुत तंगदिल राष्ट्रों को भी मानना पड़ा कि सोवियत सरकार ही एक ऐसी मुख्य शक्ति थी जो लीग के उद्देश्यों में विश्वास रखती थी। इसका विचार था कि लीग को प्रत्येक देश के व्यक्तिगत और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए पर्दा मात्र ही नहीं मानना चाहिए। लीग के सम्मेलन में सोवियत प्रतिनिधि मेक्सिम लिटविनोव को ब्रिटिश सरकार के आदेश द्वारा 'एक खतरनाक विदेशी' मानकर इंग्लैण्ड में आने नहीं दिया गया और सन् 1920 में जब इंग्लैण्ड और सोवियत संघ की प्रथम सन्धि पर हस्ताक्षर हुए थे तो उसके लिए क्रैसिन (Krassin) को भेजा गया था। परन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि वही मेक्सिम लिटविनोव ही केवल एक ऐसा यूरोपियन राजवेत्ता है जो युद्ध के समय में सदा ही उचित विचार रखता रहा था। यह उसी की सतत् अपील थी कि शक्ति अविभाजित है और लीग के उद्देश्यों की सफलता तभी प्राप्त हो सकती है यदि सभी यूरोपियन देश इसी के सुझावों को स्वीकार करें। यदि यूरोप की सभी शक्तियाँ यह

ध्यान रखने के लिए तत्पर न हों कि लीग की अनुज्ञप्तियों का पालन सभी के द्वारा हो रहा है या नहीं तो विपत्ति निश्चित है।"

"लिटविनोव एक स्पष्टवादी व्यक्ति है। कई बार वह उदण्ड हो जाता है परन्तु मेरे विचार में वह कभी कुटिल नहीं था। जब तक लीग में वह अपनी सरकार का प्रतिनिधित्व करता रहा, उसने अपनी पूरी योग्यता से लीग के कार्यों को सम्पन्न करवाने का प्रयत्न किया। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सोवियत सरकार ने लीग का परित्याग नहीं किया। लीग के अन्तिम वर्षों में इस पर शासन कर रही कुछ महान् शक्तियाँ थी जिन्होंने सोवियत संघ का परित्याग किया हुआ था।

"सन् 1931 में जापान ने निर्णय किया था एशियाई क्षेत्र पर उनके आधिपत्य स्थापित करने का उचित समय आ गया है, तो क्षितिज में फिर से अन्धकार के बादल छा गए। तीन मन्चूरियन क्षेत्रों पर जापान द्वारा बलात्कार, और साधारण डाँट दिए जाने पर लीग से त्याग-पत्र दे देने का जापान का निर्णय, समस्याओं से लीग का साक्षात्कार करवा रहा था। इंग्लैण्ड की बाल्डविन (Baldwin) सरकार ने बल पर आधारित कोई भी कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया। अतः जर्मनी और इटली में बढ़ती हुई शक्तियों को ध्यान में रखकर उन्हें चेतावनी दे दी गई थी कि इस पैशाचिक सकट के समय में राष्ट्रसंघ स्वयं को अयोग्य पा रहा है।"

लीग द्वारा इस समय कोई कार्यवाही न किया जाना ही, इथोपिया (Ethop a) पर मुसोलिनी के आक्रमण, स्पेन में फासिज्म की विजय और हिटलर के 'महान् जर्मनी' निर्माण के निर्णय का मुख्य कारण था। कोई भी निर्णय इतना घातक सिद्ध नहीं हुआ होगा जितना कि सन् 1932 में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का लीग को समाप्त कर देने का था।

"कुछ ही वर्षों में जनता और सरकारें तीव्र गति से चलती हुई घटनाओं में घिर चुकी थी और दुःखान्त परिणाम की ओर जा रही थी। परन्तु अभी भी पश्चिमी लोकतन्त्रों के बहुत से नेता इस बहाव की गति को समझ नहीं पा रहे थे कि यह मानवता को कहाँ लिए जा रहा है।"[1]

सामूहिक सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्रसंघ
(Collective Secur ty and the U. N. O)

राष्ट्रसंघ की भाँति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान में भी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है, और यह अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। "संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास अब दाँत हैं, यदि वे प्राकृतिक दाँत नहीं हैं तो कम से कम बने हुए दाँत अवश्य हैं" और यदि वे हमेशा अच्छी तरह प्रयोग में न लाए जा सकें तो भी कम से कम उनमें काटने की शक्ति तो है ही।[2]

1 मिश्र एवं शर्मा से उद्धत : वही, पृष्ठ 169-70.
2 *Andrew Martin* : Collective Security, p. 135.

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुच्छेद 43 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि शान्ति-स्थापना के लिए, जब जैसी आवश्यकता हो तब सदस्य-राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् की सहायता के लिए अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता और अन्य सुविधाएँ जिनमे मार्ग-अधिकार भी शामिल होंगे, सुरक्षा परिषद् को जुटाएँगे। यह भी प्रावधान है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी-अपनी राष्ट्रीय वायु-सेना को जल्दी से जल्दी उपलब्ध कराएँगे ताकि सयुक्त राष्ट्रसघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। यद्यपि शान्ति स्थापित रखना सुरक्षा-परिषद् का प्रथम उत्तरदायित्व है, तथापि 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting for Peace) के प्रस्ताव द्वारा यह व्यवस्था भी कर दी गई है कि यदि कभी शान्ति के लिए सकट पैदा हो जाए अथवा शान्ति भग हो, अथवा आक्रमण हो जाए और सुरक्षा-परिषद् पारस्परिक मतभेदो के कारण इस दिशा मे अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सके, तो महासभा अपना सकटकालीन अधिवेशन बुलाकर तुरन्त मामला अपने हाथ मे ले सकती है और स्थिति का मुकाबला करने के लिए सामूहिक कार्यवाही का सुझाव दे सकती है।

सयुक्त राष्ट्रसघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की परीक्षा का अवसर पहली बार सन् 1950 मे आया था जब दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया के आक्रमण के मामले को राष्ट्रसघ ने अपने हाथ मे लिया। कोरिया-युद्ध मे यदि सयुक्त राष्ट्रसघ सुरक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रभावशाली सैनिक विरोध न करता तो सम्भव था कि तृतीय महायुद्ध का विस्फोट हो जाता। कुछ विचारको का मत है कि कोरिया के सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्रसघ की कार्यवाही के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था ने अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के अनुसार होना यह चाहिए था कि आक्रमणकारी को सजा देने अथवा उसका प्रतिरोध करने के लिए किसी भी आक्रमणकारी के विरुद्ध कही भी लडा जाता, किन्तु इसके स्थान पर सामूहिक शक्ति का प्रयोग केवल अमेरिका के प्रबल शत्रु के विरुद्ध किया गया था। जो भी हो कोरिया-युद्ध ने सयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ अनुभव प्रदान किए तथा सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया।

सन् 1956 मे महासभा के सकटकालीन अधिवेशन मे अविलम्ब युद्ध-विराम पर बल दिया गया और प्रस्ताव पास किया गया कि महासचिव मिस्र मे युद्ध बन्द करने तथा युद्ध-विराम की देखभाल करने के लिए संघ की एक आपात्कालीन सेना (UNEF) का गठन करें किन्तु 15 नवम्बर को आपात्कालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँचने से पहले ही 6–7 नवम्बर की मध्य रात्रि मे ब्रिटिश-फ्राँसीसी सैनिक कार्यवाही बन्द कर दी गई थी। स्वेज-विवाद की संयुक्त राष्ट्रसंघीय कार्यवाही सामूहिक सुरक्षा की सफलता थी यह संदिग्ध है। वास्तव मे कुछ अन्य कारणो से आक्रमणकारियो ने महासभा के आदेशो का पालन किया था जिनमे सोवियत हस्तक्षेप की चेतावनी प्रमुख थी।

वास्तव मे कोरिया-युद्ध के बाद सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को कार्यान्वित करने

में संयुक्त राष्ट्रसंघ पीछे ही हटा। संयुक्त राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा के अपने उत्तरदायित्वों को सच्चे अर्थों में नहीं निभा सका है—इसे इंगित करते हुए पामर एवं पर्किंस ने यहाँ तक लिख दिया है कि "अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र अपनी प्रकृति के कारण वास्तविक सामूहिक सुरक्षा का न तो कभी प्रभावशाली साधन था और न भविष्य में कभी हो सकता है।" सुरक्षा-परिषद् में महाशक्तियों के निषेधाधिकार ने एक ऐसी व्यूह-रचना कर दी है जिसमें चूहों को तो कुचला जा सकता है, किन्तु शेरों को नहीं रोका जा सकता। निषेधाधिकार ने सामान्य सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्पूर्ण लेखे-जोखे का मूल्यांकन करने पर वैंच विच तथा मार्टिन के इन शब्दों से असहमत होना कठिन है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर ने सामूहिक सुरक्षा की अवास्तविक पद्धति स्थापित की है।"

सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय सन्धियाँ
(Collective Security and Regional Pacts)

विश्व के दो गुटों में बँट जाने से सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का भाग्य चन्द्र-राहू के समान सिद्ध हुआ। शीतयुद्ध के दाव-पेचों तथा घेरेबन्दी के परिणामस्वरूप साम्यवादी और पूंजीवादी गुटों द्वारा सन्धि-संगठनों का निर्माण किया जाने लगा। विचारकों के एक पक्ष की यह मान्यता है कि इन क्षेत्रीय संगठनों के आधार पर सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ तथा लोकप्रिय बनाया जा सकता है तो दूसरे पक्ष वालों का मत है कि सन्धियों का आधार गुटबन्दी होता है और इन्हें कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि ये शान्ति और सुरक्षा को नहीं वरन् युद्ध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। इनके विचार में क्षेत्रीय सन्धियों अथवा प्रादेशिक संगठनों और समझौतों से आम खाने की कल्पना करना आकाश-कुसुम की भाँति निराधार और मृग-मरीचिका की भाँति भ्रामक है।

क्षेत्रीय सन्धियों को चाहे अनेक राजनीतिज्ञों और शान्तिवादियों ने अनुचित बताया, लेकिन इनका विकास होता ही गया। द्वितीय महायुद्ध के मध्यवर्ती काल में क्षेत्रीय संगठनों और समझौतों का बड़ी संख्या में निर्माण किया गया। बहुत कुछ इन्हीं के कारण राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा की स्थापना में असफल हुआ और वह उन राज्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सका जिन्होंने आक्रामक रूप धारण कर लिया था।

जब द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्तराष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो उसके चार्टर में भी प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठनों और समझौतों सम्बन्धी उपबन्ध रखे गए। वस्तुतः अधिकांश अमेरिकी और पश्चिमी राजनीतिज्ञों तथा सैन्य-विशारदों के लिए यह चिन्ता का विषय था कि 'रूसी दानव' यूरोप में 'लौह आवरण' (Iron Curtain) के पूर्व में उद्दण्डतापूर्वक विचार रहा था और उसका प्रभाव सारे यूरोप पर पड़ रहा था। पामर और पर्किंस ने लिखा है—"यह तो अनुमान लगाने की बात थी कि रूसी सेनाएँ कुछ ही दिनों, सप्ताहों अथवा महीनों में इंगलिश चैनल तथा

अटलांटिक सागर तक पहुँच सकती है अथवा नहीं परन्तु यह निश्चित था कि 'पूर्व' (अर्थात् रूस) की ओर से हवाई आक्रमण के मार्ग में कोई भौगोलिक अथवा सैनिक बाधाएँ नहीं थी।"

चूँकि राजनीतिज्ञों का बहुमत और अधिकांश राज्य यह नहीं चाहते थे कि आक्रमण के समय सयुक्त राष्ट्रसघ की सुरक्षा-परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों के हाथ में ही कार्यवाही करने का अधिकार रहे, अत उन्होंने अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय सगठनों को बनाने के सिद्धान्त का समर्थन किया और इसी उद्देश्य से सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर में उपयुक्त व्यवस्था की।

यद्यपि सयुक्तराष्ट्रसंघ के चार्टर की व्यवस्थाओं मे यही घोषणा की गई कि क्षेत्रीय सगठन और समझौते विश्व-सगठन के उद्देश्यों का परित्याग न करते हुए संयुक्त *राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होंगे, परन्तु विश्व की महाशक्तियों* ने इस आड में अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को पूर्ण करने का खेल खेला। परिणामत. विगत 15–20 वर्षों में क्षेत्रीय सन्धियों और सगठनों की बाढ़ सी आ चुकी है जिनसे विश्व-शान्ति और सामूहिक सुरक्षा की समस्या सुलझाने के स्थान पर उलझ रही है। इन सगठनों और समझौतों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न की हैं, तनाव को बढ़ाया है और सयुक्तराष्ट्रसघ के महत्त्व को घटाया है। कुछ प्रमुख प्रादेशिक सगठन और समझौते (Reg onal Alliances) ये हैं—ब्रूसेल्स सन्धि सगठन, 'नाटो, वारसा पैक्ट, केन्द्रीय सन्धि सगठन (सैंटो), दक्षिण-पूर्वी-एशिया-सन्धि संगठन (सीटो) आदि। वस्तुतः क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक सन्धियों और संगठनों का क्रम सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की अपेक्षा शक्ति-सन्तुलन के विचार के अधिक निकट है।

सयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर मे सम्बन्धित अनुच्छेद
(*Relevant Articles of the U. N Charter*)

सयुक्त राष्ट्रसघ मे सामूहिक सुरक्षा, क्षेत्रीय या प्रादेशिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जिन महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों का प्रावधान है उनके अवलोकन से सयुक्त राष्ट्रसघ की सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। उल्लेखनीय है कि चार्टर के अनुच्छेदों में 'सामूहिक सुरक्षा' नाम प्रयुक्त न होकर 'सामूहिक प्रयत्नों या उपायों' (Collective Measures) तथा 'सामूहिक कार्यवाही' (Collective Action) शब्दावलियों का प्रयोग हुआ है। नीचे जो अनुच्छेद दिए जा रहे हैं[1] उनमें अनुच्छेद 1 (1) अध्याय एक का है, अनुच्छेद 39 से लेकर 51 अध्याय सात के हैं और अनुच्छेद 52 से 54 अध्याय आठ हैं। अध्याय सात 'शान्ति के प्रति धमकियों, शान्ति-भंग की स्थितियों तथा आक्रमण के विषय में कार्यवाही' (Act on w th Respect of Threats to the Peace, Breaches of the Peace, and Acts of Aggression) से सम्बन्धित है और अध्याय आठ '*क्षेत्रीय या प्रादेशिक व्यवस्था*' (Regional Arrangements) से सम्बन्धित हैं।

1 हृन्स मॉर्गेन्थो : 'राष्ट्रों के मध्य राजनीति' से उद्धृत, पृष्ठ 682-687.

अनुच्छेद 1 (1)—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना और इसके लिए प्रभावपूर्ण सामूहिक प्रयत्नो (Collective Measures) द्वारा शान्ति के सकटों को रोकना और समाप्त करना, तथा आक्रमण की एव शान्ति-भंग की अन्य चेष्टाओं को दबाना, तथा न्याय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादो अथवा स्थितियों को सुलझाना अथवा निपटारा करना, जिनसे शान्ति-भग होने की आशका हो ।

अनुच्छेद 39—सुरक्षा-परिषद् *यह निर्णय करेगी कि शान्ति को धमकी दी* गई है, शान्ति भग हुई है अथवा आक्रमण हुआ है, तथा वह सिफारिशें करेगी और निश्चित करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाए रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए 41 एव 42 अनुच्छेदो के अनुसार क्या कार्यवाहियां (Measures) की जाएँगी ।

अनुच्छेद 40—किसी स्थिति को बिगड़ने से रोकने के लिए अनुच्छेद 39 मे उल्लिखित सिफारिशें करने और कार्यवाहियों (Measures) के विषय मे निर्णय करने के पूर्व सुरक्षा-परिषद् विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियों का अनुपालन करने को कह सकती है जिन्हें वह उचित अथवा आवश्यक समझती हो । ऐसी अस्थायी कार्यवाहियों से सम्बन्धित विवादी पक्षों के अधिकारो, दावों एवं स्थितियो का कोई अहित नहीं होगा । यदि कोई विवादी पक्ष इन अस्थायी कार्यवाहियो (Provisional Measures) का अनुपालन नही करता तो सुरक्षा-परिषद् इसकी ओर भी विधिवत् ध्यान देगी ।

अनुच्छेद 41—सुरक्षा-परिषद् अपने निर्णयो को कार्यान्वित करने के लिए ऐसी कार्यवाहियों (Measures) के विषय मे भी निर्णय कर सकती है जिनमे सशस्त्र बल का प्रयोग न हो और वह सयुक्त-राष्ट्रसंघ के सदस्यों को इन कार्यवाहियो द्वा अनुपालन करने के लिए कह सकती है । इन कार्यवाहियो के अनुसार आर्थिक सम्बन्धो तथा रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो एव सचार-व्यवस्था के अन्य साधनों को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से रोका जा सकता है और राजनयिक सम्बन्ध भी तोड़े जा सकते हैं ।

अनुच्छेद 42—यदि सुरक्षा-परिषद् यह समझे कि अनुच्छेद 41 मे उल्लिखित कार्यवाहियाँ (Measures) अपर्याप्त होंगी अथवा अपर्याप्त सिद्ध हुई हैं तो *अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को बनाए रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए* सुरक्षा-परिषद् वायु, समुद्र अथवा स्थल सेनाओ की सहायता से आवश्यक कार्यवाही (Action) कर सकती है ।

अनुच्छेद 43—1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने में सहयोग देने के लिए सयुक्तराष्ट्र के सब सदस्य यह उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित रखने के उद्देश्य से वे सुरक्षा-परिषद् के माँगने पर तथा विशेष समझौतो के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता एवं सुविधाएँ, जिनमे मार्ग-अधिकार भी सम्मिलित हैं, प्रदान करेंगे ।

2. ऐसा समझौता अथवा समझौते सेनाओं की संख्या एवं प्रकार, तैयारी एवं सामान्य स्थिति की कोटि तथा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं एवं सहायता के स्वरूप को निश्चित करेंगे।

3. सुरक्षा-परिषद् की प्रेरणा से ऐसा समझौता अथवा समझौते जितने शीघ्र सम्भव हो वार्ता द्वारा किए जाएगे। ये समझौते सुरक्षा-परिषद् एवं सदस्यों *अथवा सुरक्षा-परिषद् एवं सदस्यों के समूहों के बीच होंगे तथा हस्ताक्षर करने वाले* राज्यों की अपनी-अपनी सांविधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार सत्यांकन के पश्चात् लागू होंगे।

अनुच्छेद 44—जब सुरक्षा-परिषद् ने सैनिक कार्यवाही करने का (To use Force) निर्णय किया हो, तो वह किसी ऐसे सदस्य से, अनुच्छेद 43 के अधीन उत्तरदायित्व की पूर्ति के हेतु सशस्त्र सेनाएँ माँगने के पहले, जिसका सुरक्षा-परिषद् मे प्रतिनिधित्व नहीं है, उस सदस्य की इच्छानुसार उसे सुरक्षा-परिषद् के उन निर्णयों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर सकती है जिनका उस सदस्य की सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग से सम्बन्ध हो।

अनुच्छेद 45—संयुक्त राष्ट्रसघ को शीघ्र सैनिक कार्यवाही (Military Measures) करने योग्य बनाने के लिए सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवर्तन के कार्य के लिए तुरन्त राष्ट्रीय वायु-सेना की सुलभ टुकड़ियाँ तैनात करेंगे। इन टुकड़ियों की शक्ति और तत्परता की मात्रा तथा इनकी सामूहिक क्रिया की योजना 'सैनिक-स्टॉफ-समिति' की सहायता से सुरक्षा-परिषद् द्वारा अनुच्छेद 43 में उल्लिखित विशेष समझौते या समझौतों की सीमाओं के अन्तर्गत निर्धारित होगी।

अनुच्छेद 46—सुरक्षा-परिषद् सैनिक स्टॉफ समिति की सहायता से सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग के लिए योजनाएँ बनाएगी।

अनुच्छेद 47—1 एक सैनिक स्टॉफ समिति स्थापित की जाएगी जो सुरक्षा-परिषद् को उन सभी प्रश्नों पर परामर्श एव सहायता देगी जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने के लिए सुरक्षा-परिषद् की सैनिक आवश्यकताओं, उसके अधीन सेनाओं के प्रयोग एवं कमान, शस्त्रों के नियन्त्रण और सम्भावित नि:शस्त्रीकरण से हो।

2. सैनिक-स्टॉफ समिति मे सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों के 'स्टॉफ' के अध्यक्ष (चीफ ऑफ स्टॉफ) अथवा उनके प्रतिनिधि होंगे। यदि संयुक्त राष्ट्र के किसी सदस्य का इस समिति मे स्थायी रूप से प्रतिनिधित्व न हो और समिति के *दायित्वों की निपुणतापूर्वक पूर्ति के लिए समिति के कार्य में उस सदस्य का भाग लेना* आवश्यक हो तो, समिति उसे अपने साथ काम करने के लिए आमन्त्रित करेगी।

3. सुरक्षा-परिषद् के अधीन रह कर सैनिक स्टॉफ समिति उन सशस्त्र सेनाओं के युद्ध सम्बन्धी निर्देशन के लिए उत्तरदायी होगी जो सुरक्षा-परिषद् के उपयोग के लिए इसे दी जाएँगी। इन सेनाओं के कमान सम्बन्धी प्रश्न बाद में निश्चित किए जाएँगे।

4. सुरक्षा-परिषद् से अधिकार प्राप्त होने पर और उपयुक्त प्रादेशिक संस्थाओं के साथ परामर्श के पश्चात् सैनिक स्टॉफ-समिति प्रादेशिक उप-समितियाँ भी स्थापित कर सकती है।

अनुच्छेद 48—1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने के हेतु सुरक्षा-परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए जो कार्यवाही आवश्यक होगी, उसके विषय में सुरक्षा-परिषद् निर्धारित करेगी कि वह संयुक्तराष्ट्र के सभी सदस्यों द्वारा हो अथवा उनमें से कुछ के द्वारा।

2. संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य स्वतन्त्र रूप से तथा जिन उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के वे सदस्य हैं उनमें अपनी कार्यवाही द्वारा इन निर्णयों को कार्यान्वित करेंगे।

अनुच्छेद 49—सुरक्षा-परिषद् द्वारा निर्धारित कार्यवाही को लागू करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य एक-दूसरे को सहयोग देंगे।

अनुच्छेद 50—यदि सुरक्षा-परिषद् द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध निवारक अथवा प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाही हो रही हो और किसी अन्य राज्य के समक्ष, जो संयुक्त-राज्य का सदस्य हो अथवा नहीं, इस कार्यवाही के लागू होने के कारण विशेष आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँ, तो उसे इन समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में सुरक्षा-परिषद् से परामर्श करने का अधिकार होगा।

अनुच्छेद 51—यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य के विरुद्ध कोई सशस्त्र आक्रमण हो तो उसे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अन्तर्निहित अधिकार है; और जब तक सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही (Measures) नहीं करती, तब तक वर्तमान चार्टर के अनुसार इस अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। आत्म-रक्षा के इस अधिकार के प्रयोग में सदस्य जो भी कार्यवाही (Measures) करेंगे, उनकी सूचना तत्काल सुरक्षा-परिषद् को दी जाएगी और इस कार्यवाही का सुरक्षा-परिषद् की वर्तमान चार्टर के अधीन उस शक्ति एवं उत्तरदायित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ेगा जिसके अनुसार वह किसी भी समय अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए ऐसी कार्यवाही (Action) कर सकती है जिसे वह आवश्यक समझे।

अनुच्छेद 52—1. ऐसे प्रादेशिक प्रबन्ध एवं संस्थाओं के अस्तित्व में, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बने रहने से सम्बन्धित मामलों पर विचार करते हैं और उपयुक्त प्रादेशिक कार्यवाही करते हैं, वर्तमान चार्टर के अनुसार कोई बाधा नहीं पड़ेगा। शर्त यह है कि ऐसे प्रबन्ध अथवा संस्थाएँ तथा उनके कार्य संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के अनुरूप हों।

2. संयुक्त राष्ट्र के वे सदस्य जो ऐसी व्यवस्थाओं के भी सदस्य हैं अथवा ऐसी संस्थाओं का निर्माण करते हैं, स्थायी विवादों को सुरक्षा-परिषद् के समक्ष ले

जाने के पहले ऐसे प्रादेशिक-प्रबन्धो अथवा ऐसी प्रादेशिक-संस्थाओं द्वारा उनका शान्तिपूर्ण निपटारा करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न करेंगे।

3. सुरक्षा-परिषद् राज्यो के अभिक्रम द्वारा अथवा स्वयं ही स्थानीय विवादो के इन प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा इन प्रादेशिक संस्थाओ द्वारा शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए प्रोत्साहन देगी।

4. इस अनुच्छेद से अनुच्छेद 34 एवं 35 के लागू होने पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा।

अनुच्छेद 53—1 जहाँ उचित होगा, सुरक्षा-परिषद् अपने अधिकार में इन प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा संस्थाओ का प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाही मे उपयोग करेगी। परन्तु इन प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा प्रादेशिक संस्थाओ के अधीन तब तक कोई प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाही नही की जाएगी जब तक सुरक्षा-परिषद् इसका अधिकार न दे। ये उन कार्यवाहियो के विषय मे अपवाद हैं जो किसी शत्रु-राज्य के विरुद्ध जिसकी परिभाषा इस अनुच्छेद के पैरा 2 मे की गई है, अनुच्छेद 107 के अनुसार अथवा किसी ऐसे राज्य के पुन आक्रमणकारी नीति के अपनाने के विरुद्ध तब तक की जा रही हो जब तक सम्बन्धित राष्ट्रो के निवेदक पर उस राज्य के द्वारा आगे आक्रमण रोकने के लिए संगठन को इसका उत्तरदायित्व न दिया जाए।

2 इस अनुच्छेद के पैरा 1 मे जो 'शत्रु राज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह उस राज्य के लिए लागू होता है जो दूसरे महायुद्ध मे इस चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राष्ट्र का शत्रु रहा है।

अनुच्छेद 54—प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा प्रादेशिक संस्थाओ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के संपोषण के लिए जो कार्यवाही की जाएगी अथवा जिस कार्यवाही पर विचार हो रहा होगा, उसकी पूर्ण सूचना सुरक्षा-परिषद् को समय-समय पर दी जाएगी।

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का मूल्यांकन
(An Evaluat on of Collective Security System)

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था, चाहे वह किसी भी रूप तथा आकार मे हो, तब तक प्रभावशाली नही हो सकती जब तक कि उसे क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त शक्ति उपलब्ध न हो। शक्ति के बिना किसी भी दमनकारी आक्रमण को कुचला नही जा सकता। सामूहिक सुरक्षा की बाध्यकारी शक्ति के रूप के सैद्धान्तिक दृष्टि से तीन *विकल्प हो सकते हैं*—

1. सदस्य राज्यो द्वारा सहयोग का वचन दिया जा सकता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी सैनिक शक्तियो के प्रयोग करने का वायदा भी लिया जा सकता है।

2. राज्य अपनी सेना के कुछ भाग अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के पास छोड़ देंगे ताकि वह सामूहिक सुरक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर काम मे ला सकें।

3. अन्तर्राष्ट्रीय संघ अपनी स्वयं की सेना का अलग से निर्माण करे तथा वह सेना सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का सचालन करे।

राष्ट्रसंघ द्वारा प्रथम विकल्प को अपनाया गया था। राष्ट्रसंघ मे किस विकल्प को अपनाया जाए इस सम्बन्ध मे बहुत समय तक भारी वाद-विवाद रहा, अन्त मे कुछ देशों की पूरी सहमति न रहते हुए भी द्वितीय विकल्प को अपना लिया गया। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को आज की परिस्थितियों मे अव्यावहारिक, असम्भव तथा निष्फल माना जाता है। इस पक्ष के समर्थन मे प्राय निम्न तर्क दिए जाते हैं—

1. आक्रमणकारी जब आक्रमण करता है तो वह पूरी तैयारी और सोच-विचार के साथ करता है और जिस देश पर आक्रमण किया जाता है उसकी प्रतिक्रिया भी तत्काल ही होती है—वहाँ पूरी सैनिक तैयारी की जाएगी, सकटकालीन बजट पास किया जाएगा तथा परिस्थितियो के अनुकूल जो भी आवश्यक होगा किया जाएगा, किन्तु सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की इकाइयो को पूरी तरह यह पता नही रहता कि कहाँ, किसके विरुद्ध, कब किसके साथ मिलकर सैनिक कार्यवाही करनी चाहिए और इसी कारण तत्कालीन सामूहिक युद्ध कठिन हो जाता है। फलत. सामूहिक सुरक्षा समुदाय की सैनिक शक्ति उसके किसी भाग से सदैव कम होगी।

2. सन् 1945 ई. के बाद सैनिक तकनीक मे भारी परिवर्तन आ गया है। वैज्ञानिक विकास के कारण आज के युद्ध ऐसे बन चुके हैं कि आक्रमणकारी के विरुद्ध कदम उठाने के लिए सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था विचार करने का प्रबन्ध करे तब तक आक्रमणकारी देश को नष्ट कर देगा। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र यह जानता है कि वह अपने जीवन और मरण का प्रश्न सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर नही छोड़ सकता, इसका उसे स्वय ही प्रबन्ध करना होगा।

3. विश्व का दो गुटो मे बँट जाना (Bipolarity) भी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विपरीत सिद्ध हुआ है। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था यह मानती है कि उसके प्रतिबन्धों का प्रभाव प्रत्येक देश पर पड़ेगा और कोई भी देश आक्रमण करने का साहस न कर सकेगा। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस व अमेरिका की नई शक्ति का जिस रूप मे उदय हुआ है उस पर सामूहिक सुरक्षा के प्रतिबन्धो का कोई प्रभाव होने जाने वाला नही है। इसके अतिरिक्त दो गुटो की व्यवस्था मे यह भी एक बाधा होती है कि आक्रमणकारी राज्य किसी भी एक गुट के सदस्य या नेता होते है और इस कारण उस गुट के दूसरे सदस्य-राज्य सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के उत्तरदायित्वो को पूरा नही होने देते।

4. सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था इस बात पर निर्भर करती है कि आक्रमणकारी तथा जिस पर आक्रमण किया गया है उस देश को स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया जाए क्योंकि बिना इसके कोई कदम नहीं उठाया जा सकता। भारत-पाक सघर्ष के समय भारत द्वारा बराबर यह माँग की गई कि वह पाकिस्तान को आक्रमक घोषित करे, किन्तु ऐसा नही किया गया क्योंकि वह घोषणा जितनी सरल दीखती थी

उतनी नही थी, इसमे अनेक राष्ट्रो के हित टकराते थे । आक्रमण की परिभाषा एवं अर्थ भी अनेक लगाए जाते है । पहले तो यही पता लगाया जाए कि अमुक कार्यवाही आक्रमण है या नही, यदि है भी, तो आक्रमणकारी कौन है ?

5 सामूहिक सुरक्षा की सफलता की विषयगत परिस्थितियाँ बढ़ने की अपेक्षा धीरे-धीरे घटती जा रही हैं। जिस समय इस सिद्धान्त को अपनाया जा सकता था उस समय राजनीतिज्ञो का ध्यान इसकी तरफ नहीं था। जब वे इसे क्रियान्वित करना चाहते हैं, तो बाह्य परिस्थितियाँ ऐसा नही करने देती। विषयगत आवश्यकताओ (Subject Requirements) को देखकर ऐसा लगता है कि यह सिद्धान्त अपरिपक्व है क्योकि न तो राजनीतिज्ञ और न ही जनता इसकी पूर्व आवश्यकताओ से परिचित होते है आज के युग मे ऐसे समुदाय का विकास हो गया है जो अपने-अपने राष्ट्रीय हित के प्रति पूरी तरह जागरूक है और इसी कारण उसमे भिन्नता है। इस समय सामूहिक सुरक्षा की सफल क्रियान्विति यह माँग करती है कि ऐसे राजनीतिज्ञ हों जो नेतृत्व कर सकें और ऐसी जनता हो जो उनका अनुगमन कर सके। इस विचार का विकास किया जाए कि जो विश्व के लिए शुभ है वही राज्य के लिए भी शुभ है। राष्ट्रीय हित को विश्व-शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के साथ एकरूप कर दिया जाए। क्लाड (Claude) का मत है कि "सक्रिय सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की पूर्ण आवश्यकताएँ पूर्ण होने से अभी बहुत दूर हैं और यह भी सदिग्ध है कि इस दिशा मे कुछ अर्थपूर्ण विकास हो सकेगा।"

6. जिस व्यक्ति के हाथो मे विदेश-नीति के सचालन का भार रहता है वह सदैव व्यावहारिक नीति को अपनाएगा तथा प्रत्येक मामले को गौर से देखने के बाद ही कोई निर्णय लेगा। वह केवल सिद्धान्तो के पीछे न दौड़ेगा। कोई भी राजनीतिज्ञ यह पसन्द नही करेगा कि वह सामूहिक सुरक्षा जैसे किसी भी सिद्धान्त की जजीरो मे अपने हाथो को जकड कर कुछ करने के लिए अपने आपको विवश कर ले। एक सफल राजनीतिज्ञ वही है जिसके सामने अनेक विकल्पो के द्वार खुले रहते हैं और परिस्थिति के अनुकूल मार्ग अपनाने मे उनके सामने कोई बाधा नही आती। दूसरे शब्दो मे आज की दुनिया के लोग यह विश्वास नही करते कि सामूहिक सुरक्षा के साधन द्वारा विश्व-व्यवस्था (World Order) या राष्ट्रीय हित प्राप्त किया जा सकता है।

7. मॉर्गेन्थो आदि विचारको की मान्यता है कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के *अन्तर्गत युद्ध का क्षेत्र सीमित या स्थानीय न रहकर विश्वव्यापी बन जाता है। जिस युद्ध के परिणामो को एक क्षेत्र-विशेष तक ही सीमित किया जा सकता था, वे विश्व युद्ध विध्वस की आग मे झोंक देते हैं। एक देश यदि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अधीन भी आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रभावित देश का साथ दे रहा है तो भी यह समझा जाएगा कि ऐसा वह अपने स्वार्थ-साधन के लिए कर रहा है।* दूसरी ओर कुछ विचारक यह मानते हैं कि विश्व मे शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए सैद्धान्तिक नीति के बजाय व्यावहारिक नीति की आवश्यकता होती है। क्लाड (Claude) का निष्कर्ष है कि सामूहिक सुरक्षा शक्ति की दृष्टि से अयथार्थ नही है वरन् यह नीति की ओर से अयथार्थ है।

सामूहिक सुरक्षा का आदर्श स्वरूप : डॉ. नायडू के विचार (The Ideal Typology of Collective Secur.ty : Dr. Naidu'. Views)

सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के समापन से पूर्व यह उचित होगा कि डॉ एम. वी. नायडू के उन विचारों की जानकारी प्राप्त कर ली जाए जो उन्होंने सामूहिक सुरक्षा के आदर्श स्वरूप तथा सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की पूर्व शर्तों (The Ideal Typology of Collective Secur ty and the Pre-requisites for a System of Collective Secur ty) के सम्बन्ध में प्रस्तुत किए हैं। ब्रेंडन विश्वविद्यालय, कनाडा मे राजनीति विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष डॉ एम. वी नायडू ने सन् 1974 मे प्रकाशित अपनी बहुचर्चित पुस्तक (Collective Security and the United Nations) में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण और *परम्परा से भिन्न अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने सामूहिक सुरक्षा* व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है और पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे सामूहिक सुरक्षा के आदर्श स्वरूप और इसकी पूर्व-शर्तों का उल्लेख किया है।[1] पहले हम स्वरूप को ले रहे हैं और तत्पश्चात् पूर्व-शर्तों का उल्लेख करेंगे।

डॉ. नायडू के अनुसार सामूहिक सुरक्षा के आदर्श स्वरूप का निर्माण निम्नलिखित सात तत्त्वों (Seven Elements) के आधार पर किया जा सकता है—

1. सैनिक शक्ति के स्वेच्छाचारी या मनमाने प्रयोग का निषेध (Prohibition of Arbitrary Use of Military Force) अर्थात् राज्यो द्वारा शक्ति का निरकुश और आत्मपरक प्रयोग (Arbitrary and Subjective Use of Force) किन्ही भी परिस्थितियों मे अवांछनीय है।

2. सुरक्षा की सामूहिक गारन्टी (Collective Guarantee of Security) अर्थात् सुरक्षा की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'एक सब के लिए और सब एक के लिए' (One for all, all for one) के सिद्धान्त पर आधारित हो सकती है और होनी भी चाहिए।

3. निरोध और अनुशास्ति के रूप में सामूहिक सेना (Collective Force as Deterrance and Sanction) अर्थात् सभी राज्यों की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय सेना किसी भी सम्भावित आक्रमणकारी का निरोध करेगी। यदि किसी आक्रमण का निरोध न किया जा सके तो सामूहिक सेना एक अनुशास्ति के रूप मे क्रियाशील होगी जो आक्रमण को रोक देगी, समाप्त कर देगी अथवा अभिशून्य कर देगी (Will Stop, End or Vacate the Aggress.on)।

4. सामूहिक कार्यवाही का स्वचालित होना (Automation of Collective Action) अर्थात् कोई भी आक्रमण होने पर सामूहिक कार्यवाही की मशीनरी स्वत-चालित हो जाएगी और यह कार्यवाही तेजी से और निष्पक्षता के साथ होनी चाहिए।

1 *M. V. Naidu* : Collective Security and the United Nations, 1974, pp. 93-95.

5 आक्रान्ता और आक्रान्त की अनामकता (Anonymity of the Aggressor and Victim) अर्थात् सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वह बिना किसी पक्षपात या द्वेष आदि के आक्रान्त की निन्दा करे (Condemns any Aggressor) और आक्रान्ता की सहायता करे (Will help any vict'm state)।

6. अपराध का निश्चय या निर्धारण (Assignability of Guilt) अर्थात् सामूहिक सुरक्षा एक ऐसी व्यवस्था पर आधारित होनी चाहिए जिसमे आक्रमण की परिभाषा दी गई हो, आक्रान्ता को पहचानने की प्रक्रिया दी गई हो और उन संस्थाओं का उल्लेख हो जो इन प्रक्रियाओं को तेजी और निष्पक्षता के साथ परिभाषित और लागू कर सके।

7. व्यवस्था का स्थायित्व और सामान्य स्वरूप (Permanency and Generality of the System) *अर्थात् सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था स्थाई नींव पर* टिकी होनी चाहिए, सामान्य प्रयोग और वस्तुनिष्ठ उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सुलभ होनी चाहिए।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की पूर्व-शर्तें (The Pre-requisites for a System of Collective Security)

डॉ. नायडू ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के लिए कुछ पूर्व-शर्तों (Pre-requisites) का उल्लेख किया है जो अग्रलिखित हैं—

1. व्यक्ति के विवेक और उसकी भलमनसाहत में विश्वास (Faith in the Rationality and Goodness of Man) अर्थात् सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में *संलग्न व्यक्तियो का विश्वास इस सिद्धान्त मे होना चाहिए कि शारीरिक शक्ति का* प्रयोग अविवेकपूर्ण और अनैतिक दोनो ही है।

2 विश्व-समुदाय में विश्वास (Faith in World Community) अर्थात् राज्यो को मनुष्य के भाईचारे मे आस्था होनी चाहिए। उन्हे यह सोचकर कार्य करना चाहिए कि जो विश्व-समुदाय के लिए शुभ है वही राष्ट्रीय समुदाय के लिए शुभ है।

3. शान्ति की अविभाज्यता में विश्वास (Faith in the Indivisibility of Peace) अर्थात् विश्व के किसी भी भाग अथवा किसी भी राज्य मे संघर्ष, अन्याय और युद्ध को अपने स्वय के राज्य की शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा समझा जाना चाहिए क्योकि किसी भी स्थान पर होने वाला अनियन्त्रित आक्रमण कालान्तर मे विश्व के दूसरे राज्यों को प्रभावित करता है।

4 व्यवस्था की निष्पक्षता में विश्वास (Faith in the Impartiality of the System) अर्थात् सदस्य-राज्यों को व्यवस्था की वास्तविकता और निष्पक्षता मे विश्वास रखना चाहिए। इस विश्वास के अभाव मे व्यवस्था प्रभावी नही बन सकेगी।

5. सामूहिक गारन्टियों में विश्वास (Faith in Collective Guarantees) अर्थात् प्रत्येक राज्य को न केवल व्यवस्था के निर्णयों और उसकी शुभकामना में विश्वास रखना चाहिए बल्कि व्यवस्था के सभी प्रयत्नों को अपना समर्थन देना चाहिए। सभी के लिए सुरक्षा की गारण्टी के रूप में व्यवस्था की विश्वसनीयता में आस्था का होना आवश्यक है।

6 यथापूर्व-स्थिति में विश्वास (Faith in the Status-quo) अर्थात् सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था राज्यों की वर्तमान राजनीतिक सम्प्रभुता और प्रादेशिक एकता कायम रखने और उसकी रक्षा करने का वचन देती है। अधिकारों, दोषों और न्याय की जो अवधारणाएँ वर्तमान में प्रचलित हैं उन्हें वह कायम रखने का वचन देती है। दूसरे शब्दों में, सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था यथापूर्व-स्थिति (Status-quo) के माध्यम से शान्ति की पक्षधर है।

7. विकीर्ण शक्ति वाला विश्व (A World of Diffused Power) अर्थात् यदि एक या कुछ राज्यों में शक्ति केन्द्रित है तो बड़ी शक्तियाँ इतनी हावी हो जाएँगी कि शेष छोटे राज्य उन पर इस दृष्टि से कोई अंकुश नहीं रख सकेंगे कि वे उन्हें तंग न करें। यदि निःशस्त्रीकरण या शस्त्रास्त्र नियन्त्रण सम्भव होता तो सामूहिक सुरक्षा अधिक प्रभावी हो सकती थी। शक्ति-गुट (Power Blocks) सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के विकास को प्रोत्साहन नहीं देते।

8. सदस्यता की विश्व-व्यापकता (Universality of Membership) अर्थात् सभी या कम से कम अधिकांश राज्यों को (बड़ी शक्तियों सहित) सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का सदस्य होना चाहिए अन्यथा सामूहिक सुरक्षा का कोई भी प्रयास केवल बहु-पक्षीय सन्धि या क्षेत्रीय सुरक्षा-व्यवस्था बन कर रह जाएगा। यदि बड़ी शक्तियाँ व्यवस्था से बाहर रहती हैं तो सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था अपना प्रभाव खो देगी।

9. सम्प्रत्यय और प्रक्रिया की वैधानिकता (Legality of Concept and Procedure) अर्थात् प्रभावशाली रूप में कार्य करने के लिए व्यवस्था को वैधानिक और वस्तुगत सम्प्रत्ययों और प्रक्रियाओं तथा निष्पक्ष संस्थाओं से सम्पन्न होना चाहिए ताकि राजनीति की मनमानी लहरें, शीतयुद्ध के राग-द्वेष और राष्ट्रीय प्रतिबद्धता की अनिश्चितताएँ सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की कार्यशीलता को बाधित, विलम्बित अथवा पेचीदा न बनाएँ।

10. विश्व-सरकार के सादृश्य (Approximation to World Government) अर्थात् सामूहिक सम्प्रभुता (Collective Sovereignty) के अभाव में सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था में परिणत होती है जो विश्व-समुदाय, विश्व-विधि, विश्व राजनीति और विश्व-शान्ति अर्थात् संक्षेप में एक विश्व-सरकार पर आधारित हो।

क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा की एक व्यवस्था है ? : डॉ. नायडू के विचार
(Is the U. N. a System of Collective Security ? : Dr. Naidu's Views)

डॉ. नायडू ने विश्व के बुद्धिजीवियों से प्रश्न किया है कि क्या सामूहिक सुरक्षा के आदर्श स्वरूप के पूर्वोक्त सात तत्त्व किसी भी समकालीन बहुपक्षीय या क्षेत्रीय सन्धि अथवा संगठन में मौजूद है। जिसे सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था का नाम दिया हो, उदाहरणार्थ क्या ये तत्त्व NATO, WTO, SEATO, OAS, GAU आदि सन्धि-संगठनों में पाए जाते हैं। डॉ नायडू के अनुसार इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है अर्थात् 'नहीं' ('No')। डॉ नायडू का कहना है कि संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-व्यवस्था को भी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की संज्ञा देना भ्रामक है। उसे सामूहिक व्यवस्था (System of Collective Measures) कहना अधिक उपयुक्त होगा।[1] डॉ नायडू के अनुसार संघ के चार्टर में जिस सुरक्षा-व्यवस्था का प्रावधान किया गया है उसे अनुच्छेद 1 (1) और विशेषकर अध्याय 7 में 'सामूहिक उपाय' (Collective Measures) अथवा सामूहिक कार्यवाही (Collective Action) कहा गया है। अनुच्छेद 39, 40, 41, 45, 49, 50, 51 और 53 में 'उपाय' (Measures) शब्द का प्रयोग हुआ है जबकि अनुच्छेद 42, 48, 51 और 53 में कार्यवाही (Action) शब्द का प्रयोग किया गया है (इस प्रकार कुछ अनुच्छेदों में 'प्रयत्न' और 'कार्यवाही' दोनों शब्दावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं)। चार्टर में कहीं भी 'सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था' (Collective Security System) शब्दों का उल्लेख नहीं है।

भारत और सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त
(India and the Principle of Collective Security)

स्वतन्त्र भारत आदर्शवादी और भौतिक दोनों ही कारणों से शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का समर्थक है। जैसा कि प्रो. मसलदान ने लिखा है, "आक्रमण रोकने और शान्ति को प्रोत्साहन देने के लिए भारत का सामूहिक सुरक्षा के आदर्श में विश्वास है।"[2] भारत के स्वाधीन होने से पूर्व ही जवाहरलाल नेहरू (1889–1964) ने भारतीय संविधान सभा में ये शब्द कहे थे—

"हम शान्ति चाहते हैं। यदि हमारा वश चले तो हम किसी भी राष्ट्र से युद्ध नहीं करना चाहते। दूसरे राष्ट्रों के साथ मिल कर कार्य करने से हमारा एकमात्र

1 "The U. N. security system, provided in the Charter and evolved through the experiments and the precedents of the U. N. may be identified as the system of collective measures." —*M. V. Naidu* : op. cit., 1974, p. 101.

2 "It believes in the ideal of Collective Security for the prevention of aggression and the promotion of peace."
—*P. N. Masaldan* : 'Collective Security'—an article in the book, 'Studies in World Order,' 1972, edited by Harnam Singh, p. 325.

सम्भव वास्तविक उद्देश यह हो सकता है कि हम किसी प्रकार की विश्व-सरचना (World Structure) के निर्माण के लिए सहयोग करें। इसे आप चाहें तो एक विश्व की संज्ञा दे सकते हैं या कोई और नाम दे सकते हैं। इस विश्व-संरचना का प्रारम्भ संयुक्त राष्ट्रसघ के रूप में हो चुका है। यह अभी तक कमजोर है तथा इसमें अनेक दोष हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि यह एक विश्व-सरचना की शुरुआत है और भारत ने इसके कार्य में सहयोग देने की प्रतिज्ञा की है।"[1]

एक सामूहिक सुरक्षा सगठन के रूप में सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रति भारत का दृष्टिकोण इस प्रकार के तत्वों से प्रभावित रहा है—शान्ति की प्रमुखता, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित रखने के लिए एक आवश्यक पूर्व-शर्त के रूप में महा-शक्ति सामञ्जस्य (Great-power Harmony) की आवश्यकता में दृढ़ विश्वास, जिस तरीके से संयुक्त-राष्ट्रसघ ने अभी तक के विवादों को (कश्मीर विवाद सहित) निपटाने के प्रयत्न किए हैं उसका अनुभव, आदि।[2] भारत चाहता है कि संयुक्त राष्ट्रसघ स्वयं को केवल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास से सम्बन्धित रखे, क्योंकि यह वह सर्वोत्तम तरीका है जिसके द्वारा शान्ति के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया जा सकता है। भारत का भी विचार है कि सयुक्त राष्ट्रसघ की सफलता के लिए आवश्यक आधारशिला के रूप में महाशक्ति सामञ्जस्य होना चाहिए। अपने इन विश्वासों और विचारों के कारण यह स्वाभाविक है कि भारत सामूहिक सुरक्षा सगठन के हेतु उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राथमिकता दे।

प्रो मसलदान ने ठीक ही लिखा है कि यद्यपि भारत का संयुक्त राष्ट्रसघ में पूरा विश्वास रहा है, लेकिन जिस ढग से इस विश्व-सस्था ने अब तक कार्य किया है उससे वह प्रसन्न नहीं है। भारत यह महसूस करता रहा है कि यह सगठन महाशक्तियों के शीत-युद्ध से बहुत अधिक प्रभावित है और अनेक अवसरों पर यह शीत-युद्ध की राजनीति का अस्त्र (Cold-War Politics) बन गया है जिसके परिणामस्वरूप यह बहुत-से विवादों पर न्यायपूर्ण ढग से न विचार कर सका है और न निर्णय दे सका है। इसके विचार और निर्णय महाशक्तियों के शीतयुद्ध की रणनीति की माँगों के अनुसार रहे हैं। यही कारण है कि भारत सयुक्त राष्ट्रसघ को शस्त्रों से सुसज्जित करने के प्रस्ताव के प्रति उदासीन है। आज जो अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बना हुआ है उसमें इस बात की आशंका है कि महाशक्तियाँ शान्ति के नाम पर सैनिक रूप से सबल सयुक्त राष्ट्रसघ को अपने नापाक इरादों की पूर्ति का साधन बनाएँगी। सन् *1951* में कोरिया युद्ध के समय भारत ने चीन को आक्रान्ता घोषित करने के प्रस्ताव का विरोध किया था क्योंकि भारत को आशंका थी कि इस प्रकार का कोई भी कार्य शान्ति-स्थापना में नहीं बल्कि संघर्ष के विस्तार में सहयोगी होगा। भारत का इस प्रकार का दृष्टिकोण भविष्य में अन्ततोगत्वा कहाँ तक सही और

1 *Jawaharlal Nehru*: India's Foreign Policy, 1961, p. 11.
—Quoted by *P. N. Masaldan*: Ibid, p. 325.

2 *P. N. Masaldan*: Ibid, p 325.

विवेकपूर्ण सिद्ध होगा, यह नही कहा जा सकता, तथापि जैसा कि प्रो. मसलदान ने लिखा है, यह आवश्यक है कि यदि किसी सुरक्षा-सगठन को सदस्य-राष्ट्रों का विश्वास और सम्मान अर्जित करना है तो उसके आक्रमण के अपराधी प्रत्येक राष्ट्र के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी होगी, फिर उसे तात्कालिक परिणाम चाहे जो निकलें। भारत की नाराजगी का यह बिल्कुल सही कारण है कि सयुक्त राष्ट्रसघ ने पाकिस्तान को उस समय भी आक्रान्ता घोषित नही किया जब यह सुस्थापित तथ्य माना जा चुका था कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला किया था। सयुक्त राष्ट्रसघ का यह पक्षपातपूर्ण रवैया इसीलिए रहा क्योकि पश्चिमी शक्तियो की रुचि विवाद के निष्पक्ष मूल्यांकन मे नही थी—पाकिस्तान उनके साथ कुछ सैनिक सन्धियो मे बँधा था, भारत नही।

भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की एक आधारभूत मान्यता यह है कि सैनिक गुट तनावों मे अभिवृद्धि कर शान्ति की सम्भावनाओ को नष्ट करते हैं। यही कारण है कि जहाँ भारत सुरक्षा के लिए एक विश्व-सगठन को अच्छा और स्वागत योग्य मानता है, वहाँ क्षेत्रीय सैनिक सन्धियो का विरोध करता है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार क्षेत्रीय सन्धियाँ सुरक्षा या मानव की दृष्टि से किसी लाभकारी उद्देश्य की पूर्ति नही करती। ये सन्धियाँ विश्व-सगठन के महत्त्व को भी ठेस पहुँचाती हैं। प्रो मसलदान का मत है कि विश्व-सगठन के ढाँचे मे क्षेत्रीय प्रबन्ध यदि समुचित रूप से कार्यशील रहते है तो भारत के विरोध का औचित्य कुछ सन्देहास्पद हो जायेगा। शान्ति और सुरक्षा की समस्या के प्रति भारत का अपना दृष्टिकोण है और वह विश्व-सस्था के साथ सहयोग के पक्ष मे है, लेकिन यदि विश्व-सस्था महाशक्तियों के हाथो का खिलौना बन जाए तो भारत का क्षोभ और विरोध अस्वाभाविक नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समझौते
(Peaceful Settlements of International Disputes)

ताशकन्द वार्ता के लिए मास्को रवाना होने से कुछ दिन पहले प्रधानमन्त्री शास्त्री ने एक आमसभा मे कहा था कि "कोई भी देश हमेशा युद्ध करता हुआ नही रह सकता। युद्ध को एक न एक दिन बन्द होना ही पड़ता है। युद्ध द्वारा किसी भी समस्या को नही सुलझाया जा सकता, इससे नई समस्याओ का निर्माण जरूर किया जा सकता है।"

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के बीच काफी सम्बन्ध है। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था मे समस्या को सुलझाने के साधन के रूप मे युद्ध या शक्ति का सहारा तभी लिया जाता है जब अन्य साधन असफल हो जाते हैं। प्रारम्भ मे तो यह प्रयास किया जाता है कि आक्रमण से प्रभावित राष्ट्र तथा आक्रमण करने वाले राष्ट्र के बीच समझौते, शान्ति-वार्ता एवं अन्य मित्रतापूर्ण साधनो से मेल करा दिया जाए, किन्तु जब ऐसा सम्भव न हो सके तब अन्त मे मजबूर होकर शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। शान्तिपूर्ण समझौते की सम्भावना तथा उनकी सफलता की सम्भावना केवल तभी रहती है जब दोनो पक्षों के बीच

तुल्यभारिता (Equ libr um) या शक्ति-सन्तुलन की स्थिति वर्तमान हो। वैसे सन्धियों जैसे शान्तिपूर्ण साधनों से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने का प्रयास बहुत समय से ही प्रचलित है। शक्ति का महत्व शान्तिपूर्ण समझौतों की सफलता के लिए भी आवश्यक है, क्योंकि जैसे कोई भी न्यायालय का निर्णय तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकता जब तक कि पुलिस शक्ति उस निर्णय को क्रियान्वित कराने में सक्रिय सहयोग न दे, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन देशों के शब्दों का प्रभाव अधिक होता है जो कि शक्तिशाली हैं तथा निर्णय का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र को जिनसे कुछ खतरा हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे की दिशा में अब तक पर्याप्त विकास हो चुका है। उदाहरण के लिए सन् 1899 का हेग कन्वेंशन, राष्ट्रसंघ स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय, सन् 1924 का जेनेवा सन्धि लेख तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर आदि की गणना की जा सकती है।

शान्तिपूर्ण समझौते की दो श्रेणियाँ
(Two Categories of Pacific Settlement)

शान्तिपूर्ण समझौतों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—निर्णायक (Decisional) तथा गैर-निर्णायक (Non-decisional)। गैर-निर्णायक शान्ति-समझौता वह माना जाता है जो ऐसा कोई सुझाव नहीं देता जिसे अन्तिम रूप से दोनों ही पक्ष मानने को विवश हों। ऐसे समझौतों में बातचीत (Negotiation), मेल-मिलाप (Conciliation), आदि साधनों द्वारा जिन निष्कर्षों अथवा निर्णयों पर पहुँचा जाता है उनको मानने या न मानने के लिए दोनों ही पक्ष स्वतन्त्र रहते हैं। निर्णायक (Decisional) समझौते वे होते हैं जिनके निर्णयों का पालन करने के लिए दोनों ही पक्ष बाध्य होते हैं। पंचायत (Arbitration) तथा न्यायीकरण (Adjudication) आदि साधनों द्वारा इस प्रकार के समझौतों तक पहुँचा जाता है। यह व्यवस्था है कि दोनों ही पक्ष अपने झगड़ों को इन व्यवस्थाओं के सुपुर्द करें या करने में स्वतन्त्र हैं, किन्तु सुपुर्द करने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि वे उस पंचायत अथवा न्यायीकरण के निर्णयों को मानें। कुछ विचारकों के मत में उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में यह माँग बढ़ी है कि राजनीतिक तथा कानूनी मामलों को निर्णायक प्रक्रियाओं के सुपुर्द किया जाए, किन्तु समस्या यह है कि राजनीतिक या वैधानिक झगड़े क्या होते हैं तथा इनको सुलझाने के लिए अपनाई गई प्रक्रिया (न्यायीकरण या पंचायत व्यवस्था) का स्वरूप कैसा होना चाहिए।

शान्तिपूर्ण समझौतों के साधन
(Methods for Peaceful Settlements)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अध्याय 6 में अनुच्छेद 33 से 38 तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ दी गई हैं। मूल अनुच्छेद इस प्रकार है—

अनुच्छेद 33—1. यदि किसी विवाद के स्थायित्व से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रहने मे सकट की सम्भावना हो तो विवादी पक्ष सर्वप्रथम उस विवाद का समाधान वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, मेल-मिलाप, विवाचन, न्यायिक निपटारा, प्रादेशिक सस्थाओ अथवा व्यवस्थाओ की सहायता अथवा अपनी इच्छानुसार अन्य शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा करने का प्रयत्न करेगे।

2 सुरक्षा-परिषद् आवश्यकतानुसार विवादी पक्षों को अपने विवादों का इन साधनो द्वारा निपटारा करने का परामर्श देगी।

अनुच्छेद 34—सुरक्षा-परिषद् किसी विवाद की अथवा किसी ऐसी स्थिति की, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष अथवा विवाद होने की आशका हो, इस अभिप्राय से जाँच कर सकती है कि उस विवाद अथवा स्थिति के स्थायित्व से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा कायम रहने मे सकट की सम्भावना है अथवा नही।

अनुच्छेद 35—1 सयुक्त राष्ट्रसघ का कोई सदस्य ऐसे विवाद अथवा ऐसी स्थिति की ओर सुरक्षा-परिषद् अथवा महासभा का ध्यान आकर्षित कर सकता है जिसका अनुच्छेद 34 मे उल्लेख किया गया है।

2. यदि एक राज्य सयुक्त राष्ट्र का सदस्य है तो वह किसी विवाद को, जिसमे वह विवादी पक्ष है, इस शर्त पर सुरक्षा-परिषद् अथवा महासभा के समक्ष ला सकता है कि उस विवाद के लिए वह वर्तमान चार्टर मे उल्लिखित शान्तिपूर्ण निपटारे के दायित्वो को अग्रिम रूप से स्वीकार करे।

3. इस अनुच्छेद के अनुसार जिन मामलो को महासभा के समक्ष लाया जाएगा, उनसे सम्बन्धित उसकी कार्यवाहियाँ अनुच्छेद 11 एवं 12 के उपबन्धो के अधीन होगी।

अनुच्छेद 36—1 यदि कोई विवाद इस प्रकार का हो जिसका अनुच्छेद 33 मे उल्लेख किया गया है अथवा उसी प्रकार की स्थिति हो, तो सुरक्षा-परिषद् किसी भी समय समायोजन के लिए उचित प्रक्रियाओ अथवा उपायो की सिफारिश कर सकती है।

2. सुरक्षा-परिषद् उन प्रक्रियाओं का भी ध्यान रखेगी जिनका विवाद के निपटारे के हेतु विवादी पक्षो द्वारा पहले प्रयोग किया जा चुका है।

3. इस अनुच्छेद के अन्तर्गत सिफारिशें करते हुए सुरक्षा-परिषद् को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि साधारणतया कानूनी विवाद, विवादी पक्षो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष उस न्यायालय की संविधि के उपबन्धों के अनुसार पेश किए जाएँ।

अनुच्छेद 37—1. यदि विवादी पक्ष किसी ऐसे विवाद का, जिसका अनुच्छेद 33 मे उल्लेख किया गया है, उस अनुच्छेद में संकेत किए हुए साधनो द्वारा निपटारा करने मे असफल हो, तब उन्हें उस विवाद को सुरक्षा-परिषद् के समक्ष रखना होगा।

2. यदि सुरक्षा-परिषद् यह समझे कि किसी विवाद के स्थायित्व से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए संकट की सम्भावना है, तब वह निर्णय करेगी कि अनुच्छेद 36 के अधीन कार्यवाही की जाए अथवा समझौते के लिए ऐसी शर्तों की सिफारिश की जाए जिन्हें वह उचित समझती है।

अनुच्छेद 38—यदि किसी विवाद के सभी विवादी पक्ष निवेदन करें तो सुरक्षा-परिषद् 33 से 37 तक के अनुच्छेदों के उपबन्धों का उल्लंघन किए बिना विवाद का शान्तिपूर्ण निपटारा करने के अभिप्राय से सिफारिशें कर सकती है।

अनुच्छेद 38 से स्पष्ट है कि यदि किसी विवाद से विश्व-शान्ति और सुरक्षा को खतरा हो और सम्बन्धित पक्ष अपना झगड़ा स्वयं निपटाने में असफल रहें तो सुरक्षा परिषद् विवादी से वार्ता (Negotiation), जाँच (Enquiry) मध्यस्थता (Mediation), सराधन (Conciliation), पंच-निर्णय (Arbitration), न्यायिक समझौतों (Judicial Decisions), प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं (Regional Agencies or Arrangements) अथवा अपनी इच्छानुसार शान्तिपूर्ण उपायों (Other Peaceful Means of their own choice) द्वारा विवाद के निपटारे की सिफारिश कर सकता है। यहाँ विवादों के शान्तिपूर्ण समाधानों पर कुछ विस्तार से उल्लेख आवश्यक है।

वार्ता (Negotiation)—यह कूटनीतिक (Diplomacy) साधन है। मैव्रोमैटिस पैलेस्टाइन कन्सेशन के विवाद के प्रसंग में न्यायाधीश मूर ने कहा था, "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित तथा प्रशासनात्मक प्रक्रिया है जिसकी सहायता से राज्य-सरकारें अपनी सन्दिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श, उनका व्यवस्थापन तथा समाधान करती हैं।" विवाद के समाधानार्थ, विवादी पक्षों के बीच वार्ता या तो शीर्षस्थ स्तर पर सीधे राज्याध्यक्षों द्वारा की जाती है अथवा उनके द्वारा नियुक्त या अधिकृत अभिकर्त्ताओं द्वारा। विवाद के समाधान की दृष्टि से दो पक्षों के बीच होने वाले पत्र-व्यवहार को भी वार्ता का ही अंग माना जाता है। इस प्रक्रिया का आधार कोई विशेष कानूनी उत्तरदायित्व न होकर व्यावहारिक सुविधा होती है।

भारत और पाकिस्तान के बीच 'अल्पसंख्यकों की समस्या' और 'नहरी-पानी विवाद' को वार्ता द्वारा ही सुलझाया गया था, लेकिन पाकिस्तान ने भारत की उदारता का कोई आदर नहीं किया। वास्तव में 'वार्ता' के उपाय की सफलता दोनों पक्षों द्वारा समस्याओं के समाधान की लगन और ईमानदारी पर निर्भर है।

वाद-विवाद (Discussion)—सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा, को भी सिफारिश करने से पूर्व विवादी पक्षों के प्रतिनिधियों को लिखित या मौखिक रूप से अपने दावे प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित करती है और इस प्रकार उन्हें एक ऐसा मंच प्रदान करती है जहाँ वे स्वतन्त्र रूप से अपनी शिकायतें रखते हैं तथा द्विपक्षीय

कूटनीति (Bilateral Diplomacy) के माध्यम से ऐसी स्थिति मे पहुँच सकते हैं जहाँ विवाद के समाधानर्थ कोई समझौता हो सके। यह भी सम्भव है कि विवादी पक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय मच का उपयोग केवल विश्व-जनमत को अपने अनुकूल करने की दृष्टि से करें अथवा दोनो पक्षो के बीच मतभेदों की खाई पूर्वापेक्षा अधिक चौडी हो जाए। इस बात की भी पूर्ण आशका रहती है कि विवाद (Dispute) कूटनीतिक दावपेचो और राजनीतिक वाद-विवाद के भँवर मे फँसकर शीत-युद्ध का अग बन जाए और लम्बे अर्से तक चलता रहे जैसा कि कश्मीर-विवाद।

सद्भावी सेवा एवं मध्यस्थता (Good Offices & Mediation)—जब विवादयुक्त पक्ष समझौता-वार्ता द्वारा अपने मतभेदो को नही सुलझाना चाहते या इस कार्य मे असफल हो जाते हैं तो तीसरा मित्र-राज्य अपनी सद्भावी सेवा या मध्यस्थता द्वारा इन मतभेदो को मित्रतापूर्ण तरीके से दूर करने मे मदद कर सकता है। तीसरा राज्य अपने प्रभाव द्वारा सेवा-कार्य को सम्भालता है और दोनो पक्षो के बीच शान्तिपूर्ण समझौता करा देता है। सद्भावी सेवा (Good Offices) का प्रयोगकर्त्ता राज्य विवाद के दोनो पक्षो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखता है।

सद्भावी सेवा और मध्यस्थता के बीच केवल मात्रा का अन्तर है सद्भावी सेवा मे तीसरा राज्य दोनो पक्षो को एक साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने के लिए सुझाव देता है, किन्तु इस समय तीसरा राज्य वास्तविक समझौता-वार्ता मे भाग नही लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्ता राष्ट्र वार्ता मे स्वयं भाग लेता है। वह अपनी ओर से सुझाव देता है और विचार-विमर्श मे सक्रिय रूप से सम्बद्ध लेता है। मध्यस्थ प्रस्ताव को मानना या न मानना दोनो पक्षो की इच्छा पर निर्भर करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब तीसरे राज्य की ओर से दो राज्यो के विवादो को सुलझाने के लिए हस्तक्षेप किया गया है। कभी-कभी यह हस्तक्षेप सशस्त्र सेनाओ द्वारा होता है। ऐसी स्थिति मे हस्तक्षेप करने वाला राज्य विवाद मे एक नया तत्त्व जोड देता है। दूसरी ओर हस्तक्षेप मित्रतापूर्ण एव दबावकारी प्रकृति का होता है। इनमे दोनो पक्षो को विवाद मिटाने के लिए कुछ सुझाव दिए जाते हैं जिनको स्वीकार करने या न करने की स्वतन्त्रता होती है।

मध्यस्थता करने-वाला राज्य विवादग्रस्त राज्यो की नाराजगी को दूर करने का प्रयास करता है और विरोधी दावों मे समन्वय स्थापित करता है। कई बार वह युद्ध की सम्भावनाओ को भी दूर करता है। सद्भावी सेवा या मध्यस्थता करने वाले पक्ष एक व्यक्ति या कोई अन्तर्राष्ट्रीय निकाय भी हो सकता है।

प्लानो एव रिग्ज का कथन है कि विवाद के समाधान की प्रक्रियाओ हेतु जो सिफारिशें सुरक्षा परिषद् या महासभा द्वारा की जाती हैं उनमे अधिकारियो के उच्चतम स्तर पर द्विपक्षीय पुनर्वार्ताएँ, सलाह-मशविरा, किसी सयुक्त राष्ट्रीय आयोग द्वारा जाँच एवं मध्यस्थता, सयुक्त राष्ट्रसघीय किसी प्रतिनिधि या मध्यस्थ की नियुक्ति,

किसी क्षेत्रीय अभिकरण को निर्देशित करना, पंच-निर्णय, न्यायिक निर्णय कराना, आदि सम्मिलित हैं।

मेलमिलाप या संराधन (Conciliation)—विवादों के निपटारे का यह एक अन्य साधन है। इसमे वे विभिन्न प्रणालियाँ शामिल है जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यो के विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने के लिए अपनायी जाती हैं। प्रो. ओपेनहीम के अनुसार, "यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें यह कार्य कुछ व्यक्तियो के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा तथ्यो के प्रकाश मे विवाद को तय करने की दृष्टि से अपना प्रतिवेदन देता है। इसमे विवाद के समाधानार्थ कुछ प्रस्ताव होते है। ये प्रस्ताव किसी पंचाट या अदालती निर्णय की भाँति अनिवार्य रूप से मान्य नही होते।"

संराधन और मध्यस्थता के बीच अन्तर है। प्रथम के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद अन्य व्यक्तियो को इसलिए सौंपते है ताकि वे तथ्यो की निष्पक्ष जाँच के बाद विवाद के समाधान के प्रस्ताव उपस्थित करें। यहाँ पहल विवादी पक्षो द्वारा की जाती है। मध्यस्थता मे पहलकर्त्ता तीसरा राज्य ही होता है। यह स्वय विवाद के पक्षों के बीच वार्ता चलाकर विवाद को हल करना चाहता है।

जांच (Enquiry)—सुरक्षा परिषद् किसी ऐसे झगड़े अथवा स्थिति की जाँच-पड़ताल कर सकती है जिसके अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप लेने की सम्भावना हो अथवा जिससे कोई दूसरा झगडा उठ खड़ा हो सकता हो। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ मेलमिलाप एव जाँच आयोग के माध्यम से अनेक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करती रही हैं। उदाहरण के लिए सन् 1931 में मंचूरिया काण्ड के लिए राष्ट्रसंघ ने लिटन आयोग नियुक्त किया था। इण्डोनेशियाई और कश्मीर-विवाद मे भी राष्ट्रसंघीय आयोगों ने बडी श्रमसाध्य भूमिका अदा की थी।

पंच-निर्णय (Arbitration)—वार्ता, मध्यस्थता, संराधन, जाँच आदि जो उपाय हैं उन्हे प्राय निर्णएत्तर (Nor-Dec sional) उपाय कहा जाता है क्योंकि विवादी पक्ष इस बात के लिए बाध्य नही होते कि वे इन उपायो द्वारा प्रस्तुत सुझावों अथवा निर्णयों को स्वीकार करें। इन्हे प्रभावकारी बनाने के लिए कुछ अन्य उपाय खोजे गए हैं जिनके निर्णयो को दोनों पक्षों द्वारा मानना आवश्यक होता है। ये निर्णयात्मक उपाय मुख्यत: दो है—पच-निर्णय तथा न्यायिक निर्णय अथवा अधिनिर्णय।

पच-निर्णय का अर्थ अनेक विचारकों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा समय-समय पर दिया गया है। प्रो ओपेनहीम लिखते हैं—"पच-निर्णय का अर्थ है कि राज्यों के मतभेदो का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। यह निर्णय दोनो पक्षो द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न प्रकृति का है।" पंच-निर्णय का कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर-न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति हो या किसी न्यायाधिकरण को।

न्यायिक समाधान (Judicial Settlement)—विवादों का न्यायिक समाधान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के माध्यम से होता है। न्यायालय के फैसले के अनुसार यदि कोई विवादपक्ष अपने दायित्व को पूर्ण न करे तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य स्वत ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के सदस्य बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे राज्य भी बिना इसका सदस्य बने कोई एक पक्ष बन सकते हैं। यद्यपि न्यायालय आवश्यक और सार्वभौमिक क्षेत्राधिकार नही होता, तथापि इसके निर्णय उन पक्षों पर बाध्यकारी होते हैं जो इस न्यायाधिकरण को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

मध्यस्थ या प्रतिनिधि (Mediator or Representative)—कुछ ऐसे विवाद होते हैं जिनके समाधान मे सुरक्षा-परिषद्, महासभा अथवा आयोग की अपेक्षा कोई अकेला व्यक्ति मध्यस्थ या प्रतिनिधि के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। किसी तटस्थ सभा-स्थल पर अथवा विपक्षी दलों की राजधानियो मे या विवाद-स्थल पर विवाद के समाधान अथवा मतभेदो को कम करने या मिटाने की दिशा मे संयुक्त-राष्ट्रसंघीय मध्यस्थ अथवा प्रतिनिधि ने अपनी महती उपयोगिता सिद्ध की है।

अवरोधक कूटनीति (Preventive Diplomacy)—अवरोधक कूटनीति का उपाय शान्तिपूर्ण समाधान का पूरक है जिसका उद्देश्य विवाद में तनाव को कम करना तथा स्थिति को बिगड़ने से रोकना होता है। प्लानों एवं रिग्ज ने संयुक्त-*राष्ट्रसंघ द्वारा अपनाए जाने वाले अवरोधक कूटनीति के उपायों को मोटे रूप मे चार श्रेणियो मे बाँटा है—(1) निरीक्षक ग्रुप जो युद्ध-विराम विसैन्यीकृत क्षेत्र तथा अस्थायी युद्ध-विराम रेखाओं या सन्धि-सीमाओं का निरीक्षण करते है, (2) युद्धरत पक्षों के मध्य रखी गई संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ, (3) आन्तरिक संघर्ष का दमन करने* और घरेलू-व्यवस्था बनाए रखने में प्रयुक्त की जाने वाली संयुक्तराष्ट्रीय सेनाएँ, तथा (4) साम्प्रदायिक समूहों मे सशस्त्र संघर्ष को रोकने या सीमित करने मे प्रयुक्त संयुक्तराष्ट्रीय फौजें।

अपने सीमित साधनों और परिस्थितियों के अन्तर्गत तथा राष्ट्रो के प्रभुसत्ता-सिद्धान्त को ध्यान मे रखते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए अभी तक अनेक उल्लेखनीय प्रयास किए हैं जिनमे से बहुतो मे उसे सफलता मिली है, किन्तु महाशक्तियों की अड़ंगेबाजी तथा सदस्य राष्ट्रो को राजनीतिक अखाड़ेबाजी के कारण अनेक बार उसे असफल भी होना पड़ा है।

एक सुधरी हुई व्यवस्था की ओर
(Towards An Improved System)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के कुछ मुख्य दोष हैं। कुछ विवाद अनसुलझे रहकर शान्ति के लिए निरन्तर खतरा बने रह सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के भीतर और बाहर की विभिन्न कूटनीतिक प्रक्रियाएँ यद्यपि तृतीय पक्ष के प्रभाव के लिए काफी क्षेत्र प्रस्तुत करती हैं और विभिन्न मात्रा मे दबाव डालती हैं, तथापि इन

सब प्रयत्नों के बावजूद यह सम्भव है कि सम्बन्धित पक्ष किसी हल अथवा समाधान पर सहमत न हों। तृतीयपक्षीय समझौता या समाधान (A Third-party Settlement) तभी सम्भव होता है जब सम्बन्धित पक्ष ऐसे समझौते के प्रावधानों को मानने के लिए बाध्य हों और इस दिशा मे वर्तमान अनिवार्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है। तृतीय पक्ष के निर्णयों को लागू करने के लिए आज जो भी संस्थात्मक साधन सुलभ हैं वे भी बहुत सीमित है। इस व्यवस्था को सुधारने के लिए समय-समय पर अनेक उपाय सुझाए गए हैं जिनमें से कुछ की परीक्षा डॉ बी. एस. मूर्ति ने अपने तर्कपूर्ण लेख 'Peaceful Settlement of Disputes' मे निम्नानुसार की है[1]—

कानून का संहिताकरण और विकास (Codification and Development of Law)—इस शताब्दी के प्रारम्भ मे एक सुझाव यह दिया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अधिक निश्चित और विस्तृत बनाया जाना चाहिए क्योंकि तभी न्यायिक व्यवस्था भली प्रकार कार्य कर सकेगी और विवादों के तृतीय पक्ष का न्यायिक समाधान (Third-party Judicial Settlement) अधिक स्वीकार्य हो सकेगा। इस सुझाव के अनुपालन में राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का प्रयत्न किया और यह प्रयत्न संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा आज भी जारी है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि-आयोग (The International Law Commission) महासभा द्वारा निर्मित वह सहायक अंग (Subsidiary Organ) है जिसका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण और उसके क्रमिक विकास को प्रोत्साहन देना है।

एक विश्व व्यवस्थापिका (A World Legislative)—लेकिन सभी कानूनों को एक संहिता (Code) मे सम्मिलित नही किया जा सकता क्योंकि कानूनो मे निरन्तर परिवर्तन होते रहना आवश्यक है ताकि वे समुदाय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप प्रभावी बन सकें। यह कार्य भली प्रकार तब सम्भव हो सकता है जब न्यायपालिका द्वारा संहिता की व्याख्या की एक प्रक्रिया (*A Process* of Interpretation of the Code by the Judiciary) कायम की जाए। लेकिन फिर भी इस प्रक्रिया से केवल लघु परिवर्तन ही प्रभावित हो सकते हैं, भारी या बड़े परिवर्तन सम्भव नही हो सकते क्योंकि यदि न्यायपालिका ने बड़े परिवर्तन करना आरम्भ किया तो निर्णयों का महत्त्व घट जाएगा और न्यायिक प्रतिष्ठा के प्रति सन्देह पैदा हो जाएगा। अधिकांश व्यक्ति यह नही चाहेंगे कि कानून-निर्माण जैसा कार्य न्यायाधीशो के एक छोटे-से समूह द्वारा किया जाए। अतः यह सुझाव दिया गया है कि न्यायिक निर्णयो को अधिक ग्राह्य और स्वीकार्य बनाने के लिए विश्व-समुदाय की विधायी (The Legislative System of the World Committee) को सुधारा जाना चाहिए अर्थात् हमे एक विश्व-व्यवस्थापिका की दिशा मे सोचना चाहिए।

1 *B. S. Murty* : 'Peaceful Settlement of Dispute's—an article published in the book 'Studies in World Order', edited by Harnam Singh, pp. 293-297.

एक निष्पक्ष या साम्य न्यायाधिकरण (An Equity Tribunal)—कुछ लोग राजनीतिक प्रकृति के विवादों को सुलझाने के लिए एक साम्य या निष्पक्ष न्यायाधिकरण (An Equity Tribunal) की स्थापना का सुझाव देते हैं। उनका विचार है कि ऐसा न्यायाधिकरण प्रत्येक विवाद का निपटारा कर सकेगा और विवादग्रस्त पक्षों की विशिष्ट परिस्थितियों में 'न्याय' की स्थापना कर सकेगा। अपने कार्य-निष्पादन में यह न्यायाधिकरण प्रचलित वैधानिक नियमों (The Legal Rules in Force) की लकीर का फकीर नहीं होगा बल्कि अपने विवेक से कार्य कर सकेगा। यह भी तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार के न्यायाधिकरण से उस आपत्ति का भी निराकरण हो जाएगा जो 'राजनीतिक विवादों' को तृतीय पक्षीय समझौते के लिए सौंपने पर की जाती है।

विवादों का प्रावरण (Encapsulation of Disputes)—एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण से यह सुझाव दिया जाता है कि जब कभी दो राज्यों के बीच विवाद उठे तो सबसे महत्वपूर्ण कार्य समझौते या समाधान का नहीं बल्कि उसके प्रावरण (Encapsulation) का होना चाहिए अर्थात् सम्बन्धित पक्षों को बाध्य किया जाना चाहिए कि वे हिंसा और संघर्ष का आश्रय लेने से बचें और शान्तिपूर्ण समाधान सम्बन्धी नियमों का अनुसरण करें। यदि इस प्रकार उन्हें बाध्य किया गया तो *विवाद शान्ति के लिए खतरा नहीं बन सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कुछ विवाद* ऐसे होते हैं जो लम्बे समय तक अनसुलझे रह सकते हैं और उनके सुलझाने की सम्भावना प्राय: तभी बनती है जबकि अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हो जाएँ। अत. यदि विवादों के प्रावरण (Encapsulation of Disputes) सम्बन्धी कदम उठाए जाएँ अर्थात् सम्बन्धित पक्षों को हिंसा की जगह समझौतावादी रुख बनाए रखने के लिए विवश किया जाए तो लम्बे समय तक बने रहने वाले ये विवाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए 'विस्फोटक' नहीं बन सकेंगे। विवादों के प्रावरण के लिए यह आवश्यक है कि नि.शस्त्रीकरण जैसे उपाय अपनाए जाएँ और हिंसा या शक्ति के किसी अवैधानिक प्रयोग की सम्भावना को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति को संगठित किया जाए।

क्लार्क एवं सोन योजना (The Clark and Sohn Plan)—नि.शस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति का निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापिका का प्रारम्भ—ये सब बातें वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एक मौलिक परिवर्तन की माँग करती हैं। व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन लाने सम्बन्धी विभिन्न प्रस्तावों में एक क्लार्क एवं सोन (Clark and Sohn) का प्रस्ताव है और यह सुझाव या प्रस्ताव बहुत ही विलक्षण और विवेकसम्मत है। इस योजना में प्रभावी नि शस्त्रीकरण, विश्व-पुलिस-शक्ति की स्थापना और संयुक्त राष्ट्र महासभा को विश्व व्यवस्थापिका में परिणत करना, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को भारित मतदान-अधिकार दिया जाना, सुरक्षा-परिषद् को महासभा के अधीन विश्व कार्यकारिणी के रूप में परिणत करना विश्व पुलिस-शक्ति को इस कार्यकारिणी की सत्ता के अधीन कार्य करना, महासभा की सत्ता का

पूर्णरूप से व्यापक होना—आदि बातें सम्मिलित हैं। चूंकि कोई भी राजनीतिक संगठन लम्बे समय तक केवल 'कानून और व्यवस्था' बनाए रखने वाले यन्त्र के रूप मे ही काम नही कर सकता और यह आवश्यक है कि वह सदस्यों के सामान्य कल्याण के लिए भी कार्य करे, अतः क्लार्क एव सोन योजना मे एक विश्व विकास सत्ता (A World Development Authority) की स्थापना की बात शामिल है। यह विश्व-विकास सत्ता अन्तर्राष्ट्रीय जगत के अविकसित देशों की विकास-योजनाओं मे तकनीकी तथा आर्थिक सहायता देगी। विभिन्न क्षेत्रों मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिए जो संस्थाएँ या अभिकरण मौजूद हैं वे कायम रहेंगे। सभा (The Assembly) को यह शक्ति सौंपी जाएगी कि वह 'वैधानिक' विवादों ('Legal' Disputes) को, जो शान्ति के लिए खतरा उपस्थित करने की सम्भावनाओं से पूर्ण हों, न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Internat onal Court of Justice) मे प्रस्तुत कराए। 'गैर-वैधानिक' विवादों ('Non-legal' Disputes) को, जिनसे विश्व-शान्ति को खतरा हो, एक विश्व-सराधन-बोर्ड (A World Conciliation Board) के सम्मुख रखा जाएगा। यदि बोर्ड कोई समझौता कराने मे असफल रहेगा तो महासभा उस विवाद को विश्व-साम्य-न्यायाधिकरण (A World Equity Tribunal) के पास भेज देगी और साथ ही विशेष बहुमत (A Special Majority) द्वारा यह निर्देश देगी कि न्यायाधिकरण की सिफारिशों को लागू किया जाना चाहिए। यह निर्णय करने की शक्ति कि कोई विवाद 'वैधानिक' है अथवा 'राजनीतिक', महासभा मे निहित होगी।

प्रो. मूर्ति का कहना है कि क्लार्क एव सोन की योजना में उन व्यावहारिक कदमों को नहीं बताया गया है जो इस प्रकार के सविधानिक ढाँचे की स्थापना के लिए उठाए जाने चाहिए। योजना मे विश्व-सरकार की स्थापना की बात कही गई है, लेकिन यह सरकार अधिकांशतः कानून व्यवस्था सम्बन्धी सरकार (A 'Law and Order' Government) होगी। विश्व के सभी भागों मे विकास के लिए जो आर्थिक और प्राविधिक प्रबन्ध सोचे गए हैं वे मानव-समाज के सम्मुख उपस्थित महान् कार्यों में सहायता के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। क्लार्क एव सोन-योजना व्यापक और उत्तम होते हुए भी इसी प्रकार की अनेक व्यावहारिक कमियों की शिकार है। इस योजना को कार्यरूप देना वर्तमान जटिल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे सम्भव नहीं है, तथापि इससे हमें चिन्तन की दिशाएँ मिलती हैं।

अनिवार्य न्यायिक समझौते के लिए कदम-दर-कदम दृष्टिकोण (The Step-by-Step Approach to Compulsory Judicial Settlement)—न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य न्यायिक क्षेत्र की स्वीकृति के लिए प्रो लुइस सोन ने कदम-दर-कदम दृष्टिकोण (A Step-by-Step Approach) प्रस्तुत किया है। कदम (The Step) ये हैं—(1) सभी सन्धियों की व्याख्या और प्रयोग के सम्बन्ध मे क्षेत्राधिकार को स्वीकार किया जाना, (2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशिष्ट क्षेत्रों के सम्बन्ध मे स्वीकृति, (3) क्षेत्रीय प्रबन्धों के माध्यम से स्वीकृति,

(4) संयुक्त राष्ट्रसघ को अधिकार देना कि वह सम्बन्धित पक्षों से बाध्यकारी *प्रार्थना* (A B nd ng Request) करे कि वे अपने विवाद को *न्यायिक अन्तर्राष्ट्रीय* न्यायालय मे प्रस्तुत करें। प्रो मूर्ति का कहना है कि लुइस सोन द्वारा सुझाए गए ये कदम उठाए जाने तभी सम्भव है जबकि अन्यत्र भी अनुकूल विकास हों ताकि विश्व-समुदाय के सदस्यो को यह विश्वास हो जाए कि ऐसे कदमो को स्वीकार करना निश्चित रूप से लाभकारी है।

एक प्रथम चरण (A First Step)—प्रो मूर्ति ने 'एक प्रथम चरण' (A First Step) सुझाया है। उनका कहना है कि यद्यपि हमारा उद्देश्य तृतीय-पक्षीय समझौते के क्षेत्र-विस्तार का होना चाहिए, तथापि यह आवश्यक नही है कि हम ऐसा समझौता केवल न्यायिक न्यायाधिकरणो के माध्यम से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करें। विधायी अथवा अर्द्ध-विधायी अगो की स्थापना की जा सकती है जिन्हे अपनी मध्यस्थता और समझौता कराने की भूमिका निभाने के साथ ही सामूहिक निर्णय देने की क्षमता सौंपी जाए। इन अगो को प्रभावकारी बनाने के लिए उन्हें व्यापक साधनो से सम्पन्न बनाया जाना चाहिए।

हमारा समकालीन विश्व इतना विशाल है और आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य विभिन्नताओं और जटिलताओं से इतना परिपूर्ण है कि इसे किसी एक अत्यधिक केन्द्रीकृत सरकारी व्यवस्था (A Highly Centralized Government System) मे परिवर्तित करना दुष्कर है। कम से कम आज तो हर सूरत मे यह दुष्कर है ही, लेकिन भविष्य मे भी लम्बे समय तक कोई सम्भावना नजर नहीं आती। व्यावहारिक तो यही लगता है कि हम उन्हीं वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को ही अधिक शक्ति-सम्पन्न बनाएँ। उन्हे अधिक साधन-सम्पन्न बनाया जाए और अधिक निर्णयकारी शक्ति प्रदान की जाए। उनकी गतिविधियो मे समन्वय और निर्देशन के जो साधन मौजूद हैं उन्हें सुधारा जाए। यह आवश्यक नही है कि सभी विवादो को किसी एक केन्द्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही सुलझाया जाए। यह हो सकता कि उन्हें विभिन्न उपव्यवस्थाओं को सोप दिया जाए। प्रत्येक विवाद ऐसी उपव्यवस्था को ही सौंपा जाए जो उसे सुलझाने के लिए सबसे उपयुक्त हो, लेकिन अवश्य ही सभी समझौने समझाने-बुझाने और बाध्यकारी दबाव के सन्तुलित प्रयोग (A Balarced Application of Persuasion and Coercion) पर आधारित हो अर्थात् 'Persuasion' और 'Coercion' दोनों साधनो पर निर्भर किया जाए, अकेले किसी एक साधन पर नही।

11 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ : अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं विश्व सरकार

[(Limitations of National Power : International Law and World Government)

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रचलित एवं परम्परावादी नियमों का नाम है जिनको सभ्य राष्ट्रों द्वारा अपने आपसी व्यवहार में वैधानिक रूप से बाध्य माना जाता है।" —ओपेनहीम

राष्ट्रीय शक्ति की तीन प्रमुख सीमाओं—शक्ति-सन्तुलन, सामूहिक सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान—का विवेचन पूर्ववर्ती अध्याय मे करने के उपरान्त अब हम देखेंगे कि इस दिशा मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और विश्व सरकार की सीमाओं की क्या भूमिका है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे राष्ट्रीय शक्ति तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियामक और नियन्त्रक के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रभावशाली रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हो रहा है उसे देखते हुए विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे निकट भविष्य मे यह यदि निर्णायक तत्त्व के रूप मे भूमिका अदा करे तो आश्चर्य की बात नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ
(Meaning of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। प्रो. ओपेनहीम ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन परम्परागत और आपसी समझौतों से निर्मित अभिसमयात्मक नियमों का संग्रह है जिन्हें सभ्य राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार मे पालन करने योग्य समझते हैं।" ब्रिटिश कानूनवेत्ता हॉल के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के वे नियम हैं जिनको वर्तमान सभ्य राज्य पारस्परिक व्यवहार में उसे शक्ति के बल पर अनिवार्य रूप से पालन करने योग्य समझते हैं तथा जिसके अनुसार विवेकशील तथा कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं। वे यह भी समझते हैं कि यदि इनका उल्लंघन किया गया

तो उपयुक्त साधनों द्वारा उन्हे लागू किया जा सकता है ।" इस केल्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को नियमों का ऐसा समूह माना है जो साधारण परिभाषा के अनुसार राज्यो के पारस्परिक व्यवहार को नियमित करते हैं ।

सन् 1948 मे डॉ पी सी जेसप ने लिखा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून सामान्यत राज्यो के सम्बन्धो पर लागू होने वाले कानून के रूप मे परिभाषित किया जाता है । यह एक परम्परागत विचार है और कुछ समय से इस विचार का निरन्तर विरोध किया जा रहा है ।" वर्तमान समय मे अधिक से अधिक लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन आते जा रहे हैं । अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध आजकल राज्यो के पारस्परिक व्यवहार से नही रह गया है वरन् इसके अन्तर्गत राज्यों तथा व्यक्तियो के सम्बन्ध और व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध भी शामिल किए जाने लगे हैं । इसी दृष्टिकोण से डॉ जेसप ने राष्ट्रो के आधुनिक कानून की रूपरेखा प्रस्तुत की है । डॉ जेसप का दृष्टिकोण समय की बदलती हुई परिस्थितियो का परिणाम है ।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जिन नियमो का पालन आज सभ्य जगत् मे हो रहा है । उनके लिखित रूप का विकास मुख्यत· यूरोप और अमेरिका मे हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश, जाति, वर्ण, धर्म आदि की अपेक्षा नही करता, उसकी दृष्टि मे सभी राज्य समान है । अत सयुक्त राष्ट्रसघ का चार्टर सर्वांगीण और पूर्ण न होने पर भी आज वास्तविक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन गया है । इस चार्टर की अवहेलना करने वाले राष्ट्रो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक एव सैनिक दण्डो की व्यवस्था की गई है । संयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर को समस्त सदस्य-देशो ने स्वीकार किया है और वे उसे मानने के लिए बाध्य हैं । अतः किसी देश के विधान-मण्डल द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख अग सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को मान्य कराने का प्रश्न नहीं उठता ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न परिभाषाओ के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि शब्दो की भिन्नता के बावजूद अर्थ की दृष्टि से इनमे विशेष अन्तर नही है । सम्प्रभु राज्यो की सहमति अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का मुख्य आधार है । इनकी स्वय की शक्ति बाध्यकारी नही होती, अत इसकी सार्थकता सम्बन्धित राज्यो के समर्थन पर निर्भर करती है । अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन कराने की शक्ति राष्ट्रीय कानून की भाँति पुलिस, सेना और दण्ड नही है वरन् विश्व-जनमत, अशान्ति का भय आदि हैं । प्रत्येक देश इन्हीं और इसी प्रकार के अन्य कारणो से प्राय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करने से बचने की चेष्टा करता है । अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर जो विभिन्न विचार व्यक्त किए गए हैं उनमे इसके अर्थ से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें प्रकट होती हैं—

1. ये राज्यो के पारस्परिक व्यवहार का नियमन करते हैं ।
2. ये सिद्धान्तों अथवा नियमों के समूह हैं ।
3. ये राज्यों के सामान्य समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं ।

4. इनका स्रोत परम्पराएँ, प्रथाएँ, न्यायालय के निर्णय, न्यायाधीशों का मत राज्यों के कानून, न्याय के सामान्य सिद्धान्त एवं सभ्यता के आधारभूत गुण, आदि हैं।

5. इनका पालन सद्भावना एवं कर्त्तव्यपालन के दायित्व के कारण किया जाता है। ये सभ्य राज्यों द्वारा स्वयं पर लगाए गए प्रतिबन्ध हैं।

6 इनका उद्देश्य राज्यों के अधिकारों की परिभाषा करना, इन अधिकारों की रक्षा का उपाय बताना, अधिकारों के उल्लंघन को रोकने की व्यवस्था करना, सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों एवं झगड़ों को निबटाना, राज्यों के बीच सद्भाव एवं सहयोगपूर्ण व्यवहार विकसित करना, आदि हैं।

7 सामान्यतः यह समझा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमों के संग्रह हैं जिनका उद्देश्य सभ्य राष्ट्रों के पारस्परिक आचरण को नियन्त्रित करना है। इन राष्ट्रों का सभ्य होना परम आवश्यक है। असभ्य राष्ट्र और हिंसात्मक नीति में विश्वास रखने वाले राष्ट्र अपने आपको किसी भी नियम अथवा परम्परा से नहीं बाँधना चाहते, किन्तु सभ्य और शान्तिप्रिय देश अपनी जागरूक आत्महित की दृष्टि से नियमों को महत्त्व देते हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक वास्तविकता है ?
(Is Internat onal Law a Real ty?)

यह विचित्र विरोधाभास है कि अनेक विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व में ही सन्देह प्रकट करते है। जॉन ऑस्टिन, न्यायाधीश कॉलरिज, हॉलैण्ड आदि ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून-विरोधी विचार व्यक्त किए हैं। जॉन ऑस्टिन ने 'कानून' शब्द का प्रयोग केवल ऐसे नियमों के लिए ही करना उचित समझा है जिनको विधि-निर्माण का अधिकार रखने वाली किसी निश्चित संस्था द्वारा बनाया गया हो तथा जिसे बल-प्रयोग द्वारा लागू किया जा सकता हो। बल-प्रयोग की शक्ति कानून के पीछे रहने वाला दबाव (Sanct.on) है। यदि इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर विचार किया जाए तो वह कानून नहीं कहा जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे केवल नैतिक शक्ति होती है। न्यायाधीश कॉलरिज के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अयथार्थ शब्द है। यथार्थ मान लेने पर अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं। कानून हम उसी को कह सकते हैं जिसे कोई बनाता है, लागू करता है और उल्लंघन करने वाले को दण्ड मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन शर्तों का अभाव है। इसका कारण यह है कि सम्प्रभु राज्य किसी भी आज्ञा अथवा निर्देश को मानने के लिए बाध्य नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ राष्ट्रीय न्यायालयों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाती। ये केवल पारस्परिक समझौते हैं और इनका औचित्य राष्ट्रीय कानून के आधार पर निर्धारित किया जाता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविकता का निषेध करने वालों ने अपने पक्ष में मुख्य रूप से निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करने के लिए कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती और इसलिए उसका अनुशीलन केवल सदस्यों की सदिच्छा पर निर्भर रह

जाता है। कानून बनाने वाली सत्ता हमेशा उच्चतम होती है और भौतिक शक्ति के बल पर वह दूसरे लोगों को भी कानून का पालन करने के लिए बाध्य कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में इस सबका अभाव है। केवल नैतिक शक्ति ही उन्हें लागू कर सकती है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयाँ सम्प्रभु राष्ट्र होते हैं और इन पर किसी प्रकार का बाहरी नियन्त्रण नहीं रह सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करने पर सम्प्रभु राज्य कोई हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करेंगे।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की व्याख्या के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है और इस प्रकार इनके उल्लघन का निर्णय सही रूप मे नहीं हो पाता।

4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून न्यायपालिका की शक्ति के अभाव में भली प्रकार क्रियान्वित नहीं हो पाते और इसलिए वे केवल अव्यावहारिक आदर्श मात्र ही बनकर रह जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व से इन्कार करना वस्तुतः भ्रामक है। यद्यपि यह राष्ट्रीय कानून की सभी विशेषताओं से युक्त नहीं है, तथापि निःसन्देह इसे कानून माना जाएगा क्योंकि कानून के अस्तित्व की आवश्यक शर्तों को यह पूरा करता है—

1 कानून की पहली शर्त समुदाय का अस्तित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस शर्त को पूरा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अस्तित्व है।

2 दूसरी शर्त आचरण के कुछ नियमों का अस्तित्व है। यह शर्त भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निःसन्देह रूप से पूरी हो जाती है। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए सैकडों वर्षों से नियमो का विकास हो रहा है। ये नियम बहुत कुछ परम्परागत हैं। इन परम्परागत और अलिखित नियमों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो द्वारा प्रतिदिन अधिक से अधिक नियमो का विकास किया जा रहा है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व की तीसरी शर्त भी पूरी हो जाती है। राज्यों की सरकारें और सम्पूर्ण सभ्य मानवता का लोकमत यह स्वीकार करता है कि यदि आवश्यकता हो तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून बाहरी शक्ति द्वारा भी लागू किया जाना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू करने के लिए कोई केन्द्रीय सत्ता न हो तो राज्य कानूनों को अपने हाथों मे ले सकते हैं। दूसरे राज्यों का हस्तक्षेप और प्रभावित राज्य के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति किसी भी राज्य को कानून भग करने मे रोकती है। सयुक्त राष्ट्रसघ का चार्टर दायित्वों का निर्वाह न करने वाले देशों के प्रति लगाए गए प्रतिबन्धों का उल्लेख करता है।

4. व्यवहार मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को निरन्तर कानून के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। विभिन्न राज्यों की सरकारें यह मानने लगी हैं कि उनको कानूनी और नैतिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना चाहिए। यद्यपि विश्व-जनमत कानूनों को लागू करने की शक्ति नहीं रखता, किन्तु वह यह मानता है कि ये कानून लागू किए जाने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन प्रायः युद्ध के समय

बहुत होता है, किन्तु उल्लंघन करने वाले देश यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि उनका व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुरूप है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन जिन दबावों के कारण किया जाता है उनमें मुख्य रूप से उल्लेखनीय राज्य की इच्छा है। अपने कार्यों की सफलता और असफलता के लिए एक राज्य स्वयं ही उत्तरदायी होता है। युद्ध का भय तथा क्षतिपूर्ति की आशंका प्रायः सभी सभ्य देशों को भयभीत रखती है। विश्व लोकमत का प्रभाव अथवा इन्हीं तत्त्वों का संयोग राज्यों, सम्प्रभुओं, संसदों तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा या तो स्वयं को सामान्यतः स्वीकृत नियमों से बँधा हुआ अनुभव करता है अथवा यदि ये इनका उल्लंघन करते हैं तो उनको सम्बन्धित कारणों का स्पष्टीकरण करना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के लागू होने के पीछे दबाव चाहे कुछ भी हो, किन्तु यह सच है कि जब विश्व के देश इनका स्वयं के तथा विश्व समाज के हित में अनुशीलन करते हैं तो इनकी प्रभावशीलता बढ़ जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को इतनी तीव्रता के साथ अनुभव किया जाता है कि राष्ट्रीय कानून इनके सुगम संचालन के लिए उपयुक्त तन्त्र की स्थापना करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अधिकांश भाग राष्ट्रों के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में नियमित रूप से स्वीकार किया जाता है तथा इनका उल्लंघन कदाचित् ही किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार
(The Basis of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आधार यह सरल तथ्य है कि राज्य परस्पर निर्भर हैं। अपने औपचारिक सम्बन्धों में राज्यों को ऐसे व्यक्ति माना जा सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रशासित होते हैं। जो शक्तियाँ शक्ति को नागरिक समाज में एकीकृत करने के लिए प्रेरित करती हैं और अलग राष्ट्रीय समूहों से संगठित करने के लिए उत्साहित करती हैं वे ही विभिन्न राज्यों को उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए कानून की स्थापना हेतु प्रेरित करती हैं। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना अपने लिए क्यों आवश्यक मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर उन विभिन्न आधारों को प्रकट करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुशीलन के लिए अनिवार्य हैं।

1. पहला सिद्धान्त मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Right) है। व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की भाँति राज्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं—जैसे स्वतन्त्रता, समानता आत्मरक्षण, पारस्परिक सम्मान और एक-दूसरे के साथ व्यवहार आदि। इस मत के विरोध में कई बातें कही जाती हैं। उदाहरण के लिए यह मानना गलत है कि राज्यों को कुछ प्राकृतिक अधिकार मिले हुए रहते हैं और ये उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य के रूप में प्राप्त नहीं होते। कोई भी अधिकार उस समय तक महत्त्वहीन होता है जब तक उसे उचित सिद्ध करने वाली प्रक्रिया न हो।

दूसरा विरोध यह है कि इसमें राज्यों के सामूहिक सम्बन्धों की अपेक्षा व्यक्तिगत रूप को प्रधानता दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्यों के व्यक्तिवादी अधिकारों पर जोर देना अधिक महत्त्व नहीं रखता। इसके स्थान पर उन्हें एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों का ज्ञान होना चाहिए।

2 अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार का दूसरा सिद्धान्त सहमति का सिद्धान्त (Consent Theory) है। विभिन्न देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अनुकरण इसलिए किया जाता है क्योंकि इन देशों ने अपनी सहमति से इसे स्वीकार किया है। जब आचरण के किसी नियम को बाध्यकारी रूप से लागू होने वाला समझ लिया जाता है तो वह कानून बन जाता है। औपचारिक सन्धियाँ और अभिसमय सम्बन्धित पक्षों की स्वीकृति पर आधारित होते हैं। इस प्रकार की प्रत्यक्ष स्वीकृति के साथ में विशेष सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे राज्यों की अप्रत्यक्ष स्वीकृति भी रहती है। यद्यपि सभी राज्य सम्प्रभु है, किन्तु सम्प्रभु राज्य अपनी प्रभुता का प्रयोग करते हुए आचरणों के कुछ नियमों का पालन करने के लिए सहमत हो जाते हैं। ये आचरण के नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना करते हैं।

विभिन्न राज्य अपनी इच्छा से सम्प्रभुता को सीमित कर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के लिए सहमत होते हैं। अनेक विद्वानों का तर्क है कि राज्यों की सहमति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सिद्धान्त उन मान्यताओं को स्पष्ट करने मे असमर्थ है जिन पर विभिन्न सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भ मे निर्भर थी। पुनश्च, कानूनों का पालन सहमति की अपेक्षा बाध्यता के कारण किया जाता है। हम केलसन के कथनानुसार, "जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के प्रतिकूल राज्य के कानूनों को मानने के लिए स्वेच्छा से तैयार नहीं होता, उसी प्रकार कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बन्धन को अपनी इच्छा से स्वीकार नहीं करता।"

3. एक अन्य आधार वर्तमान परिस्थितियों मे उत्पन्न राज्यों की यह भावना है कि इन कानूनों का पालन किया जाना चाहिए। यदि कानून केवल विषयपरक रहा होता तो सम्बन्धित पक्षों के हितों के अनुसार इसमे आए दिन परिवर्तनों की माँग होती रहती और कानून जैसी पवित्रता न रह पाती। विचारकों का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून से भिन्न कोई आधार तलाश करना केवल अतार्किक ही नहीं है, बल्कि सामाजिक दृष्टि से हानिकारक भी है। आधुनिक परिस्थितियों मे विभिन्न राज्य सामाजिक प्राणी बन गए हैं और उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर रहना है। विभिन्न राज्यों की एक-दूसरे पर निर्भरता आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का तथ्य बन गई है और एक राज्य का हित दूसरे राज्य के हित के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के लिए कानून की जो आवश्यकता है वही राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के लिए है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व सम्भवत: इसलिए है क्योंकि यह अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। राज्यों की पारस्परिक निर्भरता ने जाने-अनजाने

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को प्रेरणा दी है। ये कानून विभिन्न राज्यों के कानूनी सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह एक पुराना कार्य है जिसे यह आज की उलझी हुई दुनिया मे भी सम्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त पारस्परिक लाभ के मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनुशासित आचरण प्रेरित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य-राज्यों को कानून की दृष्टि से समान समझा गया है। यह सच है कि शक्ति, प्रदेश और ऐसी ही अन्य बातों के सम्बन्ध मे राज्य समान नही हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य के रूप मे सिद्धान्तत वे समान हैं। उनकी यह समानता सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रणालियाँ
(Methods of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विश्लेषण की प्रणालियों मे तीन उल्लेखनीय हैं—

1. शक्ति-प्रणाली—शक्ति-प्रणाली का समर्थन मॉर्गेन्थो जैसे लेखकों द्वारा किया गया है। मॉर्गेन्थो के अनुसार समस्त राजनीति की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति के लिए युद्ध की स्थिति है। व्यक्ति की भाँति राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रों के मस्तिष्क एवं कार्यों पर नियन्त्रण करने के लिए प्रयत्नशील रहते है। राजनीतिक शक्ति एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह शक्ति-सम्पन्न लोगों को उनसे सम्बन्धित करती है जिन पर शक्ति का प्रयोग किया जाएगा। ये सम्बन्ध धमकियों, प्रभावों आदि के माध्यम से स्थापित किए जाते हैं। शक्ति के लिए संघर्ष (आन्तरिक और बाह्य) अपरिहार्य है। युद्ध मे शत्रुओं के सहार जैसी भावनाएँ दूसरों पर शासन करने की इच्छा से प्रेरित होती हैं। शक्ति-राजनीति (Power Politics) के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक विशेष समूह या हित की राष्ट्रीय शक्ति पर निर्भर करता है।

शक्ति-प्रणाली की समस्याएँ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम, यह हमे उन शक्तियों के सम्बन्ध मे यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रदान करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त का रूप निर्धारण करती है। दूसरे, यदि शक्ति को उचित रूप से समन्वित किया जाए और स्वस्थ मार्गों की ओर प्रेरित किया जाए तो यह राज्यों के आपसी सम्बन्धों मे शान्ति ला सकेगी। तीसरे, लॉसवेल तथा कैपलान का कहना है कि शक्ति प्रणाली हमे अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के महत्त्व से परिचित कराती है तथा इनकी नीति का आधार बनाने के लिए प्रेरित करती है।

पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विश्लेषण की यह प्रणाली दोषपूर्ण भी है। यदि इस प्रणाली को अपना लिया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून शक्ति का कानून बन जाता है। वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे कानून की शक्ति (Power of Law) होनी चाहिए। 'शक्ति' द्वारा कानून की रचना न होकर वह कानून पर निर्भर हो। दूसरे, यदि इस प्रणाली को मान लिया जाए तो विदेश-नीतियाँ इसी विकृत तत्त्व पर निर्भर हो जाएँगी और विश्व-शान्ति खतरे मे पड जाएगी। तीसरे, शक्ति-प्रणाली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नींव को कमजोर किया जाता है।

2. न्यायिक-प्रणाली—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की न्यायिक प्रणाली का समर्थन केलसन आदि विद्वानों ने किया है। केलसन के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन के लिए राजनीतिक प्रणाली का प्रयोग खतरनाक है। यह दृष्टिकोण केवल उसी अध्ययनकर्त्ता के लिए उपयुक्त माना जा सकता है जो अपने देश के अनुकूल *शक्ति-राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार सही सिद्ध करना चाहता है। यह* अन्तर्राष्ट्रीय कानून की छाया मे राजनीतिक विचारधारा का अध्ययन है। इसके लिए न्यायिक प्रणाली अपनाई जानी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायवेत्ता का कार्य यह है कि *वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज के नियमो के क्षेत्र को विस्तृत कर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र* को व्यापक बनाए।"

न्यायिक प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रचनात्मक और प्रतिबन्धात्मक *पहलुओं पर बल देती है। यह दृष्टिकोण हमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र की* अपर्याप्तता से परिचित करता है। यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण इसलिए है क्योंकि इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाओं को दूर करने का निर्देश नहीं दिया जाता। *यह न्यायाधीशों का दृष्टिकोण अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विषयपरक प्रकृति* पर प्रकाश डालता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल कानून नही है, एक सामाजिक दर्शन भी है जिसके प्रति सजगता के बिना अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना का कार्य अव्यावहारिक हो जाएगा।

3. समाजशास्त्रीय प्रणाली—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विश्लेषण की समाजशास्त्रीय प्रणाली सबसे अधिक स्वीकृत है। 'कानून-समाजशास्त्र' एक नया विषय है जिसके अन्तर्गत कानून की सम्पूर्ण सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन किया जाता है। कार्ल मेनहीम ने सामाजिक विज्ञानो के लिए एक नई प्रणाली का उल्लेख किया है। उसने ज्ञान के निषेधात्मक परम्परागत तरीको को चुनौती दी है जिनमे विषयपरक या व्यक्ति अथवा सामूहिक आधारो को छोडकर केवल वस्तुनिष्ठता पर विचार किया जाता है। मेनहीम का कथन है कि वस्तुनिष्ठता विषय से सम्बन्ध रखती है और *विषय हमको ज्ञान के सकारात्मक, रचनात्मक और मूल्यात्मक पहलुओं* को समझने मे मदद करता है।

आजकल समाजशास्त्रीय प्रणाली के साथ-साथ अनुभववादी प्रणाली भी अपनाई जाती है। *यह प्रणाली परीक्षणात्मक या प्रयोगात्मक प्रणाली द्वारा सामाजिक* वास्तविकताओं का निर्धारण करती है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कानून सामाजिक विज्ञान बनता जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत
(Sources of International Law)

प्रो. स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतो को निम्नलिखित चार वर्गों मे बाँटा है—

1. रीति-रिवाज (Customs)
2. *सन्धियाँ (Treaties)*

3. पंच-निर्णय अथवा न्यायालयो के निर्णय (Decisions of Arbitral or Judicial Tribunals)

4. विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ (Juristic Works)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न प्रकार के स्रोतों का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर द्वारा स्थापित) की सविधि (Statute) के अनुच्छेद 38 'ए' मे उल्लेख किया गया है । तदनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निम्नलिखित चार स्रोत हैं—

1 सामान्य या विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (International Conventions) जिनसे ऐसे नियमो की स्थापना होती हो जिन्हे प्रतिस्पर्द्धी राज्यों ने प्रकट रूप से स्वीकार कर लिया हो ।

2. अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज (International Customs) जो इस बात का प्रमाण है कि किसी सामान्य व्यवहार (Practice) को कानूनी मान्यता मिल गई है ।

3. कानून के ऐसे सामान्य सिद्धान्त (General Principles of Law) जिन्हे सभ्य राज्यो ने स्वीकार कर लिया है ।

4. अनुच्छेद 59 के उपबन्धों के अधीन न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions) और विभिन्न राष्ट्रो के उत्कृष्ट योग्यता वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधि-विशेषज्ञो के कथन, विधि के नियमों के निर्धारण के लिए सहायक साधनों के रूप मे ।

उपर्युक्त प्रमुख स्रोतों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोत इस प्रकार हैं—अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (Internat onal Comity), सन्धियों के अतिरिक्त राजकीय पत्र (State Papers), राज्यो द्वारा अपने अधिकारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए जारी किए गए निर्देश, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो के प्रस्ताव, विभिन्न देशो की पार्लियामेंटो के तथा विधान सभाओं के कानून, न्यायालयों के निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं की तथा इस विषय पर ग्रन्थ लेखको की सम्मतियाँ ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकेन्द्रित स्वरूप
(Decentralized Nature of International Law)

वैधानिक समुदाय के सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का पालन व्यक्तिगत रूप से किया जाता है, अत. यह विकेन्द्रित व्यवस्था कहलाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के निर्माण के तरीके, उनकी व्याख्या के रूपो और व्यवहार की प्रणालियो आदि से यही पुष्टि होती है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप विकेन्द्रित है, राष्ट्रीय कानून की भाँति केन्द्रित नहीं । मॉर्गेन्थो के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विकेन्द्रित प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विकेन्द्रित ढाँचे का आवश्यक परिणाम है । जिस प्रकार एक राष्ट्र के कानूनों का निर्माण एवं सचालन कुछ सुव्यवस्थित एवं सुविकसित अगो द्वारा किया जाता है वैसी कोई व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रचलित नहीं है और न ही हो सकती है । जब तक अपने-अपने क्षेत्रो मे सम्प्रभु राज्यो द्वारा विश्व-समुदाय की इकाइयों की भूमिका अदा की जाती है तब तक कानून का निर्माण करने वाली तथा

उसे लागू करने वाली कोई केन्द्रीय व्यवस्था जन्म नही ले सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का अस्तित्व एवं व्यवहार दो तत्त्वो के कारण है—

(i) राज्यों के समान अथवा एक-दूसरे के पूरक हित,

(ii) राज्यो के बीच सन्तुलन की स्थापना।

यह कहा जाता है कि जहाँ समुदायो के हित नही होते तथा उनके बीच शक्ति का सन्तुलन नही पाया जाता, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून नही रह सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास एव पालन वस्तुपरक सामाजिक शक्तियो (Objective Social Force) का परिणाम है। प्रोफेसर ओपेनहीम ने शक्ति-सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अभिन्न शर्त माना है। उनका मत है कि यदि शक्तियाँ एक दूसरे का नियमन नही कर सकती तो कानून का कोई प्रभाव नही रह सकता क्योंकि एक शक्तिशाली राष्ट्र स्वभावत मनमानी करना चाहेगा तथा वह कानून का उल्लघन करेगा। सम्प्रभु राज्यो के ऊपर कोई केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता नही रह सकती, इसलिए यह आवश्यक है कि शक्ति-सन्तुलन द्वारा राष्ट्रो के परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्वेच्छाचारी होने से रोका जाए। समरूप एव परस्पर सहायक हित (Identical and Complementary Interests) भी विकेन्द्रीकरण रूप मे सदैव क्रियाशील रहते हैं। वे प्रत्येक वैधानिक व्यवस्था के विधायी, न्यायिक एवं कार्यपालक तीनो ही कार्यों पर प्रभाव डालते हैं। मॉर्गेन्थो ने इन्हे जीवन-रक्त की सज्ञा दी है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण
(Creation of International Laws)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण नही होता इनका प्राय विकास किया जाता है। सम्प्रभु राष्ट्रो के ऊपर ऐसी कोई संस्था नही है जिसे सर्वोच्च कहा जा सके और जो ऐसे कानूनो का निर्माण कर सके जिनको राष्ट्रों द्वारा बाध्यकारी रूप मे मनवाया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का विकास दो रूपों मे होता है अथवा यो कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण दो प्रकार से होता है—प्रथम प्रकार से तो इन कानूनो के 'व्यवहार एव प्रचलन की क्रमिक प्रक्रिया' द्वारा विकास होता है। दूसरे प्रकार के अनुसार ये 'सन्धियों की रचना एवं स्वीकृति' के माध्यम मे जन्म लेते हैं। प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास मुख्यत प्रचलन एवं व्यवहार द्वारा किया गया है, किन्तु इन कानूनों की व्याख्या करने वाला कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय न होने के कारण इनका व्यवस्थित रूप से विकास नही हो पाता। यह निश्चय करना भी बडा मुश्किल है कि कौन-सी प्रथा या प्रचलन कानून बन जाएगा। अनेक बार ऐसा होता है कि रीति-रिवाज प्रचलित होने पर भी सार्वभौमिक (Universal) नही बन पाते। प्रचलित कानूनो (Customary Law) की बडी कमी यह भी है कि इनके द्वारा विश्व की घटनाओ के परिवर्तित एव गत्यात्मक (Dynamic) रूप के साथ समायोजन नही किया जा सकता। यही कारण है कि दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा सन्धि अथवा सम्मेलनों मे नवीन नियमो का निर्माण किया जाता है. सन्धियाँ प्राय: प्रचलित कानून के आधार पर की जाती हैं, सन्धि की इकाइयाँ राज्य

होते हैं । सन्धियों की कार्यवाही राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा संचालित की जाती है तथा इसके उपबन्धों का प्रभाव केवल उन देशों पर पड़ता है जो इसमे भाग लेते हैं । सन्धि एव समझौतो द्वारा जिन कानूनो का निर्माण किया जाता है । वे मुख्यतः राज्यो की सामान्य समस्याओं का मुकाबला करने के सहयोगपूर्ण प्रयास का प्रतीक होते है । कुछ का सम्बन्ध सामाजिक, व्यावसायिक एव आर्थिक मामलो से होता है जबकि दूसरे शान्ति और युद्ध जैसी समस्याओ से सम्बन्धित रहते हैं । राष्ट्रसंघ एव सयुक्त राष्ट्रसघ के परिपत्रो द्वारा सन्धियों के मार्ग को आसान बना दिया गया था, ताकि कूटनीति को दूर किया जा सके । सयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक सन्धि को पहले पंजीबद्ध (Registered) कराया जाएगा तथा बाद मे सचिवालय उसे प्रकाशित कर देगा ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रकार
(The Kinds of International Laws)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का निर्माण कई प्रकार से होता है और इसके स्रोत भी विभिन्न प्रकार के होते हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इन कानूनो की प्रकृति, रूप एवं लक्ष्य मे विभिन्नता आ जाए । कई आधारों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का विभाजन किया जाता है । इनमे प्रमुख विभाजन अग्रलिखित हैं—

(1) व्यक्तिगत एव सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private and Public International Law)
(2) प्रक्रिया सम्बन्धी एवं वास्तविक कानून (Procedural and Substantial Law)
(3) शान्ति, युद्ध एवं निरपेक्षता के नियम (Laws of Peace, War and Neutrality)
(4) विशेष और सामान्य या सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Particular and General or Universal Law)
(5) शक्ति, सहयोग और परस्पर सम्बन्धों के कानून (Law of Power, Co-ordination and Reciprocity) ।

प्रो डिकिसन (Professor Edwin D Dikinson) ने बताया है कि व्यक्तिगत अधिकारो एव कर्त्तव्यो से सम्बन्धित विषयों पर न्यायीकरण एवं नियमन (Adjudication and Regulation) की समस्या उठ खड़ी होती है क्योकि वस्तुओं एव व्यक्तियो का एक देश से दूसरे देश मे आवागमन होना ही रहता है तथा राष्ट्रीय सीमाओ के परे सम्पत्ति, परिवार, समझौते, आदि भी होते ही हैं । पामर तथा पर्किंस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो अन्य रूपो का भी वर्णन किया है । एक तो समुद्री व्यापार का कानून है जिसे वे एडमिरेल्टी कानून (Admiralty Law) कहते हैं और इसके दूसरे प्रकार को अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity) का नाम देते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो में युद्ध-कानून और शान्ति-कानून का नाम भी उल्लेखनीय है ।

युद्धकानूनों की आवश्यता इस कारण हुई कि जहाँ न्याय की स्थापना एवं शोषण व अन्याय का विरोध करने मे शान्तिपूर्ण साधन सफल नही हो पाते, वहाँ युद्ध अपरिहार्य बन जाता है। *यह एक देश की आत्म-रक्षा का अन्तिम तरीका है।* कई स्थितियो मे युद्ध न्यायपूर्ण एव धर्मयुद्ध बन जाते है, किन्तु धर्मयुद्धो मे भी कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक हो जाता है। अनेक अभिसमयों एव अभिलेखो द्वारा भूमि और समुद्र पर युद्ध के विभिन्न कानूनो का निर्माण किया गया है। ये कानून युद्ध के घायलो की देखभाल, युद्ध-बन्दियो के साथ बर्ताव, मेडीकल कर्मचारियो को सुविधाएँ देना, निषिद्ध हथियार एव अभिकरण, शत्रु की जीती हुई भूमि मे सैनिक कमाण्डर की शक्ति, निष्पक्ष राष्ट्रो के कर्त्तव्य एव अधिकार, जहरीली गैसो का प्रयोग आदि बातो से सम्बन्धित है। यह माना जाता है कि युद्ध-कानूनों ने युद्ध को मानवीय *बनाने मे भारी सहायता की है। प्राय: सभी देशो द्वारा इनका अनुपालन किया जाता* है, किन्तु अभी तक वायु युद्ध के सम्बन्ध मे इस प्रकार के प्रभावशाली कानूनो का निर्माण नही किया गया। प्रथम विश्व-युद्ध के कानून प्रायः निष्पक्षतापूर्ण कानून थे। इन कानूनो का पालन युद्ध के समय न किया जा सका। जहाँ इन कानूनो का व्यवहार सम्भव था वहाँ भी इनकी अवहेलना की गई है। आज जबकि समग्र युद्धो (Total Wars) का प्रचलन है, निष्पक्षता लगभग असम्भव है। फिलिप जैसप (Philip C Jessup) के विचार से यदि समाज के वर्तमान या भविष्य की एकता को देखा जाए तो विदित होगा कि निरपेक्षता (Neutrality) आज एक समाज-विरोधी *स्थिति (Anti-social Status)* बन गई है।

शान्ति-कानून भी युद्ध-कानूनो की भाँति विश्व व्यवस्था कायम रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु शान्ति-कानूनो का विषय-क्षेत्र युद्ध-कानूनो से पर्याप्त भिन्न *रहता है। शान्ति-कानूनों के विषय-क्षेत्र को डिकिंसन (Professor D kinson)* द्वारा मुख्यत: छ: भागों मे विभक्त किया गया है जो निम्न प्रकार हैं—

1 राष्ट्रीय राज्यो के जन्म, स्वीकृति, जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित;
2. राष्ट्रीयता एव उसके तत्वो से सम्बन्धित;
3 राष्ट्रीय प्रशासन से सम्बन्धित,
4–5. समझौतो, सम्पर्कों और अधिकार-क्षेत्रों से सम्बन्धित;
6. विवादो के निपटारे से सम्बन्धित कानून।

पामर तथा पर्किन्स (Palmer and Perkins) के अनुसार इनमें से प्रत्येक *पहलू पर प्रचुर साहित्य उपलब्ध है तथा इन पहलुओं के माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीय* कानून का विकास हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विभाजित करने वाला प्रत्येक आधार पुनरोक्ति, अधूरेपन एव परस्पर विरोध जैसे अवगुणो से दूषित है। ये दोष स्वाभाविक हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति की उपज हैं। मॉर्गेन्थो का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने मे क्या क्या व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य करने होते हैं तथा उसकी *व्याख्या के लिए कौन से न्यायिक (Judicial)* और उन्हे लागू करने के लिए कौन-कौन से कार्यपालिका (Executive) सम्बन्धी कार्यों की

साधना की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों का सुधार करने के लिए कोई प्रयास नही किया गया है, किन्तु इसके न्यायिक तथा कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों का सुधार करने के लिए अनेक सफल प्रयास किए गए हैं। इन सब प्रयासों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकेन्द्रित स्वरूप (Decentralized Nature) सबल बना है और आज विकेन्द्रित स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सार (Essence) बन गया है। जो सिद्धान्त विकेन्द्रीकरण को अपरिहार्य बना देते हैं वे सम्प्रभुता के सिद्धान्त में प्राप्त होते है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे दबाव
(Sanctions Behind International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू नही किया जा सकता। इसका पालन स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु-राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर है जो सदैव स्वार्थ मे लिप्त तथा शक्ति-वृद्धि के लिए संलग्न रहते है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय स्वार्थ एवं राष्ट्रीय शक्ति का अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप मे तो वह एक प्रभावशील बाधक का ही कार्य करता है। राष्ट्रों द्वारा जानबूझकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना की घोषणा की जाती है पर फिर भी ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं जिसके द्वारा उनको इस अवांछनीय कार्य के लिए दण्डित किया जा सके। तथ्यों के आधार पर कुछ विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे सुधार होता है अर्थात् इसका स्तर ऊँचा उठता है, त्यों-त्यों इसके मानने वालों की, इस पर अमल करने वालों की संख्या भी कम होती चली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन कुछ निश्चित परिस्थितियो का परिणाम होता है। एक राष्ट्र-विशेष के उद्देश्य एवं दृष्टिकोण भी उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रियान्वयन मे अनेक परिस्थितियों, मनोभावों, घटनाओं, आदि का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हाथ रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के लिए एक राष्ट्र को प्रेरित करने वाले विभिन्न तत्त्वो मे मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं—

(1) आदत, (2) सुविधा, (3) आत्म-चेतना, (4) अनौपचारिक दबाव, *(5) स्वार्थ (Self-Interest), आदि। प्रत्येक राष्ट्र एक समय मे अनेक प्रकार के* रुख अपनाने के लिए स्वतन्त्र रहता है; उदाहरण के लिए, वह दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक या आर्थिक प्रभाव का उपयोग कर सकता है। ये प्रभाव प्राय सभी वैधानिक व्यवस्थाओं मे प्रयुक्त किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित कराने के कुछ अन्य औपचारिक साधन भी अपनाए जा सकते है। इन साधनो को प्राय: अनुशास्ति या दण्ड (Sanctions) कहा जाता है। श्लीचर (Schleicher) के शब्दों में, अनुशास्ति एक ऐसी क्रिया है जो कि साधारणतः अवैध होती है, किन्तु कानून तोडने वाले के विरुद्ध वैध-समुदाय (Legal

Community) द्वारा इसे स्वीकार किया जाता है।"[1] कानून का पालन करने वाले के विरुद्ध ये प्रयुक्त नही की जाती। राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के व्यवस्था-पत्रों मे इस प्रकार की अनुशास्तियों का उल्लेख किया गया है। राष्ट्रसंघ एव संयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा इस प्रकार के कदम सामूहिक सुरक्षा प्रयत्नों के आंशिक रूप मे ही अपनाए गए। *संयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि* यदि सामूहिक सुरक्षा के शान्तिपूर्ण साधन असफल हो जाएँ तो शक्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि एक आदर्श कानून को क्रियान्वित करने के साधन भी वैधानिक ही होने चाहिए; शक्ति द्वारा उनको लागू कराने का अर्थ होगा कानून की आत्मा का हनन कर देना। इसी आधार पर श्लीचर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "संयुक्त-राष्ट्रसघ यथार्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नष्ट करता है, यह इनको लागू करने का स्वय उत्तरदायित्व नही लेता।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मूल्यांकन
(An Evaluation of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने अनेक बार अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटावों को पैदा होने एवं बढने से रोका है, फिर भी जैसा कि अधिकांश विचारकों का मत है अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परिणाम आशाजनक एव अधिक प्रभावशाली नही हो सके हैं। पामर तथा पर्किंस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पाँच सीमाओं का वर्णन किया है—

1 व्यवस्थापन-कार्य की अपूर्णता,
2 न्यायिक कार्यों मे विभिन्न गम्भीर सीमाएँ,
3. प्रभावशाली प्रयोग (क्रियान्विति) की कमी,
4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कार्यों एव क्षेत्रों पर सीमाएँ,
5 कानून के उद्देश्य एव प्रकृति के सम्बन्ध मे गलतफहमियाँ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ये सभी सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय समाज के वर्तमान चरित्र मे *निहित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज सामान्यत वैध व्यवस्था को स्वीकार नही करता* तथा उसका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे इसे लागू नहीं किया जा सकता। जैसप (Philip Jessup) का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मूल कमजोरी यह है कि परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के बीच का कानून है; यह व्यक्तियों के बीच का या व्यक्ति और राज्यों के बीच का कानून नहीं है।[3] जैसप का विचार है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक रूप का विकास *करना है तो व्यक्तियों-सहित अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विस्तार करना होगा।* उन्होंने बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था की दो मूल कुन्जियाँ हैं—प्रथम, राष्ट्रीय कानून की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी सीधे व्यक्ति पर लागू होने चाहिए। वह

1 *Schleicher* : International Relations, p. 385.
2 *Schleicher* : Ibid, p. 385.
3 *Philip Jessup* : A Modern Law of Nations.

परम्परावादी कानून की भाँति व्यक्ति से दूर नहीं रहना चाहिए। दूसरे, उस हित का स्पष्टीकरण होना चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन करने से पूरा होनेवाला है। कानूनों का उल्लंघन भी केवल राज्यों की ही समस्या नहीं मानी जानी चाहिए। हैंस केल्सन (Hans Kelsen) के मतानुसार, युद्ध को रोकने का एक प्रभावपूर्ण साधन यह है कि युद्ध क्षेत्र पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने का उत्तरदायित्व पूरी तरह से सरकार के सदस्यों पर व्यक्तिगत रूप में डाला जाना चाहिए। क्विन्सी राइट ने इस मत के समर्थकों के विचारों की व्याख्या करते हुए बताया है कि ये सिद्धान्त रूप से विश्व-समाज के सम्प्रभु राष्ट्रों द्वारा विश्व-संगठन में परिवर्तन करना चाहते हैं जिसमें कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा मानव अधिकारों की रक्षा की जाएगी, अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों की सजा दी जाएगी तथा व्यक्ति एवं राज्य दोनों पर कानून को लागू किया जाएगा।

विश्व-शान्ति की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बहुत प्रशंसा की जाती है, किन्तु कुछ विचारकों के मतानुसार, यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक पहलू मात्र है और किसी भी अर्थ में यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं है। कहा जाता है कि युद्ध और शान्ति पर प्रभाव डालने वाले बड़े-बड़े मसले अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि के बाहर रहते हैं। जिन विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हस्तक्षेप है उनमें भी यह आवश्यक नहीं कि प्रभावित राष्ट्र उसका आदर करें। राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न इसके सफल संचालन के मार्ग की बाधा है। इन सबके बावजूद पामर तथा पर्किंस जैसे विचारकों का मत है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था का निर्माण करने में निष्पक्ष प्रयास करता है जिसके अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की शान्ति व स्थिरता खतरे में पड़ सकती है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक प्रकार से उन सभी प्रयासों के परिणामों को पञ्जीबद्ध कर देता है जो शान्ति की खोज में किए जाते हैं। डिकिंसन (Dikinson) के शब्दों में, शान्ति का प्रत्येक दिवस कानून के विस्तार का एक समय है। सीनेटर टाफ्ट ने कहा था कि विश्व-शान्ति तब तक असम्भव है जब तक कि राष्ट्र उनके परस्पर के सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले किसी निश्चित कानून पर सहमत नहीं हो जाते। राष्ट्रों को सहमत होकर यह मानना चाहिए कि वे अपने झगड़ों को बिना निषेधाधिकार का प्रयोग किए न्यायाधिकरण (Adjudication) के लिए प्रस्तुत करेंगे तथा निष्पक्ष न्यायालय का जो निर्णय होगा उसे अनिवार्यतः मानेंगे। इसके लिए जैसप अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि जब तक विश्व-सरकार की स्थापना द्वारा सम्पन्न राष्ट्रों की व्यक्तिगत इच्छा को सामूहिक इच्छा के अधीन नहीं बना दिया जाता, तब तक कानून के अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् मानव-संघर्ष के सुलझाने में शक्ति-प्रयोग के निषेध को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।[2] अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को सफल रूप से सचालित करने के लिए विश्व के

1 *Palmer and Perkins* : op. cit , p. 327.
2 *Jessup* : A Modern Law of Nations, p. 2.

अधिकांश देशों में सहयोग की भावना का होना अनिवार्य है। यह भावना न केवल कानून-निर्माण के बाद वरन् कानून-निर्माण के पहले भी होनी चाहिए। विश्व सरकार की स्थापना तथा नि शस्त्रीकरण के प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं।

विश्व-सरकार
(World Government)

राष्ट्रवाद और प्रभुसत्ता पर आधारित तथा शक्ति-राजनीति द्वारा संचालित वर्तमान राज्य-व्यवस्था किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा-व्यवस्था के मार्ग में बाधक है, अत: बहुत से विचारकों का मत है कि हमें सार्वभौम राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था के विकल्प की ढूंढ निकालने और उसे प्रतिष्ठित करने की दिशा में सक्रिय कदम उठाने चाहिएँ। विश्व सरकार का विचार ही एक ऐसा विकल्प समझा गया है जो राष्ट्रीय सम्प्रभुता को विश्व-सत्ता में हस्तान्तरित करने पर सम्भव हो सकता है।

विश्व-सरकार की मान्यता की विशेषताएँ
(Characteristics of the Concept of World Govt.)

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के समर्थक विचारकों ने विश्व-सरकार के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत प्रकट किए हैं उनसे मान्यता की कतिपय विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

1. विश्व-सरकार शान्ति और व्यवस्था की निर्माणक है—यह मान्यता प्रस्तुत की गई है कि विश्व में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए विश्व-सरकार का निर्माण आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस सरकार के पास सर्वोच्च शक्ति रहेगी ताकि विश्व के देश परस्पर संघर्षरत न हो सकें और सर्वोच्च शक्ति के अधीन अनुशासन कायम रखें। क्लाड के शब्दों में, "सामान्य रूप से विश्व-सरकार के सिद्धान्त का आशय ऐसी सत्ताधारी, शक्तिशाली केन्द्रीय संस्थाओं का निर्माण करना है *जो राज्यों के बीच सम्बन्धों का, मुख्यत अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकने के लक्ष्य के* लिए प्रबन्ध कर सके।"[1]

2 राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विरोधी—वर्तमान विश्व *ऐसे राष्ट्रों से मिलकर* बना है जो अपने क्षेत्र में सम्प्रभु हैं और जिनका आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार में मनमानी और स्वतन्त्रता का प्रयोग बहुधा सीमा से आगे बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत की सारी शान्ति नष्ट कर देता है। इस प्रकार की सम्भावनाओं से बचने के लिए विश्व-सरकार की स्थापना एक प्रभावशाली उपाय है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता को अन्तर्राष्ट्रीय दावों और संस्थाओं द्वारा ही प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता, इसके लिए राज्यों की व्यक्तिगत सम्प्रभुता का एक विश्व-शक्ति को हस्तान्तरण करना होगा। मॉर्गेन्थो के शब्दों में, "आवश्यक है कि सम्प्रभु राष्ट्रों के इस विश्व-समाज को व्यक्तिगत

1 *Claude I. L* : Power and International Relations, p. 206.

राष्ट्रों से उच्चतर समुदाय (Supranational Community) में परिवर्तित कर दिया जाए।"[1]

3 विश्व-सरकार शक्ति-प्रबन्ध के रूप में—राज्यों के शक्ति-सम्बन्धों की व्यवस्था के लिए प्रारम्भ से ही जो विभिन्न विचार समझाए गए हैं, वे प्रायः असफल रहे हैं। कहा जाता है कि विश्व-सरकार की स्थापना इस दिशा में अति प्रभावशाली उपाय सिद्ध होगी। विश्व-सरकार की मान्यता का महत्त्व इस बात में है कि इसे सर्व-सम्मति से शक्ति-प्रबन्ध की समस्या का एक उपयोगी सैद्धान्तिक सुधार माना गया है। वर्तमान विश्व की अराजकता को विश्व-सरकार की स्थापना के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा दूर नहीं किया जा सकता।

4. सामूहिक सुरक्षा का अगला कदम—शक्ति-सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा विश्व-शान्ति के प्रभावकारी उपाय सिद्ध नहीं हुए हैं। विश्व-सरकार इनका अगला कदम है। ऐसा दो दृष्टियों से है—प्रथम, यह साहित्यिक इतिहास-क्रम में एक बाद की मान्यता है, एवं द्वितीय, यह शक्ति के केन्द्रीकरण का प्रतीक है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था ने शक्ति-सन्तुलन द्वारा स्थापित विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का सही विकल्प प्रस्तुत नहीं किया जबकि विश्व-सरकार की मान्यता इस आलोचना से परे है और सामूहिक सुरक्षा की कमियों को दूर करने में प्रभावी सिद्ध हो सकती है।

5 विश्व-सरकार एक संघात्मक व्यवस्था है—विचारकों ने विश्व-सरकार के संघात्मक रूप की कल्पना की है जिसमें विभिन्न राज्य इकाइयों के रूप में कार्य करेंगे। विश्व-समुदाय की निर्माणक इकाइयों के ऊपर एक सर्वोच्च अभिकरण की स्थापना की जाएगी तथा दूसरी ओर सम्प्रभु राष्ट्रों की शक्ति को कम करके उन्हें विश्व-संघ-व्यवस्था के असार्वभौमिक सदस्य का स्तर प्रदान किया जाएगा। विधि-शासन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता की स्थापना का प्रयास होगा और निःशस्त्रीकरण द्वारा इकाइयों की शक्ति को इतना कम कर दिया जाएगा कि वे स्थापित सत्ता को चुनौती नहीं दे सकेंगे। नार्मन कार्सेस के अनुसार, एक ऐसी सत्ता का निर्माण किया जाना चाहिए जो राष्ट्रों को पूरी तरह न केवल युद्ध सचालन के यन्त्र से वंचित करे वरन् निर्णय लेने के उस यन्त्र को भी हस्तगत कर ले जिससे युद्ध को प्रारम्भ किया जा सकता है।

6. एक अनिश्चित मान्यता—अनिश्चित सरकार का चित्रण बड़े विस्तार के साथ किया गया है तथापि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि विश्व-सरकार की यह कल्पना साकार हो सकेगी या नहीं। अनेक विचारक इसे एक हवाई किला मानते हैं तो कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक अनिवार्य और एकमात्र आगामी विकास के रूप में देखते हैं। कुल मिलाकर लॉर्ड का यह मत सन्तुलित है कि केवल इने-गिने समर्थकों को ही निकट भविष्य में विश्व-सरकार का आदर्श प्राप्त होने की आशा है।

1 *Morgenthau* : op. cit., p. 470.

विश्व-सरकार की उपयोगिता
(The Utility of World Govt.)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् के वर्तमान व्यावहारिक स्वरूप को देखते हुए यह सम्भव नहीं दिखाई देता कि विश्व-सरकार का स्वप्न निकट या सुदूर भविष्य मे साकार हो सकेगा, *तथापि इसमे सन्देह नहीं कि यदि विश्व-सरकार की स्थापना हो* सके तो यह बहुत उपयोगी बात होगी। इस स्थिति मे, मॉर्गेन्थो के अनुसार, विश्व शान्ति की स्थापना की दिशा मे तीन उल्लेखनीय कार्य किए जा सकेंगे—

1. विश्व-सरकार मानव-जाति को वैधानिक व्यक्तित्व प्रदान कर उसकी एकता स्थापित रखेगी।

2. विश्व-सरकार ऐसे अभिकरणों को जन्म देगी और उन्हें गतिशील बनाएगी जिनके द्वारा विश्वव्यापी स्तर पर सामाजिक परिवर्तन लाए जा सकें तथा मानव-जाति के सभी समूहो के विरोधी दावो को कुछ सीमा तक सन्तुष्ट करना सम्भव हो सके।

3. विश्व-सरकार द्वारा ऐसे अभिकरणो की स्थापना की जा सकेगी जो विश्व-शान्ति एव सुरक्षा के लिए किसी भी खतरे का पूरी ताकत से मुकाबला कर सके।

विश्व-सरकार की उपयोगिता पर टिप्पणी करते हुए स्टीवार्ट बोल ने लिखा है कि "सरकार का क्षेत्र शान्ति का क्षेत्र है। शहर, राज्य एव राष्ट्र मे जिस प्रकार शान्ति स्थापित की जाती है उससे तो सभी परिचित हैं। यदि इतने बडे क्षेत्र पर किसी तरह सरकार की स्थापना की जा सके तो विश्व-सरकार निश्चय ही शान्ति का मार्ग है।"

विश्व-सरकार के समर्थको का कहना है कि विश्व मे शान्ति-स्थापना के लिए द्विसूत्री कार्यक्रम अपनाने चाहिए—प्रथम, यह प्रयास किया जाए कि विश्व-समाज का *कोई भी देश शान्ति भग करने की इच्छा ही न करे। इसके लिए आवश्यक है कि* एक ऐसी सर्वोच्च सस्था का गठन किया जाए जो युद्धप्रेमी राष्ट्रो की अनुचित गतिविधियो पर प्रतिबन्ध लगा सके। द्वितीय, राष्ट्रों के पास केवल इतनी ही शक्ति रखी जाए कि वे युद्ध छेड़ने का साहस न कर सकें। राष्ट्रीय स्तर पर हम देखते हैं संघात्मक व्यवस्था मे इकाइयाँ आपस मे अथवा केन्द्र के साथ प्राय युद्ध पर नही उतर आती। मतभेद रहते हैं और हित टकराते हैं, लेकिन तलवारें नही खनकती। कारण यही है कि राज्यो अर्थात् संघीय इकाइयो की तुलना मे केन्द्र के पास इतनी प्रबल सैनिक शक्ति होती है कि उसके भय से कोई भी राज्य बल-प्रयोग द्वारा अपने *हितो की रक्षा का प्रयास नहीं करता। यदि इसी प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर* भी लागू किया जाए तो विश्व-शान्ति स्थायी बन सकती है।

विश्व-सरकार की प्रमुख उपयोगिताओ को प्राय इस प्रकार प्रकट किया जाता है—

1. विश्व-सरकार विश्व-व्यापी अराजकता को दूर कर सकेगी। क्लाड के मत मे 'अराजकता भय का प्रतीक है'—एक अनियन्त्रित अव्यवस्था का भय। 'विश्व

में अराजकता है' का आशय दूसरे शब्दों मे यह है कि विश्व की स्थिति असहनीय रूप से खतरनाक है। इसके लिए विकल्प यही है कि मानव-जाति दो मे से एक को चुन ले—या तो विश्वव्यापी अराजकता को या विश्व-सरकार की स्थापना को अराजकता और सरकार के बीच सदैव विरोध रहता है, अतः विश्व-सरकार की ओर बढाए गए कदम क्रमशः अराजकता को मिटाते चले जाएँगे।

2 विश्व-सरकार ही एकमात्र वह मार्ग है जिसका अनुसरण करके विश्व को युद्ध की ज्वालाओं से सुरक्षित रखा जा सकता है। स्वर्गीय श्री नेहरू ने कहा था, "विश्व-सरकार आनी चाहिए और आएगी क्योंकि विश्व की बीमारी का इसके अलावा कोई इलाज नहीं है।" बहुराज्य व्यवस्था के रहने पर ससार युद्ध से और युद्ध के खतरो से कभी मुक्त नही रह सकता। पर दूसरी ओर यह भी माना जाता है कि विश्व-सरकार की स्थापना युद्धो की समाप्ति का उपकरण नहीं है। वास्तव मे शान्ति तो तभी स्थापित रहती है जब देश परस्पर एकता और सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्धों से बँधे रहें। क्या कारण है कि कनाडा और अमेरिका, अमेरिका और ब्रिटेन, ब्रिटेन और बेल्जियम के बीच निरन्तर मधुर सम्बन्ध चले आ रहे हैं? क्या कारण है कि नार्वे और स्वीडन के सम्बन्ध स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रों के रूप मे शान्तिपूर्ण रहे है जबकि एक ही सरकार के अधीन होने पर ऐसा नही था?

3. विश्व-शान्ति के एकमात्र साधन के रूप मे विश्व-सरकार ही सर्वोत्तम विकल्प है। कहा जाता है कि जब सारा विश्व एक हो जाएगा, एक सरकार के अधीन हो जाएगा, तो युद्धो का रूप बदल जाएगा और एकीकृत विश्व-व्यवस्था मे गृह-युद्ध भी इतने भयावह होंगे कि कोई भी इन्हे छेड़ने का साहस नही करेगा। जाफरी सेवर के अनुसार, "किसी भी बड़े भयानक युद्ध की सम्भावना को तब तक दूर नही किया जा सकता जब तक कि सम्प्रभु आत्म-निर्णायक राज्यो की व्यवस्था को विश्व-सरकार की स्थापना द्वारा स्थानान्तरित नही कर दिया जाता।" विश्व-सरकार के समर्थकों का तर्क है कि जब सभी राष्ट्रों की व्यक्तिगत उपलब्धियों को सार्वजनिक एव अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया जाएगा तो भेदभाव एव मनमुटाव के कारण ही नष्ट हो जाएँगे।

4. समर्थकों का तर्क है कि विश्व-सरकार विश्व की प्रगति का प्रतीक है। युद्धों द्वारा न केवल उपलब्धियो का विनाश होता है बल्कि वे तत्त्व और परिस्थितियाँ भी नष्ट हो जाती है, जिनसे मानव-सभ्यता एव संस्कृति आगे बढती है। हिटलर और मुसोलिनी युद्धो के माध्यम से जर्मनी और इटली को उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचाना चाहते थे, परन्तु इसका जो परिणाम हुआ उसे जर्मनी और इटली की जनता कभी भूल नहीं सकती। आज के अणु युग मे तो युद्धो की बात करना ही आत्मघाती है। विश्व-सरकार चूँकि शान्ति-स्थापना का अत्यन्त प्रभावशील साधन होगी, अतः इसे मानव-सभ्यता की प्रगति और समृद्धि का प्रतीक मानना चाहिए। विश्व-सरकार की दूसरी बड़ी उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा विश्व की अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया जा सकेगा तथा युद्धो और सैनिक तैयारियो पर किए

जाने वाले कल्पनातीत व्यय को निर्माणात्मक कार्यों मे लगाया जा सकेगा। विश्व-सरकार की स्थापना के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की समस्याएँ भी समाप्त हो जाएँगी। जब कोई सम्प्रभु राज्य ही नही रहेगा, तो राज्यो के बीच हिंसात्मक युद्ध अथवा सघर्ष होने का प्रश्न ही पैदा नही होगा।

5. इसके समर्थको का कहना है कि राष्ट्रीय स्तर पर सरकारो के अस्तित्व का जो महत्त्व और उपयोगिता है वही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व-सरकार का होगा। विभिन्न राष्ट्रो मे जो भिन्नताएँ, विरोधी स्वार्थ और असमान स्थितियाँ विद्यमान हैं जिनकी प्राय हिंसात्मक सघर्षों के रूप मे अभिव्यक्ति होती है, विश्व-सरकार की स्थापना के बाद उनका हिंसात्मक रूप परिवर्तित होकर सामञ्जस्यपूर्ण बन जाएगा और तब विश्व के प्रति राजभक्ति को विश्व के नागरिक का सबसे प्रधान कर्त्तव्य माना जाएगा। विश्व की एकता को चुनौती देने वाले किसी कार्य को सहन नही किया जाएगा तथा केवल उन्ही हितो, विचारको और राजभक्तियो को प्रचलित रखा जाएगा जो विश्व की एकता को खतरा पैदा न करें। इस प्रकार विश्व-सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजभक्ति को जन्म देगी। राष्ट्रीय सरकारो की भाँति विश्व-सरकार भी न्याय की स्थापना के लिए सचेष्ट होगी। सामान्य हित के विषयों पर समस्त विश्व को समान न्याय प्रदान किया जाएगा और यदि कोई एक राष्ट्र या कुछ राष्ट्र मिलकर अन्य राष्ट्रो से भिन्न किन्तु सामञ्जस्यपूर्ण किसी उचित व सगत की माँग करते हैं तो विश्व-सरकार उस माँग पर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देगी।

राष्ट्रीय सरकार के पास भारी शक्ति होती है जिसके आधार पर वह शान्ति की स्थापना करती है और शान्ति भग करने वाले किसी भी प्रयास को कुचल देती है। इसी प्रकार विश्व-सरकार के पास विपुल शक्ति रहेगी जिसके आधार पर वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव व्यवस्था को बाधा पहुँचाने वाले तत्त्वो का दमन कर देगी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व-सरकार की शक्ति के दो रूप होंगे—प्रथम, उसके पास सैनिक-शक्ति केन्द्रित हो जाएगी और दूसरे, विश्व-लोकमत भी उसके साथ रहेगा जिसकी अवहेलना करने का कोई भी राष्ट्र साहस नही कर सकेगा।

यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए जिस प्रकार राज्य एक आवश्यक साधन है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव व्यवस्था भी विश्व-राज्य एव विश्व-सरकार की स्थापना से ही हो सकती है। एक राष्ट्र की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी तोडफोड के अनेक तत्त्व विद्यमान रहते है जिनको नियन्त्रित करने के लिए एक शक्तिशाली विश्व-सरकार परम आवश्यक है। वर्ण, जाति, धर्म, क्षेत्र एव अन्य राजनीतिक झगडो से विश्व-समाज को छिन्न-भिन्न करने वाले अनेक तत्त्वो की सृष्टि होती है जो शान्ति, संघर्ष और युद्धो का रूप धारण कर लेते हैं। विश्व-सरकार द्वारा इन सभी तत्त्वो पर अंकुश रखा जाएगा।

विश्व-सरकार के उपाय और साधन
(The Ways and Means of World Govt)

विश्व-सरकार की स्थापना से सम्बन्धित विभिन्न विचारों के निष्कर्षों द्वारा प्रस्तुत साधनों को मूल रूप से तीन श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है—

(i) रचनात्मक, (ii) विकासात्मक, एवं (iii) मध्य-स्थिति वाले तीनों ही प्रकार के साधन सरकार की प्रकृति से सम्बन्धित हैं। रचनात्मक साधन के समर्थकों की मान्यता है कि सरकार का निर्माण किया जाता है और यह व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर है कि वे सरकार बनाएँ अथवा न बनाएँ अथवा किस तरीके से बनाएँ। यदि श्रेष्ठ सरकार का निर्माण किया जाना है तो पहले लोगों को समझाना होगा कि यह श्रेष्ठ सरकार है, तत्पश्चात् उन्हें उसके निर्माण के लिए राजी करना होगा। विश्व-सरकार भी इसी ढग से बनाई जा सकती है। विकासात्मक साधन के समर्थकों के अनुसार सरकार विकास का परिणाम है। यह प्राकृतिक इतिहास का एक भाग है। सरकारें बनाई नहीं जाती बल्कि उत्पन्न होती हैं। मध्य स्थिति वालो की मान्यता है कि राजनीतिक संस्थाएँ यद्यपि मनुष्य द्वारा बनाई जाती हैं और उसी की इच्छा पर आश्रित रहती हैं, तथापि ये राजनीतिक संस्थाएँ स्वत ही कार्य नहीं करती—इनके सफल संचालन के लिए कुछ अनुकूल स्थितियो का होना आवश्यक है।

विश्व-सरकार के सन्दर्भ में सरकार की प्रकृति से सम्बन्धित उपर्युक्त साधनों का निष्कर्ष यह है कि—(1) विश्व-सरकार का मनुष्यों द्वारा निर्माण किया जाएगा, (2) विश्व-सरकार की पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद वह स्वत. ही विकसित होगी, (3) विश्व-सरकार का निर्माण करके उसका विकास किया जाए ताकि वह सफल हो सके। इन तीनों ही विचारों के समर्थकों ने विश्व-सरकार के निर्माण के प्रयासों का अपने-अपने ढंग से वर्णन किया है।

विश्व-सरकार के जन्म से सम्बन्धित विचारकों को फ्रेडरिक हार्टमैन ने दो भागों में वर्गीकृत किया है—

(क) विकासशील (Evolutionary) विश्व-सरकार के समर्थक, एवं

(ख) क्रान्तिकारी (Revolutionary) विश्व-सरकार के समर्थक।

प्रथम श्रेणी के विचारक विश्व में सघवाद की स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्रसघ जैसी सस्था को प्रोत्साहन देना चाहते हैं। इसमे उनको विश्व-सरकार के प्रारम्भिक रूप की झलक दिखाई देती है। उनका विचार है कि विश्व-सरकार का क्रमश. विकास किया जाता है अर्थात् एक सघ के रूप मे विश्व को एकदम परिवर्तित करके विश्व-राज्य का रूप देना और विश्व-सरकार की स्थापना करना चाहते हैं।

विश्व-सरकार को प्राप्त करने के जिन पृथक्-पृथक् उपायों का समर्थन किया गया है, उनमे से निम्नलिखित मुख्य हैं—

1. विश्व-विजय द्वारा—विश्व-सरकार मे दो बातो का होना अत्यावश्यक है—प्रथम, एक स्थान पर शक्ति का केन्द्रीकरण हो अर्थात् यह एक सर्वोच्च सस्था हो जिसके हाथो मे शक्ति का एकाधिकार हो, द्वितीय, विश्व के राष्ट्र सम्प्रभुता से वंचित कर दिए जाएँ। कुछ विचारकों का कहना है कि विश्व-सरकार की स्थापना के इन दोनों पहलुओं की उपलब्धि के लिए विश्व-विजय आवश्यक होगी। विश्व-सरकार के निर्माण का इच्छुक राष्ट्र या राष्ट्र-समूह सैनिक शक्ति का सहारा ले सकता है। उसकी सफलताएँ निरन्तर उसे शक्तिशाली बनाती जाएँगी और उसमे धीरे-धीरे

विश्व की शक्ति का केन्द्रीकरण होता चला जाएगा। विजित राष्ट्रों के सम्प्रभुता रूपी विषैले दांत टूट जाएंगे और अन्ततोगत्वा विश्व-सरकार की स्थापना हो जाएगी।

विश्व-विजय का यह विचार वस्तुतः घातक है। विश्व-साम्राज्य का स्वप्न देखने वालो की दुर्दशा का इतिहास यह सबक देने को काफी है कि ऐसे गलत मार्ग पर न चला जाए। विश्व-विजय के प्रयासो से तो क्रान्तियो, युद्धों और सघर्षों का जो सिलसिला चलेगा वह सारी मानव-जाति को ही ले डूबेगा। आज के आणविक युग मे तो विश्व-विजय की बात करना भी भयावह है। पुनश्च, विश्व-विजय द्वारा स्थापित विश्व-राज्य का आधार शक्ति होगी, इच्छा नही। इसके अतिरिक्त बुरे साधनो द्वारा हम कभी अच्छे लक्ष्यो को प्राप्त नही कर सकते। हिंसा–हिंसा को और युद्ध–युद्ध को जन्म देता है।

2 विश्व-संघ के निर्माण द्वारा—कुछ विचारक स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण प्रस्तुत कर उसी आधार पर विश्व-सघ के निर्माण का सुझाव देते है। उनका कहना है कि विश्व के सभी राज्यो को मिलाकर एक सघ मे एकीकृत कर दिया जाए और सभी पर स्विस सविधान जैसी व्यवस्थाएँ लागू कर दी जाएँ, तो विश्व-सरकार का समाधान हो जाएगा।

इस तर्क मे कुछ आकर्षण अवश्य है, लेकिन *व्यवहार मे यह सम्भव नही है,* क्योकि— (1) स्विस कैण्टनों द्वारा सघ मे एकबद्ध होने का एक प्रमुख कारण यह *था कि लगभग सभी को एक समान शत्रु से अपनी रक्षा करनी थी,* लेकिन विश्व के राष्ट्रो के सम्मुख ऐसी कोई समस्या नही है। हाँ, चन्द्रलोक या मगल-गृह के निवासी पृथ्वी पर आक्रमण करें तो शायद विश्व के सभी राष्ट्र मिलकर स्विट्जरलैण्ड की तरह संघ बना सकते है। (2) सघात्मक शासन के बावजूद स्विट्जरलैण्ड मे पूर्ण रूप से आन्तरिक शान्ति नही है। वहाँ तीन सौ वर्षों की अवधि मे पाँच बड़े धर्म-युद्ध हो चुके हैं। गृह-कलह के फलस्वरूप शासन मे परिवर्तन होते रहे है। (3) सघ-निर्माण के लिए जिन अनुकूल परिस्थितियो का होना आवश्यक है वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पैदा नही की जा सकती। पुनश्च, गृह-युद्धो के फलस्वरूप विश्व मे जो स्थिति विश्व-सघ के निर्माण के बाद उत्पन्न होगी वह वर्तमान से भी भयंकर होगी।

3. सांविधानिक परिपत्र द्वारा—कुछ क्षेत्रों मे यह भी कहा जाता है कि सांविधानिक परिपत्र द्वारा विश्व-सघ का निर्माण किया जाए। इस प्रसंग मे सयुक्तराज्य अमेरिका का उदाहरण दिया जाता है, पर यह सुझाव भी सार्थक नहीं है क्योकि विश्व-राज्य की स्थापना और स्थापित संयुक्तराज्य अमेरिका की स्थितियों मे कोई समरूपता नहीं है। विश्व-राज्य की स्थापना तब तक नही की जा सकती जब तक पहले विश्व-समुदाय (World Community) की रचना न कर दी जाए। इसके अतिरिक्त, विश्व के राष्ट्र सम्प्रभुता सम्पन्न हैं जो अपनी इस शक्ति का परित्याग करने को कभी तत्पर नहीं होंगे।

4. विश्व-समुदाय के निर्माण द्वारा—एक कृत्रिम विकास-प्रक्रिया द्वारा विश्व-सरकार के निर्माण के समर्थकों का मत है कि पहले विश्व-समुदाय का निर्माण

किया जाए। सभी देशों के निवासियों के बीच सांस्कृतिक, शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सम्बन्धों में पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास किया जाए, ताकि उनमे राष्ट्रीयता की दीवारें तोडकर अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार हो। उनके राष्ट्रीय अभिमान को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान में बदल दिया जाए। ऐसा होने पर विश्व-सरकार की स्थापना सुगम हो जाएगी और स्थापित होने के बाद विश्व-सरकार का सफल संचालन भी सम्भव हो सकेगा : यह विचार भी आकर्षक है, लेकिन व्यवहार में इसकी परिणति सम्भव दिखाई नही देती। संयुक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि का अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर जिस रूप मे प्रयोग हो रहा है, वह निराशाजनक है।

विश्व-सरकार को धारणा का मूल्यांकन
(Evaluation of the Concept of World Govt)–

वैचारिक दृष्टि से विश्व-सरकार का विचार नि सन्देह स्वागत योग्य है, तथापि इस विचार का साकार होना सम्भव नही दिखाई देता। यह केवल कुछ बुद्धिजीवियों का आन्दोलन है, अन्यथा दुनिया के लोग विश्व-सरकार के विचार को स्वीकार करने को तैयार नही होंगे और न ही विश्व के राज्य अपनी सम्प्रभुता का परित्याग करने को सहमत होंगे। व्यक्ति की अन्तिम निर्णायक निष्ठा का केन्द्र आज भी राष्ट्र ही है और लोग अपनी इस निष्ठा का परित्याग किसी भी कीमत पर नही करना चाहेंगे। उनकी यह निष्ठा विश्व-सरकार की स्थापना के मार्ग मे अलंघ्य बाधा है। लोग अपने परम्परागत मूल्यों का इस रूप मे पुनर्मूल्यांकन करने और अभूतपूर्व नैतिक तथा राजनीतिक क्रान्ति लाने को तत्पर नहीं होंगे जो कि राष्ट्र की धारणा को ही उखाड़कर फेंक दे। जब केवल न्याय के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ही प्रभावी नही है, इसी प्रकार जब सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा विश्व-संसद् का विकल्प नही है और न ही सयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व-सरकार का कोई विकल्प माना जा सकता है, तो विश्व-सरकार की स्थापना जैसी बात करना काल्पनिक और बौद्धिक आदर्श ही रहेगा व्यवहार मे जिसकी परिणति नही हो सकती।

समस्या मूलतः दृष्टिकोण की है। विश्व के प्रति सोचने के दृष्टिकोण मे मतैक्य का अभाव है। सर्वप्रथम तो विश्व-समाज और उसके प्रति निष्ठा ही नही है, अत. विश्व-सरकार की बात करने से पहले दृष्टिकोण मे सुधार कर विश्व-समाज के निर्माण की आवश्यकता है।

पुनश्च, अपूर्ण मानव युक्त यह दुनिया अपूर्ण ही रहेगी। युद्ध और शान्ति के तत्त्व इस दुनिया में आरम्भ से रहते आए है जो भविष्य मे भी किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहेंगे। वैचारिक स्तर पर विश्व-सरकार के आदर्श की ओर प्रगति नि सन्देह उपयोगी है, क्योकि इससे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के उदार बनने मे सहयोग मिलता है। यह आकांक्षा बुरी नही है कि हम विश्व-सरकार की ओर अग्रसर हों।

12 राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ : निःशस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, एवं विश्व जनमत, अन्तर्राष्ट्रीय विकास और संयुक्त राष्ट्रसंघ

(Limitations of National Power : Disarmament, *International Morality, World Public Opinion,* International Development and U N. O.)

"इस प्रकार प्रत्येक पशु ने बारी-बारी से उन शस्त्रों को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा जो उनके पास नहीं थे, जब तक कि अन्त में भालू नहीं उठ खड़ा हुआ और उसने मधुर युक्ति-युक्तता के स्वर में कहा, कामरेड ! हमे सब चीजों को समाप्त कर देने दो-सब चीजों को सिवाय महान् सर्वव्यापी आलिंगन के।"

—सालवेडार डी मेड्रीआगा

नि.शस्त्रीकरण की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी विश्व-शान्ति की समस्या। आज के आणविक युग मे तो यह समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या बन गई है। शस्त्रास्त्रो के इस भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड इसीलिए जारी है कि आज राष्ट्रो के सम्बन्ध पारस्परिक अविश्वास और दूसरे राष्ट्रो के इरादों के बारे मे निरन्तर भय से परिपूर्ण हैं। नि.शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उन समस्याओं मे से है जो निरन्तर विचार-विमर्श के बावजूद गम्भीरतम रूप धारण किए हुए हैं। अनवरत प्रयासो के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ तेजी से जारी है।

निःशस्त्रीकरण : अर्थ एवं प्रकार
(Disarmament : Meaning and Types)

अमेरिका की इस्टीट्यूट ऑव डिफेंस अनालिसेस (वाशिंगटन डी. सी.) ने नि शस्त्रीकरण की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—

"कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नि.शस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू—जैसे सख्या, प्रकार, शस्त्रो की प्रयोजन-प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उनकी सहायता के लिए पूरक यन्त्रो का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुप्त सूचनाएँ एकत्र करने के संयन्त्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप, आदि को नियमित करने से सम्बद्ध हो नि शस्त्रीकरण की श्रेणी मे आती है।"

सामान्य अर्थ में नि:शस्त्रीकरण वह कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य शस्त्रों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरों को कम अथवा समाप्त कर देना है। प्रो. मॉर्गेन्थो के अनुसार "नि:शस्त्रीकरण से आशय शस्त्रों की दौड़ समाप्त करने के लिए अथवा सभी शस्त्रों को कम या समाप्त कर देने से है।"

नि:शस्त्रीकरण सामान्य (General), स्थानीय (Local), मात्रात्मक (Quantitative), गुणात्मक (Qualitative) कैसा भी हो सकता है। सामान्य नि:शस्त्रीकरण में लगभग सभी राष्ट्र सम्मिलित होते हैं जैसे सन् 1932 का विश्व नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन। स्थानीय नि:शस्त्रीकरण में कुछ ही राष्ट्र भाग लेते तथा प्रभावित होते हैं। मात्रात्मक नि:शस्त्रीकरण का तात्पर्य सभी प्रकार के शस्त्रों पर नियन्त्रण से है जबकि गुणात्मक नि:शस्त्रीकरण के अनुसार किन्हीं विशेष प्रकार के शस्त्रों को कम अथवा समाप्त करने की सिफारिश की जाती है। जब हम पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की बात करते हैं तो इसका अर्थ वर्तमान में उपलब्ध सभी प्रकार के शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने से है।

नि:शस्त्रीकरण कार्यक्रम को कतिपय क्षेत्रों में 'शस्त्र-नियन्त्रण' (Arms Control) कार्यक्रम कहा जाता है। यह माना जाता है कि नि:शस्त्रीकरण के अनुसार तो राष्ट्रों के पास शस्त्र होने ही नहीं चाहिए। पर पूर्ण नि:शस्त्रीकरण कोई नहीं चाहता क्योंकि आन्तरिक व्यवस्था, अप्रत्याशित बाह्य आक्रमण से रक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वहन के लिए कुछ शस्त्र सैन्य-बल अपेक्षित है, अतः समस्या 'शस्त्र-नियन्त्रण' (Arms Control) की है, पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की नहीं। वेजले डब्ल्यू. पोस्वार (Wesley W. Posvar) ने अपने लेख 'The New Meaning of Arms Control' में लिखा है कि "नि:शस्त्रीकरण का अभिप्राय सेनाओं और शस्त्रों को घटा देना या समाप्त कर देना है जबकि शस्त्र-नियन्त्रण से वे सभी उपाय सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य युद्ध के सम्भावित और विनाशकारी परिणामों को रोकना (विशेषकर आणविक युद्ध के परिणामों को) है। इसमें सेनाओं तथा शस्त्रों को घटाने या न घटाने का विशेष महत्त्व नहीं है।"

अधिकांश अमेरिकी लेखकों और राजनीतिक विचारकों ने नि:शस्त्रीकरण के स्थान पर 'शस्त्र-नियन्त्रण' शब्द का प्रयोग किया है। सोवियत रूस तथा उसके सहयोगी नि:शस्त्रीकरण पर ही नहीं बल्कि पूर्ण नि:शस्त्रीकरण पर जोर देते हैं। निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर शस्त्र-नियन्त्रण ही अधिक सार्थक और व्यावहारिक लगता है जबकि नि:शस्त्रीकरण एक ऐसा आदर्श दिखाई देता है जो सोचने, कहने और विवाद करने के लिए भले ही ठीक हो, पर व्यवहार में दुष्प्राप्य है।

नि:शस्त्रीकरण अपने आप में समस्या का समाधान नहीं बल्कि एक माध्यम मात्र है जो तभी सार्थक हो सकता है जबकि वह उद्देश्यपूर्ण तथा योजनाबद्ध हो। शस्त्रीकरण का विरोध अथवा कमी करने के लिए अविश्वास, प्रतिस्पर्द्धा, शोषण, आदि की भावना के विपरीत अच्छे विकल्प ढूँढने होंगे और राष्ट्रीय हित की परिभाषाएँ

अधिक विचारपूर्ण ढग से करनी होगी । अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को हल करने के लिए शान्तिपूर्ण उपायों की सम्भावनाएँ सच्चे मन से खोजनी होंगी अन्यथा मात्र शस्त्रों मे कुछ कमी कर देने से निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य पूरा नही हो सकेगा । हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रो रॉबर्ट बोवी के इस अभिमत से असहमत होना कठिन है कि कोई भी निःशस्त्रीकरण-योजना तब तक सफल नही हो सकती जब तक राष्ट्रों को यह विश्वास न हो जाए कि उनके राष्ट्रीय हित और सुरक्षा निरापद है । इस आश्वासन का एक तरीका, जो सम्भवत: काफी प्रभावशाली होगा, अधिक से अधिक राज्यो को शस्त्र-नियन्त्रण योजनाओ से सम्बद्ध करना है । यद्यपि शस्त्रास्त्रो की बढती हुई विनाशकता स्वयं अपने आप में उन शस्त्रों के प्रयोग को सीमित कर देती है, तथापि प्रयोग की सम्भावना का निषेध नही किया जा सकता और आज के आणविक अस्त्रो के प्रयोग का अर्थ है 'महाविनाश' ।

निःशस्त्रीकरण : क्यों ?
(Disarmament : Why ?)

शान्ति-स्थापना के लिए

अपने सामान्य और सार रूप मे नि शस्त्रीकरण की धारणा मे विश्व-शान्ति *और सुरक्षा की सम्भावनाएँ निहित हैं । शस्त्रास्त्र एक राष्ट्र की विदेश-नीति को* सैनिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिससे युद्ध और संघर्ष की सम्भावनाएँ सदा जीवित, जाग्रत और प्रबल रहती हैं । श्री कोहन के अनुसार, "निःशस्त्रीकरण द्वारा राष्ट्रो के भय और मतभेद को कम करके शान्तिपूर्ण समझौतों की प्रक्रिया को सुविधामय तथा शक्तिशाली बनाया जा सकता है ।"

निःशस्त्रीकरण और शान्ति के सम्बन्ध मे विचार-मतैक्य नही पाया जाता । हैडले बुल का तर्क है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता और तनावपूर्ण स्थितियाँ ही युद्ध के वास्तविक कारण हैं, क्योकि इनसे ही शस्त्रास्त्रो की भीषण प्रतिस्पर्द्धा शुरू होती है जिसका अन्तिम परिणाम युद्ध और विनाश होना है । प्रो शूमैन के अनुसार संघर्ष की आशका ही शस्त्रीकरण की होड को जन्म देती है और युद्ध की सम्भावना से शस्त्रो मे वृद्धि होती है । यह मानना कि शस्त्रो के कारण युद्ध होते हैं, गाडी को घोडे के आगे खडा करना है । कुछ विद्वानो का मत है कि शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा से अनिवार्यतः युद्ध नही होते और यह भी आवश्यक नही है कि निःशस्त्रीकरण से अवश्यम्भावी रूप मे शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हो जाएगी । मूल समस्या तो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की है । क्विंसी राइट का मत एकदम विपरीत है । उनका विचार है कि निःशस्त्रीकरण को शान्ति तथा सुरक्षा की समस्याओं का समाधान नहीं मान सकते । निःशस्त्रीकरण से तो युद्ध के बार-बार होने की सम्भावना (Frequency) बढ जाती है । शस्त्रास्त्रों के अभाव मे राज्य दूसरे राज्यों के आक्रामक कार्यों और इरादों का मुकाबला नही कर पाते । प्रथम और द्वितीय महायुद्ध मुख्यतः इसीलिए हुए थे कि बडे राष्ट्रो ने निःशस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा से बचने का प्रयास किया था ।

स्पष्ट है कि नि.शस्त्रीकरण का विषय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बड़ी जटिल और विवादास्पद समस्या है। पर मतभेदो के बावजूद इस तथ्य को नही ठुकराया जा सकता कि नि.शस्त्रीकरण समय की मांग है और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्वास के नए द्वार खोले जा सकते हैं। यदि हम अपने व्यवहार मे शान्ति के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण बना लें तो नि शस्त्रीकरण के प्रयास बड़ी सीमा तक सफल हो सकते है

आर्थिक कल्याण और पुनर्निर्माण के लिए

निःशस्त्रीकरण के पक्ष मे यह आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि 'शस्त्रों की दौड़' के स्थान पर 'शान्ति के लिए दौड़' शुरू होने पर मानव समाज की समृद्धि का मार्ग अधिक प्रशस्त होगा तथा विश्व के औद्योगीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नए युग का सूत्रपात होगा। सयुक्त राष्ट्रसघ के एक अध्ययन के अनुसार सेना पर होने वाला ससार का कुल व्यय 1971 तक 18700 खरब डॉलर तक पहुँच गया था। 1961 से 1971 के बीच दस वर्षों मे ससार का रक्षा-व्यय 500 खरब डॉलर से बढ़कर 2000 खरब डॉलर (15000 खरब रुपये) वार्षिक हो गया जो विश्व की कुल राष्ट्रीय आय का साढे छ. प्रतिशत था। स्टाकहोम स्थित प्रसिद्ध शान्ति सस्थान ने अपनी नवीनतम रिपोर्ट मे बताया है कि 1980 मे ससार भर में हथियारो का भण्डार जमा करने पर 500 अरब डॉलर से भी अधिक यानि प्रतिदिन लगभग डेढ अरब डॉलर (लगभग 14 अरब रुपये) खर्च किये गये।[1] सस्थान का आत्मरक्षा के नाम पर सैनिक खर्च मे लगातार बढोतरी के बावजूद आज हर राष्ट्र अपने आपको सन् साठ वाले दशक की तुलना मे कही अधिक खतरे मे देखता है। सुरक्षा की जगह असुरक्षा की भावना ही अधिक बढ़ी है।

कुछ क्षेत्रों मे कहा जाता है कि नि.शस्त्रीकरण के फलस्वरूप मन्दी का दौर शुरू होगा जिसके भीषण परिणाम लोगो को भुगतने पड़ेंगे, साथ ही वैज्ञानिक और तकनीकी विकास मे भी बाधा पहुँचेगी। लेकिन इस प्रकार की आशकाओ मे अधिक दम नही। नि.शस्त्रीकरण के फलस्वरूप जो रचनात्मक वातावरण पनपेगा, उसमे और वैज्ञानिक तकनीकी विकास की क्षमताएँ अवरुद्ध नही होगी, उल्टे आर्थिक समृद्धि के इतने विशाल स्रोत खुल जाएँगे जिनकी आज हम कल्पना भी नही कर सकते। अवश्य ही हमे 'शस्त्रीकृत अर्थ-व्यवस्था' को 'निःशस्त्रीकरण अर्थ-व्यवस्था' मे परिवर्तित करने की समस्या का मुकाबला करना पडेगा।

समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये

नि शस्त्रीकरण से विश्व-राज्य के निर्माण की सम्भावनाएँ बढेगी, महायुद्ध का सम्भावित खतरा टल जायेगा तथा राष्ट्रो के पारस्परिक झगडे आपसी बातचीत द्वारा सुलझाने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। शीत-युद्ध का ज्वर कम हो जाएगा, आतक के बादल छट जाएँगे और राष्ट्रो के विवाद बडी सीमा तक गोलमेज सम्मेलनो मे तय होने लगेंगे।

1 दिनमान, जुलाई 1981, पृष्ठ 32.

नैतिक वातावरण के निर्माण के लिए

नि.शस्त्रीकरण नैतिक रूप से भी आवश्यक है क्योंकि "किसी राष्ट्र को यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्रों की वर्तमान और भावी पीढ़ियों के स्वास्थ्य तथा जीवन को रेडियो सक्रिय धूल तथा सामरिक तैयारी द्वारा अनेक खतरो मे डाले।" सैद्धान्तिक रूप से नैतिक आधार पर नि.शस्त्रीकरण का प्रतिपादन उचित है, लेकिन यथार्थवादी राष्ट्रीय राजनीति मे इसका विशेष प्रभाव नही होता। उदाहरण के लिए, भारत जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्र के प्रति चीन और पाकिस्तान के रुख को देखते हुए इकतरफा नि शस्त्रीकरण का कोई भी कदम उठाना देश के लिए आत्मघातक होगा।

आणविक संकट से बचने के लिए

आज के युग मे आणविक युद्ध एव विनाश से बचने का एकमात्र मार्ग निःशस्त्रीकरण अथवा शस्त्रो पर प्रभावशील नियन्त्रण ही है। खतरनाक शस्त्रो पर रोक लगाने तथा उन्हे सीमित कर देने से चाहे आक्रमण रोके न जा सकें तो भी उनको कम, मर्यादित और अपेक्षाकृत बहुत थोडा विध्वंसक बनाया जा सकेगा। नि शस्त्रीकरण के फलस्वरूप प्रथम तो कोई भी राष्ट्र तुरन्त एव व्यवस्थित रूप से युद्ध छेडने मे असमर्थ बन जाएगा और दूसरे, राष्ट्रों के मध्य द्वेषपूर्ण सम्बन्धों मे कमी हो जाने से राष्ट्रीय हितो के पारस्परिक समायोजन के अनुकूल वातावरण बन जाएगा। नाभिकीय तथा आणविक शस्त्रास्त्र ही आज राष्ट्रो के मनों को आतंकित किए हुए हैं। दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जाता है कि आज महाशक्तियो की नाभिकीय एवं आणविक शक्ति ने आतंक का जो सन्तुलन बना रखा है उसी से विश्व मे शान्ति स्थापित है, अन्यथा कभी का तृतीय महायुद्ध छिड़ गया होता। इस तर्क मे वजन है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि युद्ध की निरन्तर सम्भावनाओं और आशंकाओ से बचने का रास्ता नि शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण का है, शस्त्रीकरण का नहीं।

निष्कर्ष रूप मे, आधुनिक परिस्थितियो मे विश्व के राष्ट्रो के लिए नि शस्त्रीकरण का मार्ग अपनाना श्रेयस्कर है। युद्ध और शान्ति का चक्र न कभी मिटा है और न कभी सम्भवत मिट सकेगा, अत प्रयत्न इसी दिशा मे होना चाहिए कि युद्ध की विनाशक-शक्ति घट जाए। इस दृष्टि से नाभिकीय तथा आणविक हथियारों के भावी निर्माण पर ईमानदारी से पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए और इस प्रकार के उपलब्ध हथियारो को विनष्ट कर देना चाहिए। यह कार्य जोर-जबर्दस्ती न होकर स्वेच्छा से होना चाहिए और इसके लिए सभी राष्ट्रो को ईमानदारी से परस्पर सहयोग करना चाहिए। अमेरिका के राष्ट्रीय लक्ष्य एवं उपलब्धियो पर शोध करने वाली समिति ने 1960 मे अपनी एक रिपोर्ट मे कहा था कि—

"चूंकि महा परमाणु-युद्ध सम्पूर्ण विश्व के लिए विनाशकारी होगा, अत बड़े पैमाने पर नि शस्त्रीकरण के प्रयास किया जाना जरूरी है। यह उसी समय

सम्भव होगा जबकि महाशक्तियाँ आपसी अविश्वास व प्रतिस्पर्द्धा को भुलाकर परमाणु-शक्ति के उत्पादन परमाणु-अस्त्रों के निर्माण, नियन्त्रण एवं वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं प्रतिबन्ध के लिए सहयोग करने को तैयार हो सकें। परमाणु-अस्त्रों के परीक्षणों पर नियन्त्रण लगाना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम होगा।"

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(Disarmament Measures before the Second World War)

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक के निःशस्त्रीकरण-प्रयासों को दो शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) राष्ट्रसंघ के बाहर किए गए निःशस्त्रीकरण के प्रयास एवं
(ख) राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास

राष्ट्रसंघ के बाहर किए गए निःशस्त्रीकरण-प्रयास

विगत लगभग 150 वर्षों से निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी विभिन्न प्रयास होते रहे हैं। 1817 में ब्रिटेन तथा अमेरिका के मध्य हुए रूस-बगोट समझौते द्वारा अमेरिका-कनाडा को विसैन्यीकृत घोषित किया गया था, 1831 में फ्रांस में कई बार नेपोलियन तृतीय ने और 1870 में ब्रिटेन ने दूसरे देशों के सम्मुख सामान्य निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव रखे थे, लेकिन 1899 का हेग सम्मेलन ही ऐसा प्रथम महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था जिसमें सभी बड़ी शक्तियों सहित 28 राष्ट्रों ने भाग लिया और हथियारों में कमी करने का प्रयास किया। प्रथम हेग सम्मेलन में विषैली और दम घोटने वाली गैसों से युक्त अस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए नियम बनाए गए। दमदम बुलैट्स (शरीर में जाकर फटने वाली गोलियों) के प्रयोग को निषिद्ध करने के लिए भी नियम बनाए गए। 1907 के द्वितीय हेग सम्मेलन में भी इन्हीं प्रयासों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। दोनों ही हेग सम्मेलनों में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कोई ठोस परिणाम नहीं निकल सका तथापि युद्ध-संचालन और युद्ध में बर्बरता कम करने सम्बन्धी नियमों की आधारशिला अवश्य रखी गई।

प्रथम महायुद्ध के विनाश के बाद निःशस्त्रीकरण के लिए पुनः उपयुक्त वातावरण तैयार हुआ। राष्ट्रपति विल्सन ने शान्ति सन्धियों के लिए 14 सूत्री प्रस्ताव में यह सुझाव दिया कि शस्त्रीकरण उस सीमा तक किया जाए जितना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक हो। इस सुझाव को राष्ट्रसंघ के विधान में भी स्वीकार किया गया।

राष्ट्रसंघ के बाहर दो महायुद्धों के बीच निःशस्त्रीकरण की दिशा में जो प्रयत्न किए गए उनमें उल्लेखनीय थे—वाशिंगटन सम्मेलन (1921-22), जेनेवा नौसैनिक सम्मेलन (1927), लन्दन नौसैनिक सम्मेलन (1930), एवं द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन (1935)।

वाशिंगटन-सम्मेलन, जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के अतिरिक्त चीन, पोलेण्ड, पुर्तगाल आदि भी शामिल हुए, दो महायुद्धों के बीच हुए *नि:शस्त्रीकरण-सम्मेलनों में सबसे महत्त्वपूर्ण और सफल सम्मेलन था।* इसने युद्धपोतों के निर्माण की तात्कालिक प्रतियोगिता को नियन्त्रित किया। ब्रिटेन, अमेरिका और जापान द्वारा पूर्वी एशिया में नए नौ-सैनिक अड्डे बनाने या प्राप्त करने का निषेध किया गया और वर्तमान अड्डों में अधिक किलेबन्दीत या शस्त्रीकरण पर रोक लगाई गई। इस सम्मेलन में हुए समझौते का यह सुपरिणाम निकला कि नौ-सैनिक प्रतियोगिता लगभग दस वर्ष तक के लिए रुक गई अथवा एकदम मन्थर पड़ गई तथा विशाल जंगी जहाजों पर होने वाला भारी व्यय भी कुछ वर्षों के लिए टल गया। छोटे जहाजों के सम्बन्ध में कोई समझौता न हो पाने से लड़ाकू जहाज-निर्माण की प्रतिस्पर्द्धा चलती रही। कुछ ही अर्से में सम्मेलन के आशाजनक परिणाम निराशा में बदल गए और महाशक्तियों ने विभिन्न आधारों पर अपनी नौ-सैनिक शक्ति में अधिक कटौती करने में असमर्थता प्रकट की।

1927 में अमेरिका, ब्रिटेन और जापान का जेनेवा में सम्मेलन हुआ। इसमें तीनों राष्ट्रों के विख्यात नौ-सेनापति एवं नौ-विशेषज्ञ सम्मिलित हुए जिनसे यह आशा करना व्यर्थ था कि वे नौ-सैन्य शक्ति घटाने के सच्चे प्रयास करेंगे। काफी विचार-विमर्श और वाद-विवाद हुआ, पर अन्त में अगस्त, 1927 में सम्मेलन की *असफलता घोषित कर दी गई। यह नि:शस्त्रीकरण-प्रयासों की एक गम्भीर पराजय* थी जिसकी काली छाया राष्ट्रसंघ पर तो पड़ी ही, जिससे एंग्लो-अमेरिकी सम्बन्ध भी खराब हो गए। अमेरिका भी इस निश्चय पर पहुँचा कि उसे अपनी नौ-सेना में इतनी वृद्धि करनी चाहिए जिससे *अन्य राष्ट्र भयभीत होकर अपनी नौ-सैनिक शक्ति सीमित करने को बाध्य हो जाएँ।*

1930 में अमेरिका, जापान, फ्रांस, इटली, ब्रिटेन आदि राष्ट्रों का एक नौ-सैनिक सम्मेलन लन्दन में हुआ जिसमें एक सन्धि द्वारा नौ-सैनिक शक्ति-नियन्त्रण की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ की गईं। जापान को इन व्यवस्थाओं से विशेष आघात पहुँचा और आगे चलकर उसने स्पष्ट कह दिया कि उसे भी ब्रिटेन एवं अमेरिका की तुलना में समान नौ-सैनिक सुविधा दी जाए, अन्यथा वह स्वयं को किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से बाधित नहीं समझेगा। चूँकि ब्रिटेन और अमेरिका ने जापानी माँग को स्वीकार नहीं किया, अतः *1937* में जापान ने इस मामले में पूर्ण स्वतन्त्रता ग्रहण कर ली। उधर हिटलर के उत्कर्ष एवं अन्यान्य कारणों से अन्य महाशक्तियों को भी अपनी नौ-सैनिक शक्ति का विस्तार करने को बाध्य होना पड़ा और इस प्रकार *लन्दन-सन्धि की व्यवस्थाएँ अन्त में केवल कागज पर ही रह गईं।*

नौ-सेना के नि:शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अन्तिम प्रयास के रूप में दिसम्बर, 1935 में द्वितीय लन्दन सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें सभी महाशक्तियों ने भाग लिया। सम्मेलन में जापान ने ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर जल सेना रखने की माँग की। चूँकि इस प्रस्ताव को मानने के लिए ब्रिटेन एवं अमेरिका सहमत नहीं

हुए, अतः 15 जनवरी, 1936 को जापान सम्मेलन से पृथक् हो गया। एबीसीनिया-संकट के कारण इटली ने भी सम्मेलन का परित्याग कर दिया। जापान और इटली के सहयोग से वंचित होने पर भी सन्धि-वार्ता चलती रही और अन्त में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने भी नौ-सैनिक शस्त्रों पर अंकुश लगाने व सामुद्रिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से 'नौ-सैनिक शस्त्रों के परिसीमन की सन्धि' पर 25 मार्च, 1936 को हस्ताक्षर किए। इटली और जापान द्वारा सन्धि का बहिष्कार हो जाने के कारण इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रह गया।

राष्ट्रसंघ द्वारा किए गए निःशस्त्रीकरण-प्रयास

राष्ट्रसंघ ने भी निःशस्त्रीकरण की दिशा में काफी प्रयास किए थे, पर अन्ततोगत्वा असफलता ही हाथ लगी। प्रसंविदा के आठवें अनुच्छेद के दूसरे प्रकरण में उल्लेख था कि "प्रत्येक राज्य की भौगोलिक व्यवस्था एवं परिस्थितियों का लेखा रख कर परिषद् विभिन्न सरकारों द्वारा विचार और कार्यवाही के लिए शस्त्रास्त्रों में कमी की योजना बनाए।"

इस व्यवस्था के अनुपालन में 1920 में अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) ने स्थायी आयोग (Permanent Advisory Commission) के सहयोग से, अक्तूबर, 1924 में अस्तित्वहीन होने से पूर्व, निःशस्त्रीकरण समस्या को सुलझाने के लिए प्रयत्न किए। अन्तिम प्रयत्न में पारस्परिक सहायता-सन्धि का एक प्रारूप तैयार किया गया जिसमें निःशस्त्रीकरण से सामूहिक सुरक्षा को मूल आधार माना गया। समस्या के हल के लिए अपेक्षित सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जिनमें कहा गया कि कोई भी निःशस्त्रीकरण की योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक वह व्यापक रूप से सब पर लागू न हो और अनेक राज्य अपने शस्त्रास्त्रों में तब तक कमी करने की स्थिति में नहीं आ सकते जब तक कि उन्हें सुरक्षा के लिए पर्याप्त आश्वासन न मिल जाए। यह संकेत दिया गया कि ऐसे आश्वासनों की व्यवस्था पारस्परिक प्रतिरक्षात्मक सन्धियों द्वारा की जा सकती है जिसमें एक राज्य दूसरे राज्य को सुरक्षा आश्वासन देते हुए विश्वास दिलाए कि आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक राज्य आक्रान्त देश की रक्षा के लिए युद्ध करेगा।

पारस्परिक सहायता-सन्धि के प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) को सफलता प्राप्त नहीं हुई और तब मध्यस्थता (Arbitration) के माध्यम से सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण का नया मार्ग ढूँढा गया। कोई सफलता हाथ न लगने पर अक्तूबर, 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग ने काम करना बन्द कर दिया और 1925 में एक 'प्रारम्भिक आयोग' (Preparatory Commission) का गठन किया गया जिसने दिसम्बर, 1930 में निःशस्त्रीकरण की योजना का एक अस्थायी प्रारूप-प्रस्ताव (Dummy Draft Convention) पास कराने की सफलता अर्जित की। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ थीं—बजट द्वारा स्थल युद्ध-सामग्री पर नियन्त्रण किया जाए, अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि घटाई

जाए, सैनिकों की संख्या बिना किसी भेदभाव के नियन्त्रित की जाए, रासायनिक एवं कीटाणु-युद्धों को रोका जाए, आदि। इस प्रस्ताव में प्रशिक्षित एवं सुरक्षित सेनाओं, स्थल तथा जल-सेनाओं के शस्त्रास्त्रों अथवा वायु सेना की सामग्री के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध या नियन्त्रण नहीं सुझाया गया था। प्रारम्भिक आयोग के प्रस्ताव का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था। फरवरी, 1932 में होने वाले नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन ने उसका उपयोग भी नहीं किया, तथापि आयोग के श्रम का यह परिणाम अवश्य निकला कि नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धी वे मूलभूत मतभेद प्रकाश में आ गए जिनका समर्थन सम्मेलन को करना पड़ता था।

प्रारम्भिक आयोग के प्रस्तावों को मुख्य आधार मानकर जेनेवा में फरवरी, 1932 में नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें अनेक नए सुझाव प्रस्तुत किए गए। लीग के अधीन एक पुलिस-शक्ति के गठन की सिफारिश की गई जिसका बमवर्षकों पर एकाधिकार हो। आक्रामक को कठोरता से दण्ड देने एवं पंच-निर्णय को आवश्यक बनाने की बात कही गई। किसी अनसुलझे विवाद पर अन्तिम रूप से कानूनी निर्णय देने के लिए जोर दिया गया। अस्त्र-शस्त्र एवं मानव-शक्ति के जितने भी रूपों पर विवाद हुआ उनमें सबसे अधिक सहमति रासायनिक एवं जीवाणु हथियारों की आक्रमणकारी प्रकृति पर हो सकी। यह सम्मेलन अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सका। इसका एक कारण तो यह था कि पश्चिमी देशों को सोवियत रूस की भावी विदेशी नीति के बारे में डर था। दूसरा, फ्रांस व जर्मनी किसी भी बात पर एक मत नहीं हो सके थे।

अन्तिम परिणाम के रूप में नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन सर्वथा असफल रहा। अक्तूबर, 1933 में जर्मनी ने सम्मेलन से बहिर्गमन की घोषणा कर दी और एक सप्ताह बाद ही उसने राष्ट्रसंघ को भी छोड़ दिया। मार्च, 1935 में जर्मनी ने वर्साय-सन्धि के नि.शस्त्रीकरण से सम्बन्धित उपबन्धों को खुले रूप से अप्रभावकारी घोषित कर दिया। इस सम्पूर्ण स्थिति को चित्रित करते हुए शूमाँ ने लिखा है कि "राष्ट्रसंघ द्वारा संसार में नि.शस्त्रीकरण के प्रयासों का आरम्भ जर्मनी के एकपक्षीय नि.शस्त्रीकरण से हुआ था और जर्मनी के एकपक्षीय पुनः संशोधन से इन प्रयासों का अन्त हो गया। यूरोप की सामूहिक बुद्धि सुरक्षा-प्राप्ति में असफल हो जाने के उपरान्त, आत्मघात की तैयारियों में लग गई।"

द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में नि.शस्त्रीकरण के प्रयास
(The Second Post-war Period Disarmament Talks)

द्वितीय महायुद्ध के बाद के नि.शस्त्रीकरण-प्रयासों को हम मोटे रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं जब केवल अमेरिका ही अणु-बम का स्वामी था, द्वितीय भाग का आरम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणु-बम का निर्माण कर लिया। नि.शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही खेमों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस दिशा में किए जाने वाले प्रयासों

का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ भी है तथा निजी वार्ताएँ भी। द्वितीय महायुद्ध के बाद नि:शस्त्रीकरण की दिशा में जो भी प्रयास किए गए हैं उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में व्यक्त करना उपयुक्त होगा—

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में नि:शस्त्रीकरण की व्यवस्था

संघ के चार्टर में नि:शस्त्रीकरण को महासभा और सुरक्षा-परिषद् दोनों ही की कार्य सूची में सम्मिलित किया गया है। अनुच्छेद 11, 26 एवं 47 में तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएँ हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रारम्भ से ही नि:शस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू कर दिया। जनवरी, 1946 में संघ द्वारा अणु-शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य एक ऐसी योजना का निर्माण करना था जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु-शक्ति के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखने तथा अणु-शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए करने को सहमत हो सकें और आणविक अस्त्रों के प्रयोग व उत्पादन पर पूरा नियन्त्रण लगाया जा सके। अणु-शक्ति आयोग को वांछित सफलता नहीं मिली। अत: दिसम्बर, 1946 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसका आशय था कि अणु-शक्ति आयोग अपने कार्य में तीव्रता लाए और सुरक्षा-परिषद् शीघ्रतापूर्वक शस्त्रों के घटाने तथा उनका नियमन करने की व्यावहारिक योजनाएँ बनाए। शीघ्र ही परिषद् द्वारा 'परम्परागत शस्त्र आयोग' (The Commission for Conventional Armaments) गठित किया गया जिसका कार्य केवल परम्परागत शस्त्रों को सीमित एवं नियमित करने के प्रस्ताव रखना ही था, अणु-शस्त्रों और विनाश के व्यापक साधनों से इसका सम्बन्ध नहीं था।

दोनों आयोगों की स्थापना भी हो गई, महाशक्तियों द्वारा विभिन्न प्रस्ताव भी रखे गए, लेकिन सभी प्रयासों का नतीजा कुल मिलाकर शून्य रहा। शान्ति की दिशा में बढ़ने के विपरीत उलटे इन प्रयासों ने शीतयुद्ध को प्रोत्साहन दिया। अमेरिका ने एक अन्तर्राष्ट्रीय आणविक विकास-संस्था के निर्माण का सुझाव रखा जो परमाणु-शक्ति के उत्पादन से सम्बन्धित कच्चे माल पर भी नियन्त्रण लगाए। सोवियत रूस ने सुझाव दिया कि वर्तमान परमाणु अस्त्रों को नष्ट कर दिया जाए और तत्पश्चात् सुझावों को कार्यान्वित किया जाए। महाशक्तियों के पारस्परिक विरोधी रुख के फलस्वरूप नि:शस्त्रीकरण की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी।

1947 से 1954 तक कई छुट-पुट प्रयास हुए। सन् 1954 के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय अणु-शक्ति एजेंसी (International Atomic Energy Agency) अस्तित्व में आई जिसने एक पचराष्ट्रीय उप-समिति की स्थापना की। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा और रूस इसके सदस्य बने। अनेकों बैठकों के बावजूद कोई नतीजा नहीं निकल पाया। स्थिति यही रही कि एक पक्ष की ओर से नि:शस्त्रीकरण के प्रस्ताव आते और दूसरे पक्ष की ओर से ठुकरा दिए जाते।

जेनेवा-सम्मेलन, 1955 से 1960 तक

जुलाई, 1955 मे जेनेवा मे रूस, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस का सम्मेलन हुआ जिसमे अमेरिकी राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने 'उन्मुक्त आकाश योजना' (Open Skies Plan) प्रस्तावित की। इसका आशय था कि अमेरिका और रूस दोनो ही अपने सैनिक बजट, उत्पादन, वर्तमान शक्ति एव उसके विकास की सम्भावनाओं के बारे मे एक-दूसरे को सूचना दे तथा परस्पर जाँच एव निरीक्षण के लिए सहमत हों। एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार दिया जाए। सोवियत प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने अमेरिकी योजना को अस्वीकार करते हुए अपना यह प्रस्ताव रखा कि नि शस्त्रीकरण को क्रियान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण-अभिकरण की स्थापना की जाए और उसे जाँच मे निरीक्षण का कार्य सौंपा जाए, सभी देशो से विदेशी सैनिक अड्डों को समाप्त कर दिया जाए, आणविक-शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए और परम्परागतत शस्त्रों मे निश्चित कटौती की जाए।

जेनेवा-सम्मेलन असफल रहा। जून, 1956 मे सयुक्त राष्ट्रसघीय निःशस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक मे रूस ने त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया—(1) दो वर्ष के लिए आणविक परीक्षण बन्द कर दिए जाएँ, (2) इस प्रतिबन्ध को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग बैठाया जाए, एव (3) आयोग सहित रूस, अमेरिका और ब्रिटेन प्रशान्त महासागर मे नियन्त्रण चौकियाँ स्थापित करें। रूसी प्रस्ताव पश्चिमी राष्ट्रो को मान्य नही हुए। लन्दन-सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी गई।

नवम्बर, 1957 मे नि.शस्त्रीकरण आयोग का विस्तार किया गया। अगस्त, 1957 मे रूस ने अन्तर्महाद्वीपीय (ICBM) के सफल परीक्षण की घोषणा करके और अक्तूबर, 1957 मे एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़कर पश्चिमी जगत् को स्तब्ध कर दिया।

दोनो पक्षो की ओर से नि.शस्त्रीकरण-प्रस्तावो को प्रस्तुत और अस्वीकृत करने का क्रम जारी रहा। फरवरी, 1958 मे रूसी प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने एक योजना प्रस्तावित की जिसके मुख्य पहलू ये थे—(1) अणु-बमो के परीक्षणों को बन्द किया जाए, (2) अमेरिका, रूस व ब्रिटेन आणविक शस्त्रो का परित्याग कर दें, (3) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों मे विदेशी सेनाओं को घटाया जाए, (4) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशो मे अनाक्रमण समझौता हो, एव (5) आकस्मिक आक्रमणों को रोका जाए। यह योजना निष्फल गई। मार्च, 1958 के लगभग पोलैण्ड के विदेश मन्त्री ने 'रापाकी योजना' (Rapaki Plan) प्रस्तुत की जिसमें यूरोपीय सुरक्षा और शान्ति हेतु पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को अणु-विहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया। यह प्रस्ताव भी निष्फल रहा। मार्च, 1958 मे सुप्रीम सोवियत के एक प्रस्ताव में कहा गया कि सोवियत संघ इस आशा से सभी प्रकार के आणविक परीक्षण बन्द कर रहा है कि

अन्य देश भी इसका अनुसरण करेंगे, किन्तु यदि दूसरे देशों द्वारा आणविक परीक्षण बन्द नहीं किए गए तो वह अपने परीक्षण पुनः प्रारम्भ कर देगा। अमेरिका द्वारा कहा गया कि यदि उसे रूसी परीक्षणों के बन्द करने का निश्चय हो गया तो वह भी अपने परीक्षण बन्द करने पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा। अक्तूबर, 1958 में जेनेवा-सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव पेश हुए, पर कोई उपयोगी समझौता नहीं किया जा सका।

1959 में रूसी प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में पूर्ण निःशस्त्रीकरण का एक प्रस्ताव रखा कि चार वर्ष की अवधि में सभी राज्य पूर्ण निःशस्त्रीकरण करलें ताकि किसी राज्य के पास युद्ध करने का कोई साधन न रह जाए। साथ ही उन्होंने एक आंशिक निःशस्त्रीकरण की योजना भी प्रस्तावित की जिसमें कहा गया कि नाटो-सदस्यों तथा पश्चिमी राज्यों के साथ वारसा पैक्ट के सदस्यों की अनाक्रमण सन्धि सम्पन्न हो, एक राज्य दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के बारे में समझौता करे, मध्य यूरोप में अणु-आयुध-विहीन क्षेत्र कायम किया जाए आदि। रूसी प्रस्ताव का सब देशों ने स्वागत किया, लेकिन पश्चिमी शक्तियों द्वारा इसे मजाक का विषय बना दिया गया और इस प्रकार गतिरोध बना रहा। सन् 1960 में भी जेनेवा-सम्मेलन हुआ, पर असफल रहा।

जुलाई, 1960 से 1977 तक

जून, 1960 में दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन भंग हो जाने के कुछ ही माह बाद सोवियत रूस ने 50 मेगाटन शक्ति के अणु-बम का परीक्षण किया। नवम्बर, 1961 में महासभा ने यह भारतीय प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि आणविक परीक्षणों पर जब तक कोई समझौता न हो जाए तब तक इनको बन्द ही रखा जाए। मार्च, 1962 में विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन को निःशस्त्रीकरण-प्रश्नों में कोई सफलता नहीं मिली। इसी समय जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन हुआ जिसमें भारत की ओर से प्रस्ताव रखा गया कि आणविक परीक्षणों का पता लगाने के लिए तटस्थ राष्ट्रों के स्टेशन कायम किए जाएँ। रूस ने प्रस्ताव रखा कि दोनों ही पक्ष यह समझौता कर लें कि दूसरे देशों की भूमि पर तीन महान् आणविक शक्तियाँ आणविक-अड्डे कायम नहीं करेंगी। सम्मेलन में प्रस्तुत सभी प्रस्तावों का महत्व केवल कागजी रहा।

कैनेडी और ख्रुश्चेव के प्रयत्नों से निःशस्त्रीकरण-वार्ता में कुछ प्रगति हुई और मास्को में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका ने 15 जुलाई, 1963 को 'सीमित परमाणु-प्रतिबन्ध-सन्धि' पर हस्ताक्षर किए। 10 अक्टूबर, 1963 से सन्धि लागू हुई। उस समय तक लगभग 100 राष्ट्र इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुके थे। सन्धि के अन्तर्गत तीनों देशों ने स्वीकार किया कि वे अपने क्षेत्र के अन्दर बाह्य अन्तरिक्ष, प्रादेशिक तथा महासमुद्र या वायुमण्डल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे। सन्धि असीमित अवधि के लिए की गई तथापि हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों को अधिकार दिया गया कि वे उस समय स्वयं को इस सन्धि की बाध्यताओं से

मुक्त रख सकते हैं जब वे समझें कि सन्धि से सम्बन्धित कोई ऐसी असामान्य घटना घटी है जिससे सम्बन्धित देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है। सन्धि में अन्य सदस्यों को सम्मिलित किए जाने की व्यवस्था की गई बशर्ते कि वे इसकी मौलिक धाराओं से सहमत हों। इस सन्धि में भूमिगत परीक्षणों पर प्रतिबन्ध की बात नहीं की गई क्योंकि भूमिगत परीक्षणों की जाँच के लिए घटना-स्थल पर जाना अनिवार्य होता है जिससे राज्य की प्रादेशिक सार्वभौमिकता का उल्लंघन होता है।

परमाणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि ने खुले तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बात-चीत का स्वस्थ वातावरण तैयार किया पर मार्च, 1964 में जेनेवा-निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का कोई अच्छा फल नहीं निकला। कुछ ही दिनों बाद चीन ने अपने प्रथम अणु-बम का परीक्षण कर सन् 1963 के जेनेवा-समझौते की उपेक्षा की। जुलाई, 1965 में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक पुनः बुलाई गई, लेकिन आयुधों को नियन्त्रित करने के तरीकों पर इतने मौलिक मतभेद थे कि कोई फल नहीं निकला।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक आंशिक सफलता तब मिली जबकि रूस व अमेरिका के बीच 1968 की परमाणु-अस्त्र प्रसार-निरोध सन्धि (The Non-Proliferation Treaty, 1968) मौलिक रूप से हुई, अन्य राज्य—खास तौर पर यूरोप के राज्य—इससे आश्वस्त नहीं थे। सारांशतः उसकी मूल बातें ये थीं—(1) परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र, परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों को परमाणु-अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे, (2) हस्ताक्षरकर्त्ता परमाणु-अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे, (3) हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु-शक्ति का विकास करने की पूरी छूट रहेगी।

अनेक राष्ट्रों की आपत्तियों के बावजूद जून, 1968 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा ने सन्धि पर अपनी स्वीकृति दे दी। इस सन्धि का बहुत से राष्ट्रों ने स्वागत नहीं किया। सन्धि की सबसे बड़ी कमी यह है कि एक ओर तो यह प्रतिबन्ध है कि जो राष्ट्र परमाणु-बम नहीं बना पाए हैं वे भविष्य में भी इस ओर कदम नहीं उठाएँगे और दूसरी ओर उन्हें परमाणु आक्रमण से बचने के लिए आश्वासन दिया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अणु-आयुधों से उनकी सहायता की जाएगी जिसका निर्णय सुरक्षा-परिषद् करेगी। स्पष्ट है कि सुरक्षा-परिषद् के किसी भी स्थायी सदस्य को किसी प्रस्ताव के वीटो करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ ने 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या नहीं की है। अतः यह भ्रम बने रहने की सम्भावना है कि परिषद् किस हालत में किसको आक्रमणकारी समझेगी। भारत ने सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए। कारण स्पष्ट है कि उसे परमाणु-अस्त्र-सम्पन्न चीन से जबरदस्त खतरा है और सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

1968 में परमाणु-अस्त्र विरोधी सन्धि के उपरान्त 1972 के प्रारम्भिक चरण तक निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं की जा सकी।

मई, 1972 में अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने मास्को की यात्रा की और 'रूस-अमेरिका परमाणु परिसीमन सन्धि, 1972' सम्पन्न हुई। इस पचवर्षीय सन्धि मे, जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल प्रमाणित होने पर किसी भी पक्ष द्वारा 6 महीने के नोटिस पर रद्द की जा सकती है, स्वीकार किया गया कि—(1) नए अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण नहीं किया जाएगा, (2) कोई भी पक्ष हल्के या पुरानी किस्म के भू-प्रक्षेपास्त्र-स्थलों को सुधार कर भारी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के लिए योजना नही बनाएगा, (3) दोनों पक्ष पनडुब्बियों के प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों और प्रक्षेपास्त्रयुक्त आधुनिक पनडुब्बियों का निर्माण नहीं करेंगे, हालांकि निर्माणाधीन पनडुब्बियों का काम पूरा करने की छूट रहेगी, (4) सन्धि की व्यवस्थाओं को ध्यान मे रखते हुए आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने अथवा स्थानापन्न अस्त्र बनाने का अधिकार दोनों देशों को रहेगा, एवं (5) सन्धि के अनुपालन की जांच के लिए हर एक राष्ट्र केवल वे ही विधियाँ अपनाएगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप है।

वास्तव मे इस सन्धि से भी निःशस्त्रीकरण की दिशा मे कोई ठोस प्रगति नहीं हुई। श्रीमती गांधी की टिप्पणी थी कि अस्त्र-परिसीमन अपने आप मे सही चीज है, लेकिन दुनिया के बाकी हिस्सो में शान्ति-स्थापना की दिशा मे इससे कोई सहयोग नहीं मिलता। रूस और अमेरिका दोनों को यह आश्वासन देना चाहिए कि परमाणु-अस्त्रों का उपयोग परमाणु अस्त्र-विहीन देशों के खिलाफ नहीं किया जायगा। इसके अलावा सन्धि इतनी आंशिक है कि परमाणु-अस्त्रों पर खर्च होने वाली राशि में कमी आने की कोई संभावना नहीं है।

मास्को मे परमाणु परिसीमन सन्धि के सम्पन्न होने के बाद सन् 1973 के मध्य तक निःशस्त्रीकरण और अणु-शक्ति के परिसीमन के सम्बन्ध मे कोई प्रगति नहीं की जा सकी, उल्टे निःशस्त्रीकरण-प्रयासों को ठेस जरूर पहुँची। 27 जून, 1973 को चीन ने एक और परमाणु-विस्फोट किया जो 2 मेगाटन टी. एन. टी. शक्ति का था।

सोवियत संघ और अमेरिका के बीच 27 जून से 3 जुलाई, 1974 तक तीसरी शिखर-वार्ता हुई। 3 जुलाई, 1974 को एक दस वर्षीय आणविक आयुध-परिसीमन समझौता हुआ उसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा अपने प्रक्षेपास्त्रों पर नई सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह तय किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध-व्यवस्था की परिधि मे नहीं आएँगे। नए समझौते के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपनी-अपनी प्रक्षेपास्त्र-व्यवस्था को 3 अक्टूबर, 1977 से 2 अक्टूबर, 1978 के बीच एक बार और उसके उपरान्त पांच वर्ष मे एक बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकेंगे। यह कार्य परस्पर सूचना के आदान-प्रदान के अन्तर्गत ही किया जा सकेगा। 7 जून, 1976 को एक नई धारा जोड़कर इस सन्धि

को अधिक लाभकारी बना दिया गया और स्थल का निरीक्षण करने पर दोनों देश सहमत हो गए।

1977 में महाशक्तियों में हथियारों की होड़ एक बार फिर शुरू हो गई। अमेरिका ने बी-1 बमवर्षक न बनाने का निर्णय तो लिया साथ ही यह निर्णय भी किया कि वह 'क्रूज' प्रक्षेपास्त्र का निर्माण करेगा। इससे पहले उसने न्यूट्रान बम का परीक्षण भी किया था। सोवियत संघ ने इन नए हथियारों की आलोचना करते हुए कहा कि ऐसे नए हथियारों के निर्माण से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जटिलताएँ ही पैदा होंगी तथा सोवियत संघ और अमेरिका के बीच सामरिक हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी वार्ता में गतिरोध उत्पन्न होगा।

सोवियत अक्टूबर क्रान्ति की 60वीं वर्षगांठ के अवसर पर 2 नवम्बर को ब्रेझनेव ने यह प्रस्ताव किया कि सभी देश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अन्तर्गत परमाणु अस्त्रों का निर्माण एक साथ रोक दें। उन्होंने यह आग्रह भी किया कि एक निश्चित अवधि के लिए न केवल सभी प्रकार के परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाय बल्कि साथ ही शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए जाने वाले परमाणु विस्फोटों को भी स्थगित किया जाए। ब्रेझनेव ने यह सुझाव दिया कि जिन देशों के पास परमाणु अस्त्रों के भण्डार है वे उसमें धीरे-धीरे कटौती करें और अन्त में उसे बिल्कुल समाप्त कर दें। सोवियत राष्ट्रपति के इस प्रस्ताव से कुछ दिन पहले ही जापान ने यह आग्रह किया था कि परमाणु अस्त्र-निरोध सन्धि को सार्थक बनाने के लिए सभी प्रकार के परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए क्योंकि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए और सैनिक उद्देश्यों से किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों में भेद करना तकनीकी दृष्टि से सम्भव नहीं है। जिन देशों के पास आज परमाणु अस्त्र नहीं हैं वे भी शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए विस्फोट करके अन्ततः परमाणु अस्त्र बनाने की क्षमता अर्जित कर सकते हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने ब्रेझनेव के प्रस्ताव का यह कह कर स्वागत किया कि हमें आशा है कि बिना बहुत विलम्ब किए हुए हम परमाणु परीक्षणों पर व्यापक प्रतिबन्ध लगाने में सफल होंगे जिससे पृथ्वी पर से इस (परमाणु शक्ति) का खतरा निर्मूल किया जा सकेगा। वास्तव में केवल भाषण होते रहे-ठोस रूप में कुछ भी नहीं किया गया।

1978 में संयुक्त राष्ट्र संघ का नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन

मार्च, 1978 में जेनेवा नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ जो किसी ठोस परिणाम पर नहीं पहुँच सका। मई-जून, 1978 में संयुक्त राष्ट्र सभा के नि.शस्त्रीकरण अधिवेशन में महासचिव डॉ. कुर्ट वाल्डहीम ने प्रस्ताव रखा कि अस्त्रों पर खर्च होने वाले प्रत्येक अरब डॉलर में से यदि 10 लाख डॉलर भी अन्तर्राष्ट्रीय नि.शस्त्रीकरण पर खर्च किए जाएँ तो आम व्यक्ति का जीवन कहीं अधिक खुशहाल हो सकता है। इस समय परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर 400 अरब डॉलर से अधिक खर्च होता है।

सम्मेलन में सोवियत विदेश मन्त्री आंद्रे ग्रोमिको ने इस बात पर जोर दिया कि जब तक अस्त्रों की दौड़ पर रोक नहीं लगती तब तक इस तरह का सम्मेलन

बेमानी है। सोवियत विदेशमन्त्री ने अपने भाषण मे सुझाव प्रस्तुत किए—सभी तरह के परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को समाप्त करना; सभी किस्म के विनाशकारी अस्त्रो पर प्रतिबन्ध और उनके उत्पादन को समाप्त करने की दिशा मे कदम उठाना, अधिक विनाशकारी परम्परागत हथियारो को त्यागने का आश्वासन। उन्होने परमाणु अस्त्रो के प्रसार पर रोक लगाने की दिशा मे भी निश्चित कदम उठाने का आह्वान किया।

चीन ने भी इस सम्मेलन की बहस मे खुल कर भाग लिया। उसने पाँच नुक्ता कार्यक्रम प्रस्तुत किया—गैर परमाणु या परमाणुयुक्त देशो मे विरुद्ध परमाणु अस्त्रो का इस्तेमाल न करने का आश्वासन; विदेशो से सभी सशस्त्र सेनाओ की वापसी, अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा परमाणु तथा परम्परागत अस्त्रो के निर्माण की होड़ समाप्त करना, किसी पडोसी देश की सीमा पर न तो सैनिक तैनात करना और न ही सैन्य अभ्यास को बढावा देना तथा किसी बहाने अन्य देशो पर आक्रमण करने से परहेज करना।

सयुक्तराष्ट्र मे गुटनिरपेक्ष देशो ने एक सात सदस्यीय सम्पर्क गुट की स्थापना की, ताकि परमाणु अस्त्रो का निर्माण करने वाले देशो से निःशस्त्रीकरण करने की दिशा के कार्यक्रमो को लागू करने की हालत मे अधिकतम रियायते प्राप्त की जा सके। ये देश हैं भारत, श्रीलंका, नाइजीरिया, मिस्र, युगोस्लाविया, ब्राजील और अर्जेन्टाइना।

भारत के प्रधानमंत्री श्री देसाई ने 9 जून के अपने भाषण मे घोषणा की—"हमने अपने आप यह संकल्प किया है कि हम परमाणु हथियारो का निर्माण नही करेंगे और न ही इन्हें कही से प्राप्त करेंगे।" श्री देसाई ने सयुक्त राष्ट्र सभा मे निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे एक चार सूत्री योजना भी प्रस्तुत की—

(क) एक घोषणा की जाए जिसमे अस्त्र-प्रौद्योगिकी मे अनुसन्धानसहित परमाणु प्रौद्योगिकी के सैनिक कार्यो मे प्रयोग को गैर-कानूनी घोषित किया जाना चाहिए।

(ख) परमाणु अस्त्रो की गुणात्मक और परिमाणात्मक सीमा बाँध दी जाए और वर्तमान भण्डारो पर तुरन्त अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण रोक लगा दी जाए।

(ग) सभी परमाणु अस्त्रो को पूरी तरह समाप्त करने के उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए हथियारो के भण्डारो को धीरे-धीरे कम करने के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किया जाए जिसकी अवधि एक दशक से अधिक नही होनी चाहिए।

(घ) एक व्यापक परीक्षण निषेध सन्धि की जाए जिसके अन्तर्गत इस सन्धि का उल्लंघन करने के लिए सुरक्षात्मक उपायो की व्यवस्था होनी चाहिए जो मेरे विचार से केवल स्वतन्त्र निरीक्षण के द्वारा ही हो सकती है।

श्री देसाई ने कहा "यह प्रतिबन्ध वायुमण्डल मे, भूमिगत, समुद्र मे, और अन्तरिक्ष मे किए जाने वाले परीक्षणो पर लागू होना चाहिए। सुरक्षात्मक उपायो

की व्यवस्था विश्वव्यापी और भेदभावहीनता पर आधारित होनी चाहिए। हमे यह सुनिश्चित करना होगा कि निरीक्षण और सुरक्षात्मक उपायो की व्यवस्था वास्तविक रूप मे निष्पक्ष हो। यह राजनीति को लाए बिना लागू की जाए।"

कार्टर व ब्रेझनेव द्वारा साल्ट–2 पर हस्ताक्षर, जून 1979

1969 मे अमेरिका और सोवियत सघ के बीच आरम्भ हुई सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता पिछले 10 वर्षों मे किसी ठोस नतीजे पर नही पहुँची। 3 अक्तूबर, 1972 को समझौता–1 के प्रभावी होने के एक महीने बाद नवम्बर, 1972 मे आरम्भ हुए समझौता–2 वार्ता का प्रोत्साहक परिणाम भी तभी निकल सका जब 18 जून, 1979 को वियना मे कार्टर एवं ब्रेझनेव ने साल्ट–2 (सामरिक आयुध परिसीमन की दूसरी सन्धि) पर हस्ताक्षर कर दिए। साल्ट–2 अथवा समझौता–2 को भी अस्त्र परिसीमन की दिशा मे कोई ठोस कदम नही कहा जा सकता, तथापि यह आवश्यक है कि दोनो नेताओ ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे सुधार की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। समझौता–2 मे समझौता–1 की खामियो को सुधारने का प्रयास किया गया। यह तय किया कि इस सन्धि के बाद अब दोनो देशो का सामरिक शस्त्र रखने का अधिकार सीमित हो जाएगा। दोनो देशो को केवल 2400 सामरिक प्रक्षेपास्त्र तथा भारी बमवर्षक विमान रखने का अधिकार होगा। सन् 1981 के बाद यह सख्या घटकर 2250 हो जाएगी। सामरिक शस्त्र रखने का अधिकार सीमित हो जाने के कारण सोवियत सघ को अपने सामरिक प्रक्षेपास्त्रो की सख्या मे लगभग 250 की कटौती करनी पड़ेगी, जबकि अमेरिका अगर चाहे तो अभी 400 और प्रक्षेपास्त्र रख सकता है। दोनो देशो को एक नया सामरिक प्रक्षेपास्त्र बनाने का अधिकार भी होगा।

कार्टर तथा ब्रेझनेव दोनो ने ही इस बात पर जोर दिया कि यह सन्धि काफी नही है। साल्ट–2 समझौते के कोई ठोस परिणाम दृष्टिगत नही हुए और समझौते के अनुपालन के सम्बन्ध मे महाशक्तियाँ एक-दूसरे के प्रति सन्देहग्रस्त हैं। *जून, 1980 मे साल्ट-वार्ता मे धीमी गति के लिए रूस ने पश्चिम को दोषी* ठहराया और कुछ इसी प्रकार के प्रत्यारोप पश्चिमी देशो द्वारा रूस पर भी लगाये जाते रहे है।

वर्ष 1980 तथा 1981 की घटनाएँ

वर्ष 1980, 1981 और 1982 का प्रथम चरण नि.शस्त्रीकरण के प्रयासो की दृष्टि से निराशाजनक रहे और वास्तव में साल्ट–2 समझौते की एक प्रकार से धज्जियाँ ही उड गई। वर्ष 1980 मे नि शस्त्रीकरण-समझौतो के प्रति सन्देह और आरोप-प्रत्यारोप का वातावरण बना रहा। 20 जनवरी, 1981 को अमेरिका के चालीसवें राष्ट्रपति के रूप मे रोनाल्ड रीगन ने पद की शपथ ग्रहण की और कुछ समय बाद ही शस्त्रीकरण का एक नया दौर चल पडा। राष्ट्रपति रीगन ने सर्वप्रथम नाटो को शक्तिशाली बनाने और सोवियत सघ के एस एस 20, एस एस. 4 तथा एस एस. 5 प्रक्षेपास्त्रो का मुकाबला करने के लिए न्यूट्रान बम के निर्माण का

फैसला किया। इस विनाशकारी निर्णय से सारे विश्व का स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक था। सोवियत सघ पर रीगन के इस निर्णय की बहुत तीखी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था।

फरवरी, 1981 मे सोवियत सघ कम्युनिस्ट पार्टी की 26वी कॉग्रेस के समक्ष राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने अन्तर्राष्ट्रीय विषयो पर अपनी आठ सूत्री योजना प्रस्तुत की जिसके नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी सूत्र न. 4, 5, 6, और 7 इस प्रकार थे—

(क) जहाँ तक सामरिक अस्त्र परिसीमन सन्धि (साल्ट) का प्रश्न है हम अविलम्ब अमेरिकी प्रशासन से वार्ता के लिए तैयार हैं। जिन क्षेत्रों मे निश्चित परिणाम प्राप्त किये जा चुके हैं सोवियत संघ उसे वार्ता-पटल पर रखना चाहेगा। (सूत्र न 4)

(ख) नई पनडुब्बियों के फैलाव को सीमित करने के लिए—अमेरिका की ओहियो किस्म की तथा कुछ वैसी ही सोवियत सघ की भी—हम समझौते के लिए तैयार हैं। हम वर्तमान प्रक्षेपास्त्रो के आधुनिकीकरण तथा नए विकास पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए भी सहमत हैं। (सूत्र नं. 5)

(ग) हमारा सुझाव है कि जब तक कोई समझौता नही हो जाता तब तक यूरोप में स्थापित मध्यम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्र अस्त्रो का फैलाव रोक दिया जाए। प्रहार की दिशा मे उन अस्त्रो को प्रभावहीन करने की हम मे भी क्षमता है। हम उसका इस्तेमाल न करने का आश्वासन दिलाते हैं। इसके साथ ही अटलाण्टिक संगठन (नाटो) को अपनी गतिविधियो को सीमित करने का भी हमे आश्वासन दिलाया जाना चाहिए। (सूत्र नं 6)

(घ) लोगों को परमाणु युद्ध के मानवता पर विनाशकारी प्रभाव से अवगत कराया जाना चाहिए। हमारा सुझाव है कि इस कार्य के लिए एक सक्षम अन्तर्राष्ट्रीय समिति गठित की जाए जो परमाणु के अनर्थ से होने वाले प्रभाव का प्रदर्शन करे तथा उसकी अनुपयोगिता के बारे मे लोगों को जानकारी प्रदान करे। इस समिति मे विभिन्न देशों के विख्यात वैज्ञानिक शामिल किए जाएँ। इस समिति के निष्कर्षों मे विश्व के सभी लोगो को अवगत कराया जाए। (सूत्र नं. 7)

ब्रेझनेव के प्रस्तावों का संयुक्त राष्ट्र महासचिव तथा अनेक राजनीतिक क्षेत्रों में स्वागत किया गया पर केवल प्रस्तावो और प्रति-प्रस्तावो को रखने से नि.शस्त्रीकरण की समस्या सुलझने वाली नही है, इस दिशा मे ठोस प्रयत्न होना आवश्यक है। दोनो महाशक्तियाँ और छोटे-मोटे अन्य राष्ट्र हथियारो की दौड़ मे लगे हुए हैं और नि शस्त्रीकरण की वार्ताएँ कोई राजनीतिक चालें सिद्ध हो रही हैं। परमाणु अस्त्रों के विरोध में यूरोप में शान्ति मोर्चे खुले हैं लेकिन जनता का राजनीतिक और सैनिक नेतृत्व पर इस दिशा मे कोई प्रभाव दिखाई नही देता। यद्यपि सोवियत संघ भी शस्त्रीकरण अथवा हथियारों की दौड़ मे पीछे नही है तथापि यह अवश्य कहना होगा कि नए अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन का सैनिक उन्माद

बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा है और वह अपने राष्ट्र को एक 'विराट शस्त्रीकरण' के मार्ग को चलाने को कटिबद्ध प्रतीत होते है। रीगन सोवियत इरादों के प्रति सशंकित और उनको शिकायत है कि सैनिक मामले वैसे ही अत्यन्त पेचीदा होते हैं तथा रूसी अपनी विलम्बकारी चालो से उन्हें और भी अधिक उलझा देते है। रूसी लोग दिखावे के लिए 'शान्ति-अभियान' चलाते हैं जबकि वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। नि शस्त्रीकरण के सन्दर्भ मे अथवा दूसरे शब्दो मे महाशक्तियो के विराट् शस्त्रीकरण के सन्दर्भ मे राष्ट्रपति रीगन ने नवम्बर, 1981 मे अपना महत्त्वपूर्ण विदेशनीतिक भाषण दिया था जिससे इस विषय के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है।

नि शस्त्रीकरण के सन्दर्भ में अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन का विदेश-नीतिक भाषण (नवम्बर, 1981) और चार-सूत्री प्रस्ताव

अमेरिका के 'शस्त्रीकरण की नीति' के प्रति बढ़ते सन्देह के वातावरण को मिटाने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने नवम्बर, 1981 में जो पहला महत्त्वपूर्ण विदेश-नीतिक भाषण दिया और उसमे तथ्यो को स्पष्ट करते हुए अस्त्र-नियन्त्रण की दिशा में उन्होंने जो चार-सूत्री प्रस्ताव रखा, वह निश्चित रूप से विचार योग्य है और कुछ 'साथियो' मे तो इसे 'मानवता के लिए विराट् कदम' की संज्ञा दी गई है। श्री रामनारायण यादव ने अमेरिकन राष्ट्रपति के प्रस्ताव और महाशक्तियो के विराट् शस्त्रीकरण पर अपने एक लेख में बड़ा स्पष्ट और क्रमबद्ध प्रकाश डाला है।[1]

राष्ट्रपति रीगन ने अपने पहले महत्त्वपूर्ण विदेश-नीतिक भाषण के लिए समय बड़ी सावधानी से चुना था। 22 नवम्बर से शुरू होने वाली राष्ट्रपति और पार्टी प्रधान ब्रेझनेव की बान यात्रा से ठीक 4 दिन और 30 नवम्बर, 1981 से जेनेवा मे शुरू होने वाली नाभिकीय अस्त्र-नियन्त्रण वार्ताओं से दो सप्ताह पूर्व वे सारी दुनिया को बता देना चाहते थे कि परमाणुविक अस्त्रों की संख्या घटाने के लिए भी वे उतने ही तत्पर हैं, जितने अपरिहार्य हो जाने पर उनकी संख्या और शक्ति बढ़ाने के लिए।

अमेरिका की 'शस्त्रीकरण की नीति' के प्रति यूरोप मे बढ़ते हुए असन्तोष और शान्तिवाद प्रदर्शनो की बाढ़ के कारण अमेरिका ने इस भाषण के यूरोप में तत्क्षण प्रसारण की व्यापक व्यवस्था कर रखी थी। टेलीवीजन के पर्दे पर राष्ट्रपति रीगन पहली बार अत्यन्त धीर-गम्भीर, तथ्यपरक और विश्वासजनक लगे। उन्होंने जो कुछ वहा नवीनता थी। कम-से-कम पहली बार उन्होंने दोनों महाशक्तियों के बीच हथियारों की अन्धाधुन्ध दौड़ को रोकने के लिए ऐसा प्रस्ताव रखा, जिसे यदि मूर्त रूप दिया जा सके तो दुनिया को बड़ी राहत मिलेगी। उनके इस चार-सूत्री प्रस्ताव

1 रामनारायण यादव : 'रूस-अमेरिका मानवता के लिए विराट् कदम' (दिनमान, दिसम्बर 1981, पृष्ठ 37-38)

मे सिद्धान्ततः वे सारी बातें शामिल है, जिन पर पश्चिमी जर्मनी सहित 'नैटो' के सभी प्रमुख देशों की मांगों पर बल दिया जाता रहा है।

जैसा कि राष्ट्रपति रीगन ने स्वय भी कहा, 30 नवम्बर से जेनेवा में शुरू होने वाली अस्त्र-नियन्त्रण वार्ताओं को दृष्टि मे रखते हुए उन्होने सोवियत नेता ब्रेझनेव को एक पत्र मे निम्नलिखित चार-सूत्री प्रस्ताव पेश किया है—

1. यदि सोवियत संघ अपने एस. एस. 20, एस. एस. 5 प्रक्षेपास्त्रो (रॉकेटों) को विखण्डित कर दे, तो अमेरिका भी अपने पर्शिंग–2 तथा भूमि आधारित अन्य प्रक्षेपास्त्रों की तैनातगी को रद्द करने के लिए तैयार है। पश्चिमी यूरोपीय देशों के तथाकथित 'शून्य विकल्प' की भी ठीक यही माँग है।

2 अमेरिका अगले वर्ष यथासम्भव शीघ्र ही 'सामरिक अस्त्रों को घटाने के बारे मे वार्ताएँ' शुरू करने का प्रस्ताव रखता है क्योंकि उद्देश्य सामरिक (महाविनाशक परमाणुविक) अस्त्रो की सख्या मे भारी कटौती करना होगा, इसलिए इन वार्ताओ को, 'सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ताएँ' (साल्ट) न कह कर 'सामरिक अस्त्र परिघटन वार्ताएँ' (स्ट्रेटेजिक आर्म्स रिडक्शन टाक्सस्टार्ट) कहा जाएगा।

3. यूरोप मे पारम्परिक (अनाभिकीय) शस्त्रास्त्रों के मामले में भी एक निचले स्तर पर बराबरी लाई जानी चाहिए।

4. शान्ति बनाए रखने के लिए यह भी जरूरी है कि अनिश्चय या गलत वार्ताओ के कारण अचानक आक्रमण एव युद्ध की सम्भावना को भी कम किया जाए।

रूस ने यद्यपि इस प्रस्ताव को 'प्रचारवादी हथकण्डा' बता कर तुरन्त ठुकरा दिया है, पर अपनी 'ईमानदारी' सिद्ध करने मे उसे भी भारी कठिनाई हो रही है। स्वय फ्रांस की समाजवादी सरकार भी, जो 'नैटो' की सैनिक गतिविधियों मे भाग नही लेती, राष्ट्रपति रीगन के बताए इन तथ्यों को सही मानती है कि तनाव शैथिल्य के भुलावे में आकर अमेरिका और पश्चिमी देश पिछले एक दशक से अपनी सेना का आकार और सैनिक व्यय घटाते रहे हैं, जबकि रूस चुपचाप अपनी शक्ति बढाने मे लगा रहा। उसका सैनिक व्यय एक तिहाई बढ़ गया है और सैन्यबल अमेरिका से दुगुना हो गया है। राष्ट्रपति रीगन के अनुसार आज रूस के पास 50 हजार टैंक हैं, जबकि अमेरिका के पास केवल 11 हजार। पिछले वर्षों मे पश्चिम यूरोपीय 'नैटो' देशो से अमेरिका ने एक हजार परमाणविक आयुध शीर्ष (बमो) वाले अपने सभी मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र हटा लिए जबकि रूस ने अकेले 'एस एस 20' प्रक्षेपास्त्रो के माध्यम से ही पश्चिम यूरोप पर लक्ष्य करते हुए 750 नए आयुध शीर्ष (वारहेड) लगाए। मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रो पर लगे रूसी आयुध शीर्षों की कुल सख्या 1100 हो गई है। राष्ट्रपति रीगन का कहना है कि 'नैटो' के पास रूस की इस तैयारी का फिलहाल कोई उत्तर नही है, इसीलिए 1983 से पश्चिम यूरोप मे मध्यम दूरी तक मार करने वाले 'पर्शिंग–2' और 'क्रूज मिसाइल' तैनात करने की बात थी। अमेरिका इन प्रक्षेपास्त्रों की यूरोप में तैनातगी का इरादा त्याग देगा यदि पहले रूस अपने बढ़े हुए कदम पीछे हटा ले।

रूस अपने 'एस एस –20' राकेटों को यूराल पर्वतों से पीछे, यानी यूरोपीय रूस से हटा कर एशियायी हिस्से मे ले जाने को तैयार है, किन्तु 'नैटो' देश इसे आँख मे धूल झोकना मानते हैं, क्योंकि 5 हजार किलो मीटर तक प्रहार कर सकने वाले ये प्रक्षेपास्त्र यूराल के पीछे से भी रोम से लेकर लन्दन और एम्सटर्डम तक हर ठिकाने पर अचूक मार कर सकते हैं। यह नही, चलते-फिरते प्रक्षेपण वाहनो पर लगा होने के कारण रूसी उन्हे किसी भी समय चुपके से यूराल के इसे अपने यूरोपीय हिस्से से भी पुन ला सकते हैं। एक तर्क यह भी है कि हो सकता है रूस उन्हे जापान पर लक्षित कर दे अत अमेरिका और उसके मित्र देशों की माँग है कि पहले रूस इन प्रक्षेपास्त्रो को पूरी तरह नष्ट कर दे, तभी बात बन सकती है।

रूस की ओर तत्काल जो अनौपचारिक प्रतिक्रिया सुनने मे आई है, उसके अनुसार रूस राष्ट्रपति रीगन के 'शून्य विकल्प' को कोई विकल्प मानता ही नही। उसका कहना है कि हम से तो आशा की जाती है कि हम अपने सभी मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट कर दें, जबकि अमेरिका अपनी पनडुब्बियों में लगे इसी तरह के प्रक्षेपास्त्रो को बहस से बाहर रखना चाहता है। वास्तव मे स्थिति यह है कि अमेरिका ने रूसी आणविक पनडुब्बियों मे लगे प्रक्षेपास्त्रों, और अपने 'फारवर्ड बेस्ड सिस्टम' (एफ बी एस) वाले विमानो की तरह रूसी 'बैकफायर' बमवर्षकों को भी फिलहाल अलग ही रखा है। वैसे भी, वार्ताएँ शुरू होने के पहले किसी प्रस्ताव से यह आशा की ही कैसे जा सकती है कि उसमे वह सब कुछ शामिल हो, जो वार्ताओं के नतीजे के तौर पर अन्त में सामने आना चाहिए। बातचीत के दौरान भी तो लेन-देन और फेर-बदल होती रहती है।

परमाणु अस्त्रों को नियन्त्रित करने के बारे में 30 नवम्बर, 1981 से जेनेवा मे दोनो महाशक्तियो के बीच वार्ताओ का जो नया क्रम किसी तरह शुरू हुआ वह पहले दौर के बाद स्थगित कर दिया गया। पहले दौर मे दोनो पक्ष मध्यम दूरी तक मार कर सकने वाले एक-दूसरे के नाभिकीय प्रक्षेपास्त्रो—अर्थात् परमाणु बमवाही राकेटों—की यूरोपीय भूमि पर संख्या घटाने के बारे मे बातें करनी थीं, लेकिन केवल अगली बैठक का स्थान और समय तय करने के प्रयास के बाद पहली बैठक समाप्त हुई। दूसरे दौर में अन्तर महाद्वीपीय-यानी सामरिक-अस्त्रों की सख्या सीमित या कम करने के बारे में 'साल्ट' वार्ताओ के क्रम को पुन शुरू करने का प्रयास किए जाने की बात है। यह दूसरा और सम्भवत मार्च, 1982 मे जेनेवा मे ही शुरू होगा। अमेरिका 'अखिल यूरोपीय नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन' के नाम से एक तीसरे बहुपक्षीय दौर के लिए भी प्रयत्नशील है, किन्तु उसके प्रयत्नो की सफलता इस पर निर्भर करेगी कि स्पेन की राजधानी माद्रिद मे यूरोपीय सुरक्षा एव सहयोग के हेलेसिंकी समझौते की समीक्षा करने के लिए पिछले एक वर्ष से जो विराट् सम्मेलन चल रहा है, उसका कोई ठोस परिणाम भी निकलता है या नही। रूसी गुट की अड़गेबाजी और टालमटोल नीतियों के कारण यह सम्मेलन 15 देशों का एक सामूहिक जुगाली आयोजन बन कर रह गया है।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में ये प्रस्तावित बैठकें पूर्व और पश्चिम के बीच न तो पहली बैठकें होंगी और न ही अन्तिम। इनके पहले 'साल्ट–1' और 'साल्ट–2' नामक दो समझौते भी हो चुके हैं जिनके बारे में वार्ताएँ 1968 से ही चलती रही हैं। इन समझौतों में रूस और अमेरिका ने दो-पक्षीय आधार पर अपने महाविनाशक सामरिक अस्त्रों की संख्या परिसीमित करने के वायदे किए थे।

नाभिकीय अस्त्रों पर लगामपेट लगाने की वार्ताओं के अलावा 1973 से ही आस्ट्रिया की राजधानी वीएना में 'नैटो' गुट के 12 और 'वारसा' गुट के 6 देश पारस्परिक आधार पर सेनाओं में सन्तुलित कटौती करने के बारे में बातें करते रहे हैं। यह अलग बात है कि 8 साल तक बोलने-बतियाने के बाद भी दोनों गुट यह नहीं जानते कि किस के पास कितने सैनिक हैं और कितनी कटौती 'सन्तुलित' कहलाएगी।

अमेरिका की शिकायत है कि सैनिक मामले वैसे ही अत्यन्त पेचीदा और जटिल होते हैं, रूसी अपनी विलम्बकारी चालों से उन्हें और भी उलझा देते हैं। दुनिया को भ्रम में रखने के लिए वे एक के बाद एक 'शान्ति-अभियान' छेड़ेंगे, अपने को शान्ति का सबसे बड़ा प्रहरी बतायेंगे, पर वार्ता की मेज पर ऐसे हर समझौते को मानने से आनाकानी करेंगे, जिसमें धोखाधड़ी और दुरुपयोग के निदान के लिए मौके पर जाकर जाँच करने का प्रावधान होगा। अमेरिका अपने सैनिक प्रतिष्ठानों की रूसियों द्वारा जाँच कराने के लिए तैयार है, पर रूसी अपने यहाँ किसी को नहीं आने देना चाहते। *'यह हाल तब है', एक अमेरिकी राजनयज्ञ ने एक बार कहा,* "जब लेनिन ने स्वयं कहा था—विश्वास करना अच्छा है, पर नियन्त्रण और भी बेहतर है।" यह देख लेने के बाद कि तनाव शैथिल्य की माला जपते-जपते सोवियत सैनिक शक्ति कहाँ से कहाँ पहुँच गई है, अमेरिका यह मानने के लिए तैयार ही नहीं है कि बिना पर्याप्त जाँच-व्यवस्था के रूस किसी सैनिक समझौते का ईमानदारी से पालन करेगा। एक तटस्थ देश स्वीडन की जल सीमा में आणविक शस्त्रों से लैस पनडुब्बी भेज कर रूस ने दूसरों का विश्वास भी खो दिया है।

जहाँ तक रूस की विलम्बकारी चालों का प्रश्न है, 1973 से वीएना में चल रही 'सैन्य बल में परस्पर सन्तुलित कटौती' के बारे में वार्ताएँ इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। 250 से अधिक बैठकों के बाद इस साल 25 सितम्बर को इन वार्ताओं का 25वाँ दौर शुरू हुआ, पर रूसी अब भी टस-से-मस होने का नाम नहीं ले रहे। वे यह मानने को तैयार ही नहीं कि 'वारसा' गुट के पास 'नैटो' गुट की अपेक्षा मध्य यूरोप में पौने दो लाख सैनिक अधिक है। न तो वे 'वारसा' गुट की कुल सैनिक संख्या ही बताने के लिए तैयार हैं, न ही पश्चिम को झूठा साबित करने के लिए उसे अपने यहाँ आकर स्वयं वस्तुस्थिति देखने की अनुमति ही देते हैं। 8 सालों से 19 देशों के राजनयिक हर गुरुवार को वीएना के 'नौये होफबुर्ग' महल में एक विशाल गोलाकार मेज के चारों ओर आधे घण्टे के लिए मिलते हैं, हर बार बीच से एक नए राजदूत का भाषण सुनते हैं और सलाम-दुआ करते हुए अगले

गुरुवार तक के लिए बैठक स्थगित कर देते है। रूस सैनिक संख्या को एक नाजुक सुरक्षा मामला बता कर कोई जानकारी देने या दूसरे की जानकारी मानने के लिए तैयार ही नहीं होता।

यही हाल हेलेसिंकी समझौते की प्रगति की समीक्षा करने के लिए नवम्बर, 1980 मे माद्रीद मे चल रहे सम्मेलन का भी है, जहाँ अखिल यूरोपीय नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के आयोजन के समय एव स्थान के बारे मे निर्णय लिया जाना है। यहाँ रूस के मुख्य वार्ताकार हैं लियोनिद इल्यीचेव जो चीन के साथ 12 वर्षों तक सीमा-विवाद पर बिना परिणाम वार्ताएँ करने के लिए नाम कमा चुके हैं। यह सम्मेलन इस वर्ष अप्रेल मे ही समाप्त हो जाना चाहिए था, लेकिन तब तक उसकी कोई कार्यसूची ही नहीं तय हो पाई थी। उस समय श्री इल्यीचेव ने कहा था कि यदि जरूरी हुआ तो वे 'हमेशा के लिए' वही पड़े रहेंगे।

अमेरिकी सूत्रो का कहना है कि निशस्त्रीकरण के बारे मे रूस के साथ हर बातचीत केवल इस मुद्दे पर आकर टूट जाती है कि वह किसी भी समझौते मे मौके पर जाकर जाँच की बात स्वीकार नहीं करता। उसका तर्क है कि हर पक्ष को दूसरे पक्ष की जाँच के लिए 'अपने राष्ट्रीय तकनीकी साधनों' पर ही भरोसा करना चाहिए। तात्पर्य जासूसी उपग्रहो और सैनिक उड़ानो की टोह लेने वाले इलेक्ट्रानिक उपकरणो से है। लेकिन पश्चिमी विशेषज्ञ केवल दूर से टोह लेने को ही पर्याप्त नहीं मानते। उनका कहना है कि इससे यह नहीं पता चल सकता कि किसी नाभिकीय प्रक्षेपास्त्र पर केवल एक ही आयुध शीर्ष (बम) लगा हुआ है या कई शीर्ष हैं। भावी विनाश की मात्रा प्रक्षेपास्त्रों (राकेटों) की संख्या पर नहीं, इन आयुध शीर्षों की संख्या पर ही निर्भर करती है। मास्को को एक सबसे बड़ा लाभ यह भी है कि पश्चिमी देशों के स्वतन्त्र प्रेस के कारण उनकी सामरिक शक्ति के बारे मे लगभग सारी जानकारी उसे घर बैठे ही मिल जाती है।

अमेरिका के भूतपूर्व विदेश मन्त्री हेनरी कीसिंगर ने तो यहाँ तक लिखा है कि "सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ताओं (साल्ट) के समय कई बार सोवियत वार्ताकारो को अपने देश की सामरिक क्षमता के बारे मे पहली जानकारी अमेरिका के वार्ताकारो से मिली। 'साल्ट' वार्ता के समय अमेरिकी पक्ष ने रूसियो को अमेरिकी एव ज्ञात रूसी प्रक्षेपास्त्र-विरोधी प्रक्षेपास्त्रो ए बी एम के बारे मे एक सूची प्रदान की। तीन साल बाद रूसियों ने बिना पूछे कामचात्का पर एक नए ए बी एम रेंज का परीक्षण शुरू किया। अमेरिका के प्रतिवाद करने पर उन्होंने कहा कि यह रेंज तो हमेशा ही कार्यरत रही है। जब अमेरिकियो ने उन्हें वार्ता के समय की सूची दिखाते हुए कहा कि इसमें तो इस रेंज का नाम नहीं है, तो रूसियो ने उस सूची को सही मानने से इन्कार कर दिया। वह यह भी बताने के लिए तैयार नहीं हुए कि कामचात्का मे हो क्या रहा है।"

निःशस्त्रीकरण की समस्याएँ
(Problems of Disarmament)

नि.शस्त्रीकरण के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि इसमें बहुत थोड़े प्रयास

ही सफल हो सके थे, अधिकांश को असफलता का मुँह देखना पड़ा। इस निरन्तर असफलता के पीछे अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जो किसी भी समझौतों को सर्वमान्य नहीं बनने देती। मॉर्गेन्थो (*Morgenthau*) ने *निःशस्त्रीकरण की चार समस्याओं* का वर्णन किया है। वे निम्न प्रकार है—

(1) विभिन्न राष्ट्रों के शस्त्रों के बीच अनुपात (Ratio) कितना रहेगा ?
(2) वह मापदण्ड क्या है जिसके अनुसार इस अनुपात के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार एवं गुणों के अस्त्र विभिन्न देशों के लिए निर्धारित किए जाएँगे ?
(3) उक्त दो प्रश्नों के उत्तरों का हथियारों की सोची गई कमी पर वास्तविक प्रभाव क्या पड़ेगा ?
(4) नि.शस्त्रीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

मॉर्गेन्थो का कहना है कि निःशस्त्रीकरण के किसी भी प्रयास की सफलता का मूल्यांकन इन चार प्रश्नों के सन्दर्भ मे होना चाहिए। इन प्रश्नो के जैसे उत्तर प्राप्त होंगे उनसे यह जाना जा सकेगा कि उनमे सफलता एवं असफलता की मात्रा कितनी-कितनी थी।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग में कठिनाइयाँ
(Difficulties in the Way of Disarmament)

1. महाशक्तियाँ अपने शस्त्रास्त्रों के आधुनिकीकरण का मोह छोड़ने को तैयार नहीं है; अत. स्वाभाविक है कि देश के आधुनिकतम आयुधों के जवाब मे दूसरा देश उससे भी बढ़कर आयुध बनाने की सोचता है और इस तरह जो भी निःशस्त्रीकरण-समझौते होते हैं वे बहुत ही आंशिक और व्यवहार मे प्रभाव-शून्य होते है। उदाहरणार्थ, जून-जुलाई, 1974 के शिखर-सम्मेलन मे रूस और अमेरिका के बीच *प्रभावी सामरिक अस्त्र-परिसीमन-समझौता न हो पाने के* राजनीतिक क्षेत्रों में दो प्रमुख कारण बताए गए हैं—(क) हाल मे अमेरिका के लक्ष्य भेदकर स्वतः लौट आने वाले एम. आई. आर. वी. प्रक्षेपास्त्रों के बारे मे यह तथ्य सामने आया है कि प्रथम आक्रमण की स्थिति मे ये प्रक्षेपास्त्र शत्रु के ठिकानो को उतनी क्षति नहीं पहुँचा पाएँगे जितनी उनसे अपेक्षा की जाती है, क्योंकि उनके आपस मे टकराकर नष्ट हो जाने की अधिक सम्भावना है। प्रेक्षकों का मत है कि इस खोज के बाद अमेरिकी प्रतिरक्षा विभाग अधिक बड़े और ठिकाने पर सही मार करने वाले अस्त्रों के निर्माण के लिए सरकार पर दबाव डालेगा। हो सकता है कि इस स्थिति के कारण निक्सन ने सामरिक अस्त्र परिसीमन जैसा समझौता टालने का भी प्रयास किया हो। (ख) दूसरे कारण का सम्बन्ध सोवियत संघ से था। यह तो सन् 1972 के समझौते के समय ही स्पष्ट हो गया था कि जब तक दोनो महाशक्तियाँ आक्रमण और प्रतिरक्षा, दोनों ही दृष्टियों मे परमाणु-अस्त्रों के मामले मे *समान स्तर* पर

नही पहुँच जाती, तब तक उनके बीच सामरिक-अस्त्र-परिसीमन के बारे में पूर्ण समझौता नही हो सकेगा। आशा थी कि सोवियत सघ शीघ्र ही प्रक्षेपास्त्रों के बारे मे अमेरिका के बराबर न सही, उसके निकट तो पहुँच ही जाएगा; किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि इस क्षेत्र मे अभी वह अमेरिका से पीछे है—न केवल इसलिए कि उसके विश्व भर मे सैनिक अड्डे न होने के कारण वह अमेरिका की बराबरी नही कर सकता है, बल्कि इसलिए भी कि उसके पास अमेरिका से कम परमाणु शस्त्र हैं।

इन परिस्थितियों मे सामरिक अस्त्र-परिसीमन के बारे मे किसी व्यापक समझौते की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

2. कूटनीतिक और सैनिक क्षेत्रो मे अमेरिका की परमाणु-शक्ति सोवियत सघ से बहुत अधिक कूती जाती है और प्रक्षेपास्त्रो के बारे मे लगभग तीन गुनी अधिक। फिर भी वह नए परमाणु-प्रक्षेपास्त्रो को बनाने की दिशा मे प्रयत्नशील है और अपने प्रयत्नों का औचित्य सिद्ध करने के लिए वह समय-समय पर सोवियत सघ की परमाणु शक्ति को बढाचढाकर प्रस्तुत करता रहा है। सन् 1960 मे अपने चुनाव-अभियान मे जॉन एफ कैनेडी ने यही किया। उसके बाद अमेरिका ने जब एम आई. आर वी प्रक्षेपास्त्र-प्रणाली पर काम शुरू किया, तब भी यह कहा गया कि सोवियत सघ ने तालीन और गालोश नामक प्रतिरक्षात्मक प्रक्षेपास्त्र-प्रणालियो का विकास कर लिया है, अत अमेरिका के लिए एम आई आर वी प्रणाली अनिवार्य हो गई है। लेकिन जब एम आई आर. वी प्रणाली पर जोरों से काम होने लगा तो अमेरिका ने यह स्वीकार किया कि सोवियत सघ की उक्त प्रतिरक्षा व्यवस्था से उसे कोई खतरा नहीं है। फिर भी प्रक्षेपास्त्र निर्माण के व्यापक कार्यक्रम का औचित्य सिद्ध करने के लिए अगले कुछ वर्षों मे या सन् 1981 के बाद सोवियत सघ द्वारा प्राप्त की जाने वाली परमाणु क्षमता का तर्क दिया जा रहा है। यह एक ऐसा बहाना है जिसके रहते अस्त्र-दौड रोकने की बात नही की जा सकती है क्योंकि इससे न तो अमेरिका के त्रिडेंट पनडुब्बियाँ और बी-1 बमवर्षक बनाने के कार्यक्रमो पर कोई प्रभाव पडेगा और न ही प्रतिरक्षा-व्यवस्था को उत्तरोत्तर सुदृढ करने का सोवियत सघ का कार्यक्रम प्रभावित होगा। यह स्थिति सामरिक अस्त्र परिसीमन-समझौते की सम्भावनाओ के प्रतिकूल है।

3 अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रो के बीच सम्बन्धो का निर्धारण अनेक आन्तरिक एवं बाह्य तत्त्वों से प्रभावित होता है। एक देश पहले अपने राष्ट्रीय हितो की ओर दृष्टि डालता है तथा बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व हित को देखता है। इसी आधार पर फ्रांस ने परीक्षण-प्रतिरोध-सन्धि का समर्थन नहीं किया। दो या अधिक राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध आज इतने अस्थिर हैं कि कल का मित्र आज का दुश्मन बन जाता है। इन परिस्थितियो मे अणु-आयुधों के रहने से आक्रमणकारी पर प्रतिबन्ध लग जाता है और वह तुरन्त युद्ध छेडने का साहस नही कर पाता क्योंकि दूसरे देश की शक्ति उसका भी विनाश कर सकती है। अस्थिर सम्बन्धो का भय तथा इसमें निहित खतरे और लालच की भावनाएँ शस्त्रो को सीमित करने के मार्ग मे बाधक

बन जाती हैं। आजकल सैनिक तकनीकी का इतना विकास हो चुका है कि निःशस्त्रीकरण का नाम लेकर किसी को भी धोखा दिया जा सकता है। शक्तिशाली शस्त्रों को छुपाकर ऊपरी सेना घटाकर नि शस्त्रीकरण का दिखावा किया जा सकता है। जब तक यह भय दोनों पक्षों के मन में रहेगा तब तक निःशस्त्रीकरण का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

4 राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी नि शस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जांच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जाए। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे मानने को कोई तैयार नहीं होता। यही कारण है कि निःशस्त्रीकरण योजना की सफलता में पूर्व विश्व-सरकार की स्थापना का समर्थन किया जाता है।

5. निःशस्त्रीकरण के कारण एक देश की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। शस्त्रों के निर्माण पर व्यय होने वाली भारी राशि का शस्त्र-निर्माण बन्द कर देने पर रचनात्मक कार्यों में कैसे उपयोग किया जाएगा, उससे अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से कैसे बचाया जाएगा आदि आशंकाएँ उठती हैं तथा यह आशा भी रहती है कि इसे अर्द्ध-विकसित देशों के विकास के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि निःशस्त्रीकरण के आर्थिक परिणामों का भय एवं आशा अवास्तविक है। इस आशा एवं भय का पश्चिम के सम्पन्न समाज पर क्या असर होता है, यह भी अनुमान का विषय है।

6. निःशस्त्रीकरण करते समय देशों के शस्त्रों का जो अनुपात निर्धारित किया जाता है उसके कारण देशों के बीच मन-मुटाव व अविश्वास की भावना पैदा होती है। शस्त्रों की सीमा-निर्धारण के समय प्रत्येक देश को दूसरे देश के प्रति यह शंका रहती है कि शायद वह अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा विरोधी पक्ष की शक्ति घटाने का प्रयत्न कर रहा है। तकनीकी रूप से यह बड़ा कठिन काम है कि एक देश की सैनिक आवश्यकता को ज्ञात किया जाए तथा उसी अनुपात में उसकी सैनिक शक्ति को घटाया जाए। जॉन फॉस्टर डलेस के मतानुसार इसी समस्या के कारण अमेरिका द्वारा निःशस्त्रीकरण की योजनाओं का समर्थन सच्चे दिल से नहीं किया जा सका। इस समस्या के समाधान के लिए दो सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं— (i) पूर्ण रूप से नि शस्त्रीकरण कर दिया जाए (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति द्वारा देशों को सामूहिक सुरक्षा की गारन्टी दी जाए। किन्तु ये सुझाव भी तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक पहले शस्त्रों को कम न किया जाए, इसलिए अनुपात की समस्या मूल है।

7. यह कहा जाता है कि अविश्वासपूर्ण वातावरण में नि शस्त्रीकरण और शस्त्रों का नियन्त्रण तथा अन्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। यदि देशों में पारस्परिक विश्वास रहे तो शस्त्रों की आवश्यकता ही न रहे और नि.शस्त्रीकरण की समस्या भी पैदा न हो। पूर्ण अविश्वास की स्थिति अराजकता

एवं पूर्ण तानाशाही में से एक को स्थापित कर देगी। यह आशा की जाती है कि नि.शस्त्रीकरण की समस्या के सुलझने के बाद दोनों गुटों में विश्वास की भावना आ सकती है। अविश्वास के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता; होता भी है तो सच्चे रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाता।

8 *एक समस्या यह सामने आती है कि पहले राजनीतिक समस्याओं को* हल किया जाए या नि·शस्त्रीकरण किया जाए। ये दोनों एक दूसरे के मार्ग में बाधा डालते हैं और एक के हल हो जाने पर दूसरे का हल हो जाना सुगम है। यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगड़ों का कारण है और इनको घटाने से अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढ़ेगी। किन्तु यह प्रयास एकपक्षीय होगा। होना यह चाहिए कि मनमुटाव, अविश्वास एवं प्रतिद्वन्द्विता को दूर करने के लिए हर दिशा में प्रयास किया जाए। मडरियागा के शब्दों में, "शस्त्रीकरण की समस्या का समाधान इस समस्या में ही नहीं खोजा जा सकता, किन्तु इसके बाहर ही खोजा जा सकता है।" असल में नि.शस्त्रीकरण की समस्या नि शस्त्रीकरण की समस्या नहीं है, यह वास्तव में विश्व-समुदाय के सगठन की समस्या है।

वास्तव में नि शस्त्रीकरण की दिशा में ठोस कार्य तब तक नहीं हो सकता *जब तक महाशक्तियों में मौलिक मतभेद बने रहेंगे। नि शस्त्रीकरण में वांछित* सफलता न मिलने का एक कारण यह भी है कि 'आणविक क्लब' (The Nuclear Club) की सदस्यता बड़ी सीमित है। अभी तक अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन ही आणविक शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र में खिलाड़ी हैं, लेकिन जब विश्व के अन्य देश भी मैदान में उत्तर आएँगे और जरा-सी टकराहट पर अणु-युद्ध का खतरा सजीव हो उठेगा तो महाशक्तियाँ सम्भवत· बाध्य हो जाएँगी कि वे नि शस्त्रीकरण (विशेषकर अणु-अस्त्रों के क्षेत्र में) की दिशा में गम्भीर प्रयास करें। अभी तक इस ओर जो भी कदम उठाए गए हैं अथवा समय-समय पर जो सन्धियाँ की गई हैं वे प्रदर्शनात्मक और प्रचारात्मक ही अधिक हैं, अन्यथा महाशक्तियों का यह पुरजोर प्रयास जारी है कि अभिनव मारक अणु-शस्त्रों की खोज की जाए और वर्तमान शस्त्रों की विनाशक शक्ति बढ़ाई जाए।

क्या नि शस्त्रीकरण का अर्थ शान्ति है ?

प्राय प्रश्न किया जाता है—क्या नि शस्त्रीकरण का अर्थ शान्ति है ? वास्तव में "बार-बार नि शस्त्रीकरण का अर्थ शस्त्रों में कटौती की अपेक्षा वृद्धि रहा है।" नि शस्त्रीकरण का आधुनिक दर्शन इस कल्पना को लेकर चलता है कि आदमी लड़ते हैं, क्योंकि उनके पास हथियार हैं। इस धारणा से यह निष्कर्ष *निकलता है कि यदि आदमी सब हथियार त्याग दें तो सब प्रकार के युद्ध असम्भव* हो जाएँगे। इसी आधार पर कहा जाता है कि नि शस्त्रीकरण-कार्यक्रम का उद्देश्य युद्ध रोकना होना चाहिए, न कि युद्ध में प्रयोग होने वाले शस्त्रों को नियन्त्रित करना। परन्तु नि शस्त्रीकरण के वकील इसमें विपरीत दिशा में सोचते हैं। उनका कहना है कि आदमी इसलिए नहीं लड़ते कि उनके पास हथियार हैं। वे हथियार रखते हैं, क्योंकि वे लड़ना आवश्यक समझते हैं। उनसे हथियार ले लिए जाएँ तो

या तो वे केवल घूंसे से लड़ेंगे या लड़ने के लिए नवीन हथियार प्राप्त करेंगे। जो वस्तु युद्ध कराती है वह है मानव-हृदय की अवस्था जिसमें युद्ध दो अवगुणों से न्यून प्रतीत होता है। इन परिस्थितियों में बीमारी का पता लग सकता है जिसका शस्त्रों की इच्छा करना और उनको प्राप्त करना केवल लक्षण है। जब तक मनुष्य एक दूसरे पर प्रभुत्व स्थापित करना और एक दूसरे की सम्पत्ति को छीनना चाहते हैं और जब तक वे एक दूसरे से डरते और घृणा करते हैं, तब तक वे अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने और अपनी भावनाओं को शान्त करने का यत्न करेंगे। जहाँ ऐसी शक्ति विद्यमान हो कि वह इन इच्छाओं और आवेगों की अभिव्यक्तियों को अहिंसक दिशाओं की ओर मोड़ दे, वहाँ मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अहिंसक साधनों की खोज करे।

निःशस्त्रीकरण और शान्ति की समस्या पर विचार करते हुए मॉर्गेन्थो ने लिखा है कि—"अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के सामान्य निबटारे में निःशस्त्रीकरण में कम से कम शस्त्रों का नियमन एक अनिवार्य कदम है, तो भी यह पहला कदम नहीं हो सकता। शस्त्रीकरण की प्रतियोगिता शक्ति-प्रतियोगिता का प्रतीक भी है और साधन भी। तब तक राष्ट्र शक्ति-द्वन्द्व में प्रतिकूल माँगें करेंगे। शक्ति-संघर्ष का परस्पर सन्तोषजनक निबटारा निःशस्त्रीकरण की पूर्व शर्त है। एक बार सम्बन्धित राष्ट्रों के शक्ति-विभाजन पर परस्पर सन्तोषजनक समझौता हो जाए, तो वे अपने शस्त्रों को घटाने और सीमित करने के योग्य हो सकते हैं। अपनी ओर से निःशस्त्रीकरण का परिसीमन शान्ति-स्थापना के प्रति अधिक योगदान होगा। राष्ट्र उस मात्रा में निःशस्त्रीकरण के विषय का निबटारा कर सकेंगे जिस मात्रा में वे राजनीतिक समझौता कर पाएँगे।"

शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता से किसी तरह कम न होते हुए, शस्त्रीकरण सम्बन्धित-राष्ट्रों में शक्ति-सम्बन्धों का प्रतीक है। शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता से कम न होकर निःशस्त्रीकरण की उन शक्ति-सम्बन्धों पर प्रतिक्रिया होती है जिनसे यह पैदा हुआ जैसे भय, जिसे यह उत्पन्न करती है और भार, जिसे यह लादती है। शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता शक्ति-संघर्ष को जटिल बनाती है। वैसे राजनीतिक खिंचाव को कम कर और सम्बन्धित राष्ट्रों के उद्देश्यों में विश्वास उत्पन्न कर निःशस्त्रीकरण का राजनीतिक स्थिति के सुधारने में योगदान है। निःशस्त्रीकरण का यह योगदान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करने और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायम रखने में हो सकता। यह महत्त्वपूर्ण योगदान है, परन्तु स्पष्ट रूप से यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की समस्या का हल नहीं है।

हथियारों के प्रसार का निक्सन-सिद्धान्त

निःशस्त्रीकरण के प्रयास दिखावटी अधिक है, व्यावहारिक कम। विश्व में शस्त्रास्त्रों का भण्डार बढ़ता जा रहा है और महाशक्तियां शस्त्रास्त्रों के विक्रय में होड़ कर रही हैं। हथियारों के प्रसार में अमेरिका के 'निक्सन-सिद्धान्त' का विशेष

योगदान रहा है। निक्सन को वाटरगेट काण्ड ले डूबा, लेकिन निक्सन-सिद्धान्त जीवित है, जिस पर चलकर अमेरिका हथियारों के प्रसार में लगा हुआ है।

अमेरिका ने हथियारो के प्रसार मे नई तकनीक अपनाई है। उसने बडे हथियारो के स्थान पर छोटे हथियारों के फैलाव पर जोर देना शुरू किया है। जहाँ कहीं सम्भव होता है इन छोटे हथियारों के कारखानो को भी स्थापित किया जाता है ताकि अमेरिका का उस देश में हस्तक्षेप कायम रहे। ये छोटे हथियार दक्षिण-पूर्वेशिया, लातीनी अमेरिका और यूरोप के कई देशों को दिए गए। अमेरिका ने इन देशो को इनकी तकनीकी और प्राविधिक जानकारी भी दी। इन छोटे हथियारो के प्रसार की शुरूआत अमेरिका ने वियतनाम से की। दक्षिण-वियतनाम मे उसने बडे पैमाने पर ये हथियार बेचे। जब लडाई की गति मे ढील आने का खतरा पैदा हुआ, तो अमेरिका ने सैगोन में इन हथियारो के निर्माण के लिए कारखाना स्थापित किया। इसे *'निक्सन-सिद्धान्त' कहा जाता है।* इसका मतलब यह है कि धीरे-धीरे स्थानीय सेना अमेरिकी सेना का स्थान ले लेगी और उनकी रक्षा का भार अमेरिकी सैनिक के स्थान पर हथियारों की यह बहुलता ग्रहण कर लेगी। इसका मतलब यह हुआ कि लडाई मे सीधा हिस्सा न लेकर अप्रत्यक्ष तौर से अमेरिका फिर भी अपने समर्थकों की मदद करता रहेगा। इसी तरह के छोटे हथियारो के कारखाने अमेरिका ने लाओस और थाईदेश में स्थापित किए। इन छोटे हथियारो का निर्यात् अमेरिका विकासशील और तीसरी दुनिया के देशो को करता है। 1961 से 1971 तक अमेरिका ने इन छोटे हथियारो का निर्यात् 1 2 अरब डॉलर से लेकर 4 5 अरब डॉलर तक किया जो संसार के कुल अस्त्र व्यापार का दो तिहाई था। कुछ वर्षों पूर्व ही दुनिया मे हथियारों का कुल व्यापार 6 2 अरब डॉलर का था, लेकिन संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार दुनिया के सारे देश 200 अरब डॉलर से भी अधिक हथियारो के निर्माण और खरीद पर हर साल खर्च करते थे। इसमे से गरीब और विकासशील देशो का हिस्सा केवल 80 अरब डॉलर था। इसका मतलब यह हुआ कि बडे देश ही हथियारो के फैलाव और निर्माण के लिए जिम्मेदार हैं।

जहाँ तक आणविक अस्त्रो का प्रश्न है, रूस और अमेरिका के पास इनके बड़े-बडे भण्डार हैं। फ्रांस और ब्रिटेन के अलावा चीन भी तेजी से अणुशक्ति का स्वामी बनता जा रहा है और इसकी विस्तारवादी तथा युद्ध लोलुप-नीति विश्वशान्ति के लिए एक बडा खतरा है। भारत ने अपनी अणुशक्ति का विकास शान्तिपूर्ण उपायो के लिए किया है और इस नीति पर अडिग रहने की वह बार-बार घोषणा कर चुका है लेकिन किसी भी राष्ट्र को 'अपने राष्ट्रीय हित' का सदैव ध्यान रखना होता है और शत्रु-देश भारत को दबाने की नीति छोड़ेंगे, भारत के विरुद्ध अस्त्रास्त्रों के संग्रह मे लगे रहेंगे तो इस बात की सम्भावना को नकारना कठिन है कि भारत को अपनी नीति पर पुनर्विचार करना पड़ेगा।

अस्त्रो के संग्रह और खपत की जो होड लगी हुई है उसमे अपनी सुरक्षा के लिए विकासशील देशों को अपने बजट का बहुत बडा हिस्सा हथियारों की खरीद

पर खर्च करना पड़ता है। इससे उन देशों में हमेशा असुरक्षा की भावना बनी रहती है। हथियार बनाने वाले ही हथियारों पर रोक लगाने सम्बन्धी बातें करते रहते है और ऐसी बातचीत के दौर में ही निःशस्त्रीकरण तथा आणविक हथियारों के विस्तार पर रोक लगाने सम्बन्धी कुछ समझौते भी किए गए है, लेकिन कुल मिलाकर अन्तिम नतीजा व्यावहारिक रूप से 'वही ढाक के तीन पात' है। लगभग 12 साल पहले निःशस्त्रीकरण समझौते की बातचीत शुरू हुई थी। इस बीच अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के बनने की तादाद पाँच गुनी से भी अधिक बढ़ी है।

शस्त्र और शान्ति[1]
(Arms and the Peace)

आज की दुनिया मे शस्त्रों की होड अपनी चरम सीमा पर है लेकिन कहा जा रहा है कि सब कुछ शान्ति के लिए हो रहा है। लन्दन से प्रकाशित नेशनल सेक्यूलर सोसायटी के फ्री थिंकर पत्र मे पीटर काडोगान ने इस समस्या पर अपने लेख से दुनिया के विवेकशील लोगों से अपील की है कि सेनाओ और अस्त्रो की आवश्यकता पर नए सिरे से विचार किया जाए। उनका विश्वास है कि अस्त्रो का व्यापार करने वाले देशों को यह घृणित व्यापार छोड़ने पर विवश किया जा सकता है—

हम आज युद्ध की तैयारियो की स्थिति मे रह रहे है। कहा यह जाता है कि शान्ति का युग है। युद्ध मानव सभ्यता जितना ही पुराना है। वह देशो का अभिन्न अग रहा है। राजनीति बन्दूक के बल पर चलती रही है। यही हमारी उलझन है कि क्या युद्ध से मुक्ति पाने के लिए सरकार और राजनीति दोनों का ही त्याग कर दिया जाए ? और फिर वर्तमान सभ्यता से भी आगे की कोई बात सोची जाए ? लेकिन ऐसा नही हो सकता। हमे जब तक देशभक्त बनकर रहना है युद्ध की कल्पना से मुक्त हो नही सकते। एक युद्ध समाप्त होगा तो दूसरे की तैयारी मे लग जाएँगे। इसमे हमारी मुक्ति नही है।

प्रायः लोगों को बताया जाता है कि जब राजनीतिक समस्याओ का शान्तिपूर्ण समाधान न निकले तो युद्ध का रास्ता ही अख्तियार करना पड़ता है। धारणा बन गई है कि सैनिक तरीके अपनाकर समस्या का समाधान हो जाता है। इसलिए युद्ध को अन्तिम विकल्प माना ही जाता है। इसलिए आज की शताब्दी मे अस्त्र-शस्त्रो का विकास हो रहा है। लेकिन साथ ही इस विकास से यह परिणाम भी निकलता है कि सैनिक तरीको से समस्याएँ हल करने की धारणा बिल्कुल गलत है। वियतनाम मे अमेरिकियो के पास परमाणु हथियार तक थे जिनका इस्तेमाल कर वे सबका सफाया कर सकते थे। लेकिन ऐसा वे नही कर सके। अगर कही कर देते तो दुनिया से वे कट जाते। देश मे भी सरकार की निन्दा होती। तीसरे, एक ऐसे युद्ध की सम्भावना बढ जाती जिसमे हजारो लाखो की तादाद मे अमेरिकी भी मरते। ऐसी जोखिम अमेरिका ने नही ली। हार मान कर ही वह वहाँ से हट गया।

1 दिनमान, अक्तूबर 1978, पृष्ठ 6

1957 से अमेरिकियों ने बड़े पैमाने पर बदला लेने की बात कहनी बिल्कुल बन्द कर दी लेकिन उनकी भाषा और हृदय में परिवर्तन किसी करुणावश आ गया था ? ऐसा नहीं है। 1957 में सोवियत संघ अपना स्पुतनिक कक्ष में पहुँचा चुका था। आज पृथ्वी से कोई 600 मील ऊपर साढ़े चार हजार उपग्रह प्रतिदिन चक्कर लगा रहे हैं उनमें देशों की संहारक शक्ति दिखने की क्षमता है। दो-तीन मील ऊपर से ही यह पता लग जाता है कि कौन देश क्या कर रहा है। पृथ्वी पर चलती हुई किसी भी मोटर-कार का पीछा अन्तरिक्ष से किया जा सकता है। पता नहीं आज देश जासूसी की घटनाओं को लेकर इतना हल्ला क्यों मचाते हैं जबकि यह बराबरी अन्तरिक्ष से हो रही है। करदाता का पैसा सबसे अधिक आज इन कामों पर खर्च किया जा रहा है। जगह-जगह देशों की सरकारें लोगों से शान्ति रखने की अपील करती है। लेकिन सैनिक शक्ति को दिन पर दिन बढ़ाया जा रहा है। जिस देश के के पास आज अधिकाधिक सैनिक शक्ति है उसी का सम्मान है। यह एक असाधारण स्थिति है। स्वयं सेना को आज अपने से यह पूछना पड़ रहा है कि आखिर उसकी समाज में भूमिका क्या है ?

आज अगर बम, उपग्रह और राकेटों आदि के कारण बड़े राष्ट्रों के लिए युद्ध असम्भव बन गया है तो यह भी सोचना पड़ेगा कि वे सैन्यवाद को किस तरह उचित ठहरा सकते हैं। इन्टर आर्म्स नामक एक फर्म की मैनचेस्टर में छह मंजिल इमारत जिसमें बिक्री के लिए कोई तीन लाख किस्म के हथियार रखे हुए हैं। इसी फर्म के एक प्रमुख हिस्सेदार और इसके अध्यक्ष ने विदेश सम्पर्क समिति के सामने बयान देते हुए कहा था कि अस्त्रों की होड़ विनाशकारी है जिससे एक न एक दिन ऐसा संघर्ष उत्पन्न होगा जिससे सारी दुनिया ही खत्म हो जाएगी। लेकिन सवाल यही है कि इस होड़ को छोड़ने में पहल कौन करे ?

नोबेल शान्ति पुरस्कार के संस्थापक श्री अल्फ्रेड नोबेल ने अस्त्रों की कमाई से ही दुनिया का प्रसिद्ध शान्ति पुरस्कार स्थापित किया था। सन् 1882 में उन्होंने कहा था "अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले मेरे कारखाने आप लोगों के सम्मेलनों से कहीं जल्दी युद्धों को समाप्त कर देंगे। एक दिन आएगा जब अस्त्र-शस्त्रों से लैस सेनाएँ एक सैकेण्ड में एक-दूसरे को खत्म कर देंगी और फिर यह संसार युद्ध से बाज आ कर अपनी सेनाओं को अपंग बना देगा। राष्ट्रों को पता ही नहीं है कि उनमें से किस के पास कितनी संहारक शक्ति है। इसलिए वे युद्ध करने में कतराते हैं, लेकिन सेनाओं और अस्त्रों की समस्या का अभी कोई समाधान नहीं निकला है। अस्त्रों का सबसे अधिक व्यापार यूरोप और अमेरिका से होता है। जब तक यह स्रोत समाप्त नहीं किया जाता युद्ध का भय भी खत्म नहीं होगा। जब हम एक-दूसरे के साथ शान्ति के साथ रहना सीख जाएँगे तो आखिर वह देश किस के हाथ अस्त्र बेचेंगे ? अन्य लोगों की अपेक्षा मुझे तो यही लग रहा है कि वह दिन जल्दी ही आएगा।"

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता
(International Morality)

समाज के हित एवं उसके सदस्यों की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि

शक्ति को मर्यादित रखा जाए। ये मर्यादाएँ शक्ति के लिए संघर्ष का ही एक भाग नहीं होती, किन्तु ये तो उस संघर्ष पर व्यक्तिगत सदस्यों की इच्छा से उनके आदेशों या व्यवहार के नियमों द्वारा ऊपर लादी जाती हैं। नैतिकता प्रायः सही व्यवहार को माना जाता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में 'सही व्यवहार' क्या है यह जानना कठिन है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जब एक राष्ट्र कदम उठाता है तो दूसरे देश उस कदम के औचित्य एवं नैतिकता को परखते है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नैतिकता के कुछ मापदण्ड तथा व्यवहार के कुछ नियम है जिनके आधार पर एक देश के व्यवहार के प्रति दूसरे देशों में प्रतिक्रिया होती है तथा दृष्टिकोण बनता है। विभिन्न लेखकों द्वारा इन नैतिक मान्यताओं का वर्णन किया गया है जिनका आचरण कर राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ राज्यो के परस्पर सम्बन्धो को शान्तिपूर्ण एवं कम अराजकतापूर्ण बना सकते है। ये नियम है, जैसे—अपने वायदों को पूरा करना, दूसरे के शब्दों पर विश्वास करना, न्यायपूर्ण कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर करना, अल्पसंख्यकों की रक्षा करना, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का बहिष्कार करना, आदि। इन नैतिक नियमों का सुविधा से अधिक सम्बन्ध नहीं रहता। एक कार्य सुविधाजनक नहीं होता तो भी वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता द्वारा सही ठहराया जाता है, दूसरी ओर अनेक कार्य सुविधाजनक होते हुए भी अनैतिक माने जाते है। श्लीचर के मतानुसार अपने देश के संकीर्ण राष्ट्रीय हित के अनुसार कार्य करना संकीर्ण सार्वभौमिक सत्य का पालन करने की अपेक्षा अधिक सुरक्षित तथा अधिक नैतिक है।

नैतिक की व्याख्या समय-समय पर बदलती रहती है। प्रत्येक देश अपने व्यवहार को नैतिक सिद्ध करने की कोशिश करता है। 'शक्ति ही औचित्य है' वाली कहावत के अनुसार विजय एवं सफलता प्रत्येक राष्ट्र के किसी भी व्यवहार को नैतिक बना देती है। आक्रमणकारी राष्ट्र भी अपने कार्य को उचित समझता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता शान्ति एवं युद्ध दोनो ही स्थितियों में मानव-जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहती है। शान्तिकाल में न केवल प्रमुख जनों की वरन् समस्त देशवासियों की रक्षा करना एक देश का नैतिक कर्त्तव्य होता है। हो सकता है कि इस कर्त्तव्य के हानिकारक परिणाम भी हो। अत्यधिक जनसख्या से पीडित रहते हुए भी देश अपने नागरिको की रक्षा करेगा। युद्ध के समय भी मानव-जीवन की रक्षा करना अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अग माना जाता है। विजेता राष्ट्र द्वारा हारे हुए राष्ट्र के नागरिको का संहार नही करना चाहिए और न उनको दास बनाना चाहिए। विजेता-राष्ट्र द्वारा विजित राष्ट्रो के लोगो को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य नही करना चाहिए। युद्ध के समय नागरिको एव सामान्य बस्तियो पर बमबारी न करके केवल सैनिक महत्त्व के अड्डो पर ही करनी चाहिए। भारत-पाक संघर्ष के समय जब पाकिस्तान द्वारा नागरिक-संस्थानो पर बमबारी की गई तो यह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का उल्लंघन ही था।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का जो चित्र हमने खींचा है, वह निम्नांकित शीर्षकों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

शान्तिकाल में मानव-जीवन की रक्षा
(Protection of Human Life in Peace)

राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अब अमानुषिक कार्यों को अनुचित समझा जाता है। सत्ता की होड़ मे लगे हुए देश भी नैतिकता की सीमाओं में आबद्ध हैं और आज सभी सरकारों का कर्त्तव्य है कि न केवल विशिष्ट व्यक्तियों, अपितु सामान्य जनता की भी सुरक्षा की जाए। प्रो हँस मॉर्गेन्थो ने लिखा है—"वह विदेश-नीति, जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जन-सहार को प्रोत्साहित नही करती, राजनीतिक समयानुकूलता के कारण इस सीमा को अपने ऊपर थोपती नही है। इसके विपरीत इसका लाभ पूर्ण तथा प्रभावशाली कार्य-सिद्धि मे होता है। इस सीमा का उदगम निरपेक्ष नैतिक सिद्धान्त मे निहित है और इसका पालन इसके राष्ट्रीय हितो के विपरीत होते हुए भी किया जाना अनिवार्य है। ऐसी विदेश-नीति उस समय राष्ट्रीय हितो का भी त्याग कर देती है, जब राष्ट्रीय हितों के लिए नैतिक सिद्धान्त का उल्लघन, जैसे कि शान्तिकाल मे जन समूह की हत्या का निषेध, आवश्यक हो जाता है।"

मॉर्गेन्थो का मत है अनावश्यक यातनाएँ और हत्याएँ न करने के कर्त्तव्य पालन के कारण ही पृथ्वी पर मानव-जीवन विकसित हो सका है। विकास का लक्ष्य किसी ऊँचे ध्येय की प्राप्ति हेतु हो जिसके लिए यातना अथवा नर-संहार आवश्यक नही है और इस ऊँचे लक्ष्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित भी पूर्ण सम्भव है।

यदि व्यवहारत देखा जाए तो आज के युग मे शान्तिकाल मे मानव-जीवन की रक्षा के नैतिक दायित्व को बहुत कुछ निभाया जाता है। आज एक निरकुश शासन के लिए भी यह कठिन है कि वह जनता की आवश्यक सुरक्षा की व्यवस्था न करे।

युद्धकाल में मानव-जीवन की सुरक्षा
(Protection of Human Life in War)

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का यह भी तकाजा है कि युद्धकाल मे जन-साधारण की जीवन की सुरक्षा प्रदान की जाए। इसी मानवतावादी उद्देश्य ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो (International Conventions) को प्रेरित किया है जिनका अनुकरण करके युद्ध के समय जन-साधारण के विनाश को टाला जाता है। इतिहास का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि जन-जीवन को युद्ध की विभीषिका मे बचाने के लिए समय-समय पर युद्ध सम्बन्धी विभिन्न घोषणाएँ की जाती रही हैं। सन् 1856 की पेरिस-घोषणा (The Declaration of Paris 1856) ने समुद्री अथवा समुद्रतटीय युद्ध (Maritime War-fare) को सीमित कर दिया था। सन् 1869 की सेंट-पीटर्सबर्ग-घोषणा ने ऐसे हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध ठहरा दिया था

जिनसे आवश्यक रूप से अपंग और असमर्थ व्यक्तियों के कष्ट बढ़े। इस घोषणा ने ऐसे प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग को भी निषिद्ध ठहरा दिया था जिनका वजन 400 ग्राम से कम हो और जिन्हें किसी विस्फोटक पदार्थ से संचालित किया जाता हो। सन् 1899 की हेग-घोषणा (The Hague Declaration of 1899) ने उन डमडम कारतूसों (Dum Dum Bullets) के प्रयोग को निषिद्ध किया था जो मानव-शरीर में प्रवेश करके फैल जाते थे या चपटे हो जाते थे। सन् 1907 के हेग कन्वेंशन (The Hague Convention of 1907) ने विष अथवा विषाक्त हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया था। इस कन्वेंशन ने विरोधी राष्ट्रों के व्यक्तियों को धोखा-धड़ी और क्रूरता से घायल करना भी निषिद्ध ठहराया गया था। आज भी अनेक ऐसे प्रयत्न किए जा रहे हैं जिनसे आणविक युद्ध सीमित हो जाएं। युद्ध-बन्दियों के सम्बन्ध में भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की दृष्टि से अनेक प्रयत्न किए गए हैं। सन् 1899 और 1907 के हेग कन्वेंशन और सन् 1929 व 1949 के जेनेवा कन्वेंशनों में इसकी विस्तार से व्यवस्था की गई है कि युद्ध-बन्दियों के साथ मानवीय व्यवहार किया जाए।

शासक वर्ग की नैतिकता
(Morality of Ruling Elite)

प्राचीनकाल से शासकवर्ग की नैतिकता के विषय में विवाद रहा है। उनके व्यवहारों के प्रति उत्पन्न शंकाओं का तीनों रूपों में निरूपण किया गया है—उनकी प्रशस्ति गाकर, उनकी निन्दा कर अथवा उनके व्यवहारों के शासन तथा शासित के दोहरे मापदण्ड को अपनाकर। प्रशस्ति गाने वालों की यह मान्यता रही है कि "राजा कभी कोई गलती नहीं कर सकता, वह सामान्य व्यवस्था के नियमों से परे है, उसकी इच्छा ही नियम है।" वर्तमान शासनतन्त्र में शासक जन-नेता होता है, वह जनता का प्रतिनिधि होता है अतः उसका व्यवहार स्तुत्य होता है, यह सिद्धान्त किन्हीं थोथी मान्यताओं पर आधारित है। सोरोकिन तथा लिन्डेन के अनुसार, "इन तर्कों को कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सका है और अब भी यह सम्भव नहीं है।" कोई भी सिद्धान्त वास्तविक तथा तार्किक रूप से शासकवर्ग के सदैव श्रेष्ठ 'व्यवहार' को सिद्ध नहीं कर पाता। इन सिद्धान्तों का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। केवल सामाजिक अथवा ऐतिहासिक आधार को वैज्ञानिक आधार मानना आवश्यक नहीं है।

शासकवर्ग के व्यवहार की निन्दा करने वाले शासकवर्ग पर धोखा-धड़ी, झूठ, ढोंग, आर्थिक शोषण तथा सत्ता के प्रति मोह के आरोप लगाते हैं। सैनिक शासन में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। उन पर सभी प्रकार के आदेश ऊपर से आरोपित होते हैं जिन्हें मानने के लिए वह विवश होते हैं। सैनिक समाज में विद्यमान सहकारिता एक अनिवार्यता होती है। शासन-पद्धति का कोई भी स्वरूप क्यों न हो, शासक अथवा शासकवर्ग समाज का उपयोग अपने लाभ के लिए करता है जिसमें व्यक्ति अथवा समाज की एक दास जैसी स्थिति होती है। अपने से शक्तिहीन देशों को अपने अधीन करने वाले शासकों ने प्रजा के सुखों का भी ध्यान रखा हो, ऐसी

कोई अनिवार्यता नही रही है। सिकन्दर महान्, शार्लमैन, फ्रेडरिक तथा पीटर महान् इस श्रेणी के शासक रहे हैं।

ऐसा भी हुआ है कि देश के किसी भाग के किसी व्यक्ति ने अपनी कुटिलता द्वारा अधिक प्रभावशाली बनकर स्वतन्त्र व्यक्तियों को अपने अधीन रखने का प्रयास किया है। ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे सत्ता आने पर उन्होंने अपने हितों तथा लाभों को सामान्य जनता के सुखो से अधिक महत्त्व दिया। लॉर्ड एक्टन के अनुसार, "सत्ता मनुष्य को मदान्ध बना देती है.........राजनीतिक दृष्टि से सभी महान् व्यक्ति निम्न चरित्र के व्यक्ति रहे हैं। यदि जनता उनके चरित्र को जान पाती तो उन सबको निश्चित ही फाँसी पर चढा देती।" पर इन लांछनो को लगाने पर भी यह सिद्धान्त अपने पक्ष मे निश्चय दृढ तथा तथ्यपूर्ण आधार उपस्थित नही कर पाता।

दोहरे मापदण्ड को मानने वाले नैतिक तथा राजनीतिक कार्यों मे द्वैत के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। किसी राजनीतिक कार्य के गुण-दोषो का विवेचन नैतिकता के आधार पर नही किया जा सकता, ऐसी उनकी मान्यता होती है। राष्ट्र हित मे किया गया कोई निन्दनीय कार्य भी नैतिकता के आधार पर निन्दनीय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उनके अनुसार व्यक्ति के जीवन के दो स्वरूप हैं—(i) व्यक्तिगत, (ii) राष्ट्रीय। दोनों मे कोई समता नही होती। सम्भवतः इन्हीं कारणों से प्राचीन शासकों ने अपने उद्देश्यो की पूर्ति करने मे कुछ भी करने मे सकोच नही किया। कोसिमो-डि-मैडिसी (Cosimo-di-medici) के अनुसार, "अपनी क्रूरता द्वारा शासक अपनी शक्ति का पुनःसचय करता है। उसके क्रूर कुकृत्यों से अच्छे समाज की व्युत्पत्ति होती है।"

नैतिकता के दोहरे मापदण्ड के सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न युगो मे विभिन्न व्यक्तियो ने बल प्रदान करने का प्रयास किया है। मैकियावली के अनुसार, "उस शासक के लिए जो अपनी सत्ता कायम रखना चाहता है, अच्छे न बनने की कला का मर्मज्ञ होना आवश्यक है। उसे आवश्यकतानुसार अपने विवेक का उपयोग करना आना चाहिए।" इसको और स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है, "किसी शासक मे समस्त सद्गुणो का होना प्रशसनीय है, किन्तु मानवीय सीमाओं के कारण यह सम्भव नही है। अत शासक मे उन दुर्गुणों का होना भी आवश्यक है जिनके अभाव मे राज्य की रक्षा सम्भव न हो पाए।......अच्छे तथा बुरे दोनो प्रकार के कार्यों से घृणा पैदा होती है.........। कभी-कभी राज्यतन्त्र को भली-भाँति चलाने के लिए शासक का भ्रष्ट होना आवश्यक हो जाता है। उन शक्तियो के भ्रष्ट हो जाने पर, जिनके अभाव मे शासन सम्भव नहीं है, शासक को भी उनका अनुसरण करना होता है। ऐसी स्थिति मे सत्कार्यों का किया जाना शासक के लिए शत्रु उत्पन्न करता है।"

विभिन्न विचारधाराएँ अपने पक्ष तथा अन्य सिद्धान्तों के विरोध मे विभिन्न तर्क उपस्थित करती हैं। इनमे से किसी एक का अच्छा होना विवादास्पद है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का मूल्यांकन
(Evaluation of Internat onal Moral.ty)

निष्कर्ष रूप में यह कहना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विषय में विचारकों में मतभेद है। यथार्थवादी विचारकों के अनुसार राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध शक्ति पर आधारित होते हैं। इनमें नैतिकता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत आदर्श को महत्व देने वाले अवास्तविक विचारकों के अनुसार नैतिकता के नियमों का व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों द्वारा समान रूप से व्यवहार होना चाहिए।

यथार्थवादी विचारधारा के अनुसार प्राचीन भारत में कौटिल्य के समय से मैकियावेली और हीगल के समय तक विभिन्न राष्ट्रों के मध्य नैतिकता का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं रहा है। हीगल (Hegel) के अनुसार, "प्रत्येक राष्ट्र अपने में एक पूर्ण इकाई है। राष्ट्रों में सद्भाव अथवा विरोध उनके निजी स्वार्थों को ध्यान में रखकर होता है।" कैनेथ थॉम्पसन (Kenneth W. Thompson) के अनुसार, "राष्ट्रीय नैतिकता अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान नैतिकतापूर्ण दृष्टिकोण की दुर्घटनाएँ हैं जिनके मूल में दिखावापन अथवा घोर अहम् है।" राष्ट्र द्वारा की गई घोषणाओं तथा स्वीकृत नीतियों के अनुसार राष्ट्र के नैतिक मूल्यों का निर्धारण होता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिकता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

इसके विपरीत आदर्शवादी विचारकों के अनुसार नैतिक नियमों का मूल्य केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु राष्ट्रों के लिए भी है। व्यक्ति तथा राष्ट्र में वैचारिक एकता की स्थापना के लिए दोनों द्वारा समान नैतिक मूल्यों का स्वीकार किया जाना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय व्यवहार में समान प्रतिष्ठित मूल्यों को महत्व दिया जाना चाहिए। प्रेसीडेंट विल्सन के शब्दों में, "हम ऐसे युग के प्रारम्भ पर हैं जिसमें राष्ट्रों द्वारा उन्हीं व्यवहारों, विचारों तथा मूल्यों को महत्व दिया जाएगा जिनकी सभ्य देश अपने नागरिकों से अपेक्षा करते हैं।" प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट के अनुसार, "राष्ट्रीय नैतिकता व्यक्तिगत नैतिकता की तरह नितान्त आवश्यक है।"

कसौटी पर कसने पर उपर्युक्त दोनों ही विचारधाराएँ खरी नहीं उतरतीं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अपना विशिष्ट नैतिक स्वरूप है। प्रत्येक निरंकुश शासक के भी अन्य देशों के प्रति अपने निश्चित नैतिक मापदण्ड रहे हैं। प्रोफेसर क्लाड (Claude) के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभा एक सामान्य म्युनिसिपल सभा के अनुसार है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय रूप से मान्य मूल्यों तथा आवश्यकताओं को स्वीकार किया गया है। उनके विचारानुसार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर प्रभावशाली अंकुश न लगाने का मूल कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य संस्थाओं का होना है जो अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु नैतिकता के मूल्यों को छोड़ देती है।

अन्त में, यह स्वीकार करना होगा कि आज की बदलती हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का महत्व निरन्तर घटता जा रहा है। इसका कारण यह

है कि प्रजातन्त्र के युग मे राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनैतिक कार्यों के लिए किसी व्यक्ति को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता जैसा कि अठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दी के राजतन्त्रो के युग मे सम्भव था। थॉम्पसन के शब्दो में, "अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उसी दिन समाप्त हो गई जब शेष ससार द्वारा स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए राष्ट्रीय उद्देश्यो को शुद्ध लक्ष्य माना गया", और इसमे सन्देह नही कि जब पाकिस्तान के तानाशाहो ने पूर्वी पाकिस्तान (अब स्वतन्त्र बगलादेश) के लाखो नर-नारियो और बच्चो पर अमानुषिक अत्याचार किए तो विश्व के कुछ राष्ट्र मौखिक सहानुभूति दिखाते रहे। अधिक राष्ट्रों ने मौन साध लिया और अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की सरक्षक कहने वाली विश्व-संस्था (सयुक्त-राष्ट्रसघ) तमाशा देखती रही। वास्तव मे, जहाँ महाशक्तियाँ स्वय संयुक्त होकर रुचि लेती हो वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता दिखाई देने लगती है; जहाँ महाशक्तियो के हित टकराते हो वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता 'नगी भिखारिन' बन कर रह जाती है। छोटे राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की पुकार करते हैं पर "नक्कारखाने मे तूती की आवाज कौन सुनता है?"

विश्व जनमत
(World Public Opinion)

आधुनिक युग लोकतन्त्र का युग कहा जाता है जिसमे राष्ट्रीय स्तर की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लोकमत का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। लेकिन लोकमत की प्रभावशीलता दोनो स्तरों पर एक जैसी नही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का व्यावहारिक विश्लेषण यह प्रकट करता है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर विश्व-लोकमत का प्रभाव पडता है, तथापि विश्व-लोकमत की अवहेलना ही अधिक हुई है। विश्व-लोकमत 'शक्ति सम्बन्धो' और 'शक्ति-सघर्ष' की धारणाओं से अत्यधिक प्रभावित रहा है और जहाँ कहीं महाशक्तियो मे मतैक्य होता है वहाँ विश्व-लोकमत की प्रभावशीलता दिखलाई देने लगती है और जहाँ उनमें विरोध होता है वहाँ शेष राष्ट्रो की आवाज कुचल दी जाती है। यद्यपि अब स्थिति पलटती जा रही है, एशिया और अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्रों के उदय ने महाशक्तियो की मनमानी पर कुछ प्रभावी अकुश लगाया है तथापि यह नही कहा जा सकता कि विश्व-लोकमत का व्यवहार मे वस्तुत अस्तित्व है। यदि ऐसा होता तो (1) बगलादेश में पाकिस्तान भयकर नर-सहार न कर पाता, (2) दक्षिणी अफ्रीका मे 'गोरी चमडी' का 'काली चमडी' पर निरन्तर अत्याचार रुक जाता, (3) शस्त्रास्त्रों पर अरबों-खरबों के व्यय को घटाकर विश्व की गरीबी को मिटाने की दिशा मे प्रभावशाली प्रयत्न किए जाते तथा विश्व के बहुसख्यक पिछडे हुए राष्ट्रों की मनोभावनाओं और आकांक्षाओं का सम्मान किया जाता; (4) महान् अन्तर्राष्ट्रीय सस्था सयुक्तराष्ट्र संघ महाशक्तियों के दाव-पेचों की रग-स्थली न बनती और सही रूप मे विश्व-लोकमत की आवाज का सम्मान करती; (5) विश्व के बडे देश दूसरे राष्ट्रो के मामलो मे हस्तक्षेप बन्द कर देते; (6) आणविक विस्फोटो द्वारा विश्व के

वातावरण को दूषित न बनाया जाता, (7) विश्व के महासागरों को शक्ति-स्पर्द्धा से उन्मुक्त रखा जाता तथा सैनिक अड्डों का विस्तार न किया जाता; (8) मानव-अधिकारों की सर्वत्र रक्षा की जाती और इसी प्रकार के अन्यान्य मामलों पर विश्व की अधिकांश जनता व विश्व के अधिकांश राष्ट्रों की बात सुनी जाती। कहने का आशय यह है कि विश्व-लोकमत अपना प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य डालता है, लेकिन अधिकांशतः यह निष्प्रभावी सिद्ध होता है या बहुत दीर्घकाल में अपना प्रभाव दिखाता है। जिस तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर अभिनेताओं की भूमिकाएँ बदल रही हैं और महाशक्तियों की 'पकड़ और जकड़' ढीली पड़ती जा रही है, शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हो रहा है, उसे देखते हुए यह आशा की जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्व-लोकमत से अधिकाधिक प्रभावित होती जाएगी। विश्व-लोकमत का बहुत ही यथार्थवादी विश्लेषण हंस मॉर्गेन्थो ने प्रस्तुत किया है और हमारा अग्रिम विवेचन अधिकतर मॉर्गेन्थो के विचारों का ही संक्षेप है।[1]

विश्व-लोकमत क्या है ?
(What is World Opinion ?)

कूले के अनुसार लोकमत एक सावयवी प्रक्रिया है, यह एक विशेष समय में एक विशेष प्रश्न पर सहमति मात्र नहीं है। मॉर्गेन्थो के शब्दों में, "स्पष्टतया विश्व-लोकमत वह लोकमत है जो राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर लेता है। वह विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को कम से कम कुछ मूल अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में एक मतैक्य में एकीकृत कर देता है। समस्त विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज की बिसात पर, जो कोई चाल इस मतैक्य द्वारा अस्वीकृत की जाती है, उसके विरुद्ध यह मतैक्य स्वचालित प्रतिक्रियाओं में अपना अनुभव करा देता है। जब कभी किसी राष्ट्र की सरकार एक निश्चित नीति की घोषणा करती है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर कोई ऐसा कार्य करती है, जो जनमत का उल्लंघन करता है, तो मानवता, राष्ट्रीय सम्बन्धों की चिन्ता किए बिना, उठ खड़ी होगी। यही नहीं, वह जनमत का उल्लंघन करने वाली सरकार पर स्वचालित अनुशास्तियों के माध्यम से कम से कम अपनी इच्छा थोपने का प्रयत्न तो करेगी ही। इस प्रकार वह सरकार फिर स्वयं को लगभग उसी स्थिति में पाती है, जिसमें कि एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह, जिसने अपने राष्ट्रीय समाज अथवा इसके उपविभागों में किसी एक की लोक-नीतियों की अवज्ञा की है। समाज या तो उनको अपने मानकों के अनुरूप बनने के लिए विवश कर देगा अथवा अनुरूपता के अभाव में उनका निष्कासन कर देगा।"[2]

विश्व-लोकमत की उपर्युक्त व्याख्या के उपरान्त मॉर्गेन्थो ने स्वयं प्रश्न किया

1 *Hans Morgenthau* : Ibid, pp. 250–260.
2 *Morgenthau* : Ibid, p. 251.

है कि—यदि विश्व लोकमत के सामान्य सन्दर्भों का ऐसा अर्थ है तो क्या आजकल ऐसा विश्व-लोकमत अस्तित्व मे है और क्या यह राष्ट्रीय सरकारो की विदेश-नीतियो पर अवरोधक प्रभाव डालता है ? मॉर्गेन्थो के अनुसार इन प्रश्नो का उत्तर निश्चय ही नकारात्मक होगा । आधुनिक इतिहास मे ऐसा उदाहरण सम्भवतः नही मिलता कि कोई सरकार किसी अधिराष्ट्रीय लोकमत की सहज या स्वैच्छिक प्रतिक्रिया द्वारा किसी विदेश नीति का अनुसरण करने से रुक गई हो । आधुनिक इतिहास मे ऐसे प्रयत्न हुए है कि किसी सरकार की विदेश-नीति के विरुद्ध विश्व-लोकमत को गतिशील बनाया गया हो, उदाहरणार्थ—तीसा के दशक मे चीन के विरुद्ध जापानी आक्रामक कार्यवाहियो, सन् 1935 से जर्मन विदेश-नीतियो, सन् 1936 मे इथियोपिया के विरुद्ध इटली के आक्रमण, सन् 1956 मे हगरी-क्रान्ति के रूसी-दमन आदि के विरुद्ध विश्व-लोकमत सगठित करने के प्रयत्न हमारे सामने है लेकिन इन प्रयत्नो के परिणाम अन्ततोगत्वा क्या निकले ? यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाए कि ये प्रयत्न एक निश्चित मात्रा मे सफल रहे और इन प्रयत्नो मे एक विश्व-लोकमत का अस्तित्व था, किन्तु यह भी मानना पडेगा कि ये प्रयत्न उन नीतियो का अवरोध करने मे सफल नही हुए जिनके विरोध मे ये सचालित किए गए थे । सही बात यह है कि तथ्यो द्वारा इस बात की पुष्टि नही होती कि ये प्रयत्न किसी सीमा तक सफल रहे थे या उनमे विश्व-लोकमत वास्तव मे झलकता था ।

मॉर्गेन्थो ने पुन प्रश्न उठाया है कि तब क्या कारण है कि उपर्युक्त प्रश्नो का बहुधा स्वीकारात्मक उत्तर दिया जाता है । मॉर्गेन्थो के मतानुसार इसका कारण (1) हम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे दो कारको या तत्वों की भ्रामक व्याख्या मे ढूँढ सकते है जो एक विश्व-लोकमत के सम्भव विकास की ओर सकेत करती है और (2) एक तीसरे उस कारक की उपेक्षा मे ढूँढ सकते हैं जिससे विश्व-लोकमत का ऐसा कोई भी विकास असम्भव बन जाता है । मॉर्गेन्थो के अनुसार ये तीनो कारक निम्नलिखित हैं—

(1) विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता (Psychological Unity of the World)
(2) प्राविधिक एकीकरण की अस्पष्टता (Ambiguity of Technological Unification)
(3) राष्ट्रवाद की अडचन (The Barrier of Nationalism)

विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता
(Psychological Unity of the World)

स्वतन्त्रता, शान्ति और व्यवस्था—ये ऐसी बातें हैं जिन्हें सभी व्यक्ति चाहते हैं और इस प्रकार ये बातें एक प्रकार से विश्व-लोकमत का प्रतीक हैं । इनमें से किसी का भी उल्लघन विश्व-लोकमत का उल्लघन समझा जाएगा और यह निश्चित है कि विश्व-लोकमत इन बातो के उल्लघनकर्त्ता के विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया

व्यक्त करेगा। मूल रूप में मनुष्य मात्र की इच्छा का दमन विश्व-लोकमत को स्वीकार नहीं होगा।

विश्व की यह मनोवैज्ञानिक एकता विश्व-लोकमत के विकास को सम्भव बनाती है लेकिन वास्तविकता (Reality) कुछ और ही दर्शाती है। दार्शनिक दृष्टि से तो मानकों की समरूपता (Similar ty of Standards) दिखाई देती है—अधिकांश राजनीतिक दर्शन सामान्य भलाई, विधि, शान्ति और व्यवस्था, जीवन, स्वतन्त्रता, सुख की खोज आदि के मूल्यांकन में सहमत है—तथापि नैतिक निर्णयों और राजनीतिक मूल्यांकनों में भारी अन्तर दिखाई देता है। एक जैसी नैतिक और राजनीतिक अवधारणाएँ विभिन्न वातावरणों में भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करती हैं। एक जगह न्याय और लोकतन्त्र का एक अर्थ लगाया जाता है तो दूसरी जगह बिल्कुल भिन्न अर्थ लगाने के उदाहरण मिलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर किसी कार्यवाही को एक समूह अनैतिक और अन्यायपूर्ण ठहराता है तो दूसरा समूह उसी कार्यवाही की प्रशंसा करता है। इस प्रकार एक ओर मनोवैज्ञानिक लक्षणों एवं तात्विक उच्चाकांक्षाओं में अन्तर है, तो दूसरी ओर सहवर्ती राजनीतिक अनुभवों, सार्वभौमिक नैतिक दृढ़ विश्वासों तथा सामान्य राजनीतिक उच्चाकांक्षाओं का अभाव है। ये बातें विश्व-लोकमत के अस्तित्व को या उसके विकास की सम्भावना को नकारती हैं।[1]

औद्योगिक एकीकरण की अस्पष्टता या संदिग्धता
(Ambigu ty of Technological Unification)

तकनीकी अथवा औद्योगिक विकास के कारण विश्व का जनमानस एक दूसरे के काफी निकट आ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संचार-साधनों ने विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को एक दूसरे को समझने और सूचित होने का अवसर प्रदान किया है और इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानो हम विश्व-लोकमत की प्राप्ति के सन्निकट पहुँच गए हैं। मॉर्गेन्थो के शब्दों में, "जब हम कहते हैं कि 'एक विश्व' ('One World') है तो हमारा अभिप्राय केवल यह नहीं होता कि संचार साधनों के वर्तमान विकास ने भौतिक सम्पर्कों तथा मानव-जाति के सदस्यों के बीच सूचना और विचारों की भौगोलिक दूरियों को वस्तुतः मिटा दिया है, बल्कि हमारा यह भी अभिप्राय होता है कि शारीरिक और बौद्धिक संचार के इस असीमित अवसर ने सारी मानवता को अपने में समेटने वाले अनुभव के उस साम्य को जन्म दिया है जिसमें विश्व-लोकमत का विकास सम्भव हो सकता है।" लेकिन मॉर्गेन्थो का विचार है कि, यह परिणाम तथ्यों द्वारा सिद्ध नहीं होता। दो विचार यह संकेत देते हैं कि नैतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में ऐसा कुछ नहीं है जो कि विश्व के प्राविधिक एकीकरण के अनुरूप है। इसके विपरीत, आधुनिक विश्व नैतिक तथा राजनीतिक एकीकरण में उससे भी दूर है जितना कि यह और भी कम अनुकूल तकनीकी परिस्थितियों में था।

सर्वप्रथम आधुनिक प्रौद्योगिकी (Modern Technology) ने विभिन्न देशों

1 *Morgenthau* : Ibid, p. 252-53.

के बीच सचार साधनो की सुविधाओं के साथ-साथ, उन देशों की सरकारो और प्राइवेट एजेंसियों के हाथ मे भी ऐसी अपूर्व शक्ति सौंप दी है कि वे इस प्रकार के सचार को असम्भव बना दे। 200 वर्ष पहले एक शिक्षित रूसी के लिए फ्रांसीसी राजनीतिक दर्शन और कार्य-पद्धति सीखना कही अधिक सरल था। एक अग्रेज को जो अपने राजनीतिक विचारो को फ्रांसीसियो मे फैलाना चाहता था, आज की तुलना मे अधिक अच्छा अवसर प्राप्त था। उस समय तक एक स्पेनवासी के लिए उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप मे प्रवास अथवा वहाँ की यात्रा आज की तुलना मे एक अधिक सरल काम था। वास्तव में बात यह है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी ने न केवल व्यक्तियो के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वे भौगोलिक दूरियो के बावजूद दूसरे लोगो के साथ आदान-प्रदान कर सकें बल्कि इसने सरकारो और सचार की प्राइवेट एजेंसियों के लिए ही यह सम्भव बना दिया है कि वे यदि उपयुक्त समझे तो इन सचार साधनो को काट दें। पुनश्च, वहाँ व्यक्तियों के बीच सचार व्यवस्था अधिकांशत तकनीकी सम्भावना के क्षेत्र मे है। सरकारी और प्राइवेट नियन्त्रण वहाँ एक तकनीकी तथा राजनीतिक वास्तविकता बन गए है।

पचास वर्ष पूर्व विदेश भ्रमण के इच्छुक एक अमेरिकी नागरिक के लिए केवल यातायात के साधन की आवश्यकता थी जबकि आज प्रौद्योगिक विश्व मे उसे ऐसा करने का कोई अवसर नही मिलेगा यदि उसके पास उन सरकारी पारपत्र सम्बन्धी कागजो मे से एक की भी कमी है जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने देश की सीमा के पार नही जा सकता। हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि इसका कारण आधुनिक प्रौद्योगिकी ही है जिसने अधिनायकवादी या समग्रवादी सरकारों (Total tar an Governments) के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वे अपने नागरिको को कुछ निश्चित विचारो और सूचनाओं की ही खुराक दे और दूसरो से उन्हे अलग-थलग रख दें। यह भी आधुनिक प्रौद्योगिकी के ही कारण है कि समाचारो और विचारो का सग्रह तथा प्रसार एक विशालकाय व्यापार (A B1g Bus ness) बन गया है जिसमें काफी पूंजी की आवश्यकता होती है।

प्रौद्योगिक दृष्टि से आदिम युग मे, जबकि मुद्रण हाथ से होता था, कोई भी व्यक्ति अपने साधारण साधनो से पुस्तक या समाचार-पत्र छपा सकता था और उनको वितरित करा कर लोगो के समीप पहुँचा सकता था। लेकिन आज के विश्व मे लोगों के वृहत् समूह का अभिव्यक्ति के साधनो पर कही भी प्रभाव नही है। यदि कुछ अपवादो को छोड दें तो केवल पर्याप्त साधनसम्पन्न व्यक्ति और सगठन ही जनता तक अपनी आवाज पहुँचा सकते है। आज ऐसी बहुत कम सूचनाओं और विचारो को ही लोगों तक पहुँचने दिया जाता है जो राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रतिकूल हैं। स्पष्ट है कि प्रौद्योगिक रूप से हम 'एक विश्व' की बात कर सकते है लेकिन नैतिक और राजनीतिक रूप से 'एक विश्व' की बात करना कठिन है।

मॉर्गेन्थो का कहना है कि यदि ससार भर मे सूचना और विचारों के स्वतन्त्र आदान-प्रदान और प्रसारण की सुविधा होती तो भी विश्व-लोकमत के अस्तित्व के

प्रति आश्वस्त होना कठिन होता। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि विश्व-लोकमत समाचारों और विचारों के स्वतन्त्र प्रवाह का प्रत्यक्ष परिणाम है वे संचरण की तकनीकी प्रक्रिया और संचारित होने वाली वस्तु के बीच अन्तर करने में असफल हैं। वे केवल संचरण की तकनीकी प्रक्रिया से तो सम्बन्ध रखते हैं जबकि संचारित होने वाली वस्तु की उपेक्षा कर देते हैं। वे भूल जाते हैं कि संचारित होने वाली सूचनाएँ और विचार वास्तव में उन अनुभवों के प्रतीक हैं जिन्होंने विभिन्न लोगों के दर्शनों, नीति-शास्त्रों और राजनीतिक अवधारणाओं को ढाला है। यदि ये अनुभव और उनकी बौद्धिक व्युत्पत्तियाँ सारी मानवता में समरूप होतीं तो सूचनाओं और विचारों के स्वतन्त्र प्रवाह से निःसन्देह विश्व लोकमत का निर्माण स्वतः हो जाता। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, वास्तव में अनुभवों की कोई समरूपता या समानता नहीं है जो मानव-समाज को एकता के सूत्र में बाँध सके और यही कारण है कि अमेरिकी, भारतीय और रूसी अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति उसी सूचना या समाचार को अपने विशिष्ट दार्शनिक, नैतिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखता है। ये विभिन्न परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण उस एक ही समाचार को अलग-अलग रूपरंग प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ चाहे कोरिया-युद्ध की रिपोर्ट को लें या सन् 1956 की हंगरी-क्रान्ति की रिपोर्ट को लें, विभिन्न पर्यवेक्षकों की निगाहों में ये रिपोर्ट अलग-अलग वजन रखेंगी।

इस प्रकार, मॉर्गेन्थो के अनुसार, यदि हम वास्तव में एक ऐसे विश्व में रह रहे होते जो राष्ट्रीय सीमाओं की कोई चिन्ता किए बिना उन्मुक्त रूप से भ्रमणशील व्यक्तियों, समाचारों और विचारों के साथ आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा एकीकृत (Unified) होता, तो भी एक विश्व लोकमत की प्राप्ति सम्भव नहीं थी। कारण स्पष्ट है और वह यह कि लोगों के मस्तिष्क राजनीतिक बाधाओं के अभाव में पारस्परिक आदान-प्रदान करने में समर्थ होते भी, तो वे एक न होते। यदि अमेरिकी, रूसी और भारतीय एक दूसरे के साथ बोल सकते तो विभिन्न भाषाओं में ही बोलते। यदि उन्होंने एक से ही शब्द कहे होते तो भी उनमें से प्रत्येक के लिए उन शब्दों से भिन्न-भिन्न लक्ष्य, मूल्य और आकांक्षाएँ अभिव्यक्त होतीं।

राष्ट्रवाद की अड़चन
(The Barrier of Nationalism)

राष्ट्रवाद का विचार भी विश्व-लोकमत के निर्माण में एक बाधा है। जब विल्सन के 14 सूत्रों (The Fourteen Points) के शब्दों से लोग सर्वत्र सहमत थे, उस समय भी प्रत्येक देश के अपने-अपने विशिष्ट राष्ट्रवाद ने इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ निकाले, उनको अपने विशिष्ट रंग में रंग दिया और उन्हें अपनी विशिष्ट आकांक्षाओं का प्रतीक बना दिया, और इस प्रकार विश्व-लोकमत जैसी कोई बात सम्भव नहीं हुई। हम समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में देखते हैं कि विश्व में युद्ध की वीभत्सता का विरोध करने और युद्धों को दूर करने की इच्छा

लगभग सर्वव्यापक है। वाशिंगटन, मास्को, पेकिंग, नई दिल्ली, लन्दन, पेरिस और मेड्रिड की सड़कों पर लोग युद्ध के बारे मे इसी दिशा मे सोचते और बोलते हैं, वे सामूहिक विनाश के आधुनिक साधनो द्वारा लड़े जाने वाले युद्धों की समाप्ति चाहते हैं। लेकिन गहराई से देखें तो ये सब बातें दिखावटी और भ्रामक हैं क्योंकि जहाँ राष्ट्रीय हित की बात उठती है वहाँ लोग युद्ध का विरोध नही करते। मानव-जाति के अधिकतम सदस्य चाहे वे अमेरिकी हो या चीनी या अंग्रेजी या रूसी युद्धों को अपने विशेष राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखते हैं। वे उन युद्धों का विरोध करते हैं जो उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर प्रभाव नही डालते जबकि उन युद्धों से सकोच नहीं करते जो उनके राष्ट्रीय हित मे होते हैं। सक्षेप मे अलग-अलग विशिष्ट राष्ट्रवाद विश्व-लोकमत के निर्माण और विकास मे बाधक है। राजनीति के अन्तिम तथ्य राष्ट्र है, मानवता नही।[1] राजनीतिक सगठन के हृदय नही होता, राजनीतिक मानवता जैसी कोई वस्तु नही होती।[2] ऐसा विश्व-लोकमत जो राष्ट्रीय सरकारों की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को नियन्त्रित करे केवल एक अभिधारणा है, कोरी कल्पना है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की वास्तविकता ने अभी तक कठिनाई से ही विश्व-लोकमत का कोई लक्षण प्रकट किया है।[3] जब कोई राष्ट्र स्वय को तथा दूसरे राष्ट्रों को यह विश्वास दिलाने के लिए कि उसकी विदेश-नीतियाँ सम्पूर्ण मानवता द्वारा सर्वत्र स्वीकृत मानकों के अनुरूप है, 'विश्व-लोकमत' अथवा 'मानवता के अन्त करण' का आह्वान करती हैं तो इसका किसी वास्तविकता से सम्बन्ध नही होता। विश्व-लोकमत मे विश्वास करने वाले यह भूल जाते हैं कि विश्व में हर कहीं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों मे लोकमत को राष्ट्रीय नीतियो के अभिसरणों की ओर मोड दिया गया है।

प्रस्तुत अध्याय के सम्पूर्ण विवरण के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि एक राष्ट्र की शक्ति के प्रयोग पर अनेक सीमाएँ लगी हुई हैं। इन सीमाओं के कारण विश्व में व्यवस्था कायम रहती है। यद्यपि यह व्यवस्था अनेक बार भग हो जाती है जिसमे विश्व-शान्ति के लिए गम्भीर खतरे पैदा हो जाते हैं, किन्तु शक्ति की विभिन्न सीमाओं मे से किसी एक अथवा एक से अधिक के सहयोग से विश्व को विनाश से बचा लिया जाता है। व्यक्तिगत जीवन की भांति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर भी इकाइयों का व्यवहार विश्व-समाज की परम्पराओं रूढियों, मूल्यों एव विश्वासों द्वारा पर्याप्त प्रभावित होता है। विश्व-शान्ति के लिए परम आवश्यक है कि राष्ट्रीय शक्ति की इन सीमाओं को सक्रिय एव प्रभावशाली बनाया जाए।

1 "In politics the nation and not humanity is the ultimate fact."
—Ibid, p. 260

2 "The body politics has no heart...There is no such thing as political humanity." —Ibid, p. 260.

3 "A world public opinion restraining the international policies of national governments is a mere postulate, the reality of international affairs shows as yet hardly a trace of it." —Ibid, p. 260

अन्तर्राष्ट्रीय विकास और संयुक्त राष्ट्रसंघ
(International Development and U. N. O.)

चार्टर की प्रस्तावनाओं में यह स्पष्ट उल्लेख है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और मानव-कल्याण सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करेगा तथा नस्ल, लिंग, भाषा, या वर्ग के भेद-भाव के बिना मानव-मात्र के लिए मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओं को प्रोत्साहन देगा। इस प्रकार चार्टर स्पष्ट रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय विकास के साथ सम्बद्ध कर लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखना तथा राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाना संयुक्त राष्ट्रसंघ का सर्वप्रमुख उद्देश्य है और इनके मूल में भी अन्तर्राष्ट्रीय विकास का विचार अप्रत्यक्ष रूप से निहित है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा तथा राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के अभाव की स्थिति में किसी भी क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय विकास की बात करना व्यर्थ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों की रचना ही इस प्रकार की हुई है कि उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की भूमिका तैयार हो और संघ का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट हो कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा विभिन्न राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना तथा मानव-कल्याण के कार्य प्रमुख कर्तव्य समझे जाएँ। संघ के सिद्धान्तों के लिए सदस्य राष्ट्रों की निष्ठापूर्ण स्वीकृति ही संघ को इस दृष्टि से सक्षम बनाती है कि वह शान्ति एवं सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी सीमाओं में रहते हुए हस्तक्षेप कर सके।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा बनाए रखकर अन्तर्राष्ट्रीय विकास का आधार तैयार करना

संघ का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना है। चार्टर के अन्तर्गत यह दायित्व सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है और विशेष परिस्थितियों में महासभा भी इस कार्य में प्रभावपूर्ण योगदान कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा स्थापित रखने के लिए मुख्यतः दो प्रक्रियाएँ उपयोग में लाई जाती हैं— शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ, एवं दमनकारी अथवा बाध्यकारी निर्णयों की प्रक्रियाएँ। इन दोनों ही प्रक्रियाओं का विस्तार से विवेचन अध्याय 10 में किया जा चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रख कर तथा इसे हर सम्भव उपाय से प्रोत्साहन देकर संयुक्त राष्ट्रसंघ उन सभी कार्यों और परिस्थितियों के लिए आधारभूमि तैयार करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विकास में सहायक है। संयुक्त राष्ट्र की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह बिना संघर्ष एवं सैनिक कार्यवाही के विवाद को सुलझाने में अपने सद्भाव का उपयोग करे। परतन्त्र लोगों की महत्त्वाकांक्षा को प्रोत्साहित करके संयुक्त राष्ट्र ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है एवं संयुक्त राष्ट्र के प्रभाव के कारण ही साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया जा सका है। संयुक्त राष्ट्र का अस्तित्व

अपने स्वयं मे बड़ी भारी उपलब्धि है जहाँ संघर्षरत राष्ट्र अपने संकुचित दायरे से बाहर आकर अपनी समस्याओं पर उदारता से विचार कर सकते है एवं जहाँ पर सम्बन्धित पक्षों को विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा के सन्दर्भ मे विवाद के समाधान हेतु अनुकूल वातावरण उपलब्ध हो सकता है । यदि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य उसका लाभ उठाना चाहें तो वे निश्चित रूप से अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते है । सयुक्त राष्ट्र की सफलता सदस्य राष्ट्रों के दृष्टिकोण पर आधारित रहती है । सयुक्त राष्ट्र विश्व मे शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने में हर सम्भव सहयोग के लिए प्रस्तुत है परन्तु उसे निर्णयों को स्वीकार कराने की शक्ति प्राप्त नही है । सम्बन्धित सदस्य राष्ट्रों की सद्भावना एवं विश्वास ही उसकी शक्ति है एवं यदि समस्त राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र के प्रति अविश्वास का दृष्टिकोण अपना लेंगे तो निश्चित रूप से सयुक्त राष्ट्रसंघ अपंग रह जाएगा ।

निःशस्त्रीकरण-प्रयासों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विकास के लिए वातावरण तैयार करना

अपने सामान्य और सार रूप मे निःशस्त्रीकरण की धारणा मे विश्व शान्ति और सुरक्षा की सम्भावनाएँ निहित हैं । यदि शस्त्रास्त्रो के निर्माण पर व्यय किया जाने वाला विपुल धन मानव-कल्याण कार्यों पर व्यय किया जाए, संसार से गरीबी को हटाने के लिए किया जाए, विश्व के अभावों को दूर करने के लिए किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय विकास के शीर्ष पर पहुँचने मे विलम्ब नही लगेगा । 'शस्त्रों की दौड' के स्थान पर 'शान्ति के लिए दौड' शुरू होने पर मानव-समाज की समृद्धि का मार्ग अधिक प्रशस्त होगा तथा विश्व के औद्योगीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नए युग का सूत्रपात होगा। निःशस्त्रीकरण से विश्वराज्य के निर्माण की सम्भावनाएँ बढेंगी,महायुद्ध का सम्भावित खतरा टल जाएगा तथा राष्ट्रों के पारस्परिक विवाद आपसी बातचीत द्वारा सुलझाने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा । शीत-युद्ध का ज्वर कम हो जाएगा, आतंक के बादल छँट जाएँगे और राष्ट्रों के विवाद बडी सीमा तक गोलमेज सम्मेलनों मे तय होने लगेंगे । निःशस्त्रीकरण नैतिक रूप से भी आवश्यक है क्योंकि "किसी राष्ट्र को यह अधिकार नही है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्रों की वर्तमान और भावी पीढियों के स्वास्थ्य तथा जीवन को रेडियो सक्रिय धूल तथा सामरिक तैयारी द्वारा खतरे मे डाले ।" सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में नि.शस्त्रीकरण को महासभा और सुरक्षा परिषद दोनो की ही कार्यसूची मे सम्मिलित किया गया है । अनुच्छेद 11,26 एवं 47 मे तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएँ है । प्रारम्भ से ही सघ निःशस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान दे रहा है और समय-समय पर निःशस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान दे रहा है और समय-समय पर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित करता रहा है । निःशस्त्रीकरण की दिशा मे प्रयत्नो के लिए सयुक्त राष्ट्रसंघ ने विभिन्न आयोग भी नियुक्त किए है । संघ के निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयासो का विस्तार से विवेचन पिछले पृष्ठो मे किया जा चुका है । सयुक्त राष्ट्र महासभा ने हाल ही के वर्षों मे हथियारों की होड पर अकुश लगाने के सम्बन्ध

में कई महत्त्वपूर्ण फैसले किए हैं तथा आम एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण की दिशा में कई व्यावहारिक कदम उठाए हैं, यथा सुरक्षा-परिषद् के स्थाई सदस्य-राज्यों के सैनिक बजटों में 10% की कटौती करना और इसके फलस्वरूप बचे धन का एक भाग विकासशील देशों की सहायता के लिए व्यय करना, पर्यावरण परिवर्तन विधियों के सैनिक या किसी अन्य दोषपूर्ण कार्यों के लिए उपयोग करने पर प्रतिबन्ध लगाने के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन करना, परमाणु-शस्त्रास्त्रों के परीक्षण पर पूर्ण और आम प्रतिबन्ध लगाने के सम्बन्ध में एक सन्धि तथा जनसंहार के नए प्रकार के हथियारों तथा ऐसे हथियारों की नई प्रणालियों के विकास और निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाने के सम्बन्ध में एक करार सम्पन्न करना। तीसरी दुनिया के लिए निःशस्त्रीकरण का अपना महत्त्व है। यदि निःशस्त्रीकरण का प्रयास सफल हो जाए तो इससे तीसरी दुनिया और पश्चिमी देशों में बेकारी की समस्या हल करने, अतिरिक्त रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने और सृजनात्मक तथा उत्पादनशील क्षेत्रों में हथियारों पर व्यय होने वाले धन को लगाना सम्भव होगा। 'विकास के लिए निःशस्त्रीकरण' समय की माँग है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास

संयुक्त राष्ट्रसंघ के छः महत्त्वपूर्ण अंगों में आर्थिक और सामाजिक परिषद् का अपना विशिष्ट स्थान है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् विश्व के लोगों में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में विभिन्न कार्य करती है। यह अपने सहायक अंगों द्वारा मानव-जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर व्यापक कदम उठाने की सिफारिशें करती है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, महासभा के अधीन, संसार से गरीबी और हीनता को मिटाकर एक स्वस्थ एवं समुन्नत विश्व के निर्माण में प्रयत्नशील है। यदि विभिन्न राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विवाद हों तो परिषद् उनके समाधान का प्रयत्न करती है और विश्व के चहुँमुखी विकास में सभी देशों के सहयोगपूर्ण दृष्टिकोणों को प्रोत्साहन देती है।

पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए इस संस्था द्वारा आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता-योजनाओं का निर्माण किया गया है। परिषद् की प्राविधिक सहायता-समिति का मुख्य उद्देश्य ही दुःख और दरिद्रता से मानव-जाति को मुक्ति दिलाना है। यह अर्द्ध-विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और उन्हें मशीनों, यन्त्रों, उपकरणों आदि की पूर्ति के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान करती है। परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन देना है। इस दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् द्वारा विभिन्न आयोग स्थापित किए जाते हैं। परिषद् ने शरणार्थियों तथा राज्यहीन व्यक्तियों के लिए नियम बनाए हैं ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, उनकी दासता और बेगार का अध्ययन किया है, स्त्रियों की स्थिति एवं सूचना व ट्रेड्स की स्वतन्त्रता पर आयोग स्थापित किया है तथा इन विषयों में विभिन्न समझौतों के प्रारूप तैयार किए हैं। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य बड़े

महत्त्वपूर्ण, व्यापक और दूरगामी हैं जिन्हें सम्पन्न करने के लिए अनेक आयोगों, विशेषीकृत अभिकरणों तथा समितियों की स्थापना की गई है। परिषद् में आयोगों के दो रूप हैं—कार्यात्मक और प्रादेशिक। प्रथम वर्ग में वित्तीय आयोग, जनसंख्या आयोग, सामाजिक आयोग, मानव-अधिकारों सम्बन्धी आयोग, स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी आयोग, आदि हैं। प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोगों के अन्तर्गत यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग आदि उल्लेखनीय हैं। इन आयोगों के अतिरिक्त परिषद् में अनेक विशेष अभिकरण स्थापित किये गए हैं, उदाहरण के लिए खाद्य एवं कृषि संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, *विश्व-स्वास्थ्य-संगठन*, आदि।

साधारण जनता का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के राजनीतिक और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों पर अधिक जाता है, जबकि आर्थिक और सामाजिक कल्याण एवं सहयोग के कार्य अपेक्षाकृत अधिक ठोस, स्थायी और रचनात्मक होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग के लिए जो संगठन हैं उन्हें आधुनिक राजनीतिक जगत् में 'प्रकार्यात्मक संगठन' कहा जाता है और इस प्रकार के सहयोग को विश्व शान्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम समझने वालों को अथवा इस प्रकार की वकालत करने वालों को प्रकार्यवादी अथवा व्यवहारवादी कहा जाता है। ये प्रकार्यवादी संगठन गैर-राजनीतिक होते हैं। प्रकार्यवाद में अन्तर्निहित आधारभूत धारणा यह है कि आर्थिक और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की समस्याओं को सर्वोत्तम रूप में कम किया जा सकता है। इसमें यह मार्क्सवादी धारणा भी निहित है कि राज्यों के बीच संघर्ष मुख्यतः सामाजिक असमानता के परिणाम हैं। आर्थिक लाभों का जो दूषित वितरण होता है, उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली आर्थिक और सामाजिक बुराइयाँ ही अन्तर्राज्यीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का कारण बन जाती हैं। इस प्रकार प्रकार्यवाद का सन्देश है कि राजनीतिक क्षेत्र से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और ठोस कार्य आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग का प्रसार करना है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्य केवल अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा करना और युद्धों को रोकना ही नहीं है बल्कि उन आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के निरीक्षण की चेष्टा करना भी है जो सामान्यतः युद्ध का कारण बन जाती हैं। पिछड़े हुए देश सरलता से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के शिकार बन कर कालान्तर में विश्व शान्ति को खतरे में डाल देते हैं और संयुक्त राष्ट्रसंघ इस तथ्य को समझते हुए अपनी सीमा में यथासाध्य आर्थिक और सामाजिक सहयोग के प्रसार के लिए प्रयत्नशील है। चार्टर के निर्माता इस तथ्य को भलीभाँति जानते हैं कि विश्व शान्ति को स्थायी तभी बनाया जा सकता है और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व संस्था अपने उद्देश्यों में तभी सफल हो सकती है जब संसार में पिछड़े और विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाए। इसलिए राष्ट्रों में आर्थिक एवं सामाजिक असमानताओं को यथासाध्य कम करने के लिए

चार्टर के अनुच्छेद 55 में स्पष्टतः व्यवस्था है कि "स्थायित्व तथा कल्याण की दशाओं के निर्माण की दृष्टि से जो लोगों के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों पर आधारित राष्ट्रों के बीच शान्तिप्रिय एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए आवश्यक हैं" संयुक्त राष्ट्रसंघ निम्नलिखित बातों को प्रोत्साहन देगा—

(क) जीवन के उच्च स्तर तथा आर्थिक एवं सामाजिक विकास की दशाएँ।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य एवं सम्बन्धित समस्याओं का समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी सहयोग।

(ग) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का कोई भेद-भाव किए बिना मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए सार्वदेशिक मूल्यांकन तथा पालन।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अनेक अभिकरणों की स्थापना की गई है।

विशिष्ट एजेन्सियों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय विकास

संयुक्त राष्ट्रसंघ के परिवार में अनेक ऐसी एजेन्सियाँ और संस्थाएँ हैं जो विश्व के विभिन्न देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, आर्थिक एवं सामाजिक विकास को बढ़ावा देने, बालकों तथा शरणार्थियों जैसे विशेष वर्ग को सहायता पहुँचाने और प्राविधिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के लिए विभिन्न देशों की सरकारों के साथ मिलकर कार्य कर रही हैं। संघ के चार्टर में मानवीय, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी आदि कार्यों को बहुत महत्त्व दिया गया है और इनके निर्वहन के लिए ही विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों का निर्माण हुआ है। इन विशिष्ट अभिकरणों का निर्माण पृथक् रूप से हुआ है और ये स्वायत्तशासी संगठन हैं। इनकी स्थापना विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी समझौतों के अनुसार की गई है। इन अभिकरणों को संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित करने के लिए समझौते के बारे में बातचीत और पत्र-व्यवहार, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की एक स्थायी समिति द्वारा की जाती है। इस समिति द्वारा जो समझौते किए जाते हैं उन्हें आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् महासभा तथा सम्बन्धित अभिकरणों की शाखा विशेष स्वीकृत करती है। इन अभिकरणों के विभिन्न कार्यों में समन्वय अथवा तालमेल रखने का दायित्व आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् पर है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन, मुद्राकोष विश्व-बैंक आदि के अभिकरण हैं जिनका मुख्य उद्देश्य विश्व में हर सम्भव उपाय से आर्थिक कल्याण को प्रोत्साहित करना है। इन अभिकरणों द्वारा जो महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाए जाते हैं, उनसे अन्ततोगत्वा विश्व-शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय महान् उद्देश्य को सहायता मिलती है। यह कहना चाहिए कि ये अभिकरण संयुक्त राष्ट्रसंघ के

गोद लिए हुए वे सपूत हैं जो अपनी माता के गौरव को बढ़ाने में और उसके उद्देश्यों की पूर्ति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहायक बनने के लिए प्रयत्नशील हैं। वास्तव में यह कहना उपयुक्त होगा कि राष्ट्रोत्तर मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने का उपयोगी कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित ये विभिन्न स्वायत्तशासी गैर-राजनीतिक संगठन करते हैं। विभिन्न राष्ट्र इनके सदस्य होते हैं जो परस्पर मिलकर एक-दूसरे के हित की बात सोचते हैं और तदनुकूल कार्य करने की चेष्टा करते हैं। डेविड मित्रैनी (David Mitrainy) के शब्दों में, "दार्शनिक अथवा प्रकार्यात्मक आधार यह है कि इन स्वायत्तशासी संगठनों की विभिन्न गतिविधियों द्वारा सम्पूर्ण प्रशासन के अन्तर्गत सामान्य हित के कार्यों में लगे रहने के कारण, शनैः-शनैः राष्ट्रों की सीमान्त रेखाएँ सारहीन हो जाएँगी और लोग राष्ट्रोत्तर दृष्टिकोण से सोचने-विचारने के अभ्यस्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय हित में कार्य करने लगेंगे।" यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से अथवा दार्शनिक आधार पर हम उपर्युक्त दृष्टि की उपेक्षा नहीं कर सकते, तथापि तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसें तो यह स्पष्ट है कि राष्ट्रेत्तर निष्ठाओं का निर्माण प्रायः इस प्रकार नहीं हो पाता है। राजनीतिक हित में संघर्ष होता है तो इन अन्तर्राष्ट्रीय स्वायत्तशासी गैर-सरकारी संगठनों के कार्यों और उद्देश्यों तथा राष्ट्रीय हितों में संघर्ष नहीं होता, तभी तक सामान्यतः राष्ट्रेत्तर भावनाओं का मूल्य प्रभावी रहता है अन्यथा दोनों में संघर्ष की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की कीमत पर राष्ट्रीय हितों की रक्षा की जाती है।

निम्नांकित विशिष्ट अभिकरण आर्थिक कल्याण के विकास और प्रसार में सहयोगी बनकर विश्व के राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क की दृढ़ आधार-शिलाएँ रख रहे हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास को प्रोत्साहन दे रहे हैं—

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O)—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिसका कार्यक्षेत्र अन्य सभी अभिकरणों से विशाल है। इसकी स्थापना 11 अप्रेल, 1919 को वर्साय की सन्धि के भाग 13 के अनुसार श्रमिकों के हित-साधन की दृष्टि से की गई थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इस संगठन ने विश्व के देशों में श्रम एवं सामाजिक कार्य सम्पन्न करने का दायित्व लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का उद्देश्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों की दशा उन्नत की जाए, उनकी आर्थिक स्थिति में स्थिरता लाई जाए और सामाजिक क्षेत्र में उनका स्तर उन्नत बनाया जाए। यह संगठन इस विश्वास पर आधारित है कि सार्वजनिक और स्थायी शान्ति की स्थापना सामाजिक न्याय की आधारशिला पर ही सम्भव है और श्रमिकों को सामाजिक न्याय तभी प्राप्त हो सकता है जब वे दूसरे लोगों के समान ही आर्थिक कल्याण और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के मौलिक सिद्धान्त ये हैं—

1. श्रम को वस्तु नहीं माना जा सकता,
2. दरिद्रता कहीं भी हो, सर्वत्र समृद्धि के लिए खतरा है,
3. निरन्तर प्रगति के लिए आवश्यक है कि अभिव्यक्ति और संगठन को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए, एवं
4. अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश मे सम्पूर्ण उत्साह के साथ संघर्ष किया जाना चाहिए।

सभी उद्देश्यों, कार्यक्रमो और मौलिक सिद्धान्तो का निचोड़ इस बात मे है कि अन्तर्राष्ट्रीय सुख एवं शान्ति के लिए श्रमिकों की स्थिति को हर प्रकार से उन्नत बनाया जाए, उनका आर्थिक विकास किया जाए और उन्हें आर्थिक शोषण से मुक्त किया जाए। आर्थिक विषमताओं से मुक्ति प्राप्त करने पर ही श्रमिको का आर्थिक स्तर ऊँचा उठेगा, वे जीने योग्य जीवन बिता सकेंगे और जब आर्थिक सुख-समृद्धि का प्रसार होगा तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रसार में सहयोग मिलेगा।

इस संगठन का सर्वप्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतों तथा सिफारिशों के रूप में श्रम एवं श्रमिकों सम्बन्धी विविध प्रकार की दशाओं के अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों का निर्माण करना है, अर्थात् इसका प्रयत्न रहा है कि संसार मे हर देश और समाज के श्रमिको के श्रम का मूल्य और महत्त्व समान हो तथा सामाजिक जीवन मे उनके स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतो और सिफारिशों को सम्मिलित रूप से 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता' (International Labour Code) कहा जाता है। संगठन मे जिन समझौतों और सिफारिशों को स्वीकार किया गया है उनमे से कुछ मे श्रमिक स्वतन्त्रता के अधिकार, दिन मे 8 घण्टे काम, वेतन की सुरक्षा और सवेतन अवकाश की व्यवस्था है, तो कुछ में बालको और स्त्रियो से कठोर श्रम लेने, खानो मे स्त्रियो को काम पर लगाने तथा बेगार लेने के काम को वर्जित किया गया है। यह संगठन श्रमिको की दशाएँ सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक अनुसन्धान करता है, आंकड़े तथा रिपोर्ट प्रकाशित करता है। यह अमेरिका, एशिया और यूरोप मे समय-समय पर क्षेत्रीय अधिवेशन आयोजित करता है तथा विश्व के प्रधान उद्योगो के सम्बन्ध मे सरकार, श्रमिक और मालिको के त्रिदलीय सम्मेलन आमन्त्रित करता है।

अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो का अनुसरण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने उन्नत श्रम-मापदण्डो के लिए सामाजिक और आर्थिक आधार निश्चित करने के साधन के रूप में सामान्य आर्थिक विकास की दिशा मे हाल ही के वर्षों मे अपने प्राविधिक सहायता कार्यक्रमो का विकास किया है। दो महायुद्धो से ध्वस्त आर्थिक व्यवस्था के सुधार पर पुनर्निर्माण हेतु इस संगठन ने बहुत-से देशो को सहायता प्रदान की है। इसने विभिन्न प्रकार के दार्शनिक कार्यक्रमो का विकास किया है तथा शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की है। इसने प्राविधिक सूचनाएँ प्रदान की हैं, परामर्श गोष्ठियाँ आयोजित की हैं, छात्रवृत्तियाँ दी हैं तथा व्यावसायिक शिक्षण-संस्थाओ

की स्थापना में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इसने श्रमिकों, मालिकों और सरकारों को यथासम्भव परामर्श दिया है कि किस तरह अधिक और अच्छा माल उत्पादित किया जाए। विभिन्न देशों में जीवन-स्तर ऊँचा करने, श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ाने, बेकारी को रोकने के बारे में भी इसने सलाह दी है। सहकारिता, सामाजिक सुरक्षा, औद्योगिक सुरक्षा, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में इसके द्वारा विभिन्न राज्यों को दिए गए परामर्श बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इस संगठन ने विभिन्न सरकारों के उन नियमों को निरस्त कराने की चेष्टा की है जिनके कारण घने बसे हुए देशों से अल्प-विकसित देशों को तथा श्रम-शक्ति की कमी वाले स्थानों को श्रमिकों के जाने में बाधा पड़ती है। विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिए चीन, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान, भारत, टर्की, यूगोस्लाविया, मिस्र, थाइलैण्ड, बर्मा आदि में इस संगठन द्वारा प्रशिक्षण केन्द्र संचालित किए गए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन ने कारखानों में काम करने वालों के लिए अनेक संहिताएँ तैयार की हैं, जैसे कोयले की खान में काम करने की संहिता, कारखाने के कार्यकर्त्ताओं से सम्बन्धित संहिता आदि। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के प्रयत्नों के फलस्वरूप संसार में श्रमिक समस्याओं के प्रति जागृति उत्पन्न हो गई है और श्रमिकों की दशाओं को सुधारने के लिए कल्याणकारी कानून बनाए जा रहे हैं। इसने 'सामाजिक न्याय' को अनिश्चय की लहरों और प्रतिक्रियावाद के प्रभुत्व से बन्धन-मुक्त कर दिया है। यह संगठन आज एक विश्वव्यापी संस्था बन गया है जिसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को 'श्रम की विश्व-संसद' (World Parliament of Labour) की संज्ञा दी जाती है। श्रमिक कल्याण के लिए सराहनीय प्रयास करने के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की विशेष रूप से आलोचना की जाती है कि यह अपने व्यवहार में निष्पक्ष नहीं रहा है अथवा इसने जरूरतमन्दों या अपेक्षाकृत कम जरूरतमन्दों की अधिक सहायता की है। उदाहरणार्थ, इसने पश्चिमी देशों की ओर अधिक ध्यान दिया है तथा एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों की ओर कम। पुनश्च, यह संस्था इतने अधिक समझौते और सिफारिशें निरूपित करती जाती है कि उन्हें स्वीकार करना तथा उन सब पर प्रभावशाली रूप से अमल करना आज की जटिल राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों में सम्भव नहीं है।

भारत प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन का सदस्य रहा है। एक प्रमुख राष्ट्र होने के नाते यह देश संगठन की प्रबन्ध समिति का भी सदस्य है। अभी तक भारत संगठन के दर्जनों समझौतों का समर्थन कर चुका है, तथापि बहु-संख्यक समझौते, जो श्रम संगठन ने स्वीकार किए हैं भारत में लागू होने के उपयुक्त नहीं समझे गए हैं। ऐसे समझौते पश्चिम के विकसित औद्योगिक राष्ट्रों के लिए अधिक उपयुक्त हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.)—प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के बीच विश्व के विभिन्न देशों में यह अनुभव किया गया कि आर्थिक दशा को

सुधारने के लिए और राजनीतिक मनमुटाव के आर्थिक कारणों को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग नितान्त आवश्यक है। यह समझ लिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक और वित्तीय क्षेत्र में जो अस्त-व्यस्त स्थिति व्याप्त है और विश्व-बाजार में जो कठिनाइयाँ छायी हुई है, उन्हें दूर करने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कदम उठाया जाना चाहिए। इसी अनुभूति के फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में ब्रेटनवुड्स अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्मेलन (जुलाई, 1944) ने युद्ध के आर्थिक कारणों को दूर करने की एक योजना तैयार की जिसे दो भागों में विभाजित किया गया। प्रथम भाग में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया और दूसरे भाग में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (World Bank) की स्थापना की बात कही गई।

दिसम्बर, 1945 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की संस्थाएँ अस्तित्व में आई।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कई उद्देश्य थे। इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार और सन्तुलित प्रगति का समायोजन था। साथ ही, इसका ध्येय इसे विनिमय की अस्थायी दरों के कुप्रभावों से बचाना और विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धों को ढीला करना भी था। इसके अतिरिक्त यह प्रत्येक देश में वास्तविक आय एवं रोजगार के उच्च स्तरों की स्थापना के लिए भी प्रयत्नशील था।

समझौते के अनुच्छेद 1 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के विभिन्न लक्ष्यों को स्पष्ट किया गया है। इसमें मुख्य रूप से तीन लक्ष्यों को मान्यता प्रदान की गई है—

1. विनिमय-स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय प्रबन्धों की स्थापना करना और प्रतिस्पर्द्धा विनिमय मन्दी की स्थिति को दूर करना।
2. सदस्यों के बीच चालू लेन-देन में भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना में सहायता करना तथा विदेशी विनिमय के उन प्रतिबन्धों को समाप्त करना जो विश्व व्यापार की प्रगति में बाधक हैं।
3. पर्याप्त सुरक्षाओं के अधीन सदस्यों को कोष के साधन उपलब्ध कराना और इस तरह उनमें विश्वास की भावना जाग्रत करना। इस प्रकार विभिन्न देशों को राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता के लिए हानि पहुँचाने वाले प्रयासों को अपनाए बिना ही उनके भुगतान सन्तुलनों की अव्यवस्था को दूर करने का अवसर देना।

मुद्रा कोष के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति के अतिरिक्त भुगतान-सन्तुलन की विषमता को दूर करने के लिए असन्तुलन की अवधि व अंश को कम करने के लिए, लाभदायक उद्योगों में दीर्घकालीन पूँजी की सहायता प्रदान करने लिए तथा ऐसे ही अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रयास किए जाते हैं।

मुद्राकोष के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। एक ओर इसके अनेक लाभ निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकाश में आए हैं, तो दूसरी ओर इसकी कार्यविधि और

इसके व्यवहार पर अनेक आक्षेप किए गए हैं। लाभ की दृष्टि से मुद्राकोष के पास विभिन्न देशो की मुद्राओं का भारी स्टाक एकत्रित हो जाता है जिससे वह सदस्य-देशो की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मुद्राकोष बहुपक्षीय व्यापार तथा भुगतान प्रणालियों को बहुत प्रोत्साहन देता है और सदस्य-देशो के भुगतान शेष मे होने वाले तत्कालीन असन्तुलन को दूर करने मे सहायता करता है। मुद्राकोष के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं पर विचार-विमर्श एव सहयोग के लिए एक स्थायी सस्था अस्तित्व मे आ गई है। कोष के प्रयत्नों से प्रतिस्पर्द्धापूर्ण मन्दी का बहिष्कार और विनिमय दर का स्थायित्व आदि सिद्धान्तो को सामान्यत स्वीकार कर लिया गया है। अव्यवस्थित विनिमय सम्बन्धो को कम करने की दिशा मे भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है। इन लाभो को प्रदान करते हुए भी मुद्राकोष द्वारा सदस्य-देशों की आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नही किया जाता तो अपने-आप मे एक बडी बात है। इस कोष की स्थापना से विश्व के देशो को स्वर्णमान के लाभों की प्राप्ति हुई है। कोष की सेवाओं के कारण ही प्रो. होम ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व बैंक (International Reserve Bank) की संज्ञा दी है।

बहुमूल्य सेवाओ के बावजूद अनेक कारणों से मुद्राकोष की आलोचनाएँ की गई है। आरोप है कि मुद्राकोष अपने मुख्य लक्ष्यो को प्राप्त करने में बहुत कुछ असफल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्र मे अभी तक वही व्यवस्था कायम है जो कोष ने केवल संक्रमणकाल के लिए स्थापित की थी। अभी तक न तो भुगतानों की बहुपक्षीय व्यवस्था स्थापित हो पाई है और न ही विश्व-व्यापार की प्रगति में बाधा डालने वाले विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्ध अधिक कम हो पाए हैं। मुद्राकोष का कार्य-क्षेत्र सीमित है। यह केवल चालू सौदों से उत्पन्न असन्तुलित भुगतानो की समस्या का ही समाधान करता है। युद्ध ऋणों की अदायगी, पूंजी के आयात-निर्यात, अवधि-स्टर्लिंग आदि से इस कोष का कोई सम्बन्ध नही है और इस भुगतान के लिए यह सदस्य-देशों को किसी प्रकार की सहायता नही देता। एक गम्भीर आरोप यह है कि मुद्राकोष का सदस्य-देशों के साथ व्यवहार भेदभावपूर्ण है। यह पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों की तुलना मे विकसित पाश्चात्य देशों को विशेष रियायतें देता है। इन आलोचनाओं में कुछ वजन है और मुद्राकोष आशा के अनुरूप सफल नहीं हो पाया है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अनुसन्धान एव परामर्श के क्षेत्र मे इसने महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की हैं।

विश्व बैंक—अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे बहुधा विश्व-बैंक कहा जाता है, की स्थापना भी जुलाई, 1944 मे ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साथ ही हुई थी और जून, 1946 में इसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। मुद्राकोष की स्थापना का मुख्य लक्ष्य सदस्य-देशों की भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करना था जबकि विश्व-बैंक की स्थापना प्राय. इसलिए

की गई थी कि युद्धजनित आर्थिक अव्यवस्था को दूर किया जा सके और विकसित तथा अविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋणों के रूप में सहायता दी जाए ताकि वे प्रगति और पुनर्निर्माण के पथ पर अग्रसर हो सकें।

विश्व-बैंक की स्थापना के मुख्यत. निम्नलिखित चार उद्देश्य हैं—

1. बैंक का प्रथम उद्देश्य युद्ध द्वारा विनष्ट तथा अल्पविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋण देकर उनके पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करना है।

2. विश्व-बैंक व्यक्तिगत विनियोगकर्ताओं को अविकसित देशों में उत्पादन कार्य के लिए पूँजी का विनियोग करने हेतु प्रोत्साहित करता है।

3 विश्व-बैंक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाता है।

4. युद्ध के समय की आवश्यकताओं की प्रकृति शान्तिकाल की अपेक्षा भिन्न होती है। युद्ध के बाद यह आवश्यकता महसूस हुई कि उस समय की आर्थिक व्यवस्था को शान्तिकालीन आर्थिक व्यवस्था में परिणत कर दिया जाए। यह कार्य विश्व-बैंक करता है।

विश्व-बैंक की उपयोगिता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसके द्वारा 30 सितम्बर, 1965 तक की 20 वर्ष की अवधि में ही लगभग 9,000 मिलियन डॉलर के ऋण प्रदान किए गए जो लगभग 80 विभिन्न उधारकर्त्ता देशों में लगभग 430 ऋणों के रूप में फैले हुए थे। बैंक सदस्य-देशों को केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही ऋण देता है। बैंक के ऋणों से अल्पविकसित देशों के विद्युत-शक्ति तथा परिवहन साधनों का अच्छा विकास हुआ है। बैंक ने कृषि-विकास, शिक्षा तथा परिवार नियोजन के लिए भी ऋण देना शुरू कर दिया है। यह सदस्य देशों को तकनीकी सहायता प्रदान भी करता है। सदस्य देशों को तकनीकी मशीन भेजकर वहाँ की आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने और देशों की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में विश्व-बैंक का उल्लेखनीय योग रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Financial Corporation) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association) भी विश्व-बैंक से सम्बन्धित है। वर्तमान संस्था का उद्देश्य सदस्य देशों में पूंजी व्यवसायों को प्रोत्साहित करना तथा दूसरी संस्था के पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों में आर्थिक सहायता देकर उनका औद्योगिक विकास करना है। विश्व-बैंक ने सदस्य देशों के पारस्परिक आर्थिक विवादों का निपटारा करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

अपने छोटे से जीवनकाल में विश्व-बैंक ने प्रशंसनीय कार्य किया है, तथापि कतिपय आधारों पर उसकी कार्यप्रणाली और भूमिका आलोचना का विषय बनी है। कहा जाता है कि विश्व-बैंक प्रायः ऋणी देशों के पक्ष में तथा ऋणदाता देशों के विपक्ष में कार्य करता है। इसके निर्णयों पर ऋणी देशों का अधिक प्रभाव पड़ता है, पर इस आलोचना में ज्यादा वजन नहीं है क्योंकि विश्व-बैंक तो सदस्यों के संयुक्त और व्यक्तिगत गारण्टी के सिद्धान्त के आधार पर ही काम करता है। किसी भी

सदस्य देशों को ऋण देने की जोखिम का भार सभी देशों पर पड़ता है। दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि बैंक का कार्य निजी निवेशकर्त्ताओं द्वारा कहीं अधिक अच्छे ढंग से सम्पन्न किया जा सकता है। यह आलोचना इस दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होती कि विश्व पूँजी निवेशकर्त्ताओं से कोई प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा नहीं है। तीसरा आरोप यह है कि विश्व-बैंक का व्यवहार पक्षपातपूर्ण है और प्रायः अमेरिका तथा यूरोपीय देशों का ही अधिक पक्ष लेता है। यह आरोप बहुत कुछ सत्य है। वास्तव में विश्व-बैंक पर इन देशों का पर्याप्त प्रभुत्व स्थापित हो चुका है। इस चौथी आलोचना में भी वजन है कि विश्व-बैंक द्वारा ऊँची ब्याज दरें वसूल की जाती हैं। बैंक का उद्देश्य तो अधिकाधिक देशों को कम ब्याज की वित्तीय सहायता देना होना चाहिए।

अन्तिम मूल्यांकन के रूप में बैंक के लाभों का पलड़ा ही अधिक भारी रहता है। विश्व-बैंक ने पिछड़े और अल्प-विकसित देशों के विकास में निश्चित रूप से *बहुमूल्य सहायता प्रदान की है तथा अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का प्रवाह बढ़ाने में अपना* यथोचित अंशदान दिया है। बैंक ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग का विचार कोरी कल्पना न होकर एक स्पष्ट यथार्थता है।

नवम्बर, 1946 से ही भारत विश्व-बैंक का मुख्य सदस्य है। बैंक के प्रशासकीय सचालक मण्डल में भी भारत को स्थायी स्थान प्राप्त है। भारत की पंचवर्षीय *योजनाओं की क्रियान्विति में विश्व-बैंक की सहायता काफी महत्त्वपूर्ण रही है।*

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I. D. A.)—अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व-बैंक से सम्बन्धित है। इसकी स्थापना सितम्बर, 1960 में की गई थी। अल्प-विकसित देशों को आसान शर्तों पर ऋण देने के लिए ही इस नई संस्था की स्थापना की गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का उद्देश्य अल्पविकसित देशों को परिवहन, विद्युत-संचार, सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण आदि के लिए ऋण प्रदान करना है। यह सदस्य देशों को आवास-गृहों के निर्माण, पेयजल की आपूर्ति, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि से *सम्बन्धित योजनाओं के लिए भी ऋण देता है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ* विश्व-बैंक के पूरक के रूप में अविकसित सदस्य देशों को आर्थिक विकास के लिए सस्ता दीर्घकालीन ऋण उपलब्ध कराता है। इन पर ब्याज की कम दर ली जाती है। दीर्घकालीन ऋणों का भुगतान देश की मुद्रा में ही किया जाता है।

आर्थिक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ का विशेष कोष—संयुक्तराष्ट्र के इस विशेष कोष की स्थापना 1 जनवरी, 1959 को हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य पिछड़े तथा अल्पविकसित देशों को आर्थिक, सामाजिक एवं तकनीकी विकास के लिए यथासम्भव सहायता प्रदान करना है। कोष का प्रबन्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ के हाथों में है। कोष द्वारा समय-समय पर निश्चित उद्देश्यों के लिए भारत को ऋण प्राप्त होते रहे हैं।

व्यापार विकास सम्मेलन—व्यापार और विकास सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रीय सम्मेलन की स्थापना कुछ ही वर्षों पूर्व सन् 1964 में हुई थी। इस सम्मेलन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विषमताओं को दूर करना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना है। यह सम्मेलन राष्ट्रों को आपस में प्रतिस्पर्द्धा से बचाता है तथा उन्हें अधिकाधिक निर्यात के लिए प्रोत्साहित करता है।

संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम—संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम 1966 से चालू है। यह विकासशील देशों की आर्थिक सम्भावनाओं और उनके सर्वोत्तम उपयोग की योजना बनाने हेतु आवश्यक सर्वेक्षण और अध्ययन करता है। इस प्रकार विकास कार्यक्रम की महती उपयोगिता है। वर्तमान में संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग 10 हजार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विशेषज्ञ लगभग 130 से भी अधिक देशों में विकास परियोजनाओं में कार्यरत हैं। ये परियोजनाएँ बड़ी व्ययसाध्य हैं। इन पर करोड़ों डॉलर का व्यय होता है। यह व्यवस्था है कि जिन देशों में इन परियोजनाओं पर कार्य हो रहा हो, उन्हें परियोजना का कुल आधा व्यय देना पड़ता है।

मूल्यांकन—विशेष एजेंसियों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है एवं सैद्धान्तिक रूप से उनका कार्य सराहनीय है। सांख्यिकी क्षेत्र में इनका कार्य उपयोगी है। एजेंसियों द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों के आधार पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण होता है। विशेष एजेंसियों द्वारा किए गए सर्वेक्षण अधिक सम्पूर्ण एवं व्यापक होते हुए भी इतने स्वतन्त्र नहीं होते जितने निजी अध्ययन द्वारा। विशेष एजेंसियों की बैठकों के वाद-विवादों में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डाला जाता है परन्तु कभी-कभी उनसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में अड़चन भी पड़ने लगती है क्योंकि वाद-विवादों को प्रचार का माध्यम बना लिया जाता है। विशेष एजेंसियों द्वारा ऐसे प्रारूप एवं समझौते तैयार किए जाते हैं जिन्हें सदस्य-राष्ट्र सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में यह पद्धति बहुत उपयोगी प्रतीत होती है।[1] प्रगतिशील राष्ट्रों को दी जाने वाली सहायता का कुछ अंश इन एजेंसियों द्वारा दिया जाता है। उन्नतिशील राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय नीतियों के आधार पर अविकसित राष्ट्रों की सहायता करते हैं, अमेरिका ने मार्शल योजना द्वारा युद्ध पीड़ित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता दी थी। राष्ट्रकुल के उन्नतिशील राष्ट्रों ने कोलम्बो योजना द्वारा दक्षिण पूर्वी एशिया के प्रगतिशील देशों के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था की। नशीली तथा हानिकारक औषधियों के प्रयोग पर नियन्त्रण, सत्रामक बीमारियों पर नियन्त्रण, अन्तर्राष्ट्रीय डाक तथा तार सेवाओं की उचित व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संचालन की व्यवस्था, विश्व ऋतु-विज्ञान, सर्वेक्षण इत्यादि महत्त्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर ही किए जा सकते हैं। अनेक राष्ट्रों के साधनों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के साधन हेतु विशेष एजेंसियों द्वारा ही सम्भव है। महान् राष्ट्रों की अपेक्षा छोटे-छोटे राष्ट्रों का सहयोग अधिक हितकर

1 रामकृष्ण गौतम : वही, पृष्ठ 153

प्रमाणित हुआ है। विशेष एजेंसियों के अन्तर्गत सहायता देने वाले राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय साख तथा प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ जाती है तथा जो बड़े राष्ट्र विशेष एजेंसियों के माध्यम से सहायता न कर अलग से सहायता व सहयोग करते हैं, उनकी इसलिए आलोचना की जाती है कि बड़े राष्ट्र अपनी सहायता के माध्यम से अपना राजनीतिक स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं। निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता को स्वाभिमानी राष्ट्र अस्वीकार भी कर देते हैं। विशेष एजेंसियों द्वारा दी जाने वाली सहायता का दुरुपयोग सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसी सहायता अविकसित राष्ट्रों के हितों को ध्यान में रखकर दी जाती है एवं इसके साथ किसी भी बड़े राष्ट्र से सहायता स्वीकार करते समय अनुचित आधार का अनुभव नहीं करते। आज के वैज्ञानिक युग में विशेष एजेंसियों द्वारा दी जाने वाली सहायता अनिवार्य होती जा रही है। पिछड़े तथा अविकसित राष्ट्र अपनी भूख, दरिद्रता, पिछड़ेपन तथा अशिक्षा को दूर करने के लिए बिना किसी राजनीतिक शर्त तथा दबाव के विशेष एजेंसियों द्वारा सहायता प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्यवादी अभिशाप से बचने के लिए विशेष एजेंसियों के माध्यम से ही हर तरह की सहायता प्राप्त करना न्यायोचित है। इस तरह की सेवा द्वारा यदि उन्नतिशील राष्ट्रों की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था ठीक हो सकी तो यह अवश्य ही इतिहास की युगपरिवर्तक घटना होगी।[1]



1 रामदत्त गौतम : वही, पृष्ठ 153.

13 वर्तमान विश्व की उभरती हुई प्रवृत्तियाँ :

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका का जागरण, महाशक्तियाँ और तृतीय विश्व

(Contemporary Emerging Trends : Resurgence of Asia, Africa and Latin America, Super Powers and the Third World)

"इन (एशियाई) पिछड़े हुए राष्ट्रों के नए बुद्धिजीवियों ने विज्ञान, युद्ध-कला तथा राजनीति में पश्चिमी राष्ट्रों की दक्षता और निपुणता का ज्योंही एक आंशिक भाग प्राप्त किया, त्योंही उनमें इस बात की मांग करने वाले नेतागण भी पैदा हो गए कि उन्हें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए।" —शूमाँ

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका का जागरण द्वितीय महायुद्ध के बाद की एक सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी घटना है जो सारे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जगत् को विभिन्न रूपों में प्रभावित कर रही है। इन तीनों ही क्षेत्रों के अधिकांश राज्य साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी दासता के शिकंजे में जकड़े हुए थे। पर समय ने करवट ली, दासता से मुक्त होने के लिए चल रहे संघर्षों की विजय हुई, नव-जागरण की लहर को साम्राज्यवादी शक्तियाँ दबा नहीं सकी और आज एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर बहुत-कुछ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व धारण किए हुए हैं। जो भू-भाग आज भी उपनिवेशवाद के शिकार हैं, वे भी निकट भविष्य में मुक्त होकर रहेंगे। जो राज्य उपनिवेशवादी शक्तियों के प्रभाव में हैं, वे शीघ्र ही पूर्ण सार्वभौमिकता का उपभोग करके रहेंगे। शताब्दियों से पिछड़े ये महाद्वीप अब जाग चुके हैं, अंगड़ाई ले रहे हैं और इनके बढ़ते कदमों को विश्व की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।

इसके पहले कि हम इन महाद्वीपों के जागरण पर विचार करें, यह उचित होगा कि पृष्ठभूमि के रूप में विश्व की परिस्थितियों में परिवर्तन के आधारों और विश्व-राजनीति पर प्रभाव डालने वाली प्रवृत्तियों को सांकेतिक रूप में समझ लें।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरती हुई प्रवृत्तियाँ
(Contemporary Emerging Trends)

वर्तमान विश्व के राजनीतिक परिवर्तनों का स्पष्ट चित्र खींचते हुए टी. वी. कालिजार्वी ने लिखा है, "*वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पुनर्गठन हो रहा है* जिसमें पूर्ववर्ती राज्य-व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपों में परिवर्तित हो रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्रीय राज्य एक बड़े संघ में विलीन होते जा रहे है।" जहाँ एक ओर पुनर्निर्माण और विकास के महान् प्रयत्न चल रहे है तो दूसरी ओर प्रलयंकारी शास्त्रास्त्रों के रूप में महाविनाश की विपुल शक्ति भी मानव के हाथों में केन्द्रित हो चुकी है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले द्वितीय महायुद्धोत्तर तत्वों और आधुनिक उभरती हुई नवीन प्रवृत्तियों पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला जा चुका है, *तथापि उनका सामूहिक रूप में एक ही स्थल पर संकेत कर देना उपयोगी होगा।* ये तत्व एवं प्रवृत्तियाँ मुख्यतः निम्नलिखित है—

1 **राष्ट्रवाद**—एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका राष्ट्रवाद की लहरों से उद्वेलित हैं। यद्यपि लेटिन अमेरिका के बहुत से देश अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र में है, तथापि क्यूबा की क्रान्ति ने राष्ट्रवाद की *किरणों से सम्पूर्ण* लेटिन अमेरिका को आलोकित कर दिया है। राष्ट्रवाद ने इन भू-भागों के विभिन्न राज्यों में अपनी स्वतन्त्रता, संस्कृति और परम्परा के लिए प्यार पैदा किया है पर जहाँ राष्ट्रवाद अपने रचनात्मक रूप मे उभरा है वहाँ कतिपय क्षेत्रों मे इसका विध्वंसात्मक रूप अराजकता और संघर्ष के विस्फोटक केन्द्रों के लिए भी उत्तरदायी है। अरब जगत् धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और इस्लामी राष्ट्रवाद की जबरदस्त खींचातानी का केन्द्र *बना हुआ है*, तो पाकिस्तान का इस्लामी राष्ट्रवाद भारतीय उप-महाद्वीप को अशान्त बनाए हुए है।

2 **ह्रासोन्मुख राष्ट्रमण्डल**—एक बहुजातीय (Mult-rac al) संस्था के रूप में जिस प्रभावशाली राष्ट्रमण्डलीय संगठन का उदय और विस्तार हुआ वह विगत कुछ वर्षों से शिथिल पड़ता जा रहा है। ब्रिटिश राजनीतिक और आर्थिक नीतियों ने, प्रजातीय असहिष्णुता ने अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए कतिपय राष्ट्रों द्वारा राष्ट्रमण्डलीय मंच के दुरुपयोग करने की नीति ने, नवपृथक्तावाद ने और कुछ अन्य समस्याओं ने राष्ट्रमण्डल की बुनियाद को खोखला कर दिया है। रोडेशिया के प्रति ब्रिटेन की ढुलमुल और परोक्ष रूप मे पक्षपातपूर्ण नीति भी राष्ट्रमण्डलीय अफ्रेशियाई देशों के विश्वास को डगमगाने वाली है। इससे अनेक देश, जिसमें भारत भी है, *राष्ट्रमण्डल की भावी उपयोगिता पर सन्देह करने लगे हैं।*

3. ***आत्मनिर्णय का जयघोष***—'*आत्मनिर्णय*' के सिद्धान्त के बल पर अनेक पराधीन राष्ट्रों के स्वाधीनता आन्दोलनों को एक दृढ़ आधार प्राप्त हुआ है और

आज यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे किसी भी समय की अपेक्षा अधिक सशक्त स्थान ग्रहण किए हुए है। दिसम्बर, 1971 में बंगलादेश का उदय इस सिद्धान्त के जयघोष और 'घरेलू उपनिवेशवाद' (Domestic Colonialism) पर करारा प्रहार है।

4 साम्यवाद और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया—रूसी और चीनी साम्यवादी विचारधारा एशिया और अफ्रीका मे अपना विशेष प्रभाव जमा चुकी है। प्रतिक्रिया-स्वरूप पश्चिमी शक्तियाँ अपने प्रभाव की रक्षा के लिए तेजी से सन्नद्ध हुई है। इस प्रकार एशिया और अफ्रीका साम्यवादी और पूँजीवादी खेमे के विभिन्न संघर्षों का रंग-मंच बन गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्भवतः कोई भी क्षेत्र इन दोनों पक्षों की क्रिया-प्रक्रिया से बचा हुआ नहीं है। यह क्रिया-प्रक्रिया विशेषतः तीन रूपों में अधिक प्रभावशाली हुई है—

(क) पश्चिमी शक्ति और उसके साथियों द्वारा अनेक ऐसी सन्धियों और संगठनों का विकास किया गया है जिसका मुख्य लक्ष्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना है। इन सगठनो के जवाब में साम्यवादी पक्ष द्वारा वारसा पैक्ट आदि अन्य सुरक्षात्मक संगठन कायम किए गए हैं।

(ख) गरीब और हीन देशो की जनता अविलम्ब साम्यवाद की ओर आकर्षित होती है—यह समझ लेने के बाद पाश्चात्य शक्तियाँ अर्द्ध-विकसित देशों को हर प्रकार से सहायता देने लगीं ताकि उनका जीवन-स्तर और मनोबल ऊँचा उठे। पश्चिमी शक्तियो के प्रयासो के जवाब में साम्यवादी शिविर भी एशिया और अफ्रीका के पिछड़े राष्ट्रों की आर्थिक व सैनिक सहायता पर उतर आए हैं। इनमे रूस का स्थान सर्वोपरि है।

(ग) शीतयुद्ध और शस्त्रीकरण का प्रसार हुआ है, लेकिन साथ ही सह-अस्तित्व की विचारधारा भी पनपी है, विशेषकर इस अनुभूति के बाद कि दोनो ही पक्ष एक दूसरे को नष्ट करने मे सक्षम हैं और महायुद्ध का अर्थ होगा महाविनाश।

5 शीतयुद्ध—महाशक्तियो के सघर्ष ने 'शीतयुद्ध' के एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को जन्म दिया है। सौभाग्यवश सन् 1970 के बाद से इसकी तीव्रता मे बहुत कमी आई है, तथापि मौके-बेमौके उग्र होकर इसने अनेक बार विश्व के समक्ष प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे जो गम्भीर राजनीतिक और सैनिक संकट खड़े किए हैं, उन्हें विश्व की शान्तिप्रिय जनता भुला नहीं सकती।

6. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व—यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बना चुकी है। भारत जैसे असलग्न राष्ट्रो ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के विचार को सबसे अधिक विकसित किया है। सोवियत रूस मे स्टालिन तथा स्टालिनवाद की समाप्ति के बाद जो नया उदारवाद आंशिक रूप मे उभरा है उसने असंलग्न देशों के प्रति मैत्री प्रदर्शित की है तथा सह-अस्तित्व की

विचारधारा मे विश्वास प्रकट किया है। चीन, पाकिस्तान भी अपने उग्रवादी दृष्टिकोण को बदल रहे प्रतीत होते है।

7. चीन-सोवियत सम्बन्धों में नए मोड़ के संकेत—रूस और चीन के बीच चलने वाले सैद्धान्तिक संघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गहराई से प्रभावित किया है। पहले साम्यवाद और लोकतन्त्र इन दो सिद्धान्तो का ही सघर्ष विश्व को दो शक्ति-गुटों मे विभक्त किए हुए था, लेकिन अब साम्यवादी खेमे मे ही दो बडी शक्तियों की विचारधारा मे टक्कर होने लगी है। मतभेद इतने बढ गए कि दोनो देशो की सीमाओं पर कई बार तेज सैनिक झडपें भी हुई और एक दूसरे पर आक्रमण की आशंका भी व्यक्त की गई। 12 सितम्बर, 1976 को माओत्से-तुंग की मृत्यु से पूर्व तक राजनीतिक क्षेत्रो में मुख्यत यही विचार था कि दोनो देशो के सम्बन्ध निकट भविष्य मे सम्भवत. सुधर नही सकेंगे। पर माओ की मृत्यु के बाद नए नेतृत्व के शासनकाल मे चीन-सोवियत सम्बन्धो में नए मोड़ के सकेत मिले है।

8. अणु-स्वामित्व का प्रसार—अणु-शक्ति के विकास ने विश्व-राजनीति को एक नया मोड़ दिया है। अब रूस और अमेरिका ही अणु शक्ति के स्वामी नही हैं, बल्कि ब्रिटेन, फ्रांस, चीन आदि राष्ट्र भी इस क्षेत्र मे काफी आगे बढ चुके हैं। चीन जिस तेजी से अणु शक्ति का स्वामी बनता जा रहा है वह महाशक्तियो तक के लिए चिन्ता का विषय बन गया है और उनकी विदेश-नीतियाँ इस तथ्य से प्रभावित होने लगी हैं। भारत अपनी घोषित नीति के अनुरूप 'शान्ति के लिए' आणविक विस्फोट कर चुका है। भारत शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का समर्थक है तथापि कुछ पडौसी राष्ट्रो के प्रति वह उदासीन नही रह सकता। भारत की विदेश-नीति का, सम्भावित खतरों को देखते हुए, पुनर्निर्धारण किया जा रहा है जिसका एक स्पष्ट प्रमाण भारत-सोवियत मैत्री-सन्धि है।

9 एशिया-अफ्रीका का जागरण तथा सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि—पिछले लगभग पच्चीस वर्षों से दोनों महाद्वीपो के पराधीन राष्ट्र एक-एक करके स्वतन्त्र होते गए हैं और आज सम्पूर्ण यूरोपीय साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक व्यवस्था अन्तिम साँसें गिन रही है। जहाँ पहले ससार की जनसख्या का लगभग 33% भाग साम्राज्यवाद के शिकंजे मे था, वहाँ यह अब 2% भी नहीं रहा है। सम्प्रभु राज्यों की संख्या इतनी तेजी से बढी है कि जहाँ सन् 1944 मे संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों की संख्या केवल 51 थी, वहाँ आज यह 156 है। सम्प्रभु राज्यो की सख्या मे अभूतपूर्व वृद्धि के फलस्वरूप विश्व-राजनीति का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है और विभिन्न राज्यो के स्तरो तथा स्थितियों मे तेजी से परिवर्तन आ रहा है।

10. महासागरीय प्रतिस्पर्द्धाएँ—हाल ही के कुछ वर्षों मे भूमध्यसागर और हिन्दमहासागर महाशक्तियो की शक्ति-सचय के महत्वपूर्ण स्थल बन गए है। भूमध्यसागरीय क्षेत्र मे महाशक्तियाँ अपनी नौ-सैनिक शक्ति के विस्तार के लिए प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। इस क्षेत्र मे बड़ी शक्तियो मे सन्तुलन बनाए रखने या बढाने मे सैनिक और आर्थिक विचारो का योगदान इतना नहीं है जितना राजनीति का

11. अफ्रीकीकरण की लहर—पिछले कुछ वर्षों से अफ्रीका में 'अफ्रीकीकरण' की संकुचित नीति की लहर व्यापक रूप से फैली है। अफ्रीका और एशिया के अनेक देशों में, जिन्होंने कुछ ही समय पूर्व ब्रिटेन की अधीनता से मुक्ति प्राप्त की है, प्रवासी भारतीयों को वहाँ के उग्र जातीय राष्ट्रवाद अथवा प्रच्छन्न जातिवाद के कारण अपमानित, उत्पीड़ित, उन्मूलित तथा देश से निष्कासित होना पड रहा है। ये प्रवासी भारतीय भारत-मूल के लोग हैं जिनमें भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश आदि सभी के वंशज सम्मिलित हैं। परिस्थितियों का तकाजा है कि हमारी राष्ट्रीय नीति इस केन्द्र बिन्दु पर आधारित होनी चाहिए कि संसार के किसी भी क्षेत्र में भारतीयों को राष्ट्रहीनता के अभिशाप से अपमानित और पीडित नहीं होने दिया जाएगा।

12. 'कभी के शत्रु आज के मित्र' की बदलती प्रवृत्ति—राजनीति में न कोई स्थायी मित्र होता है और न कोई स्थायी शत्रु। जिस साम्यवादी चीन को अमेरिका अपना शत्रु नम्बर एक मानता रहा उसी के प्रति मैत्री के हाथ बढ़ाकर भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन ने अमेरिकी कूटनीति को एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया। वर्तमान अमेरिकी विदेश-नीति का एक मुख्य लक्ष्य वाशिंगटन-पेकिंग-पिण्डी धुरी को सुदृढ़ करना प्रतीत होता है। सोवियत रूस के प्रति भी अमेरिकी रवैये मे एक बडा अन्तर आया है। सोवियत रूस के साथ मैत्री और सहयोग की आकांक्षा से निक्सन ने सन् 1972 के मध्य मास्को की जो यात्रा की वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नए मोड की सूचक थी। कूटनीति की इन 'नई व्यूह रचनाओं' के फलस्वरूप ही वियतनाम का ज्वालामुखी शान्त हो सका। ये कूटनीतिक प्रवृत्तियाँ इस बात का भी संकेत देती हैं कि महाशक्तियाँ वास्तव मे दूसरों की खातिर एक दूसरे से उलझना नहीं चाहतीं। वाशिंगटन-पेकिंग-पिण्डी धुरी के मुकाबले शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने, चीनी विस्तारवाद पर अंकुश रखने और एशिया मे एक शक्तिशाली देश को मित्र बनाए रखने की आकांक्षा ने ही सोवियत रूस को भारत के प्रति पूर्ण सक्रिय रूप मे सहानुभूतिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण बनाया है। भारत भी सोवियत रूस की महान् मैत्री के मूल्य को समझता है।

13. द्विध्रुवीयता से बहुकेन्द्रवाद की ओर—अन्तर्राष्ट्रीय जगत् द्विध्रुवीयता (Bipolarity) से शनैः-शनैः बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर अग्रसर हो रहा है और आज स्थिति यह है कि विश्व मे शक्ति के दो से अधिक केन्द्र स्पष्ट रूप से प्रकट हो चुके है। एशिया मे भारत और चीन नए शक्ति-केन्द्र है जो विश्व के शक्ति-सन्तुलन को किसी ओर भी मोड देने मे सक्षम हैं। मध्यपूर्व मे इजरायल भी वह शक्ति-केन्द्र बन चुका है जिसकी उपेक्षा करना भूल होगी। वर्तमान आसार यही हैं कि अभी अनेक महत्त्वपूर्ण शक्ति-केन्द्रों का उदय होना बाकी है।

14. हिन्द-चीन नवनिर्माण की ओर—लम्बे समय से युद्ध की ज्वालाओं मे धधकता हिन्द-चीन का प्रदेश सन् 1973 के प्रारम्भिक चरण मे शान्ति की ओर अग्रसर हुआ। सन् 1975 के आते-आते स्थिति पुनः विस्फोटक बन गई और वियतनाम तथा कम्बोडिया में युद्ध ने निर्णायक मोड़ ले लिया। पर युद्ध के साथ-

साथ शान्ति-वार्ताएँ भी बल पकड़ती गई और अन्ततः सन् 1975 के मध्य तक कम्बोडियायी तथा वियतनामी संघर्ष का अन्त हो गया और इस तरह विश्व ने महायुद्ध के एक सम्भावित खतरे से मुक्ति की साँस ली। युद्ध के बाद वियतनाम में नवनिर्माण और एकीकरण का दौर चला और आखिर 24 जून, 1976 को उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम एकता के सूत्र में बँध गए। हिन्द-चीन भयावह युद्ध की ज्वालाओं से मुक्त है लेकिन राज्यों से सीमान्त संघर्ष तो होते ही रहते हैं। वास्तव में जब तक आर्थिक पुनर्निमाण का प्रश्न हल नहीं हो जाता, विस्फोटक परिस्थितियों के पुनः उत्पन्न होने की आशंका बनी रहेगी।

15. एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की दिशा में प्रयत्न—हाल ही के वर्षों में राजनीतिक तनाव कम होने, उपनिवेशवाद खत्म होने तथा गुट-निरपेक्ष देशों की एकता मजबूत होने की दिशा में प्रगति के साथ ही विकासशील तथा विकसित देशों की एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के सृजन के मार्ग में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भी बराबर प्रयत्न होते रहे हैं। इस सम्बन्ध में भारत की भूमिका विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। भारत का यह निश्चित मत है कि विकासशील राष्ट्रों में सहयोग न सिर्फ वृहत्तर आत्मविश्वास के लिए अनिवार्य है बल्कि बड़े राष्ट्रों के उस दबाव का मुकाबला करने के लिए भी, जिसे वे विकासशील देशों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के लिए डाल रहे है ताकि विश्व के विभिन्न भागों में उनके अपने हित और अधिक विस्तृत हो सकें।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में जागरण के कारण
(Factors Responsible for the Resurgence of Asia, Africa and Latin America)

1 द्वितीय महायुद्ध ने विश्व-इतिहास के निर्माता यूरोप को आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से अपाहिज तथा 'समस्या प्रधान' (Problem Europe) बना दिया। जर्मनी और इटली विनष्ट हो गए तथा ब्रिटेन और फ्रांस तीसरी श्रेणी के राष्ट्र बन गए। इन राज्यों में इतनी सामर्थ्य नहीं रही कि वे अपने विशाल साम्राज्य का भार सम्भाल सकते।

2 महायुद्ध में श्वेत जातियों को जो गहरे धक्के लगे उनसे अफ्रेशियाई जनता के स्वाधीनता-आन्दोलन में नई जान आई। थके हुए यूरोप के लिए इन आन्दोलनों को दबाना मुश्किल हो गया और एक के बाद एक एशियायी तथा अफ्रीकी राष्ट्र स्वतन्त्र होते गए।

3. संयुक्तराज्य अमेरिका महायुद्ध के बाद सबसे शक्तिशाली पूँजीवादी राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ। उसने दोहरी नीति अपनाई—एक ओर तो टूटती हुई साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी व्यवस्था में नए प्राण फूंकने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस आदि को अपने मोहरे के रूप में प्रयोग करना चाहा और दूसरी ओर उभरते हुए एशियायी राष्ट्रों के मन में यह बात बैठानी चाही कि अमेरिका तो वास्तव में लोकतन्त्र का

पोषक और उपनिवेशवाद का विरोधी है। अमेरिका नहीं चाहता था कि समाजवादी तत्व एशिया के नवोदित राष्ट्रों को अपने प्रभाव में ले लें, अतः साम्राज्यवादी प्रकृति रखते हुए भी अमेरिका ने प्रारम्भ में अफ्रेशियायी जागरण का खुलकर विरोध नहीं किया बल्कि कोशिश यह की कि एशियायी जागरण को अपने हित में प्रयोग किया जाए। इस रीति का अन्ततोगत्वा परिणाम यह निकला कि अफ्रेशियायी राष्ट्रवाद शक्तिशाली हो गया और पश्चिमी राष्ट्र मुँह देखते रह गए।

4. अपार क्षति के बावजूद सोवियत रूस महायुद्ध के बाद एक बड़ी शक्ति के रूप में विश्व-रंगमंच पर आया और देखते-देखते यूरोप का लगभग समस्त पूर्वी भाग साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आ गया। इससे साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद विरोधी शक्तियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला क्योंकि रूस सदा से ही राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलनों का समर्थक रहा था।

5 पूँजीवादी और साम्यवादी शक्तियों ने एक दूसरे के प्रभाव-विस्तार को रोकने के लिए और एक दूसरे के घेराव के लिए अफ्रेशियायी राष्ट्रों को आर्थिक, सैनिक तथा राजनीतिक मदद देना शुरू किया। दोनों ही पक्षों ने यह दिखाने की कोशिश की कि वे अफ्रेशियायी देशों के हितैषी हैं। इस प्रतिस्पर्धा का परिणाम यह निकला कि अफ्रेशियायी राष्ट्र अपने राजनीतिक और सामरिक महत्त्व को अधिक अच्छी तरह समझने लगे। एशिया-अफ्रीका और लेटिन-अमेरिका का जागरण विश्व की महाशक्तियों की पारस्परिक विरोधी नीतियों के सन्दर्भ में धीमी गति से शुरू होकर तेजी से विश्व-राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण सत्य बन गया।

6. अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने विशेषकर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिए काफी प्रयत्न किए जिनसे अफ्रेशियायी और लेटिन अमेरिकी जागरण को बड़ा बल मिला। न्यास-परिषद् (Trusteeship Council) ने उपनिवेशों में संरक्षक राष्ट्रों पर सांविधानिक सुधार के लिए जोर डाला और एक निर्धारित समय में उन्हें स्वतन्त्र कराने का कार्यक्रम बनाया। कुछ वर्षों पूर्व न्यास-पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी, रूआण्डाउरूण्डी, फ्रेंच कैमरून्स, फ्रेंच टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टाँगानिका ब्रिटिश कैमरून्स, नोरू, प्रशान्त महासागरीय द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे। अब ये सभी स्वाधीन हो चुके हैं। अब वह दिन दूर नहीं जब प्रादेशिक साम्राज्यवाद का इस धरती से पूरा लोप हो जाएगा। जिस ब्रिटिश साम्राज्यवाद में 'सूर्य कभी अस्त नहीं होता था' वह साम्राज्य अब केवल अपनी सीमाओं में सिमट कर रह गया है।

7. पाश्चात्य शक्तियों, विशेषकर अमेरिकी प्रभाव के बावजूद संयुक्त राष्ट्र-संघ ने पिछड़े हुए तथा औपनिवेशिक दासता से पीड़ित जनसमूहों की समस्याओं की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित करने में सफलता प्राप्त की। विश्व-रंगमंच के माध्यम से अफ्रेशियायी तथा लेटिन-अमेरिकी देशों में स्वातंत्र्य भावनाओं को बल मिला।

8. द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याएँ कुछ यूरोपीय राष्ट्रों का ही ममाला न रहकर विश्व-व्यापी समस्याएँ बन गई जिनके प्रति कोई भी देश उदासीन नहीं रह सकता। इसी प्रकार शक्ति का केन्द्र यूरोप न रहकर अमेरिका और रूस हो गए तथा विश्व इन दोनों महाशक्तियों के प्रभावों के अन्तर्गत व्यवस्थित हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसार और शक्ति के ध्रुवीकरण, इन दोनों पहलुओं का एशिया और अफ्रीका के जागरण पर व्यापक प्रभाव पड़ा और आज भी पड़ रहा है।

9 आवागमन तथा सचार के वैज्ञानिक साधनों के फलस्वरूप दुनिया जिस तरह सिकुड़कर छोटी हो गई है, उसमें भी यह स्वाभाविक है कि एशिया, अफ्रीका, लेटिन-अमेरिका आदि के देश समझ गए कि वे यूरोपीय राष्ट्रों तथा अमेरिका से आर्थिक एव औद्योगिक दृष्टि से कितने पिछड़े हुए हैं। यह अनुभूति इन भू-क्षेत्रों के जागरण का एक मुख्य कारण बनी। इन महाद्वीपों के राष्ट्रों में यह आम धारणा व्याप्त है कि पश्चिमी राष्ट्र ही उनके पिछड़ेपन और शोषण के लिए जिम्मेदार हैं और अब उन्हें स्वावलम्बी बनना है ताकि वे पुन. साम्राज्यवादी शिकंजे में न फँस सकें।

10 साम्यवाद और पूंजीवाद की सैद्धान्तिक मान्यताओं के टकराव ने भी अफ्रेशियायी राष्ट्रों को इस ढग से प्रभावित किया है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं को सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में देख सकें। इन महाद्वीपों के विभिन्न राष्ट्रों की गृह और विदेश नीतियाँ साम्यवादी पूंजीवादी सिद्धान्तों के प्रभाव से अछूती नहीं हैं।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन-अमेरिका का जागरण वस्तुत. उस उभरते हुए राष्ट्रवाद का ही दूसरा नाम है जो इन महाद्वीपों के छोटे-बड़े राष्ट्रों की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों और मान्यताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्रों और विशेषताओं के बीच टकराव तथा आदान-प्रदान के फलस्वरूप विकसित हुआ है।

एशिया का जागरण
(Resurgence of Asia)

एशिया, पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्यसागर तक तथा उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्दमहासागर के मध्य स्थित दुनिया का सबसे बड़ा महाद्वीप है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या अपने में समेटे हुए यह महाद्वीप सभी प्रकार के धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं का घर है। यह महाद्वीप प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के बावजूद आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ है और राजनीतिक विकास की दृष्टि से भी बहुत पीछे है। यहाँ आधुनिकतावाद और परम्परावाद साथ-साथ निवास करते हैं।

विभिन्न आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों तथा प्रभावों के आधार पर हम एशिया के जागरण को कुछ निश्चित युगों में बाँट सकते हैं—

(1) प्रारम्भ से 1947 तक,
(2) 1947 से 1955 तक,
(3) 1955 से 1962 तक, एवं
(4) 1962 से अब तक।

प्रथम युग (प्रारम्भ से 1947 तक)

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में जब यूरोप तथाकथित 'औद्योगिक क्रान्ति' के प्रभाव से मध्यकालीन अवस्था का परित्याग कर आधुनिक अवस्था में पहुँच रहा था उस समय एशिया ने अपनी अर्थव्यवस्था, संस्कृति एवं राजनीतिक संगठन सम्बन्धी प्राचीन परम्पराओं का परित्याग करने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह निकाला कि यूरोप प्रगति करता गया और एशिया पिछड़ता चला गया। इतना ही नहीं, 'पश्चिम' ने एशिया को पराजित कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी समाप्त कर दिया।

शनैः-शनैः जापान, थाईलैण्ड, ईरान, नेपाल और चीन को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण एशिया पाश्चात्य राष्ट्रों के अधीन हो गया। अंग्रेज भारत, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, सिंगापुर और हांगकांग में जम गए, फ्रांसीसियों ने हिन्द-चीन में डेरा जमा लिया, डचों ने ईस्ट इण्डीज में पैर रोप दिए, रूसियों ने चीन के आमूर प्रान्त सहित साइबेरिया या बाह्य मंगोलिया में और स्पेनिश लोगों के (बाद में अमेरीकियों ने) फिलीपाइन्स में अपने अड्डे स्थापित कर लिए, यहाँ तक कि पुर्तगाल जैसे छोटे से राज्य ने भी अपने उपनिवेश कायम कर लिए। वे देश भी, जो देखने में स्वतन्त्र थे, व्यावहारिक दृष्टि से विदेशी राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके।

एशिया में स्वतन्त्रता आन्दोलनों का सूत्रपात—एशिया के राष्ट्र पहले से ही आर्थिक दृष्टि से अविकसित व्यवस्था में थे। पाश्चात्य शक्तियों ने उन पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद उनके आर्थिक शोषण की नीति अपनाई। यह आर्थिक शोषण क्रमशः इतना भयानक हो गया कि एशिया के अनेक समृद्ध राज्यों को भी भुखमरी, पीड़ा और नाना कष्टों का शिकार होना पड़ा। शनैः-शनैः एशियावासी समझ गए कि उनकी इन सब कठिनाइयों का निराकरण तभी सम्भव हो सकेगा जब वे विदेशी शासन से मुक्ति पा जाएँगे। इस प्रकार की चेतना बहुत कुछ पश्चिमी ज्ञान, साहित्य, कानूनों और संस्थाओं के कारण पैदा हुई। पूर्व को 'पश्चिम' के राष्ट्रवादी विचारों और उसके उच्च जीवन स्तर ने सर्वाधिक प्रभावित किया।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की पहली लहर आई। एशियावासी 'आत्म-निर्णय' की माँग करने लगे। 'भारत भारतीयों के लिए', 'चीन चीनियों के लिए' आदि आवाजें बुलन्द होने लगीं। सम्पूर्ण महाद्वीप में पाश्चात्य प्रभुत्व से छुटकारा पाने की जो प्रबल लालसा जाग्रत हुई उसने एक लम्बे स्वतन्त्रता आन्दोलन और संघर्ष का रूप धारण कर लिया। एशिया के लगभग सभी पराधीन राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति

पर क्रान्तिकारी पुनर्विचार की माँग करने लगे। एशिया तेजी से नव-जागरण के मार्ग पर अग्रसर हुआ। द्वितीय महायुद्ध ने एशिया महाद्वीप को अपना उद्देश्य प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान किया लेकिन सन् 1945 मे पश्चिमी शक्तियो की विजय के बाद साम्राज्यवाद की पुरानी व्यवस्था पुन ज्यो की त्यो स्थापित रह गई।

पर अब यह स्थिति अधिक समय तक जारी रहने वाली न थी। द्वितीय महायुद्ध मे श्वेत जातियो को जिन प्रारम्भिक गम्भीर पराजयों का सामना करना पडा था उससे एशियायी जनता को यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र अथवा 'गोरी चमडी' अजेय नही है। इस अनुभूति के फलस्वरूप स्वातन्त्र्य आन्दोलनो मे नई जान आ गई। थके हुए यूरोप के लिए आजादी की लहर को दबाना मुश्किल हो गया और एक के बाद एक लगभग सभी एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों के स्वप्न पूरे होते चले गए। यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि सन् 1919 के बाद एशिया और अफ्रीका महाद्वीपो मे साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और सन् 1945 के बाद इसका पूर्ण उन्मूलन होने लगा।

द्वितीय युग (1947 से 1955 तक)

इस अवधि मे एशिया के जागरण ने नई करवट ली और एशियायी व्यक्तित्व का विकास हुआ। इस युग की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी—

स्वतन्त्रता की लहर का प्रसार तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष में तीव्रता—विभिन्न एशियायी राष्ट्रो मे स्वतन्त्रता-आन्दोलनो ने जोर पकडा और सन् 1947 मे स्वतन्त्र भारत के उदय से एशियायी राष्ट्रवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला। बर्मा, श्रीलका, कम्बोडिया, लाओस आदि अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हो गए। सोवियत रूस साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक महान् शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ, पुरानी साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियाँ कमजोर पडती गई इससे एशियायी राष्ट्रवादी शक्तियों को बडा प्रोत्साहन मिला। अनेक देशो मे विकास-योजनाएँ आरम्भ हुई और भारत ने गुटनिर्पेक्षता की नीति का प्रतिपादन किया। एशियायी एकता के स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए स्व. श्री नेहरू ने दिल्ली मे एशियायी सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे डच साम्राज्यवाद की भर्त्सना की गई और सयुक्त राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया गया कि वह इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए प्रभावशाली कदम उठाए। वास्तव मे एशियायी एकता का यह पहला प्रदर्शन था जिसके फलस्वरूप इण्डोनेशिया मे डच साम्राज्यवादियो के कुत्सित मसूबे पूरे नही हो सके।

चीन की साम्यवादी क्रान्ति—चीन मे सन् 1949 मे जो साम्यवादी क्रान्ति हुई वह भी एशियायी जागरण का प्रतीक थी। इस देश मे साम्यवाद की स्थापना का एशियायी देशों की आन्तरिक और विदेश-नीतियों पर व्यापक प्रभाव पडा। एशिया के विभिन्न देशो की जनता कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट नही हुई और चीनी जन-क्रान्ति से प्रेरित होकर अब वह आर्थिक और सामाजिक जीवन मे सुधार लाने के लिए अधिक प्रबलता से माँग करने लगी अत राष्ट्रीय नेतृत्व पर बडी जिम्मेदारियाँ आ गईं। जनता की आर्थिक और सामाजिक सुधार सम्बन्धी

माँगों के प्रति विभिन्न एशियायी देशों में अलग-अलग नीतियाँ अपनाई गईं। कुछ देशों में जन-आन्दोलनों को कुचलने तथा स्वयं को सत्तारूढ़ करने के लिए नेताओं ने विदेशी सहायता का सहारा लिया। विदेशी शक्तियों ने सहायता की आड़ में अपने हितों की सिद्धि करने की कूटनीति शैली और कतिपय एशियायी देशों को अपनी सैनिक-सन्धियों के जाल में फँसाया। कुछ देशों में, आर्थिक विकास की माँग के सन्दर्भ में, सैनिक-क्रान्तियाँ भी हुईं। इन देशों ने साम्राज्यवाद विरोधी नीतियाँ अपनाईं और सैनिक गुटों का विरोध किया। मिस्र आदि देश एशियायी एकता के समर्थक बने। सोवियत संघ ने इन देशों को समर्थन प्रदान किया। कुछ एशियायी देशों में साम्राज्यवादियों ने कमजोर नेताओं को हटाकर सत्ता ऐसे सैनिक अधिकारियों के हाथों में दे दी जो उनकी साम्यवाद-विरोधी योजनाओं में साथ देने को सहमत थे। थाईलैंड तथा पाकिस्तान में ऐसा ही हुआ। जिन देशों में सत्ता सुधारवादी-क्रान्तिकारी नेताओं के हाथ में थी, जैसे भारत में, वहाँ व्यापक स्तर पर योजनाबद्ध तरीकों से विकास करने की नीति अपनाई गई। भारत जैसे देशों ने साम्यवाद का विकल्प सैनिक तानाशाही में नहीं अपितु समाजवाद, लोकतन्त्रवाद और धर्म-निरपेक्षता में देखा। साम्राज्यवादियों ने इन देशों की नीति पर अवसरवादिता का गलत आरोप लगाया पर सोवियत संघ ने आर्थिक सहायता और राजनीतिक समर्थन देकर इन देशों की लोकतान्त्रिक परम्पराओं और आकांक्षाओं को दृढ़ता प्रदान की।

सत्तारूढ़ नेतृत्व की प्रकृति के आधार पर एशियायी राष्ट्रों में मुख्य रूप से चार तरह की राजनीतिक व्यवस्थाएँ कायम हुईं। रूढ़िवादी नेतृत्व वाले देशों में सैनिक तानाशाही अथवा विदेशी संरक्षण में दुर्बल राजनीतिक लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएँ बनी रहीं। सुधारवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व वाले देशों में उदारवादी प्रजातन्त्र या क्रान्तिकारी प्रजातन्त्र या साम्यवादी व्यवस्थाएँ कायम हुईं। देश की राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप ही विदेश-नीति भी प्रतिपादित की जाने लगी।

एशियायी व्यक्तित्व का विकास (बाण्डुंग सम्मेलन)—विघटनकारी शक्तियों और बड़े राष्ट्रों के गुटीय संघर्षों से उत्पन्न खतरनाक परिस्थितियों के फलस्वरूप एशियायी देशों में एक प्रकार के सामूहिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और उनमें यह भावना जगी कि अपनी कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए उन्हें पारस्परिक एकता, संगठन और सहयोग का परिचय देना होगा।

इस प्रकार की एकात्मकता की नवीन चेतना की अभिव्यक्ति मार्च, 1947 में 'विश्व मामलों की भारतीय परिषद्' (Indian Council of World Affairs) के तत्वावधान में नई दिल्ली में आयोजित एक गैर-सरकारी 'एशियायी मैत्री सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में हुई। इस सम्मेलन में प्रस्ताव पारित हुए और अनेक निर्णय लिए गए तथा 'एशियायी मैत्री संगठन' (Asian Relations Organisation) की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए की गई—

(1) एशियायी समस्याओं और सम्बन्धों से सम्बन्धित महाद्वीपीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं के अध्ययन और ज्ञान को प्रोत्साहित करना,

(ii) एशियायी राष्ट्रो तथा विश्व के दूसरे राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग को बढावा देना, एव

(iii) एशियायी जनता की प्रगति और हितो मे वृद्धि करना ।

जनवरी, 1949 मे 15 राज्यो के प्रतिनिधियो ने औपनिवेशिक विषयों पर विचार करने लिए एक अन्य सम्मेलन आयोजित किया । इस सम्मेलन में मुख्यत. इण्डोनेशिया मे डच सरकार द्वारा की गई सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार किया गया । मई, 1950 मे फिलीपाइन्स द्वारा बोगुई नामक स्थान पर एशियावासियो के सांस्कृतिक व आर्थिक सहयोग पर विचार करने के लिए सम्मेलन आमन्त्रित किया गया । अप्रैल, 1954 मे भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा और इण्डोनेशिया के प्रधान मन्त्री हिन्द-चीन सहित विभिन्न समस्याओ पर विचार करने के लिए परस्पर मिले । दिसम्बर, मे पाँचो प्रधान मन्त्री बोगार मे एकत्र हुए और वहाँ एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों का एक वृहद् सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका मे नव-जागरण की लहर का सर्वोत्तम रूप बाण्डु ग सम्मेलन मे प्रकट हुआ । भारत, बर्मा और इण्डोनेशिया द्वारा इस महान् अफ्रो-एशियायी सम्मेलन का आयोजन किया गया जो 18 अप्रैल, 1955 से 27 अप्रैल, 1955 तक चला । इस सम्मेलन मे भारत सहित 29 राष्ट्र सम्मिलित हुए । पहली बार साम्यवादी चीन भी गैर साम्यवादी राष्ट्रो के साथ सद्भावना और मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श मे भाग लेने के लिए उपस्थित हुआ । सम्मेलन की समाप्ति पर सम्पूर्ण संसार को विश्वास हो गया कि सोया हुआ एशिया और अफ्रीका अब जाग उठा है । इस सम्मेलन मे पण्डित नेहरू का शान्ति-सन्देश नए उत्साह के साथ सुना गया ।

बाण्डु ग सम्मेलन मे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया कि स्वतन्त्रता का वास्तविक अभिप्राय क्या है । काफी विचार-विमर्श के बाद सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वास्तविक स्वतन्त्रता तभी कही जा सकती है जब उसमे निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश हो—

(i) विदेशी प्रभाव से मुक्ति एव पूर्ण लोकतन्त्रात्मक स्वशासन,

(ii) जाति, समुदाय और रग सम्बन्धी किसी प्रकार के भेदभाव के बिना मानव-प्रतिष्ठा की मान्यता,

(iii) तीव्र आर्थिक समृद्धि जिसका लाभ अधिकाधिक जनता को सुलभ हो, एव

(iv) युद्ध का उन्मूलन तथा सद्भावना का प्रसार ।

बाण्डु ग सम्मेलन मे उपनिवेशवाद के सभी रूपो का विरोध किया गया । श्रीलंका के प्रधान मन्त्री जोन कोटलेवाला का मत था कि उपनिवेशवाद मे साम्यवादी शासन के उस रूप को भी शामिल किया जाना चाहिए जो शक्ति और विध्वंस द्वारा स्थापित किया जाता है । काफी विवाद के बाद सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जनता की इच्छा के विरुद्ध शक्ति और विध्वंस द्वारा स्थापित शासन भी उपनिवेशवाद

है। बाण्डुंग सम्मेलन की एक सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक व्यवहार के दस सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनमें से पाँच सिद्धान्त 'पंचशील' के थे। वारनेट के शब्दों में, बाण्डुंग सम्मेलन, "एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थान का प्रतीक था। यह इस बात का ज्वलन्त उदाहरण था कि विश्व के *मामलों में अब एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का प्रभाव बढ़ रहा है।*"

तृतीय युग (1955 से 1962 तक)

इस युग में एशियायी जागरण की सकारात्मक उपलब्धियों के साथ ही इसके कुछ नकारात्मक तथ्य भी सामने आए।

सकारात्मक पक्ष—कुछ समय तक 'बाण्डुंग भावना' का बोलबाला रहा। मतभेदों के बावजूद एशियायी देशों में सहयोग और मैत्री-भाव की प्रधानता रहने से संयुक्त राष्ट्रसंघ में अफ्रो-एशियायी गुट अस्तित्व में आया। ऐसा प्रतीत हुआ कि विश्व के इन दो महाद्वीपों के छोटे-बड़े राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्राज्यवाद के विरुद्ध कन्धे से कन्धा मिलाकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएँगे। अफ्रीकी-एशियायी गुट ने विश्व-संस्था के रंग-मंच पर उपनिवेशवाद और रंग-भेद की नीतियों के विरोध में सराहनीय ढंग से एकमत होकर कार्य किया। गुटनिरपेक्ष देश अमेरिका और रूस के बीच कटुता की खाई को थोड़ा बहुत पाटने में भी सफल हुए। भारत जैसे गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के प्रयत्नों का ही परिणाम था कि दोनों महाशक्तियों के शीर्षस्थ नेताओं की भेंट हुई और विभिन्न विषयों पर दोनों शक्तियों ने एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की सद्भावना दिखाई। गुटनिरपेक्षता की ही यह देन थी कि एशियायी राष्ट्रों को विश्व-राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर मिला। इस अवधि में एशिया के और भी कई देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। वास्तव में एशियायी जागरण इस स्थिति में पहुँच गया कि विश्व की महाशक्तियाँ इस महाद्वीप के और अफ्रीका के राष्ट्रों की अवहेलना नहीं कर सकती थीं।

नकारात्मक पक्ष : बाण्डुंग भावना की समाप्ति—बाण्डुंग सम्मेलन में एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों के आपसी प्रेम और सहयोग के जो भाव विकसित हुए, वे दुर्भाग्यवश शीघ्र ही दब गए। साम्यवादी चीन ने सम्मेलन में अत्यधिक उदारतावाद का परिचय दिया, लेकिन यह उसकी गहरी कूटनीतिक भेड़ियाचाल थी। चीन एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों को अपनी भेड़िया-चाल से बेखबर रख कर एशिया और अफ्रीका का नेतृत्व अपने हाथों में लेने का स्वप्न देख रहा था। बाण्डुंग सम्मेलन के कुछ ही दिनों बाद साम्यवादी चीन ने बाण्डुंग के 10 सिद्धान्तों का खुला उल्लंघन कर भारत की भूमि पर अपनी कु-दृष्टि डालना शुरू कर दिया और अन्य देशों पर भी अपना प्रभाव फैलाने का प्रयत्न करने लगा। इसके बाद ही 1962 में चीन ने भारत के साथ खुला संघर्ष छेड़ दिया और आज भी दोनों राष्ट्रों के बीच सीमा-विवाद कायम है और चीनी नीति भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को उकसाते रहने की है।

सम्मेलन में भाग लेने वाले अन्य राष्ट्रों में भी राष्ट्रीय भावना की उग्रता,

राष्ट्रीय हितों की विभिन्नता और विघटनकारी तत्वों की प्रबलता के कारण बाण्डुंग भावना जैसी कोई चीज एशिया-अफ्रीका के राष्ट्रों में दिखाई नहीं देती। वास्तव में यह एशिया का दुर्भाग्य है कि आज एशियायी ऐक्य में काफी चौड़ी दरारें पड़ चुकी हैं।

चतुर्थ युग (1962 से मार्च 1982)

इस अवधि मे एशियायी एकता को गहरे झटके लगते रहे हैं। भारत पर चीनी आक्रमण, क्यूबा पर अमेरिकी दबाव और रूस का सुरक्षा के लिए आगे बढना आदि घटनाओ ने अफ्रेशियाई देशो तथा लेटिन अमेरिकी राज्यो के सामने स्पष्ट कर दिया कि उन्हे न केवल साम्राज्यवादियो और गैर-साम्राज्यवादियो के बीच चुनाव करना है बल्कि चीन की विस्तारवादी आकांक्षाओ और रूस-चीन-संघर्ष के सन्दर्भ मे भी अपनी नीति निर्धारित करनी है। एशियायी एकता का स्वप्न अभी अधूरा है—विकट बाधाएँ मार्ग मे हैं। चीन और पाकिस्तान का गठबन्धन भारत के विरुद्ध मजबूती लेता जा रहा है। पाकिस्तान अपनी सैनिक शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाकर भारत को खतरा पैदा कर रहा है—इस उपमहाद्वीप के शक्ति-सन्तुलन को बिगाड़ रहा है। ईरान और ईराक परस्पर युद्ध-रत हैं तथा अन्य अरब देश भी आपसी फूट के शिकार है। बंगलादेश का रवैया भी रचनाकूल नही है। फिर भी, आपसी वार्ताओ के दो दौर चल रहे हैं, वे निराशा मे आशा का संकेत दे रहे है।

स्पष्ट है कि एशिया जाग रहा है, राजनीतिक स्वाधीनता की लक्ष्य-प्राप्ति के उपरान्त अब उसके चरण आर्थिक स्वाधीनता की लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर हैं। एशिया मे लोकतान्त्रिक शक्तियाँ प्रबल हो रही हैं। एशिया हर प्रकार के शोषण से मुक्त होने को छटपटा रहा है फिर भी एशियायी एकता की कल्पना अभी तक साकार नही हो सकी है। भारत, चीन और पाकिस्तान मिलकर एशियायी एकता की इमारत को मजबूत बना सकते हैं, लेकिन चीन और पाकिस्तान जिस रास्ते पर अब तक चलते रहे है वह एशियायी एकता की जड़ खोद देने वाला है। फरवरी, 1982 में दिल्ली मे भारत-पाक अनाक्रमण सन्धि की दिशा मे जो विचार-विमर्श हुआ वह उत्साहवर्द्धक है। यदि दोनो देशों के बीच अनाक्रमण सन्धि हो जाती है और पाकिस्तान ईमानदारी से इस पर अमल करता है तो यह बात एशियायी एकता को ठोस रूप मे आगे बढ़ाने मे सहायक होगी।

एशियायी राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

एशिया महाद्वीप की उपर्युक्त राजनीतिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दृष्टि से यहाँ अनेक प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों का विकास हो रहा है। एशिया मे क्रान्ति अभी तक चल रही है। पहले इसका विरोध केवल विदेशी साम्राज्यवाद के प्रति था, पर आज यह विरोध पुरातन विचारों, अन्ध-विश्वासों, अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी और विविध सामाजिक बुराइयों के प्रति सन्तुलित किया जा रहा है। एशिया की जागृति के कुछ निश्चित परिणाम निकले हैं जिनमें राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति, राष्ट्रीयता का विकास तथा साम्यवाद का प्रसार

प्रमुख हैं। सर्वत्र नई राजनीतिक और आर्थिक नीतियों तथा नई संस्थाओं का तेजी से विकास हो रहा है और स्पेण्डर के शब्दों में, "यह विकास राष्ट्रीय विचार की प्रेरक शक्ति के रूप में आर्थिक एवं सामाजिक सुधार की माँग के कारण भविष्य में जारी रहेगा।" एशिया के सभी देशों में राष्ट्रीयता की प्रबल लहर ने इजरायल से लेकर फिलिपाइन्स तक कई नए राष्ट्रों का निर्माण किया है। एशियायी राष्ट्रवाद पश्चिमी राष्ट्रवाद से भिन्न है। यहाँ के राष्ट्रवाद में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति, राजनीति के साथ-साथ परम्परावाद से प्रेम आदि का विचित्र सम्मिश्रण है। एशिया महाद्वीप में साम्राज्यवाद का अन्त हो रहा है, लेकिन साम्राज्यवादी मनोवृत्ति समाप्त नहीं हुई है और इसीलिए अनेक देशों में साम्यवाद के प्रति आकर्षण बहुत बढ़ा है। सोवियत और चीनी साम्यवाद विशेष रूप से प्रभावशील हैं। एशिया के लगभग सभी देश आर्थिक और सामाजिक न्याय तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के आकांक्षी हैं, लेकिन वे बड़ी शक्तियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। बड़ी शक्तियाँ भी एशियावासियों और एशियायी नेताओं के दृष्टिकोणों की उपेक्षा नहीं कर पाती। एक शुभ-प्रभाव यह प्रकट हुआ है कि गुटों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी एशिया के अधिकांश देशों का मत है कि साम्यवादी व्यवस्था तथा पूँजीवादी प्रजातन्त्रों के बीच का एक रास्ता है जिसे आर्थिक दृष्टि से मिश्रित अर्थव्यवस्था और विदेश-नीति या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से गुटनिरपेक्षता की नीति (Policy of Non-Alignment) कहा जाता है।

पामर और पर्किंस (Palmer and Perkins) ने एशिया के प्रमुख देशों के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों को पाँच भागों में विभाजित किया है—

(1) साम्यवादी चीन का दृष्टिकोण,
(2) राष्ट्रवादी चीन तथा कोरिया का दृष्टिकोण,
(3) पश्चिम-समर्थक दृष्टिकोण,
(4) ईरान-अरब-दृष्टिकोण, एवं
(5) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का दृष्टिकोण।

पामर और पर्किंस का विभाजन उपयुक्त है तथापि इसे तीन मुख्य भागों तक सीमित करना ही पर्याप्त होगा—साम्यवाद समर्थक दृष्टिकोण, पूँजीवाद समर्थक दृष्टिकोण और गुटनिरपेक्षता का दृष्टिकोण।

साम्यवाद का प्रभाव एशिया में बढ़ रहा है। एशिया का ही नहीं विश्व का महानतम राष्ट्र चीन पूरी तरह *लाल बन चुका है* और *अफ्रो-एशियायी देशों में अपना* आतंक फैलाने को प्रयत्नशील है। चीन चाहता है कि एशिया और अफ्रीका के देश उसका प्रभुत्व स्वीकार करलें और उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर साम्यवाद की स्थापना करलें। इस दिशा में उसकी टक्कर सोवियत साम्यवाद से है जो एशिया में अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए पूर्ण रूप से सचेष्ट है पर दोनों देशों के रुख और उनकी रीति-नीति में अन्तर है। साम्यवादी चीन विस्तारवाद और आतंकवाद का प्रतीक सिद्ध हुआ है जिससे एशिया और अफ्रीका के छोटे-मोटे

अधिकांश राष्ट्र आशंकित हो गए हैं। पाकिस्तान को छोड़कर बाकी देश चीन के शिकंजे में यथासम्भव नहीं फँसना चाहते। पाकिस्तान अपनी भारत-विरोधी नीति के कारण चीन की आर्थिक और सामरिक सहायता पर अधिकाधिक आश्रित होता जा रहा है। उसने मार्च, 1953 में 'सिंकियांग और कश्मीर-सीमा विषयक अन्तिम समझौते' के अन्तर्गत अवैध रूप से हड़पी हुई भारत की भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा चीन को सौंपकर माओ की कृपा अर्जित की है। भारत पर चीन के अकारण आक्रमण के बाद एक ओर तो अफ्रेशियायी राष्ट्र चीनी विस्तारवाद की ओर से चौकन्ने हो गए हैं और दूसरी ओर पाकिस्तान चीन को साम्यवाद के प्रसार के लिए प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में आमन्त्रित करता रहा है—एशिया महाद्वीप इस विचित्र विरोधाभास से ग्रस्त है। सन् 1976 में राजदूतों के आदान-प्रदान के बाद से भारत और पाकिस्तान तथा भारत और चीन के सम्बन्धों ने जो नया मोड़ लिया है, वह यदि वास्तव में रचनात्मक रूप लेता है तो इस महाद्वीप की कायापलट होने में देर नहीं लगेगी।

साम्यवाद एशिया पर न छा जाए, इसलिए पश्चिमी शक्तियाँ एशिया के राष्ट्रों पर अपना प्रभाव बनाए रखने के लिए सचेष्ट हैं। पाकिस्तान, इजरायल, ईरान, टर्की आदि राष्ट्र अमेरिका और उसके साथियों के प्रभाव-क्षेत्र हैं। नाटो, सीटो, सेंटो सन्धि-सगठनों द्वारा इस भू-भाग के कतिपय राष्ट्र साम्यवाद-विरोध के नाम पर अपनी सैनिक शक्ति को प्रबल बना रहे हैं। जापान भी अमेरिकी प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है, यद्यपि जापानियों की आकांक्षा पूर्णतः स्वतन्त्र' दृष्टिकोण अपनाने की है।

एशिया महाद्वीप गुटनिर्पेक्षता के दृष्टिकोण ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यहाँ के अनेक देश इस नीति में विश्वास करते हैं जिनमें भारत का स्थान सर्वोपरि है। कोलम्बो शक्तियों में सबसे अधिक प्रभावशाली यह देश अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सैद्धान्तिक और सैनिक स्थिति के कारण प्रभावपूर्ण रूप से अपनी आवाज बुलंद करने में सक्षम है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में और अन्यत्र भारतीय नेताओं ने सदा ही एशिया की एकता के लिए कार्य किया है। एशिया और अफ्रीका में गुटनिर्पेक्ष विदेश-नीति के समर्थक राष्ट्र विश्व के पूँजीवादी और साम्यवादी पक्षों में सन्तुलनकारी भूमिका अदा कर रहे हैं। ये राष्ट्र अपने आपको किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध नहीं करना चाहते, तथापि यह स्पष्ट है कि वे संयुक्त रूप में विश्व की एक तीसरी महाशक्ति सिद्ध हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भावना के दृष्टिकोण और आदर्श, पामर एवं पर्किंस के अनुसार ये हैं—(1) जातीय भेद-भाव और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध, (2) साम्यवाद अथवा शक्ति-राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों के आधारभूत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास पर बल, (3) एशियायी देशों की उपेक्षा न करने और उन पर बलात् कुछ न थोपने पर आग्रह, (4) स्वतन्त्रता अथवा गुटनिरपेक्षता की नीति पर बल, संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रयास

में विश्वास, (5) शीतयुद्ध एवं क्षेत्रीय सुरक्षा-संगठनों से पृथक्ता, तथा (6) अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को बढ़ाने वाले प्रयत्नों में आस्था।

महाशक्तियाँ और एशिया
(Super Powers and Asia)

यह देखना रोचक होगा कि महाशक्तियों ने एशियायी देशों के मामलों में कितनी रुचि दिखाई है, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए क्या-क्या गुल खिलाए हैं, शक्ति-सन्तुलन की राजनीति का क्या खेल खेला है, कहाँ-कहाँ कैसे और क्यों अपनी 'राजनीतिक पार्टियाँ' स्थापित की हैं, किन नए क्षेत्रीय संगठनों को जन्म दिया है, कहाँ कैसा लज्जास्पद नाटक खेला है और कई बार 'उलटी चपत' खाई है, किस प्रकार का कूटनीतिक मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक युद्ध जारी रखा है, गिरगिट की तरह रंग बदलकर कैसे कभी तो धमकी और बन्दर-भभकी दिखाई है और कैसे कभी 'अपना मुँह काला होने' का अपयश धोया है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न पहलुओं की दृष्टि से यह सारा घटना-चक्र अध्ययन की महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

पिछले एक दशक में सोवियत संघ अमेरिका और चीन ने एशियायी देशों के मामलों में जितनी रुचि दिखाई उतनी शायद पहले कभी नहीं दिखाई थी। पश्चिमेशिया हो या हिन्दमहासागर अथवा दक्षिणपूर्वी एशिया सर्वत्र ये महाशक्तियाँ अपनी-अपनी गोटियाँ बिठाने में व्यस्त हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि एशिया में कोई न कोई मोर्चा बना रहता है।

महाशक्तियाँ जहाँ एक ओर परस्पर समझौते का प्रयास करती है, दूसरी ओर अपने प्रभाव-विस्तार की होड़ में वे एशियाई देशों को शस्त्रास्त्रों से सज्जित भी करती हैं। अमेरिका ने न केवल हिन्द-चीन के देशों को बेशुमार सैनिक-आर्थिक सहायता देकर वहाँ स्थायी अशान्ति की स्थिति पैदा की बल्कि भारतीय उप-महाद्वीप में भारत और पाकिस्तान के बीच 1947, 1965 और 1971 में हुई तीन कड़ी लड़ाइयों के लिए भी मूलतः वही जिम्मेदार रहा। पश्चिमी एशिया में जून, 1967 में अरब-इजरायल युद्ध और उसके बाद की सतत् क्रान्ति के लिए भी राजनीतिक क्षेत्रों में मूलतः उसे ही उत्तरदायी माना जाता है, वैसे स्थिति को उलझाने में सोवियत संघ और चीन का भी हाथ रहा। पर्दे के पीछे महाशक्तियों की सहमति के फलस्वरूप ही पश्चिम एशिया अब शान्ति की ओर अग्रसर है।

हिन्दमहासागर इन बड़ी शक्तियों की शक्ति-सन्तुलन की राजनीति का ताजा केन्द्र है। हिन्दमहासागर कभी किसी भी देश की नौसेना के लिए वर्जित जलक्षेत्र नहीं रहा, परन्तु हाल के कुछ वर्षों में अमेरिका, सोवियत संघ और चीन ने इस जलक्षेत्र में जो विशेष रुचि दिखाई है उससे इसके अशान्त बन जाने का खतरा पैदा हो गया है। इसी कारण हिन्दमहासागरीय देशों ने इसे 'शान्त-जलक्षेत्र' बनाए रखने की पुरजोर माँग की है और संयुक्तराष्ट्र महासभा ने इस आशय का एक प्रस्ताव भी

पारित किया है। जब से अमेरिका ने डियागो गार्सिया में नौसैनिक अड्डा बनाने का फैसला किया, तब से बड़ी शक्तियों की एशियायी राजनीति में और भी सरगर्मी पैदा हो गई है। हिन्दमहासागर में अमेरिका और सोवियत संघ की नौसैनिक शक्ति के बारे में परस्पर विरोधी अनुमानों के कारण सही स्थिति का पता लगाना सम्भव नहीं है, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि यमन और सोमालिया के बन्दरगाहों में नौसैनिक सुविधाएँ प्राप्त करने के बाद सोवियत नौसेना हिन्दमहासागर में अमेरिकी नौसेना के लिए चुनौती बन गई है। हिन्दमहासागर में चीन की नौसेना का भी दखल है, किन्तु शक्ति-सन्तुलन की दृष्टि से वह अधिक महत्त्व नहीं रखता है। यह अवश्य है कि बड़ी शक्तियों की एशियायी नीति के सन्दर्भ में चीन अपना महत्त्व समझता है और तद्नुसार भूमिका निभा रहा है।

1950 के कोरिया-युद्ध के बाद से ही चीन एशिया की राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगा। 1954-58 का समय उसकी इस सक्रियता का वाण्डुंग चरण रहा जबकि चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई ने कई एशियायी देशों की यात्रा की और वहाँ की सरकारों को यह विश्वास दिलाया कि चीन उनके साथ एक अच्छे पड़ोसी की तरह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का पालन करते हुए रहना चाहता है। इससे पूर्व 1950 में तिब्बत का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर चीन उसका अपने भू-भाग में विलयन कर चुका था जिसके कारण दक्षिणपूर्वी एशिया के देश चौकन्ने हो गए थे। इसी समय चीन और भारत में घनिष्ठता बढ़ी और 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे से दोनों देशों का आकाश गूँजा परन्तु 1958 में अक्साई चीन में चीन की घुसपैठ के साथ ही यह स्वप्न भंग हो गया। दक्षिणपूर्वी एशिया के सभी देश पुनः सतर्क हो गए लेकिन भारत ने फिर भी सम्बन्ध सुधारने का एकतरफा प्रयास जारी रखा। चीन ने इसे भारत की कमजोरी समझा और 1962 में खुला आक्रमण कर उसका हजारों वर्गमील का क्षेत्र हथिया लिया। यह वह समय था जब वियतनाम युद्ध उत्तरोत्तर तेज होता जा रहा था और चीन का प्रभाव रोकना अमेरिका की दक्षिण-पूर्वी एशिया नीति का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। इसलिए 1958 में जब चीन ने अपने क्वे-माय और मात्सू द्वीपों पर अधिकार करना चाहा तो अमेरिका ने उसे कड़ी चेतावनी दी।

वियतनाम से अमेरिकी सैनिकों की वापसी के बावजूद दक्षिणपूर्वी एशिया में अमेरिका अपनी राजनीतिक गोटियाँ बैठा रहा है। वियतनाम युद्ध के दौरान चीन और अमेरिका दोनों को ही यह अहसास हो गया कि युद्ध समस्या का समाधान नहीं कर सकता, उसका राजनीतिक हल खोजना अनिवार्य है। साथ ही उन्हें यह भी महसूस हुआ कि इस क्षेत्र में युद्ध-स्थिति सोवियत प्रभाव को ही बढ़ाने में सहायक होगी। चीन और अमेरिका दोनों ही के लिए यह स्थिति निरापद नहीं थी। असली प्रतिद्वन्द्विता पहले भी अमेरिका और सोवियत संघ के बीच थी और आज भी उन्हीं में है, अतः अमेरिका, सोवियत संघ के प्रभाव-विस्तार को अनदेखा न तब कर सकता था और न अब। उधर सोवियत संघ और चीन के बीच पुराना सीमा-विवाद चला

आ रहा था जो अब और भी गहरा हो गया है अतः चीन भी सोवियत संघ के प्रभाव-विस्तार के विरुद्ध था। भारत, जापान, इण्डोनेशिया एवं फिलीपीन के साथ भी चीन के सीमा-विवाद हैं। इस सब की स्वाभाविक परिणति चीन और अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार के रूप में हुई। 1965 में जब सोवियत संघ और चीन का विवाद काफी बढ़ गया, तो अमेरिका और चीन के बीच सम्बन्ध सुधारने का सिलसिला भी आरम्भ हो गया जो 1971 में कीसिंगर की और 1972 में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की चीन-यात्रा का हेतु बना।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 1965 में ही अमेरिका पूरी तरह से वियतनाम-युद्ध में कूद चुका था। फरवरी, 1965 में अमेरिका ने उत्तर-वियतनाम पर भीषण बमवर्षा की, किन्तु चीन ने मौखिक समर्थन के अलावा उत्तर-वियतनाम को और कोई सहायता नहीं दी। यही नहीं, बाद के वर्षों में उसने अपने इलाके से उत्तर-वियतनाम को सोवियत सैनिक सहायता भेजे जाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। इस लिए यह कोई संयोग नहीं था कि 1971 में जब एक ओर चीन और अमेरिका के बीच पिंग-पांग कूटनीति चल रही थी, दूसरी ओर अमेरिकी बमवर्षक उत्तर-वियतनाम की ईंट से ईंट बजाने पर तुले हुए थे। वास्तविकता तो यह है कि जब फरवरी, 1971 में अमेरिका और दक्षिण-वियतनाम ने मिलकर लाओस पर हमला किया, तभी चीन को यह आश्वासन दे दिया गया था कि आक्रमण से उसकी सीमाओं को कोई खतरा नहीं पहुँचेगा। चीन ने इस पर विश्वास किया तभी तत्कालीन अमेरिकी विदेश-मन्त्री रोजर्स यह कह सके कि कोरिया-युद्ध के दिन लद चुके हैं और लाओस में चीन की ओर से प्रत्याक्रमण की कोई आशंका नहीं है।

1965 के भारत-पाक युद्ध के बाद चीन और पाकिस्तान के सम्बन्धों में तेजी से सुधार भी इसका प्रमाण है कि चीन और अमेरिका के बीच सम्बन्ध-सुधार का सिलसिला 1965 के आसपास ही शुरू हो गया था। 1962 में चीन के आक्रमण के समय भारत को समर्थन देने के लिए तत्पर अमेरिका ने चीन और पाकिस्तान के सम्बन्ध-सुधार का कभी विरोध नहीं किया। सेंटो का सदस्य पाकिस्तान चीन से घनिष्ठता बढ़ाए और अमेरिका चुप रहे, यह कोई कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी।

सोवियत संघ ने इस सारी स्थिति की गम्भीरता को अनदेखा नहीं किया। उसने भारत-चीन सीमा-विवाद से लाभ उठाया और भारत की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया। भारत को भी सोवियत संघ की मित्रता की जरूरत थी, क्योंकि पाकिस्तान से युद्ध के कारण भारत और अमेरिका के सम्बन्ध उत्तरोत्तर तनावपूर्ण बनते जा रहे थे। 1961 की जुलाई में कीसिंगर की चीन-यात्रा के बाद जब यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका और चीन की व्यूह-रचना दक्षिण पूर्वी एशिया में सोवियत-प्रभाव को रोकने के लिए है तो सोवियत संघ ने भारत के साथ वह सन्धि-सम्पन्न करली जिस पर दोनों देश एक अरसे से विचार-विमर्श कर रहे थे। सोवियत-भारत सहयोग की यह सन्धि इसलिए और भी सम्भव हो सकी कि उस समय बंगलादेश के

मुक्ति-संघर्ष के कारण भारत और पाकिस्तान एक ओर युद्ध के कगार पर खड़े थे तथा चीन और अमेरिका युद्ध होने पर पाकिस्तान का पक्ष लेंगे, यह उनके रवैये से स्पष्ट था। भारत को सोवियत-समर्थन की ही आशा थी जो उसे सन्धि से पूर्व भी मिल रहा है।

दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध के बाद सार्वभौम बंगलादेश की स्थापना अमेरिका और चीन दोनों को ही समान रूप से अखरी, क्योंकि यह स्पष्टतः उनकी एशियायी नीति की पराजय थी, किन्तु परिस्थितिवश उन्हें यह कड़वा घूँट पीना पड़ा। चीन हिमालय में सम्भावित छेड़छाड़ इसलिए नहीं कर सकता कि तब चीन की पश्चिमोत्तर सीमा पर सोवियत संघ द्वारा कार्यवाही किए जाने की आशंका थी, और अमेरिका उन दिनों पूर्वी एशिया में बुरी तरह फँसा हुआ था यद्यपि उसने प्रशान्त महासागर स्थित सातवें बेड़े के परमाणु युद्धपोत 'एंटरप्राइज' को बंगाल की खाड़ी में भेजकर युद्ध पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने की कोशिश की थी।

और यहीं से बड़ी शक्तियों की एशियायी नीति में एक नया मोड़ आरम्भ होता है। राजनीतिक बाध्यताओं से विवश अमेरिका ने शीघ्र ही बंगलादेश को मान्यता दे दी और इस प्रकार बंगलादेश के मुक्ति-संघर्ष के दौरान निभाई गई भूमिका से मिले अपयश को धोना चाहा। इससे उसे लाभ भी हुआ। सोवियत संघ और भारत से मैत्री के बावजूद बंगलादेश और अमेरिका के बीच अच्छे सम्बन्ध हैं लेकिन चीन ने न केवल बंगलादेश को मान्यता नहीं दी,बल्कि अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर संयुक्तराष्ट्र में उसका प्रवेश भी रोक दिया। आगे चलकर विश्व-जनमत के दबाव को ध्यान में रखते हुए पहले पाकिस्तान और फिर चीन ने बंगलादेश को मान्यता प्रदान करदी।

बड़ी शक्तियों की एशियायी नीति की दृष्टि से 1965 के बाद का काल उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण बनता गया। इससे पूर्व विभाजनग्रस्त कुछ देशों को छोड़ कर प्राय अन्य सभी देश पश्चिमी गुट यानी अमेरिका के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव में थे। पश्चिमी एशिया में 'सैंटो' और दक्षिण पूर्वी एशिया में 'सीएटो' सैनिक सन्धियों के माध्यम से अमेरिका इस भू-भाग के मामलों में प्राय हस्तक्षेप करता रहा परन्तु 1965 के बाद स्थिति में परिवर्तन हुआ। पश्चिमी एशिया में ईराक, सीरिया आदि से सोवियत संघ के सम्बन्धों में सुधार हुआ तो दक्षिण में अमेरिका द्वारा पाकिस्तान के खुले समर्थन के कारण भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध और सुदृढ़ हुए। उधर स्वेज से अपनी सेना वापस बुलाने के ब्रितानी निर्णय ने दक्षिण-पूर्वी एशिया और हिन्दमहासागर में शून्य की स्थिति पैदा कर दी। हिन्दचीन देशों को छोड़कर पूर्वी एशिया के अन्य देशों को ब्रितानी निर्णय से स्वतन्त्र नीति अपनाने का अवसर मिला और इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, फिलीपीन और थाईदेश ने मिलकर अगस्त, 1967 में एक नया संगठन 'दक्षिण पूर्वीएशियायी संघ, बनाया।

जून 1967 में पश्चिमी एशिया में अरब-इजरायल युद्ध हुआ और अमेरिका द्वारा इजरायल का पक्ष लिए जाने के कारण अरब देशों के साथ उसके सम्बन्धों में

दरार पैदा हो गई। इससे पश्चिमी एशिया में सोवियत संघ को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर मिला। इस प्रकार सारे एशिया में सोवियत-प्रभाव का विस्तार हो गया।

दक्षिण पूर्वी एशिया में एक नया संगठन जन्म ले ही चुका था। पश्चिमी एशिया में भी अरब देश इजरायल से लोहा लेने के लिए एक महासंघ बनाने पर गम्भीरता से विचार कर रहे थे। मिस्र के भूतपूर्व राष्ट्रपति नासिर को इस दिशा में कुछ सफलता मिली। वह स्थिति सोवियत नीति के अधिक अनुकूल थी, क्योंकि सोवियत नेता 1955 से ही इस बात पर जोर दे रहे थे कि सभी देशों के 'संयुक्त प्रयासों से ही शान्ति और वास्तविक सुरक्षा' मिल सकती है अतः 1969 में कम्युनिस्ट पार्टियों ने मास्को-सम्मेलन के दौरान सोवियत नेता ब्रेझनेव ने एशियायी सामूहिक सुरक्षा का विचार प्रस्तुत किया। पश्चिमी-गुट ने इसे चीन को अकेला करने के षड्यन्त्र के रूप में देखा। चीन भी तब तक सम्भवतः अमेरिका के बहुत नजदीक पहुँच चुका था, अतः उसने भी एशियायी सामूहिक सुरक्षा के विचार का यह कह कर खुल कर विरोध किया कि ऐसा करके सोवियत संघ ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि उसका ऐसा कोई इरादा नहीं है, बल्कि वह तो यह मानता है कि एशियायी सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य तभी पूरा होगा जब चीन भी उसमें शामिल हो लेकिन चीन ने अब तक इस दिशा में कोई रुचि नहीं दिखाई है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन ने अपनी मास्को-यात्रा के समय एशियायी सामूहिक सुरक्षा के विचार का स्वागत किया। शायद उन्हें यह अहसास हो गया था कि एशिया में बड़ी शक्तियों की चौधराहट का युग अब समाप्त हो गया है। पिछले एक दशक में एशिया की राजनीति में आए परिवर्तनों को देखते हुए निक्सन का ऐसा कुछ सोचना स्वाभाविक ही था। लेकिन यूरोप में दो महायुद्ध लड़ने के बाद बड़ी शक्तियों ने, लगता है शायद यह फैसला कर लिया है कि यदि तीसरा महायुद्ध हुआ तो वह एशिया में लड़ा जाएगा। अतएव अब उन्होंने हिन्दमहासागर को अपनी कूटनीति का मोहरा बनाया है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया—बदलते आर्थिक समीकरण

आर्थिक समीकरण राजनीतिक समीकरणों के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं और यह भी होता है कि राजनीतिक समीकरण आर्थिक समीकरणों को दिशा देते हैं। एशियायी जागरण राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक सभी क्षेत्रों में प्रसारित हो रहा है। 9 फरवरी 1975 के दिनमान में विद्वान् लेखक श्री गिरजेश पन्त ने दक्षिण पूर्वी एशिया के बदले आर्थिक समीकरणों की जो समीक्षा की थी वह एशियायी जागृति के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को आलोकित करती है। अग्रिम विवरण उन्हीं के शब्दों में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समीकरण जहाँ महाशक्तियों के पारस्परिक आर्थिक राजनीतिक स्वार्थों के आधार पर परिभाषित होते हैं, वहीं तीसरी दुनिया के नाम

तथाकथित विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक-राजनीतिक तन्त्र को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते है। दूसरे विश्वयुद्ध के साथ जब यूरोप के राष्ट्रों ने अमेरिकी प्रभुता को स्वीकार किया और अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवाद की सुरक्षा एवं साम्यवाद के बढ़ते हुए खतरे को रोकने के लिए रूस-विरोधी मोर्चा कायम किया तो सम्पूर्ण विश्व शीतयुद्ध के प्रभाव से ग्रस्त हो गया। दो शिविरों में बँटी दुनिया ने उपनिवेश के जाल से बाहर निकले तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के सामने एक प्रश्न रख दिया कि वे कहाँ जाएँगे। जिस प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलनों से इन राष्ट्रों मे राष्ट्रीय सरकार बनी तथा जिस वर्ग ने सत्ता की बागडोर सम्भाली उसके हित में यह नहीं था कि वह साम्यवादी पक्ष की ओर अपना झुकाव जाहिर करे, विशेषकर उन परिस्थितियों में जबकि सोवियत संघ यथास्थितिवादी (स्टेट्सको) राजनीति के विरुद्ध था। साथ ही यह भी बहुत कठिन था कि नवोदित राष्ट्र अमेरिकी शिविर में चले जाएँ। पश्चिम की ओर इन राष्ट्रों की नीति मुख्यत इन राष्ट्रों के सत्ताधारी वर्ग की सुरक्षा से प्रभावित हुई। जिन राष्ट्रों में सत्ताधारी वर्ग घरेलू राजनीतिक वर्ग और आर्थिक स्थिति पर नियन्त्रण करने में समर्थ नहीं थे, उन्होंने सीधे पश्चिम की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया। अमेरिका क्योंकि इन क्षेत्रों को अपने प्रभावक्षेत्र में रखने को उत्सुक था, अतएव उसने इनका स्वागत किया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'सीएटो' की स्थापना एक ऐसा ही प्रयास था। इसके विपरीत कुछ राष्ट्रों ने तटस्थ नीति की घोषणा की—भारत, इण्डोनेशिया, इत्यादि राष्ट्र इस श्रेणी में आते हैं। यद्यपि इन राष्ट्रों ने पश्चिम के साम्राज्यवाद के विरोध में आवाज बुलन्द की लेकिन व्यावहारिक स्तर पर ये राष्ट्र एक सीमा के बाद पश्चिम का विरोध करने में सक्षम रहे। एशिया एवं अफ्रीका राष्ट्रों के सम्मेलन इस बात की पुष्टि करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दो महाशक्तियों की विश्व-संरचना में तीसरी दुनिया के राष्ट्रों ने अपने को खपाने की कोशिश की, लेकिन निर्देश महाशक्तियों के थे। दो खण्डों में टूटी दुनिया ज्यादा दिन न चल सकी, क्योंकि अमेरिका और सोवियत संघ दोनों को ही यह अहसास हो गया कि समय आ गया है जबकि 'शान्ति और सह-अस्तित्व' के आधार पर एक मैत्रीपूर्ण विश्व की संरचना की आवश्यकता है। निक्सन-ब्रेझनेव वार्ता ने नए विश्व की आधारशिला रखी। साथ ही विश्व-मंच पर नई शक्तियों के रूप में जापान, यूरोप एवं चीन का उदय हुआ। अब विश्व दो अभिनेताओं का मंच न रहकर पाँच शक्तियों के पारस्परिक निर्णयों से प्रभावित होने लगा है और तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को इस नए शक्ति-सन्तुलन में अपना स्थान चुनना पड़ेगा।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के पिछड़े हुए राष्ट्र भी विश्व-रंगमंच पर हुए परिवर्तनों के अनुसार अपनी स्थिति बनाते-बिगाड़ते रहे। अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सन्तुलन की व्यवस्था, गुट-व्यवस्था से जोड़-तोड़ बिठाते हुए राजनीतिक पण्डितों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के नेतृत्व के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की। अमेरिकी, ब्रितानी एवं आस्ट्रेलिया के पण्डितों की एक परिकल्पना यह थी कि दक्षिण-पूर्वी एशिया का नक्शा जापान, भारत और आस्ट्रेलिया के प्रभाव से होगा। तीन प्रजातन्त्र इस क्षेत्र को राजनीतिक स्थिरता प्रदान करेंगे; लेकिन स्वयं भारत के प्रजातन्त्र के प्रति शंकालु पण्डितों को

यह लगा कि इस शृंखला से भारत को हटाकर सुहार्तो के इण्डोनेशिया को जोडने से पूरा-पूरा पश्चिमी नक्शा खिंच जाएगा। दोनों ही परिकल्पनाएँ साम्यवाद के खतरे से बचाने के लिए थी। साम्यवादी शिविर के विखण्डित होने से जापानी आर्थिक विकास की चोट ने और चीन के अभ्युदय ने राजनीतिक पण्डितो के अनुमानो में परिवर्तन किए। चतुर्मुखी चीन, जापान, सोवियत संघ एवं अमेरिका के रूप मे एक नए शक्ति-सन्तुलन की परिकल्पना की जाने लगी। इस नए शक्ति-सन्तुलन को विश्व के राजनीतिक आर्थिक परिवर्तनों से अलग नही किया जा सकता। यह ठीक है कि जापान और चीन को रूस और अमेरिका के समकक्ष स्तर पर नही रखा जा सकता, लेकिन यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों के सन्दर्भ मे दोनों ही महाशक्तियो की पारस्परिक टकराहट या समझौतो से जो विश्व-रंगमच बनता या बिगड़ता है उसमें तीसरी दुनिया के राष्ट्रो की क्या भूमिका रहती है या फिर उनको क्या मिलता है। क्या विकासशील देशो के नाम से अवगत होने वाले ये राष्ट्र महाशक्तियो के निर्णयों के अनुसार अपनी स्थिति को उनके अनुकूल बनाते रहेंगे दक्षिण-पूर्वी एशिया के बदलते हुए आर्थिक समीकरणो मे जापान की नई भूमिका यह संकेत करती है कि इन पिछड़े राष्ट्रो के शासक तो बदलते रहते है, लेकिन इनकी अपनी स्थिति लगभग वही बनी रहती है। उनके कोयले, जस्ता, रबड, तेल और चाय के बागनो का लाभ कभी एक अथवा दूसरी महाशक्तियो को मिलता रहता है। स्वयं ये राष्ट्र एक कदम आगे बढ़ाने की कोशिश मे दो कदम पीछे हटते रहे हैं।

इस शताब्दी मे सन् 1960 के दशक के अन्तिम चरण से ही दक्षिण-पूर्वी एशिया मे बाहरी शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धो मे परिवर्तन प्रारम्भ हो गए थे। यह बदलाव विश्व-शक्तियों के शक्ति-सन्तुलन के नए मूल्यांकन के कारण हुआ। इसका अर्थ यह नही है कि इन शक्तियों के बीच स्पर्द्धा समाप्त हो गई। सन् 1969 मे 'निक्सन सिद्धान्त' की शुरुआत सन् 1972 मे राष्ट्रपति निक्सन की चीन-यात्रा, सन् 1973 के वियतनाम-समझौते के कारण तथा अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव की वृद्धि के कारण अमेरिकी गणना मे दक्षिण-पूर्वी एशिया की स्थिति मे परिवर्तन आया। साम्यवाद को रोकने के लिए साम्यवादी शिविर के टूटने के बाद 'डोमिनो सिद्धान्त' की कोई आवश्यकता नही रह गई किन्तु इसका अर्थ यह नही कि अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया से पूरी तरह हट रहा है। निक्सन के 'गौरवपूर्ण शान्ति' के सिद्धान्त ने यह स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया मे यद्यपि वियतनाम जैसे स्तर पर शामिल नही होना चाहेगा, लेकिन किसी भी शक्ति-सगठन मे वह अपनी भूमिका चालू रखेगा। इस बीच जून, 1969 से ही रूस ने विश्व के इस हिस्से मे अपनी रुचि को 'सामूहिक सुरक्षा' के नाम से प्रकट किया। यद्यपि ब्रेझनेव ने यह बात स्पष्ट नही की कि यह सुरक्षा-सगठन किस प्रकार के भय के लिए है, तथापि सोवियत सघ की यह नई राजनीति 'यथास्थिति' बनाए रखने के लिए

थी, जिससे कि इस क्षेत्र मे चीन के प्रभाव को रोका जा सके। यह ठीक है कि चीन विश्व-स्तर पर रूस से एक कदम शायद पीछे हो लेकिन अधिकांश क्षेत्रीय साम्यवादी पार्टियों का चीन के प्रति रुख यह जाहिर करता है कि उस क्षेत्र मे रूस के साम्यवादी नेतृत्व की चीन से सीधी टकराहट है। चीन भी निश्चय ही यह चाहेगा कि इस क्षेत्र को बाहरी शक्तियो के प्रभाव से बचाया जाए। इस दृष्टि से चीन और जापान की घटती दूरियाँ विश्व-महाशक्तियों को आसानी से स्वीकार नही होगी। जापान और चीन के बीच आर्थिक सम्बन्धो का विकास इस बात की ओर सकेत करता है कि अपनी आर्थिक, सैन्य सीमाओ एव आवश्यकताओ से विगत ये राष्ट्र सम्मिलित रूप से इस क्षेत्र मे विश्व-महाशक्तियों के प्रभाव को कम करना चाहेगे। जापान के आर्थिक चमत्कार ने जापान को दक्षिण-पूर्वी एशिया मे ही नही वरन् विश्व-स्तर पर भी आर्थिक शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया है। अपनी आर्थिक प्रगति के कारण जापान किसी भी रूप से उपेक्षित नही किया जा सकता। यह निश्चय ही दिलचस्प सत्य है कि रूस ने जापान को अपनी 'सामूहिक सुरक्षा' सरचना का भागीदार बनाया। यह बात दूसरी है कि जापान ने यह कह कर प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि चीन की अनुपस्थिति मे वह इस प्रकार की किसी भी व्यवस्था मे सम्मिलित नही होगा। नए सन्दर्भों का एक अन्य दिलचस्प पक्ष यह है कि जापान, जो कि इस क्षेत्र मे 'अमेरिकी एजेंट' के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया था, आज अनेक आर्थिक सामर्थ्य के कारण स्वय अमेरिका का प्रतिस्पर्द्धी बन गया है। 'निक्सन शॉक' के बावजूद जापान की आर्थिक प्रगति ने जापान को अमेरिकी दृष्टि मे 'आर्थिक काँटा' बना दिया है। न केवल अमेरिकी बाजार मे वरन् यूरोप मे और दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भी अमेरिकी और जापानी आर्थिक स्वार्थों मे सीधी टक्कर है। विशेषकर तेल-सकट के वीभत्स परिणामो से त्रस्त जापान, जो अब तक अमरिकी निर्देशो पर अपनी विदेश-नीति को निर्धारित करता रहा था, अब यह महसूस कर रहा है कि उसको अब अपनी स्वतन्त्र नीति निर्धारित करनी होगी। इस दृष्टि से विकासशील राष्ट्रो के सन्दर्भ मे, जहाँ कच्चे प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है, जापानी आर्थिक कूटनीति मे भारी परिवर्तन आया है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा

महाशक्तियो की प्रतिस्पर्द्धा एक अरसे से पश्चिमेशिया मे तनाव बनाए हुए है और इस तनाव के घातक परिणामो की कल्पना इस क्षेत्र के सभी देशो की चिन्ता का कारण बनी हुई है—अफगानिस्तान मे सोवियत सघ की सैनिक कार्यवाही के बाद यह चिन्ता बढी है और उससे विश्व-शान्ति के लिए खतरा और भी बढ गया है। ऐसा ही खतरा दक्षिण-पूर्वेशिया की तनावग्रस्त स्थिति के कारण भी बना हुआ है। वहाँ दोनो महाशक्तियाँ ही नही, तीसरी महाशक्ति बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा चीन भी प्रतिस्पर्द्धा मे है। वह नही चाहता है कि दक्षिण चीन सागर के जल मे या हिन्द-चीन की भूमि और आकाश मे किसी महाशक्ति का दखल हो, क्योंकि वहाँ

महाशक्तियों की उपस्थिति उसके विस्तारवादी इरादों पर पानी फेर देगी। अप्रेल, 1980 के दिनमान में दक्षिण-पूर्वी एशिया में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा का जो चित्र खींचा गया है, वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि रखने वालों के लिए पठनीय है—

कम्बोडिया या कम्पुच्या में वियतनाम की सैनिक कार्यवाही और उसके प्रत्युत्तर में वियतनाम को 'सबक' सिखाने के लिए चीन द्वारा किए गए हमले के बाद महाशक्तियों की यह स्पर्द्धा खुलकर सामने आ गई। वियतनाम से हटने के बाद अमेरिका इस क्षेत्र में अधिक प्रभावी नहीं रह गया था। दूसरी ओर सोवियत संघ की सक्रियता बढ़ गई। वियतनाम जैसा जुझारू साथी पाकर उसने दक्षिण-पूर्वेशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने की भरपूर कोशिश की। कम्बोडिया में वियतनाम का सैनिक हस्तक्षेप इस कोशिश का ही एक हिस्सा था। चीन तो सोवियत इरादे को पहले ही ताड़ गया था और उसने तत्काल वियतनाम पर आक्रमण करके सोवियत संघ को यह बता दिया कि वह इस क्षेत्र में उसे अपने पांव फैलाने नहीं देगा।

माओत्तर चीन का अमेरिका प्रेम भी शायद इसीलिए बहुत प्रगाढ़ हो गया है। दक्षिण-पूर्वेशिया में चीन को वास्तविक खतरा फिलहाल सोवियत संघ की ओर से ही है। उसकी उत्तरी सीमा पर सोवियत संघ ने कोई 20 डिवीजन सेना लगा रखी है। इसके अलावा उसके सैकड़ों लड़ाकू और बमवर्षक विमान तथा प्रशान्त महासागर स्थित नौसैनिक बेड़ा भी तैनात है। दोनों देशों के बीच सीमा पर मुठभेड़ें भी हो चुकी हैं। ऐसी हालत में यदि चीन की दक्षिण सीमा पर भी सोवियत प्रभाव बढ़ता है तो चीन अपने भीतर ही सिमट कर रह जाएगा। पश्चिमेशिया में चीन की पहले कोई दिलचस्पी नहीं रही—इसलिए भी वह क्षेत्र उसकी जमीन से दूर है और इसलिए भी कि वहाँ सोवियत संघ को बाँध रखने के लिए अमेरिका और उसके मित्र पश्चिमी देश प्राणपण से लगे हुए हैं। अफ्रीका में दखल देने की कोशिश चीन ने अलबत्ता की थी। तानजाम रेलमार्ग इसका प्रमाण है किन्तु वहाँ वह अपने प्रभाव को बनाए रखने में सफल नहीं हो सका और इसमें शायद भूगोल ही उसके आड़े आया। अफगानिस्तान में सोवियत सेना की उपस्थिति से वह अलबत्ता चिन्तित हुआ है कि क्योंकि उससे न केवल उसकी अपनी सीमा अरक्षित हो गई है बल्कि उसके एक *अपेक्षया नए मित्र पाकिस्तान के लिए भी संकट पैदा हुआ है।*

सम्भवतः यही कारण है कि इधर दक्षिण-पूर्वेशिया में जापान और आस्ट्रेलिया के माध्यम से अमेरिका ने जो अधिक दिलचस्पी दिखाई है उसे चीन कम से कम इस समय तो अनदेखा कर ही रहा है। अमेरिका का दखल दक्षिण-पूर्वेशिया में स्थायी रूप से बना रहे, यह चीन निश्चय ही नहीं चाहेगा, किन्तु इस क्षेत्र से सोवियत संघ को खदेड़ने के लिए वह तत्पर दिखाई देता है। ताइवान पर उसकी चुप्पी इसका संकेत है। दक्षिण-पूर्वेशिया में अमेरिका और चीनी हितों में वस्तुतः कोई बड़ा

टकराव भी नही है। अमेरिका चाहता है कि सोवियत संघ पूर्वेशिया में चीन से उलझा रहे ताकि पश्चिमी यूरोप पर उसका दबाव न बढ सके और न ही पश्चिमेशिया, अफ्रीका, लातीनी अमेरिका आदि क्षेत्रो मे वह अपना प्रभाव बढाने के लिए अपने प्रयास सघन कर सके। इसके लिए जापान, आस्ट्रेलिया और दक्षिण-पूर्वेशिया राष्ट्रसंघ (एशियान) के देशो—मलयेशिया, सिंगापुर, थाईदेश, इण्डोनेशिया और फिलीपीन को सैनिक दृष्टि से सुदृढ बनाने के अलावा चीन की पीठ थपथपाना भी वह जरूरी मानता है।

दक्षिण-पूर्वेशिया राष्ट्रसघ के सदस्य देश इस क्षेत्र मे विदेशी हस्तक्षेप के खतरो को समझते हैं और चाहते हैं कि क्षेत्रीय समस्याओ का समाधान आपस में बातचीत करके ही किया जाए। गत वर्ष दिसम्बर मे उनके विदेश मन्त्री कम्बोडिया या कम्पुच्या की समस्या पर विचार करने के लिए क्वालालम्पुर में एक दिन के लिए मिले थे। इस मुद्दे पर उनमे तब आम सहमति पाई गई। उसी बैठक मे उन्होंने अपनी स्थायी समिति के अध्यक्ष मलयेशिया के विदेशमन्त्री अहमद रिताउद्दीन को वियतनाम भेजने का फैसला किया था ताकि दोनो पक्षो के बीच सम्वाद शुरू हो सके किन्तु बाद की घटनाओ से स्थिति मे परिवर्तन हुआ —और खासतौर से अफगानिस्तान मे सोवियत सघ की सैनिक कार्यवाही ने एशियान के सदस्य देशों के कान खड़े कर दिए और वियतनाम तथा कम्बोडिया के प्रति उनका रवैया सख्त हो गया। इसके विपरीत अब वे एक ऐसे शक्ति-सन्तुलन के पक्ष मे दिखायी पडते हैं जिसमे सोवियत सघ और वियतनाम की तुलना मे पश्चिमी गुट और चीन का पलडा भारी हो।

इस सन्दर्भ में दक्षिण-पूर्वेशिया सन्धि संगठन (सीएटो) को पुनर्जीवित करने की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। प्रशान्त महासागर में रिमपॅक–80 के नाम से जाने गए नौसैनिक अभ्यास को सीएटो को पुन सक्रिय बनाने की दिशा में एक कदम माना जा रहा है। आस्ट्रेलिया इस अभ्यास में एक प्रमुख भागीदार है और वह इस क्षेत्र के देशो को पश्चिमी गुट के समर्थन में खडा करने के लिए उल्लेखनीय भूमिका निभा रहा है। इसके लिए वह प्रति वर्ष तीन करोड डॉलर की सैनिक सहायता इन देशों को देता है और उनके लिए हर प्रकार के सैनिक उपकरणों का संभरण भी करता है। इसके अलावा एशियान के सदस्य देशों के हजारो छात्र आस्ट्रेलिया के सैनिक विद्यालयों मे सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इनमे 1,500 से अधिक मलयेशियाई और एक हजार से ऊपर इण्डोनेशियाई छात्र होते हैं। सिंगापुर के छात्रो का एक दल भी सैनिक प्रशिक्षण के लिए शीघ्र ही आस्ट्रेलिया जाने वाला है। वास्तव मे *अमेरिका चाहता है कि एशियान के देश न केवल रिमपॅक–80* नौसैनिक अभ्यास में भाग ले बल्कि इस क्षेत्र मे उसकी अन्य गतिविधियों मे भी भागीदार बनें। इसी दृष्टि से इन देशो को भारी मात्रा मे सैनिक सहायता देने के लिए भी तत्पर है। गत वर्ष थाईदेश को दी गई सैनिक सहायता इसका प्रमाण है और इस बात का भी कि वह सीएटो को पुनर्जीवित करने के लिए उत्सुक है।

वस्तुतः वह एशियान के सदस्य देशों को एक ऐसे गुट का रूप देना चाहता है जो राजनीतिक और अन्ततः सैनिक दृष्टि से भी साम्यवाद विरोधी हो।

इस दिशा में चीन भी उसका सहायक बनने के लिए तत्पर जान पड़ता है। दक्षिण-पूर्वेशिया के लिए पीकिंग की अपनी एक सुनिश्चित विस्तारवादी नीति है जिसे क्रियान्वित करने के लिए यह जरूरी है कि इस क्षेत्र में सोवियत और अमेरिकी गुटों में टकराव हो। चीनी नेतृत्व यह मानता है कि ऐसे संघर्ष में इन दोनों ही गुटों की शक्तियां क्षीण होंगी और वह इस क्षेत्र में अपनी विस्तारवादी नीति को आसानी से क्रियान्वित कर सकेगा। एशियान देश चीन के इस दूरगामी इरादे के प्रति सतर्क दिखाई पड़ते हैं। कम्बोडिया के मामले में एशियान देशों का समर्थन जुटाने के लिए चीनी विदेश मन्त्री ने हाल में फिलीपीन, सिंगापुर और मलयेशिया का दौरा किया जिसके दौरान इन देशों ने उन्हें साफ तौर से बता दिया कि कोई भी एशियान देश महाशक्तियों के संघर्ष में भागीदार बनना नहीं चाहता।

इधर दक्षिण चीन सागर के उथले जल में तेल मिलने की सम्भावना ने स्थिति को एक नया मोड़ दे दिया है। कई तटवर्ती देशों ने इस सम्भावना को देखते हुए दक्षिण चीन सागर के जल पर बढ़ा-चढ़ा कर अपने-अपने दावे पेश कर दिए हैं। इंडोनेशिया ने तो 25,000 कि मी. क्षेत्र में तेल की खोज के काम का ठेका भी तीन अमेरिकी कम्पनियों को दे दिया है और उसने वहाँ नौसैनिक अभ्यास भी किया है। इस क्षेत्र पर वियतनाम भी अपना दावा जता रहा है। चीन कुछ वर्ष पूर्व ही बोर्नियो द्वीप से, जिसका कुछ भाग मलयेशिया का है और इंडोनेशिया कुछ मील की दूरी तक के समुद्र पर अपना अधिकार बता चुका है। इंडोनेशिया दक्षिण चीन सागर में युद्ध की सम्भावना देखते हुए तैयारी कर रहा है।

पारासेल और स्पार्टले द्वीपसमूहों पर परस्पर विरोधी दावों में भी इस क्षेत्र में तनाव बढ़ने की सम्भावना है। चीन ने 1974 में सैनिक कार्यवाही करके पारासेल द्वीपसमूह पर अधिकार कर लिया था। उस समय तक उस पर दक्षिण वियतनाम का कब्जा था और उसकी सेना भी वहाँ थी जिसे चीनी सेना ने खदेड़ दिया। दक्षिण वियतनाम का अब अलग कोई अस्तित्व नहीं रहा और माना जा सकता है कि वियतनाम की मौजूदा सरकार भी पारासेल को अपना क्षेत्र मानती है। हालाँकि उसने अभी उसे चीन से मुक्त कराने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की किन्तु 1975 में स्पार्टले द्वीपसमूह में सेना भेज कर उसने चीन को यह बता ही दिया कि वह भी इन द्वीपसमूहों का दावेदार है। स्पार्टले द्वीपसमूह को चीन भी अपना 'ऐतिहासिक प्रदेश' बता रहा है, क्योंकि 57 द्वीपों के इस द्वीपसमूह के एक द्वीप पर ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) की सेना है। उधर फिलीपीन भी इस द्वीपसमूह के कुछ द्वीपों पर अपना अधिकार जता रहा है क्योंकि उसके अनुसार ये द्वीप स्पार्टले द्वीपसमूह का हिस्सा न होकर उसके समुद्रतट से सटे रीड बैंक के अंग हैं।

इस स्थिति में यह सम्भावना तो है ही कि दक्षिण-पूर्वेशिया में व्याप्त तनाव

कभी भी उग्र संघर्ष का रूप ले सकता है। चीन और वियतनाम दोनों ने ही फिलीपीन को अलग-अलग यह आश्वासन दे रखा है कि सीमा-विवाद को शान्तिपूर्ण ढंग से परस्पर बातचीत के द्वारा ही हल किया जाएगा, अमेरिका और फिलीपीन के बीच परस्पर सुरक्षा सन्धि है। यदि फिलीपीन पर हमला हुआ तो वह अमेरिका से सैनिक सहायता पाने की आशा कर सकता है। इस सन्धि के रहते चीन या वियतनाम आसानी से फिलीपीन को नहीं छेड़ेंगे किन्तु चीन और वियतनाम के बीच संघर्ष की सम्भावना तो है ही, चीनी नेतृत्व वियतनाम को दूसरा सबक सिखाने के लिए तत्पर जान पड़ता है। चीन किसी भी समय वियतनाम अधिकृत स्पार्टले द्वीपों पर अधिकार जमाने के लिए कार्यवाही कर सकता है। ऐसी हालत में सोवियत संघ प्रशान्त स्थित अपने सशक्त नौसैनिक बेड़े को वियतनाम की सहायता के लिए हरकत में नहीं लाएगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। सोवियत संघ की कोशिश है कि वियतनाम पूर्वेशिया में उसके लिए वही भूमिका निभाए जो कि अटलांटिक महासागर में क्यूबा निभा रहा है। अतः भावी चीन-वियतनाम संघर्ष में सोवियत संघ के सक्रिय भाग लेने की सम्भावना तो है ही। यदि ऐसा हुआ तो दक्षिण-पूर्वेशिया में व्यापक संघर्ष छिड़ सकता है।

सच तो यह है कि इस क्षेत्र के सभी देश और उनके मित्र बड़ी शक्तियाँ यह मानकर चल रही हैं कि यहाँ कभी भी युद्ध छिड़ सकता है और इसे ध्यान में रखकर ही वे सभी अपनी-अपनी व्यूहरचना कर रहे हैं।

दक्षिण-पूर्वेशिया में अमेरिका का बहुत कुछ दाँव पर लगा है। जहाँ चीन अपने पाँव के नीचे की सोच कर अपनी गोटियाँ बिठा रहा है, अमेरिका की दक्षिण-पूर्वेशियायी नीति उसकी पश्चिमेशिया और यूरोप की नीतियों से जुड़ी है। अमेरिका के वियतनाम से हटने के बाद से पश्चिमेशिया और यूरोप में सोवियत संघ का दबाव अधिक बढ़ गया है, जो अमेरिकी हितों के विरुद्ध है। यह दबाव कम करने के लिए अमेरिका यह जरूरी मानता है कि सोवियत संघ दक्षिण-पूर्वेशिया में उलझे। इस क्षेत्र में युद्ध भड़काने पर सोवियत संघ के विकल्प सीमित हो जाएँगे और अफगानिस्तान में सैनिक कार्यवाही करके उसने जो प्रभाव अर्जित किया है वह भी बहुत कुछ निरस्त हो जाएगा। ऐसी हालत में महाशक्तियाँ निकट भविष्य में ही दक्षिण-पूर्वेशिया में जोर आजमाइश करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी।

महाशक्तियाँ और एशिया में युद्ध का बढ़ता संकट

पिछले दशक में एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों में विस्फोटक स्थिति निरन्तर उभर रही है और अनेक तनाव-क्षेत्र पैदा हो गए हैं। इन क्षेत्रों में महाशक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता और राजनीतिक सैनिक रस्सा-कस्सी चल रही है और राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशंका व्याप्त है कि नौवें दशक में घमासान युद्ध का विस्फोट हो सकता है और महाशक्तियों के निहित स्वार्थों के कारण यह युद्ध तृतीय विश्वयुद्ध का रूप धारण कर सकता है। एशिया में युद्ध के इस बढ़ते संकट पर

जनवरी 1981 के साप्ताहिक हिन्दुस्तान में श्री सुब्रह्मण्यम का जो लेख प्रकाशित हुआ है, वह वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करता है---

इतिहास ने पहले कभी हिन्द महासागर में महाशक्तियों के नौसैनिक बेड़ों का जमघट नहीं देखा, जैसा कि आज है। सारे एशिया में और हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों में अनेक तनाव-क्षेत्र पैदा हो गए हैं। ईरान और ईराक, सोमालिया और इथियोपिया की सीमाओं पर युद्ध की आग धधक रही है। अफगानिस्तान में सोवियत संघ की घुसपैठ, एरितोरिया, कुर्दिस्तान, दक्षिण अफ्रीका, थाई-कम्पूचिया सीमा, उत्तरी बर्मा, उत्तर-पूर्व थाई देश और थाई-मलेशिया सीमा—सब ओर संघर्ष के बादल मँडरा रहे हैं। चीन और वियतनाम में सीमाओं को लेकर तनाव जारी है। सीरिया-जोर्डन तथा सीरिया-इजरायल सीमा की हालत भी यही है। इन स्थानीय संघर्षों की प्रतिक्रियास्वरूप महाशक्तियों का आपसी तनाव भी बढ़ रहा है। इस तरह स्थिति धीरे-धीरे और भी विकट होती जा रही है।

अब एक नया शीत-युद्ध तेजी पकड़ रहा है। दुर्भाग्यवश इस बार इसका क्षेत्र एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती देश हैं। शीत-युद्ध इसे यों कहा जाता है कि महाशक्तियाँ आपसी प्रतिद्वन्द्विता और राजनीतिक-सैनिक रस्साकसी को कुछ ऐसे चलाती हैं कि दोनों में आमने-सामने सैनिक मुठभेड़ न हो। इसका सम्बन्ध किसी आदर्शवाद से नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। सन् 1946 से 1973 तक अमेरिका और सोवियत संघ के बीच जो शीत-युद्ध जारी रहा उसका भी किसी आदर्शवाद से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं था। यह तो शक्ति के लिए सीधी-सीधी खींचतान थी। स्तालिन ने पश्चिमी शक्तियों को इस बात का पूरा मौका दिया कि वे यूनान की कम्युनिस्ट पार्टी का कचूमर निकालें। सत्ता की बागडोर चीनी साम्यवादियों के हाथ लगे, इसके लिए भी वह कभी इच्छुक न थे। याल्टा और पोतसदाम अनुबन्धों के अनुरूप उसने पूर्वी यूरोप पर अपना शिकंजा बहुत मजबूत रखा, ताकि परमाणु शक्ति से लैस पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध एक प्रबल सुरक्षा-व्यवस्था बनाई जा सके। अमेरिका की यह प्रबल आकांक्षा थी कि सोवियत संघ को सामरिक शक्ति में बराबरी तक न पहुँचने दें और उसके प्रभाव-क्षेत्रों की सीमा को वापस 1939 की स्थिति में धकेल डालें। अपने-अपने हितों के लिए ये चालें चलने को दोनों ही ताकतों ने आदर्शवाद के लबादे ओढ़ लिए।

1946 से 1973 के बीच यूरोप में शीतयुद्ध की जो खींचतान रही, एशिया में चलने वाला वर्तमान संघर्ष उससे कहीं ज्यादा जोखिमभरा है। उस समय तो याल्टा और पोतसदाम सम्मेलनों ने शीतयुद्ध की लक्ष्मण-रेखाएँ खींच दी थीं। यूरोप की स्थिति यह है कि वहाँ के राष्ट्र, सन्धियों और अपनी-अपनी प्रभुसत्ता की सीमाओं में परम्परागत रूप से सिमटे हुए हैं। वहाँ जो कुछ भी ठण्डा संघर्ष हुआ वह सुव्यवस्थित सैनिक सन्धियों वाले गुटों के बीच हुआ जिनके नेताओं के बीच संचार-सम्पर्क बड़ा सुव्यवस्थित था। ये सारे मुद्दे शीतयुद्ध को किसी भयंकर युद्ध में परिणत होने से रोकने वाले सिद्ध हुए।

लेकिन एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों की स्थिति एकदम भिन्न है। यहाँ तो अधिकांश देश गुट-निरपेक्ष हैं, जिन्हे उपनिवेशवादी भेड़ियों से नया-नया ही छुटकारा मिला है। इनमे बहुत-से देशों पर या तो एक छोटा शासक-वर्ग सत्तारूढ है या ये किसी एक शासक के अधीन है। इस प्रकार बहुसख्यक मध्य-वर्ग का वहाँ निर्णय लेने मे कोई हाथ नही रहता। अगर इस छोटे गुट को कोई मोटी रिश्वत मिल जाए या किसी षड्यन्त्र द्वारा उसका तख्ता पलट दिया जाए तो उस राष्ट्र की विदेश-नीति को पूरी तरह से बदला जा सकता है। यही कारण है कि महाशक्तियाँ इन देशो के नेतृत्व के विरुद्ध होने वाली साजिशो मे गहरी दिलचस्पी लेती रही हैं।

कुछ ऐसी ही परिस्थितियो में मिस्र, सोमालिया, इथियोपिया के नेताओं ने अपनी विदेश नीतियो मे आमूलचूल परिवर्तन किया है। ईरान मे क्रान्ति के बाद यह स्थिति आई और ईराक मे इस बात के आधार साफ दिखाई पड रहे है कि वहाँ भी ऐसा ही कुछ होगा।

विदेश समस्याओ मे इतना भारी उलट-फेर खतरे का स्पष्ट सकेत है। महाशक्तियो के किसी-न-किसी रूप मे इसमे हस्तक्षेप अथवा जल्दी मे लिए गए फैसले या अनुमान की गलतियो से अगर कोई सीधा सैनिक सघर्ष भड़क उठे, तो आश्चर्य न होगा। अमेरिका और चीन के बीच दीर्घकालीन समझौता गलत फहमी का ही परिणाम समझा जाना चाहिए। इसी तरह अमेरिका का वियतनाम युद्ध मे फँसना गलतफहमियो और गलत अनुमानो का मिलाजुला नतीजा था।

एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती देशो मे उपनिवेशवादी विरासत के फलस्वरूप बहुत से ऐसे झगड़े आज भी मौजूद हैं, जिन्हें सुलझाया नही जा सका। इनका कारण है, स्वाभाविक रूप से एकरस राष्ट्रो और देशो के बीच राजनीतिक सीमा-विभाजन। इसके अलावा धर्म और वर्गों के सघर्ष के कारण भी यहाँ बहुत-से बखेड़े फैले हुए हैं। परम्परागत समाजो मे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी अनेक प्रकार के तनावों को जन्म देती है। ऐसी हालत मे अगर महाशक्तियो की प्रतिद्वन्द्विता और सघर्ष भी इनमे शामिल हो जाएँ तो परिस्थितियो के विस्फोटक होने की गुंजाइश बहुत बढ जाती है।

इनमे से कुछ ऐसे देश है जिनके पास तेल के अपार भण्डार हैं। इनकी पेट्रोल की बेहिसाब कमाई मे से कुछ हिस्सा समेटने और इनके साथ निकट के सैनिक-राजनीतिक रिश्ते कायम करने के चक्कर मे महाशक्तियाँ और कुछ दूसरी बड़ी शक्तियाँ इन्हे तरह-तरह के आधुनिक हथियार सप्लाई कर रही हैं। इनमे से अनेक देशो की हालत यह है कि वे तकनीकी दृष्टि से इन हथियारो को न तो हजम कर सकते हैं, न ठीक से इनका इस्तेमाल करना जानते हैं। इस आधुनिक साज-सामान के रख-रखाव के लिए और अपने लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए इन देशों को हथियार सप्लाई करने वाले देशों के विदेशी-विशेषज्ञो पर निर्भर होना पड़ता है।

विकासशील देशों और बड़ी शक्तियों का यह रिश्ता उनको कितना आश्रित बना सकता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कभी तो यह निकटता राष्ट्र के अन्दर ही बहुत बड़ा आन्दोलन खड़ा कर देती है, जैसा कि ईरान में हुआ। बड़ी शक्तियों से आधुनिक हथियारों की सप्लाई अपना अलग रंग दिखाती है। एक देश हथियार पाता है, तो उसका पड़ोसी भी कहीं-न-कहीं से उसके मुकाबले के हथियार जुटाने की कोशिश करता है। ऐसा बहुत कम देखा गया है कि तकनीकी दृष्टि से पिछड़े हुए किसी देश को आधुनिक हथियार मिलने पर उसमें स्थिरता आई हो। बल्कि इसके विपरीत सम्बन्धित क्षेत्र में इससे अस्थिरता ही आती है।

एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो भी संघर्ष चल रहे हैं उनका संसार की बड़ी शक्तियों के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ-न-कुछ सिलसिला अवश्य है। हिन्द-चीन में थाई देश की सहायता अगर अमेरिका और चीन कर रहे हैं और अगर वे दोनों वियतनाम को घेरे में रखने में सक्रिय सहयोग दे रहे हैं तो सोवियत संघ सीधे-सीधे वियतनाम की मदद कर रहा है। अगर सोवियत संघ करमाल की सत्ता को पूरी तरह से जमाए रखने को कटिबद्ध है तो अफगानिस्तान में विद्रोही लड़ाकों की मदद अमेरिका कर रहा है। यदि ईरान को हथियार अमेरिका ने दिए थे तो ईराक को अधिकांश हथियार रूस से मिले। सीरिया को सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त है, तो इजरायल और जोर्डन की पीठ अमेरिका थपथपा रहा है। अफ्रीका में हाल ही में सोमालिया ने अमेरिका के साथ एक सैनिक सन्धि की है, उधर रूसी इथोपिया की बड़े पैमाने पर मदद कर रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका की श्वेत सत्ता को अमेरिका और पश्चिम के कई देशों की परोक्ष सहायता प्राप्त है, जबकि अश्वेत राष्ट्र समर्थन के लिए सोवियत संघ का मुँह देखते हैं।

छठे और सातवें दशक में, जबकि यूरोप में शीतयुद्ध जोरों पर था, एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती क्षेत्र के गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के लिए यह सम्भव था कि वे बड़ी ताकतों की खींचतान से दूर रहें। अब यूरोप में तो तनाव शिथिल है, लेकिन महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता वहाँ से खिसक कर एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों में फैल गई है। अब हाल यह है कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र इस प्रतिद्वन्द्विता को सीधा अपनी छाती पर झेल रहे हैं। इससे उनका विचलित हो जाना स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए मिस्र, जो कि कभी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के अगुओं में से था, आज अमेरिका को अड्डे बनाने के लिए जगह देने को राजी हो गया है। ओमान, सोमालिया और कीनिया की हालत भी यही है। उधर खबर है कि सोवियत संघ उत्तरी यमन में अदन के अड्डे को इस्तेमाल करने जा रहा है। यह भी समाचार है कि वह इथियोपिया के दहलाकद्वीप में भी एक अड्डा कायम करने का इच्छुक है। उसकी नौसेना अमेरिका द्वारा कभी वियतनाम की दानाग और कभी बीरान खाड़ियों में जुटाई गई सुविधाओं का आज पूरी स्वच्छन्दता से उपयोग कर रही है। जाहिर है कि महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता ने इस क्षेत्र में गुटनिरपेक्षता की धज्जियाँ बिखेरनी शुरू करदी हैं।

एक और मुद्दा भी हिन्द महासागर मे सुरक्षा के लिए भारी भरकम खतरा पैदा कर रहा है। प्राप्त समाचारों के अनुसार इजरायल और दक्षिणी अफ्रीका ने गुपचुप तरीके से परमाणु हथियार जुटा लिए हैं। पाकिस्तान परमाणु-क्षमता जुटाने के लिए जी-तोड कोशिशें कर रहा है। अमेरिका, सोवियत सघ, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन—इन पाँच बडी शक्तियों की परमाणु-ग्रस्त्र प्रसार निरोध-सन्धि की वास्तविकता अब बदल गई है। वर्तमान राजनीतिक चालो का तकाजा यह है कि एक शक्ति के हाथ मे वे हथियार हों और दूसरी के न हो। अगर ऐसी स्थिति बनी रहे तो स्वभावतः हथियारो के सैनिक प्रयोग की लालसा भी बनी रहेगी।

इन सब बातो से साफ जाहिर है कि एशिया और हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों मे सैनिक मुठभेड का जोखिम अधिक बढ चुका है।

अफ्रीका में जागृति
(Resurgence of Africa)

अफ्रीका महाद्वीप का परिचय

अफ्रीका लगभग 11,5,00,000 वर्गमील क्षेत्रफल वाला एशिया के बाद दूसरा सबसे बड़ा महाद्वीप है। यह आकार, लम्बाई और अन्य कई अर्थों मे दक्षिण अमेरिका से मिलना-जुलता है। उत्तर अफ्रीका के अधिकांश निवासी गोरे हैं और शेष अफ्रीका के मूल निवासी काले है, लेकिन दोनों के बीच एकता और प्रेम की भावनाएँ विकसित होती रही हैं। अफ्रीका दक्षिण अमेरिका से बहुत-सी बातो मे समान है। ब्रून एव मैमते (Brunn and Mamatey) के अनुसार—

"दोनो अपने उत्तर मे एक विशाल भू-खण्ड से एक तग भूडमरूमध्य द्वारा जुडे हुए हैं, जिसे मानव-निर्मित नहरो द्वारा विभाजित किया गया है। दोनो लगभग एक त्रिकोण के आकार के हैं जो दक्षिणी ध्रुव की ओर मुडते हुए एक पूर्ण कोण बनाते हैं। दोनों बीच मे विषुवत्-रेखीय प्रदेशों की तरह बरसाती जगलों और बडी नदियों मे भरपूर है—अफ्रीका की कांगो नदी और दक्षिण अमेरिका की अमेजन नदी एक जैसी है। जनसख्या का घनत्व लगभग एक-सा है जिनमे एक वर्गमील क्षेत्र मे सिर्फ 20 व्यक्ति रहते हैं। दोनो साधन-सम्पन्न है। खनिज, पैट्रोल और जलशक्ति इतनी है कि उनके विकास के लिए सिर्फ पूँजी की आवश्यकता है। दोनों मे जनसख्या की वृद्धि की दर ऊँची और जीवन-स्तर निम्नकोटि का है। दोनों यूरोपीय उपनिवेशवाद का शिकार रहे हैं और दोनो ने विद्रोह करके आजादी प्राप्त की है। दक्षिण-अमेरिका के लोगों ने स्वय को स्पेनी और पुर्तगाली शासन के शिकजे से 19वी शताब्दी के प्रारम्भ में ही मुक्त कर लिया था। अफ्रीका की जनता 19वी शताब्दी मे अनेकों यूरोपीय शक्तियो की साम्राज्य-लिप्सा का शिकार बनी, किन्तु उन्होने 20वी शताब्दी के मध्य मे तेजी से स्वतन्त्रता प्राप्त की।"[1]

1 *Brunn & Mamatey* : The World in the Century (Hindi ed.), p. 364.

1870 के बाद से ही यूरोपीय शक्तियों मे अफ्रीका में उपनिवेशों की प्राप्ति की होड लग गई। 1870 के बाद केवल 20 वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका के लगभग 9/10 भाग को आपस में विभाजित कर लिया। 1880 मे उनके पास 1 लाख वर्गमील प्रदेश था जो 10 वर्ष बाद बढकर 6 लाख वर्गमील हो गया। इस प्रकार 19वीं सदी के अन्तिम चरण के समाप्त होते-होते समूचा अफ्रीका महाद्वीप यूरोपीय शक्तियो का उपनिवेश बन गया। प्रथम महायुद्ध से पूर्व केवल एबीसीनिया ही स्वतन्त्र राज्य रह गया था, किन्तु सन् 1936 में इसकी स्वतन्त्रता भी इटली द्वारा समाप्त कर दी गई, हालांकि द्वितीय महायुद्ध काल मे यह राष्ट्र पुनः स्वतन्त्र हो गया। जब द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ तो सम्पूर्ण अफ्रीका मे केवल एबीसीनिया, लाइबेरिया, दक्षिण अफ्रीका का संघ और मिस्र ही स्वतन्त्र या अर्द्धस्वतन्त्र राज्य थे। अधिकांश अफ्रीका महाद्वीप विभिन्न यूरोपीय शक्तियो मे इस प्रकार बँटा हुआ था—

क्र स	नाम	क्षेत्रफल (वर्गमील)	1961 के अनुसार जनसंख्या
1	फ्रांसीसी अफ्रीका	40,22,150	4,41,52,600
2	ब्रिटिश अफ्रीका	20,25,719	6,24,33,645
3	बेल्जियन अफ्रीका	9,24,300	1,20,00,000
4	पुर्तगीज अफ्रीका	7,78,000	95,00,000
5	स्पेनिश अफ्रीका	1,34,200	14,95,000

द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता की लहर (1945–1974)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका जिसे कभी अन्ध-महाद्वीप (Dark-Continent) कहा जाता था कुछ ही वर्षों में स्वतन्त्रता के प्रकाश से आलोकित हो उठा। जिस तेजी से यूरोप के राष्ट्रो ने अफ्रीका मे अपने साम्राज्य का निर्माण किया था, उसे भी कई गुना अधिक तेजी से अफ्रीका मे उनके साम्राज्य का अन्त हो गया। 20 वर्ष के अल्पकाल मे ही अफ्रीका के 90 प्रतिशत देश स्वतन्त्र हो गए। जाति, भाषा, इतिहास, परम्परा, धर्म आदि की विभिन्नताओं के बावजूद अफ्रीका मे राष्ट्रवाद ने अंगड़ाई ली। यह एक विलक्षण घटना थी। इस राष्ट्रवाद के उदय और विकास के मूल मे निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारण निहित थे—

1. यूरोप की गोरी जातियाँ अफ्रीका के अश्वेत लोगो को अपने से निम्नकोटि का मानती थीं। इस सिद्धान्त की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अफ्रीका मे राष्ट्रवाद का प्रसार होने लगा। राष्ट्रवाद को मुख्य प्रेरणा 'जातीय समानता' के सिद्धान्त से मिली। पाश्चात्य सम्पर्क और पाश्चात्य साहित्य के प्रसार ने भी अफ्रीका के प्रबुद्ध लोगों में राष्ट्रवाद की ज्योति जगाने में सहायता की।

2. द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की आजादी के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों मे भी आजादी की लहर फैल गई। एशिया के राष्ट्र तेजी से स्वतन्त्र होते

गए । स्वतन्त्रता की यह लहर अफ्रीका महाद्वीप से जा टकराई और इस महाद्वीप के करोड़ो लोग स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आतुर हो उठे ।

3. महायुद्ध-काल के स्वतन्त्रता-प्रेमी अमेरिकियों के सम्पर्क ने भी अफ्रीका-वासियो मे स्वतन्त्रता की आकांक्षा पैदा की । राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा उपनिवेशवाद के विरोध मे भी अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण को बल मिला ।

4 अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो ने भी अफ्रीका के देशो को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता दी । महायुद्ध ने उपनिवेशवादी शक्तियों को अत्यन्त दुर्बल बना दिया । फ्रांस व ब्रिटेन आदि राष्ट्र इतने कमजोर हो गए कि उनमे अपने उपनिवेशो के स्वाधीनता आन्दोलनो का दमन करने की शक्ति नही रह गई । जब एशिया के उपनिवेश तेजी से उनके चगुल से मुक्त होने लगे तो अफ्रीकी राष्ट्रवादियो मे भी प्रबल आत्म-विश्वास जाग्रत हुआ ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका-महाद्वीप मे एक-एक करके स्वतन्त्रता की तीन उत्तरोत्तर जबर्दस्त लहरें आईं । महायुद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका मे केवल 4 राज्य स्वतन्त्र थे—एबीसीनिया, लाइबेरिया, दक्षिण-अफ्रीका संघ और मिस्र । यह 130 लाख वर्ग मील का क्षेत्र अफ्रीका-महाद्वीप के कुल क्षेत्रफल का केवल 11 प्रतिशत था और इसकी 28 करोड की आबादी अफ्रीका की कुल जनसख्या का 26 प्रतिशत थी । इसके बाद स्वतन्त्रता की पहली लहर आई । इस लहर ने केवल अल्जीरिया को छोडकर अरबो द्वारा आवासित शेष उत्तरी अफ्रीका से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियो का सफाया कर दिया । इस पहली लहर द्वारा स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रो मे 1951 मे स्वतन्त्र होने वाला लीबिया और 1956 मे स्वाधीनता पाने वाले सूडान, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया थे । स्वतन्त्रता की दूसरी लहर ने काले अर्थात् नीग्रो लोगो द्वारा आवासित अफ्रीका को प्रभावित किया । 1957 मे ब्रिटेन द्वारा घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और 1958 मे गिनी पचम फ्रांसीसी गणराज्य से पृथक् हो गया । 1959 तक अफ्रीका मे ग्यारह राज्य स्वाधीन हो गए, किन्तु अभी तक सहारा के दक्षिण का और जिम्बेजी नदी के उत्तर का मध्य-अफ्रीका पराधीन था । 1960 मे स्वतन्त्रता की तीसरी जबर्दस्त लहर आई जिसने इस क्षेत्र के अधिकांश गुलाम देशो को आजाद कर दिया । यह वर्ष अफ्रीका की स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता है जिसमें 17 देश स्वतन्त्र हो गए । इसके बाद एक-एक करके अफ्रीका के शेष देश भी स्वतन्त्र हो गए और आज केवल इनेगिने प्रदेशो को छोड़कर सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप आजाद हो चुका है । जो देश स्वतन्त्र हुए वे ये है—

क्र स.	नाम देश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
1.	लाइबेरिया	अमेरिका	1847
2.	इथोपिया	—	1941
3.	लीबिया	—	24 नवम्बर 1951
4	इरिट्रिया	इटली	सितम्बर 1952
5.	सूडान	ब्रिटेन	जनवरी 1956
6.	मोरक्को	फ्रांस	मार्च 1956
7.	ट्यूनीशिया	फ्रांस	मार्च 1956
8.	घाना	ब्रिटेन	मार्च 1957
9.	गिनी	फ्रांस	अक्तूबर 1958
10.	सयुक्त अरब गणराज्य	—	1959
11	कैमरून	फ्रांस	जनवरी 1960
12.	मोरक्को (कुछ अंश)	स्पेन	मार्च 1960
13.	टोगा	फ्रांस	अप्रेल 1960
14.	मालीसंघ	फ्रांस	जुलाई 1960
15.	काँगोलो गणराज्य	बेल्जियम	जुलाई 1960
16.	सोमालिया	ब्रिटेन व इटली	जुलाई 1960
17.	मालागासी गणराज्य	फ्रांस	जुलाई 1960
18.	छाद	फ्रांस	अगस्त 1960
19.	नाइजर	फ्रांस	अगस्त 1960
20.	आइवरी कोस्ट	फ्रांस	अगस्त 1960
21.	वोल्टाई गणराज्य	फ्रांस	अगस्त 1960
22.	गैबेन	फ्रांस	अगस्त 1960
23.	होमी	फ्रांस	अगस्त 1960
24.	काँगो गणराज्य	—	अगस्त 1960
25.	मध्यवर्ती अफ्रीका	—	अगस्त 1960
26.	नाइजीरिया	ब्रिटेन	अक्तूबर 1960
27	मारितानिया	फ्रांस	नवम्बर 1960
28	सियरालियोन	फ्रांस	अप्रेल 1961
29.	रूआंडा-उरांडी	बेल्जियम	जुलाई 1962
30.	अल्जीरिया	फ्रांस	सितम्बर 1962
31.	युगांडा	ब्रिटेन	अक्तूबर 1962
32.	तांगानिका	ब्रिटेन	दिसम्बर 1962
33.	केनिया	ब्रिटेन	दिसम्बर 1963
34.	जंजीबार	ब्रिटेन	दिसम्बर 1963

क्र स.	नाम देश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
35	न्यासालैण्ड (मलावी)	ब्रिटेन	1964
36.	जेम्बिया (उत्तरी रोडेशिया)	ब्रिटेन	1964
37	गैम्बिया	ब्रिटेन	1965
38	ब्रिटिश गियाना (नया नाम गुआना)	ब्रिटेन	मई 1966
39	बोत्सवाना (बचूग्रानालैण्ड)	ब्रिटेन	सितम्बर 1966
40	लेसोथो बसुतोलैण्ड	ब्रिटेन	अक्तूबर 1966
41.	बारबाडोस	ब्रिटेन	नवम्बर 1966
42.	मारिशस	ब्रिटेन	मार्च 1968
43.	ग्रेनाडा	ब्रिटेन	फरवरी 1974
44	गिनी बिसाऊ	पुर्तगाल	सितम्बर 1974
45.	मोजाम्बिक	पुर्तगाल	जून 1975
46.	केपवर्दे	पुर्तगाल	जुलाई 1975
47.	कोमोरो द्वीप समूह	पुर्तगाल	जुलाई 1975
48	अंगोला	पुर्तगाल	नवम्बर 1975
49.	सेशेल्स	ब्रिटेन	जून 1976
50.	जिंबाब्वे (रोडेशिया)	ब्रिटेन	अप्रेल 1980
51.	बेलीज	ब्रिटेन	सितम्बर 1981
52.	आण्टिगुआ	ब्रिटेन	अक्तूबर 1981

अफ्रीका महाद्वीप की राजनीतिक परम्पराएँ आरम्भ से ही अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रही हैं। औपनिवेशिक युग शुरू होने से पहले अफ्रीका महाद्वीप में एकतन्त्रात्मक शासन का बोलबाला था। कबीलों के सरदार स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करते थे। औपनिवेशिक युग के दौरान भी इस स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। अफ्रीका के लोग साम्राज्यवादी शक्तियों के निरंकुश शासन से पीड़ित रहे। अफ्रीका महाद्वीप के किसी भी देश में स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नहीं हो सका। अब स्वतन्त्रता के इस युग में अनेक अफ्रीकी देशों में—विशेषकर भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों में संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना की गई है। यद्यपि उदार लोकतन्त्र अभी अधिक सफल नहीं हुआ है, तथापि अफ्रीका धीरे-धीरे लोकतान्त्रिक परम्पराओं और संस्थाओं के विकास की दिशा में अग्रसर हो रहा है। कुछ देशों में लोकतन्त्र काफी आगे बढ़ा है तो कुछ देशों में निर्वाचित एकतन्त्र की स्थापना की गई है।

अफ्रीका में साम्यवाद का प्रभाव अभी तक विशेष उग्र नहीं हो पाया है। अफ्रीकी देशों के प्रति सोवियत संघ और चीन के दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। सोवियत संघ ने अफ्रीकावासियों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में नैतिक और कूटनीतिक समर्थन दिया है जबकि चीन की नीति अफ्रीकी देशों पर दबाव डालने और उन्हें

अपनी शक्ति से आतंकित करने की रही है। यद्यपि दोनों ही देश चाहते हैं कि अफ्रीका में साम्यवाद का प्रसार हो, तथापि दोनों के ढंग भिन्न-भिन्न हैं। दोनों ही देशों के नेता अफ्रीका के विभिन्न देशों के दौरे करते रहे हैं।

राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर भी अफ्रीका के सामने एक बड़ी विकट समस्या अपनी इस स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की है। महाशक्तियाँ और कुछ अन्य बड़े देश अफ्रीका के पिछड़े देशों को अपने प्रभाव में लाने को उत्सुक हैं। आर्थिक दृष्टि से अफ्रीका बहुत पिछड़ा हुआ है, यद्यपि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से वह समृद्ध है। अफ्रीका के देश चाहते हैं कि विकसित राष्ट्र उन्हें आर्थिक और प्राविधिक सहायता दें ताकि वे अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर सकें, लेकिन साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि उनकी सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता पर कोई आँच न आए। *अब यह सम्भव नहीं है कि अफ्रीकी देश पाश्चात्य औद्योगिक उत्पादन* के लिए बाजार बन कर रह जाएँ।

एशियायी राष्ट्रों की तरह ही अफ्रीकी राज्य भी पारस्परिक फूट के शिकार हैं। विभिन्न राज्यों में पारस्परिक कलह का बोलबाला रहता है, कई बार सैनिक झड़पें भी होती हैं। सैनिक क्रान्तियाँ होना भी एक आम बात है। पृथकतावादी आन्दोलन भी जब तब जोर पकड़ते हैं। शिक्षा, सभ्यता और विज्ञान में पिछड़े हुए होने के कारण अफ्रीका के देशों में राष्ट्रवाद अभी इतना प्रभावशाली नहीं हो सका है जितना एशिया महाद्वीप में। ये सब बातें अफ्रीका महाद्वीप की एकता के लिए हानिकर हैं और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर अफ्रीका का इतना शक्तिशाली चित्र अभी उभर नहीं सका है जितना उभरना चाहिए था। भविष्य में अफ्रीका के कुछ देशों में साम्यवादी आन्दोलन के जोर पकड़ जाने और स्थिति विस्फोटक बन जाने की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। अफ्रीका के कई देशों जैसे काहिरा, अदिस अबाबा, प्रोटोरिया, मोनरोविया आदि में साम्यवादियों के कूटनीतिक अड्डे हैं। अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में स्थानीय साम्यवादी दलों का प्रभाव है। वैसे अफ्रीका के नेताओं में से बहुत कम ही साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

एकता की भावना आज भी एक सक्रिय तत्व

उन तमाम विभाजनों के बावजूद जो अफ्रीकी देशों को विभिन्न समूहों में बाँटते हैं (अरब या मुस्लिम देश ब्रितानी-राष्ट्रमण्डल आदि)। अफ्रीकी एकता की यह भावना यूरोप के साथ सम्पर्क का फल नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलनों से भी इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है और न कुछ अफ्रीकी देशों में प्रभावी मार्क्सवादी राजनीति से ही है। अफ्रीका में एकता की भावना पहले से ही विद्यमान है, विभिन्न प्रकार के राजनीतिक आन्दोलनों और उनके नेताओं द्वारा केवल उसके उपयोग की चेष्टा होती रही है। अंगोला, रोडेशिया या दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका के प्रश्न अगर सम्पूर्ण अफ्रीका को आन्दोलित कर देते हैं, अथवा काँगो या नाइजीरिया में पृथकतावादी आन्दोलनों को अगर समस्त अफ्रीका के भावात्मक विरोध का सामना करना पड़ता है तो इसलिए नहीं कि ये प्रश्न आधुनिकता या

आर्थिक विकास से जुड़े हैं, वरन् इसलिए कि इतिहास, संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों में अफ्रीकी एकता की भावना एक जीवन्त तत्त्व है।

स्वाधीनता की इन्तजार वाले देश

अगस्त 1981 के दिनमान में श्री त्रिलोकदीप का एक लेख 'स्वाधीनता की इन्तजार वाले देश' प्रकाशित हुआ था जिससे हमें वर्तमान में अवशिष्ट राजनीतिक-भौगोलिक उपनिवेशवाद का पता चलता है। श्री त्रिलोकदीप का चित्रण इस प्रकार है—

लगभग साढ़े चार अरब की आबादी वाली दुनिया में आज भी तीस-एक देश (इनमें हजारों की तादाद में फैले छोटे द्वीप शामिल नहीं) ऐसे हैं जो स्वाधीनता के लिए कसमसा रहे हैं। आज भी वे उपनिवेश हैं। कई उपनिवेश शान्तिपूर्ण ढंग से परस्पर वार्ता द्वारा अपने भूतपूर्व शासकों को समय की हवा से अवगत कराने में सफल हो जाते हैं और स्वाधीनता प्राप्त कर लेते हैं तो कइयों को संघर्ष का रास्ता अख्तियार करना पड़ता है। कुछ ऐसे भी उपनिवेश हैं जो संयुक्तराष्ट्र की धरोहर हैं और उन्हें न्यास क्षेत्र के तौर पर जाना जाता है लेकिन न्यास क्षेत्र वाले सभी देशों को आजादी मिल ही जानी हो यह जरूरी नहीं। कुछ ऐसे भी उपनिवेश हैं—खास तौर पर छोटे-छोटे द्वीप—सुरक्षा या प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण अपनी औपनिवेशिक स्थिति में ही सन्तुष्ट हैं। उन्हें शायद एक तो अपने छोटे और कमजोर होने का सदैव अहसास रहता है और दूसरे साधनों की कमी की यथोचित् जुगाड़ न कर पाने के कारण पड़ौसी देशों की ललचाई नजरें उनके अस्तित्व के लिए किसी समय भी खतरा बन सकती हैं।

इस ढाँचे को ढाल बना कर जब हम विश्व की स्थिति का सर्वेक्षण करते हैं तो पाते हैं कि आज भी औपनिवेशिक शक्तियाँ मोटे तौर पर वही हैं जो आज से कुछ सदियों पहले थी अर्थात्, फ्रान्स, पुर्तगाल, हालैण्ड, स्पेन, बेल्जियम आदि। अलबत्ता अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका जैसे देश इस सूची में और जुड़ गये हैं जिनका प्रभाव क्षेत्र शुद्ध औपनिवेशिकता की दृष्टि से उतना व्यापक नहीं, जितना कि ब्रिटेन और फ्रान्स जैसे देशों का रहा है। आज भी प्रशान्त सागर, कैरेबियाई द्वीप-समूह में तमाम ऐसे छोटे-बड़े द्वीप छितरे पड़े हैं जो आजादी की बाट जोह रहे हैं। ब्रिटेन फ्रान्स ने इन उपनिवेशों को स्वाधीनता प्रदान करने की एक नियोजित और लगभग निश्चित रूपरेखा या पैमाना तैयार कर रखा है यानी पहले आन्तरिक स्वायतता (विदेश, अर्थ और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों के अतिरिक्त) प्रदान कर स्थानीय नेताओं की प्रशासनिक और राजनैतिक क्षमता का अध्ययन करने और सन्तुष्ट हो जाने पर उन्हें स्वाधीनता प्रदान करना। यदि कोई देश संघर्ष का रास्ता अपनाता है तो भी परस्पर वार्ता और उचित दस्तावेजों द्वारा उसे स्वाधीनता प्रदान करने का भी प्रयास होता है, जैसे जिम्बाब्वे (18 अप्रैल 1980) यद्यपि उसके गोरे नेता इयान स्मिथ ने दस वर्ष पूर्व ही एकतरफा स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी। आज भी विश्व में मुक्ति संघर्ष के अनेक मोर्चे सरगर्म हैं। यद्यपि

अंगोला, जिंबाब्वे, मोजाम्बिक के मुक्ति संग्रामी अपने-अपने देशों को स्वाधीन कराने में सफल रहे हैं तथापि नामीबिया की स्वाधीनता प्राप्ति का सपना लम्बा ही खिंचता चला जा रहा है। वास्तव में नामीबिया इतना खनिजसम्पन्न है कि दक्षिण अफ्रीका उसकी स्वाधीनता मे निरन्तर अड़चनें डाल रहा है। लौह निर्यात करने वाले देशों में उसका चौथा स्थान है। विश्व के हीरो का लगभग 16 प्रतिशत तथा यूरेनियम का लगभग तीन प्रतिशत उत्पादन नामीबिया मे होता है। इनके अलावा सोना, सिक्का, तांबा, जस्ता और सम्भवतया तेल भी बड़ी मात्रा मे उपलब्ध है। लिहाजा दक्षिण अफ्रीका को यह भी चिन्ता है कि एक बार नामीबिया के स्वाधीन हो जाने से उसकी अपनी गोरी अल्पमत सरकार को खतरा पैदा हो सकता है जिस प्रकार जिंबाब्वे के अल्पसंख्यकों को हुआ था।

नामीबिया का क्षेत्रफल फ्रान्स और इटली को मिलाकर भी अधिक है। 1966 मे संयुक्तराष्ट्र ने एक प्रस्ताव पारित कर उस पर दक्षिण अफ्रीका साम्राज्य समाप्त कर दिया था। उसी समय कुछ देशों ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की भी माँग की थी। इस प्रस्ताव से नामीबिया के दक्षिण-पश्चिम अफ्रीकी जन संगठन (स्वापो) को बल मिला। उसे स्वाधीन नामीबिया के तौर पर प्रतिष्ठित किया गया। 1973 मे संयुक्तराष्ट्र ने भी 'स्वापो' को नामीबिया का वास्तविक प्रतिनिधि माना और उसके नेता सैमनुजोमा को सुना भी गया। बावजूद संयुक्तराष्ट्र के प्रस्ताव के दक्षिण अफ्रीका का कड़ा रुख बरकरार है। 1978 मे अलबत्ता, पाँच पश्चिमी देशों (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी और कनाडा) ने एक 'सम्पर्क गुट' का गठन किया। इन देशो मे अफ्रीका के अग्रिम पंक्ति के देशो के नेताओं से भी नामीबिया के भविष्य के बारे मे बातचीत की। सभी वार्ताओं के फलस्वरूप नामीबिया की समस्या के समाधान के लिए उन्होंने एक योजना तैयार की। उस योजना मे युद्धविराम, संयुक्तराष्ट्र की देखरेख मे मुक्त चुनाव तथा नामीबिया और अंगोला के बीच विसैन्यीकृत खण्ड की स्थापना की व्यवस्था थी जहाँ पर संयुक्तराष्ट्र शान्ति सैनिक नियुक्त किये जाने का प्रावधान था। संयुक्तराष्ट्र वाल्विस खाडी को भी नामीबिया का भाग मानता है। दक्षिण अफ्रीका सहित सभी देशो ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया लेकिन जब चुनाव कराने का अवसर आया तो दक्षिण अफ्रीका मुकर गया।

20वी सदी के शुरू मे ऐसा लगता था कि आधी से अधिक दुनिया के पैरो मे बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय विश्व के 50 प्रतिशत क्षेत्र की 31.5 प्रतिशत आबादी गुलाम थी। इसके अलावा कुछ क्षेत्र अर्द्ध-औपनिवेशिक स्थिति मे थे। इसे मिलाकर 72 प्रतिशत क्षेत्र की 31.5 प्रतिशत जनसख्या औपनिवेशिक और अर्द्ध-औपनिवेशिक स्थिति मे थी। 1905 मे सोवियत संघ मे जारशाही के विरुद्ध क्रान्ति से लगता है कि लोगो को दिशा दी और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फासीवाद की पराजय के बाद औपनिवेशिक प्रणाली बालू के टीले की तरह ढहने लगी। यद्यपि एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका मे औपनिवेशिक बस्तियाँ अधिक थी तथापि विश्वयुद्ध के बाद स्वाधीनता की लहर एशिया मे अधिक तेज थी। उस दौर मे

भारत, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, वियतनाम, बर्मा, चीन, श्रीलंका स्वाधीन हुए। उस समय सर विंस्टन चर्चिल ने दावा किया था कि वे ब्रितानी हुकूमत का उन्मूलन होते नहीं देख सकते। बावजूद इसके उनके जीते जी अनेक देशों में यूनियन जैक के स्थान पर वहाँ का स्थानीय ध्वज फहराया था।

एशियाई देशों की जागरूकता ने अफ्रीकियों को भी उद्वेलित किया। लिहाजा 1950 के बाद मोरक्को, सूडान, घाना और गिनी आजाद हुए। 1960 को 'अफ्रीकी वर्ष' कहा जा सकता है। 1960 और 1970 के बीच सत्रह देशों ने स्वाधीनता प्राप्त की। अफ्रीका में फ्रांस और बेल्जियम की बस्तियाँ थीं, लिहाजा इन देशों की आजादी से उनका बहुत बड़ा प्रभावक्षेत्र समाप्त हो गया। 1960 में ही संयुक्तराष्ट्र ने एक प्रस्ताव पारित कर सभी बचे हुए उपनिवेशों और वहाँ के लोगों को स्वाधीनता प्रदान करने का आह्वान किया। इस घोषणापत्र के जारी होने के बाद 55 देश आजाद हुए। इनमें 24 अफ्रीका के, 7 एशिया के, दस लातीनी अमेरिका के, एक यूरोप का तथा नौ सागरी देश थे। इनमें 14 करोड़ की आबादी है और क्षेत्रफल एक करोड़ वर्ग किलोमीटर था। संयुक्तराष्ट्र की सदस्य संख्या 1980 में 1945 के के मुकाबले तिगुनी हो गई। 12 दिसम्बर 1980 को संयुक्तराष्ट्र ने अपने उसी घोषणापत्र की 20वीं वर्षगाँठ पर औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा संयुक्तराष्ट्र के घोषणापत्र पर आचरण करने के कार्य की सराहना की।

बावजूद उपनिवेशवाद उन्मूलन की इस प्रक्रिया के आज भी तीस लाख (विश्व जनसंख्या का 0·3 प्रतिशत और क्षेत्रफल का एक प्रतिशत) से अधिक लोग स्वाधीनता का इन्तजार कर रहे हैं। नामीबिया के अतिरिक्त पश्चिमी सहारा (स्पानी अम्नी) और पूर्वी तिमोर (पुर्तगाली उपनिवेश) खासे चर्चित क्षेत्र हैं। यहाँ पर भी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष जोरों पर है। संयुक्तराष्ट्र और अफ्रीकी एकता संगठन ने पश्चिमी सहारा के भविष्य का दायित्व वहाँ के लोगों को सौंपा है। यद्यपि उसके मारितानिया और मोरक्को दोनों दावेदार हैं और मोरक्को ने उस पर बलात् कब्जा कर रखा है। 11 नवम्बर 1980 को संयुक्तराष्ट्र महासभा ने एक प्रस्ताव पारित कर मोरक्को से पश्चिमी सहारा पर अपना कब्जा समाप्त कर पोलिसारियो मोर्चे से सीधे बातचीत का आग्रह किया। जहाँ तक पूर्वी तिमोर का सम्बन्ध है पुर्तगाल ने जून, 1974 को पूर्वी तिमोर सहित सभी बस्तियों को स्वाधीन करने का निर्णय लिया था। 1976 में इंडोनेशिया ने पूर्वी तिमोर पर कब्जा कर उसे अपना 27वां प्रान्त घोषित कर दिया। पूर्वी तिमोर की आजादी के लिए फ्रेतिलीनो स्वाधीनता संग्रामी सक्रिय हैं। संयुक्तराष्ट्र ने पूर्वी तिमोर के लोगों के भी आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार किया है और फ्रेतिलीना से बातचीत करने का परामर्श दिया है जिसके लिए इंडोनेशिया तैयार नहीं।

संयुक्तराष्ट्र की एक विशेष समिति प्रतिवर्ष स्वाधीनता प्राप्ति के लिए आतुर उपनिवेशों के बारे में अपनी रपट महासभा को देती है। 1980 की रपट में नामीबिया, पश्चिमी सहारा, पूर्वी तिमोर के अलावा कुछ अन्य छोटे देशों का भी जायजा लिया गया। इनमें पश्चिमी प्रशान्त में स्थित माइक्रोनेशिया नामक एक

स्थान है जिसके अन्तर्गत 2100 द्वीप आते हैं। यह अमेरिका की एक बस्ती है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व माइक्रोनेशिया जापान का उपनिवेश हुआ करता था। माइक्रोनेशिया में ही महायुद्ध के समय अमेरिकी-जापानी नौसैनिक लड़ाई हुई थी। यहाँ के कुछ द्वीपों में अमेरिका अपने परमाणु परीक्षण भी करता रहता है। इसके अलावा अमेरिकन समोआ और गुआम की समस्याओं पर भी संयुक्तराष्ट्र महासभा में विचार-विमर्श हुआ। एक प्रस्ताव द्वारा महासभा ने यहाँ के लोगों की अपनी स्वाधीनता के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। महासभा की यह भी मान्यता थी कि यहाँ स्थित सैनिक अड्डे स्वाधीनता के आड़े आते हैं जिसका रास्ता ढूंढा जाना चाहिए।

कुछ ऐसे भी गैर-स्वशासी क्षेत्र हैं जो आकार और संख्या दोनों में बहुत छोटे है। हिन्दमहासागर में स्थित कोकास-कीलिंग द्वीप की आबादी केवल 490 है जबकि प्रशान्त में स्थित पिटकैरेन द्वीप की आबादी मात्र 60 है। इनके अलावा बहुत से निर्जन द्वीप हैं। कुछ ऐसे द्वीप भी हैं जहाँ पर केवल कुछ खानाबदोश ही रहते हैं। लेकिन इन निर्जन द्वीपों का भी अपना महत्त्व है। औपनिवेशिक शक्तियाँ इन निर्जन द्वीपों को हवाई अड्डों, सैनिक भण्डारागारों, नए किस्म के अस्त्रों और परमाणु हथियारों के परीक्षण के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थान मानती हैं। यद्यपि आज उपनिवेशवाद का जमाना नहीं और संयुक्तराष्ट्र ने विभिन्न मंचों पर उसके विरुद्ध आवाज भी बुलन्द की है बावजूद इसके बड़े देश एकतरफ अपनी आर्थिक दृष्टि से और दूसरी तरफ राजनीतिक, सैनिक तथा सामरिक दृष्टि से इन छोटे-छोटे द्वीपों को अपने अधिकार में बनाए रखने के लिए कोई न कोई बहाना ढूंढ लेते हैं। आज भी ब्रिटेन के अधीन सबसे अधिक बस्तियाँ हैं। यद्यपि धीरे-धीरे उन्हे स्वाधीनता प्रदान की जा रही है, बावजूद इसके कुछ ऐसे उपनिवेश हैं जिन्हें वह आसानी से स्वाधीनता प्रदान नहीं करना चाहता। इनमें जिब्राल्टर, बरमुदा, ब्रूनी, हांगकांग, बेलीज, फाकलैण्ड आदि क्षेत्र आते हैं। बेलीज जो मेक्सिको और ग्वाटेमाला के बीच विवाद का कारण रहा है और अब भी बना हुआ है उसे 21 सितम्बर, 1981 को स्वाधीनता प्रदान की गई। लेकिन बरमुदा, जिब्राल्टर आदि को स्वाधीन करने के बारे में ब्रिटेन के दृष्टिकोण को व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। जिब्राल्टर के बारे में ब्रितानी रुख की वजह से ही स्पेन के सम्राट हुआन कार्लोस ने युवराज चार्ल्स के शाही विवाह का बहिष्कार किया था।

जहाँ तक हाँगकाँग का सम्बन्ध है यह शाही बस्ती ब्रिटेन ने 99 वर्ष के पट्टे पर चीन से ली है। यह पट्टा 1997 में समाप्त होगा। यहाँ का कुल क्षेत्रफल 391 वर्गमील है और आबादी 42 लाख 50 हजार (1974 का आंकड़ा)। यहाँ पर लगभग 20 हजार अंग्रेज भी रहते हैं। 1949 से 1962 और अब 1979 में भी काफी बड़ी संख्या में शरणार्थियों ने हाँगकाँग में पनाह ली।

यहाँ के प्रमुख उद्योगों में जहाज निर्माण, कपड़े के कारखाने, लोहा और इस्पात, चीनी मत्स्य उद्योग आदि हैं। ब्रिटेन सहित पश्चिमी देशों की सबसे अधिक रुचि यहाँ से चीनी गतिविधियों पर नजर रखना है। हिन्दमहासागर में स्थित मारिशस

और शेसल्स तो स्वाधीन हो चुके हैं लेकिन चागोस द्वीप समूह, जिसमे विवादास्पद दियागो गार्सिया द्वीप भी शामिल है, को स्वाधीन करने के लिए ब्रिटेन तैयार नही। दियागो गार्सिया को उसने अमेरिका को बेच दिया है और वहाँ पर अमेरिकी नौसैनिक गतिविधियाँ बड़ी तेजी से हिन्दमहासागर मे निरन्तर बढ रही है। सबसे अधिक उपनिवेश प्रशान्त सागर मे स्थित है और ये सभी छोटे-छोटे द्वीप सारे सागर में बिखरे पडे हैं जैसा कि निम्न तालिका मे स्पष्ट है—

अन्तिम उपनिवेश

ब्रितानी प्रशासन के अन्तर्गत

- ब्रूनी (जनसख्या 2,13,000, क्षेत्रफल 2,226 वर्गमील)
- बेलीज (जनसंख्या 1,50,000, क्षेत्रफल 8,866 वर्गमील, राजधानी बेलमोपान, 21 सितम्बर, 1981 को स्वाधीन हो गया)
- जिब्राल्टर (जनसख्या 30,000)
- बरमुदा (जनसख्या 60,000, राजधानी हैमिल्टन)
- फाकलैण्ड (माल्वीनास) द्वीप (जनसख्या 2,000, क्षेत्रफल 4619 वर्गमील)
- ऐंटिगुआ (जनसख्या 70,000, क्षेत्रफल 171 वर्गमील, राजधानी सेटजान) (31 अक्तूबर, 1981 को स्वाधीन हो गया)
- पिटकैरन द्वीप (जनसंख्या 60, क्षेत्रफल 18 वर्गमील)
- ब्रिटिश वर्जिन द्वीप (जनसख्या 12,000)
- टर्क्स और कायकोस द्वीप (जनसख्या 7,000, क्षेत्रफल 166 वर्गमील, राजधानी-गैंड टर्क)
- कैमान द्वीप (जनसख्या 14,000, क्षेत्रफल 93 वर्गमील, राजधानी जार्ज टाउन)
- माटसेराट (जनसंख्या 13,000, क्षेत्रफल 33 वर्गमील)
- सेंट हेलिना (जनसख्या 6,000, क्षेत्रफल 1200 मील, राजधानी जेम्स-टाउन)

अमेरिकी प्रशासन के अधीन

- प्वर्तोरिको (आबादी 33 लाख, 1952 मे अमेरिका ने इसे गैर-स्वशासित क्षेत्रों की सूची से निकाल दिया, बावजूद इसके आज भी प्वर्तोरिको को अमेरिका का 51वाँ राज्य माना जाता है)
- प्रशान्त द्वीप (मारियाना, मार्शल और कारोलाइन द्वीप, जनसख्या 1,30,000)
- पूर्वी समाओ (जनसख्या 30,000)
- गुआम (जनसख्या 1,05,000)
- अमेरिकन वर्जिन द्वीप (जनसंख्या 1,00,000)

आस्ट्रेलिया के तहत

- कोकोस या कीलिंग द्वीप (जनसख्या 490, क्षेत्रफल 5 वर्गमील)

न्यूजीलैण्ड के तहत

तोकेलाउ द्वीप (जनसंख्या 2000, क्षेत्रफल 4 वर्गमील)

कुक द्वीप (जनसंख्या 21,000, क्षेत्रफल 93 वर्गमील)

निउ द्वीप (जनसंख्या 6000, क्षेत्रफल 100 वर्गमील)

फ्रांस के विदेश विभाग के अन्तर्गत

गुआदेलू (जनसंख्या 3,25,000, क्षेत्रफल 687 वर्गमील, राजधानी बासे-तेरे)

मार्तीनी (जनसंख्या 3,25,000, क्षेत्रफल 426 वर्गमील, राजधानी फोर्ट द-फ्रांस)

फ्रांसीसी गयाना (जनसंख्या 70,000, क्षेत्रफल 37,740 वर्गमील, राजधानी कोयेन)

सेंट पियेरे और मिकेलोन द्वीप (जनसंख्या 5,800, दोनों द्वीपों का क्षेत्रफल 94 वर्गमील, राजधानी सेंट पियेरे)

रियूनियन (जनसंख्या, 5,00,000, क्षेत्रफल 969 वर्गमील, राजधानी सेंट डेनिस)

मायोटे . पहले कोमोरो का भाग । 1976 में फ्रांस के विदेश विभाग के तहत क्षेत्रफल 11 वर्गमील और जनसंख्या 51,800 ।

फ्रांसीसी क्षेत्र

न्यू कालेडोनिया (जनसंख्या 19,40,000, क्षेत्रफल 1,115 वर्गमील, राजधानी नौमिया)

फ्रांसीसी पोलिनेसिया (जनसंख्या 1,40,00 क्षेत्रफल 1,544 वर्गमील)

वालिस और फुतुना द्वीप (जनसंख्या 10,000, क्षेत्रफल 106 वर्गमील)

स्पेन के प्रशासन में

उत्तरी मोरक्को में चुट्आ और मोलिल्ला (जनसंख्या 1,30,000)

डच प्रशासन में

डच आँटिल्स (जनसंख्या 2,40,000, क्षेत्रफल 395 वर्गमील, राजधानी विलेम-स्टेड)

दूसरी महत्वपूर्ण औपनिवेशिक शक्ति फ्रांस रहा है । फ्रांस का दबदबा अफ्रीकी देशों पर अधिक था लेकिन 1960 से 1980 के बीच अधिकतर अफ्रीकी देशों के स्वाधीन हो जाने के बाद अब उसका नियन्त्रण कुछ इनेगिने स्थानों तक ही सिमट कर रह गया है । कुछ स्थानों को तो फ्रांस अपने विदेश विभाग के अन्तर्गत मानता है जबकि कुछ को वे उपनिवेश या क्षेत्र मानते हैं । रियूनियन, गुआदेलू, मार्तीनी, सेंट पियेरे, फ्रांसीसी गयाना उसके विदेश विभाग में आते हैं जबकि फ्रांसीसी पोलीनेशिया, न्यू केलेडोनिया, वालिस और फुतुना द्वीप उसकी बस्तियों में माने जाते हैं । इन सभी बस्तियों की स्थिति का आकलन संयुक्तराष्ट्र की विशेष समिति ने भी किया है और पूरे अध्ययन के बाद वहाँ के लोगों की स्थिति से इन

औपनिवेशिक शक्तियों को सूचित भी किया है। पिछले दिनों फ्रांस और कोमोरो की सरकार के बीच मायोटे द्वीप के प्रश्न पर तनाव पैदा हो गया। दोनों ही मायोटे पर अपना-अपना दावा जतला रहे हैं। यह ममला भी संयुक्तराष्ट्र के विचाराधीन है।

बहरहाल, लगभग तीस-एक ऐसे देश हैं जो अभी स्वाधीनता प्राप्त करने की जद्दोजहद में जुटे हुए हैं। कुछ देशों के मुक्ति संग्रामी अपने देशवासियों की आवाज लोगों तक पहुँचाने में समर्थ हो जाते हैं तो कभी संयुक्तराष्ट्र की विशेष समिति के प्रतिनिधि यहाँ के लोगों की इच्छाओं से विश्व निकाय को अवगत कराते रहते हैं। लेकिन ये बड़ी शक्तियाँ जो इन देशों से प्राप्त कच्चे माल को पक्का बना कर अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किए हुए हैं, आसानी से उन्हें अपने चंगुल में निकालने के लिए तैयार नहीं। केवल उम्मीद ही की जा सकती है कि वर्तमान शासक अपने पुरखों की पुरानी बस्तियों को उनकी यादगार के तौर पर नहीं सहजेंगे बल्कि स्वाधीन करके अपने आधुनिक, रचनात्मक और व्यावहारिक दृष्टिकोण का यथेष्ठ परिचय देंगे।

स्वतन्त्र अफ्रीका-महाद्वीप की समस्याएँ
(Problems of Independent African Continent)

नवोदित अफ्रीका के राज्यों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इसमें से अधिक समस्याएँ तो यहाँ की पिछड़ी हुई आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति से उत्पन्न होती हैं। यहाँ के देशों के सामने विश्व के अन्य देशों के समकक्ष आने के लिए एक लम्बा रास्ता पार करने को पड़ा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यहाँ के कुछ देशों में क्रान्ति हुई, गृह-युद्ध छिड़े तथा जातीय भेद-भाव के आधार पर अनेकों उपद्रव हुए। महाद्वीप के देशों में विकास के लिए आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का सूत्रपात हुआ। उनके हित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर टकराने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय एवं महाद्वीपीय स्तरों पर सर्वोच्चता पाने के लिए यहाँ के विभिन्न देशों के बीच शक्ति-संघर्ष छिड़ गया। इस प्रकार स्वतन्त्र अफ्रीका में अनेकता, संघर्ष और प्रतियोगिता का वातावरण जोर पकड़ने लगा। यहाँ के राष्ट्रों के विकास के लिए परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की प्रमुख आवश्यकता है, किन्तु यहाँ इसके विपरीत प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही हैं। विश्व की अन्य शक्तियाँ इस फूट का लाभ उठा रही हैं। साम्यवादी गुट तथा पश्चिमी देश दोनों ही अफ्रीका में अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयासों में संलग्न हैं। यूरोप के जिन देशों ने अफ्रीका के अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है वे भी यहाँ किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव जमाए रखना चाहते हैं। उनका हित इस बात में है कि इन देशों पर गोरी जाति का ही प्रमुत्व कायम रहे। स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं—

(1) अफ्रीका-महाद्वीप में मिली-जुली संस्थाओं तथा विचारों के बल पर क्रान्ति को सफल बनाने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें एक नवीन अफ्रीका की सम्भावना निहित है किन्तु नवीन विचारों एवं संस्थाओं का यह प्रयोग अफ्रीका के पुराने रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं से भिन्न है तथा इसके प्रति यहाँ के लोगों में

विरोधी भावनाएँ हैं। समाज के परम्परावादी रूप के विलोप से जो असुरक्षा की भावना पैदा होती है वह इन देशों के विकास-कार्यों की सफलता में मुख्य रूप से बाधक है।

(2) विकास-कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए अफ्रीका-महाद्वीप में पहले सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति होना परम आवश्यक है। यहाँ के धार्मिक नियम, राजनीतिक विचार, अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियाँ, आदि में मूलभूत परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। हो सकता है कि इस परिवर्तन-काल में यहाँ के देशों को अनेक हिंसात्मक तथा नृशंसतापूर्ण कार्य भी करने पड़ें।

(3) अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्त्व जानने से पूर्व यह समझना उपयोगी है कि यहाँ की क्रान्ति का लोगों के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता से पूर्व यहाँ के लोगों पर हजारों मील दूर बैठे शासकों के आदेशों से शासन होता था। उपनिवेशवादी शक्तियों के प्रतिनिधि ही यहाँ के सब कुछ थे। उनके साथ अफ्रीकावासियों का सेवक और स्वामी का सम्बन्ध था, किन्तु अब यह स्थिति नहीं रही है, तो भी जातीय उच्चता के आधार पर यूरोप के देश इन देशों पर अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित किए हुए हैं।

(4) गोरे और काले का भेद प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह मनुष्यकृत नहीं है और न ही मनुष्य इसे परिवर्तित कर सकता है किन्तु यह रंग-भेद अफ्रीका के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने वाला सबसे अधिक शक्तिशाली तत्त्व है। गुन्थर (Gunther) के अनुसार, "सब चीजों से ऊपर रंग-भेद ही है जो अफ्रीका में असन्तोष तथा विद्वेष उत्पन्न करता है। यह अफ्रीकी हीनता का प्रधान कारण है जिससे उपद्रव और विद्रोहों का सूत्रपात होता है और गोरे तथा काले दोनों ही प्रकार के लोगों के मस्तिष्क को विकृत कर देता है।" यूरोपीय शासन काल में जातीय तथा रंग पर आधारित भेद-भाव की नीति को पर्याप्त बढ़ावा दिया गया था। रंग-भेद के कारण पूरे महाद्वीप में ही एक प्रकार की गहरी खाई पड़ गई थी तथा जिन देशों में यूरोपीय लोग नहीं रहते, वहाँ के काले लोग भी अपने आपको गोरों से हीन मानते हैं। यह खाई तब तक बनी रहेगी जब तक चमड़ी के गोरेपन के आधार पर अधिकांश जन-समुदाय के विरुद्ध थोड़े से लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त होते रहेंगे। जॉन हेच (John Hatch) के शब्दों में, "अफ्रीका के लोग आत्म-विश्वास, जो सहिष्णुता के लिए आवश्यक होता है, तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक वे रंग के आधार पर किए जाने वाले भेद-भाव से अपने आपको मुक्त नहीं कर लेते।" धीरे-धीरे अफ्रीका के देशों में अब अफ्रीकियों की सरकारें स्थापित होती जा रही हैं तथा अब गोरे लोगों के विरुद्ध काले लोगों को कुछ विशेषाधिकार देने की प्रवृत्ति घर करती जा रही है।

(5) केवल रंग-भेद तथा जाति-भेद को समाप्त कर देना ही पर्याप्त नहीं है। अफ्रीका के देशों में यूरोपीय देशों द्वारा अनेक मूलभूत परिवर्तनों की स्थापना करके

सामाजिक एव राजनीतिक जीवन को बदल दिया गया था। अफ्रीका मे क्रान्ति को पूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्रान्ति को सामाजिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी लाया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन देशो में जो सरकारें स्थापित की गई हैं, यद्यपि उनका सचालन देश के निवासियो द्वारा ही किया जाता है, तथापि वे उतने ही अधिक सत्ता एव अधिकार का प्रयोग करती हैं जितना विदेशियो द्वारा किया जाता था।

अनेक अफ्रीकी देशो मे एकदलीय व्यवस्था को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। इस मान्यता पर अफ्रीका के आदिवासी जीवन का प्रभाव है। आदिवासी जीवन की सामान्य परम्परा के अनुसार विरोधी का सगठित होना अनुचित है क्योकि यह अनेक प्रकार के झगड़े उत्पन्न करता है। जो भी निर्णय लिए जाते हैं उन पर सभी व्यक्तियो के मतो का प्रभाव रहता है। आज एक सामान्य अफ्रीकी अपने जीवन मे यह महसूस करता है कि उसके ऊपर सत्ता की जिस मात्रा का स्वतन्त्रता के बाद मे प्रयोग किया जा रहा है वह स्वतन्त्रता के पूर्व प्रयोग की जाने वाली मात्रा से कही अधिक है। सत्ता की इस मात्रा को भी यहाँ के लोग अपनी सुरक्षा के नाम पर स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार प्राय पूरे अफ्रीका मे ही सरकार के नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच बहुत असन्तुलन होते हुए भी कोई इसका विरोध नही करता और न ही किसी को इससे असन्तोष होता है।

(6) राष्ट्रवाद की भावना ने अफ्रीका के देशो मे एकता का सूत्रपात किया और इसी एकता के आधार पर वे विदेशी शक्तियो से अपने आपको मुक्त करा सके है। महाद्वीप के अधिकांश भाग पर राष्ट्रवाद का भारी प्रभाव है। हेच (Hatch) के शब्दो मे स्वतन्त्रता एकता की माँग करती है और राष्ट्रीयता की तेज मानसिक शगाव ने सारे देश को साम्राज्यवादी शक्तियो के विरुद्ध एकीकृत करने मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। शिक्षा, सभ्यता एव विज्ञान मे पिछड़े होने के कारण यहाँ के देशों मे राष्ट्रवाद उतना प्रभावशाली नही है जितना यह एशिया महाद्वीप मे रहा है। यद्यपि राष्ट्रवाद के उदय को रोका नहीं जा सकता, तो भी अफ्रीका के बड़े क्षेत्र अभी तक राष्ट्रवाद के प्रभावशाली व्यवहार के लिए तैयार नही हैं अर्थात् यहाँ पर स्वशासन की स्थापना के अनुकूल वातावरण अभी तक नही बना है।

(7) अफ्रीका के देशो मे नूतन जीवन के प्रति, स्वशासन के प्रति, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति, पारस्परिक सहयोग के प्रति तथा जातीय एकता के प्रति प्रबल की भावनाएँ विद्यमान हैं। अफ्रीका अपने इसी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे आया है। अब यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों का, घटनाओ का तथा मनमुटावों का प्रभाव इस महाद्वीप के देशो पर भी पड़े किन्तु ये देश आर्थिक रूप मे आत्मनिर्भर नही हैं, इसीलिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकते। अफ्रीका का आर्थिक जीवन अब भी बहुत कुछ शेष ससार पर निर्भर करता है। इस आर्थिक परनिर्भरता की अवस्था मे जब ये देश उपनिवेशवाद से स्वतन्त्रता की स्थिति मे आए तो अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। नए राज्यो का निर्माण उन

प्रदेशों में से किया गया है जिनका यूरोपीय शक्तियों ने विभाजन कर रखा था। ये राज्य आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाते।

(8) प्राय पूरे अफ्रीका-महाद्वीप मे अफ्रीकीपन की भावना का प्रभाव है। सभी अफ्रीकी यह निर्णय कर चुके हैं कि सम्पूर्ण अफ्रीका पर भविष्य मे केवल अफ्रीकियो का ही राज्य रहेगा। इस दृष्टिकोण के कारण अफ्रीका में विभिन्न सघ तथा उपसघ बनाने के प्रस्तावो पर समय-समय पर विचार किया जाता रहा है। इस प्रकार के सघ-निर्माण के मार्ग मे भाषा, सचार-साधन तथा आर्थिक विकास जैसी कुछ बाधाएँ है जिनको दूर करने के बाद यहाँ के लोगो मे सुरक्षा की भावना उत्पन्न होगी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो मे भी विकास होगा।

(9) अफ्रीका-महाद्वीप शीतयुद्ध के प्रसार को रोकने के लिए प्रयत्नशील है और इसी उद्देश्य से इसने अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे प्रवेश किया है। यद्यपि अफ्रीकी देश संयुक्त राष्ट्रसघ के अनेक कार्यों की आलोचना करते है, तो भी यह उनके लिए एक आशा का प्रतीक है जो उनके आर्थिक तथा राजनीतिक विकास मे सहायक बनकर उन्हे विश्व-राजनीति को प्रभावित करने योग्य बना सकता है तथा पूर्व और पश्चिम के झगडे से दूर रख सकता है। अफ्रीकी देश यह चाहते हैं कि सयुक्त राष्ट्रसंघ साम्यवादी अथवा पूंजीवादी शक्तियो के हाथ की कठपुतली न रहकर पूर्व, पश्चिम और तटस्थ पक्ष का समान प्रतिनिधित्व करने वाली सस्था बन जाए। उनके मतानुसार यह सस्था उपनिवेशवाद, नवीन उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के नए तरीकों से अछूती है। वे चाहते है कि यह उनके अपने आर्थिक विकास मे सहायता करे, उनकी राजनीतिक परेशानियो मे सहायक बने तथा यही एकमात्र अभिकरण है जो विश्व-युद्ध को रोकने की सामर्थ्य रखता है।

अफ्रीका में साम्यवाद
(Communism in Africa)

साम्यवाद की प्रवृत्तियो का प्रभाव अफ्रीका-महायुद्ध पर एशिया महाद्वीप की अपेक्षा कम है। अफ्रीका की राजनीति मे यह एक प्रकार का विरोधाभास सा दिखाई देता है। इस महाद्वीप मे साम्यवाद के लिए प्राय सभी आवश्यक परिस्थितियाँ उपस्थित हैं जिनके कारण इस विचारधारा का निर्बाध प्रचार एव प्रसार किया जा सकता है। यहाँ के लोग आर्थिक शोषण तथा साम्राज्यवादी दमन एवं आतको के कटु अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, इनके प्रति यहाँ पर प्रबल विरोध की भावना विद्यमान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पश्चिमी ढग का प्रजातन्त्र, जो स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देता है और समानता के लिए लम्बे समय तक प्रतीक्षा करा सकता है, इस महाद्वीप के लोगो की आशाओ और महत्त्वाकांक्षाओ से मेल नहीं खाता। वे तो शीघ्र ही बीमारी से छुटकारा पाकर यथेष्ट भोजन की प्राप्ति मे रुचि रखते है; अन्य अमूर्त आदर्शों में उनकी कोई रुचि नही है। साम्यवाद के पास इन सभी आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन मौजूद है तथा उनके द्वारा दिए

गए आश्वासनों के प्रति इस महाद्वीप के लोगों की रुचि बने रहना स्वाभाविक है। साथ ही साम्यवादी देशों द्वारा साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध, आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की सफलता तथा पूँजीपति वर्ग को समाप्त कर शोषण का अन्त, व्यक्तियों के बीच समानता की स्थापना और जातीय-भेदभाव की नीति की निन्दा आदि साम्यवादी नीतियों के कुछ उदाहरण हैं जो अफ्रीका निवासियों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए पर्याप्त से भी अधिक हैं इसके साथ ही यह भी एक तथ्य है कि सोवियत रूस और साम्यवादी चीन द्वारा इस महाद्वीप के अनेक देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग प्रदान किया गया था। इस सहयोग को ये देश कभी भी नहीं भुला सकते। इन सबके होने के बाद अफ्रीका महाद्वीप पर साम्यवादी गुट की पूरी नजर है तथा यहाँ से हटते हुए पश्चिमी प्रभाव के स्थान को वे स्वयं ग्रहण करने के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील हैं। आर्थिक असमानता के प्रति यहाँ के लोगों का दृष्टिकोण स्पष्ट है तथा इसके परिणामों से वे भली-भाँति परिचित हैं।

सूडान गणतन्त्र के राष्ट्रपति इब्राहिम आबूद (Ibrahim Abboud) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में बोलते हुए कहा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर स्थित असहयोग तथा अशान्ति का कारण आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में असमानता है जो हमारे समय की एक विशेषता है तथा जो विश्व को अति धनवान और अति गरीब में विभाजित करती है। आर्थिक विकास के ये असन्तुलित स्तर ही असन्तोष तथा ईर्ष्या के बीज बोते हैं।" इन सब अनुकूल परिस्थितियों तथा वातावरण के रहने पर भी अफ्रीका में साम्यवाद का प्रभाव बहुत कम है। इसका कारण विश्व की वर्तमान स्थिति को माना जा सकता है। अफ्रीका-महाद्वीप को देरी से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक बड़ा लाभ यह प्राप्त हुआ कि जब यहाँ के देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर पाँव रखा तो इनके सामने स्पष्टतः दो विरोधी तथा प्रतिस्पर्द्धापूर्ण गुट थे। उनके बीच शीतयुद्ध एवं उसके भयानक परिणामों की कल्पना करने में भी ये देश समर्थ थे। साथ ही दोनों से अलग रहने की गुटनिरपेक्षता की नीति का भारत के नेतृत्व में अनेक देशों ने पालन करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में सदियों बाद प्राप्त की गई अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के उद्देश्य से इन देशों ने भारत का अनुगमन करना ही उपयुक्त समझा। शीतयुद्ध की शान्त लपटों से यहाँ के नेता अपने प्रदेशों को बचाने के पक्ष में थे। इथियोपिया के कार्यवाहक राज्य मन्त्री कटेमा यिफ्रू (Katema Yifru) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में कहा था कि "शीतयुद्ध का प्रसार एशिया और अफ्रीका के लिए विशेष खतरे का सूचक है तथा यह उनके शान्तिपूर्ण एवं बौद्धिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए चुनौतियों का सृजन करता है।" इसी प्रकार के विचार नाइजीरिया के प्रधान मन्त्री सर अबूबकर बलेवा (Sir Abubaker Belewa) ने काँगो की समस्या पर बोलते हुए प्रकट किए थे। उनका कहना था कि "अफ्रीका को सैद्धान्तिक संघर्ष की युद्धभूमि नहीं बनने देना चाहिए और काँगो की स्थिति पर अफ्रीकी राज्यों को राजनीतिक स्तर पर विचार करने देना चाहिए।"

इन समस्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अफ्रीका महाद्वीप के देशों में साम्यवाद-विरोधी प्रवृत्तियाँ उपस्थित हैं तथा वे किसी भी वाद से अपने आपको बाँधना नहीं चाहते। कुछ विचारकों का मत है कि इस महाद्वीप के राष्ट्रीय आन्दोलनों पर साम्यवाद का अधिक प्रभाव नहीं था। अफ्रीका के कई देशों जैसे कैरो, अदिस अबाबा, प्रीटोरिया, मोनरोविया आदि में साम्यवादियों की कूटनीतिक चौकियाँ बनी हुई हैं तथा अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, फ्रांसीसी पश्चिम अफ्रीका में स्थानीय साम्यवादी दलों का प्रभाव है। अफ्रीका के नेताओं में से बहुत कम ही साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित है। किन्तु यहाँ के विभिन्न देशों में साम्यवाद का प्रचार एवं प्रसार करने के उद्देश्य से एजेंट भेजे जाते हैं तथा यह सम्भावना है कि यहाँ के कुछ देश साम्यवादी विचारधारा के प्रति झुक जाएँगे।

एशिया तथा अफ्रीका के जागरण में समानताएँ और अन्तर
(Similarities and Dissimilarities in the Resurgence of Asia and Africa)

समानताएँ

1. एशिया और अफ्रीका दोनों ही में जागरण की लहर फैली हुई है। दोनों ही महाद्वीप साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरोधी हैं। दोनों ही क्षेत्र आज गुलामी से लगभग मुक्त हैं और जो कुछ भी साम्राज्यवादी अवशेष बाकी हैं, उन्हें मिटा देने को कृत-संकल्प हैं।

2. दोनों ही महाद्वीपों का साम्राज्यवादी शक्तियों ने शताब्दियों तक शोषण किया, अतः स्वभावतः दोनों ही आर्थिक पिछड़ेपन और सामाजिक रूढ़िवादिता से पीड़ित हैं। दोनों में व्यापक अशिक्षा है और समुचित राजनीतिक चेतना परिपक्व नहीं हो पाई है। महाशक्तियाँ एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यों की राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक दुर्बलता का लाभ उठा कर अपने 'आर्थिक उपनिवेशवाद' और 'नव-उपनिवेशवाद' के प्रसार के लिए लालायित हैं। विश्व के बड़े देश, विशेषकर पश्चिमी शक्तियाँ, इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं कि एशिया और अफ्रीका में सघर्ष के ऐसे विस्फोटक केन्द्र बना दिए जाएँ कि यदि भविष्य में कोई महायुद्ध छिड़े तो वह इन दोनों महाद्वीपों की भूमि पर हो, यूरोप में नहीं।

3. दोनों ही महाद्वीपों में बहुसंख्यक राज्यों का नेतृत्व पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त नेताओं के हाथों में है, अतः उन राज्यों का विकास और राजनीतिक ढाँचा अपने देश की परिस्थितियों के अनुकूल न होकर बहुत कुछ पश्चिम-प्रेरित है। बहुत से देशों की जनता गरीबी और पिछड़ेपन की चक्की में पिस रही है, लेकिन पश्चिम की चकाचौंध से प्रभावित नेतृत्व सही स्थिति का मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है।

4. दोनों ही महाद्वीपों को शीतयुद्ध के परिणामों को भुगतना पड़ा है। दोनों को ही साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी 'पुनर्स्थापन प्रयत्नों' के प्रति सदैव सजग रहना पड़ता है।

5. दोनों ही महाद्वीप राष्ट्रवाद की लहर से ओत-प्रोत है तथा साथ ही साम्यवाद के प्रसार से आशंकित है। नवोदित विशाल साम्यवादी चीन एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों मे, खासकर, निर्बल और छोटे देशो मे, मार्क्सवाद के प्रसार के लिए बेचैन है। साम्यवाद-प्रेरित हिंसात्मक क्रान्तियो का विस्फोट जब तब होता रहता है पर धीरे-धीरे दोनो ही महाद्वीपो के राष्ट्र चीनी विस्तारवाद को भाँप गए हैं और उसके प्रभाव से बचे रहने को प्रयत्नशील हैं।

6 अपने आर्थिक और प्राविधिक विकास के लिए दोनो ही महाद्वीप विदेशी सहायता के लिए परमुखापेक्षी हैं। अत. सहायता देने वाली शक्तियों को सहायता प्राप्त देशो मे अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने के पर्याप्त अवसर मिलते रहते हैं।

अन्तर

1 एशिया का राष्ट्रवाद अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व है जबकि अफ्रीका का राष्ट्रवाद अभी बहुत-कुछ अपने शैशवकाल मे है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि एशिया मे भारत, चीन, जापान, बर्मा जैसे बड़े और विशालकाय देशो का अस्तित्व है जबकि अफ्रीका मे छोटे-छोटे राष्ट्रो का आधिक्य है। इसके अतिरिक्त अफ्रीकी राष्ट्रो की तुलना मे एशियायी राष्ट्रो मे शिक्षा का अधिक प्रसार है।

2 अफ्रीका के राष्ट्रवाद को वहाँ की परिस्थितियों ने विशेष रूप से उग्र बना दिया है, जबकि एशियायी राष्ट्रवाद कतिपय अपवादो को छोडकर सामान्यतः शान्तिपूर्ण तरीको में विश्वास करता है।

3 अफ्रीका में उपनिवेशवादी शक्तियो ने प्रत्यक्ष रूप से शासन किया जब कि एशिया के बहुत से देशो मे इन शक्तियो का अप्रत्यक्ष शासन था। अतः स्वभावत. दोनो महाद्वीपो के जागरण और चिन्तन की परिस्थितियाँ भिन्न रही जिनका प्रभाव आज भी स्पष्ट दिखाई देता है।

4 दोनों महाद्वीपों के जागरण मे एक बडा अन्तर यह भी रहा है कि जहाँ एशिया मे यूरोपीय उपनिवेशवादियो ने स्थायी रूप से बसने की नीति अपनाई वहाँ अफ्रीका मे यूरोपीय जातियाँ स्थायी रूप से बस गईं, अतः वहाँ अपेक्षाकृत अधिक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गईं।

5 रंग-भेद और कबीलेवाद की समस्याएँ एशिया की अपेक्षा अफ्रीका मे निरन्तर अधिक गम्भीर रही हैं। अब 'अफ्रीकीकरण' की नई लहर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और मानवीय पहलुओं को दूषित कर रही है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अफ्रीकी नेता एशियायी नेताओं की तुलना में अधिक उग्र रहे हैं और उन्हें एशिया वालों की 'निष्क्रियता' पसन्द नहीं आई। इससे अफ्रीकी-एशियायी एकता आन्दोलन को बडा नुकसान पहुँचा है।

7. एशिया महाद्वीप की तुलना में अफ्रीका महाद्वीप की राजनीतिक परम्पराएँ प्रारम्भ से ही बहुत अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रहीं, अतः वहाँ के किसी भी देश मे स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नहीं हो सका।

इसके विपरीत एशिया के भारत आदि देशों में लोकतन्त्र ने इतनी प्रगति करली कि स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद भारत तो विश्व मे लोकतन्त्र का शक्तिशाली दुर्ग बन गया है।

8. एशिया की तुलना में अफ्रीका में साम्यवादी प्रभाव अभी तक विशेष रूप से उग्र नही हो पाया है, तथापि साम्यवादी देशों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अफ्रीका-वासियों के संघर्ष को नैतिक बल पहुँचाने मे सक्रिय सहायता दी है और वे अब अफ्रीका के श्रम-आन्दोलनो के साथ गठजोड़ कर वहाँ साम्यवाद के प्रसार के लिए सचेष्ट हैं।

9 एशिया की तुलना में अफ्रीका के देश आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े हुए है, यद्यपि प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से अफ्रीका संसार का एक अति सम्पन्न महाद्वीप है।

एशिया और अफ्रीका के जागरण के प्रतीक महत्त्वपूर्ण संगठन और सम्मेलन

द्वितीय युद्ध के बाद एशिया एकदम जाग उठा और जागरण के सन्देश से अफ्रीका महाद्वीप भी अछूता न रह सका। दोनों महाद्वीपों के विभिन्न देशो मे सम्पर्क का प्रसार हुआ। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग मे समय-समय पर एशिया और अफ्रीका के स्वाधीन और विश्व के तटस्थ राष्ट्रों ने अपने सम्मेलनों द्वारा एशिया और अफ्रीका के जागरण का सन्देश दिया, उपनिवेशवाद की जड़ें हिलाई और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर गम्भीर विचार-विमर्श कर अपना यह महत्त्व जता दिया कि यूरोपीय देश अब अफ्रेशियाई देशों की उपेक्षा नहीं कर सकते। यहाँ हम प्रमुख अफ्रेशियाई सम्मेलनों और सगठनों पर एक विहगम दृष्टि डालेंगे। गुटनिरपेक्ष देशो के सम्मेलनों का आगे गुटनिरपेक्षता सम्बन्धी एक पृथक् अध्याय में वर्णन किया गया है।

प्रथम एशियायी सम्मेलन, 1947

श्री जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से इण्डियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स (Ind an Council of World Affairs) ने मार्च-अप्रैल, 1947 मे एशियायी देशों के एक गैर-सरकारी सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे 28 देशो के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सदस्यों ने एशियायी देशो की राजनीतिक स्वतन्त्रता, उनके आर्थिक विकास, रंग-भेद, आदि विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। एशियायी देशो का एक स्थायी सगठन स्थापित करने के प्रस्ताव पर भी विचार हुआ। सम्मेलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि एशियायी देश आपस में मिलकर ही अपनी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। सम्मेलन ने विश्व को यह सकेत दे दिया कि एशिया अब जाग चुका है और अधिक समय तक उस पर साम्राज्यवादी शासन स्थापित नही रह सकता।

द्वितीय एशियाई सम्मेलन, 1949

भारत सरकार के आमन्त्रण पर देहली मे 1949 मे 20 से 30 जून तक एशियायी

देशों का द्वितीय सम्मेलन हुआ जिसका मूल उद्देश्य इण्डोनेशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करना था। सम्मेलन में डच-कार्यवाही की कठोर शब्दों में निन्दा की गई, डच-आक्रमण को असफल बनाने के लिए विभिन्न कार्यक्रम बनाए गए और सुरक्षा-परिषद्, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड का सहयोग प्राप्त कर हालैण्ड के प्रति कठोर रुख अपनाने की नीति निर्धारित की गई।

बाँडुंग सम्मेलन, 1955

1955 में 18 अप्रेल से 27 अप्रेल तक इण्डोनेशिया के नगर बाँडुंग में एशिया और अफ्रीका के लगभग 29 राष्ट्रों के इस सम्मेलन पर 'एशिया का जागरण' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव में इस सम्मेलन द्वारा एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों के जीवन ने एक नवीन आत्म-विश्वास और आशा का उदय हुआ तथा सम्पूर्ण विश्व में एशिया की एक नई आवाज गूँज उठी कि एशिया और अफ्रीका के वासी अब पराधीन नहीं रहेंगे, अपने हाथों अपने भविष्य का निर्णय करेंगे, स्वतन्त्रता तथा शान्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को उखाड़ फेंकेंगे। एशिया की राजनीति के दृष्टिकोण से बाँडुंग-सम्मेलन के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—

प्रथम इसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका के एक समान दृष्टिकोण को जन्म दिया।

द्वितीय, संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक ऐसे एशियायी गुट की आधारशिला रखी जिसने आगे चलकर पूर्व और पश्चिम के संघर्ष में सन्तुलन पैदा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

मोशी सम्मेलन, 1963

फरवरी, 1963 में मोशी (टंगानिया) में अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन हुआ जिसमें—(1) ब्रिटेन से अपील की गई कि वह बासुतोलैण्ड, बेचुआनालैण्ड तथा स्वाजीलैण्ड को अविलम्ब बिना शर्त स्वतन्त्रता प्रदान करदे, (2) सभी राष्ट्रों से अपील की गई कि उपनिवेशवादी शक्तियों के दमन से पीड़ित लोगों को राजनीतिक शरण दी जाए; (3) इजरायल की इस बात के लिए निन्दा की गई कि वह एक नया उपनिवेशवादी अड्डा बनता जा रहा है; (4) चीन के फारमोसा को मुक्त करने के अधिकार का समर्थन किया गया; (5) सभी राष्ट्रों से अपील की गई कि पुर्तगाल के विरुद्ध आर्थिक एवं कूटनीतिक बहिष्कार लागू कराएँ तथा अंगोला और मोजाम्बिक के मुक्ति-आन्दोलनों को सहायता दें; (6) उत्तरी रोडेशिया को लोकतान्त्रिक संविधान प्रदान करने और संघ को भंग करने की माँग की गई तथा राष्ट्रों से अपील की गई कि वे दक्षिणी रोडेशिया के लोगों को उनके मुक्ति-संग्राम में सहयोग दें; (7) अमेरिका से वियतनाम में अपनी आक्रामक कार्यवाहियाँ बन्द करने की अपील की गई; (8) ब्रिटेन को सुझाव दिया गया कि वह सन् 1963 के अन्त तक जंजीबार को स्वतन्त्र करदे; (9) एक प्रस्ताव में कहा गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ

अमेरिकी साम्राज्यवाद का साधन न बने तथा सभी राष्ट्रों से अपील की गई कि वे इस विश्व-संस्था के पुनर्गठन पर बल दें ताकि वह एशिया और अफ्रीका के लोगों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सके।

अदिस अबाबा सम्मेलन, 1963

मई, 1963 में एक अफ्रीकी सम्मेलन हुआ जिसमें 32 स्वतन्त्र राष्ट्रों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। यह सम्मेलन इथियोपिया की राजधानी अदिस अबाबा में हुआ। इसमें संयुक्त अफ्रीका की स्थापना के विषय में विचार किया गया और अफ्रीकी राष्ट्रों के एक स्थायी सचिवालय की स्थापना तथा सभी राज्यों के परराष्ट्र मन्त्रियों की एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना का सुझाव दिया गया। इन निश्चयों के अनुसार कार्य भी हुआ। सचिवालय का नाम अफ्रीकी-एकता-संगठन रखा गया। सम्मेलन ने अफ्रीकी राज्यों के झगड़ों को सुलझाने के लिए एक आयोग की स्थापना भी की। सम्मेलन द्वारा यह निश्चय किया गया कि अफ्रीका के पराधीन देशों को औपनिवेशिक दासता से तथा दक्षिण-अफ्रीका की अश्वेत जनता को रंगभेद-नीति के अत्याचारों से मुक्त कराने के लिए एक मुक्ति-सेना का गठन किया जाए और मुक्ति-कोष की भी स्थापना की जाए। यह भी निर्णय लिया गया कि दक्षिणी अफ्रीका और पुर्तगाल के विरुद्ध राजनीतिक व आर्थिक बहिष्कार की नीति अपनाई जाए। संयुक्त राष्ट्रसंघ से मांग की गई कि वह सुरक्षा-परिषद् तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद् में अफ्रीकी राष्ट्रों को आनुपातिक स्थिति प्रदान करे। ब्रिटेन से कहा गया कि वह दक्षिणी रोडेशिया को तब तक स्वतन्त्रता प्रदान न करे जब तक वहाँ अफ्रीकी जनता को गोरों के समान अधिकार प्राप्त न हो जाएँ। अदिस अबाबा सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इसमें अफ्रीकी एकता का एक घोषणापत्र स्वीकार किया गया जिसमें समूचे अफ्रीकी महाद्वीप को दासता से मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की गई। इस कार्य के लिए नौ अफ्रीकी देशों टांगानिका, अल्जीरिया, इथियोपिया, संयुक्त अरब गणराज्य, उगाण्डा, कांगो, गिनी, सेनेगल नेथा, नाइजीरिया को मिलाकर एक स्वाधीनता-समिति (Liberation Committee) बनाई गई। इसका प्रधान कार्यालय दारेस्सलाम में रखा गया।

अफ्रेशियाई एकता सम्मेलन, 1972

जनवरी, 1972 में काहिरा में अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन हुआ जिसमें 59 देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों ने भाग लिया। सम्मेलन ने पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मण्डल के विरोधी रवैए के बावजूद भारत और बंगलादेश के न्यायपूर्ण हक का समर्थन किया। केवल लीबिया ने पाकिस्तान का साथ दिया मुस्लिम राष्ट्रों ने नवोदित बंगलादेश का पक्ष लिया और भारतीय उपमहाद्वीप की वास्तविकता को मान्यता दी। बंगलादेश के प्रतिनिधिमण्डल को आमन्त्रित किया जाना ही इस बात का प्रमाण था कि अफ्रेशियायी देशों ने उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है, चाहे उस समय तक उसे औपचारिक रूप से मान्यता न दी गई हो। बंगलादेश के अलावा सम्मेलन में पश्चिमी एशिया, हिन्द-चीन तथा अफ्रीकी मुक्ति-संग्रामों पर

भी खुलकर विचार-विमर्श हुआ और अफ्रेशियायी देशों का साझा बाजार बनाने की भी पेशकश की गई।

अफ्रीकी एकता संगठन

25 मई, 1962 को 30 अफ्रीकी देशों ने अदिस अबाबा सम्मेलन में 'अफ्रीकी एकता संगठन' की स्थापना के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए। वहीं इस संगठन का मुख्यालय भी है। अफ्रीकी देशों के बीच एकता और सहयोग बढ़ाना, उपनिवेशवाद को समाप्त करना तथा सदस्य देशों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए कार्य करना संगठन का मुख्य उद्देश्य है। संगठन की सरकारी भाषा अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी स्वीकार की गई है। इसके अलावा अफ्रीका की सभी देशी भाषाओं को काम-काज की भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। संगठन के महत्त्वपूर्ण निर्णय समय-समय पर सदस्य-देशों के विदेश मन्त्रियों की बैठक तथा शिखर-सम्मेलनों के माध्यम से लिए जाते हैं। अफ्रीकी देशों के बीच उत्पन्न मतभेदों को दूर करना ही इसका मुख्य काम रहा है।

स्थापना के बाद से ही अफ्रीकी एकता संगठन के सम्मेलन विभिन्न अवसरों पर होते रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में अफ्रीकी एकता संगठन की जो गतिविधियाँ रही हैं, उनका सारांश इस प्रकार है—

विदेश मन्त्री सम्मेलन, जून 1976 (पोर्ट लुई)—अफ्रीकी एकता संगठन का छः दिवसीय 27वाँ सम्मेलन 24 जून, 1976 को पोर्ट लुई (मारिशस) में आरम्भ हुआ। अफ्रीकी एकता संगठन के 48 सदस्यों के विदेश मन्त्रियों ने दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया और फ्रांस की भर्त्सना के साथ अपनी मन्त्रणा आरम्भ की। सम्मेलन के अध्यक्ष, मारिशस के प्रधान मन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम ने अपने उद्घाटन भाषण में यह आह्वान किया कि सभी अफ्रीकी देशों को दक्षिण अफ्रीका और उसके मददगारों की एक स्वर में निन्दा करनी चाहिए। दक्षिण-अफ्रीका के बहिष्कार और रंगभेद मिटाने के लिए अफ्रीकी-एकता-संगठन का संकल्प और उसके लिए उसकी चार सूत्री योजना यह थी—

1. आर्थिक और अन्य प्रकार के बहिष्कारों द्वारा दक्षिण-अफ्रीका को अलग-थलग करना।

2. अफ्रीकी-एकता-संगठन द्वारा दक्षिण-अफ्रीका के विरुद्ध सुनियोजित राजनीतिक तथा कूटनीतिक कार्यवाही करना।

3. दक्षिणी-अफ्रीका, नामीबिया और जिम्बाब्वे (रोडेशिया) के मुक्ति आन्दोलनों का उत्तरोत्तर अधिकाधिक समर्थन करना।

4. दक्षिण-अफ्रीका की समस्या से निपटने के लिए ठोस उपाय सुझाने हेतु एक समिति की स्थापना करना।

पोर्ट लुई सम्मेलन का यह प्रस्ताव भी अपने में काफी महत्त्वपूर्ण था जिसके द्वारा अरब देशों से यह अनुरोध किया गया कि वे दक्षिण-अफ्रीका को तेल देने पर लगे प्रतिबन्ध को और कड़ाई से लागू करें।

शिखर सम्मेलन, जुलाई 1976 (मारिशस)—जुलाई, 1976 के प्रथम सप्ताह में अफ्रीकी-एकता-संगठन में सम्मिलित 48 देशों के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन मारिशस में हुआ। इस शिखर सम्मेलन में घोषणा की गई कि अफ्रीकी महाद्वीप में स्वाधीनता संघर्ष को सशस्त्र सहायता देने के सिवाय कोई और रास्ता नहीं है। फ्रांस और पश्चिम जर्मनी द्वारा दक्षिण अफ्रीका सरकार को परमाणु भिट्टी उपलब्ध कराने की सभी अफ्रीकी शासनाध्यक्षों के द्वारा निन्दा की गई। शिखर सम्मेलन ने इजरायली आक्रामक रवैये की निन्दा करते हुए इस बात पर सहमति व्यक्त की कि एकता संगठन के सदस्य देशों को इजरायल को अलग-थलग करने की कार्यवाहियां तेज कर देनी चाहिए।

अफ्रीकी एकता संगठन के इस शिखर सम्मेलन के निर्णय स्पष्ट तौर पर विदेश-मन्त्री सम्मेलन के प्रस्तावों से प्रभावित थे।

अखिल-अफ्रीकावाद (Pan-Africanism)

अखिल-अफ्रीकी भ्रातृत्व आन्दोलन अथवा अखिल-अफ्रीकावाद (Pan-Africanism) इस महाद्वीप के एकीकरण का एक बहुत प्राचीन आन्दोलन है। इस *आन्दोलन का ध्येय 'संयुक्तराज्य अफ्रीका' की स्थापना है।* सबसे पहले 1900 में लन्दन में पान-अफ्रीकी सम्मेलन हुआ और तब से समय-समय पर ये सम्मेलन होते रहे हैं जिनमें अफ्रीका को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराने सम्बन्धी निर्णय लिए गए हैं। घाना के स्वतन्त्र होने पर अफ्रीका में जब यह सम्मेलन हुआ (इसके पहले यह आन्दोलन अफ्रीका के बाहर ही था।) तो इसके मुख्य उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया गया। ये उद्देश्य संकेत रूप में इस प्रकार है—

1. अफ्रीका के सभी देशों का एक संघ बनाया जाए। क्षेत्रीय आधार पर भी संघ बनाए जा सकते हैं, जैसे—उत्तर-अफ्रीका-संघ, पश्चिमी-अफ्रीका-संघ, केन्द्रीय-अफ्रीका-संघ, दक्षिण-अफ्रीका-संघ आदि।
2. उपनिवेशवाद जातिवाद और रंगभेदवाद का विरोध किया जाए।
3. अहिंसात्मक साधनों और तटस्थ नीति को प्रोत्साहन दिया जाए।

पहले पान-अफ्रीकी सम्मेलनों में अफ्रीकी देशों की स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था। अब अफ्रीका महाद्वीप लगभग स्वतन्त्र हो चुका है, अतः सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य 'अफ्रीकी व्यक्तित्व' की कल्पना को साकार बनाना है किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति कोई आसान काम नहीं है क्योंकि अफ्रीका के देश आपसी फूट के शिकार हैं। इस महाद्वीप में विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों, परम्पराओं और धार्मिक विचारों का पोषण होता है। अफ्रीका के देशों में राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती है, शिक्षा की दृष्टि से अफ्रीका के अधिकांश देश काफी पिछड़े हुए हैं एवं अधिकांश अफ्रीकी राज्यों के नेता उग्र तथा अस्थिर प्रकृति के हैं।

अरब लीग

अरब लीग अरबों की राष्ट्रीय जागृति की प्रतीक है। इसकी स्थापना मिस्र, जोर्डन, लेबनान, सीरिया, सऊदी अरब, ईराक और यमन के बीच 1945 में एक

समझौते के फलस्वरूप हुई। बाद में लीबिया, सूडान, मोरक्को आदि अनेक अरब देश इसमे सम्मिलित हो गए। लीग का मुख्य उद्देश्य अरब-देशों में एकता और सहयोग का प्रसार करना है, अरबों की आपसी फूट के कारण अभी तक इस दिशा मे उत्साहजनक प्रगति नही हो सकी है।

विश्व-राजनीति मे तेल उत्पादक अरब देशो का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ उसके एकमात्र राजनीतिक सगठन के रूप मे अरब लीग का महत्त्व भी काफी बढ गया है। अक्तूबर, 1974 मे अरब लीग के तत्वावधान में अन्य देशों के राष्ट्राध्यक्षों की रबात मे बैठक हुई जिसमे फिलिस्तीनी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को फिलिस्तीनियों के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप मे मान्यता दी गई।

कम्पाला सम्मेलन, जुलाई-अगस्त, 1975

अफ्रीका-एकता-सगठन का 12वाँ सम्मेलन 28 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक उगाण्डा की राजधानी कम्पाला मे हुआ। यह सम्मेलन अफ्रीकी एकता के बीच विद्यमान दरारो को व्यक्त करने वाला सिद्ध हुआ। संगठन के 45 सदस्य देशो मे से उगाण्डा सहित 20 देशो ने ही भाग लिया। अफ्रीकी एकता के दृढ स्तम्भ तांजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्यूरेरे, जाम्बिया के केनेथ काउण्डा, नवस्वाधीन मोजाम्बिक के राष्ट्रपति समोरा माइकेल और बोत्स्वाना के प्रधान मन्त्री सर सेरेत्से खामा जैसे महत्त्वपूर्ण नेता सम्मेलन मे शामिल नही हुए। काफी विवाद के बाद उगाण्डा के राष्ट्रपति ईदीअमीन सम्मेलन के अध्यक्ष बने।

कम्पाला सम्मेलन पारस्परिक फूट और आशंका का शिकार बना रहा। इजरायल के विरोध के सम्बन्ध मे भी सगठन मे एकता न हो पाई। अन्त मे इस आशय का प्रस्ताव पारित किया गया कि इजरायल पर दबाव बढाना चाहिए और यदि वह अरब-भूमि खाली न करे तो अन्ततः उसे सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है। फिलिस्तीनी मुक्ति-मोर्चे को बडा क्षोभ हुआ और उसके नेताओं ने मिस्र पर आरोप लगाया कि इजरायल की सयुक्तराष्ट्र की सदस्यता का मिस्र ने 'असम्मानजनक बचाव' किया है और 'मुट्ठी भर सिनाय' के बदले इजरायल का पक्ष लिया है। सम्मेलन मे दक्षिणी-अफ्रीका और रोडेशिया के प्रश्न पर भी विचार किया गया और कहा गया कि जब तक वहाँ बहुमत का शासन स्थापित न हो जाए, तब तक अफ्रीकी एकता सगठन को वहाँ के राष्ट्रवादियों के स्वाधीनता सघर्ष का समर्थन करते रहना चाहिए। अंगोला मे गृहयुद्ध मे उलझे हुए विभिन्न पक्षो से तुरन्त युद्ध-विराम करने के लिए कहा गया। सम्मेलन मे सगठन सम्बन्धी कई प्रश्नो पर कोई निर्णय नहीं हो सका।

अदिस-अबाबा का विशेष सम्मेलन (जनवरी 1976) और अंगोला में युद्ध

11 नवम्बर, 1975 को पुर्तगाली साम्राज्यवाद से मुक्ति पाते ही अंगोला मे पहले से ही प्रारम्भ गृहयुद्ध मे तीव्रता आ गयी और कुछ ही घण्टो के भीतर तीनो प्रमुख दलों—'अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन' (एम. पी. एल. ए.) अंगोला, राष्ट्रीय

मुक्ति मोर्चा (एफ. एन. एल. ए.) और अंगोला पूर्व स्वाधीनता संघ (यूनिटा) ने अंगोला के विभिन्न भागों में अपनी स्वतन्त्र सरकारों की घोषणा कर दी। महाशक्तियाँ अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए उनकी पीठ पर थी। अनेक अफ्रीकी देशों, पूर्वी यूरोपीय देशों तथा सोवियत संघ के समर्थन के फलस्वरूप अंगोला की राजधानी उगाण्डा स्थित अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार का पलड़ा भारी हो गया। राजधानी में अगस्टीनो नेतो की सरकार को उन सभी अफ्रीकी देशों में मान्यता दे दी गई जो कभी पुर्तगाली शासन में थे। अमेरिका और चीन अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार को समर्थन दे रहे थे।

गृहयुद्ध को रोकने तथा अंगोला में पुनः एकता स्थापित करने के लिए अफ्रीकी एकता संगठन द्वारा 10 जनवरी, 1976 को इथियोपिया की राजधानी अदिस अबाबा में एक विशेष शिखर सम्मेलन बुलाया गया, किन्तु उसमें अन्तिम रूप से समस्या का ऐसा कोई समाधान नहीं ढूंढा जा सका जो सभी पक्षों को मान्य हो। बैठक के दो प्रमुख उद्देश्य थे—गृहयुद्ध और विदेशी हस्तक्षेप से अंगोला की रक्षा, एवं अंगोला में विभिन्न मुक्ति आन्दोलनों द्वारा स्थापित सरकारों में से किसी एक सरकार को मान्यता। 46 अफ्रीकी राष्ट्रों में से 22 देश अगस्टीनो नेता की सरकार को मान्यता दे चुके थे जबकि 22 अन्य देशों का मत था कि तुरन्त युद्ध-विराम करके विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त तीनों दलों की एक राष्ट्रीय एकता सरकार स्थापित की जाए और शेष दो देशों (इथियोपिया तथा उगाण्डा) लगभग तटस्थ थे। बुनियादी मतभेदों के कारण सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं लिया जा सका और समस्या पर छः महीने बाद पुनः विचार करने का निश्चय किया गया। अगस्टीनो नेतो के नेतृत्व में अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार की स्थिति निरन्तर सुदृढ़ होती रही और फरवरी, 1976 में उगाण्डा में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ उसका उद्घाटन राष्ट्रपति अगस्टीनो नेतो ने ही किया। उन्होंने घोषणा की कि हमारा संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक अंगोला पूर्ण स्वाधीन और एक नहीं हो जाता।

एशियान शिखर सम्मेलन (फरवरी 1976)

इण्डोनेशिया के बाली द्वीप में 23-24 फरवरी, 1976 को दक्षिण पूर्वेशियायी राष्ट्रों के संघ (एशियान) का पहला शिखर सम्मेलन हुआ। इसका उद्घाटन इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुहर्त ने किया। पाँच देशों—इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, थाईदेश और फिलीपीन में, यद्यपि कई तरह के विवाद विद्यमान थे, लेकिन बातचीत मैत्री और सहयोगपूर्ण वातावरण में हुई। एशियान का गठन नौ साल पहले हुआ था। इस नौ साल के समय में इन देशों के सम्मेलन तो होते रहे, लेकिन कभी सहमति का अवसर शायद ही आया हो। राष्ट्रपति सुहर्त ने इस बात पर जोर दिया कि हमें राष्ट्रीय और क्षेत्रीय एकता को मजबूत करना चाहिए। साथ ही उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि हमारा उद्देश्य सैनिक गुट की स्थापना नहीं है तथापि हम लोग यह जरूर चाहते हैं कि हमारी क्षेत्रीय अखण्डता बनी रहे ताकि हम लोग किसी भी तरह के आर्थिक खतरे का मुकाबला शान्ति और दृढ़तापूर्वक कर

सकें। इस सम्मेलन की सबसे बडी उपलब्धि एक संयुक्त सन्धि थी जिसका उद्देश्य परस्पर सहयोग और मैत्री को बढावा देना था। आर्थिक क्षेत्रो मे दो कार्यक्रम स्वीकार किए गए—पैट्रो रसायन, इस्पात, रबड़, पोटाश और टिन प्लेट मे बड़े पैमाने पर संयुक्त औद्योगिक सयन्त्रो की स्थापना और व्यापार मे एशियान देशों को प्राथमिकता देना। यह कहा गया कि एशियान देशो को एक-दूसरे की स्वाधीनता, प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करना चाहिए।

एशियान सम्मेलन, अगस्त 1977

अगस्त 1977 मे क्वालालम्पुर मे एशियान देशो का शिखर सम्मेलन हिन्दचीन देशो के साथ और अधिक सद्भाव तथा सहयोग बढाने की अपील के साथ समाप्त हुआ। सम्मेलन में दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशो की हालांकि कटु आलोचना की गयी, तथापि अन्तत. एशियान शिखर सम्मेलन मे भाग लेने वाले देशो के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत थे कि दक्षिणपूर्वी एशियाई देशो के साथ अधिकाधिक सहयोग समूचे एशियाई क्षेत्रो के हित मे है। कहा गया कि पारस्परिक हितों की रक्षा तथा शान्ति के लिए एशियान क्षेत्र के देशो के बीच सहयोग बहुत आवश्यक है। सम्मेलन में भाग लेने वाले पाँच देशो ने अपना संकल्प दोहराया कि हम समूचे दक्षिण-पूर्व एशिया को शान्ति, स्वतन्त्रता और स्थिरता का एक क्षेत्र बनायेंगे। आर्थिक सहयोग के बारे मे सम्मेलन किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका। सम्मेलन मे इस बात पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गयी कि विकासशील देशों मे संरक्षण प्राप्त करने की भावना बढ रही है, जो इन देशों के लोगो के लिए हितकर नही है। विकासशील देशो से अनुरोध किया गया कि वे संरक्षण प्राप्त करने की भावना का जल्दी से जल्दी त्याग करें और आत्मनिर्भरता के अपने प्रयत्न जारी रखें।

अफ्रीकी एकता संगठन का 15वाँ अधिवेशन, जुलाई 1978

जुलाई 1978 मे खारतूम मे अफ्रीकी एकता सगठन का 15वाँ अधिवेशन हुआ जिसमे यह स्पष्ट हो गया कि सदस्य राष्ट्रो मे किसी भी समस्या पर मतैक्य नही था तथापि इस बारे मे सभी सदस्य राष्ट्र सहमत प्रतीत हुए कि अफ्रीका मे विदेशी हस्तक्षेप को हतोत्साहित किया जाना चाहिए, अन्यथा अफ्रीका शक्तियों का युद्ध क्षेत्र बन जाएगा। इस सहमति के बावजूद यह विचित्र बात थी कि अधिवेशन मे सदस्य देशों को यह छूट दे दी गयी कि वे अपनी इच्छानुसार विदेशों से सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता प्राप्त कर सकते हैं। अधिवेशन का यह निर्णय अप्रत्यक्ष रूप मे विदेशी हस्तक्षेप के मार्ग को प्रशस्त करने वाला ही कहा जाएगा।

सम्मेलन मे मतभेद खुलकर सामने आए। अफ्रीकी देशो मे विदेशी सैनिकों की उपस्थिति का प्रश्न रहा हो अथवा रोडेशिया की मुक्ति का या कोमोरो द्वीप समूह की सगठन की सदस्यता का, सभी प्रश्नो पर सगठन को अलग-अलग धड़ो मे बँटा पाया गया। सगठन के सदस्य साम्यवाद समर्थक देशों को यदि जेयरे में फ्रांसीसी सेना की उपस्थिति पर आपत्ति हुई तो जेयरे ने अंगोला आदि मे क्यूबाई और रूसी सैनिकों की उपस्थिति पर अपनी-अपनी आपत्ति दर्ज कराई। कुछ सदस्य देशों

ने रोडेशिया में स्मिथ-सियोले मुजोरेवा की संक्रान्तिकालीन सरकार का समर्थन किया तो दूसरों ने एन्ड्रोमा मुगाबे के राष्ट्रवादी मोर्चे का साथ दिया। ऐसे ही मतभेद के कारण कोमोरो के प्रतिनिधि मण्डल को बैरंग स्वदेश लौटना पड़ा क्योंकि बहुमत ऐसी सरकार को प्रतिनिधित्व देने के विरुद्ध था जिसकी स्थापना में भाड़े के गोरे सैनिकों का हाथ रहा हो।

इन सब आपसी मतभेदों का परिणाम यह हुआ कि अधिवेशन बिना किसी ठोस उपलब्धि के समाप्त हो गया। यह अवश्य है कि गुट-निरपेक्षता के बारे में सभी सदस्यों ने सहमति प्रकट की और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को सुदृढ़ करने पर जोर दिया। सभी का यह मत था कि इससे अफ्रीका की स्वाधीनता, स्थिरता और सम्पन्नता को बनाए रखने के अफ्रीकी एकता संगठन के प्रयासों को सीधा समर्थन मिलेगा। अफ्रीका में विदेशी हस्तक्षेप का विरोध किया गया। यह माना कि यदि *यह हस्तक्षेप बना रहा तो अफ्रीका बड़ी शक्तियों का युद्धक्षेत्र बन जाएगा।*

दक्षिण अफ्रीका की मुक्ति और रंगभेद की नीति के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय दिल्ली सम्मेलन (अक्टूबर 1978)

दक्षिण अफ्रीका की मुक्ति और रंगभेद की नीति के विरुद्ध नई दिल्ली में आयोजित सम्मेलन (28 सितम्बर से 2 अक्टूबर 1978) एक महत्वपूर्ण सम्मेलन रहा। *अपनी किस्म के इस विश्व पर इतने बड़े पहले सम्मेलन में 80 देशों के* प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जिस तरह की एकता और नयी शक्ति में बढ़ती हुए साम्राज्यवाद से उत्पन्न खतरे के प्रति आवाज बुलन्द की गयी, उससे निःसन्देह आन्दोलनों के समर्थकों को बल मिला। एक से अधिक बार जब यह कहा गया कि अब अधिक समय तक काले-गोरों के अधीन नहीं रहेंगे, उनका दमनचक्र अधिक दिनों तक नहीं चल पाएगा तो इस तरह की भावनाओं का सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने समर्थन किया। वक्ताओं ने चीन और वियतनाम तथा चीन और सोवियत सघ के सम्बन्धों पर विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए चीन की विस्तारवादी नीतियों की आलोचना की। चीन के इस अलगाव में यदि किसी देश का उसे समर्थन मिला तो वह था रोमानिया। इस सम्मेलन में हर वक्ता ने बढ़ते हुए साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खतरे के प्रति आगाह करते हुए कहा कि बहुराष्ट्रीय निगमों का फैलाव नई तरह के साम्राज्यवाद का प्रतीक है।

सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए भारत के राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी ने ने कहा कि शान्ति, स्वतन्त्रता और मानवीय गरिमा के प्रति सम्मान की भावना को विकसित करना आज सारी मानवता के लिए आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की बहुत जरूरत है जो तभी सम्भव है जब अस्त्रों की दौड़ को समाप्त किया जाए। राष्ट्रपति ने रंगभेद और नस्लवाद की भावना को मानवता के विरुद्ध अपराध तथा सार्वभौमिक शान्ति के लिए खतरा बताया। प्रमुख नेताओं ने यह मत व्यक्त किया कि आज हर व्यक्ति साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ सोचने लगा है। नामीबिया के बारे में आत्म-निर्णय की माँग की गयी।

सम्मेलन में विभिन्न प्रस्ताव पारित किए गए। कुछ प्रस्ताव इस प्रकार हैं—संयुक्त राष्ट्र को भेजे गए एक सन्देश मे कहा गया है कि जिस प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभाव बढ रहा है उससे एक नये प्रकार का शीतयुद्ध जिसे 'नवशीतयुद्ध' का नाम दिया गया है, विश्वव्यापी हो रहा है। झूठ और बेबुनियादी धारणाओं पर आधारित प्रचारसाधन जोर पकड़ते जा रहे हैं। ये साम्राज्यवादी देश बड़े पैमाने पर अस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं जो मानव-जाति के लिए खतरा साबित हो सकते हैं नाटो देश इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इस समय परमाणु प्रदाय और सैनिकीकरण का जो भूत दक्षिण अफ्रीका की अल्पमत सरकार पर चढा हुआ है उससे अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय मूल्यों का हनन होगा। यदि अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, इजरायल, ईरान और जापान इन अल्पमत सरकारों, दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया का समर्थन न करें तो ये कभी भी चरमरा सकती हैं। एक अन्य प्रस्ताव मे अंगोला, बोत्स्वाना, मोजाम्बिक, तांजानिया और जाम्बिया के प्रति जिम्बाब्वे और नामीबिया के मुक्ति आन्दोलन का समर्थन करने के लिए आभार व्यक्त किया गया।

इस्लामी सम्मेलन (फरवरी 1980)

इस्लामाबाद (पाकिस्तान) मे इस्लामी देशों से फरवरी 1980 के विदेश-मन्त्री सम्मेलन मे आम तौर पर दो बातों के बारे मे पूर्ण सहमति पायी गयी। एक तो इस्लामी देशों की कोई सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए और दूसरे पूर्व यूरोप हो अथवा पश्चिम, सभी से मुसलमानो के हितो की रक्षा का कोई सामूहिक प्रबन्ध होना चाहिए। अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप के फलस्वरूप इस्लामी देशों के विदेश मन्त्रियों का यह सम्मेलन बहुत जल्दी बुलाया गया था।

सम्मेलन का उद्‌घाटन करते हुए जनरल जिया उल हक ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण इस्लामी दुनिया के लिए जबर्दस्त खतरा है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यह पहला अवसर है कि जब किसी महाशक्ति ने प्रभुसत्तासम्पन्न एक स्वतन्त्र मुस्लिम देश पर हमला बोल दिया है। यदि छोटे देशों के विरुद्ध बड़े देशों की इसी प्रकार की जोर जबर्दस्ती को वक्त रहते नही रोका गया तो किसी देश का स्वतन्त्र रहना ही मुश्किल हो जाएगा। इन हालात का मुकाबला करने के लिए इस्लामी देशों को एक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की बात सोचनी चाहिए। *भाषण के दौरान जनरल जिया ने इस्लामी देशों की सम्भावित भावी* नीतियों का स्पष्ट संकेत दे दिया। उन्होंने कहा कि सोवियत संघ तक इस सम्मेलन की यह आवाज पहुँच जानी चाहिए कि अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की मौजूदगी को हम बहुत गम्भीर मामला समझ रहे हैं और इस प्रकार के सैनिक हस्तक्षेप को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। पाकिस्तानी राष्ट्रपति ने काफी लम्बे भाषण के बाद एक के बाद एकइस्लामी देशों के एक विदेशमन्त्री मंच पर आते रहे और कड़े शब्दों में अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप की निन्दा करते रहे।

सम्मेलन मे शुरू के दिन जिया उल हक ने कश्मीर का भी उल्लेख किया। उनका कहना था कि फिलीस्तानियों और कश्मीरियों को उनके अधिकार दिलाने का

मसला भी पाकिस्तान के सामने है। इस उल्लेख पर इस्लामाबाद स्थित भारतीय राजदूत श्री बाजपेयी सम्मेलन से उठ कर चले गए। कुल मिलाकर 43 इस्लामी देशो के विदेशमन्त्रियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इस्लामाबाद स्थित कुछ देशो के राजदूत प्रेक्षक के रूप में श्रामन्त्रित थे। सोवियत संघ और वारसाउ सन्धि के अन्य देशों ने सम्मेलन का बहिष्कार किया।

तीन दिन के इस सम्मेलन में विभिन्न इस्लामी देश के विदेश मन्त्रियों ने इस्लामी देशों की एकता के बारे में अपने सुझाव रखे, लेकिन सऊदी अरब के विदेश मन्त्री ने स्पष्ट रूप से कुछ बातें सामने रखी। सऊदी अरब ने एक दस सूत्री कार्यक्रम भी पेश किया जिसके आधार पर सम्मेलन ने अपना प्रस्ताव तैयार किया था। प्रस्ताव के मसविदे को खाड़ी के देशों का समर्थन पहले ही मिल चुका था। प्रस्ताव में माँग की गयी कि—

(i) अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक आक्रमण की निन्दा की जाए, क्योंकि *यह सब अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के खिलाफ है।*

(ii) एक मुस्लिम देश पर बड़ी शक्ति का आक्रमण और उसके घरेलू मामले मे हस्तक्षेप इस्लामी देशों की दृष्टि मे बहुत गम्भीर मामला है।

(iii) दुनिया के सभी राष्ट्र अफगानिस्तान से तुरन्त बिना शर्त सोवियत संघ और अपने प्रभाव से काम लेकर अफगानिस्तान को सोवियत सघ से खाली करायें।

(iv) गैरकानूनी काबुल सरकार को कोई मान्यता न दे। उनके सारे निर्णय अवैध माना जाये।

(v) इस्लामी सम्मेलन से अफगानिस्तान को बाहर कर दिया जाए।

(vi) काबुल के सारे राजनयिक सम्बन्ध समाप्त कर दिये जायें।

(vii) अफगानी जनता को नैतिक समर्थन पूरी तरह दिया जाए और स्वाधीनता के लिए संघर्ष मे उनकी सहायता की जाए।

(viii) अफगानिस्तान से सभी तरह का व्यापार समाप्त कर दिया जाए।

(ix) अफगानिस्तान की जनता मदद के लिए एक बड़ा अरब कोष स्थापित किया जाए।

(x) इन मांगो को पूरा कराने का काम इस्लामी सम्मेलन के सचिव को सौंपा जाए।

इन सब बातों को मिलाकर सम्मेलन ने अपनी समाप्ति पर व्यापक प्रस्ताव पास किया। एक ओर सभी इस्लामी देशों की सामूहिक व्यवस्था का सुझाव दिया वहाँ दूसरी ओर सभी मुस्लिम देशो ने यह महसूस किया कि इस्लामी देशों पर सोवियत संघ के बढते हुए प्रभाव को कम करने के लिए भी प्रयत्न किये जाने चाहिए।

अन्य सम्मेलन

अफ्रेशियायी जागरण और एकता को सुदृढ़ करने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुए—बेलग्रेड सम्मेलन (1961), काहिरा सम्मेलन (1964), नई दिल्ली सम्मेलन (1966), लुसाका सम्मेलन (1970), जार्ज टाउन सम्मेलन (1972), अल्जीरिया सम्मेलन (1973), अल्जीरिया सम्मेलन (1974), हवाना सम्मेलन (1975)। ये सभी सम्मेलन गुट-निरपेक्षता के पक्षधर थे और इनका विस्तृत विवेचन गुट-निरपेक्षता सम्बन्धी अध्याय में किया गया है।

अफ्रेशियायी एकता को हानि पहुँचाने वाले कुछ सम्मेलन

एशिया और अफ्रीका के कुछ ऐसे सम्मेलन भी हुए हैं जिनमें अफ्रेशियायी एकता को लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानि अधिक हुई है और आपसी फूट को प्रोत्साहन मिला है। इन सम्मेलनों पर भी एक दृष्टि डालना उपयुक्त होगा।

जद्दा सम्मेलन, 1972

मार्च, 1972 में 31 एशियायी इस्लामी विदेश-मन्त्रियों का यह पाँच दिवसीय सम्मेलन सऊदी-अरब की राजधानी जद्दा में हुआ। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध जहर उगला, लेकिन उसे निराश होना पड़ा। पाकिस्तान ने माँग की कि सम्मेलन की विज्ञप्ति में बंगलादेश का उल्लेख न कर 'एक पाकिस्तान' की बात कही जाए, लेकिन सऊदी अरब के शाह फैजल (जिनकी मार्च, 1975 में हत्या कर दी गई) ने साफ कह दिया कि बंगलादेश एक 'वास्तविकता' है और इसके सन्दर्भ में ही बात की जानी चाहिए। सम्मेलन में बंगलादेश को मान्यता देने की बात भी उठी, किन्तु लीबिया, जोर्डन, इण्डोनेशिया और मलयेशिया ने इसका विरोध किया। वास्तव में यह एक खेदजनक बात थी कि इस्लामी सम्मेलन में बंगलादेश के मुसलमानों के हितों की उपेक्षा की गई। इस्लामी देशों ने बंगलादेश के अपने ही जाति भाइयों को 'काफिर' समझा और पाकिस्तान के अत्याचारों पर कोई टिप्पणी नहीं की। भारत-रूसी दोस्ती के सम्बन्ध में भी पाकिस्तानी प्रतिनिधि तथा कुछ अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया।

इस्लामी सम्मेलन का एक उद्देश्य एक नए गुट का निर्माण भी था ताकि समय-समय पर इस गुट के सदस्य मिलकर आपसी हितों पर विचार कर सकें। सम्मेलन में इस बात को मुस्लिम हितों के विरुद्ध बताया गया कि मुस्लिम जगत् में यहूदियों और साम्यवादियों का प्रवेश हो। इस सम्मेलन में यमन और ईराक शामिल नहीं हुए।

कुल मिलाकर यह सम्मेलन एशियायी एकता में दरारें डालने वाला सिद्ध हुआ। स्वयं मुस्लिम देशों के हितों को भी सम्मेलन की कार्यवाही से हानि अधिक पहुँची, लाभ कम हुआ।

इस्लामी शिखर-सम्मेलन, 1974

पाकिस्तान में लाहौर में 22 फरवरी से 24 फरवरी, 1974 तक एक इस्लामी शिखर सम्मेलन हुआ। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री जुल्फिकार अली भुट्टो

ने अध्यक्षता की। सम्मेलन में 36 मुस्लिम देशों के प्रतिनिधिमण्डल शामिल हुए। इस सम्मेलन को यद्यपि 'अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी राज्य सम्मेलन' का नाम दिया गया, लेकिन न तो इसका स्वरूप ही अन्तर्राष्ट्रीय था और न इसमें शामिल होने वाले सभी राज्य इस्लामी थे। टर्की, इण्डोनेशिया आदि देशों को भी इसमें आमन्त्रित किया गया था जिन्होंने स्वयं को विधिवत् इस्लामी राज्य घोषित नहीं किया है। यदि सम्मेलन का उद्देश्य धार्मिक था तो भारत सहित उन देशों को आमन्त्रित क्यों नहीं किया गया जहाँ बड़ी संख्या में मुसलमान रहते हैं ? अफ्रीका महाद्वीप में अनेक राज्यों में मुसलमान बड़ी संख्या में रहते हैं, किन्तु लाहौर के इस सम्मेलन में केवल 13 अफ्रीकी देश ही सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार यह सम्मेलन अफ्रीका-महाद्वीप के भी सभी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं करता था।

वास्तव में लाहौर के इस्लामी सम्मेलन का स्वरूप राजनीतिक अधिक था। पाकिस्तान नहीं चाहता था कि सम्मेलन में भारत अपने यहाँ के सात करोड़ मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करे। उसे भय था कि ऐसा होने पर इस्लामी राज्यों का मुखिया बनने का उसका स्वप्न पूरा नहीं हो पाएगा। पाकिस्तान का रवैया ऐसा था कि मानों मुस्लिम देशों का अस्तित्व पाकिस्तान के अस्तित्व के साथ जुड़ा हो।

सम्मेलन में जो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए और जो सुझाव दिए गए, वे संकेत रूप में इस प्रकार थे—(i) दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए—एक में यरूशलम से इजरायली सैनिकों की तुरन्त वापसी की माँग की गई; दूसरे में कहा गया कि इस्लामी देश फिलिस्तीनियों के वैध स्थान दिलाने की कोशिश करते हुए इजरायल द्वारा हथियाए गए इलाकों की वापसी के लिए मिस्र, सीरिया तथा जोर्डन की पूरी सहायता करें। (ii) पश्चिमी एशिया तथा तेल आदि विषयों पर भी प्रतिनिधियों ने अपने विचार व्यक्त किए। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादत और अल्जीरिया के राष्ट्रपति बूमेंदीएन का यह सुझाव महत्त्वपूर्ण था कि इस्लामी सम्मेलन को तेल-विहीन विकासशील देशों के लिए सहायता की रकम निर्धारित कर देनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि तेल के वर्तमान भावों में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। (iii) लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी ने एक तीन स्तरीय पद्धति का सुझाव दिया—औद्योगिक राष्ट्र वर्तमान भावों से तेल खरीदें, जबकि तीसरी दुनिया और इस्लामी देशों को उनके आकार और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार रियायती मूल्य पर तेल दिया जाए। (iv) उगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन ने सुझाव दिया कि ईराक और ईरान में सामान्य सम्बन्ध कायम करने के लिए इस्लामी देशों का एक सद्भावना आयोग दोनों देशों में भेजा जाए। (v) ईदी अमीन ने मुस्लिम देशों से यह भी अनुरोध किया कि वे इजरायल, रोडेशिया और दक्षिण-अफ्रीका के विमानों को अपने हवाई अड्डों पर उतरने की आज्ञा न दें।

लाहौर के इस्लामी शिखर-सम्मेलन से तीन बातें अच्छी तरह स्पष्ट हो गईं—(1) पाकिस्तान का भारत-विरोधी रवैया और भारतीय मुसलमानों को 'काफिर' समझना, (2) मुस्लिम देशों की आपसी फूट और एशिया तथा अफ्रीका के

अनेक मुस्लिम देशों का इस्लामी सम्मेलन मे भाग न लेना, एवं (3) अनेक राष्ट्रों का आचरण जो कि अफ्रेशियायी एकता में दरारें डालने वाला था।

इस्लामी सम्मेलन (जनवरी, 1981)

सऊदी अरब की ग्रीष्मकालीन राजधानी तैफ में तीसरा इस्लामी सम्मेलन चार दिन तक खुले और गोपनीय अधिवेशनों के बाद 28 जनवरी, 1981 को सम्पन्न हुआ। अन्ततः पारित प्रस्ताव बहुत कुछ वही थे जिनकी चर्चा पहले से थी—मसलन, यरूशलम को अरब सम्भाग को इजरायली कब्जे से मुक्त कराना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इजराइल का आर्थिक बहिष्कार, अफगानिस्तान से विदेशी सैनिकों की वापसी और मुस्लिम देशों को आर्थिक उन्नति के लिए एक सहायता कोष की स्थापना। ईराक-ईरान संघर्ष, जो कि एक तरह से घरेलू मामला था, उसके लिए सिरदर्द ही बना रहा।

दरअसल, सऊदी अरब और पाकिस्तान जैसे देशों का नेक इरादा है कि धार्मिक आधार पर मुस्लिम देशो को एकजुट करके एक इस्लामी गुट बनाया जाए। पाकिस्तान का तर्क है कि यदि फारस की खाडी के देश सुरक्षा के लिए महती शक्तियों के पास अपने को गिरवी रखने से बचे रह सकें तो इस क्षेत्र के देश अपनी सुरक्षा की व्यवस्था स्वय कर सकते हैं। यह बात अन्य देशो के मन मे रही हो, तो भी वे इसे बहुत सीमित अभिव्यक्ति दे पाये—केवल इतना कहा जा सका कि मुस्लिम देश किसी भी गुट मे शामिल न हो, यानी गुट-निरपेक्ष देशो का अनुसरण करें क्योंकि मुस्लिम देशो की बिरादरी मे मतभेद बहुत है और मिस्र को कैम्प डेविड समझौते के कारण बहिष्कृत करने की तैयारी थी इसलिए मिस्र के तत्कालीन राष्ट्रपति सादात के तैफ आने का सवाल ही नहीं था। ईरान के नेता ईराक की शिरकत के कारण नही आए। सामन्ती विचारधारा के विरोधी दक्षिण यमन और सोवियत समर्थक सीरिया ने अफगान सम्बन्धी प्रस्ताव को अपनी सहमति नही दी। सऊदी अरब को ईराक की 'उग्र प्रगतिशीलता' और अरबो का नेतृत्व करने की महत्त्वाकांक्षा फूटी आँखो भी नही सुहाती। लीबिया द्वारा चैड के विलय की कोशिश के व्यापक विरोध के कारण गद्दाफी ने सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया इसलिए केवल उन्ही मसलों पर प्रस्ताव पारित किए गए जिन पर अधिकांश या सब देश सहमत हो सकते थे। इनकी भाषा मे गरमजोशी तो थी मगर दुश्चक्र में फँसे तीसरी दुनिया के अन्य देशों के स्वर की तरह खोखलापन भी था।

इस्लामी सम्मेलन के आयोजकों ने ध्यान रखा कि उनके एकता प्रयासों को गलत न समझा जाए। इसलिए इन देशो के विदेश मन्त्रियों का कहना था कि हमारे एकता के प्रयास से गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को, जो इस्लामी बिरादरी से भी अधिक विभाजित है, सहायता मिलेगी।

सम्मेलन के बाद प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति मे अरबी यरूशलम को मुक्त कराने के लिए एक योजना का उल्लेख था। यह तय पाया गया कि मुस्लिम देश इजरायल की अर्थ-रचना को कमजोर करने के लिए अपने आर्थिक और प्राकृतिक

साधनों का हथियार की शक्ल में इस्तेमाल करेंगे। ये देश यह भी कोशिश करेंगे कि यरूशलम का अरब सम्भाग ही नहीं, सभी अधिकृत क्षेत्र इजरायल के कब्जे से मुक्त हों और अन्तर्राष्ट्रीय माहौल ऐसा बने जो फिलीस्तीनियों और फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे के अनुकूल हो। इस सन्दर्भ में 'जेहाद' शब्द का इस्तेमाल किया गया, लेकिन यहाँ तात्पर्य संघर्ष से था। इस्लामी शिखर सम्मेलन ने संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् का 242वाँ प्रस्ताव यह कहकर रद्द कर दिया कि वह फिलीस्तीनी अरबों के अधिकारों के विरुद्ध है, यद्यपि अभी तक इसे समाधान का बुनियादी आधार माना जाता था। इस प्रस्ताव का आग्रह था कि इजरायल अरबों के अधिकृत क्षेत्र खाली कर दे और पश्चिमेशिया के हर देश को सरक्षणीय सीमा पर काबिज रहने का पूरा अधिकार हो। दूसरा मुख्य प्रस्ताव अफगानिस्तान सम्बन्धी था। अफगानियों के आत्मनिर्णय का अधिकार स्वीकारते हुए शिखर सम्मेलन ने विदेशी सेनाओं की वापसी की माँग की और कहा कि इस समस्या का राजनीतिक समाधान खोजा जाना चाहिए। अफगानिस्तान सम्बन्धी तदर्थ समिति में सगठन के प्रतिनिधि के अलावा गिनी, ईरान, पाकिस्तान और ट्यूनीसिया के प्रतिनिधि हैं। समिति ने सयुक्त राष्ट्र के महासचिव कुर्त वाल्दहीम से समस्या का युक्तिसगत समाधान निकालनेका अनुरोध किया।

फिलीस्तीनियों और अफगानिस्तान की समस्याएँ प्रत्यक्ष रूप से अमेरिका और सोवियत सघ के बीच प्रभाव क्षेत्र की लड़ाई से ताल्लुक रखती है, बल्कि उन्ही के दिए हुए उपहार हैं। इन पर प्रस्ताव पास करना जितना आसान है, उतना ही मुश्किल है उन्हें लागू करना या कुछ कर गुजरना।

सम्मेलन द्वारा स्थापित इस्लामी विकास कोष की, जिसकी आरम्भिक पूँजी 3 अरब डॉलर (24 अरब रु) होगी, सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि वह अपने साधनों का इस्तेमाल कैसे करता है। एक-तिहाई रकम सऊदी अरब ने देने का वायदा किया और अरब अमीरात भी कुछ धनराशि देने को राजी हो गया। यह धनराशि सदस्य देशो का व्यापार बढ़ाने और जहाजरानी कम्पनियो के साधनो का माझी जखीरा बनाने पर भी खर्च की जाएगी।

अल्जीरिया का स्वाधीनता-संग्राम

अफ्रीका महाद्वीप मे अल्जीरिया ने फ्रांस के विरुद्ध जो लम्बा स्वाधीनता-सग्राम लड़ा वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि—(1) अफ्रीका मे यूरोपीय साम्राज्यवाद का सबसे निरकुश और दर्दनाक रूप अल्जीरिया में देखने को मिला, (2) अल्जीरिया का सघर्ष दुनिया के दूसरे देशों के स्वाधीनता-सग्रामो के लिए एक प्रकाश बन गया, एव (3) इस सग्राम ने पुनः इस बात की पुष्टि कर दी कि श्वेत जातियो से टक्कर लेकर उन्हे नाको चने चबवाए जा सकते हैं।

अल्जीरिया पर फ्रांस का अधिकार सन् 1830 मे स्थापित हुआ था। फ्रांसीसियों ने यहाँ बसकर अल्जीरिया का हर प्रकार से शोषण किया। अल्जीरिया-वासियों के प्रत्येक विरोध का फ्रांस सदैव कठोरतापूर्वक दमन करता रहा। उन्हे

शान्त करने के लिए कालान्तर में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा में उनको प्रतिनिधित्व का अधिकार भी दिया गया, लेकिन अल्जीरियावासी इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। 1 जुलाई, 1951 को उन्होंने एक राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण किया जो 'राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चा' (Front of National Liberation--F N L) के नाम से विख्यात हुआ। मोर्चे ने 1 नवम्बर, 1954 से स्वाधीनता-संघर्ष छेड़ दिया जो लगभग 7 वर्ष तक चला। इस युद्ध में लगभग 4,00,000 व्यक्ति मारे गए। इनमें से लगभग 2,00,000 असैनिक अल्जीरियायी मुसलमान, 1,60,000 स्वतन्त्र अल्जीरियायी सरकार के सैनिक, 18,000 फ्रांसीसी सैनिक तथा 2,000 गोरे अल्जीरियायी निवासी थे। अल्जीरियायी राष्ट्रवादी इस संख्या को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि फ्रांसीसी सेनाओं ने कम से कम दस लाख अल्जीरियायी मौत के घाट उतार दिए। युद्ध-बन्दी के सभी प्रयास व्यर्थ हो गए। फ्रांस के दुराग्रही रुख के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी युद्ध-विराम के लिए कुछ नहीं किया जा सका। जून, 1958 में जनरल डिगॉल विस्तृत अधिकारों सहित फ्रांसीसी गणराज्य के राष्ट्रपति बने। उन्होंने फ्रांस की जनता को यह वचन दिया कि वे अल्जीरिया की समस्या को शीघ्र ही निपटा देंगे।

सितम्बर, 1959 में फरहत अब्बास के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे ने काहिरा में एक समानान्तर सरकार की स्थापना की जिसे चीन द्वारा मान्यता भी प्रदान कर दी गई। परिस्थितियों से बाध्य होकर 4 नवम्बर, 1960 को जनरल डिगॉल ने अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने की घोषणा की। उन्होंने 'अल्जीरिया, अल्जीरिया वालों के लिए' के प्रश्न पर जनमत कराने का प्रस्ताव रखा, किन्तु फरहत अब्बास ने इस प्रस्ताव को ठुकरा कर अपने अनुयायियों को मतदान में भाग न लेने का आदेश दिया। फिर भी 8 जनवरी, 1961 को जनमत-संग्रह हुआ और फ्रांस तथा अल्जीरिया दोनों में विशाल बहुमत ने डिगॉल की अल्जीरिया सम्बन्धी नीति का समर्थन किया। 27 मार्च, 1961 को फ्रांस और अल्जीरिया द्वारा शान्ति-वार्ता में भाग लेने की सहमति की घोषणा की गई किन्तु अगले ही माह अप्रेल, 1961 में इस आगामी शान्ति-वार्ता के विरुद्ध जनरल सालाँ और अन्य जनरलों के नेतृत्व में फ्रांसीसी सैनिकों ने अल्जीरिया में विद्रोह कर दिया। डिगॉल ने विद्रोहियों के खिलाफ तेजी से कठोर कदम उठाए। जनरल सालाँ गायब हो गया और उसने एक गुप्त संगठन (OAS) की स्थापना कर ली।

20 मई, 1961 को फ्रांस और अल्जीरिया में शान्ति-वार्ता प्रारम्भ हुई, किन्तु तुरन्त ही भंग हो गई। शान्ति-वार्ता की आँख-मिचौनी चलती रही। जनवरी, 1962 में ओ ए एस. आतंकवादियों ने अल्जीरिया भर में मुसलमानों पर आक्रमण किया, मुसलमानों ने भी जवाबी हमले किए और दोनों पक्षों के सैंकड़ों व्यक्ति मारे गए। फरवरी, 1962 में शान्ति-वार्ता में प्रगति हुई और अन्त में 18 मार्च, 1962 को युद्धबन्दी के बाद दोनों पक्षों (अल्जीरिया और फ्रांस) के बीच समझौते की घोषणा की गई। जुलाई, 1962 को अल्जीरिया स्वतन्त्र हो गया और

इस तरह एक महान् स्वतन्त्रता-संग्राम का अन्त हुआ। 20 सितम्बर, 1962 को अल्जीरिया के एकदलीय चुनावों में बेनबेला गुट की विजय हुई। विरोधी गुट बेनखेदा का था। स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई कि गृह-युद्ध की आशंका होने लगी, लेकिन अन्त में दोनों नेताओं में समझौता हो गया।

रूस की अफ्रीकी नीति

अफ्रीका में पश्चिमी यूरोप और पूर्व यूरोपीय देशों के हस्तक्षेप के आरोप अफ्रीकी एशियायी देशों के पत्र ही नहीं बल्कि पश्चिम और पूर्व यूरोपीय देशों के पत्र भी एक दूसरे पर लगा रहे हैं। सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के प्रमुख समाचार पत्र एक दूसरे पर अफ्रीका के आन्तरिक मामलों में दखल देने का आरोप पिछले काफी समय से लगाते रहे हैं। लेकिन इधर अब से अफ्रीकी देशों की आपसी लड़ाइयाँ और जोर पकड़ गई हैं इन देशों के आरोप-प्रत्यारोप भी व्यापक रूप से रहे हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाचारपत्र लमान्द ने 1978 के एक सम्पादकीय लेख में सोवियत संघ की अफ्रीकी नीति की जो विवेचना की है वह आज के सन्दर्भ में भी महत्त्वपूर्ण है।

कुछ दिनों से सोवियत संघ ने पश्चिमी देशों पर अफ्रीका के आन्तरिक मामलों, विशेषकर जेयरे, में फ्रांस के हस्तक्षेप का प्रचार तेज कर दिया। वैसे तो सोवियत संघ का यह प्रचार बहुत समय से है लेकिन अब सोवियत संघ यह प्रचार शायद इसलिए और भी जोरों से कर रहा है कि अफ्रीका में उसकी मौजूदगी की तरफ दुनिया का ध्यान न जाए।

सोवियत संघ का दावा है कि अफ्रीकी देशों के आन्तरिक मामलों में सोवियत संघ और क्यूबा का हस्तक्षेप आज बिलकुल स्पष्ट है लेकिन यह बात सोवित संघ पर अधिक लागू हो रही है। अफ्रीका के प्रति सोवियत संघ की नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। पहले अफ्रीकी देशों में स्वाधीनता संघर्ष को सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त था लेकिन अब अफ्रीकी देशों की जनता अपने ही सरकारों के विरुद्ध आर्थिक स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष कर रही है उसमें सोवियत संघ खुले तौर पर उनका साथ दे रहा है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि अभी तक तो औपनिवेशिक देशों के विरुद्ध अफ्रीकी देशों के स्वाधीनता संघर्ष का समर्थन सोवियत संघ कर रहा था लेकिन अब वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रगतिशील कहे जाने वाले उन लोगों का समर्थन कर रहा है जो स्वाधीनता के बाद अपने देशों की सरकारों से आर्थिक सुधारों की माँग कर रहे हैं। एक प्रकार से यह स्वाधीन अफ्रीकी राष्ट्रों में सरकारों के विरुद्ध जन संघर्ष को प्रोत्साहन देना है। स्पष्ट है अफ्रीका के प्रति सोवियत संघ की इस नीति का असर अफ्रीकी देशों और साथ ही साथ समूचे विश्व की राजनीति पर भी पड़ेगा। लेकिन सोवियत संघ अभी भी यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह अफ्रीकी देशों के आन्तरिक संघर्ष में तथाकथित प्रगतिशील शक्तियों का साथ दे रहा है पर कुछ घटनाओं से यह बात अपने आप ही सिद्ध हो जाती है। सन् 1960 के दशक में अफ्रीकी देशों के औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध

स्वाधीनता संघर्ष मे सोवियत संघ के समर्थन को स्वय अफ्रीकी देशो की जनता ने कोई विशेष महत्त्व नही दिया था। परिणामस्वरूप स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सोवियत सघ की सरकार ने उन सरकारो को समर्थन देना शुरू कर दिया था जो वहाँ स्वाधीनता प्राप्ति के बाद स्थापित हुई थी। इस प्रकार के समर्थन से भले ही अफ्रीकी देशो की कम्युनिस्ट पार्टियो को नुकसान पहुँच रहा था लेकिन सोवियत सघ ने उस समय यही उचित समझा कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद की सरकारो का ही समर्थन किया जाए जब कुछ स्वाधीन अफ्रीकी देशो की सरकारों ने साम्यवादी विचारधारा के नेताओ और छात्रो के विरुद्ध कार्यवाहियाँ शुरू कर दी तो सोवियत संघ की नीति मे परिवर्तन आना ही था। सोवियत सघ यह भली प्रकार समझ गया था कि अफ्रीकी देशो मे स्वाधीनता के बाद जो नई सरकारें हैं वे राजनैतिक स्थिरता नही ला सकेंगी इसलिए उसने इन देशो में एकदलीय प्रणाली की साम्यवादी व्यवस्था की नीव डालने की कोशिश की। उद्देश्य था कि नवोदित स्वाधीन अफ्रीकी देशो मे असन्तोष का लाभ उठाकर साम्यवाद की स्थापना की जाए।

अब यह दौर भी समाप्त हो गया। बहुत से अफ्रीकी देशो ने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है और वे स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार अपने समाज और शासन व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं। अब सोवियत सघ के सामने केवल यह काम रह गया है कि वह अफ्रीकी देशो पर आर्थिक सुधारो के लिए दबाव न डाले लेकिन इन देशों मे अमेरिका की नीतियो को विफल बना दे। इसके लिए सोवियत संघ जो कुछ कर रहा है उसका इतना महत्त्व नही है जितना कि इस बात का कि अफ्रीका मे यह क्या उद्देश्य प्राप्त करना चाहता है? आज उत्तर से लेकर दक्षिण अफ्रीका तक सभी राष्ट्र आन्तरिक संघर्ष की लपेट मे हैं। इन आन्तरिक संघर्षो की दिशाएँ अलग-अलग हैं। क्या सोवियत सघ इन सघर्षों मे ऐसे तत्त्वो को अपना समर्थन देना चाहता है जो वहाँ आर्थिक असन्तोष का लाभ उठाकर समाजवाद लाने के लिए प्रयत्नशील है? अफ्रीकी एकता के प्रति मस्कवा का रुख समय-समय पर बदलता रहा है। एक ओर तो सोवियत सघ अफ्रीकी एकता सगठन को अफ्रीकी जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक मानता है और दूसरी ओर वह ऐसे तत्त्वों को भी समर्थन दे रहा है जो इस प्रकार की एकता मे बाधा है। निश्चय ही सोवियत संघ अफ्रीकी देशों मे वहाँ के ऐसे तत्त्वो के बीच भेद-भाव करता है जो देश की प्रगति के लिए समाजवाद चाहते है और दूसरे जो पूँजीवाद का रास्ता अख्तियार करके देश की प्रगति चाहते हैं। स्पष्ट है कि सोवियत सघ का समर्थन समाजवाद लाने वाले तत्त्वो को ही जाएगा। अभी हाल ही में सोवियत समाचार-पत्र 'प्रावदा' ने अपने एक सम्पादकीय लेख मे लिखा था कि अफ्रीका मे क्रान्ति की प्रक्रिया एक नया रूप ले रही है। पत्र का कहना था कि जो भी देश स्वाधीनता प्राप्त कर लेता है उसे आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता की ओर बढना ही होता है जिसका मतलब यह है कि वह अपनी अर्थ-व्यवस्था को पूँजीवादी एकाधिकार से मुक्त करे। यह तभी हो सकता है जब कि वह अपने यहाँ उत्पादन और व्यापार के साधनो का पूर्ण राष्ट्रीयकरण

कर दे क्योंकि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अफ्रीकी देशों के लिए किसी भी हालत में उपयुक्त नहीं है।

'प्रावदा' के इस लेख से अफ्रीका के प्रति सोवियत नीति का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। यह नवोदित स्वाधीन अफ्रीकी देशों की सरकारों के लिए चिन्ता का विषय है। इन सरकारों को सोवियत संघ ने प्रतिक्रियावादी सरकारों की संज्ञा दी है। सभी जानते हैं कि सोवियत संघ को पश्चिमेशिया में अपना प्रभाव जमाने के प्रयत्नों में मुँह की खानी पड़ी है। इसलिए अब अफ्रीका में सोवियत संघ ने प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने का नया सिलसिला शुरू कर दिया है। उधर अफ्रीका में चीनियों की गतिविधियाँ भी बढ़ रही हैं जिसका असर सोवियत संघ के इन प्रयत्नों पर निश्चय ही पड़ेगा। आज सोवियत संघ की अफ्रीकी नीति विश्व में तनातनी कम करने के प्रयत्नों में उसके योगदान की घोषणा के विरुद्ध है।

अफ्रीका के प्रति पश्चिमी यूरोपीय देशों की स्पष्ट नीति की माँग

अफ्रीका के प्रति पश्चिम यूरोपीय देशों की स्पष्ट नीति की माँग पश्चिमी यूरोपीय समाचार-पत्रों में ही की जा रही है। यूरोपीय समुदाय के देशों में इस प्रश्न को लेकर कुछ मतभेद अवश्य हैं। इसका आभास पश्चिम यूरोपीय समाचार-पत्रों की टिप्पणियों से ही मिलता है। पश्चिमी जर्मनी के एक प्रमुख समाचार-पत्र फ्रैंकफुर्तेर अल्गेमाइने त्साईटुंग के कुछ अर्से पूर्व के एक सम्पादकीय लेख के अनुसार—

"पश्चिमी जर्मनी का युवा वर्ग आज उपनिवेशवाद और जाति भेद-भाव के जितना विरुद्ध है उतना पहले कभी नहीं रहा, लेकिन खेद है कि पुरानी पीढ़ी के लोग अभी भी दक्षिण अफ्रीका में गोरों के भविष्य को लेकर चिन्तित हैं। फिर पश्चिमी जर्मनी सहित अन्य यूरोपीय देशों के वहाँ व्यावसायिक हित भी हैं जिनकी रक्षा के लिए इन देशों की सरकारें बहुत उत्सुक हैं। अभी भी पश्चिमी यूरोप के अनेक देश दक्षिण अफ्रीका से बहुत बड़ी मात्रा में कच्चे माल का आयात करते हैं। अफ्रीका के प्रति पश्चिमी जर्मनी की नीति केवल विदेश विभाग तक ही सीमित है। अफ्रीकी देशों के लिए विकास सहायता में वृद्धि की बात अभी भी गम्भीरतापूर्वक सोची नहीं जा रही है। ऐसी स्थिति में हमारे देशों को अफ्रीका के प्रति अपनी नीति तो स्पष्ट करनी ही है साथ ही साथ उसे अपने मित्र देशों की नीतियों के साथ तालमेल बिठाने का काम भी करना है। हम जानते हैं कि अफ्रीका को उसके विकास में सहायता देने का काम जर्मनी ही अकेले नहीं कर सकता अन्य देशों को भी इसमें सहयोग करना है। उधर अफ्रीकी देशों का पश्चिमी यूरोपीय देशों के प्रति अविश्वास अभी भी बना हुआ है क्योंकि इनमें से बहुत से देश उपनिवेशवाद को बढ़ावा देते रहे हैं।"

अभी हाल ही में अफ्रीका के लिए सहायता में कुछ यूरोपीय देशों ने जो समान रवैया अपनाया उसके अच्छे नतीजे निकले हैं। पहला तो यही कि अफ्रीका में यूरोप को सोवियत संघ और अमेरिका जितना खतरनाक नहीं माना जा रहा है। यूरोपीय

समुदाय के देशो ने अफ्रीका में बडे देशों के प्रभाव क्षेत्र बनाने के प्रयत्नों के विरुद्ध जो भी आवाज उठाई है उसके कारण अफ्रीकी देशो मे यूरोप की छवि उभरी है। समुदाय के 9 सदस्य देशो को अमेरिका के साथ मिल कर अफ्रीका के प्रति अपनी नीति को उदार बना कर आवश्यक परिवर्तन लाने है।

यह ठीक है कि यूरोपीय समुदाय के भीतर ही अफ्रीकी देशों के प्रति नीति के प्रश्न को लेकर कुछ मतभेद है लेकिन इन मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। भले ही समुदाय के कुछ देश ही समान नीति पर सहमत हो। पर परिवर्तन और स्पष्टता आवश्यक है। इस प्रश्न पर फ्रांस पश्चिमी जर्मनी के साथ हो सकता है क्योंकि फ्रांस इस समय अफ्रीका मे बहुत ही सक्रिय भूमिका निभा रहा है। पश्चिमी जर्मनी की तरह फ्रांस भी मानता है कि जहाँ तक सम्भव हो अफ्रीकी देशो को द्विपक्षीय आधार पर विकास सहायता जारी रखनी चाहिए लेकिन समुदाय के अधिकाधिक देश इसमे सम्मिलित हो तो और भी अच्छा है। सहायता मे मानवीय आधार और शान्ति प्रयत्नो को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी देश पर विकास सहायता थोपी न जाए। पश्चिमी जर्मनी, विकास सहायता के अनुरोध को अस्वीकार भी कर सकता है। मिसाल के तौर पर यदि उस पर यह आरोप लगाया जाता रहे कि वह दक्षिण अफ्रीका के साथ परमाणु शक्ति के क्षेत्र मे सहयोग कर रहा है तो उसे सहायता देने से इन्कार करने का पूरा अधिकार है। दर असल विकास सहायता मे पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय समुदाय के देशो का उद्देश्य होना चाहिए कि अफ्रीकी देशो को अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने और राजनैतिक स्थिरता लाने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाए। पश्चिमी जर्मनी ने तो आपसी बातचीत द्वारा विकास सहायता का अपना कार्यक्रम शुरू किया है। उसमें किसी बल-प्रयोग की बात नही है। हमने इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है कि पश्चिमी और पूर्वी यूरोपीय देशो के आपसी झगडे अफ्रीकी देशो के विकास मे रुकावट नही बनने चाहिए। हम हमेशा ही इस समूचे क्षेत्र मे प्रभाव क्षेत्र बनाने के विरुद्ध रहे है। हम केवल इतना चाहते हैं कि व्यापार बढा कर तथा अफ्रीकी देशो मे व्यावसायिक हितों की रक्षा करके परस्पर सम्बन्ध और सुदृढ बनाए जाएँ। अफ्रीका के प्रति नीति का निर्धारण करते समय हमारे देश को तथा अन्य यूरोपीय देशो को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि दक्षिण अफ्रीका में जाति भेद-भाव धीरे-धीरे समाप्त हो और वहाँ के अफ्रीकी बहुसख्यक अपने देश की सामाजिक और आर्थिक प्रगति में बराबर के साझेदार बनें। अन्ततः हमारा उद्देश्य दक्षिणी अफ्रीका के लोगो को उनके नागरिक अधिकार दिलवाना है। बहुसख्यक शासन स्थापित करते ही यह हो सकता है। यह ठीक है कि दक्षिणी अफ्रीका का सवैधानिक भविष्य वहाँ के अपने लोगों के हाथो में है लेकिन जातिभेद जैसी बुराइयाँ समाप्त करने में सहायक होना हमारा एक प्रकार से कर्त्तव्य है। दक्षिणी अफ्रीका मे अभी भी जर्मन फर्मों की काफी पूँजी लगी हुई है लेकिन प्रयत्न यह होना चाहिए कि अब वहाँ जर्मनी की निजी फर्में और पूँजी न लगाएँ।

एशिया और अफ्रीका में विदेशी शक्तियों की स्थिति पर आन्द्रेई ग्रोमिको का संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन, 1978 में भाषण

एशिया और अफ्रीका मे विदेशी शक्तियो और सोवियत संघ की स्थिति पर सोवियत विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में सितम्बर 1978 के अपने भाषण में जो प्रकाश डाला वह अध्ययन योग्य है। अक्टूबर 1978 की सोवियत भूमि के अनुसार—

ग्रोमिको ने कहा, अनेक वर्षों और दशको से विश्व के सर्वाधिक जनसख्या वाले महाद्वीप एशिया के जनगण इस बात के बारे मे चिन्तित रहे हैं कि उनके महाद्वीप मे शान्ति एव सुरक्षा की तथा विकास एव प्रगति के अवसर को किस प्रकार सुनिश्चित किया जाए। उन्होने विचार व्यक्त किया कि इस समस्या के समाधान की कुञ्जी बिना किसी अपवाद के सभी एशियाई राज्यो द्वारा सयुक्त कार्यवाहियाँ है। उन्होने कहा, वर्तमान परिस्थितियो मे जबकि एशिया मे स्थिति के विकास मे कुछ खतरनाक सकेत प्रकट हो रहे हैं, यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। एशिया के देशो मे यह अनुभूति अधिकाधिक बन रही है कि एशियाई राज्यो के बीच लड़ाई-झगडे, उनके आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप और उन पर खुलेआम दबाव डालने तथा उन्हे एक-दूसरे से लड़ने के प्रयत्नो के स्थान पर स्थाई शान्ति स्थापित होनी चाहिए।

इस दृष्टि से सयुक्त वियतनाम की स्थापना का बहुत अधिक महत्व है, जिसने अपनी धरती से आक्रामको को खदेड भगाया और अब शान्तिप्रिय नीति का पालन कर रहा है। आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा कि सयुक्त राष्ट्र के मच से सोवियत संघ फिर वियतनाम के साथ अपनी एकजुटता घोषित करता है और इस बात पर बल देता है कि उस पर किसी भी प्रकार के प्रभुत्ववादी दावे को स्वीकार नही किया जा सकता।

आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा, सोवियत सघ एशिया के राज्यो के साथ अच्छे सम्बन्धो का पक्षधर है, जो हमारे साथ आपसी समझ और अच्छे पडोसी सम्बन्धो के इच्छुक है। हम बहुत से मामलो मे अनेक वर्षों से इसी प्रकार के सम्बन्ध अधिसंख्यक एशियाई राज्यो के साथ बनाए चले आ रहे हैं। समान और परस्पर लाभदायक सहयोग के हितो के अलावा जो आपसी सम्मान, सम्प्रभुता के कठोर परिपालन और एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तो पर आधारित है। सोवियत संघ इन देशो के साथ एशिया मे शान्ति व सुरक्षा के दृढ़ीकरण के प्रति समान चिन्ता और साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नस्लवाद की शक्तियो की साजिशो के खिलाफ सयुक्त सघर्ष मे भागीदार है।

सोवियत-भारतीय सम्बन्ध विभिन्न सामाजिक प्रणालियों वाले राज्यो के बीच बहुमुखी मित्रतापूर्ण सहयोग और शान्तिपूर्ण सहजीवन का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते है। ये सम्बन्ध जो अच्छे पडोसी सम्बन्धो की दीर्घकालिक परम्परा से सम्बद्ध

हैं, 1971 की शान्ति, मित्रता व सहयोग की सन्धि की दृढ़ आधारशिला पर उत्तरोत्तर विकसित हो रहे है। आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा, ये सम्बन्ध दोनों देशो के बुनियादी हितो की पूर्ति करते हैं और एशियाई महाद्वीप तथा सम्पूर्ण विश्व मे शान्ति के लिए महत्त्वपूर्ण एव प्रभावी कारक है।

आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा, यदि सभी एशियाई राज्यो के साथ सोवियत सघ के इसी प्रकार के सम्बन्ध नही है तो इसके लिए वह जिम्मेदार नही है। यह जिम्मेदारी पूरी तरह उन पर है जो सोवियत सघ के सम्बन्ध मे कट्टरतापूर्वक शत्रुतापूर्ण नीति का, ऐसी नीति का पालन करते है जो सामान्य रूप से शान्ति के ध्येय के लिए ही शत्रुतापूर्ण है। यह जिम्मेदारी पूरी तरह उन पर है जो प्रभुत्ववादी उद्देश्यो का पालन करते हुए दूसरो पर प्रभुत्ववादी होने का आरोप लगाते है और जो तथ्यो के प्रतिकूल आचरण करते है।

आन्द्रेई ग्रोमिको ने जोर देकर कहा कि जापान जिस नीति का पालन कर रहा है वह भी सुदूर पूर्व मे और प्रशान्त महासागर मे शान्ति के हित मे नहीं है। दुर्भाग्यवश, इसकी नीति मे कुछ अशान्तिजनक प्रवृत्तियाँ प्रकट हो रही है। कही ऐसा तो नहीं कि वह देश अन्तत ऐसे मार्ग पर चल पडे, जिसके कारण अतीत मे अन्य जनगण को नाना प्रकार की मुसीबतें झेलनी पडी थी और जिसने जापान को विनाश के गर्त में डाल दिया था। आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा, "मैं इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निष्कर्ष प्रस्तुत नही करना चाहूँगा लेकिन इस सबकी ओर गम्भीर रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। मेरा विचार है कि हमारी इस चिन्ता में और अनेक सहभागी हैं।"

जापान के सम्बन्ध मे सोवियत नीति पहले भी सिद्धान्तनिष्ठ रही है और भविष्य मे भी ऐसी ही रहेगी। सोवियत सघ इस देश के साथ अच्छे सम्बन्धों की हिमायत करता है, तो भी, आन्द्रेई ग्रोमिको ने जोर दिया, जापान की ओर उचित कदम उठाए जाने की अपेक्षा की जाती है।

आन्द्रेई ग्रोमिको ने अफ्रीका में विद्यमान स्थिति का भी उल्लेख किया। उन्होंने कहा, आज अफ्रीका महाद्वीप की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इस महाद्वीप में, जिसकी आबादी लगभग 40 करोड़ है, बेदारी और बेचैनी है। नवस्वतन्त्र राज्यो के अभ्युदय की प्रक्रिया जारी है और उपनिवेशवाद की अन्तिम जजीरों को तोड कर फेंका जा रहा है लेकिन रोडेशिया, नामीबिया तथा दक्षिण अफ्रीका गणराज्य में अभी भी औपनिवेशिक शासन कायम है, जहाँ नस्ली भेदभाव के अत्यन्त बर्बर स्वरूप प्रचलित हैं।

आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा, अफ्रीका के कुछ क्षेत्रो की स्थिति के सम्बन्ध में सोवियत सघ तथा दूसरे समाजवादी राज्यो की नीति पर लांछन लगाने के लिए न जाने क्या कुछ कहा जाता है और न जाने कितना कागज बर्बाद किया जाता है। लेकिन यह सब कर कौन रहा है? वे ही लोग जो उपनिवेशवाद और नस्लवाद के

अवशेषों से चिपके हुए है। यह जानते हुए कि इस प्रकार की हरकतें जन-प्रिय नही है। वे जनगण को धोखा देने के लिए अपनी नवउपनिवेशवादी कार्यवाहियों पर पर्दा डालने की कोशिश कर रहे है लेकिन यह धोखा ज्यादा दूर तक उनका साथ नही देगा। जनगण स्वयं ही यह देख लेगे कि कहां सच्चाई है और कहां झूठ है।

आन्द्रेई ग्रोमिको ने बल देकर कहा कि अफ्रीका महाद्वीप में उपनिवेशवाद और नस्लवाद को पूर्ण रूप से और अन्तिम रूप से मिटा दिया जाना चाहिए।

सोवियत विदेश मन्त्री ने जोर देते हुए कहा, हमने उन लोगों के साथ जो राष्ट्रीय स्वाधीनता और सामाजिक प्रगति के लिए लड रहे हैं अपनी सहानुभूति न तो कभी छिपाई है और न अब छिपाते हैं। लेकिन हम न तो अफ्रीका मे और न ही अन्य महाद्वीपों के विकासमान देशो में अपने लिए किसी लाभ के तलबगार है। सोवियत सघ को राजनीतिक प्रमुत्व, रियायतो अथवा सैनिक अड्डों की चाह नही है।

"अफ्रीका अथवा विश्व के अन्य क्षेत्रों के राज्य जब आक्रमण--हम यह दोहरा दें कि आक्रमण अथवा सशस्त्र आक्रमण को विफल करने के लिए सहायता माँगते हैं तो उन्हें यह अधिकार है कि वे अपने मित्रों के समर्थन पर भरोसा रखें।"

आन्द्रेई ग्रोमिको ने कहा, "ऐतिहासिक विकास के वस्तुनिष्ठ, अपरिहार्य नियम विजयी होंगे। वह दिन दूर नहीं जब दक्षिण अफ्रीका की जनता के लिए भी स्वाधीनता का प्रभात उदित होगा और जब सभी अफ्रीकी भूमि, उसकी एक-एक इंच भूमि स्वाधीन होगी।"

दक्षिण रोडेशिया (अब स्वाधीन जिम्बाब्वे) का संकट

जम्बेजी नदी तथा उत्तरी ट्रांसवाल के मध्य स्थित दक्षिण रोडेशिया (जो 18 अप्रैल 1980 को स्वाधीनता प्राप्त कर जिम्बाब्वे नाम धारण कर चुका है) अफ्रीका का एक देश है। इस देश का क्षेत्रफल 390 हजार वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या लगभग 60 लाख है। इसमे 40 लाख से ऊपर अफ्रीकी हैं, लगभग 2 लाख यूरोपीय हैं और शेष अन्य। दक्षिण रोडेशिया का, जिसकी राजधानी सेलिसबरी है, मूल विवाद यह था कि यहाँ की गोरी सरकार बहुसंख्यक अफ्रीकियो को देश के शासन मे साझीदार नही बनाना चाहती थी और राष्ट्रवादी अफ्रीकी इस बात के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे थे कि दक्षिण रोडेशिया का शासन अफ्रीकियों के हाथ मे हो तथा गोरों की प्रभुसत्ता का अन्त हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1953 मे ब्रिटेन ने उत्तरी रोडेशिया (जिसका शासन उसने 1924 मे अपने हाथ मे लिया था), दक्षिण रोडेशिया और न्यासालैंड (रोडेशिया का पड़ौसी देश जिस पर ब्रिटेन ने 1891 में अधिकार किया था) को मिलाकर 'मध्य अफ्रीका सघ' की स्थापना की। उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैण्ड की जनता ने सघ का विरोध किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। इस संघ में अफ्रीकी लोगो की बहुलता थी, लेकिन निर्वाचन-योग्यता इस प्रकार की थी कि कोई अफ्रीकी चुनाव मे खड़ा

नहीं हो सकता था। अन अफ्रीकियों मे असन्तोष बढ़ता गया और धीरे-धीरे राष्ट्रवाद की लहर इतनी प्रबल हो गयी कि ब्रिटेन अधिक समय तक जनता की उपेक्षा नहीं कर सका तथा 1963 मे अफ्रीकी संघ भंग हो गया। न्यासालैण्ड और उत्तरी रोडेशिया स्वतन्त्र हो गए। आजादी के बाद उत्तरी रोडेशिया जाम्बिया कहलाने लगा और न्यासालैण्ड का नाम मलावी रखा गया। दक्षिण रोडेशिया अब भी ब्रिटिश सम्प्रभुता के अधीन रहा और इयान स्मिथ वहाँ के नये प्रधानमन्त्री बने।

प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ ने ब्रिटेन को धमकी दी कि वह दक्षिण रोडेशिया को स्वतन्त्र कर दे अन्यथा दक्षिण रोडेशिया की सरकार अपनी ओर से स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगी। ब्रिटेन ने कहा कि स्वतन्त्रता तभी दी जा सकती है जब (1) सब अफ्रीकी लोगो को मताधिकार प्राप्त हो, एव (2) गोरे लोगो के लिए सुरक्षित किए गए विशेष प्रदेशों की व्यवस्था समाप्त कर दी जाए। स्मिथ सरकार ने ब्रिटिश शर्तों को अमान्य ठहराते हुए 11 नवम्बर 1965 को दक्षिण रोडेशिया की एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिससे रोडेशिया सम्बन्धी महान् सांविधानिक संकट पैदा हो गया। अनेक राजनीतिक क्षेत्रों में सही सन्देह व्यक्त किया गया कि सारा काण्ड ब्रिटेन की गुप्त सहानुभूति के कारण ही सम्भव हो सका था और इसलिए ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की।

ब्रिटिश गवर्नर ने स्मिथ सरकार को पदच्युत कर दिया और ब्रिटेन ने दक्षिणी रोडेशिया से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भंग कर दिए तथा आर्थिक प्रतिबन्ध भी लगाए। नवम्बर 1965 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रस्ताव मे स्मिथ सरकार के कार्य की निन्दा की गयी और सदस्य राज्यों से अनुरोध किया गया कि वे उसे न तो मान्यता दें और न ही उसके साथ व्यापार करें। आर्थिक प्रतिबन्धों और कूटनीतिक उपायो का स्मिथ सरकार पर कोई असर नहीं हुआ। मई 1968 मे सुरक्षा परिषद् ने दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण आर्थिक नाकेबन्दी का प्रस्ताव पारित किया, लेकिन वह सफल नहीं हो सका क्योंकि गुप्त रूप से स्मिथ सरकार को सभी आवश्यक सामग्री प्राप्त होती रही।

नवम्बर 1969 मे दक्षिण रोडेशिया की संसद् ने (जिस पर गोरों का प्रभाव छाया हुआ था) इयान स्मिथ सरकार का गोरा शासन स्थायी बना देने की व्यवस्था कर दी। ब्रिटेन और स्मिथ सरकार के बीच बातचीत के अनेक दौर चले किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। नवम्बर 1971 मे ब्रिटिश विदेश मन्त्री डगलस ह्यूम और रोडेशियाई प्रधानमन्त्री स्मिथ के बीच एक समझौता हुआ जिसके द्वारा अफ्रीकी जनता के हितो पर भारी कुठाराघात किया गया। इस समझौते से स्मिथ सरकार के बने रहने का मार्ग प्रशस्त हो गया। अफ्रीकी बहुमत का शासन स्थापित करने का उल्लेख समझौते मे किया गया, लेकिन इस बारे मे कोई निश्चित तिथि निश्चित नहीं की गयी और भी अनेक ऐसे निर्णय किए गए जो स्मिथ सरकार के पक्ष मे थे। ब्रिटिश कम्पनियो को रोडेशिया के साथ व्यापार करने की छूट दे दी

गयी ताकि आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण पिछले वर्षों का घाटा पूरा हो सके। समझौते पर जनमत जानने के लिए 'पियर्स आयोग' गठित किया गया। यही आशा की गयी थी कि पियर्स आयोग ऐसी रिपोर्ट देगा जो कि समझौते के लागू होने के पक्ष में होगी, लेकिन जब 207 पृष्ठों की रिपोर्ट में यह कहा गया कि रोडेशिया के बहुसंख्यक अफ्रीकी समझौते प्रस्ताव से असहमत हैं और इसका समर्थन रोडेशिया के केवल लगभग ढाई लाख गोरे लोगों ने ही किया है, तो मामला बिगड़ गया। इयान स्मिथ ने तुरन्त ही पियर्स रिपोर्ट को गैर-कानूनी ठहरा दिया और घोषणा कर दी कि नवम्बर 1971 के समझौते के आधार पर कोई बातचीत नहीं की जा सकती।

दक्षिण रोडेशिया के अफ्रीकी राष्ट्रवादियों का असन्तोष बढ़ता गया और उग्रवादी तत्व संघर्ष के लिए उतारू हो गए, छापामार युद्ध शुरू हो गया। 29 अप्रैल से 6 मई 1975 तक जमैका की राजधानी किंग्सटन में 33 देशों के नेताओं का राष्ट्रकुल सम्मेलन हुआ। अफ्रीकी देशों ने दक्षिण अफ्रीकी बस्तियों और रोडेशिया से गोराशाही समाप्त करने की जो आवाज उठाई उसकी गूंज सारे सम्मेलन में सुनाई दी। किंग्सटन के राष्ट्रकुल-सम्मेलन के निर्णय के बाद रोडेशिया में घटना-क्रम बहुत तेजी से बदला। रोडेशिया के राष्ट्रवादी नेता जोसुआ नोकोमो ने आरोप लगाया कि इयान स्मिथ की सरकार शान्तिपूर्वक अफ्रीकियों को सत्ता सौंपना नहीं चाहती। बातचीत का कोई ठोस नतीजा नहीं निकला और उधर नवम्बर, 1975 में संयुक्तराष्ट्र महासभा के इस प्रस्ताव से रोडेशिया के राष्ट्रवादियों के हाथ मजबूत हो गए कि बहुमत अफ्रीकी शासन का सिद्धान्त मान लेने पर ही रोडेशिया की स्वतन्त्रता के लिए बातचीत होनी चाहिए। महासभा ने ब्रिटेन से यह अनुरोध किया कि रोडेशिया में इयान स्मिथ की गैर-कानूनी सरकार को किसी भी हालत में और कभी भी ब्रिटेन से मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। महासभा ने अफ्रीकी जनता की स्वाधीनता की माँग का पूर्ण समर्थन किया और अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् से कहा कि वह स्वाधीनता के लिए अपना आन्दोलन जारी रखे।

रोडेशिया समस्या के समाधान में गतिरोध कायम रहा। इयान स्मिथ ने अगस्त, 1977 के चुनावों में अपने हथकण्डों से भारी विजय प्राप्त की। वर्ष 1979 के शुरू में रोडेशिया समस्या समाधान के लिए जो प्रयास शुरू किए गए, उनके फलस्वरूप देश को एक नए संविधान का प्रारूप दिया गया। प्रारूप के पहले अध्याय में यह कहा गया कि देश का नाम 'जिबाब्वे-रोडेशिया' होगा। उसके बाद के अध्यायों में संसद् के गठन, न्यायपालिका, सुरक्षा सेनाओं सम्बन्धी आयोग, नागरिक सेवाओं की भूमिका आदि का उल्लेख किया गया। कहा गया कि संसद के दो सदन होंगे—सीनेट और विधानसभा। संसद का कार्यकाल पाँच साल होगा। राष्ट्रीय सरकार का काम मन्त्रियों की कार्यपालिका चलाएगी। प्रधानमन्त्री उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाएगा जिसके दल को विधानसभा में अधिक स्थान प्राप्त होंगे। 10 सितम्बर, 1979 को रोडेशिया पर लन्दन में सांविधानिक सम्मेलन शुरू हुआ और 21 सितम्बर, 1979 को जिबाब्वे-रोडेशिया द्वारा सम्मेलन में ब्रिटिश प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटिश योजना यह थी कि जिबाब्वे में अफ्रीकी बहुसंख्यकों की सरकार की

स्थापना हो जाएगी। गोरों का प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा। 27 अक्टूबर, 1979 को रोडेशिया के प्रधानमंत्री मुजोरेवा द्वारा लन्दन प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। 15 नवम्बर, 1979 को देशभक्त मोर्चे द्वारा रोडेशिया पर ब्रिटिश प्रारूप स्वीकार किया गया। 5 दिसम्बर, 1979 को लन्दन मे रोडेशिया-समझौते की घोषणा की गई। 12 दिसम्बर, 1979 को रोडेशिया के विरुद्ध ब्रिटिश आर्थिक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। 22 दिसम्बर, 1979 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा रोडेशिया के विरुद्ध 14 वर्षीय प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया गया।

रोडेशिया का स्वाधीन होना (स्वाधीन जिवाब्वे)

14 मार्च, 1980 को ब्रिटिश गवर्नर लॉर्ड सोमेश द्वारा घोषणा की गई कि 18 अप्रेल, 1980 को रोडेशिया को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान कर दी जायगी। आखिर 17-18 अप्रेल, 1980 की मध्यरात्रि को जिंबाब्वे (रोडेशिया) को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो गई। ब्रितानी यूनियन जैक के स्थान पर जिंबाब्वे के पाँच रगो (लाल, सुनहरी, हरा, काला और सफेद) का ध्वज फहराया गया। नवस्वाधीन जिंबाब्वे के समक्ष कई तरह की समस्याएँ हैं। इस समय सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे गोरो का भी प्रभाव है। बहुराष्ट्रीय निगमें भी वहाँ पर काफी सख्या मे हैं और निजी पूँजी कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे लगी हुई है।

अरब राज्य संघ : बिखराव की ओर

1945 मे अस्तित्व में आए अरब राज्य सघ मे एकता का सदैव से ही अभाव रहा है और 1981 के अन्तिम चरण मे इसके सदस्यो मे आपसी फूट जिस तेजी से उभर कर सामने आई उससे इसके बिखरने का खतरा पैदा हो गया है। 26 नवम्बर, 1981 को फेज (मोरक्को) मे 20-सदस्यीय अरब राज्य संघ का सम्मेलन शुरू तो हुआ लेकिन पाँच घण्टे की बहस के बाद ही शाह हसन द्वितीय ने उसे स्थगित कर दिया और गुस्से मे विदेश मन्त्रियों मे केवल इतना ही कहा कि वे परस्पर वार्ता द्वारा अगले शिखर सम्मेलन की तारीख तय करें।

इस शिखर सम्मेलन मे सद्भावना का जितना अभाव था उतना शायद अम्मान और बगदाद मे हुए (1979 और 1980) शिखर सम्मेलनों मे भी नही रहा होगा। लीबिया, अल्जीरिया, सीरिया, ईराक और मारितानिया के राज्याध्यक्षों ने इस सम्मेलन मे भाग नहीं लिया। उनका प्रतिनिधित्व उनके विदेश मन्त्रियो ने किया। उनकी अनुपस्थिति का कारण पश्चिमेशिया मे शान्ति स्थापित करने के लिए सऊदी अरब का प्रस्ताव था। लीबिया के विदेश मन्त्री अब्दुलादी ओवेदी ने इस शान्ति प्रस्ताव को 'गद्दार प्रस्ताव' करार दिया।

इस तरह की शब्दावली का उपयोग अरब राज्य सघ के मच से पहले भी हो चुका है। जब कैंप डेविड मे मिस्र और इजरायल मे शान्ति स्थापना सम्बन्धी सन्धि हुई थी, तब मिस्र के लिए 'गद्दार' शब्द का इस्तेमाल हुआ था। अपना विरोध व्यक्त करने के लिए मिस्र ने अपना राजदूत बुलाने की पहल सऊदी अरब ने की थी। कभी अरब राज्य संघ के संस्थापक सदस्यो मे से माना जाने वाला मिस्र अब इस

समूह का सदस्य नहीं है। काहिरा के बाद अरब राज्य संघ के मुख्यालय के प्रश्न को लेकर जिस तरह का तनाव पैदा हो गया था उसी दिन से इस संगठन के बिखराव की प्रक्रिया शुरू हुई और तब से आरम्भ विघटन की इस प्रक्रिया पर विराम नहीं लगा है।

मिस्र जब अरब राज्य संघ से अलग हुआ तब भी उसके पीछे अमेरिका था, मिस्र और इजरायल में कैंप डेविड समझौता कराने में अहम भूमिका अदा करने वाला। प्रेक्षकों के अनुसार सऊदी अरब के पश्चिमेशिया शान्ति प्रस्ताव में भी अमेरिकी भूमिका की गंध आती है, यद्यपि इस समझौते में इजरायल को मान्यता देने की धारा है और साथ ही स्वाधीन फिलिस्तीन की स्थापना का भी उल्लेख है। यही उल्लेख इजरायल के गले नहीं उतर पा रहा है। इजरायल को सऊदी अरब का प्रस्ताव शायद इसीलिए नागवार गुजरा है। मसला फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे का समाधान ढूंढना ही है जिस पर कैंप डेविड समझौते में भी उल्लेख था। यदि दोनों बड़े देश 'ईमानदारी' के साथ इस समस्या का हल ढूंढें तो यह असम्भव नहीं है लेकिन अटकाव परस्पर स्वार्थों और हितों को लेकर पैदा हो जाता है।

अरब देशों की अपनी-अपनी पसन्दगी और नापसन्दगी का यह असर तो हुआ ही है कि इस बड़े संगठन के बीच में छोटे-छोटे संगठन अस्तित्व में आने लगे हैं। उन्हें डर है कि यदि छोटे देश मिलकर नहीं रहेंगे तो आधुनिक शस्त्रों से लैस बड़े देश उन्हें 'कब्जिया' सकते हैं। एक बार कब्जा हो जाने के बाद के हश्र से वे भली-भाँति परिचित हैं।

लिहाजा खाड़ी के पांच देशों ने अपना एक अलग संगठन बनाया है। इस संगठन की सामान्य आर्थिक और सैनिक नीतियाँ होंगी। उन्होंने अपनी सामान्य नौसैनिक शक्ति भी गठित करने का फैसला किया है।

22 मार्च, 1945 को अरब राज्य संघ औपचारिक तौर पर अस्तित्व में आया। इसके संस्थापक सदस्यों में मिस्र, ईराक, जोर्डन, लेबनान, सऊदी अरब, सीरिया और यमन थे। बाद में अल्जीरिया, बहरीन, जिबूती, कुवैत, लीबिया, मारितानिया, मोरक्को, ओमान, कतार, सोमालिया, सूडान, ट्यूनिशिया संयुक्त अरब अमीरात और दक्षिण यमन शामिल हो गए। फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे को पूर्ण सदस्य के रूप में इस संगठन में शामिल किया गया। मार्च, 1979 में मिस्र द्वारा इजरायल के साथ शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने के कारण मिस्र को अरब राज्य संघ की सदस्यता से निलम्बित कर दिया गया। इसका मुख्यालय भी काहिरा से बदल कर ट्यूनीशिया कर दिया गया।

बेशक 1945 में अरब राज्य संघ की विधिवत स्थापना हुई थी लेकिन 13 दिसम्बर, 1931 को यरूशलम में एक गैरसरकारी राष्ट्रीय अरब कांग्रेस ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया था कि अरब देशों की एकता और स्वतन्त्रता हर तरह से प्राप्त की जाएगी। 25 सितम्बर, 1944 को सिकन्दरिया में अरब सम्मेलन

की तैयारी सभा का उद्घाटन हुआ जिसमे अक्टूबर, 1944 तक आठ बैठकें आयोजित हुई। इसमें अरब राज्य सघ के उद्देश्य और उसके सिद्धान्तों का फैसला किया गया। ये सिद्धान्त मोटे तौर पर इस प्रकार थे—सभी सदस्य राज्यों की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता का आदर, प्रत्येक राज्य की शासन प्रणाली का सम्मान, आक्रमण से परहेज करना और झगडों को शान्तिपूर्ण ढग से निपटाना, विदेश नीति और अन्य देशों से समझौते करने के अधिकार मे सदस्य देशों को स्वाधीनता, सदस्य राज्यो के बीच सम्बन्ध दृढ करना, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य क्षेत्रो मे प्रत्येक राज्य के विशेष स्थान और परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए सदस्य राज्यों के बीच घनिष्ठ सहयोग की स्थापना।

अरब राज्य सघ का काम करने के लिए एक परिषद्, एक महासचिव और कुछ स्थायी समितियो की व्यवस्था की गई। अरब राज्य सघ के कुछ विशिष्ट अभिकरण इस प्रकार हैं—अरब शैक्षणिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक सगठन, अरब राज्यो का प्रसारण सघ, अरब श्रम-सगठन, अरब राज्यो का नागरिक विमानचालन परिषद्, आर्थिक परिषद्, अरब नगर सगठन, सयुक्त सुरक्षा परिषद्, सामाजिक रक्षा के लिए। संगठन आदि सयुक्त राष्ट्र की तरह अरब राज्य सघ का ही एक मुख्यालय भी है जब तक मिस्र इस सगठन का सदस्य रहा अरब राज्य सघ का कार्य मोटे तौर पर सामान्य ढग से चलता रहा लेकिन उसकी मुअत्तली के बाद परस्पर सशय का वातावरण जो बना तो उसमे कही भी सद्भावना के पुट देखने को नही मिले।

लेटिन अमेरिका का जागरण
(Resurgence of Latin America)

लेटिन-अमेरिका से अभिप्राय

'लेटिन अमेरिका' शब्दावली से उन 24 गणतन्त्रो का बोध होना है जो उत्तर मे सयुक्तराज्य अमेरिका, मैक्सिको के सीमान्तो और मैक्सिको की खाड़ी से लेकर दक्षिण मे ड्रेक पैसेज (Drake Passage) तथा अन्टार्कटिक महासागर के बाहरी भाग तक स्थित है। लेटिन अमेरिका को प्राय तीन मुख्य भागों में बाँटा जाता है, यथा—पहला, मध्य अमेरिका जिसमे सात गणतन्त्र हैं, दूसरा, केरीबियन जिसमे तीन गणतन्त्र हैं और तीसरा, दक्षिणी अमेरिका जिसमे दस गणतन्त्र हैं। लेटिन अमेरिका के ये बीस राज्य लगभग 80 लाख वर्गमील क्षेत्र घेरे हुए है और इनकी कुल जनसख्या 30 करोड के लगभग है। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग मे जनसख्या, जागरण और प्रगति तीनो दृष्टियो से लेटिन अमेरिका ने काफी प्रगति की है। पश्चिमी गोलार्द्ध के इन सभी राष्ट्रों मे लेटिन सस्कृति की समान पृष्ठभूमि है। वाह्य-शक्तियों द्वारा प्रशासित द्वीपों को लेटिन अमेरिका की परिधि मे समाहित नहीं किया जाता। लेटिन अमेरिका को केवल दक्षिणी अमेरिका कहना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इसकी सीमाएँ केवल दक्षिण तक मर्यादित न रहकर उत्तर मे भी प्रवेश कर जाती हैं। इस सम्पूर्ण प्रदेश की भूमि का क्षेत्रफल, तुलनात्मक रूप मे, संयुक्तराज्य

अमेरिका से लगभग तिगुना है तथा अफ्रीका का तीन-चौथाई है। यहाँ रहने वालों में भारतीय, स्पेनिश, पुर्तगाली, इटालियन तथा जापानी लोग भी हैं।

लेटिन अमेरिका का स्वाधीन होना

लेटिन अमेरिका के राज्यों ने भी उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की है जिस प्रकार संयुक्तराज्य अमेरिका को प्राप्त हुई थी। स्वाधीन होने से पूर्व लेटिन अमेरिका में फ्रांस, पुर्तगाल और स्पेन के उपनिवेश कायम थे। लम्बे संघर्ष के बाद दक्षिण अमेरिका के पुर्तगाली भाषा-भाषी लोगों को स्वाधीनता प्राप्त हुई और सौभाग्यवश इन्होंने स्वतन्त्रता के बाद भी अपनी एकता कायम रखी। फलस्वरूप इनका जो स्वाधीन राज्य सन् 1825 में स्थापित हुआ वह ब्राजील के संघीय राज्य के नाम से हमारे सामने है। दूसरी ओर स्पेन के उपनिवेशों ने अपना समारम्भ आठ भिन्न राष्ट्रों के रूप में किया। ये राष्ट्र थे—मैक्सिको, मध्य अमेरिका, कोलम्बिया, पीरू, बोलीविया, पैरागुए, अर्जेन्टाइना और चिली किन्तु लगभग एक शताब्दी में ही इन आठ राज्यों ने अठारह राष्ट्रों का रूप ले लिया। सन् 1828 में उरुग्वे ने अर्जेन्टाइना के विरुद्ध विद्रोह किया और सन् 1830 में वह एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। इसी तरह कोलम्बिया का सन् 1830 में तीन राज्यों में विभाजन हो गया—वेनेजुएला, कोलम्बिया और इक्वेडोर। सन् 1844 में डोमिनिकन गणराज्य ने स्वतन्त्रता प्राप्त करली और सन् 1898 में क्यूबा भी स्पेन के शिकंजे से निकलकर स्वतन्त्र हो गया। पनामा ने कोलम्बिया से पृथक् होकर सन् 1903 में पृथक् राज्य का रूप ग्रहण किया। इन विकासों के फलस्वरूप लेटिन अमेरिकी राज्यों की वह भूमिका, जो स्पेनिश और पुर्तगाली साम्राज्यों से उदय हुई थी, नई दुनिया में परिणत हो गई। सन् 1840 में मध्य अमेरिका के पाँच राज्य बन गए—ग्वाटेमाला, होंडुरास, निकारगुआ, एल साल्वेडोर तथा कोस्टारिका। सन् 1821 में सैण्टो डोमिनगो स्पेनिश नियन्त्रण से मुक्ति पा चुका था। लम्बे संघर्ष के बाद सन् 1898 में क्यूबा ने स्पेन से स्वतन्त्रता प्राप्त कर पृथक् राज्य का गौरव हासिल किया। वर्तमान में कुल मिलाकर 24 लेटिन अमेरिकी गणराज्य हैं जिनके नाम ये हैं[1]—

1. अर्जेन्टाइना (Argentina)	2. उरुग्वे (Uruguay)
3. क्यूबा (Cuba)	4. ब्राजील (Brazil)
5. कोस्टारिका (Costarica)	6. पेरागुवे (Paraguay)
7. एल साल्वेडोर (El Salvador)	8. होण्डुरास (Honduras)
9. मैक्सिको (Mexico)	10. निकारगुआ (Nicaragua)
11. वेनेजुएला (Venezuela)	12. चिली (Chile)
13. पनामा (Panama)	14. कोलम्बिया (Colombia)
15. इक्वेडोर (Equador)	16. बोलीविया (Bolivia)
17. ग्वाटेमाला (Guatemala)	18. पेरू (Peru)

1 *Palmer and Perkins* : op. cit., p. 413.

19. नीग्रो गणराज्य-हेटी (Negroid-Haiti)
20. बार्बाडोस (Barbados)
21. डोमिनिकन गणराज्य (Dominican Republic)
22 जमैका (Jama ca)
23. ट्रिनिडाड तथा टोबेगो (Trinidad and Tobago)
24. गायना (East India-Guiana)

लेटिन अमेरिका के सभी राज्यों मे क्षेत्रफल की दृष्टि से ब्राजील सबसे विशाल है, यहाँ के पन्ने की खानें विश्व प्रसिद्ध है और साथ ही यह विश्व का सबसे अधिक कॉफी-उत्पादक देश है।

20वी सदी में लेटिन अमेरिका की मौलिक समस्याएँ, प्रभाव व जागरण

ऐतिहासिक विभिन्नताओं ने एंग्लो-सेक्सन अमेरिका और लेटिन अमेरिका को दो भिन्न समाजो का रूप दिया है जिनकी प्रकृति और महत्त्व, उद्देश्य और आदर्श अलग-अलग हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा ने अपने लेटिन अमेरिकी पडौसियो की समस्याओ और प्राथमिकताओं की अवहेलना करके अपना विकास जारी रखा है।[1] इस अवहेलना के 19वी शताब्दी मे तो विशेष दुष्परिणाम नही निकले, किन्तु बीसवी शताब्दी से, जबकि विश्व के सभी भाग एक दूसरे पर तेजी से अन्त-निर्भर होते जा रहे है, इन दो अमेरिकाओ के बीच सहानुभूतिपूर्ण सद्भावना की कमी के गम्भीर परिणाम निकले और कुछ परिणाम तो द्वितीय महायुद्ध के बाद कठोर सत्यो के रूप मे परिणत हो गए।[2]

बीसवी शताब्दी मे लेटिन अमेरिका को कुछ मौलिक समस्याओ से जूझना पडा है जिसका न केवल लेटिन अमेरिका की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियो पर बल्कि काफी सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रवाह पर भी प्रभाव पडा है। ब्रून एव मैमते ने इन समस्याओ और प्रभावो का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है जिसका सक्षेप, उन्ही के शब्दो मे, निम्नानुसार है[3]—

"लेटिन अमेरिका के लोगो ने 20वी शताब्दी मे जिन कठिनाइयो का सामना किया उनमे तीन अनिश्चित समस्याओ ने और भी वृद्धि कर दी। पहली समस्या थी लेटिन अमेरिका की जनसंख्या मे तीव्र वृद्धि। दूसरी समस्या आर्थिक थी। साधनो का सर्वोत्तम विकास किस प्रकार किया जाए ताकि बढते हुए लाखों लोगो की आय मे वृद्धि करके सामान्य जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया जा सके ? तीसरी समस्या प्रशासकीय थी—किस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था तथा किस प्रकार की सरकार हो जो आज के इस प्रतियोगितापूर्ण विश्व मे इस निर्धन और सघर्षरत जनता का अस्तित्व कायम रख उनके कल्याण मे वृद्धि कर सके। ये तीनो समस्याएँ

1-3 *Brunn & Mamatey* : op cit , p. 267-270.

नई नहीं थी। साधन, सुरक्षा और सामाजिक न्याय की समस्या को कोई भी राष्ट्र या सरकार ज्यादा समय तक टाल नहीं सकती थी। फिर भी 20वीं शताब्दी के मध्य में जिस गति से लेटिन अमेरिका की जनसख्या मे वृद्धि हो रही थी, इसने कुशल सरकार और साधनों के *समुचित प्रयोग को तुरन्त आवश्यक बना दिया।*"

"जनसख्या के दबाव और सीमित आय दोनो ने सरकार के लिए यह आवश्यक बना दिया कि पूर्ण सतर्कता और कुशलता के साथ अर्थ-व्यवस्था को विकसित किया जाए। किन्तु यह कौन-सी कुशल प्रशासन व्यवस्था हो सकती थी? विश्व के अमीर देश, जो प्रति व्यक्ति अधिक आर्थिक आय का उपभोग कर रहे थे वे जनतन्त्र के प्रतिपादक थे लेकिन कुछ देशो मे जो अपने साधनो का विकास कर रहे थे और अपनी अर्थ-व्यवस्था को उन्नत बना रहे थे, साम्यवादी शासन था। क्या *साम्यवाद आर्थिक समृद्धि को तेजी से बढ़ा सकता था और जनतन्त्र की अपेक्षा अधिक* न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था कर सकता था? विश्व की निर्धन जनता के सामने यह एक प्रश्न-चिह्न था और विश्व की दो-तिहाई जनसख्या निर्धन थी। यही प्रश्न लेटिन अमेरिकी जनता के सम्मुख था।"

"जनतन्त्र को जिस रूप मे आंग्ल-सेक्सन और अमेरिका की जनता ने समझा था, उसने लेटिन अमेरिका की सतह को कभी छुआ भी नही था। सम्पूर्ण उपनिवेश-वादी काल में सत्ता का प्रयोग सुदूर-स्थित राजा द्वारा किया जाता था, राजा जो *मैड्रिड मे (या ब्राजील के लिए लिस्बन मे) था दैवी अधिकारो के आधार पर शासन* करता था। आजादी की डेढ़ शताब्दी बाद भी लेटिन अमेरिका के लोगों में जनतन्त्रीय परम्पराओ का अभाव था। उनके बुद्धिवादी नेताओ ने, जिन्होने अमेरिका और पश्चिमी यूरोप की जनतन्त्र प्रणाली का अध्ययन किया था, आदर्श सविधानो का निर्माण किया, लेकिन जन-समूह सरकार के आदर्श-कानूनों को न तो पढ सकता था और न समझ सकता था। उनके लिए नेता ही सत्ता का प्रतीक था—ऐसा शासन (Caud llo) जिसकी आज्ञा का पालन किया जाता था क्योंकि उसके पास आज्ञा-पालन करवा सकने की शक्ति थी। जनमत पर आधारित सत्ता द्वारा राष्ट्रपति शासन करे, यह सिद्धान्त उनको बिल्कुल प्रभावित नही कर सका क्योंकि यह वास्तविकता को झुठलाता था। उन्होंने यही देखा था कि निर्वाचित राष्ट्रपति को कोई भी नेता एक सफल सैनिक क्रान्ति द्वारा हटाकर सत्ता उस समय तक के लिए *छीन लेता या जब तक कि कोई और नेता हिंसा के प्रयोग द्वारा उसका स्थान न ले* ले। यह विचार हमेशा प्रबल रहा है कि सत्ता उसी व्यक्ति या दल मे निवास करती है जिसमे सत्ता पाने की इच्छा और शक्ति होती है क्योंकि राजनीतिक वास्तविकताओ ने हमेशा इसी का समर्थन किया था।"

"लेटिन अमेरिका एक शक्तिशाली व्यक्ति या तानाशाह से ही, जो पुलिस और सेना पर नियन्त्रण रख कर किसी भी विरोधी दल को पनपने नही दे, परिचित था। पूर्ण सत्ताधारी तानाशाह ही परिचित राजनीतिक आदर्श था। इस प्रकार की विचारधारा और व्यवहार की निरन्तरता के कारण जनतन्त्र और उत्तरदायी सरकार

के आधारभूत सिद्धान्तों, विभाजित सत्ता, अवरोध, सन्तुलन तथा सीमाओं के स्थान पर लेटिन अमेरिका के बहुत-से निवासियों ने साम्यवादी शासन के तानाशाही तरीकों को अधिक उपयुक्त समझा। उन लोगों से, जो तानाशाह को ही सरकार और कानून समझते थे, यह बहस करना निरर्थक था कि एक संविधान, सामाजिक स्वतन्त्रता का अधिकार, भाषण की स्वतन्त्रता स्वतन्त्र चुनाव आदि जनतन्त्र ही प्रदान करता है। निश्चित परम्पराएँ, सोचने के तरीके और सत्ता के व्यवस्थित परिवर्तन की कानूनी परम्पराएँ लेटिन अमेरिका में न तो विकसित ही हो सकी और न स्थगित की जा सकी। जनतन्त्र के इन उदार और दृढ़ आधारों की कमी ने फासिस्ट, नात्सी और साम्यवाद जैसी तानाशाही विचारधाराओं के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।"

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका के विचारों एवं राजनीतिक संस्थाओं से इन राज्यों ने प्रेरणा एवं मार्गदर्शन ग्रहण किया किन्तु यहाँ के राजनीतिक विचारकों की यह गलती रही कि इन्होंने उत्तरी-अमेरिका के लिखित संविधान, सरकार के गणतन्त्रात्मक स्वरूप, आदि संस्थाओं के सफल संचालन को तो देखा और यह आशा भी की कि इनके अपनाने पर स्थिरता एवं सम्पन्नता प्राप्त की जा सकती है, किन्तु उन्होंने यह नहीं देखा कि क्या उनके देश में इन संस्थाओं को अपनाने योग्य अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि गृहयुद्ध छिड़ गया तथा अनेक लेटिन अमेरिकी राज्यों को रक्तपात, तानाशाही और गरीबी आदि अभिशापों का सामना करना पड़ा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ब्राजील, चिली, और अर्जेन्टाइना ही तीन ऐसे राज्य थे जहाँ राजनीतिक स्थिरता एवं प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं के विकास की आशा की जा सकती थी। बाद में कोलम्बिया कोस्टारिका, मैक्सिको, उरुग्वे आदि राज्य भी इसी श्रेणी में आ गए। अर्जेन्टाइना तथा ब्राजील में तानाशाही शासन स्थापित हो गया, किन्तु सन् 1956 में वहाँ पुनः प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं का उदय होने लगा। मैक्सिको में एकदलीय व्यवस्था के साथ विशेषीकृत प्रजातन्त्र (Qualified Democracy) को अपनाया गया। उरुग्वे को लेटिन अमेरिका का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विकासशील प्रजातन्त्र देश माना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लेटिन अमेरिका
(Latin America in International Field)

संयुक्तराज्य अमेरिका और लेटिन अमेरिकी देश—संसार के अन्य राष्ट्रों में लेटिन अमेरिका का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध संयुक्तराज्य अमेरिका से है। यहाँ के राज्यों की दृष्टि से अमेरिका दुनिया की क्रान्तिकारी शक्ति और स्वतन्त्रता का प्रतीक था। तत्कालीन उपनिवेशवादी शक्तियों के लिए यह एक भारी खतरा था। लेटिन अमेरिका के राज्यों को उनके स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में संयुक्तराज्य अमेरिका ने पूरा समर्थन दिया था। लेकिन इस समर्थन के पीछे उसकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाएँ सन्निहित थीं और इसीलिए अमेरिका की लेटिन अमेरिकी नीति को 'यांकी साम्राज्यवाद' (Yanki Imperialism) और डॉलर कूटनीति (Dollar Diplomacy) का नाम

दिया जाता है। इस नीति के विकास की विभिन्न मंजिलें रही है और हर मंजिल पर इस नीति को अलग-अलग नामों से पुकारा जाता रहा है।

पहली मंजिल 19वी सदी मे 'मुनरो-सिद्धान्त' के रूप मे दृष्टिगोचर होती है जिसका प्रतिपादन तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति मुनरो द्वारा इस क्षेत्र मे यूरोपीय उपनिवेशवादियो के आक्रामक रवैये की पृष्ठभूमि मे किया गया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लेटिन अमेरिकी राज्यो को मान्यता प्रदान करने वाला सर्वप्रथम देश संयुक्त-राज्य अमेरिका ही था और सन् 1823 में मुनरो सिद्धान्त द्वारा अमेरिका ने नई दुनिया मे उपनिवेश स्थापित करने के विरुद्ध चेतावनी दे दी और स्पष्ट कर दिया कि अमेरिकी राज्यो के मामले मे किसी दूसरे के हस्तक्षेप को सहन नही किया जाएगा। लेटिन अमेरिकी राज्यो मे इस सिद्धान्त की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। उस समय ये देश इस बात को नही भाँप सके कि मुनरो-सिद्धान्त का सहारा लेकर संयुक्तराज्य अमेरिका उन पर अपने अनियन्त्रित राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने का खेल खेल रहा है। इसके उपरान्त दूसरी मंजिल आई जिसे थियोडोर रूजवेल्ट द्वारा प्रतिपादित 'बड़ी डण्डा-नीति' (Big Stick Policy) कहा जाता है। तीसरी मंजिल की नीति 'डॉलर कूटनीति' कहलाती है जिसकी रचना विलियम टाफ्ट ने की थी। इन सभी मंजिलो के दौरान, संयुक्तराज्य अमेरिका लेटिन अमेरिकी राज्यों मे अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करता रहा और औपचारिक रूप से निष्पक्ष रहते हुए भी उसने इन राज्यों के सबसे प्रमुख बाहरी मित्र की भूमिका अदा की। सन् 1904 में अमेरिका ने पनामा के साथ हे बुनाऊ-वरीला (Hay-Bunau-Verilla) की सन्धि की जिसके अनुसार नहर की रक्षा के लिए वह इस राज्य के मामलो में हस्तक्षेप कर सकता था। इस प्रकार संरक्षित राज्यो (Protectorates) का समय प्रारम्भ हुआ। डोमोनिकन गणराज्यो को सन् 1905 से 1924 तक अधिकार में रखा गया। निकारागुआ, हैटी आदि पर अमेरिका का संरक्षण स्थापित रहा। क्यूबा ने अमेरिका सहयोग से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, अत उसे भी स्वेच्छानुसार जीवन व्यतीत करने के की अनुमति नहीं दी गई। इन चार राज्यो पर अमेरिकी सैनिक प्रभाव रहा। वुडरो विल्सन के समय अमेरिकी भ्रातृत्व की भावना का विकास हुआ, संरक्षित अमेरिकी साम्राज्यवाद का पतन होने लगा और अच्छे पडोसी-सम्बन्धो की सृष्टि हुई। चौथी मंजिल मे फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की 'अच्छे पड़ोसी की नीति' का नम्बर आता है। उनके राष्ट्रपतित्व काल में लेटिन अमेरिका के राज्य हैटी पर से अमेरिका का अन्तिम प्रभाव भी हटा लिया गया और दोनों के बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। रूजवेल्ट के शासन काल मे पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा, सम्पन्नता एव सद्भावना की दृष्टि से अनेक कार्य किए गए। भ्रातृत्व के भाव विकसित करने के लिए अमेरिका में अनेक सम्मेलन हुए। पाँचवीं मंजिल की नीति का निर्माण आइजनहावर ने किया जिसे 'अच्छे साझीदार' (Good Partner) की नीति कहा जाता है। आइजनहावर-प्रशासन ने लेटिन अमेरिका के राज्यों को काफी तकनीकी सहयोग प्रदान किया। छठी मंजिल मे कैनेडी ने लेटिन अमेरिकी देशों के प्रति एक नवीन नीति प्रस्थापित

की जिसे 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का नाम दिया गया। कैनेडी-प्रशासन यह मानकर चला कि लेटिन अमेरिकी राज्यों में साम्यवाद का प्रसार स्वयं अमेरिका की सुरक्षा के लिए एक चुनौती बन जाएगा। इसी आधार पर राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा क्यूबा के प्रश्न पर दृढ़ निर्णय लिया गया। क्यूबा में साम्यवादी सैनिक चौकियों की स्थापना अमेरिका के हितों एवं सुरक्षा पर एक गहरा आघात था। इसका विरोध करने के लिए अणु-अस्त्रों के प्रयोग तक की नौबत आ गई। **सातवीं और अन्तिम** मंजिल की रचना सन् 1969 में राष्ट्रपति निक्सन ने की और इस नीति को 'समान साझीदारी' (Equal Partnership) की नीति की संज्ञा दी गई। फोर्ड-प्रशासन ने निक्सन-नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। कार्टर के समय भी लेटिन अमेरिका के प्रति अमरिकी-नीति लगभग पूर्ववत बनी रही किन्तु उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति रीगन लेटिन अमेरिका में अधिकाधिक हस्तक्षेप की नीति पर चल रहे हैं। सन् 1981 में एलसाल्वाडोर के गृहयुद्ध में अमेरिका की जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी इसका स्पष्ट उदाहरण है। वास्तव में कुछ लेटिन अमेरिकी देशों की राजनीतिक अस्थिरता अमेरिका को हस्तक्षेप के लिए आमन्त्रित करती रहती है।

लेटिन अमेरिकी राज्यों के प्रति संयुक्तराज्य अमेरिका की नीतियों को चाहे जिस नाम से पुकारा गया, इस मत को ठुकराना कठिन है कि नीतियों का स्वरूप हमेशा किसी न किसी रूप में साम्राज्यवादी रहा है। इन नीतियों के माध्यम से अमेरिका ने लेटिन अमेरिकी क्षेत्र में अपने प्रभाव में अभिवृद्धि की वहाँ अपनी कठपुतली सरकारें कायम कीं, लेटिन अमेरिकी राज्यों के आन्तरिक मामलों में खुला हस्तक्षेप कर उनकी सम्प्रभुता की अवहेलना की गई और कई अवसरों पर ऐसे युद्धों को जन्म दिया, जिन्हें नैतिक दृष्टि से कभी उचित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अमेरिका ने लेटिन अमेरिकी राज्यों को एक प्रकार से अपनी जमींदारी समझा है, डॉलर फैंक कर या सैनिक हस्तक्षेप करके उन्हें अपने शिकन्जे में जकड़े रखने की नीति अपनाई गई है। लेकिन क्यूबा जैसे राज्य अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त होकर अपनी सम्प्रभुता का झण्डा फहरा रहे हैं और इसमें सन्देह नहीं कि निकट भविष्य में लेटिन अमेरिका में संयुक्तराज्य अमेरिका के 'साम्राज्यवाद' का अन्त होकर रहेगा। लेटिन अमेरिका में लोकतान्त्रिक शक्तियाँ प्रबल होती जा रही हैं और उन प्रतिगामी सरकारों का भविष्य उज्ज्वल नहीं है जिनका अस्तित्व संयुक्तराज्य अमेरिका की सहायता पर निर्भर है।

यूरोप के देश और लेटिन अमेरिका—जहाँ तक लेटिन अमेरिका के राज्यों तथा यूरोप के देशों से इनके सम्बन्धों का प्रश्न है, यह कहा जाता है कि प्रारम्भ से ही यूरोप के देशों ने यहाँ उपनिवेश स्थापित कर रखे थे। इन राज्यों ने स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद यूरोप की शक्ति-राजनीति में बहुत कम भाग लिया, किन्तु विगत दोनों ही महायुद्धों में इनका सक्रिय सहयोग रहा। यहाँ के अधिकांश राज्यों पर स्पेन की संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है, अतः स्वतन्त्रता के बाद स्पेन के साथ इनके सम्बन्ध घनिष्ठ हो गए। स्पेन में फ्रांको-शासन के प्रति लेटिन अमेरिका के राज्यों में

मतभेद था, इनसे ये सम्बन्ध कुछ कमजोर पड़े। ब्राजील तथा पुर्तगाल से इनके सम्बन्ध सदा ही मित्रतापूर्ण रहे हैं। फ्रांस के साथ यहाँ के राज्यों के प्रारम्भ से ही अच्छे सम्बन्ध नहीं रहे हैं, किन्तु यहाँ फ्रांस की संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक है। यहाँ की भाषा, साहित्य, कला, फैशन, पहनावे आदि पर फ्रांस का स्पष्ट प्रभाव है। जर्मनी के साथ लेटिन अमेरिका के सम्बन्ध प्रायः आर्थिक रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लेटिन अमेरिका के महत्त्व में अभिवृद्धि : सम्भावनाएँ व बाधाएँ

निकट भविष्य में लेटिन अमेरिका के राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्व बढ़ जाएगा। इस सम्भावना के अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं—

(1) इस क्षेत्र की जनसख्या तीव्रगति से बढ़ रही है।

(2) यहाँ कच्चे माल का सबसे अधिक उत्पादन होता है।

(3) यह अमेरिकी राज्यों के सगठन (OAS) का एक बड़ा भाग है।

(4) इस प्रदेश के राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में जो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं वे अत्यन्त कुशल तथा तीव्र बुद्धि के राजनीतिज्ञ होते हैं।

(5) ये राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ, अमेरिकी राज्यों के सगठन तथा अमेरिका के सहयोग से औद्योगीकरण एवं नवीनीकरण करने में सलग्न हैं।

लेटिन अमेरिका की प्रगति में आशा के उक्त सकेतों के अतिरिक्त मार्ग को अनेक बाधाएँ भी हैं जो इस क्षेत्र के विकास की गति को धीमी बनाती हैं। ये बाधाएँ अग्रलिखित हैं—

(1) इन राज्यों की भौगोलिक बनावट के कारण एक-दूसरे के बीच आवागमन के साधन स्थापित करना तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक सम्बन्ध बढ़ाना मुश्किल है।

(2) इस प्रदेश के अधिकांश राज्यों में बहुत समय से राजनीतिक अस्थिरता, भ्रष्टाचार तथा अप्रजातान्त्रिक व्यवहारों का बोलबाला है।

(3) इन राज्यों की अर्थ-व्यवस्था कुछ ऐसी है जिसका व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ मेल नहीं खाता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक विकास दोनों से युक्त अर्थ-व्यवस्था का इन राज्यों में अभाव है।

(4) इन राज्यों में लोगों की सामाजिक स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है, अधिकांश लोग गरीबी तथा अशिक्षा के शिकार हैं। इसके अतिरिक्त रंगभेद की नीति के कारण व्यक्ति की समानता का सिद्धान्त भी क्रियान्वित नहीं हो पाता।

(5) रोमन कैथोलिक चर्च के महत्त्व के सम्बन्ध में इन देशों में भारी वाद-विवाद है। कुछ कहते हैं कि चर्च को राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, किन्तु दूसरों का मत इसके विपरीत है। दक्षिण-अमेरिका में जब स्वतन्त्रता के लिए युद्ध किया गया था तो चर्च ने स्पेन का समर्थन किया था। यह बात अभी तक इन राज्यों को याद है फिर भी चर्च के समर्थक व धर्म के अनुयायी चर्च के समर्थक हैं।

(6) इन राज्यो पर सयुक्तराज्य अमेरिका का भारी प्रभाव रहता है और जिसके कारण इस क्षेत्र के राजनीतिक एव आर्थिक जीवन पर अनेक हानिकारक प्रभाव पडते रहते है।

(7) इन राज्यो पर धीरे-धीरे साम्यवाद का प्रभाव बढता जा रहा है। इससे पूर्व यहाँ फासीवादी प्रवृत्तियो का जोर था, किन्तु साम्यवाद ने आसानी से उसका स्थान ग्रहण कर लिया क्योकि—

(i) यहाँ फासीवाद प्रजातन्त्र का बाना पहने हुए है, (ii) यह एक जाति की सर्वोच्चता पर जोर नही देता, (iii) यह धर्म पर आधारित नही है। स्टुअर्ट का कहना है कि "लेटिन अमेरिकी गणतन्त्र मे प्रजातन्त्र की अपेक्षा साम्यवाद अधिक प्रभावी है क्योकि यहाँ विदेशी पूँजीपतियों अथवा राष्ट्रीय राजनीतिज्ञो द्वारा जनता का शोषण एक सामान्य बात हो गई है।" लेटिन अमेरिका के साम्यवादी नेताओ पर सन् 1939 से कॉमिण्टर्न (Comintern) का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। ब्राजील, चिली (Chile), अर्जेन्टाइना, मैक्सिको, क्यूबा आदि राज्यो मे साम्यवादी नेता शक्ति प्राप्त करने लगे। ग्वाटेमाला (Guatemala) की विजय लेटिन अमेरिका मे साम्यवादियो की सबसे बडी सफलता मानी जाती है। इन सभी सफलताओ के बाद भी लेटिन अमेरिका मे साम्यवाद का जहाँ-तहाँ थोडा-बहुत प्रभाव है और इसको पश्चिमी देशो द्वारा कोई गम्भीर चुनौती नही समझी जाती। सयुक्तराज्य अमेरिका ने अनेक बहुपक्षीय सन्धियो द्वारा लेटिन अमेरिका के राज्यो को हथियार तथा सैनिक मिशन भेजे हैं। सभी सदस्यो की सहमति मे अमेरिकी राज्यों के सगठन (OAS) ने यहाँ साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए अनेक कदम उठाए हैं।

लेटिन अमेरिका के विकास की सबसे बडी बाधा यह मानी जाती है कि यहाँ के लोगों में सामाजिक चेतना नही है। इस प्रदेश में अभी तक किसी ऐसे नेतृत्व का जन्म नही हुआ जो सारे प्रदेश की सहमति प्राप्त कर विश्व राजनीति में उसका प्रयोग कर सके।

लेटिन अमेरिका, एशिया तथा अफ्रीका व अन्य क्षेत्र में वामपंथी प्रवृत्तियाँ[1]

एक वक्त था जब लेटिन अमेरिकी देश अमेरिका की धड़कन समझे जाते थे। लेकिन क्यूबा मे फिदेल कास्त्रो ने दो दर्जन साल पहले कुछ अलग हरकत कर अमेरिका के इस मिशन को मिथ्या साबित कर दिया। न केवल यही बल्कि उनके एक छापामार मित्र चेग्वेवारा और फ्रांसीसी बुद्धिजीवी रेजिस देब्रे (वर्तमान फ्रांसीसी सरकार मे मन्त्री) ने अपनी वामपंथी विचारधारा का जिस प्रकार फैलाव शुरू किया उससे अमेरिकी शासनतन्त्र मे खलबली मच गई। इन दो छापामारो ने बोलीविया के जगलों को अपना शरणालय बनाया और स्थानीय लोगो का (आज भी यहाँ पर मूल इन्डियन्स की सख्या बहुत है) सहयोग प्राप्त कर तत्कालीन सरकारों को

1 दिनमान, जनवरी 1982.

चुनौती दे डाली। बेशक अमेरिका के समर्थन से सतत और सक्रिय छापामार उन्मूलन प्रहार के कारण चेग्वेवारा मारा गया लेकिन जिन चिन्हों की छाप बोलीविया के जगलों मे वह छोड़ गये वह सिमट कर ही नहीं रह गई उसने ऐसा रास्ता बनाया जिसकी पगडडिया आज कई लेटिन अमेरिकी देशों से होकर गुजरती है। बोलीविया मे न तब स्थिरता थी और न ही आज है। शायद ही कोई सरकार पूरा साल वहाँ टिकती हो।

लेटिन अमेरिका को अक्सर अनिश्चित समुदायों का महाद्वीप माना जाता है। यहाँ के सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रो पर कुछ सामतवादियो का वर्चस्व है। निकारागुआ का सोमोजा परिवार अधिक विख्यात है। सामन्तवादी परिवारो का सभी क्षेत्रो पर इतना प्रभाव है कि उनकी मर्जी के बिना कोई सरकार चल ही नही सकती और न ही उनसे पूछे बिना सुधार किये जा सकते थे। ये सान्मती परिवार जब चाहते क्रान्ति कराकर नई सरकार गठित करा देते और जिसे चाहते उसे सत्ताहीन कर देते। यथास्थिति शायद उनकी नियति रही है। बहुविध समुदायो के कारण क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का कभी अभाव नही रहा है। अमेरिका और लेटिन अमेरिका मे एक बडा और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जहाँ अमेरिका और कनाडा मे ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, आयरलैंड, यूनान आदि देशो के लोग आकर बसे वहाँ लेटिन अमेरिकी देशों मे निरन्तर युद्धो का जोर रहा। लेटिन अमेरिकी देश स्पेन और पुर्तगाल की बस्तियाँ ही बन कर रह गये। उन्हे धीरे-धीरे मुक्ति तो मिलती रही लेकिन औपनिवेशिक शक्तियाँ सदैव प्रभावशाली रही। यद्यपि आज आर्हेतीना वेनेजुएला, चीले, मैक्सिको और लेटिन लातीनी अमेरिका के आधुनिक देश माने जाते हैं तथापि कम से कम पन्द्रह देश आज भी ऐसे हैं जो पिछड़ेपन की तस्वीर प्रस्तुत करते है। इन पाँच देशो को किसी पश्चिमी यूरोपीय देश से कम विकसित और स्थिर नही माना जाता। इन देशो की सामाजिक आधुनिकता और राजनैतिक स्थिरता के कारण अन्य पडौसी देशों ने भी जब उनके प्रवाह मे बहने का प्रयास किया तो सामन्तवादी तबको मे तीखी प्रतिक्रिया हुई। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सामन्तवादी और सामन्तवादियो मे जो रेखा खिची वह बढती चली गई। आज हालत यह है कि लेटिन अमेरिकी देशों मे (यदि पाच को छोड भी दिया जाये) बडे पैमाने पर राजनैतिक अस्थिरता है और अर्थव्यवस्था जर्जर है।

निकारागुआ, ग्रेनाडा, अल साल्वाडोर, ग्वाटेमाला, होंडूरास आदि देशों का राजनैतिक जीवन पहले की तरह ही सकटपूर्ण स्थिति मे है। आज भी निरकुश सैनिक या सेना समर्थित सरकारें सत्ता मे हैं और राजनीतिक बौने से दीखते हैं। सैनिक शासन के कारण लोग नागरिक अधिकारो से वचित है। कमोबेश उन्ही पाँच देशो मे नागरिक अधिकार लोगो को उपलब्ध हैं (चीले मे वह भी नही) या राजनैतिक पार्टियो का अस्तित्व है। लेकिन शुद्ध गैरसैनिक सरकारें वेनेजुएला और मैक्सिको में ही है। लेटिन अमेरिका मे जिस प्रकार सत्ता पाने की लूटखसोट मची हुई है उससे कुछ प्रेक्षक उसे 'राजनीति विरोधी राजनीति' का नाम देते हैं। इस

तरह की निरकुश सैनिक शाही को भेदने का जो लोग या तबका प्रयास करता है उसे पहले तो सहमा सहमा और बाद मे अधिक समर्थन प्राप्त होता है। क्यूबा में फिदेल कास्त्रो ने बातिस्ता को निरकुश प्रवृत्तियों के विरुद्ध लोगों मे जागरूकता पैदा करने मे सफलता प्राप्त की (1 जनवरी 1959 में बातिस्ता सत्ताच्युत)। चीले में अस्थिरता के कारण डॉ साल्वाडोर अायेंदे 1970 मे राष्ट्रपति चुने गये (11 सितम्बर 1973 को जनरल आगुस्तो पिनोचेते द्वारा सत्ताच्युत)। निकारागुआ मे सोमोआ का चार दशक का शासन उनके शासन के विद्रोहियों ने हिला दिया। अब साल्वाडोर मे अभी भी दो विद्रोही तबकों में सघर्ष चल रहा है, हॉडूरास में तनाव की स्थिति है। ग्वाटेमाला और हॉडूरास का परस्पर तनाव कौन सा रुख अख्तियार करता है चर्चा का विषय है। बोलिविया, उरुग्वे, पराग्वे, कोलम्बिया भी अधिक स्थिर नही हैं।

प्रश्न यह उठता है कि इन विद्रोहियो या छापामारों को किसका सहयोग मिल रहा है। क्या सोवियत संघ या उसका मित्र क्यूबा इन विद्रोहियो की सहायता कर रहा है? यद्यपि इस तरह के हस्तक्षेप या समर्थन को प्रत्यक्ष तौर पर मानने को तैयार नही है तो भी इसमे दो राय नही कि जब से फिडेल कास्त्रो क्यूबा मे जमे हैं उन्हे उखाड़ा नही जा सका है। प्रयास न किये गये हो ऐसी बात तो नही। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्यूबा तो अमेरिका का निकट पडोसी है। उसकी सीमा लाँघ कर हाल तक लोग क्यूबा से अमेरिका मे प्रवेश करते रहे हैं और अमेरिका के अपने नगर मियामी मे क्यूबाइयों का एक अच्छा खासा उपनगर सा बस गया है जहाँ 'लघु हवाना' भी एक बस्ती है। वहाँ सभी के तौर तरीके क्यूबाई हैं। इस बस्ती के सभी लोग कास्त्रो विरोधी हो यह आवश्यक नही। कास्त्रो धुर मार्क्सवादी है, यह तयशुदा बात है। मार्क्सवादी आयेंदे भी थे लेकिन एक तो अधिक उम्र के कारण उनमे कास्त्रो जैसी गतिशीलता नही थी और दूसरे चीले क्यूबा से इसलिए भी भिन्न है क्योंकि वहाँ पर यूरोप के पश्चिमी भाग के लोगों की संख्या अधिक है। स्थानीय इन्डियन तो कम ही देखने को मिलेंगे। लिहाजा पीनोचेत को पहले आयेंदे के विरुद्ध वातावरण बनाने और बाद में उन्हे सत्ता से हटाने में अधिक कठिनाई नही पड़ी लेकिन जडता और वह भी राजनैतिक जडता यहाँ के लोगो को पसद नही लिहाजा पीनोचेत के विरुद्ध भी कानाफूसी तो होती ही रहती है। मौका मिलने पर और सम्भवतया निकारागुआ और एल साल्वाडोर जैसे विद्रोहियों के संगठित हो जाने पर चीले मे मार्क्सवादी शक्तियाँ तीखी हो जायें तो असम्भव नही और छापामार निकारागुआ के विद्रोही और वर्तमान शासक पहले ही विद्रोही थे, उनका विश्वास भी सामन्तवादी समाज मे था। उन लोगों ने सोमोजा जैसे शक्तिशाली नेता को हिला कर जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी अब उन मे भी मतभेद बनते और बढते जा रहे हैं। यद्यपि सोवियत संघ और क्यूबा की उन्हे आर्थिक और सैनिक सहायता मिल रही है लेकिन लोगों की समाजगत सोच सम्भवतया एक बार पुनः परिवर्तन की इच्छुक दीखती है। एक बार जड़ता हटने मे

लोग प्रयोगवादी हो जाते हैं और उनके जहन में बेहतर विकल्प की चाह बलवती होने लगती है। अल साल्वाडोर में दो छापामार तबकों में मतभेदों के कारण ही निकारागुआ के लोगों को बल मिल रहा है, लेकिन इतना तो दीख रहा है कि कल तक सोमोजा की पीठ पर हाथ रखने वाले अमेरिका ने आज उस विद्रोही तबके की पीठ थपथपानी शुरू कर दी है जो वामपंथ विरोधी है। यहाँ तक कि उस तबके को बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता का भी आश्वासन दिया गया है।

लातीनी अमेरिकी देशों का एक सगठन भी है जिसका मकसद एक दूसरे की सहायता करना है। लेकिन वर्तमान स्थितियों में वह केवल कागज की शोभा बन कर ही रह गई है। वास्तव में लातीनी अमेरिकी देशों की समस्याओं को जिस प्रकार राष्ट्रपति जान कैनेडी ने समझा था और 'बे ऑफ पिग्स' की घटना ने लातीनी अमेरिकी देशों ने अमेरिका को जितना हितैषी की तरह देखा था उनकी मृत्यु के बाद घटनाक्रम बिलकुल बदल गया। लिंडन जॉनसन और रिचर्ड निक्सन लातीनी अमेरिकी देशों के प्रति उदासीन रहे। जिम्मी कार्टर ने एक बार फिर लातीनी अमेरिकी देशों की समस्याओं को जानने का प्रयास करते हुए उन्हें यथोचित सहायता भी दी। लेकिन कैनेडी और कार्टर के बीच की दूरी से इतनी रिक्तता पैदा हो चुकी थी कि कोई लातीनी अमेरिकी देश अमेरिका पर विश्वास करने को तैयार न था। लातीनी अमेरिकी देशों की अमेरिका के प्रति बढ़ती हुई अविश्वास की भावना को लगता है महसूस कर लिया है जिसके फलस्वरूप वर्तमान रीगन प्रशासन ने अपने द्वार पर वामपंथी प्रवृत्तियों के बढ़ते हुए शोर को लगता है सुना है। कल तक जिन देशों को अमेरिका सहायता देने को हिचकिचाता था आज उसने सहायता कोष का मुँह खोल दिया है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या लातीनी अमेरिकी देशों की निरन्तर साक्षर होती स्थानीय जनता के मन में अमेरिकी प्रशासन अपने लिए जगह बनाने में कामयाब हो जाएगा जो आइजनहावर या कैनेडी के समय था, यह अवश्य एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। वामपंथी विचारधारा का प्रसार केवल विकासशील या अविकसित लातीनी अमेरिकी देशों तक ही सीमित नहीं बल्कि पश्चिम यूरोप के कुछ विकसित देश भी उसके प्रभाव की चपेट में आने लगे हैं। सोवियत संघ और पूर्व यूरोपीय देशों का एक अलग दायरा अवश्य है जिनकी सोच भी लगभग समान है। पश्चिम यूरोप के देशों के वामपंथियों की सोच पूर्व यूरोपीय देशों से बेशक जुदा है। लेकिन वामपंथी इसी बात से सन्तुष्ट हैं कि आज उस विचारधारा को न तो उस तरह अनदेखी की जाती है जैसी कि प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की जाती थी और न ही वामपंथी विचार के लोगों को हिकारत की नजर से देखा जाता है। सोवियत संघ जैसी शासन प्रणाली वाले देश, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पूर्व जर्मनी, पोलैण्ड, बुल्गारिया है लेकिन रोमानिया और युगोस्लोवाकिया में भी वामपंथी विचारधारा की ही सरकारें हैं। इसी प्रकार अल्बानिया जो पहले सोवियत और बाद में चीन समर्थक हो गया था वह आज भी वामपंथी है लेकिन अपने अस्तित्व के प्रति वह सशंकित अवश्य रहता है। स्पानी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता सांटियागो

कारिल्लो ने एक बार कहा भी था—'मस्कवा हमारे लिए रोम नहीं और न ही अक्तूबर (1917) हमारे लिए क्रिसमस है।' इन घोषित वामपंथी देशों के अलावा जिन पश्चिमी देशो में इस विचारधारा की जडे पुख्ता हो रही हैं वे है, फ्रांस, यूनान, इटली, स्पेन, पुर्तगाल, ब्रिटेन आदि। इन देशो मे वामपंथ का मतलब साम्यवाद नहीं या सोवियत सघ की शैली जैसा शासनतन्त्र नही बल्कि दोनों के बीच का रास्ता है। इन पश्चिमी देशो मे कम्युनिस्ट पार्टियाँ तो हैं ही, उसके अलावा समाजवादी पार्टियाँ भी हैं। कई देशों मे दोनो वामपथी पार्टियो में मतैक्य भी है तो कही कही दोनो मे तीखे मतभेद हैं। फ्रांस में समाजवादी राष्ट्रपति फ्रांस्वा मित्तेरा को कम्युनिस्टों का सक्रिय समर्थन प्राप्त है। 1974 में तो दोनो पार्टियो ने मिल कर राष्ट्रपति का चुनाव लड़ा था, लेकिन 1981 में दोनों पार्टियों के अलग-अलग उम्मीदवार थे। लेकिन जब समान सोच का समय आया तो दूसरे दौर के मतदान के दौरान कम्युनिस्टों ने अपना मत समाजवादी मित्तेरां के पक्ष में डाल कर उन्हें जिस्कार देस्तें से अधिक मत दिला दिये। इसी सहयोग के फलस्वरूप आज फ्रांस की सरकार मे चार कम्युनिस्ट मन्त्री हैं, 35 प्रमुख उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है, सार्वजनिक क्षेत्रों का महत्त्व बढ रहा है और गाहेबगाहे ये नेता अमेरिका की नीतियों का विरोध कर अपने अलग अस्तित्व का परिचय भी दे जाते है। वामपंथियों के लिए इस लीक को भी कम महत्त्वपूर्ण नही माना जाता। इटली में कम्युनिस्टो और समाजवादियों दोनो का प्रभाव है। कई ऐसी नगरपालिकाएँ है जहाँ के महापौर कम्युनिस्ट है लेकिन केन्द्रीय सरकार में उनके मन्त्री नहीं, अलबत्ता बहुत-सी सरकारें 'बाहर से' उनके समर्थन पर टिकी रही हैं। फ्रांस की तरह यूनान में भी अक्तूबर, 1981 मे ससद के चुनाव में समाजवादी पार्टी के नेता आंद्रेस पापांद्रिऊ को बहुमत प्रदान कर भूतपूर्व प्रधान मन्त्री और वर्तमान राष्ट्रपति कारमानलिस को पशोपेश मे डाल दिया है। लेकिन राष्ट्रपति के सर्वधानिक नेता होने के नाते वह प्रधान मन्त्री के निर्णय को नकार तो नही सकते लेकिन दोनो मे ठन जाने से अलबत्ता देश में गतिरोध की स्थिति पैदा हो सकती है। समाजवादी पापांद्रिऊ ने सत्तारूढ होने के बाद यूरोपीय आर्थिक समुदाय और नेटो की अपने देश की सदस्यता का जायजा लेना शुरू कर दिया है। स्पेन और पुर्तगाल में तो समाजवादियो की सरकारें रही हैं लेकिन इन दोनो मे कम्युनिस्ट पार्टियो का भी प्रभाव क्षेत्र खासा व्यापक है। दिलचस्प बात यह है कि इन पश्चिमी देशो की कम्युनिस्ट पार्टियो ने सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप का समर्थन नही किया। पिछले वर्ष सोवियत संघ मे वार्षिक सम्मेलन मे भी कोई बड़ा नेता शामिल नही हुआ हालांकि आम तौर पर पश्चिमी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियो के नेता मस्कवा सम्मेलन मे भाग लेते रहे है।

कहने को तो पश्चिमी जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी और ब्रिटेन की लेबर पार्टी को भी वामपथी या वामोन्मुखी माना जाता है। लेकिन समय सरकने के साथ-साथ इनकी परिभाषा बदल गई है। आज इन दोनों पार्टियो मे धुर और मध्यमार्गियों मे इस प्रकार के मतभेद पैदा हो गए हैं जिसने टूट का रूप ले लिया

है। लेबर पार्टी से टूट कर अस्तित्व में आने वाली सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के विचारों के टकराव की ही द्योतक है। पश्चिमी जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में जहाँ हाम्बुर्ग के भूतपूर्व महापौर क्लोज जैसे घुर वामपंथी विचारों के लोग हैं वहाँ हेल्मूट श्मिड्ट जैसे भी व्यक्ति नहीं जिन्हें अनुदारवादी क्रिश्चन डेमोक्रेटिक लोग 'हम ख्याल' मानते हैं। लिहाजा आज विश्व में उस प्रकार का पैमाना नहीं रह गया है जिससे यह नापा जा सके कि अमुक देश और व्यक्ति कितना वामपंथी है और कितना अनुदारवादी।

यदि हम अफ्रीका पर एक नजर डालें तो यह फर्क कुछ ज्यादा साफ हो जाता है। अफ्रीका में आज भी स्वाधीनता प्राप्ति की जद्दोजहद है। दक्षिण अफ्रीका के काले बहुसंख्यक शासन के लिए अपनी लड़ाई जारी रखे हैं। नामीबिया में स्वापो स्वाधीनता की माँग का नारा निरन्तर बुलन्द किए जा रहे हैं। स्वाधीनता संग्रामी इन छापामारों का झुकाव निस्सन्देह फिलहाल वामपथ की ओर है। इन छापामारों को सोवियत संघ और क्यूबा आदि से सैनिक (अस्त्र और व्यक्ति दोनों) सहायता मिलती है, आर्थिक सहायता भी कई स्रोतों से पहुँचती है। अंगोला, मोजाम्बिक और जिम्बाब्वे के स्वाधीनता संग्रामियों को भी सोवियत संघ से सामी सहायता मिला करती थी। आज भी वह सहायता जारी है, लिहाजा यहाँ के नेतृत्व का सोवियत संघ की ओर झुकाव अस्वाभाविक करार नहीं दिया जा सकता। यद्यपि अफ्रीका के ये देश अपने आपको गुटनिरपेक्ष और तटस्थ करार कर देते है तथापि नेतृत्व की सोच में वामपंथ का आभास मिलता ही है।

इन स्वाधीनता संग्राम के कारण सत्तारूढ होने वाले देशों के अलावा कुछ देश ऐसे हैं जिनमें सत्ता की उथल-पुथल से वामपंथी विचारधारा ने प्रवेश किया। इन देशों में इथियोपिया का नाम लिया जाता है। सम्राट् हेले सिलासी की इथियोपिया पर पकड़ ढीली होने के बाद ही देश में लोकतन्त्र की बहाली को लेकर अराजकता पैदा हो गई है। एक के बाद एक कई नेता आए लेकिन पृथकतावादी इरीट्रिया मुक्ति मोर्चे की बलि चढ़ गए। अन्ततः मरियम मैं गिस्तु ने गृहयुद्ध की चपेट में ग्रस्त इथियोपिया पर अपनी सत्ता के सूत्र पुख्ता किए। जब सोवियत संघ की यात्रा के बाद वह उनमें भरपूर आश्वासन और सहायता लेकर लौटे तो उनमें गजब का आत्म-विश्वास था। कल तक का सोवियत मित्र सोमालिया आज बेगाना हो गया था। जब इथियोपिया और सोमालिया में ओगादेन को लेकर युद्ध हुआ तो इथियोपिया की विजय से अफ्रीका के इस क्षेत्र में (हार्न ऑफ अफ्रीका) मेंगिस्तु अपने आपको सुदृढ़ पाने लगे। लिहाजा मेंगिस्तु ने वामपथ की जिस लीक को अपनाया वह बेशक रूसोन्मुखी है। इथियोपिया में सोवियत संघ के अतिरिक्त क्यूबा के भी सैनिक हैं। वैसे भी अफ्रीकी देश पश्चिमी समर्थक कम ही रहे हैं। वहाँ पर अपने-अपने प्रकार का विशेष अफ्रीकी समाजवाद है। यह समाजवाद भी सोवियत संघ के खासा निकट है। घाना के संस्थापक डॉ. क्वामे एन्क्रूमा ने देश को रूस जैसा ही ढाँचा दिया। बाद में सैनिक क्रान्तियों से उसमें परिवर्तन अवश्य आया लेकिन सोवियत

संघ से उसकी निकटता कम नहीं हुई। तांजानिया के जूलियम न्यूरेरे, उगांडा के डॉ मिल्टन श्रोबोटे, जाम्बिया के केनेथ काउडा भी समाजवादी विचारो के नेता ही माने जाते हैं।

जहाँ तक एशियाई देशो का सम्बन्ध है आठवें दशक के अन्त से वामपंथी प्रवृत्तियों का प्रसार अधिक तेज गति से हुआ। 24 दिसम्बर, 1979 मे अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिकों के हस्तक्षेप के बाद से ऐसा लगने लगा कि कहीं-कहीं एशिया भी तो पूर्वी यूरोप बनने नहीं जा रहा है। वास्तव मे जब जहीर शाह को दाऊद खाँ ने अपदस्थ किया था तभी से वामपथियो ने अपने सगठन को मजबूत बनाना शुरू कर दिया था। यह बात भी प्रगट है कि दाऊद खाँ को सत्ता से हटाने वाले नूर मुहम्मद तराकी के गुट तथा दूसरे अमीन गुट मे अनबन हो जाने से वामपथियों मे दरार पैदा हो गई लेकिन आज भी बबरक कारमाल का जो गुट सत्ता मे है वह सोवियत सघ द्वारा 'थोपा' गया माना जाता है। लिहाजा अफगानिस्तान मे राजशाही का स्थान वामपथ ने ले लिया है।

अफगानिस्तान के पडोसी देशो मे यद्यपि उस तरह की वामपथी शक्तियाँ दृढ नहीं लेकिन ईराक और सीरिया की वाम पार्टियों को समाजवादी या वामपंथी ही कहा जाएगा। सैनिक क्रान्ति से सत्ता मे आने वाली ये पार्टियाँ इस समय सोवियत सघ के अधिक करीब हैं। बेशक सोवियत सघ के सलाहकार वहाँ मौजूद हैं लेकिन उनकी शासन शैली अफगानिस्तान से इतर है। एक अन्य पड़ौसी देश ईरान है जो अमेरिका विरोधी तो है लेकिन सोवियत सघ का भी मुखर समर्थक नहीं। अपने हाल के बयानों से उसने अलबत्ता सोवियत सघ से सहयोग लेने की इच्छा व्यक्त की है। लेकिन जिस प्रकार पिछले दिनों ईरानी मुल्लाओ ने कम्युनिस्ट समर्थकों को बीन-बीन कर सरकारी पदो से हटाना शुरू किया है उससे लगता है कि अयातुल्ला खुमैनी सोवियत सघ पर भी विश्वास करने को तैयार नहीं। इसका एक कारण अपदस्थ राष्ट्रपति बनीसदर और उनके समर्थक रवाजी द्वारा गठित निर्वासित सरकार है। बहरहाल, वामपथ की शाखाएँ तो ईरान मे है ही। कहने को तो प्रेक्षक यहाँ तक कहते हैं कि वह दिन दूर नहीं जब अफगानिस्तान से लेकर सऊदी अरब तक वामपथियों का प्रसार हो जाएगा। ये वामपथी प्रवृत्तियाँ कैसी होंगी यह अलबत्ता अटकलो का विषय है। कुछ लोग उसे मुस्लिम वामपथ का नाम देते है तो कुछ सैनिक बनाम मुस्लिम वामपथ का।

वामपथ के इस फैलाव से चीन अलबत्ता परेशान सा दीखता है। जब से उसकी अमेरिका से दोस्ती हुई है तब से उसकी वामपंथी परिभाषा मे भी अन्तर आया है। माओ और चाओ की मृत्यु के बाद से आधुनिकता का जो दौर शुरू हुआ है उससे उसकी वामपथी प्रतिभा खण्डित तो नहीं हुई है लेकिन विकृत अवश्य हुई है। एशिया मे चीन का एकमात्र समर्थक देश उत्तरी कोरिया है। हाँ कम्बोडिया में पोल पोत और लाल ख्मेरों मे अभी भी चीनी समर्थक मिल जाते हैं। हिन्दचीन के अन्य देशों में वर्तमान हेङ् सामरिन का कम्बोडिया, वियतनाम और लाओस न केवल वामपंथी देश है बल्कि कुछ प्रेक्षक एशिया मे उन्हें सोवियत संघ का 'उपग्रह' तक

करार देते हैं। ये तीनों देश चीन के लिए 'चुनौती' माने जाते है, पिछले दिनों चीनी और वियतनामी सैनिकों मे मुठभेड के कारण सम्भवतया दोनों वामपथी गुटों ने अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास करना चाहा था और दोनों ने ही अपनी-अपनी पीठ थपथपायी थी। वास्तव मे यही देश इस कोशिश मे भी है कि उत्तरी कोरिया को अपने खेमे मे लाया जाए। अभी तक उन्हे अधिक सफलता नही मिली। शायद वे इसी से सन्तुष्ट हैं कि वह भी वामपथी लीक पर अडिग है। उनमे सभी वामपथियों जैसा एका दीखता है।

जहाँ तक अरब देशो का सम्बन्ध है मोटे तौर पर इराक, सीरिया, लीबिया की सरकारो का झुकाव वामोन्मुखी है। लेकिन सोवियत संघ इन्हे अपना स्थिर समर्थक नहीं मानता। खास तौर पर लीबिया के राष्ट्रपति मुअम्मर गद्दाफी जिस प्रकार अपना पैंतरा बदलते रहते हैं उन्हें तो गम्भीरता से नही लिया जा सकता क्योंकि राजनीतिक महत्त्व इन देशो और नेताओ का है। लिहाजा वामपथी शक्तियाँ अरब राष्ट्रो मे अपना वर्चस्व स्थापित करने की बराबर चाहवान रही है। इसी के फलस्वरूप दक्षिण यमन मे उन्हें अपनी लीक चलाने में सफलता मिली भी है। बेशक सऊदी अरब के राजतन्त्री सैनिक कभी-कभी वहाँ अपनी गोटियाँ बिठाने का प्रयास करते हैं लेकिन दक्षिण यमन अभी तक वामपथियों की पंक्ति मे ही आया है।

इस प्रकार वामपथ का, चाहे जैसा भी स्वरूप हो, जो दौर पिछले दशक से चल रहा है उससे इस विचारधारा के बढते हुए समर्थकों का पता तो चल ही जाता है। उनकी कितनी सख्या है और उनकी छत्रछाया मे कितने देश आते है इसका निश्चित आकलन करना तो कठिन है, मोटा अन्दाज ही लगाया जा सकता है। जितना अनुमान आज लगाया जाता है अगले दिन वह उतना ही गलत हो जाता है और इस प्रकार जोड़ बाकी की यह प्रक्रिया निरन्तर जारी है और शायद जारी रहेगी।



ने सुरक्षा परिषद् मे प्रश्न उठाया, किन्तु उसकी चाल सफल नहीं हुई। 1948 में हैदराबाद की रियासत का भारत मे विलय हुआ। पाकिस्तान की अडंगेबाजी असफल रही। स्वतन्त्र भारत ने पुरानी सरकार के पूरे ऋण का भार सम्भाला जिसके अनुसार उसे पाँच वर्ष मे पाकिस्तान से 300 करोड़ रुपये लेना था, लेकिन पाकिस्तान ने ऋण चुकाने का नाम तक नहीं लिया जबकि भारत ने पाकिस्तान को दिए जाने वाले 55 करोड रुपये का चुकारा कर दिया। विस्थापित सम्पत्ति तथा अल्प-सख्यकों की रक्षा के सम्बन्ध मे 1905 मे जो नेहरू-लियाकत समझौता हुआ उसका पाकिस्तान की ओर से कभी पालन नही किया गया और पीडित हिन्दू शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आते रहे। दोनो देशो के मध्य एक समस्या नदियो के पानी के सम्बन्ध में थी। विश्व बैंक की मध्यस्थता से सितम्बर 1960 में सिन्धबेसिन के पानी के बंटवारे के बारे में दोनो देशो के बीच 'नहरी पानी समझौता' सम्पन्न हुआ। यह समझौता पाकिस्तान के लिए विशेष लाभदायक था। निष्पक्ष पर्यवेक्षकों को भी भारत के उदार दृष्टिकोण से आश्चर्य हुआ क्योंकि स्वय उनको अपना उत्पादन बढाने के लिए सिन्धु के पानी की काफी आवश्यकता थी।

कश्मीर पर 1947 मे पाकिस्तानी आक्रमण के बाद से ही प. नेहरू ने निरन्तर यह असफल प्रयत्न किया कि दोनो राष्ट्रो के बीच किसी प्रकार युद्ध न करने सम्बन्धी एक स्थायी समझौता हो जाए। भारत के शान्ति-प्रयत्नों को पाकिस्तानी अधिनायक खुशामद और कमजोरी समझते रहे। 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के समय पाकिस्तान ने एक स्वर से भारत को दोषी ठहराया और भारत को दी जाने वाली अमेरिकी तथा ब्रिटिश सैनिक सहायता का भी तीव्र विरोध किया। यही नही पाकिस्तान ने चीन के साथ एक धूर्ततापूर्ण समझौता कर पाक अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बडा भाग अवैधानिक रूप से चीन को दे दिया। भारत के विरोध का कोई फल नही निकला। सितम्बर 1963 मे पाकिस्तान के बड़े जासूसी जाल का पता चला। नयी दिल्ली स्थित पाकिस्तानी दूतावास इस जासूसी षडयन्त्र का केन्द्र था जिसका उद्देश्य भारत की गुप्त सामरिक बातो की जानकारी करना था। भारत ने जासूसी मे सम्बद्ध पाकिस्तानी दूतावास के अधिकारियो को भारत से हटाने का निश्चय किया, किन्तु पाक उच्च आयुक्त के विशेष अनुरोध पर भारत सरकार ने अपने निश्चय की घोषणा 5 दिन के लिए स्थगित कर दी। इसी बीच पाकिस्तान ने कराँची स्थित भारतीय दूतावास के प्रमुख अधिकारियो पर जासूसी करने का झूठा आरोप लगाकर उन्हें पाकिस्तान छोड देने की आज्ञा दे दी, भारत सरकार ने भी पाकिस्तानी अधिकारियो को भारत से निष्कासित कर दिया। पाकिस्तान ने इसे बदले की कार्यवाही कहकर भारत के विरुद्ध खूब विष-वमन किया। पाकिस्तान ने एक और घटना के सम्बन्ध मे भारत के विरुद्ध अपनी जन्मजात शत्रुता का खुला परिचय दिया। 28 दिसम्बर 1963 को श्रीनगर की हजरत बाल मस्जिद से पैगम्बर मुहम्मद साहब

का पवित्र बाल चोरी चला गया यद्यपि यह बाल मिल गया, पर पाकिस्तान ने इस घटना को लेकर बड़ा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाया।

कश्मीर पर भारत-पाक तनाव बना रहा। पाकिस्तान ने 22 सितम्बर 1947 को कश्मीर पर आक्रमण किया था और सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से 1 जनवरी, 1949 से युद्धविराम होकर दोनों देशो के बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से तथा प्रत्यक्ष रूप से परस्पर वार्ता चल रही थी। पं नेहरू की गुट-निरपेक्ष नीति से खिन्न संयुक्तराज्य अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया, अतः समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका। पाकिस्तान ने अग्रलिखित मुख्य तर्कों का सहारा लिया—(1) कश्मीर का भारत में विलय भारत द्वारा प्रयोग की गई शक्ति और भय-प्रदर्शन का परिणाम था, (2) कश्मीर का भारत में विलय जनमत-संग्रह की शर्त पर आधारित था जिसे पूरा किए बिना कश्मीर स्थायी रूप से भारतीय संघ का अंग नहीं माना जा सकता, (3) कश्मीर जैसे मुस्लिमबहुल प्रदेश का विलय पाकिस्तान में होना चाहिए, (4) जनमत-संग्रह के प्रश्न पर पाकिस्तान का समानता का अधिकार है तथा कश्मीर पर कोई भी निर्णय करने में भारत और पाकिस्तान को बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए, एवं (5) कश्मीर के महाराजा ने जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत में सम्मिलित होना स्वीकार किया था जो अवैध है।

पाकिस्तान के सभी तर्क बेबुनियाद और बेतुके थे। कश्मीर का भारत में विलय पूर्ण वैधानिक था क्योंकि राज्य के प्रमुख के हस्ताक्षर के उपरान्त ही उसका विलय भारत में किया गया था। कश्मीर के महाराजा ने भारत में विलय का प्रस्ताव भारत की शक्ति के भय से नहीं वरन् इस डर से किया था कि पाकिस्तानी डकैत उसकी रियासत को हड़पने वाले थे और रियासत की केवल भारत ही रक्षा कर सकता था। भारत ने प्रारम्भ से ही यह निश्चित मत व्यक्त किया कि कश्मीर का भारत में प्रवेश पूर्णत. सैद्धान्तिक है। इस सम्बन्ध में मुख्यत ये तर्क प्रस्तुत किए गए—(1) भारत में कश्मीर का विलय सन् 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम में उल्लिखित प्रवेश-पत्रिका के अनुरूप पूर्णत वैधानिक था, (2) कश्मीर की जनता ने स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित अपनी संविधान सभा के माध्यम से कश्मीर को भारत संघ का अभिन्न अंग घोषित कर दिया था, अत जनमत-संग्रह की बात स्वत: ही पूर्ण हो गयी; (3) आत्म-निर्णय एक लोकतान्त्रिक प्रश्न है जिसका प्रयोग राज्यों को टुकड़ों में विभाजित करने के लिए नहीं किया जाता; (4) स्वयं पाकिस्तान ने जिन राज्यों का विलय किया, उन्हें कभी आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं दिया; (5) जो राष्ट्र अपनी जनता को भी लोकतान्त्रिक अधिकार नहीं दे पाया है, उसके लिए आत्म-निर्णय की बात कहना बेहूदा है; (6) एक आक्रमणकारी राष्ट्र विलय की बात नहीं कर सकता; (7) यह भी सर्वथा अवैधानिक है कि पाकिस्तान ने बलपूर्वक कश्मीर के जिस भाग पर कब्जा किया उसका एक बड़ा हिस्सा दूसरे राष्ट्र चीन को अवैध रूप से सौंप दिया; (8) भारत ने कश्मीर में जनमत संग्रह करवाने की केवल

इच्छा ही व्यक्त की थी वह विलय की पूर्व शर्त नही थी तथा जनमत संग्रह का आश्वासन कश्मीर के शासक को दिया गया था, एक तृतीय पक्ष पाकिस्तान को नही, (9) जनमत सग्रह की बात पाकिस्तान द्वारा कश्मीर से अपनी सेनाएँ हटाने के बाद पूरी करने को कही गई थी, लेकिन पाक-फौजों की उपस्थिति स्वयं जनमत-सग्रह के मार्ग मे बाधा बनी हुई रही है, और अब कश्मीर मे स्वतन्त्र चुनाव हो जाने के बाद जनमत-संग्रह का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है; (10) कश्मीर मे मुस्लिम बहुमत के आधार पर जनमत सग्रह की बात गलत है, भारत जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को मान्यता नही देता, एवं (11) पाकिस्तानी दुराग्रह स्वीकार करने का अर्थ सम्पूर्ण देश और कश्मीर की शान्ति भंग करना तथा भारत मे कश्मीर-विलय के कश्मीरी जनता के निर्णय का स्पष्ट अपमान करना है। भारत ने स्पष्ट रूप से यह स्थिति स्पष्ट कर दी कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारतीय संघ का अभिन्न अंग है।

पाकिस्तान के शासकों ने न तो पण्डित नेहरू के प्रधान मन्त्रित्वकाल में अपनी भारत विरोधी नीति छोडी और न बाद मे ही। 27 मई, 1964 को नेहरू की मृत्यु हो गई।

शास्त्री युग (मई 1964–जनवरी 1966)

नेहरू के उत्तराधिकारी श्री लालबहादुर शास्त्री ने नेहरू के आदर्शवाद को निभाते हुए राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यथार्थवादी नीति अपना कर अपनी कूटनीतिज्ञता का सुन्दर परिचय दिया। श्री शास्त्री ने 15 अगस्त, 1964 को स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर पाकिस्तान के साथ 'युद्ध न करने का समझौता' करने के लिए एक बार फिर प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान के शासकों के कानों मे जूँ तक नही रेंगी। कच्छ पर और बाद मे कश्मीर तथा भारत पर होने वाले पाकिस्तानी आक्रमणो ने सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तानी नेता भारत के प्रति शत्रुता और युद्ध की नीति से तब तक डिगने वाले नहीं हैं जब तक उन्हें ईंट का जवाब पत्थर से नही दिया जाएगा।

1965 मे पाकिस्तान ने भारत पर दो प्रबल सैनिक आक्रमण किए, इनमे पहला आक्रमण मार्च-अप्रेल, 1965 में कच्छ पर हुआ, दूसरा अगस्त-सितम्बर, 1965 मे कश्मीर पर। कच्छ की खाडी एक दलदलीय क्षेत्र है। पाकिस्तान ने इस प्रदेश के उत्तरी हिस्से मे पहले एक सडक बना ली और बाद मे भारतीय सीमा मे अपनी स्थायी चौकियाँ स्थापित कर ली। उसने भारत के विरोध-पत्रों की न केवल उपेक्षा कर दी बल्कि गुजरात के एक बडे क्षेत्र पर भी अपने अधिकार का दावा किया। पाकिस्तान का यह दावा ऐतिहासिक और वैधानिक रूप से अवैध था क्योंकि इस क्षेत्र मे भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पहले से निर्धारित हो चुकी थी। दोनो देशो के बीच वार्ता चालू थी कि 9 अप्रेल, 1965 को पाकिस्तानी सेना की एक टुकड़ी ने सरदार नामक भारतीय चौकी पर हमला बोल दिया। 24 अप्रेल को कच्छ पर पाक सेना का आक्रमण हो गया। भारत-पाक संघर्ष को रोकने के लिए ब्रिटेन ने युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा जिसे भारत ने मान लिया, लेकिन पाकिस्तान ने अस्वीकार कर दिया। अन्त मे,

लन्दन में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन के अवसर पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन के प्रयत्नों से भारत और पाकिस्तान के बीच कच्छ के प्रश्न पर 30 जून, 1965 को एक समझौता हो गया जिसमें अग्रलिखित बातों का उल्लेख था—1. 1 जुलाई, 1965 से युद्ध बन्द कर दिया जाए। 2. दोनों देशों की सेनाएँ 7 दिन के भीतर पीछे हटा ली जाएँ और अपनी 1 जनवरी, 1965 की स्थिति पर लौट जाएँ। 3 सीमा-विवाद के प्रश्न का समाधान पहले मन्त्रियों की वार्ता द्वारा किया जाए और इस प्रकार की वार्ता सफल न होने पर यह प्रश्न एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण को सौंपा जाए। सितम्बर, 1967 में न्यायाधिकरण ने अपना काम शुरू किया और 19 फरवरी, 1968 को उसने अपना निर्णय दे दिया। इस निर्णय के अनुसार विवाद-ग्रस्त क्षेत्र का 90% भाग भारत को दिया गया और शेष 320 वर्ग मील का प्रदेश पाकिस्तान को प्राप्त हुआ। पाकिस्तान को महत्वपूर्ण सामरिक क्षेत्र प्राप्त हो गया। यद्यपि न्यायाधिकरण का निर्णय कुल मिला कर भारत के पक्ष में था, तथापि पाकिस्तान के साथ विशेष रियायत की गई थी। भारत सरकार ने इस निर्णय को 'राजनीतिक कारणों से प्रेरित' बता कर इसकी निन्दा की। भारत के सामने वचन निभाने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। भारत सरकार ने कूटनीतिक चालबाजी की जगह नैतिकता को उच्च समझा।

कच्छ समझौते की स्याही सूखने भी न पायी थी कि अगस्त, 1965 में पाकिस्तान ने व्यापक तोड़-फोड़ करने, अराजकता फैलाने और सैनिक ठिकानों तथा उद्योग स्थलों को नष्ट करने के लिए कश्मीर में सशस्त्र घुसपैठिए भेज दिए। इस पर भारतीय सेना ने तेजी से घुसपैठियों का सफाया कर युद्धविराम रेखा के उन महत्वपूर्ण पहाड़ी और जंगली प्रतिष्ठानों पर कब्जा कर लिया जहां से घुसपैठिए भारत में प्रवेश करते थे। पाकिस्तान एक हारे हुए जुआरी की तरह बौखला उठा। 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने विपुल टैंक शक्ति के साथ कश्मीर के छम्ब क्षेत्र पर अचानक ही भीषण आक्रमण कर दिया। भारत के भीषण प्रत्याक्रमण ने पाकिस्तान को छठी का दूध याद करा दिया। भारत ने पाक के विरुद्ध सम्पूर्ण सीमा पर नए मोर्चे खोल दिए। 15 सितम्बर तक पाकिस्तान की वायु-शक्ति की कमर टूट गई। पाकिस्तान को प्राप्त अमेरिकी पेटन टैंकों का कब्रिस्तान बन गया और पाकिस्तान की पराजय सन्निकट दिखाई देने लगी। भारत पाक-युद्ध 23 सितम्बर, 1965 तक चला और अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से 23 सितम्बर, को 3½ बजे प्रातःकाल युद्ध-विराम हो गया। युद्ध-समाप्ति पर लगभग 750 वर्गमील पाकिस्तानी क्षेत्र भारत के अधिकार में था जबकि आकस्मिक आक्रमण का लाभ उठा लेने के कारण 240 वर्गमील का भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में रह गया था। भारत ने निरन्तर विजयी होने हुए भी युद्ध-विराम स्वीकार कर यह सिद्ध कर दिया कि वह एक शान्तिप्रिय राष्ट्र है। युद्ध से यह पुन. स्पष्ट हो गया कि साम्यवाद के विरोध के नाम पर पाकिस्तान को दी गई विशाल अमेरिकी सैनिक सहायता का किस प्रकार एक शान्तिप्रिय लोकतान्त्रिक राष्ट्र के

विरुद्ध दुरुपयोग किया जा सकता है । युद्ध-विराम के बाद भी पाकिस्तान भड़काने वाली कार्यवाहियों से बाज नहीं आया और आए दिन सीमा-उल्लंघन की घटनाएँ जारी रहीं । सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन के दोनों देशों ने शीर्षस्थ नेताओं की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ताशकन्द समझौते की व्यवस्था की । 10 जनवरी, 1965 को 9 बजे रात्रि को श्री अयूब खाँ और श्री शास्त्री ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए जो 'ताशकन्द घोषणा' के नाम से विख्यात हुआ ।

इन्दिरा युग (जनवरी 1966–मार्च 1977)

श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन के बाद पं जवाहरलाल नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी भारत की प्रधान मन्त्री बनी । अल्पकालीन शान्ति के बाद पाकिस्तान ने भारत के साथ पुनः छेड़छाड़ प्रारम्भ कर दी । वह न केवल सीमान्त पर छुटपुट छेड़छाड़ करता रहा बल्कि भारत की वायुसेना का भी अतिक्रमण करता रहा । कश्मीर पर पाकिस्तानी रवैया पूर्ववत् रहा । अप्रेल, 1966 में पाकिस्तान कश्मीर समस्या को पुन सुरक्षा परिषद् मे ले गया । सुरक्षा परिषद् कुछ न कर सकी । 22 सितम्बर, 1969 मे मोरक्को की राजधानी रबात में इस्लामी शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ । पाकिस्तान के विरोध के कारण सम्मेलन के आयोजकों ने भारत को निमन्त्रण नहीं भेजा । इस पर भारत की ओर से कूटनीतिक प्रयत्न किए गए और अन्ततोगत्वा उसे सम्मेलन के आयोजकों ने भारत को निमन्त्रण प्राप्त हो गया । पाकिस्तान ने सम्मेलन में भारत के भाग लेने पर सम्मेलन के बहिष्कार करने और लौट जाने की धमकी दी और मोरक्को, जोर्डन आदि उसके अरब मित्रों ने उसका पूरा साथ दिया । केवल संयुक्त अरब गणराज्य का ही समर्थन भारत के पक्ष में रहा । वास्तव में रबात में जो कुछ हुआ वह भारत का राष्ट्रीय अपमान था । पाकिस्तान निरन्तर भारत विरोधी कार्यवाहियाँ करता रहा । 30 जनवरी, 1971 को इण्डियन एयर लाइन्स के एक यात्री विमान का अपहरण कर जबरन लाहौर हवाई अड्डे पर उतारा गया । भारत में तीव्र रोष की लहर दौड़ गई और सरकार ने पाकिस्तानी विमानों के भारतीय प्रदेश से होकर उड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया ।

पाकिस्तान आन्तरिक अराजकता का भी शिकार था । पूर्वी पाकिस्तान में मुक्ति आन्दोलन ने जोर पकड़ा । पाकिस्तानी शासकों ने इस जनमुक्ति आन्दोलन को भारत के षड्यन्त्र का परिणाम बतलाया । एक तरफ तो इसे भारत पाक समस्या के रूप में उछाला गया और दूसरी तरफ पूर्वी पाकिस्तानियों पर घोर अत्याचार तथा अभूतपूर्व हत्याकाण्ड का क्रम चालू रखा जिससे लगभग 1 करोड़ शरणार्थी भारत आए । इस प्रकार पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध भीषण आर्थिक विद्रोह छेड़ दिया । परिस्थिति बिगड़ती गई । पाकिस्तान में भारत से युद्ध छेड़ने का उन्माद प्रबल होता गया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही सीमान्तों पर पाक सेनाएँ आए दिन छुटपुट

हमले करने लगीं। आखिर 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान ने भारत पर अचानक ही भीषण हवाई हमला बोल दिया।

भारत ने पाकिस्तान को एक न भूलने वाला सबक सिखाने का निश्चय करके विद्युत गति से प्रत्याक्रमण किया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही मोर्चों पर जल, थल और नभ पर पाकिस्तान के सैन्य तन्त्र को भीषण क्षति पहुँचाई। पश्चिमी मोर्चों पर युद्ध पाकिस्तान की भूमि पर लड़ा गया और पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना तथा 'मुक्तिवाहिनी' की संयुक्त कमान ने भारतीय ले. जनरल जगजीतसिंह अरोड़ा के नेतृत्व में कहर ढा दिया।

युद्धकाल में 5 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की आपातकालीन बैठक में पाकिस्तान ने भारत पर आरोप लगाया कि वह 'पूर्वी पाकिस्तान' में क्रान्तिकारियों को सहायता देकर पाकिस्तान की क्षेत्रीय अखण्डता पर प्रहार कर रहा है। भारतीय प्रतिनिधि समरसेन ने पाक आरोपों का तीव्र विरोध किया। सोवियत रूस के बार-बार वीटो के कारण सुरक्षा परिषद् में भारत-विरोधी प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। इसी बीच 6 दिसम्बर को श्रीमती गांधी ने भारतीय संसद में 'बंगलादेश गणराज्य' के उदय की सूचना दी। 'बंगलादेश' को मान्यता देकर श्रीमती गांधी ने समस्या को बिल्कुल एक नया मोड़ दे दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा सम्पूर्ण विश्व को बता दिया कि भारत किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को नहीं वरन् एक स्वतन्त्र राज्य की वैध सरकार को सहायता दे रहा है जिसके साथ 'नाटो' जैसा कोई सैनिक समझौता न होने पर भी भारत की पूर्ण सहानुभूति है। भारत पाक युद्ध केवल 14 दिन चला और 16 दिसम्बर, 1971 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में पाक सेना के ले. जनरल ए. ए. के नियाजी ने आत्मसमर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए। पूर्वी मोर्चे पर लगभग 1 लाख पाक फौजों ने आत्मसमर्पण किया और पश्चिमी मोर्चे पर पाकिस्तान की लगभग 14 सौ वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लिया गया। पाक फौजों के आत्मसमर्पण के तुरन्त बाद ही श्रीमती गांधी ने 17 दिसम्बर की रात्रि के 8 बजे 'एकपक्षीय युद्ध-विराम' की घोषणा करते हुए पाक-राष्ट्रपति जनरल याहिया खां से युद्धबन्दी प्रस्ताव को स्वीकार करने की अपील की। पाकिस्तान के लिए तो यह एक वरदान था जिसे याहिया खाँ ने तुरन्त के स्वीकार कर लिया।

भारत ने पराजित और विखण्डित पाकिस्तान की दुर्दशा का कोई अनुचित लाभ न उठाकर इस बात का प्रयत्न किया कि दोनों देश पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने सभी विवादों का समाधान कर उपमहाद्वीप में मैत्री के एक नए युग का सूत्रपात करें। काफी विचार-विमर्श के बाद आखिर भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला (भारत) में जून, 1972 के अन्तिम सप्ताह में एक शिखर सम्मेलन के आयोजन का निश्चय हुआ। शिमला वार्ता 18 जून से 3 जुलाई तक चली। 3 जुलाई को दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक शिमला समझौते पर हस्ताक्षर हो गए।

यह तय किया गया कि दोनों पक्ष आपसी वार्ता द्वारा अपनी समस्याओं को हल करेंगे, एक दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करेंगे, एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करेंगे और एक दूसरे के प्रति घृणापूर्ण प्रचार नहीं करेंगे, पारस्परिक सम्पर्क सेवाओं की पुन स्थापना करेंगे, दोनों पक्षों की सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर लौट जाएँगी, और दोनों पक्ष बिना एक-दूसरे की स्थिति को क्षति पहुँचाए जम्मू-कश्मीर में 17 दिसम्बर, 1971 को हुए युद्ध-विराम की नियन्त्रण रेखा को मान्यता देंगे। शिमला समझौते के बारे में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए गए। आलोचकों ने 'जवानों के बलिदान की उपेक्षा' और जीती हुई भूमि' लौटाने के निश्चय पर तीव्र विरोध प्रकट किया। श्री वाजपेयी ने इस समझौते में सरकारी बुद्धि का दिवालियापन देखा कि पाकिस्तान 69 वर्गमील क्षेत्र खाली करेगा जबकि भारत 5,139 वर्गमील पाकिस्तानी इलाका देगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विरोधी पक्ष की आलोचनाओं में देशभक्ति की गूँज थी। किन्तु शिमला-समझौते का मूल्यांकन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए था कि समझौते में भारत ने कोई ऐसा काम नहीं किया जिससे राष्ट्रीय सम्मान को किसी प्रकार की कोई क्षति पहुँची हो। श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने 13 जुलाई, 1972 के अपने भाषण में लोकसभा में यह विश्वास प्रकट किया कि शिमला-समझौते में दोनों देशों का भला मिलकर चलने में ही है। भारत को शान्ति के लिए लड़ना है और उसे ऐसे कदम उठाने चाहिए जो शान्ति की ओर ले चलें। भारत किसी भी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार है, किन्तु इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिए कि क्या शान्ति सम्भव नहीं है।

शिमला-समझौते के बाद भारत और पाकिस्तान तथा पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच सम्बन्ध सुधारने की एक प्रक्रिया शुरू हो गई। बाधाओं के बावजूद धीरे-धीरे प्रगति हुई। जम्मू-कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण रेखा को अन्तिम रूप में अंकित करने के उपरान्त दोनों पक्षों की सेनाएँ अपने-अपने स्थानों पर लौट गईं। पाकिस्तानी युद्धबन्दियों तथा अन्य मानवीय समस्याओं पर अनेक स्तरों पर बातचीत के दौर चले और अन्त में 28 अगस्त, 1973 को भारत और पाकिस्तान ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार पाकिस्तान से सभी बंगालियों, बंगलादेश से काफी बड़ी संख्या में पाकिस्तानी नागरिकों और भारत से उन 195 युद्धबन्दियों को छोड़कर जिन पर बंगलादेश में मुकदमा चलाया जाना था, शेष सभी युद्धबन्दियों को जल्दी ही एक साथ अदला-बदली करने का निर्णय किया गया।

शिमला-समझौते में यह तय किया गया था कि कश्मीर के प्रश्न का स्थायी समाधान पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण और पूर्ण शान्ति स्थापना के बाद ही निकालना है, किन्तु सितम्बर, 1973 में भुट्टो ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के समक्ष अपने भाषण में फिर कश्मीर की रट लगाई। नवम्बर, 1973 में पाक प्रधान मन्त्री ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के दौरे के समय कुछ ऐसे बयान जारी किए जो शिमला समझौते के प्रावधानों के विपरीत थे।

विभिन्न प्रयासों से बंगलादेश के प्रति पाकिस्तान का रवैया बदलता गया और अन्त में 22 फरवरी, 1972 को पाकिस्तान ने भी बंगलादेश को मान्यता दे

दी। भारत, बंगलादेश और पाकिस्तान के बीच युद्ध अपराधियों के सम्बन्ध में अप्रैल, 1974 में एक समझौता हुआ किन्तु इसके बाद ही पाकिस्तान ने फिर तनाव का वातावरण बनाना शुरू कर दिया। 18 मई, 1974 को जब भारत ने अपना प्रथम परमाणु परीक्षण किया तो श्री भुट्टो ने घोषणा की कि यदि भारत अणुबम बनाता है तो पाकिस्तान भी अणु बम बनाएगा, चाहे उसे घास-पात खाकर या भूखा जीवित रहना पड़े। श्रीमती गांधी ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत अणु शक्ति का विकास रचनात्मक उद्देश्यों के लिए कर रहा है, किन्तु पाकिस्तान और उसके हिमायती राष्ट्रों के गले यह बात नहीं उतरी। श्रीमती गांधी ने श्री भुट्टो को एक पत्र लिखकर दोनों देशों के बीच अनाक्रमण सन्धि का प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान ने इसे तुरन्त ठुकरा दिया।

युद्ध के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच डाक, दूर-संचार और यात्रा सुविधाएँ समाप्त हो गई थीं। सितम्बर, 1974 में इस्लामाबाद में दोनों पक्षों ने तीन समझौतों पर हस्ताक्षर करके इन सुविधाओं को तत्काल जारी करने का निर्णय लिया। फरवरी, 1975 में अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड ने पाकिस्तान को पुन अमेरिकी हथियार प्रदान करने की घोषणा की तो श्री भुट्टो भारत के साथ दो-दो हाथ करने की बात करने लगे। लन्दन स्थित पश्चिम सैनिक विशेषज्ञों तक ने स्वीकार किया कि पाकिस्तान जिस प्रकार शस्त्रास्त्रों का संग्रह कर रहा है और अपने रक्षा व्यय में वृद्धि कर रहा है वह उसकी वर्तमान आवश्यकताओं की दृष्टि से बिलकुल असन्तुलित है। अगस्त, 1975 में बंगलादेश में शेख मुजीबुर्रहमान की सरकार को हिंसापूर्वक हटा दिए जाने के बाद पाकिस्तान के प्रचार माध्यमों ने अपने भारत-विरोधी आन्दोलन को एक नया रूप देते हुए यह कहा कि हो सकता है कि भारत बंगलादेश में हस्तक्षेप करे। भारत सरकार ने इस वैमनस्यपूर्ण एवं निन्दात्मक प्रचार-आन्दोलन की ओर पाकिस्तान का ध्यान आकृष्ट किया क्योंकि यह शिमला-समझौते के विपरीत था और सम्बन्धों को सामान्य बनाने के मार्ग में अड़चन सिद्ध हो रहा था। अगस्त, 1975 में ही पाकिस्तान ने पाक-अधिकृत कश्मीर के लिए एक परिषद् की स्थापना की जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान सरकार के पास अधिकृत कश्मीर पर अपने नियन्त्रण को पहली बार संस्थागत व्यवस्थित रूप दिया। भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से कहा कि इस परिषद् की स्थापना करने की उसकी कार्यवाही शिमला-समझौते का उल्लंघन है क्योंकि यह जम्मू तथा कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत प्रदेशों की स्थिति में एकपक्षीय परिवर्तन है। कश्मीर की समस्या को शान्तिपूर्वक द्वि-पक्षीय तरीके से सुलझाने के लिए शिमला-समझौते की शर्तों के अनुसार वचनबद्ध होने के बावजूद पाकिस्तान सरकार ने संयुक्त राष्ट्र के निर्जीव प्रस्तावों में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय रुचि जगाने की कोशिश की। टर्की और कम्बोडिया के राज्याध्यक्षों की पाकिस्तान-यात्राओं की समाप्ति पर जारी की गई संयुक्त विज्ञप्तियों में भी इस आशय का उल्लेख किया गया।

वर्ष 1976-77 में दोनों देशों के सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया कुछ आगे बढ़ी। दोनों पक्षों ने निजी क्षेत्र में द्विपक्षीय व्यापार चालू करना स्वीकार

किया, जुलाई, 1976 मे दोनों देशों के बीच हवाई सम्पर्क पुनः चालू हुआ और दोनो देशों के राजदूतों ने अपने-अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किए। कई दिशाओं में सम्पर्क पुनः स्थापित हुए जो बीच के कई वर्षों मे रुके रहे थे।

जनता पार्टी का शासन (मार्च, 1977–दिसम्बर, 1979)

जनता सरकार ने नेपाल, बंगलादेश, पाकिस्तान तथा चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने के विशेष प्रयत्न किए। विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने पाकिस्तान और चीन की यात्राएँ करके इनके साथ सम्बन्ध सामान्य बनाने का प्रयास किया। विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने अप्रैल, 1977 मे ही पाकिस्तान के सामने युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा था, किन्तु पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति पुन टाल दी। फरवरी, 1978 मे भारतीय विदेश मन्त्री ने पाकिस्तान की यात्रा की। पिछले 12 वर्षों में किसी भारतीय विदेश मन्त्री की यह पाकिस्तान की पहली यात्रा थी। सीमा पर स्थिति 1977 के पूरे वर्ष सामान्य बनी रही। दोनो देशो के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का शुभारम्भ भी हुआ। अप्रैल, 1978 मे पाकिस्तान के वैदेशिक मामलो के सलाहकार श्री आगाशाही की यात्रा विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही, जबकि सलाल पन बिजली परियोजना के सम्बन्ध मे एक करार पर हस्ताक्षर हुए, यह एक ऐसी समस्या थी जो विगत 8 वर्षों मे अनसुलझी चली आ रही थी। सितम्बर, 1978 मे एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत ने पाकिस्तान को 5270 टन गेहूँ का बीज देना तय किया। पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धो को सामान्य बनाने और इसे आगे बढाने की दिशा मे प्रयास जारी रहे और इस सम्बन्ध मे कुछ क्षेत्रो मे प्रगति हुई।

श्रीमती गाँधी के पुन. सत्तारूढ होने के बाद भारत-पाक सम्बन्ध (फरवरी, 1982 तक)

श्रीमती गाँधी के पुन सत्तारूढ होने पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति श्री जिया-उल-हक ने अपने सन्देश मे शिमला-समझौते के प्रति पाकिस्तान की प्रतिबद्धता को दोहराया और दोनों देशो के बीच सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया को तेज करने की आशा प्रकट की। फरवरी, 1980 मे विदेश सचिव श्री साठे पाकिस्तान गए। जनवरी तथा मई, 1980 मे इस्लामी विदेश मन्त्रियों के सम्मेलनो मे राष्ट्रपति जिया द्वारा कश्मीर के मामले के अनावश्यक उल्लेख से भारत को दुख और निराशा हुई क्योंकि ऐसा उल्लेख शिमला-समझौते की भावना के अनुरूप नहीं था। पाकिस्तान द्वारा सयुक्त राष्ट्रसघ मे कश्मीर समस्या की चर्चा पर भारत ने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए इसे भारत की प्रादेशिक अखण्डता पर आघात बताया। 1980-81 के दौरान, बावजूद आपसी विचार-विमर्श के, पाकिस्तान की कुछ कार्यवाहियों की ओर से भारत चिन्तित रहा। पाकिस्तान ने, न केवल अन्तर्राष्ट्रीय मचों पर कश्मीर का उल्लेख करके भारत के आन्तरिक मामलों मे अनुचित हस्तक्षेप किया बल्कि अपनी सैनिक क्षमता को काफी विस्तृत करके क्षेत्रीय स्थायित्व पर दुष्प्रभाव डालने का प्रयत्न किया। दिसम्बर, 1981 मे अमेरिकी सेनेट ने रीगन प्रशासन द्वारा

पाकिस्तान को आधुनिकतम एफ–16 विमान देने सम्बन्धी प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया। भारत सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान द्वारा अन्धाधुन्ध सैनिक शक्ति मे वृद्धि भारत के लिए खतरे और चिन्ता का विषय है। फरवरी, 1982 मे रक्षा मन्त्री आर वेंकटरमन ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"हमारी चिन्ता इस बात से अवश्य बढ गई है कि पाकिस्तान ने अपनी जरूरतों से ज्यादा आधुनिकतम हथियार एकत्र कर लिए हैं। भारत पूरी ईमानदारी के साथ अनाक्रमण सन्धि करने के लिए बात चला आ रहा है।"

भारत और चीन

भारत और चीन दो घनिष्ठ मित्रो के रूप मे प्रकट हुए थे, लेकिन 1962 मे चीन ने भारतीय सीमान्तो पर आकस्मिक आक्रमण कर इस मित्रता को धूल मे मिला दिया। आज चीन भारत की कुछ भूमि पर अधिकार जमाए हुए है और भारत की ओर से सम्बन्ध सुधार के प्रयत्नों के बावजूद भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाए हुए है।

नेहरू-युग में भारत-चीन सम्बन्ध (1947–मई, 1964)

भारत ने साम्यवादी चीन के प्रति प्रारम्भ से ही मैत्री और तुष्टिकरण की नीति अपनाई। उसने चीन को मान्यता प्रदान की और संयुक्त राष्ट्रसंघ मे उसके प्रवेश का जोरदार समर्थन किया। अक्तूबर, 1950 मे ही तिब्बत में प्रवेश कर चीन ने अपने वास्तविक इरादो का सकेत दे दिया था, लेकिन भारत ने चीनी इरादो को समझने मे भूल की। जब भारत सरकार ने तिब्बत मे उसके प्रवेश की ओर चीनी सरकार का ध्यान आकर्षित किया तो 30 अक्तूबर, 1950 को चीन की ओर से भारत को कठोर शब्दों में उत्तर दिया गया—"पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत, चीन के अन्तर्देशीय मामलो मे हस्तक्षेप करने का साहस न करे।" भारत की तुष्टिकरण की नीति की हद तब हो गई जब 29 अप्रेल, 1954 को चीन के साथ एक व्यापारिक समझौता कर भारत ने तिब्बत मे प्राप्त अपने बहिर्देशीय अधिकार (Extra-territorial Rights) चीन को सौंप दिए और बदले मे स्वयं कुछ भी प्राप्त नही किया। तिब्बत में चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार करना भारत सरकार की भारी भूल थी। समझौते की प्रस्तावना मे दोनो देशों ने पंचशील के सिद्धान्तो मे विश्वास प्रकट किया। इन्ही सिद्धान्तों का 1953 मे बाण्डुंग सम्मेलन मे विस्तार किया गया। 1954 मे चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई भारत आए और अक्तूबर, 1954 मे पं. नेहरू ने चीन की यात्रा की।

चीन विभिन्न रूप से भारत के साथ सीमा-विवाद उठाता रहा और तब 20 अक्तूबर, 1962 को उसने भारत पर विशाल पैमाने पर आकस्मिक आक्रमण कर भारत की मित्रता का बदला चुकाया। पं. नेहरू की आशाओं और नीतियो पर यह घातक चोट थी। उल्लेखनीय है कि भारत और चीन के बीच व्यावहारिक रूप से मान्य सीमा को मेकमोहन रेखा (McMohan Line) के नाम से जाना जाता है। अप्रेल, 1914 मे भारत और तिब्बत तथा तिब्बत और चीन के बीच

सीमा-निर्धारण के लिए शिमला मे एक सम्मेलन हुआ था जिसमें ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत सचिव आर्थर हेनरी मेकमोहन ने भाग लिया। शिमला सन्धि में यह तय हुआ कि (1) तिब्बत पर चीन को Suzerainy रहेगी, लेकिन बाह्य तिब्बत (Outer Tibet) को अपने कार्य में पूरी स्वतन्त्रता होगी, (2) चीन तिब्बत के आन्तरिक मामलों मे कोई हस्तक्षेप नही करेगा; एव (3) तिब्बत को चीन अपने राज्य का प्रान्त कभी घोषित नही करेगा। बाह्य तिब्बत और भारत के बीच ऊँची पर्वत श्रेणियो को सीमा मानकर एक नक्शे को लाल से चिह्नित कर दिया गया, जिसमे तीनो प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हुए। इसी सीमा को मेकमोहन रेखा की संज्ञा दी गई। जब कभी सीमा विवाद उठा तो चीन ने इसी रेखा का समर्थन किया। 1959 से पूर्व उसने इस विषय मे कोई आपत्ति नही उठाई। भारत-चीन सीमा-विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप मे यह भी ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि भारत को स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ-साथ उत्तराधिकार के रूप मे तिब्बत मे अनेक बहिर्देशीय अधिकार भी प्राप्त हुए थे। साम्यवादी चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता और भारत के बहिर्देशीय अधिकारो का कोई सम्मान न कर 7 अक्तूबर, *1950* को तिब्बत मे अपने सैनिक भेज दिए। भारत द्वारा इस ओर ध्यान आकर्षित किए जाने पर 30 अक्तूबर को चीन ने इसकी कठोर शब्दो मे उपेक्षा की। चीन ने जो नए *नक्शे प्रकाशित किए उसमे भारत की लगभग 50 हजार वर्गमील सीमा चीनी प्रदेश* के अन्तर्गत दिखाई और नेहरू द्वारा यह प्रश्न उठाए जाने पर चीनी प्रधान मन्त्री ने कहा कि ये नक्शे राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शो की नकल हैं समय मिलते ही *इन्हे ठीक कर दिया जाएगा। चीन भारत के साथ सुनियोजित ढंग से अपने विवादो* को उग्र कर बनाता रहा और भारतीय सीमाओ का अतिक्रमण करता रहा। जुलाई, 1962 मे गलवान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी को चीनियो ने घेरे मे ले लिया। सीमान्त पर चीनी सैनिक कार्यवाही बढने लगी और भारतीय सैनिक चौकियो को घेरा जाने लगा। फिर 20 अक्तूबर, 1962 को प्रात काल भारत की उत्तरी सीमा के दोनों आँचलो पर चीन ने भीषण आक्रमण कर दिया। भारतीय सेनाएँ इस आकस्मिक आक्रमण से सम्भलें तब तक चीन ने काफी भारतीय भूमि और सैनिक चौकियों पर कब्जा कर लिया।

भारत द्वारा सम्भल कर प्रत्याक्रमण करने से पूर्व ही चीन ने अकस्मात ही 21 नवम्बर, 1962 को एक पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। इसके साथ ही चीन ने एक द्वि-सूत्रीय योजना भी घोषित की—(1) चीनी सेनाएँ 7 नवम्बर, *1959 की 'वास्तविक नियन्त्रण रेखा' (Actual Line of Control) से* 20 किलोमीटर अपनी ओर हट जाएँगी। सेना का हटना एक दिसम्बर से प्रारम्भ होगा। (2) चीनी सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमे चीन सरकार अपनी असैनिक चौकियाँ कायम करेगी। चीन की ओर से भारत सरकार को इन शर्तों को मान लेने के लिए कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को भी 7 नवम्बर, 1959 की रेखा से 20 किलोमीटर अपने ही क्षेत्र मे और हटा ले। विरोध

परिस्थितियों में भारत ने बिना स्वीकारोक्ति के चीन की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा को मान लिया, किन्तु द्वि-सूत्रीय योजना को अस्वीकृत करते हुए घोषित किया कि जब तक चीनी सेनाएँ 8 सितम्बर, 1962 की स्थिति तक नहीं लौट जातीं तब तक दोनों देशों के बीच कोई वार्ता सम्भव नहीं है। 8 सितम्बर, 1962 की यह रेखा वह थी जिसके उत्तर में चीनी सेनाएँ आक्रमण से पहले स्थित थीं जबकि चीन द्वारा बनाई गई। 7 नवम्बर, 1959 की वास्तविक नियन्त्रण रेखा वह थी जहाँ तक आक्रमण के बाद भी चीनी फौजें नहीं पहुँच पाई थीं।

चीन के आक्रमण ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के विरुद्ध आलोचनाओं को प्रोत्साहित किया, किन्तु श्री नेहरू ने पुनः इस नीति में गहरी आस्था प्रकट की। अवश्य ही अब भारत की विदेश नीति में यथार्थवाद की ओर झुकाव शुरू हुआ। दिसम्बर, 1962 में श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र और घाना ने भारत-चीन वार्ता के लिए कोलम्बो-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें यह निश्चय किया गया कि सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत और चीन जाकर अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करें तथा दोनों देशों के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करें। श्रीमती भण्डारनायके स्वयं कोलम्बो प्रस्ताव लेकर पीकिंग और नई दिल्ली गईं। 29 जनवरी, 1963 को ये प्रस्ताव प्रकाशित कर दिए गए जिसके मूल तत्व ये थे—

(1) युद्ध-विराम का समय भारत-चीन विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए उपयुक्त है; (2) चीन पश्चिमी क्षेत्र में अभी अपनी सैनिक-चौकियाँ 20 किलोमीटर हटा लें; (3) भारत अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति कायम रखे, (4) विवाद का अन्तिम हल होने तक चीन द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनिक रहे जिसकी निगरानी दोनों पक्षों द्वारा नियुक्त गैर-सैनिक चौकियाँ करें; (5) पूर्वी नेफा क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्य वास्तविक नियन्त्रण रेखा युद्ध-विराम रेखा का रूप ले, शेष क्षेत्रों के बारे में दोनों देश भावी वार्ताओं में निर्णय करें, (6) मध्यवर्ती क्षेत्र का समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से किया जाए। कोलम्बो प्रस्तावों का वास्तविक उद्देश्य भारत और चीन के बीच गतिरोध की स्थिति समाप्त कर वार्तालाप का द्वार खोलना था। चीन ने यह आश्वासन दिया कि वह कोलम्बो प्रस्तावों को स्वीकार कर लेगा। स्पष्टीकरण के बाद भारत ने प्रस्तावों पर विधिवत अपनी सहमति दे दी। तब चीन ने कुछ ऐसी शर्तें जोड़ दी कि जिनसे प्रस्ताव व्यवहारतः महत्त्वहीन हो गया और चीन की अपरोक्ष स्वीकृति भी स्पष्ट हो गई। चीन ने तटस्थ देशों के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि कोलम्बो प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाएँ। भारत-चीन विवाद के गतिरोध को दूर करने के लिए 3 अक्तूबर, 1963 को मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, किन्तु इस प्रस्ताव का भी कोई परिणाम नहीं निकला। मई, 1964 में श्री नेहरू की मृत्यु पर श्री चाऊ-एन-लाई ने अपना शोक सन्देश भेजा जिसमें यह भी कहा गया कि भारत और चीन के विवाद अस्थायी हैं जिनका समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से होना चाहिए।

शास्त्री काल में भारत-चीन सम्बन्ध (मई, 1964–जनवरी, 1966)

पं. जवाहरलाल नेहरू के बाद 10 जनवरी, 1966 तक लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधान मन्त्री रहे। इस काल मे भी भारत और चीन के सम्बन्धो मे कोई सुधार न आ सका। 1965 के भारत-पाक युद्ध मे चीन ने पुनः अपना शत्रुतापूर्ण रवैया प्रदर्शित किया। चीन ने पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया और भारत को आक्रामक घोषित किया। धमकी द्वारा भारत को पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध से विमुख करने का खेल भी खेला गया। 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया कि—"तीन दिन के भीतर भारत सिक्किम -चीन सीमा पर गैर-कानूनी ढंग से स्थापित 56 सैनिक प्रतिष्ठानो को हटा लें अन्यथा इसका नतीजा बहुत बुरा होगा।" पत्र मे यह माँग की गई कि भारत सीमा पर अपने सभी अतिक्रमण तुरन्त बन्द कर दे, अपहृत सीमा-निवासियो तथा पकडे हुए मवेशियों को लौटा दे अन्यथा गम्भीर परिणामो के लिए भारत सरकार पूरी तरह उत्तरदायी रहेगी। महाशक्तियो ने अविलम्ब चीन को चेतावनी दी कि वह आग के साथ खिलवाड न करे। उधर चीनी अल्टीमेटम के जवाब मे 17 दिसम्बर को श्री शास्त्री ने लोकसभा मे कहा कि सिक्किम-तिब्बत सीमा पर भारत के अतिक्रमण की बात गलत है और भारतीय प्रदेश पर चीन का दावा हमे स्वीकार नही है। चीन की सैनिक शक्ति भारत को अपनी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा से विचलित नही कर सकती। चीन ने सीमा पर सैनिक गतिविधियाँ आरम्भ कर दी। 19 दिसम्बर को अल्टीमेटम की अवधि फिर तीन दिन के लिए बढा दी, किन्तु बडे पैमाने पर कोई सैनिक कार्यवाही करने का साहस नहीं किया। 23 सितम्बर को भारत-पाक युद्ध-विराम हो जाने पर पीकिंग रेडियो ने यह नाटकीय घोषणा की कि "भारतीय सैनिक प्रतिष्ठानो को तोडकर चीनी सैनिक अपनी सीमा मे वापस लौट गए हैं।"

इन्दिरा काल में भारत-चीन सम्बन्ध (जनवरी 1966–मार्च 1977)

भारत-पाक युद्ध मे विजय से भारत की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई और चीन कुछ समय तक सीमा पर विशेष गड़बड़ी करने से रुका रहा। सितम्बर व अक्टूबर 1967 में चीन ने नाथू-ला के भारतीय प्रदेश पर आक्रमण कर दिया, लेकिन भारी हानि उठाकर पीछे हटना पड़ा। 2 अक्टूबर, 1967 को चीनियो ने चोला की भारतीय चौकी पर अचानक हमला किया, किन्तु फिर गहरी क्षति उठाकर अपने नापाक इरादों से उन्हें हाथ धोना पडा। विदेशो की राजधानियो मे दोनो देशो के राजदूतों का सम्पर्क बढ़ने लगा। फिर भी चीन की ओर से सम्बन्ध सुधार के कोई ठोस प्रयत्न दृष्टिगोचर नही हुए। 4 अगस्त, 1971 को राज्यसभा में भारतीय विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने कहा—"भारत चीन के साथ सम्बन्धों मे सुधार का स्वागत करना है, लेकिन जब तक चीन की ओर से उचित प्रत्युत्तर नही मिलता, हम अकेले कुछ नही कर सकते।" सितम्बर, 1971 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ मे चीन के प्रवेश की बात उठी और भारत ने चीन की सदस्यता का पूर्ण समर्थन किया।

दोनों देशों के बीच राजदूतों को नियुक्त करने की बात भी उठी और दिसम्बर, 1971 में भारत–पाक युद्ध छिड़ गया जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में पुनः तनाव उत्पन्न हो गया। बंगला देश के मुक्ति-आन्दोलन में भारत का सहयोग चीन को अच्छा नहीं लगा। चीन ने भारत के सहयोग को पाकिस्तान के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप बताया। अगस्त, 1971 की भारत–सोवियत सन्धि ने चीन को और भड़का दिया। दिसम्बर, 1971 में भारत–पाक युद्ध के दौरान सुरक्षा परिषद् की बहसों में चीनी प्रतिनिधि ने पाकिस्तान का साथ देने में कोई कसर नहीं रखी और भारत को आक्रमणकारी घोषित कर दिया।

चीन के प्रसार-साधन भारत के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण प्रचार करते रहे। चीन सरकार ने 29 अप्रैल, 1975 को एक वक्तव्य प्रसारित किया जिसमें कहा गया कि भारतीय संघ में सिक्कम को राज्य का दर्जा प्राप्त होना 'अवैध अधिग्रहण' है। भारत सरकार ने इसे अपने आन्तरिक मामले में चीन का हस्तक्षेप बताया। चीन बराबर यह दावा करता रहा कि भारत अपने पड़ौसियों के प्रति 'आधिपत्य और विस्तारवादी आकांक्षाएँ' रखता है और चाहता है कि वह सोवियत संघ के समर्थन से एक 'उप-महा-देश' बन जाए। चीन के इस मिथ्या प्रचार के बावजूद भारत ने किसी प्रकार का कोई प्रचार आन्दोलन नहीं छेड़ा। भारत सरकार चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए सुसंगत नीति का अनुसरण करती रही। वर्ष 1976 भारत और चीन के बीच सम्बन्ध सुधार का सन्देश लेकर आया। अप्रैल, 1976 में भारत ने चीन में अपना राजदूत नियुक्त किया और सितम्बर, 1976 में चीनी राजदूत ने दिल्ली में अपने परिचय-पत्र प्रस्तुत किए। अक्टूबर-नवम्बर, 1976 में चीन की बैडमिण्टन टीम की भारत-यात्रा और दिसम्बर, 1976 में एक गैर-सरकारी भारतीय प्रतिनिधि मण्डल की चीन-यात्रा से दोनों देशों के बीच बढ़ते हुए सम्बन्धों की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई।

जनता शासन-काल में भारत-चीन सम्बन्ध (अप्रैल 1966–1979)

भारत का एक गैर-सरकारी व्यापार प्रतिनिधि मण्डल अप्रैल, 1977 में 'कैण्टन स्प्रिंग फेरि' में सम्मिलित हुआ। करीब 15 वर्ष बाद दोनों देशों के बीच सीधा व्यापार फिर से आरम्भ होने से दोनों देशों के बीच बैंकिंग सुविधाओं और मालवाहक जहाजों के आवागमन को प्रोत्साहन मिला। कृषि, खनन, वन-विज्ञान, चिकित्सा, जन-स्वास्थ्य और खेल-कूद जैसे विभिन्न क्षेत्रों में भी आदान-प्रदान किया गया। फरवरी, 1978 में चीन के एक व्यापार प्रतिनिधि मण्डल ने भारत की यात्रा की। मार्च, 1978 में चीन के एक गैर-सरकारी सद्भावना प्रतिनिधि मण्डल ने भारत की यात्रा की। विदेशमन्त्री श्री अटलबिहारी बाजपेयी ने 12 से 18 फरवरी, 1979 तक चीन की यात्रा की। विदेशमन्त्री ने यह स्पष्ट बताया कि भारत को पाकिस्तान और चीन के बीच सामान्य द्विपक्षीय सम्बन्धों पर यद्यपि कोई आपत्ति नहीं है लेकिन भारत-चीन सम्बन्धों के सुधार की सम्भावनाओं पर इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा। अगर उनके पारस्परिक सम्बन्धों से भारत के वैध हितों पर यदि

कोई उनका बुरा असर पड़ता हो। उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि चीन सरकार ने कश्मीर के प्रश्न पर जो रुख अपनाया है वह छठे दशाब्द के स्वयं उनके अपने ही रवैये के विपरीत है तथा उससे चीन-भारत सम्बन्धों में एक अतिरिक्त और अनावश्यक पेचीदगी आ गई है। चीनी नेताओं के साथ अपनी बातचीत में विदेशमन्त्री ने इस बात पर बल दिया कि भारत-चीन सीमा प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान, पारस्परिक विश्वास पुनः जमाने के लिए और चीन-भारत सम्बन्धों के वातावरण को पूरी तरह से सामान्य बनाने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पीकिंग में अपनी बातचीत पूरी करने के बाद विदेशमन्त्री हाऊचो गए जहाँ 17 फरवरी को उन्हें वियतनाम पर चीनी आक्रमण की खबर मिली। उन्होंने तत्काल अपनी शेष यात्रा रद्द कर दी और तुरन्त भारत लौट आए। भारत सरकार ने वियतनाम पर चीनी आक्रमण का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया और कहा कि चीनी फौजों को वापस हटना चाहिए। कुल मिलाकर जनता शासनकाल में भारत-चीन सम्बन्ध यथापूर्व बने रहे।

श्रीमती गाँधी के पुन. सत्तारूढ़ होने के बाद भारत—चीन सम्बन्ध (फरवरी 1982 तक)

चीन ने नवम्बर–दिसम्बर, 1979 में नई दिल्ली में आयोजित भारत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेले में काफी बड़े पैमाने पर भाग लिया विभिन्न क्षेत्रों के अनेक भारतीय विशेषज्ञों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के अभिकरणों के तत्त्वावधान में चीन की यात्रा की। चीन के कई शिष्ट-मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने भारत आए। श्री गोन्साल्वेज, सचिव (पूर्व) जब जून, 1980 के मध्य में पीकिंग की यात्रा पर गए तो भारत ने यह स्पष्ट कर दिया कि चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने की कार्यवाही किसी दूसरे देश के साथ अपनी मित्रता की कीमत पर नहीं की जाएगी। वर्ष 1980 और 1981 के दौरान भारत और चीन के बीच सम्पर्क सूत्रों का विकास होता रहा। 1981 में सीमा विवाद सुलझाने की दिशा में नए प्रयास शुरू हुए और लगभग दो दशकों के बाद पीकिंग में 10 दिसम्बर से 15 दिसम्बर, 1981 तक चीन और भारत के प्रतिनिधि एक-दूसरे के आमने-सामने बैठकर दोनों देशों के बीच के सीमा विवादों को सुलझाने के प्रयास में जुटे रहे। वार्ता के अनेक दौर चलने की सम्भावना है। एक बार दोनों देशों के सामान्य सम्बन्ध बन जाएँ तो इसका प्रभाव विश्व की राजनीति पर अवश्य होगा और तनाव का वातावरण बहुत कम हो जाएगा। 22 फरवरी, 1982 में भारत में 44 विकासशील देशों का जो तीन दिवसीय सम्मेलन आरम्भ हुआ उसमें चीन के उपमन्त्री ने भी भाग लिया।

भारत और श्रीलंका

भारत और श्रीलंका के सम्बन्ध उतार-चढ़ाव के रहे हैं, तथापि कुल मिलाकर दोनों देशों की मैत्री में वृद्धि हुई है और पारस्परिक विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से

सुलझाया गया है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भारत ने श्रीलंका के आर्थिक विकास में सहायता दी थी। 1955 के बाण्डुंग-सम्मेलन में दोनों देशों ने एक-दूसरे के साथ सहयोग किया। 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में श्रीलंका ने निष्पक्ष नीति का अवलम्बन न कर भारतीय भावनाओं को ठेस पहुँचाई, तथापि प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायके ने तटस्थ देशों का कोलम्बो सम्मेलन आयोजित किया और सम्मेलन द्वारा पारित कोलम्बो-प्रस्तावों के सम्बन्ध में पीकिंग तथा दिल्ली की यात्राएँ कीं।

भारत की आजादी के पूर्व 1939 से ही दोनों देशों के बीच राज्य-विहीन नागरिकों से सम्बन्धित जो विवाद था वह लम्बे अरसे तक बना रहा, किन्तु अक्तूबर, 1964 में शास्त्री–भण्डारनायके समझौते द्वारा उसे सुलझा लिया गया। सभी राज्य-विहीन नागरिकों को भारत या श्रीलंका की नागरिकता प्राप्त करने के आवेदन देने के लिए कहा गया। 1965 में दोनों देश अधिक निकट आ गए जब श्रीलंका के तत्कालीन प्रधानमन्त्री सेनानायक ने भारत के न्यायोचित पक्ष का समर्थन किया और चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने तथा कोलम्बो-प्रस्तावों को न मानने के लिए उसकी निन्दा की। 1970 में नेतृत्व पुनः श्रीमती भण्डारनायके के हाथ में आया। मई, 1971 में उनकी सरकार को उग्रवादी वामपन्थियों के व्यापक विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसे दबाने के लिए भारत ने शस्त्रों की सहायता दी। श्रीमती गाँधी ने अप्रैल, 1972 में श्रीलंका की यात्रा की। जनवरी, 1973 में श्रीमती भण्डारनायके भारत आईं। भारत और श्रीलंका के समुद्री तटों के बीच लगभग 200 एकड़ के कच्चातिवू नामक छोटे-से द्वीप पर आधिपत्य सम्बन्धी विवाद भी 28 जून, 1974 के समझौते द्वारा निपटा लिया गया। इस द्वीप पर नागफनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं उगता। भारत ने एक महान् पड़ौसी देश की परम्परा का निर्वाह करते हुए कच्चातिवू को श्रीलंका के अधिकार क्षेत्र में मान लिया। अप्रैल, 1976 में दोनों देशों के बीच समुद्री सीमा सम्बन्धी समझौता हुआ। दोनों देशों ने स्वीकार किया कि प्रत्येक देश के तट के 200 मील तक का समुद्री क्षेत्र उसका आर्थिक क्षेत्र होगा और जहाँ दोनों के बीच की दूरी 200 मील से कम होगी वहाँ दूसरे देश की मध्यस्थ रेखा सीमा रेखा होगी। अगस्त, 1976 में भारत के प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री ने कोलम्बो की यात्रा की। मार्च, 1977 में भण्डारनायके के पतन के बाद श्री जयवर्धन श्रीलंका के प्रधानमन्त्री बने। दोनों देशों के बीच 1977 में ही एक सांस्कृतिक करार पर हस्ताक्षर हुए और भारत ने सामूहिक उपयोग की अनिवार्य वस्तुओं तथा मध्यवर्ती साज-सामान की खरीद के लिए श्रीलंका को 7 करोड़ रुपये का ऋण दिया। श्रीलंका के संशोधित संविधान के अन्तर्गत श्री जे. आर. जयवर्धन को प्रथम कार्यकारी राष्ट्रपति बनाए जाने के अवसर पर आयोजित समारोहों में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करने के लिए 3 से 6 जनवरी, 1978 तक भारत के गृहमन्त्री ने श्रीलंका की यात्रा की। अक्तूबर, 1978 में राष्ट्रपति जयवर्धन की यात्रा और फरवरी, 1979 में

श्री मोरारजी देसाई की थीलका यात्रा से दोनों देशों के सम्बन्धों में विद्यमान सौहार्द्रता परिलक्षित हुई। दोनों पक्षों ने यह स्वीकार किया कि दोनों देशों के बीच अब कोई समस्या नहीं है। जनवरी, 1980 में श्रीमती गाँधी के पुनः सत्तारूढ़ होने के बाद से दोनों देशों के सम्बन्ध और अधिक सुदृढ़ हुए हैं।

भारत और नेपाल

ऐतिहासिक, साँस्कृतिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से तो दोनों देश अति निकट हैं, साथ ही आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के कारण भी दोनों मे मैत्री स्वाभाविक है। 31 जुलाई, 1950 की सन्धि द्वारा दोनो देश निश्चय कर चुके थे कि वे शान्ति और मैत्री की नीति का अनुसरण करेंगे। दोनो मे एक व्यापारिक सन्धि भी सम्पन्न हुई जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि नेपाल अपना विदेशी व्यापार भारतीय क्षेत्र से होकर सुचारू रूप से कर सकेगा। नेपाल मे कुछ भारत विरोधी तत्त्व पहले ही विद्यमान थे। साम्यवादी चीन भी अपने प्रभाव विस्तार के लिए भीतर ही भीतर नेपाल मे भारत-विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहन दे रहा था। अतः नेपाल मे यह विचार बल पकड़ने लगा कि नेपाल को भारत और चीन के मध्य एक अवरोधक (बफर) राज्य की भूमिका निभानी चाहिए। भारत ने नेपाली राजनीति मे कोई हस्तक्षेप नहीं किया। भारत नेपाल की आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के लिए सभी प्रकार से सहयोग प्रदान करता रहा। सन् 1956 मे टकाप्रसाद आचार्य नेपाल के प्रधानमन्त्री बने। उनका झुकाव चीन की ओर था, अत. नेपाल मे भारत-विरोधी वातावरण तैयार करने मे उनका प्रत्यक्ष परोक्ष सहयोग रहा। 1957 मे डॉ के. आई प्रधानमन्त्री बने और 1959 मे बी पी कोइराला। इन दोनों ही के प्रधान मन्त्रित्वकाल मे भारत-नेपाल सम्बन्धो मे कोई सुधार नही हो सका। प्रधानमन्त्री कोइराला ने चीन के साथ एवरेस्ट पर्वत शिखर के बारे मे ऐसा समझौता किया जो नेपाल सरकार का भारत के साथ विश्वासघात था। कोइराला-मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद भी 1961 तक दोनों देशो के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। भारत के विरोध के बावजूद राजा महेन्द्र ने काठमाण्डू-ल्हासा सडक मार्ग बनाने के सम्बन्ध मे चीन से समझौता किया। 1962 मे भारत पर चीनी आक्रमण के प्रति भी नेपाल ने तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया और इस प्रकार साम्यवादी चीन के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से सहानुभूति प्रकट की।

1964 मे नेहरू की मृत्यु के बाद श्री शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने नेपाल की यात्रा की और दोनो देशों के बीच सम्बन्धों मे कुछ सुधार हुआ। राजा महेन्द्र भारत आए और राष्ट्रपति डॉ राधाकृष्णनन् नेपाल गए। एक सितम्बर, 1964 मे एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने 9 करोड रुपयों की लागत मे नेपाल के लिए एक 128 मील लम्बी सडक बनाने का निर्णय किया। काठमाण्डू से भारतीय सीमा रक्सौल को जोड़ने वाली एक अन्य सड़क योजना भी भारत ने अपने हाथ मे ली। 1965 में श्री शास्त्री ने कोसी-योजना के पश्चिमी-नहर कार्य का उद्घाटन किया। योजना का उद्देश्य नेपाल को बाढ की क्षति से बचाना

और बिजली तथा सिंचाई से लाभ पहुँचाना था। दिसम्बर, 1965 में नेपाल नरेश ने भारत-यात्रा की और एक संयुक्त विज्ञप्ति द्वारा स्वीकार किया कि भारत की सहायता से नेपाल में चल रहे विकास कार्यों की प्रगति सन्तोषजनक है।

श्री शास्त्री के बाद श्रीमती गांधी ने भी पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति को आगे बढ़ाया। अक्तूबर, 1971 में दोनों देशों के बीच कोसी तथा गण्डक परियोजनाओं के निर्माण के लिए समझौता हुआ। जनवरी, 1972 में राजा महेन्द्र की मृत्यु हो गई और उनके बाद राजा वीरेन्द्रशाह गद्दी पर बैठे। भारत नेपाल के विकास कार्यक्रमों में रुचि लेता रहा। राजा वीरेन्द्र का रवैया भारतीय उदारता के बावजूद कई दृष्टियों से अखरने वाला था। 1973 में उन्होंने नई भौगोलिक स्थिति की घोषणा करते हुए कहा कि नेपाल भारतीय उपमहाद्वीप का अंग नहीं है। सितम्बर, 1974 में राजा वीरेन्द्र ने सिक्किम को भारत में सह-राज्य का दर्जा दिए जाने का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। काठमाण्डू स्थित चीनी दूतावास द्वारा भारत के विरुद्ध बुलेटिन निकाले गए। नेपाल सरकार की चुप्पी ने चीनी दूतावास द्वारा भारत-विरोधी प्रचार को बढ़ावा दिया। नेपाल के भारतीय स्वयं को असुरक्षित महसूस करने लगे। इन घटनाओं को भारत सरकार ने अत्यन्त गम्भीरता से लिया। नेपाल सरकार ने समझ लिया कि भारत के सहयोग और समर्थन के बिना गाड़ी चलाना कठिन है। नवम्बर, 1974 के लगभग नेपाली पत्र 'मदरलैण्ड' ने कहा कि विश्व के 'लैण्ड लाक्ड' देशों को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वही नेपाल को भी मिलनी चाहिए। राजनीतिक क्षेत्रों के अनुसार भारतीय विदेशमन्त्री चह्वाण ने नेपाली प्रधानमन्त्री श्री रिजाल को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत नेपाल को हर प्रकार से सहायता देने को तैयार है, किन्तु संचार एवं बन्दरगाह सुविधाओं को अधिकार के रूप में नहीं माँगा जाना चाहिए। नेपाल को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह इस महाद्वीप की रक्षा-व्यवस्था का एक अंग है। भारत के कड़े रुख को देखकर नेपाल के महाराजा ने अप्रत्यक्ष और कूटनीतिक क्षेत्रों के माध्यम से भारत से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह किया। 1975 में दोनों देशों के बीच सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे। नेपाल नरेश भारत आए।

वर्ष 1976 में दोनों देशों के सम्बन्धों की दिशा में काफी ठोस कार्य हुआ। राजनीतिक और सरकारी स्तर पर कई यात्राएँ हुईं जिससे दोनों सरकारों के बीच लगातार वार्ता का अवसर प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि नेपाल के जो राष्ट्रिक भारत के सुरक्षित, प्रतिबन्धित क्षेत्रों का दौरा करना चाहेंगे उन्हें दूसरे विदेशी राष्ट्रों के समकक्ष ही माना जाएगा और इस प्रकार उन्हें भी इस उद्देश्य के लिए परिपत्र (परमिट) प्राप्त करना होगा। 1976–77 में नेपाल की विकास-योजनाओं के सहायता अनुदान के रूप में बजट में 10 करोड़ रुपये की राशि की व्यवस्था की गई है। अप्रैल, 1977 में नेपाल नरेश की भारत यात्रा और उसके बाद जुलाई, 1977 में भारत के विदेशमन्त्री की नेपाल यात्रा और फिर दिसम्बर, 1977 में भारत के प्रधानमन्त्री की नेपाल यात्रा से आपसी आस्था और विश्वास की भावना के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध विकसित

करने मे सहायता मिली। भारत-नेपाल के विकास कार्यक्रमो के लिए तकनीकी और वित्तीय सहायता देता रहा। मार्च, 1978 मे नेपाल के साथ व्यापार और पारगमन के लिए अलग-अलग सन्धियाँ तथा अनधिकृत व्यापार पर नियन्त्रण के लिए सहयोग के सम्बन्ध मे अन्तर-सरकारी करार के सम्पन्न होने से भारत और नेपाल के बीच परस्पर लाभदायक सहयोग को सम्वर्धित करने के लिए एक अनुकूल वातावरण तैयार हुआ। 1979–80 के दौरान भारत और नेपाल दोनों ही देश अपनी-अपनी आन्तरिक घटनाओ मे व्यस्त रहे। अपनी समस्याओ के बावजूद सितम्बर, 1979 मे नेपाल के महाराजाधिराज भारत की यात्रा पर आए। इस बात पर सहमति हुई कि करनाली, पंचेश्वर और राप्ती जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण बहुउद्देश्यीय पन-बिजली परियोजनाओ आदि का अध्ययन शीघ्रता से पूरा किया जाए।

वर्ष 1980–81 मे भारत की तरह नेपाल मे भी महत्त्वपूर्ण आन्तरिक परिवर्तन हुए। सरकार का स्वरूप निश्चित करने के लिए मत-संग्रह के बाद यानी इस बात का फैसला कर लेने के बाद कि वहाँ दलविहीन पंचायती व्यवस्था चलनी रहे अथवा उसकी जगह बहु-दलीय व्यवस्था अपनायी जाए, सविधान में बहुत महत्त्वपूर्ण संशोधन की दिशा मे कार्यवाही की गई। दोनो ही देशो के सम्बन्धों को एक ऐसा सुदृढ आधार देने के उद्देश्य से गम्भीर रूप से प्रयत्न किए गए जो समानता, पारस्परिक विश्वास और पारस्परिकता पर आधारित हो। द्विपक्षीय सहयोग की लम्बी परम्परा निरन्तर चलती रही खासतौर पर जल-संसाधनों के विकास के क्षेत्र मे जैसा कि कर्नाली और पंचेश्वर योजनाओ से प्रकट होता है।

भारत और पड़ोसी देशों के सम्बन्धों पर भारत सरकार की रिपोर्ट 1980–81

वर्ष 1980-81 के दौरान पड़ोसी देशो के साथ भारत के जो सम्बन्ध रहे उन पर भारत सरकार की 1980-81 वार्षिक रिपोर्ट से अच्छा प्रकाश पड़ता है। साथ ही हमे इन सम्बन्धो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी सांकेतिक ज्ञान प्राप्त होता है। रिपोर्ट इस प्रकार है—

भारत और अफगानिस्तान

अफगानिस्तान के साथ भारत के निकट और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है और वहाँ जो घटनाएँ घटी उनसे उसका गम्भीर रूप से चिन्तित हो जाना स्वाभाविक था। अपने इस पुराने मित्र और पड़ोसी देश की सुरक्षा, स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता, प्रादेशिक अखण्डता और उसकी गुट-निरपेक्ष स्थिति मे वह गहरी दिलचस्पी रखता है।

स्थिति को सामान्य करने के उद्देश्य से, विदेश मन्त्रालय के अपर सचिव श्री एस. के. सिंह काबुल गए और वहाँ उन्होने काबुल के नेताओं से बातचीत की। विदेश मन्त्री ने न्यूयॉर्क में, अफगानिस्तान के विदेश मन्त्री से कई बार बातचीत की। भारत ने इस समस्या के सम्बन्ध मे दूसरे देशों के नेताओं से भी विचार-विमर्श किया।

अफगानिस्तान के सम्बन्ध मे भारत की नीति इन सिद्धान्तों पर आधारित है कि (i) किसी एक देश के मामले मे किसी दूसरे देश को सशस्त्र शक्ति के प्रयोग से हस्तक्षेप अथवा दखलन्दाजी नही करनी चाहिए, (ii) बाहरी हस्तक्षेप अथवा तोड-फोड के माध्यम से वर्तमान सरकार को अस्थिर बनाने के प्रयत्न नहीं किए जाने चाहिए, और (ii) अतिशय शस्त्र मँगाकर या भेजकर, बड़ी शक्तियो के प्रभाव और इसके परिणामस्वरूप मुठभेड के द्वारा दक्षिण एशियाई क्षेत्र को अस्थिर नहीं बनाया जाना चाहिए। भारत का यह दृढ़ मत है कि इस सिलसिले मे प्राथमिक आवश्यकता इस बात की है कि तनाव को बढने से रोका जाए और राजनीतिक तथा राजनयिक साधनो से समाधान की दिशा मे अनथक प्रयास किया जाए।

भारत और बंगलादेश

भारत बगलादेश के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने की दिशा मे निरन्तर प्रयत्न करता रहा। दोनो ओर से मन्त्रियो और वरिष्ठ अधिकारियों की नियमित यात्राओं के आदान-प्रदान के माध्यम से दोनों सरकारो के बीच रचनात्मक वार्ता चलती रही। इस सन्दर्भ मे बगलादेश के राष्ट्रपति और भारत की प्रधानमन्त्री की बैठक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दोनो नेताओं की यह मुलाकात सितम्बर, 1980 मे नई दिल्ली मे हुई जबकि बगलादेश के राष्ट्रपति, राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षो के दूसरे क्षेत्रीय सम्मेलन मे भाग लेने के लिए भारत आए थे। विदेशमन्त्री ने 16 से 18 अगस्त, 1980 तक ढाका की यात्रा की जबकि उन्हें बंगलादेश की सरकार के साथ भू-सीमा, जल-सीमा, सीमा पर अवैध आवागमन तथा रेल पारगमन की सुविधा जैसे महत्त्वपूर्ण द्विपक्षीय प्रश्नो पर व्यापक विचार-विमर्श करने का मौका मिला। इनमे से बहुत से प्रश्नो का यद्यपि कोई तात्कालिक समाधान तो नहीं मिल सका लेकिन अनेक द्विपक्षीय मसलो पर हम आगे बढ सकें और आगे की कार्यवाही के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया गया।

1974 के भारत-बगलादेश भूमि-सीमा करार को क्रियान्वित करने की दिशा मे तेजी लाने के सिलसिले मे अक्तूबर, 1980 में नई दिल्ली मे अधिकारी स्तर की बातचीत हुई। सीमा को अंकित करने का काम 1981-82 के क्षेत्र मौसम से पूर्व पूरा कर लेने के इरादे से विशेष कार्यक्रम बनाए गए। जल-सीमा को अंकित करने के लिए अधिकारी स्तर की बातचीत दिसम्बर, 1980 मे ढाका मे पुनः शुरू हुई। इससे पहले 1974 तथा 1978 के बीच इस सिलसिले मे बातचीत के छह दौर हो चुके है।

रेल-पारगमन सुविधा प्रदान करने के बगलादेश के अनुरोध पर सिद्धान्त रूप मे सहमत हो जाने के बाद इस सिलसिले मे आगे की कार्यवाही के लिए अक्तूबर, 1980 में भारत से एक प्रतिनिधिमण्डल ढाका गया और वहाँ उसने बगलादेश होते हुए पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा के बीच माल पारगमन यातायात के प्रबन्धकों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की। एक तकनीकी उप-दल ने रेल गोदामों के निर्माण के

लिए सम्भावित स्थलों का निरीक्षण किया जिसका लक्ष्य बंगलादेश की रेल व्यवस्था को त्रिपुरा में अगरतला शहर से जोड़ना है। इस यात्रा में पारगमन सुविधाएँ स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। विज्ञान, शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक कल्याण कार्यों के क्षेत्र में भारत और बंगलादेश ने पिछले चार वर्ष से चली आ रही तदर्थ स्थिति को खत्म करने का निश्चय किया जिसके फलस्वरूप 30 दिसम्बर, 1980 को एक सांस्कृतिक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर हुए जिसका उद्देश्य दोनों ओर से नियमित आदान-प्रदान को सुनिश्चित करना है। यह प्रोटोकोल दोनों देशों के बीच 30 दिसम्बर, 1972 को सम्पन्न सांस्कृतिक सहयोग की रूपरेखा के अन्तर्गत किया गया है।

अक्तूबर, 1980 में भारत के वाणिज्य मन्त्री श्री प्रणवकुमार मुखर्जी ने ढाका की यात्रा की जिसके परिणामस्वरूप भारत और बंगलादेश के बीच वाणिज्यिक आदान-प्रदान को एक नया प्रोत्साहन मिला। दोनों देशों के बीच एक नए व्यापार करार पर हस्ताक्षर हुए जो प्रारम्भ में तीन वर्ष की अवधि के लिए वैध होगा। इसी यात्रा के दौरान भारत और बंगलादेश के बीच सद्भाव ज्ञापन पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार भारत को गीले नीले चमड़े (वेट ब्ल्यू लेदर) के निर्यात की 25 करोड़ टका के बराबर की अधिकतम सीमा को बढ़ाकर 40 करोड़ टका कर दिया गया। इसी ज्ञापन में भारत ने एक लाख टन की मात्रा तक यूरिया उर्वरक खरीदना स्वीकार किया और कुछ वर्गों की औषधियों, मिट्टी के तेल, जामदानी साड़ी और हाथकरघे की वस्तुओं के आयात के प्रश्न पर विचार करने पर अपनी सहमति व्यक्त की। बंगलादेश ने 1980-81 वर्ष के दौरान स्टीम कोयला की सप्लाई के लिए अनुरोध किया। इसके अतिरिक्त उसने लौह-पिण्ड, जी. आई. शीट, गेहूँ के बीजों के आयात में भी अपनी दिलचस्पी दिखाई।

जैसा कि फरक्का पर गंगा के पानी के बँटवारे और उसके प्रवाह को बढ़ाने से सम्बद्ध करार (1977) में परिकल्पित है, इसमें निहित प्रबन्धों के अनुरूप काम, उसके प्रभाव क्रियान्वयन और उनकी प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए पहली समीक्षा पर 5 नवम्बर, 1980 को ढाका में हस्ताक्षर किए गए। जनवरी, 1981 को दिल्ली में मन्त्री-स्तर की एक और बैठक समीक्षा करने के लिए हुई। दोनों पक्षों ने इस समीक्षा पर अपनी-अपनी रिपोर्टों का आदान-प्रदान किया जो अल्पकालिक बँटवारे के प्रबन्धों से और फरक्का पर गंगा के प्रवाह को खुश्की के मौसम में बढ़ाने से सम्बद्ध प्रावधान दोनों के बारे में थीं। इस करार में भारत-बंगलादेश संयुक्त नदी आयोग से कहा गया कि प्रवाह बढ़ाने से सम्बद्ध योजना पर वह अपनी सिफारिशें तीन वर्ष के अन्दर-अन्दर दोनों सरकारों को प्रस्तुत कर दें। संयुक्त नदी आयोग इस अवधि में भारत और बंगला देश द्वारा प्रस्तुत उनकी अपनी-अपनी योजनाओं पर विचार करने का काम भी शुरू नहीं कर सका जिसके कारण, भारतीय पक्ष ने पुनः विचार के लिए हुई बैठक में प्रस्तुत किए। इसके विपरीत, करार में जिन अन्त-

कालिक बँटवारे के प्रबन्धों की परिकल्पना की गई थी, उन पर पूरी ईमानदारी के साथ और पूर्ण रूप से अमल किया गया।

नवोदित न्यूमूर द्वीप पर भारत के अधिकार पर बंगलादेश ने आपत्ति की। भारत ने बंगलादेश को इस द्वीप पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए आंकड़े दिए और इस सिलसिले में बंगलादेश के साथ आगे बातचीत होनी है जिसमें इस बात का प्रयत्न किया जाएगा कि इस पर भारत के उचित अधिकार के सम्बन्ध में अगर कुछ शंका-सन्देह हो तो उसे दूर किया जाए।

भारत और भूटान

समीक्षाधीन वर्ष (1980-81) के दौरान भूटान और भारत के बीच कई उच्चस्तरीय यात्राएँ हुई जो भूटान के साथ भारत के निकट सम्बन्धों का प्रमाण है। भूटान के विदेशमन्त्री ने अगस्त, 1980 में भारत की यात्रा की। न्यूयॉर्क में उनसे भेंट होने पर विदेशमन्त्री ने दोनों देशों के समान हित के मामलों पर और अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर उनसे विचार-विनिमय किया। भूटान नरेश ने 9 से 11 जनवरी, 1981 तक भारत की यात्रा की और उनकी इस यात्रा से भारत और भूटान के बीच परस्पर विश्वास, सद्भाव, पारस्परिक निर्भरता और हितों की पारस्परिकता के विशिष्ट सम्बन्धों की पुनः पुष्टि हुई।

इन यात्राओं के अतिरिक्त दोनों देशों के कई सरकारी प्रतिनिधिमण्डल और अधिकारी भी एक-दूसरे के यहाँ आए गए। और उन्होंने विभिन्न द्विपक्षीय और दूसरे प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया।

भारत भूटान को आर्थिक और तकनीकी सहायता बराबर देता रहा। चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान जो कि भारतीय आर्थिक और तकनीकी सहायता से भूटान द्वारा क्रियान्वित की जा रही है, भूटान ने शिक्षा, जनस्वास्थ्य, कृषि, औद्योगिक विकास के क्षेत्रों में तथा सामाजिक सुविधाओं की व्यवस्था करने की दिशा में तथा सड़क पुल, सचार एवं दूर-सचार, विद्युत आदि जैसी आधारिक सरचना जैसी सुविधाओं का निर्माण करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है। इस समय भूटान की पांचवी पंचवर्षीय योजना में भारत की भागीदारी के आधार के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है।

पहले की तरह ही इस वर्ष भी भूटान को प्रतिनियुक्ति के आधार पर भारतीय विशेषज्ञों और परामर्शदाताओं की सेवाएँ प्रदान की गई। भारत भूटान के विद्यार्थियों और प्रशिक्षणार्थियों को भारत में उच्चतर अध्ययन के लिए भी छात्रवृत्तियाँ देता रहा।

भारत और बर्मा

राष्ट्रपति यु-ने-विन ने अपने विदेशमन्त्री और वरिष्ठ अधिकारियों के साथ 20 से 22 नवम्बर तक भारत की राजकीय यात्रा की। बर्मा के नेताओं ने भारतीय नेताओं और वरिष्ठ अधिकारियों से बातचीत की। दोनों पक्षों के बीच आपसी रुचि

के विभिन्न मसलो पर विचार-विमर्श हुआ। इस मौके पर आर्थिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढने की सम्भावनाओ के सम्बन्ध मे भी विचार किया गया।

वर्मा के राष्ट्रपति के निमन्त्रण पर, वर्मा के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ऊ नू 29 जुलाई को भारत से रगून के लिए रवाना हो गए।

रगून में भारत के राजदूत ने बौद्ध धर्म की पुस्तकें और महात्मा गांधी की कृतियों के सकलन वर्मा के उच्चतर शिक्षा विभाग के महानिदेशक को भेंट किए।

भारत और ईरान

ईरान के साथ भारत के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण बने रहे हैं। दोनों ने परस्पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को सराहा है। ईरान के नेताओ ने दोनो देशो के बीच आर्थिक सहयोग की क्षमता की ओर अपनी अधिकाधिक सजगता व्यक्त की और जून, 1980 में ईरान के वाणिज्यमन्त्री श्री रजा सदर की नई दिल्ली यात्रा के दौरान हुई वातचीत के बाद, यह तय किया गया कि व्यापार, उद्योग, जहाजरानी, परिवहन और रेल, कृषि, योजना और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों मे भारत और ईरान के बीच सहयोग बढाया जाए। भारत के इजीनियरी निर्यात सवर्द्धन परिषद् के एक प्रतिनिधिमण्डल ने भी ईरान की यात्रा की और उसकी यात्रा के बाद सितम्बर में भारतीय इजीनियरी उद्योग एसोसियेशन का एक प्रतिनिधिमण्डल भी वहाँ गया। लेकिन दुर्भाग्य से ईरान और ईराक के बीच लड़ाई छिड जाने से भारत और ईरान के बीच आर्थिक सहयोग के विकास के मार्ग में व्यवधान उपस्थित हो गया। इस लडाई के खत्म हो जाने के बाद भारत और ईरान के बीच सहयोग में प्रगति की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रत्याशा की जा सकती है।

वित्तमन्त्री श्री आर वेंकटरमन ने सितम्बर, 1980 में प्रधानमन्त्री के विशेष दूत के रूप में ईरान की यात्रा की। वहाँ उन्होने यह पाया कि 'ओपेक' से रियायती शर्तों के सिलसिले में विभिन्न देशो का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें भारतीय स्थिति के प्रति भारत के दृष्टिकोण को ईरान के नेता पूरी तरह से समझते है।

ईरान के उद्योग एवं खान उपमन्त्री, डॉ सैयद अली सत्तारी पौर के नेतृत्व में ईरान के आर्थिक और औद्योगिक सगठनो के प्रतिनिधियों के एक शिष्टमण्डल ने फरवरी, 1981 में नई दिल्ली में भारत के इजीनियरी उद्योग एसोसियेशन द्वारा आयोजित इंजीनियरी व्यापार मेले का दौरा किया। ईरान तेल सप्लाई का एक विश्वसनीय स्रोत बना रहा है।

भारत और मालदीव

मालदीव के साथ भारत के सम्बन्धों में राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय प्रगति हुई है। माले में भारत के प्रतिनिधित्व का स्तर उठा कर रिहायशी राजदूत का बना दिया गया और उस पर राजदूत की नियुक्ति की गई है।

नवम्बर, 1980 में भारत और मालदीव के बीच द्विपक्षीय व्यापार करार

के सिलसिले में बातचीत हुई। उम्मीद है कि जल्दी ही एक करार पर हस्ताक्षर हो जाएँगे। आशा की जाती है कि इस करार के सम्पन्न हो जाने के बाद भारत और मालदीव के बीच व्यापार में काफी वृद्धि हो जाएगी।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय विमान पत्तन प्राधिकरण ने मालदीव में हुलूले हवाई अड्डे के विस्तार की परियोजना की सविदा प्राय. पूरी कर ली है। हवाई पट्टी बन कर पहले ही तैयार हो चुकी है और उम्मीद की जाती है कि इसकी इमारत और दूसरी छोटी-छोटी इमारतें भी 1981 के मध्य तक पूरी हो जाएँगी।

भारत और नेपाल

भारत नेपाल के साथ अपने बहुमुखी सम्बन्धो को और अधिक विकसित एवं सुदृढ़ करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा है।

नेपाल के महामहिम नरेश ने मार्च, 1980 मे भारत की यात्रा की और इस अवसर पर उनके साथ द्विपक्षीय सम्बन्धो पर विचार-विमर्श हुआ जिसमे राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी मामले शामिल थे। इस बातचीत मे इस क्षेत्र की स्थिति पर भी विचार-विमर्श किया गया और दोनो पक्षो ने यह स्वीकार किया कि इस क्षेत्र मे सभी देशों को तथा बाहरी शक्तियों को भी इस क्षेत्र मे तनाव कम करने की कोशिश करनी चाहिए। इस बारे में भी सहमति हुई कि परस्पर लाभदायक क्षेत्रो मे भारत और नेपाल के सम्बन्धों को विकसित करने की कोशिश की जानी चाहिए तथा इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए दोनो देशो की सरकारो के बीच पहले से ज्यादा जल्दी-जल्दी परामर्श होने चाहिए।

जुलाई, 1980 मे बीरगंज और रक्सौल के बीच एक सूक्ष्म तरग सम्पर्क का निर्माण करने के बारे मे एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस करार के अन्तर्गत नेपाल की सरकार को 12 लाख रुपये की तकनीकी और सामग्रीगत सहायता दी जाएगी। इस सम्पर्क की स्थापना हो जाने से नेपाल और भारत के बीच सचार के लिए 36 चैनल उपलब्ध हो जाएँगे।

नेपाल के विदेश सचिव श्री जगदीश शमशेर राणा ने 31 जुलाई से 3 अगस्त, 1980 तक नई दिल्ली की राजकीय यात्रा की। उनकी यह यात्रा दोनो देशो के सचिवो श्री राणा और विदेश सचिव श्री आर डी साठे के बीच निरन्तर चलने वाले द्वि-पक्षीय परामर्श के सिलसिले मे ही थी और इसमें क्षेत्रीय घटनाओं पर विचार किया गया जिनमे अफगानिस्तान, दक्षिण पूर्व एशिया और हिन्दमहासागर की घटनाएँ भी शामिल थी। दोनो अधिकारियो ने द्विपक्षीय मामलो पर तथा आपसी हित के दूसरे प्रश्नों पर भी विचार विमर्श किया।

अगस्त, 1980 मे नेपाल के सिंचाई सचिव की यात्रा के दौरान, भारत ने अपने इस सकल्प पर बल दिया कि जल-संसाधनो का इस प्रकार विकास करने के उद्देश्य से वह नेपाल के साथ पूरा-पूरा सहयोग करेगा जिससे कि दोनों देशों को परस्पर लाभ हो।

भारत-नेपाल की सीमा पर महाकाली नदी पर प्रस्तावित पंचेश्वरी पनबिजली परियोजना के सम्बन्ध मे अक्तूबर मे नेपाली अधिकारियो के साथ बातचीत के बाद यह तय किया गया कि पचेश्वर बांध के लिए संयुक्त अन्वेषण काम जितना जल्दी हो सके शुरू हो जाना चाहिए। इस बारे मे भी सहमति हुई कि मुख्य करनाली समिति की बैठक भी शीघ्र होनी चाहिए।

भारत नेपाल के विकास कार्यक्रमो के नियान्वयन मे सहायता देता रहा है। 1980-81 मे नेपाल को भारत की सहायता के रूप मे कुल मिला कर लगभग 18 करोड रुपये की व्यवस्था की गई। इस सहायता का एक बहुत बड़ा भाग वहाँ की उन परियोजनाओ के लिए था जिन पर इस समय काम हो रहा है, जैसे देवी घाट पनबिजली परियोजना और पूर्व-पश्चिम राजमार्ग (मध्य क्षेत्र)। भारत नेपाल मे तकनीकी जन-शक्ति संसाधनो के विकास की दिशा मे प्रमुख योगदान देता रहा है।

करनाली परियोजना की मुख्य समिति की बैठक काठमांडू मे 19 और 20 जनवरी, 1981 को हुई जिसमे नेपाली और भारतीय दोनो पक्ष सयुक्त प्रायोजित और दोनो देशो के मौजूदा सर्वेक्षण के अधीन मुख्य करनाली परियोजना के व्यापक अध्ययन पर सहमत हुए। नेपाली पक्ष ने यह स्वीकार किया कि मुख्य करनाली परियोजना के व्यापक अध्ययन और उसकी विस्तृत परियोजना तैयार करने के निमित्त धन की व्यवस्था करने के लिए वह संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम और विश्व बैंक से पुरजोर अनुरोध करेगा। भारतीय पक्ष ने यह स्वीकार किया कि वह मुख्य करनाली परियोजना से परस्पर सहमत शर्तों और स्थायी आधार पर बिजली लेता रहेगा।

भारत और पाकिस्तान

जनवरी, 1980 मे कार्यभार सम्भालने के बाद सरकार निरन्तर पाकिस्तान की सरकार और वहाँ की जनता को यह आश्वासन दिलाने की कोशिश करती रही है कि वह पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने में हमेशा दिलचस्पी रखती आई है और रखती है। फरवरी, 1980 मे विदेश सचिव श्री आर. डी साठे की यह यात्रा और अप्रैल, 1980 मे प्रधानमन्त्री के विशेष दूत के रूप मे सरदार स्वर्णसिंह की इस्लामाबाद यात्रा विश्वास पैदा करने के उस उपक्रम का ही एक अंग थी जो भारत समय-समय पर करता आया है। प्रधानमन्त्री की मुलाकात पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया-उल हक से लिसबरो मे हुई और पाकिस्तान के विदेशमन्त्री श्री आगाशाही ने भी जुलाई, 1980 मे नई दिल्ली की यात्रा की। भारत को यह आशा है कि इन वार्ताओं के माध्यम से वह दोनों देशो के बीच परस्पर भरोसा और सद्भाव बढा सकेगा और सम्बन्धो को तेजी के साथ सामान्य करने के लिए अपेक्षित वातावरण तैयार कर सकेगा।

लेकिन भारत कतिपय ऐसी घटनाओं की ओर से चिन्तित है जिनसे सम्बन्धो को सुधारने के उसके प्रयत्नो को धक्का पहुँच सकता है। जनवरी, 1981 मे इस्लामी

विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में और उसी महीने इस्लामी शिखर सम्मेलन में राष्ट्रपति जिया ने कश्मीर के सवाल की चर्चा करना मुनासिब समझा। इसके पहले 3 अक्तूबर, 1980 को वे संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन में भी इसका उल्लेख कर चुके थे। कश्मीर को लेकर भारत-पाक मतभेदों को अन्तर्राष्ट्रीय बनाने के ये प्रयत्न शिमला-समझौते का स्पष्ट उल्लंघन है और भारत इन्हें सामान्यीकरण की प्रगति के विरुद्ध मनोवृत्ति मानता है। इसी तरह अगस्त, 1980 में मुरादाबाद और कुछ अन्य स्थानों पर पाकिस्तान के आधिकारिक प्रवक्ता ने और वहाँ के सेंसरशुदा अखबारों ने टीका-टिप्पणी की थी और भारत व पाकिस्तान के बीच सम्बन्धों को सुधारने पर इसका भी दुष्प्रभाव पड़ा था। पाकिस्तान को बार-बार जोर देते हुए यह कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर प्रोपेगेंडा के तरीके विशुद्ध द्विपक्षीय, विवादास्पद और भावात्मक प्रश्नों को उठाने से ऐसे वातावरण के सृजन की दिशा में भारत के प्रयत्नों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है कि जिसमें यह मसले सौहार्द्रपूर्ण ढंग से सुलझाए जा सकते हैं।

भारत को पाकिस्तानी अखबारों की गैर-जिम्मेदाराना अटकलबाजियों को देखकर भी अफसोस हुआ जिनमें भारत और पाकिस्तान के बीच आसन्न संघर्ष की बात कही गई है। ऐसी खबरों का कोई ठोस आधार नहीं है और राष्ट्रपति जिया के नाम एक पत्र में प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने यह कहा कि "हमेशा की तरह आज भी भारत के लोग और भारत सरकार तथा मैं स्वयं दोनों देशों के लोगों के बीच मित्रता, सद्भाव और सहयोग संवर्द्धित करने के लिए प्रतिबद्ध हूँ। हम पाकिस्तान की राष्ट्रीय एकता, प्रादेशिक अखण्डता, राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रभुसत्तात्मक समानता का सम्मान करने के लिए उतने ही प्रतिबद्ध हैं।"

भारत-पाक सम्बन्धों को पहुँचने वाले इन छोटे-मोटे धक्कों से अविचलित रहते हुए भारत ने पाकिस्तान के साथ सहयोग के कई ठोस क्षेत्रों का पता लगाने के प्रयत्न किए। इनमें तीर्थ-यात्रियों, व्यापारियों, पर्यटकों, खेल और सांस्कृतिक क्षेत्रों के आदान-प्रदान तथा दोनों देशों के समान हित के मामलों में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर सहयोग भी शामिल है। इस नीति का अनुसरण करने में भारत को अपने इस विश्वास से प्रेरणा मिली कि राजनीतिक सुलह सफाई से, आर्थिक सहयोग और वृहत्तर सांस्कृतिक सहयोग से और लोगों के मेल-मिलाप से भारत और पाकिस्तान दोनों की जनता को भारी लाभ होगा और इससे इस उप-महाद्वीप की शान्ति और स्थायित्व में योगदान मिलेगा।

भारत और श्रीलंका

भारत और श्रीलंका के सम्बन्ध हार्दिक और सौहार्द्रपूर्ण बने रहे। सितम्बर, 1980 में राष्ट्रपति जयवर्धन ने अपने विदेशमन्त्री के साथ भारत की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान राष्ट्रपति जयवर्धन ने प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ

विचार-विमर्श किया जिससे दोनों देशों के बीच निकट और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ करने में सहायता मिली।

श्रीलंका में भारतीय मूल के राज्यविहीन व्यक्तियों के कारण उठने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भारत और श्रीलंका निरन्तर कोशिश करते रहे। तरह-तरह के अनेक जटिल कारणों से इस सिलसिले में प्रगति उतनी नहीं हो सकी जितनी उम्मीद की जाती थी। दोनों सरकारें एक-दूसरे के साथ सम्पर्क बनाए हुए हैं ताकि इस समस्या का शीघ्रता के साथ समाधान खोजा जा सके।

इस बात के बहुत अच्छे आसार नजर आते हैं कि आगामी वर्षों में श्रीलंका के साथ हमारा आर्थिक सहयोग बढ़ेगा। जनवरी, 1981 में एक करार पर हस्ताक्षर हुए थे जिसके अन्तर्गत श्रीलंका के उद्यमकर्त्ता औद्योगिक क्षेत्र में भारत की क्षमताओं से अधिकाधिक अवगत होते जा रहे हैं। भारत की वित्तीय सहायता से दोनों देशों के बीच जो सूक्ष्म तरंग सम्पर्क स्थापित किया जा रहा है वह आशा है कि आगामी वर्षों में पूरा हो जाएगा। भारत ने श्रीलंका को 10 करोड़ रुपये का एक और ऋण दिया है। श्रीलंका इस ऋण का उपयोग भारत से मोटर गाड़ियों के फालतू पुर्जे, परिवहन उपस्कर, रेल उपस्कर और फालतू-पुर्जे तथा ऐसी ही दूसरी चीजें खरीदने पर करेगा। सांस्कृतिक क्षेत्र में क्रीड़ा और मंचीय कलाओं के क्षेत्र में आदान-प्रदान पहले की तरह चलता रहा।

भारत और चीन

भारत-चीन सम्बन्धों को सामान्य बनाने की वर्तमान प्रक्रिया के सन्दर्भ में पारस्परिकता और आपसी लाभ के आधार पर व्यापक क्षेत्रों में पारस्परिक आदान-प्रदान को बढ़ावा दिया गया। दोनों देशों में एक-दूसरे के रिहायशी संवाददाताओं (पीकिंग में प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया का संवाददाता और भारत में सिन्हुआ का संवाददाता) को भेजने के सम्बन्ध में दोनों सरकारों के बीच सहमति के बाद पी टी आई के एक संवाददाता ने नवम्बर, 1980 में अपना कार्यभार सम्भाल लिया। इस वर्ष के दौरान कई भारतीय पत्रकारों ने चीन की यात्रा की। विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के सचिव प्रोफेसर एम. जी. के. मेनन ने 'इस्केप' द्वारा आयोजित सम्मेलन में भाग लेने के लिए अगस्त-सितम्बर में चीन की यात्रा की। उन्होंने चीन के अपने समकक्ष पदाधिकारियों से सहयोग के सम्भावित क्षेत्रों पर विचार-विमर्श किया।

अगस्त के प्रारम्भ में भारतीय सेना की एक टुकड़ी सामान्य गश्त के दौरान भटक कर चीन के सीमा क्षेत्र में चली गई। सीमा पर शान्ति कायम रखने और आपसी सम्बन्धों के सुधार की दिशा में काम करने के सम्बन्ध में दोनों सरकारों की समझ-बूझ को ध्यान में रखते हुए दोनों पक्षों ने संयम से काम लिया और सौहार्द्रपूर्ण ढंग से इन सैनिकों की वापसी की व्यवस्था की गई।

4 नवम्बर को कृषिमन्त्री श्री राव वीरेन्द्र सिंह कुछ समय के लिए पीकिंग

में रुके और उप प्रधानमन्त्री बानली से मित्रता और सौहार्द्र पूर्ण बातें की। उप प्रधानमन्त्री ने कहा कि चीन भारत के साथ अपने सम्बन्धों को विकसित करने के लिए तैयार है और उन्होंने यह भी बताया कि दोनों देशों के बीच कृषि प्रौद्योगिकी मे सहयोग की व्यापक सम्भावनाएँ हैं।

चीन के पांच सदस्यीय दल ने 24 अक्तूबर से 12 नवम्बर, 1980 तक नवेली खुली कोयला खान का दौरा किया। चीन के एक तीन सदस्यीय प्रतिनिधि मण्डल को 3 से 7 जनवरी, 1981 तक वाराणसी में आयोजित भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया गया।

दो चीनी नर्तकों को भारतीय शास्त्रीय नृत्य सीखने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी गईं। चीन के एक व्यावसायिक दल ने जनवरी, 1981 मे भारत का दौरा किया और चीन के कलाबाजों की एक मण्डली फरवरी, 1981 के अन्त मे भारत की यात्रा पर आई। एयर इण्डिया के एक प्रतिनिधि मण्डल ने चीनी विमान सेवा के निमन्त्रण पर 11–14 अक्तूबर, 1981 तक पीकिंग की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान दोनों विमान सेवाओं के बीच अन्तर्मार्गीय विमान करार सम्पन्न हुआ।



15 महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का उदय और उसकी विदेश-नीति

(Rise of Soviet Union as Super Power and Its Foreign Policy)

"रूस की नीति अपरिवर्तनीय है..........उसके साधनों, उसकी चालों तथा कूटनीति में परिवर्तन हो सकता है; परन्तु उसकी नीति का मार्ग-दर्शक गृह-विश्व-प्रभुता एक अविचल और ध्रुव ग्रह है।" —कार्ल मार्क्स

1917 की क्रान्ति के फलस्वरूप जो सोवियत-व्यवस्था स्थापित हुई उसके कुछ ही महीनों बाद संसार के पूँजीवादी राज्यों ने मिलकर रूस के नवीन शासन का गला घोटने और उसका नामोनिशान मिटाने के विपुल प्रयास किए। यदि पूँजीवादी राज्यों की ओर से ऐसा न हुआ होता तो सम्भवत: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत संघ की नीति आज कुछ दूसरी ही होती।

चारों तरफ से आन्तरिक और बाह्य खतरों को देखकर साम्यवादी शासकों ने एक ऐसा मार्ग ग्रहण किया जिससे रूसी सकटापन्न विकास के पुराने सिद्धान्तों अर्थात् आत्मरक्षा और सुरक्षा की नीति की ओर वापस लौटा जा सके और पश्चिमी प्रभाव से मुक्त देशों के साथ सन्धियाँ की जा सकें।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक सोवियत संघ के उदय की अवस्थाएँ

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोवियत-शासन के साम्यवादी क्रान्ति से द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक, अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए सोवियत कूटनीति ने अनेक रूप ग्रहण किए।

सोवियत कूटनीति विभिन्न अवस्थाओं में से होकर गुजरी—

(i) प्रथम अवस्था (1917–1921) पश्चिमी राष्ट्रों के साथ उग्र विरोध और समस्त विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार करने की थी। सोवियत-शासन के प्रारम्भिक 4 वर्ष केवल अपने अस्तित्व को कायम रखने के उस संघर्ष में व्यतीत हुए

अन्ततः ट्रॉटस्की द्वारा संगठित लाल सेना साम्यवादी शासन को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुई।

(ii) द्वितीय अवस्था (1921–1934) रक्षात्मक पार्थक्य (Defensive Isolation) की थी। इस काल में रूस ने आत्मरक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियों के साथ सन्धियाँ सम्पन्न कीं, उनसे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाए और दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। इस अवस्था में वह सामान्यतया पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और उसने राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी ग्रहण नहीं की। इस अवधि में यद्यपि रूस ने पूंजीवादी राज्यों से समझौता करने की नीति का अनुसरण किया, परन्तु कोमिन्टर्न द्वारा अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के प्रयत्नों के कारण पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास व सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। इसलिए संयुक्तराज्य अमेरिका सन् 1933 से पूर्व रूस को वैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिए उद्यत नहीं हुआ। किन्तु रूस की अधिक समय तक उपेक्षा करना सम्भव न था। रूस अब कोई सामान्य शक्ति नहीं रह गया था। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर एक महान् शक्ति के रूप में उदित हो चुका था। अतः जब रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति बना तो उसने सोवियत संघ को मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयत्न शुरू कर दिए। लन्दन में विश्व-अर्थ सम्मेलन (1933) के अवसर पर सर्वप्रथम अमेरिकी प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की भेंट हुई। इसके बाद दोनों में एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा दोनों सरकारों ने एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा और विरोध प्रचार करने वाले दलों के दमन का वचन दिया। रूस ने अमेरिका की यह बात मान ली कि वह अपने देश में आने वाले अमेरिकी यात्रियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। इस सन्धि का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि रूस की साम्यवादी सरकार को संसार की महान् शक्तियों ने स्वीकार कर लिया।

(iii) तीसरी अवस्था (1934–1938) के काल में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना और साथ ही उसने पश्चिम के साथ सहयोग करने की नीति अपनाई। राष्ट्रसंघ में प्रवेश के बाद मई, 1935 में रूस ने अपने पिछले सभी मतभेदों एवं झगड़ों को भुलाते हुए फ्रांस के साथ पारस्परिक सहायता का 1894 जैसा सैनिक समझौता किया। इसके बाद पोलैण्ड तथा बाल्टिक राज्यों के साथ भी मास्को ने अनाक्रमण समझौते किए और टर्की तथा ग्रेट-ब्रिटेन से घनिष्ठता बढ़ाई। 16 मई, 1935 को चैकोस्लोवाकिया के साथ भी उसकी सन्धि हुई। इस तरह रूस ने फ्रांस एवं चैकोस्लोवाकिया के सहयोग से नाजी आक्रमण के विरुद्ध संगठन सुदृढ़ किया। मार्च, 1936 में बाह्य मंगोलिया के साथ एक पारस्परिक सहायता-सन्धि की गई जिसका उद्देश्य आन्तरिक मंगोलिया में जापान के प्रवेश को रोकना था। इस समय तक रूस वस्तुतः एक विशाल शक्ति-सम्पन्न देश बन चुका था।

इन सभी समझौतों और सन्धियों से रूस की स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ हो गई। इस समय तक साम्यवादी कूटनीति ने एक और भी नया क्रान्तिकारी मोड़ लिया।

देश तथा विदेश दोनों में 1934–35 में 'कोमिण्टर्न' (Comintern) में यकायक एक सवाल उठा। विश्व-शान्ति नीति के प्रतिकूल रूस ने पाश्चात्य लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में साम्यवादियों को फासिस्ट शासन का विरोध करने वाले बुर्जुआ दलों—उदारवादी, समाजवादी आदि के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा (United Front) बनाने का आह्वान किया। फलस्वरूप अब प्रत्येक देश के साम्यवादी दलों ने अन्य प्रगतिशील तत्त्वों के साथ फासिस्टवाद के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। वास्तव में रूसी विदेश-नीति में यह बिलकुल नया परिवर्तन था क्योंकि जो समाजवादी उदारवादी आदि उपर्युक्त सभी दल 'पूंजीवाद के पिट्ठू' कहे जाते थे, वे 1934 के बाद अब 'साम्राज्यवाद के विरुद्ध किए जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी' समझे जाने लगे।

1934 से 1938 तक सोवियत रूस ने पाश्चात्य देशों के साथ सहयोग और मैत्री की नीति तो अपनाई, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रूस और पश्चिम के मध्य कोई वास्तविक मित्रता स्थापित न हो सकी। फासिज्म को साम्यवाद के विरुद्ध तथा साम्यवाद को फासिज्म के विरुद्ध करने की अपनी युक्तियों में वह सफल हुआ और फासिज्म का हर स्थान पर विरोध करना रूसी नीति का एक मुख्य तत्त्व बन गया। रूस एवं पश्चिमी देशों के मैत्री सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए शूमैन (Schuman) ने ठीक ही लिखा है—'इस उद्वेग-पूर्ण मैत्री भाव में पारस्परिक विश्वास का अभाव था।' वास्तव में पश्चिमी राष्ट्रों का विश्वास था कि रूस का उद्देश्य अन्तिम रूप से पूंजीवाद का विनाश करना है, इसलिए उसकी मित्रता केवल एक दिखावा मात्र है। परिणामत वे फासिस्ट शक्तियों को साम्यवाद विरोधी तत्त्व समझकर बढ़ावा देने की नीति पर चलते रहे। ऐसे तीन प्रमुख अवसर आए जब पश्चिमी राष्ट्रों की नीति से स्पष्ट हो गया कि वे आड़े वक्त में रूस का साथ देने को तैयार नहीं हैं, उन्हें रूस पर विश्वास नहीं है और फासिस्ट आक्रमणों को रोकने की अपेक्षा उन्हें रूसी साम्यवाद को रोकने में अधिक दिलचस्पी है। पहला अवसर इटली एबीसीनिया युद्ध का था। इसमें रूस ने राष्ट्रसंघ के माध्यम से मुसोलिनी के बर्बर आक्रमण में अदिस-अबाबा की रक्षा का भरसक प्रयास किया, लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस ने एबीसीनिया तथा राष्ट्रसंघ की बलि देकर भी मुसोलिनी की रक्षा की। दूसरा अवसर स्पेनिश महायुद्ध का था। इस अवसर पर रूस ने स्पेन की जनतन्त्रीय सरकार को सहायता भेजी और ऐंग्लो-फ्रेंच सरकारों में भी फासिस्टवादी फ्रैंको ने सहायता ली। स्टॉलिन ने अपने वक्तव्य से इस बात का स्पष्ट आभास दे दिया कि रूस को पश्चिमी शक्तियों से सहयोग की आशा करना पूरी मृग-मरीचिका थी।

(iv) चौथी अवस्था (1938–39) में रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों से पृथक् रहने एवं संकटपूर्ण पार्थक्य (Dangerous Isolation) की नीति अपनाई। यह स्वाभाविक था, क्योंकि पश्चिमी शक्तियों के राजनीतिज्ञों ने इस समय तक रूस को न केवल अपने वलय से निकाल बाहर किया था, बल्कि पश्चिम की ओर की सोवियत कूटनीतिक सुरक्षा-व्यवस्थाओं को बाहर से उड़ा दिया था। सितम्बर, 1938 के

म्यूनिख-समझौते के बाद से ही रूस ने वस्तुतः अपने आपको संकटापन्न स्थिति में पाया। रूस का कोई विश्वासपात्र मित्र नहीं था। फ्रांस पर अब कोई विश्वास नहीं किया जा सकता था और ब्रिटेन का मास्को की अपेक्षा बर्लिन की ओर अधिक झुकाव था। रूस इस बात का भली-भाँति अनुमान लगा चुका था कि पश्चिमी शक्तियाँ जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रही हैं। जब रूस पश्चिम की तरफ से निराश हो गया तो उसने अपनी आत्म-रक्षार्थ, धुरी-राष्ट्रों से मैत्री के प्रयास तेजकर दिए और अगस्त,1939 में जर्मन-सोवियत-अनाक्रमण समझौता सम्पन्न हो गया। पश्चिमी राष्ट्रों के लिए सोवियत जर्मन समझौता एक वज्रपात के समान था। उन्होंने यह आरोप लगाया कि यह समझौता पाश्चात्य लोकतन्त्रों के साथ उनकी मैत्री का विश्वासघात, शान्ति के मोर्चे का विघटक और सोवियत कूटनीति के दुरंगेपन का परिचायक है। उसने यह समझौता इसलिए किया है कि इसके परिणामस्वरूप पश्चिम और पूर्व जर्मनी प्राणान्तक संघर्ष से जूझकर क्षीण हो जाएँ, संसार में साम्यवाद का प्रभुत्व स्थापित हो सके और रूस को पोलैण्ड तथा बाल्टिक राज्यों के प्रदेश प्राप्त हो सकें, परन्तु इस प्रकार के आरोप लगाते समय पश्चिमी राष्ट्र यह भूल गए थे कि वास्तव में किसी भी समझौते के लिए वे स्वयं उत्तरदायी थे। बार-बार जर्मनी को एक साम्यवाद-विरोधी शक्ति मानकर प्रोत्साहित कर उसे सोवियत रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। विश्वासघात का आरम्भ उन्हीं के द्वारा हुआ था।

यद्यपि रूस ने जर्मनी के साथ अनाक्रमण-समझौता कर लिया, तथापि वह जर्मनी के इरादों को भाँपकर स्वयं को उसके विरुद्ध शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर तैयारी करता रहा। सितम्बर, 1939 में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। रूस महायुद्ध के आरम्भ में तटस्थ रहा, किन्तु अपनी सम्पूर्ण कूटनीतिक सावधानियों के बाद भी वह जून, 1941 में अपने ऊपर जर्मनी के आक्रमण को नहीं रोक सका। इस आक्रमण में समस्त धुरी-राष्ट्रों की मानव शक्ति और स्रोत कार्य कर रहे थे। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच के अभिनेताओं के रूप में सोवियत नेताओं ने अपना पैंतरा बदला और अब वे नाजी जर्मनी के सहायक न होकर राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञ बन गए तथा प्रजातन्त्रात्मक ब्रिटेन का समर्थन करने लगे। 13 जुलाई 1941 को सोवियत रूस और ब्रिटेन ने एक पारस्परिक सहायता-समझौता किया जो मई, 1942 में औपचारिक आंग्ल-सोवियत सन्धि के रूप में परिणत हो गया। 24 सितम्बर, 1941 को सोवियत संघ ने अटलाण्टिक चार्टर को स्वीकार करते हुए यह घोषणा की कि सोवियत संघ अपनी विदेश-नीति को राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित करता था और करता है। वह प्रत्येक देश की स्वतन्त्रता व प्रादेशिक अखण्डता के अधिकार की रक्षा करता है तथा उनके इस अधिकार को स्वीकार करता है कि वह अपने उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था एवं सरकार का रूप निश्चित कर लें। 1 जनवरी, 1942 को सोवियत रूस ने संयुक्तराष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर धुरी राष्ट्र-विरोधी संघ में औपचारिक रूप से सम्मिलित हो गया।

जर्मन प्रचार ने अपने रूसी आक्रमण को बोल्शेविज्म के विरुद्ध समस्त यूरोप का संघर्ष बताया। अधिकृत रूस एवं यूरोप में जर्मनी की नीति केवल साम्यवाद विरोधी ही नहीं थी वरन् रूस-विरोधी भी थी। इसके कारण सोवियत नेताओं को साम्यवाद एवं रूसी राष्ट्रवाद में एकता स्थापित करनी पड़ी। रूस ने मार्क्सवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रचार को कम कर रूसी तथा राष्ट्रवादी प्रचार की मात्रा को बढ़ा दिया। इस प्रकार सोवियत रूस ने द्वितीय साम्राज्यवादी युद्ध को प्रचार द्वारा महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध के रूप में परिणत कर दिया। युद्ध की देशभक्तिपूर्ण प्रकृति को सिद्ध करने के लिए औपचारिक रूप से कोमिण्टर्न को मई, 1943 में समाप्त कर दिया गया और इसके कार्य सोवियत साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के विदेश विभाग को सौंप दिए गए। युद्ध के समय चर्च ने भी साम्यवादी सरकार को राष्ट्रवाद के नाम पर समर्थन प्रदान किया। इन सब घटनाओं ने सोवियत सरकार की नीति और तकनीकी ज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए और यह समझा जाने लगा कि अब यह नीति अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन की अपेक्षा राष्ट्रवादी आन्दोलन की ओर उन्मुख है।

युद्ध के सोवियत लक्ष्य
(The Soviet War Aims)

सोवियत संघ द्वितीय विश्वयुद्ध द्वारा क्या प्राप्त करना चाहता था और उसे क्या मिला, इन दोनों के बीच सम्बन्ध देखना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि सोवियत राजनीति में उसके उद्देश्यों का पता लगाना असम्भव-सा है। युद्ध काल में सोवियत सरकार द्वारा प्रसार के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम अपनाया गया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। सोवियत संघ के युद्ध के लक्ष्यों को इसके सैनिक और कूटनीतिक कार्यों द्वारा ही जाना जा सकता है। कई एक पर्यवेक्षकों का कहना है कि सोवियत नेता जारशाही साम्राज्यवादी लक्ष्यों से प्रेरित थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उनके पद-चिह्नों पर ही चल रहे थे तथापि जारशाही द्वारा सोवियत रूसी हितों का और जनता की महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया जाता था, इसलिए उसे अपनाया जाना उपयोगी था, युद्ध द्वारा रूस ने पहले तो उन प्रदेशों को प्राप्त करने का प्रयास किया जो जारशाही के समय दूसरे देशों द्वारा ले लिए गए थे। सुदूर पूर्व में रूसी-जापानी युद्ध में हार के कारण जारशाही ने अनेक प्रदेशों पर से अधिकार छोड़ दिया था। इस प्रसारवादी उद्देश्यों के साथ-साथ सोवियत सरकार ने युद्ध में कुछ-एक ऐसे लक्ष्य प्राप्त करने की भी चेष्टा की जो जारशाही सरकार द्वारा रूसी साम्राज्य के हित में नियोजित किए गए थे, किन्तु प्राप्त नहीं किए जा सके। इन उद्देश्यों में पहला यह था कि यूरोप में प्रभाव का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ाया जाए कि वहाँ सोवियत सैनिक और कूटनीतिक सुरक्षित रह सकें। दूसरे, काले सागर के दर्रे पर नियन्त्रण किया जाए और तीसरे, जब कभी भी अवसर प्राप्त हो निकट मध्य एवं सुदूर पूर्व में तथा विश्व में हर जगह सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ाया जाए।

प्रत्येक विदेशी साम्यवादी का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह अपने पूरे प्रभाव से प्रत्येक सोवियत सैनिक एवं कूटनीति का समर्थन करे। ऐसा करते समय यदि उसे अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की अवहेलना भी करनी पड़े तो वह पीछे न हटे, क्योंकि सोवियत सरकार के लक्ष्य एवं उद्देश्य सर्वोच्च हैं और वह विश्व-साम्यवादी आन्दोलन की आत्मा है। वैसे सोवियत नेताओं को विदेशी साम्यवादियों के प्रयासों पर अधिक भरोसा एवं विश्वास नहीं था, किन्तु फिर भी वे प्रसारवादी कूटनीति को चालू रखना चाहते थे। उनके लिए द्वितीय विश्वयुद्ध सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए एक युद्ध नहीं था वरन् यह एक ऐतिहासिक सोपान था जिससे विश्व साम्यवाद की ओर मुड़ सके। स्टालिन ने युद्ध की प्रकृति पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि यह युद्ध अतीतकालीन युद्धों की भाँति नहीं है। इसमें जो कोई भी जिस प्रदेश पर अधिकार कर लेगा उस पर अपने स्वयं की सामाजिक व्यवस्था लाद देगा। जहाँ तक उसकी सेनाएँ पहुँच सकती हैं, वहाँ तक वह अपनी सामाजिक व्यवस्था लागू कर सकता है। स्टालिन का कहना था कि "अब युद्ध जल्दी ही समाप्त हो जाएगा और हम पन्द्रह-बीस वर्षों में क्षतिपूर्ति कर पाएँगे। इसके बाद पुनः समर्ष छिड़ेगा।" इस प्रकार सोवियत नेताओं ने द्वितीय विश्वयुद्ध में यद्यपि विश्व-साम्यवाद का प्रचार किया, किन्तु उनका मुख्य ध्यान सोवियत रूस की राजनीतिक शक्ति पर था। उन्होंने सजगता के साथ अपने सैनिक एवं कूटनीतिक कार्यों को समन्वित किया।

युद्धकालीन सोवियत कूटनीति
(Soviet War-time Diplomacy)

दिसम्बर, 1941 में ग्रेट-ब्रिटेन के विदेश सचिव एन्थनी ईडन मास्को गए और इस प्रकार सोवियत नेताओं को पश्चिमी मित्रों के साथ उच्च स्तरीय सम्मेलन का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। इस समय लाल सेना ने जर्मनी के सैनिकों को मास्को के दरवाजों पर रोक दिया था। सम्मेलन के दौरान स्टालिन अपनी अन्तिम विजय के प्रति आश्वस्त था। स्टालिन ने इस सम्मेलन में युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करने पर जोर दिया, किन्तु ईडन ने कहा कि ग्रेट-ब्रिटेन सीमा-सम्बन्धी प्रश्नों पर युद्ध के बाद ही विचार करने के अमेरिकी विचार से सहमत है। मई, 1942 में जब मोलोतोव आंग्ल-सोवियत संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए लंदन गए तो उन्होंने पुनः सोवियत माँग को दोहराया किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन ने पुन: इसे मानने से मना कर दिया।

सोवियत संघ की यूरोप में बड़ी महत्त्वाकांक्षाएँ थी और ग्रेट-ब्रिटेन इनसे परिचित था। स्टालिनग्राड के युद्ध के बाद सोवियत सेना पूर्वी क्षेत्र में निष्क्रिय बन गई और अब सोवियत सरकार को सफलता का महान् आश्वासन मिला। चाहे पश्चिमी शक्तियों की परवाह किए बिना ही पूर्वी केन्द्रीय यूरोप में उसने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना शुरू किया। सोवियत महत्त्वाकांक्षाओं से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वाला देश पोलैण्ड था। पोलैण्ड की निष्कासित सरकार ग्रेट-ब्रिटेन में स्थित

थी। उसका सोवियत संघ के प्रति पर्याप्त कटु अनुभव था क्योंकि इसने सन् 1939 मे पोलैण्ड को नष्ट करने मे भाग लिया था। सोवियत सघ ने यह प्रदर्शित किया कि युद्ध के बाद पोलैण्ड के सगठन मे उनका हाथ है और इसके बाद उसने सोवियत सेना के अधीन पोलिश सघ के देशभक्तो को मास्को मे जमा किया जो साम्यवादी पोलिश सरकार की नाभि का काम कर सकें। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने चेकोस्लाव, यूगोस्लाव और रूमानिया की ब्रिगेड भी गठित की जिसमे अधिकृत सिपाहियो को भर्ती किया गया। मास्को ने लदन मे किंग पीटर II के अधीन यूगोस्लाव सरकार से वार्ता जारी रखी और कैरो मे जार्ज द्वितीय के अधीन यूनानी सरकार से भी सम्पर्क बनाए रखा। सोवियत सघ ने लन्दन स्थित राष्ट्रपति एडवर्ड बीनस (Edward Venus) के अधीन यूगोस्लाव सरकार से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रखे। जुलाई और सितम्बर, 1943 मे स्वतन्त्र जर्मनी के लिए राष्ट्रीय समिति और जर्मन अधिकारियो का सघ मास्को मे गठित किया गया। इनका निर्देशन निष्कासित जर्मनों द्वारा किया जाता था, किन्तु इनमे जर्मन अधिकारी भी शामिल थे। उस समय सम्पूर्ण जर्मनी या उसके किसी भाग पर सोवियत सघ के अधिकार के आसार दूर दिखाई दे रहे थे। उस समय मास्को में स्थित जर्मन समूहो का तत्कालीन कार्य यह था कि जर्मन सिपाहियो को आत्म-समर्पण के लिए समझा कर उनकी युद्ध-क्षमता एव प्रयासों को कम किया जाए। अवसर आने पर इनका उपयोग जर्मनी पर सोवियत प्रभाव बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता था।

पश्चिमी मित्र एवं सोवियत नीति

सोवियत नीति के असन्तुलन ने पश्चिमी शक्तियों को भ्रम मे डाल दिया तथा उनको सोवियत लक्ष्यो के वास्तविक रूप का अनुमान नही हो सका। सोवियत संघ द्वारा जो भी आश्वासन दिए जाते थे उनको प्रारम्भ मे अमेरिका द्वारा ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया जाता था, किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन के लोगो को उनके बारे मे विश्वास कम था। सोवियत संघ का प्रसार यूरोप मे होता जा रहा था, किन्तु उच्च स्तर के अमेरिकी कूटनीतिज्ञो ने इस ओर ध्यान ही नही दिया। अमेरिकी सरकार एवं जनता यह मान कर चल रही थी कि युद्ध के बाद पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप मे सोवियत संघ का प्रभाव होना ही चाहिए। उन्होंने सोवियत प्रभाव को इन क्षेत्रो मे प्रजातन्त्र की स्थापना के विपरीत नही माना। उनका तर्क था कि यदि ऐसा कुछ होता तो सोवियत सघ द्वारा अटलाण्टिक चार्टर एवं सयुक्तराष्ट्रों की घोषणा मे विश्वास ही क्यों किया जाता। उस समय संयुक्तराज्य अमेरिका मे साम्यवाद एव सोवियत मामलो के कुछ ही ऐसे जानकार थे जो सोवियत संघ के इरादों को सन्देह की नजर से देखते थे। उनका विचार था कि सोवियत सघ द्वारा पड़ोसियों को मित्र बनाने पर जोर दिए जाने के पीछे कुछ रहस्य है और वह सम्भवत. यह है कि उसके पड़ोसी भी साम्यवादी देश बन जाएँ; क्योंकि लेनिन की दो गुट की विचारधारा के अनुसार पूंजीवादी एव समाजवादी गुट तो कभी मित्र हो ही नही सकते और इसलिए एक राष्ट्र सोवियत

संघ का दोस्त तभी बन सकता है जबकि वह लाल झण्डा के नीचे आ जाए। सामान्यत: अमेरिकी सरकार एवं जनता को सोवियत मैत्री मे कोई शक नही था और सामान्य पश्चिमी हित के विषय उन्होने ग्रेट-ब्रिटेन को सौंप दिए।

मित्र राष्ट्रो के विदेश-मन्त्रियों का प्रथम सम्मेलन मास्को में अक्तूबर, 1943 में हुआ। इस समय अमेरिकी राज्य सचिव कार्डेल हल (Cordell Hull) एवं ब्रिटिश विदेश मन्त्री ईडन (Eden) ने सोवियत एव पोलिश सरकारों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया, किन्तु कोई सफलता न मिली। अमेरिकी दृष्टिकोण पर इसका पर्याप्त प्रभाव पडा। इसके अतिरिक्त स्टालिन ने कार्डेल हल को यह कहा कि जर्मनी के साथ युद्ध समाप्त हो जाने के बाद सोवियत संघ जापान के विरुद्ध युद्ध मे हस्तक्षेप करेगा। सोवियत सघ ने अप्रेल, 1941 मे जापान के साथ अनाक्रमण सन्धि की थी और इस प्रकार का कोई इरादा इस सन्धि का स्पष्ट उल्लंघन था। अनैतिक होते हुए भी यह आश्वासन उन अमेरिकी सैनिक नेताओं को पसन्द आया जो जापान के विरुद्ध युद्ध मे सलग्न थे, किन्तु युद्ध के अन्तिम क्षणों तक भी जनरल मार्शल प्रशान्त युद्ध मे सोवियत सहायता के वायदे को भुलाता रहा; साथ ही यूरोप में सोवियत प्रसारवादी नीतियों से भी वह निश्चिन्त रहा।

तेहरान सम्मेलन (The Teheran Conference)

तेहरान मे 28 नवम्बर से 1 दिसम्बर, 1943 तक तीन बडे राष्ट्राध्यक्षो का प्रथम सम्मेलन हुआ। चर्चिल, रूजवेल्ट एव स्टालिन ने ईरान की राजधानी मे पारस्परिक हित के विषयों पर विचार-विमर्श किया। यह तय किया गया कि ब्रिटेन, अमेरिका मिलकर 1944 मे फ्रांस पर आक्रमण करेंगे और सोवियत सघ जर्मनी के साथ अपना युद्ध समाप्त कर प्रशान्त महासागर के युद्ध मे शामिल हो जाएगा। इस विचार-विमर्श में पोलैण्ड का प्रश्न मुख्य बना रहा। चर्चिल ने यह सोचा कि शायद सोवियत सघ और पोलैण्ड की सरकारो के बीच समझौता होने मे मुख्य बाधा सोवियत-पोलिश सीमा का प्रश्न है, अत उन्होने प्रस्ताव किया कि 1941 की सीमा को स्वीकार कर लिया जाए और पोलैण्ड को पूर्व मे जो क्षति होगी उसे पश्चिम मे जर्मनी के भागो से पूरा कर दिया जाए। यद्यपि यह प्रस्ताव अटलाण्टिक चार्टर का उल्लंघन था, तथापि व्यावहारिक सुविधा के लिए इसे अपनाया गया। स्टालिन ने शीघ्र ही इस विचार को अपना लिया, किन्तु पोलिश सरकार से मनमुटाव कायम रखा। रूजवेल्ट इस सम्बन्ध मे चुप ही रहे। चर्चिल ने एक अन्य कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके अनुसार जर्मन निवासियों को एजियन द्वीपो (Aegean Islands) से निकाल कर युद्ध का विस्तार भूमध्यसागर में कर दिया जाए; किन्तु यह कार्यक्रम रूजवेल्ट तथा स्टालिन दोनो ने ही स्वीकार नही किया। यह कार्यक्रम असफल रहा क्योंकि यह टर्की के सहयोग पर निर्भर करता था। जब पश्चिमी नेता कैरो मे राष्ट्रपति इस्मत इनोनू (Ismet Inonu) से मिले तो उसने टर्की को तब तक समझाने से मना कर दिया जब तक कि युद्ध का फैसला न हो जाए।

राष्ट्रपति बेनस (Benes) तेहरान होते हुए मास्को गए और ब्रिटिश परामर्श

के विरुद्ध 13 अक्तूबर, 1943 को सोवियत-चैकोस्लोवाक सन्धि समझौता कर लिया। वेनस मूल रूप से प्रजातन्त्र का समर्थक एवं पश्चिमी राजनीति की ओर झुका हुआ था, किन्तु म्यूनिख समझौते मे ब्रिटेन व फ्रांस के योगदान से वह नाराज था। इसके अतिरिक्त उसे यह विश्वास हो गया था कि पश्चिमी शक्तियों ने पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप से अपना हाथ खीच लिया है, अत उसने सोवियत सघ के साथ सन्धि करना उपयुक्त समझा। चैकोस्लोवाकिया के विदेश-मन्त्री जॉन मेसेरिक (Jan Masaryk) ने लन्दन मे अपने साथियो के सम्मुख इसी विचार को व्यक्त करते हुए कहा था कि 'हम आइजनहॉवर के नक्शे मे नहीं हैं।

जब चर्चिल ने लन्दन लौटने पर पोलिश सरकार की 1941 की सीमा का बलिदान कर सोवियत रूस से समझौता करने की बात कही तो पोलिश सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस पर पश्चिमी शक्तियो को यह विश्वास हो गया कि पोलिश सरकार की अबुद्धिमत्ता के कारण ही सोवियत रूस से उसका समझौता नही हो पा रहा किन्तु 1947 मे घटने वाली घटनाओ ने यह सिद्ध कर दिया कि बेनस की बुद्धिमत्ता भी उसकी सरकार को बचाने मे सफल नही हो सकी।

पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप पर सोवियत विजय
(The Sov et Conquest of East-Central Europe)

जून, 1944 मे मित्र राष्ट्रो ने फ्रांस पर आक्रमण किया। इस अवसर पर सोवियत सेना 1941 की सीमा पर पहुँच गई तथा वहाँ से उसने पोलैण्ड, रूमानिया तथा बाल्टिक राज्यो पर आक्रमण करने का कार्यक्रम बनाया। 22 जून, 1944 को इसने पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया जिसके परिणामस्वरूप जुलाई के अन्त तक वह विस्टुला (Vistula) तक पहुँच गया। 1 अगस्त, 1944 को सोवियत सेना वार्सा (Warsaw) पहुँच गई तथा वहाँ सोवियत संघ के रेडियो प्रसारण द्वारा उकसाने पर पोलिश भूमिगत सेना जर्मनी के विरुद्ध उठ खडी हुई। फिर भी विद्रोहियों की रक्षा के लिए कुछ भी नही किया गया, किन्तु पोलिश तथा पश्चिमी सरकारो के प्रयास भी निरर्थक गए। ब्रिटिश तथा अमेरिकी जहाज जब आक्रान्त वार्सा को सामग्री पहुँचाने के लिए जाते थे तो उन्हे सोवियत सेना द्वारा अधिकृत भूमि पर नही रुकने दिया जाता था। यदि वे रुकते भी थे तो रूसी वायुयान भेदी बन्दूको के निशाने बना दिए जाते थे।

इस व्यवहार के स्पष्टीकरण के रूप मे सोवियत सरकार द्वारा यह तर्क दिया जाता था कि सोवियत हाई कमाण्ड ने रण-नीति की दृष्टि से यह निर्णय लिया है कि कुछ समय तक विस्टुला से आगे न बढा जाए। विचारकों का कहना है कि यह व्यवहार शुद्ध रूप से एक राजनीतिक चाल थी। वार्सा मे जो नेतृत्व उभर रहा था वह साम्यवादी नही था और ग्रेट-ब्रिटेन स्थित पोलिश सरकार को मान्यता दे रहा था। सोवियत संघ ने मई, 1944 मे मास्को मे तदर्थ पोलिश सरकार की रचना कर दी थी। वह वार्सा मे पूँजीवादी प्रतियोगियो की सहायता करने मे कोई रुचि नहीं लेती थी। दो माह की अमानवीय लडाई के बाद 2 अक्तूबर, 1944 को जर्मनो द्वारा उपद्रवियों को दबा दिया गया।

जब सोवियत सेना पोलैण्ड के विरुद्ध खड़ी थी तो उसने बाल्टिक एवं बल्कान की ओर भी अपनी टुकड़ियाँ भेजना प्रारम्भ किया। जर्मनी के पूर्वी प्रदेश विजयी मित्रराष्ट्रों की ओर मिलने के लिए तैयार बैठे थे। वे सम्भवत. पश्चिमी देशों के सम्मुख आत्म-समर्पण को प्राथमिकता देते, किन्तु जब सोवियत सेनाएँ उनके ऊपर हावी हो गईं तो उनके सामने कोई विकल्प नही था। 25 अगस्त, 1944 को फिनलैण्ड ने हथियार डाल दिए और दस दिन बाद सोवियत फिनिश युद्धबन्दी समझौता क्रियान्वित हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार युद्धबन्दी समझौता मुख्य रूप से एक सैनिक परिपत्र होता है जिसका अर्थ यह है कि जब तक शान्तिवार्ता के बाद समझौता नही हो जाता तब तक कोई लडाई नही होगी, किन्तु सोवियत संघ ने किसी शान्ति-सम्मेलन की प्रतीक्षा करना उचित नही समझा और तुरन्त ही फिनलैण्ड तथा जर्मनी के अन्य पूर्वी उपराज्यों के साथ सम्बन्ध निश्चित करना उचित समझा।

इसी समय रूमानिया ने भी मित्रराष्ट्रों की ओर मिलने का निर्णय किया। यह कहा जाता है कि रूमानिया की सरकार ने पश्चिमी शक्तियों से गुप्त समझौता करने का प्रयास किया था, किन्तु उन्होंने इसे सोवियत रूस के ही हवाले कर दिया। रूमानिया का प्रतिनिधिमण्डल मास्को गया तथा उसने 12 सितम्बर, 1944 को युद्धबन्दी समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। रूमानिया को सह-योद्धा का स्तर प्रदान कर दिया गया तथा रूमानिया की सेनाएँ मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध के अन्त तक लड़ती रहीं।

रूमानिया के झुकने के कारण सोवियत सेना दक्षिण में डेन्यूब (Danube) तथा बल्गारिया की ओर तेजी से बढ सकती थी तथा कार्पेथियन पर्वतमाला को पार कर पश्चिम मे हंगरी की ओर बढ सकती थी। बल्गारिया ही एकमात्र ऐसा पश्चिमी उपराज्य था जिसने सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के बजाए पश्चिमी मित्रदेशों के विरुद्ध ही युद्ध की घोषणा की थी। कुछ समय तक तो बल्गारिया की सरकार पश्चिमी देशों के साथ आत्मसमर्पण के लिए गुप्त-वार्ता करती रही, किन्तु बल्कान मे मित्रराष्ट्रों की सेना नहीं थी, अतः वह ऐसा नही कर सकती थी। 5 सितम्बर, 1944 को बल्गारिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर सोवियत संघ ने इस समस्या का समाधान कर दिया। सोवियत सेना ने डेन्यूब पार कर बिना किसी विरोध का सामना किए ही देश पर अधिकार कर लिया। 28 अक्तूबर, 1944 को युद्धबन्दी समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए बल्गारिया का प्रतिनिधिमण्डल मास्को गया। बल्गारिया को भी सह-योद्धा का स्तर प्राप्त हो गया तथा उसकी सेनाएँ मित्र राष्ट्रों के पक्ष मे मिल गईं।

हंगरी इस दृष्टि से कम सौभाग्यशाली था। रूमानिया, स्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया को रोंदने के बाद सोवियत सेनाएँ हंगरी पर चढ आईं। एडमिरल निकोलस होर्थी के शासन मे हंगरी की सरकार के अधीन पश्चिमी-मित्रों से सन्धि करना चाहती थी, किन्तु उसे भी सोवियत रूस के हवाले कर दिया गया। 15 अक्तूबर को हंगरी ने जर्मनी से अपने मैत्री सम्बन्ध समाप्त करने की घोषणा की तथा सघर्ष

थे, उन्होंने इस कार्यक्रम को रण-नीति की दृष्टि से अनुपयुक्त एवं हल्का बताया। सच यह है कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस क्षेत्र में इटली की सेना को आगे बढ़ने के बजाए बुरी तरह मार खानी पड़ी थी। जब चर्चिल ने आइजनहॉवर के मुख्यालय में जाकर यह बात कही तथा इसके पक्ष में तर्क प्रदान किए तो इके (Ike) ने कहा, 'नहीं' वह दोपहर बाद तक 'नहीं' कहता गया और अन्त में भी उसने अंग्रेजी भाषा के प्रत्येक रूप में 'नहीं' ही कहा।

चर्चिल का प्रतिशत सिद्धान्त
(Churchil's Percentage Deal)

चर्चिल आसानी से ही हिम्मत हारने वाला नहीं था। उसने सितम्बर, 1944 में द्वितीय क्वेबेक सम्मेलन (Quebec Conference) में रूजवेल्ट के सामने भी इस बात को रखा। इस समय राष्ट्रपति चुनाव की उलझनों में व्यस्त था। साथ ही वह साम्यवादी खतरे की अपेक्षा नाजीवाद के सम्भावित खतरे से अधिक परेशान हो रहा था, तथापि उसने इस पर कोई ऐतराज नहीं किया कि चर्चिल अकेला ही स्टालिन के साथ समझौता कर ले। अक्तूबर, 1944 में चर्चिल तथा ईडन मास्को गए। यहाँ उन्होंने पुनः पोलैण्ड के प्रश्न को सुलझाने की बात कही। किन्तु रूसी तानाशाह अधिक से अधिक केवल इस बात पर सहमत हुआ था कि लन्दन के पोलों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए पोलिश समिति में प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। स्टालिन ने अन्य ब्रिटिश सुझावों के प्रति अधिक अच्छा रुख अपनाया। इस अवसर पर चर्चिल ने स्टालिन को प्रतिशत का विचार सुझाया जिसके अनुसार बल्कान में उत्तरदायित्व का प्रतिशत के आधार पर विभाजन करना था। उदाहरण के लिए, रूमानिया पर 90 प्रतिशत सोवियत और 10 प्रतिशत पश्चिमी प्रभाव रहे; इसी तरह, बल्गारिया पर 75 प्रतिशत सोवियत और 25 प्रतिशत पश्चिमी प्रभाव; यूनान पर 90 प्रतिशत पश्चिमी और 10 प्रतिशत सोवियत प्रभाव; यूगोस्लाविया पर 40 प्रतिशत पश्चिमी और 60 प्रतिशत सोवियत प्रभाव तथा हंगरी पर 50 प्रतिशत सोवियत एवं 50 प्रतिशत पश्चिमी प्रभाव रहे। स्टालिन ने यह प्रस्ताव बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया। उत्तरी एड्रियाटिक में ब्रिटेन के बने रहने की योजना को भी उसने इसी प्रकार स्वीकार कर लिया।

घर लौटने पर चर्चिल ने देखा कि उसके स्वयं के जनरल पूर्ण अमेरिकी सहायता के बिना इस कार्यवाही के रहने के लिए उत्सुक नहीं थे। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि यह कदम फरवरी, 1945 से पूर्व उठाना प्रभावकारी नहीं रहेगा। दिसम्बर, 1945 में उसने इस कार्यक्रम का बहिष्कार कर दिया। इस लेन-देन का एकमात्र फायदा चर्चिल को यह हुआ कि यूनान में अपना प्रभाव बढ़ाने में सफल हो सका। अक्तूबर में ब्रिटेन की सैनिक टुकड़ियाँ यूनान तथा उसके आगे तक पहुँच गईं। दिसम्बर की भारी लड़ाई में यूनानी साम्यवादियों ने एथेन्स को अधिकार में कर लिया। यद्यपि राजधानी में इनकी हालत खराब कर दी गई, तथापि देहाती क्षेत्रों में साम्यवादियों को नहीं दबाया जा सका और वहाँ गृह-संघर्ष वर्षों तक चलता

रहा। सोवियत सरकार ग्रेट-ब्रिटेन के साथ समझौते के परिणामस्वरूप इतनी सीमित रही कि उसने बल्कान क्षेत्र मे आगे बढना रोक दिया। 11 अक्तूबर, 1944 को बेलग्रेड को अधिकार मे करने के बाद सोवियत सेना उत्तर मे बुडापेस्ट की ओर मुड गई। जर्मनी ने हगरी की राजधानी को अपने अधिकार मे करने के लिए भरसक प्रयत्न किए। दूसरी ओर सोवियत सेना ने 17 जनवरी, 1945 को वार्सा पर अधिकार कर लिया। वार्सा और बुडापेस्ट पर अधिकार 12 जनवरी, 1945 के अन्तिम सोवियत आक्रमण का भाग था। सोवियत सेनाएँ बेलग्रेड, बुडापेस्ट और वार्सा होती हुई पश्चिम वियना, प्राग, बर्लिन की ओर आगे बढ़ी।

याल्टा सम्मेलन (The Yalta Conference)

सोवियत रूस की बढती हुई शक्ति पर याल्टा सम्मेलन ने एक रोक लगा दी जो 'तीन बडो' का द्वितीय सम्मेलन था। इस सम्मेलन मे सामान्यतः सोवियत नेताओ ने उन विजयो की रक्षा का प्रयास किया जो सोवियत सेना प्राप्त कर सकती थी। सोवियत रूस पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप पर तो अधिकार कर ही चुका था। याल्टा मे सोवियत नेताओ की समस्या यह थी कि वे इस प्रदेश मे अपने अधिकार पर पश्चिम की मान्यता प्राप्त करले। जहां तक अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का सवाल है वह पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप की ओर से उदासीन थे और इसलिए उन्होने थोड़ा बहुत आगा-पीछा करके बात मान ली, किन्तु चर्चिल ने कई कठिनाइयां उपस्थित की। सबसे बडा प्रश्न तो पोलैंड की समस्या का था जिसने याल्टा मे इन 'तीन बडो' का ध्यान केन्द्रित रखा। पोलैण्ड की समस्याओ के सम्बन्ध मे चर्चिल तेहरान-सम्मेलन मे पहले ही यह सुझाव दे चुके थे कि पोलैण्ड रूस की क्षतियो को पूर्वी भाग मे चुकाएगा और पश्चिम में जर्मनी के प्रदेश से इसकी पूर्ति कर लेगा। अब प्रश्न यह था कि क्षतिपूर्ति की मात्रा क्या हो? सोवियत नेताओ का प्रस्ताव था कि वे आडर-निसी पक्ति (Oder Neisse L ne) और पूर्वी प्रशा के उत्तरी भाग को अपने लिए सुरक्षित रखेंगे जिसमे कोनिसबर्ग भी सम्मिलित था। पश्चिमी नेताओं के मतानुसार कोनिसबर्ग युक्त पूर्वी प्रशा के उत्तरी भाग तक तो बात ठीक थी किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ माँगना बहुत अधिक हो जाता। इस प्रश्न पर कोई समझौता नही हो सका। ब्रिटेन ने पोलिश सरकार और सोवियत सरकार के बीच समझौते के प्रयासो को ठुकरा दिया और अब वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पोलिश समिति को मान्यता देने के लिए तैयार हो गए। यह समिति मास्को मे पोलैण्ड की सरकार के रूप में मानी गई। ग्रेट-ब्रिटेन ने इस बात पर जोर दिया कि इस समिति में लन्दन मे रहने वाले पोलों के कुछ प्रतिनिधि होने चाहिए। सोवियत नेताओं ने सिद्धान्त रूप से यह बात मान ली, किन्तु ब्रिटेन तथा सोवियत सघ के नेता यह समझौता करने मे असमर्थ रहे कि सिद्धान्त को कैसे क्रियान्वित किया जाए। इस प्रश्न को आगे अध्ययन के लिए एक विशेष आयोग को सौंप दिया गया जिसमे सोवियत विदेश कमीसार एवं मास्को स्थित ग्रेट-ब्रिटेन और अमेरिका के राजदूत थे।

पूर्वी केन्द्रीय यूरोप मे ब्रिटिश-निराशा का एक अन्य कारण यह था कि वह

लन्दन-स्थित यूगोस्लाव सरकार को समर्थन दे रहा था। इस प्रश्न पर याल्टा सम्मेलन में सोवियत नेताओं ने उसका ध्यान खींचा और ब्रिटिश सरकार ने इसे स्वीकार किया तथा इसके आधार पर मार्शल टीटो और लन्दन स्थित यूगोस्लाव प्रधान मन्त्री ईवान सुबासिक (Ivan Subasic) ने एक समझौता किया जिसमें नई यूगोस्लाव सरकार मे विभिन्न प्रजातन्त्रात्मक दलो को सांकेतिक प्रतिनिधित्व (Token Representation) देने की व्यवस्था की गई। यह सरकार टीटो के अधीन कार्य करेगी और वहाँ राजतन्त्र अथवा गणराज्य की स्थापना की बात जनमत के आधार पर तय की जाएगी।

सामान्य रूप से पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप मे स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की गारन्टी के सम्बन्ध मे अमेरिका द्वारा यह प्रस्ताव किया गया कि स्वतन्त्र यूरोप के सम्बन्ध मे एक घोषणा जारी की जाए जिसके अधीन मित्रराष्ट्रों द्वारा यूरोप के स्वतन्त्र लोगों को उनकी मर्जी की प्रजातन्त्रात्मक सस्था बनाने मे सहायता की जाए। यह अटलांटिक चार्टर के अनुरूप होगा। सोवियत नेता इस प्रस्ताव से सहमत हो गए क्योंकि उन्हे इस बात का विश्वास था कि यूरोप की जनता किस प्रकार को प्रजातन्त्रात्मक सस्थाएँ चाहती है। कहा जाता है कि उन्होने स्वतन्त्र यूरोप सम्बन्धी घोषणा को उसी प्रकार बिना किसी परेशानी के स्वीकार किया जिस प्रकार बाद मे बिना किसी परेशानी के उसे तोड़ दिया।

सोवियत रुचि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जर्मनी था। सितम्बर, 1944 मे लन्दन में यूरोपीय परामर्शदाता परिषद् (European Advisory Council) मे जर्मनी के भावी क्षेत्रों पर सहमति हो चुकी थी। अमेरिकी सैनिक प्रतिनिधि इस परिषद् मे जर्मनी के भागो को हस्तगत करने के लिए अमेरिकी सेना को उलझाने के पक्ष में नही थे। उनका विचार था कि अमेरिका जापान के साथ युद्ध मे उलझा हुआ है, अतः जर्मनी से उसे अधिक नही उलझना चाहिए। सन् 1937 के जर्मनी के क्षेत्र का 52 प्रतिशत भाग जिसमे कि 48 प्रतिशत जनता रहती थी, सोवियत क्षेत्र माना गया। वह क्षेत्र उस क्षेत्र की अपेक्षा अधिक था जो सोवियत सेना ने अधिकृत किया था। जर्मनी का प्रशासन मित्रराष्ट्रों द्वारा मिलकर करना था और इसके लिए बर्लिन में मित्रराष्ट्रों की नियन्त्रण-परिषद स्थापित की गई। बर्लिन का अधिकांश भाग सोवियत क्षेत्र मे आता था। इसको भी अनेक भागो मे बाँटा जाना था, किन्तु प्रशासन मिलकर किया जाना था। बर्लिन तक पहुँचने के तरीको पर यूरोपीय परामर्शदाता-परिषद् मे कोई विचार नही किया गया क्योंकि अमेरिकी सैनिक अधिकारियों के मतानुसार जर्मन-सचार-व्यवस्था के बारे मे भली-भाँति जाने बिना यह सब सोचना गलत होता। याल्टा मे 'तीन बड़ों' ने यूरोपीय परामर्शदाता-परिषद् की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। इसमें केवल यह परिवर्तन किया गया कि फ्रांस के लिए एक भाग और दिया जाए जो ब्रिटिश तथा अमेरिकी भागों में से निर्मित किया जाए।

जर्मनी के सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात क्षतिपूर्ति की थी। सोवियत रूस का कहना था कि इसके बिना उसका युद्धोत्तर रचना-कार्यक्रम पूरा नही हो सकता।

याल्टा सम्मेलन मे रूस ने यह प्रस्तावित किया कि जर्मनी सामान और सेवा के रूप मे 20 मिलियन डॉलर की क्षतिपूर्ति दे और इसमे से आधी पर सोवियत रूस का अधिकार हो। पश्चिमी देश इस बात पर सहमत थे कि जर्मनी को क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए, किन्तु इस क्षतिपूर्ति की मात्रा कितनी हो इसके सम्बन्ध मे सहमति नही थी। सोवियत नेता रूजवेल्ट द्वारा सुझाए गए शर्तविहीन आत्मसमर्पण के सूत्र को मान रहे थे, किन्तु जर्मनी के भविष्य के सम्बन्ध मे कोई वास्तविक समझौता न कर सके। याल्टा में 'तीन बडो' ने केवल इस बात पर सहमति प्रकट की कि वे जर्मनी में सैनिक शक्ति तथा शस्त्र-शक्ति को घटा सकेंगे तथा इन समस्याओं को आगे अध्ययन के लिए आयोग को सौंप सकेंगे।

उस समय जर्मनी के साथ युद्ध समाप्त होने को था, इसलिए याल्टा सम्मेलन मे तेहरान की अपेक्षा सुदूरपूर्व की समस्याओ पर अधिक ध्यान दिया गया। सोवियत नेता यह जानना चाहते थे कि जापान पर विजय के बाद उनको क्या हिस्सा दिया जाएगा, इस बात को पहले ही तय कर लिया जाए। जिस समय यूरोपीय मामलो पर सौदेबाजी हो रही थी, उस समय पश्चिमी हितो की रक्षा का उत्तरदायित्व ग्रेट-ब्रिटेन पर छोडा गया। किन्तु जब सुदूरपूर्व के मामलो पर सौदेबाजी हुई तो यह उत्तरदायित्व सोवियत रूस पर डाला गया। सोवियत नेताओ ने अपने इस आश्वासन को दोहराया कि जर्मनी के साथ अपना युद्ध समाप्त करने के बाद दो या तीन महीने के अन्दर-अन्दर रूस जापान के विरुद्ध युद्ध मे शामिल हो जाएगा। किन्तु इस समय उसने इसके लिए कीमत माँगी और वह यह थी कि सन् 1904 में जापान के आक्रमण द्वारा जो सोवियत अधिकार छीन लिए गए हैं वे उसको वापस मिल जाएँ। इस प्रकार साम्यवादी सोवियत सघ जारशाही साम्राज्यवाद के अवशेषो को बनाए रखने मे पूरी रुचि ले रहा था।

सोवियत सघ के इन दावो ने चीन के हितो को बहुत प्रभावित किया, किन्तु चीन याल्टा सम्मेलन मे प्रतिनिधित्व नही कर रहा था। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रूस की माँगों को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि इन पर चाँगकाई शेक की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाए। यह स्वीकृति प्राप्त करने का उन्हे विश्वास था। इसके बदले सोवियत नेताओ ने चीन की राष्ट्रवादी सरकार का समर्थन करने का आश्वासन दिया जिससे अमेरिकी नेता बहुत प्रसन्न हुए। अमेरिका को सन्तोष देने वाला एक अन्य सोवियत वायदा यह था कि सयुक्तराज्य अमेरिका की वायुसेना उस समय सोवियत सुदूरपूर्व के अड्डो का प्रयोग कर सकती है जबकि सोवियत रूस प्रशान्त युद्ध मे सम्मिलित हो जाए। यह वायदा बाद मे महत्त्वहीन प्रतीत हुआ।

सोवियत रूस और संयुक्त राष्ट्रसंघ •
(Soviet Russia and U.N.O)

याल्टा सम्मेलन मे स्वीकार की गई दूसरी योजना सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के प्रारूप की थी। इसको अगस्त-अक्तूबर 1944 मे उनके प्रतिनिधियो द्वारा डम्बर्टन ओक्स (Dumbarton Oaks) सम्मेलन मे क्रियान्वित किया गया। सोवियत नेताओ

को इस प्रकार के संगठन के महत्व के सम्बन्ध में पर्याप्त शक था। वे इसे केवल अपने विचार के साधन के रूप में देखते थे। किन्तु फिर भी सोवियत नेताओं ने यह निर्णय लिया कि वे अब विश्व-राजनीति से पृथक् रहने की नीति नहीं अपनाएँगे और प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में अपना प्रतिनिधि भेजेंगे, किन्तु शर्त यह है कि उसका प्रयोग राष्ट्रसंघ की भाँति सोवियत संघ के विरुद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

सोवियत संघ को आशंका थी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में उनका हमेशा अल्पमत रहेगा और इसीलिए उन्होंने प्रस्तावित संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् में मतदान की विशेष व्यवस्था का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार प्रक्रिया से सम्बन्धित निर्णयों के अतिरिक्त निर्णयों को 11 सदस्यों में से 7 के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। इन 7 में इसके सभी स्थायी सदस्य अर्थात् बड़ी शक्तियाँ होनी चाहिए। इस एकमत सम्बन्धी धारा ने महाशक्तियों को सुरक्षा-परिषद् के निर्णयों पर निषेधाधिकार प्रदान किया। इस प्रक्रिया में पश्चिमी शक्तियाँ सोवियत रूस के विरुद्ध मत प्रयोग नहीं कर पाएँगी। इसी प्रकार सोवियत नेताओं ने प्रस्तावित संयुक्त राष्ट्र महासभा में अपनी मत-शक्ति को बढ़ाने की दृष्टि से यह माँग की कि सोवियत संघ के 16 गणराज्यों को इसमें अलग से मताधिकार प्रदान किया जाए। उनका तर्क था कि ब्रिटिश साम्राज्य के सदस्यों को भी महासभा में पृथक् से प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाएगा और इस प्रकार उसके मत बढ़ जाएँगे। सोवियत संघ के इस तर्क का जवाब इस रूप में दिया गया कि इस आधार पर संयुक्तराज्य अमेरिका भी अपने 48 राज्यों के लिए 48 मतों की माँग कर सकता है। ऐसी स्थिति में सोवियत रूस को दो अतिरिक्त मतों से ही सन्तोष करना पड़ा—एक यूक्रेन (Ukrain) के लोगों के लिए तथा दूसरा सफेद रूसियों के लिए।

याल्टा सम्मेलन को भंग करने से पूर्व 'तीन बड़ों' ने सभी मित्रराष्ट्रों को तथा धुरीराष्ट्रों पर आक्रमण करने वाले राष्ट्रों को 1 मार्च, 1945 को सान-फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रारूप पर विचार करने के लिए एक महासम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया।

जर्मनी का आत्मसमर्पण (The German Surrender)

सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन (San-Francisco Conference) 25 अप्रैल से 26 जून, 1945 तक चला। इस समय तक युद्ध भी समाप्त होने को आ रहा था। युद्ध के अन्तिम समय में सोवियत सेना तथा पश्चिमी सेनाओं के बीच जर्मनी पर हावी होने की दौड़ लगी हुई थी। सोवियत संघ को पूरा भय था कि जर्मनी पश्चिमी शक्तियों के साथ वार्ता करेगा अथवा वह पश्चिमी सीमा को खोल देगा और पूर्वी सीमा पर कड़ा रुख अपनाएगा। ऐसी स्थिति में पश्चिमी सेनाएँ जर्मनी पर छा जाएँगी। किन्तु यह सब नहीं हुआ क्योंकि पश्चिमी देशों ने अपने सोवियत मित्र पर पूरा विश्वास रखा तथा युद्धबन्दी समझौते से उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जर्मनी एक साथ सभी मित्रराष्ट्रों के सामने आत्मसमर्पण करे।

चर्चिल के पूरे प्रयासों के बावजूद जनरल आइजनहॉवर ने अमेरिकी सेनाओं

को एलबी (Elbe) पर रोक दिया तथा जानबूझ कर बर्लिन के आधिपत्य का अवसर खो दिया। सोवियत सेनाओं ने 13 अप्रेल को वियना पर अधिकार कर लिया और 2 मई को बर्लिन उसके अधिकार मे आ गया। अब केवल प्राग रह गया था। अमेरिकी सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया मे आगे बढी; उसके बाद 5 मई 1945 को प्राग भी जर्मनो के विरुद्ध उठ खडा हुआ। इसी समय जनरल आइजनहॉवर ने सेना को पिलसन (Pilsen) पर ही रोक दिया। चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादियों के मतानुसार यह कदम इसलिए उठाया गया था ताकि जर्मनी के लोगों को विद्रोह दबाने के लिए समय मिल सके। सम्भवत ऐसा ही सोवियत सेनाओ द्वारा वार्ता मे किया गया था। सोवियत सेना ने प्राग को 9 मई, 1945 को स्वतन्त्र कराया। सोवियत रूस ने राजधानियो पर कब्जा करने मे तथा युद्ध को समाप्त करने मे पर्याप्त रुचि ली। जब जर्मनो ने आइजनहॉवर के हैडक्वार्टर मे 7 मई, 1945 को उसके बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया तो सोवियत सेना ने इस बात पर जोर दिया कि यही प्रक्रिया दूसरे दिन मार्शल जॉर्ज झुकोव के सामने भी बर्लिन मे दोहरायी जाए।

पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप में प्रादेशिक समझौते
(Territorial Settlement in East-Central Europe)

तीन बडो के बीच की एकता मे दरारें जर्मन आत्मसमर्पण से पूर्व ही पड गई थी। सोवियत सरकार का मत था कि अपनी सेनाओ द्वारा विजित प्रदेशो के साथ वह मनमाना व्यवहार करेगी। ऐसी स्थिति मे उसने पश्चिमी शक्तियों की इच्छा का ध्यान दिए बिना ही पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप के क्षेत्रीय प्रश्नो को सुलझाना प्रारम्भ किया। फिनलैण्ड तथा रूमानिया से रूस ने सन् 1944 की सन्धि द्वारा ही वांछित प्रदेश ले लिया था। 25 जुलाई, 1944 को मास्को मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पोलिश समिति के साथ एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए जिसके द्वारा पोलिश-सोवियत सीमा विवाद सुलझाया गया। बाद में सोवियत सेना के साथ पोलिश समिति को पोलैण्ड भेजा गया। मई, 1945 मे इसने पश्चिमी शक्तियों को पूछे बिना ही पोलैण्ड को ओडरनिशी पक्ति का जर्मन क्षेत्र देकर उसकी क्षतिपूर्ति कर दी।

इसके साथ ही सोवियत संघ कोनिसबर्ग तथा पूर्वी प्रशा की ओर बढने लगा। चेकोस्लोवाकिया भी वैसे तो पोलैण्ड की भाँति एक मित्र राष्ट्र था, किन्तु उससे कहा गया कि वह स्वेच्छा से ही अपने बडे 'स्लाव' भाइयो को प्रदेश प्रदान कर दे। 29 जून, 1944 को मास्को मे एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अनुसार चेकोस्लोवाकिया ने सोवियत संघ को रूथेनिया (Ruthenia) सौंप दिया जो पहले कभी भी सोवियत-साम्राज्य का भाग नहीं रहा था। इसके फलस्वरूप सोवियत रूस और हँगरी की सीमाएँ सामान्य बन गईं तथा डनुबियन के मैदान पर उसकी शक्ति बढ गई। सोवियत संघ ने अपने इन पडोसी राज्यों को, चाहे वे औपचारिक रूप से मित्र थे अथवा शत्रु, अब अपना उपराज्य बना लिया।

सोवियत संघ ने अपने प्रदेशों की भूख मिटाने के बाद पोलैण्ड की क्षतिपूर्ति की तथा बल्गारिया को भी कुछ दिलाया गया और शेष के लिए उसने युद्ध पूर्व की

सीमाओं को कायम रखा। कहा जाता है कि इससे सोवियत रूस को लगभग दो लाख वर्ग मील प्रदेश का लाभ हुआ जिसमें 22 मिलियन निवासी रहते थे। पूर्वी केन्द्रीय यूरोप के राज्यों में असमानता एव समस्याओं के लिए पेरिस शान्ति-समझौता करने वालों को उत्तरदायी ठहराया।

युद्ध के अन्तिम दिनों में यूगोस्लाव के सैनिकों ने उस समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसके बारे मे प्रथम विश्वयुद्ध से ही संघर्ष चल रहा था। उन्होंने आस्ट्रिया में भी ट्रीस्टे (Trieste) तथा क्लागेनफर्ट (Klagenfurt) पर अधिकार कर लिया। ग्रेट-ब्रिटेन यह मान चुका था कि यूगोस्लाविया उसके प्रभाव से निकल गया। अब उसे इटली को बचाने की अधिक चिन्ता थी क्योंकि यहाँ साम्यवादी आन्दोलन प्रबल होता जा रहा था। ब्रिटेन के प्रोत्साहन पर अमेरिका ने शक्ति-प्रयोग द्वारा इन बन्दरगाहों से यूगोस्लाविया को पीछे हटाने की योजना बनाई। हॉपकिंस तथा स्टालिन की वार्ता के बाद 9 जून, 1945 को बेलग्रेड मे एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इसके अनुसार आंग्ल-अमेरिकी तथा यूगोस्लाव सेनाओं के बीच एक विभाजक रेखा मार्गन लाइन बना दी गई। इसका अन्तिम निर्णय शान्ति-सम्मेलन के लिए छोड़ दिया गया। इस लाइन के अनुसार ट्रीस्टे तथा आस्ट्रिया के उत्तर में एक रेलरोड तो आंग्ल-अमेरिकी नियन्त्रण मे रखी गई तथा पहले के अन्य इटालवी क्षेत्र यूगोस्लाविया के पास रहे।

पोट्सडाम सम्मेलन (The Potsdam Conference)

यह सम्मेलन 'बड़े तीन' का अन्तिम सम्मेलन माना जाता है जो 17 जुलाई, 1945 से 2 अगस्त, 1945 तक पोट्सडाम में चलता रहा। इस सम्मेलन में सोवियत नेताओं के लिए मुख्य प्रश्न जर्मनी तथा क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित थे। स्वतन्त्र यूरोप पर याल्टा-घोषणा-पत्र द्वारा अमेरिका ने यह प्रयास किया कि पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप का साम्यवादीकरण होने से रोका जाए, किन्तु सोवियत नेताओं ने इस क्षेत्र को सुरक्षित बताया तथा इसके सम्बन्ध मे पश्चिमी नेताओं को कुछ भी हस्तक्षेप न करने के लिए कहा। पश्चिमी राजनीतिज्ञों ने कोनिसबर्ग पर सोवियत-अधिकार तुरन्त स्वीकार कर लिया, किन्तु पोलैण्ड को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति का आकार कम करने पर जोर डाला। पर्याप्त विवाद के बाद वे इस बात पर सहमत हुए कि क्षेत्रीय प्रश्नों को शान्ति-समझौते के अन्तिम निर्णय के लिए रखा जाए तब तक इस प्रदेश पर पोलिश सरकार का प्रशासन रहे।

जहाँ तक क्षतिपूर्ति का सम्बन्ध है, सोवियत सरकार उन माँगों को दोहराती रही जो उसने याल्टा मे प्रथम बार रखी थी। वह 10 मिलियन डॉलर मूल्य की क्षतिपूर्ति चाहता था, किन्तु पश्चिमी सरकारों ने पुनः इस माँग को ठुकरा दिया। सोवियत संघ ने मित्रराष्ट्रों के क्षतिपूर्ति-आयोग के संगठन की प्रतीक्षा नहीं की तथा जर्मनी पहुँचते ही उसने अपने क्षेत्र को समस्त चल-सम्पत्ति से वंचित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। दुर्भाग्य ने रूसी क्षेत्र कृषिप्रधान था जबकि उसे औद्योगिक सामान तथा यन्त्रों की जरूरत थी। ये चीजें जर्मनी के पश्चिमी भाग मे थी जो

ब्रिटेन के अधिकार में था। इतने पर भी सोवियत संघ सौदेबाजी करने की स्थिति में था क्योंकि जर्मनी के पश्चिमी भागों को सोवियत भाग से ही अन्न आयात करना जरूरी था अन्यथा विदेशों से अन्न मगाना होता और इसका खर्चा उनको स्वय चुकाना पड़ता। उस समय जर्मनी का खाद्यान्न-भण्डार अधिक नहीं था। इसकी अर्थव्यवस्था पर युद्ध का बुरा असर पड़ा था, इस पर भी सत्ताधारी शक्तियों की माँग का बोझा था। ऐसी स्थिति में जर्मनी क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ था। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद तीन बड़े एक जटिल सूत्र पर सहमत हुए। इसकी मूल बात यह थी कि जर्मनी को एक आर्थिक इकाई (Economic Unit) समझा जाए। सोवियत रूस को उसके क्षेत्र में जो भी प्राप्त हुआ उसके अतिरिक्त पश्चिमी भाग की सामान्य आवश्यकताओं से ऊपर के औद्योगिक सामान में से 10 प्रतिशत दिया जाना था। जब पश्चिमी क्षेत्र सोवियत क्षेत्र से खाद्य सामग्री तथा अन्य चीजें लेंगे तो इसके लिए वे 15 प्रतिशत और देंगे। इधर पोलैण्ड भी अपनी क्षतिपूर्ति की माँग कर रहा था। उसे सन्तुष्ट करने के लिए सोवियत संघ को जर्मनी के एक-तिहाई व्यापारिक पोत एव युद्ध-पोत दिए जाने थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी की पूर्वी-केन्द्रीय यूरोप में स्थित सम्पत्ति पर सोवियत संघ का अधिकार हो गया।

जर्मनी के राजनीतिक भविष्य के बारे में सोवियत संघ एवं पश्चिमी राजनीतिज्ञ स्पष्ट नहीं थे। पोट्सडाम सम्मेलन में इस बात पर विचार ही नहीं किया गया। वे जर्मनी के राजनीतिक रूप का विकेन्द्रीकरण करके ही सन्तुष्ट हो गए। किसी केन्द्रीय सरकार की स्थापना नहीं की गई। कुछ समय तक यह कार्य मित्रराष्ट्रों की नियन्त्रण परिषद् करती रही। स्थानीय एवं राज्य-स्तर पर प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित स्वायत्त सरकार को कायम रखा गया। प्रशा राज्य को पहले तो अनेक राज्यों में विभाजित कर दिया गया और बाद में उसे समाप्त कर दिया गया। तीन बड़े जर्मनी का विसैन्यीकरण करने तथा जर्मन युद्ध-अपराधियों पर मुकदमा चलाने पर सहमत हो गए।

अप्रेल, 1945 में पश्चिमी शक्तियों को पूछे बिना ही सोवियत अधिकारियों ने समाजवादी नेता कार्ल रेनर (Karl Ranner) के नेतृत्व में आस्ट्रियन सरकार के निर्माण के लिए कदम उठाए। कार्ल रेनर सन् 1918 में आस्ट्रियन गणराज्य का प्रथम अध्यक्ष था। सोवियत संघ का यह चयन आश्चर्यजनक था क्योंकि रेनर के लेनिन के साथ सैद्धान्तिक मतभेद थे तथा उसे साम्यवाद-विरोधी माना जाता था। यह कहा जाता है कि उस समय आस्ट्रिया में अन्य कोई साम्यवादी था ही नहीं। आस्ट्रियन मन्त्रिमण्डल के 13 पदों में से केवल तीन पदों पर ही साम्यवादी थे। इनमें से एक को गृहमन्त्री बनाया गया तथा पुलिस उसके हाथ में सौंपी गई।

सोवियत संघ के एक तरफा कार्य से पश्चिमी शक्तियाँ नाराज हुईं तथा आस्ट्रिया की सरकार को पोट्सडाम सम्मेलन तक मान्यता प्रदान नहीं की। सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि वियना में मित्रराष्ट्रों की एक नियन्त्रण-परिषद् स्थापित की जाए तथा नगर और शहर को आधिपत्य क्षेत्रों (Occupation Zones) में बाँट

दिया जाए। इस प्रकार ग्रास्ट्रिया मे भी जर्मनी की सी स्थिति पैदा हो गई। रेनर ने इसकी तुलना करते हुए बताया कि ऐसा लगता है जैसे चार बडे हाथी किसी छोटी नाव (डोंगी) में चढ गए हैं। ग्रास्ट्रिया को क्षतिपूर्ति के भार से मुक्त कर दिया गया।

तेहरान तथा याल्टा सम्मेलनों मे स्टालिन ने कालासागर स्ट्रेट का प्रश्न उठाया, किन्तु उस पर अधिक जोर नही दिया। उसने स्ट्रेट मे अड्डों की माँग इस आधार पर की कि इन पर अधिकार करके ही टर्की रूस से गले लगने की स्थिति मे आ जाएगा। याल्टा सम्मेलन के बाद टर्की ने धुरीराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार वह एक मित्रराष्ट्र बन गया। 20 मार्च को सोवियत सरकार ने 1925 की सोवियत-तुर्की सन्धि को रद्द कर दिया। टर्की ने इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अपनी सेना को सक्रिय रखते हुए पश्चिमी शक्तियों से अपील की। पोट्सडाम सम्मेलन मे सोवियत अधिकारियों ने स्ट्रेट के सोवियत अड्डों पर पश्चिमी स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास किया। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इस प्रश्न के सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया कि स्ट्रेट का विसैन्यीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिए। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद यह निर्णय लिया गया कि 1936 के मॉन्ट्रियोक्स कन्वेंशन मे संशोधन किया जाए क्योंकि यह समय की आवश्यकताओं को पूरा करने मे असमर्थ है। इस कन्वेंशन के अनुसार टर्की को स्ट्रेट का संरक्षक बनाया गया था।

जापान की हार (The Defeat of Japan)

पोट्सडाम सम्मेलन मे तीन बडों ने इस बात पर विचार किया कि जापान को किस प्रकार हराया जाए। याल्टा सम्मेलन मे रूस ने यह वायदा किया था कि यूरोपीय युद्ध के समाप्त होने के तीन माह बाद ही वह प्रशान्त-युद्ध मे शामिल हो जाएगा। अप्रेल, 1945 मे रूस ने 1941 मे किए गए सोवियत-जापान समझौते रद्द कर दिये। स्टालिन ने मई-जून मे जब हॉपकिन्स से वार्तालाप किया तो यह शिकायत की कि चीन युद्ध मे शामिल होने की उन सोवियत शर्तों पर सहमत नहीं है जो तीन बडों द्वारा याल्टा सम्मेलन मे स्वीकार की गई थी। जब तक चीन इनको नहीं मानेगा, तब तक रूस भी प्रशान्त-युद्ध मे शामिल नहीं होगा।

चीन की सरकार ने याल्टा सम्मेलन के निर्णय का बहिष्कार कर दिया था क्योंकि इनमें चीन के हितों का ध्यान नहीं रखा गया था तथा उससे बातचीत भी नहीं की गई थी। चीन का प्रतिनिधि मण्डल जुलाई मे मास्को आया। अभी उससे बात चल ही रही थी कि सोवियत नेताओं को पोट्सडाम जाना पडा। जाने के समय पूर्व ही उनको जापान का वह प्रार्थना-पत्र मिला जिसमें उनसे शान्ति के लिए कुछ मध्यस्थता करने को कहा गया था। इससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि युद्ध सम्भवतः अनुमानित समय से पूर्व ही समाप्त हो जाएगा।

कहा जाता है कि पोट्सडाम मे राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रथम अणुबम के सफल परीक्षण की सूचना दी थी, किन्तु सोवियत तानाशाह पर इस सूचना का बहुत कम प्रभाव हुआ। यह परीक्षण 16 जुलाई, 1945 को आलामागोर्डो (Alamagordo)

मे किया गया था। सम्मेलन में स्टालिन के दृष्टिकोण पर इस परीक्षण का कोई प्रभाव नही हुआ।

पोट्सडाम से लौटने के बाद सोवियत नेताओं ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सोवियत नेता ने 8 अगस्त, 1945 को मचूरिया पर आक्रमण किया। इस दिन जर्मनी के आत्मसमर्पण को ठीक तीन माह हुए थे। इसके एक सप्ताह बाद अर्थात् 14 अगस्त, 1945 को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस एक सप्ताह के युद्ध के लिए सोवियत संघ ने प्रचुर पुरस्कार प्राप्त किया।

14 अगस्त, 1945 को ही चीन के विदेश मन्त्री ने मास्को मे एक सन्धि समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसमे छ: सहायक समझौते भी संयुक्त थे। इनके अनुसार इन दोनो देशों ने जापान के विरुद्ध तीस वर्ष की एक सन्धि की। दोनों देशो ने एक-दूसरे की सम्प्रभुता का आदर करने का तथा एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। सोवियत सरकार ने चीन की राष्ट्रीय सरकार को नैतिक एवं भौतिक समर्थन देने का वायदा किया। रूस ने सिंकियांग तथा मचूरिया मे चीन के अधिकार को मान्यता दी तथा युद्ध के तीन माह बाद इन प्रदेशो को खाली करने का आश्वासन दिया। आर्थर बन्दरगाह चीन तथा सोवियत संघ का सयुक्त नौसैनिक अड्डा बन गया। डाइरन (Dairen) को स्वतन्त्र बन्दरगाह घोषित कर दिया गया। चीनी चान्चुंग रेलवे को सोवियत संघ व चीन के सम्मिलित स्वामित्व एवं सयुक्त व्यवस्था के अधीन रखा गया। चीन ने बाहरी मंगोलिया की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी, किन्तु इसके लिए वहाँ जनमत-संग्रह किया जाना जरूरी था। 2 अक्तूबर, 1945 को प्रसारित शान्ति के घोषणा-पत्र मे स्टालिन ने कहा कि पुरानी पीढी के लोग 40 वर्ष से इस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

जापान मे सोवियत संघ को काफी लाभ रहा और यूरोप तथा अन्य प्रदेशों मे भी उसकी उपलब्धियां कम नही थी। पूर्वी एशिया मे जारशाही जो खो चुकी थी उसे सोवियत संघ ने प्राप्त कर लिया और साथ ही यूरोप मे भी उसने नए प्रदेश बढा लिए। इस तरह सोवियत संघ को लगभग 4 लाख 90 हजार वर्गमील भूमि प्राप्त हो गई जिस पर लगभग 10 करोड व्यक्ति निवास करते थे।

रूस के पक्ष में महायुद्ध के परिणाम और महाशक्ति के रूप में रूस का उदय : स्टालिनयुगीन विदेश-नीति

रूस ने महायुद्धजनित सभी कठिनाइयो का धैर्यपूर्वक सामना किया, आर्थिक पुनर्निर्माण के विशाल कार्यक्रम चलाए, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विस्तारवादी नीति अपनायी, शीत-युद्ध को अत्यन्त तीव्र बनाकर और पश्चिमी राष्ट्रों को अपनी उग्र हठधर्मी के आगे झुकाकर अपने राजनीतिज्ञ लक्ष्यों की पूर्ति का मार्ग प्रशस्त किया। स्टालिन जब तक जीवित रहा, सोवियत नीति 'पश्चिम के प्रति उत्तरोत्तर शत्रुता, असहयोग और अलगाव की ओर बढती हुई सोवियत प्रभाव क्षेत्र की सुदृढ़ीकरण तथा दुराग्रहपूर्ण रही।'[1] 1953 मे स्टालिन की मृत्यु के बाद से रूसी नेतृत्व

1 *Palmer & Perkins* : op. cit., p. 616.

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर झुकता चला गया और आज उसकी नीति अन्य किसी भी समय की तुलना में अधिक उदार, सहिष्णु और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की है।

1945 से 1953 की अवधि में सोवियत नीति का नियामक मार्शल स्टालिन रहा। महायुद्ध के परिणामों और महायुद्ध के बाद स्टालिन द्वारा अपनायी गई उग्र तथा आक्रामक नीतियों के कारण रूस अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में, 'महाशक्ति' (Super Power) के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इन परिणामों और नीतियों का अग्रांकित बिन्दुओं में अध्ययन किया जा सकता है—

1. सोवियत रूस के युद्धोपरान्त उद्देश्य—द्वितीय महायुद्ध में सोवियत संघ के उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित थे। अधिकांश रूप में वे रूस के ऐतिहासिक उद्देश्य थे। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर जारशाही रूस अपने उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सका जबकि द्वितीय महायुद्ध में साम्यवादी रूस अपने अधिकांश लक्ष्य प्राप्त करने में सफल रहा। फलस्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि से रूस तीन दिशाओं में विस्तार का आकांक्षी रहा था—पश्चिम की ओर यूरोप में, दक्षिण की ओर पूर्वी भूमध्य सागर के निकटवर्ती प्रदेश में तथा पूर्व में प्रशान्त महासागर की ओर। रूसी विस्तार के इस प्रत्यक्ष क्षेत्र के अतिरिक्त दीर्घकाल से रूस ने यूरोप के अपने पड़ोसी देशों पर भी इस आधार पर प्रभाव जमाना चाहा है कि वह प्रायः आक्रामक रहा है। द्वितीय महायुद्ध में सोवियत रूस ने अपनी ऐतिहासिक विस्तार प्रक्रिया का अनुसरण किया और जब महायुद्ध का अन्त हुआ तो वह उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर चुका था। 1918 में रूस को जितनी भू-भाग की हानि हुई थी उसे पुनः प्राप्त कर लिया। रूस ने अपनी सीमा में इतिहास में पहली बार सभी रूसी आबादी वाले क्षेत्रों को सम्मिलित किया, पूर्वी यूरोप में अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया और सुदूरपूर्व में अपनी स्थिति सुदृढ़ रखी। यह सब कुछ प्राप्त करने पर भी पूर्वी भूमध्यसागर के सम्बन्ध में रूस अपने ऐतिहासिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सका।

स्टालिन जब तक जीवित रहा, पाश्चात्य जगत् के साथ रूस का मनमुटाव उग्रतर होता गया। 1953 में स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त सोवियत नेतृत्व ने 'सह-अस्तित्व' में विश्वास प्रकट करते हुए लचीली नीति पर चलना आरम्भ कर दिया।

2. पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—महायुद्धकाल में पूर्वी यूरोप के लगभग सभी देशों को लाल सेना ने जर्मन दासता से मुक्ति दिलाई थी और इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने जर्मनी के विरुद्ध छापामार संघर्षों का नेतृत्व किया था। युद्धोपरान्त इन देशों में राजनीतिक सत्ता भी साम्यवादियों के हाथ में आई और सोवियत रूस के लिए इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार का मार्ग सरल हो गया। युद्ध के उपरान्त 1948 तक की तीन वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोप के सात देश पूरी तरह 'लाल' बन गए। उसने 1947 और 1948 की सन्धियों द्वारा फिनलैण्ड को भी अपने नियन्त्रण में ले लिया। फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता तो

कायम रही, लेकिन उसे यह वचन देना पड़ा कि वह विरोधी विदेश-नीति नहीं अपनाएगा। स्टालिन ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करायी और इस प्रकार सोवियत राष्ट्रीय सुरक्षा पक्ति को सुदृढ़ बनाया। इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के विकास के लिए भी समझौते किए गए। 1947 की 'मोलोटोव योजना' में पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उनके औद्योगीकरण पर बल दिया गया। पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गईं। पूर्वी यूरोप के देशों के साथ आर्थिक सहयोग को घनिष्ठ बनाने के लिए 1949 में पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (Council for Economic Mutual Assistance : Com Con.) स्थापित की गई। यह 'कोम-कॉन' पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम (European Recovery Programme E R P.) की एक प्रकार से जवाबी कार्यवाही थी। सोवियत संघ में पूर्वी यूरोप के देशों के साथ सैनिक सन्धियाँ युद्धकाल में ही की जा चुकी थी। इसके बाद मार्च, 1946 से अप्रैल, 1949 तक 17 द्विपक्षीय सन्धियाँ की गईं। आगे चलकर मई, 1955 में इन देशों ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार सोवियत संघ के साथ वे देश और भी अधिक सुदृढ़ता से बँध गए।

रूस का प्रादेशिक प्रभुत्व-विस्तार वस्तुत आश्चर्यजनक था। 1939 में रूस ने अपने क्षेत्र में लगभग 27 करोड़ 40 लाख वर्ग मील की वृद्धि कर ली और साथ ही लगभग 36 करोड़ वर्गमील क्षेत्र के सात राज्य मास्को के समर्थक बन गए। इन देशों के अतिरिक्त अधिकृत पूर्वी जर्मनी भी रूसी संरक्षण में ही था और वहाँ समाजवाद के सिद्धान्तों पर आधारित शासन-प्रणाली कायम की जा चुकी थी।

3. विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार—जिस स्टालिन ने प्रथम महायुद्ध के बाद ट्रॉट्स्की के विश्व क्रान्ति के विचार का विरोध किया था, वही द्वितीय महायुद्ध के बाद इस नीति का प्रबल पोषक बन गया। साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशों में फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व में रूस ने विभिन्न उपायों का सहारा लिया। यूनान के गृह-युद्ध में यूनानी साम्यवादियों को पड़ौसी साम्यवादी देशों के माध्यम से सहायता पहुँचाई गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third Internat onal) के विश्वव्यापी क्रान्तिकारी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए 1947 में विभिन्न देशों में साम्यवादी पार्टियों के नेताओं ने बेलग्रेड में 'कामिनफार्म' की स्थापना की। इसका उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था। स्टालिन चाहता था कि पूर्व और पश्चिम में रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यों की सरकारें स्थापित हों और पुराने बुर्जुआ साम्राज्य नष्ट हों। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर स्टालिन ने विश्व समस्याओं के समाधान में समझौतावादी नीति न अपनाना ही उचित समझा। वह अड़गेबाजी की नीति पर चलकर शान्ति-व्यवस्था को टालना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल हो जाए।

4. टर्की, ईरान, यूनान और यूगोस्लाविया पर सोवियत दबाव—स्टालिन काल में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धों में जहाँ हर प्रकार से सफलता का पलड़ा रूस के पक्ष मे भारी रहा, वहाँ रूस को टर्की, ईरान, यूनान और यूगोस्लाविया के सम्बन्ध मे असफलताओं का सामना करना पडा। सोवियत दबाव की नीति अन्ततोगत्वा सफल नही हो सकी। दक्षिण से होने वाले आक्रमण के विरुद्ध सोवियत सुरक्षा की मुख्य समस्या वासफोरस और डार्डेनेलीज के जलडमरूमध्य पर नियन्त्रण की थी। युद्धकाल मे रूस ने इस जलडमरूमध्य की सयुक्त सुरक्षा के लिए टर्की से सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति चाही, लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस को अपनी पीठ पर देखकर टर्की ने सोवियत माँग ठुकरा दी। युद्ध के उपरान्त जब 'शीत-युद्ध' आरम्भ हुआ तो पश्चिमी राष्ट्रों ने दृढ़ता से टर्की का समर्थन किया। अक्टूबर, 1946 मे सोवियत टर्की समझौता वार्ता भग हो गई, पर टर्की रूसी दबाव को झेल गया।

ईरान मे भी सोवियत नीति इसी प्रकार असफल रही। 1941 मे रूस और ब्रिटेन की सयुक्त सेना ने ईरान पर अधिकार कर लिया था। युद्धोपरान्त 1946 के प्रारम्भ मे अमेरिका और ब्रिटेन की सेनाओं ने ईरान खाली कर दिया, लेकिन सोवियत सेना डटी रही। मामला सुरक्षा परिषद मे गया। प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा 24 मार्च, 1946 को एक समझौता हुआ जिसमे रूस ने उत्तरी ईरान मे तेल सम्बन्धी रियायत प्राप्त की और अपने सैनिकों को ईरान से हटाना मजूर कर लिया। इसके बाद ही सितम्बर, 1947 मे ईरानी ससद ने सोवियत रूस को दी गई तेल सम्बन्धी रियायत के लिए स्वीकृति देना अस्वीकार कर दिया। ईरान मे रूसी हस्तक्षेप का खतरा पैदा हो गया, लेकिन अमेरिका ने 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अनुसार ईरान को सैनिक सहायता देने और ईरानी सेना को सगठित करने के लिए सैनिक प्रतिनिधि मण्डल भेजने का वचन दिया। फलस्वरूप ईरान मे रूसी हस्तक्षेप का सकट टल गया।

यूनान मे भी एक साम्यवादी शासन की स्थापना के रूसी प्रयत्न असफल रहे। 1944 मे चर्चिल और स्टालिन ने मास्को मे यह स्वीकार किया था कि यूनान ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र मे रहेगा, लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद मित्रराष्ट्रों का सहयोग टूट गया। मई, 1946 मे साम्यवादियों ने पूरी शक्ति से गृह-युद्ध छेड़ दिया और अमेरिका ने 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अन्तर्गत यूनान को मदद देने का निश्चय कर लिया। धीरे-धीरे एथेंस सरकार ने अमेरिकी सरकार की सहायता से अपनी सेना को सुसगठित कर लिया और अक्टूबर, 1949 मे साम्यवादी आन्दोलन समाप्त हो गया। रूस को सबसे अधिक असफलता युगोस्लाविया के मामले मे हाथ लगी, क्योंकि कुछ समय तक रूसी गुट मे बने रहने के बाद युगोस्लावी राष्ट्रपति टीटो ने रूस के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इंकार कर दिया और जून, 1948 में युगोस्लाविया रूसी गुट से पृथक् हो गया। मार्शल टीटो पर स्टालिन ने हर प्रकार से दबाव डालने की कोशिश की, किन्तु वह टीटो को अपने कब्जे मे नही ला सका। टीटो को यह

कनई पसन्द नही था कि यूगोस्लाविया स्थित लाल सेना यूगोस्लाविया के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप करे, अन उसने स्टालिन से स्पष्ट शब्दो मे माँग की कि रूसी फौजे यूगोस्लावी क्षेत्र से हटा ली जाएँ। स्टालिन और टीटो के मतभेद बढते गए। 28 जून, 1948 को 'कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau : Com nform) ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी पर यह आरोप लगाकर उसे अपनी सदस्यता से बहिष्कृत कर दिया कि उसकी नीतियाँ मार्क्सवाद एव लेनिनवाद के सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। यूगोस्लाव नेताओ ने कोमिनफोर्म द्वारा लगाए गए आरोपों को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद सोवियत सघ और यूगोस्लाविया के बीच शीतयुद्ध की स्थिति पैदा हो गई जो स्टालिन की मृत्युपर्यन्त (मार्च 1953) चलती रही। टीटो के इस विद्रोह का पश्चिमी देशो ने स्वभावतः मुक्त कण्ठ से स्वागत किया। मार्शल टीटो ने, सोवियत रूस से क्षुब्ध होकर, पूर्वी यूरोप के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा पश्चिमी देशो के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना शुरू कर दिया, किन्तु यह सदैव ध्यान रखा कि उनका राष्ट्र पूर्णत एक स्वतन्त्र राष्ट्र रहे जो सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से मुक्त अवस्था का उपभोग करे।

5 पश्चिम का विरोध और शीत-युद्ध की तीव्रता—सोवियत रूस की पूर्वी यूरोप के देशो मे साम्यवादी शासन की स्थापना के प्रयत्नो और पश्चिमी शक्तियों द्वारा रूसी प्रभाव के प्रसार को रोकने की चेष्टाओ के कारण सोवियत संघ और पश्चिम की 'विचित्र मैत्री' का अन्त हो गया तथा युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष के अन्दर ही दोनो गुटो मे गम्भीर शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया। जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि शत्रु राज्यो के साथ सन्धियो की शर्तें, इटली के उपनिवेशो का तथा राष्ट्रसंघ के मेण्डेट वाले प्रदेशो का विभाजन, स्वतन्त्रता, जर्मनी के नि शस्त्रीकरण और एकीकरण की समस्या, पश्चिमी देशो तथा रूस के और लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारो का मौलिक अन्तर, क्षतिपूर्ति, मध्यपूर्व मे प्रभुता पाने के लिए तीव्र प्रतियोगिता आदि ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुई जिन पर दोनो पक्षो मे उग्र मतभेद उजागर हुए जिनके फलस्वरूप शीत-युद्ध की तीव्रता बढी। जहाँ पश्चिमी राष्ट्र कोमिनफोर्म की गतिविधियो और रूसी प्रभाव के प्रयासो व स्टालिन की अदमुत कूटनीतिक चालो और हठधर्मी आदि से आशंकित और त्रस्त थे, वहाँ सोवियत सघ के इस विश्वास को सम्बल मिला कि पश्चिमी राष्ट्र उसके सन्मूलन का षड्यन्त्र करने मे लगे हुए हैं। रूस की दृष्टि टूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान व जर्मनी का पुन शस्त्रीकरण भूनेन एव प्लेवन योजनाएँ, कोरिया युद्ध आदि पश्चिमी राष्ट्रो के ऐसे कार्य थे जो रूस के प्रति पश्चिम के विशेषकर अमेरिका के घोर विरोध और उनकी उग्र शत्रुता के प्रमाण कहे जा सकते थे। आणविक शक्ति से सम्पन्न सयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व मे पश्चिमी गुट की इन कार्यवाहियों से स्टालिन की आशकाएँ उत्तरोत्तर बढती गई और वह पश्चिम की प्रत्येक कार्यवाही तथा गतिविधि का विरोध करने लगा।

यद्यपि स्टालिन पश्चिम के प्रति अपनी नीति को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful Co-existence) का जामा पहनाता था, परन्तु उसके कार्य-कलापों से यह स्पष्ट हो गया कि 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' की इस नीति से उसका अभिप्राय केवल इतना था कि दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध नहीं होना चाहिए। एक प्रचारात्मक वाक्युद्ध और कोरिया जैसे स्थानीय युद्धों को वह इस नीति के विरुद्ध नहीं समझता था। स्टालिन की इस नीति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि वह धीरे-धीरे पश्चिम और साम्यवादी शक्तियों का शीतयुद्ध तीव्रतर होता चला गया।

6. लोह आवरण की नीति—*स्टालिन को भय था कि यदि पाश्चात्य लोकतन्त्र के जीवाणु सोवियत संघ में प्रवेश कर गए तो साम्यवादी शासन के लिए एक* अशुभ बात होगी। इसीलिए उसने लोह-आवरण की नीति अपनायी ताकि रूस को सभी प्रकार के पश्चिमी प्रभावों से अछूता रखा जा सके। महायुद्ध के तुरन्त बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी राज्यों ने साम्यवाद के विरुद्ध जोर-शोर से जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। साम्यवादी देशों के इर्द-गिर्द अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित किए गए जिनके नाम 'आजाद हंगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गए किन्तु स्टालिन भी पूरा 'घाघ' था। उसने विभिन्न प्रतिबन्ध लगाकर साम्यवादी जगत् के चारों ओर ऐसी दीवार खड़ी कर दी कि साम्यवाद-विरोधी प्रचार प्रवेश न कर सके। स्टालिन ने रूस और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को गैर-साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक रखने का निश्चय कर लिया। कठोर कानूनों द्वारा 1945 से ही रूसियों का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क रोक दिया गया। उदाहरणार्थ, एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि युद्ध के समय रूस में आए हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के पास विदेश नहीं जा सकेंगी। एक अन्य कानून द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों पर रोक लगा दी गयी। विदेशी राजदूतों और पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। विदेशों में स्थित सोवियत राजदूतों पर भी कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाए गए।

7 शान्तिवादी आन्दोलन की कूटनीति—सोवियत रूस के पक्ष एशिया और अफ्रीका समर्थन प्राप्त करने के लिए सोवियत संघ ने युद्ध के कुछ समय ही बाद 'शान्ति-आन्दोलन' (Peace Offencive) आरम्भ किया। पूंजीवादी पश्चिम को 'युद्ध-लोलुप' (War-Monger) कहा गया। 1950 में स्टॉकहोम विश्वशान्ति समिति द्वारा आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील पर उचित समय पर लगभग 50 करोड़ लोगों के हस्ताक्षर प्राप्त कराए गए। इस शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बहुत प्रभावित किया। *वे साम्यवाद की ओर आकर्षित होने लगे तथा सोवियत संघ को पश्चिम की तुलना* में अधिक शान्तिप्रिय और साम्राज्य विरोधी मानने लगे। साम्यवादियों ने इस आन्दोलन में सब देशों के मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों से सहयोग माँगा। जहाजी श्रमिकों में यह प्रचार किया गया कि अमेरिका से शस्त्रास्त्रों को लाने वाले जहाजों

से माल न उतारा जाए और हड़ताल कर दी जाए। प्रचार की दृष्टि से शान्तिवादी आन्दोलन को प्रारम्भ करने मे पर्याप्त सफलता हुई। यद्यपि स्टालिन अपने अनुदार दृष्टिकोण के कारण इस आन्दोलन से रूस को अधिक लाभान्वित नही कर सका, तथापि विश्व के देशो मे रूसी शक्ति और रूसी क्षमता की चर्चा होने लगी। पश्चिमी देश भी यह समझ गए कि यदि पूँजीवादी गुट मे अमेरिका जैसी महाशक्ति है तो साम्यवादी गुट मे रूस जैसी महाशक्ति है जो अमेरिका से टक्कर लेने मे सक्षम है।

8 रूस द्वारा विनाश के घावों को धो डालना—रूस ने महायुद्ध के फोडो को थोडे ही समय मे आश्चर्यजनक रूप मे मलहम पट्टी कर ली। रूसी नागरिको मे आत्म-विश्वास का अभूतपूर्व प्रादुर्भाव हुआ। रूस ने समाजवादी पद्धति के कारण, द्रुत गति से अपना पुनर्निर्माण कर लिया और नाजी आक्रमण की कड़वी स्मृतियो को मिटा डाला। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी रूसी सेना मे कोई विशेष कमी नही की गयी, इसके विपरीत आधुनिकतम शस्त्रास्त्र बनाने पर विशाल धनराशि व्यय की गयी।

9. अणु-शक्ति पर अमेरिका के स्वामित्व को भंग करना—सैनिक स्तर पर सच्चे अर्थों मे एक महाशक्ति बनाने के लिए यह आवश्यक था कि रूस भी अमेरिका के समान अणु शक्ति का स्वामी बनता। रूस ने इस दिशा मे प्राणपण से चेष्टा की और अगस्त 1953 मे अपना प्रथम आणविक विस्फोट किया। इससे रूस की प्रतिष्ठा मे चार चाँद लग गए तथा उसे सयुक्त राज्य अमेरिका का वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा। रूस ने अल्पकाल मे ही विभिन्न प्रकार के अणु आयुधो और अणुबमो का निर्माण कर अमेरिका के लिए गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी।

10 संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत नीति—स्टालिन के नेतृत्व मे सोवियत सघ ने सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण मे सक्रिय भाग लिया। दुर्भाग्यवश अपने जन्मकाल के कुछ ही समय पश्चात् सघ शीत-युद्ध का प्रधान अखाडा बन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनो राष्ट्र अथवा दोनो गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर सघ के मच पर उपस्थित हुए। चूँकि सघ मे पश्चिमी शक्तियो और उनके समर्थको का स्पष्ट बहुमत था अत. सोवियत रूस ने स्वय को स्थायी एव निरन्तर अल्पमत मे पाया। ऐसी स्थिति मे अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयो को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद् मे अपने निषेधाधिकार का खुलकर प्रयोग करे जिससे सयुक्त राष्ट्रसघ पश्चिमी शक्तियो के इशारो पर उनके पक्ष मे कोई प्रभावशाली कार्य न कर सके। कोरिया-युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने सयुक्त राष्ट्रसघ की बैठको का बहिष्कार कर दिया। लेकिन यह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही सयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकी। रूस ने यह समझ लिया कि वह सयुक्त राष्ट्रसघ से बाहर रहने की अपेक्षा उसकी कार्यवाहियो मे भाग लेकर, परिषद् की बैठको मे उपस्थित होकर, पश्चिमी राष्ट्रों के इरादो पर अधिक प्रभावी रूप से रोक लगा सकता है।

मूल्यांकन

वास्तव में स्टालिन ने मृत्युपर्यन्त एक आक्रमणकारी, गतिशील, अड़गेबाजी और लोह आवरण तथा समझौता-विरोधी नीति का अनुसरण किया। पूर्वी यूरोप में अपने वचनों को झुठलाकर सोवियत प्रभुत्व का विस्तार किया गया, यूनान के गृह युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की गयी, टर्की पर बासफोरस तथा डार्डेनेलीज के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में माण्ट्रेक्स (Montreaux) के समझौते को बदलने के लिए दबाव डाला गया, मार्शल-योजना की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया। ईरान से सोवियत सेनाओं के हटाने में देर लगायी गई, टीटो को मास्को के गुट से निष्कासित किया गया, कोरिया व हिन्द चीन में युद्ध हुए। स्टालिन की इस आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियाँ सशंकित हो गईं और उन्होंने बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, डकर्क-ब्रूसेल्स सन्धियाँ, नाटो पैक्ट, पश्चिमी यूरोप की एकता के लिए बनाए गए विभिन्न संगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति के प्रभावशाली प्रत्युत्तर थे। 1945-47 तक यूरोप की स्थिति स्टालिन के लिए बड़ी अनुकूल थी, लेकिन 1953 तक स्थिति ऐसी नहीं रही। मध्यपूर्व में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस की वैसी बदनामी हुई जैसी बाद में आइजनहावर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका की हुई। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ, भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस-विरोधी समझता रहा। स्टालिन की उग्रवादी कठोर नीति ने स्वयं साम्यवादी गुट में काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में दो महाशक्तियों का उदय हुआ—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ। विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभर कर सामने आए और लगभग 1954-55 तक विश्व में दृढ़-द्वि-ध्रुवीयता (Tight Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनों महाशक्तियां एक दूसरे की जबर्दस्त प्रतियोगी बन गयी और दोनों ही के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होता गया। महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा विशेष कर यूरोप में बहुत तीव्र रही जिससे न केवल शीतयुद्ध में तीव्रता आयी बल्कि प्रतिद्वन्द्वी सन्धियों और अनेक सैनिक गुटों का निर्माण भी तेजी से हुआ। 1955 के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि जहाँ विश्व शान्ति और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहाँ अमेरिका और ब्रिटेन एक ओर तथा रूस और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ बँधे थे। 1955 के मध्य द्वि-ध्रुवीयता शिथिल होने लगी और धारा बहुकेन्द्रवाद (Poly-centricism) की ओर बहने लगी। आज यद्यपि शक्ति के अनेक केन्द्र कम से कम चार या पाँच उभर आएँ हैं फिर भी महाशक्तियों के रूप में वस्तुतः अमेरिका और रूस की ही गणना की जाती है। निकट भविष्य में साम्यवादी चीन और भारत भी महाशक्तियों का दर्जा पा सकेंगे, इसकी सम्भावनाएँ प्रबल हैं।

मोलेन्कोव काल
(1953–1954)

स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस की नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और वह फिर से विकासोन्मुख बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य बातों ने सोवियत संघ की शक्ति को बढ़ा दिया। पहली बात यह थी कि पूर्वी-यूरोप में सोवियत साम्राज्य में स्थायित्व आ गया। दूसरे सोवियत संघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढ़ने लगी। तीसरे, रूस के दक्षिणी क्षेत्र में उसका प्रभाव बढ़ने लगा। मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ गए। विश्व का सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य का विस्तार नहीं हुआ, तथापि सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी प्रभावशाली हो गई कि पहले कभी नहीं थी।

स्टालिन के उत्तराधिकारियों को जिन चुनौतियों का सामना करना था, वे थी—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य मान्यता प्राप्त करना तथा जहाँ सम्भव हो सके वहाँ बिना सोवियत सुरक्षा को खतरे में डाले देश की शक्ति का विस्तार करना। एक साम्राज्य की रक्षा करना उसे प्राप्त करने से अधिक कठिन होता है, इसलिए साम्राज्यान्तर्गत प्रदेशों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की गई, आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणयुक्त बनाया गया तथा जीवन-स्तर के विकास को प्रोत्साहन दिया गया।

स्टालिन की उग्रतावादी कठोर वैदेशिक-नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनके फलस्वरूप अब सोवियत नीति का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। इसलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मोलेन्कोव ने दिवगत नेता के अन्त्येष्टि संस्कार में ही घोषणा की कि—"लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूंजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा।" 15 मार्च, 1953 को सुप्रीम सोवियत में अपने देश की विदेश नीति का उल्लेख करते हुए सोवियत प्रधान मन्त्री ने जोरदार शब्दों में कहा—"अब सोवियत विदेश-नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ बनाने की दृष्टि से किया जायगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसका शान्तिपूर्वक हल नहीं किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राज्य अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।"

रूस की इस नई विदेश-नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही निकलने प्रारम्भ हो गए। अक्तूबर, 1952 से चले आने वाले कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और 10 अप्रेल, 1953 को पानमुनजोन में रुग्ण एवं घायल युद्ध-बन्दियों का समझौता होने पर युद्ध भी समाप्त हो गया। रूस द्वारा टर्की और जर्मनी के प्रति उदार नीति अपनाई गई। 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया के सम्बन्ध में शान्ति सन्धि हो गई। सोवियत सैनिकों द्वारा फिनलैंड के सैनिक अड्डे खाली कर दिए गए।

1954 में जेनेवा-सम्मेलन द्वारा हिन्द-चीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत-संघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यूगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर करके उसे पुन. साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्टा की गई। मई, 1953 में दोनों देशों के मध्य कूटनीतिक सम्बन्ध फिर से कायम हो गए।

मोलेन्कोव के नेतृत्व में सोवियत रूसी लौह आवरण के सम्बन्ध में भी शिथिलता की नीति बरती जाने लगी। बाह्य दुनिया से निकट सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत संघ लोहे की दीवार में बन्द न समझा जाए। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित मानता था, लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और इसे अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

ख्रुश्चेव-काल
(1955–1964)

इस समय सोवियत संघ में भीतर ही भीतर नेतृत्व के लिए संघर्ष चल रहा था। मोलेन्कोव इस संघर्ष में पराजित हुए, फलतः 8 फरवरी, 1965 को उन्हें प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। अब मार्शल बुल्गानिन नए सोवियत प्रधान मन्त्री बने तथा ख्रुश्चेव पार्टी के महासचिव नियुक्त हुए। 1955 से 1963 तक की सोवियत विदेश-नीति का युग ख्रुश्चेव युग था क्योंकि फरवरी, 1955 से मार्च, 1958 तक के बुल्गानिन प्रधानमन्त्रित्व काल में भी वास्तविक प्रभाव एक प्रकार से ख्रुश्चेव का ही रहा।

ख्रुश्चेवकालीन विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(1) लौह आवरण की नीति उत्तरोत्तर शिथिल होती गई तथा 'यात्रा-कूटनीति' का महत्त्व बढ़ता गया।

(2) पश्चिम के प्रति उग्र नीति का शनै.-शनै. परित्याग किया जाने लगा। सोवियत नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर अग्रसर हुए। विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा, पर शीतयुद्ध का परित्याग नहीं किया गया। अनुकूल परिस्थितियों में शीतयुद्ध को उभार कर राजनीतिक और प्रचारात्मक लाभों को प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे।

(3) अल्पविकसित देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। इसमें उत्तरोत्तर विकास होता चला गया।

(4) सोवियत प्रभाव-विस्तार की उत्कंठा रखते हुए भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को तीव्र कर दिया गया। सोवियत नीति यह रही कि एशिया और अफ्रीका की जनता की अधिकाधिक सहानुभूति प्राप्त कर इन महाद्वीपों में साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। सोवियत शक्ति और प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन क्षेत्र रहे—एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका।

(5) अणु आयुधों में अमेरिका से समानता तथा उससे आगे निकल जाने के प्रयत्न अनवरत चलते रहे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धी रण-नीति रची गई।

(1) लौह आवरण में शिथिलता, यात्राओं की कूटनीति

इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति में पर्याप्त शिथिलता आई और 'यात्रा कूटनीति' का महत्त्व बढ़ा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक तथा संसदीय शिष्टमण्डल विदेशों में जाने लगे और विदेशों के ऐसे ही शिष्टमण्डल साम्यवादी देशों में आमन्त्रित किए जाने लगे। 1955 में नेहरू तथा बुल्गानिन की परस्पर यात्राओं से दोनों देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओं की गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रति स्टालिनकाल से भारत के प्रति जो सन्देह बना हुआ था वह दूर हो गया। 1956 में दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। 1959 के आरम्भ में प्रथम सोवियत उप-प्रधानमन्त्री मिकोयान ने अमेरिका की यात्रा की। सोवियत उप-प्रधान मन्त्री ने दोनों देशों में व्यापार-वृद्धि की आवश्यक बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीतयुद्ध' (Cold-war) का स्थान 'शान्तिपूर्ण-प्रतियोगिता' (Peaceful Competition) को लेना चाहिए। सितम्बर, 1959 में सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की। फरवरी-मार्च, 1960 में ख्रुश्चेव ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों—भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया अफगानिस्तान आदि की यात्रा की। अपनी यात्राओं में रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर-सम्मेलन आयोजित करने पर बार-बार बल दिया।

(2) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा करने की नीति

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का शुभारम्भ मोलेंकोव के प्रधानमन्त्रित्व काल में ही हो चुका था, किन्तु इसमें निखार ख्रुश्चेव तथा इसके परवर्ती युग में आया। फरवरी 1956 में रूसी साम्राज्य दल की 20वीं कांग्रेस ने जो विदेश नीति अंगीकृत की उसकी निम्नलिखित पाँच प्रमुख विशेषताएँ थीं—

प्रथम, जहाँ स्टालिन के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था, वहाँ ख्रुश्चेव ने इसका अर्थ यह माना कि सभी गैर-साम्यवादी राष्ट्र (विशेषतः एशिया और अफ्रीका के तटस्थ राष्ट्र) सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं।

दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया।

तीसरे, यात्राओं की कूटनीति स्वीकार की गई और यह स्वीकार किया गया कि दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करने के लिए सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्राएँ करनी चाहिए तथा लौह आवरण को शिथिल कर साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के मध्य सम्पर्क की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे, सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प-विकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

पाँचवें, पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी बताकर उनकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग किया गया।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नवीन सोवियत नीति के अनुसार गैर-साम्यवादी देशों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—(1) संयुक्त राज्य अमेरिका, (2) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी देश के, एवं (3) तटस्थ देश, जैसे—भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा, मिस्र, सीरिया, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान व स्विट्जरलैण्ड। दूसरे शब्दों में पहले रूस दुनिया में दो रंग के रूप देखता था—लाल और सफेद। अब वह इसमें लाल, पीले, नीले, हरे, विभिन्न प्रकार के फूल देखने लगा। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलों के सिवाय सब तरह के फूलों के समूलोन्मूलन की थी। अब वह सबके साथ-साथ रहने के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात करने लगा। रूसी विदेश-नीति में एक निश्चित लचीलापन आया। शान्तिपूर्ण समाधान और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने के निश्चित प्रमाण भी सोवियत रूस ने प्रस्तुत किए। उदाहरणार्थ, जुलाई, 1953 को कोरिया युद्ध की समाप्ति में रूसी सहयोग प्राप्त हुआ, जनवरी–फरवरी, 1954 में चार बड़ों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसके निश्चय के अनुसार अप्रैल में जो जेनेवा सम्मेलन हुआ, उसमें वियतनाम की समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया गया। 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति स्थापित हुई। जुलाई, 1955 में चार बड़ों का शिखर सम्मेलन हुआ जो 1945 के पोट्सडाम सम्मेलन के बाद चार बड़ों की पहली बैठक थी। इसमें हिन्द चीन के प्रश्न का शान्तिपूर्ण समाधान हुआ। इसी बीच 15 जून, 1954 को सोवियत संघ ने काले सागर के प्रदेश में टर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक माँगों का परित्याग करने की घोषणा की।

रूसी सहयोग पाकर संयुक्त राष्ट्र संघ अधिक प्रभावशाली रूप से कार्य करने लगा। नवम्बर–दिसम्बर, 1955 में एक तरफ सोवियत रूस ने और दूसरी तरफ फ्रांस, ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह निश्चय किया कि वे एक-दूसरे के द्वारा प्रस्तावित राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के प्रस्तावों का विरोध नहीं करेंगे। इस निश्चय के परिणामस्वरूप 8 दिसम्बर, 1955 को 18 राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान की गई। सोवियत नेताओं ने दूसरे देशों की सद्भावना यात्राएँ करना शुरु किया। 18 अप्रैल, 1956 को कोमिनफोर्म को भंग कर दिया गया। जुलाई–अगस्त 1963 में अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि सम्पन्न की गई जिसे 1922 की वाशिंगटन सन्धियों के पश्चात् नि:शस्त्रीकरण के प्रयत्नों की प्रथम सफलता कहा जा सकता है। अगस्त में ही मास्को और वाशिंगटन के मध्य सीधा टेलीफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U S. Soviet Hot Line Agreement) किया गया।

ख्रुश्चेव काल में 'पूर्व' और 'पश्चिम' के सम्बन्धों में निश्चित रूप से सुधार हुआ, किन्तु राजनीतिक शत्रु के रूप में दोनों की स्थिति यथापूर्व रही और कूटनीतिक दावपेचों द्वारा अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढाने में दोनों ही पक्ष अग्रसर रहे।

मौके-बेमौके ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे और ऐसी घटनाएँ घटी जिनसे समय-समय पर शीत-युद्ध की तीव्रता दिखाई दी और दोनो पक्षो मे कटुता का व्यापक प्रसार हुआ, उदाहरणार्थ 1956 मे स्वेज नहर और हगरी के प्रश्न पर दोनो पक्षो मे अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गई, मई 1960 मे यू-2 विमान की घटना ने दोनो पक्षो मे शीत-युद्ध का ज्वार ला दिया और 1962 मे क्यूबा के संकट ने दोनो महाशक्तियो को सघर्ष के इतने निकट ला दिया कि तृतीय महायुद्ध के विस्फोट की सम्भावना से विश्व की सम्पूर्ण शान्तिवादी जनता चौकन्नी हो गई।

(3) अविकसित राष्ट्रो को आर्थिक सहयोग

मोलेंकोव और ख्रुश्चेव युग मे सोवियत सघ ने भी अल्प-विकसित देशो को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनायी जो आज तक सोवियत विदेश-नीति का एक प्रमुख अग बनी हुई है। साथ ही सोवियत रूस ने उत्पादन और सैनिक शक्ति मे स्वय को पश्चिमी देशो से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया। 1957 मे स्पूतनिक और 1961 मे 50 मेगावाट बम का निर्माण कर वह राकेटो तथा आणविक शस्त्रो की दौड मे सयुक्त राज्य से भी आगे निकल गया।

(4) उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध

ख्रुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशो तथा असलग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को भी तीव्र कर दिया। उपनिवेशो तथा गुलाम राष्ट्रो को स्वतन्त्र बनाने के सभी प्रस्तावो और आन्दोलनो को प्रबल समर्थन दिया जाने लगा। ख्रुश्चेव के प्रभाव मे आने के उपरान्त से, एशिया और अफ्रीका के अल्प-विकसित या अविकसित देशो और उपनिवेशो के प्रति सोवियत नीति के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्य थे—

(i) भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्द्ध-उपनिवेशी देशो के सन्देश एव राष्ट्रीय सम्मान को अच्छी प्रकार से ध्यान मे रखते हुए इनके प्रति पूरी मित्रता एव सौहार्द दिखाना;

(ii) इन देशो के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धो का फायदा उठाते हुए इन्हे पश्चिम से और भी विमुख कर देना,

(iii) न केवल उपनिवेशवाद-विरोधी वरन् जातिवाद-विरोधी प्रवृत्तियो को भी उभारना;

(iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढावा देना,

(v) औद्योगीकरण द्वारा उनकी अर्थव्यवस्था को विकसित करने की महत्त्वाकांक्षा को सहारा देना, हो सके तो सोवियत एवं पारस्परिक व्यापारो के सम्बन्ध की ओर भुकाना;

(vi) पश्चिम के विरुद्ध उनके प्रत्येक झगडे को उकसाना;

(vii) विदेशी पूँजी या सहायता को उनकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बता कर सन्देह की भावना उभारना;

(viii) उनके सम्मुख सोवियत रूस के तीव्र औद्योगीकरण को आदर्श के रूप प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

सोवियत संघ के शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र हैं—अफ्रीका, एशिया एवं लेटिन अमेरिका।

ख्रुश्चेव ने सोवियत नीति को जो मोड़ दिया वह उनके पतन के बाद भी जारी रहा। बाद के सोवियत नेताओं की नीति ख्रुश्चेववादी ही रही और सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन एवं राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने रूस की सह-अस्तित्व एवं शान्तिवादी नीति को आगे बढ़ाया।

ब्रेझनेव-कोसीगिन काल
(अक्टूबर 1964–दिसम्बर 1980)

ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्टूबर, 1964 में सोवियत संघ का नेतृत्व ब्रेझनेव और कोसीगिन के हाथों में आया। नये नेतृत्व ने ख्रुश्चेवादी नीति अपनाते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में आस्था प्रकट की और साथ ही सोवियत कूटनीति को कुछ नई दिशाएँ भी प्रदान की।

सहअस्तित्व और यात्रा-कूटनीति—सहअस्तित्व और यात्रा-कूटनीति को आगे बढ़ाया गया। जून, 1967 में अमेरिका-रूस शिखर-सम्मेलन हुआ और पश्चिम एशिया के संकट पर संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशन में रूसी प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने भाग लिया। सोवियत नेताओं ने भारत, पाकिस्तान, अमेरिका तथा अरब देशों की यात्राएँ कीं। सोवियत विदेश नीति के विवाद-ग्रस्त पहलुओं की स्पष्ट व्याख्या की गई जिससे समस्याओं के शान्तिपूर्ण निदान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

***ताशकन्द*—सोवियत कूटनीति में नया मोड़**—सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष का अन्त कराने में उल्लेखनीय प्रयास करने के उपरान्त दोनों देशों के बीच झगड़ा सुलझाने के लिए मध्यस्थता करके रूस ने अपनी विदेश नीति के नए पैंतरे से समूचे राजनीतिक विश्व को स्तब्ध कर दिया। सोवियत संघ ने इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में मध्यस्थता के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया था। जनवरी, 1966 में 'ताशकन्द वार्ता' को सफल बनाने में सोवियत कूटनीति अत्यन्त सक्रिय रही और फलस्वरूप 10 जनवरी 1966 की रात्रि के लगभग 9 बजे पाक-राष्ट्रपति अयूब खाँ और भारतीय प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन की उपस्थिति में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसे 'ताशकन्द घोषणा' कहा गया। सोवियत राजनय की सफलता के मूल में प्रमुख कारण थे—(i) भारत और पाकिस्तान को एक निष्पक्ष वातावरण में समझौता वार्ता के लिए अग्रसर करना, (ii) समझौता कराने के प्रश्न को सोवियत

रूस द्वारा अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेना, (iii) सोवियत रूस की भौगोलिक स्थिति और एशिया मे शान्ति बनाए रखने मे उसकी रुचि, एवं (iv) पाकिस्तान को चीन-अमेरिका के शिविर मे जाने से रोकने की प्रबल रूसी उत्कण्ठा।

पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण किन्तु शीघ्र ही भूल-सुधार—रूस के नए नेतृत्व का रूप ताशकन्द-समझौते के उपरान्त कुछ वर्षों तक भारत के प्रति उतना मैत्रीपूर्ण नहीं रहा जितना ख्रुश्चेव के समय था। कश्मीर के प्रश्न पर भी सोवियत रूस मे पाकिस्तान के पक्ष मे कुछ नरमी आई। जुलाई, 1968 मे रूस ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का जो निर्णय किया वह भारत की मित्रता और आशाओं पर एक करारी चोट थी फिर भी भारत का रुख सहनशीलता और 'प्रतीक्षा करो और देखो' का रहा। उधर सोवियत नेता पाकिस्तान की दुरंगी चालो से क्षुब्ध हो गए। उनकी यह धारणा बनी कि अमेरिका, चीन और रूस तीनो मे से पाकिस्तान किसी का विश्वसनीय मित्र नहीं हो सकता। पाकिस्तान ने ताशकन्द-समझौते के जो गम्भीर उल्लंघन किए उससे भी पाकिस्तान की ईमानदारी मे सोवियत नेताओं का विश्वास टूट गया। दूसरी ओर भारत की गम्भीरता और दृढ़ता ने तथा रूस के प्रति अपरिवर्तित दृष्टिकोण ने सोवियत नेताओं को यह अनुभव करा दिया कि रूस के लिए अमेरिका और चीनी खतरे के विरुद्ध भारत जैसे शक्तिशाली व शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों के हाथो मे कितनी सन्तुलनकारी शक्ति है।

भारत और रूस—1949 के अन्त तक भारत और इसके सम्बन्धो मे सुधार होने लगा किन्तु जून, 1950 मे कोरिया-युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत न्याय और निष्पक्षता के पक्ष मे था, अतः उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने मे कोई सकोच नही किया। इससे सोवियत सघ मे भारत के प्रति रोष पैदा हो गया। लेकिन भारत ने सयुक्त राष्ट्रसघीय सेनाओं को 38वीं अक्षांश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के विरुद्ध चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय शक्ति स्वतन्त्र है, पश्चिम के दबाव से प्रेरित नही है। दोनो देश इसलिए भी एक-दूसरे के निकट आए कि सितम्बर, 1951 मे भारत ने जापानी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया क्योंकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकजे मे जकड़ने की एक चाल थी।

मोलेन्कोव और फिर बुल्गानिन-ख्रुश्चेव काल मे भारत और रूस के सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हुए। 1954 मे रूस ने 'पचशील' के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। जून, 1955 मे नेहरू ने सोवियत सघ की यात्रा की तथा रूसियो को अपनी सह-अस्तित्व की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित किया। 1955-56 मे बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो पर दोनों देशों के दृष्टिकोण समान थे। कश्मीर-विवाद पर सोवियत सघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा-परिषद् में भारत-विरोधी पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्तावों पर 'वीटो' का प्रयोग करता रहा। अक्तूबर, 1962 मे चीनी आक्रमण के प्रारम्भ मे भले रूस भारत के लिए

निराशाजनक रहा लेकिन दिसम्बर, 1962 में सुप्रीम सोवियत के सामने श्री ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी हमले की खुली निन्दा की। रूस द्वारा भारत को मिग विमान दिए गए और रूसी सहयोग से मिग विमान का कारखाना भी भारत में स्थापित किया गया।

26 अक्तूबर 1964 को ख्रुश्चेव के पतन के पश्चात् रूस में ब्रेझनेव और कोसीगिन के नए नेतृत्व का उदय हुआ। बाद के कुछ वर्षों में भारत को रूस का वैसा समर्थन नहीं मिल सका जैसा ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया। ताशकन्द-समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया। रूस को अपने 'दिशा-भ्रम' का शीघ्र ही अहसास हो गया और भारत-रूस सम्बन्धों में उत्तरोत्तर विकास होता रहा। बंगलादेश के सम्बन्ध में रूस का दृष्टिकोण भारत-समर्थक था। बंगलादेश के संकट के समय पीकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के निर्माण की सम्भावनाओं और उससे उत्पन्न खतरे को देख कर भारत ने 9 अगस्त, 1971 को सोवियत संघ के साथ मैत्री-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इस तरह भारत और सोवियत संघ चीन-अमेरिकी सम्बन्धों से भविष्य में उत्पन्न होने वाले परिणामों का मुकाबला करने के लिए और अधिक निकट आ गए। सुरक्षा-परिषद् में भी रूस ने पाकिस्तान और उसके 'बड़े आका' अमेरिका के मनसूबों पर पानी फेर दिया। युद्ध के दौरान उसने स्पष्ट चेतावनी दी कि कोई भी विदेशी ताकत हस्तक्षेप करने का दुस्साहस न करे। इतना ही नहीं, जब अमेरिका का सातवाँ बेड़ा 'रहस्यमय इरादे' से बंगाल की खाड़ी की ओर चल पड़ा तो रूस ने भी हिन्दमहासागर में अपने युद्धपोत इस दृष्टि से तैयार कर दिए कि भारत के विरुद्ध अमेरिका द्वारा नौ-सैनिक कार्यवाही करने पर उसका उचित उत्तर दिया जाए। नवम्बर, 1973 में ब्रेझनेव भारत आए। 30 दिसम्बर, 1973 को भारत और सोवियत संघ के बीच एक 15 वर्षीय आर्थिक और व्यापारिक समझौता हुआ। यह निश्चय प्रकट किया गया कि 1980 तक दोनों देशों के बीच व्यापार को डेढ़ गुना या दुगुना बढ़ा दिया जाएगा। 1975 और 1976 के दौरान आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में पारस्परिक सम्पर्क और सहयोग का विकास हुआ। कुछ समझौते भी किए गए। जून, 1976 में श्रीमती गाँधी ने सोवियत संघ की यात्रा की। संयुक्त विज्ञप्ति पारस्परिक सहयोग और नीति-मतैक्य की द्योतक थी।

मार्च, 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी। अप्रैल, 1977 में नए भारतीय नेतृत्व से विचार विनिमय के लिए सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको भारत आए। इस यात्रा के दौरान आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग, व्यापार एवं दूरसंचार सम्बन्धों की स्थापना से सम्बन्धित तीन समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में दोनों देशों के समान विचार पाए गए।

अक्तूबर, 1977 मे प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री सोवियत सघ की राजकीय यात्रा पर गए। यह महत्त्वपूर्ण समझा गया कि आपसी मित्रता को न सिर्फ कायम रखा जाए बल्कि इसे और मजबूत किया जाए। इस बात पर भी सहमति हुई कि वर्ष 1978 के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था और द्विपक्षीय व्यापार आदान-प्रदान के विभिन्न क्षेत्रो मे परस्पर लाभपूर्ण आर्थिक सहयोग के लिए दीर्घकालिक कार्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। सयुक्त विज्ञप्ति मे भारत और सोवियत सघ ने शस्त्रो के लिए दौड को समाप्त करने, आणविक युद्ध को टालने और नि.शस्त्रीकरण समझौता कराने के काम को महत्त्वपूर्ण बताया। दोनो पक्षो ने यह माना कि एशियायी देशो के बीच आपसी लाभ के सहयोग को अवश्य बढावा दिया जाना चाहिए और इस क्षेत्र मे शान्ति और स्थिरता को मजबूत बनाने के लिए इसका विस्तार किया जाना चाहिए। हिन्दमहासागर मे शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की इच्छा का समर्थन किया। दोनो पक्षो ने हिन्दमहासागर से सभी वर्तमान सैनिक अड्डो को हटाने और नए अड्डे बनने पर रोक लगाने की माँग की।

पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशो के प्रति सोवियत-नीति—रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत पर अपना प्रभाव बनाए रखने की नीति पर चलता रहा ताकि वहाँ से पश्चिमी यूरोपीय राजनीति मे प्रभावपूर्ण ढग से हस्तक्षेप किया जा सके। अत. पूर्वी यूरोप के देशो मे पनप रही सोवियत-विरोधी प्रवृत्तियो का सामना करने के लिए उसने वारसा पैक्ट को पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तथा सुदृढ बना लिया। 1967 से ही चेकोस्लोवाकिया मे उदारवादी प्रवृत्ति जोर पकडने लगी। जनवरी, 1968 मे दुबचेक के नेतृत्व मे चेकोस्लोवाकियाई साम्यवादी दल ने समाजवादी लोकतन्त्रीकरण का सिद्धान्त स्वीकार करके उदारवाद के पक्ष मे बहुत से सुधार प्रस्तावित किए। जब चेकोस्लोवाकिया के नेताओं ने रूसी नाराजगी की कोई परवाह नही की तो 21 अगस्त, 1968 की रात्रि को सोवियत रूस तथा वारसा पैक्ट के चार अन्य देशो—पोलैण्ड, हगरी, पूर्वी जर्मनी और बल्गेरिया की शक्तिशाली सेनाओ ने चेकोस्लोवाकिया पर हमला करके कुछ ही घण्टो मे राजधानी प्राग सहित अन्य बडे नगरो पर अधिकार कर लिया। आखिर काफी विचार-विमर्श के बाद मास्को मे दोनो पक्षो के बीच एक समझौता हुआ जिसमे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि चेकोस्लोवाकिया सरकार ने वचन दिया कि वह चेकोस्लोवाकिया मे समाजवाद को सुदृढ बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी। सितम्बर, 1968 के मध्य तक प्राग से सोवियत सेनाएँ वापस लौट गईं। अप्रेल, 1969 मे दुबचेक के नेतृत्व का अन्त हो गया और सोवियत-समर्थक सरकार का निर्माण हुआ।

कम्युनिस्ट देश भी अपने पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार करने को प्रेरित हुए। यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो एक लम्बे अन्तराल के बाद अगस्त, 1977 मे राजकीय यात्रा पर सोवियत संघ गए और वहाँ उत्तर कोरिया होते हुए 30 अगस्त को पहली बार चीन पहुँचे। सोवियत सघ टीटो से सवाद स्थापित करने की पहल कर चुका था। ब्रेझनेव ने सितम्बर, 1977 को अपनी बेलग्रेड यात्रा

के अवसर पर आश्वासन को दोहराया कि सोवियत संघ यूगोस्लाविया की स्वाधीनता का आदर करता रहेगा और यात्रा के बाद जारी की गई विज्ञप्ति में दोनों देशों के बीच 'स्वैच्छिक सहयोग' की बात अंकित की गई। सोवियत संघ ने एक तरह से समाजवाद का अपना मार्ग अपने-आप तय करने के यूगोस्लाविया के आग्रह को भी मान्यता दे दी।

मार्शल टीटो विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को विघटन से बचाने के लिए चीनी और रूसी नेताओं से गम्भीर विचार-विमर्श के पक्ष में थे। उन्हें यह नागवार था कि दुनिया का साम्यवादी आन्दोलन तीन भागों में बँट जाए—सोवियत साम्यवाद, माओवादी, तथा यूरोपीय साम्यवाद।

लेटिन अमेरिका तथा अफ्रीका के सम्बन्ध में सोवियत नीति—सोवियत संघ ने अपना ध्यान यूरोप और एशिया की ओर केन्द्रित कर रखा है। लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के सम्बन्ध में उसकी विदेश नीति विशेष सक्रिय नहीं है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका भौगोलिक दृष्टि से सोवियत संघ से बहुत दूर हैं। द्वितीय, इन क्षेत्रों में स्थित कांगो, क्यूबा, घाना, सूडान आदि देशों में उसे यह कटु अनुभव हो गया है कि साम्यवाद का स्वागत करने के लिए लेटिन अमेरिकी और अफ्रीकी देश अभी पूर्ण रूप से तैयार नहीं हैं।

रूस एवं अमेरिका तथा पश्चिमी गुट—ब्रेझनेव-कोसीगिन-युग के रूस ने अमेरिका और पश्चिमी गुट के साथ अवसरानुकूल शीतयुद्ध को उभार देकर भी स्टालिन के समान स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास नहीं किया। उत्तरी कोरिया में जॉनसन और निक्सन प्रशासन के समय हुए अमेरिकी जासूसी काण्डों के समय भी सोवियत रूस ने संयम ही प्रदर्शित किया। वियतनाम-समस्या पर भी रूस का यही रुख रहा कि वार्ता द्वारा समस्या का समाधान हो जाए। उत्तर वियतनाम को विशाल सैनिक सहायता देते हुए भी रूसी नेताओं ने ऐसा कोई वातावरण पैदा नहीं किया जिससे अमेरिका के साथ समझौता-वार्ता के द्वार बन्द हो जाएं। वियतनाम में युद्ध-विराम में भी सोवियत कूटनीति का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। दोनों देशों के नेताओं द्वारा सहयोगपूर्ण रुख अपनाने के फलस्वरूप ही सितम्बर, 1971 में बर्लिन समझौता सम्पन्न हो सका था। मई, 1972 में अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की मास्को-यात्रा अपने-आप में एक ऐतिहासिक घटना थी। किसी भी अमेरिकी राष्ट्रपति की सोवियत संघ को यह पहली यात्रा थी और इस प्रथम यात्रा के दौरान ही दोनों देशों के बीच कई महत्त्वपूर्ण सन्धियों पर हस्ताक्षर हुए। सबसे महत्त्वपूर्ण 'भीषण शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि' (Strategic Arms L'm tation Treaty—SALT) थी जिसमें दोनों महाशक्तियों ने एक-दूसरे की शक्ति के सामने झुकते हुए भय मिश्रित आत्म-विश्वास का एक नया सन्तुलन कायम किया। अगस्त, 1972 में सोवियत संघ ने भारी मात्रा में गेहूँ खरीदने के लिए अमेरिका से एक दीर्घकालीन समझौता किया और 18 अक्तूबर, 1972 को दोनों देशों के बीच हुई एक व्यापारिक सन्धि में रूस ने सहमति प्रकट की कि द्वितीय महायुद्ध के समय उसने अमेरिका से जो उधार

पट्टा कृष्ण लिया था उस राशि को वह चुका देगा। एक अन्य सन्धि में यह तय हुआ कि अगले तीन वर्षों में दोनों देशों के आपसी व्यापार में तीन गुना वृद्धि कर दी जाएगी। ये दोनों व्यापारिक सन्धियाँ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थीं कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही दोनों देशों के बीच आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध नगण्य थे।

जून, 1973 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने अमेरिका की नौ दिवसीय यात्रा की। इस अवसर पर भी दोनों देशों के बीच कुछ महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। सिद्धान्त यह स्वीकार कर लिया गया कि 1974 तक दोनों महाशक्तियाँ परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर स्थायी रोक लगा देंगी और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में सहयोगपूर्वक काम करेंगी—एक सन्धि जिसका उद्देश्य परमाणु युद्ध को रोकना था। सन्धि के अन्तर्गत दोनों पक्षों की ओर से यह सकल्प किया गया कि उनमें से कोई भी परमाणु युद्ध नहीं करेगा, परस्पर एक-दूसरे को अथवा साथी देशों या अन्य देशों को न तो धमकी देगा और न ही बल का प्रयोग करेगा। अगस्त, 1973 में दोनों के बीच पुन एक समझौता हुआ जिसके अनुसार 1975 में दोनों देशों द्वारा संयुक्त अन्तरिक्ष उड़ानों का कार्यक्रम चालू करने का निश्चय किया गया। जून, 1974 में राष्ट्रपति निक्सन ने पुन सोवियत संघ की यात्रा की और इस अवसर पर भी दोनों देशों के बीच कुछ समझौते सम्पन्न हुए। नवम्बर, 1974 के ब्लाडीवोस्टोक में फोर्ड-ब्रेझनेव शिखर-वार्ता हुई। जुलाई, 1975 में अपोलो सोयुज संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम में दोनों ने सहयोग किया। 1980 के मध्य तक दोनों देशों के सम्बन्ध, बावजूद सामयिक उत्तेजनाओं के समय और सुधार का दिशा-सकेत देते रहे, तथापि सम्बन्धों में उतनी सौहार्द्रता नहीं दिखाई दी, जितनी निक्सन और फोर्ड-प्रशासन के दौरान रही थी। क्यूबा में सोवियत सलाहकारों की उपस्थिति, अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों के प्रवेश आदि की घटनाओं को लेकर दोनों देशों के बीच कटुता बढ़ी और मतभेद तीव्र हुए, लेकिन दोनों ही पक्षों ने सयम और सहनशीलता की राजनीति अपनाकर विश्व-शान्ति बनाए रखने में योग दिया। 8 जनवरी 1980 को अमेरिका द्वारा 17 रूसियों के निष्कासन को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव अधिक बढ़ गया और उसी दिन सुरक्षा परिषद् द्वारा अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पर रूस ने अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग किया, तथापि 15 जनवरी, 1980 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर दिया। अफगानिस्तान में, वहाँ की सरकार के आग्रह पर सोवियत सैनिक शक्ति बड़ी मात्रा में टिकी रही तथापि इस मुद्दे पर रूस-अमेरिका के बीच तनाव उतना तीव्र नहीं रहा जितना पहले था। ईराक-ईरान युद्ध में दोनों देशों ने अहस्तक्षेप की नीति अपनायी। अक्तूबर, 1980 में कार्टर ने यह विश्वास व्यक्त किया कि सोवियत सघ खाड़ी क्षेत्र में युद्ध को बढ़ावा देना नहीं चाहता, तथापि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि सोवियत सघ के ईरान अथवा खाड़ी को नियन्त्रित कर सकने वाले किसी भी क्षेत्र में दखल करने से अमेरिकी सुरक्षा को सर्वाधिक खतरा उत्पन्न होगा।

यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के साथ भी सोवियत रूस ने सम्पर्क और सहयोग-सूत्र विकसित करने के प्रयत्न जारी रखे। जून, 1973 में ब्रेझनेव फ्रांस में राष्ट्रपति पोम्पिदू से मिले। अक्तूबर, 1975 में फ्रांस के राष्ट्रपति वालेरी जिस्कार द एस्तें ने सोवियत संघ की राजकीय यात्रा की। इन यात्राओं से दोनों देशों के दृष्टिकोण में अधिक निकटता आई। जून, 1977 में सोवियत साम्यवादी पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति का पद भी सम्भाल लिया। राष्ट्रपति बनने के बाद ब्रेझनेव की सबसे पहली यात्रा पेरिस की थी। अमेरिका और रूस के सम्बन्धों में जो दुराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी उसको देखते हुए ब्रेझनेव ने एक बार, फिर फ्रांस के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की। फ्रांस का यह रुख भी स्पष्ट था कि वह रूस को यूरोप में एक महत्त्वपूर्ण मित्र और भागीदार मानता है। फ्रांस के अलावा पश्चिम जर्मनी के साथ भी रूस के सम्बन्ध सुधरे।

रूस तथा कुछ अन्य देश एवं क्षेत्र—बंगला देश के प्रति रूस की आरम्भ से ही सहानुभूति रही। बंगला देश के मुक्ति संघर्ष में रूस ने अपना नैतिक और राजनीतिक समर्थन दिया और रूस ने बंगला देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में रुचि लेकर पारस्परिक आयात-निर्यात सम्बन्धी समझौता भी सम्पन्न किया। विश्व-संस्था में बंगला देश के प्रश्न पर जो संघर्ष हुआ उसमें रूस ने बंगला देश को पूर्ण समर्थन दिया। जापान के साथ भी सम्बन्ध-सुधार के लिए रूस प्रयत्नशील रहा। जापान में भी इस धारणा को बल मिला कि सोवियत संघ के साथ आर्थिक सहयोग जापान के हित में है। भूमध्य सागर में रूस की रुचि अधिकाधिक बढ़ती गई। रूस की आकांक्षा रही कि वह भूमध्य सागर के तटवर्ती देशों की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था पूर्वी यूरोप के देशों जैसी ही बना दे ताकि इन देशों के साथ मास्को के सम्बन्ध पूर्वी यूरोप के देशों जैसे हो जाएँ। भूमध्य सागर में अधिकाधिक प्रवेश से सोवियत संघ ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में काफी वृद्धि कर ली।

एशिया में अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए सोवियत कूटनीति ने 'ब्रेझनेववाद' को अपनाया। यह विचार 1969 में सोवियत नेता ब्रेझनेव ने रखा था जिसमें अस्पष्ट रूप से एशियायी देशों के लिए एक सुरक्षा योजना प्रस्तुत की गई थी। 1972 में इस योजना को पुनः रखा गया और अफगान प्रधान मन्त्री के स्वागत पर बोलते हुए कोसीगिन ने कहा—"एशिया की सुरक्षा का सही रास्ता सैनिक गुट नहीं है और न ही कुछ राष्ट्रों द्वारा दूसरे राष्ट्रों का विरोध करना है, बल्कि यह रास्ता देशों के बीच अच्छे पड़ौसी का वातावरण पैदा करना है।" पर साथ ही उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि शान्ति स्थापित करने का सोवियत संघ का रास्ता सबसे अच्छा है। उन्होंने कहा कि सोवियत विदेश-नीति की सबसे महत्त्वपूर्ण दिशा राष्ट्रों की आजादी और स्वशासन का अतिक्रमण करने वाला साम्राज्यवादियों को पराजित करने के लिए युद्ध और संघर्ष-स्थलों को समाप्त करता है। इस व्याख्या से यह आभास हुआ कि रूसी नेताओं का सुरक्षा-सिद्धान्त का नया 'पंचशील' होने के

बावजूद सैनिक हस्तक्षेप या सैनिक हल से रहित नहीं है। एशियायी राजनीतिक क्षेत्रों में *यह आशंका बनी रही कि यद्यपि ब्रेझनेव-सिद्धान्त में एशियायी सुरक्षा व्यवस्था* निहित है और साथ ही इसके लक्ष्य अमेरिका और चीन भी हैं तथा रूस हिन्द महासागर में अपने प्रभाव का आकांक्षी है। भारत ने भी इस योजना के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया। वास्तव में रूस का एशिया सुरक्षा सिद्धान्त अभी कोई साकार रूप नहीं ले सका है।

वियतनाम युद्ध में साम्यवादी शक्तियाँ उत्तरी वियतनाम की पीठ पर थी। सोवियत रूस ने वियतनाम को भरपूर सैन्य सामग्री पहुँचाई। अनुमानतः उत्तर वियतनाम को दी जाने वाली सैन्य-सहायता में रूस का भाग 80 प्रतिशत और चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों का लगभग 20 प्रतिशत था। सोवियत नीति वियतनाम संघर्ष के शान्तिपूर्ण समाधान की थी। रूस-अमेरिका के समझौतावादी रुख और वियतनाम के सम्बन्धित पक्षों के विवेक के फलस्वरूप ही वियतनाम-युद्ध का अन्त हो गया।

पश्चिम एशिया में अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए रूस और अमेरिका दोनों ही प्रयत्नशील रहे। रूसी नीति अरब राष्ट्रों को कूटनीतिक, आर्थिक और सैनिक सहयोग देने की रही जबकि अमेरिका ने इजराइल को हर प्रकार की मदद दी। कुल मिलाकर पश्चिम एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव में धीरे-धीरे परिवर्तन आया। ख्रुश्चेव काल में सोवियत संघ को 'अरब हितों का संरक्षक' समझा जाता था, किन्तु *1967* के अरब-इजराइल युद्ध में अरब राष्ट्रों के पराजय के कारण सोवियत कूटनीति को काफी आघात लगा। इस युद्ध में अरब राष्ट्रों ने सोवियत संघ पर दबाव डाला था कि वह युद्ध में हस्तक्षेप करे, परन्तु वह युद्ध में नहीं कूदा था। अरबों का पुन. विश्वास प्राप्त करने के लिए मई, 1971 में सोवियत संघ ने *मिस्र के साथ एक 15 वर्षीय पारस्परिक सुरक्षा समझौता किया, किन्तु* अगले वर्ष ही सोवियत संघ और मिस्र के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो गया और राष्ट्रपति सादात ने रूस के सैनिक विशेषज्ञों को मिस्र छोड़ने का आदेश दिया। बिगाड़ का यह दौर अधिक नहीं चला और जब अक्तूबर, 1973 में चौथा अरब-इजराइल युद्ध हुआ तो अरबों ने रूसी शस्त्रास्त्रों की सहायता से अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली। आगे चलकर तनाव पुनः पैदा हो गया। अरब-इजरायल समस्या के समाधान में अमेरिका रूस से बाजी मार ले गया और सितम्बर, 1975 में वह दोनों पक्षों के बीच एक अन्तरिम समझौता कराने में सफल हुआ। मार्च, 1976 में सादात ने रूस के साथ 15 वर्षीय मैत्री सन्धि को भंग कर दिया। मिस्र के साथ तनाव के बावजूद *लीबिया, सीरिया. जोर्डन, कुवैत आदि अन्य राष्ट्रों के साथ रूस की निकटता में* वृद्धि हुई और ये राष्ट्र रूस से भारी मात्रा में सैनिक तथा आर्थिक सहायता प्राप्त करते रहे। सितम्बर, 1978 में अमेरिका में कैम्प डेविड में कार्टर की उपस्थिति में जो बेगिन-सादात समझौता हुआ उससे यह पुन. स्पष्ट हो गया कि अमेरिका पश्चिम-एशिया में रूसी प्रभाव को कम करने की दिशा में आगे बढ़ा है। आज

पश्चिमेशिया में रूस की तुलना में अमेरिका का प्रभाव अधिक है। मिस्र-अमेरिका सम्बन्धों में सुधार के साथ-साथ मिस्र-रूस सम्बन्ध शिथिल हो गए हैं।

सोवियत-संघ और टर्की में भी मधुर सम्बन्धों की शुरुआत हुई। दिसम्बर, 1975 में सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन लगभग 10 वर्ष के अन्तराल के बाद पुन. टर्की गए। सोवियत प्रधानमन्त्री ने टर्की के भूमध्यसागरीय बन्दरगाह सिकन्दरिया में सोवियत सहायता से निर्मित इस्पात सयन्त्र का उद्घाटन किया। रूस के साथ मैत्री के शुभारम्भ के बावजूद टर्की और अमेरिका के बीच मैत्री सम्बन्ध फीके नहीं पड़े और मार्च, 1976 में दोनों देशों के बीच एक चार-वर्षीय सैनिक समझौता हुआ। टर्की के प्रधान मन्त्री ने 1978 के मध्य मास्को-यात्रा की जिससे दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में और भी निकटता आई है।

कोसीगिन के बाद नवम्बर 1980 से मार्च 1982 तक सोवियत विदेश-नीति

अक्तूबर, 1980 में सोवियत संघ के 76 वर्षीय प्रधान मन्त्री श्री अलेक्सेयी कोसीगिन के अवकाश ग्रहण करने के बाद श्री निकोलाई तिखोनोव सर्वोच्च सोवियत के 1500 सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से नये प्रधान मन्त्री चुने गये। इस प्रकार अब ब्रेझनेव तिखोनोव काल शुरू हुआ। नये नेतृत्व के अन्तर्गत मार्च 1982 तक सोवियत विदेश-नीति में कोई नया दिशा-परिवर्तन नहीं हुआ और विश्व के विभिन्न देशों, क्षेत्रों तथा समस्याओं के प्रति सोवियत रूस लगभग वही रहा जो ब्रेझनेव-कोसीगिन काल में रहा था। नवम्बर 1980 से मार्च 1982 तक सोवियत विदेश-नीति की कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार रहीं—

(i) ब्रिटिश सूत्रों के अनुसार सोवियत संघ ने सीरिया को इजरायल के परमाणु आक्रमण के किसी भी खतरे से बचाने का आश्वासन दिया।

(ii) 23 फरवरी, 1981 को क्रेमलिन में सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं काँग्रेस में सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने नये अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन से मिलकर वार्ता का प्रस्ताव किया। उन्होंने अपने भाषण में अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर अधिक बल देते हुए एक आठ सूत्री योजना प्रस्तुत की, जो इस प्रकार है—

1. सेना, नौसेना और वायुसेना के अभ्यास और सचालन को नियमित करने के बारे में कहा गया है कि सोवियत संघ यूरोपीय भाग से अपने सैनिक हटा सकता है बशर्ते पश्चिमी राष्ट्र भी इस तरह के विश्वास का आश्वासन दे।

2. सुदूर पूर्व के देशों के बारे में सभी सम्बन्धित देशों के साथ सोवियत संघ ठोस वार्ता के लिए तैयार है।

3. अफगानिस्तान के प्रश्न पर हमें वार्ता से इन्कार नहीं, बशर्ते फारस की खाड़ी के सुरक्षा सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर भी विचार-विमर्श हो। इस क्षेत्र में विदेशी सैनिकों की उपस्थिति नहीं रहनी चाहिए।

4. जहाँ तक सामरिक अस्त्र परिसीमन सन्धि (साल्ट) का प्रश्न है। हम अविलम्ब अमेरिकी प्रशासन से वार्ता के लिए तैयार हैं। जिन क्षेत्रों में निश्चित परिणाम प्राप्त किए जा चुके हैं सोवियत संघ उसे वार्ता पटल पर रखना चाहेगा।

सैन्य-सामग्री और विमान देकर इस उप-महाद्वीप में शक्ति-सन्तुलन को बिगड़ने नहीं देगा।

सोवियत विदेश-नीति का मूल्यांकन

युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलताओं में सोवियत विदेश-नीति अभी तक जितनी सफल और प्रभावकारी रही है, उतनी अमेरिकी विदेश-नीति नहीं। पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पूर्वी यूरोप आदि सभी क्षेत्रों में सोवियत रूस ने अपना प्रभाव बढ़ाया है और अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों की चुनौतियों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया है। महायुद्ध के बाद तीन वर्षों में ही सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप को लाल बना देने में सफलता प्राप्त की। पश्चिमी एशिया में अरब जगत पर सोवियत रूस आश्चर्यजनक ढंग से छा गया और भारत तो उसका प्रगाढ़ मित्र है। भारत के साथ रूसी मैत्री की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रूस ने भारत की गुट-निरपेक्षता को पूरा सम्मान देते हुए उसकी मित्रता स्वीकार की है। भूमध्यसागर और हिन्द महासागर में सोवियत नौ-शक्ति का प्रभावी वर्चस्व है। जापान के साथ भी रूस के सम्बन्ध मधुर बनते जा रहे हैं और दोनों पक्षों में आर्थिक सहयोग की नींव पर राजनीतिक सम्बन्धों का महल खड़ा किया जाने लगा है। पश्चिमी जर्मनी से समझौता करके भी रूस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की है। फ्रांस गत कुछ वर्षों से रूस के पक्ष में जितना झुका है यह स्थिति अमेरिकी गुट की अपेक्षा रूस के लिए अधिक उत्साहवर्द्धक है। अमेरिका के अतिरिक्त केवल चीन ही रूसी विदेश-नीति के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, लेकिन अमेरिका और रूस में पर्दे के पीछे परस्पर सहयोग और सहअस्तित्व की जो गुप्त वार्ताएँ चल रही हैं उनसे अधिकतर यही अनुमान है कि निकट भविष्य में चीन रूस के साथ प्रतिद्वन्द्विता त्याग कर पुनः सहयोग की नीति का अनुसरण करने लगेगा। भारत जिस शक्तिशाली रूप में उभरा है उससे भी चीन की मनोवृत्ति में परिवर्तन होगा, इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

सोवियत संघ के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के नारे पर अनेक राजनीतिक क्षेत्रों में सन्देह प्रकट किया जाता है, लेकिन यदि हम अमेरिका के रवैये को देखें तो शायद रूस से भी अधिक सन्देह उस पर किया जाना चाहिए। बंगला देश के लोकतान्त्रिक जन-आन्दोलन को कुचलने में अमेरिका ने जो लज्जाजनक भूमिका अदा की, वह अमेरिकी लोकतन्त्र के नाम पर कलंक है। भारत के न्यायोचित पक्ष का गला घोटने और युद्ध-पिपासु पाकिस्तानी तानाशाहों को हथियारों से लैस करने में भी अमेरिका की भूमिका निन्दनीय रही है। फिर आज का युग आणविक अस्त्रों का युग है जिसमें युद्ध की दशा में परमाणु अस्त्र न विजेता की लाज रखेंगे न विजित की, अतः सह-अस्तित्व का विकल्प सह-विनाश ही रह गया है और शायद कोई भी महाशक्ति इस मार्ग को अपनाना पसन्द नहीं करेगी। यही कारण है कि चीनी अजगर जो युद्ध की फूंकारें मारता था, अब युद्ध और शान्ति की मिश्रित फूंकारें छोड़ने लगा है।

16 संयुक्तराज्य अमेरिका का महाशक्ति के रूप में उदय और उसकी विदेश नीति

(Rise of U. S. A. as Super Power and Its Foreign Policy)

"इस दस्तावेज में जो बुनियादी सिद्धान्त निरूपित किए गए हैं वे उन उत्तरदायित्वों के लिए बाधक साबित नहीं होंगे जो अमेरिका और सोवियत संघ अन्य देशों के बारे मे पहले स्वीकार कर चुके हैं।"

—संयुक्त घोषणा, मास्को-शिखर वार्ता, 1972

द्वितीय महायुद्ध इतना व्यापक और प्रभावकारी था कि इसके अन्त के साथ ही *विश्व-इतिहास के एक युग का अन्त हो गया। एक नूतन युग का सूत्रपात* हुआ जिसमे अनेक राज्य उभरे, नई महाशक्तियों का उदय हुआ, प्रभुत्व-क्षेत्र बदले, नई प्रवृत्तियों और नए सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक यूरोप विश्व-इतिहास का निर्माता था। 1942 मे कोलम्बस द्वारा नई दुनिया अर्थात् अमेरिका की खोज से लेकर 1939 तक के युग को विश्व-इतिहास का यूरोपीय युग कहा जाता है। लेकिन महायुद्ध ने इस 'यूरोपीय' युग का अन्त कर दिया। महायुद्ध ने यूरोप को आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक सभी दृष्टियों से पंगु बना दिया। महायुद्ध के बाद का यूरोप एक 'समस्या-प्रधान यूरोप' (A Problem Europe) बन गया। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए तथा ब्रिटेन और फ्रांस तृतीय श्रेणी के राष्ट्र बन गए। विश्व-नेतृत्व यूरोप *के हाथों से निकल कर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के हाथों में आ* गया। महायुद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महाशक्तियाँ रह गई हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ अब ये दोनों ही देश प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप मे उदित हुए और युद्धोत्तर विश्व तेजी से इनके प्रभाव-क्षेत्रों में बँटने लगा। दोनों राष्ट्र मानव-चिन्तन की दो प्रबल विचारधाराओं के प्रतीक बन गए। सोवियत संघ साम्यवादी विचारधारा का प्रतिनिधि बना तो संयुक्त राज्य अमेरिका

लोकतन्त्रवादी आकांक्षाओं का पक्षधर बन गया। दो शिविर प्रकट हुए—संयुक्तराज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी शिविर और सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी शिविर।

संयुक्त राज्य अमेरिका का महाशक्ति के रूप में उदय
(Rise of U. S. A. as Super Power)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेते हुए ही हमें देखना होगा कि द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय 'एक महाशक्ति' के रूप में किस प्रकार हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका महायुद्ध के पूर्व से ही एक समृद्ध और शक्तिसम्पन्न देश था, लेकिन उसे 'महाशक्ति' का वह स्तर प्राप्त नहीं था जो युद्धोत्तरकाल में प्राप्त हुआ। *द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक वह यथासम्भव पृथकतावादी नीति का* अनुसरण करता रहा। राष्ट्रपति जैफरसन ने 1801 की इस नीति को इन शब्दों में स्पष्ट किया था—"शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ झंझट पैदा करने वाली सन्धियां किसी के साथ नहीं।" इसका आशय यही था कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करेगा लेकिन यूरोपीय राजनीति के जाल में नहीं फंसेगा। 1823 में अमेरिका की विदेशनीति में सुप्रसिद्ध 'मुनरो सिद्धान्त' (Munroe Doctrine) का प्रवेश हुआ। राष्ट्रपति मुनरो ने एक ओर तो यह कहा कि अमेरिका यूरोपीय विवादों से पृथक् रहेगा, लेकिन दूसरी ओर यूरोपीय राज्यों को यह चेतावनी भी दी कि वे अमेरिका महाद्वीप में साम्राज्यवादी चेष्टाओं से दूर रहें। यदि अमेरिकी गोलार्द्ध में हस्तक्षेप किया गया तो इसे संयुक्त राज्य अमेरिका अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। दूसरे शब्दों में, मुनरो सिद्धान्त का अर्थ था—"तुम पृथक् रहो, हम भी पृथक् रहेंगे।" प्रथम महायुद्ध तक मुनरो सिद्धान्त और पृथकतावादी नीति का मेल भली-भांति चलता रहा, लेकिन महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर अमेरिका के लिए परम्परागत नीति पर चलते रहना सम्भव नहीं रहा। प्रारम्भ में तटस्थ रहने के बाद अमेरिका भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में कूद पड़ा। 6 अप्रेल, 1917 को अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार 1793 से चली आ रही पृथकतावादी एवं तटस्थतावादी अमेरिकी नीति *का* पहली बार सम्पूर्ण रूप में *परित्याग* हुआ। अमेरिकी सैन्य-शक्ति ने युद्ध का पासा पलट कर जर्मनी की भीषण पराजय को निश्चित बना दिया। विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया और 11 नवम्बर, 1918 को जर्मनी ने बिना शर्त आत्मसमर्पण करते हुए विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए।

दो महायुद्धों के बीच अमेरिका

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद राष्ट्रपति विल्सन ने अपने देश को अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मार्ग पर चलाना चाहा, लेकिन अमेरिकी कांग्रेस इस बात के लिए तैयार नहीं हुई। सीनेट के विरोध के कारण अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य तक नहीं बन सका। इस प्रकार अमेरिका में पृथकतावादी नीति का पुनरोदय हुआ।

विल्सन ने निराशापूर्ण शब्दों में कहा : "हमें विश्व नेतृत्व करने का अवसर प्राप्त हुआ था, किन्तु हमने इसे खो दिया तथा शीघ्र ही हमें इन सबका दुष्परिणाम ज्ञात हो जाएगा।"

यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका ने पृथक्तावादी नीति को अपनाया तथापि इसके कारण उसका प्रभाव विश्व राजनीति में कम नहीं हुआ। अवश्य ही यदि उसने सक्रिय रूप से भाग लिया होता तो उसका प्रभाव और भी बढ़ जाता। वास्तव में अमेरिका की शक्ति अनेक तत्त्वों पर आधारित थी, जैसे प्राकृतिक साधन, औद्योगिक तकनीकी तरीके, उद्यमी एवं साहसी जनता की गत्यात्मक प्रकृति, आदि। केवल यही सब कुछ नहीं था। युद्ध के समय माँग के कारण उत्पादन एवं आविष्कार की गति पर्याप्त तेज हो गई थी। विश्वव्यापी व्यापार की व्यवस्था के कारण अमेरिकी-वाणिज्य को नए विदेशी बाजार स्थापित करने के अवसर एवं क्षमता प्राप्त हुई। विश्व की वित्तीय राजधानी लन्दन की अपेक्षा वाशिंगटन बन गई। 1930 तक अमेरिका के व्यापार और वित्त की स्थिति पर्याप्त एकीकृत हो गई।

वस्तुतः अमेरिका दुनिया के आर्थिक और वित्तीय मामलों में एक प्रभावशाली योगदान कर रहा था। वह यूरोप के पुनर्निर्माण में कर्ज और भेंट प्रदान कर रहा था। व्यक्तिगत एवं सरकारी अभिकरणों की राहत के लिए एवं पुनर्रचना के लिए प्रचुर धन खर्च किया जा रहा था। अमेरिका द्वारा जर्मनी, फ्रांस और इटली की उनकी साख बनाए रखने के लिए पर्याप्त मदद दी गई। इसके साथ ही स्थानीय सरकार की इकाइयों, सार्वजनिक उपयोगिताओं एवं व्यक्तिगत नियमों को कर्ज देने की व्यवस्था की गई। इस देश ने पौलैण्ड में रेल निर्माण के लिए यूगोस्लाविया में बन्दरगाह निर्माण के लिए तथा आस्ट्रिया में गृह निर्माण के लिए सहायता की। मध्यपूर्व में तेल के नए कुएँ खोदने के लिए, क्यूबा में चीनी के नए उद्यम स्थापित करने के लिए, टोकियो तथा शंघाई में सार्वजनिक उपयोगिताओं के विकास के लिए पर्याप्त डॉलर खर्च किया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका को सोवियत रूस से भी पर्याप्त आर्थिक लेन-देन रहा। वैसे अमेरिका ने 1933 तक सोवियत रूस को कूटनीतिक मान्यता प्रदान नहीं की थी, तथापि व्यापार के नए बाजार खुलना नहीं रुक सका।

वास्तव में शुरू से ही अनेक कारणोंवश अमेरिका की शक्ति और महत्ता बढ़ती चली गयी :

1. अमेरिका के अपने उपनिवेश थे, अपना एक साम्राज्य था। इससे विश्व में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण बन गया। अमेरिका का दक्षिण की दिशा में लेटिन अमेरिकन राज्यों पर और पश्चिम की ओर एशियायी तटों पर पर्याप्त प्रभाव था। इस महाद्वीप में उसकी स्थिति सर्वोच्च थी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण वर्जिन द्वीप-समूह डेनमार्क से खरीद लिए गए थे। पनामा नहरी क्षेत्र पर 908 में अमेरिका का नियन्त्रण था। क्यूबा में उसका एक महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डा था। पनामा

गणराज्य, निकारागुआ, हेट्टी तथा डोमिनिकन गणराज्य बहुत कुछ संरक्षक राज्य की स्थिति में थे। प्रशान्त क्षेत्र में सयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी रक्षा के लिए एल्यूसियन महाद्वीपों से हवाई होते हुए पनामा नहर क्षेत्र तक एक पंक्ति की स्थापना की। बाद में विलियम मिचेल ने 1935 में यह दृष्टिकोण व्यक्त किया था कि वायु शक्ति एलास्का की धरती को सबसे अधिक सामरिक महत्व का स्थान बना देगी और जो कोई भी एलास्का पर अधिकार रखेगा वह सारी दुनिया पर शासन करेगा। सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रशान्त क्षेत्र के उपनिवेशों में हवाई का सम्बन्ध घनिष्ठ था। जब से इसे स्पेन-अमेरिकी युद्ध में लिया था तब से इसको सामरिक एवं आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया। अमेरिका से दूर स्थित सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं कष्टदायक समुद्रपारीय प्रदेशों में फिलिपाइन द्वीप-समूह था। यह आशा की गयी कि इनके द्वारा सयुक्त राज्य अमेरिका को प्रशान्त महासागर में नौसैनिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता प्राप्त हो जाएगी, किन्तु बाद में यह भावना और जोर पकड़ने लगी कि आक्रमण की दशा में उनकी रक्षा नहीं की जा सकती। संयुक्त राज्य अमेरिका ने कालान्तर में प्रकट किया कि फिलिपाइन के लोगों को यथासम्भव स्वायत्त सरकार प्रदान कर अमेरिका अन्त में उनको पूर्ण स्वतन्त्रता दे देगा। फिलिपाइन के सम्बन्ध में अमेरिकी नीति विरोधाभासपूर्ण थी क्योंकि एक ओर तो उसने यहाँ के लोगों को स्वायत्त सरकार प्रदान कर स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु प्रोत्साहित किया, दूसरी ओर इसके प्रति जो आर्थिक नीति अपनायी उसके परिणामस्वरूप यह प्रदेश अधिकाधिक आश्रित होता गया। वैसे अमेरिका इस प्रदेश पर नियन्त्रण रखने में रुचि नहीं ले रहा था, किन्तु यह नियन्त्रण को हटाना भी नहीं चाहता था। कहने का अर्थ यह है कि यहाँ से पुराना राजनीतिक साम्राज्यवाद तो हट रहा था, किन्तु नए प्रकार का आर्थिक साम्राज्यवाद छा रहा था।

2 नौसेना का विकास—जब अमेरिका ने आर्थिक शक्ति को अपने प्रभाव का मौलिक आधार बना लिया तो यह जरूरी था कि उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए अमेरिकी नौसेना का विकास किया जाता। थियोडोर रूजवेल्ट ने 1900 में ही जो नौसेना शक्ति का विकास किया, उसके कारण ही अमेरिका हवाई और क्यूबा आदि में नौसैनिक अड्डे खोल सका तथा कैरिबियन और पूर्वी प्रशान्त महासागर पर अपना अधिकार रख सका। प्रथम विश्वयुद्ध ने सयुक्त राज्य अमेरिका को तेजी से अपनी नौसैनिक शक्ति बढाने की ओर प्रेरित किया। दो महायुद्धों के बीच अमेरिका एक प्रबल नौ-शक्ति बन गया।

3. अमेरिकी निर्यात—अमेरिकी शक्ति को बढावा देने वाले तत्वों में इसके द्वारा दिए जाने वाला सामान, डॉलर, सेवीवर्ग और विचारों का निर्यात था। यूरोप में तथा एशिया में अनेक भागों में सयुक्त राज्य अमेरिका की अनेक सामाजिक सस्थाओं ने और सांस्कृतिक मूल्यों ने विदेशों की सभ्यता एवं रहन-सहन के तरीके पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाला। अमेरिका का विदेशी व्यापार बढता चला गया और उसके उत्पादन की मात्रा अधिक होती गई। सम्पूर्ण यूरोप में और मध्यपूर्व

जापान, चीन, लेटिन अमेरिका तथा एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यो मे अमेरिका द्वारा निर्मित सामान का निर्यात होने लगा।

4 अमेरिकी पर्यटक—अमेरिकी यात्रियो की सेनाएँ भी अनेक देशो मे छा गयीं। यूरोप के प्रायः प्रत्येक भाग मे उनका प्रवेश हो गया। इन यात्रियो द्वारा दूसरे राज्यो को जो आर्थिक लाभ होता था उसके कारण वह इन्हे पूरी सुविधाएँ उपलब्ध कराने का प्रयास कराने लगा। अमेरिकी व्यापारियो, विद्यार्थियो तथा अवकाश व्यतीत करने वालो आदि के द्वारा अमेरिकी सस्कृति का प्रसार किया गया। इन्होने अमेरिकी विचारो एव परम्पराओ के प्रसार द्वारा विदेशो मे सयुक्त राज्य अमेरिका का सम्मान और प्रभाव बढाया।

5 अमेरिकी चलचित्र—विदेशों मे अमेरिकी सस्कृति के प्रभाव की वृद्धि मे अमेरिकी चलचित्रो ने पर्याप्त योगदान किया। चलचित्रो के माध्यम से अमेरिका ने पेरिस और रोम, ओसलो और बर्लिन, लन्दन और मेड्रिड के मध्यम वर्गों के फैशन तथा आचार-विचारो को प्रभावित किया।

प्रथम महायुद्ध के बाद तेजी से बदलती अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो ने संयुक्त राज्य अमेरिका को अपनी विदेश नीति पर पुनर्विचार के लिए बाध्य कर दिया। 1920 की दुनिया मे जो परिस्थितियाँ थी उनमे प्रजातन्त्र अपेक्षाकृत सुरक्षित था, किन्तु 1930 तक फासीवाद को कई जगह विजय प्राप्त हो चुकी थी तथा अन्य प्रदेशो मे तानाशाही शासनो का विकास हो गया था। अब संसार सर्वाधिकारवाद के खतरे मे पड चुका था और यह असम्भव था कि सयुक्त राज्य अमेरिका इस विकास से आँखें मूँद लेता। अमेरिकी नेताओ को यह विश्वास हो चला कि तटस्थता एव पार्थक्य का अब कोई महत्त्व नहीं रह गया है। राज्य-सचिव हल का कहना था कि पृथक्तावाद कभी भी सुरक्षा का साधन नहीं बन सकता वरन् यह तो असुरक्षा का एक फलदायक स्रोत है। यह स्पष्ट हो गया कि पृथक्तावादी नीति के अनुसरण के कारण अमेरिका को विश्व मे 'महाशक्ति' का स्तर प्राप्त नहीं हो सकता था। मार्च, 1933 मे फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने पर अमेरिका पृथक्तावाद से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर मुडने लगा फिर भी अमेरिका चाहता यही था कि मित्र राष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी यूरोप के मामलों मे यथासाध्य पृथक् रहे। 1937 मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक भाषण दिया जिसे अमेरिकी विदेश-नीति मे परिवर्तन का द्योतक कहा जाता है। शिकागो मे दिया गया यह भाषण *'क्वारण्टीन वक्तृता'* (*Quarantine Speech*) के नाम से विख्यात है। इस भाषण से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने अन्ततोगत्वा अहस्तक्षेप और तटस्थता की नीति से हटने का निश्चय कर लिया है और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ सहयोग कर जर्मनी, जापान, इटली जैसे उग्र राष्ट्रो के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही का समर्थन किया है। अब अमेरिका यूरोप की राजनीति मे रुचि लेने लगा। अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति से उदासीन नहीं रहना चाहता। वह एक सबल और सुदृढ़ देश के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी प्रतिष्ठा चाहता है।

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका

द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट होने पर अमेरिका में इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद रहा कि यह युद्ध में सम्मिलित हो या नहीं। जब 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्लहार्बर के अमेरिकी नौ सैनिक अड्डे पर बम वर्षा कर दी तो 8 दिसम्बर को ही अमेरिका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार अब 'पुरानी दुनिया' तक सीमित युद्ध 'नई दुनिया' में भी प्रवेश कर गया और अमेरिका जैसा सबल तथा साधन-सम्पन्न राष्ट्र ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्र राष्ट्रों के पक्ष में मैदान में आ गया। महायुद्ध काल में अमेरिका ने अपनी महान् सैनिक शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे शत्रुराष्ट्रों (जर्मनी, जापान, इटली आदि) की पराजय निश्चित हो गई। युद्ध के दौरान अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों के पक्ष में अपने सैनिक भी झौंके, उन्हें शस्त्रास्त्र भी दिए और उनके लिए डॉलर की थैलियाँ भी खोल दीं। इस सैनिक और आर्थिक सहायता ने अमेरिका का सिक्का जमा दिया और एक 'महाशक्ति' के रूप में उदय होने का उसका मार्ग प्रशस्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका एक 'महाशक्ति' के रूप में

द्वितीय महायुद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए प्रच्छन्न रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को एक ऋणी राष्ट्र से ऋणदाता राष्ट्र का रूप दिया था और द्वितीय महायुद्ध ने अधिकांश विश्व को उसके आर्थिक प्रभुत्व से आच्छादित कर दिया। कारण स्पष्ट था कि महायुद्ध में अमेरिका को उस घोर विनाश का सामना नहीं करना पड़ा, जिसका अन्य मित्र और शत्रु-राष्ट्रों को करना पड़ा था। जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली, फ्रांस आदि सभी राष्ट्र भयंकर बमवर्षा के शिकार हुए थे और ब्रिटेन को छोड़कर इन सभी देशों की भूमि पर रक्तरंजित युद्ध हुए थे। सौभाग्यवश अमेरिका ही इस दुर्दशा से बचा रहा। न उसकी भूमि पर युद्ध लड़ा गया और न उसे दूसरे देशों के समान क्रूर बमवर्षा का शिकार होना पड़ा। इसीलिए जहाँ युद्धकाल में दूसरे देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त हो गए, वहाँ अमेरिका की आर्थिक समृद्धि पर कोई आँच नहीं आई। युद्ध के बाद यूरोप का चित्र 'दर्दनाक' था, सैनिक दृष्टि से यूरोप के राष्ट्र अत्यधिक दुर्बल थे, आर्थिक दृष्टि से वे लगभग मौत के मुँह में थे, वहाँ अमेरिका इन सब कठिनाइयों और दुर्दशाओं से बचा हुआ था। सैनिक दृष्टि से भी वह अत्यधिक सबल था और आर्थिक दृष्टि से भी इसलिए उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और अब वह सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक तीनों ही दृष्टियों से पूँजीवाद जगत् का नेता बन गया। युद्धकाल में उसका उत्पादन गिरने के बजाय बढ़ा। औद्योगिक उत्पादन में लगभग 50 प्रतिशत और कृषि उत्पादन में लगभग 36 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अणु बम का रहस्य भी उसके पास था, जापान पर अणु बम गिराकर वह अपनी महान् विनाशक क्षमता का परिचय दे चुका था, अतः स्वभावतः युद्ध

से पीड़ित और ध्वस्त राष्ट्र उसके झण्डे के नीचे आ खड़े हुए और उन्होंने उसका नेतृत्व स्वीकार कर लिया। जिस लोकतन्त्रवादी जगत् का नेतृत्व पहले ब्रिटेन के हाथों में था वह अब संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में आ गया। प्रत्येक देश उसकी सहायता पाने के लिए लालायित था।

28 अक्टूबर, 1945 को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश-नीति के जिन 'बारह सूत्रों' (Twelve Points) की घोषणा की उससे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब 'नेतृत्व' से पीछे नहीं हटना चाहता। ये नीति-बिन्दु अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा के प्रतीक थे जिनमें अमेरिका मानो यह कह रहा था कि उसने दुनिया को बचाने, सुधारने तथा दुनिया में अपनी सरकार स्थापित करने का ठेका ले लिया है। इन उद्देश्यों में अमेरिका के 'डॉलर साम्राज्यवाद' की गूँज थी। अमेरिका अब 'पृथक्तावादी नीति' से बिल्कुल हट चुका था अर्थात् अमेरिका ने अब राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक हस्तक्षेप की नीति पर चलना शुरू कर दिया था। उसको चुनौती देने वाला एक मात्र राष्ट्र सोवियत संघ था अतः अमेरिका के नीति-निर्माताओं और प्रशासकों ने यह निश्चय कर लिया कि उनका देश प्रत्येक स्तर पर सोवियत संघ के प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को रोकेगा। इसे 'अवरोध नीति' (Policy of Containment) की संज्ञा दी गई। इसके फलस्वरूप मार्शल योजना का निर्माण हुआ जिस पर अप्रेल, 1948 में अमेरिकी काँग्रेस ने स्वीकृति की मोहर लगा दी। 'महाशक्ति' के रूप में अमेरिका के इरादे तब और और स्पष्ट हो गए जब जनवरी, 1949 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की। "चार सूत्री कार्यक्रम के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश-नीति का कार्य विश्व-व्यापी हो गया। अब यह निश्चय किया गया कि जहाँ कहीं शान्ति भंग करने वाली प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण की कार्यवाही होगी, उसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा के लिए संकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।"

आर्थिक क्षेत्र में तो अमेरिका ने अपना नेतृत्व स्थापित कर ही लिया, सैनिक क्षेत्र में भी उसने स्वयं को पूरी तरह एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेक कदम उठाए। अन्य देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम की नीति आरम्भ की गई जिसके फलस्वरूप अप्रेल, 1948 में 'NATO' की स्थापना हुई। इस सन्धि-संगठन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक गठबन्धन में बँध गया। साम्यवादी जगत् के लिए यह एक चेतावनी थी कि वह नाटो के सदस्य-देशों पर आक्रमण करने का साहस न करे। इस सन्धि ने यूरोपीय देशों को एक सुरक्षा-आवरण प्रदान किया ताकि वे अपना आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम तैयार कर सकें। इस सन्धि द्वारा अमेरिका ने यह दायित्व सम्हाल लिया कि वह साम्यवाद विरोधी किसी भी युद्ध के लिए सदैव तैयार रहेगा। 'नाटो-फार्मूला' का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी किया गया। नाटो-सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई, सदस्य-देशों में सैनिक अड्डे स्थापित किए गए तथा विभिन्न देशों के साथ मैत्री-सन्धियाँ क्रियान्वित की गईं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी अमेरिका ने सक्रिय नेतृत्व की भूमिका निभाना प्रारम्भ कर दिया। वह सुरक्षा परिषद् में रूस विरोधी सदस्यों का अगुआ बन गया और संयुक्त राष्ट्रसंघ 'महाशक्तियों के दाव-पेंच का अखाड़ा' बन गया। जब सन् 1946 में सुरक्षा परिषद् में यूनान सम्बन्धी विवाद प्रस्तुत हुआ तो अमेरिका और रूस तथा उनके साथी राष्ट्र 'शीत-युद्ध' को विश्व संस्था में घसीट लाए। संयुक्त राष्ट्रसंघ पर अमेरिका का प्रभाव व्याप्त हो गया और संघ के निरीक्षण में वस्तुतः अमेरिका द्वारा ही यूनान को आर्थिक और सैनिक सहायता दी गई। जब 1950 में कोरिया का गृहयुद्ध छिड़ा तो मुख्य रूप से अमेरिका के प्रयत्नों से ही सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर सैनिक हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। जुलाई, 1950 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के झण्डे के नीचे जिन 16 राष्ट्रों की संयुक्त-सैनिक कमान की स्थापना हुई उसका सेनापति अमेरिका के जनरल मैकार्थर को बनाया गया। अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के कारण ही संयुक्त राष्ट्रसंघ कोरिया-युद्ध में सफल हो सका। वास्तव में सारा युद्ध अमेरिका ने लड़ा, केवल उस पर 'लेबल' संयुक्त राष्ट्रसंघ का लगा था।

इस प्रकार आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक सभी स्तरों पर अमेरिका एक महाशक्ति के रूप में उभर आया। बहुमुखी प्रयासों के फलस्वरूप अमेरिका का प्रभाव-क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता गया और वह 'मुक्त विश्व' (Free World) का एकछत्र नेता बन गया। आज भी अमेरिका विश्व की महाशक्ति नम्बर एक बना हुआ है।

महाशक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका के उदय को देखने के बाद अब हम द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अमेरिकी विदेश-नीति का विवेचन करेंगे। युद्धोत्तर युग में अभी तक अमेरिका की बागडोर राष्ट्रपतियों के हाथ में रही है—ट्रूमैन, आइजनहॉवर, कैनेडी, लिण्डन बी. जॉनसन, रिचर्ड निक्सन, जेरॉल्ड फोर्ड, जिम्मी कार्टर तथा रोनाल्ड रीगन जिन्होंने 20 जनवरी, 1981 को अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति के रूप में अपने पद की शपथ ग्रहण की।

ट्रूमैन-युग
(1945–1952)

द्वितीय महायुद्ध के बाद सन् 1952 तक के अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश-नीति की जो आधारशिलाएँ रखी वे आज भी मार्गदर्शक बनी हुई हैं। भावी राष्ट्रपतियों ने अपनी विदेश-नीतियों को समयानुकूल नए मोड़ दिए, लेकिन ट्रूमैनकालीन तत्त्व आज भी सजीव हैं। साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का जो दृढ़ निश्चय राष्ट्रपति ट्रूमैन ने व्यक्त किया था, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपतियों ने किया और साम्यवाद पर अंकुश रखने के लिए अभिनव कदम उठाए। विश्व-राजनीति में अमेरिकी नेतृत्व को सर्वोच्चता देने का जो प्रयत्न ट्रूमैन ने किया, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपति भी करते रहे हैं। ट्रूमैन काल में अमेरिका यह मानकर चला कि सोवियत संघ उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है और अमेरिका का भावी इतिहास

भी यही बताता है कि सोवियत सघ को प्रमुख लक्ष्य मानकर ही अमेरिका की विदेश-नीति बहुत कुछ सचालित होती रही है।

ट्रूमैन-युग मे विदेश नीति के मुख्य चरण ये रहे—'सहयोग और सामंजस्य की नीति', 'अवरोध की नीति' 'सैनिक-सन्धियो की नीति' और 'खुले संघर्ष का काल'।

सहयोग तथा अनुकूलता की नीति (अगस्त 1945–अगस्त 1946)

प्रारम्भ मे अमेरिका ने यह सोचा कि मित्र राष्ट्रो का युद्धकालीन सहयोग शान्तिकाल मे भी बना रहेगा, अत. राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'सहयोग और सामजस्य की नीति' (Policy of Co-operation and Accommodation) का अनुसरण किया। अमेरिका ने चाहा कि युद्धकालीन विनाश के चिह्नो को शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाए, पराजित राष्ट्रो के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ और चारो ओर शान्ति का वातावरण पैदा कर दिया जाए। अमेरिका ने यह भी चाहा कि किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता को भग न किया जाए और कोई भी विदेशी-शक्ति किसी देश मे किसी सरकार को बलपूर्वक न थोपे पर इसका यह अर्थ नही है कि अमेरिका ने सभी काम पूरी ईमानदारी के साथ किए। प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानता है और अमेरिका की भी विदेश-नीति इस लक्ष्य से सचालित हुई कि सोवियत सघ की तुलना मे अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता जाए।

28 अक्तूबर, 1945 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति के निम्नलिखित 'बारह सूत्रो' (Twelve Points) की घोषणा की—

1 अमेरिका प्रादेशिक विस्तार नही चाहता, वह किसी देश पर आक्रमण नही करेगा।

2. अमेरिका चाहता है कि जिन देशो से सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकार बलपूर्वक छीने गए थे, वे उन्हे वापस किए जाने चाहिए।

3. अमेरिका किसी मित्र देश मे, जनता की सहमति के बिना किए गए, किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नही करेगा।

4. अमेरिका देखेगा कि स्वशासन के योग्य देशो को विदेशी हस्तक्षेप के बिना अपने शासन का स्वरूप चुनने मे स्वाधीनता मिले।

5. अमेरिका अपने साथियो के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशो मे शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना के लक्ष्य पर चलेगा।

6. अमेरिका ऐसी किसी सरकार को मान्यता नहीं देगा जो विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश पर बलपूर्वक थोपी गई हो।

7. सब देशो को अनेक देशो मे से होकर गुजरने वाली नदियो तथा समुद्रो मे आवागमन की निर्बाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

8. विश्व मे कच्चे माल की प्राप्ति और व्यापार मे सब देशो को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

9. पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों को इस गोलार्द्ध के बाहर की किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना पडौसियों की भाँति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

10 समूचे विश्व मे दरिद्रता और अभाव को दूर करने तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सब देशों मे पूर्ण आर्थिक सहयोग हो।

11 अमेरिका विश्व मे विचार-अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता के विस्तार के लिए प्रयत्न करेगा।

12 अमेरिका का दृढ विश्वास है कि राष्ट्रों मे शान्ति स्थापित करने के लिए ऐसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की आवश्यकता है जिसके सदस्य शान्ति-प्रेमी हों और शान्ति-स्थापना के लिए आवश्यकता पडने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हो।

विश्व-शान्ति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए अमेरिका ने अपने सैनिकों की संख्या घटाना शुरू कर दिया। अमेरिका को आशा थी कि रूस भी सहयोग करेगा और अनुकूल उत्तर देगा लेकिन यह आशा गलत सिद्ध हुई। अमेरिका तत्कालीन विश्व-राजनीति के दो महत्वपूर्ण पहलुओं को समझने मे भूल कर बैठा—प्रथम, सोवियत संघ की आक्रमणकारी चालें, एवं द्वितीय, एशिया महाद्वीप मे क्रान्ति।

कुछ ही समय मे सभी क्षेत्रों मे यह प्रगट हो गया कि रूस और अमेरिका मे किसी प्रकार का समझौता और सहयोग सम्भव नही है। विशेषत: पाँच क्षेत्रों मे सोवियत-अमेरिका मतभेद अत्यधिक तीव्र हो गए—

(i) जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न,
(ii) पोलैण्ड मे रूस द्वारा याल्टा सम्मेलन मे दिए गए वचनो के उल्लघन की अमेरिकी शिकायत,
(iii) इटली, हगरी, रूमानिया- बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियो का प्रश्न,
(iv) संयुक्त-राष्ट्रसंघ तथा उसमें रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग का प्रश्न, तथा
(v) ईरान, टर्की और यूनान मे रूसी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रश्न।

इन तीव्र मतभेदो और अन्य असहमतियों के कारण दोनो शक्ति-गुटो मे 'शीतयुद्ध' (Cold War) आरम्भ हो गया। रूसी चालो से बाध्य होकर अमेरिका के विदेश-नीति-निर्माताओं ने अगस्त, 1946 के लगभग सहयोग और सामंजस्य की नीति का परित्याग कर दिया।

अवरोध की नीति (अगस्त 1946–जून 1950)

अब अमेरिका ने यह निश्चय कर लिया कि साम्यवादी प्रसार को अविलम्ब अवरुद्ध किया जाए। इस निश्चय के साथ ही 'अवरोध की नीति' (Policy of Containment) पर अमल किया जाने लगा।

'अवरोध की नीति' के सम्बन्ध में अमेरिकी विदेश-नीति के मुख्य तथ्य ये थे-

ट्रूमैन सिद्धान्त—मध्य-पूर्वी क्षेत्र में यूनान, टर्की, ईरान आदि देशों को साम्यवादी बनने से बचाने के लिए ट्रूमैन ने इन्हें आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई। इसी नीति को 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctr ne) कहा जाता है। महायुद्ध के बाद चारों ओर आर्थिक सकट की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई। यूनान, टर्की और ईरान में साम्यवादी आन्दोलन ने विशेष जोर पकड़ लिया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भारी आर्थिक सहायता के बल पर 1950 के अन्त तक यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

'ट्रूमैन' सिद्धान्त के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश-नीति का कार्यक्षेत्र विश्व-व्यापी हो गया। इस सिद्धान्त ने अमेरिका की विदेश-नीति में मौलिक परिवर्तनों को जन्म दिया, उसे विकास की एक नई दिशा दी। माइकेल डोनेलन के शब्दों में, 'ट्रूमैन-सिद्धान्त' निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो-सिद्धान्त था। इसने पुराने सिद्धान्त को नई परिस्थितियों के साथ आवश्यकतानुसार समायोजित कर दिया और पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओं का विस्तार स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक कर दिया।'[1] ट्रूमैन-सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका अब पृथक्तावादी नीति का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की समस्याओं के प्रति सक्रिय बन गया है। यह रूस को उसकी विस्तारवादी चेष्टाओं के विरुद्ध एक चेतावनी थी, मास्को के प्रति सहयोगपूर्ण नीति का परित्याग था। यह सिद्धान्त इस तथ्य की स्वीकृति थी कि भू-मध्यसागर और मध्यपूर्व में उत्पन्न हुई 'शक्ति-शून्यता' का रूस द्वारा लाभ उठाए जाने से पूर्व अमेरिका लाभ उठाने का इच्छुक है। इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य बल्कान प्रायद्वीप में रूसी प्रसार को रोकने के लिए और साथ ही रूस को घेरने के लिए यूनान और टर्की को महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप में सुरक्षित रखना तथा मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डार को अपने अधिकार में रखना था। यह सिद्धान्त रूस के प्रति अमेरिकी वैमनस्य की स्थूल अभिव्यक्ति था।

ट्रूमैन सिद्धान्त को कटु आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। आर्थिक और सामरिक सहायता देने की अमेरिका की नीति को साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का एक नवीन रूप कहा गया। ट्रूमैन-सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति को आघात पहुँचा क्योंकि यूनान और टर्की को संघ के माध्यम से नहीं बल्कि पृथक् रूप से सहायता दी गई। स्वयं अमेरिकियों की दृष्टि में ट्रूमैन-सिद्धान्त मुनरो-सिद्धान्त का ही विकसित रूप था।

मार्शल योजना—'अवरोध की नीति' का दूसरा चरण मार्शल योजना (Marshall Plan) थी। अमेरिका के विदेशमन्त्री मार्शल ने मास्को के शान्ति-सम्मेलनों में देखा कि रूसी हर बात में अड़गेबाजी की नीति अपना कर शान्ति-सन्धियाँ करने में विलम्ब कर रहे हैं। मार्शल शीघ्र ही समझ गया कि रूसियों द्वारा

1 *Michael Donelan* : The Ideas of American Foreign Policy, p 749.

सन्धि-चर्चा में देर लगाने का परिणाम यूरोप में क्रान्तियों द्वारा साम्यवाद की स्थापना हो जाना है ताकि फिर समझौता करने में कठिनाई न हो। मार्शल ने इस बात पर बल दिया कि यदि अविलम्ब यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के प्रयास न किए गए तो वह साम्यवादी हो जाएगा। प्रकट रूप में उन्होंने यही कहा कि उनके देश की नीति किसी देश अथवा सिद्धान्त विशेष से संघर्ष की नहीं बल्कि भूख, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्था का सामना करने की है। अतः पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए सोवियत रूस को आमन्त्रित किया गया, परन्तु मास्को और उसके साथी राज्यों ने इस प्रस्ताव को अमेरिकी साम्राज्यवाद की एक नई चाल बताकर ठुकरा दिया। पश्चिमी राष्ट्रों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों (इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और टर्की) के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग-समिति (Committee of European Economic Co-operation) की स्थापना की गई और यूरोपीय पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट दी जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि 13 बिलियन डॉलर की धनराशि खर्च करने को तैयार हो तो 1951 तक एक आत्मनिर्भर यूरोपीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। 'मार्शल योजना' को, जो अधिकृत रूप से 'यूरोपीय राहत कार्यक्रम' (European Relief Programme) कहलाई, कांग्रेस ने पास कर दिया (अप्रैल, 1948)। योजना को कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for Europe Economic Co-operation) की स्थापना की गई।

'मार्शल योजना' से रूस और पश्चिम का विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947-1951) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस योजना के बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोप के देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्त्वों का उन्मूलन कर देंगे। 'मार्शल योजना' एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी। मार्शल योजना का प्रत्युत्तर रूस ने सितम्बर, 1947 में 'कोमिनफोर्म' की स्थापना के रूप में दिया। आर्थिक स्तर पर साम्यवाद के अवरोध की नीति के अनुसार अमेरिका ने जर्मन अर्थव्यवस्था को भी पुनर्गठित करने का प्रयास किया।

चार-सूत्री कार्यक्रम—चीन में साम्यवाद की विजय से अमेरिका को यह आशंका हो गई कि विश्व के अल्प-विकसित देश साम्यवादी प्रसार के उत्तम क्षेत्र

सिद्ध हो सकते हैं । अतः ऐसे प्रदेशों में साम्यवाद के अवरोध के लिए 20 जनवरी, 1949 को ट्रूमैन ने 'चार-सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की—

(i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन;
(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य चालू रखना;
(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना; एवं
(iv) अल्प-विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक सहायता देना ।

कांग्रेस ने 1950 के अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया । रिचर्ड स्टेविंस के शब्दों में, "यह कानून अमेरिकी विदेश-नीति का एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर था ।" इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थी तथा इसके द्वारा अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की साधना होती थी ।

नाटो : अवरोध की रणनीति—संयुक्त राज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न किया । उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा-सहायता-कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) प्रारम्भ किया जो अमेरिकी विदेश नीति में एक नवीन प्रयोग था । सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका द्वारा नाटो का संगठन किया गया और 4 अप्रैल, 1949 को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच यह प्रथम सैनिक सन्धि सम्पन्न हो गई । यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वयं को वचनबद्ध किया । अमेरिका को तेजी से सैनिक सन्धियों के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए उत्तरदायी एक महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने 1949 में ही एटम बम के रहस्यों को खोज निकाला था । रूस की इस खोज से अमेरिका के अणु शक्ति पर एकाधिकार का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया ।

खुले संघर्ष का काल (जून 1950–जुलाई 1953)

साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, संयुक्त राज्य अमेरिका महत्त्वपूर्ण सैनिक सन्धियों और प्रतिरक्षा संगठनों की दिशा में भुकता गया । जून, 1950 में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से अमेरिकी विदेश नीति में सैनिक शक्ति का महत्त्व द्विगुणित हो गया । कोरिया युद्ध व जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चला । यह अवधि शीतयुद्ध की जगह खुले संघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की थी, इस अवधि में अवरोध-नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हुए 30 अगस्त, 1951 को अमेरिका ने फिलिपाइन्स के साथ एक प्रतिरक्षा-समझौता किया, 1 सितम्बर, 1951 को आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड के साथ एन्जस-समझौता किया और इसी 8 सितम्बर, 1951 को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा सन्धि की ।

आइजनहॉवर-युग
(1953–1961)

जनवरी, 1953 में 24 वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजनहॉवर ने ह्वाइट हाउस में प्रवेश किया। आइजनहॉवर-युग में अमेरिकी विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए, केवल कुछ सामयिक परिवर्तन किए गए और ट्रूमैन-सिद्धान्त की भाँति ही मध्यपूर्व के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया। आइजनहॉवर काल में अमेरिकी विदेश नीति का स्वरूप निम्नानुसार रहा--

(1) यथासम्भव युद्ध का बहिष्कार किया गया।
(2) दूसरे देशों के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई, अमेरिका ने कहीं भी तुष्टिकरण की नीति नहीं अपनाई।
(3) साम्यवाद के प्रसार को सीमित या समाप्त करने के लिए प्रादेशिक और सैनिक सन्धियों की नीति भी चालू रही।
(4) अमेरिकी सेनाओं का आधुनिकीकरण किया गया, लेकिन यह आश्वासन दिया गया कि अमेरिका अपनी सैन्य शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा।
(5) विश्व के उत्पादन और लाभकारी व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई गई।
(6) यूरोपीय एकता को प्रोत्साहन दिया गया और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ अधिकाधिक सहयोग की नीति अपनाई गई।
(7) संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन करते रहने और इसका साम्यवाद के विरुद्ध एक साधन के रूप में प्रयोग करने की नीति अपनाई गई।
(8) यात्रा-कूटनीति का अधिकाधिक विस्तार किया गया।

आइसजनहॉवर युग में विदेश-नीति की मुख्य घटनाएँ इस प्रकार रहीं—

साम्यवाद के साथ शक्ति-परीक्षण, कोरिया-युद्ध की समाप्ति—आइजनहॉवर ने कोरिया में एक ओर तो पूरी शक्ति के साथ युद्ध करने की और दूसरी ओर समझौते के द्वार खुले रखने की नीति अपनाई। जुलाई, 1953 में कोरिया में युद्ध-विराम हो गया, लेकिन यह भी स्पष्ट हो गया कि साम्यवादी विश्व से खुली टक्कर में निर्णायक विजय प्राप्त करना अमेरिका के लिए लगभग असम्भव है।

पश्चिमी यूरोप के एकीकरण, अणु शक्ति के नियन्त्रण आदि के प्रयत्न—पश्चिमी यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्न किए गए। *1954* में इतने अधिक सम्मेलन हुए कि विदेश सचिव जान फोस्टर डलेस को यात्री-राज्य-सचिव की संज्ञा दी जाने लगी। इसी वर्ष पश्चिमी यूरोपीय संघ (Western European Union) की स्थापना की गई और जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया। सोवियत संघ द्वारा 1953 में हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर लेने के बाद दिसम्बर, 1953 में आइजनहॉवर ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में अणु शक्ति पर नियन्त्रण और उसको शान्ति के लिए प्रयोग का प्रस्ताव रखा।

साम्यवाद के अवरोध के लिए सीटो तथा बगदाद-पैक्ट की स्थापना—हिन्द चीन के घटनाचक्र से प्रभावित होकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने साम्यवादी चीनी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए सितम्बर, 1954 में थाईलैण्ड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा सन्धि' पर हस्ताक्षर करके सीटो (SEATO) की स्थापना की। इसी प्रकार पश्चिमी एशिया के देशों की साम्यवाद से रक्षा के लिए 1955 में बगदाद-समझौते (Bagdad Pact) का सूत्रपात हुआ। इस सैनिक सन्धि में अमेरिका सहित ब्रिटेन, टर्की, ईरान, पाकिस्तान आदि देश सम्मिलित हुए।

मध्यपूर्वी आइजनहॉवर सिद्धान्त—1956 में स्वेज के प्रश्न पर मिस्र पर असफल आक्रमण के बाद ब्रिटेन और फ्रांस के पश्चिमेशिया अथवा मध्यपूर्व से हट जाने से वहाँ 'शक्तिशून्यता' पैदा हो गयी। यह आशंका हुई कि इससे अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा अतः अमेरिका ने इस 'शक्तिशून्यता' को भरना चाहा। इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए जनवरी 1957 में आइजनहॉवर सिद्धान्त (Eisenhover Doctrine) की घोषणा की गयी जिसके आधार पर 1958 में एक कानून द्वारा अमेरिका राष्ट्रपति को मध्यपूर्व से किसी भी देश में अपनी विवेक-बुद्धि से साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने और सैनिक कार्यवाही करने का व्यापक अधिकार मिल गया। काँग्रेस ने आइजनहॉवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकी सहायता के इच्छुक मध्यपूर्व के देशों की सहायता के लिए 200 मिलियन डॉलर की विशाल धनराशि स्वीकृत की।

आइजनहॉवर-सिद्धान्त के प्रति मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हुईं—जोर्डन, लेबनान, ईराक, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया जबकि मिस्र, सीरिया, आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बतलाया। उन्होंने आरोप लगाया कि अमेरिका अरब-राष्ट्रवाद को कुचलने और इजरायल को अरबों पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहता है। सोवियत संघ ने इस सिद्धान्त को अमेरिका की आक्रामक नीति की एक कड़ी माना। भारत के प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने इसे विदेशी हस्तक्षेप और संकट की संज्ञा दी।

आइजनहॉवर सिद्धान्त की घोषणा के बाद शीघ्र ही अमेरिका के सामने ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब उसे इस सिद्धान्त के प्रयोग का मौका मिला। लेबनान और जोर्डन में इस सिद्धान्त का प्रयोग हुआ, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक सफल नहीं हो सका। वास्तव में "आइजनहॉवर सिद्धान्त को मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली, उल्टे लेबनान और जोर्डन में सैनिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप पश्चिम-विरोधी तत्वों को प्रधानता हो गई। ईराकी क्रान्ति के फलस्वरूप मास्को का प्रभाव क्षेत्र बढ़ा।" आइजनहॉवर सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा। यह सिद्धान्त विश्व-संस्था को निर्बल बनाने वाला सिद्ध हुआ। इजरायल के विरुद्ध अरबों के तीव्र विरोध ने भी सिद्धान्त की सफलता के मार्ग में बाधा डाली।

असफल शिखर सम्मेलन (मई 1960)—आइजनहॉवर सिद्धान्त के कारण शीत-युद्ध तीव्र हो गया, तथापि सितम्बर 1959 में सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा से वातावरण में पुनः सुधार हुआ। आपसी मतभेदों पर बातचीत के लिए 16 मार्च, 1960 को अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस का एक शिखर सम्मेलन होना निश्चित हुआ। दुर्भाग्यवश सम्मेलन के पूर्व ही दो बड़े अपशकुन हो गए—जर्मनी सम्बन्धी विवाद, एवं यू-2 विमान काण्ड। जनवरी, 1960 में पश्चिम जर्मनी के चासलर ने आरोप लगाया कि रूसी बर्लिन पर हमला कर रहे हैं। ख्रुश्चेव ने धमकी दी कि "यदि पूर्व और पश्चिम की वार्ता से बर्लिन की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया तो वह पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा और पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण करेगा।" फरवरी, 1960 में रूस ने बर्लिन में एक नया संकट पैदा कर दिया। पूर्वी जर्मनी में विद्यमान पश्चिमी देशों के सैनिक मिशनों को दिए जाने वाले वीसा पूर्वी जर्मन सरकार के नाम से जारी कर दिए गए जबकि अब तक ये पूर्वी जर्मनी के सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किए जाते थे। रूस इस प्रकार पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को तथ्यानुसार मान्यता (Defacto Recognition) दिलवाना चाहता था। अमेरिका ब्रिटेन और फ्रांस के दृढ़ विरोध के उपरान्त अन्त में 14 मार्च 1960 को सोवियत रूस इस बात पर राजी हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियों को पूर्वी जर्मनी में यात्रा के लिए वीसा दिए जायेंगे उन पर 'सोवियत अधिकार क्षेत्र' (Zone of Soviet Occupation) लिखा होगा। इसके बाद फिर तनाव पैदा हुआ। पश्चिम जर्मनी ने मांग की कि पश्चिमी बर्लिन में इस बात पर जनमत सग्रह कराया जाए कि लोग बर्लिन में वर्तमान स्थिति बनाए रखने के पक्ष में हैं या नहीं। इसके विरोध में दूसरे पक्ष की ओर से कहा गया कि जनमत संग्रह बर्लिन के दोनों भागों में हो। स्पष्ट ही इस प्रकार के सन्देहपूर्ण वातावरण का कुप्रभाव शिखर सम्मेलन पर पड़ा। शिखर सम्मेलन के मार्ग में दूसरा सबसे बड़ा अपशकुन यू-2 विमान-काण्ड का था। 5 मई 1960 को सोवियत प्रधानमन्त्री ने रोषपूर्ण शब्दों में घोषणा की कि रूस के हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू-2 अमेरिकी विमान को 2 मई 1960 को राकेट द्वारा नीचे गिराया गया है। इसने अमेरिका पर कटु वाक्-प्रहार किए और बाद में राष्ट्रपति आइजनहॉवर की इस घोषणा ने आग में घी का काम किया कि "अमेरिका की हवाई जासूसी उड़ानें न्यायसंगत हैं और पर्लहार्बर की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक हैं।" सोवियत रूस ने इस चुनौती को अपना राष्ट्रीय अपमान समझा। दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव बहुत बढ़ गया तथापि ख्रुश्चेव ने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए और शिखर सम्मेलन में यू-2 का विषय नहीं उठाया जाएगा। किन्तु जब 16 मई को शिखर सम्मेलन आरम्भ हुआ तो सोवियत प्रधानमन्त्री ने अचानक ही यू-2 काण्ड के लिए अमेरिका की निन्दा करते हुए अग्रलिखित मांगें पेश कर दी—

(क) अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए क्षमा मागनी चाहिए, इस कार्य को बन्द करना चाहिए और इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिए।

(ख) यदि ऐसा नही किया जाता तो रूस की दृष्टि से शिखर-सम्मेलन में अमेरिका के साथ बातचीत करना व्यर्थ है और वह इसमें भाग नहीं ले सकता।

आइजनहॉवर द्वारा जासूसी उडानों को भविष्य मे स्थगित कर देने के आश्वासनों के बावजूद ख्रुश्चेव अपनी माँग पर अड़े रहे। 17 मई को सम्मेलन आरम्भ होने पर ख्रुश्चेव जब नहीं आए तो यह घोषणा कर दी गई कि "ख्रुश्चेव द्वारा अपनाए गए रुख के कारण शिखर-सम्मेलन वार्ता आरम्भ करना सम्भव नहीं है।"

कैनेडी–युग
(1960–1963)

नवम्बर, 1960 मे सीनेट जॉन एफ. कैनेडी अमेरिका के राष्ट्रपति बने। कैनेडी की विजय डेमोक्रेटिक दल की विजय थी। कैनेडी ने कतिपय दृष्टियों से अमेरिका की विदेश नीति को नया मोड दिया, नई गति दी। फलतः विदेश-नीति के पुराने तत्व भी अधिक प्राणवान बन गए। कैनेडी-युग की अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु ये थे—

1. समझौतों और वार्ताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को कम किया जाए, पर साथ ही साम्यवादी खतरे के विरुद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए।

2. विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य तानाशाहियाँ भी शत्रु हैं। अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ-साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक सीमा प्रदेशों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

3. विश्व मे डॉलर के मूल्य को सुरक्षित रखा जाए, डॉलर की साख में कमी न होने दी जाए।

4. ऐसे प्रयत्न बराबर किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक-दूसरे के निकट आएँ तथा एक-दूसरे को समझें।

5. दोनों गुटों के बीच विचारों के स्पष्ट आदान-प्रदान द्वारा संकटों को मिटाया जाए।

6. साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को, यहाँ तक कि लौह-दीवार के पीछे के प्रदेशों को भी राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र बना दिया जाए।

7. यथा-साध्य सहअस्तित्व पर बल दिया जाए।

कैनेडी-शासनकाल मे अमेरिकी विदेश नीति सम्बन्धी मुख्य घटनाएँ इस प्रकार रही—

मानव-अधिकार और कैनेडी—कैनेडी ने मानव-अधिकारों के प्रति दृढ निष्ठा व्यक्त की और इसे अमेरिकी विदेश नीति की एक प्रेरक शक्ति बताया। 20 सितम्बर, 1963 को उन्होने नागरिक अधिकारों के प्रश्न पर सयुक्त राष्ट्रसघ मे विचार-विमर्श किया और आशा प्रकट की कि अमेरिका सहित विश्व के सभी राष्ट्र वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि को मिटाकर सभी व्यक्तियो को कानून के समक्ष समान सुरक्षा प्रदान करेंगे।

शान्ति और सह-अस्तित्व में विश्वास—10 जून, 1963 को अपने भाषण मे कैनेडी ने शान्ति और सहअस्तित्व मे विश्वास प्रकट किया। कैनेडी ने शान्ति और नि.शस्त्रीकरण के प्रति रूसी रवैये को कोसा नही, बल्कि शान्ति की दिशा मे रूस के सम्भावित प्रभावो को उभारा।

पुराने मित्रों के प्रति वफादारी—रूसी-साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सह-अस्तित्व का नारा बुलन्द करने के साथ ही कैनेडी ने वफादार मित्रों के प्रति निष्ठा रखने का भी वायदा किया। उन्होंने नाटो का आर्थिक और राजनीतिक आधार मजबूत करने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम उठाए तथा जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इन्कार कर दिया। जून, 1961 मे ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक् सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी। लेकिन कैनेडी के नेतृत्व मे पश्चिमी शक्तियों ने रूस को स्पष्ट शब्दो मे बता दिया कि रूस की एकपक्षीय कार्यवाही उन्हे किसी भी अवस्था मे मान्य नही होगी। इस दृढता का परिणाम यह हुआ कि रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नही किया।

क्यूबा संकट और कैनेडी—क्यूबा के सकट द्वारा कैनेडी की विदेश-नीति की दृढता स्पष्ट रूप से उभरी। क्यूबा लम्बे समय से अमेरिका का समर्थक था, लेकिन जून, 1959 मे फिडेल कास्ट्रो के नेतृत्व मे हुई क्रान्ति के बाद वह रूस-समर्थक बन गया। 3 सितम्बर, 1962 को इस रूसी घोषणा ने भावी सकट का सकेत दे दिया कि वह क्यूबा की साम्राज्यवादियों से अपनी रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की पूर्ण सहायता देगा। राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि रूस ने क्यूबा को प्रक्षेपणास्त्रों, पनडुब्बियों तथा रॉकेट आदि से सज्जित किया है जिनसे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है। 16 सितम्बर, 1962 को कैनेडी ने क्यूबा की हवाई जाँच-पड़ताल के आदेश दिए जिनसे पुष्टि हो गई कि वहाँ प्रक्षेपणास्त्रों का भारी जमघट हो रहा है। 23 अक्तूबर, को कैनेडी ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी। यह आदेश रूस को स्पष्ट चेतावनी थी कि उसके शस्त्रास्त्रों से सज्जित जहाज क्यूबा नही पहुँच सकते अन्यथा युद्ध होगा। इस घोर सकट के समय सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने भी बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। 23 अक्टूबर को ही ख्रुश्चेव द्वारा घोषणा की गई कि रूस क्यूबा से अपने प्रक्षेपणास्त्र वापस मँगाने की आज्ञा दे रहा है और वह उस द्वीप पर स्थित सभी प्रक्षेपणास्त्र अड्डों को सयुक्त राष्ट्रसघ की देखरेख में

तुड़वा देने को सहमत है। कैनेडी ने तुरन्त उत्तर दिया—'यह एक सच्चे नेता सरीखा निर्णय है।'

कैनेडी की दृढ़ता और तत्परता तथा ख्रुश्चेव के विवेक और संयम के फलस्वरूप क्यूबा-संकट से उत्पन्न अणुयुद्ध की आशंका टल गई। क्यूबा संकट के बड़े व्यापक परिणाम हुए—(1) रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ गए। चीन ने आरोप लगाया कि रूस अमेरिका से डर कर पीछे हटा है। (2) क्यूबा-संकट ने भारत पर चीन के आक्रमण को प्रेरित किया। चीन ने सोचा कि अमेरिका और रूस संघर्ष में उलझेंगे। भारत को पश्चिम से सहायता नहीं मिल सकेगी और चीन भारत के एक बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लेगा। (3) क्यूबा-संकट के निवारण के फलस्वरूप पश्चिम से भारत को तेजी से सहायता मिली तथा गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को बल मिला।

अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध सन्धि, 1963—कैनेडी और ख्रुश्चेव के विवेक से दोनों देशों का विरोध कम हुआ और 1963 में अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध-सन्धि ने मास्को तथा वाशिंगटन के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण पैदा किया। कैनेडी ने निःशस्त्रीकरण के लिए भरसक प्रयास किए। सन्धि से कुछ ही दिवस पूर्व 15 अप्रैल, 1963 को अमेरिका और रूस के बीच सीधा टेलीफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता भी हुआ।

लैटिन अमेरिका और कैनेडी—कैनेडी ने लैटिन अमेरिका के प्रति उदार और मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। मार्च, 1961 में उन्होंने 'प्रगति के लिए मैत्री' का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार अन्य स्वतन्त्र देशों, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और व्यक्तिगत पूँजीपतियों के साथ संयुक्तराज्य अमेरिका ने लैटिन अमेरिका के आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 20 हजार मिलियन डॉलर की सहायता तथा ऋण देने की पेशकश की। इस नीति के फलस्वरूप दक्षिण अमेरिका के देश आर्थिक और सामाजिक विकास की दिशा में प्रगति करने लगे।

भारत-पाक तथा कैनेडी—कैनेडी ने भारत के प्रति सदाशयता रखते हुए भी दबाव डालने की नीति का परित्याग नहीं किया। पुर्तगाली बस्तियों को जब भारत द्वारा मुक्त कराया गया तो सुरक्षा परिषद् में भारत के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव लाया गया। अमेरिका ने भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता पर भी रोक लगा दी। भारत के विरुद्ध कश्मीर के प्रश्न का उपयोग करने का भी प्रयत्न किया गया। फिर भी कैनेडी का रुख भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति की तुलना में भारत के प्रति अधिक उदार रहा। 1962 में चीनी आक्रमण के समय भारत को अविलम्ब बिना शर्त सैनिक सहायता भेजी गई।

कैनेडी और वियतनाम—कैनेडी ने दक्षिणी वियतनामी सरकार को सहायता करने का निश्चय किया। 1961 में दक्षिण वियतनाम में केवल 700 के लगभग अमेरिकी सैनिक थे जिन्हें 1963 में बढ़ाकर 16,500 कर दिया गया। धन और अस्त्र-शस्त्रों से भी दक्षिणी वियतनाम की दियम सरकार की सहायता की गई।

जॉनसन–युग
(1964–1968)

21 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उप-राष्ट्रपति लिण्डन बी. जॉनसन संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने और बाद में 1964 के निर्वाचन में विजय प्राप्त कर पुनः राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए। जॉनसन ने एक ओर तो शीत-युद्ध के विस्तार को रोकने का प्रदर्शन किया और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण अपनाया।

जर्मन-एकीकरण और बर्लिन सम्बन्धी प्रश्न—जर्मनी और बर्लिन के प्रश्न पर अमेरिका की नीति पूर्ववत् बनी रही। अमेरिका का कहना था कि जर्मनी के दोनों भागों और बर्लिन में स्वतन्त्र मतदान द्वारा विधान-निर्मात्री सभा चुनी जाए और वह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे। यह सरकार विजेता शक्तियों के साथ सन्धि करे जिसके द्वारा पोलैण्ड एवं रूस द्वारा हथियाए गए प्रदेशों का अन्तिम बँटवारा हो। इसके विपरीत सोवियत रूस भी पहले के समान ही था कि पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी को एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें और फिर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दोनों गणराज्य अपने एकीकरण के लिए परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता करें।

साम्यवादी चीन को मान्यता तथा निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रश्न—जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। आंशिक परमाणु परीक्षण सन्धि के पश्चात् निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रयत्नों के बावजूद कोई विशेष प्रगति नहीं की जा सकी।

यूरोपीय सुरक्षा का प्रश्न—यूरोपीय सुरक्षा की दृष्टि से भी जॉनसन के शासनकाल में अमेरिकी विदेश-नीति काफी हानिप्रद रही। डिगॉल के नेतृत्व में फ्रांस अमेरिका के प्रभाव से निकल गया। विवश होकर अमेरिका को नाटो का मुख्यालय पेरिस से हटाकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स ले जाना पड़ा।

वियतनाम का प्रश्न—वियतनाम-युद्ध को अमेरिका ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और उत्तर-वियतनाम पर अधिकाधिक उग्र एवं विनाशकारी बमवर्षा की गई। 1968 के आरम्भ से ही जब उत्तरवियतनामी सेना तथा वियतनाम छापामारों ने अमेरिकी सेना को अपमानजनक पराजयें दीं और अमेरिका सहित विश्व के विभिन्न भागों में युद्ध का तीव्र विरोध होने लगा, तो 31 मार्च, 1968 को जॉनसन ने यह नाटकीय घोषणा की कि वियतनाम में शान्ति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्तर-वियतनाम पर आंशिक रूप से बमबारी बन्द कर देने के आदेश दे दिए गए हैं और आगामी चुनावों में वह राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशी नहीं बनेंगे। इस घोषणा से राजनीतिक वातावरण में एक निश्चित परिवर्तन आया।

लेटिन-अमेरिका सम्बन्धी नीति—जॉनसन-प्रशासन 'प्रगति के लिए मैत्री' कार्यक्रम को प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने में असफल रहा। मौलिक नीति यही

रही कि लेटिन अमेरिका को हर तरह से अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र में रखा जाए। जॉनसन ने उदार नीति छोड़कर कठोर रुख अपनाया।

कोरिया और प्यूब्लो-काण्ड—जॉनसन ने 'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदार' की नीति को न केवल जारी रखा वरन् उसका कार्यक्षेत्र और भी बढ़ा दिया। इस नीति ने शीघ्र ही एक ऐसा सकट पैदा कर दिया जिसमें अमेरिका को बड़ा अपमानित होना पड़ा। अमेरिका के एक जासूसी पोत प्यूब्लो को 23 जनवरी, 1968 को उत्तरी कोरिया ने अपनी प्रादेशिक जल-सीमा में पकड़ लिया और अन्त में अमेरिका को लिखित क्षमा-याचना करनी पड़ी।

पश्चिमी-एशिया का संकट—जून, 1967 के अरब-इजरायल संघर्ष में जॉनसन-प्रशासन ने पूर्णतः अरब-विरोधी रुख अपनाया। अमेरिका ने इस बात से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की कि आक्रमणकारी कौन है। सुरक्षा-परिषद् में अमेरिका द्वारा यह भी प्रस्ताव रखा गया कि अरब-क्षेत्रों से इजरायली सेना की वापसी सशर्त हो। अमेरिका को सोवियत रूस का यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ कि इजरायल अरब-क्षेत्रों से वापस हटे और इजरायली आक्रमण की निन्दा की जाए।

अमेरिका ने अरब-राज्यों की नाराजगी मोल ले ली। अरब-देशों ने अमेरिका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए और अपने देश में रहने वाले अमेरिकी नागरिकों को अविलम्ब वापस चले जाने के आदेश दे दिए। जॉनसन-प्रशासन के अरब विरोधी रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। 25 नवम्बर, 1968 को अमेरिका ने इजरायल को अमेरिकी हथियार बेचने का भी निर्णय ले लिया।

भारत-विरोधी दृष्टिकोण—जॉनसन ने भारत के प्रति उदार दृष्टिकोण को समाप्त कर दिया जो कैनेडी ने शुरू किया था। सन् 1964 में रक्षा मन्त्री चह्वाण जब अमेरिका गए तो उन्हें कहा गया कि भारत को अपनी सुरक्षा-शक्ति अवश्य ही बढ़ानी चाहिए, लेकिन आर्थिक विकास की कीमत पर कुछ नहीं किया जाना चाहिए। भारत को तो यह सीख दी गई जबकि पाकिस्तान को पूर्ण रूप से शस्त्र-सज्जित किया जाता रहा। जॉनसन वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी सम्बन्धी भारत की आलोचना सहन नहीं कर सके और प्रधानमन्त्री शास्त्री की अमेरिकी यात्रा स्थगित कर दी। पाकिस्तान ने कच्छ के रन में और फिर 1965 के युद्ध में भारत के विरुद्ध अमेरिकी हथियारों का प्रयोग किया, लेकिन जॉनसन-प्रशासन का वरदहस्त पाकिस्तान के सिर पर रहा। 1967 में नागा-विद्रोही फिजो को अमेरिका में शरण दी गई और 1968 में भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बूँद-बूँद बन गई। अमेरिका के भारत विरोधी रवैये से क्षुब्ध होकर अक्तूबर, 1968 में संयुक्तराष्ट्र अधिवेशन के लिए न्यूयॉर्क पहुँच कर भी श्रीमती गाँधी वाशिंगटन गए बिना ही दिल्ली वापस आ गईं।

सारांश में जॉनसन-शासन काल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोणों के कारण न सिर्फ अमेरिका को काफी हानि हुई बल्कि उसे

अपनी लोकप्रियता से भी हाथ धोना पडा। बाद मे इस तथ्य को स्वयं जॉनसन ने भी स्वीकार किया।

निक्सन-युग
(1969–अगस्त 1974)

29 जनवरी, 1969 को रिचार्ड-निक्सन संयुक्त राज्य अमेरिका के 37वे राष्ट्रपति बने। निक्सन का कार्यकाल अमेरिका के इतिहास मे क्रान्तिकारी माना जाएगा क्योकि उन्होने साम्यवादी जगत् मे अमेरिका की नीति को एक नई दिशा प्रदान की तथा अन्य दृष्टियो से भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे अमेरिकी विदेश-नीति को मुखर बनाया। सुदीर्घकाल से चला आ रहा वियतनाम-युद्ध उन्ही के कार्यकाल मे समाप्त हुआ और महाशक्ति रूस के साथ नि शस्त्रीकरण वार्ताओ मे काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत् मे 'सह-अस्तित्व' की सम्भावनाओ को जितना अधिक बल निक्सन के कार्यकाल मे मिला उतना पहले कभी नही मिला था। दुर्भाग्यवश निक्सन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर 'ईमानदार राजनेता' के रूप मे नही उभर सके और अपने ही देश मे 'वाटरगेट काण्ड' ने उनकी प्रतिष्ठा को धूल मे मिला दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका के सम्पूर्ण इतिहास मे निक्सन पहले राष्ट्रपति थे जिन्हे इस तरह अपमानजनक रूप से पद-त्याग करने के लिए बाध्य होना पडा और आने वाले राष्ट्रपति को उन्हे क्षमा करना पड़ा।

निक्सन युग मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे संयुक्तराज्य अमेरिका की गतिविधि तथा विदेश-नीति के मुख्य विचार-बिन्दु इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

यूरोप की सद्भावना यात्रा—राष्ट्रपति बनने के लगभग छ सप्ताह बाद ही निक्सन ने यूरोप की सदभावना यात्रा की जिसका उद्देश्य एक 'नए यूरोप' की खोज करना था। निक्सन यूरोपीय देशो के नेताओ के साथ वियतनाम, पश्चिमी एशिया आदि की समस्याओ पर विचारो का आदान-प्रदान करना चाहते थे। निक्सन की यात्रा पर यूरोप मे कोई विशेष उत्साह नही दिखाया गया। फ्रांस मे तीव्र विरोध हुआ तो पश्चिमी जर्मनी अणु-प्रसार-विरोध-सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नही हुआ। बेल्जियम को छोड़कर हर जगह राष्ट्रपति निक्सन को अमेरिका विरोधी नारो की गूँज सुनाई दी।

उत्तरी कोरिया में अमेरिकी जासूसी—'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' की हिमायत निक्सन प्रशासन ने भी की। उत्तरी कोरिया ने अमेरिका के एक जासूसी विमान ई सी 121 को मार गिराया। निक्सन-प्रशासन ने दम्भपूर्वक घोषणा की कि दक्षिणी कोरिया तथा प्रशान्त महासागर मे अमेरिका के हितो की रक्षा के लिए और उत्तरी कोरिया की सैनिक तैयारियो की जानकारी के लिए अमेरिका इस प्रकार की जासूसी कार्यवाही भविष्य मे भी जारी रखेगा।

जर्मन-समझौते की दिशा में अमेरिकी नीति—निक्सन ने जर्मनी के एकीकरण की समस्या पर यद्यपि वही रुख अपनाया जो जॉनसन ने अपनाया था, तथापि

3 सितम्बर, 1971 को चतुर्शक्ति बर्लिन समझौता (Four Power Berlin Settlement) सम्पन्न हो गया। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के बीच सम्पन्न हुए इस समझौते के अनुसार पश्चिमी तथा पूर्वी बर्लिन के बीच आवागमन की पूरी स्वतन्त्रता दी गई और यह निश्चय किया गया कि इस क्षेत्र मे विवादों को शान्तिपूर्ण ढग से हल किया जाएगा। सोवियत सघ को पश्चिमी बर्लिन मे राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिया गया। यह भी घोषणा की गई कि पश्चिमी बर्लिन पश्चिमी जर्मनी का मूल भाग नही है, दोनो क्षेत्रों के बीच सम्बन्धों को कायम रखा जाएगा और उन्हे विकसित किया जाएगा। जर्मन-समस्याओं पर महाशक्तियों ने जो सहयोग-पूर्ण रुख अपनाया उसका एक शुभ परिणाम यह निकला कि संयुक्त-राष्ट्रसघ मे दोनो जर्मनियो (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) के लिए प्रवेश का मार्ग खुल गया और दोनों राज्यों को विश्व-सस्था की सदस्यता प्राप्त हो गई।

निक्सन-प्रशासन और वियतनाम—निक्सन की नीति यह थी कि एक ओर समझौता-वार्ता के लिए द्वार खुले रखे जाएँ और दूसरी ओर सैनिक शक्ति से उत्तरी वियतनाम को समझौता करने के लिए विवश किया जाए। उत्तरी वियतनाम अमेरिकी हवाई हमलो के आगे नही झुका और 26 अप्रेल, 1972 को निक्सन ने घोषणा की—'हम पराजित नही होंगे और न ही हम अपने मित्रो को साम्यवादी आक्रमण के समक्ष घुटने टेकने देंगे।' सघर्ष और वार्ता का दौर चलता रहा और आखिर 27 जनवरी, 1973 को वियतनाम मे युद्धबन्दी-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। निक्सन-प्रशासन द्वारा दक्षिणी वियतनाम को भारी आर्थिक सहायता दी जाती रही। वियतनामी युद्ध-विराम स्थायी नही रह सका और निक्सन के जाने के कुछ ही माह बाद युद्ध पुनः भड़क उठा।

निक्सन और पश्चिमी एशिया—पश्चिमी-एशिया-संकट पर निक्सन का दृष्टिकोण अरब-विरोधी और इजरायल समर्थक रहा। अक्तूबर, 1973 मे अरब-युद्ध मे इजरायल को अमेरिका का समर्थन मिला तथापि दोनो महाशक्तियों की कूटनीतिक सरगर्मी द्वारा युद्ध-विराम सम्भव हुआ।

इजरायल के समान ही ईरान को भी अधिकाधिक युद्ध-सामग्री से लैस करने की नीति अपनाई गई। ईरान के माध्यम से अमेरिकी शस्त्रास्त्रों का भण्डार पाकिस्तान पहुँचाने का कूटनीतिक खेल खेला गया। वाशिंगटन-पिण्डी-पेकिंग धुरी के समान ही वाशिंगटन-तेहरान-पिण्डी धुरी का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे विस्फोटक स्थिति पैदा करने वाली चालें थी।

निक्सन और चीन—राजनीति मे न कोई स्थायी मित्र होता और न कोई स्थायी शत्रु। अमेरिका के शत्रु नम्बर 1 चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढाकर निक्सन ने अमेरिकी कूटनीति और विदेश नीति को एक क्रान्तिकारी मोड दिया। निक्सन ने प्रारम्भ मे चीन को कुछ व्यापारिक रियायतें प्रदान की। एकपक्षीय सुविधाओं द्वारा

निक्सन-प्रशासन ने चीन के साथ पहली किश्त में व्यापारिक सम्बन्ध और दूसरी किश्त में राजनीतिक तथा मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनाई।

अक्तूबर, 1971 में संयुक्तराष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) को संयुक्त राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी चीन (कम्युनिस्ट चीन) को सदस्य बनाने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। 26 अक्तूबर, 1971 का महासभा का यह निर्णय अमेरिका की विदेश नीति और कूटनीति की पहली बड़ी हार थी। फिर भी चीन और अमेरिका की ओर से ऐसे कोई प्रयास नहीं किए गए जिससे राष्ट्रपति निक्सन की चीन की सम्भावित यात्रा खटाई में पड़ जाए। अमेरिका और चीन दोनों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में एक-दूसरे के निकट आने की नीति अपनाई। बंगला देश के मुक्ति आन्दोलन और भारत-पाक संघर्ष के समय दोनों राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में और उसके बाहर पाकिस्तान का खुला समर्थन किया—कूटनीतिक स्तर पर भी और सामरिक सहायता द्वारा भी।

मार्च, 1972 में निक्सन ने पेकिंग यात्रा की। निक्सन-चाऊ का पहला शिकार ताइवान बना जिसे अमेरिका के साथ अपनी दोस्ती का दम्भ था। निक्सन ने यह स्पष्ट संकेत दे दिया कि यदि चीनी नेता अमेरिका से सहयोग करें तो वह ताइवान की समस्या के हल में रुकावट नहीं डालेगा। ताइवान को चीन का एक हिस्सा मान कर तथा ताइवान स्थित अमेरिकी फौजों और फौजी अड्डों को धीरे-धीरे हटाने की इच्छा व्यक्त करके और 'ताइवान समस्या को स्वयं सुलझाएँ' कहकर निक्सन ने चीन के प्रति अपनी भावी नीति स्पष्ट कर दी। संयुक्त विज्ञप्ति से यह प्रकट किया गया कि हिन्द-चीन, कोरिया और वियतनाम के प्रश्न पर दोनों देशों में मतभेद बरकरार रहे। विज्ञप्ति में न केवल भारत और पाकिस्तान को समान स्तर पर रख कर उनसे कश्मीर में अपनी-अपनी सेनाओं को युद्ध-विराम रेखा तक लौट जाने का आग्रह किया गया, बल्कि भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की भी धृष्टता की गई। चीन ने जम्मू-कश्मीर के लोगों के आत्म-निर्णय के अधिकार का भी समर्थन किया। मतैक्य का एक मुद्दा यह भी था कि दोनों ही देशों ने बंगलादेश के बारे में कुछ भी नहीं कहा, मानो इतिहास के सबसे बड़े नरसंहार का विश्व-शान्ति और मानवता से कोई सम्बन्ध ही नहीं था।

निक्सन-सोवियत रूस—साम्यवादी विश्व के साथ सह-अस्तित्व की नीति को बहुत-कुछ आगे बढ़ाने का श्रेय निक्सन ने प्राप्त किया। निक्सन ने मई 1972 में मास्को की यात्रा की। जो संयुक्त घोषणा प्रकाशित हुई उसमें दोनों देशों ने 'शान्तिपूर्ण सम्बन्ध' विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया। कहा गया कि संकट से बचने और परमाणु युद्ध से दूर रहने का भरसक प्रयत्न किया जाएगा। दोनों देश इस बात पर राजी हुए कि वे आपसी हितों के मामले पर विचार-विनिमय की परम्परा आगे बढ़ायेंगे और अस्त्र-परिसीमन की नई सम्भावनाएँ खोजेंगे। दोनों देशों ने घोषणा की कि वे सभी राज्यों की प्रभुसत्ता को समानता का दर्जा देते हैं। दोनों

देशों के बीच अस्त्र-परिसीमन पर एक ऐतिहासिक सन्धि हुई। एक अन्तरिक्ष अभियान-सहयोग-सन्धि भी हुई जिसमे निश्चय किया गया कि दोनो देशो के उड़ाके एक साथ आकाश-विहार करेंगे और उपलब्ध जानकारी का आदान-प्रदान करेंगे। एक अन्य सैनिक सन्धि भी हुई जिसमें अमेरिका ने एक प्रकार से रूस की बढ़ी हुई नौसैनिक शक्ति को स्वीकार किया।

जून, 1973 मे सोवियत नेता ब्रेझनेव ने अमेरिका-यात्रा की और दोनो देशो मे कुछ सन्धियाँ हुईं। एक सन्धि में दोनो देशो ने सकल्प किया कि उनमें से कोई भी परमाणु-युद्ध नही करेगा। एक दूसरी सन्धि परमाणु-अस्त्र-शस्त्र की सीमा और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन मास्को यात्रा पर गए और 3 जुलाई 1974 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र प्रणालियो तथा आक्रामक परमाणु अस्त्रो को और सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतो पर हस्ताक्षर किए गए। दोनो देशो मे एक महत्त्वपूर्ण 10 वर्षीय व्यापार-समझौता हुआ जिसे 1972 के व्यापार समझौते का पूरक बताया गया।

भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश के प्रति निक्सन का दृष्टिकोण—निक्सन-प्रशासन-काल मे अमेरिका का भारत-विरोधी रुख विशेष उग्र रहा और निक्सन के समय दोनो देशो के बीच सम्बन्ध जितने कटु रहे, उतने पहले कभी नही रहे थे। निक्सन ने भारत की न केवल आर्थिक सहायता ही रोकी, बल्कि सैनिक साज-सामान देना भी बन्द कर दिया और हर तरह से भारत के प्रति अमैत्री प्रदर्शित की। बगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन को कुचलने मे तत्कालीन याहिया सरकार को अमेरिका और चीन का जो प्रोत्साहन मिला वह लोकतन्त्र के नाम पर कलक था। भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर और चीन द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र सहायता दिए जाने पर निक्सन-प्रशासन ने भारत को न केवल किसी प्रकार की सहयता ही देने मे असमर्थता प्रकट की बल्कि बगाल की खाडी मे अपना शक्तिशाली नौ-बेडा भेजकर भारत को डराने-धमकाने की भी कोशिश की। अगस्त, 1974 मे राष्ट्रपति निक्सन के पद-त्याग तक ऐसी कोई उज्ज्वल आशा न हो सकी कि निकट भविष्य में भारत अमेरिकी सम्बन्धो मे ठोस सुधार हो सकेंगे।

फोर्ड–युग
(अगस्त 1974–1976)

निक्सन को वाटरगेट काण्ड ले डूबा और 9 अगस्त, 1974 को उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने अमेरिका के 38वें राष्ट्रपति के रूप मे शपथ ली। उसके राष्ट्रपतित्व काल मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमच पर अमेरिका की भूमिका इस प्रकार रही—

पश्चिमी एशिया—अरब-इजरायल समस्या के समाधान के लिए अमेरिका के विदेशमन्त्री डॉ. कीसिंगर ने अपने कूटनीतिज्ञ प्रयास जारी रखे। अन्तत 4 सितम्बर, 1975 को डॉ. कीसिंगर मिस्र और इजरायल के बीच एक अन्तरिम

समझौता कराने में सफल हुए। पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने के लिए अमेरिकी कूटनीति में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ यह परिलक्षित हुआ कि इजरायल को पूरा-पूरा समर्थन देते हुए भी उसने अरब राष्ट्रों को सोवियत संघ से विमुख कर अपने विश्वास में लेने की नीति अपनाई। इस नीति की यह स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जब 2 नवम्बर, 1975 को अमेरिका ने मिस्र को नाभिकीय भट्टी देने के निश्चय की घोषणा की। 6 मार्च, 1976 को अमेरिका ने इजरायल से आग्रह किया कि उसे पूरा सिनायी क्षेत्र खाली कर देना चाहिए। अमेरिकी कूटनीति की एक बड़ी विजय तभी मानी गई जब 15 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति सादात ने सोवियत संघ से अपनी मैत्री-सन्धि को रद्द कर दिया। अरब-देशों के प्रति अमेरिका ने कुछ उदार रुख अवश्य अपनाया, लेकिन जब सुरक्षा-परिषद् में इजरायल विरोधी प्रस्ताव आया तो 26 मार्च, 1976 को अमेरिका के नए प्रतिनिधि विलियम स्क्रेटन ने निषेधाधिकार का प्रयोग किया। 30 मई, 1976 को मिस्र और अमेरिका के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार अमेरिका ने मिस्र को 10 करोड़ 20 लाख डॉलर की सहायता देने का निश्चय किया।

वियतनाम—वियतनाम में फोर्ड-प्रशासन निक्सन के पद-चिह्नों पर चलता रहा। यह लगभग स्पष्ट हो गया कि दक्षिण वियतनाम राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के हाथों में चला जाएगा। 30 अप्रेल, 1975 को अमेरिका समर्थित दक्षिण वियतनामी सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और इस प्रकार वियतनामी युद्ध समाप्त हो गया। जन-धन के भारी बलिदान के बावजूद अमेरिका को वियतनाम से हटना पड़ा। यह महायुद्धोत्तर इतिहास में अमेरिकी विदेश-नीति की सबसे गम्भीर और लज्जाजनक पराजय थी। वियतनाम के प्रति अमेरिका का आक्रोश मिटा नहीं और अगस्त, 1975 में उसने सुरक्षा-परिषद् में निषेधाधिकार का प्रयोग कर उत्तर वियतनाम, दक्षिण वियतनाम का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश रोक दिया। हिन्द-चीन पर साम्यवादियों का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद अमेरिका की एक विशेष उपलब्धि यह मानी जावेगी कि वह हनोई और वाशिंगटन के बीच किसी न किसी स्तर पर सम्बन्ध बनाए रखने में सफल रहा।

पाकिस्तान को हथियार—भारत के प्रति फोर्ड-प्रशासन का दृष्टिकोण निक्सन-प्रशासन से भी एक कदम आगे बढ़ा। फरवरी, 1975 में अमेरिकी सरकार ने पाकिस्तान को हथियारों की सप्लाई पर 10 वर्ष से लगी पाबन्दी को हटाने के अपने निर्णय की सूचना औपचारिक रूप से भारत सरकार को दे दी। भारत में तीखी प्रतिक्रिया हुई और भारतीय विदेशमन्त्री ने अपनी प्रस्तावित अमेरिका यात्रा स्थगित करदी। इन व्यवधानों के बावजूद भारत सरकार का यह प्रयत्न रहा कि अमेरिका के साथ सम्बन्ध सुधारे जाएँ। अन्न आदान-प्रदान का कार्यक्रम आगे भी जारी रहा। अक्तूबर, 1975 में भारत के विदेशमन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की। भारत सरकार ने अमेरिका को स्पष्ट किया कि पाकिस्तान को उन्नत अमेरिकी हथियार मिलने से शिमला समझौते के अन्तर्गत सम्बन्धों के सामान्यीकरण की

राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन की यात्रा की जहाँ उन्हे राज्याध्यक्ष जैसा सम्मान दिया गया। इस प्रकार चीनी नेताओं ने अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड को यह संकेत दिया कि "चीन को फोर्ड नही, निक्सन चाहिए। 9 सितम्बर, 1976 को माओ की मृत्यु और 3 नवम्बर, 1976 को फोर्ड के स्थान पर जिम्मी कार्टर की विजय के फलस्वरूप अब दोनो ही देशो मे सर्वोच्च नेतृत्व बदल गया।

अमेरिका और जापान—18 नवम्बर, 1974 को फोर्ड जापान की राजधानी टोकियो पहुँचे जहाँ अमेरिकी विरोधी भावना बडी उग्र थी। फोर्ड का स्वागत कडी सुरक्षा के अन्तर्गत किया गया। उनकी अगवानी के लिए हवाई अड्डे पर न तो सम्राट की उपस्थिति थी और न प्रधानमन्त्री की ही। जापान को इस बात से गहरी नाराजगी थी कि एक तो ओकानावा द्वीप बहुत ही विलम्ब से और भारी हीले-हवाले के बाद लौटाया गया और दूसरे चीन की ओर अपनी दोस्ती का हाथ बढाने से पहले अमेरिका ने जापान को विश्वास मे नही लिया। वार्ता के दौरान जापान ने अमेरिका से अनाज की माँग की जो अमेरिका ने स्वीकार कर ली। 1969 की सुरक्षा सन्धि को दोनो देशो के मैत्री सम्बन्धो के लिए पुनः महत्वपूर्ण बताया गया।

लैटिन अमेरिका : क्यूबा के प्रति नीति परिवर्तन—लैटिन अमेरिकी राज्यों की माँग जोर पकडती जा रही थी कि अमेरिका क्यूबा के खिलाफ अव्यावहारिक नीतियों को समाप्त करे। अमेरिका क्यूबा को अन्य देशो से अलग रखने के प्रयास मे असफल रहा था। क्यूबा के साथ सम्बन्ध सुधारने का दौर निक्सन काल से ही शुरू हो गया और फोर्ड के शासनकाल मे अमेरिकी राज्यो के 21 सदस्यीय सगठन के जुलाई, 1975 के इस प्रस्ताव का अमेरिका ने समर्थन किया कि क्यूबा पर लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्धो को समाप्त कर दिया जाए।

फोर्ड और फ्रांस—फ्रांस ने तेल सकट के समाधान के लिए अरब देशो पर सयुक्त दबाव डालने के बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग बढाने की नीति अपनायी थी, किन्तु आगे चलकर 1974 के अन्तिम चरण मे जब राष्ट्रपति फोर्ड की फ्रांसीसी राष्ट्रपति गिस्तॉंग से भेंट हुई तो फ्रांस ने भी तेल उपभोक्ता देशो के साथ सहयोग करने के लिए सहमति व्यक्त कर दी।

हिन्दमहासागर में अमेरिका—हिन्द महासागर क्षेत्र मे अमेरिका अपने सैनिक साम्राज्यवाद का प्रसार करता रहा है। सभी विरोधो के बावजूद डियागोगार्सिया का सामरिक अड्डे के रूप मे विकास किया गया।

अमेरिका 'मुक्ति संघर्षों' के विरुद्ध : यथास्थितिवाद का समर्थक—अमेरिका की विदेशनीति का यह एक खेदजनक पहलू है कि उसने विश्व के राष्ट्रीय आन्दोलनो और मुक्ति सघर्षों को कभी खुले दिल से समर्थन नही दिया है। फोर्ड भी इसी नीति पर चले। अमेरिका रोडेशिया और दक्षिणी अफ्रीका की रगभेद समर्थक सरकारो का पक्ष लेता रहा। 30 अक्टूबर, 1974 को सयुक्त राष्ट्रसघ से दक्षिणी अफ्रीका को निष्कासित करने के प्रस्ताव पर अमेरिका ने वीटो का प्रयोग किया।

कार्टर-युग
(1977–1980)

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक पार्टी के जेम्स अर्ल कार्टर (जिम्मी कार्टर) ने अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। कार्टर के कार्यकाल में अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रवैये को हम निम्नलिखित शीर्षकों में व्यक्त कर सकते हैं —

नये रिश्तों की शुरुआत—उपराष्ट्रपति वाल्टर माडेल को 23 जनवरी से 31 जनवरी, 1977 तक सात देशों की यात्रा पर और संयुक्तराष्ट्र में स्थायी प्रतिनिधि एण्ड्रू यंग को 3 से 12 फरवरी की तंजानिया तथा नाइजीरिया की दस दिवसीय यात्रा पर भेजा गया। एण्ड्रू यंग ने तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्यूरेरे को विश्वास दिलाया कि हम अमेरिकी अपने प्रभाव और शक्ति के प्रयास से दक्षिण अफ्रीका भर में बहुसंख्यक और बहुजातीय शासन की सम्भावनाओं पर विचार कर सकते हैं। दरअसल, दक्षिण अफ्रीका की समस्याओं का समाधान अफ्रीकियों द्वारा स्वयं होना चाहिए, हम लोग तो केवल सहायता कर सकते हैं। यंग ने अफ्रीकी नेताओं को विश्वास दिलाया कि वह वायरर्ड संशोधन में परिवर्तन कराकर रोडेशिया से क्रोम का आयात बन्द करने की सिफारिश करेंगे। उपराष्ट्रपति वाल्टर माडेल ने बेल्जियम, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की नौ दिवसीय यात्रा में इन देशों से पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में वार्ता की। साथ ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय और नाटो के साथ सम्बन्धों का जायजा लिया। उन्होंने इटली की जर्जर अर्थव्यवस्था में सुधार का आश्वासन दिलाया और नाटो के प्रति अमेरिका की प्रतिबद्धता व्यक्त की। पश्चिम जर्मनी के नेताओं से द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते पर वार्ता तथा ब्राजील को परमाणु जानकारी देने के बारे में विशेष विचार हुआ।

पश्चिमी एशिया और कार्टर प्रशासन—कार्टर प्रशासन ने पश्चिम एशिया की समस्या के निदान के लिए पूर्वापेक्षा अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। 1977 में अपनी अमेरिका यात्रा पर अनवर सादात ने राष्ट्रपति कार्टर को यह बात स्पष्ट रूप से बता दी कि जब तक फिलिस्तीनियों का पृथक राज्य नहीं बन जाता तब तक अरब इजरायल संघर्ष पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकता। यह काम केवल अमेरिका ही कर सकता है। राष्ट्रपति सादात और राष्ट्रपति कार्टर ने 1977 के उत्तरार्द्ध में जेनेवा सम्मेलन आयोजित करने के प्रयास करने की बात दोहरायी। इसके बाद ही पश्चिमी एशिया की राजनीति में तेजी से नए मोड़ आए। अक्तूबर, 1977 में अमेरिका, सोवियत संघ, अरब देश और इजरायल के बीच एक अनौपचारिक समझौता हुआ जिसमें उस गतिरोध को समाप्त कर दिया जो पिछले एक अर्से से जिनेवा सम्मेलन बुलाने में बाधक बना हुआ था। इजरायल इस बात पर सहमत हो गया कि अरब देशों के प्रतिनिधि मण्डल में फिलिस्तीनियों का प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो सकता है। कार्टर में विश्वास रखते हुए ही सादात ने समझौते के

लिए इजरायल की यात्रा का ऐतिहासिक निर्णय लिया। राष्ट्रपति कार्टर दोनों पक्षों में समझौते के लिए विशेष प्रयत्न करते रहे और उन्होंने अमेरिका में कैम्प डेविड में सितम्बर, 1978 में सादात-बेगिन-कार्टर शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। 13 दिनों का शिखर सम्मेलन 18 सितम्बर को समाप्त हुआ जबकि एक ऐतिहासिक समझौते पर कार्टर-सादात और बेगिन ने हस्ताक्षर कर दिए। समझौते की क्रियान्विति नहीं हो सकी क्योंकि दोनों पक्षों में कुछ मुद्दों पर मतभेद पैदा हो गए। कार्टर की प्रतिष्ठा दाव पर लग गई और अन्त में 26 मार्च 1979 को उनकी उपस्थिति में वाशिंगटन में सादात और बेगिन के हस्ताक्षरों के साथ मिस्र और इजरायल में एक शान्ति सन्धि सम्पन्न हुई। यह शान्ति-सन्धि सम्पन्न कराने में सफलता प्राप्त कर अमेरिका ने वास्तव में सोवियत संघ को एक करारी कूटनीतिक मात दी। जनवरी, 1980 में अमेरिका द्वारा मिस्र को 35 करोड़ डॉलर की सहायता देने का वायदा किया गया और इस प्रकार कार्टर-प्रशासन ने राष्ट्रपति सादात के प्रति अपना समर्थन जताया। मई 1980 के प्रारम्भ में फिलिस्तीनियों के अधिकार सम्बन्धी प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग किया गया।

अमेरिका और क्यूबा—अमेरिका और क्यूबा में पहले से ही चली आ रही तनातनी 1979 के मध्य क्यूबा में रूसी सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अचानक ही विस्फोटक स्थिति में जा पहुँची। राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन में एक अग्रिम सेना (टास्क फोर्स) तैनात करने की घोषणा कर दी। इसके साथ ही कार्टर ने कुछ नए रक्षा उपायों की भी घोषणा की। क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्ट्रो ने कहा कि क्यूबा में रूसी सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अमेरिका के साथ हमारे जो भी विवाद हैं, हम उन पर बातचीत करने को तैयार हैं। कास्ट्रो ने कहा कि क्यूबा में जो सोवियत सैनिक हैं उनकी जानकारी तो अमेरिका को पिछले 17 वर्षों से है। सोवियत संघ ने भी अमेरिका को चेतावनी दी कि क्यूबा की बात को अनावश्यक तूल देकर राष्ट्रपति कार्टर आग में खेलने की जोखिम मोल न लें। स्वयं अमेरिका में भी कार्टर-प्रशासन के रुख की काफी आलोचना हुई। अन्त में कार्टर को झुकना पड़ा। कार्टर ने स्वीकार किया कि रूस और अमेरिका के बीच टकराव की स्थिति दोनों देशों की सुरक्षा के लिए जबरदस्त खतरा है और क्यूबा में 2–3 हजार रूसी सैनिकों की उपस्थिति अमेरिका के लिए कोई खतरा नहीं बन सकती।

अमेरिका और वियतनाम—कार्टर के राष्ट्रपतित्व-काल के प्रारम्भिक कुछ महीनों में ही वियतनाम के प्रति अमेरिका का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक बन गया। अप्रैल-मई 1977 में पेरिस वार्ता का दौर चला। अमेरिका के रिचर्ड होलब्रुक ने विश्वास दिलाया कि अमेरिका अब वियतनाम के संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने में बाधा न डालेगा। पिछली चार बार अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर वियतनाम को विश्व-संस्था का सदस्य नहीं बनने दिया था। पेरिस वार्ता में अमेरिका ने वियतनाम से अपने दूतावास स्थापित करने की बात उठायी। वियतनाम ने दो मुख्य बातों पर जोर दिया। पहली, अमेरिका 1973 के अमेरिका वियतनाम समझौते की 29वीं धारा के अनुसार युद्ध में आहत देश के पुनर्निर्माण में अधिक सहायता दे और दूसरी, अमेरिका वियतनाम के साथ व्यापार करने पर लगाए गए सब प्रतिबन्धों को तुरन्त हटा ले।

20 सितम्बर 1977 को संयुक्त राष्ट्र महासभा का 32 वाँ अधिवेशन विश्व संस्था में दो नए सदस्यों के प्रवेश के साथ आरम्भ हुआ। ये सदस्य थे—वियतनाम और जिबूती।

कार्टर और भारत—जनता पार्टी के शासनकाल में भारत-अमेरिका सम्बन्धों में कुछ सुधार परिलक्षित हुआ। जनवरी 1978 के प्रथम सप्ताह में भारत-यात्रा के दौरान कार्टर ने यह घोषणा भी की कि उन्होंने तारापुर परमाणु बिजली संयन्त्र के लिए श्रेष्ठ यूरेनियम की एक और खेप भेजने का प्राधिकार दे दिया है। दोनों देश इस बात पर सहमत हुए कि वे दूसरों के साथ अपने विवाद सौहार्द्रपूर्ण ढंग से निपटाएँगे तथा नाभिकीय अस्त्रों के फैलाव के खतरे को रोकने के लिए और उनमें कमी करते हुए अन्ततः उन्हें समाप्त करने के लिए कार्य करेंगे। जून 1978 में भारत के प्रधानमन्त्री श्री देसाई संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा पर गए। अमेरिका के उप-विदेशमन्त्री श्री वारेन के नेतृत्व में आए प्रतिनिधि मण्डल ने फरवरी-मार्च, 1979 में भारतीय अधिकारियों के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धों और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर लाभदायक विचार-विमर्श किया। भारतीय विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने 20 से 25 अप्रेल 1979 तक संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा की। कुछ मसलों पर विशेषतया तारापुर संयन्त्र के नाभिकीय ईंधन की सप्लाई के बारे में दोनों देशों में मतभेद बने रहे। भारत ने स्पष्ट शब्दों में जता दिया कि संयुक्त राज्य को अपने संविदात्मक दायित्व का सम्मान करना चाहिए। श्री वाजपेयी ने यह भी स्पष्ट किया कि यद्यपि नाभिकीय हथियारों के प्रसार के निषेध के विषय में संयुक्तराज्य अमेरिका के उद्देश्य से भारत सहमत है, लेकिन भारत का दृढ़ विचार है कि यदि इन सुरक्षा सम्बन्धी उपायों का उद्देश्य वस्तुतः नाभिकीय हथियारों के प्रसार को रोकना है तो इसे ऊँचाई तथा विस्तार दोनों प्रकार के प्रसारों पर लागू करना होगा। इससे सुरक्षा सम्बन्धी उपाय नाभिकीय हथियार नहीं रखने वाले राज्यों के साथ-साथ उन राज्यों पर भी लागू होंगे जिनके पास नाभिकीय हथियार हैं। उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि भारत ऐसे किसी भी सुरक्षा सम्बन्धी उपाय को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा जो दबाव पूर्ण हो। श्री वाजपेयी ने सुझाव दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका को पाकिस्तान पर अपनी ओर से पूरी तरह से दबाव डालना चाहिए कि वह इस क्षेत्र में नाभिकीय हथियारों की होड़ शुरू करने से बाज आए। यह भी बता दिया गया कि हिन्द महासागर में संयुक्त राज्य अमेरिका की नौ-सैनिक शक्ति की बढ़ोत्तरी के कारण निश्चित रूप से इस क्षेत्र में अन्य देशों की नौ-सैनिक उपस्थिति में वृद्धि होगी। अफगानिस्तान के मसले पर दोनों देशों के दृष्टिकोणों में अन्तर बना रहा। 24 नवम्बर, 1980 को अमेरिकी सीनेट ने भारत को परमाणु ईंधन देने का प्रस्ताव पारित करके कार्टर प्रशासन की कार्यवाही का समर्थन किया। कुल मिलाकर कार्टर युग में भारत-अमेरिका सम्बन्ध सामान्य बने रहे।

कार्टर-प्रशासन और चीन : बदलते समीकरण—कार्टर प्रशासन चीन के साथ सम्बन्ध सुधार के लिए प्रयत्नशील रहा। अगस्त, 1977 में विदेशमन्त्री साइरस वेन्स

ने चीन की यात्रा की किन्तु ताइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग के विभिन्न मुद्दों पर मतैक्य नहीं हो सका। अमेरिका ताइवान से सम्बन्ध तोड़ने को तैयार नहीं हुआ और चीन के विरोधी रवैये के कारण कार्टर ने यहाँ तक कह दिया कि चीन को पूर्ण मान्यता देने में अभी वर्षों लगेंगे। वेन्स की यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित नहीं की गई। फिर भी ऐसा वातावरण दिखाई देने लगा कि दोनों पक्ष अन्ततः ताइवान पर समझौता कर लेंगे। वेन्स के बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिंस्की ने पीकिंग की यात्रा की। चीन के प्रति नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए कार्टर ने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया। अब तक ये हथियार आमतौर पर निर्यात नहीं किए जाते थे। ताइवान के प्रश्न पर अमेरिका और चीन के बीच मतभेदों की दूरी कम होती गई और मार्च, 1978 के प्रारम्भ में चीन ने अमेरिका को परामर्श दिया कि वह ताइवान से सम्बन्ध विच्छेद कर ले। 15 दिसम्बर, 1978 को राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने जनवरी, 1979 से चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। कार्टर ने अपने वक्तव्य में यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है। कार्टर ने यह अब स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है। यह क्षेत्र सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि हो सकते हैं। चीन के साथ अमेरिका के राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय विश्व की महत्त्वपूर्ण घटना मानी गई। ताइवान के साथ कोई भी सम्बन्ध रखना चीन को नागवार था और अक्तूबर, 1980 में अमेरिका और ताइवान के बीच बढ़ते सम्बन्धों की चीन द्वारा पुनः आलोचना की गयी। कुल मिलाकर कार्टर के शासनकाल में अमेरिका और चीन एक दूसरे के अधिक निकट आए। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का विरोध अमेरिका और चीन ने एक स्वर से किया। जापान के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री ओहिरा की स्मृति के लिए जब विभिन्न देशों के प्रमुख नेता टोकियो में एकत्रित हुए तो 10 जुलाई 1980 को कार्टर और चीनी प्रधानमन्त्री हुआ की प्रथम बातचीत हुई। अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप, कम्बुजिया (कम्बोडिया) पर वियतनाम का अधिकार आदि प्रश्नों पर दोनों देशों ने सहमतिपूर्ण चिन्ता व्यक्त की। कार्टर ने एक दूरदर्शन भेंट वार्ता में कहा कि रूसी सैनिक शक्ति का मुकाबला करने के लिए अमेरिका, चीन और जापान को एक हो जाना चाहिए।

अमेरिका और रूस—कार्टर प्रशासन, बावजूद सामयिक उतार-चढ़ाव और उत्तेजनाओं के, सोवियत संघ के साथ अपने देश के उत्तरोत्तर सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष्ट रहा। कार्टर ने अपने कार्यकाल के कुछ ही महीनों में रूस-अमेरिका सम्बन्धों का समीकरण बदल दिया। अब तक सोवियत संघ यह मानकर चल रहा था कि वह परमाणु अस्त्रों से अग्रता प्राप्त कर लेगा और अपने यहाँ के असन्तुष्टों का अमेरिका की प्रसन्नता के बिना दमन कर सकेगा। उसे आशा थी कि इस सबके

बावजूद अमेरिका के आर्थिक सहयोग से लाभान्वित होता रहेगा। कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया कि परमाणु अस्त्रों के बारे मे वह उचित समानता चाहेगा और अमेरिका से आर्थिक सहयोग स्थापित रखने के लिए सोवियत संघ को घर मे और बाहर अपना आचरण बदलना होगा। कार्टर की इस नीति ने सोवियत सघ को दुविधा में डाल दिया। नि शस्त्रीकरण पर कुछ सैद्धान्तिक सहमतियो के बावजूद दोनों पक्षो में गम्भीर मतभेद बने रहे। अन्त मे जून, 1979 में साल्ट-2 समझौता हो गया जिसे राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र-परिसीमन की दिशा में एक सीमित पर महत्त्वपूर्ण सन्धि मानी गई है। अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप को लेकर रूस-अमेरिका के बीच सुधरते सम्बन्धो में कुछ तनाव आ गया तथापि उनमे इसी स्थिति मे दोनों ही महाशक्तियाँ बचने का प्रयत्न करती रही जिसमें कोई सशस्त्र टकराव हो जाए। जून, 1980 में सोवियत सघ ने यह आरोप लगाया कि पश्चिमी देशो की अडगेबाजी के कारण साल्ट-वार्ता की गति बहुत धीमी हो गई है।

कुल मिलाकर विदेश नीति के क्षेत्र मे कार्टर अपने देश के लिए स्तुति योग्य उपलब्धियाँ हासिल नही कर सके और फलस्वरूप नवम्बर, 1980 के राष्ट्रपति पद के चुनावो मे उन्हें रोनाल्ड रीगन के हाथों पराजित होना पडा।

रोनाल्ड रीगन और अमेरिकी विदेश नीति
(जनवरी 1981 से अब तक)

अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति के तौर पर 70 वर्षीय रोनाल्ड विल्सन रीगन ने 20 जनवरी, 1981 को दोपहर को अपने पद की शपथ ग्रहण की। अपने प्रथम सन्देश मे नए राष्ट्रपति ने अमेरिका के मित्रो को आश्वासन दिया—"हम अपनी मित्रता उनकी सार्वभौमिकता पर नहीं थोपेंगे, क्योंकि हमारी अपनी सार्वभौमिकता बिक्री के लिए नही है।" रीगन ने अमेरिका के प्रतिद्वन्द्वियों को कहा—"शान्ति में उनका यकीन है, शान्ति स्थापना के लिए वह बातचीत कर सकते है, बलिदान कर सकते हैं, लेकिन आत्मसमर्पण कभी नही करेंगे।" जब रीगन अपना सन्देश समाप्त कर चुके तभी ईरान मे अमेरिकी बन्धकों की रिहाई का समाचार प्राप्त हुआ। कार्टर अपने शासनकाल मे किए गए अथक प्रयासो का फल सत्ता मे रहते नहीं देख सके—बन्धकों को रोनाल्ड रीगन के शपथ ग्रहण से 25 मिनट पहले रिहा किया गया।

रीगन की अब तक की (मार्च, 1982 तक की) विदेश नीति कटु और कठोर रही है। मार्च, 1981 मे रीगन ने कहा कि सोवियत संघ को अपने प्रभाव और हस्तक्षेप के दायरे पर अंकुश लगाना चाहिए। रीगन ने आरोप लगाया कि सोवियत सघ और उसके समर्थक साम्राज्यवादी नीतियो को प्रश्रय दे रहे हैं। उन्होंने कहा कि—"जिस प्रकार लीबिया के मुअम्मर गद्दाफी चैड में क्यूबा के सैनिक अंगोला में, क्यूबा और पूर्वी जर्मनी के सैनिक इथोपिया और दक्षिण यमन में तथा अब पश्चिमी गोलार्द्ध मे अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा रहे हैं उस पर रोक लगाना आवश्यक है।" रीगन ने यह बात तो दो टूक कही कि कम्युनिस्टों को अपनी गतिविधियों के

प्रभाव को सीमित करने के लिए एक रेखा खींचनी होगी लेकिन इस बात को नजर-अन्दाज कर दिया कि स्वयं अमेरिका लेटिन अमेरिकी देशों में हस्तक्षेप बढ़ा रहा है। जुलाई, 1979 में सम्पन्न हुई निकारगुआ की सान्दिनिस्ता क्रान्ति ने आसपास के पड़ोसी राष्ट्रों में एक नया जागरण पैदा किया और फलस्वरूप अलसाल्वाडोर में विद्रोह की आग प्रज्ज्वलित हुई। यह घटना अमेरिका साम्राज्यवाद के लिए जबरदस्त चुनौती थी। कार्टर प्रशासन ने निकारगुआ क्रान्ति की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दुलार-पुचकार की कूटनीति का सहारा लिया और रीगन सरकार ने अलसाल्वाडोर को विदेश नीति का प्रथम परीक्षण स्थल बनाया। अमेरिकी विदेश मन्त्रालय ने घोषणा की कि अलसाल्वाडोर को क्यूबाई और सोवियत समर्थित आतंकवादी षड्यन्त्र का शिकार नहीं होने दिया जाएगा। 23 फरवरी, 1981 को अमेरिकी विदेश-विभाग ने एक श्वेत-पत्र में यह दावा किया कि अलसाल्वाडोर के छापामारों को क्यूबा, सोवियत संघ, निकारगुआ, वियतनाम और इथियोपिया से सैनिक सहायता मिल रही है। इन आरोपों की आड़ में रीगन सरकार ने अलसाल्वाडोर में अपने हस्तक्षेप का आधार तैयार कर लिया। वास्तव में रीगन सरकार मध्य अमेरिका को साम्यवादी खतरे से बचाने के लिए 'मुनरो सिद्धान्त' की पक्षधर है। वह जरूरी मानती है कि क्यूबा को इस इलाके में मनमानी करने की आजादी नहीं दी जाए। 3 जून, 1981 को अमेरिकी कांग्रेस में एक वक्तव्य देते हुए अन्तर-अमेरिकी मामलों के उप विदेशमन्त्री टॉमस एण्डरस् ने मध्य अमेरिका में क्यूबाई खतरे का मुकाबला करने के लिए चार कदमों की घोषणा की—(1) अमेरिका संकटग्रस्त राष्ट्रों को निजी सुरक्षा के लिए हर प्रकार की सहायता प्रदान करेगा, (2) इन राष्ट्रों को अपने आत्म-निर्णय के अधिकारों को सुरक्षित रखने में मदद देगा, (3) उन्हें आर्थिक सफलता प्राप्त करने में सहायता प्रदान करेगा एवं (4) अमेरिका वर्तमान संकट के स्रोत पर आक्रमण करेगा। अमेरिका ने मध्य अमेरिका और कैरिबियाई राष्ट्रों के आर्थिक पुनरोत्थान के लिए एक 'लघु मार्शल योजना' की भी घोषणा की। और इन राष्ट्रों को यकीन दिलाया कि निजी लागत तथा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के जरिये बेहतर आर्थिक विकास सम्भव है। वस्तुतः रीगन की मध्य अमेरिकी और कैरिबियाई नीति इस धारणा पर आधारित है कि समस्त लेटिन अमेरिका उसके प्रभाव क्षेत्र में है अतः इन इलाकों में किसी भी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप या प्रभाव को अमेरिका बर्दाश्त नहीं करेगा। यही नीति 1823 में जेम्स मुनरो द्वारा प्रतिपादित की गई थी जिसका सार यह था कि 'अमेरिका, अमेरिका के लिए है।' रीगन सरकार इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित करना चाहती है, तभी उसने मध्य अमेरिका में अपनी सारी शक्ति लगा दी।

रीगन प्रशासन का रवैया पूर्णतः भारत-विरोधी प्रतीत होता है। रीगन द्वारा कार्यभार ग्रहण करने पर भारत के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री ने अपने बधाई सन्देश में यह आशा व्यक्त की थी कि राष्ट्रपति के रूप में उनके कार्यकाल में भारत और अमेरिका के सम्बन्ध निरन्तर समृद्ध होंगे। लेकिन मार्च, 1982 के अन्त तक

निराशा ही हाथ लगी । अफगानिस्तान के घटनाचक्र के बाद दोनों देशों के बीच अनेक यात्राओं का आदान-प्रदान किया गया । भारत ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री ऐरिक गोन्साल्वेज को संयुक्तराज्य की यात्रा पर भेजा । भारत ने अपना यह मत व्यक्त किया कि सोवियत सेनाओं की वापसी को सुविधाजनक बनाने के लिए वार्ता के जरिये राजनीतिक समाधान का रास्ता खोजना होगा । पाकिस्तान की सैनिक शक्ति को मजबूत करने के अमेरिका के निर्णय पर अपनी चिन्ता से भारत ने अवगत कराया और कहा कि इस प्रकार की कार्यवाही से भारतीय उपमहाद्वीप में तनाव बढ़ेगा । उल्लेखनीय यह है कि रीगन ने सत्तारूढ़ होने के कुछ ही समय बाद 22 अप्रैल, 1981 को पाकिस्तान को लगभग ढाई अरब डॉलर के अस्त्र देने का आश्वासन दे दिया था । भारत के विरोध का अमेरिका पर कोई असर नहीं पड़ा और रीगन प्रशासन ने पाकिस्तान को आधुनिकतम एफ–16 विमान देने का निर्णय कर लिया जिसका 3 दिसम्बर, 1981 को अमेरिकी सीनेट ने अनुमोदन भी कर दिया । एक अन्य समस्या जो भारत के लिए चिन्ता का विषय बनी रही, वह थी तारापुर के लिए परमाणु ईंधन की सप्लाई । रीगन प्रशासन ने इस सम्बन्ध में भारत-अमेरिका समझौते को रद्दी की टोकरी में डाल दिया और परमाणु ईंधन की सप्लाई पर रोक लगा दी । अमेरिका हिन्दमहासागरीय क्षेत्र में अपना सैनिक जमाव बराबर बढ़ाता रहा जिस पर भारत का अधिकाधिक चिन्तित होना स्वाभाविक था । भारत ने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दमहासागर में बड़ी शक्तियों द्वारा अपनी सैनिक उपस्थित बढ़ाने से इस क्षेत्र में तनाव निश्चय ही बढ़ेगा । रीगन के अब तक के कार्यकाल में अमेरिका-चीन सम्बन्धों में भी तनाव आया है । 16 नवम्बर, 1981 को चीन ने स्पष्ट शब्दों में धमकी दी कि यदि अमेरिका ने ताइवान को हथियार दिए तो वह अमेरिका से अपना राजदूत वापस बुला लेगा । पोलैण्ड के मामले को लेकर 30 दिसम्बर, 1981 को अमेरिका ने सोवियत संघ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा की, तथापि उसको अपने ही मित्र राष्ट्रों का पूरा समर्थन इस मुद्दे पर नहीं मिल पाया । रीगन प्रशासन ने शस्त्रीकरण की एक नई दौड़ शुरू कर दी है । न केवल न्यूट्रान बम के निर्माण का निर्णय लिया गया बल्कि 18 जनवरी, 1982 को राष्ट्रपति रीगन द्वारा रासायनिक अस्त्रों के निर्माण का भी समर्थन किया गया ।

रीगन की नीतियों के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत में अमेरिका की दुराग्रही और साम्राज्यवादी छवि ही अधिक उभरी है ऐसा लगा । है कि एक महान् राष्ट्र अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल आचरण से परे हट रहा है ।

अमेरिकी विदेश-नीति का मूल्यांकन

युद्धोत्तरकालीन अमेरिकी विदेश-नीति के विश्लेषण से यही स्पष्ट होता है कि घोषणाओं के अलावा यथार्थ में वह कभी भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी नहीं रहा है और यदि कभी उसने ऐसा किया भी है तो राष्ट्रीय स्वार्थों से प्रेरित होकर ही । सत्य तो यह है कि आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा अमेरिका

ने अपना एक अदृश्य साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की है जिसमें वह काफी हद तक सफल भी हुआ है। लेटिन अमेरिका और पूर्वी एशिया उसके साम्राज्य-विस्तार के मुख्य क्षेत्र रहे हैं। उसने विश्व के देशों में अपने सैनिक अड्डे स्थापित कर रखे हैं तथा अनेक देशों के साथ असमान आर्थिक सैनिक समझौते किए हैं। अरब-इजरायल संघर्ष के माध्यम से उसने पश्चिमी एशिया में पाए जाने वाले अपार तेल-भण्डारों पर अपना नियन्त्रण रखने की चेष्टा की है। ट्रूमैन-सिद्धान्त, आइजनहॉवर सिद्धान्त, आदि इस उद्देश्य की पूर्ति के ही साधन रहे हैं। पूर्वी एशिया में भी उसने कुछ समय पूर्व तक पद-दलित शासक च्यांग-काई-शेक को चीन के शासक के रूप में मान्यता दे रखी थी। वह वियतनाम और कम्बोडिया में कठपुतली सरकारों का सचालन करता रहा है तथा पश्चिमी एशिया में इजरायल को अपनी हठधर्मी पर अड़े रहने में सहायता दे रहा है। यूरोप में वह भूतपूर्व फासिस्टों और नाजियों का समर्थन कर रहा है। उसके इन सब कार्यों के फलस्वरूप विश्व-शान्ति की कड़ियाँ मजबूत होने के बजाय विश्व युद्ध का तनावपूर्ण वातावरण ही विकसित होता जा रहा है।

अमेरिकी विदेश नीति के अध्येता को ऐसा लगेगा मानो कि नैतिकता और विश्व-शान्ति के लिए क्या आवश्यक है। इसका निर्णय करने का ठेका केवल अमेरिका ने ही ले लिया है। एशिया में तो अमेरिकी नीति बड़ी-बड़ी गलतियों की शृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तव में अमेरिका ने एशिया को पाश्चात्य औपनिवेशिक शक्तियों के चश्मे से ही देखने का प्रयत्न किया है और अफ्रेशियायी देशों के प्रति राजनीति के निर्धारण में पुरानी दकियानूसी नीति का प्रयोग कर रहा है।

अमेरिका इस बात से परिचित है कि आज के युद्ध में युद्ध-पूर्व साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम नहीं किया जा सकता किन्तु वह अपने आर्थिक साम्राज्य के प्रसार की आड़ में दुनिया भर में अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने को प्रयत्नशील है। विश्व के अनेक देशों में दोनों महाशक्तियों के सैनिक अड्डे कायम हैं और इस होड़ में अमेरिका रूस से बहुत आगे है। अनेक उद्देश्यों के साथ अमेरिका ने असमान आर्थिक और सैनिक सन्धियाँ की हैं जिसके परिणामस्वरूप उन देशों को बहुत कुछ उसी नीति पर चलना पड़ता है जो अमेरिकी प्रशासन को मंजूर हो। अमेरिका विश्व का महान् लोकतन्त्री देश है लेकिन यूरोप के फासिस्ट तत्त्वों का लेटिन अमेरिका के फासिस्ट शासनतन्त्र को और एशिया के सैनिकवादी राष्ट्रों को उसका पूरा समर्थन प्राप्त होता रहा है। संसार के तटस्थ और गुट-निरपेक्ष राष्ट्र उसकी आँखों के काँटे हैं और वह अपनी अपार आर्थिक सम्पदा के बल पर उन्हें खरीद लेने का इरादा रखता है। कुल मिलाकर पिछले कुछ अर्से से विश्व में अमेरिकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा है और विश्व के पिछड़े राष्ट्र और नवोदित स्वाधीन देश अमेरिका की अपेक्षा रूस के प्रति अधिक मैत्री भाव रखते हैं। अमेरिका के अनेक पुराने साथी भी उसकी नीति से ऊब कर उसके चंगुल से निकलने के इच्छुक हैं। एक अमेरिकी लेखक ने कुछ समय पूर्व ठीक ही टिप्पणी की थी कि—"आज एशिया और अफ्रीका में हमारी पहचान स्वतन्त्रता के प्रतीक की हैसियत से नहीं वरन् बन्दूकों से होती है।"

व भारत के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हुई। अमेरिकी नेताओं का स्पष्ट कथन था कि भारत भी किसी-किसी दिन साम्यवादी देश बन जाएगा। उनकी दृष्टि में भारत की नीति साम्यवादी देशों का समर्थन करती है। इस प्रकार प्रारम्भिक काल में दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर नहीं रहे जा सकते थे।

साम्यवादी चीन का अभ्युदय कोरिया युद्ध तथा एशिया में साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए अमेरिका को भारत की आवश्यकता अनुभव हुई। अमेरिका के सहायक विदेशमन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में भारत के महत्त्व को स्वीकार किया तथा घोषणा की कि पश्चिमी राष्ट्र भारत की उपेक्षा नहीं कर सकते। भारत में लोकतन्त्र की सफलता को वे अनिवार्यता समझते थे। भारत में प्रजातन्त्र की असफलता को वे एशिया में 'स्वतन्त्र विश्व' के अस्तित्व की समाप्ति मानने लगे थे। वस्तुतः भारत तथा अमेरिका में कुछ समानताएँ भी हैं। दोनों ही 'स्वतन्त्रता' तथा 'समानता' के पक्षधर हैं तथा लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों में आस्था रखते हैं। विश्व में दोनों ही शान्तिपूर्ण उपायों से विवादों को हल करने के समर्थक हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में दोनों ही विश्वास व्यक्त करते हैं अतः सहयोग का वातावरण बनाया गया। अमेरिका ने भारत को आर्थिक सहायता प्रदान की। अनेक भारतीय विद्यार्थियों को अमेरिका में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का अवसर प्राप्त हुआ। IBRD तथा IMF से भी अमेरिका के संकेत पर भारत को आर्थिक सहायता दी गई। 1960 में स्वयं राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भारत की यात्रा की और 1961 में प. नेहरू ने अमेरिका की सद्भावना यात्रा की। इस प्रकार एक-दूसरे के समीप आने लगे।

भारत तथा अमेरिका के मध्य सम्बन्ध सुमधुर न होने का कारण यह है कि वह अपने को 'स्वतन्त्र विश्व' का स्वयंभू नेता समझता है। भारत अपनी स्वतन्त्र नीति अपनाने को कटिबद्ध है। वह प्रत्येक विषय पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का इच्छुक है और अमेरिका का अन्ध-समर्थन करने को तैयार नहीं है। इसी कारण वह पश्चिमी राष्ट्रों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की आलोचना भी कर देता है। भारत की इच्छा यही है कि अमेरिका उसके दृष्टिकोण को समझे तथा उसकी सहायता करे।

'गोवा मुक्ति' के लिए भारत ने सैनिक कार्यवाही की तो अमेरिका ने इसकी कटु आलोचना की। परिणाम यह हुआ कि सद्भावना यात्राओं से जो सम्बन्ध सुधरे थे वे पुनः कटु होने लगे। संयुक्तराज्य अमेरिका के स्थायी राजदूत ने संयुक्त राष्ट्र में भारत की कार्यवाही की घोर निन्दा की। इससे भारत में एक धारणा प्रबल रूप से व्याप्त हो गई कि अमेरिका अभी भी साम्राज्यवादी शक्तियों का समर्थक है। 'स्वतन्त्र विश्व' की कल्पना में यदि उपनिवेशवाद सम्मिलित है तो भारत व अमेरिका के सम्बन्ध कभी भी मैत्रीपूर्ण नहीं हो सकते।

1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो भारत ने अमेरिका से सहायता माँगी और तत्कालीन राष्ट्रपति कैनेडी ने अविलम्ब भारत की सहायता की। इस सहायता से दोनों देशों के मध्य पुनः सम्बन्ध सुधरने लगे। अमेरिकी सहायता तुरन्त मिल जाने से चीन को युद्ध-विराम की घोषणा करने को विवश

किया। भारत को यह आभास होने लगा कि अमेरिका साम्यवाद के विरोध में वास्तविक अर्थों में सहयोग देने को तत्पर है अतः भारत के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया।

भारत कभी भी अमेरिका के इस घोषित आदर्श में विश्वास नहीं कर सका कि अमेरिका प्रजातन्त्रीय देशों का समर्थक है। इसका कारण भी स्पष्ट है। भारत एक लोकतान्त्रिक देश है और पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही नियम हैं जो अपवाद नहीं। ऐसी स्थिति में अपने सिद्धान्त प्रेम को स्पष्ट करने के लिए अमेरिका को भारत का पक्षधर होना चाहिए था। इसके सर्वथा विपरीत प्रारम्भ से ही अमेरिका ने पाकिस्तान का ही समर्थन किया है। कश्मीर के विवाद में उसने पाकिस्तान का पक्ष लिया। वास्तव में भारत को सोवियत संघ से सम्बन्ध दृढ़ करने के लिए विवश किया गया है। कश्मीर के प्रश्न पर सोवियत संघ ने सदैव ही भारत का समर्थन किया है। अमेरिका सदैव पाकिस्तान का पक्ष लेता रहा है। यह सत्य है कि अमेरिका व पाकिस्तान सैनिक गठबन्धन में सहभागी हैं किन्तु घोषित उद्देश्यों के आधार पर यह गठबन्धन 'साम्यवाद को सीमित' करने के लिए है। भारत के विरुद्ध पाकिस्तान ने 1965 के युद्ध में अमेरिकी शस्त्रों का प्रयोग किया था। अमेरिका ने स्पष्ट शब्दों में कई बार यह व्यक्त किया है कि पाकिस्तान अमेरिकी शस्त्रों का प्रयोग नहीं करेगा। पाकिस्तान के लिए अमेरिकी घोषणा का कोई अर्थ नहीं है और अमेरिका ने भी कभी इस आधार पर पाकिस्तान की आलोचना नहीं की। भारत इसका क्या अर्थ लगावे? 1971 के युद्ध में भी अमेरिका ने पाकिस्तान का ही पक्ष लिया। इस बार तो स्थिति इतनी विकट हो गई थी कि भारत अमेरिका से कूटनीतिक सम्बन्धों को भी समाप्त कर देता तो कोई आश्चर्य नहीं होता। युद्ध में पाकिस्तान की भर्त्सना करना तो दूर रहा अमेरिका ने बंगाल की खाड़ी में अपने 7वें बेड़े (VIIth Fleet) को भी भेज दिया। भारत ने उस विषम स्थिति का दृढ़तापूर्वक सामना किया और अपने युद्ध के प्रयासों में किसी भी स्थिति में कमी नहीं आने दी। इसी समय सोवियत संघ के नाविक बेड़े ने हिन्दमहासागर में अपनी गतिविधियाँ तीव्र कर दी। परिणाम यह हुआ कि अमेरिका ने युद्ध जैसे कार्य का साहस नहीं किया। पाकिस्तान पराजित हुआ और अमेरिका कुछ न कर सका। 93,000 पाकिस्तानी सैनिकों ने आत्मसमर्पण किया। विश्व में इतनी विशाल सेना द्वारा आत्मसमर्पण का विवरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इससे भारत की प्रतिष्ठा में आशातीत वृद्धि हुई और अमेरिका को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारत भी एक महाशक्ति है।

अमेरिका के प्रति नीति में भारत का दृष्टिकोण सदैव स्पष्ट रहा है। भारत किसी भी दशा में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का समर्थन नहीं कर सकता। इसी आधार पर भारत ने कोरिया के युद्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना में अपने सैनिक नहीं भेजे। भारत ने अमेरिकी नीति का विरोध किया। वियतनाम में अमेरिकी भूमिका की भारत ने कटु आलोचना की क्योंकि भारत का यह दृढ़ विश्वास था कि

प्रत्येक देश को अपनी शासन पद्धति तथा विचारधारा अपनाने का अधिकार है। भारत के दृष्टिकोण की सार्थकता इसी से सिद्ध हो जाती है कि अमेरिका को वियतनाम से हटना पड़ा। स्वयं अमेरिका में इसका विरोध हुआ। विभक्त वियतनाम एकता के सूत्र में बन्धा और अमेरिका की कुचाल सफल न हो सकी। यही नहीं साम्यवाद को सीमित करने का उद्देश्य रखते हुए भी अमेरिका ने साम्यवादी चीन से मित्रता स्थापित करके यह सिद्ध कर दिया कि अमेरिका का वास्तविक उद्देश्य साम्यवाद को सीमित करना नहीं अपितु सोवियत संघ से प्रतिद्वन्द्विता ही उसका मुख्य ध्येय है। ऐसी स्थिति में भारत उसका मित्र कैसे हो सकता है?

भारत का दृष्टिकोण यह है कि अमेरिकी विदेश नीति साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की द्योतक है। डियागोगार्सिया हिन्दमहासागर का द्वीप है। अमेरिका की सुरक्षा व्यवस्था से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी डियागोगार्सिया में अमेरिका ने अपना नौ-सैनिक अड्डा स्थापित कर रखा है। भारत इस अड्डे का निरन्तर विरोध कर रहा है। प्रत्येक मंच से भारत का विरोध मुखरित हो रहा है। एशिया एवं पूर्वी यूरोप के सभी शासनाध्यक्षों के साथ प्रत्येक संयुक्त विज्ञप्ति में डियागोगार्सिया का विरोध किया जा रहा है फिर भी अमेरिका ने अपने इस अड्डे को और अधिक सुदृढ़ करने का निश्चय कर रखा है। भारत की चिन्ता यह भी है कि सोवियत नौ-सेना की गतिविधियाँ भी तीव्र हो रही हैं और हिन्दमहासागर शक्ति प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र बनता जा रहा है। भारत यह चाहता है कि हिन्दमहासागर शान्ति क्षेत्र बने और दोनों ही महाशक्तियाँ अपनी नौसेनाओं को इस क्षेत्र से हटा लें। अमेरिका इसमें बाधक है अत यदि भारत अमेरिका की ओर से सशंकित है तो क्या आश्चर्य है?

भारत अणु-आयुधों का विरोधी है। वह अणुशक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण उपायों के लिए करने का पक्षधर है यद्यपि भारत ने पोखरन में अणु-विस्फोट करके अपनी क्षमता सिद्ध कर दी है तदापि वह अपने निश्चय पर अडिग है। अमेरिका व सोवियत संघ ने आणविक शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए Non-Proliferat on Treaty की व्यवस्था की है। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से भारत ने इन्कार कर दिया है। भारत का तर्क यह है कि भारत अणु शस्त्रों का निर्माण करने की इच्छा नहीं रखता है फिर भी वह सन्धि पर हस्ताक्षर करने को इसलिए तत्पर नहीं है, क्योंकि यह सन्धि राष्ट्रों के मध्य समानता के आधार पर नहीं है। जिन देशों के पास अणु-आयुध नहीं है उनको सन्धि भविष्य में अणु-आयुध निर्माण करने पर प्रतिबन्ध की व्यवस्था करती है किन्तु जिन देशों के पास अणु-आयुधों का भण्डार है उन्हें उन शस्त्रों को नष्ट करने के लिए विवश नहीं करती। भारत का स्पष्ट मत है कि अणु-आयुध यदि किसी भी रूप में किसी के पास न हो तो भारत को उस सन्धि पर हस्ताक्षर करने में कोई आपत्ति न होगी। भारत किसी भी दशा में पक्षपात को सहन नहीं कर सकता। अमेरिका भारत से इस आधार पर भी अप्रसन्न है क्योंकि वह समझता है कि भारत उसकी न्यायोचित बात का भी समर्थन नहीं करता इसी कारण अमेरिका भारत को यूरेनियम देने में आनाकानी कर रहा है। भारत फिर भी

दृढ है और उसने घोषणा भी कर दी है कि यदि अमेरिका सन्धि के वचनो को भग करके यूरेनियम नही देता है तो भारत किसी अन्य स्रोत से यूरेनियम प्राप्त कर लेगा और वह भी भविष्य मे उस सन्धि से बन्धा नही रहेगा।

वास्तव मे भारत की नीति सभी देशो के साथ मित्रता बनाए रखने की है। भारत यह मित्रता बनाए रखना अपना स्वाभिमान सुरक्षित रख कर करना चाहता है। वह किसी भी प्रकार अपने सिद्धान्तो को त्यागने को तैयार नही है। वह विदेश नीति के क्षेत्र मे भी आदर्शों और सिद्धान्तो से प्रेरित होकर कार्य करना चाहता है। इसके लिए भारत समर्पण नही करेगा। उसकी यह दृढता ही अमेरिका को अनुचित लगती है और वह भारत का सच्चा मित्र नही बन सकता।

भारत को अमेरिका से आर्थिक सहायता भी पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हुई है। भारत उसका सम्मान करता है किन्तु किसी भी दशा मे वह अमेरिका की सम्पन्नता अथवा शक्ति के आगे नतमस्तक होने को तैयार नहीं है। भारत यह नही भूल पाता है कि अमेरिका सदैव पाकिस्तान को वरीयता प्रदान करता है और उसका पक्ष लेता है। इसकी नीति भारत की दृष्टि मे अनुचित है तथा घोषित सिद्धान्तो के सर्वथा विपरीत है। सिद्धान्त एव व्यवहार मे पूर्ण एकरूपता तो सम्भव नही है फिर भी दोनो के मध्य अन्तर यथासम्भव न्यूनतम हो यह भारत का मत है। अमेरिका अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सिद्धान्तो को कोई मान्यता नही देता। वास्तव मे उसके आदर्श मिश्रित सिद्धान्तो की विवेचना करने पर हमे एक ही तथ्य देखने को मिलता है वह है—सोवियत सघ विरोध और उसके प्रति प्रतिद्वन्द्विता का भाव। अतः भारत व अमेरिका के सम्बन्ध न तो कभी वास्तविक अर्थों मे मित्रता के रहे है और न भविष्य मे उसकी आशा ही करनी चाहिए। वैसे दोनो देशो को परस्पर एक-दूसरे की आवश्यकता है। साथ ही दोनो के स्वार्थों मे प्रत्यक्ष टक्कर भी नही है अतः मित्रता के आवरण मे सन्देह सदैव व्यापता रहेगा।



17 शीतयुद्ध
(COLD WAR)

"शीतयुद्ध जैसा कि विश्व ने अनुभव किया है, दो विचारधाराओं, दो पद्धतियों, दो गुटों, दो राज्यों और जब वह पराकाष्ठा पर था, दो व्यक्तियों के मध्य दृढ़ संघर्ष था। विचारधाराएँ थीं पूंजीवादी और साम्यवादी; पद्धतियाँ थीं संसदीय जनतन्त्र और 'पीपुल्स' जनतन्त्र अथवा बुर्जुआ जनतन्त्र और सर्वहारा की तानाशाही; गुट थे नाटो और वारसा-पैक्ट; राज्य थे संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ; तथा व्यक्ति थे जोसेफ स्टॉलिन और जॉन फॉस्टर डलेस।" —के. पी एस. मेनन

शीतयुद्ध क्या है ?
(What is Cold War ?)

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका सहित पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत रूस में मैत्री की बुनियाद अस्थायी, परिस्थितिजन्य और सामयिक थी। महायुद्ध-काल में ही गम्भीर प्रच्छन्न मतभेद विद्यमान थे और युद्ध के बाद तो मैत्री की सभी आशाओं में पलीता लग गया तथा दोनों पक्षों में तीव्र तनाव, वैमनस्य और मतभेदों की इतनी विषम स्थिति उत्पन्न हो गई कि वे परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध कटुवाक्बाणों और आरोपों की वर्षा करने लगे। यह कहना होगा कि "बारूद के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र सैनिक संघर्ष के न होते हुए भी कागज के गोलों और अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया।" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसी संग्राम को 'शीतयुद्ध' की संज्ञा दी जाती है जिससे विश्व अनेक बार भीषण संकटों में फँस चुका है और आज भी पीड़ित है। पिछले कुछ समय से शीतयुद्ध का वातावरण शिथिल दिखाई देता है, पर कोई नहीं कह सकता कि महाशक्तियों और उनके परस्पर विरोधी शिविरों में शीतयुद्ध का उफान पुनः कब आ जाए।

अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि शीतयुद्ध में राष्ट्रों के बीच व्याप्त तनाव की एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र स्वयं को शक्तिशाली और दूसरे को कमजोर बनाने के सभी उग्र एवं नरम कूटनीतिक दाँवपेच खेलता रहता है। दोनों पक्ष आपस में शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखते हुए भी शत्रु-भाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे को दुर्बल बनाने का प्रयास करते हैं। प. नेहरू के शब्दों में यह 'दिमागों में युद्ध के विचारों को प्रश्रय देने वाला युद्ध' है। इसका उद्देश्य शत्रुओं को अकेला पटक देना और मित्रों को जीतना होता है। यह एक ऐसा कूटनीतिक युद्ध है जो अति-उग्र होने पर व्यावहारिक युद्ध का जनक हो सकता है। शीतयुद्ध में दोनों ही पक्ष अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए, सैद्धान्तिक मान्यताओं पर बल देते हुए, आर्थिक सहायता, प्रचार, जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, सैनिक गुटबन्दियों तथा प्रादेशिक संगठनों के निर्माण, शस्त्रीकरण आदि सभी सम्भव साधनों का उपयोग करते हैं।

शीतयुद्ध के कारण
(Causes of Cold War)

शीतयुद्ध का आधार बहुत-कुछ महायुद्ध-काल में परोक्ष-अपरोक्ष रूप में उत्पन्न मतभेदों से ही बन चुका था। महायुद्ध के तुरन्त बाद यह मतभेद उजागर हो गए और दोनों पक्ष एक-दूसरे को अविश्वास एवं सन्देह की दृष्टि से देखने तथा एक-दूसरे पर आरोपों-प्रत्यारोपों की वर्षा करने लगे। धीरे-धीरे और भी अनेक ऐसे कारण उत्पन्न हो गए जिनमें शीतयुद्ध का प्रसार हुआ और इसने गहरी जड़ें जमा लीं। यहाँ हम प्रारम्भिक कुछ वर्षों में शीतयुद्ध के पनपने के कारणों का उल्लेख करेंगे जिनमें 'पश्चिम' की 'पूर्व' के विरुद्ध तथा 'पूर्व' की 'पश्चिम' के विरुद्ध शिकायतें सम्मिलित हैं।

(क) पश्चिम की पूर्व के विरुद्ध शिकायतें

अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य शक्तियों ने सोवियत रूस पर अनेक आरोप लगाए। उनकी मुख्य शिकायतें इस प्रकार थीं—

1. रूस द्वारा याल्टा-समझौतों की अवहेलना—पाश्चात्य शक्तियों की सबसे महत्वपूर्ण शिकायत यह थी कि रूस की दृष्टि में 1945 का याल्टा-समझौता रद्दी कागजों के ढेर के अलावा कुछ नहीं है—

(i) रूस ने पोलैण्ड में स्वतन्त्र चुनावों पर आधारित प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना करने की अपेक्षा पोलिश जनता पर अपने द्वारा संरक्षित 'लुबलिन-सरकार' को लादने का प्रयत्न किया। साथ ही अन्य प्रजातान्त्रिक दलों को बन्दी बना लिया गया। जब अमेरिकी और ब्रिटिश प्रेक्षकों ने पोलैण्ड में प्रवेश करना चाहा तो उनको इसकी अनुमति नहीं दी गई।

(ii) हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया में भी रूस द्वारा युद्ध-विराम समझौतों तथा याल्टा व पोट्सडम सन्धियों का उल्लंघन किया गया। रूस ने पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्र राष्ट्रों के साथ

सहयोग करने से इन्कार कर दिया और जनमत की उपेक्षा करते हुए रूस समर्थक सरकारें स्थापित करदी।

(iii) जर्मनी द्वारा आत्म-समर्पण किए जाने से पूर्व ही रूसी फौजों ने यूनान के उत्तर में अधिकांश पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया, जनता पर साम्यवादी सरकारें थोप दी और कुछ ही वर्षों में यूनान और बाल्टिक सागर के बीच सुदृढ़ श्रमिक तानाशाही स्थापित हो गई।

(iv) जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की सोवियत रूस की अनिच्छा और मित्रराष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के प्रति सन्देह और शंका की वृद्धि हुई।

(v) मन्चूरिया स्थित सोवियत फौजों ने 1946 के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश सम्बन्धी सभी सुविधाएँ देकर वह सम्पूर्ण युद्ध-सामग्री भी सौंप दी जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गई थी।

2. रूसी सेनाओं का ईरान से न हटाया जाना—युद्ध के उपरान्त एंग्लो-अमेरिकी फौजें तो दक्षिणी ईरान से हटाली गईं, लेकिन रूसी फौजें उत्तरी ईरान में ज्यों की त्यों बनी रहीं। यद्यपि विश्व-जनमत और विश्व-संस्था के दबाव से कालान्तर में रूसी फौजें ईरान से हटाली गईं तथापि पश्चिमी राष्ट्रों को रूसी नीयत पर और भी दृढ़ सन्देह हो गया।

3. टर्की पर रूसी दबाव—युद्ध के तुरन्त बाद रूस ने टर्की से कुछ भू-प्रदेश एवं बास्फोरस में सैनिक अड्डे निर्मित करने के अधिकार की माँग की। उसके बढ़ते हुए हस्तक्षेप के उत्तर में अमेरिका ने चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जाएगा और मामला सुरक्षा-परिषद् में लाया जाएगा।

4. अमेरिका विरोधी प्रचार अभियान—युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत पत्रों में अमेरिका के प्रति कटु आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमेरिका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षोभ फैला।

5. रूस द्वारा जर्मनी पर बोझ लादना—युद्धोपरान्त क्षति-पूर्ति-प्रावधान का अनुचित लाभ उठाते हुए रूस ने जर्मन-उद्योगों को खण्डित-विखण्डित कर मूल्यवान मशीनों का स्थानान्तरण रूस में करना शुरू कर दिया। रूस के इस कार्य से पहले ही से अस्त-व्यस्त जर्मन आर्थिक व्यवस्था पर अतिरिक्त भार पड़ा। ब्रिटेन और अमेरिका में रूस की इस कार्यवाही से काफी विक्षोभ फैल गया और साथ ही उन्हें विवश होकर जर्मन अर्थव्यवस्था की सहायतार्थ पर्याप्त धन व्यय करना पड़ा।

6. जर्मनी सम्बन्धी समझौते के गम्भीर उल्लंघन—रूस ने जर्मनी सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के और भी अनेक गम्भीर उल्लंघन किए, जैसे (क) रूस ने अपने अधिकृत जर्मन क्षेत्र के हजारों लोगों को कैद कर रूस भेज दिया या बन्दी-शिविरों में डाल दिया, (ख) पूर्वी-जर्मनी की जनता को पश्चिमी-जर्मनी की जनता से एकदम

पृथक् कर दिया, (ग) अप्रेल, 1946 मे जर्मन समाजवादी दल को बलपूर्वक साम्यवादी दल मे मिला दिया गया, (घ) जर्मनी को एक पृथक् आर्थिक इकाई माने जाने सम्बन्धी व्यवस्था को ठुकराते हुए रूस ने स्पष्ट कह दिया कि प्रत्येक क्षेत्र अपना व्यापार स्वय करे, एव (च) रूस ने ओडर-नीसे रेखा को जर्मन-पोलिश-सीमा के रूप मे मान लिया और लुबनिन सरकार को यह अनुमति प्रदान करदी कि वह उस भूमि पर कब्जा कर वहाँ बसे जर्मन नागरिकों को बाहर निष्कासित कर दे।

7 **बर्लिन की नाकेबन्दी**—जून, 1948 मे लन्दन प्रोटोकोल का उल्लंघन करते हुए रूस ने बर्लिन की कुख्यात नाकेबन्दी का अभियान चलाया और पश्चिम बर्लिन तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल, सडक और जल-यातायात बन्द कर दिया। यही नही, रूस ने हजारो जर्मन युद्ध-बन्दियो और नागरिकों को स्वदेश लौटने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया।

8 **निषेधाधिकार का बार-बार प्रयोग**—सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार के अनियन्त्रित प्रयोग द्वारा सयुक्त राष्ट्रसघ के मार्ग मे बाधाएँ डालना आरम्भ कर दिया। निषेधाधिकार के बल पर उसने अमेरिका और पश्चिमी शक्तियों के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपनाई।

9 **रूस द्वारा शान्ति व्यवस्था में विघ्न**—शान्ति-व्यवस्था की पुनर्स्थापना मे रूस द्वारा इतनी अडगेबाजी की गई और इतनी अनुचित तथा व्यापक माँगें प्रस्तुत की गई कि शान्ति की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर उलझ कर नए विवाद उत्पन्न करने लगी।

10. **अमेरिका मे साम्यवादी गतिविधियाँ**—रूस ने अन्य देशो मे ही नही बल्कि अमेरिका मे भी साम्यवादी गतिविधियो को प्रेरित किया। 1945 के प्रारम्भ मे 'स्ट्रेटेजिक सर्विस' के अधिकारियों को पता चला कि उनकी सस्था के बहुत से गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण मे चलने वाले 'अमेरेशिया' नामक मासिक पत्र के सम्पादक के हाथ मे पहुँच गए हैं। 1946 मे 'कनाडियन शाही आयोग' की रिपोर्ट ने यह प्रमाणित किया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। अब अमेरिकी सरकार साम्यवादियो के प्रति पूरी तरह सशंकित हो गई और सम्पूर्ण अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी शक्तियों में रूस के प्रति विक्षोभ की गहरी लहर फैल गई।

पश्चिमी राज्यो और अमेरिका ने उपर्युक्त शिकायतें कर तथा अन्य आरोप लगाकर सोवियत सघ के प्रति अपना पूर्ण अविश्वास व्यक्त कर दिया। यह कहा जाने लगा कि हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना चाहिए। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल ने अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति मे साम्यवाद के विरोध की एक नई नीति का सकेत 5 मार्च, 1946 को अपनी सुप्रसिद्ध 'फुल्टन वक्तृता' में दिया। इस भाषण में चर्चिल ने यूरोप के आर-पार सोवियत 'लौह-आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा की तथा स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए एक ऐंग्लो-अमेरिकी

गठबन्धन की माँग की। 1946 अप्रैल मास के बाद से ही दोनों पक्षों में (पश्चिमी व पूर्वी गुट) ने अपने मतभेदों को खुलेआम प्रकट करना शुरू कर दिया। 12 मार्च, 1947 को यूनानी गृहयुद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस से यूनान एवं टर्की को 400 मिलियन डॉलर की सहायता देने का अनुरोध करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने विख्यात 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने उन सभी स्वतन्त्र देशों को सहायता देने की नीति पर बल दिया जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों अथवा बाह्य शक्तियों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नों का विरोध कर रहे थे। 5 जून, 1947 को 'मार्शल योजना' की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य यूरोप की अस्त-व्यस्त आर्थिक दशा को सुधारना था। जहाँ पाश्चात्य यूरोपीय राष्ट्रों ने इस योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया, वहाँ रूस ने इसे अपने लिए गम्भीर चुनौती समझा। 3 जुलाई, 1947 को ब्रिटेन और फ्रांस ने यूरोपीय आर्थिक पुनरुत्थान की समस्या पर विचार करने के लिए पेरिस में 22 देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें प्रारम्भ में तो पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया ने भाग लेने की इच्छा प्रकट की, परन्तु बाद में सोवियत रूस के विरोध के कारण इस नियन्त्रण को ठुकरा दिया। एटली (Attlee) के शब्दों में—"जब पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया ने मार्शल सहायता के विचार को स्वीकार कर लिया तब उसकी (बेविन की) पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के एकीकरण की आशाएँ प्रबल हो गईं; परन्तु क्रेमलिन के आदेश पर इन स्वीकृतियों के परावर्तन ने इस आशा को नष्ट कर दिया। वस्तुतः यह 'शीत-युद्ध' की घोषणा थी।"

(ख) पूर्व (रूस) की पश्चिम के विरुद्ध शिकायतें

पश्चिमी राज्यों द्वारा रूस के विरुद्ध जो आरोप लगाए गए, उनसे, यह नहीं समझना चाहिए कि शीत-युद्ध के नाटक का एकमात्र खलनायक सोवियत रूस ही था। सोवियत संघ और उसके समर्थक राष्ट्रों ने अपने आरोपों में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि युद्धोत्तर काल के तनाव और अशान्ति का सारा दोष पश्चिमी राष्ट्रों का है।

(i) **युद्धकाल में पश्चिम द्वारा 'द्वितीय मोर्चा' खोले जाने में देरी**—रूस की पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध एक सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि जर्मनी द्वारा पूरी तरह से दबे रहने की स्थिति में स्टॉलिन ने मित्रराष्ट्रों से बार-बार अनुरोध किया था कि पश्चिमी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाए ताकि सोवियत रूस पर जर्मन-आक्रमण का दबाव कम हो, परन्तु पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूसी सुझाव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि उनकी तैयारी अभी अधूरी है। दूसरा मोर्चा खोले जाने में पर्याप्त विलम्ब किए जाने का परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस को जर्मनी के हाथों जन-धन की भयकर क्षति उठानी पड़ी और रूस जनता में मित्रराष्ट्रों की नेकनीयती पर शंका उत्पन्न हो गई। बैली (Bailey) के शब्दों में, "इससे क्रेमलिन में यह सन्देह जड़ पकड़ गया कि पश्चिमी राष्ट्र, जो युद्धोत्तर काल

में एक शक्तिशाली सोवियत संघ के उदय की सम्भावना से भयभीत हैं, युद्ध के अखाड़े में कूदने से पूर्व रूस को पूर्णतया 'आहत तथा शक्तिहीन' होते देखना चाहते हैं।"

(ii) पश्चिमी देशों की फासिस्ट देशों से सांठ-गांठ—रूस ने इस बात पर बड़ा क्षोभ प्रकट किया कि सैनिक व्यावहारिकता की आड़ में अमेरिका ने इटली और फ्रांस के फासिस्ट तत्वों से सम्पर्क स्थापित किया और फिनलैण्ड द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने तथा लेनिनग्राड पर आक्रमण करने के काफी समय बाद तक वाशिंगटन ने उससे अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद नहीं किए।

(iii) युद्धकाल में पश्चिमी देशों की अपर्याप्त सहायता—सोवियत संघ ने यह आरोप लगाया कि युद्धकाल में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होने पर पश्चिमी देशों ने जो भी सैनिक सहायता सोवियत रूस को दी, वह रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध-सामग्री का अत्यल्प अंश (केवल 4 प्रतिशत) थी। वास्तव में मित्रराष्ट्रों की आन्तरिक इच्छा यह थी रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिल्कुल क्षीण हो जाए। इसीलिए उन्होंने बहुत विलम्ब से अत्यल्प मात्रा में केवल दिखावे के लिए सहायता दी।

(iv) अमेरिका द्वारा अणु बम के रहस्य को रूस से गुप्त रखना—अमेरिका ने अणुबम के आविष्कार को सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा, जबकि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। स्टालिन ने अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने की बात को परस्पर विश्वासघात माना। परिणामस्वरूप रूस और अमेरिका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में संलग्न हो गए। रूस ने युद्ध-समाप्ति के बाद 4 वर्ष में ही अणुबम के रहस्य का पता लगा लिया।

(v) सोवियत संघ को दी जाने वाली 'लैण्ड-लीज' सहायता का बन्द किया जाना—अमेरिका द्वारा 'लैण्ड-लीज अधिनियम' (Lard Lease Act) के अन्तर्गत सोवियत संघ को जो आंशिक सहायता दी जा रही थी, उससे वह (रूस) पहले से ही असन्तुष्ट था, क्योंकि सहायता एकदम अपर्याप्त थी; किन्तु यूरोप में विजय के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जब यह आंशिक सहायता भी एकाएक बन्द कर दी तो सोवियत रूस भड़क उठा।

(vi) सोवियत विरोधी प्रचार अभियान—रूस पश्चिमी राष्ट्रों से इस बात पर भी बहुत असन्तुष्ट था कि युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं में निरन्तर सोवियत-विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। पश्चिमी प्रेस खुले आम साम्यवादी देश के प्रति घृणा-प्रचार में संलग्न हो गए। साम्यवादी खतरे को खूब बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाने लगा और ऐसा वातावरण पैदा करने की भरसक चेष्टा की जाने लगी कि जनता में साम्यवादी के भावी इरादों के प्रति भय और आशंका की भावनाएँ व्याप्त हो जाएँ।

(vii) 5 मार्च, 1946 को चर्चिल की विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' ने सोवियत रूस को एकदम चौंका दिया। इसमें इस बात का स्पष्ट निर्देश था कि "हमें

तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना चाहिए।"

(viii) 'पश्चिम' के प्रति, विशेषकर संयुक्तराज्य अमेरिका के विरुद्ध रूसी सन्देहों और आशंकाओं में तब आशातीत वृद्धि हो गई जब 20 सितम्बर, 1945 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भूतपूर्व उप-राष्ट्रपति तथा तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए वेलेस को केवल इस अपराध पर त्यागपत्र देने को कहा कि उसने 12 सितम्बर को न्यूयॉर्क में अपने एक सार्वजनिक भाषण में सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच मैत्री-स्थापना की अपील की थी। इसके कुछ ही माह बाद राज्य-सचिव डीन एचीसन ने 10 फरवरी, 1947 को सीनेट के सम्मुख स्पष्ट रूप से घोषणा की कि "रूस की विदेश-नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी है।" इसके बाद ही साम्यवाद के विरोध के नाम पर और सोवियत-विस्तार को रोकने के लिए 'ट्रूमैन सिद्धान्त', 'मार्शल योजना' आदि का सूत्रपात हुआ। सोवियत संघ ने इन सभी कार्यवाहियों को अपने अस्तित्व के लिए एक चुनौती माना। 25 अक्तूबर को मार्शल योजना के जवाब में यूरोप के नौ साम्यवादी देशों का कोमिनफार्म स्थापित किया गया। अब बात-बात पर झगड़ा होने लगा और एक-दूसरे के विरुद्ध गाली-गलौज और आरोपों-प्रत्यारोपों के गोले बरसाए जाने लगे।

इस विवरण से स्पष्ट है कि युद्धोत्तरकाल में 'पूर्व' और 'पश्चिम' के मध्य एक गहरी खाई खुद चुकी थी जिसके बीज सन् 1917 की सोवियत क्रान्ति से लेकर द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक के इतिहास में अच्छी तरह बोए जा चुके थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में 'शीत-युद्ध' का प्रारम्भ इतना महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली विकास था कि इसने सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया, यद्यपि इसके प्रधान केन्द्र कुछ देश ही थे।

शीतयुद्ध का इतिहास (1947–1982)

1945 से 1947 तक का काल 'शीतयुद्ध' के प्रारम्भ का काल था। अब हम 1947 के बाद के 'शीतयुद्ध' के इतिहास की प्रमुख बातों की चर्चा करेंगे। द्वितीय महायुद्धोत्तर-काल की सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मुख्यतः 'शीतयुद्ध' की उपज है।

1947 से 1953 तक शीतयुद्ध

1945 से 1953 तक पश्चिमी देशों और रूस में संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर अणुशक्ति के नियन्त्रण व नियमन, निःशस्त्रीकरण, पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धियाँ, जर्मनी, बर्लिन, यूरोपीय सुरक्षा समस्याएँ, एशिया एवं अफ्रीका के अल्पविकसित राष्ट्रों के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद-विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष चला। रूस द्वारा मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में अक्तूबर, 1947 में यूरोप के नौ-साम्यवादी देशों के 'कोमिनफार्म' की स्थापना के बाद से शीतयुद्ध की उग्रता बढ़ती गई। रूस ने पूर्वी यूरोप पर

अपने नियन्त्रण को और भी अधिक कठोर बना दिया। शक्ति के दो गुट या शिविर बन गए और उनमें अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों के विस्तार के लिए जी-तोड स्पर्द्धा होने लगी। रूसी दबाव के कारण फिनलैण्ड को मार्शल-सहायता के प्रस्ताव को अस्वीकार करना पडा। एक साम्यवादी देश यूगोस्लाविया ने ही अपने नेता मार्शल टीटो के नेतृत्व में स्टालिन के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। मार्शल टीटो का यह कार्य 'शीतयुद्ध' की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी क्योंकि जहाँ इसने एक तरफ गैर-साम्यवादी देशों को नवीन बल प्रदान किया, वहाँ दूसरी तरफ रूसी दृष्टिकोण को और भी अधिक कठोर बना दिया।

बर्लिन की नाकेबन्दी, दो जर्मनियों का उदय—1948 में रूस ने बर्लिन की नाकेबन्दी कर नया सकट उत्पन्न कर दिया। इस घटना ने 'शीतयुद्ध' को एक नया मोड दिया। बर्लिन के घेरे के समय ही दोनों पक्षों को शक्ति-परीक्षण का सर्वप्रथम वास्तविक अवसर हाथ आया और शीतयुद्ध में इस बार अमेरिका का रुख पहली बार अत्यधिक कठोर दिखाई दिया। यद्यपि रूस की बर्लिन-नाकेबन्दी असफल सिद्ध हुई और मई, 1948 में इस नाकेबन्दी को समाप्त कर दिया गया, परन्तु इस घटना का एक गम्भीर परिणाम यह हुआ कि अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक-सगठनों की स्थापना करने की दिशा में सक्रिय हो गया। दूसरी ओर पहले से ही क्षतविक्षत जर्मनी 'शीतयुद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बना रहा। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने अपने अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया। इस तरह 21 सितम्बर, 1948 को संघीय-जर्मन-गणराज्य (Federal Republic of Germany) अथवा 'पश्चिमी जर्मनी' का उदय हुआ। मित्रराष्ट्रों अर्थात् उपर्युक्त तीनों शक्तियों में इस कार्य के प्रत्युत्तर में 7 अक्तूबर, 1949 को जर्मनी के रूसी क्षेत्र में 'जर्मन प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य' (German Democrat c Republic) अथवा 'पूर्वी जर्मनी' की स्थापना कर दी गई। इस तरह पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दो जर्मन राष्ट्र अस्तित्व में आए और उनके एकीकरण का प्रश्न शीतयुद्ध को बल प्रदान करने लगा।

नाटो की स्थापना, साम्यवादी चीन का उदय, आदि घटनाएँ—रूस के कठोर रुख और साम्यवाद के प्रसार की नीति का उत्तर पश्चिमी शक्तियों ने 4 अप्रैल, 1949 को 'नाटो' (NATO) की स्थापना द्वारा दिया। शीतयुद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा, एशिया भी इसकी लपेट में आ गया। रूस ने टर्की और ईरान में अपना प्रभाव बढाना चाहा, परन्तु पाश्चात्य शक्तियों की सहायता से ये दोनों देश रूसी दबाव का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे। 1 अक्तूबर, 1949 को पीकिंग में साम्यवादी गणराज्य स्थापित हो जाने से 'शीतयुद्ध' में गर्मी आ गई। साम्यवादियों की इस विजय ने रूस के उत्साह को बहुत बढा दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा-परिषद का एक स्थायी सदस्य था। परन्तु जब च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार पलायन कर फारमोसा चली गई तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासभा एवं सुरक्षा-परिषद् में अपना स्थान ग्रहण करने की

माँग की। पश्चिमी गुट यह नहीं चाहता था कि सुरक्षा-परिषद् में सोवियत संघ का एक और समर्थक हो जाए। परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों में से 2 साम्यवादी हो जाने के डर से संयुक्तराज्य अमेरिका ने चीन की नई सरकार को मान्यता नहीं दी और साम्यवादी प्रतिनिधि के संघ में स्थान ग्रहण का घोर विरोध किया। साम्यवादी चीन की सदस्यता की माँग को इस प्रकार ठुकरा दिए जाने का रूस द्वारा तीव्र विरोध किया गया और एक बार तो उसने परिषद् की बैठकों तक का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में साम्यवादी चीन की संघीय सदस्यता के प्रश्न पर शीतयुद्ध में कटुता और गम्भीर वैमनस्य का समावेश हुआ तथा आने वाले वर्षों में शीतयुद्ध की भीषणता और पारस्परिक मतभेदों की तीव्रता में व्यापक वृद्धि हुई। अन्त में अक्तूबर, 1971 में जनवादी चीन विश्व-संस्था का सदस्य बन पाया और सुरक्षा-परिषद् में ताइवान की जगह उसे स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई।

कोरिया का युद्ध—बर्लिन-प्रश्न पर और संयुक्त राष्ट्रसंघ में साम्यवादी चीन के प्रवेश की समस्या पर शीतयुद्ध की तीव्रता अभी कम न हो पाई थी कि जून, 1950 में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया जिससे 'शीतयुद्ध' ने कुछ समय के लिए 'उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध' का रूप धारण कर लिया। प्रत्यक्ष में यह युद्ध दो कोरियाई प्रदेशों में था, परन्तु वास्तव में यह दोनों शक्ति-गुटों के नेताओं रूस एवं अमेरिका का युद्ध बन गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झण्डे के नीचे अनेक देशों की विशेषतः अमेरिका की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया की सहायता की परन्तु किसी भी पक्ष को निर्णयात्मक विजय प्राप्त न हो सकी और 8 जून, 1953 को अन्ततः कोरिया में युद्ध-विराम हो गया। प्रकट में अमेरिका, ब्रिटेन और रूस की सरकारों ने युद्ध बन्द हो जाने का स्वागत किया, किन्तु दलों में विद्वेष की आग धधकती रही फलतः शीतयुद्ध जारी रहा। चीन के लिए सोवियत सहायता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई और चीन और पश्चिमी राज्यों के सम्बन्ध और भी अमैत्रीपूर्ण बन गए।

जापान के साथ मित्र देशों की शान्ति सन्धि, 1951—जिस समय कोरिया युद्ध चल रहा था, तभी सितम्बर, 1951 में अमेरिका और कई अन्य देशों ने जापान के साथ एक शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। रूस को यह बात बुरी लगी और उसने इस एकपक्षीय कार्यवाही की खुल कर आलोचना की।

1953 से 1958 तक का शीतयुद्ध

मार्च, 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद शीतयुद्ध के इतिहास में एक नया मोड़ आया। स्टालिन का उग्रवादी और पश्चिम के प्रति कठोर रुख 1953 के प्रारम्भ तक शीतयुद्ध का एक प्रधान कारण बना रहा। सर एलवरी गैसकोमने के अनुसार, "सन् 1947 के बाद यद्यपि स्टालिन ने पश्चिमी राष्ट्रों से कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखे, तथापि वह इतना झगड़ेबाज और दुःसाध्य हो गया कि उसके साथ कार्य करना कठिन हो गया। जो भी सुझाव सामने रखे जाते वह उनको

अस्वीकार कर देता था।" स्टालिन के बाद के उत्तराधिकारी, विशेषतः ख्रुश्चेव ने समझौतावादी नीति को अपनाने की कोशिश की, अमेरिका के नेतृत्व में भी परिवर्तन आया और शीतयुद्ध के समर्थक राष्ट्रपति ट्रूमैन के स्थान पर जनरल आइजनहॉवर अमेरिका के राष्ट्रपति बने। अगस्त, 1953 में सोवियत संघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ और हथियारों की विद्यमान खाई को धीरे-धीरे पाटने की दोनों को आवश्यकता महसूस होने लगी।

परन्तु शीतयुद्ध की यह शिथिलता एकदम अल्पकालिक ही थी क्योंकि रूस के विदेश-मन्त्री मोलोटोव और अमेरिका के विदेश सचिव डलेस दोनों ही शीतयुद्ध के बाँके पटेबाज थे। एक तरफ तो हिन्द-चीन के प्रश्न पर शीतयुद्ध में पुन तेजी आ गई क्योंकि फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले युद्ध में दोनों ही गुटों ने अलग-अलग पक्षों का जोरदार समर्थन किया और दूसरी तरफ अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों तथा सैन्य संगठनों की स्थापना करने की नीति को अपनाकर शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया। अमेरिका ने नाटो, सीटो और बगदाद-पैक्ट स्थापित किए और इनके जवाब में रूस ने वारसा पैक्ट कायम किया। वास्तव में दोनों ही पक्षों ने अपनी-अपनी कार्यवाहियों से एक-दूसरे के प्रति सन्देहों को दृढ़ बनाया तथा अपनी प्रत्येक कार्यवाही से शीतयुद्ध को कुछ-न-कुछ बढ़ावा दिया। रूस ने जब पश्चिमी देशों के अनाक्रमण प्रस्ताव को ठुकरा दिया, तो मार्च, 1954 में जब रूसी विदेश मन्त्री मोलोटोव ने रूस ने उत्तर अटलांटिक सन्धि में सम्मिलित होने के लिए तत्परता दिखाई तो नाटो देशों ने इसका विरोध किया। जनवरी, 1956 में रूसी प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने राष्ट्रपति आइजनहॉवर के सम्मुख एक रूस-अमेरिकी मैत्री सन्धि का प्रस्ताव रखा, परन्तु वह भी फलीभूत नहीं हुआ। ऐसे प्रस्ताव समय-समय पर किए जाते रहे, किन्तु पारस्परिक मतभेद और सन्देह इतने गहरे थे कि कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। संयुक्त राष्ट्रसंघ, यूरोप, अफ्रीका, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व आदि सभी देशों में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष हावी रहा। जापान और जर्मनी के पुन. शस्त्रीकरण ने दोनों ही गुटों में काफी तनाव उत्पन्न कर दिया। जर्मनी के भविष्य और बर्लिन के स्तर पर भी मतभेद दूर न हो सके और न अणुशक्ति के निर्माण और नियन्त्रण पर ही कोई समझौता हो सका। संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न 'नि शस्त्रीकरण' पर दोनों ही गुटों में तीव्र मतभेद रहा—प्रस्ताव व प्रति-प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते रहे, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक प्रश्न पर दोनों गुटों के दृष्टिकोण शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि में निर्धारित होने लगे।

1956 में हंगरी के प्रश्न ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीतयुद्ध में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पश्चिमी देशों ने रूसी कार्यवाही की कटु निन्दा की और उधर रूस ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप 1956 में मिस्र पर होने वाले एंग्लो-फ्रेंच-इजरायल आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की। जून में 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' की घोषणा के बाद मध्यपूर्व में 'शीतयुद्ध' में काफी गर्मी आ गयी। 1955 से 1958

तक पश्चिमी एशिया शीतयुद्ध का अखाड़ा बना रहा। उस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व और तेल-कूपों पर प्रभुता कायम रखने के लिए दोनों पक्षों में कूटनीतिक संघर्ष होता रहा। फारस के तेल-विवाद, स्वेज नहर के संकट, लेबनान में अमेरिकी फौजों को उतारने, ईरान की क्रान्ति आदि अवसरों पर दोनों ही पक्ष ताल ठोंककर एक-दूसरे के विरुद्ध मैदान में डट गए। इस क्षेत्र में कोई भी ऐसी घटना नहीं घटी जो शीतयुद्ध से प्रभावित न रही हो।

1958 से 1976 तक का शीतयुद्ध

ख्रुश्चेव की अमेरिकी यात्रा तथा यू-2 विमान-काण्ड—1959 में शीतयुद्ध में थोड़ी कमी आई। तनाव में कमी लाने के लिए ख्रुश्चेव ने सितम्बर 1959 में अमेरिका की यात्रा की। आपसी मतभेदों को समाप्त करने के लिए चार बड़े देशों (अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस) के शासनाध्यक्षों का एक शिखर-सम्मेलन आयोजित करना आवश्यक समझा गया पर दुर्भाग्यवश शिखर-सम्मेलन के आरम्भ से पूर्व ही 1 मई, 1960 को यू-2 विमान-काण्ड हो गया जिसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि कर अन्ततः शिखर-सम्मेलन को असफल बना दिया।

पेरिस शिखर-सम्मेलन—यू-2 विमानकाण्ड की अशुभ छाया मई, 1960 के शिखर-सम्मेलन पर पड़ी। जब पेरिस में शिखर-सम्मेलन शुरू हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू-2 का प्रश्न उठाते हुए अमेरिकी जासूसी कार्यवाही की तीव्र निन्दा की। ख्रुश्चेव ने माँग की कि अमेरिका को अपने जासूसी काम की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए माफी माँगनी चाहिए, भविष्य में ऐसे उत्तेजक कार्य बन्द करने चाहिए और इस घटना के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए। ख्रुश्चेव ने शीतयुद्ध को तब पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जब उसने डिगॉल और मैकेमिलन से तो हाथ मिलाया, लेकिन जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने हाथ बढ़ाया तो ख्रुश्चेव ने इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, ख्रुश्चेव ने अमेरिकी राष्ट्रपति को दिए गए रूसी यात्रा के निमन्त्रण को वापस ले लिया और कहा कि राष्ट्रपति महोदय को अब रूस आने की आवश्यकता नहीं है। रूसी नेता के इस रुख से शिखर-सम्मेलन असफल हो गया। आइजनहॉवर के आश्वासन और डिगॉल व मैकमिलन के गतिरोध को दूर करने के प्रयत्न सम्मेलन को भंग होने से न बचा सके।

कैनेडी का अमेरिकी राष्ट्रपति निर्वाचित होना और क्यूबा काण्ड—ख्रुश्चेव ने अपने विभिन्न भाषणों में आश्वासन दिया कि रूस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने की कोई कार्यवाही नहीं करेगा। नवम्बर 1960 में अमेरिकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में कैनेडी की सफलता के बाद शीतयुद्ध में कमी की आशा की जाने लगी। शीतयुद्ध में कुछ कमी भी आई, लेकिन 1962 में क्यूबा के संकट ने पुनः एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी।

शीतयुद्ध में शिथिलता—ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों ही नेता निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति के लिए प्रयास करने लगे, अतः शीतयुद्ध में काफी समय तक उबाल नहीं आया। 5 अगस्त, 1963 को रूस अमेरिका और इंगलैण्ड ने मास्को

में आणविक परीक्षणों पर रोक सम्बन्धी सन्धि पर हस्ताक्षर किए और बाद में चीन, फ्रांस आदि कुछ राष्ट्रों के अतिरिक्त विश्व के सौ से अधिक राष्ट्रों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए। शीतयुद्ध ठण्डा पड़ गया। 1955 की आस्ट्रिया-शान्ति सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था।

22 नवम्बर, 1963 को कैनेडी की हत्या और 15 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव के अपदस्थ होने से सुधरते अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को एक झटका लगा। अमेरिका का नेतृत्व जानसन के हाथों में और रूस का ब्रेझनेव-कोसीगिन के हाथों में आया। कुछ समय तक शीतयुद्ध मन्द रहा, किन्तु जानसन की नीतियों से वियतनाम युद्ध ने तेजी पकड़ ली और उधर अरब-इजरायल संघर्ष ने भी शीतयुद्ध को पुनः तीव्रता प्रदान की।

वियतनाम युद्ध, भारत-पाक संघर्ष, अरब-इजरायल संघर्ष और शीतयुद्ध—1964 में शीतयुद्ध के तीव्र होने के आसार प्रकट होने लगे। रूस ने कांगो आदि में संयुक्त राष्ट्रसंघ के शान्ति-स्थापना सम्बन्धी कार्यों के व्यय सम्बन्धी अपने अंश के भुगतान से इंकार कर दिया। अमेरिका ने मांग की कि यदि रूस अपने अंश का भुगतान नहीं करता है तो चार्टर के उन्नीसवें अनुच्छेद के अन्तर्गत उसे महासभा में मताधिकार से वंचित कर दिया जाए। इस घटना से शीतयुद्ध फिर भड़क उठा। वियतनाम-युद्ध की तीव्रता ने शीतयुद्ध को और भड़काया। उत्तरी वियतनाम की सीमाओं में घुसकर अमेरिकी वायुयान बम वर्षा करने लगे। सोवियत रूस ने इन आक्रामक कार्यवाहियों का कड़ा विरोध किया। सितम्बर, 1965 में कश्मीर के प्रश्न पर भारत-पाक संघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि की। पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत के विरुद्ध अपना कूटनीतिक युद्ध छिड़ने में कोई कसर नहीं रखी पर श्री शास्त्री की दृढ़ता और स्पष्टता के सामने वे सफल नहीं हो सके। जून, 1967 में अरब-इजरायल संघर्ष के समय शीतयुद्ध ने सशस्त्र संघर्ष का रूप धारण कर लिया। सोवियत संघ ने अमेरिका पर आरोप लगाया कि वह इजरायल को आक्रामक कार्यवाही के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। उधर अमेरिका ने इस संघर्ष के लिए सोवियत कूटनीति को दोषी ठहराया। पश्चिमी-एशिया के संकट पर दोनों गुटों में इतना वाक्‌युद्ध चला कि उनके आपस में टकराने का संकट पैदा हो गया। अरब और इजरायली नेताओं द्वारा भी जबरदस्त कूटनीतिक एवं वाक्‌युद्ध छिड़ गया और यही शीतयुद्ध अरब-इजरायल सशस्त्र युद्ध में परिणत हो गया जिसकी समाप्ति संयुक्त राष्ट्रसंघीय हस्तक्षेप और अरब-राष्ट्रों की आकस्मिक पराजय में हुई। अरब-इजरायल संघर्ष के समय सुरक्षा-परिषद् की प्रत्येक बैठक में शीतयुद्ध का दृश्य देखने को मिलता था। 18 जून, 1967 को जब महासभा में प्रश्न पर विचार होने लगा तो स्वयं रूसी प्रधानमन्त्री ने कार्यवाही में भाग लिया। पश्चिमी गुट अभी प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। सोवियत प्रधानमन्त्री ने अमेरिकी प्रशासन पर कस-कस कर प्रहार किए। अरब-इजरायल संघर्ष के सन्दर्भ में इस प्रकार शीतयुद्ध आकाश छूने लगा।

ग्लासबरो का शिखर-सम्मेलन—कोसीगिन जानसन शिखर-सम्मेलन ग्लासबरो में 23 जून से 26 जून, 1967 तक चला। इसमें वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर विचार-विमर्श किया गया। दोनों नेताओं का यह शिखर-सम्मेलन चीन द्वारा हाइड्रोजन बम के परीक्षण के प्रभाव से प्रभावित था। ग्लासबरो में कोई सौदेबाजी नहीं हो सकी, लेकिन इस सम्मेलन के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में निश्चित रूप से कमी आई। पश्चिमी-एशिया के संकट के सम्बन्ध में दोनों महाशक्तियों के बीच सहमति के क्षेत्र में वृद्धि हुई।

वियतनाम युद्ध में शिथिलता और शीतयुद्ध में कमी—1967-68 में वियतनाम का प्रश्न शीतयुद्ध को भड़काता रहा। अन्त में विश्व जनमत और स्वयं अमेरिकियों के दबाव से बाध्य होकर जानसन को उत्तरी वियतनाम पर बमबारी रोकनी पड़ी। धीरे-धीरे वियतनाम युद्ध शिथिल होता गया और शीतयुद्ध ठण्डा पड़ता गया।

मार्च, 1969 का बर्लिन-संकट और शीतयुद्ध—शीतयुद्ध में पुनः गर्मी तब आई जब पश्चिमी जर्मनी ने निश्चय किया कि 5 मार्च, 1969 को फेडरल जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में सम्पन्न किया जाय। पूर्वी जर्मन सरकार ने कहा कि पश्चिम बर्लिन अभी तक 1945 के पोट्सडाम समझौते के अधीन है, अतः पश्चिमी बर्लिन की सरकार को इस तरह का समारोह कर उसे केवल पश्चिमी जर्मनी का एक भाग सिद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है। पूर्वी जर्मनी ने आरोप लगाया कि पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव बर्लिन में कराने का निर्णय पूर्वी जर्मनी के दावे के खण्डन के लिए किया गया है। पूर्वी जर्मनी ने केवल मौखिक विरोध ही नहीं किया, वरन् पश्चिमी बर्लिन जाने वाले मार्गों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाला निर्वाचक-मण्डल बर्लिन न पहुँच सके। किन्तु पश्चिमी जर्मनी इस बात पर तुला हुआ था कि राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में ही किया जाए अतः वायुयानों द्वारा (हवाई यातायात प्रतिबन्ध से मुक्त था) निर्वाचक-मण्डल अपने दल-बल सहित पश्चिमी बर्लिन पहुँचा। राष्ट्रपति का चुनाव-कार्य शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया। इस प्रश्न पर सोवियत संघ ने कोई बड़ा पूर्व-पश्चिम संकट खड़ा नहीं किया क्योंकि इससे कोई उद्देश्य सिद्ध होने वाला नहीं था।

मास्को-बोन समझौता, 1970 तथा शीतयुद्ध में कमी—द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही जर्मन समस्या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विशेषकर महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध का प्रमुख कारण बनी हुई थी। 12 अगस्त, 1970 को मास्को में संघीय जर्मनी के विली ब्रांट और सोवियत संघ के कोसीगिन ने एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किए जिसे युद्धोत्तर यूरोपीय इतिहास का एक प्रवर्तन-बिन्दु माना जाता है। इस समझौते से शीतयुद्ध का एक प्रमुख कारण निश्चित रूप से कमजोर पड़ गया। सन्धि की मुख्य बात यह थी कि दोनों पक्षों ने वस्तुस्थिति को स्वीकार करते हुए एक-दूसरे के खिलाफ शक्ति का प्रयोग न करने का फैसला किया। सन्धि से पूर्व तक

मुख्य तनाव जर्मनी के वर्तमान स्वरूप तथा युद्धोत्तर राष्ट्रीय सीमाओं के प्रश्न पर ही था, अतः जब सन्धि द्वारा वर्तमान सीमाओं को मान्यता मिल गई तो तनाव का एक मुख्य कारण समाप्त हो गया।

बर्लिन-समझौता, 1971 तथा शीतयुद्ध का एक और कारण शिथिल—मास्को-बोन सन्धि के पश्चात् 3 सितम्बर, 1971 को अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस के बीच लगभग 18 महीने की बातचीत के बाद बर्लिन-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते द्वारा पूर्वी जर्मनी में तनावपूर्ण स्थिति समाप्त हो गई। यह फैसला किया गया कि पश्चिमी बर्लिन के लोगों को पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी जाने की अनुमति प्राप्त होगी। सोवियत संघ कुछ विशेष रियायतें देने को भी तैयार हो गया।

पूर्वी जर्मनी तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, 1972—8 नवम्बर, 1972 को पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बोन में दोनों जर्मन-राज्यों के बीच एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए जिसमें दोनों राज्यों ने एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए विभिन्न मानवीय क्षेत्रों में परस्पर सहयोग का आश्वासन दिया और जर्मन समस्या के समाधान के लिए बल प्रयोग के उपायों को सदैव के लिए त्याग दिया। इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों जर्मन राज्यों के पिछले लगभग 23 वर्षों से चले आ रहे तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति हो गई।

कोरिया-समझौता, 1972 और सहयोग-वृद्धि का आयोग, 1973—उत्तरी एवं दक्षिणी कोरिया के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने भूतकाल में एशिया में शीतयुद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। 1972 में दोनों राज्यों के बीच सम्बन्ध सामान्य बनाने के लिए अनेक कदम उठाए गए। 4 जुलाई, 1972 को एक समझौता हुआ जिसमें दोनों ने वचन दिया कि वे एक-दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। दोनों राज्यों के एकीकरण की दिशा में प्रगति हुई और 1973 में दोनों के बीच पारस्परिक सहयोग-वृद्धि के लिए एक समन्वय समिति गठित की गई।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन, जुलाई 1973—3 से 5 जुलाई 1973 तक हेलसिंकी में हुए यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को दूर कर शीतयुद्ध को समाप्त करना और यूरोप के देशों में सुरक्षा की नई भावना को जन्म देना था। सम्मेलन में रूस की ओर से यह माँग की गई कि सभी यूरोपीय देशों के लोगों को खुलकर एक-दूसरे से मिलना और विचारों का आदान-प्रदान करना चाहिए तथा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी देश किसी दूसरे देश पर हमला करने की कोशिश न करे। हेलसिंकी-सम्मेलन ने तनाव-बिन्दुओं को कम कर शीतयुद्ध के प्रभाव को कम किया।

महान् राष्ट्रों के सम्बन्धों में परिवर्तन और तनाव-क्षेत्रों में कमी—1972 के बाद से ही रूस और अमेरिका के शीर्षस्थ नेता एक-दूसरे से मिलते रहे और चीन

तथा अमेरिका में भी मेल-मिलाप बढ़ा। फलस्वरूप 1974 की समाप्ति तक शीतयुद्ध काफी ठण्डा पड गया।

कम्बोडियाई युद्ध की समाप्ति, अप्रेल 1975—कम्बोडिया का गृहयुद्ध शीतयुद्ध का एक बडा कारण बना हुआ था। 18 अप्रेल, 1975 को सिहानुक-सेनाओं (अथवा खमेर सेना) की विजय के साथ कम्बोडियाई युद्ध का अन्त हो गया और तनाव का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र समाप्त या शिथिल हो गया।

वियतनाम युद्ध का अन्त, 30 अप्रेल 1975—1975 का वर्ष एक तरह से समूचे विश्व के लिए शुभ सिद्ध हुआ। 30 अप्रेल, 1975 को वियतनाम का ऐतिहासिक युद्ध भी समाप्त हो गया। वियतनाम युद्ध बहुत ही विस्फोटक था जिसमे कई बार महायुद्ध तक का खतरा पैदा हो गया था।

पश्चिमी एशिया शान्ति की ओर—पश्चिमी एशिया मे अरब-इजरायल संघर्ष लगभग 27 वर्ष से शीतयुद्ध का कारण बना हुआ था। 1975 के मध्य से ही पश्चिमी एशिया मे शान्ति के आधार अधिक प्रबल हो गए। 4 सितम्बर, 1975 को अमेरिका, मिस्र और इजरायल के बीच एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसके बाद स्थिति मे क्रमश सुधार होता गया, यद्यपि अशान्ति के बवण्डर बीच-बीच मे उठते रहे। आखिर सितम्बर 1978 मे अमेरिका मे कैम्प डेविड मे सादात-बेगिन-कार्टर शिखर वार्ता हुई और ऐसे ऐतिहासिक शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर हो गए जिसने पश्चिम एशिया मे इजरायल अरब समस्या के स्थायी समाधान का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन, जून 1977—हेलसिंकी के बाद यूरोपीय सहयोग एव सुरक्षा सम्मेलन बेलग्रेड मे जून 1977 मे हुआ। इस बात पर विचार किया गया कि पूर्व और पश्चिम के बीच सुरक्षा एव सद्भाव स्थापित करने के लिए तथा यूरोपीय सहयोग को सुदृढ बनाने के लिए क्या किया जाना चाहिए। यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत करने के लिए अनेक सुझाव दिए गए। हेलसिंकी की भावना को आगे बढाया गया। यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन से तनाव शैथिल्य मे निश्चित रूप से मदद मिली।

1977 से मार्च 1982 के मध्य तक शीतयुद्ध के उतार-चढ़ाव

कार्टर प्रशासन और शीतयुद्ध—20 जनवरी, 1977 को जिम्मी कार्टर संयुक्त-राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने। कार्टर ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और तनाव शैथिल्य को बढ़ावा मिला। पहले उन्होने वियतनाम के युद्ध मे जबरन लामबन्दी का विरोध करने वालो को क्षमादान सम्बन्धी आदेश प्रसारित किया। उपराष्ट्रपति वाल्टर माडेल ने अनेक देशों की सद्भावना यात्रा की। कार्टर प्रशासन ने पश्चिम एशिया की समस्या के निदान के लिए अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। कार्टर ने अमेरिका मे कैम्प डेविड मे सितम्बर 1978 मे सादात बेगिन-कार्टर शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। विश्व राजनय मे शायद यह पहला अवसर था जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपनी प्रतिष्ठा को दाव पर रख कर

किसी मसले को सुलझाने मे व्यक्तिगत दिलचस्पी ली हो। 26 मार्च, 1979 को कार्टर की उपस्थिति मे वाशिंगटन-सादात और बेगिन के हस्ताक्षरो के साथ मिस्र और इजरायल मे एक शान्ति-सन्धि सम्पन्न हुई। वियतनाम के प्रति भी अमेरिका का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक बना। सयुक्त राष्ट्रसघ मे वियतनाम के प्रवेश को रोकने की अमेरिका ने कोई कोशिश नही की।

कार्टर प्रशासन ने अपने कुछ कदमों से जहाँ एक ओर तनाव-शैथिल्य को कम किया वहाँ दूसरी ओर इसे उभारा भी। 1979 के मध्य क्यूबा मे सोवियत सैनिको की उपस्थिति को लेकर अमेरिका तथा क्यूबा के बीच गम्भीर तनातनी हो गई। कार्टर ने कैरेबियन मे 'टास्क फोर्स' (अग्रिम सेना) तैनात करने की घोषणा की। साथ ही उन्होने कुछ नए 'रक्षा उपायो' की भी घोषणा की। यह भी कहा गया कि अमेरिका क्यूबा मे सोवियत सैनिको की ठीक सख्या ज्ञात करने के लिए अपनी उपग्रह व्यवस्था को पुनर्गठित करेगा। अमेरिका ने यह घोषणा भी कर दी कि क्यूबा में तैनात सोवियत सैनिकों से आक्रमण के खतरे की स्थिति मे यदि किसी देश ने उससे सहायता मॉंगी तो उसे तुरन्त सहायता पहुँचाई जाएगी तथा पश्चिमी फ्लोरिडा के मुख्य सैनिक प्रधान कार्यालय मे पूर्णकालिक एक कैरेबियाई सयुक्त सैनिक टुकडी तैनात की जाएगी जो इस क्षेत्र के किसी भी भाग पर रूसी आक्रमण का खतरा होने पर सक्रिय हो जाएगी। अमेरिका की इस प्रकार की घोषणाओं से शीतयुद्ध को बढ़ावा मिला और सकट ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। सोवियत सघ ने अमेरिका को चेतावनी दे दी कि क्यूबा मे सोवियत सैनिको की उपस्थिति को अनावश्यक तूल देकर राष्ट्रपति कार्टर आग से खेलने का खतरा मोल न लें। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिका की घोषणा के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई और स्वय अमेरिका मे भी कार्टर की नीति का भारी विरोध होने लगा। इस पर कार्टर को नम्र रुख अपनाना पडा और उन्होने यह कहकर सकट टालने की कोशिश की कि रूस और अमेरिका के बीच टकराव की स्थिति दोनों देशों की सुरक्षा के लिए भारी खतरा है और क्यूबा मे 2–3 हजार रूसी सैनिको की उपस्थिति अमेरिकन सुरक्षा को कोई चुनौती नही हो सकती। कार्टर ने यह भी कहा कि हम 'साल्ट-2' समझौते को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं और मतभेद है। इसका अर्थ यह नही कि हम दोनों महाशक्तियों के बीच परमाणु-युद्ध की आशकाओं को दूर करने के अपने प्रयासो को तिलांजलि दे दें। कार्टर के इस प्रकार के वक्तव्य के बाद क्यूबा की विस्फोटक स्थिति शान्त हो गई, लेकिन शीतयुद्ध का वातावरण गर्म अवश्य हो गया। भारत उप-महाद्वीप में भी कार्टर प्रशासन ने तनाव-शैथिल्य के वातावरण को आघात पहुँचाया। पाकिस्तान और चीन को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उकसावा देने की नीति से इस क्षेत्र मे तनाव का वातावरण बढ़ा। कार्टर प्रशासन ने भारत के साथ किए गए पुराने समझौते पर अमल न करके भी भारत-अमेरिकी सम्बन्धों मे तनाव पैदा किया।

अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप : शीतयुद्ध में वृद्धि—दिसम्बर 1979 मे अफगानिस्तान मे हुई तीसरी क्रान्ति के फलस्वरूप राष्ट्रपति अमीन का तख्ता पलट

गया और बबराक करमाल नए राष्ट्रपति बने। नई सरकार के आमन्त्रण पर, अफगान क्रान्ति की रक्षा के लिए, अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप शुरू हो गया, जिससे उस क्षेत्र में और साथ ही महाशक्तियों के बीच शीतयुद्ध की स्थिति को बढ़ावा मिला है। ईरान मे अमेरिकी दूतावास के कर्मचारियों को ईरानी सरकार द्वारा बन्धक बना लिए जाने और उन्हें छुड़ाने के सारे प्रयत्नों के असफल हो जाने से अमेरिका पहले से ही काफी अपमानित हो चुका था और अब अफगानिस्तान मे सोवियत सेना के पहुँच जाने पर स्वाभाविक था कि अमेरिका बौखला जाता। अत अमेरिका ने अफगानिस्तान की घटना को तिल का ताड़ बनाना शुरू कर दिया और फलस्वरूप शीतयुद्ध ने एक बार फिर उग्र रूप धारण कर लिया। अमेरिका ने, सोवियत खतरे की आशका पैदा कर अफगानिस्तान को 20 करोड़ डॉलर के हथियार देने की घोषणा की। अमेरिकी रक्षा मन्त्री हैरल्ड ब्राउन को पीकिंग भेजा गया ताकि चीनी नेताओं से मिलकर सोवियत विस्तार को रोकने की योजना बनाई जा सके। राष्ट्रपति कार्टर ने अमेरिकी कांग्रेस मे *साल्ट-द्वितीय* पर बहस रुकवा दी और सोवियत सघ को अनाज देने एव आधुनिक प्राविधि की जानकारी देने के अपने पूर्व फैसले को बदल दिया। यही नही, कार्टर ने मास्को मे होने वाले ओलम्पिक खेलो के बहिष्कार की धमकी दी तथा आगे चल कर बहिष्कार भी किया। उन्होंने अपने पश्चिम यूरोपीय मित्र राज्यों से भी अनुरोध किया कि वे सोवियत सघ के साथ अब कोई सहयोग न करें। सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाकर सोवियत कार्यवाही की निन्दा का प्रयत्न किया गया। अमेरिकी कदमों से शीतयुद्ध को काफी बढावा मिला। अमेरिका ने पाकिस्तान के माध्यम से अफगानिस्तान मे सोवियत उपलब्धि को नाकामयाब करने का असफल प्रयत्न किया। आखिर धीरे-धीरे स्थिति सामान्य होने लगी, क्योंकि कनाडा और ब्रिटेन को छोड़कर अन्य पाश्चात्य देशो ने अमेरिका का पूरा समर्थन नही किया और पाकिस्तान तथा चीन का उत्साह भी समय के साथ ठण्डा पड गया। अप्रेल 1980 मे अफगानिस्तान मे सोवियत सेनाओं के रहने पर जब सोवियत सघ और अफगानिस्तान के नेताओ मे एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गए तो यह तथ्य पुन पुष्ट हो गया कि सोवियत सैनिको को अफगान सरकार ने बुलाया है और अपने यहाँ अपनी रक्षा के लिए रखा है, रूस ने चलाकर कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मार्च 1982 के मध्य तक अफगानिस्तान के प्रश्न पर शीतयुद्ध काफी शिथिल पडा हुआ है, यद्यपि अमेरिका और उसके साथी राष्ट्र अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी की माँग का रुख अपनाए हुए है और नवम्बर 1981 में सयुक्त राष्ट्रसघ ने भी सोवियत सघ से अफगानिस्तान से हटने का अनुरोध किया था।

ईरान-ईराक संघर्ष—ईरान और ईराक के बीच तनातनी काफी अर्से से चल रही थी जिसने सितम्बर 1980 को भयावह युद्ध का रूप ले लिया। इन दोनों अरब देशों के युद्ध के फलस्वरूप शीतयुद्ध को बढावा मिला और खाड़ी क्षेत्र में महाशक्तियों के दखल का खतरा भी पैदा हो गया। यद्यपि दोनों देश अभी भी एक दूसरे के प्रति

शत्रुतापूर्ण रुख अपनाए हुए हैं तथापि युद्ध के बादल लगभग छँट गए है और इस दृष्टि से शीतयुद्ध मार्च 1982 के अन्त मे काफी ठण्डा पड चुका है।

अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र-सप्लाई—जनवरी 1981 मे पदारूढ होने के बाद से ही अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने पाकिस्तान को शस्त्रो से सज्जित करने की नीति अपनाई है और आधुनिकतम एफ-16 विमान देने का निर्णय करके भारतीय उपमहाद्वीप की शान्ति को खतरा पैदा किया है तथा भारत-पाक के बीच तनाव-क्षेत्र का विस्तार किया है। रीगन की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियाँ कुल मिलाकर तनाव बढाने वाली सिद्ध हुई है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस शीतयुद्ध का विकास हुआ वह भारी उतार-चढाव के उपरान्त 1975 के मध्य से ही शिथिल पडता गया है। यद्यपि समय-समय पर विभिन्न कारणो से शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिलता रहा है फिर भी महाशक्तियो के रवैये के कारण वह कभी विस्फोटक नही बन सका है। विश्व-शान्ति की दिशा मे यह एक शुभ सकेत है। जिस तरह अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बनता जा रहा है और तनाव तथा सघर्ष क्षेत्रो को सीमित रखने की जो नीतियाँ अपनाई जा रही हैं उससे यही आशा बलवती होती है कि शीतयुद्ध का विस्फोट पहले की भाँति नही हो सकेगा। मौके-बेमौके शीतयुद्ध उभर सकता है लेकिन उसकी तीव्रता पहले जैसी नही होगी और वह सामयिक तेजी दिखाकर पुन शान्त हो जाएगा।

शीतयुद्ध की शिथिलता के कारण

शीतयुद्ध के इतिहास के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काफी उतार-चढाव के बाद पिछले वर्षों से शीतयुद्ध की उग्रता निरन्तर घटती गई है। इसके मूल मे जो मुख्य कारण रहे वे ये हैं—

1. दोनों महाशक्तियाँ यह अनुभव करती जा रही है कि सैनिक शक्ति के बल पर समस्या का निदान बहुत कठिन और व्यय-साध्य है। वियतनाम-युद्ध ने अमेरिका जैसी महाशक्ति के घुटने टिका दिए, युद्ध से उसके सैनिको का ही विनाश नही हुआ बल्कि उसका अर्थ-तन्त्र भी सकट मे पड गया, उसका व्यापार-सन्तुलन बिगड गया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार मे डॉलर की साख तक खतरे में पड गई।

2. दोनो महाशक्तियों को यह आशंका भी सताने लगी है कि शीतयुद्ध कभी भी ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है जिससे तृतीय महायुद्ध का विस्फोट हो जाए। क्यूबा के महान् सकट के बाद से ही महाशक्तियो की यह नीति स्पष्ट दिखाई देने लगी है कि वे परस्पर टकराने जैसी किसी भी स्थिति मे बचती हैं।

3. पूँजीवादी और साम्यवादी शिविरो मे अब सैद्धान्तिक सघर्ष उतना तीव्र नहीं रहा है जितना पहले था। अमेरिका के मित्रराष्ट्र शीतयुद्ध की राजनीति से पृथक् रहकर साम्यवादी देशो से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने लगे है और अमेरिका भी अब इस क्षेत्र मे उतर आया है। पूँजीवादी गुट ने साम्यवादी देशो के साथ बडे

पैमाने पर व्यापार करने का रास्ता खुला रखने के लिए यह उपयुक्त समझा है कि शीतयुद्ध को यथासाध्य बढ़ावा न दिया जाए।

4. गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है और गुट-निरपेक्षता की नीति ने शीतयुद्ध की उग्रता कम करने में महती भूमिका निभायी है।

5. संयुक्त राष्ट्रसंघ में अब महाशक्तियों का प्रभाव वैसा नहीं रहा है जैसा पहले था। अफ्रेशियायी राष्ट्रों की संख्या बढ़ गई है और 'तृतीय विश्व' की आवाज को अब पहले की तरह दबाया जाना आसान नहीं है। इस स्थिति ने शीतयुद्ध की उग्रता को कम किया है।

6 सोवियत संघ द्वारा स्टालिनवादी उग्र नीति का परित्याग कर निरन्तर सह-अस्तित्व की नीति पर बल देने से शीतयुद्ध काफी शिथिल हुआ है। अमेरिकी नेतृत्व ने भी सोवियत मैत्री और सोवियत नीति के महत्व को समझकर सहयोगी रख अपनाया है। दोनों ही पक्षों में इस विचारधारा ने बल पकड़ा है कि परस्पर मतभेद होने के बावजूद दोनों के सम्बन्ध शान्तिपूर्ण रह सकते हैं।

7. पिछले कुछ वर्षों से बड़े राष्ट्रों के नेताओं से सम्पर्क बढ़ा है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति *निक्सन को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने सोवियत* रूस और चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। उनकी पहल से एक ओर रूस तथा अमेरिका और दूसरी ओर चीन तथा अमेरिका के जो शिखर सम्मेलन हुए उनसे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के सुधरने में काफी सहयोग मिला है।

8 शीतयुद्ध की उग्रता कम करने में भारत की भूमिका भी विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। कठिन परिस्थितियों के बावजूद भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर दृढ़ रहा है जिससे विभिन्न क्षेत्रों में तनावों के कम होने में सहायता मिली है।

9 मास्को-बोन समझौता, बर्लिन-समझौता, पूर्वी जर्मनी और पश्चिम जर्मनी के बीच समझौता, कोरिया-समझौता, कम्बोडियायी और वियतनामी युद्ध की समाप्ति, आदि घटनाओं ने यह आशा उत्पन्न कर दी है कि विश्व शीतयुद्ध के भँवर से निकल चुका है और शान्ति तथा सह-अस्तित्व की शक्तियाँ बलवती हो रही है।

वास्तव में महान् राष्ट्रों के सम्बन्धों में पिछले वर्षों से जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है, उन्हीं के फलस्वरूप अनेक समस्याओं का निदान हो सका है और तनाव के क्षेत्र समाप्त तथा कम हुए हैं। विश्व का कल्याण इसी में है कि महाशक्तियाँ दूसरे देशों में हस्तक्षेप की नीति का परित्याग कर दें, आपसी सम्बन्धों को मधुर बनाएँ और प्रत्येक समस्या का समाधान शस्त्र-बल की जगह पारस्परिक वार्ता द्वारा करें।

शीतयुद्ध और देतांत
(Cold War and Detente)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञों के अनुसार देतांत[1] अथवा सोवियत-

1 'देतांत' एक फ्रेंच शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—तनाव शैथिल्य, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दुनिया में इसका अर्थ रूस-अमेरिका तनाव में कमी और उनमें बढ़ती हुई मित्रता तथा सहयोग की भावनाओं से लगाया जाता है।

अमेरिका मैत्री एवं सहयोग का प्रारम्भ कैनेडी-ख्रुश्चेव के समय से हुआ। सत्ता से उनके अकस्मात् हटने के कारण कुछ समय तक मैत्री और सहयोग का मार्ग अवरुद्ध हो गया, किन्तु निक्सन और ब्रेझनेव ने सहयोग के सूत्रों का पुनः विकास किया जिसमें अमेरिका के विदेश-सचिव डॉ. कीसिंजर की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही और निक्सन के चले जाने के बाद फोर्ड तथा कार्टर के समय भी रूस के साथ सामान्यीकरण की प्रक्रिया चलती रही यद्यपि दोनों महाशक्तियों के बीच मैत्री और सहयोग के विकास की गति उतनी तीव्र नहीं रही जितनी निक्सन के समय थी। रीगन प्रशासन के दौरान कुछ तनाव पुनः उभरा है।

देतांत (सोवियत-अमेरिकी मैत्री एवं सहयोग) के प्रारम्भ के लिए मुख्यतः निम्नलिखित कारण उत्तरदायी माने जाते हैं—

प्रथम, अणुबम के रहस्य पर अमेरिका का एकाधिकार समाप्त हो जाने के कारण रूस और अमेरिका के बीच अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से एक सन्तुलन-सा पैदा हो गया है। इसके फलस्वरूप भूतपूर्व अमेरिकी विदेश सचिव डलेस की वह नीति उपयोगी नहीं रही जिसमें साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सशस्त्र-संघर्ष की बात पर बल दिया जाता था। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया का युद्ध, क्यूबा-काण्ड आदि ने स्पष्ट कर दिया कि महाशक्तियों के बीच 'सहयोग' की आवश्यकता है, 'टकराहट' की नहीं।

द्वितीय, रूस की आर्थिक आवश्यकताओं ने उसे अमेरिका की मैत्री अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। साम्यवादी क्रान्ति के पाँच दशक बाद भी सोवियत जनता उत्पादन के क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान की कमी के कारण उन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पा रही थी जिनसे वे उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने में समर्थ हों। अमेरिका के पास यह उन्नत तकनीकी ज्ञान था लेकिन रूस इसका भागीदार तभी बन सकता था जब वह अमेरिका के प्रति संघर्ष के बजाए सह-अस्तित्व की नीति अपनाता। अतः स्टालिनोत्तर युग में सोवियत नेताओं ने पूँजीवाद के साथ सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस तरह दोनों महाशक्तियों में सहयोग का द्वार खुल गया।

तृतीय, साम्यवादी चीन के साथ संघर्ष उत्पन्न होने के कारण सोवियत संघ के लिए आवश्यक हो गया कि वह चीन के समक्ष अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पश्चिमी देशों और मुख्यतः अमेरिका से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे।

चतुर्थ, भारत की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही। एक ओर तो रूस ने समझ लिया कि चीन के विरुद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखने में भारत की मैत्री बहुमूल्य है और दूसरी ओर अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों ने समझ लिया कि रूस-भारत मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर प्रभावशाली गुट बना सकती है। भारत की इस केन्द्रीय स्थिति के कारण महाशक्तियों में पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नेताओं ने सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि शीतयुद्ध के कारण समाप्त हों और विश्व के बड़े राष्ट्रों के बीच सहयोग का वातावरण बने।

पंचम, अमेरिका वियतनामी युद्ध से थक चुका था। वह वियतनामी युद्ध के दलदल से सम्मानपूर्वक तभी निकल सकता था जब सोवियत संघ का सहयोग प्राप्त हो।

उपर्युक्त कारणों से यह स्वाभाविक था कि दोनों महाशक्तियाँ परस्पर तनाव और संघर्ष का मार्ग छोड़कर मैत्री सहयोग का मार्ग अपनातीं।

देतांत का शीतयुद्ध पर प्रभाव

देतांत अर्थात् रूस-अमेरिकी सहयोग का शीतयुद्ध पर निर्णायक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव ही शीतयुद्ध की जड़ था और जब दोनों महाशक्तियों ने यह नीति अपना ली कि वे क्रमशः सहयोग के मार्ग पर अग्रसर होंगे तो शीतयुद्ध भी ठण्डा पड़ने लगा और कुल मिलाकर यह प्रक्रिया अभी जारी है।

सैद्धान्तिक संघर्ष बनाम शक्ति-राजनीति
(Ideological Conflict Vs Power Politics)

अब हमें 'शीतयुद्ध' के एक दूसरे पहलू पर भी कुछ विचार करना चाहिए। प्रायः यह कहा जाता है कि 'शीतयुद्ध' एक सैद्धान्तिक संघर्ष (Ideological Conflict) है जिसमें दो विरोधी जीवन-पद्धतियाँ (उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद) सर्वोच्चता के लिए संघर्षरत हैं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि शक्ति-राजनीति के इस युग में सोवियत संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका के बीच जो एक विशेष प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता है, वह बहुत कुछ सैद्धान्तिक है। इसके पीछे एक गहन सामाजिक दर्शन है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक मुख्य कारण बन गया है। संयुक्तराज्य अमेरिका सोवियत प्रणाली को एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र मानता है जिसका उद्देश्य अन्य देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर अथवा अपना प्रभाव डालकर साम्यवाद का प्रसार करना है। दूसरी ओर सोवियत संघ पश्चिमी देशों की प्रणालियों का शोषण, आक्रमणहीन उपायों द्वारा स्वार्थ-लाभ तथा संगठित लूट-खसोट पर आधारित मानता है। दोनों देशों और उनके पिछलग्गू राष्ट्रों के दृष्टिकोण परस्पर इस तरह विरोधी हैं कि उनका प्रभाव हर क्षेत्र पर पड़ा है और सर्वत्र रूस व अमेरिका का वैचारिक संघर्ष प्रवेश कर गया है। यह वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक संघर्ष आज विश्व-राजनीति का एक आधार बन चुका है और इसी संघर्ष को जारी रखने एवं इसमें सफलता प्राप्त करने के प्रत्येक सम्भव उपाय सोचे जा रहे हैं।

वैसे तो इस सैद्धान्तिक संघर्ष का उदय प्रधानतः सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ही हो गया था, किन्तु द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में इसने चिन्ताजनक और भीषण रूप धारण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों राष्ट्रों के बीच तनावों में वृद्धि होती गई और विश्व की समस्याओं के प्रति विरोधी नीतियाँ परस्पर टकराने लगीं। साम्यवाद को सीमित रखने के लिए अमेरिका ने विभिन्न कदम उठाए। ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन मार्शल-योजना जैसे कार्यक्रमों की पूर्ति, सैनिक

एव प्रादेशिक सगठनो की स्थापना आदि बातों से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने साम्यवाद के विरुद्ध कमर कस ली है। दूसरी ओर साम्यवाद ने पूँजीवादी घेरो को तोडकर साम्यवाद के प्रसार का सकल्प ले लिया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के बाद 'शीतयुद्ध' का दानव समग्र ससार को ग्रसने लगा। स्थिति यह बन गई कि सैद्धान्तिक सघर्ष मे विजय पाने और शीतयुद्ध के कायम रखने के लिए राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक सभी प्रकार के उपाय काम मे लाए जाने लगे लेकिन इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी कार्य हो रहे हैं जिनमे सचमुच विरोधाभास है। सयुक्तराज्य अमेरिका लोकतन्त्र की साम्यवाद से रक्षा के नाम पर विभिन्न देशो को आर्थिक सहायता देता है ताकि वहाँ की स्थिति सुदृढ रहे और साम्यवाद के प्रसार का अवसर न मिले। लेकिन यह आर्थिक सहायता उन्ही देशो को प्राप्त होती है जो सोवियत सघ के विरोधी हैं या उनको जिनकी स्थिति अब अच्छी नही है और जहाँ लोकतन्त्र के प्रति आस्था मिटती जा रही है। इसके परिणामस्वरूप उद्देश्य की पूर्ति नही हो पाती। उदारवाद को महत्त्व न दिया जाकर विचारो की विभिन्नता को घृणा से देखा जाता है। स्वतन्त्र विचारो के लिए आदर न होने से विश्व मे अविश्वास की राजनीति को बल मिला है।

दोनो राष्ट्र एक दूसरे के प्रति इतने सशकित हैं कि अपनी व्यवस्था के रक्षार्थ उन्होने गुप्तचरो का एक विश्व-व्यापी जाल बिछा रखा है। सैद्धान्तिक सघर्ष में और एक-दूसरे के दर्शन से अपने दर्शन को अथवा अपने रहन-सहन को श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए प्रचार के सभी साधन अपनाए जाते हैं। प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर अविकसित देशो की मित्रता खरीदी जाती है, सामरिक सामग्री पर नियन्त्रण किया जाता है और दुर्बल देशो के अर्थतन्त्र को नियन्त्रित किया जाता है। इतना ही नही, अन्य देशो मे जो राजसत्ता के लिए सघर्ष होते हैं उनमे किसी दल विशेष का पक्ष लेकर सैद्धान्तिक सघर्ष को बढाया जाता है।

इस तरह वर्तमान शीतयुद्ध का एक सर्वोपरि आधार सैद्धान्तिक या वैचारिक सघर्ष (Ideological Conflict) ही है। आर्नोल्ड टॉयनबी ने शीतयुद्ध को एक सैद्धान्तिक सघर्ष मानते हुए विश्व-राजनीति की 'द्वि-ध्रुवी' व्याख्या की है। टॉयनबी के अनुसार वर्तमान समय मे विश्व-राजनीति मे केवल दो सिद्धान्त और केवल दो शक्तियाँ हैं—उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद और सयुक्तराज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस। यह कहा जाता है कि संसार के अन्य राज्यो के पास इसके अतिरिक्त और कोई अन्य विकल्प नही है कि इन दो महाशक्तियों में से एक-न-एक का साथ दें। मार्शल टीटो का सोवियत संघ के विरुद्ध विद्रोह अथवा भारत का असंलग्नतावाद किसी भी ऐच्छिक विकल्प का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु महाशक्तियो द्वारा चयनित विकल्प (Choice Allowed) का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात इसी से स्पष्ट है कि यदि रूस और अमेरिका मे कभी अन्तिम सघर्ष का अवसर उपस्थित हो जाए तो युगोस्लाविया अथवा भारत के पास सिवाय इसके कोई प्रभावी विकल्प नही रहेगा कि वे दोनों मे से किसी एक पक्ष का साथ दें।

यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि स्वयं पश्चिमी शक्तियाँ और साम्यवादी देश भी शीतयुद्ध के एक सैद्धान्तिक संघर्ष होने का दावा करते हैं। पश्चिमी शक्तियों द्वारा इसे एक सैद्धान्तिक संघर्ष मानने का स्पष्टतम प्रमाण 5 मार्च, 1946 की चर्चिल की विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' है जिसमें उन्होंने यूरोप के आर-पार सोवियत 'लौह आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा करते हुए सोवियत खतरे से ईसाई सभ्यता की रक्षा करने तथा साम्यवादी निरंकुशता द्वारा गुलाम बनाए गए लोगों को स्वतन्त्र कराने के लिए एक एंग्लो-अमेरिकी मैत्री सन्धि पर बल दिया था। शीतयुद्ध एक सैद्धान्तिक संघर्ष है, इस सम्बन्ध में रूसी दावे की पुष्टि उस घोषणा-पत्र के निम्नलिखित अंशों द्वारा की जा सकती है जो 5 अक्तूबर, 1947 को रूस सहित 18 प्रमुख साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों द्वारा मास्को तथा वारसा में एक साथ प्रसारित किया गया था—

"..........दो विरोधी राजनीतिक विचारधाराएँ उजागर हो गई हैं। एक ओर सोवियत संघ तथा अन्य लोकतन्त्रीय राज्यों का उद्देश्य साम्राज्यवाद का विनाश करना तथा लोकतन्त्र को मजबूत बनाना है। दूसरी ओर इंग्लैण्ड तथा अमेरिका का उद्देश्य साम्राज्यवाद को मजबूत बनाना तथा लोकतन्त्र का गला घोटना है। चूँकि सोवियत संघ तथा लोकतान्त्रिक देश विश्व-प्रभुत्व एवं लोकतन्त्रीय आन्दोलनों के दमन की साम्राज्यवादी आकाँक्षाओं की पूर्ति में बाधक हैं, इसलिए इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के खूनी साम्राज्यवादियों ने सोवियत संघ तथा नए लोकतन्त्र के प्रतीक अन्य देशों के विरुद्ध एक अभियान प्रारम्भ कर दिया है।.... ...इन परिस्थितियों में साम्राज्यवाद-विरोधी लोकतन्त्रीय समुदाय के लिए संगठित होना तथा साम्राज्यवादी समुदाय की प्रमुख शक्तियों के विरुद्ध अपनी नीति निश्चित करने हेतु एक सामान्य मञ्च (Common Platform) का निर्माण करना आवश्यक है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि शीतयुद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष की संज्ञा दिया जाना गलत नहीं है, पर यह कहना अवश्य भ्रामक है कि यह केवल एक सैद्धान्तिक संघर्ष है। शीतयुद्ध और सैद्धान्तिक संघर्ष पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि सैद्धान्तिक संघर्ष शीतयुद्ध के एक प्रधान कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। नेतृत्व की होड, प्रभाव-विस्तार की होड, शक्ति-प्रतिस्पर्द्धा, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याएँ आदि अनेक अन्य तत्त्व भी हैं जो शीतयुद्ध भड़काते हैं।



18 पश्चिमी यूरोप का पुनर्निर्माण तथा पुनर्गठन

(RE-BUILDING AND RE-ORGANISATION OF WESTERN EUROPE)

"अब राजनीतिक शक्ति एवं नेतृत्व में केन्द्रीय तथा पश्चिमी यूरोप का एकाधिकार नहीं रहा है।" —हैराल्ड एवं स्प्राउट

7 मई, 1945 को जर्मनी के साथ विराम-सन्धि होने के पश्चात् 2 सितम्बर, 1945 को जापान के प्रतिनिधियों और जनरल मैकार्थर के मध्य विधिवत् विराम-सन्धि सम्पन्न हो जाने पर द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति हो गई। जर्मनी और जापान के आत्मसमर्पण से सैनिक संघर्ष का अन्त अवश्य हो गया, लेकिन अन्य विकट समस्याओं का समाधान अभी बाकी था—(1) पराजित शक्तियों के साथ शान्ति-सन्धियाँ कर वांछित व्यवस्था स्थापित करना, एवं (2) आर्थिक दृष्टि से ध्वस्त यूरोप का पुनर्निर्माण करना। दूसरे शब्दों में महायुद्ध के उपरान्त सबसे गम्भीर समस्या 'यूरोप के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन' की थी। द्वितीय महायुद्ध ने विश्व-इतिहास के निर्माता यूरोप को आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से पराजित तथा 'समस्या प्रधान' (Problem Europe) बना दिया था। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए थे तथा उनके साम्राज्य इतिहास की कहानी बन चुके थे। ब्रिटेन और फ्रांस तीसरी श्रेणी के राष्ट्र बन गए थे। आर्थिक दृष्टि से यूरोप के विजेता राष्ट्रों की भी दशा इतनी शोचनीय बन चुकी थी कि उनकी स्थिति पराजित राष्ट्रों से कोई विशेष अच्छी नहीं थी। 1939 में ब्रिटेन विश्व का एक प्रमुख ऋणदाता राष्ट्र था, लेकिन 1945 में वह स्वयं एक ऋणी राष्ट्र हो गया और उसकी विदेश देनदारियाँ बहुत बढ़ गई। महायुद्ध के बाद वास्तव में केवल दो ही महाशक्तियाँ रह गई—सोवियत रूस तथा संयुक्तराज्य अमेरिका।

अमेरिका के लिए महायुद्ध प्रच्छन्न रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को एक ऋणी से ऋणदाता राष्ट्र का रूप दिया था और द्वितीय महायुद्ध के बाद सम्पूर्ण संसार पर उसका आर्थिक प्रभुत्व छा गया। उसकी

राजनीतिक-आर्थिक-सैनिक समृद्धि का रहस्य यही था कि अन्य संघर्षरत राष्ट्रों के समान उसे युद्ध-जनित विनाश का सामना नहीं करना पड़ा था। न तो उसकी भूमि पर युद्ध लड़ा गया था और न ही उसे शत्रु की क्रूर बमवर्षा का शिकार होना पड़ा था अत: यूरोप के गैर-साम्यवादी राष्ट्रों का अपने पुनर्निर्माण के लिए अमेरिका का मुँह ताकना और उसका नेतृत्व स्वीकार करना स्वाभाविक था। अमेरिका को चुनौती दी तो केवल सोवियत संघ ने जो द्वितीय महायुद्ध के घोर विनाश के बावजूद एक महाशक्ति के रूप में उभरा था और पूर्वी यूरोप को 'लाल' बना चुका था तथा बनाता जा रहा था। युद्धोपरान्त 1948 तक की तीन वर्ष की अल्पावधि में ही स्टालिन ने पूर्वी यूरोप के 7 देशों को पूरी तरह लाल बनाकर, स्वतन्त्र विश्व के सामने जबरदस्त राजनीतिक और वैचारिक चुनौती प्रस्तुत कर दी थी। साम्यवाद के प्रसार की आशंका से भयभीत अमेरिका यूरोप के पुनर्निर्माण की दिशा में जुट गया।

पश्चिमी यूरोप के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन का वर्णन क्रमश: निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है —

(1) शान्ति-निर्माण की समस्या (Problem of Peace-making)

(2) आर्थिक पुनरुद्धार और एकीकरण (Economic Recovery and Integration)

(3) पश्चिमी यूरोप की सैनिक सुरक्षा (Military Security of Western Europe)

शान्ति-निर्माण की समस्या
(Problem of Peace-making)

युद्धोत्तर शान्ति-स्थापना का कार्य प्रथम महायुद्ध के उपरान्त के शान्ति-स्थापना के कार्य से कहीं अधिक सरल प्रतीत होता था, क्योंकि विजेता राष्ट्र महायुद्ध काल में ही विविध सम्मेलनों और वार्ताओं द्वारा शान्ति स्थापना के मार्ग की काफी दूरी तय कर चुके थे, परन्तु यह आशा फलीभूत नहीं हुई। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के लगभग डेढ़ वर्ष बाद तक भी शान्ति-सन्धियों के प्रारूप तैयार नहीं हो सके। 10 फरवरी, 1947 तक केवल इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न हो सकीं। जापान के साथ तो युद्ध-समाप्ति के लगभग साढ़े छः वर्ष बाद 28 अप्रैल, 1951 को शान्ति-सन्धि की गई, और यह भी एक अधूरी शान्ति-सन्धि ही थी क्योंकि रूस ने इससे इन्कार कर दिया। रूस और जापान के मध्य युद्ध की औपचारिक समाप्ति तो अक्तूबर, 1956 में हुई जब दोनों राष्ट्रों द्वारा एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई। ऑस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि युद्ध समाप्ति के लगभग 10 वर्ष बाद 27 जुलाई, 1955 को कार्यान्वित की गई और जर्मनी के एकीकरण की समस्या आज भी जीवन्त है यद्यपि व्यवहार में दो जर्मनियों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए दोनों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में अलग-अलग सदस्यता प्रदान की जा चुकी है।

शान्ति-निर्माण में कठिनाइयाँ और प्रारम्भिक कार्य

महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-व्यवस्था का कार्य अत्यधिक कठिन और दुष्कर सिद्ध हुआ जिसके मूल में कुछ प्रमुख कारण ये थे—(1) विजेता-राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों और अविश्वासों ने उग्र रूप धारण कर लिया तथा शीतयुद्ध शुरू हो गया, (2) रूस और अमेरिका दोनों में ही प्रभुत्व-विस्तार की प्रतिस्पर्द्धा छिड़ गई और यह प्रश्न गौण हो गया कि पराजित देशों को यथाशीघ्र आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाए, (3) शान्ति व्यवस्था के लिए विदेश मन्त्रियों की जो परिषद् बनाई गई उसमें 'सर्वसम्मति से निर्णय' का निश्चय किया गया जो बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था क्योंकि इसके द्वारा दोनों ही पक्षों को एक दूसरे के कार्यों पर 'निषेधाधिकार' प्राप्त हो गया जिससे वे किसी भी निर्णय को रोकने की स्थिति में आ गए, (4) मित्रराष्ट्रों के विदेश मन्त्री उतने अनुभवी और चतुर नहीं थे जितने रूसी विदेश मन्त्री और वे स्वयं पारस्परिक मतभेद के भी शिकार थे, एवं (5) विदेश मन्त्री-परिषद् में फ्रांस और चीन के विदेश मन्त्रियों को भी सम्मिलित कर लिया गया जबकि सन्धियों का प्रारूप तैयार करने और निर्णय करने के कार्य में वे भाग नहीं ले सकते थे। बाद में इस समस्या को सुलझा लिया गया, तो भी यह व्यवस्था बनी रही कि वे निर्णय के समय मतदान में भाग नहीं ले सकते।

इन सभी कारणों से और पारस्परिक अविश्वास एवं शत्रुता के वातावरण के कारण शान्ति-समझौते के प्रयत्नों का वही हाल हुआ जो एक ऐसी गाड़ी का होता है जिसके दोनों ओर घोड़े जुते हुए हों किन्तु ये घोड़े उस गाड़ी को विपरीत दिशा में खींच रहे हों और उनमें से अधिक शक्तिशाली घोड़ा गाड़ी को बहुत धीरे-धीरे आगे की दिशा में खींच सका हो।

शान्ति-स्थापना के प्रयास में विदेश मन्त्रियों की परिषद् की पहली बैठक लन्दन में सितम्बर-अक्तूबर, 1945 में हुई। बाद में इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड आदि देशों से सन्धि के लिए दिसम्बर, 1947 तक इस परिषद् के विभिन्न सम्मेलन पेरिस, न्यूयॉर्क, मास्को, लन्दन आदि स्थानों पर बुलाए गए। 29 जुलाई, 1946 से 15 अक्तूबर, 1946 तक 21 राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन हुआ जिसमें विदेश मन्त्री-परिषद् द्वारा तैयार किए गए शान्ति-सन्धि के प्रारूपों पर विचार किया गया। सन्धि-प्रारूपों के लगभग 60 अनुच्छेद ऐसे थे जिन पर विदेश मन्त्री-परिषद् एकमत नहीं थी। इन सभी को सामान्य सम्मेलन में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया, लेकिन विचार-विमर्श का तरीका ऐसा था कि किसी सर्वमान्य समझौते पर पहुँचने की सम्भावना समाप्त हो गई। पेरिस-सम्मेलन यद्यपि असफल रहा, लेकिन इसमें जो सिफारिशें की गईं उन पर विदेश मन्त्री-सम्मेलन में गम्भीरता-पूर्वक विचार किया गया, और उनमें से कुछ को लागू भी किया गया। कार्य मतभेद के बावजूद आखिर दिसम्बर, 1946 में परिषद् द्वारा पाँचों शान्ति-सन्धियों के अन्तिम प्रारूप तैयार कर दिए गए जिन पर फरवरी, 1947 में पेरिस में 20 संयुक्त अथवा मित्रराष्ट्रों और पाँच पराजित राष्ट्रों के हस्ताक्षर हो गए। शान्ति-सन्धियों

के अनुसमर्थन के लिए 15 दिसम्बर, 1947 अन्तिम तिथि निश्चित की गई। इस प्रकार यूरोप के अधिकांश भू-भाग पर शान्ति-स्थापना सम्भावना हो सकी।

पाँच शान्ति-सन्धियाँ (Five Peace Treaties)

1. इटली के साथ हुई सन्धि (Peace Treaty with Italy) के अनुसार इटली के अधिकांश उपनिवेश उससे ले लिए गए। इटली के जो प्रदेश फ्रांस से मिले हुए थे, उनमें से कुछ फ्रांस को दे दिए गए। लगभग 3 हजार वर्गमील का क्षेत्र और एड्रियाटिक सागर के कुछ द्वीप इटली से लेकर यूगोस्लाविया को दिए गए। यूनान के निकटस्थ इटली के कई द्वीप यूनान को प्राप्त हुए। ट्रीस्ट को स्वतन्त्र प्रदेश बना दिया गया। इटली को अपने उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। उसे अफ्रीका में लीबिया, इरीट्रिया और सोमालीलैण्ड के अपने उपनिवेश छोड़ने पड़े। उस पर 36 करोड़ डॉलर हर्जाना लादा गया जो 7 वर्षों की अवधि में यूनान, रूस, अबीसीनिया, अल्बानिया, यूगोस्लाविया आदि को दिया जाना था। इटली की सैनिक शक्ति पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगा दिए गए। फ्रांसीसी और यूगोस्लाव सीमान्तों पर उसकी किलेबन्दी नष्ट कर दी गई। सन्धि का कुल मिलाकर परिणाम यह निकला कि न केवल इटली के सम्पूर्ण औपनिवेशिक साम्राज्य का अन्त हो गया बल्कि वह एक तृतीय श्रेणी की शक्ति रह गया।

2 रूमानिया से सन्धि (Peace Treaty with Rumania) के अनुसार उससे बेसरबिया और उत्तरी बकोविना छीन कर रूस को दे दिए गए। दोब्रुजा का प्रदेश बल्गारिया को मिला। हंगरी से ट्रांसिलवेनिया लेकर रूमानिया को लौटा दिया गया। यह भी कहा गया कि रूमानिया हर्जाने के रूप 30 करोड़ डॉलर का सामान आठ वर्ष में रूस को दे। इसके अतिरिक्त रूमानिया का काफी निःशस्त्रीकरण भी कर दिया गया।

3 बल्गेरिया के साथ सन्धि (Peace Treaty with Bulgaria) के अनुसार उसकी जनवरी, 1941 की सीमाओं का पुनर्स्थापन हुआ। सन्धि द्वारा इसका कोई प्रदेश नहीं छीना गया अपितु दक्षिणी दोब्रुजा का प्रदेश उसे रूमानिया से प्राप्त हुआ किन्तु उस पर इटली और रूमानिया की भांति विभिन्न सैनिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। यह भी निश्चय हुआ कि बल्गेरिया अपने यूनानी सीमान्त पर किसी प्रकार की स्थायी किलेबन्दी नहीं कर सकेगा और 8 वर्षों की अवधि में 4 5 करोड़ डॉलर यूनान को और 2 5 करोड़ डॉलर यूगोस्लाविया को क्षतिपूर्ति के रूप में देगा।

4 हंगरी के साथ सन्धि (Peace Treaty with Hungary) के अनुसार उससे ट्रांसिल्वेनिया प्रदेश रूमानिया को और स्लोवाकिया प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को वापस दिए गए। हंगरी पर 20 करोड़ डॉलर का हर्जाना भी लगा दिया गया तथा कुछ निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रावधान भी किए गए।

5. फिनलैण्ड के साथ सन्धि (Peace Treaty with Finland) के अनुसार रूस और फिनलैण्ड के बीच 1940 की सन्धि पुष्टि कर दी गई। इस

सन्धि के अनुसार रूस की सीमा से लगे हुए फिनलैण्ड द्वारा 100 करोड रुपये आठ साल मे रूस को चुकाना निश्चित किया गया। फिनलैण्ड पर सैनिक प्रतिबन्ध भी लगे।

यद्यपि ये पाँचो सन्धियाँ 15 सितम्बर, 1947 से अन्तिम रूप में लागू कर दी गई, तथापि इनका पूरी तरह पालन नही किया गया। इनके अनेक प्रावधानो का उल्लघन हुआ अथवा उनकी उपेक्षा की गई। इन सन्धियो के विरुद्ध 'सशोधन-आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। कालान्तर मे सन्धियों के अनेक भाग मृतप्राय: हो गए और कुछ मे महत्त्वपूर्ण सशोधन किए गए।

आस्ट्रिया के साथ सन्धि (Peace Treaty with Austria)

युद्धोपरान्त आस्ट्रिया मे, जर्मनी की भाँति ही, सैनिक शासन की स्थापना की गई। आस्ट्रिया की राजधानी वियना को चार भागो मे बाँट दिया गया। प्रत्येक भाग पर एक-एक मित्रराष्ट्र का अधिकार स्थापित हुआ। 1955 के प्रारम्भ तक आस्ट्रिया का प्रश्न अधर मे लटका रहा। बाद मे काफी विचार-विमर्श के बाद 15 जुलाई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हो गए। इस सन्धि द्वारा 12 मार्च, 1938 के बाद 17 वर्ष तक पराधीन रहने के पश्चात् आस्ट्रिया की स्वाधीनता एव सर्वोच्च सम्प्रभुता प्राप्त हुई, किन्तु उसके द्वारा यह वचन दिया गया कि वह जर्मनी के साथ किसी प्रकार का राजनीतिक या आर्थिक सघ नही बनाएगा।

जापान के साथ सन्धि (Peace Treaty with Japan)

आत्म-समर्पण के उपरान्त जापानी प्रदेश पर मित्रराष्ट्रों का सैनिक अधिकार स्थापित हुआ, पर वास्तव मे वह अमेरिका के पूर्ण नियन्त्रण मे ही रहा क्योंकि उसने ही अणुबम गिरा कर जापान को जीता था। 1947 के बाद तो जापान मे केवल अमेरिकी सेना ही रह गई और जनरल मैकार्थर वहाँ का सर्वेसर्वा बन गया। विजेता राष्ट्रों मे जापान के भविष्य के बारे मे गहरे मतभेद होने से एक लम्बे समय तक उसके साथ सन्धि-वार्ता नही की जा सकी। अन्त मे जनवरी, 1951 मे अमेरिकी विदेशमन्त्री ने विभिन्न राष्ट्रों से परामर्श करके सन्धि का प्रारूप तैयार किया जिसके अनुसार—(1) जापान की सर्वोच्च सत्ता और प्रभुता केवल 4 बड़े और कुछ छोटे द्वीपो के एक लाख पचास हजार वर्ग मील के क्षेत्र तक ही सीमित कर दी गई, (2) जापान ने कोरिया की स्वतन्त्रता स्वीकार की, फारमोसा और क्यूराइल सखालीन टापुओ पर अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और प्रशान्त महासागर मे बोनिन व रयूक टापुओ पर 2 अप्रैल, 1947 से अमेरिका की ट्रस्टीशिप स्वीकार करली, (3) जापान ने चीन मे अपने सब अधिकारों को छोडना और मित्रराष्ट्रों के युद्ध-अपराध न्यायालय के निर्णयो को मानना स्वीकार कर लिया, एव (4) जापान ने युद्ध के पूर्व लिए ऋणों के भुगतान का दायित्व भी स्वीकार किया। सन्धि मे और भी अनेक बातें विस्तार से सम्मिलित की गईं। 8 सितम्बर, 1951 को इस सन्धि पर 48 राज्यो ने हस्ताक्षर कर दिए। रूस, पोलैण्ड और

चेकोस्लोवाकिया इससे अलग रहे। सन्धि 28 अप्रेल, 1952 से लागू हुई। अक्तूबर, 1946 में एक पृथक् समझौते द्वारा रूस और जापान के बीच युद्ध-स्थिति का अन्त हो गया, तथापि अभी तक दोनों के बीच कोई औपचारिक शान्ति-सन्धि सम्पन्न नहीं हो सकी है।

जर्मनी के साथ सन्धि वार्ता (Peace Treaty with Germany)

आत्म-समर्पण करते समय जर्मनी में एडमिरल डायनिट्स की अन्तर्कालीन सरकार सत्तारूढ थी। मित्रराष्ट्रों ने इस सरकार को मान्यता न देकर जर्मनी का शासन-भार स्वयं सम्भालने का निश्चय किया। जर्मनी को चार भागों में बांटकर एक-एक भाग का शासन अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस को सौंप दिया गया। इस व्यवस्था के अनुसार पूर्वी जर्मनी पर अमेरिका का, फ्रांस से मिले हुए भाग पर फ्रांस का और बेल्जियम तथा हॉलैण्ड की सीमा से मिले हुए जर्मन प्रदेशों पर इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया। पूर्वी जर्मनी पर रूस का कब्जा हो जाने से बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रूसी कब्जे में आ गया पर खास बर्लिन को भी चार भागों में बाँट कर अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस का अलग-अलग शासन स्थापित किया गया। इस तरह सम्पूर्ण जर्मनी में मित्रराष्ट्रों का सैनिक शासन स्थापित हो गया। हर्जाने के रूप में जर्मनी पर एक भारी रकम लाद दी गई।

जर्मनी के पुनर्निर्माण के प्रश्न पर एक ओर अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा दूसरी ओर रूस के बीच मतभेद इतने अधिक व्यापक और उग्र हो गए कि जर्मनी के साथ कोई सन्धि नहीं की जा सकी। जनवरी, 1947 में ब्रिटेन और अमेरिका ने द्वि-क्षेत्र (Bi-zon a) का निर्माण कर लिया और 31 मई, 1948 को फ्रांस के साथ मिलकर उन्होंने अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन व फ्रांस तीनों ने अपने तीनों क्षेत्रों (Tri-zonia) के लिए एक केन्द्रीय सरकार बनाना स्वीकार कर लिया। 21 सितम्बर को पश्चिमी जर्मनी में सघीय गणराज्य (Federal Republ c of Germany) की स्थापना हुई जो अब तक चला आ रहा है और जिसकी राजधानी बोन (Bonn) है। मित्रराष्ट्रों के सैनिक कमीशन ने पश्चिमी-जर्मनी के इस सघीय गणराज्य को प्रशासनिक अधिकार प्रदान किए। दूसरी ओर पूर्वी क्षेत्र में सोवियत संघ ने 7 अक्तूबर, 1949 को जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य (German Democratic Republic) की स्थापना की जिसकी राजधानी सोवियत क्षेत्र के बर्लिन नगर में स्थित है।

अभी तक जर्मनी के साथ कोई शान्ति-सन्धि सम्पन्न नहीं हो सकी थी अत: वैधानिक रूप से जर्मनी और मित्रराष्ट्रों के बीच युद्ध-स्थिति थी। 1951 में पश्चिमी राज्यों ने अपनी ओर से जर्मनी के साथ युद्ध-समाप्ति की घोषणा करदी और मई, 1952 में पश्चिमी जर्मनी को व्यावहारिक स्वशासन प्रदान कर दिया। मई, 1955 में 'जर्मन-सघीय-गणराज्य के मौलिक कानून' (Basic Laws of the Federal Republic of Germany) को पश्चिमी क्षेत्रों के मित्रराष्ट्रीय सैनिक गवर्नरों ने स्वीकार कर लिया। इस अधिनियम द्वारा पश्चिमी जर्मनी पर से पश्चिमी

राष्ट्रों ने अपने सैनिक अधिकार समाप्त कर दिए और इस प्रकार सघीय गणराज्य को स्वाधीनता तथा सर्वोच्च सम्प्रभुता प्राप्त हो गई। सोवियत सघ ने भी 20 सितम्बर, 1955 को एक सन्धि द्वारा पूर्वी जर्मनी के जनतान्त्रिक गणराज्य को पूर्ण स्वाधीनता और प्रभुता प्रदान करदी जो वास्तव मे सैद्धान्तिक ही थी क्योंकि व्यावहारिक रूप म सोवियत सघ का पूर्वी जर्मन सरकार पर पूरा नियन्त्रण रहा।

जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न आज भी अधर मे लटका हुआ है, तथापि पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के सम्बन्धो में सुधार जारी है। सितम्बर, 1971 मे अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रास ने बर्लिन-समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि पश्चिमी बर्लिन के लोगो को पूर्वी बर्लिन और पूर्वी जर्मनी जाने की छूट होगी तथा बर्लिन-प्रवेश के सम्बन्ध मे पूर्वी जर्मनी मे होकर बेरोकटोक और सीधे-सामान्य ढग से यातायात चालू होगा। कुछ और भी व्यवस्थाएँ की गईं जिससे दोनो पक्षों के सम्बन्धों को अच्छा बनाया जा सके। नवम्बर, 1972 मे दोनों जर्मन राज्यों मे एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसमे दोनो ने एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर जर्मन-समस्या के समाधान के लिए, बल-प्रयोग के उपायों को तिलांजलि दे दी। दोनो सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य भी बन गए हैं।

आर्थिक पुनरुद्धार और एकीकरण
(Economic Recovery and Integration)

यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण, विकास और एकीकरण करने के लिए पश्चिमी शक्तियों द्वारा जो प्रस्ताव किए गए उन्हें विभिन्न कारणों से सोवियत रूस तथा उसके साथी राष्ट्रों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। फलस्वरूप ऐसा कोई सामान्य कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया जा सका जिसके द्वारा यूरोप के सभी राष्ट्रों का आर्थिक विकास हो सके। अब दोनों ही पक्ष अपने-अपने गुट के देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अलग-अलग योजनाएँ बनाने लगे, महाद्वीप विभाजित हो गया तथा क्षेत्रीय आधार पर क्षति-पूर्ति के प्रयास किए गए। सयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के विरुद्ध ऐसे सगठनों को आत्मरक्षा के लिए बड़ा उपयोगी समझता था। अत: 1951 के पारस्परिक सुरक्षा कानून (The Mutual Security Act) मे यूरोप का आर्थिक और राजनीतिक सघ बनाने के लिए अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई। भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल ने यूरोप की एकता के आन्दोलन का 1964 मे ही सूत्रपात कर दिया था। सभी प्रयत्नों के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार और एकीकरण के लिए जो कार्यक्रम और सगठन अस्तित्व मे आए, उनमे से प्रमुख ये हैं—

बेनेलक्स (Benelux)

यूरोप के देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण कदम था। यह सन्धि बेल्जियम, नीदरलैण्ड तथा लक्जमबर्ग के बीच सितम्बर, 1944 मे ही हो गई थी। जनवरी, 1948 मे इसे सशोधित रूप मे स्वीकार किया गया। इस सन्धि द्वारा इसमे भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों के बीच चुंगी को पूरी तरह

समाप्त कर दिया गया तथा आयात पर एक समान टैरिफ कार्यक्रम की स्थापना की गई। कहा जाता है कि इस सन्धि का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आर्थिक-संघ का निर्माण करना था। तीनों देशों के विदेश मन्त्रियों ने 1 जनवरी, 1950 को इस प्रकार का संघ प्रारम्भ करने की तिथि निश्चित की और बाद में इस तिथि को कई बार स्थगित कर दिया गया क्योंकि इसे क्रियान्वित करने के मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ थीं। बाद में यह निष्कर्ष निकाला गया कि जब तक कुछ बड़े उद्योगों के विशेष हितों को, यहाँ तक कि राष्ट्रीय हित को भी अधीनस्थ या गौण नहीं बना दिया जाता तब तक पूरे यूरोप के आर्थिक लाभों को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

मार्शल योजना (Marshall Plan)

इस योजना का उद्देश्य युद्ध-ध्वस्त यूरोप का पुनरुद्धार कर उसको साम्यवाद से बचाना था। अपने 5 जून, 1947 के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध भाषण में अमेरिकी विदेशमन्त्री मार्शल ने कहा, "हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें स्वतन्त्र संस्थाओं को विकसित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें।"

पश्चिमी देशों के राष्ट्रों ने मार्शल-योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई, 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और टर्की के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European Economic Co-operation) की स्थापना की गई और यूरोपीय पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्तराज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट अर्पित की जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि 29 3 बिलियन डॉलर धन-राशि खर्च करने को तैयार हो तो 1951 तक एक आत्म-निर्भर यूरोपीय अर्थव्यवस्था (Economy) की प्राप्ति की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दिसम्बर, 1947 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'मार्शल योजना' से सम्बन्धित व्यय का अनुमान काँग्रेस के समक्ष प्रस्तुत किया जिसमें सवा चार वर्ष की अवधि के लिए 17 अरब डॉलर और 15 महीनों के लिए 6 अरब 80 करोड़ डॉलर के खर्च का अनुमान लगाया गया। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Motive) की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन ने कहा—"मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका उन 16 राज्यों को जो उसी की तरह स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति के लिए दृढ़ संकल्प हैं, उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता देकर विश्वशान्ति एवं अपनी सुरक्षा में योगदान करे।"

'मार्शल योजना' को जो अधिकृत रूप से 'यूरोपीय रिलीफ प्रोग्राम' (European Relief Programme) के नाम से प्रसिद्ध हुई, काँग्रेस ने स्वीकृत

कर दिया। 3 अप्रैल, 1948 को कांग्रेस ने 'विदेशी सहायता अधिनियम' पारित कर मार्शल योजना को मूर्त रूप प्रदान किया और इसको कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for European Economic Co-operation) की स्थापना की गई।

मार्शल योजना "समसामयिक कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक दिलचस्प और युग-प्रवर्तक घटनाओं में से एक थी" जिससे रूस और पश्चिम का विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947-1952) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस योजना के कारण एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोपीय देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्वों का उन्मूलन करेंगे।

मार्शल योजना एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त का ही विकासित रूप थी जिसने ट्रूमैन सिद्धान्त में प्रतिपादित 'अवरोध की नीति' को तीन प्रकार से आगे बढाया—

(i) जहाँ ट्रूमैन सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता देने की व्यवस्था की गई।

(ii) मार्शल योजना ने 'अवरोध की नीति' में आर्थिक तत्वों के महत्त्व को भली प्रकार स्पष्ट कर दिया।

(iii) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकी आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

पश्चिमी यूरोप में मार्शल योजना के द्वारा बढते हुए राजनीतिक आयात को देखते हुए, रूस भी पूर्वी यूरोप के लिए 'मोलोतोव योजना' बनाने के लिए मजबूर हुआ और 1949 में मास्को में 'पारस्परिक आर्थिक सहायता-परिषद्' की स्थापना की गई। उस समय निश्चय ही रूस अपने पिछलग्गू राष्ट्रों को कुछ मदद तो नहीं दे सका, लेकिन वह जो शोषण कर रहा था उसमें कुछ कमी जरूर हुई। पुरानी अव्यवस्थित अर्थव्यवस्था के स्थान पर पूर्वी यूरोप के राज्यों में एक अर्द्ध-राजकीय नियोजन किया गया, लेकिन इसमें पश्चिमी यूरोप के आर्थिक सहयोग का मुकाबला नहीं हो सका।[1]

पश्चिमी यूरोप के अपेक्षाकृत सीमित दायरे में सोवियत रूस द्वारा अवरोधक-कार्यवाहियों के बावजूद मार्शल योजना को विशेष सफलता प्राप्त हुई। ब्रून एवं मैमते (Brunn and Mamatey) के मूल्यांकन के अनुसार "1 जून, 1952 को जब यह योजना समाप्त हुई, तब इसमें भाग लेने वाले राष्ट्रों के उत्साह, सुनियोजन तथा अमेरिकी उदारता से पश्चिमी यूरोप आर्थिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र में केवल आत्म-निर्भर ही नहीं हुआ, अपितु उसने समृद्धि भी प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप में

1 *Brunn and Mamatey* : The World in the Twentieth Century, p. 146.

आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा में जो सामूहिक प्रयास किए गए उनका परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी यूरोप की अर्थव्यवस्था अधिक संगठित रूप में अमेरिकी अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध हो गई और आर्थिक-संगठन ने 'राजनीतिक संगठन' सम्बन्धी प्रयत्नों को आगे बढ़ाया। अन्तर्यूरोपीय-परिषदों में एक दूसरे के सम्पर्क में आने से पश्चिमी यूरोप के राजनीतिज्ञों ने एक-दूसरे को निकटता से समझा और सहयोग से काम करना सीखा। पश्चिमी यूरोप ने संगठन, दृढ़ता और एकता की उस भावना को विकसित किया जो शायद शार्लमेन के बाद महसूस नहीं की गई थी। दूसरी तरफ पूर्वी यूरोप और पश्चिमी यूरोप के बीच विरोध की खाई बढ़ती गई। यूरोप की एकता के पुराने आदर्श का स्थान एक नई वास्तविकता ले रही थी—उत्तरी अतलान्तिक संगठनों की वास्तविकता।"

यूरोपीय परिषद् (The Council of Europe)

यूरोपीय इतिहास का यह एक क्रूर व्यंग्य है कि जिन लोगों ने विश्व की *सबसे महान् और अपूर्व सभ्यता का निर्माण किया है तथा* अपनी विजय, उपनिवेशवादी नीति एवं व्यापार से विश्व के सभी महाद्वीपों को जोड़ा, वे स्वयं विभाजित और कई बार आपसी युद्ध में संलग्न हुए। द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थिति यह बन गई कि पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव के प्रसार और पश्चिमी यूरोप को अमेरिका द्वारा सैनिक-आर्थिक सहायता से यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों की सार्वभौम सत्ता और स्वतन्त्रता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। जब पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक स्वतन्त्रता खतरे में थी तभी स्पष्ट हुआ कि पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन की ओर भी अग्रसर है। विश्व-व्यापार में यूरोपीय राष्ट्रों का हिस्सा 1938 में 50% से गिरकर 1948 में 40% में भी कम रह गया और उनकी यह हानि अमेरिका के लिए लाभकारी थी क्योंकि इन दस वर्षों में अमेरिका ने विश्व-व्यापार में अपने हिस्से को 15% से बढ़ाकर 25% कर लिया था। पश्चिमी यूरोप के इस आर्थिक पराभव का एक मुख्य कारण यह था कि यूरोपीय राष्ट्र आपसी प्रतियोगिता, मुद्रा की विविधता, प्रतिरोधक चुंगी की दीवारों और विरोधी नीतियों के शिकार थे। इसके अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका में स्थित उनके भूतपूर्व उपनिवेश तेजी से उनके हाथों से निकलते जा रहे थे।

इन परिस्थितियों में कठोर कदम उठाने की आवश्यकता थी और पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों ने अनुभव किया कि "रूस और अधिक प्रदेश न हड़प ले, इसके लिए उन्हें आपसी सैनिक सहयोग तथा अपने साधनों को विकसित करने और सामूहिक *बाजार के लिए अधिक आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है।"* पश्चिमी यूरोप की जनता निकट सम्बन्ध स्थापित करना चाहती थी, इसका प्रमाण 1949 में मिला जब 10 देशों ने 'यूरोपीय परिषद्' (Council of Europe) का निर्माण करना स्वीकार कर लिया। ये 10 देश थे—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, आयरलैण्ड, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम, लक्जमबर्ग, डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन। 1949 के अन्त में यूनान और टर्की ने, 1950 में आइसलैण्ड ने और 1951 में जर्मन-संघ राज्य ने इसमें प्रवेश किया। 1955में आस्ट्रिया के प्रवेश के साथ ही इसके सदस्यों की संख्या 15 हो गई।

1949 में पारित प्रारूप की, जिसमें 'यूरोपीय परिषद्' के उद्देश्य और लक्ष्य निर्धारित किए गए थे, प्रथम धारा का प्रथम वाक्य इस प्रकार था—

"यूरोपीय परिषद् का उद्देश्य अपने सदस्यों में अधिकाधिक एकता स्थापित करना है जिसमें वे अपने सदस्य-राज्यों के समान परम्परागत आदर्शों एवं सिद्धान्तों की रक्षा कर उन्हें साकार कर सकें तथा अपनी सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति को गति प्रदान कर सकें।"

इस घोषणा के महत्त्व को तो इस बात में आंका जा सकता था कि इस प्रस्तावित उद्देश्य के लिए सदस्य कितनी दृढ़ता एवं निश्चय प्रदर्शित करते हैं। 'अपने समान परम्परागत आदर्शों एवं सिद्धान्तों' द्वारा स्पष्ट ही सदस्य-राष्ट्रों की स्वतन्त्रता एवं जनतान्त्रिक जीवन-पद्धति पर जोर दिया गया था। तीसरी धारा में इस बात को अधिक स्पष्ट शब्दों में घोषित किया गया—

"यूरोपीय परिषद् के प्रत्येक सदस्य को कानून के शासन के सिद्धान्तों को मानते हुए यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसके शासन-क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों को मानवीय अधिकारों और मूलभूत स्वतन्त्रता के उपभोग का अधिकार है।"

1949 में यूरोपीय परिषद् का निर्माण आंशिक रूप से अमेरिकी दबाव के प्रति प्रतिक्रिया तथा आंशिक तौर पर उसके प्रति सहमति थी। जब 1949 में अमेरिका की कांग्रेस ने 'यूरोपीय पुनर्रचना कार्यक्रम' के लिए 5 अरब डॉलरों की स्वीकृति दी तब अमेरिकियों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उन्हें आशा है कि जो यूरोपीय राष्ट्र यह सहायता स्वीकार करेंगे वे अपने पृथक् व्यक्तिगत एवं निहित स्वार्थों से अधिक समस्त पश्चिमी यूरोप के कल्याण को प्राथमिकता देंगे। अमेरिका द्वारा सहायता देने से पहले यह खतरा दूर करना जरूरी था कि विविध राष्ट्र इसमें राष्ट्रीय प्रतियोगिता को बढ़ावा नहीं देंगे। फलस्वरूप अमेरिका के विदेश मन्त्री जॉर्ज सी मार्शल ने यूरोपीय पुनर्रचना-कार्यक्रम को समन्वित रूप देने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक-सहयोग-संगठन' की स्थापना की जिसे 1960 में 'आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन' का नाम दिया गया। वास्तव में यह बात स्पष्ट थी कि 'यूरोपीय एकीकरण' सम्बन्धी अमेरिका का प्रोत्साहन तभी सफल हो सकता था जब स्वयं यूरोपीय राष्ट्र उसे स्वीकार करके कार्य रूप में परिणत करते। यूरोपीय परिषद् की स्थापना से ऐसा प्रतीत हुआ कि पश्चिमी यूरोप के लोग एकीकरण को बढ़ावा देने के लिए हार्दिक रूप से उत्सुक थे लेकिन जो परिणाम निकले वे काफी निराशाजनक थे और 'यूरोपीय परिषद्' वास्तविक न होकर छाया मात्र सिद्ध हुई। ब्रून एवं मैनर्न के अनुसार, यूरोपीय सरकारों ने मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता तो ग्रहण की, लेकिन चुंगी की दरों में कमी करने में तथा साझा बाजार (कॉमन मार्केट) की स्थापना में देरी की। तीन वर्ष तक मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता लेने के बाद भी यूरोपीय राज्यों ने आर्थिक एकीकरण की ओर बहुत कम प्रगति की जिसके फलस्वरूप पाल जी. हाफमैन ने, जो इस सहायता के वितरण की निगरानी के लिए नियुक्त थे, 1951 में असन्तुष्ट होकर घोषणा की—

"यदि पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र पूर्व की ओर से खतरा होते हुए भी तथा मार्शल योजना के अन्तर्गत 5 अरब डॉलर की अतिरिक्त सहायता प्राप्त करने पर भी आर्थिक दृष्टि से एक नहीं हो सकते, तो मुझे इस बात में सन्देह है कि वे कभी भी एक नहीं हो सकेंगे।"

1961 में साइप्रस को भी यूरोपीय परिषद् की सदस्यता दे दी गई। इसका प्रधान कार्यालय स्ट्रासबर्ग में है, इसकी एक मन्त्रि-परिषद् और एक परामर्शदात्री सभा है। यद्यपि अभीष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने में तो इसकी प्रगति उत्साहजनक नहीं मानी जा सकती, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि यूरोपीय राष्ट्रों के बीच एकता कायम करने तथा आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति को प्रोत्साहित करने में इसने अपनी भूमिका निभाई।

सीमित क्षेत्रों में सहयोग

महायुद्ध के पश्चात् यद्यपि बड़े पैमाने पर 'यूरोपीय एकीकरण' में देर हुई, लेकिन कई सीमित क्षेत्रीय समझौते सम्पन्न हुए। बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग के बीच जो 'बेनेलक्स' सन्धि हुई उसका उल्लेख किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त सीमित क्षेत्रीय समझौतों में 'यूरोपीय कोयला इस्पात समुदाय' (European Coal and Steel Community) 'युरेटम' (EURATOM), 'यूरोपीय साझा बाजार' (European Common Market ECM), 'यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार परिषद्' (European Free Trade Association EFTA) उल्लेखनीय है।

1 सितम्बर, 1950 में 'यूरोपीय भुगतान संघ' की स्थापना हुई जो यूरोपीय आर्थिक सहयोग सगठन से सम्बद्ध था और जिसका उद्देश्य अन्तर्यूरोपीय व्यापार को सुविधाजनक बनाना था। दिसम्बर, 1958 में पश्चिमी यूरोप की मुद्रा-व्यवस्था में संगठनात्मक परिवर्तन करते समय इसका अन्त कर दिया गया।

2. 1951 में 6 यूरोपीय देश अपने कोयले, लोहे और इस्पात के उत्पादन के प्रयासों को समन्वित करने को सहमत हो गए और 10 अगस्त, 1952 को 'यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय' अस्तित्व में आया जिसके 6 सदस्य थे— बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स, लक्जमबर्ग, फ्रांस, इटली और पश्चिमी जर्मनी। 'समुदाय' के संचालन के लिए एक मन्त्रि-परिषद्, एक सभा तथा एक न्यायालय की स्थापना हुई। 'समुदाय' के सदस्य-राज्यों के लिए एक सम्मिलित बाजार की व्यवस्था की गई है और उन्हें कोयला तथा इस्पात के साधन समान शर्तों पर प्राप्त होने की सुविधा है। सदस्य राज्यों के बीच भेदभाव की नीति का बहिष्कार किया गया है।

3 1957 में फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, बेल्जियम, *लक्जमबर्ग तथा* नीदरलैण्ड्स ने आणविक शक्ति के शान्तिकालीन प्रयोग के प्रयासों को विकसित करने के लिए समझौता करना स्वीकार किया जो 'यूरोपीय परमाणु शक्ति समुदाय' अर्थात् 'यूरेटम' (EURATOM) के नाम से जाना जाता है। 1 जनवरी, 1958

से यह समझौता लागू है। सदस्य-राज्यों में पाए जाने वाले यूरेनियम और थोरियम पर समुदाय का प्राथमिक अधिकार होता है और समुदाय बिना किसी भेदभाव के इनका वितरण अणुशक्ति प्रतिष्ठानों के बीच करता है। 'यूरेटम' को ब्रिटेन, अमेरिका और कनाडा का समर्थन और सहयोग प्राप्त है।

4. यूरोपीय आर्थिक समुदाय अथवा साझा बाजार (European Common Market) की स्थापना 1 जनवरी, 1958 को की गई जिसका उद्देश्य सदस्य-देशों का आर्थिक एकीकरण करना तय हुआ। पहले इसके सदस्य-देश बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग थे, लेकिन 1973 में डेनमार्क, आयरलैण्ड और ब्रिटेन के शामिल हो जाने पर सदस्य-देशों की संख्या 9 हो गई। 1 जनवरी, 1981 को यूनान उसका 10वाँ सदस्य बन गया। बाद में ब्रिटेन भी इसका सदस्य बन गया। अफ्रीका के अनेक राष्ट्र इसके सह-सदस्य (Associate Members) हैं। साझा बाजार का उद्देश्य बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली द्वारा उत्पादन कर, विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त करना है। साझा बाजार में सदस्य-राष्ट्रों को यद्यपि बड़े पैमाने के विशाल आर्थिक लाभ उपलब्ध हुए हैं, तथापि इस प्रकार की योजनाएँ वस्तुत: सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता और मुक्त-व्यापार के हितों के लिए घातक हैं।

पश्चिमी यूरोप की सैनिक सुरक्षा
(The Military Security of Western Europe)

यूरोप की आर्थिक उन्नति के साथ ही यह भी आवश्यक था कि उसे सैनिक रूप से भी सशक्त बनाया जाए। पश्चिमी यूरोप तथा पूर्वी यूरोप के बीच प्राकृतिक सीमा न होने के कारण यह आवश्यक समझा गया कि यूरोप के इन दोनों भागों के बीच संयुक्तराज्य अमेरिका की सेनाएँ रखी जाएँ आर्थिक क्षेत्र की भाँति यूरोप के देशों को सैनिक दृष्टि से भी एकीकृत करने के प्रयास हुए—

डंकर्क सन्धि (Dunkirk Treaty)—यह सन्धि ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य 4 मार्च, 1947 को 50 वर्ष के लिए की गई। इसका प्रयोजन सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सैनिक सहायता है। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने यह निश्चय किया कि (क) जर्मनी के आक्रमण करने पर, (ख) जर्मनी द्वारा आक्रमण को प्रोत्साहित करने की नीति स्वीकार करने पर, एवं (ग) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने पर दोनों देश एक-दूसरे को सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता उपलब्ध करेंगे। इस सन्धि के द्वारा दोनों ही देशों ने एक-दूसरे को यह भी आश्वासन दिया है कि वे दोनों एक-दूसरे को निरन्तर आर्थिक सहयोग तथा सहायता प्रदान करेंगे।

ब्रूसेल्स की सन्धि (Brussels Treaty)—ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, लक्जमबर्ग और हालैण्ड द्वारा 17 मार्च, 1947 को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग एवं सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से 50 वर्ष के लिए यह सन्धि की गई जिसके

अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि यदि हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों में से किसी पर भी आक्रमण होगा तो सदस्य-देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 51 के अनुसार उसकी सहायता करेंगे। ब्रूसेल्स सन्धि में 10 धाराएँ हैं। सन्धि के प्रमुख ध्येय इस प्रकार हैं—मूलभूत अधिकारों में विश्वास की पुष्टि तथा संघ के चार्टर में उल्लिखित आदर्शों की पुष्टि, जनतन्त्र एवं स्वतन्त्रता का स्थायित्व; पुनर्गठन में सहयोग; अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में सहयोग, युद्ध-नीति के विरुद्ध मोर्चा, आदि। 1954 में पेरिस के समझौते से पश्चिमी जर्मनी और इटली भी ब्रूसेल्स-सन्धि संगठन में सम्मिलित हो गए और इस संगठन का नया नाम 'पश्चिमी यूरोपीय सन्धि' (Western European Treaty) रखा गया।

नाटो (NATO)—सोवियत साम्राज्यवाद के भय तथा सोवियत आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ से पर्याप्त सहायता न पा सकने की सम्भावना की आशंका से ग्रसित होकर ही 4 अप्रेल, 1948 को वाशिंगटन में—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, आइसलैण्ड, इटली, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड (हॉलैण्ड), नार्वे और पुर्तगाल इन 22 राज्यों के प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए। 24 अगस्त, 1949 को सम्बन्धित सदस्य-राज्यों द्वारा इस संगठन का अनुसमर्थन कर देने पर इसकी विधिवत् स्थापना की गई। फरवरी, 1952 में यूनान और टर्की तथा मई, 1955 में पश्चिमी जर्मनी के शामिल हो जाने से इस संगठन के कुल 15 सदस्य हो गए।

सन्धि-संगठन के चार्टर में 14 धाराएँ रखी गईं, लेकिन इसका सम्पूर्ण सार पाँचवीं धारा में प्राप्त होता है जो इस प्रकार है—"सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले पक्ष इस बात में एकमत हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा। इसीलिए वे इस बात पर सहमत होते हैं कि यदि किसी प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है तो उनमें से प्रत्येक संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के 51वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा के अधिकार के अनुसार कार्य करते हुए, शीघ्र ही व्यक्तिगत रूप में तथा अन्य दलों के साथ मिलकर इस प्रकार से आक्रान्त दल या दलों की सहायता करने के लिए ऐसी कार्यवाही करेगा जिसे वह आवश्यक समझे। इसमें उत्तरी अटलाण्टिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनः स्थापना के लिए सशस्त्र शक्ति का प्रयोग भी सम्मिलित है।" नाटो सन्धि के बाकी अनुच्छेद में सन्धि-कर्त्ताओं के आर्थिक सहयोग और सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध की क्षमता का विकास करने आदि का उल्लेख किया गया।

नाटो सन्धि संगठन के तीन प्रमुख कमान क्षेत्र हैं –

1 यूरोपीय कमान क्षेत्र—इसमें नार्थ केप से लेकर उत्तरी अफ्रीका और अटलाण्टिक से टर्की की पूर्वी सीमा तक का सारा थल सम्मिलित है। ब्रिटेन, पुर्तगाल तथा अल्जीरिया को इसमें पृथक् रखा गया है। यह क्षेत्र यूरोप के सर्वोच्च कमाण्डर के अधीन होता है।

2. अटलाण्टिक कमान क्षेत्र—समस्त अटलाण्टिक सागर, उत्तरी ध्रुव से ट्रापिक ऑफ कैंसर और उत्तरी अमेरिका से यूरोप और अफ्रीका तक का सारा समुद्री क्षेत्र इस कमान के अन्तर्गत शामिल है, केवल ब्रिटेन तथा इसकी खाड़ी के क्षेत्र के द्वीप इससे अलग है।

3 ब्रिटिश खाड़ी कमान-क्षेत्र—इस कमान में ब्रिटिश खाड़ी तथा उत्तरी सागर के दक्षिणी क्षेत्र का समावेश है। खाड़ी क्षेत्र की कमान समिति में बेल्जियम, फ्रांस, नीदरलैण्ड तथा ब्रिटेन के नौसेना अध्यक्ष सम्मिलित हैं।

नाटो का मुख्यालय बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स में है। सन्धि-संगठन उत्तरी अमेरिका के दो प्रमुख देशों—संयुक्तराज्य अमेरिका तथा कनाडा को पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक गठबन्धन में संयुक्त करता है।

नाटो संगठन अपने मूल रूप में साम्यवादी जगत् के लिए एक चेतावनी है कि वह सन्धि में सम्मिलित किसी देश पर आक्रमण करने का साहस न करे। यह सन्धि यूरोपीय देशों को एक सुरक्षा-आवरण प्रदान करती है जिसके द्वारा वे अपने आर्थिक और सैनिक विकास के कार्यक्रम पूरे कर सकें। साथ ही यह सन्धि अमेरिका को किसी भी साम्यवाद-विरोधी युद्ध के लिए सदैव तैयार रहने की अपेक्षा करती है। नाटो सन्धि-संगठन में कई बार फूट के जबरदस्त लक्षण पैदा हुए और फ्रांस के रवैये ने सन्धि-संगठन के टूटने का खतरा तक पैदा कर दिया, लेकिन संगठन संकटों को पार कर गया। जून, 1974 के 'नाटो सम्मेलन' में नाटो सन्धि संगठन के उद्देश्य-पत्र को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की दृष्टि से एक नया रूप देने की कोशिश की गई, लेकिन यह केवल 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' वाली बात थी, अन्यथा नाटो का मूल रूप वही पहले जैसा बना रहा। जून, 1974 का यह नाटो-सम्मेलन वास्तव में 'यूरोप के अमेरिकीकरण' का एक प्रयास था। संयुक्त विज्ञप्ति में यह बात दुहराई गई कि नाटो अपने सदस्य-देशों के बीच ही नहीं, बल्कि संसार के सभी देशों के बीच शान्ति और सद्भाव स्थापित करने के लिए काम करेगा। यह स्पष्ट कर दिया गया कि संयुक्त रक्षा कार्यक्रम पहले ही की तरह नाटो का एक मजबूत आधार बना रहेगा। नए उद्देश्य-पत्र में फ्रांस को सन्तुष्ट करने का सबसे अधिक प्रयत्न किया गया और जिन बातों को लेकर अमेरिका तथा फ्रांस के सम्बन्धों में तनाव था उन्हें छोड़ दिया गया। नए उद्देश्य-पत्र की शब्दावली चाहे कितनी ही आकर्षक थी, यह असलियत छिपी नहीं रह सकी कि नाटो के सदस्य-देश सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं से पूर्णतः प्रभावित हैं। उद्देश्य-पत्र में इस बात पर विशेष जोर दिया गया था कि नाटो के बाहर, विशेषकर पश्चिमी एशिया की घटनाओं से सिद्ध होता है कि नाटो की संयुक्त-रक्षा-व्यवस्था और मजबूत की जानी चाहिए। उद्देश्य-पत्र में स्वीकार किया गया कि नाटो की वर्तमान सैनिक शक्ति में यूरोपीय देशों का काफी बड़ा योगदान है। अमेरिका ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि वह नाटो के सदस्य-देशों पर किसी भी तरह के सैनिक दबाव का मुकाबला करने के लिए सदैव तैयार है। अमेरिका ने नाटो के

सदस्यों को यह अनुभव कराया कि बिना अमेरिकी सेनाओं के संयुक्त रक्षा कार्यक्रम प्रभावशाली नहीं हो सकता।

नाटो (उत्तर अटलांटिक सैन्य संगठन) पिछले कुछ वर्षों से अनेक गम्भीर समस्याओं का शिकार रहा है और उसकी प्रतिरक्षा व्यवस्था के कुछ अंग लड़खड़ाते रहे हैं। पुर्तगाल, इटली, यूनान और टर्की की अस्थिर राजनीति और उनमें से कुछ के नाटो के प्रति अनिश्चित रवैये के कारण अमेरिका और उसके मित्र देशों को यह चिन्ता बनी रही है कि नाटो की लौह भित्ति की दरारों को किस प्रकार भरा जाए। नाटो वारसा संगठन के मुकाबले आधुनिकतम शस्त्र-सज्जा के लिए प्रयत्नशील रहा है और 1980 में प्रक्षेपास्त्रों के आधुनिकीकरण की योजना पर लगभग अन्तिम विचार कर लिया गया था।

यूरोपीय प्रतिरक्षा समुदाय (European Defence Community : EDC)-सम्पूर्ण पश्चिम-यूरोप की प्रतिरक्षा के लिए एक संगठन का निर्माण करने की दृष्टि से 27 मई, 1952 को 50—वर्षीय 'यूरोपीय प्रतिरक्षा समुदाय-सन्धि' पर फ्रांस, पश्चिमी-जर्मनी, नीदरलैण्ड्स बेल्जियम और लक्जमबर्ग ने हस्ताक्षर किए। इस सन्धि के द्वारा ही यूरोपीय प्रतिरक्षा-समुदाय का आविर्भाव हुआ जिसके संविधान में यह व्यवस्था की गई कि हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य नाटो के सैन्य संगठन में अपनी सेनाओं को एक इकाई की तरह शामिल करेंगे। यूरोपीय प्रतिरक्षा-समुदाय यूरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण योजना थी, लेकिन राजनीतिक घटना-चक्र ने इस समुदाय की व्यावहारिक स्थापना सन्दिग्ध बना दी। अगस्त, 1954 में फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद् ने उपर्युक्त सन्धि को अस्वीकार कर दिया। तत्पश्चात् इसके स्थान पर पश्चिमी-यूरोपीय संघ (Western European Union : WEU) का निर्माण हुआ जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

पाश्चमी-यूरोपीय संघ (Western European Union : WEU)—लन्दन सम्मेलन में 2 अक्तूबर, 1954 को ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा बेनेलक्स देशों (*हालैण्ड, बेल्जियम और लक्जमबर्ग*) ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर पश्चिमी यूरोपीय संघ की स्थापना की। ये देश कम से कम सन् 1998 तक के लिए परस्पर प्रतिरक्षा और अन्य उद्देश्यों के लिए संगठित हो गए। संघ की स्थापना के समय यह निश्चय किया गया कि पश्चिमी-जर्मनी को भी नाटो में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया जाए। बदले में पश्चिमी-जर्मनी ने स्वीकार किया कि वह अपने शस्त्रास्त्रों के उत्पादन पर स्वेच्छा से नियन्त्रण रखेगा। यह भी तय हुआ कि जब तक पश्चिमी-जर्मनी स्वयं अपनी प्रतिरक्षात्मक सेनाएँ तैयार न करले, तब तक अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाएँ पश्चिमी-जर्मनी और उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र की रक्षा के लिए वहाँ रहें। संघ की सभी सशस्त्र सेनाएँ नाटो की अध्यक्षता में रखी गईं।

पश्चिमी-यूरोपीय संघ के सदस्यों में शीघ्र ही मतभेद उत्पन्न हो गए और आज इसका केवल एक ही काम रह गया है कि यह शस्त्रास्त्रों के नियन्त्रण की देखभाल करे—विशेष रूप से जर्मनी की सैनिक प्रभुता को रोकने के लिए।

नाटो और वारसा सन्धि के देशों द्वारा विश्व-शान्ति वार्ता की ओट में अपनी सामूहिक सैनिक-शक्ति में वृद्धि और इस प्रकार निःशस्त्रीकरण की असफलता

अब से कोई तीस वर्ष पहले यह कल्पना करना कठिन था कि पूरी एक पीढ़ी गुजर जाने के बाद भी उत्तर अटलांटिक सन्धि सगठन (नाटो) और वारसा सन्धि जैसे सैनिक गुट अपने आपको सैनिक दृष्टि से इतना मजबूत बना लेंगे कि दोनों को ही एक दूसरे का डर बना रहेगा और इसी डर के कारण विश्व में शान्ति बनी रहेगी। लगभग पिछले आठ वर्षों से यूरोप के सभी शक्तिशाली देश तनातनी कम करने के प्रयत्नों की बात करते रहे हैं लेकिन इन दो सैनिक गुटों के समाप्त होने की निकट भविष्य मे कोई आशा दिखाई नही पडती। स्वेच्छा से अस्त्र-शस्त्र और सेनाओं मे कमी करने तथा परमाणु अस्त्रो का प्रसार रोकने की पूर्व-पश्चिम की बातचीत के इस दौर मे ऐसा कोई सकेत नही मिल रहा है कि इन दोनों सैनिक गुटो के देशो की सैनिक तैयारियों मे कोई कमी आई है अथवा आएगी। जब इस प्रकार की बातचीत शुरू हुई थी तो विश्व मे सभी को आशा थी कि अब विश्व के ये दोनों प्रमुख सैनिक गुट अपनी सैनिक तैयारियों मे कमी करके शान्ति स्थापना की वास्तविक इच्छा का कोई प्रमाण देंगे, परन्तु ऐसा कुछ नही हुआ।

जहाँ तक सैनिक तैयारियो का सम्बन्ध है दोनों गुटो मे से कोई भी एक दूसरे को इस समय हरा नही सकता। दोनों की सैनिक शक्ति सन्तुलन मे घटत-बढ़त होती रहती है। लेकिन दोनों ही इस कमी को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। जहाँ तक सैनिक शक्ति के सन्तुलन का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि पूर्व यूरोप के देश टैंको के क्षेत्र मे श्रेष्ठ हैं लेकिन नाटो सन्धि के देशो ने टैंक मारक अस्त्रों का आविष्कार करके उनकी इस श्रेष्ठता को निरर्थक बना दिया है। नाटो सन्धि के देशो ने वायु आक्रमण से रक्षा के लिए आधुनिकतम अस्त्र बनाए हैं, परिणाम-स्वरूप वारसा सन्धि देशो की ओर से किया गया कोई भी आक्रमण निरर्थक हो सकता है लेकिन पिछले 15 वर्षों मे सोवियत नौसेना की शक्ति काफी बढ़ी है। जहाँ तक परमाणु क्षेत्र का सम्बन्ध है, अमेरिका की तकनीकी श्रेष्ठता इतनी है कि सेना और अस्त्रों में कमी करने तथा इसी तरह की अन्य वार्ताओं मे अपनी बात मनवाने की स्थिति में वह पहुँच गया है। नाटो सन्धि के सदस्य देश अपनी-अपनी विदेश-नीतियों में कुछ उदारता जरूर ला रहे हैं। पूर्वी यूरोपीय देशों की अपेक्षा उन के रवैये को नरम कहा जाएगा लेकिन 1966 से नाटो सन्धि के सदस्य देशों में जो परामर्श चल रहा है उसे देखते हुए इस सन्धि के सदस्य देशों का रवैया पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सख्त हो गया है। बताया जाता है कि नाटो सन्धि के सदस्य देशो ने सैनिक दृष्टि से अपने को आधुनिकतम बना लिया है। अभी से कुछ समय पहले तक अमेरिका और नाटो सन्धि के देशों के बीच गम्भीर परामर्श नहीं होता था। लेकिन जिनेवा, हेलसिंकी और बेलग्रेड जैसे सम्मेलनों के बाद अमेरिका और नाटो सन्धि के देशो के बीच परामर्श होने लगा है और दोनों ही पक्ष इस परामर्श को बहुत

गम्भीरतापूर्वक लेते हैं । उधर नाटो सन्धि के छोटे सदस्य देश अच्छी तरह समझ गए हैं कि यदि उन्होंने अपने आपको सन्धि से अलग कर लिया तो विश्व के घटना-चक्र को प्रभावित करने की अपनी क्षमता वे खो बैठेंगे ।

निस्सन्देह अस्त्र-शस्त्रों की होड से दोनों ही सन्धियों के सदस्य देशों को कोई लाभ पहुँचने वाला नहीं है । अपने अनुभवों से भी उन्होंने देख लिया है कि अब तक किसी भी दृष्टि से वे इस प्रकार की होड़ से लाभान्वित नहीं हुए हैं । सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस तरह की प्रतिस्पर्द्धा के कारण दोनों में से कोई भी पक्ष नि.शस्त्री-करण के बारे में साहस करके एक तरफा फैसला नहीं कर सकता, क्योंकि दोनों ही पक्षों को एक दूसरे की सैनिक क्षमता पर सन्देह रहता है और दोनों ही एक दूसरे से भयभीत रहते हैं । ऐसी स्थिति में स्वेच्छा से अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने और नि:शस्त्रीकरण का कोई भी लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता । उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन और वारसा सन्धि एक प्रकार से सदस्य देशों के स्थायी साधन बन गए हैं । इच्छा रहते हुए भी दोनों में से कोई भी पक्ष इन्हें भग नहीं कर सकता पर समय आ गया है कि यदि नि:शस्त्रीकरण और अस्त्र-शस्त्रों में कमी करने जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर बातचीत को सफल बनाना है तो ये सन्धि संगठन समाप्त कर दिए जाने चाहिए ।

यूरोपीय संसद्, जून 1979 एवं यूरोप के एकीकरण की ओर कदम

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से पश्चिमी यूरोप आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में एकीकरण की दिशा में बढ रहा है । उसका अन्तिम लक्ष्य यूरोप का राजनीतिक एकीकरण है । वह यूरोपीय संसद द्वारा लक्ष्य प्राप्त कर लेना चाहता है । 17 मार्च, 1948 को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में संयुक्त रूप से कार्य करने के लिए ब्रुसेल्स में ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम और लक्जमबर्ग के विदेश मन्त्रियों ने 50 वर्ष की एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे । 20 दिसम्बर, 1950 को पश्चिमी देशों के रक्षा संगठन को उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन का रूप दे दिया था । फिर 28 सितम्बर से 3 अक्तूबर, 1954 तक लन्दन में एक समझौता हुआ था जिसमें बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड, लक्जमबर्ग और ब्रिटेन तथा अमेरिका के प्रतिनिधि मौजूद थे । इस सम्मेलन में ही तय किया गया कि पश्चिमी देशों के एकीकरण के लिए ब्रुसेल्स सन्धि में फैडरल जर्मनी और इटली को भी शामिल कर लिया जाए । इस प्रकार यूरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई फिर 1948 में कांग्रेस ऑफ यूरोप के नाम से एक सम्मेलन भी हुआ जिसमें बड़े-बड़े कोई 26 यूरोपीय देशों ने यूरोपीय असेम्बली सहित एक संयुक्त यूरोप के निर्माण का निश्चय किया । संयुक्त यूरोप की दिशा में इस समय एक यूरोपीय संसद काम कर रही थी, जिसके दो सौ से अधिक सदस्य थे लेकिन इसके अभी कुछ सीमित अधिकार थे । जून, 1979 में प्रत्यक्ष चुनावों द्वारा यूरोपीय संसद की विधिवत् स्थापना करके यूरोप के एकीकरण की दिशा में एक ठोस कदम उठाया गया है ।

इस यूरोपीय संसद का विवेचनात्मक विवरण 27 जून, 1979 के दैनिक हिन्दुस्तान में विशालाक्ष के एक लेख में दिया गया था, जो इस प्रकार है—

ग्राम चुनावों पर आधारित 410 सदस्यीय यूरोपीय संसद की स्थापना विश्व की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इसे विश्व सरकार की ओर एक उल्लेखनीय कदम कहा जा सकता है। कम से कम कभी विश्व संसद बनी तो यूरोपीय संसद उसके लिए नमूने का काम देगी।

पर यहाँ यह भी सही है कि अभी यह संसद केवल बड़ी शक्तियों व एशियायी देशों के मध्य एक शक्ति बनने के लिए बनाई गई है। कुछ दशक पूर्व तक जहाँ रूस व अमेरिका विश्व पर एकछत्र राज्य कर रहे थे वहाँ पूर्ण विकसित और समर्थ, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि की अविकसित देशों की लूट का अगाध रूप से उपयोग करने में समर्थ थे। पर बाण्डुंग सम्मेलन के बाद बने निर्गुट देशों के गुट या अफ्रीकी एकता संगठन व अरब राष्ट्रों के गुटों के अस्तित्व में आने से इन यूरोपीय देशों के लिए यह सब सम्भव नहीं रहा है। फलतः मुद्रा-स्फीति, बेकारी व असन्तोष के चिह्न उनमें दिखाई देने लगे हैं। इन देशों के 80 लाख बेरोजगार युवक इसका प्रमाण हैं। यूरोपियन संसद का गठन इसी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है जिससे राजनीतिक, आर्थिक व प्रतिरक्षा की दृष्टि से ये देश एकजुट होकर काम कर सकें एवं विश्व पर छाए रहने में सफल हों।

यूरोपीय संसद में अभी 9 देश शामिल हुए हैं—इंग्लैण्ड, फ्रांस, पं जर्मनी, इटली, बेल्जियम, आयरलैण्ड, डेनमार्क, हालैण्ड तथा लक्जमबर्ग। ग्रीस भी अब इसका सदस्य बन रहा है। 7 जून को हुए इस संसद के आम चुनाव में लगभग 20 करोड़ 18 वर्ष से ऊपर के मतदाताओं ने 410 सदस्य चुने गए हैं। उनमें 209 दक्षिणपंथी व तटस्थ दलों के हैं, 112 समाजवादी हैं, 44 साम्यवादी हैं, 23 डिगालवादी व शेष अन्य छोटे दलों के हैं, चुनाव में 53.2% लोगों ने मतदान किया। बेल्जियम व लक्जमबर्ग जहाँ मतदान अनिवार्य है, में 80% ने मतदान किया। शेष में इटली में 80% ने, प. जर्मनी में 66·5% ने, फ्रांस में 62% ने, इंग्लैण्ड में केवल 30% ने मतदान किया।

यूरोपीय संसद के प्रत्यक्ष चुनाव की परिकल्पना 22 वर्ष पूर्व 1956 में रोम की सन्धि में की गई थी पर इसका प्रारम्भ प. यूरोपीय देशों की संसदों के सदस्यों द्वारा 198 सदस्यों के चयन से हुआ। डिगॉल के पतन के बाद फ्रांस के नए राष्ट्रपति पोम्पिडू ने 1971 में ग्रीष्म के एक दिन विश्व के नक्शे पर हाथ रखते हुए कहा—देखो, कैसा छोटा यह यूरोप दीख रहा है फिर भी इसके 30 करोड़ लोगों ने गत 50 वर्षों में मानव का इतिहास बनाया है। इसके पास क्षमताओं के विश्व का अद्वितीय भण्डार है। जहाँ तक आर्थिक शक्ति की बात है, यदि उत्तरी अमेरिका के बराबर नहीं तो भी रूस से तो हमारी शक्ति कहीं अधिक ही है। हमारे सामने दो ही विकल्प हैं कि हम या तो बड़ी शक्तियों के सामने झुक जाएँ या प. यूरोप के देशों को मिलाकर उनकी सम्भावनाओं व क्षमताओं को

एकजुट करें। इन्हीं प्रयत्नों को मैंने पूरा करने का निश्चय किया है। यों पोम्पिडू से पूर्व डिगॉल ने भी अटलांटिक से यूराल तक यूरोपीय शक्ति के निर्माण की बात कही थी। पर पोम्पिडू की बात अधिक व्यावहारिक थी। पोम्पिडू के साथ प. जर्मनी के चाँसलर विलीब्रान्ट व ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री एडवर्ड हीथ भी थे। इस तरह पहली बार प. यूरोपीय एकता की नींव पड़ी। लक्जमबर्ग में इसका कार्यालय रखा गया पर पहले इस संसद के चुनाव प्रत्यक्ष रूप से किए गए थे जबकि अब प्रत्यक्ष मत से चुने गए हैं। प. जर्मनी के विलीब्रान्ट इसके अध्यक्ष चुने गए।

अधिकार का अभाव

पर यहाँ प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि चुनी हुई संसद होने पर भी यह विश्व के लिए केवल दर्शनीय बनी रहेगी या एक प्रभावपूर्ण संसद बनकर यूरोप को एकीकृत जनतन्त्र की ओर ढालने में भी समर्थ होगी। अभी तक जो स्थिति है उसमें इसके पास कोई विशेष अधिकार नहीं है। यह विश्व में अभी तक एकमात्र ऐसी संसद है, जिसको न कानून बनाने का अधिकार है और न ही सरकार बदलने का। यूरोपीय देशों का अभी तक सबसे प्रभावपूर्ण संगठन रोम की सन्धि के बाद बना, 13 सदस्यीय यूरोपीय इकॉनॉमिक कमीशन अर्थात् साझा बाजार आयोग है, जिसका गठन 1958 में किया गया था। यह यूरोपियन देशों के व्यापार का सम्मिलित रूप से नियन्त्रण करता है व यूरोपीय देशों के हित देखता है। यूरोपीय संसद को यह अधिकार जरूर दिया गया है कि इसका बजट रद्द कर दे, पर नया बजट बनाने का उसे अधिकार नहीं है। यूरोपीय साझा बाजार आयोग को भी चाहे तो रद्द कर सकती है, पर दो-तिहाई बहुमत से ही लेकिन इतना बहुमत मिलना कभी भी इसके लिए सम्भव न होगा। फिर इस आयोग को पूर्ण रद्द करने का अधिकार है पर आयोग के किसी सदस्य को आयोग से हटाने का अधिकार नहीं है। यूरोपीय-साझा-बाजार के आयोग की परिषद् के कार्य में भी यूरोपीय संसद कोई बाधा नहीं डाल सकती है। केवल यह सुझाव दे सकती है। यूरोपीय इकॉनॉमिक कमीशन के 9 देशों के प्रधानमन्त्री व राष्ट्रपतियों की शिखर समिति पर इसका कोई दखल न होगा।

पुनः यूरोपीय आर्थिक आयोग के साथ ही उससे सम्बद्ध शक्तिशाली संस्थाएँ कोर्ट ऑफ जस्टिस, यूरोपीय आणविक ऊर्जा समुदाय, यूरोपीय कोयला व इस्पात समुदाय व कृषि मूल्य एवं सहायक मूलतन्त्र हैं। इन संगठनों के हाथ में यूरोपीय संसद को विशेष अधिकार न दिए जाएँ व कम से कम बजट बनाने का अधिकार न दिया जाए, तब तक यह दिखावा ही रहेगा।

यूरोपीय संसद की एक समस्या इसके सदस्यों में आपसी मतभेदों के बने रहने का है। जहाँ चार बड़े राष्ट्रों इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली व प. जर्मनी की इस संसद में 80–81 सीटें रखी गई हैं और शेष 5 छोटे राष्ट्रों की 25-25। चार बड़े-राष्ट्र इसका नेतृत्व पाने का यत्न कर रहे हैं। उनकी धारणाएँ भी अलग-अलग हैं। चुनाव अभियान में प. जर्मनी के चाँसलर श्मिडट ने इसके राष्ट्रीय संसदों से ऊपर उठाने व

यूरोपीय एकता बढ़ाने पर जोर दिया तो फ्रांस के राष्ट्रपति गिस्कार्ड ने इसे यूरोपीय जनमत का एकत्रीकरण बताया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती थैचर ने इसे साझा बाजार में सुधार के लिए उपयुक्त मंच बनाने को कहा। इन सात भाषाओं से प्रकट है कि यूरोपीय संसद का सही विकास आसान बात नहीं होगी। सम्प्रति तो यह अमेरिका के संगठन का प्रतीकात्मक विकल्प व रूस-अमेरिका एवं तृतीय विश्व के देशों के बीच शक्तिशाली आर्थिक कड़ी बनाने के प्रयास को ही प्रतिफलित करने पर केन्द्रित होगी। यूरोपीय संसद दो वर्षों में यूरोपीय मुद्रा चलाने पर भी विचार कर रही है।

दूरगामी महत्त्व

पर इस सबके बावजूद और स्थानीय स्वार्थों के होते हुए भी इस प्रयत्न के दूरगामी महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। यूरोपीय इकॉनॉमिक कमीशन के अध्यक्ष श्री जैन्किन्स के इस प्रत्यक्ष यूरोपीय जनतन्त्र का अभियान कहा है। सम्भव है कि विश्व जनतन्त्र के अभियान में भी ऐसे ही किसी पैटर्न से जन्म ले सकें।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन (नवम्बर 1980)

11 नवम्बर, 1980 को 35 देशों के सुरक्षा और सहयोग सम्बन्धी सम्मेलन (33 यूरोपीय तथा अमेरिका और कनाडा सहित) की स्पेन की राजधानी माड्रीड में शुरुआत सन्देह के माहौल में अधिक, सद्भावना के वातावरण में कम हुई। 1975 में फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में पूर्व और पश्चिम में व्याप्त खाई कुछ पटी सी थी लेकिन समय सिरकने के साथ वह मृग-मरीचिका ही सिद्ध हुई और पूर्व और पश्चिम में व्याप्त खाई निरन्तर चौड़ी होती गई। माड्रीड सम्मेलन से यही लगा कि सद्भावना का अभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

माड्रीड सम्मेलन में सहयोग और सद्भावना के अभाव के लिए कई कारण उत्तरदायी रहे हैं—

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर इतने अधिक रंग चढ़े-उतरे हैं कि छोटे देशों में जहाँ अधिक करीबी आई है बड़े देशों—विशेष कर अमेरिका और सोवियत संघ में दूरी बढ़ी है। हेलसिंकी सम्मेलन के फलस्वरूप आस्ट्रिया और हंगरी ने एक दूसरे देश के निवासियों के आने जाने के लिए वीसा व्यवस्था समाप्त कर दी लेकिन दो बड़े देशों में साल्ट वार्ता को लेकर गतिरोध तो बढ़ा ही अफगानिस्तान और मानवाधिकार जैसे मुद्दों पर भी वे एक दूसरे को नहीं सुहाते। इस बीच पोलैण्ड में श्रमिकों की हड़ताल से कई पेचीदगियाँ उठ खड़ी हुईं। इन राजनीतिक मुद्दों को तूल देते हुए अमेरिकी प्रतिनिधि मैक्स कैम्पलमैन, अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति को विश्व शान्ति के लिए खतरा बताते हुए अपनी सैनिक शक्ति को भी सन्तुलित करने का संकेत दिया। उनके अनुसार सोवियत संघ युद्ध अस्त्रों पर अमेरिका से 150 अरब डॉलर अधिक खर्च कर रहा है जो कि उसके सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 14 से 15% है जबकि अमेरिका केवल 4 से 5% ही खर्च करता है। कैम्पलमैन ने कहा कि सोवियत संघ के पास इस समय अतिआधुनिक अस्त्रों की सूची में चार महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र, पनडुब्बी से छोड़े जाने वाले तीन प्रक्षेपास्त्र, चार नए किस्म

की पनडुब्बियाँ तथा चार नए लड़ाकू बमवर्षक हैं। हेलसिंकी सम्मेलन में ग्रस्त्रों की रोक पर बल दिया गया था लेकिन सोवियत नेताओं और विशेष तौर पर राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव ने पश्चिमी देशों को चेतावनी दी कि माड्रीड सम्मेलन को 'सस्ते प्रचार का मंच न बनायें'। लगता है कि ब्रेझनेव की यह चेतावनी कारगर सिद्ध हुई क्योंकि पश्चिमी जर्मनी और फ्रांस के प्रतिनिधियों ने सन्तुलित रवैया अपनाया। ब्रेझनेव ने नैटो को निरन्तर सशक्त बनाये जाने का हवाला देते हुए कहा कि पश्चिमी देश पूर्व की आलोचना करते समय वस्तुस्थिति से भटक जाते हैं (इस बीच नैटो के ग्रस्त्रागार में भी नए ग्रस्त्र जुड़े हैं)।

इस सम्मेलन से लगा कि फ्रांस और पश्चिम जर्मनी सोवियत संघ को विश्व की सभी बुराइयों के लिए कटघरे में खड़ा करने के पक्ष में नहीं। फ्रांस के प्रतिनिधि ने तो माड्रीड सम्मेलन को स्थगित करने का प्रस्ताव रखा था, क्योंकि वह पूर्व और पश्चिम में बिखराव का अनुभव कर रहा था। फ्रांस का मत था कि इस सम्मेलन के आयोजित होने से पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धों में सुधार कम, बिगाड़ अधिक होगा लेकिन अमेरिका, ब्रिटेन तथा कई नैटो देशों को स्थगन प्रस्ताव स्वीकार नहीं था। फ्रांस और पश्चिम का तर्क था कि बेशक अफगानिस्तान और मानवाधिकार का मुद्दा महत्वपूर्ण है लेकिन इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जाना चाहिए कि पिछले पाँच वर्षों में पूर्व और पश्चिम में भाईचारे तथा आर्थिक सहयोग की जो इमारत खड़ी हुई है उसमें दरारें पैदा करना किसी के लिए भी हितकर नहीं होगा। केवल पश्चिमी देशों में ही ऐसी भावना नहीं थी बल्कि रोमानिया जैसा देश भी आश्वस्त था कि ब्रेझनेव के सीमित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त दुरुपयोग के विरुद्ध उसे सरक्षण प्राप्त होगा।

माड्रीड सम्मेलन लगभग डेढ़ महीने चला। इसमें अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप की तीखी आलोचना की गई। मानवाधिकार के मुद्दे पर अमेरिका द्वारा सोवियत संघ पर प्रहार किए गए। कुल मिलाकर माड्रीड सम्मेलन की ठोस उपलब्धियाँ नकारात्मक रहीं।

19 आणविक शस्त्रों का प्रभाव

(IMPACT OF NUCLEAR WEAPONS)

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम चरण में अगस्त 1945 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणुबम गिराकर सम्पूर्ण विश्व को आणविक शस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से दहला दिया। उस समय एक मात्र संयुक्त राज्य अमेरिका ही अणु शक्ति का स्वामी था। सोवियत रूस ने यह समझ लिया कि यदि आणविक अस्त्रों के क्षेत्र में अमेरिका ही एकछत्र स्वामी रहा तो उनके अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को भविष्य में चुनौती देना असम्भव हो जायगा। अतः वह भी प्राणपण से अणुशक्ति का स्वामी बनने की चेष्टा करने लगा और शीघ्र ही उसने इस क्षेत्र में अमेरिका के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। इसके बाद तो आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण की भारी होड़ लग गई। ब्रिटेन और फ्रांस भी अणु शक्ति के स्वामी बन गए। साम्यवादी चीन ने कुछ सोवियत सहायता के बल पर और बाद में अपने प्रयत्नों से आणविक शस्त्र-निर्माणकारी क्षमता प्राप्त कर ली। शान्तिपूर्ण रचनात्मक कार्यों के लिए भारत ने अणुशक्ति का विकास किया और मई, 1974 में पोखरण में पहला भूमिगत परमाणु विस्फोट किया। इसे अनेक राष्ट्रों ने सैन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समझा जबकि भारत ने स्पष्ट कर दिया कि अणुशक्ति का स्वामी होते हुए भी वह इसका सदैव शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए उपयोग करेगा। पाकिस्तान सैन्य उद्देश्यों के लिए तेजी से परमाणु बम के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

आणविक शस्त्रों का प्रभाव
(Impact of Nuclear Weapons)

आणविक शस्त्रों ने आरम्भ में ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल मचाना शुरू कर दिया। इन्हीं के फलस्वरूप विश्व की दो महाशक्तियों के बीच पारस्परिक अविश्वास की वृद्धि हुई जिससे शीतयुद्ध (Cold War) को प्रोत्साहन

मिला। आणविक शक्ति से सम्पन्न होने की लालसा ने शस्त्रीकरण की ऐसी विनाशकारी प्रतियोगिता को जन्म दिया जो आज सम्पूर्ण मानव जाति के लिए बारूद का ढेर बनी हुई है। विश्व के राजनीतिज्ञ और सैन्य-विशारद इस बात से आतंकित हैं कि तृतीय महायुद्ध यदि छिड़ा तो अणु-आयुधों के प्रयोग के फलस्वरूप वह इतना विनाशकारी होगा कि युद्ध के बाद विजेता और विजित में कोई फर्क नहीं होगा। इतना ही नहीं सम्पूर्ण मानव जाति का अधिकांश भाग नष्ट और विभिन्न कु-प्रभावों से ग्रस्त हो जाएगा।

आणविक शस्त्रों का प्रभाव शुरू से ही राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव डालने लगा और समय के साथ-साथ उसने विश्व की महाशक्तियों के लिए राजनीतिक प्रभाव और कूटनीति के नए द्वार खोल दिए। साम्यवादी जगत् में भी आणविक शस्त्रों ने संघर्ष के तत्वों को प्रोत्साहित किया। एशिया और अफ्रीका के देश भी आणविक कूटनीतिक प्रभाव से न बच सके। विश्व के अनेक देशों की सैनिक व्यूह-रचना बदल गई। आणविक शस्त्रों के विपुल व्यय ने और इससे प्रभावित कूटनीति के नए पैंतरों ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला।

इस प्रकार आणविक शस्त्र अपने जन्म से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किसी न किसी रूप में आणविक शस्त्रों के प्रभाव से आक्रान्त हैं। स्पष्टता के लिए यह उपयुक्त होगा कि हम अणु-आयुधों के प्रभाव का पृथक्-पृथक् विवेचन करें—

1. आणविक शस्त्रों का सबसे पहला प्रभाव यह हुआ कि विश्व की दो महाशक्तियों-संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस में फूट की जड़ें निरन्तर गहरी हो गईं। अमेरिका ने अणु-बम के आविष्कार को सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा जबकि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। जब अणु-बम का प्रयोग जापान पर किया गया तो उससे केवल हिरोशिमा का ही विध्वंस नहीं हुआ, अपितु रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की युद्धकालीन मैत्री भी टूट गई। स्टालिन ने अमेरिका द्वारा अणु-बम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने की बात को गम्भीर विश्वासघात माना। उसे इस घटना से व्यक्तिगत रूप में भी बड़ा दुःख हुआ। रूस और अमेरिका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही देश एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखने लगे।

2. रूस अणु-शक्ति पर अमेरिका के एकाधिकार को अपने लिए और सम्पूर्ण साम्यवादी जगत् के लिए भारी खतरा मानने लगा अतः उसने अपनी सम्पूर्ण बुद्धि और सामर्थ्य अणु-बम के निर्माण में लगादी। चार वर्षों के अल्पकाल में ही 1949 में उसने अणु-बम के रहस्य का पता लगा लिया। अब अमेरिका और रूस दोनों ही देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में लग गए और दोनों ही राष्ट्र अणु-शक्ति की दृष्टि से अधिकाधिक सम्पन्न होकर विश्व राजनीति को अपनी ओर मोड़ने के प्रयत्नों में जुट गए।

3 अणु-शक्ति जनित सन्देह और अविश्वास ने द्वितीय महायुद्ध के बाद शीत-युद्ध को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। सम्मेलनों और पारस्परिक विचार-विमर्श पर किसी न किसी रूप मे आणविक शस्त्रो का प्रभाव छाया रहा। पश्चिमी देशो और रूस मे संयुक्तराष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर अणु-शक्ति के नियन्त्रण व नियमन, नि शस्त्रीकरण, यूरोपीय सुरक्षा समस्या आदि पर तीव्र वाद-विवाद और कूटनीतिक संघर्ष चला जो आज भी यथापूर्व विभिन्न उतार-चढावो के साथ जारी है। नि.शस्त्रीकरण और शीतयुद्ध के क्षेत्र मे आणविक शस्त्रास्त्रो का कितना प्रभाव रहा और आज भी इन क्षेत्रों मे अणु-शक्ति अपना कितना आतंक जमाए हुए है, इसको 'शीतयुद्ध' और 'नि.शस्त्रीकरण' के पिछले अध्यायो मे दर्शाया जा चुका है।

4. अणु-शस्त्रो की प्रलयकारी शक्ति और अणु-युद्ध से मानव-सभ्यता के विनाश के भय ने सह-अस्तित्व की धारणा को आज पूर्वापेक्षा कही अधिक व्यावहारिक बना दिया है। विश्व की दोनो ही महाशक्तियाँ पारस्परिक सन्देह और अविश्वास के बावजूद यह भली प्रकार समझ चुकी है कि अणु-युद्ध मे हार और जीत का कोई महत्त्व नही रहेगा क्योकि विजेता भी उतना ही ध्वस्त हो जाएगा जितना अविजित देश। अत. अणु-युद्ध की निरर्थकता मे सैद्धान्तिक रूप से विश्वास करते हुए दोनो ही देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे यथासम्भव ऐसा कठोर मार्ग ग्रहण करने से बचने की कोशिश करने लगे है जिससे व्यापक युद्ध भडक उठने की सम्भावना न हो। सह-अस्तित्व के महत्त्व को आज विश्व के राष्ट्र पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं। स्टालिन युग के बाद सोवियत विदेश-नीति भी इस प्रकार सचालित होने लगी है जिससे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सम्भावनाएं अधिक प्रबल हुई है। रूसी और पश्चिमी दोनों ही गुट यह मानने लगे है कि आज के अणु-युग में साम्यवाद व पूँजीवाद के सह-अस्तित्व का मार्ग ही विवेकपूर्ण है।

5 कोरिया, क्यूबा, वियतनाम, स्वेज आदि की घटनाएँ सिद्ध करती हैं कि आणविक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के भय ने महाशक्तियो को कितना नियन्त्रित किया है। कोरियायी युद्ध में अमेरिका ने अणुबम का प्रयोग इसलिए नही किया कि रूस का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप हो जाएगा और अणु-युद्ध का विस्फोट न केवल साम्यवादी वरन् पूंजीवादी गुट को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। अणु-युद्ध के भय ने ही कोरियायी युद्ध को स्थायी और सीमित क्षेत्रीय युद्ध के रूप में रखा। स्वेज काण्ड के समय ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल की सैनिक योजनाएँ इसीलिए विफल हुई कि रूस की ओर से आणविक प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग की धमकी दी गई। अणु-आयुधों के सम्भावित प्रयोग की चेतावनी मात्र ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में खलबली मचादी और ब्रिटेन व फ्रांस को अपने कूटनीतिक व सैनिक मोर्चे बदल कर स्वेज से हट जाना पड़ा। इस प्रकार स्वेज का राष्ट्रीयकरण पूरा हुआ और अरब-राजनीति अरबों के पक्ष में मुड गई। ब्रिटेन के हट जाने से हुई रिक्तता को भरने के लिए अमेरिका व रूस में होड़

शुरू हो गई और आज लगभग समूचा मध्यपूर्व इन दोनों महाशक्तियों के प्रभाव क्षेत्र में विभक्त है। इस कूटनीतिक अखाड़ेबाजी के कारण सम्पूर्ण मध्यपूर्व अशान्त बना हुआ है। क्यूबा प्रश्न पर भी आणविक आयुधों के प्रभाव ने अपनी पूरी छाप डाली। अमेरिका की बात मानने का कारण स्पष्ट करते हुए तत्कालीन सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने कहा कि यदि उस समय पूँजीवादी जगत् के साथ संघर्ष किया जाता तो पहले ही दिन सात करोड़ व्यक्ति नष्ट हो जाते। उन्होंने और उनके सहयोगियों ने बलपूर्वक कहा कि इस प्रकार के महाविनाश के तथ्य से आँख मूंदने वाले ही यह मूर्खतापूर्ण युक्ति दे सकते हैं कि युद्ध समाजवाद के प्रसार में सहायक होगा। साम्यवादी नेताओं ने घोषणा की कि समाजवाद का निर्माण अणुबमों के विस्फोट से विश्वव्यापी युद्ध का रूप धारण करने से बचा रहा।

6. आणविक-शक्ति सम्पन्नता के बल पर प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने की इच्छा ने ही साम्यवादी जगत् के दो महान् राष्ट्र रूस और चीन में मतभेदों व वैमनस्य की खाई को चौड़ा कर दिया। आज चीन साम्यवादी जगत् पर सोवियत नेतृत्व को चुनौती दे रहा है और रूस को पूरा भय है कि विशाल जनसंख्या वाला चीनी अजगर आणविक विष से उत्पन्न होकर निकट भविष्य में रूस के लिए एक भारी खतरा बन जाएगा। आणविक शक्ति के रूप में चीन के उदय ने और नेतृत्व व प्रभाव के चीनी मंसूबों ने द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) के अन्त की दिशा में प्रभावकारी भूमिका अदा की है।

7. आणविक शस्त्रास्त्रों के प्रश्न ने अनेक एशियायी राष्ट्रों की विदेश और सामरिक नीति को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। विश्व की अणुशक्ति सम्पन्न शक्तियों का प्रयत्न और आग्रह है कि अणुशस्त्रविहीन राष्ट्र ऐसे शस्त्र बनाने का प्रयत्न न करें। वे चाहते हैं कि ये राष्ट्र परमाणु-शक्ति का विकास केवल असैनिक कार्यों के लिए करें। लेकिन विडम्बना यह है कि परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्र पर परमाणु-अस्त्रधारी राष्ट्र के आक्रमण की सूरत में उनके बचाव की व्यवस्था का कोई ठोस आश्वासन या समाधान नहीं है। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति ने परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों की शंकाओं को बढ़ा दिया है इसीलिए कुछ राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और विदेश-नीति को इस तरह मोड़ देने को प्रयत्नशील हैं कि वे या तो स्वयं अणु-आयुधों का निर्माण कर सकें या येन-केन-प्रकारेण उन्हें प्राप्त कर सकें। भारत यद्यपि अणु-आयुधों का निर्माण न करने का निश्चय व्यक्त कर चुका है, तथापि उसने 1968 की परमाणु आयुध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया है। अणुशक्ति सम्पन्न चीन के सम्भावित खतरे और पाकिस्तान-चीन के नापाक गठजोड़ को देखते हुए इस सम्भावना को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता कि भारत-सरकार अणु-आयुध न बनाने की अपनी नीति पर पुनर्विचार के लिए तैयार हो सकती है। देशी और विदेशी पर्यवेक्षकों की धारणा है कि भारत के परमाणु अस्त्रों के विकास की समस्या पर सक्रिय रूप से सोचना शुरू कर दिया है और उसके लिए अधिक समय तक जनमत की उपेक्षा करना सम्भव नहीं होगा। मध्यपूर्व की

राजनीतिक व सामरिक व्यूह-रचना पर भी अणु-आयुधो की काली छाया पड़ रही है। इजरायल द्वारा अणुबम के निर्माण की ओर तेजी से अग्रसर होने की सूचनाएँ मिल रही हैं जिसका प्रभाव अरब राष्ट्रों की सैनिक व कूटनीतिक रणनीति पर पड़ना स्वाभाविक है। इजरायल की सैनिक शक्ति का भय कुछ अरब देशों को रूस के साथ गठबन्धन के लिए पहले ही से विवश किए हुए है और उसकी सम्भावित अणुशक्ति का भय यदि उन्हे सोवियत शिविर मे पूरी तरह आ जाने को बाध्य करदे तो कोई आश्चर्य नही होगा। पाकिस्तान परमाणु-बम निर्माण की दिशा मे प्राण-पण से लगा हुआ है जो भारत के लिए चिन्ता का विषय है।

8 आणविक शस्त्रास्त्रो ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे असुरक्षा, अविश्वास, सन्देह और तनाव का वातावरण पैदा किया है जो नाटो, वारसा पैक्ट, आदि अनेक सैनिक सगठनो के उदय मे सहायक हुआ है। एक-दूसरे पर आणविक आक्रमण के भय के फलस्वरूप सोवियत रूस और अमेरिका ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओ को जन्म दिया है। अपने-अपने पक्ष के देशो मे अणु-आयुध सम्पन्न सैनिक केन्द्र स्थापित किए हैं। इससे उन देशो की आन्तरिक राजनीति और प्रभुसत्ता भी बडी सीमा तक प्रभावित हुई है। पराए देश मे अपने आणविक केन्द्र स्थापित करने के लिए शक्तिशाली देशो ने उसको विशाल आर्थिक और सैनिक सहायता देकर अपना पिछलग्गू बनाने के सफल प्रयास किए है। उदाहरणस्वरूप, पाकिस्तान मे अमेरिका नियन्त्रित गिलगित हवाई अड्डे की ओर इस आधार पर पाकिस्तान-अमेरिकी सम्बन्धों की कहानी दोहराना आवश्यक है।

सारांश यह है कि आणविक शस्त्रास्त्रो ने आधुनिक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक नीति को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप मे कम या अधिक प्रभावित अवश्य किया है।

सम्भावित आणविक शक्तियाँ और प्रथम आणविक विस्फोटों की तिथियाँ
(Potential Atomic Powers and Dates of First Atomic Explosions)

यह देखना रोचक होगा कि विश्व मे सम्भावित आणविक शक्तियाँ कौन-कौन-सी है अर्थात् जो राष्ट्र अणुशक्ति से सम्पन्न है उनके अतिरिक्त वे और कौन से राष्ट्र हैं जो अणु-शक्ति सम्पन्न बनने की ओर अग्रसर हैं या बनने की क्षमता रखते हैं। स्टीवेन रोजन तथा वाल्टर जोन्स ने सन् 1974 मे प्रकाशित अपने ग्रन्थ मे सम्भावित आणविक शक्तियों को तीन समूहो मे विभाजित कर उनकी सूची प्रस्तुत की है जो आगे दी जा रही है। इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है कि भारत 18 मई, 1974 को अपने सफल भू-गर्भीय आणविक परीक्षण द्वारा देश का मस्तक ऊँचा कर चुका है और 20 अप्रेल, 1974 को अपने प्रथम भू-उपग्रह 'आर्यभट्ट' को अन्तरिक्ष मे स्थापित कर पुनः अपनी महान् वैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दे चुका है।

सम्भावित आणविक शक्तियां
(Potential Atomic Powers)

ग्रुप I	ग्रुप II	ग्रुप III
बेल्जियम	आस्ट्रेलिया	अर्जेण्टाइना
कनाडा	आस्ट्रिया	ब्राजील
चैकोस्लोवाकिया	डेनमार्क	मैक्सिको
पश्चिमी जर्मनी	फिनलैण्ड	नार्वे
पूर्वी जर्मनी	हंगरी	स्पेन
भारत	नीदरलैण्ड्स	दक्षिण अफ्रीका
इटली	पोलैण्ड	
जापान	यूगोस्लाविया	
स्विट्जरलैण्ड		

Source : Rosen & Jones . The Logic of International Relations, 1974, p. 178.

रोजन एवं जोन्स ने प्रथम आणविक और ताप नाभिकीय परीक्षण विस्फोटों की तिथियों की सूची भी दी है जो इस प्रकार है--

प्रथम आणविक और ताप-नाभिकीय परीक्षण विस्फोटों की तिथियां
(Dates of First Atomic and Thermonuclear Test Explosions)

देश	प्रथम आणविक परीक्षण	प्रथम पूर्ण-स्तरी ताप-नाभिकीय परीक्षण	सक्रान्ति काल (वर्ष)
संयुक्तराज्य अमेरिका	जुलाई 16, 1945	नवम्बर 1, 1952	7 5
सोवियत संघ	अगस्त 29, 1949	अगस्त 12, 1953	4·0
ग्रेट-ब्रिटेन	अक्तूबर 3, 1952	मई 15, 1957	4 5
फ्रांस	फरवरी 13, 1960	अगस्त 24, 1968	8·5
चीन	अक्तूबर 16, 1964	जून 17, 1967	2 5

Source : Rosen & Jones : The Logic of International Relations, 1974, p. 169.

भारत एक परमाणु शक्ति के रूप में और इसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव
(India as a Nuclear Power and Its Impact on International Politics)

बंगलादेश की आजादी में सहायक बनकर भारत सरकार ने जिस तरह विश्व में राष्ट्र का मस्तक ऊँचा किया था उसी तरह भारतीय परमाणु वैज्ञानिकों ने 18 मई, 1974 को सफल भूगर्भीय परीक्षण द्वारा देश का मस्तक एक बार फिर ऊँचा कर दिया। इस विस्फोट से भारत परमाणु-बिरादरी का छठा देश बन गया। भारत सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि यह विस्फोट शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही है और भारत शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही परमाणु-शक्ति का उपयोग करना चाहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि परमाणु, शक्ति के रूप मे भारत का उदय विश्व के अनेक राष्ट्रो को पसन्द नही आया, 'दबाव की राजनीति' मुखर हुई और कतिपय देशो मे भारत के विरुद्ध गठबन्धन पुनः अधिक उग्र रूप मे प्रकट होने लगा। "भारत के परमाणु-विस्फोट पर सबसे तीखी प्रतिक्रिया अमेरिकी क्षेत्र मे हुई। अमेरिका ने न केवल अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की, बल्कि यह भी कहा कि भारत के परमाणु-विस्फोट से विश्व मे स्थायित्व को आघात पहुँचेगा। अमेरिका की इस प्रतिक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि वह नही चाहता कि कोई अन्य देश परमाणु-अस्त्र बनाए। अक्तूबर, 1964 मे जब चीन ने पहला परमाणु-विस्फोट किया तब भी अमेरिका ने ऐसी ही प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, यद्यपि उस समय अमेरिका और चीन के बीच इतना गम्भीर मतभेद था जितना भारत और अमेरिका के बीच कभी नही रहा।"

"एक बडी शक्ति का मुखर विरोध अकारण नही था। अमेरिका ने विश्व-स्थायित्व की ओट मे विरोध किया। अमेरिका की दृष्टि मे विश्व-स्थायित्व का तात्पर्य शायद उस शक्ति-सन्तुलन से है जो इस समय बडी शक्तियों के बीच विद्यमान है और वस्तुतः अमेरिका को इसी सन्तुलन के बिगड़ने की चिन्ता भी है। न्यूनाधिक यह चिन्ता सोवियत सघ को भी है। भारत परमाणु-अस्त्र न बनाने के अपने इरादे पर दृढ रहे, तो भी इस विस्फोट के बाद निकट भविष्य मे सम्भावित विस्फोटों से भारत का रुतबा एक महाशक्ति जैसा बन जाएगा। इस तथ्य को नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। 1971 में बगलादेश के स्वाधीन होने पर एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप मे भारत का रुतबा बढा था, अब वह महाशक्ति के रूप मे उभर रहा है। यह स्थिति किसी महाशक्ति को कैसे पसन्द आ सकती है?"

"अमेरिका के अलावा जिन अन्य दो देशो ने भारत के परमाणु-विस्फोट का मुखर विरोध किया वे थे कनाडा और जापान। कनाडा को शायद यह अच्छा नही लगा कि उसकी ही सहायता से परमाणु-भट्टी स्थापित करने वाला भारत उससे पहले परमाणु-शक्ति-सम्पन्न देश बन गया। जापान के विरोध का निजी कारण था। यह कारण लगभग वही था जो चीनी परमाणु-विस्फोटो के विरोध के समय जापान के सामने था। जापान जानता है कि क्षेत्रफल कम होने के कारण वह यदि चाहे तो भी बडी परमाणु-शक्ति नहीं बन सकता, किन्तु वह न केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया की बल्कि विश्व की एक बडी आर्थिक शक्ति है और उसका भविष्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो के साथ बँधा है। वह इन देशो को अपने प्रभाव-क्षेत्र मे लेने के लिए भरसक यत्न करता रहा है। पहले चीन ने और फिर भारत ने परमाणु-विस्फोट कर उसकी आर्थिक प्रभुता को चुनौती दे डाली। जापान ने इस चुनौती को बडी गम्भीरता से लिया और वह अपनी परमाणु-नीति पर पुनर्विचार करने की सोचने लगा।"

"जापान ही नही, वे सभी देश ऐसा सोच सकते हैं जिनमें परमाणु-शक्ति बनाने की कम या अधिक क्षमता है। ऐसे देशों की संख्या आज 1972 में बड़ी अधिक है। आने वाले समय में परमाणु-बम बनाने के लिए प्लूटोनियम पैदा करने मे कम से

कम 19 और देश समर्थ हो जाएंगे। ये देश हैं—आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, आर्हेंतीना, बेल्जियम, बुल्गारिया, कनाडा, चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, इटली, जापान, दक्षिणी कोरिया, नीदरलैण्ड, पाकिस्तान, रूमानिया, स्पेन, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड और ताइवान। इनके अलावा यूनान- नार्वे और हंगरी भी शीघ्र ही प्लूटोनियम बनाने लगेंगे। 1980 से मैक्सिको, न्यूजीलैण्ड और दक्षिण अफ्रीका भी इस सूची मे शामिल हो गए हैं। इजरायल के पास अनुसन्धान के लिए जो परमाणु-भट्टियाँ हैं उनमें यदि वह चाहे तो पर्याप्त मात्रा मे प्लूटोनियम तैयार कर सकता है।"

"लगभग 16 देश शायद ऐसे हैं जिन्हें 100 परमाणु-बम बनाने के लिए अपनी कुछ राष्ट्रीय आय का 1 प्रतिशत से अधिक खर्च नही करना पड़ेगा। ऐसे ही देशो में भारत, इटली और जापान भी हैं क्योंकि इनके पास स्वदेशी यूरेनियम और पर्याप्त धमन-क्षमता है। पश्चिमी जर्मनी की गणना भी इन देशो के साथ की जा सकती है; किन्तु उसके पास स्वदेशी यूरेनियम का भण्डार नहीं है। इनके अलावा 10 या 11 देश ऐसे है जो अपनी कुल राष्ट्रीय आय का 2 प्रतिशत तक खर्च करके परमाणु-अस्त्र सम्पन्न-देश बन सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका भी ऐसा ही एक देश है। उसके पास प्रचुर मात्रा मे यूरेनियम और सुनियोजित धमन-क्षमता है, किन्तु उसके यहाँ ईंधन-तत्त्वों के लिए पुनर्प्रक्रिया सयन्त्र नही है।"

ऐसी स्थिति मे छठे परमाणु-शक्ति-सम्पन्न देश के रूप मे भारत के प्रादुर्भाव की विश्वव्यापी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। भारत सरकार ने अपनी ओर से बार-बार स्पष्ट शब्दो मे यह घोषित किया कि भारत परमाणु-शक्ति के रचनात्मक उपयोग के पक्ष में है और वह इसी नीति का अनुसरण कर रहा है।

भारत की परमाणु-नीति

इस सन्दर्भ मे भारत सरकार की परमाणु-नीति पर कुछ अधिक स्पष्ट विचार अपेक्षित है। भारत सरकार के वार्षिक सन्दर्भ ग्रन्थ 1975 के अनुसार भारत की परमाणु-नीति के मुख्य मुद्दे इस प्रकार हैं—

भारत ने सफल भूमिगत परमाणु-परीक्षण की घोषणा करते हुए परमाणु ऊर्जा विभाग ने कहा कि यह उस कार्यक्रम का अंग है जिसका उद्देश्य परमाणु-प्रायोगिकी के क्षेत्र मे, विशेषकर खनन और मिट्टी हटाने के कार्य में, परमाणु-शक्ति के उपयोग में भारत को अन्य देशो के समकक्ष रखना है। भारत सरकार ने भी इस बात की पुष्टि की कि भारत का परमाणु-हथियार बनाने का कोई इरादा नहीं है और वह परमाणु-विस्फोटों के सैनिक उपयोग के सख्त खिलाफ है।

न्यूजवीक को दिए गए इण्टरव्यू में प्रधान मन्त्री ने भारत की स्थिति को पुनः स्पष्ट किया। परमाणु टेक्नोलोजी में सक्षम देश और परमाणु हथियार रखने वाले देश मे अन्तर है, हमारा देश परमाणु हथियार वाला देश नही है, हमारे पास कोई परमाणु बम नहीं है। हमारा इरादा इस जानकारी या इस शक्ति को शान्तिपूर्ण कार्यों के अलावा अन्य किसी कार्य में इस्तेमाल का नहीं है। हमारे पड़ौसियों को

किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। सच तो यह है कि हम इस परीक्षण को विज्ञान और टेक्नोलोजी में हो रही प्रगति के समकक्ष रहने के लिए किए जा रहे अपने अनुसन्धान कार्य का एक अंग मानते हैं। इसके लिए कोई नई बजट-व्यवस्था नहीं की गई। इस पर कोई विदेशी मुद्रा खर्च नहीं की गई और इसके लिए हम किसी अन्य देश पर निर्भर नहीं थे।

भारत ने परमाणु-शस्त्र निषेध सन्धि 1968 पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं क्योंकि यह सन्धि पक्षपातपूर्ण है। एक तरफ तो यह परमाणु-हथियारों वाले राष्ट्रों को इस बात की छूट देती है कि वे आणविक हथियारों का परीक्षण करते रहें और दूसरी ओर अन्य राष्ट्रों को इस बात की छूट नहीं देती कि वे शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए भूमिगत परमाणु परीक्षण टेक्नोलोजी का विकास कर सकें। भारत ने वायुमण्डल में या समुद्र में परीक्षण नहीं किया क्योंकि इससे वातावरण बहुत ज्यादा दूषित हो जाता है और आसपास के जनजीवन को खतरा भी हो जाता है, हालांकि इस तरह के परीक्षण भारत दस वर्ष पहले भी कर सकता था।

भारत के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के आरम्भ से ही दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं—ऊर्जा का उत्पादन और उद्योग चिकित्सा, कृषि-अनुसन्धान और अन्य क्षेत्रों में रेडियो आइसोटोपों का उपयोग, और अपने आणविक प्रयत्नों के लिए कौशल, साज-सामान और तक्नीक के मामले में आत्म-निर्भर हुआ जाए।

भारत के लिए परमाणु बम का प्रश्न देश की अस्मिता की रक्षा का प्रश्न है

पड़ौसी देशों के परमाणु-शक्ति-विकास ने भारत के लिए परमाणु-बम का निर्माण करना अनिवार्य बना दिया है—इस प्रकार का विचार भारत के अनेक राजनीतिक क्षेत्रों में पनप रहा है। मई 1981 के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में हिमांशु जोशी ने "भारत के लिए परमाणु बम का प्रश्न देश की अस्मिता की रक्षा का प्रश्न है" नामक शीर्षक में जो विचार व्यक्त किए हैं वे परमाणु बम की अनिवार्यता के पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिमांशु जोशी का लेख इस प्रकार है—"यह बात लगभग तय है कि निकट भविष्य में पाकिस्तान किसी भी क्षण परमाणु-बम का विस्फोट कर सकता है। लोगों का अनुमान है कि अफगानिस्तान की सीमा से लगे 64 किलोमीटर दूर बलूचिस्तान की पहाड़ियों में इसके लिए स्थान तय किया जा चुका है। इसके विपरीत कुछ अन्य विशेषज्ञों का अनुमान है कि राजस्थान की सीमा के निकट, पाकिस्तान के रेगिस्तान प्रदेश में भी सर्वेक्षण हो चुका है। पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा इधर अनेक गाँव खाली करवाए जा रहे हैं। वहाँ के किसानों को साल भर पहले ही चेतावनी दे दी गई थी कि वे अगली फसल न बोएँ।

स्थान जो भी हो, पाकिस्तान का सैनिक-प्रशासन ही नहीं, वहाँ के वैज्ञानिक भी इसके लिए कटिबद्ध हैं कि जल्द-से-जल्द विस्फोट किया जाए। रीगन-प्रशासन का वरदहस्त जब से पाकिस्तान पर रहा है, इस उपमहाद्वीप की सारी स्थिति बदल

गई है। अमेरिका ने तय कर लिया है कि इस क्षेत्र विशेष में उसके हितों की रक्षा के लिए सुदृढ, सशक्त पाकिस्तान का अस्तित्व अनिवार्य है। इसके लिए वह किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार है।

अमेरिका स्वयं ही पाकिस्तान को उदारतापूर्वक सैनिक-सहायता नहीं दे रहा, बल्कि गुप्त रूप से जापान, पश्चिमी जर्मनी और ब्रिटेन से भी अनुरोध कर रहा है कि पाकिस्तान को आवश्यक अस्त्र-शस्त्र देने की व्यवस्था करें।

ऐसी स्थिति में भारत क्या करे? यह प्रश्न सीमाओं की सुरक्षा का ही नहीं, देश की अखण्डता तथा अस्मिता की रक्षा का भी है।

संकट जब सामने होता है, तभी हम चेतते हैं—हमारे साथ यही विडम्बना है। सन् 1947 से आज तक हमने राष्ट्र की सुरक्षा के प्रश्न को पाकिस्तान की सैन्य-स्थिति की तुलना में ही देखने का प्रयास किया है। उस देश को हमने अपने समकक्ष माना जो जनसंख्या, क्षेत्रफल, आर्थिक–हर दृष्टि से हमसे कई गुना छोटा है।

भारत किन-किन राष्ट्रों से सैन्य सहायता ले रहा है, कौन-से हथियार बना रहा है—चीन ने कभी इसकी चिन्ता नहीं की। उसका लक्ष्य पहले शक्तिशाली अमेरिका रहा, और कालान्तर में सोवियत संघ। उसकी सारी सैनिक-तैयारियाँ इन्हीं राष्ट्रों की सैनिक-शक्तियों को सामने रखकर की गईं।

1962 में चीनी-आक्रमण के पश्चात् भी हमारे राष्ट्रीय चिन्तन में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। 1964 में चीन ने प्रथम परमाणु-बम का विस्फोट किया, कुछ वर्ष पश्चात् उद्‌जन बम का—तब भी हम मात्र सहम कर रह गए। भारतीय उपमहाद्वीप के ऊपर से चीन ने अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र छोड़े, तब भी हम मूकदर्शक की तरह देखते रहे। हमारे राजनीतिज्ञों को सम्भवतः यही लगा कि इस दौड़ में चीन का मुकाबला कर पाना सम्भव नहीं, इसलिए सम्भावित हर खतरे को देख कर अनदेखा करते चले गए।

यदि पाकिस्तान ने पहल न की होती तो सम्भवतः अब भी हम सोए हुए ही रहते। चूँकि पाकिस्तान परमाणु-बम बना रहा है, इसलिए यहाँ भी तनिक हलचल मचने लगी है।

वास्तव में चीन के प्रथम परमाणु-बम विस्फोट के पश्चात् ही भारत को इस दिशा में अपने प्रयासों में तेजी ले आनी चाहिए थी, किन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं।

18 मई, 1974 को पोकरण में 'परमाणु ऊर्जा आयोग' के वैज्ञानिकों की देख-रेख में भारत ने पहला भूमिगत परमाणु विस्फोट किया था। इसका एकमात्र उद्देश्य शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही था। जिसे संसार के अनेक राष्ट्रों ने सैन्य-उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समझा और इसे बम-विस्फोट की संज्ञा दी।

विदेशी ही नहीं, स्वयं भारतीय भी इस भ्रम में रहे कि यद्यपि यह विस्फोट नहीं था, तब भी भारतीय वैज्ञानिक उस स्थिति तक पहुँच चुके हैं कि जब चाहे परमाणु-बम का निर्माण कर सकते हैं।

पोकरण की सफलता के पश्चात् जिस द्रुतगति से अनुसन्धान का कार्य चलना चाहिए था, सरकार की नीति की शिथिलता से चल नहीं पाया। मोरारजी के प्रशासन-काल में तो घोर उपेक्षा की नीति रही। यहाँ तक कि श्रीमती गाँधी के पुन: सत्ता में आने के कुछ महीने पश्चात् तक भी वस्तुस्थिति में अधिक अन्तर नहीं आया।

विशेषज्ञों का अनुमान है कि परमाणविक-अनुसन्धान के क्षेत्र में 20% भी लक्ष्यों की प्राप्ति अब तक नहीं की जा सकी है। यूरेनियम–235 के परिष्कार के लिए जिस गति से कार्य होना चाहिए था, हुआ नहीं। आरम्भ में चीन भारत से इस क्षेत्र में 5-6 साल पीछे था, किन्तु अब स्थिति वैसी नहीं है। परमाणविक-खोजों के कुछ क्षेत्रों में तो वह भारत से बहुत आगे निकल गया है। पाकिस्तान भी दो-तीन सालों में हमारे समकक्ष आ जाए तो आश्चर्य नहीं।

यह सोचना बड़ा भ्रामक है कि यदि हमने परमाणु-बम का विस्फोट किया तो बड़े राष्ट्र हमारे विरुद्ध हो जाएँगे और छोटे राष्ट्र सन्देह की दृष्टि से देखेंगे। चीन ने इतने सारे परमाणु तथा उद्जन बमों का विस्फोट किया और आज भी खुलेआम वायु-मण्डल में विस्फोट कर रहा है, दुनिया में ऐसा कौन-सा देश है, जो उसका विरोध कर रहा है?

शक्ति की पूजा सर्वत्र होती है, इस प्रश्न पर दो मत नहीं हो सकते किन्तु प्रश्न यह है कि हम क्यों शक्ति अर्जित करने से घबरा रहे हैं? तकनीकी ज्ञान की हमें कमी नहीं, साधन भी पर्याप्त मात्रा में हैं, फिर इस दिशा में जिस गति से कार्य होना चाहिए था, क्यों नहीं हो पा रहा है?

तारापुर परमाणु-विद्युत गृह के लिए अमेरिका से प्राप्त प्रयुक्त यूरेनियम से ही हम 200 बम आसानी से बना सकते हैं।

यूरेनियम हमारे पास है। इसके साथ-साथ थोरियम की भी कमी नहीं। अनुमान है कि 350 हजार टन थोरियम ऑक्साइड हमारे पास उपलब्ध है। थोरियम को यूरेनियम में परिवर्तित करने का प्रयास किया जा रहा है। इस ओर यथासमय ध्यान दिया गया होता तो अब तक यह कार्य भी पूरा हो चुका होता। कलपक्कम में फास्ट ब्रीडर रियेक्टर में जिस गति से कार्य चल रहा है, उसे पूरा होने में अभी समय लगेगा।

विशेषज्ञों का अनुमान है कि भारत थोड़े-से प्रयास में परमाणु बम बना सकता है और लगभग दो साल के श्रम के पश्चात् उद्जन-बम का विस्फोट करने में भी सफल हो सकता है।

परमाणु की राजनीति

परमाणु शक्ति का विकास राजनीतिक विस्तारवाद के उद्देश्य से पूरी तरह प्रभावित है। महाशक्तियाँ किस प्रकार परमाणु की राजनीति में लिप्त हैं इस पर नवम्बर, 1981 के दिनमान का अग्रलिखित सम्पादकीय लेख अच्छा प्रकाश डालता है—

"1945 में जब अमेरिका ने हिरोशिमा में परमाणु नरमेध किया था तब उसका मूल कारण शत्रु भय नहीं, बल्कि विजय और अन्वेषण का दर्प तथा अहंकार था। तब रूस या किसी और के पास परमाणु शक्ति थी ही नही और अब जब वह न्यूट्रोन बम बनाने या यूरोप मे नए परमाणुवाहक प्रक्षेपास्त्र लगाने की तैयारी कर रहा है तब भी उसके मूल मे अपनी पराजय का भय उतना नही है जितना कि लागडाट और हथियारो की राजनीति के जरिये यूरोप से जुड़े और उसे जोड़े रहने तथा दूसरो को भयभीत किए रहने की लालसा है।"

यह सही है कि जब से रूस के पास इतने परमाणु हथियार हो गए हैं कि वह भी यूरोप और अमेरिका को ध्वस्त कर सके, तब से इस बात का महत्त्व घट गया है अमेरिका में सम्पूर्ण दुनिया को साढ़े तीन बार ध्वस्त करने की शक्ति है। तर्क की दृष्टि से अस्त्र-शस्त्र संग्रह की होड़ के पीछे किसी न किसी तरह का भय होता ही है—चाहे वह युद्ध मे पराजित होने का भय हो या नेतृत्व कायम न रख पाने का. फिर जब दो देशो के पास एक दूसरे को नष्ट करने लायक ताकत जमा हो जाए और इसके खटको पर यन्त्रों द्वारा ही नियन्त्रण सम्भव हो तो स्थिति और भी नाजुक हो जाती है—क्या पता किसी जानी अनजानी तकनीकी गलती के कारण कही कोई स्वचालित यन्त्र चालू न हो जाए। यह एक बात है, लेकिन बतौर शक्ति प्रदर्शन के यूरोप के वायुमण्डल में नियन्त्रित परमाणु विस्फोट कराने की धमकी देकर सबके मन मे आतंक पैदा करना दूसरी बात है, जैसा कि अमेरिका के विदेशमन्त्री अलेक्जेंडर हेग ने हाल में किया था। हेग के बयान का अमेरिका मे भी विरोध हुआ, लेकिन यह कहना कि रूस को गैर-परमाणु अस्त्रों से यूरोप पर हमला करने मे रोकने के लिए ऐसा किया जा सकता है, स्पष्ट कर देता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में धौंसपट्टी का स्थान बरकरार है।

यूरोप मे अस्त्र परिसीमन के लिए जिनेवा मे 30 नवम्बर, 1981 मे बैठक शुरू हुई जिसमे अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के देश और रूस के प्रतिनिधियो ने भाग लिया। असल मुद्दा था कि सोवियत संघ क्या करे कि नैटो देशों में वे नए प्रक्षेपास्त्र न लगाए जाएँ, जिनके बारे मे 1979 मे फैसला किया गया था। बैठक बिना किसी निश्चित वार्ता के समाप्त हो गयी और दूसरी बैठक मार्च, 1982 में करना तय किया गया।

अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन का कहना है कि जिस अवधि में नैटो देशो ने 1,000 परमाणु बम घटाए उसी अवधि में सोवियत संघ ने एस. एस.–20 किस्म के उन्नत प्रक्षेपास्त्र स्थापित किए हैं जो 750 परमाणु बम फेंक सकते हैं। ये प्रक्षेपास्त्र एक साथ तीन बम अलग-अलग दिशाओ में भेज सकते हैं। इनका परास 5,000 किलोमीटर है और ये पश्चिमी रूस में हैं। इन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है। रूस के पास एस.एस.–4 और एस. एस.–5 किस्म के भी 350 मध्य परास प्रक्षेपास्त्र हैं, लेकिन 1977 तक पश्चिमी यूरोप के अनेक हिस्से इनकी मार में नही आते थे।

रूसी खतरे की काट के लिए 1979 में तय पाया गया कि पर्शिंग-2 और क्रूजर प्रक्षेपास्त्र नैटो देशों में स्थापित किए जाएँ। 108 पर्शिंग पश्चिम जर्मनी में लगने हैं और 464 क्रूजर प्रक्षेपास्त्र इन देशों में—ब्रिटेन में 160, इटली में 112, पश्चिमी जर्मनी में 97, बेल्जियम में 48 और हॉलैण्ड में 48। यह कार्य 1983 के उत्तरार्द्ध में शुरू होना है।

पर्शिंग प्रक्षेपास्त्रों की मार दायरा 1600 किलोमीटर है और क्रूजर की 2,400 किलोमीटर तक है। इनके मुँह मास्को तथा अन्य रूसी शहरों की ओर होंगे।

अमेरिका की चिन्ता यह है कि सोवियत संघ यूरोप और एशिया महाद्वीप के विशाल भू-भाग का यूरोप से लगा हिस्सा है, इसलिए उसकी समूची संहारक शक्ति रूस में ही केन्द्रित है, जिसके चलते वह जब चाहे तब पश्चिम यूरोप को दबोच सकता है। सैनिक सन्धि (नैटो) तथा रक्त, संस्कृति और विचारधारा में अमेरिका और पश्चिम यूरोप एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, इसलिए पश्चिम के मन में रूस का डर जड़ें जमाए हुए है, लेकिन इस भय के कारण पश्चिमी यूरोप को परमाणु अस्त्रों का अखाड़ा बना देने से युद्ध का खतरा बढ़ना ही है, घटना नहीं, इसीलिए यूरोप में बड़े पैमाने पर परमाणु प्रसार विरोधी जलूस भी निकले।

30 नवम्बर, 1981 से जिस वार्ता की शुरूआत हुई है वह एक नई सौदेबाजी का आरम्भ है जिसका अन्त अनिश्चित है। रीगन के इस वाक्य का क्या अर्थ लगाया जाए कि यदि सोवियत संघ अपने प्रक्षेपास्त्र यूराल पर्वत के पूर्व में ले जाने को राजी हो जाए तो भी विशेष फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि रूसी प्रक्षेपास्त्र बहुत जल्द स्थानान्तरित किए जा सकते हैं।

पश्चिमी यूरोप की असली चिन्ता है कि मान लीजिए कभी रूस ने पारम्परिक अस्त्रों से यूरोप पर हमला किया, तो हो सकता है कि अमेरिका अपनी भूमि से जवाबी हमले में परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का विरोध न करे। इसलिए क्योंकि पर्शिंग-2 और प्रक्षेपास्त्र असमन्वित किए जाएँ, मगर ऐसा करना भी खतरे से खाली नहीं है।

"यदि यूरोप के देश और रूस दोनों चाहें तो वे एक ऐसी सर्वसम्मत व्यवस्था कर सकते हैं कि परस्पर भय या आकस्मिक युद्ध की सम्भावना कम से कम यूरोप में परमाणु-विनाश का भय न रह जाए, यह पूरी तरह तभी सम्भव हो सकता है, जब सभी देश शक्ति सन्तुलन की राजनीति छोड़ दें, वरना सिर्फ यूरोप के देशों में किए गए सभी समझौते क्षेत्रीय और अल्पकालिक ही होंगे और युद्ध की विभीषिका से या उसके परिणामों से यूरोप को नहीं बचाया जा सकेगा।"

परमाणु अस्त्रविहीन क्षेत्र आवश्यक

परमाणु-शक्ति का विकास जिस ढंग से विध्वंसात्मक दिशा में बढ़ता जा रहा है और नए राष्ट्र परमाणु-शक्ति बनने का स्वप्न संजोने लगे हैं, उसे देखते हुए विश्व के कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में इस विचार पर बल दिया जाने लगा है कि अब समय आ गया है जब महाशक्तियों को और बड़े देशों को परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण

प्रयोग की बात गम्भीरतापूर्वक सोचनी चाहिए। भारत द्वारा मई 1974 के परमाणु-परीक्षण ने जिन अनेक प्रश्नों को उभारा, उनमें से एक मुख्य प्रश्न 'अणु-शक्ति केवल शान्तिपूर्ण प्रयोग के लिए' का है जिस पर भारत आरम्भ से बल देता आ रहा है। एक दूसरा विचार 'परमाणु अस्त्रविहीन क्षेत्र' का है।

उपर्युक्त सन्दर्भों में हम एक तो जापान के प्रसिद्ध दैनिक 'असाही ईवनिंग न्यूज' के सम्पादकीय का और दूसरे मलेशिया की राजधानी कुआलालम्पुर में मुस्लिम देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में पारित एक प्रस्ताव का उल्लेख करना चाहेंगे[1] —

जापानी दैनिक 'असाही ईवनिंग न्यूज' के सम्पादकीय में उल्लेख था कि "भारत के परमाणु-परीक्षण के बाद से विकसित देश परमाणु-शक्ति के नए प्रयोगों और इससे बिजली प्राप्त करने की व्यापक योजना के बारे में सोचने लगे हैं। जापान समझता है कि विकासशील देशों में परमाणु-अस्त्रों के निर्माण की प्रगति को रोकने से लिए कुछ जरूरी कदम उठाए जाने चाहिए। यह एक लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने के लिए सभी देशों को मिलजुल कर प्रयत्न करना है। विकसित अथवा विकासशील सभी देशों का कर्त्तव्य है कि जो देश अपने यहाँ परमाणु-शक्ति का विकास करें वे उसका उपयोग निश्चित रूप से शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही करें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय करने होंगे। सबसे पहला उपाय तो यह है कि परमाणु-अस्त्रों का प्रसार रोकने की सन्धि को मजबूत बनाया जाए। जिन देशों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं या हस्ताक्षर के बाद जिन देशों की सरकारों ने इसकी पुष्टि नहीं की है उन्हें तुरन्त ही ऐसा करने के लिए कहा जाना चाहिए। हाल ही में अमेरिका ने मिस्र और इजरायल दोनों को ही परमाणु-शक्ति सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध कराने का वायदा किया है। लेकिन बड़े देशों को इसके साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि जिन देशों को परमाणु-शक्ति सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध कराई जा रही है, वे परमाणु अस्त्रों का प्रसार रोकने वाली सन्धि पर हस्ताक्षर जरूर कर दें।"

मलेशियायी राजधानी कुआलालम्पुर में मुस्लिम देशों के विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया—

"हम सभी परमाणु-शक्ति-सम्पन्न देशों से यह आश्वासन चाहते हैं कि विकासशील देशों के विरुद्ध कभी भी न तो परमाणु-अस्त्रों का प्रयोग किया जाएगा और न उन्हें इस तरह की कोई धमकी दी जाएगी। परमाणु-अस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध एक महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक प्रश्न है। नि:सन्देह सभी तरह के परमाणु-परीक्षणों पर रोक लगाना और देशों को परमाणु-अस्त्र बनाने से रोकना भी एक ऐसा मामला है जिस पर सर्व प्रथम ध्यान दिया जाना चाहिए।"

"हम समझते हैं कि परमाणु-अस्त्रविहीन क्षेत्रों का निर्माण बहुत जरूरी है।

1 दिनमान, दिनांक 18-8-74 से उद्धृत, पृष्ठ 5

इस प्रसंग मे हम ईरान के इस सुझाव की तरफ दुनिया का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि पहला परमाणु-अस्त्रविहीन क्षेत्र पश्चिमी एशिया बनाया जाए। हमारी राय में संयुक्तराष्ट्र महासभा मे इस सुझाव पर विचार होना चाहिए। परमाणु-अस्त्र तैयार करने की इच्छा रखने वाले देशों की संख्या में तेजी से कमी होनी चाहिए। परमाणु-अस्त्रविहीन क्षेत्रों की स्थापना के लिए इस समय पहला कदम यही हो सकता है कि परमाणु-अस्त्र रखने वाले देश या परमाणु-अस्त्रों का संग्रह करने वाले देश सन्धि द्वारा वचन दें कि वे न तो अब आगे परमाणु-अस्त्रों का निर्माण करेंगे और संग्रहीत-अस्त्रों में से किसी का भी प्रयोग करेंगे। इस दिशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि परमाणु-अस्त्रों वाले देश सन्धि की उस धारा की सरकारी तौर पर पुष्टि करें जिसमें यह स्पष्ट उल्लेख हो कि वे कभी भी न तो परमाणु-अस्त्रों का प्रयोग करेंगे और न ही इस तरह की कोई धमकी देंगे।"

"परमाणु-अस्त्रों वाले कुछ देशों ने परस्पर ऐसी सन्धियाँ जरूर की हैं जिनमें उन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध कभी भी परमाणु-अस्त्र प्रयुक्त न करने का वचन दे रखा है लेकिन अब इस प्रकार की सन्धि के क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। पश्चिमी एशिया में परमाणु-अस्त्रविहीन क्षेत्र बनाने के सुझाव को अभी स्पष्ट नहीं किया गया है। संयुक्तराष्ट्र महासभा में इस सुझाव को स्पष्ट किया जाना चाहिए। पश्चिमी एशिया के अलावा अन्य स्थानों में भी परमाणु-अस्त्रविहीन क्षेत्रों की स्थापना की सम्भावनाओं पर विचार किया जाना चाहिए। उदाहरण के तौर पर अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वी एशिया और जापान सहित पूर्वोत्तर एशिया में इस प्रकार के क्षेत्रों की स्थापना की जा सकती है।"

"परमाणु टेक्नोलॉजी के विकास के साथ-साथ परमाणु-अस्त्रों के प्रसार की सम्भावनाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। इससे समूचे विश्व में असुरक्षा और अस्थिरता का वातावरण ही बनेगा, इसलिए आवश्यक है कि अनेक दिशाओं में अनेक स्तरों पर उपाय किए जाने चाहिए। जब तक संयुक्त रूप में इस प्रकार के प्रयत्न नहीं किए जाएँगे, परमाणु-अस्त्र-प्रसार-सन्धि हस्ताक्षर हो जाने के बाद भी कारगर सिद्ध नहीं होगी। परमाणु-अस्त्रों के बारे में वर्तमान स्थिति काफी चिन्ताजनक है। परमाणु-अस्त्रों के प्रसार और उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए यही उपयुक्त समय है और यदि तत्काल ही इस दिशा में कुछ नहीं किया गया तो भविष्य में स्थिति जटिल हो जाएगी और फिर परमाणु-शक्ति सम्पन्न बड़े देश चाहते हुए भी कुछ कर नहीं पाएँगे।'"

क्या अणु-अस्त्रों के बल पर ही अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता-राजनीति में स्थान सम्भव है?

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में असोसिएट प्रोफेसर चीनविद श्री गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे ने साप्ताहिक दिनमान में अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में इस बात का मूल्यांकन किया है कि क्या केवल अणु-अस्त्रों के बल पर ही

अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता-राजनीति में स्थान पाना सम्भव है। श्री देशपाण्डे ने लिखा है एक विचार यह है कि चीन ने आणविक अस्त्रों का निर्माण करना शुरू किया और उन अणु-अस्त्रों के बल पर ही चीन को अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता-राजनीति में अपना स्थान मिला। पहली नजर में चाहे यह तर्क कितना ही ठीक दिखाई दे, लेकिन गहराई से सोचने से यह सगत नहीं लगता। उदाहरण के लिए ब्रिटेन भी आणविक राष्ट्र है, परन्तु अणु-अस्त्रों के निर्माण से क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका स्तर कुछ बढ़ा है? सत्य तो यह है कि अणु-अस्त्रों का निर्माण भी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से ब्रिटेन की निरन्तर घटती प्रतिष्ठा को बचा नहीं सका। अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता-राजनीति की बात तो जाने दीजिए, यूरोप में, और वह भी पश्चिमी यूरोप में ही, ब्रिटेन दूसरे दर्जे का राष्ट्र बन कर रह गया है। इस गिरती प्रतिष्ठा को सुधारने के लिए और ब्रितानी अर्थव्यवस्था को जीवनदान देकर ऊपर उठाने के लिए आज ब्रिटेन को यूरोप में जाना पड़ रहा है।

इसके विपरीत जापान को लीजिए। जापान के पास आणविक अस्त्र नहीं है और उसका सैन्यीकरण भी गत कुछ वर्षों में ही शुरू हुआ है। इस पर भी दक्षिण-पूर्वी एशिया की स्थिति के सन्दर्भ में जापान की शक्ति को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। द पू एशिया में चीन की भूमिका के बारे में हम अक्सर चर्चा करते हैं, परन्तु यह सदा भूल जाते हैं कि द पू एशिया में जापान सबसे आगे है। सत्ता-केन्द्रों में वह कभी का स्थान पा चुका है इसलिए महाशक्ति होना और अणु-अस्त्रों का निर्माण करना दोनों एक दूसरे के पूरक नहीं माने जा सकते। इसका अर्थ यह नहीं कि अणु-अस्त्रों का निर्माण न किया जाए या कि जापान भविष्य में उनका निर्माण करेगा ही नहीं। तात्पर्य यह है कि अगर कोई राष्ट्र महाशक्ति है तो अणु-अस्त्रों का निर्माण उसकी महत्ता को और बढ़ा सकता है; पर ऐसा नहीं कि अणु-अस्त्र बनाने वाले राष्ट्र स्वत. महाशक्ति बन जाते हैं। हाँ, बड़ी शक्तियों के पास अणु-अस्त्र हो सकते हैं। कल यदि हम अणु-अस्त्र तैयार कर ले तो हिन्दुस्तान एकदम महाशक्तियों में स्थान पाएगा, ऐसा नहीं है। सम्भावना यही है कि पहले बम-विस्फोट के बाद थोड़ा दबदबा बढ़ेगा पर जल्दी ही महानता का वह बुलबुला फूट भी जाएगा।

श्री देशपाण्डे के इस मूल्यांकन में हम इन शब्दों को जोड़ना चाहेंगे कि—"परन्तु यदि भारत अन्य क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय शक्ति के लिए आवश्यक तत्त्वों का प्रभूत विकास कर लेता है, सबल प्रतिरक्षात्मक शक्ति से सम्पन्न होने के साथ ही इतनी आक्रामक शक्ति भी जुटा लेता है कि दुनिया का कोई भी राष्ट्र भारत पर हमला करने के पूर्व उसी प्रकार सोचे जिस प्रकार अमेरिका रूस पर या रूस अमेरिका पर हमला करने से पहले सोचेगा, महान् आर्थिक और तकनीकी विकास द्वारा भारत की जनता सुखी और सम्पन्न बन जाती है, तो महानता का यह बुलबुला फूटेगा नहीं बल्कि चिरस्थायी होकर उसी प्रकार भारत के गौरव को पुनर्जीवित करेगा जिस

प्रकार कि अतीत मे भारत का गौरव था जबकि वह 'विश्व-गुरु' जैसी उपाधियों से विभूषित था।"

अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा आज और कल

जब शस्त्रों का ताण्डव नृत्य हो रहा है, राष्ट्रो के सैनिक शिविर नित नए अस्त्र-शस्त्रों से सजाए जा रहे हैं और फलस्वरूप विश्वयुद्ध के विस्फोट की आशंका से मानव-जाति त्रस्त है तो वर्तमान और भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न सर्वोपरि है। इस सम्बन्ध मे सोवियत सघ के प्रो डी प्रोएक्तोर ने अप्रेल, 1978 की सोवियत भूमि मे जो विवेचनात्मक प्रकाश डाला है वह पढने योग्य है—

"आधुनिक विश्व में जिसमे गहन सामाजिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, सभी राष्ट्रो के लिए सुरक्षा सुनिश्चित करने का एक मात्र रास्ता नमनीय ढग से वर्गीय, राष्ट्रीय और सामान्य मानवीय हितो को सम्बद्ध करने के बहुपक्षीय प्रयासो के जरिए है। वास्तविक व्यवहार मे साम्राज्यवादियो की वर्तमान नीतियाँ इन प्रयासो की सफलता की राह मे अनेकानेक बाधाएँ खडी कर रही हैं।

पश्चिमी देशो की वर्तमान वैदेशिक नीति अन्तर्विरोधो का जाल है जो स्वयं अपने मे अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के ध्येय के लिए कई कठिनाइयाँ और खतरे पैदा करता है।

नाभिकीय आत्म-विनाश को रोकने की सामान्य प्रवृत्ति और दानवीय युद्ध मशीन के कार्यकलाप मे जो स्वत: पुनरुत्पादन के अन्तर्निहित तर्क द्वारा गतिशील होकर विश्व को निरन्तर विनाश के कगार की ओर धकेलती रहती है, भारी अन्तर है और इसके कारण पूरी तरह स्पष्ट हैं। अन्तत: समाजवादी व्यवस्था के देशों के साथ शान्ति के लिए शक्ति सन्तुलन कायम रखने की घोषित नीति और सामूहिक सहार के नए से नए हथियारो का निर्माण कर स्थिरता के इस बहुप्रचारित कारक को उलटने के पश्चिम के प्रयासो के बीच स्पष्ट अन्तर्विरोध है।

यदि हम केवल कुछ ही सैनिक विपत्तियो का उल्लेख करें तो इस सदी के दौरान मानवजाति पर थोपे गए दो विश्व युद्ध और उसके बाद शीत-युद्ध, वियतनाम पर आक्रमण एव मध्यपूर्व का सकट आदि सभी ने एक ही बात सिद्ध की है, वह यह कि कमोवेश साम्राज्यवादी आक्रमणकारी जिन्होने युद्ध शुरू किए, अपने एक भी उद्देश्य को सिद्ध नही कर सके बल्कि उन्होने जो पाया वह उनकी इच्छा के बिल्कुल विपरीत था। विजयी महान् अक्तूबर समाजवादी शान्ति के बाद से साम्राज्यवादी आक्रमण के लिए सम्भावनाएँ लगातार घटती रही हैं।

अपने युग के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक सम्बन्धो के विकास की प्रमुख प्रवृत्तियों के विश्लेषण के आधार पर आगे बढते हुए समाजवादी देश यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा कायम रखने का मुख्य साधन भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले राज्यो का शान्तिपूर्ण सहजीवन है।

सोवियत सघ जिस शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की नीति का अनुसरण करता है, उसके अर्थ को विकृत करते हुए पूँजीवादी प्रचार निरन्तर 'सोवियत खतरे' की बात करता है, परन्तु सोवियत संघ के पास एक प्रमुख आधुनिक राज्य के नाते

उतनी ही सैनिक क्षमता है जो उनकी महत्ता के अनुरूप होनी चाहिए जिससे वे अपनी प्रतिरक्षा क्षमता को आवश्यक स्तर पर रख सकें। समाजवादी जगत् अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की सम्भावनाओं के प्रति आशावान है।

समाजवादी देशों का यह विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की नीति और शान्ति की समस्याओं के प्रति भिन्न व्यवस्थाओं वाले राज्यों के दृष्टिकोण में आज अधिक से अधिक समान आधार है। नीति के तत्त्वों को विकसित करते रहना आवश्यक है जो जनगण को एक दूसरे के निकटतर लाते हैं न कि उन्हें जो उनमें यह फूट डालते हैं।

जैसा कि यूरोपीय शान्ति और सुरक्षा सम्मेलन के अन्तिम दस्तावेज में सम के रूप में निर्धारित किया गया था, वार्ता को अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के आदर्श की सर्वाधिक पूर्ति की दिशा में सतत प्रगति के साथ शान्ति की दीर्घकालिक योजना पर केन्द्रित होना चाहिए। जहाँ तक यूरोप की परिस्थिति का सम्बन्ध है तो सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महासचिव, सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के अध्यक्ष मण्डल के अध्यक्ष लियोनिद् ब्रेझनेव ने अक्तूबर 1977 में भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई की सोवियत संघ की यात्रा के दौरान ठोस कार्यवाहियों का जो कार्यक्रम अमल में लाने के लिए प्रस्तुत किया था, वह राजनीतिक तनाव-शैथिल्य की दशा में एक बड़ा कदम हो सकता है। इस कार्यक्रम में हेलसिंकी सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी राज्यों के लिए खास तौर से एक ऐसी सन्धि सम्पन्न करने की बात शामिल है जिसके अनुसार वे एक-दूसरे के विरुद्ध सबसे पहले नाभिकीय शस्त्रों का उपयोग नहीं करेंगे और कम से कम ऐसा समझौता करेंगे कि वे सैनिक राजनीतिक दलबन्दी और गठबन्धन का विस्तार नहीं करेंगे और पारस्परिक विश्वास निर्मित करने के लिए कदम उठाएँगे। लियोनिद ब्रेझनेव ने क्रेमलिन में अक्तूबर क्रान्ति की 60वीं जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित समारोह में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में जो सुझाव दिए थे, उनकी पूर्ति में हथियारों की होड़ सीमित करने की दिशा में एक विराट कदम उठाया जा सकता है।

समाजवादी देशों द्वारा अनुसारित शान्ति की सुसंगत नीति, पश्चिमी सरकारों की वैदेशिक नीति की दिशा के यथार्थपरक पक्ष, गुट-निरपेक्ष देशों का बढ़ता हुआ प्रभाव और प्रगतिशील जनता की शक्तिशाली आवाज—ये सभी महत्त्वपूर्ण कारक हैं तथा शान्ति की दिशा में ऐतिहासिक प्रक्रिया के विकास को सतत रूप से प्रभावित करने में समर्थ हैं, जिसकी आवश्यकता समस्त जनगण को है। शान्तिपूर्ण सहजीवन की नीति व्यवहार में इसी प्रकार अमल में लाई जा रही है।

जनविनाशकारी शस्त्रों की नई किस्मों और ऐसे शस्त्रों की नई प्रणालियों के विकास का परित्याग, नाभिकीय शस्त्रों की होड़ सीमित करने और समाप्त करने, सशस्त्र सेनाओं और परम्परागत हथियारों में कटौती करने जैसे कदमों के परिणाम अन्ततः नाभिकीय शस्त्रों का भण्डार घटाना तथा उनकी राजनीतिक और सैनिक रणनीतिक भूमिका को खत्म करना होना है। विश्व के कुछ भागों में और उसके बाद

विश्वव्यापी पैमाने पर सैनिक तनाव-शैथिल्य सुनिश्चित करने वाले कदम अधिक विस्तृत, स्थायी और संकेन्द्रित हो सकते हैं और बहुपक्षीय आधार पर एवं विभिन्न स्तरों पर अमल में लाए जा सकते हैं। यह अधिकाधिक दृढ़तर अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा में योगदान होगा।"

परमाणु अस्त्रों के विरोध में शान्ति का यूरोपीय मोर्चा

परमाणु अस्त्रों के विरोध में यूरोपीय देशों की कई राजधानियों में अक्तूबर-नवम्बर 1981 में परमाणु अस्त्रों के विरोध में पश्चिमी देशों के समाचार-पत्रों में एक ओर जहाँ प्रसन्नता व्यक्त की गई वहाँ दूसरी ओर इन प्रदर्शनों को यूरोपीय शान्तिवादियों की विजय बताया गया। प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाचार-पत्र 'लमोंद' ने अपने सम्पादकीय में इन प्रदर्शनों को अभूतपूर्व बताया। पत्र के विचारों में—

"अक्तूबर के अन्तिम दिनों में अनेक यूरोपीय देशों की राजधानियों में परमाणु अस्त्र-विरोधी प्रदर्शनों को इसलिए सफल कहा जाएगा कि इनमें भाग लेने वालों की संख्या लाखों में रही, स्वीडन को छोड़कर पेरिस, लन्दन, ब्रूसेल्स और रोम में प्रदर्शकारियों की संख्या अपेक्षाकृत कम रही। बेल्जियम में तो प्रदर्शन काफी आश्चर्यजनक रहा लेकिन इटली में तो कमाल ही हो गया। कम्युनिस्टों की पार्टी के आह्वान पर कोई तीन लाख से अधिक लोग प्रदर्शनों में भाग लेने के लिए एकत्र हो गए थे हालाँकि इटली में कम्युनिस्ट पार्टी का अधिक प्रभाव नहीं है। फ्रांस में परमाणु अस्त्र विरोध को देखते हुए प्रदर्शनकारियों की संख्या कम मानी जाएगी। फ्रांस की सभी प्रमुख राजनीतिक पार्टियों ने इन प्रदर्शनों का आयोजन किया था। आज वहाँ की समाजवादी सरकार भी अस्त्र संग्रह के विरुद्ध है लेकिन फ्रांस के प्रधान मन्त्री यह भी कह चुके हैं कि किसी एक देश के एकतरफा निरस्त्रीकरण से कुछ नहीं हो सकता। फ्रांस के शान्ति आन्दोलन पर कम्युनिस्टों का काफी प्रभाव है। परमाणु अस्त्र-विरोधी नारों में सोवियत समर्थन की कुछ झलक मिल रही थी।

फिर भी परमाणु अस्त्रों का विरोध करने के लिए लाखों की संख्या में लोगों का पेरिस में उमड़ आना कोई साधारण बात नहीं है। कुल मिलाकर इन प्रदर्शनों से यही सिद्ध होता है कि सन् 1950 के दशक में परमाणु बनाने पर रोक लगाने का जो अभियान चला था ठीक वैसी ही लहर आज यूरोपीय देशों में दिखाई पड़ रही है। नि.सन्देह सन् 1960 के दशक में शान्ति आन्दोलन एक नए रूप में सामने आया। जब से युद्ध न करने के लिए किसी एक या दूसरे पक्ष पर केवल दबाव डालने का आन्दोलन नहीं है। आज विश्व की दोनों शक्तियों की संहार-क्षमता सीमा पर पहुँच चुकी है। इनमें कौन बड़ी शक्ति कब क्या कर दे इसका कोई भरोसा नहीं है, प्रश्न यह है कि क्या यह सारा मामला शान्तिपूर्ण बातचीत से तय किया जा सकता है? शान्तिवादियों का यूरोपीय देशों की सरकारों से यही अनुरोध रहा है कि वे समझदारी से काम लेकर बातचीत द्वारा सब मामला तय कर लें। पश्चिम यूरोपीय देशों में शान्ति आन्दोलनों से ही काम नहीं चलेगा। पूर्व-यूरोपीय देशों में भी इस प्रकार के आन्दोलन की आवश्यकता है जहाँ उस क्षेत्र की एक महान् शक्ति के पास कम संहार क्षमता नहीं है।"

अमेरिकी दैनिक वाशिंगटन पोस्ट ने भी इन प्रदर्शनों पर टिप्पणी की। इस पत्र का विचार है कि लाखों लोगों के इन प्रदर्शनों में भाग लेने से स्पष्ट होता है कि बड़े देशों को अपनी सामरिक नीतियों में परिवर्तन करना चाहिए—

"पश्चिमी यूरोप के चार बड़े देशों की राजधानियों में परमाणु शस्त्रों के खिलाफ अभी कुछ दिन पहले प्रदर्शन हुए। इनमें पश्चिमी जर्मनी का प्रदर्शन सबसे बड़ा था। इन प्रदर्शनों से सोवियत संघ की अपेक्षा अमेरिका को कहीं अधिक सबक सीखना चाहिए। लन्दन, रोम, पेरिस और ब्रूसेल्स के प्रदर्शनों से पता चलता है कि परमाणु अस्त्रों के विरुद्ध आन्दोलन अब परम्परागत नहीं है, यह वामपंथी राजनीति का एक हिस्सा बन चुका है। अमेरिका की अस्त्र-कूटनीति इसकी ओर से उदासीन रही है। अमेरिका और उसके यूरोपीय सहयोगियों में परमाणु अस्त्र क्षेत्र में कोई बराबरी नहीं है। सामरिक महत्त्व के अस्त्रों पर तो अमेरिका और सोवियत संघ की ही आमने-सामने बात होती है, लेकिन फिर भी आज यूरोपीय देश यह अच्छी तरह महसूस कर रहे हैं कि परमाणु अस्त्र अमेरिका और सोवियत संघ के लिए ही नहीं बल्कि उनके लिए भी खतरनाक हैं। रीगन प्रशासन उस समय पश्चिमी यूरोप की कठिनाइयों को अनदेखी करके सोवियत संघ से आक्रामक भाषा में बात कर रहा है जिसका मतलब यह है कि अस्त्र-शस्त्रों के बारे में अमेरिकी नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। भले ही अमेरिका सन्तुलन बनाए रखने के लिए परमाणु अस्त्रों का निर्माण कर रहा हो, लेकिन परमाणु अस्त्र-विरोधी हाल ही के इन प्रदर्शनों के पीछे और भी गहरी बात है। प्रदर्शनकारियों का विचार है कि परमाणु अस्त्रों के निर्माण से सहयोगी यूरोपीय देश अपनी प्रभुसत्ता खोते जा रहे हैं। ये प्रदर्शन किसी भी देश की रक्षा नीति पर बढ़ते हुए खर्च के विरुद्ध एक जबरदस्त चेतावनी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि रक्षा पर इतने बड़े खर्च के लिए यूरोपीय जनता किसी भी दृष्टि से सहमत नहीं हो सकती।"

युद्ध की विभीषिका से आशंकित यूरोपीय जनमत और सरकारों पर दबाव

यूरोपीय देशों की राजधानियों में परमाणु शस्त्र के विरोध में होने वाले प्रदर्शनों में लोगों का बड़ी संख्या में शामिल होना यह साबित करता है कि अणु युद्ध के खतरों के प्रति यूरोपवासी सजग हो गए हैं। यूरोपीय देशों में इस प्रकार के प्रदर्शन अपना सानी नहीं रखते। लन्दन, रोम और ब्रूसेल्स में पाँच लाख से भी अधिक लोगों के जुलूस की एक ही माँग थी, "हमें विध्वंस की ओर न ले जाओ। पश्चिमी यूरोप में परमाणु अस्त्रों का प्रसार रोको।" इससे एक सप्ताह पहले ढाई लाख लोगों का ऐसा ही एक जुलूस बोन में दिखाई पड़ा, जिसमें शामिल होने वालों ने भी यूरोप को परमाणु-शस्त्र का भण्डार बनाने के विरुद्ध आवाज उठाई। प्रदर्शनों में शामिल होने वालों की इतनी बड़ी भीड़ 1960 के बाद पहली बार दिखाई दी, जब वियतनाम युद्ध के विरुद्ध आवाज उठाई गई थी। इस बार तो ऐसे लोग भी निःशस्त्रीकरण को बल देने के लिए घर से निकल पड़े थे जिन्होंने गत 30 वर्षों में किसी प्रदर्शन में भाग लेने के लिए घर से बाहर कदम नहीं रखा था।

अचानक ही परमाणु अस्त्र विरोधी भावना के उफान के पीछे जो कारण हैं उनको कई नजरों से देखा जा रहा है। इस मुद्दे पर वामपक्षीय तर्क काफी लोकप्रिय हुए हैं। विश्व शान्ति परिषद् को अपने प्रचार का माध्यम बना कर रूस इन भावनाओं को तूल देने में काफी सफल हुआ है, ऐसा दक्षिणपंथियों का सोचना स्वाभाविक ही है। बहरहाल इसमें कोई शक नहीं कि आम जनता युद्ध से इतनी भयभीत है कि वह किसी भी कीमत पर लड़ाई का सामना नहीं करना चाहती। आतंकित जनसाधारण को कुछ हद तक धर्म से भी बल मिला है, कि वह अपनी भावना को नीति निर्धारकों तक पहुँचा सके, चर्च के विचारों में जो परिवर्तन आया है उसमें परमाणु युद्ध को कहीं भी शह नहीं दी गई है।

चर्च की नई चिन्तनधारा से सबसे अधिक प्रभावित देश हालैण्ड है। वहाँ के अधिकांश गिरजों की प्रतिनिधि संस्था 'इन्टर चर्च पीस कौंसिल' के 20,000 सक्रिय सदस्य हैं, जो घर-घर जाकर निःशस्त्रीकरण का सन्देश फैलाते हैं। 1980 में एक धार्मिक सम्मेलन के दौरान हालैण्ड के धर्मगुरुओं ने वहाँ पर एकत्रित भीड़ को कहा था कि वे तहस-नहस करने के लिए परमाणु अस्त्र-शस्त्रों को साधन बनाए जाने का बहिष्कार करें। इन्हें कैथोलिक शान्ति आन्दोलन का भी पूरा समर्थन मिला, जिसका अनुदारवादी मत पर बहुत प्रभाव है।

बान, पश्चिम जर्मनी में विरोध प्रदर्शन का आयोजन दो प्रोटेस्टेंट चर्च की संस्थाओं ने किया। ब्रूसेल्स के प्रदर्शन के बहुत से पादरियों, ईसाई संन्यासिनियों और ईसाई मजदूर संस्थाओं के सदस्यों ने भाग लिया। कुल मिलाकर परमाणु विरोधी आन्दोलन में प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक चर्च के मुकाबले अधिक सक्रिय रहा। जर्मनी के उत्तर में, प्रोटेस्टेंट-बहुल इलाका है, परमाणु विरोधी स्वर, दक्षिणी इलाकों की तुलना में अधिक मुखर था। फ्रांस और इटली जैसे देशों में, जहाँ कैथोलिक धर्मावलम्बी संख्या में अधिक हैं, परमाणु शस्त्रों का विरोध अधिक देखने को नहीं मिलता।

धर्म के अलावा और राजनीतिक विचार भी जनभावना को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं। ब्रूसेल्स के प्रदर्शन में दो तिहाई संख्या ऐसे लोगों की थी जो फ्लेमिश (डच) भाषा बोलते हैं। बाकी एक तिहाई वेलून (फ्रांसीसी) भाषा बोलने वाले थे, हालांकि दोनों भाषा बोलने वाले लोग कैथोलिक मतावलम्बी ही हैं। मजे की बात यह है कि फ्रांस और इटली में बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियों ने परमाणु शस्त्रों के विरोधियों की संख्या कम कर दी है। साम्यवादी मास्को से अपने सम्पर्क सूत्रों के बारे में बहुत सचेत हैं, इसलिए वे खुले तौर पर अपने देश की सुरक्षा व्यवस्था की आलोचना करने से घबराते हैं।

हाल ही में कई देशों में परमाणु शस्त्रों के बारे में जो जनमत संग्रह हुए उसमें पता चलता है कि पिछले कुछ वर्षों में जनसाधारण की सोच में कितना बड़ा अन्तर आया है। नैटो जिन पाँच देशों में पर्शिंग-2 प्रक्षेपणास्त्र स्थापित करना चाहता है, वहाँ के अधिकांश लोग तो प्रक्षेपणास्त्र के खिलाफ हैं या उनकी जरूरत के बारे में मन में सन्देह पालते हैं। यद्यपि कम ही लोग यह चाहते हैं कि उनका देश

नैटो से अलग हो जाए या तटस्थ रहे लेकिन साथ ही अधिकांश यही चाहते हैं कि सुरक्षा पर खर्च और न बढाया जाए। नैटो के नीति निर्धारकों के लिए यह एक चिन्ताजनक बात है कि वे जिन देशों—ब्रिटेन, इटली, पश्चिम जर्मनी, हालैण्ड और बेल्जियम को प्रक्षेपणास्त्रों का गढ बनाना चाहता है उन्हीं देशों के लोग उनकी नीति को चुनौती दे रहे हैं।

ब्रिटेन के 50 प्रतिशत लोग प्रक्षेपणास्त्रों के खिलाफ हैं, जबकि 41 प्रतिशत इन्हें चाहते हैं। यही सस्याएँ सितम्बर में क्रमश 43 प्रतिशत और 49 प्रतिशत थी। बेल्जियम में इसी महीने जो जनमत सग्रह हुआ उससे पता चला है कि 66 प्रतिशत लोग प्रक्षेपणास्त्र नहीं चाहते, केवल 19 प्रतिशत इन शस्त्रों का समर्थन करते हैं, जबकि केवल एक वर्ष पहले ये सस्याएँ क्रमशः 42 प्रतिशत और 26 प्रतिशत थी। हालैण्ड में 68 प्रतिशत विरोधी और 28 प्रतिशत समर्थक हैं, जबकि गत पतझड में ये संस्याएँ क्रमश. 53 प्रतिशत और 39 प्रतिशत थीं। इटली में प्रक्षेपणास्त्रों के विरोधियों की सख्या कम नजर आती है, लेकिन वहाँ के जनमत सग्रह से प्राप्त विश्वसनीय तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। पश्चिम जर्मनी में जनमत संग्रह से प्राप्त तथ्य कुछ उलझे हुए हैं। मार्च में किए गए सर्वेक्षण में प्राप्त नतीजों में प्रक्षेपणास्त्रों के 39 प्रतिशत विरोधी और 39 प्रतिशत समर्थक दिखाई पडते है, लेकिन जब नैटो की बातचीत और प्रक्षेपणास्त्रों के सवार के निर्णय का प्रश्न आया तो 53 प्रतिशत लोग नैटो के समर्थक दिखाई पड़े। वैसे इसमें कोई शक नहीं कि जर्मनी की युवा पीढी परमाणु शस्त्रों के घोर विरोधी हैं। एक सर्वेक्षण से पता चला कि 20 वर्ष से कम उम्र वाले 70 प्रतिशत नए प्रक्षेपणास्त्रों के खिलाफ है।

ब्रितानी लोग, अन्य यूरोपीय देशों के लोगों की तुलना में, अमेरिका से अधिक हमदर्दी रखते हैं। युवा पीढी के भी दो तिहाई सदस्यों का यही विचार है कि ब्रिटेन को तटस्थ न बनकर नैटो मे रहना चाहिए, लेकिन एक पक्षीय परमाणु नि.शस्त्रीकरण के समर्थकों की सख्या बढ रही है। फ्रांस के पास अपने परमाणु शस्त्र हैं और वहाँ एकपक्षीय नि शस्त्रीकरण के समर्थकों की सख्या बहुत कम है। जनमत सग्रह से पता चलता है कि अधिकांश फ्रांसीसी लोग, स्वतन्त्र रूप से परमाणु जगत् में बने रहना है, फिर भी राष्ट्रपति मित्तराँ की रूस विरोधी नीति के बावजूद आम जनता तटस्थ रहने में आस्था रखती है। नैटो के सैनिक गठबन्धन में दोबारा फँसने के प्रति किसी का उत्साह नहीं है। 1980 के सर्वेक्षण से पता चलता है कि यदि रूस और अमेरिका में युद्ध छिडा तो फ्रांस के अधिकांश लोग उससे अलग ही रहना चाहेंगे। पेरिस में हुए प्रदर्शन में भाग लेने वालों की माँग थी कि परमाणु बमों पर रोक लगा दी जाए और सुरक्षा के लिए लगाए जाने वाले धन का रुख मोड कर उसे तीसरी दुनिया की मदद के लिए खर्च किया जाए।

पश्चिम जर्मनी के लोग तो अब अपने देश की सुरक्षा के लिए भी लडने को तैयार नहीं है और वे यह भी नहीं चाहते कि उनके लिए परमाणु शस्त्रों का इस्तेमाल किया जाए। मई में किए गए जनमत संग्रह से पता चलता है कि बहुत से लोग युद्ध

से बचने लिए अपने देश मे साम्यवादी सरकार को भी स्वीकार करने के लिए तैयार हैं।

हालैण्ड और बेल्जियम के लोगो का परमाणु शस्त्रों के प्रति घोर विरोध देखते हुए इन देशो की सरकारें अपने देशो मे प्रक्षेपणास्त्रों की स्थापना के फैसले को स्थगित करने पर मजबूर हो गई। नार्वे और डेनमार्क को परमाणु मुक्त इलाका बनाने की मांग भी बढ़ती जा रही है। इन दोनो देशो ने शान्ति के दौरान अपनी जमीन पर परमाणु शस्त्र लाने से इन्कार कर दिया है और अब यह सोचा जा रहा है कि युद्ध की स्थिति मे भी उनका इस्तेमाल न किया जाए।

यह बताना अभी सम्भव नहीं है कि यूरोप मे परमाणु विरोधी आन्दोलन कितना फैलेगा, लेकिन इसकी गति निश्चित ही बढ रही है, इसमे कोई शक नही। पश्चिम जर्मनी में आने वाले अप्रेल में एक बडे प्रदर्शन की योजना बनाई गई है। जब वहां सोशल डेमोक्रेटो का सम्मेलन होगा। इस बीच परमाणु विरोधी शान्तिपूर्ण अवज्ञा की तैयारी में लगे हुए हैं और आशा करते हैं कि वे शस्त्र बनाने वाले श्रमिकों को इस बात के लिए राजी कर पाएँगे कि वे परमाणु शस्त्र बनाने के औजारो को हाथ न लगाएँ।



20 गुट-निरपेक्षता और बदलते प्रतिमान
(Non-Alignment and Changing Patterns)

"यदि हम अपने आपको किसी एक गुट के साथ जोड़ लेते हैं तो एक प्रकार से शायद यह अच्छा कदम सिद्ध होगा। लेकिन हमें ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण दुनिया को इससे लाभ की अपेक्षा हानि हो होगी। इससे हम दुनिया में अपने प्रभाव का उपयोग नहीं कर सकेंगे।" —जवाहरलाल नेहरू

गुट-निरपेक्षता अथवा असंलग्नता की नीति को सबसे पहले व्यावहारिक रूप देने का श्रेय भारत को है। इसे स्वतन्त्र भारत ने अपनी विदेश-नीति का आधार-स्तम्भ बनाया और भीषण बाधाओं के बावजूद इस नीति को आगे बढ़ाया। धीरे-धीरे गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने वाले देशों की संख्या बढ़ती गई। 1961 में बेलग्रेड के गुट-निरपेक्ष देशों के प्रथम शिखर-सम्मेलन में केवल 25 देश सम्मिलित हुए जबकि 1979 के हवाना शिखर सम्मेलन में सदस्य संख्या 94 हो गई। वर्तमान प्रवृत्ति यह है कि जो भी राष्ट्र गुलामी की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रों के रूप में उदित हो रहे हैं वे अधिकांशतः गुट-निरपेक्ष नीति को ही अपनाना अधिक अच्छा समझते हैं। कम्बोडिया वियतनाम तक ने गुट-निरपेक्षता की नीति को स्वीकार किया है। भारत विश्व के सभी गुट-निरपेक्ष देशों की 'आशा' है और विश्व-मंच पर भारत की आवाज का आज पहले से अधिक महत्त्व है। महाशक्तियाँ चाहे गुट-निरपेक्षता की नीति में हृदय से विश्वास न करती हों, लेकिन प्रकट रूप में इस नीति के प्रति वे सम्मान प्रदर्शित करती हैं। साम्यवादी चीन, जो विस्तारवादी और सैनिकवादी नीति का अनुसरण कर रहा है, स्वयं को गुट-निरपेक्ष कहलाना ही अधिक पसन्द करता है। पाकिस्तान जैसे देश के लिए गुट-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग कोई अर्थ नहीं रखता, फिर भी मजे की बात यह है कि गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलन में प्रवेश का प्रयत्न करता रहता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुट-निरपेक्षता की नीति आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में स्थायी रूप धारण कर चुकी है और एक 'वास्तविकता' बन गई है।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ और उसके तत्त्व

गुट-निरपेक्षता का सरल अर्थ है विभिन्न शक्ति-गुटों से तटस्थ या अलग रहते हुए अपनी स्वतन्त्र निर्णय-नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार न्याय का समर्थन

देना । इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे 'तटस्थता' (Neutrality) नही है । गुट-निरपेक्ष देश विश्व की घटनाओं के प्रति उदासीन नही रहते, बल्कि एक ऐसी स्पष्ट और रचनात्मक नीति अपनाते हैं जो विश्व-शान्ति कायम रखने मे सहायक हो। भारत सरकार के एक प्रकाशन के अनुसार—"गुट-निरपेक्षता का अर्थ है अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति । गुटो से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है । एक गुट के साथ मिलकर उचित-अनुचित का विचार किए बिना आँख मूंदकर पीछे-पीछे चलना गुट-निरपेक्षता नही है ।" 'तटस्थता' और 'गुट-निरपेक्षता' पर्यायवाची शब्द नही हैं । इनमे यह समानता तो है कि दोनों के अन्तर्गत शीतयुद्ध के समय संघर्ष से अलग रहा जाता है, लेकिन आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ वास्तविक युद्ध छिड़ने पर एक तटस्थ राष्ट्र युद्ध से अलग रहता है, वहाँ गुट-निरपेक्ष देश युद्ध मे किसी भी पक्ष की ओर से उलझ सकता है । न्याय का समर्थन करते हुए उसकी विदेश-नीति सकारात्मक रूप में संचालित होती है। स्विट्जरलैण्ड एक 'तटस्थ' देश है जबकि भारत एक 'गुट-निरपेक्ष' देश है । गुट-निरपेक्षता के अग्रदूत प. नेहरू ने कहा था—"मैं 'तटस्थ' शब्द का प्रयोग नही करता, क्योंकि उसका प्रयोग सामान्य रूप से युद्धकाल मे होता है । शान्ति-काल मे भी इससे एक प्रकार के युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है ।" जॉर्ज लिस्का ने लिखा है कि—"किसी विवाद के सन्दर्भ मे यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत है किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है, किन्तु असलग्नता या गुट-निरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत मे भेद कर सदैव सही नीति का समर्थन करना ।"[1]

गुट-निरपेक्षता कोई निष्क्रिय सिद्धान्त नही है । यह एक सक्रिय और स्वतन्त्र सिद्धान्त है । यह नीति चुप्पी लगाकर बैठ जाने की या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से सन्यास लेने की नही है, बल्कि इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे न्यायपूर्ण ढग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है । गुट-निरपेक्षता का स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी मे सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बँधना, हर प्रकार की आक्रामक सन्धि से दूर रहना, शीतयुद्ध से पृथक् रहना, राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष मे अपनी विदेश-नीति का सचालन करना । सन् 1961 मे गुट-निरपेक्षता के तीन कर्णधारों-नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके पाँच आधार अथवा तत्त्व स्वीकार किए थे—

(1) सदस्य-देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो;
(2) सदस्य-देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो;
(3) सदस्य-देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो;
(4) सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो; एव

1 M. C. Chagla : Quoted from "An Ambassador Speaks," p. 3.

(5) सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की इजाजत न दी हो।

गुट-निरपेक्षता की जो बुनियाद भारत ने सन् 1946-47 में रखी वह समय के साथ और भी अधिक मजबूत बन चुकी है। प. नेहरू के ये शब्द आज भी इस नीति के सन्दर्भ में सजीव हैं—

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होना हो वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।"

पाकिस्तान ने अत्याचारों से छुटकारा दिलाकर बंगलादेश के उदय में भारत ने जो ऐतिहासिक भूमिका निभाई वह प. नेहरू के उपर्युक्त शब्दों की पुष्टि कर देती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गुट-निरपेक्षता का अर्थ 'थोथा शान्तिवाद' नहीं है। यह निर्भयता और साहस की नीति है, कायरता की नहीं। गुट-निरपेक्षता की नीति राष्ट्रीय सम्मान की प्रतीक है—यह अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखती बल्कि दोनों पक्षों की स्थिति को समझकर उचित पक्ष के समर्थन को तत्पर रहती है। गुट-निरपेक्ष नीति में आस्था रखने वाले देश सैनिक सन्धियों का विरोध करते हैं और मानते हैं कि इस प्रकार की सन्धियाँ सहयोग का नहीं वरन् विरोध का परिणाम होती है जिन्हें तोड़ने का एकमात्र उपाय युद्ध अथवा पारस्परिक घोर वैमनस्य है।

गुट-निरपेक्षता और तटस्थता
(Non-alignment and Neutrality)

प्राय गुट-निरपेक्षता को तटस्थता से विभूषित किया जाता है जबकि दोनों एक नहीं हैं। तटस्थता में जहाँ नकारात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और यह केवल एक वास्तविक युद्ध की अवधि तक सीमित है, वहाँ गुट-निरपेक्षता का विचार सक्रिय, सकारात्मक और निश्चित है। दोनों सिद्धान्तों में कोई जन्मजात समानता नहीं है—जब इनका प्रयोग शीतयुद्ध के सम्बन्ध में हो। तटस्थता का परिवर्तनशील सिद्धान्त गुट-निरपेक्षता के विचार को शीतयुद्ध या परमाणु शान्ति की अवधि में ही अपने अन्तर्गत समाहित किए हुए है। प. नेहरू ने स्वयं यह स्वीकार किया था—"अगर आप आज के युग को शीतयुद्ध से व्याप्त मानते हैं तो हम निश्चित रूप से तटस्थ है।"[1]

संयुक्त अरब गणराज्य में, गुट-निरपेक्षता एक सकारात्मक तटस्थता है। पश्चिमी कूटनीतिक क्षेत्रों में तटस्थता के जो सामान्य अर्थ हैं उसे अफ्रीका व एशिया के निवासी अधिकांशतः नकारात्मक मानते हैं। स्वर्गीय नासिर ने कहा था—"मैं सोचता हूँ कि तटस्थता का प्रयोग गलत है। एक अच्छा शब्द गुट-निरपेक्षता है। तटस्थता शब्द का निर्माण केवल युद्ध के समय के लिए हुआ है। हम नैतिक रूप से

1 *Nehru* : India's Foreign Policy, p. 58.

तटस्थ नही हैं लेकिन हम गुट-निरपेक्ष हैं इसलिए हम प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का न्याय उसके गुणों के आधार पर करते हैं, न कि गुटवाद के आधार पर। यदि अमेरिका गुट-निरपेक्ष होता तो आप भी अल्जीरियन समस्या पर एक साहसी मत प्रकट कर सकते थे, लेकिन क्योंकि आप फ्रांस के मित्र हैं आप अल्जीरिया के राष्ट्रवाद का समर्थन नही कर सकते।"

तटस्थता और गुट-निरपेक्षता के मध्य एक निकट और समानान्तर तुलना करने पर निम्नलिखित अन्तर सम्मुख आते है—

1 तटस्थता दो आक्रामकों और उनके मध्य के संघर्ष के प्रति उदासीनता के दृष्टिकोण का दावा करती है। गुट-निरपेक्षता ऐसा कुछ नही करती। इसके विपरीत, यह प्रत्येक समस्या की उसके गुण के आधार पर न्याय करती है और अपने स्वतन्त्र मत की घोषणा करती है। यह एक कल्याणकारी और समाजवादी प्रकृति के राज्य मे सामाजिक न्याय का स्वागत करती है और उसी समय व्यक्तिगत पूंजीवाद साहस के माध्यम से औद्योगीकरण को भी प्रोत्साहन देती है।

2 तटस्थता का तात्पर्य एकाकीपन की अवस्था है जबकि गुट-निरपेक्षता अफ्रीका-एशिया की जनता को अपना भविष्य निर्माण करने मे सहायता देती है। न तो यह स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन की स्थायी तटस्थता है और न अमेरिका का विध्यात्मक एकाकीपन ही।

3 गुट-निरपेक्षता तटस्थता नही है क्योंकि वह अपने दृष्टिकोण और विचारो मे विध्यात्मक है। गुट-निरपेक्षता का आशय अन्तर्ग्रस्त होने से मुक्तता नही है वरन् यह अन्तर्ग्रस्तता की अपरिहार्यता से उत्पन्न होती है।

4 स्विस सरकार के विपरीत गुट-निरपेक्ष राष्ट्र बिना गुट का निर्माण किए हुए विश्व समस्याओं पर सहयोग करते है (उदाहरण के लिए कांगो, स्वेज, क्यूबा संकट आदि)।

स्पष्ट है कि गुट-निरपेक्षता की नीति का उद्देश्य युद्ध के सम्बन्ध मे एक तटस्थ स्थिति की खोज करना नही है। इसका अर्थ स्वतन्त्रता, स्थायी शान्ति और सामाजिक न्याय के लिए निरन्तर सक्रिय कार्य करना है। प्रो. पीटर के अनुसार, शीतयुद्ध मे संयुक्त राज्य और सोवियत संघ द्वारा प्रेरित शक्तियो के मध्य चल रही राजनीतिक या कूटनीतिक प्रतिद्वन्द्विता मे किसी भी पक्ष का समर्थन करने से इन्कार करना ही तटस्थता है। दूसरी ओर गुट-निरपेक्षता का अभिप्राय है बिना किसी के साथ पूरी तरह बँधे हुए अपनी स्वतन्त्र नीति का पालन किया जाए।[1]

गुट-निरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले कारक
(Factors Promoting Non-alignment)

गुट-निरपेक्षता के विकास मे अनेक तत्त्वो ने योग दिया है। इसके विकास के सन्दर्भ मे सर्वप्रथम हमे यह देखना चाहिए कि कोई देश अपनी स्वतन्त्रता को दाव

1 दिनेशचन्द्र पाण्डे : द्वि-ध्रुवीयता मे गुट-निरपेक्षता, पृष्ठ 10

पर लगाकर भी सैनिक सन्धियों में सम्मिलित क्यों होना चाहता है और गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए कौनसी प्रेरणाएँ काम करती है।

सैनिक सन्धियों में आबद्ध होने के कारण

आखिर सैनिक सन्धियों के प्रति आकर्षण क्यों है ? यथार्थ में कोई भी राष्ट्र अपनी स्वेच्छा से उन सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करना चाहता जो सैनिक सन्धियों से आबद्ध होने पर उन पर लग जाते है। प्रत्येक सन्धिबद्ध देश प्रायः यही सोचता है कि वर्तमान परिस्थितियों मे सन्धिबद्ध होने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। कई बार बड़ी शक्तियाँ सैनिक शक्ति के प्रयोग की धमकी देकर कमजोर राष्ट्रों को सन्धिबद्ध होने के लिए मजबूर करती है। जर्मनी, कोरिया, वियतनाम की स्थिति से विदित होता है कि इन देशों के जब एक भाग का समर्थन पश्चिमी शक्तियों ने आरम्भ किया तो स्वभावतः दूसरा भाग साम्यवाद की ओर झुका। इन देशों के दोनों भागों ने परिस्थितियों के दबाव मे आकर महाशक्तियों के साथ सैनिक सन्धि में बँध जाना उचित समझा। ध्यान रहे कि बाध्यकारी रूप से किसी भी देश को सदैव सन्धिबद्ध नहीं रखा जा सकता। यदि किसी देश के साथ सन्धि को दीर्घायु बनाना है तो आवश्यक है कि उस देश मे ऐसी संस्थाओं और सरकार की स्थापना हो जो सन्धि-युक्त नीति का समर्थन करे। द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत संघ के पूर्वी यूरोप में हस्तक्षेप का और पश्चिमी शक्तियों के यूनान, इटली एवं मध्यपूर्व तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया मे हस्तक्षेप का कारण इन प्रदेशों मे ऐसी सरकारें कायम करना था जो सम्बन्धित महाशक्ति के साथ सन्धिबद्ध रह सकें। कोई भी देश बड़ी शक्तियों के साथ जिन कारणों से सन्धिबद्ध होता है, उनमे कुछ प्रमुख ये हैं—

1. जिस देश से आक्रमण की आशंका होती है उसके विरुद्ध दूसरी शक्ति के साथ सन्धिबद्ध हो जाना उचित समझा जाता है। आक्रमण की समस्याएँ तब अधिक स्पष्ट हो जाती हैं जब दो राष्ट्र परस्पर राजनीतिक संघर्ष मे उलझ जाते हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1950 मे थाईलैण्ड, दक्षिण-वियतनाम आदि राज्यों को विश्वास था कि यदि घेराबन्दी न की गई तो चीन के आक्रमण लगातार होते रहेंगे; दूसरी ओर चीन यह सोच रहा था कि यदि किसी उपनिवेशवादी सरकार को थोड़ा बहुत भी स्थानीय समर्थन मिला तो विदेशी सहायता प्राप्त कर वह चीन के लिए एक चुनौती बन जाएगी।

2. शीतयुद्ध के फलस्वरूप भी देश प्रायः महाशक्ति के साथ सैनिक रूप मे सन्धिबद्ध हो जाते हैं ताकि संकट के समय उन्हें सहायता प्राप्त हो सके। आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड आदि देश साम्यवाद के विरुद्ध अमेरिका के साथ सन्धिबद्ध है, यद्यपि इनमे से कोई आन्तरिक रूप से साम्यवादी समस्या से ग्रस्त नहीं हैं और न ही उनके सामने कोई अन्तर्देशीय अथवा विदेशी साम्यवाद की चुनौती है। शीतयुद्ध की सन्धियों का एक ज्वलन्त उदाहरण पाकिस्तान है। विचित्र विडम्बना है कि पाकिस्तान मे वे स्थितियाँ पाई जाती है जो गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने के लिए सहायक हैं, फिर भी पाकिस्तान सैनिक गुटबन्दी का मार्ग अपनाए हुए है।

3. आन्तरिक राजनीतिक अस्थिरता भी किसी देश को सैनिक-सन्धियों में आबद्ध होने के लिए विवश करती है। उदाहरणार्थ, युद्ध के तुरन्त बाद फिलिपाइन और मलाया की आन्तरिक अवस्था ने इन देशों को सैनिक सन्धि मे शामिल होने के लिए प्रेरित किया है।

4 सैनिक सन्धि मे आबद्ध होने का एक कारण तब उत्पन्न होता है जब शीतयुद्ध का राजनीतिक लाभ उठाने के लिए, विदेशी एजेन्टो द्वारा किसी देश की आन्तरिक अव्यवस्था को प्रेरित या समर्थित किया जाता है। थाईलैण्ड तथा उससे सलग्न क्षेत्र, अफ्रीका के अनेक राज्यो, मध्य-पूर्व और लेटिन अमेरिका के बहुत से राज्यो पर यही कारण लागू होता है।

गुट-निरपेक्षता की प्रेरक शक्तियाँ

कोई देश गुट-निरपेक्षता की नीति क्यो अपनाता है, इसके अनेक कारण हैं। ऐसा नही होना कि जिस देश पर सन्धिबद्ध होने के लिए दबाव न डाले जाएँ वह स्वत ही गुट-निरपेक्षता की नीति अपना लेता है। सन्धिबद्धता के कारणों का प्रभाव निषेधात्मक रूप से महत्त्वपूर्ण हो सकता है। किन्तु सकारात्मक रूप से इस दिशा मे प्रेरित करने वाले दूसरे ही तत्त्व होते हैं। विलियम हैंडर्सन (W.ll am Handerson) ने गुट-निरपेक्ष नीति के लिए उत्तरदायी आठ मुख्य प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। ये हैं—पश्चिमीकरण का विरोध, नव प्राप्त स्वतन्त्रता को कायम रखने का संकल्प, भावनाओं की प्रगाढता किन्तु भौतिक कमजोरियाँ, विदेश-व्यवहार की अज्ञानता अथवा उदासीनता, मार्क्सवाद का प्रभाव, साम्यवादी चीन के साथ समायोजित होने की आवश्यकता, यह विश्वास कि गुट-निरपेक्ष नीति शान्ति को बढ़ावा देती है तथा गुट-निरपेक्षता द्वारा साम्यवाद को रोका जा सकता है।

गुट-निरपेक्षता की सहायक परिस्थितियो अथवा प्रेरणाओं मे निम्नलिखित मुख्य है—

1 प्रथम प्रेरक शक्ति राष्ट्रवाद की भावना है। राष्ट्रवाद और गुट-निरपेक्षता के बीच सहयोग इसी बात से स्पष्ट है कि नवोदित राष्ट्रो के नेता अपनी गुट-निरपेक्षता के समर्थन मे राष्ट्रवाद का सहारा लेते रहे हैं। जॉन मारक्स का कहना है कि फ्रांस, जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन मे जब कभी तटस्थता की नीति का प्रभाव हुआ है तो वह मुख्यत इन देशों में व्याप्त राष्ट्रवाद की भावना के कारण ही है।

2. दूसरी सहायक परिस्थिति उपनिवेशवाद का विरोध है। बांडुंग सम्मेलन मे इस तथ्य को स्वीकार किया गया था कि यदि किसी देश को सैनिक-संगठन मे शामिल होने को मजबूर करने वाली कोई स्थिति नही है तो उपनिवेश-विरोधी भावना उसे गुट-निरपेक्षता की दिशा मे प्रेरित करेगी। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्य यह अनुभव करते हैं कि यदि वे बड़े राष्ट्रों के साथ सैनिक सन्धियों मे आबद्ध हो गए तो शोषक और शोषित राज्यों के सम्बन्धों का वही पुराना इतिहास दोहराया जाएगा। इन देशों के साथ एक बड़ी असामञ्जस्यपूर्ण स्थिति है। उपनिवेश-विरोधी भावना के कारण एक ओर तो वह पश्चिमी शक्तियों के साथ

संयुक्त होना नहीं चाहते, दूसरी ओर अतीत के प्रशासनिक और अन्य सम्बन्धों के कारण वे उसका विरोध भी नहीं करना चाहते। इसलिए वे गुट-निरपेक्षता की नीति का ही सहारा लेते हैं। गुट-निरपेक्षता की नीति वास्तव में उनके लिए असामञ्जस्य के समाधान और आत्म-रक्षा का एक प्रभावपूर्ण साधन बन गई है।

3. तीसरी सहायक परिस्थिति नवोदित राज्यों की अर्द्ध-विकसित स्थिति है। इन देशों की रुचि शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता से बचकर आर्थिक पुनर्निर्माण में अधिक है और केवल गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाकर ही ये देश विश्व के विरोधी गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त कर पाते हैं। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का तर्क है कि उन्हें जो भी विरोधी सहायता मिल रही है वह उनका अधिकार है, न कि उन पर कोई अहसान। स्वर्गीय राष्ट्रपति नासिर का तर्क था कि अतीत में साम्राज्यवादी शक्तियों ने जिस राष्ट्रीय सम्पत्ति का अपहरण किया वह यदि उन्हें वापस मिलती है तो इसमें किसी का भी क्या अहसान है। सहायता देना उन्नत राष्ट्रों का कर्त्तव्य है। यह एक प्रकार का कर है जो अतीत के उपनिवेशवादी शोषकों द्वारा उन देशों को प्रदान किया जाना चाहिए जो शोषित हुए हैं।

4. गुट-निरपेक्षता की नीति का एक जातीय और सांस्कृतिक पहलू भी है। इस नीति के समर्थक देश मुख्यत: अफ्रीका और एशिया हैं जिनका यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा आर्थिक रूप से शोषण किया गया था और जिन पर इनका राजनीतिक प्रभुत्व रहा। ये गुट-निरपेक्ष देश अश्वेत हैं, जातीय और सांस्कृतिक दृष्टि से उनमें बहुत कुछ समानता है। यद्यपि सांस्कृतिक एकता की कड़ियाँ मजबूत नहीं हैं, तथापि इस रूप में एकता है कि अब वे समान रूप से किसी भी बड़ी शक्ति के अधीन नहीं रहना चाहते।

श्री त्रिलोकीनाथ कौल ने गुट-निरपेक्षता के रुख के पीछे अथवा 'विरोधी-गुटों द्वारा अयथार्थवादी शक्ति-सन्तुलन कायम करने के प्रयत्नों के निवारण' के पीछे जो विचार निहित है उसके चार पहलू स्पष्ट किए हैं। श्री कौल के अनुसार—

पहली बात तो यह मान्यता है कि स्थायी सन्तुलन-शक्ति की राजनीति के अभाव में ही कायम किया जा सकता है।

दूसरे, यह विश्वास है कि खतरनाक किस्म का शक्ति-सन्तुलन कायम करने की होड़ का प्रादुर्भाव सन्देह, आशंका और अविश्वास के कारण होता है। इस प्रकार के वातावरण की शुद्धि के लिए उत्प्रेरक की आवश्यकता होती है। उदीयमान देश ही इस तरह की भूमिका अदा कर सकते हैं क्योंकि उनका बोझ कम है और वे पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं।

तीसरे, गुटों के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्विता नए राष्ट्र की परिस्थितियों के लिए अप्रासंगिक और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हानिकारक है। इतना ही नहीं, उनका शान्तिपूर्वक विकास करने की महती आवश्यकता के मार्ग में भी यह एक बाधा है।

चौथे, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शक्ति-सन्तुलन की धारणा अप्रगतिशील है और इसका आधार पक्षपात तथा अन्याय को कायम रखते हुए यथास्थिति बनाए रखना है। दूसरी तरफ नए राष्ट्रों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे एक ऐसे भविष्य की कामना करें जो पक्षपातपूर्ण अतीत के गर्हित भार से मुक्त है।

निर्गुट आन्दोलन का विकास

निर्गुट देशों का पहला औपचारिक सम्मेलन बेलग्रेड में 1961 में हुआ था, हालांकि इसकी बुनियाद पाँच वर्ष पहले 1956 में नेहरू-नासिर और टीटो द्वारा ब्रियोनी में रखी जा चुकी थी। तीसरी दुनिया के इन तीन दिग्गजों के आंतरिक विचार-विमर्श के बाद 1956 में एक मसविदे पर हस्ताक्षर किये थे, जिसमें निर्गुट आन्दोलन के सिद्धान्त प्रतिपादित किये गए थे।

यों एक लम्बे अर्से से ये तथा अन्य स्वतन्त्रचेता देशों के नेता महती शक्तियों का दबाव झेलते हुए बीच का रास्ता निकालने के लिए आपसी तालमेल बढ़ाने की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, लेकिन छठे दशक में कोरियाई युद्ध ने इस ललक को तेज कर दिया। 1956 में भारत, मिस्र और युगोस्लाविया, तीनों सुरक्षा परिषद् के सदस्य थे और उन पर दोनों महती शक्तियों द्वारा इधर या उधर झुकने के लिए निरन्तर दबाव पड़ रहा था। कई विकासशील देश सैनिक गठबंधनों के जरिये या दबाव के कारण किसी न किसी खेमे के पिछलग्गू बन गये थे। अकेला न पड़ते हुए सही रास्ते पर चल पाने के लिए जरूरी था कि अगुआ निर्गुट देशों में आपसी तालमेल हो और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के बारे में यथासंभव समान नीतियाँ बनाई जा सकें। इस ऐतिहासिक आवश्यकता को व्यावहारिक रूप देने की पेशकश इस आंदोलन के जन्म का कारण बनी।

1956 और 1961 निर्गुट आन्दोलन के दो महत्त्वपूर्ण आरम्भिक चरण थे, लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में अपना रास्ता खुद चुनने की आकांक्षा इसके पहले से मौजूद थी। कम से कम भारतवर्ष इस चेतना को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने और एशियाई अफ्रीकी देशों को एक मंच पर लाने के लिए पाँचवें दशक से ही उन्मुख था। औपचारिक रूप से स्वाधीन होने के 11 महीने पहले ही अंतरिम सरकार के अध्यक्ष की हैसियत से जवाहरलाल नेहरू ने 7 सितम्बर, 1946 को एक रेडियो प्रसारण में कहा था—हम चाहते हैं कि एक-दूसरे के खिलाफ गुटबाजी से हम यथासंभव अलग रहें। इस (खेमेबंदी) के कारण ही अतीत में विश्वयुद्ध हुए हैं और भविष्य में अधिक बड़े पैमाने पर विपत्ति आ सकती है। उसी वर्ष 13 दिसम्बर को नेहरू ने *कहा था "हम सभी देशों से मैत्री चाहते हैं। निर्गुट होने का मतलब अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की उपेक्षा नहीं है—इसका मतलब है स्वतन्त्र विदेश नीति।"*

आर्थिक रूप से पिछड़े हुए कमजोर देश, जो कल तक किसी साम्राज्य के उपनिवेश थे पूर्ण स्वतन्त्र विदेश नीति पर नहीं चल सकते थे, लेकिन यदि इस तरह के तमाम देशों के एक मंच पर हो जाने पर महती शक्तियों के मुकाबले उनके समवेत स्वर का वजन बढ़ जाता है।

भारत की पहल पर नई दिल्ली में 1947 के आरम्भ में एशियाई संबंध सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें अनेक देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। एशियाई देशों की चिंता इस प्रकार व्यक्त हुई थी—"हम एशिया के देश एक अर्से तक पश्चिमी दरबारों और दूतावासों मे फरियाद करते रहे हैं। अब यह अतीत की चीज हो जानी चाहिए। हम उन सभी से सहयोग करना चाहते हैं जो हम से सहयोग करना चाहें। हम दूसरों के हाथ में नही खेलना चाहते हैं।"

अप्रैल, 1955 मे आयोजित बांडुंग सम्मेलन (इंडोनेशिया) ऐसे ही व्यापकतर प्रयास की एक और कडी था। इस ऐतिहासिक सम्मेलन मे, यद्यपि भारत और चीन की आपसी डागडाट उभर कर सामने आयी तथापि उसका मुख्य स्वर यही रहा कि महती शक्तियां अपने फैसले दूसरों पर न लादें इस सम्मेलन में अनुमोदित सिद्धान्त निर्गुट आन्दोलन के हिस्से बने। इस दृष्टि से भारत चीन का वाणिज्य व्यापार समझौता (1954) भी उल्लेखनीय है, क्योंकि इसकी प्रस्तावना मे जिन पांच सिद्धान्तों का उल्लेख है, और जो पंचशील के नाम से प्रसिद्ध हुए, आगे चलकर निर्गुट आन्दोलन के व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप मे अपनाये गये। ये सिद्धान्त थे—(1) एक दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता और प्रभुसत्ता का सम्मान, (2) एक दूसरे पर हमला न करना, (3) एक दूसरे के अंदरुनी मामलों मे दखल न देना, (4) समानता और परस्पर लाभ, (5) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व।

कोरियाई युद्ध और संयुक्तराष्ट्र संघ में बडी ताकतों की नीतियों के कारण न केवल निर्गुट आन्दोलन का मंच विकसित होने मे मदद मिली वरन् संयुक्तराष्ट्र मे एशियाई और अरब देशो को भी नजदीक ला दिया। धीरे-धीरे इस वर्ग मे अफ्रीकी देश भी शामिल होने लगे। धीरे-धीरे अब संयुक्तराष्ट्र मे अफ्रीकी एशियाई देशो का बहुमत हो गया है और निर्गुट देशों की संख्या 92 हो गई है। यह संख्या संयुक्तराष्ट्र सदस्यों की कुल संख्या की दो तिहाई है।

73 सदस्य देशों के विदेशमन्त्रियों के अलावा 17 और देशो व 9 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के प्रतिनिधियो ने प्रेक्षक की हैसियत से नई दिल्ली सम्मेलन मे हिस्सा लिया। इसके अलावा 7 देश और 18 संगठनो के प्रतिनिधि अतिथि की हैसियत से आये। देखिए 'राष्ट्र'।

1961 से लेकर अब तक निर्गुट देशो के पांच शिखर सम्मेलन हो चुके है। मत्री और अधिकारी स्तर के सम्मेलनो की संख्या इसके अलावा है।

पहला निर्गुट शिखर सम्मेलन 2 सितम्बर, 1961 को बेलग्रेड मे हुआ था, जिसमे 25 देशो ने हिस्सा लिया था। यह सम्मेलन होने तक निर्गुटता का सिद्धान्त पूर्णत: प्रतिष्ठित हो चुका था—कम से कम भारत की तटस्थता को अमेरिकी राष्ट्रपति केनेडी द्वारा, अनमने ढंग से ही सही, मान्यता मिल चुकी थी।

पहले सम्मेलन से निर्गुट देशों को एक स्वतन्त्र मंच तो मिल गया, मगर इन देशो की शासन प्रणालियों, राजनैतिक विश्वासो, आर्थिक स्थिति के स्तरों, भौगोलिक तकाजों और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण मे इतना अन्तर था कि उनमे

भीतरी एकता का खासा अभाव था कि जो सैनिक सगठनो की मार्फत किसी खेमे मे शामिल नही हुए थे उनमे से भी अनेक आर्थिक अथवा अन्य कारणों से बड़ी ताकतो से कही न कही जुड़े हुए थे।

दूसरा शिखर सम्मेलन काहिरा (अक्तूबर 1964) मे हुआ तब तक प्रधानमंत्री नेहरू का देहान्त हो चुका था और 1962 मे चीनी हमले के प्रति निर्गुट देशो की उदासीनता भारत के लिए पीड़ाजनक अनुभव बन चुकी थी। बहरहाल इस सम्मेलन मे प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने निर्गुट देशो का समर्थन प्राप्त करना चाहा, मगर वह मिला नही। यह स्थिति खुद निर्गुट आन्दोलन के लिए प्रीतिकर नही रही। 1964 से 1970 तक भारत ने निर्गुट आन्दोलन मे सक्रिय हिस्सा नही लिया और यह आन्दोलन भी द्विविधा की स्थिति मे रहा। लेकिन इस बीच अफ्रीका, लेटिन अमेरिका और कैरेबियन सागर के देशो की दिलचस्पी इस मच मे मे बढी और सितम्बर, 1970 मे तीसरा शिखर सम्मेलन लुसाका (अफ्रीका) मे हुआ। इसमे 60 देशो ने हिस्सा लिया।

लुसाका सम्मेलन निर्गुट देशो की नई आर्थिक मोर्चेबन्दी के लिए हमेशा याद किया जायेगा। पहली बार विकासशील देशो मे आपसी आर्थिक सहयोग पर विस्तार से चर्चा हुई। सभवत इसका कारण यह था कि इस बीच सयुक्तराष्ट्र के तत्वावधान मे व्यापक और विकास सम्मेलन (अकटाड) का गठन हो चुका था और तीसरी दुनिया के देश अपने अधिकारो के प्रति अधिक सचेत हो चुके थे।

चौथा निर्गुट सम्मेलन अल्जियर्स (1973) मे और पांचवां 1976 में कोलम्बो मे हुआ। अल्जियर्स सम्मेलन में 47 सदस्य देश जमा हुए और अनेक यूरोपीय देश प्रेक्षक की हैसियत से आये। इस सम्मेलन मे ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक पहलुओ पर जिनका सबध विकासशील देशो से है, विशेष रूप से विचार किया गया।

पांचवें कोलबो सम्मेलन (1976) में निर्गुट आन्दोलन की उपलब्धि और सीमाओ का विस्तार से विवेचन हुआ। 73 सदस्यो ने इस शिखर सम्मेलन मे समन्वय कार्यालय (कोआर्डिनेटिंग ब्यूरो) की स्थापना का निश्चय किया गया। सदस्यो की सख्या 25 रखी गई—अफ्रीका 12, एशिया 8, लेटिन अमेरिका 4 और यूरोप 1। इस कार्यालय के सदस्य देशो की पहली बैठक 1977 में नई दिल्ली में हुई थी। सितम्बर, 1979 में गुट-निरपेक्ष देशो के छठे शिखर सम्मेलन (हवाना) मे सदस्य सख्या 94 हो गई।

निर्गुट आन्दोलन के अधिकतर देश गरीब हैं, पिछड़े हुए है भूतपूर्व उपनिवेश हैं और आर्थिक विकास के विभिन्न चरणो मे हैं। ऐतिहासिक कारणो से उनके आपसी झगड़े और विवाद भी कम नही है। महत्वाकांक्षाएँ महती शक्तियो की प्रतिद्वंद्विता और अन्य विसगतियाँ कई बार उन्हे आपस में लड़ा देती हैं और बदलती परिस्थितियो के अनुसार नये-नये समीकरण बनाने की मजबूरी पैदा करती हैं।

अब दुनिया सीधे दो खेमो मे नही बँटी है—चीन, भारत, जापान आदि मझौली ताकतो के उभरने से निर्गुट आन्दोलन के भीतर नये झगड़े और नये

समीकरण बने हैं, फिर भी इन देशों को निर्गुट मंच की आवश्यकता है और आगे भी बनी रहेगी। इस बीच अनेक क्षेत्रीय संगठन (इस्लामी सम्मेलन, एशियान, तेल निर्यातक संगठन आदि) बन गये हैं, फिर भी निर्गुट आन्दोलन की उपयोगिता कम नहीं हुई है, निर्गुट आन्दोलन ने अपनी सारी कमजोरियों और विफलताओं के बावजूद विकासशील देशों को आत्मसम्मान और गौरव दिया है और एक ऐसा अनोखा मंच भी जहां से वे अपनी बिरादरी के देशों की आशाओं और आकांक्षाओं को वाणी दे सकते हैं।[1]

गुट-निरपेक्ष देश

वर्तमान में जो गुट-निरपेक्ष देश, निर्गुट आन्दोलन में सम्मिलित हैं, वे ये हैं[2]—

1. अफगानिस्तान
2. अल्जीरिया
3. अंगोला
4. बहरैन
5. आर्हेंतीना
6. बंगलादेश
7. बेनिन
8. भूटान
9. बोलीविया
10. बोत्स्वान
11. बुरूंडी
12. कैमरून
13. केप वर्दे
14. म० अफ्रीकीय
15. चैड
16. कोमोरो
17. कांगो
18. क्यूबा
19. सिप्रस
20. जिबूती
21. मिस्र
22. इक्वे. गिनी
23. इथियोपिया
24. गबोन
25. गांबिया
26. घाना
27. मलयेशिया
28. मालदीव
29. माली
30. माल्टा
31. मारितानिया
32. मारिशस
33. मोरक्को
34. मोजबिम्क
35. नेपाल
36. निकारागुआ
37. नाइजर
38. नाइजीरिया
39. ओमान
40. पाकिस्तान
41. पी. एल. ओ.
42. पनामा
43. पेरू
44. कतार
45. खाडा
46. साओ तोमो प्रि
47. सऊदी अरब
48. सेंट लूसिया
49. सेनेगल
50. सेशेल्स
51. सियरे लिओन
52. सिंगापुर

1-2 दिनमान, फरवरी 1981

53. ग्रेनाडा
54. गिनी
55. गिनी बिसाऊ
56. गुयाना
57. भारत
58 इडोनेशिया
59 ईरान
60. इराक
61. आइवरी कोस्ट
62. जमैका
63. जुर्दान
64 केन्या
65. उ. कोरिया
66. कुवैत
67. लाग्रोस
68. लेवनान
69 लेसोथो
70 लाइबेरिया
71. लीबिया
72. मेडागास्कर
73. मलावी
74. सोमालिया
75. एस. डब्ल्यू ए. पी. ओ.
76. श्रीलका
77. सूडान
78. सूरीनाम
79. स्वाजीलैंड
80. सीरिया
81. ताजानिया
82 टोगो
83. त्रिनिडाड तो.
84. तूनीसिया
85. उगाडा
86. स. अरब
87. अपर वोल्टा
88. वियतनाम
89 उत्तर यमन
90. द. यमन
91. युगोस्लाविया
92. जेमरे
93. जाविया
94 जिवाब्वे

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियो का एक सम्मेलन 9 से 13 फरवरी 1981 तक नयी दिल्ली मे हुआ, जिसके फलस्वरूप गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की एकता और एकजुटता काफी मजबूत हुई तथा आपसी मतभेदो के बावजूद गुट-निरपेक्ष देशों की विभिन्न मसलों पर एक आम राय कायम करने मे सफलता मिली।

गुट-निरपेक्षता की नीति, उसका विकास और आवश्यकता

श्री टी. एन. कौल ने अपने एक लेख मे गुट-निरपेक्षता के जन्म और विकास की रूपरेखा खीचते हुए इस बात की विवेचना की है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे गुट-निरपेक्षता क्यों आवश्यक और उपयोगी है—

"यह सही है कि गुट-निरपेक्षता की नीति का जन्म द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ, जब शीतयुद्ध ने विभिन्न देशों को वैचारिक और सैनिक दृष्टि से दो विरोधी गुटो मे बाँट दिया था। भारत के प्रधानमन्त्री प. जवाहरलाल नेहरू, इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो, बर्मा के प्रधानमन्त्री ऊनू और मिस्र के राष्ट्रपति नासिर आदि नव-स्वतन्त्र देशो के महान् नेताओ ने यह निर्णय की और अपनाई।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, गुट-निरपेक्षता की नीति अहिंसा, शान्ति और मैत्री पर आधारित हमारे स्वतन्त्रता-संघर्ष से उपजी थी। युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो, घाना के राष्ट्रपति एन्क्रूमा, श्रीलंका के प्रधानमन्त्री भण्डारनायक, जाँबिया के राष्ट्रपति काउंडा और तंजानिया के राष्ट्रपति न्यूरेरे जैसे अन्य नेताओं ने नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त नीति कह कर इसका समर्थन किया। कारण, इन देशों को शान्ति और आर्थिक विकास की तथा दोनों विरोधी गुटों में से किसी के भी खिलाफ न उलझने की जरूरत थी, ताकि वे आजादी के साथ अपना सामाजिक और आर्थिक विकास कर सकें, जिसकी विदेशी शासन के दौरान घोर उपेक्षा हुई थी।

आरम्भ में गुट-निरपेक्षता की इस नीति को दोनों प्रतिस्पर्द्धी गुट शक की निगाह से देखते थे। चीन के माओत्से तुंग जैसे कतिपय समाजवादी नेता महसूस करते थे कि हर देश को इस या उस गुट की ओर झुकना ही होगा और कोई विकल्प या तीसरा रास्ता नहीं है। अमेरिका के जॉन फास्टर डलेस गुट-निरपेक्षता को 'अनैतिक' कहते थे; मगर वह दौर गुजर गया और अधिकाधिक राष्ट्र गुट-निरपेक्ष दल में शामिल होते गए तथा गुट-निरपेक्षता को नवस्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए उचित, व्यवहार्य और सम्मानपूर्ण नीति स्वीकार किया जाने लगा। ज्यों-ज्यों एशिया, अफ्रीका, कैरिबियन और दक्षिण अमेरिका के अधिकाधिक देश आजाद होते गए, त्यों-त्यों राष्ट्रसंघ में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या बढ़ती गई। राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में गुट-निरपेक्ष दल की संख्या बल और नैतिक बल बढ़ता चला गया। दोनों गुट अब उसे रिझाने की कोशिश करने लगे; क्योंकि अब वे इसका भरोसा नहीं कर सकते थे कि राष्ट्रसंघ में उन्हें बहुमत मिल ही जाएगा।

गुट-निरपेक्षता सब विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे तथा उपनिवेशों के खात्मे की समर्थक और नस्लभेद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की विरोधी है। समाजवादी गुट ने महसूस किया कि उनकी तथा गुट-निरपेक्ष दल की नीतियों में कुछ समानता है। उदाहरण के लिए रंगभेद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के प्रश्नों पर और राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों के मामले में उसने गुट-निरपेक्ष दल की माँगों का समर्थन किया। अमेरिका के नेतृत्व में दूसरा गुट इन माँगों का विरोध करता रहा; मगर गुट-निरपेक्ष दल और सोवियत गुट मिलकर संख्या में उनसे बहुत ज्यादा हो जाते थे। गुट-निरपेक्ष देशों की संख्या 1961 के बेलग्रेड सम्मेलन के समय 29 थी। 1964 के काहिरा सम्मेलन तक वह दुगुनी से ज्यादा हो गई और अब 100 के करीब है। राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर वह एक जबरदस्त नैतिक और राजनीतिक शक्ति है।

वक्त गुजरने के साथ, गुट-निरपेक्षता का औचित्य अधिकाधिक स्पष्ट होता गया और गुट-निरपेक्षता ने उपनिवेशवाद, नस्लवाद और साम्राज्यवाद के विरोध तक ही अपना क्षेत्र सीमित न रख कर उसे निःशस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद तथा अविकसित देशों पर विकसित देशों के आर्थिक वर्चस्व तक फैला दिया।

1970 वाले दशक में कई आलोचक यह दलील दिया करते थे कि अब चूंकि राष्ट्रों के बीच तनाव-मुक्तता (देतांत) की स्पिरिट पनप उठी है, इसलिए अब गुट-निरपेक्षता का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। हाल की घटनाओं ने इस दलील को गलत सिद्ध कर दिखाया, क्योंकि दोनों गुटों के बीच तनाव-मुक्तता की स्पिरिट अब घट चली है और तनाव एवं शीतयुद्ध बढ़ रहा है। यह दलील इसलिए भी गलत है कि जब तक नाटो और वारसा सन्धि जैसी सैनिक मैत्री-सन्धियाँ मौजूद हैं, तब तक सैनिक दृष्टि से गुट-निरपेक्षता आवश्यक बनी रहेगी।

यदि सबकी सब सैनिक मैत्री-सन्धियाँ लुप्त हो जाएँ—हालांकि निकट भविष्य में इसकी कोई सम्भावना नहीं दीखती—तो भी गुट-निरपेक्षता की आवश्यकता बनी रहेगी, ताकि विकासशील देशों के बीच बढ़ता हुआ आर्थिक अन्तर कम किया जा सके। आर्थिक दृष्टि से अधिक समुन्नत और सैनिक दृष्टि से ताकतवर देश विकासरत देशों को अपने शिकंजे में लाने की कोशिश जब तक करते रहेंगे, गुट-निरपेक्षता की ज़रूरत तब तक बनी ही रहेगी।

बेशक जब तमाम सैनिक मैत्री सन्धियाँ विलुप्त हो जाएँ, धनी और गरीब देशों का आर्थिक अन्तर मिट जाए और 'एक विश्व' का सपना साकार हो जाए, तब गुट-निरपेक्षता की नीति की आवश्यकता कम रह जाएगी। मगर यह तो बहुत दूर का सपना है। वैसे तब भी इसकी आवश्यकता बनी ही रहेगी कि प्रत्येक सार्वभौम राष्ट्र अपनी अलग पहचान, संस्कृति और परम्परा के अनुसार अपने सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यक्तित्व को बचाए रखे। यदि समस्त राष्ट्रों के लोग एक-से दिखने, एक-सी वेशभूषा पहनने और एक-सा बरताव करने लगें तो दुनिया बड़ी ही नीरस जगह बन जाएगी। दुनिया को एक-रूपता की नहीं, अपितु विविधता में एकता की आवश्यकता है। हर राष्ट्र को अपनी जनता की इच्छा के अनुसार अपनी जीवन-रीति चुनने और दूसरे देश के दब-दबे एवं धौंस के बिना जीने की आज़ादी रहनी ही चाहिए।

यह आदर्श विश्व स्थिति आसानी से लायी नहीं जा सकती। इसलिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि गुट-निरपेक्ष दल के देश एक-दूसरे के निकट आयें और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करें तथा अपने मानवीय एवं प्राकृतिक साधनों को सम्पुंजित करें और बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप से मुक्त रहते हुए अपनी प्रगति एवं विकास के लिए एक-दूसरे के अनुभवों से लाभ लें। यह भी ज़रूरी है कि अधिक विकसित देशों से व्यापार तथा सहायता एवं उद्योग तन्त्र आदि के स्थानान्तरण की अधिक अच्छी व न्यायपूर्ण शर्तें हासिल करने के लिए वे अपनी सम्मिलित सौदेबाजी की ताकत बढ़ाएँ।

संवाद-प्रेषण और सूचना क्षेत्र में भी विकासरत देशों पर विकसित देशों की ज़बरदस्त गिरफ्त है। सूचना और संवाद-प्रेषण के लगभग 80 प्रतिशत चैनलों पर पश्चिम का आधा दर्जन रेडियो-टेलीविज़न एजेन्सियों और समाचार-संस्थाओं का वर्चस्व है। ये विकासरत और गुट-निरपेक्ष देशों की स्थिति का बड़ा

ही तुड़ा-मुड़ा चित्र पेश करते हैं और विभिन्न क्षेत्रों में उनकी प्रगति को शायद ही कभी दुनिया के सामने रखते हैं।

इससे भी बुरी बात तो यह है कि प्रायः गुट-निरपेक्ष और विकासरत पड़ोसी राष्ट्रों के बीच परस्पर सीधे संवाद-प्रेषण के साधन नहीं हैं और उन्हें दूरवर्ती विकसित देशों की मार्फत एक-दूसरे को सवाद भेजने पड़ते हैं। यह स्थिति सर्वथा असहनीय है और ज्यादा वक्त तक बनी रहने नहीं दी जा सकती। विकासरत गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों को अपनी समाचार-संस्थाओं को एकजुट करना चाहिए, ताकि वे एक-दूसरे के समक्ष तथा बाहर की दुनिया के समक्ष अपनी तस्वीर सही रूप में पेश कर सकें। गुट-निरपेक्ष देशों के 'न्यूज-पूल' के रूप में एक दिशा में प्रयत्न तो शुरू किया गया है। मगर दुर्भाग्य से विकासरत देशों के अनेक राष्ट्रव्यापी अखबार 'न्यूज-पूल' का पर्याप्त लाभ नहीं उठा रहे हैं, क्योंकि अब भी मुट्ठी-भर विकसित देशों के रेडियो-टेलीविजन संगठनों और समाचार-सेवाओं के प्रभाव में हैं।

युनेस्को ने शीन मैंकब्राइड की अध्यक्षता में एक आयोग इस मामले की जाँच के लिए बैठाया था। अक्तूबर, 1980 में बेलग्रेड में युनेस्को महासभा के पिछले अधिवेशन में मैंकब्राइड रिपोर्ट पर विचार किया गया। विभिन्न सरकारों की एक समिति भी युनेस्को ने गठित की है, जिसमें भारत को लिया गया है। एक नार्वेवासी सज्जन इसके अध्यक्ष हैं और विश्व के विभिन्न हिस्सों के प्रतिनिधि इसमें हैं। सूचना और संवाद-प्रेषण के क्षेत्र में मौजूदा असन्तुलन को कम करने के युनेस्को के इन प्रयत्नों के विरुद्ध यद्यपि चन्दनिहित स्वार्थ वाले, पश्चिमी अखबार तथा समाचार-संगठन हो-हल्ला मचा रहे हैं, तथापि इस दिशा में ठोस काम होने लगा है और जोर पकड़ रहा है।

विकसित और विकासरत दोनों प्रकार के देशों का हित इसमें है कि इस दिशा में वे सहयोग करें। इससे वे एक-दूसरे की सही तस्वीर देख और समझ पाएँगे, और व्यापार-वाणिज्य, तट शुल्क और कोटाबन्दी प्रतिबन्ध, संसाधनों और तकनीकी के हस्तान्तरण की शर्तों आदि से सम्बन्धित समस्याओं को मुठभेड़ के बजाय मिल बैठकर बातचीत के जरिये सुलझाना सम्भव हो पाएगा।

आज दुनिया अधिकाधिक परस्पर-निर्भर होती जा रही है। दुनिया के एक कोने में अगर युद्ध होता है तो उसका प्रभाव दुनिया के दूसरे हिस्सों पर भी पड़ता ही है। नाभिकीय बमों द्वारा विध्वंस का खतरा सारी मानव जाति के समक्ष मुँह बाये खड़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटाना न्यूक्लीय तथा दूसरे सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का निःशस्त्रीकरण, शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा को कम करना और इस प्रकार बचे आर्थिक साधनों का विकास के लिए विनियोग इस सबके लिए एक-दूसरे की समस्याओं की अधिक गहरी समझ और विश्व के तमाम देशों के बीच अधिक आर्थिक-सामाजिक और राजनीतिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए संवाद-प्रेषण की वर्तमान विश्व-व्यवस्था (यानि कि अव्यवस्था!) को सुधारना जरूरी है। इस दिशा में ठोस कदम जितनी जल्दी उठाए जायें, उतना सारी दुनिया का उतना ही भला होगा।

राष्ट्रसंघ के सदस्यो मे से दो-तिहाई के बराबर देश गुट-निरपेक्ष हैं, उन्हें इस दिशा मे पहल करनी चाहिए।

विकासरत देशो की आबादी दुनिया की दो-तिहाई आबादी से ज्यादा है और इनमें से आधे से ज्यादा देश गरीब है। इसलिए भूखग्रस्त और गरीब, आधी मानव-जाति के लिए शिक्षा, अच्छे गुजर-बसर और रोजगार की सुविधाएँ आदि प्राप्त करने के कदम तुरन्त उठाने जरूरी हैं। अन्यथा धनी और निर्धन राष्ट्रों के बीच तथा एक ही देश के सम्पन्नो और विपन्नों के बीच की खाई और चौडी होती जाएगी, जिससे सामाजिक-राजनीतिक तनाव एव संघर्ष बढेगा और विश्व की शान्ति, सुरक्षा और प्रगति के लिए खतरा उपस्थित हो जाएगा।

गुट-निरपेक्षता की अभिव्यक्ति : विभिन्न सम्मेलन

गुट-निरपेक्षता की बढती हुई लोकप्रियता का प्रमाण हमे गुट-निरपेक्ष देशो के विभिन्न शिखर सम्मेलनो से मिलता है। गुट-निरपेक्ष देश कभी शिखर-सम्मेलनों का आयोजन करते हैं तो कभी विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन का। इससे चार लाभ होते हैं— (1) गुट-निरपेक्षता की लोकप्रियता मे वृद्धि होती है, (2) अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर गुट-निरपेक्ष देशो के दृष्टिकोण स्पष्ट रूप मे अभिव्यक्त होते हैं, (3) गुट-निरपेक्ष देशों मे पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि होती है, एव (4) विश्व के राजनीतिक रगमच पर गुट-निरपेक्ष देशों की आवाज को बल मिलता है।

प्रथम शिखर-सम्मेलन (बेलग्रेड).1961

सितम्बर, 1961 मे बेलग्रेड मे गुट-निरपेक्ष देशो का प्रथम शिखर-सम्मेलन हुआ जिसमे 25 देश सम्मिलित हुए। सम्मेलन मे ज्वलन्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार किया गया और महाशक्तियो से अनुरोध किया गया कि शीतयुद्ध की उग्रता कम करें, पारस्परिक वार्ता द्वारा समस्याओं के समाधान ढूँढें, निःशस्त्रीकरण की दिशा मे सक्रिय रूप से आगे बढें और प्रत्यक्ष वार्ता करके परमाणु परीक्षण तथा शीतयुद्ध की समस्याओ को निबटाएं। यह मत प्रकट किया गया कि विश्व मे शान्ति स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि सभी देशो को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पिछड़ेपन से मुक्ति दिलाकर उन्नत अवस्था की ओर अग्रसर किया जाए। विज्ञप्ति मे कहा गया कि सभी देशों को अपने ढग से शासन-सचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा घरेलू मामलो मे विदेशी शक्तियो को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सदस्यों ने रगभेद के नाम पर मनुष्य-मनुष्य मे व्याप्त घृणा पर खेद व्यक्त किया और दक्षिण अफ्रीका की रगभेद नीति की भर्त्सना की। विश्व में सैनिक अड्डो की स्थापना पर क्षोभ प्रकट करते हुए उन्हें समाप्त करने की अपील की गई। सभी सदस्य इस बात पर सहमत थे कि ससार शान्ति की ओर तभी बढ़ सकता है जब सभी व्यवस्थाएँ और विचारधाराएँ एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर परस्पर सहयोग करें और संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को पूर्ण मान्यता देकर उसे मजबूत बनाने की दिशा मे अग्रसर हो।

बेलग्रेड सम्मेलन मे कुछ मतभेद भी उभरे। इण्डोनेशिया के डॉ. सुकार्णो ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की बुराइयों की जड़ बतलाया जबकि पं. नेहरू ने विश्व-शांति की स्थापना को मुख्य स्थान दिया।

द्वितीय शिखर-सम्मेलन (काहिरा), 1964

अक्तूबर, 1964 मे काहिरा में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का दूसरा शिखर-सम्मेलन हुआ जिसमे 47 देशों ने भाग लिया। 11 देशो से पर्यवेक्षक भी सम्मिलित हुए। भारतीय प्रधानमन्त्री स्वर्गीय शास्त्री ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए एक पाँच-सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो इन प्रश्नो से सम्बन्धित था—(i) अणु निःशस्त्रीकरण, (ii) सीमा-विवादों का शान्तिपूर्वक हल, (iii) विदेशी प्रभुत्व, आक्रमण एवं तोड-फोड की कार्यवाहियों से मुक्ति, (iv) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास, एवं (v) संयुक्त राष्ट्रसंघ कार्यक्रम का समर्थन। भारत ने राष्ट्रों के आचार-संहिता सम्बन्धी एक दस सूत्री योजना भी प्रस्तुत की।

तृतीय शिखर-सम्मेलन (लुसाका), 1970

सितम्बर, 1970 में गुट-निरपेक्ष देशों का तीसरा शिखर सम्मेलन लुसाका मे हुआ जिसमे 54 देशो ने भाग लिया। 9 पर्यवेक्षक सम्मिलित हुए। सम्मेलन के मुख्य विचारबिन्दु ये थे—(i) सम्मेलन ने विश्व के सम्पन्न और निर्धन देशों की खाई की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए आर्थिक तथा सुरक्षात्मक उपायों पर बल दिया। (ii) पुराने उपनिवेशवाद के साथ-साथ नव-उपनिवेशवाद की भी आलोचना की गई। (iii) सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष दलो का स्थायी सगठन बनाने और उसका कार्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इससे गुट-निरपेक्षता की भावना को ठेस पहुँचने की सम्भावना थी। भारत के कड़े विरोध के कारण ऐसा सगठन नही बन पाया।

जार्जटाउन सम्मेलन, अगस्त 1972

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियो का एक चार दिवसीय सम्मेलन जार्जटाउन मे हुआ व एक घोषणा का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमे निम्नलिखित मुख्य बातें थीं—

1. गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास पर बल दिया गया।
2. हिन्द-चीन, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका मे संघर्षों पर चिन्ता प्रकट की गई।
3. यह स्पष्ट किया गया कि संयुक्त राष्ट्र महासभा की हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र रखने की घोषणा पर अमल किया जाए।
4. दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार की योजना का और पेकिंग स्थित कम्बोडिया की सिहानुक सरकार के पाँच सूत्री प्रस्ताव का समर्थन किया गया। यह माँग की गई कि अमेरिकी फौजो को वियतनाम से शीघ्र वापस चला जाना चाहिए।

सम्मेलन मे भारत सहित 58 देशों ने भाग लिया। सम्मेलन की आर्थिक समिति की रिपोर्ट में कहा गया कि गरीबी और बेरोजगारी दूर करने के लिए गुट-निरपेक्ष देशो को आत्म-निर्भरता पर जोर देना चाहिए और द्वि-पक्षीय व्यापार मे यथासम्भव राष्ट्रीय मुद्राओ का उपयोग करना चाहिए। एक प्रस्ताव में अमेरिका की आक्रमणकारी नीति और हिन्द–चीन मे युद्ध-विस्तार की कडे शब्दो मे निन्दा की गई।

चतुर्थ शिखर-सम्मेलन (अल्जीरिया), 1973

सितम्बर, 1973 मे 4 से 8 तारीख तक गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का अल्जीरिया में जो शिखर सम्मेलन हुआ उसमे 76 देशो ने भाग लिया। सम्मेलन में लीबिया और अल्जीरिया के इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया गया कि गुट-निरपेक्षता की एक नई परिभाषा की जाए और गुट-निरपेक्ष देशो के लिए नया विधान बनाया जाए। घोषणा-पत्र मे सुझाव दिया गया कि तटस्थ राष्ट्र कम्बोडिया के राजकुमार सिहानुक की निर्वासित सरकार को मान्यता दे, मिस्र, सीरिया तथा जोर्डन के इजराइल अधिकृत क्षेत्रो की मुक्ति के लिए राजनयिक सहयोग दें; वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार को भी राजनयिक सहयोग दें तथा अफ्रीकी मुक्ति आन्दोलनो को सहयोग दे। श्रीमती गान्धी ने कहा कि कुछ बडे राष्ट्रो द्वारा दुनिया पर प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्नो का विरोध किया जाना चाहिए। रूस अमेरिका के बीच सम्बन्ध-सुधार का स्वागत किया गया पर साथ ही यह भी कहा गया कि सम्बन्ध सुधार से होने वाले लाभ सभी राष्ट्रो मे समान रूप से बँटने चाहिए अर्थात् बडे राष्ट्रो द्वारा छोटे राष्ट्रो के शोषण के नये रूपों का विकास नही होना चाहिए।

अल्जीयर्स सम्मेलन, 1974

अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स मे 17 गुट-निरपेक्ष देशो के विदेशमन्त्रियो का तीन दिवसीय सम्मेलन (20 से 22 मार्च, 1974) हुआ। सम्मेलन मे हिन्दमहासागर मे अमेरिका द्वारा डियागो गार्सिया को नौ सैनिक अड्डा बनाने के निश्चय की आलोचना की गई। तेल उत्पादक देशो से अपील की गई कि वे विकासशील देशो के प्रति उदार रुख अपनाएँ। गुयाना, श्रीलंका, नेपाल और लाइबेरिया का अध्ययन-गुट बनाया गया जिसे तेल-उत्पादक देशो के सगठन के साथ परस्पर सहयोग और तालमेल द्वारा समस्याओं को सुलझाने के लिए विचार-विमर्श करने का कार्य सौंपा गया। एक अन्तर्सरकारी गुट का भी गठन किया गया जिस पर यह भार डाला गया कि वह विभिन्न देशो मे पैदा होने वाले कच्चे माल का जायजा ले और बडे देशों के साथ कच्चे माल के बारे मे समझौता करने की दिशा मे अपनी सलाह दे।

मार्च 1975 मे हवाना-सम्मेलन

मार्च, 1975 मे 17 गुट-निरपेक्ष देशो के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हवाना मे हुआ। सम्मेलन मे हिन्द महासागर मे ब्रिटेन और अमेरिका की उपस्थिति

की निन्दा की गई। महाशक्तियों के इस रुख को हिन्द महासागरीय क्षेत्र के राज्यों की स्वतन्त्रता और क्षेत्रीय अखण्डता पर आघात माना गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के उस प्रस्ताव का समर्थन किया गया जिसमे हिन्द महासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाने की बात कही गई थी। अन्य प्रश्नो पर भी विचार-विमर्श हुआ, जैसे—तनाव मे शिथिलता, पश्चिमी एशिया मे उपनिवेशों की समाप्ति, हिन्द-चीन तथा साइप्रस। फिलिस्तीन के प्रश्न पर अलग से एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमे माँग की गई कि गुट-निरपेक्ष देश फिलिस्तीन मे न्यायसगत तथा स्थायी शान्ति की स्थापना प्रयासो मे प्रभावी, ठोस तथा खुलकर योगदान दें। इस विश्वास की पुन. पुष्टि की गई कि विश्व की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है कि समस्त विश्व इसके लिए ऐसे पारस्परिक सहयोग के कार्य करे जो नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी घोषणा और कार्यक्रम के अनुसार सभी देशों की समानता और सम्मान पर आधारित हो।

अगस्त 1975 मे लीमा सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियो का एक सम्मेलन 25 से 30 अगस्त, 1975 तक लीमा (पीरू) मे सम्पन्न हुआ। सम्मेलन ने 'परस्पर सहायता एव एकता का लीमा-कार्यक्रम' शीर्षक से एक घोषणा प्रसारित की। घोषणा के आर्थिक खण्ड में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए गुट-निरपेक्ष देशों की एकता एवं बन्धुत्व को सुदृढ बनाने की एक योजना भी शामिल थी। सम्मेलन मे विशिष्ट राजनीतिक एव आर्थिक प्रश्नो पर भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इस सम्मेलन में 82 सदस्य देशो तथा कई पर्यवेक्षको ने भाग लिया।

सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि कुछ गुटबद्ध देशों ने भी इसमें पर्यवेक्षक तथा अतिथि के रूप में भाग लेने में रुचि प्रदर्शित की। राजनीतिक प्रश्नो के अन्तर्गत मध्यपूर्व तथा फिलिस्तीन, साइप्रस, इण्डोचीन और हिन्द महासागर के बारे में विचार-विमर्श हुआ। इण्डोचीन के पुनर्निर्माण में सहायता के लिए गुट-निरपेक्ष देशो द्वारा एक स्वैच्छिक एकता निधि स्थापित करने का निर्णय किया गया। सम्मेलन मे हिन्दमहासागर पर एक अलग से प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमें इस विषय से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावो को दोहराया गया। सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष देशो के आर्थिक एव सामाजिक विकास के लिए एक कोष की स्थापना का अनुमोदन किया। कोष की सदस्यता के लिए समान चन्दा 5,00,000 डॉलर निश्चित किया गया। सम्मेलन ने कच्चे माल तथा विकासशील देशो द्वारा निर्यात किए जाने वाले उत्पादनो के सुरक्षित भण्डार की वित्तीय व्यवस्था के लिए विशेष निधि की स्थापना के सम्बन्ध में अन्तर्सरकारी विशेषज्ञ दल को समझौते का अन्तिम प्रारूप तैयार करने के लिए अधिकृत किया। सामूहिक सचार साधनों के क्षेत्र में सहयोग के लिए गुट-निरपेक्ष देशो की प्रेस-एजेन्सियों का एक निकाय स्थापित करने के लिए गुट-निरपेक्ष देशो से परामर्श करने के बाद भारत ने एक प्रस्ताव रखा जिसे सम्मेलन ने स्वीकृत कर लिया।

गुट-निरपेक्ष देशों का मन्त्रिमण्डलीय सम्मेलन, जुलाई 1976

दिल्ली मे 8-13 जुलाई को आयोजित गुट निरपेक्ष देशो का मन्त्रिमण्डलीय सम्मेलन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था कि उसमे ऐसी समाचार एजेन्सी के गठन पर विचार-विमर्श हुआ जो इन देशो की वास्तविक आवश्यकताओं व उपलब्धियो को केन्द्र-बिन्दु मानकर समाचारों का सग्रह और आदान-प्रदान करेगी। उसके माध्यम से न केवल पश्चिमी देशों की समाचार एजेन्सियो पर आश्रित रहने की स्थिति खत्म हो जाएगी, बल्कि एक तटस्थ और पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि से काम करने के परिणामस्वरूप इन देशो का वास्तविक स्वरूप भी दुनिया के समक्ष लाया जा सकेगा। श्रीमती गांधी ने गुट-निरपेक्ष देशो और भूतपूर्व शासकों के बीच के असमान सांस्कृतिक और आर्थिक रिश्ते की भी चर्चा की।

कोलम्बो में पाँचवाँ निर्गुट शिखर-सम्मेलन, अगस्त 1976

गुट-निरपेक्ष देशो का पाँचवा ऐतिहासिक शिखर सम्मेलन श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो मे 16 से 19 अगस्त, 1976 तक हुआ। श्रीमती भण्डारनायके सम्मेलन की अध्यक्षा निर्वाचित हुई। सम्मेलन की सम्पूर्ण कार्यवाही के महत्वपूर्ण बिन्दु ये थे—

1. श्रीमती भण्डारनायके ने घोषणा की—"गुट निरपेक्ष देशो का सघर्ष किसी भी राष्ट्र अथवा समुदाय के विरुद्ध न होकर अन्याय, असहनशीलता, असमानता तथा हस्तक्षेप और चोधराहट के विरुद्ध है। शान्ति सब देशो का अधिकार है, इसलिए इसका दायित्व भी सब पर होना चाहिए।"

2 श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा—"सम्मेलन को अधिक न्यायसगत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का सन्देश प्रसारित करना चाहिए।" उन्होने स्पष्ट किया कि भारत ने सदैव अपनी कथनी और करनी मे स्वतन्त्रता, न्याय, समता तथा सहयोग का पक्ष लिया है। भारत ने उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के सभी स्वरूपो के खिलाफ जोरदार संघर्ष किया है। श्रीमती गांधी ने सदस्य देशों से एकजुट होकर शान्ति की रक्षाशक्ति सुदृढ करने की अपील की।

3. सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव डा. कुर्त वाल्दहीम ने कहा—गुट-निरपेक्ष देशों का कोलम्बो सम्मेलन राष्ट्रसघ के कार्य और विश्व शान्ति तथा सुरक्षा मे महत्त्वपूर्ण योगदान करेगा।

4. श्रीमती भण्डारनायके ने निर्गुट देशो की नयी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए आह्वान किया और इसकी कुछ रूपरेखा भी प्रस्तुत की। उन्होने कहा कि निर्गुट राष्ट्रों को (1) एक नयी मुद्रा का प्रचलन करना चाहिए जिसकी पुश्त पर विकासशील देशों की अपरिमित आर्थिक शक्ति हो और साथ ही (2) तीसरी दुनिया के लिए एक व्यापारिक बैंक स्थापित करना चाहिए। आर्थिक न्याय की प्राप्ति के सघर्ष मे हमें अपने निज की वित्तीय और मौद्रिक प्रणालियों का गठन करना चाहिए। श्रीमती भण्डारनायके का एक सुझाव यह था कि तेल, ताम्बा बाक्साइट और यूरेनियम आदि महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के लिए उत्पादक एसोसिएशन स्थापित की जाएँ ताकि विकासशील देश इन वस्तुओं के लिए उचित मूल्य प्राप्त कर सकें। यदि निर्गुट

देशों की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक बैंक स्वतन्त्र रूप से स्थापित हो जाएं तो लन्दन, पेरिस, ज्यूरिख और न्यूयार्क का आज वित्तीय दृष्टि से जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, वह नहीं रह पाएगा। यदि सभी निर्गुट देशों की आर्थिक शक्ति संगठित हो जाए तो वे अपने पैरों पर खडे हो सकते हैं और विकसित देशों की पराधीनता से उन्हें मुक्ति मिल सकती है।

5. निर्गुट देशों के सम्मेलन द्वारा स्वीकृत आर्थिक घोषणापत्र में नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया गया। इस घोषणापत्र के प्रारूप में भारत के कई महत्त्वपूर्ण सुझावों का समावेश हुआ। घोषणापत्र में कहा गया--

(क) वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन तथा पुनर्गठन किए बिना सारी दुनिया, खासकर विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं का समाधान असम्भव है। समूचा विश्व-समुदाय आज एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की खोज करने पर विवश हुआ है जो सामान्य शेयर, सार्वभौम समानता, परस्पर-निर्भरता, समान हितों और सहयोग पर आधारित हो।

(ख) बहु-उद्देशीय निगम अपने निजी लाभ के लिए विकासशील देशों के साधनों का शोषण करते उनकी अर्थ व्यवस्था को विकृत करते हैं तथा इन देशों की सार्वभौमिकता का और आत्म-निर्णय के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। ये निगम बहुधा घूस देने और भ्रष्टाचार के अन्य कुत्सित तरीके अपनाते हैं तथा विकासशील देशों को औद्योगिक देशों के अधीन बनाते हैं।

(ग) यदि बड़ी सैनिक शक्तियां नि.शस्त्रीकरण की दिशा में काम करें तथा अपने साधनों का एक बडा भाग विकासशील देशों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में व्यय करें तो विकासशील देशों की काफी जरूरतें पूरी हो सकती हैं और निकट भविष्य में ही विकसित तथा विकासशील देशों के बीच की खाई पाटी जा सकती है।

(घ) विकसित देशों से ऐसे कदम उठाने की अपील की गयी जिसमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बल मिले और अन्ततः नयी आर्थिक व्यवस्था विकसित हो।

6. घोषणा-पत्र में 'शब्द को कोई स्थान न देकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी' वाक्यांश का प्रयोग किया गया।

7. सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की सार्थकता तथा विश्व सन्दर्भ में इसकी उत्तरोत्तर बढती भूमिका के कारण इन देशों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे गुट-निरपेक्षता के मूल स्वरूप के संरक्षण के लिए सतत् जागरूक रहें तथा इसके सिद्धान्तों और नीतियों में अपनी अटूट आस्था रखते हुए इस आन्दोलन की एकजुटता तथा अखण्डता की रक्षा के लिए इसके निर्णयों का आदर करें। सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष देशों के बीच घनिष्ट एकता का आह्वान किया। गुट-निरपेक्ष देशों को समूचे विश्व की प्रगतिशील तथा शान्तिप्रिय शक्तियों के साथ अपना सहयोग जारी रखने पर जोर दिया गया।

8. बंगलादेश ने सम्मेलन में गंगा के पानी के बँटवारे का सवाल उठाया और भारत पर अनेक अनुचित आक्षेप किए। श्रीमती गांधी ने सम्मेलन में द्विपक्षीय मामले न उठाने पर अधिक जोर दिया क्योंकि इससे साम्प्रदायिक उद्देश्य दृष्टि से क्षोभ हो सकते हैं।

कोलम्बो के इस पाँचवें निर्गुट शिखर-सम्मेलन में 40 से भी अधिक राष्ट्राध्यक्ष तथा शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। मालदीव को निर्गुट राष्ट्र संगठन का पूर्ण सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार यह देश संगठन का 86वाँ सदस्य देश बना। शिखर-सम्मेलन में निर्गुट देशों का जो आर्थिक कार्यक्रम स्वीकार किया उसमें अपील की गयी कि आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए 'एकता-कोष' स्थापित कर 1976 के अन्त तक उसको शुरू कर दिया जाए। सम्मेलन के 25 सदस्यीय ब्यूरो में भारत, श्रीलंका, ईराक, सीरिया, फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चा तथा इण्डोनेशिया आम सहमति के आधार पर सदस्य चुन लिए गए। अफगानिस्तान और बंगलादेश ब्यूरो में स्थान पाने के लिए अपने दावों पर अड़े रहे और तब यह निर्णय किया गया कि तीन वर्ष के कार्यकाल में शुरू के डेढ़ वर्ष बंगलादेश और शेष डेढ़ वर्ष अफगानिस्तान सदस्यता ग्रहण करेगा।

गुट-निरपेक्ष सम्मेलन हवाना 1978

गुट-निरपेक्ष देशों के समन्वय ब्यूरो के मई 1978 के हवाना (क्यूबा) सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी नि:शस्त्रीकरण पर गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना का विचार। हवाना सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण पर व्यापक रूप से विचार किया गया। हवाना सम्मेलन ने महासभा से अनुरोध किया कि हथियारों की होड़ समाप्त करने के लिए वह निश्चित कदम उठाए। सम्मेलन ने एक दस्तावेज स्वीकृत किया। जिसमें दो खण्ड थे—राजनीतिक और आर्थिक। राजनीतिक खण्ड गुट-निरपेक्षता की भूमिका और परिभाषा, गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एकता और एकजुटता की आवश्यकता और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर गुट-निरपेक्ष देशों के मतों की पुनः अभिपुष्टि से सम्बन्धित थे। भारत ने गुट-निरपेक्ष देशों के सूचना और प्रसारण संगठनों के जकार्ता, सारजेवो और हवाना में हुए तीनों सम्मेलनों के प्रतिवेदनों और सिफारिशों का अनुमोदन भी किया। आर्थिक खण्ड के अन्तर्गत वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थिति का विश्लेषण, विकसित तथा विकासशील देशों के बीच चल रही वार्ता के परिणामों का मूल्यांकन, तृतीय विकास दशक के लिए कार्य नीति का निर्धारण करने वाले तत्त्व और गुट-निरपेक्ष तथा विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग के लिए बने कोलम्बो क्रियाशील के कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा शामिल थे।

भारत के विदेश राज्यमन्त्री समरेन्द्र कुण्डू ने गुट-निरपेक्ष देशों को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि यदि वे द्विपक्षीय आपसी मतभेद दूर नहीं करते हैं तो बाहर के देश उनकी कमजोरी का फायदा उठाकर अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। उनका यह भी कहना था कि हमें वास्तविक अर्थों में तटस्थता का पालन करना है।

यह तटस्थता उद्देश्यपूर्ण होनी चाहिए । इसके द्वारा संसार को आभास मिलना चाहिए कि हम सच्चे अर्थों मे गुटबन्दी की राजनीति से बिल्कुल अलग हैं । अनेक विदेश मन्त्रियों और शासनाध्यक्षों ने गुट-निरपेक्ष देशों के बीच सीमा सम्बन्धी विवादों पर चिन्ता व्यक्त की । सभी देशों के प्रतिनिधियों ने इन विवादों को आपसी बातचीत द्वारा हल करने की आवश्यकता पर जोर दिया । इण्डोनेशिया के विदेश मन्त्री ने कहा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को देशों के द्विपक्षीय मामलों मे दखल नहीं देना चाहिए बल्कि समान समस्याओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए । सम्मेलन में इजरायल की कड़ी निन्दा की गयी । उसे विश्व युद्ध भड़काने वाले देश की संज्ञा दी गयी । दुनिया के देशों से अधिकाधिक अस्त्र प्राप्त करने के लिए भी इजरायल को बुरा भला कहा गया और सम्मेलन में भाग लेने वाले देश इस बात से भी नाराज थे कि इजरायल, दक्षिण अफ्रीका, ग्वाटेमाला और दक्षिण अमेरिका मे हथियारों की बिक्री को बढ़ावा दे रहा है । पश्चिमेशिया नीति को लेकर अमेरिका की काफी निन्दा की गयी ।

बेलग्रेड गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, जुलाई 1978

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन 25 से 29 जुलाई 1978 तक हुआ जिसमे भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व तत्कालीन विदेशमन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने किया । इस सम्मेलन मे पाकिस्तान तथा सानमारिनो को अतिथि देशों के रूप मे शामिल किया गया । भारत ने पाकिस्तान का अतिथि के रूप मे स्वागत करते हुए यह आशा व्यक्त की कि यह सैनिक सन्धि-संगठनों से स्वय को अलग रखने का प्रयत्न करेगा । भारत राजनीतिक समिति का सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना गया । भारतीय विदेशमन्त्री ने गुट निरपेक्षता के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति भारत की पूर्ण वचनबद्धता को दोहराया । उन्होंने कहा कि भारत इन सिद्धान्तों का निष्ठापूर्वक पालन करके ही महाशक्तियों मे से प्रत्येक के साथ अपने द्विपक्षीय सम्बन्ध सुधारने मे समर्थ हो पाया है और ऐसा करते हुए न वह उनके आपसी मतभेदों मे पड़ा और न ही उन मामलों मे फँसा है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को बढ़ाते है। साथ ही गुट-निरपेक्षता के दर्शन से अनुप्रेरित होकर भारत ने सफलतापूर्वक अपनी पुरानी और जटिल समस्याओं का हल तलाश किया है और अपने पड़ौसी देशों के साथ सद्भाव और सहयोग का सेतु निर्माण किया है । उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि द्विपक्षीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के दृढ़ निश्चय से वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे यह आन्दोलन संसार की बड़ी-बड़ी राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान मे एक निश्चित भूमिका का निर्वाह कर सकता है । सम्मेलन ने उन गुट-निरपेक्ष देशों से एक विशेष अपील की जो द्विपक्षीय झगड़ों मे उलझे हुए थे कि वे बातचीत के द्वारा शान्तिपूर्ण समझौता करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करें । भारत के इस दावे को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ कि यदि देश ईमानदारी से गुट-निरपेक्ष रहे तो बाहर या भीतर से हुआ कोई भी प्रयास आन्दोलन को न तो कमजोर कर सकता है और न अपने पथ से विचलित ही ।

सम्मेलन ने एक घोषणा पत्र स्वीकार किया जिसके दो भाग थे और एक पृथक् खण्ड था जिसमें आर्थिक सहयोग विषयक कोलम्बो क्रियाशील कार्यक्रम के कार्यान्वयन की सुरक्षा की गई थी। घोषणा के राजनीति विषयक भाग में प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय मामलों और साथ ही उन मामलों पर गुट-निरपेक्ष देशों का संयुक्त रवैया परिलक्षित हुआ जिनका गुट-निरपेक्ष आन्दोलन सामना कर रहा है। घोषणा का एक नया स्वरूप मानव अधिकार सम्बन्धी एक नया खण्ड था जिसमें भारत की ही पहल पर विश्व समुदाय के लिए इस बात की आवश्यकता पर बल दिया गया था कि वह मानव अधिकारों के सभी पहलुओं के सम्बन्ध मे एक समग्र और व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ। घोषणापत्र मे विश्व में तनाव के लिए बड़ी शक्तियों के बिगड़ते सम्बन्ध, हथियारों की दौड़ और नए प्रकार के प्रभुत्ववाद को जिम्मेदार ठहराया गया। अफ्रीका में विदेशी सैनिक अड्डों और गैर-अफ्रीकी ताकतों के साथ हुए समझौतों की भी निन्दा की गई और अफ्रीका को युद्ध क्षेत्र या शीतयुद्ध का अखाड़ा बनाए जाने के प्रयासों का विरोध किया गया। अफ्रीकी एकता संगठन के अन्तर्गत एक ऐसी अफ्रीकी सेना के गठन का समर्थन किया गया जो उस महाद्वीप की सुरक्षा और एकता बनाए रख सके। गुट-निरपेक्ष समाचार एजेन्सियों के सगठन की भूमिका पर बल दिया गया। हिन्दमहासागर क्षेत्र मे स्थित विदेशी बड़े सैनिक अड्डे समाप्त किए जाने की माँग की गई। अफ्रीका के जातिवादी शासकों को आर्थिक और सैनिक सहायता देने वालों की निन्दा की गई। पूर्वी तिमोर के आत्म-निर्णय के अधिकार का समर्थन किया गया। इजरायल पर परमाणु प्रतिबन्ध लगाने की माँग की गई और आक्रमण, कब्जा और विस्तार की नीतियों की निन्दा की गई। फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन को सभी गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा राजनयिक दर्जा देने का प्रस्ताव है, साइप्रस के सभी विदेशी सैनिकों को हटाने की माँग की गई और निःशस्त्रीकरण समझौते मे सभी देशों के भाग लेने की जरूरत पर जोर दिया गया।

अतिथेय देश यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा कि "गुट-निरपेक्ष जगत् के प्रति महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में, विशेषकर अफ्रीका मे नए प्रकार की औपनिवेशिक उपस्थिति या गुट-निर्भरता, विदेशी प्रभाव तथा प्रभुत्व" का प्रतिरोध किया जाना चाहिए। उन्होंने इसके साथ ही गुट-निरपेक्षता के उद्देश्यों को भी परिभाषित कर दिया—"यह नीति साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद, नस्लवाद और अन्य सभी प्रकार के विदेशी प्रभुत्व तथा शोषण का विरोध करती है। सत्ता राजनीति, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्ववाद और सब तरह के बाह्य हस्तक्षेप तथा निर्भरता के विरुद्ध है।"

सम्मेलन की समाप्ति पर प्रसारित 80 पृष्ठीय विज्ञप्ति सर्वसम्मत कम, वैचारिक तथा सैद्धान्तिक स्तर पर पूर्णतया विभाजित सदस्यों को येन-केन प्रकारेण एकता सूत्र में बाँधे रखने का प्रयास अधिक थी। विज्ञप्ति में यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठा था कि गुट-निरपेक्षता मे आस्थाहीन देशों को आखिर कब तक आरोपित एकता के छद्म में एक मच पर इकट्ठा रखा जा सकेगा।

मोजाम्बिक का विशेष सम्मेलन, जनवरी-फरवरी 1979

दक्षिण अफ्रीका में हुई घटनाओं पर विचार करने के लिए मापुतो (मोजाम्बिक) में 28 जनवरी से 2 फरवरी 1979 तक गुट-निरपेक्ष देशों के समन्वय ब्यूरो के विदेश मन्त्रियों का एक विशेष सम्मेलन हुआ। सम्मेलन की समाप्ति पर स्वीकृत एक घोषणा में ब्यूरो ने गुट-निरपेक्ष देशों की पिछली बैठकों और संयुक्त राष्ट्रसंघ में किए गए निर्णयों और सिफारिशों को दोहराया और आगे कुछ और कार्यवाही करने की माँग की गई—

(क) दक्षिण अफ्रीका के मुक्ति संघर्ष के लिए राजनीतिक, राजनयिक सैनिक और वित्तीय सभी प्रकार के समर्थन में वृद्धि की जाए।

(ख) दक्षिणी अफ्रीका पर पूर्ण और प्रभावकारी तेल-प्रतिबन्ध लगाया जाए।

(ग) भाड़े के विदेशी सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, पारगमन और वित्तदान पर रोक लगायी जाए।

(घ) देश प्रेमी मोर्चे (जिम्बाब्वे) को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के पूर्ण सदस्य के रूप में प्रवेश दिया जाए।

कोलम्बो में गुट-निरपेक्ष समन्वय ब्यूरो की बैठक, जून 1979

भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 4 से 9 जून, 1979 तक कोलम्बो में आयोजित गुट-निरपेक्ष समन्वय ब्यूरो की बैठक में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व किया। कम्बोडिया का प्रतिनिधित्व और मिस्र को शामिल होने के सवाल, ये दो ऐसे राजनीतिक विषय थे जो इस सम्मेलन पर छाए रहे। ब्यूरो की बैठकों के विषय में निर्णय लेने वाली प्रक्रियाओं में भाग लेने के लिए ब्यूरो के गैर-सदस्यों के बीच बढ़ती हुई इच्छा ने इसमें एक तीसरा आयाम जोड़ दिया। इसके फलस्वरूप इस ब्यूरो के 23 सदस्यों की उपस्थिति के अतिरिक्त इस बैठक में इस आन्दोलन के 52 सदस्यों, 9 प्रेक्षकों/अतिथियों तथा 12 अन्तर्राष्ट्रीय/क्षेत्रीय संगठनों ने भाग लिया।

भारत ने इस सम्मेलन में एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निभाई। कम्बोडिया के प्रतिनिधित्व तथा मिस्र के भाग लेने से सम्बन्धित अत्यन्त विवादास्पद मामलों के बारे में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने समझौते का समाधान ढूँढने की दिशा में कार्य किया ताकि इस आन्दोलन का ध्यान अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करने की ओर से न हटे।

गुट-निरपेक्ष सम्मेलन, हवाना (सितम्बर 1979)

गुट-निरपेक्ष देशों का छठा शिखर-सम्मेलन 3 से 9 सितम्बर, 1979 तक हवाना में हुआ। यह पहला मौका था जबकि ऐसा सम्मेलन एक लेटिन अमेरिका के किसी देश में हुआ। सम्मेलन में 54 राज्याध्यक्षों/शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। उनकी सदस्य संख्या 94 हो गई जिसमें 20 देश और संगठनों के प्रेक्षक थे तथा 18 देश अतिथि थे। भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व विदेश मन्त्री श्री श्याम

नन्दन मिश्र ने किया। भारत को सम्मेलन का एक उपाध्यक्ष चुना गया और इसको 36% सदस्यों के विस्तृत समन्वय ब्यूरो के लिए पुन. निर्वाचित किया गया।

यह सम्मेलन एक प्रच्छन्न तनाव के वातावरण मे हुआ। कम्पूचिया (कम्बोडिया) का प्रश्न, मिस्र-इजरायल सन्धि तथा पश्चिम सहारा का प्रश्न जैसे फूट डालने वाले गम्भीर मसले ही नहीं थे बल्कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के मूलभूत उद्देश्यों एव लक्ष्यों को बनाए रखने तथा उसकी भावी भूमिका और निर्देश के बारे मे यदि चिन्ता नही तो कम से कम एक अनिश्चितता भी बनी हुई थी। इस सम्बन्ध मे मतैक्य हो गया कि कम्बोडिया का स्थान खाली रखा जाए क्योंकि गुट-निरपेक्ष समुदाय के लिए यह सम्भव नही है कि यह वर्तमान स्थिति मे किसी एक या दूसरे प्रतिनिधि मण्डल के पक्ष मे कोई निर्णय ले सके। मिस्र-इजरायल सन्धियों की तीव्र आलोचना की गई और इन सन्धियो के प्रति अस्वीकृति तथा निन्दा अभिव्यक्त करते हुए एक कठोर संकल्प पारित किया गया। मिस्र को निलम्बित करने की माँग के सम्बन्ध मे कोई मतैक्य नही हो सका और यह सहमति हुई कि इस सवाल को आगे विचार के लिए समन्वय ब्यूरो को भेज दिया जाए। इस बारे मे सहमति थी कि विश्व शान्ति और स्थायित्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के संवर्द्धन के लिए गुट-निरपेक्ष आन्दोलन एक रचनात्मक, स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण घटक है।

भारत ने अपनी इस धारणा को दोहराया कि गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों को फूट डालने वाले मुद्दो और द्विपक्षीय विवादो से बचना चाहिए और इसके बदले मे ऐसे व्यापक उद्देश्यो पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो गुट-निरपेक्ष देशो को एक-दूसरे के निकट लाएँ। यह आवश्यक है कि इस आन्दोलन की एकता को सुरक्षित और सुदृढ किया जाए तथा इसकी सक्रियात्मक कारगरता को अधिक जीवन्तता प्रदान की जाए।

इस सम्मेलन द्वारा पारित अन्तिम घोषणापत्र मे एक राजनीतिक तथा आर्थिक खण्ड और कार्यवाही सम्बन्धी कार्यक्रम शामिल थे। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्राप्ति के लिए नवीनीकृत और तीव्र प्रयत्नो के किए जाने की माँग को दोहराया गया। विकासशील देशो की अत्यावश्यक आर्थिक समस्याओं का समाधान खोजने के लिए सभी देशो मे परस्पर बातचीत का एक नया दौर शुरू करने का प्रस्ताव किया गया। तीसरे सयुक्त राष्ट्र विकास दशाब्दी (नवें दशक) के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय विकास नीति तैयार करने के महत्त्व पर बल दिया गया। कच्चे माल तथा ऊर्जा जैसे अतिशय महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भारत अनेक देशो की सहायता और सहयोग से एक ऐसा प्रस्ताव तैयार करने मे सफल हुआ जिसमे गुट-निरपेक्ष देशों के बीच उनकी अपनी सामूहिक निर्भरता सुदृढ़ करने मे परस्पर सहयोग करने के मार्ग-निर्देशन सिद्धान्त तय किए गए। एक महत्त्वपूर्ण निर्णय का सम्बन्ध गुट-निरपेक्ष समाचार एजेन्सियों के पूल के कार्यकलापो तथा सूचना के क्षेत्र मे गुट-निरपेक्ष देशों के अन्य कार्यकलापो मे था। सम्मेलन ने इस पूल के कार्य निष्पादन की प्रशंसा की और इस पूल मे अपने सहयोग को सुदृढ करने के लिए सदस्यों से कहा।

विदेश मन्त्रियों का नई दिल्ली सम्मेलन, फरवरी 1981

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन 9 से 13 फरवरी, 1981 तक नई दिल्ली में हुआ। 91 देशों और दो मुख्य आन्दोलनों के अतिरिक्त 15 प्रेक्षक प्रतिनिधि मण्डलों ने और 22 अतिथि-प्रतिनिधि मण्डलों ने इसमें भाग लिया। 9 फरवरी, 1981 को उद्घाटन अधिवेशन में सम्मेलन को भारत की प्रधान मन्त्री का मुख्य भाषण सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। 1961 में बेलग्राड में सम्पन्न गुट-निरपेक्ष देशों के प्रथम शिखर सम्मेलन की बीसवीं वर्षगाँठ मनाने के लिए 11 फरवरी को एक विशेष स्मारक अधिवेशन हुआ। इस स्मारक अधिवेशन को प्रधानमन्त्री ने सम्बोधित किया। सम्मेलन की अध्यक्षता विदेश मन्त्री ने की। नई दिल्ली सम्मेलन के सिलसिले में कुछ निहित क्षेत्रों में असाधारण अटकलें लगाई जा रही थी और गुट-निरपेक्ष देशों के इस आन्दोलन की वैधता पर ही उंगली उठायी जा रही थी। कुछ आलोचकों ने यह भविष्यवाणी तक की कि इस आन्दोलन की एकता में ही दरार पड जाएगी जिसके फलस्वरूप इसकी शक्ति और इसकी जीवतता क्षीण होगी। इस प्रकार के सारे अनुमान और अटकलें पूरी तरह निराधार सिद्ध हुई। इस सम्मेलन की सफलता का सुनिश्चय करने के लिए भारत ने कई गुट-निरपेक्ष देशों के साथ सम्मेलन से पूर्व व्यापक स्तर पर विचार-विमर्श किया। इन विचार-विमर्शों से एक अनुकूल वातावरण तैयार करने में मदद मिली तथा विशिष्ट ममलों पर और द्विपक्षीय मसलों के अतिरिक्त द्विपक्षीय समस्याओं पर ही समूचा ध्यान केन्द्रित कर देने के प्रयत्नों को रोकने में भी मदद मिली। अन्तत यह सम्मेलन एक समरस भावना के साथ सम्पन्न हुआ और इसमें नई दिल्ली घोषणा स्वीकार की गई, जिसमें आज की सभी ज्वलन्त समस्याओं को शामिल किया गया है। यह घोषणा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की भूमिका, गुट-निरपेक्षता की नीति, सभी राज्यों की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थिति मजबूत करने तथा सार्वभौम तनाव-शैथिल्य और वास्तविक निःशस्त्रीकरण की स्थिति को मजबूत करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान का प्रतीक थी। इसने उपनिवेशवाद, जातिवाद तथा विदेशी आक्रमण और हस्तक्षेप तथा दखलन्दाजी के सभी रूपों के विरुद्ध संघर्षों को मजबूत किया।

आर्थिक क्षेत्र में सम्मेलन ने इस बात की आवश्यकता पर बल दिया है कि इस सिलसिले में यथाशीघ्र विश्वव्यापी वार्ता शुरू होनी चाहिए। ऊर्जा के महत्त्वपूर्ण मसले पर सम्मेलन का यह विचार था कि इसका आयात करने वाले गुट-निरपेक्ष और दूसरे विकासशील देशों को प्राथमिक आधार पर तथा किसी भी देश के प्रति कोई पूर्वाग्रह न रखते हुए मुद्रा की सप्लाई के लिए समुचित कदम उठाए जाने चाहिए। विकासशील देशों में परस्पर आर्थिक सहयोग के महत्त्व पर बल देते हुए सम्मेलन में इस बात पर सहमति हुई कि काराकस के आगामी उच्च-स्तरीय सम्मेलन में सहयोग के समयबद्ध ठोस, कार्योन्मुखी और सहमत तरीके, परियोजनाएँ और प्रबन्ध स्वीकार किए जाने चाहिए।

नई दिल्ली सम्मेलन के परिणामस्वरूप गुट-निरपेक्ष देशों के आन्दोलन की एकता और एक-जुटता काफी मजबूत हुई। यही वजह थी कि जिन मसलों पर गुट-निरपेक्ष देशों में मतभेद भी था उनमें भी एक आम राय कायम करने में सफलता मिली। सम्मेलन में भारत की रचनात्मक भूमिका और उसके प्रयासों की प्रशंसा की गई और इस बात की भी सराहना की गई कि इस सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में भारत ने बहुत ही निष्पक्ष तरीके से सम्मेलन की कार्यवाही का संचालन किया।

एक गुट-निरपेक्ष देश के रूप में भारत
(India as a Non-aligned Country)

टी. एन. कौल ने लिखा है—"अगर पिछले वर्षों पर दृष्टिपात किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत द्वारा निभायी गई भूमिका की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा जा सकता है, विशेष रूप से जब हम इस बात पर ध्यान दें कि स्वाधीनता के समय भारत आज की अपेक्षा संसार की शक्ति-राजनीति में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने की कम क्षमता रखता था। लेकिन भय और अविश्वास, शक्ति-सन्तुलन, प्रभाव-क्षेत्र, शीतयुद्ध और सैनिक सन्धियों वाले तत्कालीन विश्व में भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के प्रति अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से एक नया वातावरण पैदा किया। भारत ने अपने भाग्य-निर्माण या ऐसे ही किसी अन्य उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रवेश नहीं किया बल्कि इसके पीछे यथार्थवाद की भावना थी जिसका आधार उसकी अपनी परिस्थितियों की वास्तविकता तथा उसके आसपास के राजनीतिक जीवन के तथ्य थे जिनके कारण उसने गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाई।"

स्वाधीन भारत की नीति सैनिक अथवा राजनीतिक गठबन्धनों से तटस्थ रहने की थी, पर यह निष्क्रियता की नीति नहीं थी। यह नीति परिस्थितियों के अनुकूल विश्वशान्ति और उपनिवेशों की स्वाधीनता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में क्रियाशीलता की थी। गुट-निरपेक्ष देश के रूप में भारत की भूमिका को शीघ्र ही मान्यता मिल गई। भारत ने कितने सफल रूप से इस नीति को आगे बढ़ाया, यह कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है जिन्हें टी. एन. कौल ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है—

1. सबसे पहले कोरिया के संकट के समय भारत के स्वतन्त्र फैसला कर सकने की क्षमता को तथा शीतयुद्ध से प्रभावित इस मामले में उसकी कार्यवाही को मान्यता प्राप्त हुई। युद्ध की समाप्ति के बाद भारत तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन-आयोग का अध्यक्ष था। उसने युद्धबन्दियों की अदला-बदली के कार्य के निरीक्षण के लिए अपनी सेना भी भेजी। यह उसकी स्वतन्त्र विदेश नीति, गुट-निरपेक्षता और कोरिया के संकट के प्रति उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की मान्यता थी।

2. 8 सितम्बर, 1951 को भारत ने सानफ्रांसिस्को में होने वाली जापान शान्ति-सन्धि में अमेरिका की शर्तों पर आपत्ति कर, एक बार फिर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया। भारत ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया, इसके साथ ही उसने जापान के साथ युद्ध-समाप्ति के लिए कार्यवाही की।

3. कोरिया की तरह ही हिन्दचीन में भी भारत का प्रयास इस क्षेत्र को शीतयुद्ध का शिकार बनाने से रोकना था। भारत की दृष्टि में यह संकट साम्राज्यवाद की पुनः स्थापना के विरुद्ध राष्ट्रवादी संघर्ष था। यहाँ भी भारत ने अमेरिका के इस इरादे का विरोध किया कि वह फ्रांसीसी सरकार द्वारा वियतमिह्न के विरुद्ध युद्ध में तेजी लाने का समर्थन करे। हिन्दचीन पर होने वाले जिनेवा सम्मेलन में भारत ने भाग नहीं लिया, लेकिन परदे के पीछे उसकी सक्रियता ने वार्ता में सहायता की। भारत ने साम्यवादी देशों की आशंका कम करने के लिए जो भूमिका अदा की थी उसे ब्रिटिश सरकार ने भी मान्यता दी। जब जिनेवा-सम्मेलन एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की स्थापना के लिए सहमत हो गया तो भारत को उसका अध्यक्ष चुना गया।

4. 1956 के स्वेज नहर के संकट के प्रति भारत के रवैये ने गुट-निरपेक्ष देशों की एकजुटता को मजबूत करने और उनकी स्वाधीनता के प्रदर्शन में सहायता की। भारत ने ब्रिटेन-फ्रांस की कार्यवाही का तीव्र विरोध किया क्योंकि वे सैनिक शक्ति की राजनीति से समस्या का समाधान करना चाहते थे जो 19वीं शताब्दी में प्रचलित थी। भारत का प्रयास सम्बन्धित पक्षों के बीच शत्रुता कम करने का था। शान्तिपूर्ण वार्ता और समझौते के लिए ब्रिटेन, फ्रांस व मिस्र के विदेश-मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत योजना में भारत द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव को शामिल किया गया। भारत ने इजरायल और मिस्र के बीच गाजापट्टी में अस्थायी युद्ध-विराम के अधीक्षण के लिए तैनात संयुक्त राष्ट्रसेना के लिए टुकड़ी भी भेजी।

5. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था शीतयुद्ध हो या सशस्त्र युद्ध, इसका विकल्प शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व ही है। इसकी परिभाषा उन्होंने इस तरह की कि यह एक मानसिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जो मतभेदों और विरोधों में सामंजस्य स्थापित करता है; विभिन्न धर्मों, सिद्धान्तों, आर्थिक व सामाजिक पद्धतियों को समझने और उनमें समानताएँ ढूंढने की चेष्टा करता है और संघर्ष अथवा सैनिक समाधानों की शब्दावली में सोचने से इंकार करता है। इसी दृष्टिकोण को सूत्रबद्ध कर पाँच सिद्धान्तों अथवा पंचशील का नाम दिया गया। अप्रैल, 1955 में बांडुंग में होने वाले पहले अफ्रो-एशियायी सम्मेलन में स्वीकृत 'विश्वशान्ति एवं सहयोग की घोषणा' में भी इन्हें शामिल किया गया। बांडुंग सम्मेलन के बाद के वर्षों में न केवल एशिया और अफ्रीका के देशों में गुट-निरपेक्षता का समर्थन बराबर बढ़ता रहा, बल्कि शीतयुद्ध के दोनों पक्षों की ओर से भी इस धारणा को मान्यता तथा सम्मान प्राप्त हुआ।

6. गुट-निरपेक्षता की धारणा के विकासक्रम में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में होने वाला गुट-निरपेक्ष देशों का सम्मेलन। इस सम्मेलन में भारत की भूमिका का मुख्य उद्देश्य चर्चा के रुख को शीतयुद्ध का संकट दूर करने की ओर मोड़ना था। अक्तूबर, 1964 में काहिरा में होने वाले गुट-

निरपेक्ष राष्ट्रों के दूसरे सम्मेलन मे भी भारत ने इसी आधारभूत दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया ।

सभी सम्मेलनो मे भारत का प्रयास गुट-निरपेक्ष देशो को अन्तर्मुखी समूह बनाने से रोकने और अधिक से अधिक देशो को गुट-निरपेक्ष बनाने के लिए प्रोत्साहित करना था । इन सम्मेलनो मे भाग लेने वालो के लिए एक मानदण्ड नियत किया गया जिसे काहिरा तथा बेलग्रेड सम्मेलनों मे स्वीकार कर लिया गया । गुट-निरपेक्ष देशो के सम्मेलनो मे भाग लेने वालो की बढती हुई संख्या इस बात का प्रमाण थी कि गुट-निरपेक्ष और गुटबन्दी वाले, जैसे देशो मे स्थिति बदल रही है । इसके साथ ही सम्मेलन की कार्यवाही से यह भी परिलक्षित होता था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे वरीयताएँ बदल रही हैं ।

कुछ और भी उदाहरण भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की सार्थकता को सिद्ध करते हैं—

7. नवम्बर, 1962 मे चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के समय भारत को पश्चिमी देशो से बिना शर्त अविलम्ब सैनिक सहायता प्राप्त हुई और रूस का समर्थन भी मिला ।

8. सितम्बर, 1965 में भारत और पाकिस्तान के युद्ध मे असलग्नता की नीति की शक्ति को एक बार फिर सिद्ध कर दिखाया गया । पाकिस्तान, सीटो और सैंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटो का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त नही कर सका । टर्की और ईरान ने उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन तो दिया किन्तु अन्य राज्यो के विरोध के कारण जिसमे पश्चिमी राज्य भी सम्मिलित थे, पाकिस्तान की मदद पर आ नही सके । इस युद्ध मे पाक-दृष्टिकोण से यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटो मे सम्मिलित होने की नीति सार्थक नही है ।

9. जनवरी, 1966 मे श्री शास्त्री के निधन के बाद श्रीमती गांधी ने अपने कार्यकाल मे गुट-निरपेक्ष की विदेश-नीति के आधारभूत सिद्धान्तो मे किसी प्रकार का विशेष परिवर्तन न करते हुए उसे राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा मे अधिक प्रभावी बनाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पूर्वापेक्षा अधिक व्यावहारिक रूप से लागू करने का प्रयास किया। विभिन्न दबावों के बावजूद इन्दिरा सरकार किसी भी महाशक्ति या गुट-विशेष के प्रभाव मे नही आई। प्रारम्भ से ही अमेरिका ने श्रीमती गांधी के प्रति दबाव की नीति पर अमल किया, लेकिन वह उन्हे अपनी धमकियो से झुका नही सका। बगलादेश के सन्दर्भ मे श्रीमती गांधी ने अमेरिकी प्रशासन के रवैये का तीव्र विरोध किया तो दूसरी ओर रूस के मैत्रीपूर्ण रुख का स्वागत किया । रूस के साथ अगस्त, 1971 मे मैत्री-सन्धि की गई लेकिन गुट-निरपेक्षता और स्वय की निर्णय-शक्ति पर उनसे कभी आँच नही आई । सन्धि की धारा 4 मे यह स्पष्ट उल्लेख किया गया कि सोवियत सघ भारत

की गुट-निरपेक्ष नीति को स्वीकार करता है और उसे विश्व-शान्ति के लिए उपयोगी मानता है। इस अनुच्छेद के शब्द अविकल रूप में इस प्रकार हैं—

"भारत गणतन्त्र सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ की शान्ति-प्रिय नीति का सम्मान करता है जिसका उद्देश्य सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता और सहयोग को सुदृढ करना है।"

"सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ भारत की गुटमुक्त नीति का सम्मान करता है और इसमें पुनः आस्था प्रकट करता है कि विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा कायम रखने तथा संसार में तनाव कम करने में इस नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।"

अनुच्छेद 8 के ये शब्द गुट-निरपेक्ष नीति को बल प्रदान करने और सैनिक गठबन्धन से दूर रहने की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं—

"दोनों देशों के बीच विद्यमान परम्परागत मित्रता के अनुसार महान् दोनों संविद पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करते हैं कि वे किसी भी ऐसे सैनिक गठबन्धन में, जो किसी एक पक्ष के विरुद्ध हो, न तो सम्मिलित होंगे और न भाग लेंगे।"

"प्रत्येक महान् संविद-पक्ष वचनबद्ध है कि वह एक-दूसरे पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करेगा तथा अपने क्षेत्र में किसी प्रकार का ऐसा कार्य नहीं होने देगा जिससे दूसरे पक्ष को सैनिक क्षति होने की आशंका हो।"

सन्धि के सभी अनुच्छेदों की शब्दावली शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की विचारधारा को पुष्ट करने वाली, सैनिक गठबन्धनों का तिरस्कार करने वाली, विवादों को 'पारस्परिक सम्मान और सूझबूझ द्वारा द्वि-पक्षीय ढंग से' निपटाने वाली है। सन्धि सम्पन्न होने के उपरान्त अभी तक दोनों पक्षों की ओर से ऐसी कोई बात नहीं हुई है जो गुट-निरपेक्षता के विरुद्ध जाती हो या किसी भी रूप में सैनिक गठबन्धन को समर्थन देती हो। दिसम्बर, 1971 में बंगलादेश के कारण जो भारत-पाक युद्ध हुआ उसने गुट-निरपेक्षता की नीति को पुनः सही सिद्ध कर दिखाया। पाकिस्तान को हथियार देने वाले देश पाकिस्तान को अंगूठा दिखा गए और देखते ही देखते पाकिस्तान अपने एक भू-खण्ड को अपनी ही मूर्खता से खो बैठा।

10. मार्च, 1977 के ऐतिहासिक सत्ता-परिवर्तन के बाद राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक हलकों में यह आशंका प्रकट की जाने लगी थी कि नई जनता सरकार भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति पर चल सकेगी या नहीं, अथवा उसका झुकाव अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों की ओर हो जाएगा, लेकिन जनता सरकार ने सभी आशंकाओं को निर्मूल करते हुए भारत की स्वतन्त्र विदेश-नीति को गतिशीलता और व्यावहारिकता प्रदान की। जनता पार्टी ने जिस स्पष्ट और असंदिग्ध ढंग से गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाया, उससे भारत की विदेश-नीति को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हुआ। सत्ता में आते ही जनता पार्टी के नेताओं ने साफ तौर पर यह देखा कि भारत के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध उतने

बढ़िया नहीं हैं जितने होने चाहिए। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के तथाकथित साम्यवादी गुट के देशों के साथ भारत के सम्बन्ध मधुर थे, लेकिन आपात-स्थिति के कारण पश्चिम के उदारवादी लोकतन्त्री देशों के सामने उसकी तस्वीर धुँधला गई थी। जनता सरकार ने विश्व के विभिन्न देशों के साथ—विशेषतः अत्यधिक संवेदनशील क्षेत्रों में पड़ौसी देशों से अपने बिगड़े सम्बन्धों को सुधारने के प्रयास आरम्भ कर दिए। सर्वश्री देसाई और चरणसिंह की क्रमश. नेपाल और श्रीलंका की और श्री बाजपेयी की अफगानिस्तान, वर्मा, नेपाल व पाकिस्तान की यात्राएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी बंगलादेश के प्रेसीडेंट जियाउर रहमान की भारत यात्रा और पाकिस्तान के जनरल जिया-उल-हक की प्रस्तावित भारत-यात्रा। जनता सरकार ने पड़ोसी देशों की गलत फहमियों को दूर करने और उनमें विश्वास जगाने में पहल की। उदाहरणार्थ बंगलादेश को गंगा नदी सम्बन्धी विवाद में कुछेक अल्पकालीन रियायतें देकर तथा नेपाल को व्यापार और पारगमन समस्या पर कुछ छूटें देकर उनके प्रति सद्भावना प्रकट की गई। दक्षिण एशिया का बड़ा और ताकतवर देश होने के कारण भारत का ही यह दायित्व था कि वह इन देशों के वास्तविक या काल्पनिक भयों का निवारण करे और अपने नेक इरादों के प्रति इन देशों में विश्वास की भावना पैदा करे। भारत तथा छोटे पड़ौसी देशों के बीच तनावरहित सम्बन्धों की शुरूआत होने से भारत की नेकनीयती के सम्बन्ध में सन्देह की भावना समाप्त हो गई। जनता पार्टी की सरकार ने द्विपक्षीय सम्बन्धों का विकास किया और ऐसी भ्रामक धारणाओं को दूर किया कि भारत किसी एक या दूसरी महाशक्ति से प्रतिबद्ध होता जा रहा है।

11. जनवरी 1980 में श्रीमती गांधी पुन सत्तारूढ़ हो गईं। उनके इस *द्वितीय कार्यकाल में अभी मार्च, 1982 के मध्य तक भारत की गुट-निरपेक्ष तस्वीर* और अधिक शक्ति के साथ उभरी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के हर क्षेत्र में श्रीमती गांधी ने भारत की निर्भीक स्वतन्त्र नीति को उजागर किया है। भारत सभी देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील है। यह किसी भी बड़े राष्ट्र या महाशक्ति के दबाव से प्रेरित होकर कोई नीति नहीं अपनाता। *गुट-निरपेक्ष सम्मेलन में भारत की भूमिका रचनात्मक रही। भारत ने हिन्द*-महासागर में बड़ी शक्तियों की सैनिक उपस्थिति का बराबर विरोध किया। भारत सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील रही है कि एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न और गुट-निरपेक्ष राज्य के लिए अफगानिस्तान का परम्परागत दर्जा बना रहे। भारत में सरकार बदल जाने से पड़ौसियों के प्रति भारत की नीति के बारे में कुछ अटकलें लगाई जाने लगी थी। इसे देखते हुए नई सरकार ने सबसे पहले जो काम किए उनमें एक काम यह भी था कि उसने अपनी नीति का सारतत्त्व बताया जो यह था कि भारत इस क्षेत्र में शान्ति की स्थापना की स्थिति मजबूत करना चाहता है, ताकि इन देशों को बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त रहकर अपने लोगों के आर्थिक और सामाजिक उत्थान की दिशा में प्रयत्न करने का मौका मिले। उच्चस्तरीय दूतों के

माध्यम से भारत ने पारस्परिक विश्वास और मैत्री-सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की ओर प्रभुसत्तात्मक समानता तथा एक-दूसरे राज्य के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों के आधार पर अपने सभी पड़ोसियों के साथ अपने द्विपक्षीय सम्बन्धों को संवर्द्धित करने की कोशिश की है ताकि इस क्षेत्र में सार्थक सहयोग को आगे बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त हो सके। इस तरह राज्यों की प्रभुसत्तात्मक समानता पर आधारित पारस्परिकता अच्छी प्रतिवेशिता के सम्बन्धों का आधार बन सकेगी। भारत के दृष्टिकोण की इस ईमानदारी को सराहा गया है। 13 मार्च, 1982 को श्रीमती गांधी ने बाहरी दबाव के प्रति चेतावनी देते हुए स्पष्ट कर दिया कि भारत स्वतन्त्र गुट-निरपेक्ष नीति पर चलता रहेगा और किसी के आगे नहीं झुकेगा। श्रीमती गांधी ने कहा, "कुछ कारणों से बहुत से देश शुरू से ही भारत के खिलाफ रहे हैं। उनके लिए अगर हम सही भी कहते हैं तो वह भी गलत है। अब हम इन सब बातों के अभ्यस्त हो गए हैं। हमें अब ये बातें तनिक भी विचलित नहीं करतीं। यह निर्णय हमें करना है कि हम कहाँ जाना चाहते हैं और उस ध्येय तक पहुँचने के लिए क्या कदम उठाए जाएँ।"[1]

एक गुट निरपेक्ष देश के रूप में भारत की छवि और प्रतिष्ठा में निरन्तर निखार आ रहा है।

गुट-निरपेक्षता के बदलते हुए रूप
(Changing Patterns of Non-alignment)

गुट-निरपेक्षता की नीति समय के साथ अधिकाधिक सक्रिय और व्यावहारिक बनती जा रही है। प्रारम्भ में इस नीति में आदर्शवाद का आवश्यकता से अधिक पुट था, लेकिन गुट-निरपेक्ष देश अब यह अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं कि कोई भी नीति सार्थक तभी हो सकती है जब उसे यथार्थवाद के धरातल पर उतारा जाए। आज इस तथ्य को समझ लिया गया है कि गुट-निरपेक्षता की नीति की सफलता और प्रभावशीलता के लिए अनिवार्य है कि इसके आधार पर राष्ट्रीय हितों का संरक्षण सम्भव बनाया जाए। भारत गुट-निरपेक्ष देशों का अगुआ रहा है। वस्तुतः इस नीति का प्रवर्तक होने का श्रेय ही भारत को है। स्व. नेहरू के समय तक गुट-निरपेक्षता की नीति में आदर्शवाद इतना अधिक छाया रहा कि अधिकांश राजनीतिक क्षेत्रों में यह सन्देह व्याप्त हो गया कि क्या गुट-निरपेक्ष नीति पर चलकर भारत अपने राष्ट्रीय हितों का पोषण और संवर्द्धन कर सकता है। स्व. शास्त्री के समय गुट-निरपेक्षता की नीति कुछ अधिक सक्रिय और यथार्थवादी बनी और श्रीमती गांधी के नेतृत्व में तो यह नीति बहुत अधिक यथार्थवादी बन गई। श्रीमती गांधी ने यह सिद्ध कर दिखाया था कि किसी भी राष्ट्र के साथ सैनिक सन्धि में बँधे बिना भी एक राष्ट्र कूटनीतिक उपायों तथा गैर-सैनिक मैत्री-सन्धियों के बल पर अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा कर सकता है। श्रीमती गांधी पूरी तरह गुट-निरपेक्ष रहते हुए रूस जैसी

1 हिन्दुस्तान : 14 मार्च, 1982

महाशक्ति की प्रगाढ मैत्री अर्जित करने में सफल हुई और 1971 की यह भारत-रूस-मैत्री सन्धि गुट-निरपेक्ष नीति के नए दृष्टिकोण की परिचायक है। इस सन्धि द्वारा सैनिक गुटबन्दी मे शामिल हुए बिना ही भारत के राष्ट्रीय हितो की रक्षा की गई है।

हाल ही के वर्षों मे गुट-निरपेक्षता की नीति मे पारस्परिक आर्थिक सहयोग के तत्त्व पर विशेष बल दिया जाने लगा है। काहिरा मे हुए द्वितीय शिखर-सम्मेलन मे गुट-निरपेक्ष देशो के पारस्परिक आर्थिक विकास और सहयोग पर विशेष ध्यान दिया गया और तब से यह तत्त्व अधिक विकसित हुआ है। विख्यात कूटनीतिज्ञ और संयुक्तराज्य अमेरिका मे भारत के भूतपूर्व राजदूत टी एन कौल ने ठीक ही लिखा है कि—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे राजनीतिक पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिए जाने से गुट-निरपेक्षता की धारणा की सार्थकता सिद्ध हुई है।"

गुट-निरपेक्षता का परस्पर विरोधी स्वरूप भी अस्तित्व मे है जिसका स्पष्ट उदाहरण पश्चिमी एशिया मे देखने को मिलता है। सयुक्त अरब-गणराज्य, सीरिया आदि अरब-राष्ट्र इजरायल के साथ सैनिक सघर्ष से विवश होकर सोवियत संघ के साथ इस तरह बँध गए है कि उनकी गुट-निरपेक्षता सन्देहास्पद बन गई है। फिर भी अरब-राष्ट्र इस बात के प्रति सचेष्ट है कि उनकी राजनीतिक सम्प्रभुता पर आँच न आए। दूसरे शब्दो मे पश्चिमी-एशिया का यह क्षेत्र एक तरह से 'सचेत और सावधान गुटबन्दी' का क्षेत्र बन गया है।

वर्तमान परिस्थितियों में गुट-निरपेक्षता का महत्त्व

आज के युग मे गुट-निरपेक्षता का महत्त्व मुख्यत इन कारणो से स्पष्ट है—

1 गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने वाले राष्ट्रों की सख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है।

2 सयुक्त राष्ट्रसघ मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो की आवाज आज अधिक सबल है।

3 गुट-निरपेक्ष जगत् को विश्व की महाशक्तियो के बीच सन्तुलनकारी शक्ति के रूप मे मान्यता मिल चुकी है। पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो ही पक्ष गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का समर्थन पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। उनमे इन देशो को आर्थिक और प्रादेशिक सहायता देने की होड़-सी लगी हुई है। दोनो ही महाशक्तियाँ कूटनीतिक समर्थन देकर अधिकाधिक गुट-निरपेक्ष देशो को अपने पक्ष मे करने को उत्सुक हैं।

4. आज के आणविक युग की माँग है सह-अस्तित्व। गुट-निरपेक्षता की नीति इस सह-अस्तित्व की धारणा को बल प्रदान करती है। यह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त मे विश्वास करती है।

5 गुट-निरपेक्षता की नीति शस्त्रीकरण को हतोत्साहित करती है। इसका विशेष बल आर्थिक समृद्धि और शान्तिपूर्ण विकास पर है तथा यह गैर सैनिक उपलब्धियों को महत्त्व देती है।

6. गुट-निरपेक्ष हर प्रकार के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की विरोधी है तथा रचनात्मक राष्ट्रवाद और राष्ट्रों के स्वतन्त्र अस्तित्व की पोषक है।

7. गुट-निरपेक्षता संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों को बल प्रदान करती है तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के उपायों का समर्थन करती है।

8. गुट-निरपेक्षता रंग-भेद और जातिवाद में विश्वास नहीं करती। इसका नारा है 'विश्व-बन्धुत्व'।

9. यह नीति सैनिक गुटों और सैनिक सन्धियों का तिरस्कार करते हुए राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करने वाली है। इसमें आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

10. गुट-निरपेक्षता की नीति लचीली है तथा समय के अनुरूप ढलने की क्षमता रखती है। इस प्रकार यह सतत् विकासशील है। यह निर्भीकता और साहस की नीति है जो न्याय की रक्षा के लिए तलवार उठाने की प्रेरणा भी देती है।

आज मानव-जाति आणविक शस्त्रास्त्रों के बारूदी ढेर पर बैठी हुई है और जरासी भी चिनगारी इस ढेर का विस्फोट कर महाविनाश कर सकती है। इस खतरे से बचने का एक ही मार्ग है कि सहअस्तित्व और गुट-निरपेक्षता की नीति पर चला जाए। राजनीतिक समीक्षाकार आनन्द जैन ने अपने एक लेख में लिखा था—

'सन् 1961 में गुट-निरपेक्षता के तीन आधार-स्तम्भों—नेहरू, नासिर और टीटो ने गुट-निरपेक्षता के पाँच आधार स्वीकार किए थे। पहला, सदस्य-देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो, दूसरा, सदस्य-देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो; तीसरा, सदस्य-देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो; चौथा, सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत से द्विपक्षीय सैनिक समझौता न किया हो; और पाँचवां, सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न दी हो। ये पाँच मोटे सिद्धान्त आज भी गुट-निरपेक्षता की ठोस कसौटी है, हालांकि इस बात पर भी जोर देना जरूरी है कि गुट-निरपेक्ष देशों की विश्व-शान्ति, सह-अस्तित्व तथा राष्ट्र-संघ में पूरी आस्था हो।"

आरम्भ में रूस और अमेरिका दोनों ही गुट-निरपेक्षता को शत्रुतापूर्ण दृष्टि से देखते थे। रूसी नेतृत्व समझता था कि गुट-निरपेक्ष देश अमेरिका के पीछे है और दूसरी ओर अमेरिकी नेतृत्व गुट-निरपेक्ष देशों को रूस का पिछलग्गू मानता था। अमेरिका के तत्कालीन विदेश मन्त्री डलेस ने तो गुट-निरपेक्षता की नीति को 'अनैतिक' तक कह डाला था, लेकिन यथार्थता को समझते हुए श्री कैनेडी और श्री ख्रुश्चेव ने इस नीति को सम्मान देना आरम्भ किया और आज यह बात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येताओं से छिपी नहीं है कि दोनों ही महाशक्तियाँ गुट-निरपेक्षता को अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण भाग मानती हैं और गुट-निरपेक्ष देशों से अधिकाधिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। पश्चिमी यूरोप और चीन के रूप में जो नए शक्ति-केन्द्र विकसित हुए हैं उनकी विदेश-नीति का भी यह एक मुख्य लक्ष्य है कि गुट-निरपेक्ष देशों के साथ अधिकाधिक मैत्री सम्बन्ध कायम किए जाएँ।

गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक महत्त्व को कम करके आँकना वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करना होगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के आधे से अधिक देश गुट-निरपेक्षता के दायरे में आ चुके हैं और विश्व-संस्था के विभिन्न मंचों पर गुट-निरपेक्ष देशों ने "विश्वशान्ति, उपनिवेशवाद के अन्त, परमाणु-अस्त्रों पर रोक, अन्तरिक्ष का उपयोग युद्ध के लिए करने पर रोक, निःशस्त्रीकरण, हिन्दमहासागर को शान्ति-क्षेत्र घोषित करना आदि विषयों पर संगठित रूप से कार्यवाही की है और सफलता पाई है।" समीक्षाकार आनन्द जैन ने ठीक ही लिखा है—"गुट-निरपेक्ष देशों के संगठित प्रयत्न का ही परिणाम है कि आज विश्व के अधिकांश देश आजाद हो गए हैं और जो देश गुलाम रह गए हैं, उनके लिए भी राष्ट्रसंघ की मार्फत ये देश दबाव डाल रहे हैं। अगर गुट-निरपेक्ष देश मिलकर आवाज न लगाते तो दक्षिण-अफ्रीका की जाति-भेद नीति, रोडेशिया की गैर-कानूनी सरकार की मनमानी, अंगोला और मोजाम्बिक पर पुर्तगाली शासन आदि पर राष्ट्रसंघ बार-बार कार्यवाही न करता और बड़े राष्ट्रों की छत्रछाया में उपनिवेशवाद चलता रहता।"

गुट-निरपेक्षता आधुनिक सन्दर्भ में साम्राज्यवाद-विरोध की सूचक है। इतिहास के इस तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता कि आज अधिकांश गुट-निरपेक्ष देश वे ही हैं जो कुछ समय पूर्व तक औपनिवेशिक दासता के शिकार थे। यदि पिछली साम्राज्यवादी शक्तियाँ, जो आज भी छद्मवेश में साम्राज्यवादी महत्त्वाकाँक्षाएँ संजोए हुए हैं, मन ही मन गुट-निरपेक्षता से ईर्ष्या करती हैं तो इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि नवोदित सम्प्रभु राज्य अपने पिछले 'स्वामियों' का प्रभुत्व या प्रभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं है। राजनीतिक प्रभुत्व की बात तो दूर रही, एशिया और अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्र तथाकथित 'बड़े राष्ट्रों' के आर्थिक प्रभुत्व के प्रति भी सचेत हैं, कठिनाइयाँ सहकर भी 'आर्थिक साम्राज्यवाद' का विरोध कर रहे हैं। विगत कुछ वर्षों का इतिहास साक्षी है कि विश्व के अनेक भागों में 'डॉलर साम्राज्यवाद' को कितनी निराशा हाथ लगी है। डॉलरों के जिस 'स्वामी' को कभी राष्ट्रीय आन्दोलनों और स्वतन्त्रता के पुजारियों का संरक्षक समझा जाता था उसे आज हर कहीं सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। गुट-निरपेक्ष नीति कितनी प्रभावी सिद्ध हो सकती है, इसका एक सबल प्रमाण यही है कि पहले तो भारत को विश्व के दोनों गुटों से सहायता मिलती रही, लेकिन जब डॉलरपतियों ने अपनी दबाव-नीति अपनाई तो भारत भीषण संकटों को भी झेल गया क्योंकि दूसरे शक्तिशाली गुट ने भारत की गुट-निरपेक्षता को पूर्ण सम्मान दिया और इस तरह एक महान् पूंजीवादी शक्ति के अनेक 'षड्यन्त्रों' को विफल कर दिया गया। यह सब कुछ 'बिना किसी शर्त' के हुआ। भारत की गुट-निरपेक्षता पर तनिक भी आँच नहीं आई। निक्सन-प्रशासन ने अपने जीवन की सन्ध्या में अन्ततोगत्वा यह समझ लिया था कि भारत की गुट-निरपेक्षता को खण्डित करने का उसका प्रयास स्वयं उसके लिए 'एक बदनामी' और 'एक हानिकारक कार्य' सिद्ध हुआ है और इसलिए 'महापुरुष' कीसिंगर भारतीय नाराजगी को दूर करने की 'कूटनीतिक कलाबाजियाँ' दिखाने लगे। यदि हम भारत

और पाकिस्तान को तराजू के दोनों पलड़ो में रखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि गुट-निरपेक्षता अधिक प्रभावी और कामयाब सिद्ध हुई है या सैनिक गुटबन्दी की नीति।"

5 सितम्बर 1981 के हिन्दुस्तान का सम्पादकीय मूल्यांकन है कि—

"निर्गुट आन्दोलन को प्रारम्भ हुए बीस वर्ष पूरे हो चुके हैं। आन्दोलन का पहला सम्मेलन सितम्बर 1961 मे वेलग्रेड में हुआ था जिसमे उसके संस्थापक मार्शल टीटो, प नेहरू और श्री नासिर के अतिरिक्त घाना के राष्ट्रपति एनक्रुमा, साइप्रस के राष्ट्रपति मकारियोस तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति डॉ सुकर्णो जैसे उल्लेखनीय व्यक्तियों ने भाग लिया था। पहले सम्मेलन में कुल पच्चीस देशो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। उसकी बीसवी वर्षगाँठ पर संयुक्त राष्ट्रसघ मे आयोजित एक बैठक मे 96 देशो के प्रतिनिधि उपस्थित थे अर्थात् संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुल सदस्य सख्या के दो-तिहाई देश निर्गुट आन्दोलन से सम्बद्ध हो चुके हैं। इनमे प्रायः सभी राजनीतिक प्रणालियो मे विश्वास करने वाले और विभिन्न शासन-व्यवस्थाओं वाले देश हैं। आन्दोलन की सफलता और निरन्तर विकास का यह एक स्पष्ट प्रमाण है।

निर्गुट आन्दोलन की आवश्यकता उस समय महसूस की गई जब सयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्र दो गुटो मे बँटे हुए थे और उनकी आपसी टकराहट के कारण जो सदस्य इन दोनो गुटो से अलग थे, वे कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा पा रहे थे। निर्गुट आन्दोलन ने प्रारम्भ से ही साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, जातिवाद जिसमे यहूदीवाद भी शामिल है, विदेशी घौंसपट्टी और 'महाशक्ति तथा गुटों की राजनीति' के विरुद्ध रुख अपनाया, लेकिन यद्यपि ऊपर से देखने मे ये बातें ऐसी हैं जिनसे किसी का विरोध नहीं हो सकता तथापि आन्दोलन को अपने रास्ते मे कम कठिनाइयो का सामना नही करना पड़ा है। इसका एक कारण सदस्य-राष्ट्रों की भिन्नता भी रही है। प्रायः उनके हित आपस मे टकराए हैं। ईराक-ईरान युद्ध एक उदाहरण है। दोनों ही देश निर्गुट आन्दोलन के सदस्य हैं, फिर भी विगत एक वर्ष से उनके बीच युद्ध जारी है। निर्गुट आन्दोलन की ओर से विदेश-मन्त्रियों की एक समिति उनका विवाद हल कराने का प्रयास कर रही है किन्तु कई महीनो के प्रयत्नों के बावजूद उसे अब तक कोई विशेष सफलता नहीं मिल पाई है। इसी प्रकार अगोला की समस्या है। अरब देशों पर इजरायली हमले की समस्या है। हमलावरों के विरुद्ध निर्गुट राष्ट्र केवल विरोध प्रकट करके रह जाते हैं, अभी तक वे इस स्थिति मे नहीं हैं कि उनका सक्रिय प्रतिकार कर सकें।

फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि विश्व राजनीति पर निर्गुट आन्दोलन का रचनात्मक प्रभाव पड़ा है और जिस प्रकार से शान्ति को नित्य नए-नए खतरे पैदा हो रहे हैं, उन्हें देखते हुए आन्दोलन को अधिक सशक्त बनाने के अलावा और कोई विकल्प हमारे सामने नहीं है। शीतयुद्ध के आसार फिर बनने लगे हैं, हथियारों की होड़ पुनः शुरु हो गई है, छोटे-मोटे देशों के लिए फिर नए खतरे पैदा हो रहे हैं। निर्गुट राष्ट्रों को मिलकर इन सब समस्याओं पर सोचना चाहिए और उनके हल खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि हमें आन्दोलन के

जनक मार्शल टीटो और पं नेहरू को केवल स्मरण करके नहीं छोड़ देना चाहिए वरन् उन क्षितिजो को भी निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए जो आन्दोलन की स्थापना के समय उनकी कल्पना में थे।"

पिछले वर्षों में चीन और पाकिस्तान ने भारत की गुट-निरपेक्षता को 'दुहरे गठबन्धन' (Double Alliance) की सज्ञा दी। उनका तर्क यह है कि भारत गुट-निरपेक्षता के नाम पर अमेरिका और रूस दोनो से सहायता प्राप्त करता रहा है और अब केवल रूस से सहायता प्राप्त करता है, इस प्रकार या तो भारत की गुट-निरपेक्षता 'दुहरा-गठबन्धन' का ही छद्मनाम था या अब भारत ने रूस के साथ बन्धकर गुट-निरपेक्षता को तिलांजलि दे दी है, लेकिन ये दोनो ही आलोचनाएँ गलत हैं और इस बारे में भारत का गुट-निरपेक्षता सम्बन्धी पूर्व-विवेचन स्थिति को भली प्रकार स्पष्ट कर देता है। आज गुट-निरपेक्षता एक सबल तत्त्व है और प्रबल नीति है जिसे दुनिया की कोई शक्ति नकार नहीं सकती और यदि नकारती है तो अपने आपको धोखा देती है।



21 द्वि-ध्रुवीयता (द्वि-केन्द्रीयता) एवं बहु-केन्द्रवाद (BIPOLARITY AND POLYCENTRISM)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा में द्वि-ध्रुवीयता अथवा द्वि-केन्द्रीयता का सरलतम अर्थ है विश्व का दो शक्ति-गुटों या केन्द्रों में विभाजित हो जाना। इसी प्रकार बहु-केन्द्रवाद का आशय है विश्व में शक्ति के केवलमात्र दो केन्द्रों की अपेक्षा अनेक शक्ति केन्द्रों का उदय हो जाना। द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद विश्व द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) की ओर बढ़ा और सन् 1960 के आते-आते इस द्वि-ध्रुवीयता के बन्धन शिथिल पड़ने लगे और विश्व शनैः शनैः बहु-केन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर अग्रसर होने लगा। आज स्थिति यह है कि विश्व में शक्ति के दो से अधिक केन्द्र स्पष्टतः प्रकट हो चुके हैं, यद्यपि उनका स्वरूप सुनिश्चित नहीं हुआ है और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ विचारकों में मतभेद भी है कि क्या वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-व्यवस्था को 'बहुध्रुवीय' (Multi-polar) कहा जा सकता है। अग्रिम पंक्तियों में हम द्वि-ध्रुवीयता से बहु-केन्द्रवाद की ओर बदलते इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे।

कठोर द्वि-ध्रुवीयता (Tight Bipolarity)

द्वितीय महायुद्ध का एक अत्यन्त क्रान्तिकारी और सुदूरगामी परिणाम यह निकला कि प्राचीन शक्ति-सन्तुलन का पूरी तरह विनाश हो गया। युद्ध के उपरान्त दो प्रमुख फासिस्ट शक्तियों—जर्मनी और इटली का पूर्ण पराभव हो गया। ब्रिटेन राजनीतिक, आर्थिक और सामरिक दृष्टि से बहुत क्षीण हो गया। यूरोपीय महाद्वीप पर यदि कोई देश युद्धकालीन महान् शक्तियों के बावजूद भी शक्तिशाली होकर निकला तो वह था सोवियत संघ। उसको विशाल प्रदेशों की उपलब्धि हुई और उसकी आर्थिक नीतियों का अनेक पड़ौसी देशों पर प्रभाव पड़ा। युद्धकाल में तो उसने अपनी सीमाओं का पश्चिम में विस्तार कर ही लिया, बाद में उसके सीमान्तों में वे सम्पूर्ण प्रदेश भी शामिल हो गए जो किसी समय जारकालीन रूस के भाग थे। उसका विश्व की राजनीति पर दूरगामी प्रभाव पड़ा और साम्यवादी सिद्धान्तों तथा जीवन-दर्शन में मानव की आस्था में वृद्धि हो गई। महायुद्ध से विनष्ट और अस्त-व्यस्त संसार में केवल एक ही देश बचा जो सोवियत संघ का मुकाबला करने में सक्षम था और लोकतन्त्रवादी शक्तियों को सशक्त नेतृत्व दे सकता था। यह देश था संयुक्तराज्य अमेरिका, जिसे युद्ध में कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची थी, न उसे विनाश-

कारी वमवर्षा का शिकार होना पडा था और न उसकी भूमि पर रक्तरंजित होली ही खेली गई थी। आर्थिक दृष्टि से वह ससार का समृद्धतम देश था। युद्ध के बाद ससार के सभी पूँजीवादी देश अमेरिकी सहायता के बल पर अपनी अर्थ-व्यवस्था को ठीक रास्ते पर लाने की आशा लगाए बैठे थे।

महायुद्ध के बाद, कुछ काल तक सयुक्तराज्य अमेरिका ही अणु-रहस्य का एकमात्र स्वामी था। सोवियत रूस के लिए यह एक गम्भीर चुनौती थी। स्वभावतः वह शक्ति-सन्तुलन को अपने विपक्ष मे जाने से रोकने के लिए अणु शक्ति के रहस्य का पता लगाने मे जुट गया और अपने देश की सेनाओ तथा अपने सहयोगी और मित्रराष्ट्रो की सेनाओं का घेरा डाल कर सुरक्षित बनाने का प्रयत्न करने लगा।

महायुद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न हुई उपर्युक्त स्थितियो ने स्पष्ट कर दिया कि विश्व मे दो ही प्रमुख शक्ति केन्द्र है—सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्धोत्तर विश्व मे प्रारम्भ से ही दोनों महाशक्तियाँ परस्पर प्रतियोगी बन गईं, अत. दोनो के ही नेतृत्व मे दो विरोधी शक्तिशाली गुटो का निर्माण होने लगा। दो गुटो के इस निर्णय को सिद्धान्तो के संघर्ष ने विशेष प्रोत्साहन दिया। द्वितीय महायुद्ध के बाद सिद्धान्तों और आदर्शों पर विशेष आग्रह किया जाने लगा। सोवियत रूस साम्यवाद के प्रचार और प्रसार के लिए प्रयत्नशील हो गया और सयुक्तराज्य अमेरिका के नेतृत्व मे पश्चिमी राष्ट्र साम्यवाद को अवरुद्ध करने के लिए कटिबद्ध हो गए। रूस और अमेरिका दोनो ही महाशक्तियाँ अपने सिद्धान्तो की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे वे एक दूसरे के प्रति असहिष्णु बन गईं। साम्यवाद की विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षाओ को अमेरिकी सुदृढ विरोध और सकल्प का मुकाबला करना पडा।

यद्यपि द्वि-ध्रुवीकरण की प्रक्रिया द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद ही शुरू हो गई, तथापि सन् 1947 तक यह स्पष्ट नही हो पाया कि विश्व द्वि-ध्रुवीय (B polar) बन गया था। इस समय तक रूस का प्रतिरोध मुख्यतः ब्रिटेन के प्रति था, अमेरिका के प्रति नही। रूसियों को विश्वास था कि अमेरिका शीघ्र ही पुनः अपनी परम्परागत पृथकतावादी नीति (Traditional Isolationism) की ओर लौट जाएगा। लेकिन रूसी अनुमान गलत सिद्ध हुआ। महायुद्ध के बाद ब्रिटेन राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक दृष्टि से इतना सक्षम नहीं रहा कि वह पूँजीवादी विश्व को नेतृत्व दे सकता। ब्रिटेन तो शीघ्र ही आर्थिक दृष्टि से अपने पुनः निर्माण के लिए अमेरिका का मुखापेक्षी हो गया। नेतृत्व अमेरिका ने सम्भाल लिया। मार्च, 1947 मे ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Doctr ne) के अन्तर्गत अमेरिका यूनान और टर्की में ब्रिटिश उत्तरदायित्वो को पूरा करने को सहमत हो गया। अमेरिका ने अपना यह दृढ निश्चय व्यक्त कर दिया कि वह उस प्रत्येक देश की सहायता करेगा जो साम्यवाद के विरुद्ध उसकी सहायता मांगेगा। अमेरिकी राजनीतिज्ञों को यह विश्वास हो गया कि रूस चीन और पूर्वी यूरोप मे साम्यवाद के प्रसार ने अमेरिका की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा पैदा कर दिया है। अतः अमेरिका को अविलम्ब ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप से 'अवरुद्ध' कर दिया जाए।

अमेरिका और रूस एक दूसरे के प्रति अविश्वास और सन्देह के वशीभूत हो अपने पक्ष में शक्ति-सचय करने लगे। शीतयुद्ध (Cold War) शुरू हो गया जो क्रमशः तेज होता गया। दोनों महाशक्तियों का संघर्ष (Conflict) पहले तो यूरोप तक ही सीमित रहा, किन्तु धीरे-धीरे यह अन्य महाद्वीपों में भी फैल गया। सबसे पहले एशिया संघर्ष-स्थल बना, बाद में मध्यपूर्व और तब लेटिन अमेरिका व अफ्रीका। दोनों ही महाशक्तियाँ विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को अपने-अपने पक्ष में लेने का प्रयत्न करने लगीं। सोवियत रूस ने आश्चर्यजनक तीव्रता से पूर्वी यूरोप में अपनी प्रभुता का विस्तार कर लिया। युद्धोपरान्त सन् 1948 तक ही केवल तीन वर्ष की अल्पावधि में ही पूर्वी यूरोप के सात देशों को पूरी तरह 'लाल' बना दिया गया। इतना ही नहीं, युद्ध के बाद केवल चार वर्ष की अवधि में ही सोवियत रूस ने अणु-बम के रहस्य को खोज लिया। अब स्थिति यह थी कि रूस और अमेरिका दोनों ने केवल एक दूसरे को आणविक हथियारों की धमकी देने लगे वरन् विश्व के हर भाग में और हर मामले में एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करने लगे। अमेरिकी गुट और रूसी गुट में संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर अणु-शक्ति के नियन्त्रण व नियमन, निःशस्त्रीकरण, पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धियों, जर्मनी व बर्लिन के प्रश्नों, यूरोपीय सुरक्षा-समस्याओं, एशिया व अफ्रीका के अल्प-विकसित राष्ट्रों के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद-विवाद और कूटनीतिक संघर्ष चालू हो गए।

सोवियत प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए अमेरिका की मार्शल योजना के अन्तर्गत यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रभावशाली प्रयत्न किए गए। मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में अक्तूबर, 1947 में रूस ने यूरोप के नौ साम्यवादी देशों के 'कोमिनफार्म' की स्थापना की। रूस ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियन्त्रण को और भी कठोर बना दिया। शक्ति के दो धड़े अथवा गुट बन गए और उनमें अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों के विकास के लिए जी-तोड़ स्पर्द्धा होने लगी। चीन में साम्यवादियों की महान् विजय ने जहाँ सोवियत गुट को अधिक प्रबल बना दिया, वहाँ अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों में यह भय पैदा हो गया कि उपनिवेश या नवजाग्रत राज्यों में बसने वाली अविकसित जनता चीन का अनुकरण कर पश्चिमी लोकतन्त्र की अपेक्षा कहीं साम्यवादी व्यवस्था को ही पसन्द न करले। अमेरिका व अन्य पश्चिमी राज्यों के राजनेता इस बात से निश्चित हो गए कि विश्व के अल्प विकसित देश साम्यवादी प्रसार के लिए उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। अतः जनवरी, 1949 में अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की।

विश्व का तेजी से दो शक्ति-ध्रुवों या शक्ति-केन्द्रों में विभाजन होता गया। 1 अक्तूबर, 1949 को पेकिंग में बाकायदा साम्यवादियों का जनवादी गणराज्य स्थापित हो गया। पश्चिमी शक्तियाँ साम्यवाद के विरोध के लिए राजनीतिक व

आर्थिक स्तर के साथ सैनिक स्तर पर भी उतर आई। अमेरिका ने अन्य देशों के साथ सैनिक सन्धियों व पारस्परिक प्रतिरक्षा-सहायता-कार्यक्रम का तरीका प्रारम्भ किया और अप्रेल, 1949 मे नाटो की स्थापना हुई। चूंकि नाटो फार्मूला ने यूरोप मे अच्छा काम किया, अत अमेरिका ने इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रों मे भी किया। इसके अन्तर्गत नाटो सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई, सदस्य देशो मे सैनिक अड्डे स्थापित किए गए और विभिन्न मैत्री सन्धियाँ क्रियान्वित की गई। सारा संसार इस प्रकार तेजी से दो भागो में बँटता गया—एक था 'साम्यवादी भाग' (The Communist Part) और दूसरा था अमेरिकियो के शब्दो में 'मुक्त विश्व' (The Free World)।

कुछ समय तक यही प्रतीत हुआ कि विश्व का यह द्वि-ध्रुवीकरण या द्वि-केन्द्रीकरण स्थायी बन गया है और भविष्य मे यह व्यवस्था अर्थात् द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) अधिक सुदृढ़ हो जाएगी। इस समय जिन तटस्थ राष्ट्रों (Neutrals) का उदय हुआ, उन्हे इस द्वि-ध्रुवीय विश्व (The Bipolar World) मे कोई स्थान नही दिया गया। रूसी और अमेरिकी दोनों ही भारत जैसे राष्ट्रो को सन्देह की निगाह से देखते रहे। दोनो ही महाशक्तियों ने इस उक्ति पर आचरण किया कि 'जो हमारे साथ नही है, वह हमारे विरुद्ध है' (He who is not with us is against us)। युद्धोत्तर विश्व का द्वि ध्रुवीय चरित्र इस तरह प्रकट हुआ कि अनेक देश वास्तविकता के अन्य पहलुओ को भुला बैठे और इस बात के प्रति आश्वस्त हो गए कि अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व दो परस्पर प्रतिरोधी गुटो मे बँट जाएगा और द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था पक्की या स्थिर (Fixed) हो जाएगी। स्टीवेन रोजन एवं वाल्टर जोन्स के अनुसार इस प्रकार की कठोर द्वि-ध्रुवीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Tight Bipolar International System) सन् 1945 से 1955 तक अस्तित्व मे रही और इस युग मे सोवियत अमेरिकी प्रतिस्पर्द्धा—विशेषकर यूरोप पर, बहुत ही तीव्र रही जिससे न केवल शीतयुद्ध उग्र हुआ बल्कि प्रतिद्वन्द्वी सन्धियों और गुटों का निर्माण भी तेजी से हुआ। तकनीकी रूप में यद्यपि वारसा पैक्ट सन् 1954 तक अस्तित्व में नहीं आया, तथापि सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में एक निश्चित गठबन्धन हो चुका था तथा औपचारिक चीनी सोवियत सम्बन्ध भी अस्तित्व मे थे। जहाँ तक अमेरिकी गुट सरचना का प्रश्न है, यह लगभग विश्वव्यापी थी और आज भी है। अमेरिकी गुट सरचना का विकास इस प्रकार हुआ[1]—

"अमेरिकी राज्यों का सगठन, 1947 (22 सदस्य),
उत्तरी अटलांटिक सन्धि, 1949 (15 सदस्य),
जापान के साथ सुरक्षा सन्धि, 1951 (द्वि-पक्षीय),

1 *Rosen and Jones* : op. cit., 1974, p. 213.

आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड के साथ सुरक्षा सन्धि, 1951 (त्रि-पक्षीय),
फिलीपाइन गणराज्य के साथ पारस्परिक प्रतिरक्षा सन्धि, 1951
(द्वि-पक्षीय),

दक्षिण कोरियायी गणराज्य के साथ पारस्परिक प्रतिरक्षा सन्धि, 1953
(द्वि पक्षीय),

दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक प्रतिरक्षा सन्धि, 1954 (आठ सदस्य),
चीनी गणतन्त्र (ताइवान) के साथ पारस्परिक प्रतिरक्षा सन्धि, 1954
(द्वि-पक्षीय)।"

संयुक्तराज्य अमेरिका का सैनिक गतिविधियों के किसी न किसी स्तर पर विश्व के प्रत्येक महाद्वीप की लगभग 45 विभिन्न सरकारों के साथ गठबन्धन था। सन् 1955 के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि जहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहाँ संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन एक ओर तथा सोवियत संघ और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ संयुक्त थे। यह ध्यान रहे कि कठोर द्वि-ध्रुवीयता से यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि दोनों शक्ति-गुट पूरी तरह 'बराबर' हों। यह सर्वथा सम्भव है कि द्वि-ध्रुवीयता सैनिक शक्ति में दोनों गुटों के असमान रहने पर भी अस्तित्व में रहे। दूसरे शब्दों में वास्तविक कठोर द्वि-ध्रुवीयता (Actual Tight Bipolarity) और पूर्ण कठोर द्वि-ध्रुवीयता (Perfect Tight Bipolarity) में थोड़ी भिन्नता है।

शिथिल द्वि-ध्रुवीयता—'बहु-केन्द्रवाद की ओर विकास'
(Loose Bipolarity : Progress Towards Polycentricism)

कठोर द्वि-ध्रुवीयता की स्थिति सदैव बनी रहने वाली नहीं थी, दरार पहले ही पड़ चुकी थी और शताब्दी के पाँचवें दशक के मध्य से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने कुछ इस प्रकार की करवट ली, ऐसी नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, नई विचारधाराएँ पनपीं और राष्ट्रीय चरित्र या राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित करने की भावनाएँ बलवती हुईं कि पहले की कठोर द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था शिथिल होने लगी। दो महाशक्तियों की गुटीय व्यवस्थाएँ आन्तरिक संघर्षों और सदस्य-राज्यों के पारस्परिक अविश्वास के बढ़ते प्रभाव के कारण ढीली पड़ने लगी। कठोर द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था शिथिल होकर धीरे-धीरे बहु-केन्द्रवाद (Polycentricism) की ओर बढ़ने लगी।

विश्व के द्वि-ध्रुवीय चरित्र को सबसे पहले राष्ट्रीयता की शक्तियों (The Forces of Nationalism) ने चुनौती देना प्रारम्भ किया। यह चुनौती वास्तव में सन् 1948 में ही मिल गई जबकि यूगोस्लाविया ने सफलतापूर्वक सोवियत प्रभाव-क्षेत्र से स्वयं को मुक्त कर लिया। यद्यपि सोवियत यूगोस्लाव-संघर्ष को सैद्धान्तिक संघर्ष का रूप दिया गया तथापि यह एक तथ्य है कि यूगोस्लाविया की राष्ट्रीय

महत्त्वाकांक्षाएँ ही सोवियत शिकंजे के प्रति विद्रोही बनीं। सोवियत शक्ति-गुट के लिए जून, 1948 में यूगोस्लाविया का पृथक् हो जाना एक भारी आघात था। स्वतन्त्र विचारों वाले कट्टर राष्ट्रीयवादी मार्शल टीटो यह बर्दाश्त नहीं कर सके कि सोवियत रूस यूरोप के साम्यवादी शासनतन्त्रों या यूगोस्लाविया पर अपनी कठोर दृष्टि रखें और उन्हें 'लौह-आवरण' (Iron Curtain) में छिपाए रखें। यूगोस्लाविया ने रूसी प्रभाव से मुक्त होकर अपने को पश्चिमी गुट के साथ आबद्ध नहीं किया, वरन् एक स्वतन्त्र और सक्रिय असंलग्न-नीति पर चलना शुरू कर दिया। विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था पर यह पहला आघात था जिसके दूरगामी प्रभाव हुए।

रूस और अमेरिका के शक्ति-गुटों में विश्व के जो नवोदित एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्र सम्मिलित नहीं हुए थे, उन्होंने भी दोनों गुटों से पृथक् रहने की नीति अपनाकर द्वि-केन्द्रीय व्यवस्था को शिथिल बनाया। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका भारत की रही। भारत के प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री स्व नेहरू ने कहा कि उनके देश का प्रमुख लक्ष्य है दो विरोधी गुटों के विश्व राजनीति के सागर के दो तटों के बीच एक पुल का निर्माण करना—ऐसा पुल जिसके द्वारा दोनों गुटों की दूरियों और मतभेदों को दूर करके उन्हें मिलाया जा सके। यद्यपि भारत की यह आकांक्षा नहीं रही कि वह एक तीसरे गुट का निर्माण कर उसका नेतृत्व करे, तथापि अनेक एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों ने भारतीय दृष्टिकोण का अनुसरण किया और इस प्रकार विश्व के द्वि-केन्द्रीय चरित्र को धूमिल बनाने में निर्णायक योग दिया। नासिर का मिस्र और एनक्रूमा का घाना इनमें अग्रणी रहे। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि लगभग एक-तिहाई विश्व ने यही निर्णय किया है कि दोनों शक्ति-गुटों में से किसी में भी सम्मिलित न हुआ जाए और सक्रिय तटस्थता अथवा असंलग्नता की नीति पर चला जाए।

शीघ्र ही दोनों शक्ति-गुटों में और भी शिथिलता आई। पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपना आर्थिक पुनर्निर्माण कर और अपने को पुन. शक्ति-सम्पन्न कर यह चाहा कि अब वे अमेरिकी नीतियों का अन्धानुकरण न करें अर्थात् अमेरिका के पिछलग्गू बन कर न रहें। यही कारण था कि सन् 1956 में ब्रिटेन और फ्रांस ने स्वेज पर आक्रमण किया, यद्यपि रूस की आणविक अस्त्रों के प्रयोग की धमकी और अमेरिका की नाराजगी के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा लेकिन इस घटना ने इस तथ्य की पुष्टि कर दी कि अमेरिका का नेतृत्व अब शिथिल होने लगा है और पश्चिमी गुट में दरार पड़ने लगी है।

विशेषकर फ्रांस ने, जनरल डिगॉल के नेतृत्व में विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को विशेष आघात पहुँचाया। राष्ट्रपति डिगॉल की प्रमुख चिन्ता सदैव यही रही कि फ्रांस किसी तरह अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को फिर से प्राप्त करे। इसीलिए शनैः शनैः वह अपने राष्ट्र को अमेरिकी प्रभाव से मुक्त करने लगा और दूसरी ओर ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रोकने की चेष्टा में लगा रहा। इसलिए साम्यवादी देशों के साथ उसने मधुर सम्बन्ध स्थापित किए। साम्यवादी चीन के साथ फ्रांस के

मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में विकास हुआ। मास्को की अणु परीक्षण निरोध सन्धि पर हस्ताक्षर न करने वाले केवल दो ही बड़े थे—चीन और फ्रांस। दोनों ही ने यह तर्क दिया कि सन्धि का ध्येय यह है कि सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन अणु शास्त्रों के क्षेत्रों मे अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते हैं एवं उनका प्रयोजन यह है कि अन्य देश इस शक्ति का विकास न करने पाएँ।

फ्रांस ने वियतनाम में संयुक्तराज्य अमेरिका की कार्यवाही की निन्दा की, यूरोपीय साझा बाजार मे ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की डिगॉल की नीति ने पश्चिमी शिविर मे फूट का संकेत दिया, संयुक्तराज्य अमेरिका ने बहुत चाहा कि ब्रिटेन को यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता मिल जाए, किन्तु डिगॉल अपने हठ पर दृढ रहे। इतना ही नहीं, नि शस्त्रीकरण के प्रश्न पर इनमें मतैक्य नहीं हो सका। जब फ्रांस को संयुक्तराष्ट्र नि शस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बनाया गया तो उसने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। इससे भी बढकर घटना नाटो को पोलरिस अस्त्रो से युक्त करने के प्रस्ताव के सम्बन्ध मे घटी। सन् 1962 में अमेरिका और ब्रिटेन मे एक समझौते द्वारा यह तय हुआ कि नाटो राज्यो की सेनाओं को पोलरिस प्रक्षेपास्त्रों से लैस किया जाए। फ्रांस ने इसमे शामिल होने से इन्कार कर दिया और निर्णय लिया कि वह इस कार्य मे साथ नहीं देगा। सन् 1963 मे फ्रांसीसी सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देने और दोनों राष्ट्रों के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान हो जाने की घटना से और भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति डिगॉल का नाटो-राज्यों से भिन्न अपना अलग ही रास्ता है।

राष्ट्रपति डिगॉल ने संसार के समक्ष एक सुझाव रखा। उन्होंने कहा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डावाँडोल है, अत अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके इस क्षेत्र का तटस्थीकरण (Neutralisation of S E Asian Region) कर दिया जाए। संयुक्तराज्य अमेरिका और उसके साथ राज्यों ने डिगॉल के सुझाव का कटु-विरोध किया। वास्तव मे फ्रांस की ये सभी कार्यवाहियाँ एटलांटिक समुदाय की एकता को भग करने वाली थी। इस एकता को कठोरतम आघात 12 मार्च, 1966 की डिगॉल की इस घोषणा से पहुँचा कि फ्रांस नाटो संगठन से अलग होना चाहता है। फ्रांस की माँग पर ही संयुक्त राज्य अमेरिका को फ्रांस की भूमि पर स्थित नाटो अड्डों को खाली कर देना पड़ा। फ्रांस के नाटो के परित्याग के निर्णय से पश्चिमी गुट पर एक महान् संकट आ गया। नाटो मे पश्चिमी जर्मनी को सन् 1955 में इस शर्त पर शामिल किया गया था कि वह स्वतन्त्र रूप से अपनी सैनिक शक्ति मे वृद्धि नहीं करेगा। इस शर्त के लिए स्वय फ्रांस बहुत दृढ था। परन्तु फ्रांस के नाटो से निकल जाने पर पश्चिमी जर्मनी भी इस शर्त से मुक्त हो जाता और तब वहाँ सैन्य शक्ति मे वृद्धि करने का कार्यक्रम जोर-शोर से चलने की सम्भावना हो जाती। पश्चिमी जर्मनी द्वारा सैनिक-शक्ति बढाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों में होती और इस तरह हथियारो की होड का कुचक्र फिर जोरो से चलना शुरू हो जाता। राष्ट्रपति डिगॉल के इस निर्णय के कारण यूरोप की कूटनीतिक

स्थिति खराब हो सकती थी और पश्चिमी जर्मनी के कारण युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती थी।

ऊपर से विचित्र दिखाई देने वाले जनरल डिगॉल अपने व्यवहार से राजनीतिक जगत् को चौंकाते रहे। कुछ लोगों ने इसे 'वृद्धावस्था की सनक' का नाम दिया। मगर जो लोग इन कार्यवाहियों के उद्देश्य खोजने के पीछे थे उनके अनुसार यूरोप और सम्पूर्ण विश्व के प्रति जनरल डिगॉल का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। उन्होंने कहा था—"अमेरिका विश्व में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है और स्वभावतः वह अपनी शक्ति बढ़ाने पर तुला हुआ है।" इस शक्ति-विस्तार से बचने के लिए उनके अनुसार दो ही मार्ग थे। पहला मार्ग था कि अमेरिकी गुट का सदस्य बना जाए और यह रास्ता आसान था। दूसरा रास्ता था अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा। इसके लिए यह जरूरी था कि फ्रांस और जर्मनी एक दूसरे के निकट आएँ अन्यथा अमेरिकी प्रभाव से बच नहीं सकेंगे। इसीलिए फ्रांस और जर्मनी में राजनीतिक घनिष्ठता के लिए सक्रिय कदम उठाए जाते रहे। जनरल डिगॉल का विश्वास था कि फ्रांस ने जिस आर्थिक ढाँचे को पिछले 6 वर्षों में खड़ा किया है, उसे नष्ट न होने दे ताकि उसे अमेरिकी पद्धति द्वारा आत्मसात् न किया जा सके। अपने व्यक्तित्व को बनाए रखने के लिए ही उनकी तीसरी शर्त यह थी कि विश्व में इस बहम को समाप्त कर दिया जाए कि शक्ति के कुल दो ही गुट हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। तीसरे गुट के निर्माण के लिए उन्होंने फ्रांस को पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट लाना चाहा ताकि 'विश्व-राजनीति में दो गुटों की पद्धति के अतिरिक्त भी कुछ हो।' इसी नीति को अपनाकर उन्होंने ब्रिटेन के यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने का विरोध किया।

जनरल डिगॉल ने अत्यन्त संदिग्ध और विवादास्पद परिस्थितियों में भी फ्रांस की प्रतिष्ठा का निरन्तर विकास किया। डिगॉल ने अपने राष्ट्रपतित्वकाल में फ्रांस को वास्तव में त्वरित गति से आगे बढ़ाया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस रूपी जहाज की शक्ति और प्रतिष्ठा को स्थापित करने की बहुत कुछ असफल चेष्टा की। अप्रेल, 1969 में राष्ट्रपति डिगॉल के शासनकाल के समाप्त होने के बाद न केवल फ्रांस के इतिहास में वरन् वास्तव में समस्त यूरोप के इतिहास में एक युग का अन्त हुआ। पोम्पिदू नए राष्ट्रपति बने। नई फ्रांसीसी सरकार ने डिगॉल-शासन की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण में कुछ नरमी प्रदर्शित की और इस बात की सम्भावना दिखाई देने लगी कि फ्रांस नाटो का परित्याग नहीं करेगा तथा फ्रांस व मित्र-देशों की सेनाओं में सहयोग की भावना पैदा होगी। यह स्पष्ट हो गया कि फ्रांस ने डिगॉल के नेतृत्व में अपने जिस पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को निखारा, उसको वह हर हालत में रखा करेगा। फ्रांस यह नहीं चाहेगा कि एक शक्ति-केन्द्र के रूप में उसका जो उदय हो रहा है वह समाप्त हो जाए।

विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में इस बात से भी आघात पहुँचा है कि अब अणु-आयुधों का एकाधिकार केवल अमेरिका और रूस के

पास ही नहीं रहा। ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणु-शक्ति के स्वामी बन चुके हैं। यद्यपि इनकी अणु-शक्ति अभी इतनी सम्पन्न नहीं है कि वह अमेरिका अथवा सोवियत संघ की अणु-शक्ति का मुकाबला कर सके और कुछ समय तक आणविक शक्ति का सन्तुलन अधिक प्रभावित होने की सम्भावना नहीं है, निश्चय ही ये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतन्त्र आचरण करते जाएँगे और अमेरिका या रूस के पिछलग्गू कहलाने की स्थिति से बचना चाहेंगे। चीन की महत्त्वाकांक्षा तो एकदम स्पष्ट हो चुकी है। चीन ने स्वयं को जिस प्रकार सोवियत गुट से एकदम मुक्त कर लिया है और जिस ढंग से साम्यवादी जगत् में सोवियत नेतृत्व को चुनौती दी है, वह आश्चर्यजनक है। साम्यवादी गुट आज दो शक्ति-केन्द्रों में बँट चुका है—एक केन्द्र है रूस तो दूसरा केन्द्र है चीन। रूसी शक्ति को हंगरी, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के व्यवहार में भी भय पैदा हो चुका है। ये राष्ट्र यद्यपि रूसी सैनिक बल के कारण अपनी आवाज को दबाए हुए हैं, तथापि रह-रह कर प्रस्फुटित होने वाले इनके व्यवहारों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भविष्य में लम्बे समय तक सम्भवतः इन्हें जबरदस्ती सोवियत-शक्ति-केन्द्र के साथ बाँधकर नहीं रखा जा सकेगा अथवा उन पर सोवियत-नियन्त्रण आज के समान कठोर नहीं रह पाएगा।

तेजी से बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हाल ही के कुछ वर्षों से एक नया मोड़ दिखाई देने लगा है और वह है सोवियत संघ और अमेरिका के मध्य तथा साम्यवादी चीन और अमेरिका के मध्य परस्पर सहअस्तित्व की धारणा का विकास। रूस और अमेरिका दोनों ही समझ चुके हैं कि कोई भी अणु-युद्ध विजेता और विजित दोनों के लिए समान रूप से विनाशकारी सिद्ध होगा। अतः दोनों यह मानने लगे हैं कि अपने सैद्धान्तिक संघर्षों के बावजूद पूँजीवाद और साम्यवाद का सहअस्तित्व सम्भव है। रूसी नेता आज की विस्फोटक परिस्थितियों में यह समझ गए हैं कि साम्यवाद का प्रसार अब शान्तिपूर्ण उपायों से ही करना हितकारी होगा। यद्यपि साम्यवादी चीन का रवैया अभी तक निराशाजनक रहा है, तथापि 'सभ्यता के लक्षण' उसमें प्रकट होने लगे हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसे स्थान मिल चुका है और कुछ समय से वह संयमित और नियन्त्रित आचरण प्रदर्शित करने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के लिए सोवियत रूस के लिए उत्कट प्रतियोगी के रूप में उसने अमेरिका की मैत्री के महत्त्व को समझा है। दूसरी ओर साम्यवादी गुट में दरार डालने और क्षीण बनाने का कौशलपूर्ण कूटनीतिक खेल खेलते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने एक ओर तो रूस मैत्री-सम्बन्ध विकसित किए हैं और दूसरी ओर चीन की ओर भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया है। कल का शत्रु नम्बर एक आज 'मित्र' राष्ट्र की श्रेणी में आने लगा है।

उभरती हुई नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रूपरेखा अभी तक सुस्पष्ट और सुनिश्चित नहीं है, तथापि यह कहा जा सकता है कि दो शक्ति-गुटों की जगह आज शक्ति या सत्ता के पाँच महत्त्वपूर्ण केन्द्र साफ तौर पर उभर आए हैं। इनमें से दो तो हैं विश्व की महान् शक्तियाँ—अमेरिका और रूस, एवं शेष तीन हैं जापान,

पश्चिमी यूरोप या यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश और चीन । एक छठे शक्ति-केन्द्र के रूप मे असलग्न अथवा गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो को लिया जा सकता है, पर यह अपेक्षाकृत बहुत कम शक्तिशाली है फिर भी इसमे सन्देह नही कि भारत एक शक्ति-केन्द्र के रूप मे तेजी से उभरता जा रहा है । आर्थिक दृष्टि से भारत अर्द्ध-विकसित देशों की श्रेणी से निकल चुका है तथा सैनिक दृष्टि से उसकी सबलता का प्रमाण विगत वर्षों मे मिल चुका है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्र को प्रभावित करने की भारतीय क्षमता अब सन्देह से परे है । जापान की शक्ति का स्रोत उसकी निरन्तर आर्थिक प्रगति और अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक स्वावलम्बन मे निहित है ।

कुछ मध्यवर्ती शक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं । ये शक्तियाँ किसी क्षेत्र-विशेष मे कुछ समय के लिए चौधरी बन जाती हैं, अत इनको गम्भीरतापूर्वक लिया जाना चाहिए । उदाहरण के लिए पश्चिमी एशिया मे इजरायल एक ऐसी ही मध्यवर्ती शक्ति है ।

निष्कर्ष रूप मे यह कहना उचित होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बहुकेन्द्रीय (Polycentric) है क्योंकि शक्ति के केन्द्र (Centres of Powers) अनेक है जिनमे केवल उपर्युक्त 5 या 6 शक्ति-केन्द्र ही नही हैं, बल्कि कुछ दृष्टियों से अकेले राष्ट्र और सयुक्त राष्ट्रसघ भी सम्मिलित हैं । वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है कि मौके पर कमजोर से कमजोर एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रो की आवाज भी अपना महत्त्व रखती है—विशेषकर क्षेत्रीय मामलो मे । वस्तुत. शक्ति-सन्तुलन की ऐतिहासिक परम्परा का आज विशेष महत्त्व नही रह गया है और सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की बात अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी है । आणविक हथियारो की भयकरता ने शक्ति-सन्तुलन के स्वरूप को बदल दिया है और सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की प्रणाली को बहुत कुछ खण्डित कर दिया है । नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अभी अपनी निर्माणात्मक अवस्था मे है और भविष्य मे इसमे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने की सम्भावना है । वर्तमान आसार यही हैं कि अभी अनेक महत्त्वपूर्ण शक्ति-केन्द्रो का उदय होना बाकी है । आधुनिक विश्व द्वि-केन्द्रीकरण से बहु-केन्द्रवाद की ओर अग्रसर है । फिर भी यह निसदिग्ध है कि 'महाशक्तियाँ' तो वस्तुत· केवल दो ही हैं—अमेरिका और रूस और इनमे भी आज अमेरिका शक्ति और सम्पन्नता की दृष्टि से रूस की तुलना मे प्रमुख है । दूसरे शब्दो मे सत्ता केन्द्रो मे अमेरिका का स्थान सर्वोपरि है । दूसरा स्थान रूस का है । आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सामर्थ्य के सन्दर्भ मे रूस ही अमेरिका के निकट पहुँच पाता है और इसी कारण उसको 'महाशक्ति' की संज्ञा दी गई है । अमेरिका-रूस सम्बन्ध 'सत्ता केन्द्र गुट' का मूलाधार है । राजनीतिक दृष्टि से इस आधार को धक्का लगने की सम्भावना निकट भविष्य मे बहुत कम है । चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस या भारत अभी इस स्थिति मे नही आए हैं कि राजनीतिक दृष्टि से अमेरिका अथवा रूस को प्रतिष्ठा-च्युत कर सकें । एशिया की राजनीतिक शक्ति अभी विशृंखलित है और पश्चिम

यूरोप की राजनीतिक शक्ति अभी संगठित हो रही है। अतः आज भी चीन, भारत, जापान, जर्मनी या फ्रांस आदि राष्ट्र 'पूर्ण घटक' के रूप में उभर नहीं पाए हैं। भारत और चीन अभी सत्ता केन्द्रों में कमजोर हैं। सामाजिक जागृति, अनुशासन और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा लगभग तीस वर्षों के अनवरत परिश्रम के कारण भारत और चीन सत्ता केन्द्र तो बन गए हैं परन्तु दोनों महाशक्तियों के साथ बैठ सकने योग्य नहीं हो पाए हैं। तथ्य यह है कि चीन का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तो है परन्तु उसके अपने हित सम्बन्ध और क्षमता की दृष्टि से प्रादेशिक सत्ता के हैं। चीन की तुलना में भारत का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विश्वजनीन दृष्टि लिए हुए है तथापि अभी भारत की स्थिति भी प्रादेशिक सत्ता की ही है। कतिपय राजनीतिक क्षेत्रों में यह सम्भावना व्यक्त की गई है कि अगले दो या तीन दशकों में भारत और चीन महाशक्तियों का स्थान ले लेंगे और अमेरिका तथा रूस 'अति महाशक्ति' बन जायेंगे।

---

22 अमेरिका, रूस और चीन के सम्बन्ध

(U.S, U S.S.R. CHINA RELATIONS)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था (Intenational Disorder) अनेक निश्चित और अनिश्चित तत्वों का मिश्रण है जिसमे मुख्य तत्व युद्धोपरान्त सोवियत संघ और संयुक्त राज्य के सम्बन्धों मे बढती हुई दरार है। दूसरा मुख्य तत्व यह है कि कल के मित्र सोवियत संघ और चीन आज परस्पर शत्रु बने हुए हैं और कल के शत्रु संयुक्त राज्य तथा चीन आज एक-दूसरे की ओर मैत्री के हाथ बढा रहे हैं। सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और चीन के पारस्परिक सम्बन्धों का ताना-बाना समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक जगत को आच्छादित किए हुए है और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या पर हम इन राष्ट्रों को विभिन्न दिशाओं मे विवाद करता हुआ पाते है। इसमे सन्देह नहीं कि विशिष्ट परिस्थितियों में समझौते भी हुए हैं, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि युद्धोपरान्त विश्व मे जहाँ दो महाशक्तियों रूस और अमेरिका मे मौलिक स्वरूप की विभिन्नताएँ पैदा हो चुकी हैं वहाँ भी दोनों राष्ट्रों के साथ चीन के सम्बन्ध सामान्य और असामान्य रहे हैं और वह दो महाशक्तियों के मतभेदों का पूरा लाभ उठाने को प्रयत्नशील है।

अमेरिका-रूस सम्बन्ध
(U S–U.S.S.R. Relations)

आज की दो महान शक्तियों संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस मे खेला जा रहा शक्ति का खेल, विचारधारात्मक ध्रुवता के कारण एक नया महत्त्व ग्रहण कर चुका है। इन दोनों महाशक्तियों की विदेश नीतियों के उद्देश्यों मे मौलिक संघर्ष से न केवल पराजित शक्तियों से (जर्मनी, जापान आदि) समझौते हो पाने कठिन हो गये हैं बल्कि अनेक देशो मे स्थानीय और गृह युद्ध भी होते रहते है तथा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ताना-बाना बनता बिगड़ता रहता है। दोनों महाशक्तियों के वैमनस्यपूर्ण सम्बन्धो के कारण शक्ति के ध्रुवीकरण को बल मिला है। युद्धोपरान्त अमेरिका रूस सम्बन्धों पर दोनों महाशक्तियों की विदेश नीति सम्बन्धी अध्यायों मे चर्चा जा चुकी की है, अत. यहाँ मोटी रूपरेखा देना ही पर्याप्त होगा—

1. महायुद्ध के उपरान्त रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियों में प्रभुत्व-विस्तार की प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। विभिन्न कारणों से सन्देह, अविश्वास और शत्रुता का ऐसा वातावरण बन गया कि शान्ति-सन्धियों का मार्ग कण्टकाकीर्ण हो गया। शान्ति-प्रयासों के फलस्वरूप यद्यपि शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न हो गईं लेकिन वे दोनों महाशक्तियों के बीच वैमनस्य और मतभेदों की ऐसी खाई छोड़ गईं जिन्हें अभी तक पाटा नहीं जा सका है। तीव्र मतभेदों और असहमतियों के कारण दोनों शक्ति गुटों में शीतयुद्ध की शुरूआत हो गई।

2. अमेरिका ने रूसी प्रभाव और विस्तार को अवरुद्ध करने के लिये 'अवरोध की नीति' अपनाई। इस नीति के अनुपालन में 1947 में ट्रूमैन-सिद्धान्त और मार्शल योजना का आश्रय लिया गया। फलस्वरूप रूस अमेरिका विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हो गया। मार्शल योजना का प्रत्युत्तर रूस ने सितम्बर, 1947 में 'कोमिनफार्म' की स्थापना के रूप में दिया।

3. रूस के विरुद्ध सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका ने 1949 में 'नाटो' की स्थापना की। नाटो के जवाब में साम्यवादी देशों को मिला कर रूस ने वारसा पैक्ट कायम किया। 1949 में रूस ने एटम बम के रहस्यों को खोज निकाला और इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के अणुशक्ति पर एकाधिकार को समाप्त कर दिया।

4. युद्धोपरान्त आधिपत्य के उद्देश्य से कोरिया को अमेरिका और रूस के अन्तर्गत दो खण्डों में विभाजित कर दिया गया। केयरो घोषणा के अनुसार उस समय में कोरिया को पूर्ण स्वतन्त्रता का वचन दिया गया। सोवियत संघ ने 1948 के आरम्भ में ही कोरिया से अपनी सेनाएँ हटा कर सोवियत खण्ड का प्रशासन वहाँ के साम्यवादियों के हाथ में सौंप दिया और इस प्रकार कोरिया की स्वतन्त्रता का अपना वचन पूरा कर दिया। लेकिन अमेरिका ने अपनी सेनाएँ अमेरिकन खण्ड में बनाए रखीं और कोरिया के प्रतिक्रियावादियों के हाथ में नाममात्र का शासन देकर जापानी कुप्रशासन की परम्परा को बनाए रखा। कोरिया के विभाजन से कोरिया को दोनों सरकारों में गृह युद्ध छिड़ गया। राजनीतिक क्षेत्रों के अनुसार कोरिया-युद्ध एक सुविचारित योजना का परिणाम था। अमेरिका सोवियत संघ को युद्ध में फँसा कर कमजोर कर देना चाहता था। किन्तु जब युद्ध के साथ-साथ समझौता-नीति अपनाई गई और जुलाई, 1953 में युद्ध विराम हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि साम्यवादी शक्ति से खुली टक्कर में निर्णायक विजय प्राप्त करना अमेरिका के लिये असम्भव है।

5. मई 1953 में पश्चिमी यूरोप के एकीकरण के सम्बन्ध में फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका का शिखर सम्मेलन हुआ। साम्यवाद के अवरोध की अमेरिकी नीति जारी रही और 1954 में सीटो तथा 1955 में बगदाद पैक्ट का सूत्रपात हुआ। 1957 में आइजनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया ताकि मध्य पूर्व में रूसी प्रभाव और विस्तार को रोका जा सके। सोवियत संघ ने इस सिद्धान्त को

अमेरिका की आक्रामक नीति की एक कड़ी माना। आइजनहावर सिद्धान्त मध्य पूर्व में रूसी प्रभाव को रोक नहीं सका, उल्टे लेबनान तथा जोर्डन में सैनिक हस्तक्षेप के कारण पश्चिम विरोधी तत्त्वों की प्रधानता हो गयी। ईराकी क्रान्ति के फलस्वरूप रूसी प्रभावक्षेत्र बढ़ा। इस सिद्धान्त के कारण दोनों महाशक्तियों में शीतयुद्ध तीव्र हो गया।

6. ख्रुश्चेव के नेतृत्व में रूसी लौह आवरण में शिथिलता आने लगी और यात्रा-कूटनीति का आश्रय लिया गया। 1959 के प्रारम्भ में सोवियत उप प्रधानमन्त्री मिकोयान ने अमेरिका की यात्रा की। आपसी वार्ता के दौरान इस बात पर सहमति व्यक्त की गयी कि दोनों देशों में व्यापार वृद्धि हो, शीत-युद्ध का स्थान शान्ति-पूर्ण प्रतियोगिता ले और दोनों ही देश एक-दूसरे के प्रति उदार नीति अपनाएँ। सितम्बर, 1959 में सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव अमेरिका गए पर इसके पूर्व यू-2 विमान-काण्ड घटित हो चुका था और जर्मनी सम्बन्धी विवाद ने भी तूल पकड़ लिया था. अत ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा भी तनावपूर्ण रही और आइजनहावर-ख्रुश्चेव शिखर सम्मेलन भंग हो गया।

7 तनाव के बावजूद दोनों महाशक्तियाँ परस्पर विचार-विमर्श और संयम का रुख अपनाए रहीं। 1962 में क्यूबा-संकट के समय कैनेडी और ख्रुश्चेव दोनों ने विवेक और संयम से काम लिया, फलस्वरूप अणुयुद्ध की आशंका टल गयी। परमाणु-शक्ति पर नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर अमेरिका और रूस संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर विचार-विमर्श करते रहे। सुरक्षा परिषद् में इस सम्बन्ध में जो भी विवाद हुआ उसमें अमेरिका और रूस ने भाग लिया। 1963 में अमेरिका, ब्रिटेन और रूस के बीच एक 'अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध सन्धि' सम्पन्न हुई। इस सन्धि से कुछ ही दिवस पूर्व अमेरिका-रूस के बीच 'हाट लाइन एग्रीमेंट' भी सम्पन्न हो गया था ताकि विशेष संकट के समय दोनों देशों में सीधा सम्पर्क स्थापित हो सके। जर्मन एकीकरण और बर्लिन के सम्बन्ध में दोनों देशों में मतभेद जारी रहे। सितम्बर 1971 में बर्लिन समझौता सम्पन्न हुआ। दिसम्बर 1971 में भारत-पाक-युद्ध के दौरान दोनों देशों के जहाजी बेड़ों की हिन्दमहासागर में हलचल हुई, लेकिन दोनों ही देशों ने स्थिति में बिगाड़ नहीं आने दिया। वियतनाम में उलझे रहने के बावजूद दोनों देशों के समझौतावादी रुख के कारण ही 1972 में पेरिस वार्ता सम्पन्न हो सकी। 1972 में ही कैनेडी ने मास्को यात्रा की और संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों देशों ने 'शान्तिपूर्ण सम्बन्ध' विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया। अनेक मुद्दों पर दोनों देशों ने सहमति व्यक्त की जबकि महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर मतभेद बने रहे। मास्को-यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच शस्त्र-परिसीमन सन्धि भी सम्पन्न हुई। जून 1973 में ब्रेझनेव ने अमेरिका की यात्रा की और दोनों देशों में कुछ समझौते हुए। एक समझौते में दोनों देशों ने संकल्प किया कि उनमें से कोई भी परमाणु युद्ध नहीं करेगा। जून 1974 में निक्सन मास्को गए और जुलाई 1974 में निःशस्त्रीकरण और शस्त्र परिसीमन की दिशा में समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। 1974 में ही दोनों देशों के बीच एक महत्त्वपूर्ण

दस वर्षीय व्यापार समझौता हुआ। इस प्रकार दोनों महाशक्तियों के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध नवम्बर 1975 में विकसित हुए।

8. ब्लाडीवोस्टक में फोर्ड-ब्रेझनेव शिखर वार्ता हुई। जुलाई, 1975 में अपोलो-सोयुज संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम में दोनों ने सहयोग किया। सोवियत संघ और अमेरिका के अधिकारियों में विभिन्न स्तरों पर बातचीत का क्रम चलता रहा—कभी मास्को में और कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन स्थलों पर। जुलाई-अगस्त, 1975 में हेलसिंकी सम्मेलन को सफल बनाने में रूस और अमेरिका ने एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने की कोशिश की। अप्रैल, 1976 में अमेरिका और सोवियत संघ आणविक परीक्षणों का निरीक्षण करने पर सहमत हो गए और मई, 1976 में शान्ति के लिए परमाणु विस्फोट के आकार आदि पर दोनों पक्षों में एक समझौता हुआ।

9. 1980 के मध्य तक दोनों देशों के सम्बन्ध, बावजूद सामयिक उत्तेजनाओं के, संयम और सुधार का दिशा-संकेत देते रहे, तथापि सम्बन्धों में उतनी सौहार्द्रता नहीं दिखाई दी जितनी निक्सन और फोर्ड-प्रशासन के दौरान रही थी। क्यूबा में सोवियत सलाहकारों की उपस्थिति, अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों के प्रवेश आदि की घटनाओं को लेकर दोनों देशों के बीच कटुता बढ़ी और मतभेद तीव्र हुए, लेकिन दोनों ही पक्षों ने संयम और सहनशीलता की राजनीति अपनाकर विश्व-शान्ति बनाए रखने में योग दिया। 8 जनवरी, 1980 को अमेरिका द्वारा 17 रूसियों के निष्कासन को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव अधिक बढ़ गया और उसी दिन सुरक्षा परिषद् द्वारा अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पर रूस ने अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग किया। तथापि 15 जनवरी, 1980 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर दिया। अफगानिस्तान में वहाँ की सरकार के आग्रह पर, सोवियत सैनिक शक्ति बड़ी मात्रा में टिकी रही तथापि इस मुद्दे पर रूस-अमेरिका के बीच तनाव उतना तीव्र नहीं रहा जितना पहले था। ईराक-ईरान युद्ध में दोनों देशों ने अहस्तक्षेप की नीति अपनाई।

10. जनवरी, 1981 में रीगन द्वारा अमेरिकी राष्ट्रपति का पद सम्भालने के बाद से रूस-अमेरिकी सम्बन्ध फिर से तनावपूर्ण बन गए हैं। रीगन अमेरिकी विदेश नीति को अधिकाधिक आक्रामक, विस्तारवादी और हस्तक्षेपवादी बना रहे हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में तनाव पैदा होने और शीतयुद्ध का वातावरण बनना स्वाभाविक है। रीगन विशाल शस्त्रीकरण की नीति पर चल रहे हैं और अपने पिछलग्गू देशों को भारी मात्रा में हथियार दे रहे हैं। पाकिस्तान को विशाल सैन्य सामग्री और आधुनिकतम एफ 16 विमान देने का निर्णय करके रीगन ने भारतीय उपमहाद्वीप में तनाव क्षेत्र का विस्तार किया है। जून, 1981 में अमेरिका द्वारा चीन को शस्त्रास्त्र बेचने का भी निर्णय लिया गया। ब्रेझनेव के 8 सूत्री प्रस्तावों के प्रति रीगन का रवैया उपेक्षा का रहा है। नवम्बर, 1981 में सोवियत राष्ट्रपति

ब्रेझनेव ने अमेरिका से सभी मुद्दों पर संवाद का आग्रह किया किन्तु रीगन की ओर से अभी स्थिति अनिश्चित है। पोलैण्ड के मामले को लेकर रीगन ने सोवियत संघ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी चेतावनी देकर दोनों देशों के सम्बन्धों को अधिक कटु बनाया है। रीगन ने इस तथ्य को नजरअन्दाज कर दिया है कि अलसाल्वाडोर आदि लेटिन अमेरिकी देशों में संयुक्त राज्य कितना नग्न हस्तक्षेप कर रहा है। 9 फरवरी, 1982 के समाचारों के अनुसार रीगन द्वारा रासायनिक अस्त्रों के उत्पादन को पुन शुरू करने का निर्णय लिया गया है जो विश्व-शान्ति के लिए एक चुनौती है।

अमेरिका-चीन सम्बन्ध
(U. S.–China Relations)

राजनीति का यह एक विशिष्ट चरित्र है कि किसी का कोई स्थायी मित्र नहीं होता और न ही कोई स्थायी शत्रु होता है। अमेरिका और चीन पहले एक-दूसरे के घोर शत्रु थे किन्तु अब एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आते जा रहे हैं और रूस के विरुद्ध शक्तिशाली 'वाशिंगटन-पेकिंग-पिण्डी-धुरी' का निर्माण लगभग हो चुका है।

वर्तमान साम्यवादी चीन अथवा चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना 1 अक्टूबर, 1949 को हुई। च्यांग-काई-शेक और उसका राष्ट्रवादी दल चीन के गृह-युद्ध में साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका ने च्यांग-काई-शेक को वर्षों तक भरपूर सहायता दी, लेकिन माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी सेना ने अमेरिका की मनोकामना पूरी नहीं होने दी। च्यांग-काई-शेक ने भाग कर चीन की मुख्य धरती से कुछ ही मील दूर फारमोसा द्वीप में शरण लेकर वहाँ चीन की 'निर्वासित सरकार' स्थापित कर ली। अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी सरकार को अर्थात् राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। चीन की मान्यता का प्रश्न 1949 से 25 अक्तूबर, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विषय बना रहा। वास्तव में दो चीन की स्थिति कायम रही। दुनिया के लगभग 35 देशों की मान्यता साम्यवादी चीन को प्राप्त थी और 42 देश च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता देते थे। भारत ने प्रारम्भ से ही एक चीन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी थी। आखिर 26 अक्तूबर, 1971 को दो चीन वाली यह स्थिति समाप्त हो गई। संयुक्तराष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताईवान या फारमोसा) को संयुक्तराष्ट्र से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी (साम्यवादी) चीन को सदस्य बनाने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 22 वर्ष का यह संघर्ष समाप्त हो गया जो साम्यवादी चीन को विश्व संस्था का सदस्य बनाने के लिए चल रहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह पहला अवसर था जब संघ के किसी सदस्य और सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य को संघ की सदस्यता से निष्कासित कर उसके स्थान पर किसी अन्य देश को सदस्य बनाया गया हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

में चीन का रुख सदा आक्रामक रहा, पर माओ की मृत्यु के बाद नया नेतृत्व कुछ उदार बन रहा है।

चीन–अमेरिका सम्बन्ध (1949–1968) : उग्रवादी नीति

राष्ट्रपति निक्सन द्वारा चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाने से पूर्व दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त शत्रुतापूर्ण थे। अमेरिका ने नवोदित साम्यवादी चीन को न केवल मान्यता देने से इन्कार कर दिया बल्कि संयुक्त राष्ट्र में उसके प्रवेश के विरुद्ध भी मोर्चाबन्दी की। अमेरिका की नीति मुख्यतः यह रही है कि साम्यवादी चीन के साथ मैत्री और सहानुभूति रखने वाले देश अमेरिका के मित्र नहीं माने जा सकते। 1950 में कोरिया युद्ध में संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं ने अमेरिकी कमान के नेतृत्व में युद्ध लड़ा। जब संयुक्त संघीय सेनाएँ 38वीं अक्षांश रेखा को पार कर यालू नाम स्थान पर पहुँची तो उत्तर कोरिया की ओर से चीनी सैनिक टिड्डी दल की भाँति उन पर टूट पड़े। कोरिया का युद्ध अब प्रधानतः अमेरिका व चीन का युद्ध बन गया। अक्तूबर, 1951 में माओ-त्से-तुंग ने कहा—"हम अपने देश की रक्षा के लिए ही साम्राज्यवादी आक्रमणों के विरुद्ध लड़ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि अमेरिकी सेनाओं ने हमारे ताइवान (फारमोसा) पर कब्जा न किया होता और हमारे साम्यवादी मित्र-राज्य पर दक्षिणी कोरिया ने आक्रमण न किया होता तथा स्वयं अपनी कार्यवाहियों का विस्तार हमारी उत्तर-पूर्वी सीमा तक न किया होता तो हम आज अमेरिकी सेनाओं के विरुद्ध न लड़ रहे होते।"

कोरिया-युद्ध के फलस्वरूप अमेरिका ने फारमोसा को साम्यवादी चीन के सम्भावित आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए खुलकर सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया। अमेरिका के इस निश्चय ने दोनों देशों के सम्बन्धों को और भी अधिक कटु बना दिया। चीन में वाशिंगटन-विरोधी प्रचार-अभियान तीव्र कर दिया गया। क्लाड बस (Claud Buss) के शब्दों में[1]—"चीनवासियों ने अमेरिका पर जापान में फासिस्टवाद तथा सैनिकवाद की पुनर्स्थापना करने तथा एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जापान का एक साधन के रूप में प्रयोग करने के आरोप लगाए। इसी तरह उन्होंने अमेरिका को दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति सिंगमन री की सहायता करने एवं कोरिया में गृह-युद्ध छेड़ने के लिए भी दोषी ठहराया।" चीन के साम्यवादी नेताओं ने कोरिया-युद्ध की व्याख्या करते हुए कहा कि—"यह युद्ध कोरिया, फारमोसा, हिन्द-चीन एवं फिलीपाइन्स पर कब्जा करने तथा उसके पश्चात् एशियायी मामलों में हस्तक्षेप करने के अमेरिकी षड्यन्त्र का ही अग्रिम भाग है।"

साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने विभिन्न सैनिक और प्रतिरक्षात्मक संगठनों का निर्माण किया। अमेरिका द्वारा

1 *Buss, C. A.*: The Far East, p. 53.

निर्मित और प्रेरित नाटो, सीटो, अंजुस (ANZUS), बगदाद पैक्ट (अब सैंटो) तथा मध्य-पूर्वी कमान सन्धियों की साम्यवादी चीन ने यह कहकर तीव्र भर्त्सना की कि इन सबका उद्देश्य विश्व में अमेरिकी प्रभुत्व की स्थापना करना है। अमेरिकियों के लिए चीन की मुख्य भूमि के द्वार बन्द कर दिए गए। अनेक बार तो अमेरिकी पत्रकारों तक को प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। चीन-स्थित अमेरिकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। अमेरिका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध पूर्णतः भंग कर दिए गए। उसके साथ सभी प्रकार के सम्पर्कों पर—चाहे वे सामाजिक हों, सांस्कृतिक हों या कूटनीतिक हों—रोक लगा दी गई। कोरियाई युद्ध में जिन अमेरिकी चालकों को बन्दी बना लिया गया था, उन्हें भी सोवियत रूस के आग्रह पर बड़े वाद-विवादों के बाद मुक्त किया गया।

1954 में हिन्द-चीन के प्रश्न पर भी दोनों देशों में काफी तनाव पैदा हो गया। डीन-बिन-फू में फ्रेंच सेनाओं की निर्णायक पराजय के उपरान्त जब वाशिंगटन ने फ्रांस की सहायतार्थ भारी संख्या में अपनी सेनाएँ भेजने का निश्चय किया तो अमेरिका और साम्यवादी चीन में प्रत्यक्ष युद्ध का खतरा हो गया। सौभाग्यवश जिनेवा समझौता सम्पन्न हो जाने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति टल गई। 1959 में चीन और अमेरिका के बीच संघर्ष के नए कारण उत्पन्न हो गए। लाओस में संघर्ष के लिए चीन ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। तिब्बत की क्रान्ति के बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका के रवैये से भी चीन को भारी क्षोभ हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी, 1960 में जापान तथा अमेरिका के बीच जो पारस्परिक सहयोग एवं सुरक्षा की सन्धि सम्पन्न हुई, उससे भी चीन के सम्बन्ध कटु बने। चीन ने हर सम्भव प्रयत्न द्वारा जापान व अमेरिका के गठबन्धन को निरस्त करने का प्रयास किया। पीकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया में साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। 9 सितम्बर, 1962 को साम्यवादी चीन की वायु सेना के एक यू-2 सैनिक जाँच वायुयान को चीन की मुख्य भूमि पर मार गिराया। चीन सरकार ने इस घटना पर एक विस्तृत वक्तव्य प्रसारित किया और अमेरिका को इस विमान की उड़ान के लिए उत्तरदायी ठहराया। अक्तूबर, 1962 में 'क्यूबा-संकट' के समय साम्यवादी चीन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध भारी विष-वमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किए गए, क्यूबा समर्थक नारे लगाए गए और क्यूबा के नेताओं के चित्रों का प्रदर्शन किया गया। 1962 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को जो प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी, उससे भी साम्यवादी चीन के आक्रोश में वृद्धि हुई।

1965–66 में वियतनाम-समस्या के प्रश्न पर दोनों देशों के सम्बन्धों में कटुता में और भी वृद्धि हुई। वियतनाम में शान्ति-स्थापना के हर प्रयास को चीन ने असफल बनाने की कोशिश की। चीन की प्रेरणा से ही उत्तर-वियतनाम ने सभी

शान्ति प्रस्तावों के विरुद्ध कठोर रुख अपनाते हुए केवल अपने ही प्रस्ताव को मानने पर बल दिया। जब हनोई सरकार शनैः-शनैः पीकिंग की अपेक्षा मास्को के अधिक निकट आने लगी तो यह भी चीन को बुरा लगा और उसका प्रयत्न यही रहा कि हनोई चीन के सैनिक निर्देशन में दक्षिण वियतनाम से युद्धरत रहे।

राष्ट्रपति जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इंकार कर दिया। वे यह मानते रहे कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का सहारा लिया है, संयुक्त राष्ट्रसंघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है, उसे संघ में प्रवेश के योग्य एवं शान्तिप्रिय राष्ट्र नहीं माना जा सकता तथा अमेरिका उसे मान्यता नहीं दे सकता।

1966 तक चीन-अमेरिकन पारस्परिक विरोध की भावनाओं में परिवर्तन नहीं हुआ। ताइवान और वियतनाम सम्बन्धी प्रश्न दोनों देशों के बीच तनाव का मुख्य कारण थे। अमेरिकन विदेश मन्त्री डीन रस्क और चीनी प्रधान मन्त्री चाउ-एन-लाई के दो वक्तव्यों से हमें स्पष्ट रूप से पता चलता है कि दोनों देशों की एक-दूसरे के प्रति क्या नीति थी, दोनों राज्य पारस्परिक विरोध की भावनाओं से कितना ग्रस्त थे —

अमेरिकन विदेश मन्त्री डीन रस्क ने 16 मार्च, 1966 को अपने एक वक्तव्य में चीन के प्रति अमेरिकन नीति का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित 10 मुख्य सूत्रों का वर्णन किया—

प्रथम, अमेरिका को उन राष्ट्रों की सहायता करने के लिए, जो चीन द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धमकी और बल प्रयोग का विरोध कर पाने के लिए, अमेरिका की सहायता माँगते हैं, दृढ़ निश्चय रहना चाहिए।

द्वितीय, अमेरिका को एशिया में गैर-साम्यवादी सरकारों की स्थापना और समर्थन करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

तृतीय, ताइवान के प्रति अपने वचन पूरे करने चाहिए और चीन को भी ताइवान क्षेत्र में बल प्रयोग का त्याग कर देना चाहिए।

चौथे, संयुक्त राज्य को संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता का विरोध करते रहना चाहिए।

पाँचवें, चीन के साथ युद्ध का भय होते हुए भी अमेरिका चीन पर आक्रमण करना नहीं चाहता।

छठे, चीन की नीति में कभी परिवर्तन आ सकता है अतः संयुक्त राज्य को दोनों देशों में निश्चित और स्थायी विरोध की स्थिति को महत्त्व नहीं देना चाहिए।

सातवें, साम्यवादी चीन के साथ गैर-सरकारी सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे धीरे-धीरे संयुक्त राज्य के प्रति पीकिंग के विचारों में परिवर्तन आ सके।

आठवें, वारसा में अमेरिका को चीन के साथ प्रत्यक्ष कूटनीतिक सम्बन्ध बनाए रखने चाहिए।

नवें, अमेरिका, पीकिंग और अन्य देशों के साथ मिलकर निःशस्त्रीकरण और परमाणु शस्त्रों के अत्यधिक उत्पादन पर रोक लगाने की गम्भीर समस्याओं पर विचार करने के लिए तत्पर है।

दसवें, अमेरिका की सरकार को साम्यवादी चीन से सम्बन्धित सूचना को ढूंढने और उसके विश्लेषण के प्रयत्न में रहना चाहिए। जब पीकिंग बल-प्रयोग को त्याग देता है और संयुक्त राज्य के प्रति विरोध समाप्त करने को तैयार हो जाता है तो 'दोनों में विस्तृत और सुधरे हुए सम्बन्धों की सम्भावना हो सकती है।'[1]

डीन रस्क के इस वक्तव्य के प्रति चीन सरकार की प्रतिक्रिया भी विरोध की ही थी। 1 अप्रैल, 1966 के 'पीकिंग रिव्यू' ने आरोप लगाया कि 16 वर्ष से अमेरिकन साम्राज्यवाद चीन के प्रति विरोध की नीति अपनाए हुए है, उसने बलपूर्वक चीनी क्षेत्र 'ताइवान' पर कब्जा कर रखा है, चीन के विरुद्ध नौ-सैनिक शक्ति तैनात कर रखी है और चीन में विध्वंसकारी कार्यवाहियों के लिए गुप्त एजेण्ट भेज रखे हैं, पत्र में कहा गया—"संयुक्त राज्य साम्राज्यवाद की कार्यविधियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह चीन के लोगों का बहुत बड़ा शत्रु है। चीन के प्रति संयुक्त राज्य सरकार की नीति ट्रूमैन और आइजनहॉवर के समय से लेकर कैनेडी और जॉनसन प्रशासन तक वही रही है। वर्तमान जॉनसन प्रशासन ने भी आक्रमण और *चीन के प्रति विरोध की नीति में कोई परिवर्तन नहीं आने दिया है।* वास्तव में अब इस नीति का पालन अधिक कठोरता और निर्लज्जता से किया जा रहा है। यह सार्वजनिक घोषणा की जा चुकी है कि चीन संयुक्त राज्य का मुख्य शत्रु है। अमेरिका ने अपनी विश्व-नीति का प्रभाव क्षेत्र अब एशिया को बना लिया है और चीन के घेराव के लिए सैनिक गतिविधियों को तीव्र कर दिया है। वियतनाम के युद्ध को चीन की ओर लाने का भी बहुत गम्भीरता से प्रयत्न किया जा रहा है। उच्च अमेरिकन सैनिक और *नागरिक अधिकारी चीन* के साथ शक्ति-परीक्षण की बात खुलेआम कर रहे हैं। जॉनसन प्रशासन के कहने और करने में अत्यधिक विभिन्नता है।'

चीन ने आरोप लगाया कि विश्व के सभी भागों में चीन के प्रति घृणा का प्रचार किया जा रहा है। 'चीन-विरोधी मोर्चे' में संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवादी, सोवियत संशोधनवादी, जापानी सैन्यवादी और भारतीय प्रतिक्रियावादी सम्मिलित हैं। तत्कालीन चीनी प्रधान मन्त्री चाउ-एन-लाई ने अमेरिका के प्रति अपने देश की नीति को स्पष्ट करते हुए एक वक्तव्य में कहा—

"(1) चीन संयुक्त राज्य के साथ युद्ध छेड़ने में पहल नहीं करेगा। चीन ने हवाई (Hawai) में कोई सेनाएँ नहीं भेजी हैं जबकि संयुक्त राज्य ने ताइवान प्रदेश पर कब्जा कर लिया है फिर भी चीन इस संघर्ष को वार्तालाप द्वारा सुलझाने के पक्ष में है। (2) चीन के लोग जो महसूस करते हैं, वही कहते हैं। यदि एशिया,

1 के. के. मिश्र एवं इन्दु मथुरा : वही, पृष्ठ 376.

अफ्रीका या किसी अन्य देश के किसी भाग पर साम्राज्यवादियों द्वारा आक्रमण किया गया तो चीन की सरकार उसे अवश्य ही सहायता और आश्रय प्रदान करेगी। यदि इस न्यायोचित कार्य से संयुक्त राज्य चीन पर भी आक्रमण कर दे तो वह बिना हिचकिचाहट के उसका भी मुकाबला करेगा और अन्त तक युद्ध करता रहेगा। (3) यदि संयुक्त राज्य चीन को युद्ध के लिए मजबूर करता है तो चीन उसके लिए भी तैयार है। चाहे संयुक्त राज्य कितने ही सैनिकों को भेज दे और परमाणु तथा कैसे भी अस्त्रों का प्रयोग कर ले, चीन के लोग संयुक्त राज्य की सेनाओं को वापिस जाने नहीं देंगे। यदि वियतनाम के 14 लाख लोग संयुक्त राज्य के दो सौ सहस्र लोगों का मुकाबला कर सकते हैं तो चीन के 650 लाख लोग निश्चिततया ही अमेरिका के दस लाख सैनिकों का सामना कर पाएँगे। (4) एक बार युद्ध आरम्भ हो जाने पर, फिर उसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकेगी। कुछ संयुक्त राज्य योजना-निर्माता नाविक और वायु उड्डयन की सहायता से चीन पर बम्ब गिराकर स्थल युद्ध से बचना चाहते हैं। यह तो केवल विचार ही है। एक बार वायु या जल की दिशा से युद्ध आरम्भ हो जाए तो फिर यह निर्णय केवल संयुक्त राज्य के हाथ में ही नहीं होगा कि युद्ध किस प्रकार जारी रखा जाएगा। यदि अमेरिका की सेनाएँ आकाश की ओर से आती हैं तो उनका प्रत्युत्तर चीन स्थल-युद्ध से क्यों नहीं दे सकता? यह संयुक्त राज्य को स्पष्ट चेतावनी थी कि चीनी क्षेत्र पर संयुक्त राज्य द्वारा बम्ब गिराये जाने का अर्थ होगा कि चीन स्थलीय शक्ति द्वारा इन्डोचीन संघर्ष में हस्तक्षेप आरम्भ कर देगा।"[1]

चीन-अमेरिका विरोध पर अपनी टिप्पणी और फैयरबैंक तथा टेलर के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए डॉ. मिश्र एवं सन्ना ने लिखा है—इन विवादों के विनिमय की अपेक्षा भी चीन और संयुक्त राज्य ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध आरम्भ नहीं किया। फैयरबैंक और टेलर (Fairbank and Tayler) ने 1960 के दशक में चीन की नीतियों के दो विभिन्न परीक्षण किए। फैयरबैंक का कहना था, कि चीनी साम्यवादी मुख्यतः चीनी ही थे और अपनी प्रशासनिक परम्पराओं के प्रति वफादार थे। टेलर का विचार था कि वे मुख्यतः साम्यवादी थे और उनमें राष्ट्रीयता के कोई गुण नहीं थे। फैयरबैंक ने इस बात पर बल दिया कि चीन में जातीय तत्त्व शक्तिशाली थे और विश्व-क्रान्ति में अधिक योगदान नहीं दिया जा रहा था। टेलर ने इस विचार से इंकार किया और कहा कि साम्यवादी विश्व बहुकेन्द्रीय बन रहा था। फैयरबैंक ने चीन के विस्तारवाद को न मानते हुए माओ के विश्व-क्रान्ति के कार्यक्रम को साहित्यिक ही बताया। टेलर ने लिन पीओ (Lin-Piao) की विश्व-क्रान्ति की पुकार और चीन द्वारा तीसरे विश्व-देशों में वियतनाम जैसे उपद्रव छेड़ देने की धमकी को गम्भीरता से लिया। टेलर साक्षात्कार की नीति को बनाए रखना चाहता था। फैयरबैंक का सुझाव था कि चीन के प्रति अमेरिका की नीति पर फिर से

1 के. के. मिश्र एवं इन्दु सन्ना : वही, पृष्ठ 377-78

विचार किया जाए और वियतनाम के प्रति समझौता, पीकिंग शासन की मान्यता, संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता और च्यांग-काई-शेक शासन को आश्रय देने की समाप्ति इसके लिए आधारभूत रखे जाएँ। उसने याद दिलाया कि "हम अमेरिकन, आधुनिकता को योगदान देने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे होने के कारण चीन-अमेरिकन सम्बन्धों में अधिक लाभ की स्थिति में रहे हैं। यह विशेष स्थिति सन्धियों द्वारा प्राप्त कर लेने पर बहुत से अमेरिकन इन सम्बन्धों का विशेष लाभ उठाते रहे हैं। उन्हें उच्च-वर्गीय विदेशी माना जाता था जो कि अभी भी मौलिक रूप से लोकतन्त्रीय होते हुए भी रिक्शे में सवारी करता था और उच्च स्थिति की सुविधाएँ भी प्राप्त करता था।" फेयरबैंक ने चीन अमेरिकन सम्बन्धों में सुधार और जानकारी लाने के लिए इन दोहरे स्तरों को समाप्त करने की माँग की।

चीन अमेरिका सम्बन्ध (1969–1982) : तनाव शैथिल्य की ओर प्रगति

20 जनवरी, 1969 रिचार्ड निक्सन संयुक्त राज्य अमेरिका के 37वें राष्ट्रपति बने। निक्सन ने ऐसे प्रयत्न आरम्भ किए जिनका उद्देश्य चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना था ताकि एक ओर तो वियतनाम युद्ध से अमेरिका ससम्मान पीछा छुड़ा सके और दूसरे सोवियत प्रभुत्व को सफल चुनौती देते हुए राजनीतिक क्षेत्र में पीकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी का निर्माण कर, शक्ति-सन्तुलन अपने पक्ष में कर ले। अमेरिका को यह लालसा भी रही कि लगभग 70 करोड़ की विशाल जनसंख्या वाले देश से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अमेरिका व्यापक व्यापारिक और आर्थिक लाभ प्राप्त कर सकेगा। चीन की भी यह आकांक्षा थी कि सोवियत रूस के नेतृत्व को चुनौती देने के लिए वह अमेरिका जैसे सबल राष्ट्र को अपने पक्ष में कर ले।

संयुक्त राज्य और चीन पर 'आगामी दशक' (Next Decade) नामक प्रथम राष्ट्रीय समारोह न्यूयार्क में 20–21 मार्च, 1969 को हुआ। लगभग 2500 व्यक्तियों ने, जिनमें चीन के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ भी सम्मिलित थे, इस समारोह में भाग लिया। उन्होंने पुरानी नीति का पुनः परीक्षण किया और नए निर्देशों का सुझाव दिया। एडवर्ड कैनेडी ने समारोह में घोषणा की—"पिछले बीस वर्षों से चीन के प्रति हमारी नीति युद्ध की नीति ही रही है। हमने बहुत देर से विश्व के एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध राजनीतिक, कूटनीतिक और आर्थिक विरोध की नीति अपनाई है। अब हमें अपनी युद्ध की नीति छोड़ कर शान्ति की नीति अपनानी है। अब हमें एक नई नीति ढूँढनी है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हमारी वर्तमान स्थिति में कोई कमजोरी है या हम चीन के प्रति नम्र हो गए हैं, परन्तु इसलिए कि ऐसा करना हमारे तथा अन्य सभी राष्ट्रों के हित में है।"

सम्बन्ध सुधार में प्रयत्न शुरू हुए और चीन-अमेरिका के बीच 'पिंगपोंग कूटनीति' का उदय हुआ। अमेरिका ने चीन के साथ व्यापार, यात्रा और जहाजरानी सम्बन्धी कानूनी रुकावटों में ढील दे दी तथा अपनी टेबलटेनिस टीम को पिंगपोंग

खेलने के लिए चीन भेजा। 1970 में माओ-त्से-तुंग ने अमेरिकी पत्रकार एडगर स्नो के साथ बातचीत में अमेरिकी राष्ट्रपति का स्वागत चीन में करने की इच्छा प्रकट की। दोनों देशों में सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने हेतु वारसा, पेरिस आदि स्थानों पर दोनों देशों के अधिकारियों के बीच वार्ताओं का दौर आरम्भ हुआ जिनकी प्रगति के आधार पर 15 जुलाई 1971 को बहुत ही नाटकीय ढग से राष्ट्रपति निक्सन ने मई, 1972 के पूर्व अपनी चीन यात्रा की घोषणा की। भारत सहित विश्व के अनेक देशों ने इस घोषणा का स्वागत किया और सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में एक नया अध्याय प्रारम्भ करने वाली घटना बतलाया। 21 फरवरी 1972 को राष्ट्रपति निक्सन दलबल सहित पीकिंग पहुँचे। सयुक्त विज्ञप्ति के अनुसार दोनों देशों में अनेक विषयों पर मतभेदों के बावजूद सौहार्दपूर्ण वार्ता हुई। दोनों देशों ने ज्ञान और कला के विभिन्न क्षेत्रों मे पारस्परिक विनिमय और सम्पर्क का निश्चय किया। आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धो मे वृद्धि पर भी विचार-विमर्श किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि सामान्य हित के विषयों पर विचार-विनिमय और सम्बन्धों के सामान्यीकरण के लिए विभिन्न माध्यमों से अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित किया जाए। निक्सन की पीकिंग यात्रा के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध तेजी से सामान्य बनते गए। बगला देश के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसघ मे दोनों ने आपस में सहयोग किया। फरवरी 1973 मे निक्सन के निजी सलाहकार हेनरी किसिंगर ने पीकिंग मे चाऊ-एन-लाई तथा अन्य नेताओं से वार्ता की। अमेरिका और चीन द्वारा एक-दूसरे के यहाँ सम्पर्क कार्यालय खोलने का निश्चय किया गया। यद्यपि इन कार्यालयों को दूतावास की सज्ञा नही दी गयी तथापि व्यवहार मे इतना कार्य दूतावास जैसा ही रखा गया। दोनों देशों के बीच अनेक क्षेत्रों मे सहयोग मे वृद्धि हुई। पारस्परिक व्यापार विस्तार का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया गया। चीन अमेरिका के दो बन्दी वायुयान-चालकों को मुक्तकर और अमेरिका ने ताइवान मे अपनी सेना मे पर्याप्त कटौती का संकेत देकर यह प्रदर्शित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे दोनो देश अधिकाधिक निकट आने को उत्सुक है।

दोनों देशों के सम्बन्धो मे सामान्यीकरण की प्रक्रिया तब कुछ मन्द हो गयी जब चीन ने देखा कि अमेरिका रूस के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण विषयों पर वार्ता मे चीन की उपेक्षा कर रहा है। नवम्बर 1974 में जब अमेरिकी विदेश मन्त्री डॉ. किसिंगर चीन गए तो उनके स्वागत में उदासीनता प्रकट कर चीनी नेताओं ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की। इस अप्रसन्नता के दो प्रमुख कारण थे—अमेरिका द्वारा ताइवान सम्बन्धी उस शघाई समझौते को कार्यान्वित न किया जाना जो साल भर पहले दोनों के बीच हुआ था, एवं अमेरिका राष्ट्रपति फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेझनेव द्वारा वार्ता के लिए ब्लाडीवॉस्टोक को चुनना। ब्लाडीवॉस्टोक कभी चीन का हिस्सा था अतः चीन ने सोचा कि उसे चिढ़ाने के लिए इसे वार्ता-स्थल चुना गया है। 1972 की शघाई विज्ञप्ति में किए गए वायदों में एक महत्त्वपूर्ण वायदा यह था कि अमेरिका ताइवान को चीन का हिस्सा मान लेगा। अप्रैल, 1975

च्यांग-काई-शेक की मृत्यु के बाद ताइवान अब फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षण केन्द्र बन गया। मार्शल च्यांग के निधन का न केवल ताइवान की आन्तरिक राजनीति पर बल्कि अन्य देशों के सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वैसे च्यांग के उत्तराधिकारी उनके पुत्र प्रधानमन्त्री च्यांग-चुंग-कुओ ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपने देश पर कभी भी साम्यवाद की छाया नहीं पड़ने देंगे और चीन की मुख्य भूमि को साम्यवाद से मुक्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहेंगे।

निक्सन के हटने के बाद से ही अमेरिका और चीन के सम्बन्धों में कुछ शिथिलता उत्पन्न हो गयी। जैसा कि अमेरिकी विदेश नीति के सन्दर्भ में बताया जा चुका है, जब डॉ. किसिंगर ने अक्तूबर, 1975 में और राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 में चीन की यात्रा की तो उनका बहुत ही फीका स्वागत हुआ।

निक्सनकाल में अमेरिका-चीन सम्बन्धों का मूल्यांकन करते हुए डॉ. मिश्र एवं सक्सेना ने लिखा है कि निक्सन प्रशासन ने किसिंगर की व्यक्तिगत कूटनीति का प्रयोग करते हुए 1970 के दशक में चीन-अमेरिकन सम्बन्धों की नींव रखी। संयुक्त राष्ट्र ने 'दो चीन' की नीति त्याग दी, पीकिंग को चीन की वैधिक सरकार के रूप में मान्यता दी, संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता का समर्थन और सुरक्षा परिषद् में स्थायी स्थान दिए जाने का वचन दिया। ताइवान से सेनाएँ निकाल लिए जाने को स्वीकार कर लिया गया वियतनाम संघर्ष के सुझाव के लिए वार्तालाप की स्वीकृति दे दी। अन्त में दक्षिणी वियतनाम ने अपनी सेनाएँ पूर्णतया हटा लेने का वचन दिया। धीरे-धीरे सभी इण्डोचीन राज्यों से अमेरिकन प्रभाव पूर्णतया समाप्त हो गया और दक्षिणी वियतनाम, कम्बोडिया और फिर लाओस में साम्यवाद पक्षीय शासन स्थापित हो गए। जापान और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य अमेरिकन साथी देशों ने चीन के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित कर लिए। चीन के साथ साक्षात्कार की अमेरिकन नीति तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में हस्तक्षेप से संयुक्त राज्य को कोई लाभ नहीं हुआ।

20 जनवरी 1977 को अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर जिम्मी कार्टर आरूढ़ हुए। अगस्त 1977 में विदेश मन्त्री साइरस वेन्स ने चीन की यात्रा की। ताइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग के अन्य मुद्दों पर मतैक्य नहीं हो सका। कुल मिलाकर यह यात्रा दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सुधार में सहायक नहीं हुई। इसके बाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिंस्की ने पीकिंग की यात्रा की। कार्टर ने चीन के प्रति अपनी नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया और चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया। ताइवान के प्रश्न पर मतभेद घटते गए और 1 जनवरी 1979 को कार्टर ने चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। कार्टर ने अपने वक्तव्य में यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है, तथापि यह स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका गैर-सरकारी तौर पर ताइवान से सम्बन्ध रख सकता है।

दोनों पुराने शत्रु देश एक दूसरे के निकट आते गए और फरवरी 1979 में डेंग शिआओ पिंग अमेरिका की यात्रा पर गए। डेंग-कार्टर-संयुक्त वक्तव्य में कहा गया कि चीन एवं अमेरिका किसी एक देश या कुछ देशों के समूह द्वारा अन्य देशों पर आधिपत्य या बन्धनकारी शक्ति स्थापित करने के विरुद्ध है। स्पष्ट था कि यह वक्तव्य रूस को ध्यान में रखते हुए दिया गया। अमेरिका ने फ्रांस द्वारा चीन को अणुशक्ति यन्त्र दिए जाने का समर्थन किया। चीन ने अमेरिका की विश्वव्यापी सैनिक गतिविधियों को स्वीकार किया और अमेरिका ने भी विश्वास प्रगट किया कि शक्तिशाली तथा सुरक्षित चीन विश्व-सम्बन्धों में रचनात्मक भूमिका निभा सकता है। जुलाई 1980 में टोकियो में राष्ट्रपति कार्टर और प्रधानमन्त्री हुआ कुओ फेंग में पहली बार वार्ता हुई। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का विरोध दोनों देशों ने एक स्वर से किया। कार्टर ने एक दूरदर्शन भेटवार्ता में कहा कि रूसी सैनिक शक्ति का मुकाबला करने के लिए अमेरिका-चीन और जापान को एक हो जाना चाहिए। यद्यपि चीन के प्रति अमेरिकी नीति में परिवर्तन बहुत पहले हो गया था और दोनों देशों के बीच अभी तक व्यापारिक तथा अन्य असैनिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ता जा रहा था लेकिन सोवियत संघ के खतरे का मुकाबला करने के लिए यह नया सहयोग दोनों देशों को सैनिक क्षेत्रों में भी ले आया। इस बात को नजरअन्दाज कर दिया गया कि सोवियत संघ ने यदि कोई जवाबी कार्यवाही की तो अन्ततः एशिया की शान्ति खतरे में पड़ जाएगी। 20 जनवरी 1980 को रीगन ने राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण की। रीगन प्रशासन के दौरान 1982 के प्रथम चरण तक दोनों देशों के सम्बन्ध लगभग वैसे ही हैं जैसे कार्टर प्रशासन के दौरान थे। 'वाशिंगटन-पीकिंग-पिण्डी धुरी' को रीगन प्रशासन ने और शक्तिशाली बनाया है तथा इस बात के भी आसार स्पष्ट हैं कि निकट भविष्य में रूस के विरोध में 'वाशिंगटन-टोकियो-पीकिंग-पिण्डी-धुरी' शक्तिशाली रूप में अस्तित्व में आ जाएगी।

सोवियत-संघ और चीन के सम्बन्ध : चीन-सोवियत संघर्ष
(U.S.S.R. & China Relations : Sino-Soviet Conflict)

सोवियत संघ और चीन—इन दो महान् साम्यवादी राष्ट्रों के सम्बन्ध मैत्री और शत्रुता, सहयोग और स्पर्द्धा, भाईचारे और कटु-वैमनस्य की कहानी रहे हैं। 1 अक्तूबर, 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के तुरन्त बाद रूसी-चीनी-मैत्री तेजी से विकसित हुई, लेकिन कुछ ही वर्षों बाद दोनों के बीच साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के लिए तीव्र स्पर्द्धा छिड़ गई, विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद उग्र हो गए, सीमा-विवाद उठ खड़े हुए और सशस्त्र सीमा संघर्ष भी हुए। आज स्थिति यह है कि एक ओर तो चीन और अमेरिका, जो एक-दूसरे के घोर शत्रु थे, रूसी शक्ति के विरुद्ध अपने हाथ मिला रहे हैं, तो दूसरी ओर अमेरिका और रूस सह-अस्तित्व और सहयोग की बात करते हुए चीन की विस्तारवादी आकांक्षाओं पर अंकुश लगाने

को सचेष्ट हैं। रूस-चीन-अमेरिका का यह त्रिकोणात्मक संघर्ष विश्व-राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहा है।

रूस-चीन में सहयोग का काल

चीन के जनवादी गणतन्त्र की स्थापना होते ही सोवियत रूस ने उसे अपनी मान्यता दी और माम्रो-त्से-तुग ने फरवरी, 1950 मे रूस की यात्रा कर 24 फरवरी को दोनो देशो के बीच तीन सन्धियां सम्पन्न की—(1) 30 वर्ष के लिए मैत्री और पारस्परिक सन्धि, (2) चांगच्यांग रेल्वे, पोर्ट आर्थर तथा दाइरन से सम्बद्ध सन्धि, एव (3) ऋण सम्बन्धी सन्धि। प्रथम सन्धि के अन्तर्गत जापानी अथवा उसके सहयोग से किसी भी विदेशी आक्रमण की स्थिति मे दोनो देशो मे एक-दूसरे की सहायता करने तथा साथ ही पारस्परिक हितो पर आंच लाने वाली किसी भी सन्धि मे शामिल न होने का निश्चय किया। जापान के साथ शान्ति-सन्धि के लिए प्रयास करने, समान हितो के अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर आपसी विचार-विमर्श करते रहने तथा पारस्परिक निकटतम आर्थिक एव सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर भी सहमति प्रकट की गई। द्वितीय सन्धि द्वारा सोवियत सघ ने च्यांग चुन-रेल्वे को जापानी शान्ति-सन्धि के बाद और अधिक से अधिक 1952 के अन्त तक चीन को हस्तान्तरित करने का वचन दिया। यह भी निश्चित हुआ कि 1952 तक सोवियत सघ की सेनाएँ पोर्ट आर्थर से वापस बुला ली जाएँगी। तृतीय सन्धि द्वारा सोवियत सघ ने चीन को 5 वर्ष की अवधि के लिए 3 करोड डॉलर का ऋण देना स्वीकार किया। इस ऋण को 5 किश्तों मे दिया जाना तथा 31 दिसम्बर, 1954 के पश्चात् 10 किश्तों मे लौटाया जाना निश्चित हुआ।

सन्धियों के सम्पन्न होने के उपरान्त कुछ वर्षों तक रूस-चीन मैत्री विकसित होती रही। सितम्बर, 1952 मे च्यांग चुन-रेल्वे चीन को लौटा दी गई, परन्तु पोर्ट आर्थर के बारे में यह निश्चय हुआ कि वह तब तक नही लौटाया जाएगा जब तक रूस और चीन के साथ जापान की शान्ति-सन्धि नहीं हो जाती। बाद में 1954 में यह तय किया गया कि पोर्ट आर्थर 1955 में चीन को दे दिया जाएगा। मई, 1955 मे इसे चीन को हस्तान्तरित कर दिया गया। इस अवधि मे सोवियत सघ द्वारा चीन को दी जाने वाली वित्त, वाणिज्य और प्राविधिक सहायता मे भी निरन्तर वृद्धि होती गई। चीन का लगभग 70% व्यापार रूस के साथ होने लगा जिसमे 1950 के बाद निरन्तर वृद्धि होती चली गई। 1954 मे ही रूस ने चीन को अणुशक्ति-उत्पादन मे भी सहयोग देना स्वीकार किया, परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि चीन द्वारा रूस की पूर्व अनुमति के बिना अणु-परीक्षण नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त चीनी-रूसी मैत्री-सगठन स्थापित किए गए।

सोवियत सघ ने चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ मे स्थान दिलाने के लिए निरन्तर प्रयास किया। 1954–55 मे दोनों देशों ने पश्चिमी शक्तियों, विशेषकर अमेरिका द्वारा स्थापित प्रादेशिक सैनिक सगठनों की कटु आलोचना की। 1956–57 मे

दोनों ने मिस्र पर ब्रिटेन व फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी और पोलैण्ड में जब दक्षिण-पंथी दंगे हुए तब भी दोनों देशों में नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहे। 1958 में टीटो के संशोधनवाद की कटु आलोचना भी दोनों ही देशों द्वारा की गई। सोवियत संघ की भाँति ही अन्य समाजवादी देशों के साथ चीन ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखे।

रूस-चीन में मतभेद और कटु वैमनस्य का काल

रूस और चीन के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में तनाव का बीजारोपण 1954 में ही स्पष्ट हो गया। सोवियत-साम्यवादी दल की 23वीं कांग्रेस में श्री ख्रुश्चेव ने युद्ध की अवश्यम्भाविता और हिंसात्मक क्रान्ति की अनिवार्यता से इन्कार करते हुए विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया और संसदीय पद्धति से समाजवाद की स्थापना की वकालत की। ख्रुश्चेव की ये मान्यताएँ चीनी नेताओं के गले नहीं उतरीं। चीनी साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और आलोचना-प्रत्यालोचना की खुली शुरुआत हुई। 1956 में और तत्पश्चात् 1961 में रूसी साम्यवादी दल की कांग्रेस में ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की निन्दा ने दोनों देशों में मतभेद और सैद्धान्तिक संघर्ष उग्र कर दिए। ख्रुश्चेव के स्टालिन विरोधी अभियान को विस्टालिनीकरण की संज्ञा दी गई। जब मास्को यूगोस्लाविया को साम्यवादी भ्रातृत्व में वापस बुलाने को तत्पर हुआ तो भी चीन को बड़ा बुरा लगा। सितम्बर, 1959 में ख्रुश्चेव की अमेरिका-यात्रा चीन को पसन्द नहीं आई और इसलिए चीन की यात्रा के समय सोवियत नेता का कोई विशेष स्वागत नहीं किया गया। 1959 में अपनी चीन-यात्रा के समय ख्रुश्चेव ने पुनः यह बात दोहराई कि साम्यवादी चाहे कितने ही सशक्त हो जाएँ, उन्हें पूँजीवादी जगत् के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहना चाहिए। चीनी मार्क्सवादियों को ख्रुश्चेव का उपदेश 'प्रतिक्रियावादी शक्तियों की प्रगतिशील शक्तियों पर विजय' जैसा लगा। 1959–60 में भारत–चीन सीमा-विवाद पर ख्रुश्चेव की यह टिप्पणी भी चीनी नेताओं को अखरी कि दोनों देश अपना सीमा-विवाद शीघ्र ही शान्तिपूर्ण ढंग से निपटा लें।

दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद तीव्र होते गए। जून, 1960 में बुखारेस्ट में रूमानिया-कर्मचारी-दल के तृतीय सम्मेलन में ख्रुश्चेव ने पुनः कहा कि लेनिन का 'पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त' अब लागू नहीं होता। दूसरी ओर चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने घोषणा की कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है, युद्धों का खतरा बना रहेगा। जुलाई, 1960 से रूस द्वारा चीन की विकास-योजनाओं में कार्यरत सोवियत वैज्ञानिकों को वापस बुला लिया गया। चीन को सामग्री, मशीनें आदि भेजना भी बन्द अथवा सीमित कर दिया गया। 1961 में प्रकाशित सोवियत साम्यवादी दल के कार्यक्रम के माध्यम से 20 वर्ष की अवधि में रूस में साम्यवाद की स्थापना का नारा बुलन्द किया गया। इस कार्यक्रम में साम्यवाद का अर्थ वस्तुओं की प्रचुरता बतलाया गया। चीनी साम्यवादी दल को साम्यवाद की यह व्याख्या अत्यन्त आपत्तिजनक लगी। 1962 में

रूस द्वारा भारत को मिग विमान देने और उन्हें बनाने के कारखानों में सहायता देने का समझौता चीनी नेताओं को घातक प्रतीत हुआ। 1962 में ही क्यूबा काण्ड के सम्बन्ध में चीनी नेताओं ने कहा कि रूस का पहला दोष 'दुस्साहस' का था और दूसरा दोष 'कागजी शेर' अमेरिका के आगे 'घृणित आत्म-समर्पण' करने का। 1962 में ही भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में अपनाई गई रूसी नीति ने भी चीन को नाराज करने में आग में घी का काम किया।

जुलाई, 1963 में मास्को में रूसी और चीनी साम्यवादी दलों की वार्ता न केवल असफल हुई बल्कि दोनों देशों ने एक-दूसरे की कटु आलोचना की। रूस ने पश्चिम के साथ सह-अस्तित्व के विचार का पोषण किया जबकि चीन ने कहा कि साम्राज्यवाद के पूर्ण विनाश के लिए युद्ध अत्याज्य है और तृतीय महायुद्ध अमेरिका तथा रूस को ही समाप्त करेगा, चीन को नहीं। 25 जुलाई, 1963 को महाशक्तियों में हुई अणु-परीक्षण-निरोध-सन्धि का चीन ने बहिष्कार किया। रूस पर आरोप लगाया गया कि वह अमेरिका के साथ मिलकर आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार कायम रखना चाहता है।

अक्तूबर, 1964 में ख्रुश्चेव के हटने पर पीकिंग में खुशियाँ मनाई गईं, लेकिन जब रूस के नए नेतृत्व ने भी पश्चिमी जगत् के साथ सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास प्रकट किया तो चीनियों को बड़ी निराशा हुई। रूसी बोल्शेविक क्रान्ति के 47वें वार्षिक उत्सव में चीनी प्रधानमन्त्री, चाऊ-एन-लाई की कूटनीतिक वार्ता भी असफल रही क्योंकि रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एकता के क्रान्तिकारी प्रयासों में चीन का साथ देने से इन्कार करते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में आस्था प्रकट की।

सैद्धान्तिक संघर्ष के अतिरिक्त दोनों देशों के बीच सीमा-विवाद भी उभरे जिन्होंने सशस्त्र सीमा-संघर्षों का रूप ले लिया। मार्च, 1969 में पूर्वी एशिया में उसूरी नदी के टापू दमिश्क के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में सैनिक मुठभेड़ें हुईं। रूस और चीन की वर्तमान सीमाओं का निश्चय रूस के जारों और चीन के मुचूँ सम्राटों के बीच हुई सन्धि द्वारा हुआ था। ये सन्धियाँ 1858 और 1860 में की गई थीं, जिनके अन्तर्गत चीन ने लगभग 5 लाख वर्गमील क्षेत्रफल रूस को सौंपा था। चीन ने आरोप लगाया कि उस समय चीनी निर्बलता का लाभ उठाकर रूस ने ये सन्धियाँ लाद दी थीं। रूस का कहना है कि ऐसी कोई बात नहीं थी और रूसी भूमि ही रूस ने प्राप्त की थी। चीन और रूस में झगड़े का असली कारण वस्तुतः मंगोलिया रहा है। चीन अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए मंगोलिया पर दाँत गड़ाए हुए है जो चीन की सरहद पर है तथा बहुत कम बसा हुआ है। मंगोलिया का पूर्वी भाग चीन के पास है और चीनी नेता चाहते हैं कि दोनों मंगोलिया संयुक्त होकर चीन का एक प्रदेश बन जाएँ। रूस इसे मानने को तैयार नहीं है। पीकिंग ने मंगोलिया पर अपना दावा पहले पहल 1964 में किया था कि रूस ने इस 'स्वतन्त्र राज्य' को हड़प लिया है, लेकिन रूसी चीनी दावे को ठुकराते रहे हैं।

विवाद तब पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब 1965 में पहली बार यह चीनी आरोप पूरी तरह स्पष्ट किया गया कि प्रथम साम्यवादी क्रान्ति का जन्मस्थल सोवियत संघ पूँजीवाद के पुनरुद्धार में सक्रिय रूप से लगा हुआ है और प्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति–संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ मिलने के लिए लालायित है। एक ऐसे राज्य के विरुद्ध जो मार्क्सवाद-लेनिनवाद में विश्वास करता था, सम्भवतः इससे अधिक गम्भीर आरोप नहीं लगाया जा सकता था। इस समय तक स्थिति यह हो गई थी कि दोनों देश खुलमखुल्ला एक-दूसरे के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों को विफल करने वाली विदेश-नीतियों का अनुसरण करने लगे थे। दोनों ही देश इस बात के लिए भी प्रयत्नशील थे कि उन्हें साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अधिकाधिक समर्थन मिले।

रूस और चीन के मध्य मतभेदों की खाई निरन्तर गहरी और चौड़ी होती जा रही है। फरवरी, 1979 में वियतनाम पर चीन का आक्रमण यदि लम्बा चलता तो इस बात की पूरी आशंका थी कि चीन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में रूसी सैनिक भी वियतनामी सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर लड़ते।

रूस-चीन विवाद के मुख्य कारण

1. दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद हैं। स्टालिनोत्तर युग की सोवियत नीति विश्व-क्रान्ति और युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करती, जबकि लाल चीन क्रान्ति, हिंसा और युद्ध द्वारा पूंजीवादी जगत के विनाश में विश्वास करता है। रूसी सरकार के सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' के दिसम्बर, 1971 के अंक में एक प्रकाशित लेख में रूसी लेखक जी. एपलिन ने लिखा था कि—"माओ की विदेश नीति लड़ाकू, खतरनाक तथा रक्तरंजित है जिससे चीनी लोकतन्त्र को भारी हानि हुई है यह न तो मार्क्सवादी है और न ही लेनिनवादी।"

2. नेतृत्व का नशा दोनों ही देशों पर छाया हुआ है। रूस द्वारा साम्यवादी जगत् का एकछत्र नेतृत्व सहन करने को चीन तैयार नहीं है। एशिया में रूस के प्रभाव-विस्तार को चीन सन्देह की दृष्टि से देखता है।

3. भूमध्यसागर रूस और चीन के तनाव का एक केन्द्र है। रूस और अमेरिका के जहाज तो भूमध्यसागर में घूमते ही हैं, चीन की पनडुब्बियों ने भी इस सागर में घूमना आरम्भ कर दिया है। भूमध्यसागर में चीन की कुछ सैनिक और राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं। चीन चाहता है कि—(i) भूमध्यसागरीय देशों पर उसकी बात का वजन रहे, (ii) रूसी मंसूबों को हर क्षेत्र में चुनौती दी जाए या उसके मार्ग में कुछ न कुछ बाधा उत्पन्न की जाए, (iii) अल्बानिया जैसे साम्यवादी देशों को चीन ने अपने प्रभाव में ले लिया है उन पर और रौब आतंकित रखा जाए, (iv) प्रक्षेपास्त्रों से सज्जित जिन पनडुब्बियों का विकास चीन कर रहा है उनकी सैनिक गतिविधियों का क्षेत्र पहले से ही तैयार कर लिया जाए ताकि रूस और अमेरिका के मुख्य क्षेत्र चीन की मार में आ सकें।

4. चीन का 1969 से पहले तक का नारा था विश्व के दो भाग हैं—समाजवादी और असमाजवादी। लेकिन सन् 1969 में चीनी साम्यवादी दल ने जो साम्यवादी व्याख्या की उसने सोवियत रूस को भी असमाजवादी अथवा साम्राज्यवादी राष्ट्रों की श्रेणी में ला दिया।

5. एक परमाणु शक्ति के रूप में चीन के विकास को न केवल रूस बल्कि अन्य देश भी एक बड़े खतरे के रूप में देखते हैं। प्रारम्भ में सोवियत संघ ने चीन को परमाणुविक जानकारी दी, लेकिन ज्यों-ज्यों चीन के इरादे स्पष्ट होते गए। रूस ने इस सम्बन्ध में आधुनिकतम प्रविधि के बारे में गोपनीयता बरती। 1959 में 1957 के उस समझौते को भंग कर दिया गया जिसमें रूस द्वारा चीन को परमाणु बम की प्रक्रिया का ज्ञान कराने का प्रावधान था परमाणु अस्त्रों के प्रश्न पर चीन और रूस के मतभेद बढ़ते ही गए।

6. विवाद की एक बड़ी जड़ मंगोलिया है। चीन अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए प्रादेशिक विस्तारवाद के मार्ग का अनुसरण कर रहा है। रूसी मंगोलिया पर, जिसे 'स्वतन्त्र मंगोलिया प्रजातन्त्र' कहते हैं, चीन की आँख है। मंगोलिया का पूर्वी भाग चीन के अधिकार में है। चीन चाहता है कि दोनों मंगोलिया एक होकर चीन का प्रदेश बन जाएँ। चीन का आरोप है कि रूस ने 'स्वतन्त्र मंगोलिया' को हड़प लिया है।। मंगोलिया के कारण दोनों देशों की सीमाओं पर भारी सैनिक जमाव रहता है और कितनी ही बार सैनिक झड़पें भी हो चुकी हैं जिनमें पराजित होकर चीनियों को पीछे हटना पड़ा।

7 अमेरिका भी रूस और चीन के मतभेदों को उकसाने के लिए उत्तरदायी है। जब 1969 के बाद रूस-चीन सीमा पर झड़पें हुईं तो अमेरिकी समाचारपत्रों में प्रचार किया गया कि सन् 1969 में रूसी सैनिक अधिकारी इस बात पर विचार कर रहे थे कि चीन पर आकस्मिक हमला किया जाए ताकि उसकी परमाणु शक्ति समाप्त हो जाए। वास्तव में अमेरिका यह तो नहीं चाहेगा कि रूस और चीन के बीच बड़े पैमाने पर परमाणु युद्ध हो क्योंकि उसका प्रभाव रूस और चीन के बाहर दूर-दूर तक पड़ेगा। इसके अतिरिक्त चीन की समाप्ति से रूस की शक्ति इतनी बढ़ जाएगी। मगर अमेरिका यह अवश्य चाहता है कि दोनों देशों के बीच इस प्रकार का तनाव बना रहे जिससे अमेरिका लाभान्वित हो।

8 चीन दुनिया के हर देश में रूस विरोधी प्रचार कर रहा है। यूरोपीय कम्युनिस्ट देशों में उसने रूस के प्रति आग भड़काने की हर सम्भव चेष्टा की है। अल्बानिया को रूस से विमुख करने में चीन को सफलता भी प्राप्त हुई है। रूसी नेतृत्व चीन की इन कार्यवाहियों से परेशान है और अपने प्रभुत्व की रक्षा के लिए व्यग्र है।

9. चीन को विश्वास होने लगा है कि पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थायी है जबकि जापान निरन्तर शक्तिशाली होकर पूर्वी एशिया में स्थायी रूप से छा जाने को प्रयत्नशील है, अत. अमेरिका से सन्तुलन कायम रखकर

पूर्वी एशिया में सोवियत संघ की उपस्थिति को असम्भव बनाकर, चीन की सैनिक उपस्थिति की सम्भावनाओं को सुदृढ़ कर सकता है। चीन और अमेरिका दोनों इस बात से सहमत हैं कि दक्षिण-पूर्वी एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत संघ द्वारा नहीं होनी चाहिए।

10. पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के सम्बन्धों में सुधार रूस को अभीष्ट है, लेकिन वह चीन और अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार को पसन्द नहीं करता।

11. रूस का विचार है कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है और विध्वंसक अस्त्रों के निर्माण के कारण यह वांछनीय भी नहीं है जबकि चीन का मत है कि समाजवाद की तथाकथित सैनिक सर्वोच्चता के कारण सशस्त्र-नीति व्यावहारिक है। चीनी नेतृत्व का यह विश्वास था कि साम्राज्यवादियों को भुकने के लिए विवश किया जा सकता है और यदि ऐसा न हो तो युद्ध द्वारा उनके भाग्य का निर्णय किया जाना चाहिए चाहे उसमें एक तिहाई या आधी मानव-सभ्यता ही नष्ट क्यों न हो जाए। सितम्बर, 1976 में माओ की मृत्यु के बाद भी चीन के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है तथापि ऐसा आभास अवश्य होने लगा है कि नया नेतृत्व संघर्ष की बजाय सहयोग की राजनीति पर चलने का प्रयत्न करेगा।

12. रूसियों का अपने समाज के सम्बन्ध में तर्क है कि वर्ग-संघर्ष की विजय पूर्ण हो चुकी है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को सम्पूर्ण जनता के राज्य का रूप दे दिया गया है। चीनी इसको मात्र कुतर्क कहकर अस्वीकार करते हैं। उनके विचार से यह सोवियत संघ के अन्तर्गत प्रचुरता से बढ़े नौकरशाही तत्त्वों पर आवरण डालने की एक योजना है जो सर्वहारा तानाशाही एवं वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी लेनिनवादी विचारधारा के लिए खतरा है।

13. चीनी सोवियत संघ से प्राप्त आर्थिक सहायता से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहे। कोरिया युद्ध के लिए प्राप्त ऋण के दायित्व ने उन्हें और भी अप्रसन्न कर दिया। जब रूस ने चीन की सहायता बन्द कर दी तो चीन ने इसका अर्थ यह लगाया कि रूस उस पर साम्यवादी दल से वार्ता के लिए अधिक दबाव डालना चाहता है। रूसी नेतृत्व को यह विश्वास हो गया कि चीन को आर्थिक सहायता देने का वही अवांछनीय परिणाम होगा जो सैनिक सहायता का हुआ है।

14. अल्बानिया का प्रश्न विदेश नीति का विषय होते हुए भी दल का प्रश्न बन गया। प्रश्न था कि क्या सोवियत साम्यवादी दल को यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौन सा शासक दल साम्यवादी गुट में है और वास्तविक समाजवादी देश कौन सा है? सोवियत साम्यवादी दल ने अल्बानिया को एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा गुट से निकाल दिया क्योंकि उसने मास्को की अवज्ञा की थी। चीनियों ने रूस की इस कार्यवाही की भर्त्सना की और अल्बानिया चीनी गुट में शामिल हो गया।

15. सोवियत संघ के विरुद्ध चीन के अविश्वास का एक बड़ा ऐतिहासिक आधार भी है। राजनीतिक विचारकों और इतिहासकारों का तर्क है कि अभी तक

इतिहास में चीन की ओर से सोवियत संघ पर कभी कोई आक्रमण नहीं हुआ जबकि इसके विपरीत क्रान्ति के पूर्व रूसी शासकों ने चीन पर कई बार आक्रमण करके उसके भू-भाग को हड़प लिया था। वास्तव में सोवियत संघ मूलतः यूरोपीय देश है और एशिया में उसका इतना विस्तार क्रान्ति के पूर्व रूसी शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का ही फल है।

इस प्रकार सोवियत-चीन वैमनस्य साधार और तथ्यपूर्ण है। सीमा पर दोनों ओर सैनिक जमाव है और जब तब झड़पें हो जाती हैं। विगत कुछ वर्षों से चीनी नेता आरोप लगाते आ रहे हैं कि सोवियत संघ ने उनकी सीमा पर भारी सैनिक जमाव कर रखा है जिससे चीन की प्रभुसत्ता एवं अखण्डता को भारी खतरा उत्पन्न हो गया है। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए चीन तेजी से सामरिक तैयारियां कर रहा है। पर यह कहना कठिन है कि सोवियत रूस की ओर से यह तथाकथित खतरा वास्तविक है या काल्पनिक। हाल के ही वर्षों का इतिहास चीनी विस्तारवादी मनोवृत्ति की पुष्टि करता है। चीन ने जिस प्रकार मित्र देश भारत की भूमि हड़पी है, पाकिस्तान द्वारा अन्तर्विष्ट रूप से दी गई कश्मीर की भूमि को हड़पा है एवं मित्र देशों के साथ घोर विश्वासघात किया है, उसे देखते हुए चीन के पक्ष में कुछ कहना वस्तुतः कठिन है। जो भी हो, सोवियत चीन संघर्ष आज राजनीतिक और राजनयिक पर्यवेक्षकों के लिए विचारणीय विषय बना हुआ है। जहाँ तक सीमा पर सैनिक जमाव का प्रश्न है, यह एक स्थापित तथ्य है। सोवियत संघ के अनुसार चीन-सोवियत सीमा पर नियमित चीनी सेना बनी हुई। चीन के वहाँ प्रक्षेपास्त्र, तोपें और राइफलें हैं जिनके मुँह उत्तरी पड़ोसियों की ओर हैं। सोवियत संघ की सीमा के साथ लगने वाले सिंकियांग पर परमाणु प्रशिक्षण चीन करता रहता है। एक रिपोर्ट के अनुसार चीनी सीमा पर 3,65,000 सोवियत सैनिक 4,000 टैंक तथा 1830 विमान हैं जबकि सोवियत सीमा पर 16,25,000 चीनी सैनिक, 5,000 टैंक तथा 2,600 विमान तैनात हैं। सोवियत संघ का यह भी आरोप है कि चीन पूँजीपति देशों जैसे अमेरिका, जापान और पश्चिमी यूरोप के देशों से बड़े पैमाने पर हथियारों की खरीद कर रहा है और तो और चीन के दक्षिण अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के कुछ देशों से भी सम्बन्ध है। चीन के सोवियत सीमा पर पश्चिमी जर्मनी के कुछ देशों से भी सम्बन्ध हैं। चीन-सोवियत सीमा पर पश्चिमी जर्मनी के कुछ टैंक भी देखे गये हैं।

चीन और सोवियत संघ में सीमा सम्बन्धी दर्जनों लिखित और अलिखित सन्धियाँ और समझौते हैं। ये सन्धियाँ और समझौते 1889 और 1915 के बीच हुए थे। इन सन्धियों और समझौतों का समय-समय पर जायजा भी लिया जाता रहा है लेकिन चीनी अधिकारियों की मान्यता है कि बहुत सा इलाका अभी भी विवादास्पद है। चीन के अनुसार उसके 32 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर किसी न किसी पड़ोसी देश का अधिकार है। इसमें से 15 लाख वर्ग किलोमीटर सोवियत संघ के अधीन है। चीन के अनुसार जब तक इस विवादास्पद क्षेत्र को सुलझा नहीं

लिया जाता तब तक किसी भी तरह की वार्ता या संवाद बेमतलब और प्रभावहीन साबित होगी। चीन ने यह स्पष्ट तौर पर कहा है कि यदि सोवियत संघ सचमुच शान्ति चाहता है तो दो प्रमुख मुद्दों पर सहमति होनी चाहिए। सीमा पर यथास्थिति बनाये रखने पर सहमति और सशस्त्र सेनाओं को एक दूसरे से दूर रखने का आश्वासन, उसके बाद परस्पर वार्ता द्वारा विवाद को सुलझाने की कोशिश की जानी चाहिए। चीन ने यह भी माँग की कि सोवियत सेनाएँ मंगोलिया से भी हट जाएँ। 1960 की सोवियत चीन सीमा को ही वास्तविक सीमा माना जाए। इन्हीं दो प्रस्तावों को चीन अपने ठोस सुझाव बताता है।

कम्युनिस्ट खेमे में चीन लगभग अलग-थलग पड़ गया है। यूरोप में उसका एकमात्र साथी अल्बानिया भी उससे अलग हो गया है। इसलिए सोवियत संघ से बिगाड़ के बाद अल्बानिया ने उसे जो थोड़ा बहुत सहयोग और समर्थन मिलता था वह भी अब तकरार में बदल गया है। एशियाई देशों में भी वियतनाम पर उसका दबदबा नहीं है और कम्बोडिया वियतनाम के मुकाबले कमजोर है। यही कारण है कि उसका झुकाव पश्चिमी देशों की ओर अधिक होता जा रहा है और पश्चिमी प्राविधिकी की जानकारी प्राप्त करने के लिए चीनी इंजीनियर और वैज्ञानिक इन देशों में देखे जा रहे हैं। अब इस मसले ने और व्यापक रूप अख्तियार कर लिया है। चीन में नेतृत्व परिवर्तन जरूर हुआ है लेकिन सोवियत संघ की मान्यता है कि अभी भी माओवाद का हौवा चीन पर हावी है और जब तक माओवाद का हौवा रहेगा चीन सोवियत सम्बन्धों में अधिक सुधार की गुंजाइश नहीं है।

वस्तुतः रूस और चीन के बीच संघर्ष के मूल कारण उतने सैद्धान्तिक नहीं है जितने कि राजनीतिक और सामरिक। साम्यवादी जगत् का नेतृत्व कौन करे—यह झगड़े की मूल जड़ है।

रूस-चीन के समझौते-प्रयास

अपने तीव्र मतभेदों के बावजूद भी रूस और चीन दोनों ही समझते हैं कि वे एक दूसरे के शत्रु नहीं बने रह सकते, अन्यथा अमेरिका की 'बन्दर बाँट' नीति सफल हो जाएगी। पश्चिमी जगत् विशेष कर अमेरिका के निहित स्वार्थों और वास्तविक इरादों से दोनों ही देश अच्छी तरह परिचित हैं, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने-अपने वर्चस्व हेतु तथा शक्ति-सन्तुलन को अपने पक्ष में करने के लिए दोनों ही अमेरिका की मैत्री के आकांक्षी हैं। वस्तुस्थिति को समझ कर ही रूस और चीन समय-समय पर अपने मतभेदों को सुलझाने के लिए बातचीत करते रहे हैं तथा 1970 से दोनों के बीच सैनिक संघर्ष की सम्भावना बहुत-कुछ कम हुई है। 1970 की 13 जनवरी को दोनों देशों ने सीमा-समस्या के समर्थन के लिए आपस में जो वार्ता की उससे उनके बीच मतभेद कुछ कम हुए हैं। अक्तूबर, 1970 में हुई सोवियत-चीनी व्यापार-सन्धि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-सुधार की दिशा में एक कदम था जिसके अनुसार सोवियत रूस ने चीन से अपने व्यापार में 1971-72 में 200 प्रतिशत वृद्धि कर देने का आश्वासन दिया था। सितम्बर, 1973 में यद्यपि

चाऊ-एन-लाई ने ये आरोप लगाए कि रूस चीन के साथ स्थिति सामान्य बनाना नहीं चाहता, चीन की सीमा पर उसकी दृष्टि है। रूस और अमेरिका को संसार की सम्पत्ति परस्पर बाँट लेने का कोई अधिकार नहीं है एवं वर्साय-सन्धि संगठन का स्वरूप आक्रामक है, तथापि यह वाक्-युद्ध पहले के समान कठोर रूप लिए हुए नहीं था। वाक्-युद्ध दोनों देशों के बीच अब भी चल रहा है, किन्तु पारस्परिक मतभेद दूर करने के लिए भी दोनों ही उत्सुक हैं। राजनीति की दुनिया में न कोई स्थायी मित्र हो सकते हैं और न कोई स्थायी शत्रु। भारत-रूसी-मैत्री चीन को खटकती है जबकि वास्तविकता यह है कि भारत-रूस-मैत्री न तो चीन और भारत के और न रूस और चीन के सामान्यीकरण में बाधक है। चीन को यह बात बहुत बुरी तरह खटकती है कि रूस भारतीय क्षेत्र पर चीनी अधिकार का पक्ष नहीं लेता। 30 अक्तूबर, 1975 को सोवियत संघ के चीनी मामलों के विशेषज्ञ श्री एन. निसितोव ने कहा था कि पेकिंग धोखाधड़ी का सहारा लेकर भारत पर अपने सीमा सम्बन्धी विचार थोपने का प्रयत्न कर रहा है। चीनी विस्तारवाद पर लिखे गए अपने लेख में उन्होंने कहा था कि चीन ने भारत के 14 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर रखा है तथा अभी तक वहाँ जमा हुआ है। प्रेक्षकों के मतानुसार संघ ने उक्त लेख द्वारा पहली बार भारत के इस वैध दावे को स्वीकार किया कि चीन ने भारतीय क्षेत्र पर कब्जा कर रखा है।

9 सितम्बर, 1976 को माओ-त्से-तुंग की मृत्यु के बाद चीन के नए नेतृत्व का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ उदार बनता जा रहा है और फलस्वरूप रूस-चीन विवाद में कटुता कुछ कम हुई है, यद्यपि विरोध बदस्तूर जारी है। समय-समय पर दोनों देशों के बीच समझौता वार्ताएँ भी चली हैं, तथापि अभी कोई नतीजा नहीं निकला है। 24 जुलाई, 1981 को चीन ने अफगान सोवियत संघ की सीमा-सन्धि को अवैध घोषित किया था। वास्तव में लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे पर रूस-चीन मतभेद बरकरार हैं और निकट भविष्य में ऐसी कोई आशा नहीं दिखाई देती कि दोनों देशों का विवाद समाप्त हो सकेगा।



23 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रभाव (U.N.O.'s IMPACT ON INTERNATIONAL POLITICS)

"संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्वास का प्रतीक है—यह विश्वास कि शान्ति सम्भव है।.......यह आशा से अनुप्राणित कार्य करने का एक यन्त्र है तथा विश्व के अनेक कोनों में यह कल्याणकारी कार्यों के लिए एक ढांचे का कार्य कर रहा है।" —डॉग हेमरशोल्ड

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को अन्तिम रूप से निश्चित करने के लिए सानफ्रांसिस्को (अमेरिका) में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ जो 15 अप्रेल से 26 जून, 1945 तक चला। 26 जून को 50 देशों के प्रतिनिधियों ने संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर कर दिए। पोलैण्ड के प्रतिनिधि कारणवश उपस्थित नहीं हो सके, अतः हस्ताक्षरों के लिए स्थान छोड़ दिया गया। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुल 21 प्रारम्भिक सदस्य बने जबकि, अप्रेल 1982 के प्रारम्भ में संघ की सदस्य संख्या 156 थी। 24 अक्टूबर, 1945 को संघ का चार्टर लागू हुआ और यही दिन विश्व में प्रतिवर्ष 'संयुक्त राष्ट्र दिवस' (The U N. Day) के रूप में मनाया जाता है। फरवरी 1946 को लन्दन के वेस्ट मिनिस्टर हाल में संघ की प्रथम बैठक हुई और 15 फरवरी, 1946 को इसका प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ। संघ का प्रधान कार्यालय पहले लेक-सक्सेस (अमेरिका) में स्थापित हुआ और तत्पश्चात् न्यूयॉर्क में बने विशाल भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप

संयुक्त राष्ट्रसंघ का स्वरूप उसके चार्टर या संविधान से स्पष्ट है। चार्टर की प्रस्तावना के प्रारम्भ में सदस्य-राष्ट्रों के विश्व-शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी संकल्पों को प्रकट किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और विश्व-शान्ति व सुरक्षा को प्रभावित करने की दृष्टि से संघ के उद्देश्य अग्रलिखित है—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा की स्थापना करना, शान्ति पर होने वाले आक्रमणों को रोकना और उनके विरुद्ध प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करना, शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून भग करने वाली चेष्टाओं को दबाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढग से और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार सुलझाना।

2 जनता के आत्म-निर्णय तथा समान अधिकार के आधार पर राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा सार्वभौम शान्ति को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक कदम उठाना।

3 अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं को सुलझाने मे सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को बिना किसी भेदभाव के प्रोत्साहित करना।

4 उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों के कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने हेतु केन्द्र के रूप मे कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्रसघ का आधार ऐसे सिद्धान्तों पर रखा गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सम्बन्ध को प्रभावित करने की भूमिका तैयार करते हैं। संघ के सदस्य राज्यो को इन सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना होता है—

(i) सभी राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न हैं और समान हैं।

(ii) सभी सदस्य चार्टर के अनुसार अपने उत्तरदायित्वों व कर्त्तव्यों का सदभावना से पालन करेंगे।

(iii) सभी सदस्य-राष्ट्र अपने विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढग से इस प्रकार करेंगे कि शान्ति, सुरक्षा व न्याय के भग होने का भय न रहे।

(iv) सदस्य-राष्ट्र अपने सम्बन्धों मे आक्रमण की धमकी देने या दूसरे राज्यो के प्रति बल प्रयोग करने से दूर रहेगे।

(v) सदस्य-राष्ट्र चार्टर के अनुसार की जाने वाली संघ की प्रत्येक कार्यवाही मे सब प्रकार का सहयोग व सहायता देंगे और वे किसी ऐसे देश की मदद नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध सघ शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्यवाही करने वाला हो।

(vi) शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने के लिए सघ आवश्यक कार्यवाही करेगा। सघ यह भी देखेगा कि गैर-सदस्य राष्ट्र भी यथासम्भव ऐसे कार्य न करें जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाए।

(vii) विश्व शान्ति और सुरक्षा के अतिरिक्त सघ किसी राष्ट्र के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप नही करेगा।

स्पष्ट है कि सयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यो और सिद्धान्तो की रचना इस प्रकार की गई है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की भूमिका तैयार करते हैं और इस दृष्टि से सयुक्त राष्ट्रसघ के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना, विभिन्न राष्ट्रों मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना और मानव कल्याण के कार्य करना उसका कर्त्तव्य निर्धारित हो जाता है। संघ का सदस्य बनने वाला प्रत्येक राष्ट्र इन उद्देश्यो और सिद्धान्तों मे अपनी निष्ठा प्रकट

करता है। इस प्रकार वह यह स्वीकार करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के क्षेत्र में और इसी प्रकार के अन्य कार्यों में वह संयुक्त राष्ट्रसंघ का हस्तक्षेप स्वीकार करेगा तथा उसे प्रोत्साहन देगा। सदस्य-राष्ट्रों की यह स्वीकृति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस दृष्टि से सक्षम बनाती है कि वह शान्ति व सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी सीमाओं में रहते हुए हस्तक्षेप कर सके।

संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था एक नजर में
(United Nations System at a Glance)

संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था में स्थायी अंग, विशिष्ट अभिकरण और कतिपय परिषदें और कोष सम्मिलित हैं। एक नजर में इस विश्व संस्था की व्यवस्था निम्नानुसार है—

United Nations System

Permanent Organs	*Specialised Agencies*	*Conferences and Funds*
1. General Assembly	1. World Health Organization	1. United Nations Conference on Trade and Development
2. Security Council	2. Food and Agricultural Organization	2. Children's Fund
3. Trusteeship Council	3. Intergovernmental Maritime Consultative Organization	3. United Nations Special Fund
4. Economic and Social Council	4. International Civil Aviation Organization	4. International Monetary Fund
5. Secretariat	5. Universal Postal Union	5. International Bank for Reconstruction and Development
6. International Court of Justice	6. International Telecommunications Union	
	7. World Meteorological Organization	
	8. International Labour Organization	
	9. United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization (UNESCO)	
	10. International Atomic Energy Commission	

1 *Rosen and Jones* : The Logic of International Relations, 1974, p. 292.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से संघ के अंगों के अधिकार व कर्त्तव्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से संघ के अंगों के अधिकार और कर्त्तव्य इस प्रकार हैं—

महासभा (General Assembly)

प्रबोधक कार्यों के सिलसिले में महासभा ने अपने प्रस्तावों द्वारा अनेक बार सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों को अपने निषेधाधिकार का प्रयोग संयम से करने, महाशक्तियों द्वारा युद्ध-प्रचार-रोकने, सदस्य-राज्यों को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अवधारणा स्वीकार करने और संघर्षरत पक्षों को अपने विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करने को प्रेरित किया है।

सुरक्षा-परिषद की सिफारिश पर महासभा नए देशों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाती है तथा सुरक्षा-परिषद् के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव करती है। अप्रेल 1982 तक महासभा की सदस्य संख्या 156 थी। चार्टर के अनुसार महासभा को अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करने की शक्ति प्राप्त है। यह उन प्रयासों की खोज करती है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा तथा विश्व के राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सहयोग की स्थापना की जा सकती हो। महासभा शस्त्रों को सीमित करने और नि:शस्त्रीकरण पर विचार करती है। विश्व में शान्ति स्थापित करना इसका प्रमुख लक्ष्य है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह कोई भी सम्भव कदम उठा सकती है। संघ के अन्य अंगों की शक्ति की सीमा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न होने पर उसका निर्णय महासभा द्वारा ही किया जाता है। सुरक्षा-परिषद् का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी वार्षिक तथा विशेष रिपोर्ट महासभा को प्रस्तुत करे। महासभा उस पर विचार करती है। संघ का बजट भी इसी के द्वारा स्वीकार किया जाता है तथा यही इस बात का निर्णय करती है कि किस देश को संघ के व्यय का कितना भाग वहन करना चाहिए। इस तरह महासभा अनेक कार्य करती है इन कार्यों को करते समय सभा द्वारा वाद-विवाद किया जाता है, सिफारिशें की जाती हैं, ध्यान आकर्षित किया जाता है, सूचना दी जाती है और आगे अध्ययन करने की पहल की जाती है। जिन विषयों पर सुरक्षा-परिषद् विचार कर रही हो उन पर महासभा विचार तब कर सकती है जबकि सुरक्षा-परिषद् द्वारा ऐसा करने के लिए अनुरोध किया जाए।

न्याय, समझौते की शर्तों और उनमें परिवर्तन व संशोधन के अनुमोदन सहित, युद्ध के लिए सैनिक इलाकों के न्यास-समझौतों के जिन कामों का संयुक्त राष्ट्रसंघ पर उत्तरदायित्व हो, उनको महासभा पूरा करती है। इसे कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। महासभा सुरक्षा-परिषद् के परामर्श पर संघ के महासचिव की नियुक्ति करती है।

महत्त्व में वृद्धि के कारण—सुरक्षा-परिषद् की तुलना मे महासभा का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माताओं का विचार था कि सुरक्षा-परिषद् संघ की प्रधान कार्यकारी अंग होगी और महासभा एक वाद-विवाद मंच (Debating Forum) के रूप में कार्य करेगी। इसीलिए जहाँ परिषद् को बाध्यकारी शक्ति प्रदान की गई, वहाँ महासभा को केवल सिफारिशें करने का ही अधिकार दिया गया लेकिन कालान्तर मे विभिन्न व्यवस्थाओं, परिस्थितियों और व्यवहारों के फलस्वरूप महासभा का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। महासभा की महत्त्व-वृद्धि में निम्नलिखित कारणों का विशेष योग रहा है—

1. संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य महासभा के भी सदस्य हैं, अत: विश्व की समस्याओं पर विचार करने के लिए यह एक अच्छा सार्वजनिक मच है।

2. विशेषाधिकार के अनुचित और अधिक प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा-परिषद् की स्थिति पहले के समान अधिक लाभकारी नहीं रही है और सकटकाल मे सदस्य-राज्य परिषद् पर पूरा भरोसा नही कर सकते। विश्व-जनमन को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए वे महासभा को अधिक उपयुक्त स्थान समझते हैं।

3. शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पारित करने के बाद से महासभा के नैतिक स्तर मे बहुत वृद्धि हुई है और वह विवादों के निपटारे, सामूहिक सुरक्षा तथा निःशस्त्रीकरण के विषय में अधिक सक्रिय रही है।

4. महासभा की आपात्कालीन सेना की नियुक्ति से उसके महत्त्व में अधिक और पर्याप्त वृद्धि हुई है।

5. सुरक्षा-परिषद् के साथ-साथ महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नों पर विचार करने का जो अधिकार चार्टर के अन्तर्गत प्राप्त है, उसके समुचित प्रयोग ने भी महासभा के प्रभाव मे वृद्धि की है।

6. महासभा का अन्वेषणात्मक और निरीक्षणात्मक अधिकार इसे संघ के अन्य अंगों से अधिक उच्च स्थिति प्रदान करता है।

वास्तव मे 15 सदस्यों की सुरक्षा-परिषद् उन अर्थों मे सम्पूर्ण विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय मच नहीं कही जा सकती। क्लार्क आइकबर्गर (Clark M. Eicheberger) के मतानुसार, 'महासभा मानव-जाति के संशोधन का एक रूप है जिसमे राष्ट्र कानून एवं सशोधनात्मक प्रक्रिया के ढांचे के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण परिवर्तन की विविध समस्याओं पर विचार करने के साधन ढूंढ रहे हैं। सदस्य-राष्ट्र स्वतन्त्र रूप से अपनी शिकायतें, प्रस्ताव और सुझाव महासभा में प्रस्तुत करते हैं, इस तरह यह विश्व का उन्मुक्त अन्त:करण (Open Conscience of the World) है। स्टार्क (Starke) का यह निष्कर्ष सही है कि "महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।"[1]

1 *Starke* : An Introduction to International Law, p. 373.

महासभा की स्थिति में सुधार के सुझाव—डॉ. रामसखा गौतम ने महासभा की स्थिति मे सुधार के कुछ उपयोगी सुझाव दिए है। डॉ. गौतम का विचार है कि—

"चार्टर मे सशोधन द्वारा महासभा को ऐसा स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए जिससे उसे विश्व-सस्था की ससद् का स्तर प्राप्त हो सके, उसके निर्णय सम्मानित हो एव उनका उचित ढग से पालन किया जाय। महासभा के महत्त्व को सुरक्षा-परिषद् द्वारा कम नही किया जाना चाहिए। उचित तो यह है कि सुरक्षा-परिषद् को, जो सयुक्त राष्ट्र की कार्यकारिणी की तरह है, महासभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। महासभा मे सदस्य-राष्ट्रो के प्रतिनिधियो का उस देश की जनता द्वारा चुनाव होना चाहिए क्योकि सरकार द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि उक्त राज्य की जनता की यथार्थ भावनाओ को व्यक्त नही कर पाते। महासभा का अधिवेशन वर्ष मे एक बार होना है जिसमे सदस्य-राज्यो के राष्ट्राध्यक्षो को नियमित रूप से भाग लेना चाहिए ताकि महासभा के वाद-विवादो का स्तर ऊँचा हो सके। कुछ विचारको का यह मत है कि महासभा मे प्रतिनिधित्व की पद्धति मे भी परिवर्तन होना चाहिए। सदस्य-राष्ट्रो को जनसख्या के अनुपात के आधार पर मतदान का अधिकार मिलना चाहिए। उदाहरण के लिए सोवियत सघ, भारत, अमेरिका तथा साम्यवादी चीन आदि बड़े देशो को 30 सदस्य भेजने का अधिकार होना चाहिए एव महासभा मे उनके 30 मत भी होने चाहिए। ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, इण्डोनेशिया आदि मध्य श्रेणी के राष्ट्र 15 सदस्य भेजें एव उनके 15 मत हो। इसी प्रकार छोटे देश जनसख्या के आधार पर 5 या सात सदस्य भेज सकें। ऐसी व्यवस्था मे महासभा के सभी निर्णय अधिकतम जनसख्या के हितो के आधार पर होंगे। परन्तु इस व्यवस्था को अव्यावहारिक कहकर निरस्त कर दिया गया है क्योकि इससे सयुक्त राष्ट्र मे निहित 'समानता' के सिद्धान्त का उल्लघन होगा। अभी महासभा के प्रत्येक सदस्य-राज्य को केवल एक मत देने का अधिकार है चाहे वह राष्ट्र भारत हो या भूटान।"

"उचित तो यह है कि महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक शक्ति के निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जो समय के साथ विश्व की एकमात्र सैनिक शक्ति बन सके एव तब तक सभी सदस्य-राज्य स्वय को पूर्णतया निःशस्त्र करलें। महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक शक्ति की व्यवस्था एव अविकसित राज्यों की प्रगति के लिए धन-सग्रह का अधिकार भी होना चाहिए, परन्तु इस तरह का विचार सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योकि बड़े राष्ट्र अपनी सैनिक क्षमता समाप्त करने के लिए तैयार नही होंगे एवं यदि कभी ऐसा अवसर भी आया तो वे सयुक्त राष्ट्र को अपनी सम्प्रभुता कभी नहीं सौंपेंगे जिससे विश्व-शान्ति की स्थापना के नाम पर सयुक्त राष्ट्र उन्हीं पर शक्ति का प्रयोग करने लगें। धन-संग्रह के सन्दर्भ मे भी बड़ी शक्तियाँ सहयोग नहीं करेंगी। 1960 मे काँगो मे शान्ति स्थापित करने के लिए सयुक्तराष्ट्र ने आपात्कालीन सेना का निर्माण किया था जिसमे व्यय होने वाली धनराशि मे

सोवियत संघ सहयोग नहीं करना चाहता था जिसके कारण संयुक्तराष्ट्र के समक्ष अधिक संकट उत्पन्न हो गया था। सोवियत संघ का कहना था कि संयुक्त राष्ट्र की आपात्कालीन सेना के माध्यम से कांगो मे साम्राज्यवादी शक्तियों के हितों की रक्षा की गई है। इसी तरह का आर्थिक संकट अमेरिका के दृष्टिकोण से भी उत्पन्न हो सकता था। 1971 मे साम्यवादी चीन को संयुक्तराष्ट्र की सदस्यता प्रदान किए जाने के साथ ही ताइवान को अमेरिका की इच्छा के विरुद्ध संयुक्तराष्ट्र की सदस्यता से वंचित कर दिया गया था। उक्त सन्दर्भ मे अमेरिका अपनी अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक पराजय के लिए इतना अधिक अपमानित हुआ कि राष्ट्रपति निक्सन ने संयुक्तराष्ट्र को दिए जाने वाले आर्थिक सहयोग में कटौती करने की धमकी दे दी। इस सन्दर्भ मे यह भी आवश्यक है कि चार्टर मे ऐसी व्यवस्था की जाए कि संयुक्तराष्ट्र को कभी आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े।"[1]

सुरक्षा-परिषद् (Security Council)

पामर एवं परकिंस ने सुरक्षा परिषद् को 'संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुन्जी' (Key organ of the U. N.) कहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखना है और चूंकि यह कार्य प्रधानतः महाशक्तियों का है, अतः सुरक्षा-परिषद् में महाशक्तियों को स्थायी सदस्यता और विशेषाधिकार से विभूषित किया गया है। सुरक्षा-परिषद् की रचना संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में की गई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने का मुख्य दायित्व परिषद् पर ही डाला गया है। परिषद् ने अनेक अवसरों पर इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है, तथापि कुल मिलाकर वह अपने निर्माताओं की आशाओं के अनुकूल प्रभावी होने में असमर्थ रही है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था के किसी भी अंग अथवा अभिकरण ने विशेषाधिकार और क्रियान्वयन के बीच इतना अधिक अन्तर और विवाद उत्पन्न नहीं किया है जितना सुरक्षा-परिषद् ने।[2] लगभग सभी राजनीतिज्ञ और नेता यह स्वीकार करते है कि परिषद् आशाओं के अनुकूल सफल नहीं रही है। आखिर इस असफलता का कारण क्या है? परिषद् अपनी निर्धारित भूमिका के निर्वहन में शिथिल क्यों रही है? इन प्रश्नों का आधारभूत उत्तर सम्भवतः यही है कि महाशक्तियों की आपसी फूट, उनके पारस्परिक शीत-युद्ध और विचार-धाराओं तथा क्षेत्रीय प्रश्नों पर उनकी टकराहट आदि ने सुरक्षा परिषद् को उतना प्रभावशाली अंग नहीं बनने दिया है जितना 1945 में आशा की गई थी। महायुद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शंकाओं, धमकियों, खुले संघर्ष, आरोप-प्रत्यारोप आदि ने जिन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भयों और निराशाओं को जन्म दिया है तथा विश्व के राजनीतिक पटल को जिस प्रकार कलुषित किया है, उससे सुरक्षा-परिषद् के गौरव को ठेस लगना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। आंशिक रूप

1 रामसखा गौतम : संयुक्तराष्ट्र, पृष्ठ 447-49

2 *Plano and Riggs* : op. cit., p 88.

से सुरक्षा-परिषद् की कार्य-प्रणाली और निर्णयकारी-प्रक्रिया भी इसकी शिथिलता के लिए उत्तरदायी है।

संगठन और कार्य-विधि—चार्टर के पाँचवें अध्याय में अनुच्छेद 23 से 32 तक सुरक्षा-परिषद् के सगठन, कार्यों, अधिकारो, मतदान-पद्धति आदि का वर्णन है। चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार पहले सुरक्षा-परिषद् मे केवल 11 सदस्य थे—5 स्थायी और 6 अस्थायी, किन्तु अगस्त, 1965 मे सघ के चार्टर का संशोधन किया गया और परिषद् के सदस्यो की सख्या बढाकर 15 कर दी गई। परिषद् के निर्णयो के न्यूनतम आवश्यक मतों की संख्या भी बढाकर 7 से 9 करदी गई। सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य 5 देश है—चीन (कम्युनिस्ट), फ्रांस, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा सयुक्तराज्य अमेरिका। 10 (मूलतः 6) अस्थायी अथवा निर्वाचित सदस्य महासभा द्वारा चुने जाते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 23 में स्पष्ट उल्लेख है कि परिषद् के अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए चुने जाएँगे और इस अवधि के समाप्त होने पर किसी सदस्य को तुरन्त पुनर्निर्वाचन के लिए खड़े होने का अधिकार नहीं होगा। यह प्रावधान इसलिए रखा गया है क्योंकि राष्ट्रसघ की परिषद् मे निर्वाचक सीटों (Elective Seats) पर अधिकाँश चुनावो से मध्यवर्ती शक्तियो (Middle Powers) का ही नियन्त्रण रहा और लघु शक्तियों को परिषद् मे प्रवेश से लगभग वचित रहना पडा। वर्तमान विश्व-सस्था की महासभा द्वारा 1963 मे यह निर्णय लिया गया कि सुरक्षा-परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यो में 5 एशियायी और अफ्रीकी राज्यो, 1 पूर्वी यूरोप से, 1 लेटिन अमेरिकी तथा 2 पश्चिमी यूरोप और अन्य राज्यो मे से होने चाहिए। परिषद् मे अस्थायी सदस्यों का वर्तमान निर्वाचन इस निर्णय के अनुकूल है।

परिषद् का सगठन इस प्रकार का है कि वह लगातार काम कर सके, इसलिए संघ-स्थान मे परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधि हर समय रहना आवश्यक है। परिषद् की बैठकें समय-समय पर होती रहती हैं और इसमे कोई सदस्य राष्ट्र चाहे तो उसका प्रतिनिधित्व उसकी सरकार का सदस्य या विशेष रूप से मनोनीत कोई दूसरा प्रतिनिधि कर सकता है। कार्यविधि के नियमो के अन्तर्गत परिषद् की बैठकों के बीच 14 दिन से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए। परिषद् सघ-स्थान के अलावा किसी दूसरी ऐसी जगह भी, जहाँ वह काम करने मे सुगमता समझे, अपनी बैठकें कर सकती हैं। परिषद् को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि ज्योंही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को खतरा पैदा हो, अविलम्ब उसकी बैठक हो सके। पूर्ववर्ती राष्ट्रसंघ मे ऐसी व्यवस्था नही थी।

परिषद् अपने कार्यों मे सहायता के लिए सहायक अगों की स्थापना कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितियाँ (Standing Committees) हैं—(क) विशेषज्ञ समिति जो कार्यविधि की नियमावली का काम देखती है एवं (ख) प्रवेश समिति जो नवीन सदस्यो के प्रवेश का काम देखती है। इनके अतिरिक्त परिषद् समय-समय पर तदर्थ समितियों तथा आयोगों की नियुक्ति भी करती है।

अनुच्छेद 47 में व्यवस्था है कि सुरक्षा-परिषद् को अग्रांकित प्रश्नों पर स्वतन्त्र परामर्श और सहायता के लिए सैनिक स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) की स्थापना की जाएगी—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी परिषद् की सैनिक आवश्यकताएँ, (ख) उसके अधीन सेना का प्रयोग और उनकी कमान, (ग) शस्त्रों का नियन्त्रण एवं (घ) सम्भावित नि:शस्त्रीकरण।

यह प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई भी सदस्य, चाहे वह सुरक्षा परिषद् का सदस्य न हो, परिषद् के सामने प्रस्तुत किसी भी मामले की बहस में भाग ले सकता है बशर्ते कि परिषद् को यह विश्वास हो कि उस मामले से उस सदस्य के हितों पर विशेष प्रभाव पड़ता है, लेकिन ऐसे सदस्य को मतदान का अधिकार नहीं होता। परिषद् को अपनी बहसों में ऐसे राष्ट्र के भाग लेने के लिए, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य न हो, न्याय सम्मत नियम बनाने का अधिकार है।

परिषद् के प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को एक मत प्राप्त है। परिषद् के निर्णय दो प्रकार के होते हैं—कार्य-विधि सम्बन्धी (Procedure) तथा असाधारण या सारभूत (Substantive)।[1] चार्टर में व्यवस्था है कि कार्य-विधि सम्बन्धी सभी निर्णय किन्हीं 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों से लिए जाएँगे। स्पष्ट है कि ऐसे मामलों में स्थायी और निर्वाचित सदस्यों को समान मतदान-शक्ति प्रदान की गई है, लेकिन अन्य अथवा असाधारण (Substantive) मामलों पर निर्णय के लिए पक्ष में सभी स्थायी सदस्यों के मतों सहित 9 सदस्यों के मत आने चाहिए। किन्तु किसी भी सदस्य को चाहे वह स्थायी सदस्य हो अथवा अस्थायी, शान्तिपूर्वक सुलझाए जाने वाले ऐसे मामलों में मतदान का अधिकार नहीं होगा, जिसमें उसका अपना सम्बन्ध हो। असाधारण मामलों में मतदान-व्यवस्था से स्पष्ट है कि 5 स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य असहमति प्रकट करता है अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करता है तो वह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं समझा जाता। ऐसे विरोधी मतदान को निषेधाधिकार (Veto-Power) कहते हैं। यदि कोई स्थायी सदस्य परिषद् की बैठक में अनुपस्थित हो अथवा अपना मत न दे तो वह निषेधाधिकार नहीं माना जाता। परिषद् की मतदान-व्यवस्था से निष्कर्ष निकलता है कि किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को सफल बनाने के लिए स्थायी सदस्यों का सहमत होना आवश्यक है और यही महाशक्तियों की सर्वसम्मति का सिद्धान्त है। पर उल्लेखनीय है कि यदि परिषद् गम्भीर गतिरोध के कारण कोई कार्यवाही नहीं कर पाती अथवा आक्रमण को रोकने के लिए निषेधाधिकार के कारण अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं कर पाती तो महासभा दो-तिहाई बहुमत से अपनी सिफारिश कर परिषद् को कार्य करने के लिए बाध्य कर सकती है। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विस्तार से विचार किया जा चुका है।

कार्य एवं शक्तियाँ—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के लिए सुरक्षा-परिषद् को व्यापक

1 *Plano and Riggs* : op. cit., p. 91.

शक्तियाँ प्रदान की गई हैं और उसको व्यापक उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं। चार्टर के अनुच्छेद 24 में स्पष्ट उल्लिखित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा-परिषद् की है और उसे ही यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढग से होती है। अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत सयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का कर्तव्य है कि वे चार्टर के अनुसार सुरक्षा-परिषद् के फैसलों को मानेंगे और उन पर अमल करेंगे। सुरक्षा-परिषद् को जिन अधिकारों व शक्तियों से सम्पन्न बनाया गया है उनका उल्लेख चार्टर के 6, 7, 8, और 12वें अध्याय में किया गया है। इसके अनुसार शान्ति व सुरक्षा की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद् की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

1 यदि किसी विवाद से विश्व की शान्ति और सुरक्षा को खतरा हो, तो दोनों विवादी पक्ष उसको सबसे पहले बातचीत, पूछताछ, बीच-बचाव, मेल, न्यायपूर्ण समझौतों, प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं द्वारा या अपनी पसन्द के अन्य शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझाने का प्रयास करेंगे, और सुरक्षा-परिषद् यदि आवश्यक समझेगी तो विवादी पक्षों को अपने झगड़े ऐसे साधनों से निपटाने की माँग करेगी।
(अनुच्छेद 33)

2 सुरक्षा-परिषद् किसी ऐसे विवाद अथवा स्थिति की जाँच-पड़ताल कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा विवाद उठ सकता हो। सुरक्षा-परिषद् इस बात का भी निश्चय करेगी कि ये झगड़े अथवा स्थिति जारी रहने पर विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई खतरा पैदा हो सकता है अथवा नहीं। ऐसे झगड़े या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा-परिषद् किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या समाधान के अन्य उपायों की सिफारिश कर सकती है। (अनुच्छेद 34, 36)

3 ये सिफारिशें करते समय सुरक्षा-परिषद् को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के विधान के उपबन्धों के अनुसार प्रस्तुत किया जाए। (अनुच्छेद 36)

4. सुरक्षा-परिषद् ही इस बात का निर्णय करेगी कि कौनसी चेष्टाएँ शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टाएँ समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने अथवा फिर से स्थापित करने के लिए कौनसी कार्यवाही की जानी चाहिए। किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा-परिषद् अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पहले विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियाँ करने की माँग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझती हो। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी-पक्षों के अधिकारों, दावों या उनकी स्थिति का कोई अहित न होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियाँ नहीं करता है तो सुरक्षा-परिषद् इस पर भी विधिवत् ध्यान देगी।
(अनुच्छेद 39, 40)

5. सुरक्षा-परिषद् अपने फैसलों पर अमल कराने के लिए ऐसी कार्यवाहियाँ भी निश्चित कर सकती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की माँग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किए जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्यान्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है अथवा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है।

(अनुच्छेद 41)

6. अनुच्छेद 31 में उल्लिखित उपर्युक्त कार्यवाहियाँ यदि सुरक्षा-परिषद् की दृष्टि में अपर्याप्त हों अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो गई हों, तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या फिर से स्थापित करने के लिए वह जल, स्थल और वायु-सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में संयुक्त राष्ट्रों के सदस्य-देशों की जल, थल, वायु-सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है अथवा अन्य दूसरे प्रकार की कार्यवाहियाँ कर सकती है।

(अनुच्छेद 42)

7. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वे सुरक्षा-परिषद् की माँग पर विशेष समझौते के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता और अन्य सुविधाएँ, जिनमें मार्ग अधिकार भी शामिल होंगे, मुहैया करेंगे। सेनाओं की संख्या, उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे में निश्चय समझौते या समझौतों से किए जाएँगे और इस प्रकार के समझौतों की बातचीत सुरक्षा-परिषद् और सदस्यों अथवा सुरक्षा-परिषद् तथा सदस्य-समूहों के बीच की जाएगी और इन पर अमल तभी किया जा सकेगा जब हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्र अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा इनकी पुष्टि कर देंगे। चार्टर में यह भी उल्लेख है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी-अपनी राष्ट्रीय वायुसेना की टुकड़ियाँ जल्दी से जल्दी उपलब्ध कराएँगे ताकि संयुक्त राष्ट्रसंघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक टुकड़ियों की संख्या और तैयारी आदि के बारे में निश्चय सुरक्षा-परिषद् अपनी 'सैनिक स्टॉफ समिति' की सहायता से करेगी। सैनिक स्टॉफ समिति की सहायता से ही सामूहिक कार्यवाही के लिए योजनाएँ बनाई जाएँगी।

(अनुच्छेद 43, 45)

8. अनुच्छेद 47 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा-परिषद् को निम्नलिखित प्रश्नों पर स्वतन्त्र सलाह और सहायता देने के लिए एक सैनिक समिति का निर्माण किया जाएगा—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा-परिषद् की सैनिक आवश्यकताएँ, (ख) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (ग) शस्त्रों का नियन्त्रण, और (घ) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टॉफ समिति में सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों के स्टॉफ अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहेंगे। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य समिति का स्थायी प्रतिनिधि न हो और समिति के

दायित्वो को ठीक तरह पूरा करने मे उस सदस्य का भाग लेना आवश्यक समझा जाता हो तो समिति उसको सहयोग के लिए आमन्त्रित करेगी। इस अनुच्छेद में यह भी प्रावधान है कि सुरक्षा-परिषद् के उपयोग के लिए जो सशस्त्र सेनाएँ दी जाएँगी, उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टॉफ समिति के हाथ मे रहेगा और यह समिति सुरक्षा-परिषद् के अधीन रहेगी। सैनिक स्टॉफ समिति उपर्युक्त प्रादेशिक सस्थाओं से सलाह लेने के लिए प्रादेशिक उपसमितियो का निर्माण भी कर सकती है। सैनिक स्टॉफ समिति को यह अधिकार सुरक्षा-परिषद् द्वारा प्रदान किया जाएगा।

9 जब सुरक्षा-परिषद् किसी राष्ट्र के विरुद्ध रोकथाम की या अपने निर्णयों को अमल कराने की कुछ कार्यवाही कर रही हो उस समय यह हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी हो। अतः अनुच्छेद 50 में यह व्यवस्था दी गई है कि ऐसी स्थिति मे उस राष्ट्र को, चाहे वह सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य हो या नही, अपनी समस्याओं को हल करने के लिए सुरक्षा-परिषद् से सलाह लेने का अधिकार होगा।

10. यदि सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अधिकारी है। अनुच्छेद 51 यह व्यवस्था देता है कि उस राष्ट्र पर उस समय तक कोई रोक नही होगी जब तक सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए स्वय कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त सुरक्षा-परिषद् को देंगे। लेकिन इससे सुरक्षा-परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या फिर से स्थापित करने के लिए कभी भी जो कार्यवाही चाहे कर सकती है।

11. स्थानीय विवादों के समाधान के लिए सुरक्षा-परिषद् प्रादेशिक सगठनों और एजेंसियो का माध्यम के रूप मे प्रयोग कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या एजेंसियो अपने क्षेत्रों मे शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने की दिशा में जो भी कदम उठाती हैं, उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा-परिषद् को देनी पड़ती है।

12. सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो के सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्रसघ ने जो दायित्व ग्रहण किये हैं, उन्हें निभाने का भार भी सुरक्षा-परिषद् पर ही है। सरक्षित प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के सरक्षण में देते समय सरक्षण सम्बन्धी शर्तें भी सुरक्षा-परिषद् द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों मे परिवर्तन या सशोधन कर सकती है। यदि कुछ सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऐसे क्षेत्र हो जो सयुक्त राष्ट्रसघ के सरक्षण मे हों, तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव शैक्षणिक प्रगति के लिए सुरक्षा-परिषद् आवश्यक कदम उठा सकती है।

सुरक्षा-परिषद् द्वारा की गई कुछ बाध्यकारी (सैनिक) कार्यवाहियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से परिषद् ने कतिपय अवसरों पर जो बाध्यकारी (सैनिक) कार्यवाहियाँ कीं, उनमे से कुछ का उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

1. परिषद् को शान्ति-स्थापना के सम्बन्ध में सैनिक कार्यवाही करने का सर्वप्रथम अवसर कोरिया-संघर्ष मे मिला। जून, 1950 में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् में कोरिया का प्रश्न रखा। परिषद् द्वारा आदेश दिया गया कि युद्ध अविलम्ब बन्द कर दिया जाए और उत्तरी कोरिया की फौजें 38° के उत्तर में वापस चली जाएँ। उत्तरी कोरिया द्वारा आदेश की अवहेलना करने पर संयुक्तराज्य अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् मे उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। रूस की अनुपस्थिति ने परिषद् मे यह प्रस्ताव पास हो गया। कुछ राज्यो ने संघ को अपनी सेनाएँ प्रदान की और संयुक्तराज्य अमेरिका इन सेनाओं के साथ दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए पहुँच गया। कोरिया का युद्ध उत्तरी कोरिया के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ का युद्ध कहा गया। आलोचकों का यह मत रहा है कि व्यवहारतः कोरिया मे की गई कार्यवाही संयुक्त राष्ट्रसंघ के नाम पर विशेषतः अमेरिकी कार्यवाही थी। विजय-पराजय के झूले में झूलते हुए अन्ततोगत्वा संयुक्त राष्ट्रसंघीय नेताओं को सफलता मिली और पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद युद्ध विराम हो गया।

वास्तव मे सुरक्षा-परिषद् की सैनिक कार्यवाही से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। क्लार्क आइक बर्गर के अनुसार, "कोरिया के विवाद ने विश्व को यह आशा बँधा दी कि यदि बड़ी शक्ति के विरुद्ध नहीं तो कम से कम एक बड़ी शक्ति के अधीन राज्य (Setellite) के विरुद्ध तो निश्चय ही सामूहिक कार्यवाही की जा सकती है।" कोरिया की घटना ने विश्व-संस्था के संचालन की कुछ नवीन परम्पराओं का प्रतिपादन किया तथा अनेक महत्त्वपूर्ण परिणामों को जन्म दिया—

(i) चार्टर के अनुसार सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध मे सुरक्षा-परिषद् के निर्णय को सदस्य-राष्ट्रों के लिए मानना आवश्यक था, पर कोरियायी घटना ने इसे ऐच्छिक बना दिया अर्थात् विश्व-संस्था को सैनिक सहायता देना सदस्य-राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर रहा। सुरक्षा-परिषद् ने संघीय सैनिक कार्यवाही में सहायता करने की सदस्यों से सिफारिश की थी इसका स्पष्ट अर्थ था कि यह सदस्यों की इच्छा पर था कि वे संघ को सैनिक सहायता दें अथवा न दें। उदाहरणार्थ, भारत ने सेनाएँ न भेजकर केवल चिकित्सा सहायता भेजी तथा और भी देशों ने संघीय सैनिक कार्यवाही मे भाग नहीं लिया।

(ii) यह स्पष्ट हो गया कि परिषद् में यदि एक या अधिक स्थायी सदस्य अनुपस्थित हैं अथवा मत नहीं दे रहे हैं तो उनकी अनुपस्थिति परिषद् की कार्यवाही मे बाधा नहीं डाल सकती और उनका निषेधाधिकार (Veto-Power) लागू नहीं होता। सोवियत रूस की अनुपस्थिति मे सुरक्षा-परिषद् द्वारा लिए गए निर्णय ने वीटो के सम्बन्ध मे निश्चय ही एक अत्यधिक महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया।

(iii) यदि रूस ने सुरक्षा-परिषद् का बहिष्कार न किया होता तो वह इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रभावशाली कार्यवाही करने में सफल न होती। इस कमी को ध्यान मे

रखते हुए अमेरिका ने 1 नवम्बर, 1950 को महासभा में 'शान्ति के लिए एकता' का प्रस्ताव रखा जिसने महासभा को शान्ति-रक्षा के नवीन अधिकार देते हुए उसके गौरव को बढ़ाया।

(iv) यह सिद्ध हो गया कि संघ की सैनिक कार्यवाही की सफलता उसके सदस्यों के सक्रिय सहयोग तथा महाशक्तियों के उत्साह पर आधारित है।

2 कांगो (1960–64) में संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाएँ बाध्यकारी कार्यवाही के रूप से नहीं बल्कि बेल्जियम की सेनाओं के लौट जाने के बाद भी इसलिए बनी रहीं कि कांगो का गृह-युद्ध विश्व-शान्ति के लिए कहीं खतरा न बन जाए। सुरक्षा-परिषद् की इस कार्यवाही के संचालन, देख-भाल आदि का उत्तरदायित्व महासचिव पर पड़ा। वास्तव में सम्पूर्ण कार्यवाही चार्टर के अनुच्छेद 7 के अनुसार बाध्यकारी नहीं थी और न ही तत्सम्बन्धी प्रक्रियात्मक औपचारिक एवं आवश्यक व्यवस्थाओं का पालन ही किया गया था, फिर भी सन् 1962–63 में कांगो क्षेत्र के नियन्त्रण के लिए संघीय सैनिक टुकड़ी द्वारा की गई कार्यवाही विशेषतः बाध्यकारी कदम था। कांगो में सुरक्षा-परिषद् द्वारा जो कार्यवाही की गई वह चार्टर के अध्याय 7 के अनुसार थी अथवा नहीं, यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है। जो भी हो, संघीय कार्यवाही ने कांगो को कोरिया बनने से बचा दिया। यदि संघीय सेनाएँ वहाँ नहीं होतीं तो कांगो साम्यवादियों एवं पश्चिमी शक्तियों के सशस्त्र संघर्ष का अखाड़ा बन गया होता।

3 रोडेशिया (1965–66) द्वारा ब्रिटेन से एकतरफा स्वतन्त्र होने के निश्चय से उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए कार्यवाही करते हुए सुरक्षा-परिषद् ने दिसम्बर, 1966 के अपने तीसरे प्रस्ताव में संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में पहली बार प्रदेशात्मक अनुशास्तियाँ लागू कीं। रोडेशिया द्वारा एकतरफा स्वतन्त्रता की घोषणा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा माना गया। आलोचकों के अनुसार रोडेशिया के मामले में भी कोरिया के समान ही चार्टर के अनुच्छेद 39–43 के अनुसार कार्य हुआ और साथ ही यह प्रवृत्ति भी स्पष्ट हो गई कि सुरक्षा-परिषद् के अधिकार-क्षेत्र को गैर-कानूनी ढंग से बढ़ाया जाने लगा है। रोडेशियायी मामले में संराष्ट्र कार्यवाही से यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि क्या विद्रोहियों के विरुद्ध अथवा किसी संघ (Federation) की किसी इकाई द्वारा केन्द्र से संघर्ष होने पर संघ को यह अधिकार है कि वह सुरक्षा-परिषद् से सहायता प्राप्त करे।

निषेधाधिकार की समस्या (Problem of Veto-Power)

जैसा कि कहा जा चुका है, चार्टर के अनुच्छेद 27 में सुरक्षा-परिषद की मतदान-प्रणाली का वर्णन है जिसमें असाधारण अथवा सारभूत (Substant ve) मामलों में परिषद् के 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों में 5 स्थायी सदस्यों का मत शामिल होना आवश्यक है। इन 5 स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। चार्टर में परिषद् पर साधारण और असाधारण कार्य-प्रणालियों

में अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नहीं दी है। अतः जब यह प्रश्न उठता है कि कोई साधारण या प्रक्रियात्मक (Procedural) मामला माना जाए अथवा असाधारण (Substant ve), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का प्रयोग होता है, अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को असाधारण विषय बनने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वों (Obligations) के विरोध में मतदान होता है। जॉन तथा एडवर्ड ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सीमावर्ती मामलों में यह प्रारम्भिक प्रश्न उठता है कि क्या विषय साधारण (Procedural) है और क्या स्वतः ही यह निषेधाधिकार का विषय है। वास्तव में इसी नियमन निषेधाधिकार में बदल दिया है। पहले तो एक नकारात्मक वोट दिया जाता है जिसमें सुरक्षा-परिषद् किसी विषय को साधारण न मान ले और उसके बाद दूसरे वोट द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग कर प्रस्ताव को विफल बना दिया जाता है।

सुरक्षा-परिषद् में मतदान की प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट है कि परिषद् के स्थायी सदस्यों में से कोई भी किसी भी प्रस्ताव के विरोध में मत देकर उसे पारित होने से रोक सकता है। इसके केवल दो ही अपवाद हैं—प्रथम, प्रक्रिया सम्बन्धी मामले; एवं द्वितीय, वे मामले जिनमें विरोध में मत देने वाली महाशक्ति स्वयं एक पक्ष हो। आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार की व्यवस्था के कारण सुरक्षा-परिषद् अपनी सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गई है। आर्नोल्ड फोस्टर के अनुसार, "निषेधाधिकार का भय सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रक्त में ही पक्षाघात है। यह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर (Starter) किसी भी समय उसकी यन्त्र-व्यवस्था में गड़बड़ी कर उसके एंजिन को ठप्प कर कर सकता है।"

पृष्ठभूमि—निषेधाधिकार उचित है या अनुचित—इस प्रश्न के विवेचन से पूर्व यह उचित होगा कि निषेध-व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर विचार कर लिया जाए। जिस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का निर्माण किया जा रहा था, उस समय निषेधाधिकार पर काफी विचार-विमर्श हुआ था। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का विचार था कि यदि स्थायी शान्ति की खोज करनी है और संयुक्त राष्ट्र जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सफल बनाना है तो यह कार्य महाशक्तियों के पूर्ण सहयोग से ही पूरा हो सकेगा। दूरदर्शी रूजवेल्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत संघ अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे महान् राष्ट्रों के लिए किसी भी ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं होगा जिसमें अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर महाशक्तियों को कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर दें। इस प्रकार की स्थिति को रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार था। यह स्पष्ट था कि महाशक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती किसी भी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था, क्योंकि इसका परिणाम स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की समाप्ति हो सकता था। इन्हीं सब बातों पर विचार करके संयुक्तराज्य अमेरिका ने यही उचित समझा कि यह निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं होगी तो वह संगठन का सदस्य नहीं

बनेगा। संयुक्तराज्य अमेरिका का स्पष्ट मत था कि सुरक्षा-परिषद् ऐसे निर्णय कर सकती है जिनके अनुसार उसको अपनी सेनाओं का उपयोग करना पड़े, परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे उपयोग अपनी इच्छा से करे न कि अन्य राष्ट्रों द्वारा बाध्य होकर। यदि संयुक्तराज्य अमेरिका ऐसे किसी उपयोग से सहमत नहीं है तो उसे इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि यह अपनी निषेध-शक्ति द्वारा उस उपयोग के प्रस्ताव को रद्द कर दे।

परन्तु निषेधाधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए भी अमेरिका इस अधिकार सीमित रखना चाहता था। वह इस बात के पक्ष में था कि विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान और नवीन सदस्यों के संगठन में प्रवेश पर निषेधाधिकार की व्यवस्था न की जाए, लेकिन रूस इसके लिए सहमत नहीं था। वह निषेधाधिकार को असीमित रखना चाहता था। रूस को यह जानना था कि पश्चिमी शक्तियों ने विवशता के कारण ही जर्मनी के विरुद्ध उसके साथ सहयोग किया था, अन्यथा वास्तव में दोनों के बीच मौलिक सैद्धान्तिक मतभेद थे। रूस को आशंका थी कि यदि भविष्य में सुरक्षा-परिषद् में पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व होगा तो वे बहुमत के आधार पर स्वेच्छापूर्वक व्यवहार कर सकेंगे। अतः उसने अपने हितों की रक्षा के लिए निषेधाधिकार पर बल दिया और कहा कि या तो सुरक्षा-परिषद् के स्थाई सदस्यों को यह अधिकार दिया जाए अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना ही न की जाए। अतः यही निश्चय हुआ कि निषेधाधिकार असीमित रूप से प्रदान किया जाए किन्तु इसका प्रयोग अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही हो।

निषेधाधिकार का प्रयोग—चार्टर के निर्माताओं का विचार था कि महाशक्तियों का युद्धकालीन सहयोग विश्व-संस्था के मंच पर भी जारी रहेगा, लेकिन शीघ्र ही उनकी आशाओं पर तुषारापात हो गया। भयंकर शीतयुद्ध चालू हो गया और महाशक्तियों ने खुलकर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। एक अध्ययन के अनुसार सन् 1964 तक अकेला सोवियत रूस ही 103 बार निषेधाधिकार का उपयोग कर चुका था जबकि तुलनात्मक दृष्टि से ब्रिटेन, फ्रांस तथा राष्ट्रवादी चीन ने इस अधिकार का प्रयोग बहुत ही कम किया है और संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा अभी तक कभी भी इसका प्रयोग नहीं किया गया है। सोवियत रूस का तर्क है कि सुरक्षा-परिषद् में पश्चिमी शक्तियों के बहुमत के मुकाबले अपने हितों की रक्षा करने का उसके पास एकमात्र उपाय निषेधाधिकार और विरोधी प्रस्तावों को रद्द करना ही है।

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क

1. पाँच महान् राष्ट्रों को निषेधाधिकार प्रदान करके सभी सदस्यों को समानता का स्तर देने सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया है। निषेधाधिकार छोटे राष्ट्रों पर जबरदस्ती लादा गया है। महाशक्तियों के दबाव के कारण उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को निषेधाधिकार के अनुच्छेद सहित स्वीकार करना पड़ा था।

2. निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा-परिषद् शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था सम्बन्धी दायित्वों का समुचित रूप से पालन करने में असमर्थ हो गई है। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में सबसे अधिक बाधक है।

3. निषेधाधिकार पृष्ठपोषक राज्यों (Client States) की एक खुली राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह सम्भव है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य अपने मित्र राष्ट्रों को निषेधाधिकार संरक्षण प्रदान करे। इस प्रकार यह भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य स्थायी सदस्यों के नेतृत्व में अनेक गुटों में विभक्त हो जाएँगे। यह भय निराधार नहीं है क्योंकि अमेरिका और रूस के नेतृत्व में दो शक्तिशाली गुट पहले ही जन्म ले चुके हैं और लाल चीन को संघ में प्रवेश और सुरक्षा-परिषद् में स्थायी सदस्यता प्राप्त होने से वह सम्भवतः अपने नेतृत्व में एक तीसरे गुट को खड़ा करने से बाज नहीं आएगा।

4. निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा-परिषद् में जो गतिरोध उत्पन्न होते रहे हैं, उनसे राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की आस्था बुरी तरह डगमगा गई है।

5. निषेधाधिकार के दुरुपयोग के कारण कई स्वतन्त्र राष्ट्र अनेक वर्षों तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बन पाए और आज भी कुछ राष्ट्रों का संघ में प्रवेश भटका हुआ है।

आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार द्वारा महाशक्तियों का संयुक्त राष्ट्रीय व्यवस्था पर आधिपत्य हो गया है। हंस केल्सन के अनुसार महाशक्तियों का यह अधिकार अन्य सभी सदस्यों पर कानूनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है, और उनके निरंकुश और स्वच्छन्द शासन का सूचक है। इसके कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ के वास्तविक और वांछनीय निर्णय नहीं हो पाते।

निषेधाधिकार के पक्ष में तर्क

निषेधाधिकार की आलोचनाओं में वजन है, तथापि कुछ व्यावहारिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। निषेधाधिकार की व्यवस्था में जो खतरे निहित हैं उनसे कहीं अधिक भयावह खतरे इस व्यवस्था के न रहने में हैं। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफलता तभी मिल सकती है, जब उसे विश्व की महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो और ये महाशक्तियाँ किसी भी ऐसी संस्था में भाग नहीं लेना चाहेंगी जिसमें अन्य देश केवल अपने बहुमत से उन्हें किसी कार्य करने अथवा न करने के लिए बाध्य करदें। इसे रोकने का एकमात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। ए. ई. स्टीवेंस ने ठीक ही लिखा है कि "मतैक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से होता है। ये 5 महान् राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते हैं तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग बड़े युद्ध को जन्म देगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी सम्भावना से बचने के लिए हुई थी।"

निषेधाधिकार असहमति-सूचक लक्षण है न कि इसका कारण, अत. निषेध-व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न ही इससे कोई बड़ा लाभ होगा। यदि निषेधाधिकार की व्यवस्था न भी होती, तो भी सुरक्षा-परिषद् में गत्यावरोध उत्पन्न करने की दूसरी युक्तियाँ निकाल ली जाती और उनका

भी उतना ही दुरुपयोग किया जाता, जितना वर्तमान निषेधाधिकार व्यवस्था का किया जा रहा है। महाशक्तियों की असहमति की उपेक्षा कर देने की व्यवस्था का स्पष्ट परिणाम वही होगा जो राष्ट्रसंघ के साथ हो चुका है।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि निषेधाधिकार के प्रयोग के फलस्वरूप सुरक्षा-परिषद् का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव अधिकांशतः यही सिद्ध करता है कि निषेध-शक्ति का इतना अधिक प्रयोग होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेने में अधिक बाधा नहीं आई है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधक बना है, उनके न लेने पर भी विश्व-शान्ति को किसी प्रकार का खतरा नहीं पहुँचा है, बल्कि कई बार निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने में सहायक हुआ है। जब कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा-परिषद् में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुल कर पाकिस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोटा, तब सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को संभालने में और न्याय की रक्षा करने में सहायता प्रदान की।''

वास्तव में निषेधाधिकार संघ के विभिन्न पक्षों में सन्तुलन कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। यदि निषेध-व्यवस्था न होती, तो संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती।

पुनश्च, निषेधाधिकार को अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक कदमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है। शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव पास होने के बाद न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करता है और न उसे आगे बढ़ाता है। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किए जाते हैं। शान्ति निरीक्षण आयोग, सामूहिक उपाय समिति, आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को निषेध के दुष्प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप में उपयोगी यह होगा कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार आंशिक है, अत. समाप्त हो जाना चाहिए। परन्तु शान्ति भग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग कायम करना चाहिए, अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी। निषेधाधिकार के प्रयोग की समस्या को श्री गुडरिच एव हैम्बरो ने ठीक प्रकार से आँका है। उन्होंने लिखा है—"राष्ट्रों में जो समझौता नहीं हो रहा है उसके कारण निषेधाधिकार का प्रयोग हो रहा है। उसके लिए किसको उत्तरदायी ठहराया जाए, यह निर्णय लेना कठिन है। वास्तव में यह एक राजनीतिक प्रश्न है। रूस ने इस अधिकार का अधिकतर प्रयोग किया है 'परन्तु उसका तर्क है कि विरोधी बहुमतों से बचने के लिए वह इस अधिकार का प्रयोग करता है। यह स्वीकार करना चाहिए कि महाशक्तियों की सर्वसम्मति और उनकी समान प्रभुता का ही यह अर्थ है कि उनमें मतभेद और सह-सम्मति सम्भव है। स्थायी सदस्यों में जो आशा

से अधिक मतभेद रहे है, उनका मूल कारण उनकी नीतियो का मतभेद है जिसने शान्ति-सन्धियो के मार्ग मे रुकावट डाली है तथा क्षतिग्रस्त देशो मे युद्धोत्तर पुनर्विकास को रोक दिया है।"

सुरक्षा-परिषद् की भावी भूमिका

यद्यपि सुरक्षा-परिषद् ने कोरिया, काँगो, पश्चिमी इरियन, यमन, साइप्रस आदि मे उत्पन्न खतरनाक परिस्थितियो का सामना करने मे अधिकाधिक रुचि और सक्षमता प्रकट की है और 1965 मे भारत-पाक युद्ध को रोकने मे तेजी से सफल कार्यवाही करने का श्रेय प्राप्त किया है, तथापि अनेक महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्नो पर उसकी नीति तथा कार्य-प्रणाली बहुरंगी, दुमुँही और शिथिल रही है। उदाहरण के लिए, कश्मीर विवाद मे सुरक्षा-परिषद् ने न्याय का जिस प्रकार गला घोटा है, वह विश्व-शान्ति के गौरव को क्षीण करने वाला है। 1968 मे चेकोस्लोवाकिया के सकट मे सुरक्षा-परिषद् की निष्क्रिय भूमिका विश्व-सस्था के भविष्य के लिए एक चेतावनी है। पाकिस्तान ने पूर्वी बगाल (1971) मे भीषण नरसंहार द्वारा एक करोड़ के लगभग शरणार्थियो को भारत भूमि मे भागने के लिए विवश करके ऐसी विकट स्थिति पैदा कर दी जिससे भारत—पाकिस्तान के बीच प्रत्यक्ष सघर्ष अनिवार्य हो गया और विश्व-शान्ति को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया। सुरक्षा-परिषद्, महासभा, महासचिव आदि सभी इस दिशा मे कोई प्रभावशाली कार्यवाही करने मे असमर्थ रहे। विश्व-सस्था का मूक दर्शक बने रहना घोर कलक की बात थी। ईराक-ईरान संघर्ष को सुलझाने मे भी मार्च, 1982 तक सुरक्षा-परिषद् कुछ नही कर सकी है।

निष्कर्ष यह है कि अनेक मामलो मे प्रभावशाली भूमिका अदा करते हुए भी सुरक्षा-परिषद् का इतिहास कुल मिलाकर इसके निर्माताओ की आशा के विपरीत रहा है। परिषद् महाशक्तियो के हाथो का खिलौना बन कर रह गई है। वास्तव मे विश्व-संस्था और सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् पर सुरक्षा-परिषद् का भावी प्रभाव बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर रहेगा कि वह शान्ति और सुरक्षा के मामलो मे प्रभावशाली कार्यवाही करने मे कितनी समर्थ सिद्ध होती है। शीत-युद्ध, सयुक्त राष्ट्रसंघीय वित्तीय प्रबन्ध, महासभा के बढते हुए क्षेत्र, परिषद् की सदस्यता-विस्तार के फलस्वरूप बढ़ते हुए गठबन्धन और दबाव आदि अनेक ऐसे तत्व है जो परिषद् की भावी भूमिका पर विपरीत प्रभाव डाल सकते हैं। यदि सुरक्षा-परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना की दिशा मे निर्णायक भाग लेते हुए देखना है तो यह बहुत कुछ महाशक्तियो के सहयोग पर निर्भर है। यदि परिषद् के स्थायी सदस्य इसके गौरव को बनाए रखने मे सहायक होगे तभी परिषद् का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा। यह अनुपयुक्त नही होगा कि परिषद् को शक्तिशाली बनाए रखने के लिए नए सन्दर्भो के प्रकाश मे चार्टर में कुछ अनुकूल सशोधन किए जाने चाहिए। शैक्षणिक, सांस्कृतिक एव स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रो में विभिन्न कार्य

करती है। यह अपने सहायक अंगों द्वारा मानव-जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर व्यापक कार्यवाही करने की सिफारिशें करती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, महासभा के अधीन, संसार से गरीबी और हीनता को मिटाकर एक स्वस्थ एवं समुन्नत विश्व के निर्माण में प्रयत्नशील है। यदि विभिन्न राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विवाद हो तो परिषद् उन्हें मिटाने का प्रयत्न करती है और विश्व के चहुँमुखी विकास में सभी देशों के सहयोग पूर्ण दृष्टिकोणों को प्रोत्साहन देती है।

पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए इस संस्था द्वारा आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता-योजनाओं की स्थापना की गई है। परिषद् की प्राविधिक सहायता-समिति का मुख्य उद्देश्य ही दुःख और दरिद्रता से मानव-जाति को मुक्ति दिलाना है। यह अर्द्ध-विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और उन्हें मशीनों, यन्त्रों, उपकरणों आदि की पूर्ति के लिए आर्थिक सहयोग देती है। परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन देना है। इस दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् द्वारा विभिन्न आयोग स्थापित किए गए हैं। परिषद् ने शरणार्थियों तथा राज्यहीन व्यक्तियों के लिए नियम बनाए हैं तथा ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, दासता और बेगार का अध्ययन किया है। स्त्रियों की स्थिति पर, सूचना एवं व्यापारिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी आयोग स्थापित किए हैं तथा इन विषयों में विभिन्न समझौतों के प्रारूप तैयार किए हैं। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, व्यापक और दूरगामी हैं जिन्हें सम्पन्न करने के लिए अनेक आयोगों, विशेषीकृत अभिकरणों तथा समितियों की स्थापना की गई है। परिषद् में आयोगों के दो रूप हैं—कार्यात्मक और प्रादेशात्मक। प्रथम वर्ग में वित्तीय आयोग, जनसंख्या आयोग, सामाजिक आयोग, मानव-अधिकार सम्बन्धी आयोग, स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी आयोग आदि हैं। प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोगों में यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग आदि उल्लेखनीय हैं। इन आयोगों के अलावा परिषद् के अन्तर्गत अनेक विषय अभिकरणों (Specialised Agencies) की स्थापना की गई। उदाहरण के लिए, खाद्य एवं कृषि संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, विश्व-स्वास्थ्य-संगठन आदि।

न्यास-परिषद् (Trusteeship Council)

पहले राष्ट्रसंघ में संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) थी और अब बहुत-कुछ इसी प्रकार की न्यास व्यवस्था कायम की गई जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि विश्व में अनेक पिछड़े हुए तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी सम्भव है जब सभ्य और उन्नत देश उन्हें सहयोग प्रदान करें। अतः उन्नत देशों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने आपको न्यासी (Trustee) समझकर अविकसित प्रदेशों के हितों की देखभाल करते हुए उनके विकास में हर सम्भव सहयोग दें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि से पीड़ित प्रदेशों के लिए थी, न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाए गए सभी

क्षेत्रों तक विस्तृत है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि करना, (ख) न्यास-प्रदेशों का स्वशासन की दिशा में विकास करना, (ग) मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि ससार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं, एव (घ) सामाजिक, आर्थिक, वाणिज्यिक मामलो में सयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों और उनके नागरिको के प्रति समान व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास-पद्धति के अन्तर्गत समाविष्ट प्रदेश दो भागों मे विभाजित हैं—अस्वशासित प्रदेश (Non-Self-Governing Territories), एवं न्यास या सुरक्षित प्रदेश (Trust Territories)। प्रथम प्रकार के प्रदेश (वे पराधीन प्रदेश तथा उपनिवेश जो सुरक्षित प्रदेश न बनाए गए हों) ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्य के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् न्यास-प्रदेश वे हैं जो न्यास-समझौतों के द्वारा, जो कि सम्बन्धित राज्यों के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वीकृति अनिवार्य है, न्यास-प्रदेश बना दिए जाते हैं।

कुछ वर्षों के पूर्व न्यास-पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी, रुआण्डाउरुण्डी फ्रेंच कैमरून्स, फ्रेंच टोगोलेण्ड, पश्चिमी समोआ, टांगानिका, ब्रिटिश कैमरून्स, नौरू प्रशान्त महासागर द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे। अब ये सभी स्वाधीनता प्राप्त कर चुके है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(The International Court of Justice)

यह संयुक्त राष्ट्रसघ का न्यायिक अग है। यह वही पुराना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है—जिसे राष्ट्रसघ ने सन् 1901 में हेग मे स्थापित किया था। नवीन न्यायालय अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा कई प्रकार से दोष-मुक्त है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—ऐच्छिक क्षेत्राधिकार, अनिवार्य क्षेत्राधिकार तथा परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार। ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय अपनी सविधि (Statute) की धारा 36 के अनुसार उन सभी मामलो पर विचार कर सकता है जिनको सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें। केवल राज्य ही न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction) को वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) भी कहा जाता है जिसके अनुसार राज्य स्वय की घोषणा द्वारा अग्रांकित क्षेत्रों मे न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लघन समझा जाए तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम। राज्य घोषणा करते समय कोई भी शर्त लगा सकता है। कभी-कभी तो ऐसी शर्तों के कारण यह घोषणा वास्तविक

व्यवहार में निरर्थक बन जाती है तथापि सशर्त होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है।

परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य सम्पन्न किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा-परिषद् किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श माँग सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप में प्रार्थना की जाती है। इस प्रार्थना-पत्र में सम्बन्धित प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज होते हैं जो उस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धान्त रूप में सुरक्षा-परिषद्, महासभा या अन्य संस्था इसकी उपेक्षा कर सकती है, पर व्यवहार में ऐसा करना सर्वथा कठिन होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्त्वपूर्ण विवादों के समाधान में सहयोग दिया है। उदाहरण के लिए, मोरक्को का मामला, एंग्लो-ईरानी मामला, भारतीय प्रदेशों से पुर्तगाल को मार्ग देने के अधिकार का विवाद, कोरफू-चैनल विवाद, एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह विवाद आदि को गिनाया जा सकता है। न्यायालय के कार्य-संचालन में विभिन्न देशों तथा गुटों ने बाधा डाली है। राज्यों की उपेक्षा तथा उनके असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली संस्था नहीं बन सकी है।

सचिवालय और महासचिव
(The Secretariat and the Secretary General)

राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अनुभव से लाभ उठाते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में एक सचिवालय की व्यवस्था की गई है जो अपनी संरचना में एकात्मक (Unitary) है। चार्टर के अनुच्छेद 97 में उल्लिखित है कि "सचिवालय में महासचिव और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी वर्ग रहेगा। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा करेगा। वही संघ का प्रमुख अभिशासक (प्रशासकीय अधिकारी) होगा।" अनुच्छेद 101 के अनुसार, महासचिव संघ के पदाधिकारियों अथवा कर्मचारियों की नियुक्ति करता है।

सचिवालय का प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क तथा जेनेवा में है, किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केन्द्रों के लिए इसके कर्मचारी विश्व के कई भागों में बिखरे रहते हैं। सचिवालय द्वारा महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। यह संघ के अंगों एवं अभिकरणों को मीटिंग के लिए अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करता है। यह इन मीटिंगों के लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अतिरिक्त संघ के अन्य अंगों के लिए सचिवालय सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करता है तथा एक कार्यकारिणी की भाँति व्यवहार करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लक्ष्य की दृष्टि से यह विभिन्न साधनों द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

महासचिव, चार्टर के अनुच्छेद 97 के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी होता है। वह संघ का मुख्य अंग है और इसलिए "सदस्य राज्यों के संविधानिक व्यवहार का उत्तरदायित्व निभाने में उसका हाथ रहता है। संघ के प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी के रूप में महासचिव ही लेखों, प्रारूप रिपोर्टों तथा अन्य आवश्यक तत्वों को तैयार करता है। इस शक्ति के बल पर महासचिव ऐसे कार्य करने में सक्षम है जो अप्रत्यक्ष रूप से अन्तिम निर्णयों को प्रभावित करे।"

महासचिव को न केवल प्रशासकीय अपितु राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते हैं और इसीलिए उसे 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ' कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का भाग्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि महासचिव बुद्धि, चातुर्य और चरित्र-बल में कितना सक्षम है। महासचिव की शक्तियाँ अनुच्छेद 99 में उल्लिखित हैं जिसके अनुसार उसे अधिकार है कि वह स्वयं सुरक्षा-परिषद् का ध्यान किसी ऐसे विवाद की ओर आकर्षित कर सकता है जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा भंग होने का खतरा हो। श्री स्टीफन एम शैवब्रल के अनुसार अनुच्छेद 99 के अन्तर्गत महासचिव को निम्नलिखित आठ महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं—

1 महासचिव किसी भी विवाद अथवा स्थिति को सुरक्षा-परिषद् की अस्थायी कार्य सूची में रख सकता है।

2. इस अनुच्छेद के आधार पर महासचिव राजनीतिक निर्णय लेने में सक्षम है।

3. महासचिव सुरक्षा-परिषद् के समक्ष उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को प्रस्तुत कर सकता है जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की सम्भावना हो। इस प्रकार वह सुरक्षा-परिषद् और संघ के विभिन्न अंगों के बीच एक 'महत्त्वपूर्ण कड़ी' का काम करता है।

4. महासचिव को अधिकार है कि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या जाँच-पड़ताल करले।

5. महासचिव यह निश्चय कर सकता है कि वह किस अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को सुरक्षा-परिषद् के सामने रखे। परिषद् के सामने मामला पेश करने से पूर्व वह औपचारिक रूप से गुप्त वार्तालाप भी कर सकता है जिसे कभी प्रकाशित नहीं किया जाता।

6. महासचिव को अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के लिए आवश्यक घोषणा करने और सुझाव रखने का अधिकार है। वह चाहे तो सुरक्षा-परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव भी रख सकता है।

7. महासचिव सुरक्षा-परिषद् के मञ्च से विश्व लोकमत को सम्बोधित करते हुए शान्ति के लिए अपील कर सकता है। उचित समय पर की गई अपील बड़ी प्रभावकारी सिद्ध होती है।

8 अनुच्छेद 98 के अन्तर्गत महासचिव महासभा, सुरक्षा-परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् की बैठकों में सचिव का कार्य सम्पन्न

करता है। महासचिव की रिपोर्ट, जो महासभा के अन्तिम सत्र मे प्रस्तुत की जाती है, बडी महत्त्वपूर्ण होती है। इन रिपोर्टों मे महासचिव का व्यक्तित्व बोलता है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उसके दृष्टिकोण व्यक्त होते है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति और घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के लिए सुझाव दिए जाते है। लियोनार्ड के अनुसार महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट अमेरिकी राष्ट्रपति के सन्देशो के समान प्रभावशाली है। महासभा मे पेश किए जाने वाले प्रस्तावो को तैयार करने मे भी महासचिव का उल्लेखनीय सहयोग रहता है।

महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के महान् अवसर प्राप्त होते हैं। वह विभिन्न देशो के प्रतिनिधि-मण्डलो के साथ निरन्तर सम्पर्क मे रहता है, अत उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह सयुक्त राष्ट्रसघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकारो को प्रभावित कर सकता है। फिर भी अन्तिम रूप से सदस्यो का सहयोग महासचिव को असफल और सफल बना सकता है। महासचिव हिटलर, नेपोलियन, लिकन या लॉयड जॉर्ज नही बन सकता। विश्व-सस्था के सदस्यो के विश्वास और सहयोग के अनुपात मे ही उसकी शक्ति घटती-बढती है। महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक सेवक और विश्व का प्रवक्ता होता है। 2 जनवरी 1982 से पेरू के पेरेस द क्वार महासचिव पद पर आसीन हैं।

शान्तिपूर्ण समाधान एवं प्रतिरोधात्मक अथवा बल-प्रयोग की प्रक्रिया

(Procedures for Peaceful Settlement and Procedures for Coercive Settlement)

चार्टर की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के समाधान और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के लिए मुख्यत: दो विधियाँ अथवा प्रक्रियाएँ व्यवहार मे लाई जाती हैं—

(1) शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ (Procedures for Peaceful Settlement), एव

(2) बल-प्रयोग अथवा बाध्यकारी प्रक्रियाएँ (Procedures for Coercive Settlement)

शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ

चार्टर के अनुच्छेद 33 से 38 तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएँ दी गई है। अनुच्छेद 33 मे उल्लेख है कि यदि किसी विवाद मे विश्व-शान्ति व सुरक्षा को खतरा हो और सम्बन्धित पक्ष अपना झगडा स्वय निपटाने मे असफल रहे तो सुरक्षा-परिषद् विवादी से वार्ता (Negotiation), जाँच (Enquiry), मध्यस्थता (Mediation), सौमनस्य या संराधन (Conciliation), पच-निर्णय (Arbitration), न्यायिक समझौतों (Judicial Decisions), प्रादेशिक सस्थाओं या व्यवस्थाओं (Regional Agencies or Arrangements), अथवा

अपनी इच्छानुसार शान्तिपूर्ण उपायों (Other Peaceful Means of Their Own Choice) द्वारा विवादों को निपटाने के लिए कह सकती है।

वार्ता 'कूटनीति' का साधन है। यह एक वैधानिक और व्यवस्थित प्रक्रिया है जिसकी सहायता से राज्य-सरकारें एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का सचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श, उनका व्यवस्थापन और समाधान करती हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच अल्पसख्यकों की समस्या तथा नहरी-पानी विवाद को वार्ता द्वारा ही सुलझाया गया था। इस उपाय की सफलता दोनों पक्षों द्वारा समस्याओं के समाधान की लगन और ईमानदारी पर निर्भर है।

वाद-विवाद भी शान्तिपूर्ण समाधान की एक प्रभावी प्रक्रिया है सुरक्षा-परिषद् या महासभा, कोई भी सिफारिश करने से पहले विवादी पक्षों को लिखित या मौखिक रूप से अपने दावे प्रस्तुत करने को आमन्त्रित कर उन्हें एक ऐसा अवसर देती है कि वे मुक्त रूप में अपनी शिकायतें रखें और द्वि-पक्षीय कूटनीति के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुँच जाएँ जहाँ विवाद के समाधानार्थ कोई समझौता हो सके। वाद-विवाद के भँवर में फँसकर कोई समस्या लम्बे अर्से तक उलझ भी सकती है।

जब समझौता-वार्ता द्वारा दो पक्षों में मतभेद नहीं सुलझते तो तीसरा मित्र-राज्य अपनी मध्यस्थता द्वारा मतभेदों को मैत्रीपूर्ण ढंग से दूर करने में मदद कर सकता है। मध्यस्थता करने वाला पक्ष एक व्यक्ति या अन्तर्राष्ट्रीय निकाय भी हो सकता है। प्लानों एवं रिग्ज का कथन है कि विवाद की समाधान-प्रक्रियाओं के लिए जो सिफारिशें सुरक्षा-परिषद् या महासभा द्वारा की जानी हैं, उनमें अधिकारियों के उच्चतर स्तर पर द्विपक्षीय पुनर्वार्ताएँ, परामर्श, किसी संयुक्त राष्ट्रीय आयोग द्वारा जाँच एवं मध्यस्थता, किसी संयुक्त राष्ट्रीसंघीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ की नियुक्ति, किसी क्षेत्रीय अभिकरण को सन्दर्भित करना, पंच-निर्णय, न्यायिक निर्णय आदि सम्मिलित हैं।

विवादों के निपटारे के एक अन्य साधन को सौमनस्य या संराधन (Conciliation) कहते हैं। इसमें वे विभिन्न प्रणालियाँ शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शान्तिपूर्ण हल करने के लिए अपनाई जाती हैं। संराधन की प्रक्रिया में विशेषकर तीन बातें सम्मिलित होती हैं—तथ्यों की जाँच मध्यस्थता एवं विवाद के लिए प्रस्तावों को प्रेक्षण। अनुच्छेद 34 और 36 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि सुरक्षा-परिषद् किसी ऐसे विवाद अथवा स्थिति की जाँच-पड़ताल कर सकती है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले लेने अथवा कोई दूसरा विवाद उठ खड़ा होने की सम्भावना हो। संयुक्त राष्ट्रसंघ जाँच एवं मध्यस्थता आयोग के माध्यम से अनेक समस्याओं को सुझाने की चेष्टा करता रहा है।

विवादों का न्यायिक समाधान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के माध्यम में होता है चार्टर के अनुच्छेद 94 में यह व्यवस्था दी गई कि "संघ का प्रत्येक सदस्य

किसी मामले मे विवादी होकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को मानेगा ।" कोरफू चैनल विवाद (1949), हयाडेला टोरे विवाद (1951), एम्बेटेलियो का मामला, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए किसी राज्य का प्रवेश (1948) आदि मामले अथवा विवाद न्यायिक फैसले के आधार पर ही निपटाए गए थे ।

कुछ विवाद ऐसे होते हैं जिनके समाधान मे सुरक्षा-परिषद्, महासभा अथवा किसी आयोग की अपेक्षा कोई अकेला व्यक्ति मध्यस्थ या प्रतिनिधि के रूप मे अधिक उपयोगी सिद्ध होता है । परिषद् और महासभा के सभापतियो तथा महासचिव ने इस दृष्टि से अनेक अवसरो पर प्रभावशाली भूमिका निभायी है । 'अवरोधक कूटनीति' (Preventive Diplomacy) भी विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान का प्रभावशाली साधन है । इसके द्वारा शीतयुद्ध की स्थिति को सीमित और शान्त बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है । अवरोधक कूटनीति का उद्देश्य विवाद मे तनाव को कम करने और स्थिति को बिगडने से बचाना होता है । प्लानो एवं रिग्ज ने संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अपनाई जाने वाली अवरोधक कूटनीति के उपायो को मोटे रूप मे चार श्रेणियों मे विभक्त किया है—(1) निरीक्षक ग्रुप जो युद्ध-विराम विसैन्यीकृत क्षेत्र तथा अस्थायी युद्ध-विराम रेखाओ या सन्धि-सीमाओ का निरीक्षण करते हैं, (2) युद्धरत पक्षो के मध्य नियुक्त संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ, (3) आन्तरिक संघर्ष के दमन करने और घरेलू व्यवस्था बनाए रखने मे प्रयुक्त की जाने वाली संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ तथा (4) साम्प्रदायिक समूहो मे सशस्त्र संघर्ष को रोकने या सीमित करने मे प्रयुक्त संयुक्त राष्ट्रीय फौजें ।

प्रतिरोधात्मक अथवा बल-प्रयोग की प्रक्रियाएँ

चार्टर के अध्याय 7 मे जो व्यवस्थाएँ दी गई हैं, उनके अनुसार विश्व-शान्ति की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न होने, शान्ति भंग होने अथवा विश्व के किसी भी क्षेत्र मे सशस्त्र आक्रमण होने की दशा मे संयुक्त राष्ट्रसंघ शान्ति एवं व्यवस्था की पुनर्स्थापना हेतु यदि आवश्यक समझे तो बल-प्रयोग कर सकता है अथवा प्रतिरोधात्मक उपायो का आश्रय ले सकता है । संघ बल-प्रयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का समाधान दो प्रकार से करने की चेष्टा करता है—प्रथम, वह जिसमे सशस्त्र सेना के प्रयोग की आवश्यकता नही होती, एवं द्वितीय, जिसमे सशस्त्र सैन्य-बल का प्रयोग जरूरी हो जाता है । अध्याय 7 मे अनुच्छेद 39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46 आदि प्रतिरोधात्मक प्रक्रियाओ से सम्बन्धित है जिनका विवेचन सुरक्षा-परिषद् की शक्तियो के सन्दर्भ मे किया जा चुका है । चार्टर की व्यवस्थाओ से स्पष्ट है कि विश्व-शान्ति और सुरक्षा कायम रखने अथवा पुनर्स्थापित करने के लिए सुरक्षा-परिषद् को सांविधानिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया गया है, तथापि कुछ ऐसी सांविधानिक दुर्बलताएँ और जटिलताएँ विद्यमान हैं जिनके कारण परिषद् व्यवहार मे आशानुकूल सफल निकाय सिद्ध नही हुई है । निषेधाधिकार के दुरुपयोग ने अनेक बार परिषद् की प्रभावकारी कार्यवाहियों मे अवरोध उत्पन्न किया है । अब तक का इतिहास बतलाता है कि बड़े राष्ट्र, जो परिषद् के स्थायी सदस्य हैं, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष

रूप से बड़े विवादों के पीछे होते हैं और परिषद् कोई कारगर उपाय तब तक काम में नहीं ला पाती जब तक उसे सभी बड़े राष्ट्रों का सहयोग न मिले। पुनश्च, चार्टर, मे 'आत्मरक्षा' एवं 'आक्रमण' का भेद भी स्पष्ट शब्दों मे उल्लिखित नहीं है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व-शान्ति सम्बन्धी भूमिका
(Role of the U. N. in World Peace)

अथवा

संघ का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव
(Impact of the U.N. on International Politics)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को हर प्रकार से प्रोत्साहन देना है। यद्यपि संघ के आर्थिक और सामाजिक कार्यों का भी अप्रत्यक्ष रूप से विश्व राजनीति पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में किए गए सद्कार्यों से शान्ति की शक्तियों को बल मिलता है और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वातावरण विकसित होता है, तथापि संघ की राजनीतिक गतिविधियाँ ही सामान्यत प्रकाश में आती हैं और विश्व-जनमत बहुत कुछ उन्हीं के आधार पर उसकी सफलता-असफलता का मूल्यांकन करता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत सभी विषयों का वर्णन हमें संयुक्त राष्ट्रीय अभिलेखों में प्राप्त होता है जिनका ब्यौरा संयुक्त राष्ट्र की 'ईयर बुक्स' 'यूनाइटेड नेशन्स बुलेटिन', 'यूनाइटेड नेशन्स रिव्यू', 'यू एन मन्थली क्रोनिकल' और संयुक्त राष्ट्र के प्रकाशन विभाग द्वारा समय-समय पर प्रकाशित पुस्तिकाओं भूमिका-पत्रों और शोध-पत्रों में मिलता है। महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट भी इसका कुछ परिचय कराती है।

1. रूस-ईरान विवाद—संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया गया यह प्रथम विवाद था। ईरान के एक प्रान्त आइजरबेजान में सोवियत सेनाएँ प्रवेश कर गई थी। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा-परिषद् में शिकायत की। रूस पर ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का आरोप लगाया गया और ईरान प्रान्त में रूसी सेनाओं की उपस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा बताया गया। सुरक्षा-परिषद् में पश्चिमी गुट के राज्यों ने ईरान का समर्थन किया। जवाब में रूसी प्रतिनिधि ने परिषद् से प्रार्थना की कि यूनान में उपस्थित ब्रिटिश सैनिकों को निकालने के लिए कार्यवाही की जाए। अमेरिका और सोवियत रूस अपने शीत-युद्ध को संयुक्त राष्ट्रसंघ में घसीट लाए। रूस ने इसी विवाद में अपने प्रथम वीटो का प्रयोग किया। परिषद् ने रूस से आग्रह किया कि वह 6 मई, 1947 तक ईरान से अपनी फौजें हटा ले। बाद में मामला दोनों देशों की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा सुलझ गया। 21 मई, 1946 को दोनों देशों की राजधानियों में घोषणा की गई कि सोवियत सेनाएँ 9 मई को ही ईरान खाली कर चुकी हैं।

ईरानी सकट को सुलझाने मे सुरक्षा-परिषद् का यद्यपि विशेष हाथ नही रहा, तथापि परिषद् मे हुई बहसो ने रूस के विरुद्ध प्रबल जनमत जाग्रत कर दिया और रूस ने अपनी सेनाएँ ईरानी भूमि से हटा लेना ही उचित समझा। यह सिद्ध हो गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ लोकमत को प्रकाशित करने वाला एक अत्यन्त उपयोगी मंच है।

2. यूनान-विवाद—पहले 3 जनवरी, 1946 को रूस ने सुरक्षा-परिषद् से शिकायत की कि महायुद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी ब्रिटिश फौजे यूनानी भूमि पर बनी हुई हैं और यूनान के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप एव अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही है। परिषद् मे विचार-विमर्श के समय यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी जनता अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति अनिवार्य समझती है। इस स्थिति मे स्वभावत सुरक्षा-परिषद् ने मामले पर विचार समाप्त करने का निश्चय कर लिया। दिसम्बर, 1946 मे यूनान ने परिषद् से शिकायत की कि पड़ौसी साम्यवादी देश छापामारो को सहायता दे रहे हैं और यूनान मे तनाव पैदा कर रहे हैं। परिषद् द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, 1947 मे इस शिकायत की पुष्टि की। परिषद् ने जब आगे जाँच-पडताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने वीटो का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जाँच-पडताल के लिए आयोग नियुक्त किया जिसे अल्बानिया, बल्गेरिया और युगोस्लाविया ने अपनी सीमाओ में प्रवेश की अनुमति नही दी। अन्त मे तीन मुख्य कारणो से यूनानी समस्या का समाधान हो गया—

- (i) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति मे साम्यवादी देश छापामारों को पूरी सहायता नही दे सके।
- (ii) टीटो-स्टालिन-वाद के कारण यूनानी छापामारो को यूगोस्लाविया की सहायता बन्द हो गई।
- (iii) सयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षण मे अमेरिका द्वारा यूनान को पूरी-पूरी आर्थिक व सैनिक सहायता मिली।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से दक्षिणी यूरोप का एक महत्त्वपूर्ण देश साम्यवादी नियन्त्रण मे जाने से बच गया।

3. बर्लिन की समस्या—1945 की पोट्सडम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के नियन्त्रण मे विभक्त कर दिया गया था। पश्चिमी बर्लिन मित्र राष्ट्रो के नियन्त्रण मे और पूर्वी बर्लिन रूस के नियन्त्रण मे रहा। पोट्सडम सम्मेलन मे यह भी तय हुआ था कि दोनो जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जाएगी, लेकिन चारों देश इस निर्णय को कायम न रख सके। पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा नई मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर रूस ने 1 मार्च, 1948 को पश्चिमी बर्लिन के जल और स्थल मार्ग बन्द कर दिए। इस नाकेबन्दी का प्रत्युत्तर पश्चिमी राष्ट्रो ने हवाई मार्ग का अधिकाधिक प्रयोग करके दिया।

23 सितम्बर, 1948 को सुरक्षा-परिषद् मे रूसी नाकेबन्दी के विरुद्ध शिकायत की गई और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक बताया गया। झगड़ा

महाशक्तियों के बीच था, अतः सुरक्षा-परिषद् समस्या पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने में असमर्थ थी। इसी बीच चारों महाशक्तियों से अनौपचारिक रूप से समस्या को सुलझाने की बातचीत चलती रही और 4 मई, 1949 को फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् को सूचित किया कि बर्लिन-समस्या पर रूस से उनका समझौता हो गया है।

यद्यपि समस्या का हल महाशक्तियों के आपसी समझौते से हुआ, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार और सम्पर्क आदि के रूप में दोनों पक्षों को परस्पर मिलाने के लिए महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार की और स्थान तथा सुविधाएँ उपलब्ध की।

4 कोरिया संकट—इस गम्भीर संकट के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ को पहली बार सैनिक कार्यवाही का सहारा लेना पड़ा। जून, 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर भीषण सैनिक आक्रमण कर दिया। सुरक्षा-परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। जुलाई, 1960 में लगभग 16 राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना तैयार की गई जिसने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। उत्तरी कोरिया के समर्थन में चीन भी लड़ाई में कूद पड़ा। एक ओर तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही और दूसरी ओर संघ ने शान्तिपूर्ण समझौते के प्रयास भी चालू रखे। अन्त में जुलाई, 1961 में दोनों पक्षों में समझौता हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। ए. ई. स्टीवेंसन के शब्दों में—"संयुक्त राष्ट्रसंघ की इस प्रथम महान् सामूहिक सैनिक कार्यवाही ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति और शान्ति दोनों से काम लेने के योग्य है।" वास्तव में संयुक्तराज्य अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संघ कोरिया युद्ध में सफल हो सका।

5 फिलिस्तीन विभाजन की समस्या—प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रदेश संरक्षित प्रदेश (Mandate) के रूप में ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फरवरी, 1947 में ब्रिटेन ने घोषणा कर दी कि उसके लिए इस मेंडेट के प्रशासन-प्रबन्ध को चलाना सम्भव नहीं है। अप्रैल, 1947 में ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने प्रस्तुत की। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने अगस्त, 1947 में सिफारिश की कि फिलिस्तीन को दो भागों में बाँट दिया जाए—एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। महासभा ने सिफारिश स्वीकार कर ली, लेकिन फिलिस्तीन-विभाजन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों में संघर्ष बढ़ता गया। दोनों पक्षों में प्रभावी युद्ध-विराम के सभी संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रयास विफल हो गए। 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलिस्तीन से अपना शासन-प्रबन्ध हटा लिया (जिसकी घोषणा 15 मई को की गई) और यहूदियों ने फिलिस्तीन में इजरायल-राज्य की घोषणा कर दी। बदले में ईराक, लेबनान, ट्रांसजोर्डन आदि अरब-राष्ट्रों ने फिलिस्तीन पर आक्रमण कर दिया। अरब-राष्ट्र इजरायल के प्रत्याक्रमण को नहीं झेल सके। 11 जून, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघीय

प्रतिनिधि बर्नाडोट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों में चार सप्ताह के लिए युद्ध-विराम हो गया, किन्तु उपद्रव चलते रहे और 17 सितम्बर को बर्नाडोट भी गोली के शिकार हुए। सुरक्षा-परिषद् ने अब डॉ राल्फ जे बुंच को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। 29 दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम हुआ। इसके बाद महासभा ने एक 'सयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' (U N Conciliation Commission) नियुक्त किया जिसने अनेक गम्भीर प्रश्नों को सुलझाया और इजरायल व पड़ौसी राज्यों में सीमा-सम्बन्धी सन्धियाँ सम्पन्न हुईं।

यद्यपि सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयासों से फिलिस्तीन विभाजन की समस्या का समाधान होकर इजरायल और अरब राष्ट्रों में सन्धियाँ हो गईं, तथापि इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अक्तूबर, 1956 में मिस्र और इजरायल में पुन. युद्ध छिड़ा तथा रूसी हस्तक्षेप व राष्ट्रसंघीय प्रयासों से शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद 1967 और फिर 1973 में अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच घमासान युद्ध हुआ, किन्तु सयुक्त राष्ट्रसघीय प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शान्ति हो गई।

6 इण्डोनेशिया विवाद—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैण्ड का अधिकार था। युद्धकाल में उस पर जापान ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों ने अपने यहाँ एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। इसके फलस्वरूप हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया में युद्ध छिड़ गया। मामला सुरक्षा-परिषद् में आया। परिषद् द्वारा 'नियुक्त सद्भाव समिति' (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त, 1947 में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हो गया और स्थायी सन्धि की वार्ता आरम्भ हो गई, लेकिन दिसम्बर, 1948 में हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियायी गणराज्य के विरुद्ध पुन युद्ध छेड़ दिया तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति एव अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। परिषद् ने इस कार्यवाही का विरोध करते हुए हॉलैण्ड से कहा कि इण्डोनेशिया में एक सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न सघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाए जिसे डच सरकार 1 जुलाई, 1949 तक सम्प्रभुता हस्तान्तरित कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सद्भाव समिति' को 'इण्डोनेशिया आयोग' में परिवर्तित कर दिया गया।

काफी विचार-विमर्श और दबाव के बाद हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियायी राजधानी से अपनी फौजें वापस बुलाईं और यह विचार प्रकट किया कि 30 दिसम्बर, 1949 तक इण्डोनेशिया-गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाएगी। बाद में 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया को एक स्वतन्त्र सम्प्रभु गणराज्य मान लिया गया और 28 दिसम्बर, 1950 को उसे सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इण्डोनेशियायी विवाद को हल करने में इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई।

7. दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न—दक्षिण अफ्रीका की सरकार 'काले-गोरे' में भेद-भाव के लिए बहुत समय से बदनाम है। 1946 में

संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रथम अधिवेशन में ही भारत ने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया और दक्षिण अफ्रीकी सरकार पर मानवीय मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका ने भारत की शिकायत पर यह सफाई दी कि यह उसका घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्रसंघ को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका की आपत्ति को अमान्य ठहराते हुए भारतीय प्रस्ताव पारित कर दिया किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रस्ताव की कोई परवाह नहीं की और जाति-भेद की अपनी अमानवीय नीति चालू रखी। 1949 में यह प्रश्न पुनः महासभा में उठाया गया जिसने एक प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका एक गोलमेज सम्मेलन द्वारा समस्या का समाधान करें। सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका की जिद के कारण कोई निर्णय न हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में अब तक यह प्रश्न बराबर उठाया जाता रहा है, लेकिन दक्षिण अफ्रीका ने अपना रवैया नहीं बदला है। महासभा में प्रस्ताव पारित होते हैं, पर समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। वास्तव में इस प्रकार के मानवीय व्यवहार की समस्या को न सुलझा पाना संयुक्त राष्ट्रसंघ की बहुत बड़ी विफलता है।

8. **कश्मीर की समस्या**—15 अगस्त, 1947 को भारत उप-महाद्वीप में दो स्वतन्त्र राष्ट्रों भारत और पाकिस्तान की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता देने से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था की कि देशी राज्य अपनी इच्छानुसार अपनी स्थिति का निर्धारण कर सकते हैं और चाहें तो भारत या पाकिस्तान के साथ मिल सकते हैं। कश्मीर भी इसी तरह का एक देशी राज्य था। इस राज्य ने स्वतन्त्र रहने का निर्णय किया।

पाकिस्तान की नीयत कश्मीर को जबरदस्ती अपने साथ मिलाने की थी। अत: 22 अक्तूबर, 1947 को उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के कबाइलियों द्वारा कश्मीर पर आक्रमण करवा दिया। पाकिस्तान की नियमित सेना के एक बड़े भाग ने भी इस पर आक्रमण में भाग लिया। राजधानी श्रीनगर का पतन सन्निकट होने पर कश्मीर के महाराजा ने 26 अक्तूबर, 1947 को भारत सरकार से कश्मीर को भारत में शामिल कर अविलम्ब सैनिक सहायता देने का अनुरोध किया। महाराजा ने 'प्रवेश-पत्रक' (Instrument of Accessation) पर हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् भारतीय सेनाएँ कश्मीर की रक्षा के लिए भेज दी गईं। कश्मीर में पाकिस्तान का नग्न आक्रमण जारी रहा और 1 जनवरी, 1948 को भारत ने सुरक्षा-परिषद् में शिकायत की कि इस आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया है। भारत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का कश्मीर पर आक्रमण स्वयं भारत पर आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू ने घोषणा की कि कश्मीर का भारत में स्थायी विलय 'जनमत-संग्रह' (Plebescite) के आधार पर होगा।

सुरक्षा-परिषद् में दोनों पक्षों की ओर से आरोप-प्रत्यारोप होते रहे। 20 जनवरी, 1948 को सुरक्षा-परिषद् ने एक मध्यस्थता आयोग (Mediation

Commission) नियुक्त किया जिसे युद्धबन्दी और जनमत-संग्रह का कठिन काम सौंपा गया। आयोग के प्रयत्न से युद्ध-विराम हो गया और ⅓ कश्मीर पाकिस्तान के कब्जे मे रह गया। आयोग ने जनमत-संग्रह कराने के लिए दोनो देशो पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जिन्हे पाकिस्तान ने भग कर दिया। कश्मीर मे परिस्थितियाँ तेजी से बदलती गईं और भारत व पाकिस्तान मे समझौता कराने के सयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयास सफलता प्राप्त न कर सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रो का खुला समर्थन मिलता रहा और उनके हाथो मे खेलते हुए सुरक्षा-परिषद् भारत के साथ अन्याय करती रही। 1954 मे कश्मीर-सविधान सभा ने कश्मीर के भारत मे विलय का विधिवत् अनुमोदन कर दिया। 1956 मे राज्य के लिए एक नया सविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अग बन गया। इस तरह कश्मीर समस्या का स्वरूप बिलकुल बदल गया और जनमत-संग्रह का कोई मूल्य नही रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी सैनिक गुट मे शामिल हो जाने के कारण और कश्मीर को बलपूर्वक लेने की चालें खेलने के कारण जनमत-संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी।

पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रो के समर्थन के बल पर बार-बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा-परिषद् मे उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ रुख और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत रूस के निषेधाधिकार प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे नही हो सके।

कश्मीर का मामला आज भी सुरक्षा-परिषद् की विषय-सूची मे है। दुर्भाग्यवश विश्व की गुटबन्दी के कारण सुरक्षा-परिषद् अभी तक इस विवाद को हल नही कर सकी है। सुरक्षा-परिषद् मे पश्चिमी शक्तियों का बहुमत है अत: पाकिस्तान परिषद् के फैसले को अपने पक्ष मे कराने का कोई मौका नही चूकता। किन्तु सितम्बर, 1965 और दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्धों के बाद अब स्थिति इतनी बदल चुकी है कि पाकिस्तान भी यह समझ चुका है कि परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई भी निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा।

वास्तव मे सयुक्त-राष्ट्रसघ के लिए कश्मीर का विवाद राहु के समान सिद्ध हुआ। यद्यपि वह इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्धो को शान्त करने मे सफल हुआ है, तथापि पश्चिमी शक्तियो के हाथों में खेलते हुए उसने जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है उससे इस महान् संस्था के गौरव को आघात ही पहुँचा है। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा यही है कि सयुक्त राष्ट्रसघ आक्रामक पाकिस्तान की सेनाओं को कश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे।

9 स्वेज नहर विवाद—1869 मे निर्मित स्वेज नहर का सचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमे ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार अपनी सेना रखती थी। नवम्बर, 1950 मे मिस्र की सरकार ने यह माँग की कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाए। ब्रिटेन द्वारा यह माँग ठुकरा देने पर दोनों पक्षों के सम्बन्ध बहु

हो गए। मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया और अन्त मे जुलाई, 1954 में एक नए समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पडी। इस समय मिस्र मे कर्नल नासिर का शासन था। उपर्युक्त समझौते के बाद भी मिस्र और ब्रिटेन व अन्य पश्चिमी राष्ट्रो के सम्बन्धों मे कोई सुधार नही हुआ और 26 जुलाई, 1956 को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र स्थित स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। 26 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने यह सम्पूर्ण विवाद सुरक्षा-परिषद् के समक्ष रखा। 13 अक्तूबर, 1956 को परिषद् ने समस्या के हल के लिए एक प्रस्ताव के रूप मे 6 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिसमे स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखने का भी सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटो से यह प्रस्ताव रद्द हो गया।

आपसी तनाव इतना बढ गया कि 26 अक्तूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा पर इजरायल ने स्वेज नहर क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस भी इजरायल के साथ युद्ध मे कूद पडे। सुरक्षा-परिषद् मे युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास नही हो सका। सघ के जीवन मे यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य स्वय सघ के चार्टर का उल्लघन कर सघ के एक सदस्य-राज्य पर हमला कर रहे थे। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमे ब्रिटेन और फ्रांस की सैनिक कार्यवाही की निन्दा कर अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर जोर दिया गया। 4 नवम्बर को यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि महासचिव श्री डॉग हेमरशोल्ड सयुक्त राष्ट्रसघ की एक आपात्कालीन सेना तैयार करें जो मिस्र मे जाकर युद्धबन्दी का कार्य करे। 10 राष्ट्रों ने मिलकर 6 हजार सैनिक दिए जो सयुक्त राष्ट्रसघ के नीले और श्वेत ध्वज के नीचे एकत्र हुए। 5 नवम्बर को सोवियत रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय के भीतर मिस्र पर हमला बन्द नही किया गया तो सोवियत सघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस सकट मे हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की सम्भावना दिखाई पडने लगी और ब्रिटेन और फ्रांस ने भयभीत होकर युद्ध बन्द कर दिया। 7 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अपने प्रस्ताव मे कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस व इजरायल की सेनाएँ मिस्र से हट जाएँ तथा स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और 15 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्रसघीय आपात्कालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया। मिस्र ने सघ की सेनाओ को तभी प्रवेश की आज्ञा दी जब मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुँचाने का वचन दे दिया गया। अप्रेल, 1957 मे स्वेज नहर द्वारा जहाजो का आना-जाना पुनः आरम्भ हो गया।

मिस्र मे युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओ को हटाने मे संयुक्त राष्ट्रसघ को पूरी सफलता मिली और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रांस के पुनः आधिपत्य के सपने चूर-चूर हो गए।

10 कांगो समस्या—सघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगो मे हुई और सौभाग्यवश इसमे वह सफल हुआ । जुलाई, 1960 मे कांगो मे भीषण गृह-युद्ध छिड गया जिसे भडकाने मे बेल्जियम का मुख्य षड्यन्त्र था । कांगो सरकार की प्रार्थना पर सयुक्त राष्ट्रसघीय सेनाओ ने पहुँचकर कांगो और बेल्जियम के बीच होने वाले सघर्ष को तो समाप्त कर दिया, लेकिन कांगोई प्रान्तो के गृह-युद्ध की स्थिति तेजी से बिगडती गई । सयुक्त राष्ट्रसघ ने एक ओर तो सैनिक उपायो द्वारा कांगो का विघटन रोका तथा दूसरी ओर समझौतावादी नीति भी अपनाई । सितम्बर, 1962 मे महासचिव हेमरशोल्ड कांगो के सघर्षरत नेताओ से बातचीत करने के लिए स्वयं कांगो गए और वहीं मार्ग मे वायु-दुर्घटना मे मारे गए । नए महासचिव ऊथांट ने अपने प्रयत्न जारी रखे । अन्त मे विरोधी प्रान्त कांगो ने अपने घुटने टेक दिए और जनवरी, 1963 मे कांगो मे शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया । सयुक्त राष्ट्रसघ का शान्ति-स्थापना का कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ ।

11. यमन की समस्या—19 सितम्बर, 1962 को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गई । 26 सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा यमन मे राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गई और क्रान्तिकारी परिषद् ने वहाँ गणराज्य की स्थापना की। दूसरी ओर राजतन्त्रवादियो को अपने पक्ष मे कर शहजादे हसन ने सऊदी अरब मे जिद्दा नामक स्थान पर यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की । दोनो यमनी सरकारें एक दूसरे को समाप्त करने के लिए कूटनीतिक और सामरिक नीतियाँ अपनाती रही । अक्तूबर के समाप्त होते-होते राजतन्त्रवादियो और गणतन्त्रवादियो मे भीषण संघर्ष शुरू हो गया । सऊदी अरब और जोर्डन ने राजतन्त्रवादियो की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की । गृह-युद्ध को व्यापक बनने से रोकने के लिए सयुक्त राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया । मार्च, 1963 मे संघ की ओर से राल्फ बुँच ने व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा दोनो पक्षो को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे अपने-अपने सैनिको को वापस बुला लें और समस्या का शान्तिपूर्ण हल खोजें । सयुक्त राष्ट्रसघ के बाद के प्रभावपूर्ण प्रयासो के फलस्वरूप शनैः-शनैः बाह्य शक्तियो ने यमन से अपनी सेनाएँ हटा लीं और अन्त मे वहाँ शान्ति स्थापित हो गई ।

12 साइप्रस की समस्या—13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश अधिकार से मुक्त होकर स्वतन्त्र गणराज्य बना । साइप्रस का जो सविधान बनाया गया उसमें वहाँ के बहुसख्यक यूनानियो और अल्पसख्यक तुर्कों के बीच सामञ्जस्य और शान्ति स्थापित रखने की व्यवस्था की गई । स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने सविधान मे ऐसा सशोधन प्रस्तावित किया जिससे दोनो जातियो के मध्य स्थापित सन्तुलन और सामञ्जस्य समाप्त हो जाता । फलस्वरूप दोनों जातियो मे राजनीतिक सघर्ष और गृह-युद्ध की शुरूआत हो गई । समस्या के समाधान के लिए यूनान, टर्की और साइप्रस के बीच इंग्लैण्ड मे शान्ति-सम्मेलन शुरू हुआ । ब्रिटेन ने साइप्रस मे नाटो फौजें भेजने का कुछ जाल रचा । राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर, 1963 मे सारा मामला सुरक्षा-परिषद् के सामने प्रस्तुत

पर संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक भेजने और स्थिति सम्भालने के लिए संघ के हस्तक्षेप की माँग की। लम्बे विचार-विमर्श के बाद मार्च, 1964 में साइप्रस में शान्ति-स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति सेना भेजने का निर्णय किया गया। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सेना साइप्रस पहुँच गई जिसने वहाँ कानून और व्यवस्था कायम रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपातकालीन सेना की अवधि बढ़ाई जाती रही।

13 डोमिनिकन गणराज्य विवाद—लेटिन अमेरिका के इस छोटे से राज्य में अप्रेल, 1965 में गृह-युद्ध छिड़ गया। अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपने पक्ष की सरकार को बचाने के लिए सैनिक हस्तक्षेप किया। बहाना यह लिया गया कि डोमिनिकन गणराज्य को साम्यवादियों से सुरक्षित रखने के लिए यह कार्यवाही की गई है। रूस ने सुरक्षा-परिषद् से अनुरोध किया कि वह मामले में हस्तक्षेप करे। अन्त में परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि दोनों युद्धरत पक्ष युद्ध-विराम करें और महासचिव डोमिनिकन गणराज्य में आवश्यक जाँच-पड़ताल के लिए प्रतिनिधि भेजें। अमेरिकी राज्यों के संगठन ने भी समस्या के समाधान की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाए। अन्त में अमेरिकी राज्यों के संगठन और संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से 4 माह के गृह-युद्ध के पश्चात् 31 अगस्त, 1965 को दोनों पक्षों में समझौता हो गया और शान्ति स्थापित हो गई। महासचिव ने अपनी रिपोर्ट में दृढ़ शब्दों में कहा कि डोमिनिकन गणराज्य में युद्ध बन्द कराने के कार्य में संघ ने अति महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

14. अरब-इजरायल संघर्ष—1956 के अरब-इजरायल संघर्ष में युद्ध-विराम होने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गई थी ताकि इजरायल व अरबों में पुनः संघर्ष न छिड़ जाए, लेकिन दोनों पक्षों में तनाव बढ़ता गया। 1967 में युद्ध की तैयारियाँ जोरों से शुरू हो गईं। मई में राष्ट्रपति नासिर के आग्रह पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सैनिक हटा लिए गए। अब संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनाएँ आमने-सामने आ गईं। एक दूसरे की कार्यवाहियों से स्थिति बिगड़ गई और 5 जून को एकाएक इजरायल ने अरबों पर विनाशकारी आक्रमण कर दिया। जोर्डन, सीरिया, मिस्र, ईराक आदि 10 करोड़ वाली जनसंख्या के देश छोटे से इजरायल का आक्रमण सह न सके। केवल 5 दिन की लड़ाई में ही अरब-राष्ट्रों की सामरिक क्षमता का विनाश हो गया। इस बीच सुरक्षा-परिषद् युद्ध-विराम के लिए पूरे प्रयास करती रही। 7 जून को परिषद् ने यह आदेशात्मक प्रस्ताव पारित किया कि सभी युद्धरत देश युद्ध बन्द कर दें। चूँकि अरब-राष्ट्र युद्ध-क्षमता खो चुके थे और इजरायल सामरिक उद्देश्यों को पूरा कर चुका था, अतः 8 जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध-विराम हो गया और 10 जून तक सभी अरब-राष्ट्रों और इजरायल के बीच पूरी तरह लड़ाई बन्द हो गई। संयुक्त अरब-गणराज्य स्वेज तट पर संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक रखने के लिए सहमत हो गया। 16 जुलाई से स्वेज

नहर क्षेत्र मे सघ पर्यवेक्षकों की देख-रेख मे युद्ध-विराम लागू हो गया किन्तु फिर भी पूर्ण शान्ति स्थापित न हो सकी और आज भी इस क्षेत्र मे दोनों पक्षो मे सैनिक झड़पें होती रहती है । आपसी तनाव पुनः विस्फोटक स्थिति में पहुँचता जा रहा है और स्थायी शान्ति की कोई आशा दिखाई नही देती । अरब राष्ट्रो और इजरायल के बीच बार-बार युद्ध-विराम कराने मे सघ को सफलता अवश्य मिली है, लेकिन इसे समस्या का स्थायी समाधान नहीं कहा जा सकता है । इस क्षेत्र में शान्ति तभी सम्भव हो सकेगी जब विश्व की महाशक्तियाँ बीच मे पड़कर रुचिपूर्वक कोई हल निकालने का प्रयत्न करेंगी ।

15. भारत-पाक संघर्ष, 1965—कश्मीर को हड़पने के लिए पाकिस्तान ने 1965 मे पुन युद्ध का आश्रय लिया । अगस्त 1965 मे हजारो पाकिस्तानी हमलावर छिपकर युद्ध-विराम रेखा पारकर कश्मीर के भारतीय प्रदेश मे घुस गए । भारत ने जब इस घुसपैठ को नाकामयाब कर दिया तो सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार कर पाकिस्तानी एक पूरी पैदल ब्रिग्रेड और 70 टैंक कश्मीर पर चढ आए । विवश होकर भारत को भी अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध खुलकर लडाई छेड देनी पडी । 22 दिन के घमासान युद्ध मे पाकिस्तान पर करारी मार पडी और आखिर सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयासों से 23 सितम्बर, 1965 को प्रात 3½ बजे भारत-पाक युद्ध-विराम हो गया तथा पाकिस्तान की रही-सही लाज जाने से बच गई ।

सयुक्त राष्ट्रसघ प्रारम्भ से अन्त तक युद्ध-विराम के प्रयत्न करता रहा । स्वय महासचिव ने दिल्ली और करांची पहुँच कर श्री शास्त्री और अयूब से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया । महासचिव ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में सुरक्षा-परिषद् को सूचित किया कि यदि पाकिस्तान सहमत हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने को प्रस्तुत है, किन्तु पाकिस्तान ने युद्ध-विराम प्रस्ताव को प्रत्यक्षतः ठुकरा दिया । महासचिव ने माँग की कि परिषद् दोनो पक्षो को अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश दे और युद्ध बन्द होने पर आवश्यक कार्यवाही करे । भारत ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि परिषद् पहले यह निश्चित करे कि आक्रामक कौन है । भारत ने यह भी बता दिया कि संयुक्त राष्ट्रसघीय पर्यवेक्षको की रिपोर्ट स्वयं इस बात का स्पष्ट प्रमाण है । पाकिस्तान ने पहले कश्मीर में घुसपैठ शुरू की और बाद में विधिवत् आक्रमण कर दिया । अन्त में काफी ऊहापोह के बाद परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान 21 सितम्बर को दोपहर से युद्ध बन्द कर दें और युद्ध-विराम लागू होने के बाद अपनी सेनाओ को 5 अगस्त, 1965 की स्थिति में लौटा लें । पाकिस्तान द्वारा सहमति की सूचना देने पर युद्ध 23 सितम्बर, 1965 को प्रात: 3½ बजे बन्द हो गया ।

सुरक्षा-परिषद् का 22 सितम्बर का प्रस्ताव भारत के साथ अन्याय था । इसमें दोनों देशों को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया गया था जबकि यह आदेश

केवल आक्रमणकारी पाकिस्तान को ही दिया जाना चाहिए था। क्योंकि उसने ही परिषद् के युद्धबन्दी के पूर्ववर्ती प्रस्ताव को ठुकराया था। आक्रामक और आक्रान्त दोनों के साथ एक-सा व्यवहार करना न्यायसंगत नहीं था। भारत ने केवल यही सोचकर इसे स्वीकार कर लिया कि उसकी शान्तिप्रियता पर कोई अंगुली न उठा सके।

16. चेकोस्लोवाकिया का संकट—21 अगस्त, 1968 को सोवियत संघ तथा वारसा-सन्धि के अन्य साम्यवादी देशों ने चेकोस्लोवाकिया में सैनिक कार्यवाही कर हंगरी की घटनाओं को एक बार फिर ताजा कर दिया। रूसी पक्ष की इस सैनिक कार्यवाही के कारण ये। मूल कारण यह घोषित किया गया कि चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शासन को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से बचाने के लिए सैनिक हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया है। तुरन्त ही इस मसले को सुरक्षा-परिषद् में उठाया गया। परिषद् के 7 सदस्य-राष्ट्रों की ओर से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जिसमें रूसी कार्यवाही को स्वतन्त्र और प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र पर आक्रमण बताकर उसकी निन्दा की गई तथा यह माँग की गई कि रूस और वारसा राष्ट्रों की सेनाएँ शीघ्र ही चेकोस्लोवाकिया से वापस चली जाएँ। कई कारणों से यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ। स्वयं चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव पर विरोध किया। बाद में सितम्बर में महासभा के अधिवेशन में इस विवाद को पुनः उठाने का प्रयत्न किया गया, लेकिन इस बार भी कोई परिणाम नहीं निकला। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया-संकट के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक मूकदर्शक से अधिक कोई भूमिका नहीं निभाई।

17. साम्यवादी चीन का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश—महासभा द्वारा सन् 1971 के अधिवेशन में साम्यवादी चीन की संघ की सदस्यता से सम्बन्धित एक बहुत ही उलझे हुए प्रश्न का समाधान कर दिया गया जो 22 वर्षों से चला आ रहा था। 26 अक्तूबर, 1971 को साम्यवादी चीन को संघ की सदस्यता प्रदान करने और ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) को उससे निष्कासित करने सम्बन्धी अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 75 मतों से स्वीकार कर लिए जाने से संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में वस्तुतः एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

18. बंगला देश की समस्या—पाकिस्तान ने अपने ही एक भाग पूर्वी बंगाल की स्वायत्तता की माँग को कुचलने के लिए 1970–71 में बर्बर दमन चक्र चलाया जिसके फलस्वरूप मार्च, 1971 में पूर्वी बंगाल की जनता ने एक स्वतन्त्र देश के रूप में अपनी स्थापना की घोषणा करदी। पाकिस्तान ने बंगला देश के जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए अमानुषिक ढंग से सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जिसके कारण लगभग एक करोड़ व्यक्ति भाग कर शरणार्थियों के रूप में भारत आ गए। भारत ने तथा अन्य देशों के साथ स्वयं बंगला देश के प्रतिनिधि मण्डल ने इस समस्या की गम्भीरता की ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ का ध्यान आकर्षित किया, लेकिन अमेरिका के

पाक-समर्थक और बगलादेश विरोधी रुख के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ इस समस्या को सुलझाने और बगलादेश मे पाकिस्तान द्वारा मानवीय अधिकारो के हनन को रुकवाने में कोई विशेष सहायता नही कर सका। पाकिस्तान का भीषण अनाचार और हत्याकाण्ड जारी रहा तथा विश्व-सस्था उसके विरुद्ध कोई कदम नही उठा सकी। बाद मे भारत के सहयोग से बगलादेश का मुक्ति-सग्राम सफल हुआ और एक सम्प्रभु राज्य के रूप में वह सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य भी बन गया।

19 भारत-पाक संघर्ष, 1971—इस सघर्ष के समय भी संयुक्त राष्ट्रसघ ने अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्रो के प्रभाव मे आकर पुन. बड़ा पक्षपातपूर्ण रुख अपनाया। भारत के इस अनुरोध पर कोई ध्यान नही दिया गया कि असली विवाद पाकिस्तान और बगलादेश के बीच है तथा इसे भारत-पाक विवाद का रूप नही दिया जाना चाहिए।

सुरक्षा-परिषद् मे अमेरिका ने प्रस्ताव रखा कि भारत तथा पाकिस्तान युद्ध-विराम करें और तुरन्त अपनी-अपनी सेनाएँ पीछे हटा ले। अन्य राष्ट्रो द्वारा भी प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए जिनमे से एक मे युद्ध-विराम कर सेनाएँ वापस हटाने की बात थी। चौथा प्रस्ताव रूस द्वारा पेश किया गया जिसमे कहा गया कि पूर्वी पाकिस्तान का राजनीतिक हल निकाला जाए जो स्वाभाविक रूप से अन्त में संघर्ष को समाप्त करेगा। अमेरिका के प्रस्ताव पर रूसी वीटो के प्रयोग से भारत के समक्ष उपस्थित एक भारी सकट टल गया। 24 घण्टे के भीतर ही परिषद् की दूसरी बैठक मे पुनः युद्ध-विराम तथा दोनो पक्षो के सैनिको के लौट जाने का प्रस्ताव किया गया जिसे रूस ने पुन. वीटो कर कर दिया। चीन ने अपने असफल प्रस्ताव मे भारत पर आक्रमण करने का आरोप लगाया। सुरक्षा-परिषद् मे असफल होने पर विवाद महासभा के समक्ष प्रस्तुत हुआ जिसमे अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रो के प्रभाव से युद्ध-विराम तथा सेनाओ की वापसी का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। भारत ने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी युद्ध-विराम तब तक लागू नही किया जा सकता जब तक बगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन को और वहाँ से पश्चिमी पाकिस्तान की फौजों की वापसी की बात को नही माना जाता। 14 दिसम्बर को परिषद् की तीसरी बैठक मे अमेरिका के पहले जैसे ही प्रस्ताव पर रूस ने तीसरी बार वीटो का प्रयोग किया। परिषद् की अगली बैठक बुलाई जाने और कोई अन्य प्रपच किए जाने से पूर्व ही भारत ने एक पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी (16 दिसम्बर)। भारत का उद्देश्य बगलादेश गणतन्त्र को पाकिस्तानी कब्जे से मुक्ति दिलाना था। यह उद्देश्य पूरा होते ही उसने युद्ध-बन्दी का आदेश दे दिया और युद्ध मे बुरी तरह पिट रहे पाकिस्तान ने युद्ध बन्द कर देने मे ही अपनी कुशलता समझी।

20. अरब-इजरायल युद्ध, 1973—अक्तूबर, 1973 मे चौथा अरब-इजरायल युद्ध छिड़ गया, लेकिन महाशक्तियों की उदासीनता के कारण सुरक्षा-परिषद् मे तत्काल सारी स्थिति पर विचार नही हो सका। रूस ने इसलिए दिलचस्पी

नहीं ली कि युद्ध के प्रारम्भ में जीत अरबों की रही थी। अमेरिका ने दिलचस्पी नहीं ली क्योंकि वह उस अवसर के इन्तजार में था जब इजरायल सम्भल कर जवाबी हमले द्वारा अपना पक्ष मजबूत कर लेता। इसी बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव वाल्दहीम ने सुझाव रखा कि युद्धरत राष्ट्रों से लड़ाई अविलम्ब बन्द करने की अपील की जाए। 7 अक्तूबर को सुरक्षा-परिषद् की गुप्त बैठक में इस सुझाव पर विचार हुआ, लेकिन रूस और चीन के विरोध के कारण कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सका। अधिकांश सदस्यों का विचार था कि ऐसी भी अपील का तब तक कोई लाभ नहीं होगा जब तक उसके साथ यह माँग भी न की जाए कि इजरायली फौजें 1967 की युद्ध-पूर्व की विराम रेखा तक लौट जाएँ। 9 अक्तूबर को अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद् की बैठक बुलाने की पहल की। अपने प्रस्ताव में उसने माँग रखी कि इजरायल, मिस्र और सीरिया में युद्ध बन्द करने और युद्ध की पूर्वस्थिति तक अपनी-अपनी फौजें लौटा लेने की अपील की जाए। यह प्रस्ताव अरब देशों के हित में नहीं था अतः रूस ने प्रारम्भ में ही कह दिया कि वह ऐसे किसी भी प्रस्ताव को 'वीटो' कर देगा। परिषद् की प्रथम बैठक में कोई निर्णय नहीं लिया जा सका और 12 अक्तूबर की दूसरी बैठक में भी इस प्रश्न पर कोई सहमति न हो सकी कि युद्ध किस प्रकार बन्द कराया जाए। जब युद्ध की स्थिति अत्यधिक विस्फोटक हो गई तो 22 अक्तूबर को रूस और अमेरिका ने संयुक्त रूप से सुरक्षा-परिषद् में एक प्रस्ताव पेश किया जिसे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि सुरक्षा-परिषद् यह माँग करती है कि युद्धरत पक्ष तुरन्त युद्ध बन्द कर दें और जो जिस जगह है वहीं इस प्रस्ताव की स्वीकृति के 12 घण्टे के अन्दर सारी फौजी कार्यवाही रोक दे; युद्धबन्दी के तुरन्त बाद सुरक्षा-परिषद् के 1967 के 24वें प्रस्ताव को पूरी तरह लागू किया जाए एवं सम्बन्धित पक्ष न्यायोचित तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए समझौता-वार्ता आरम्भ कर दें परिषद् के प्रस्ताव को इजरायल और मिस्र ने 22 अक्तूबर की शाम को 7 बजे स्वीकार कर लिया, लेकिन सीरिया ने इसे नहीं माना, अतः गोलन पहाड़ियों पर भीषण युद्ध जारी रहा। स्थिति इतनी बिगड़ गई कि रूस का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होने की सम्भावना हो गई। 26 अक्तूबर को अमेरिका ने भी विश्व भर अपने सैनिकों को सतर्क रहने का आदेश दे दिया। 27 अक्तूबर को सुरक्षा-परिषद् की बैठक में युद्ध-विराम की निगरानी के लिए और उसके उल्लंघन को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रीय आपात् सेना के गठन पर विचार-विमर्श हुआ और परिषद् ने भारत के एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। महासचिव ने कहा कि आपात् सेना में 7 हजार व्यक्ति होंगे। मिस्र में युद्ध-विराम के उल्लंघन को रोकने के लिए एक सैनिक टुकड़ी अविलम्ब ही तैनात कर दी गई। इसके बाद पश्चिमी-एशिया की विस्फोटक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। समझौता-वार्ता चालू रही और तब अन्त में 11 नवम्बर, 1973 को इजरायल और मिस्र के बीच एक 6 सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका से पुनः यह स्पष्ट हो गया कि वह महाशक्तियों के हाथ का खिलौना मात्र है।

21 ईरान और ईराक युद्ध (सितम्बर-अक्टूबर, 1980)—ईरान और ईराक में सैनिक झड़पें तो पहले से ही हो रही थी, किन्तु सितम्बर, 1980 के उत्तरार्द्ध में दोनों पक्षों में घमासान युद्ध छिड़ गया। सुरक्षा परिषद् ने 2 सितम्बर, 1980 की रात सर्वसम्मति से पारित एक प्रस्ताव में ईरान व ईराक से तत्काल युद्ध बन्द करने तथा आपसी मतभेदों को हल करने के लिए बाहरी मदद स्वीकार करने को कहा। सुरक्षा-परिषद् के प्रस्तावों और स्वयं महासचिव के प्रयत्नों का ईरान-ईराक संघर्ष पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा। मार्च, 1982 के अन्त तक प्राप्त समाचारों के अनुसार दोनों देशों में अब भी छुट-पुट लड़ाई जारी है और राजनीतिक क्षेत्र संयुक्त राष्ट्र से कोई विशेष उम्मीद नहीं करते।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक गतिविधियों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि संघ ने विवादों का समाधान करने में अपनी जागरूकता दिखाई है लेकिन वह महाशक्तियों की अड़गेबाजी का शिकार रहा है। कश्मीर के प्रश्न, वियतनाम के संघर्ष, दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति, नि.शस्त्रीकरण अणुशक्ति के प्रयोग पर प्रतिबन्ध, पश्चिमी एशिया के संकट के स्थायी समाधान आदि में संघ को विफलता का ही मुँह देखना पड़ा है फिर भी उनमें से कुछ समस्याओं को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा में संघ के प्रयास प्रशंसनीय रहे हैं। अनेक अवसरों पर संघ के सामयिक हस्तक्षेप के कारण ही स्थिति विस्फोटक होने से रुकी है। यद्यपि संघ विश्व-शान्ति और सुरक्षा के प्रतीक के रूप में *पूर्ण सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ है तथापि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में इसने शान्ति-स्थापना के अनेक बार सफल प्रयत्न* किए हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की विशिष्ट एजेंसियाँ और संस्थाएँ : गैर-राजनीतिक कार्य
(Specialized Agencies and Institutions of the U. N. : Non-political Functions)

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान और युद्धों को रोकना ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक मात्र कार्य नहीं है, चार्टर के अनुसार उसका यह भी दायित्व है कि वह मनुष्यमात्र की सामाजिक और आर्थिक भलाई के लिए प्रयत्नशील हो। पिछड़े देश *सम्पन्नता से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का शिकार बनकर कालान्तर में विश्व*-शान्ति के लिए खतरनाक सिद्ध होते हैं, अतः उन्हें अपनी दुरावस्था से मुक्त करने के लिए विश्व-संस्था को प्रत्यक्ष-परोक्ष गैर-राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। साधन के अभाव में विकासशील राष्ट्र एक तो अपने वांछित प्रयत्न करने में असमर्थ रहते हैं और दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों द्वारा उनका शोषण किया जाता है। यह स्थिति स्थायी युद्धों को जन्म देने वाली अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को आघात पहुँचाने वाली होती है अतः विश्व-संस्था का यह दायित्व है कि विश्व-शान्ति को स्थायी बनाने के लिए संसार के विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति की ओर ध्यान दे। वह विश्व में सामाजिक न्याय के लिए प्रयत्न करे, सामाजिक विकास और

स्वास्थ्य की दशा पर ध्यान दे, मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रता के प्रति राष्ट्रों और व्यक्तियों के मन में विश्वास उत्पन्न करे तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिए सचेष्ट रहे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधानिक निर्माणकर्ता किसी प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इन दायित्वों से भली भाँति परिचित थे और इसीलिए उन्होंने संघ के चार्टर में इस प्रकार की अनेक व्यवस्थाएँ दी हैं जिनके आधार पर विश्व में व्याप्त आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए आगे बढ़ाया जा सकता है। चार्टर के अनुच्छेद 55 में उल्लेख है कि "स्थायित्व तथा कल्याणकारी स्थितियों के निर्माण की दृष्टि से, जो लोगों के समान अधिकारों और आत्म-निर्णयों के सिद्धान्त पर आधारित राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए आवश्यक है, संयुक्त राष्ट्रसंघ निम्नलिखित बातों को प्रोत्साहन देगा—

(अ) *जीवन के उच्च स्तर तथा आर्थिक एवं सामाजिक न्यायालय और* विकास की स्थितियों की स्थापना;

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सामाजिक-स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी सहयोग, एवं

(स) बिना जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव किए मानव अधिकारों और आधारभूत स्वतन्त्रताओं के लिए सार्वदेशिक सम्मान और उनके पालन की व्यवस्था।"

इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी स्थापना के समय से ही प्रयत्नशील है। इस दृष्टि से कुछ अभिकरणों की भी स्थापना की गई है, जैसे—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O), (2) खाद्य एवं कृषि संगठन (F A O.), (3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F), (4) संयुक्त राष्ट्रसंघीय सुरक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (UNESCO), (5) विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.), (6) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेंसी (I.A.E.A.), (7) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F.C.), (8) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (ICAO), (9) विश्व डाक संगठन (W.P.U.), (10) अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (ITU), (11) विश्व ऋतु विज्ञान संगठन (WMO), (12) विश्व शरणार्थी संगठन (U.N.H.C.R.), (13) पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक आदि।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की दुर्बलताएँ
(Weak Points of the U.N.O)

1. संघ अभी तक सार्वदेशिक संगठन नहीं बन सका है। दोनों जर्मनी, वियतनाम, दोनों कोरिया आदि राष्ट्र अभी तक संघ से बाहर हैं। प्राय: देखा गया है कि विश्व-संस्था से बाहर रहने वाले देश *अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के उत्तरदायित्व से* स्वयं को मुक्त समझने लगते हैं संघ की कार्य-क्षमता पर जिसका विपरीत प्रभाव पड़ता है।

2. संघ सैद्धान्तिक विरोधाभास का शिकार है। एक ओर राज्यों के समानाधिकार और समान प्रभुसत्ता की बात कही गई है तो अनेक स्थलों पर चार्टर में

राज्यों की सम्प्रभु असमानता का सह-अस्तित्व है। उदाहरणार्थ, सुरक्षा-परिषद् में स्थायी सदस्यों की स्थिति असामान्य रूप से विशेषाधिकार-युक्त है। चार्टर में लक्ष्यों और सिद्धान्तों के गीत गाए गए हैं पर कहीं भी न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्मान, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय जैसे सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की गई है।

3 घरेलू क्षेत्राधिकार की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है और यह भी उल्लेख नहीं है कि 'घरेलू क्षेत्र' का निश्चय कौन करेगा। इस बारे में महासभा के निर्णय प्राय गुटबन्दी के आधार पर होते रहे हैं, वस्तुस्थिति के आधार पर नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में 'घरेलू क्षेत्राधिकार' और 'हस्तक्षेप' की विशिष्ट कल्पना है, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ विशुद्ध राजनीतिक विषय बना हुआ है।

4. संयुक्त राष्ट्रसंघ 'यथास्थिति सम्बन्धी अस्पष्टता' के कारण भी कुछ कम प्रभावशाली रहा है। वास्तव में जर्मनी, कोरिया, पूर्वी यूरोप, वियतनाम आदि सभी अस्थायी व्यवस्थाओं के परिणाम हैं और यथास्थिति को कायम रखने के बारे में बहुत अस्पष्टता है। फलस्वरूप प्रभावशाली और निश्चित कार्यवाही करने की दृष्टि से संघ प्रायः अस्थिर रहा है।

5 संघ के वाद-विवाद और निर्णय अधिकांशतः पक्षपातपूर्ण अथवा महाशक्तियों के हितों और निर्णयों से प्रभावित रहे हैं। अधिकांश समस्याएँ शक्ति राजनीति द्वारा तय की जाती हैं। पश्चिमी गुट के बहुमत के प्रत्युत्तर के लिए रूस अपने निषेधाधिकार का बहुलता से प्रयोग करता है। स्वयं महासचिव यह स्वीकार करते रहे हैं कि गुटबन्दी और बड़े राष्ट्रों के संघर्ष ने विश्व-संस्था को पंगु बना दिया है।

6. संघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का मञ्च बना हुआ है। स्थायी सदस्य किसी भी उचित, किन्तु अपने से विरोधी दावे को विशेषाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा देते हैं। यह विचित्र स्थिति है कि कोई एक महाशक्ति शेष सदस्यों की इच्छाओं को दबा दे और यहाँ तक कि महासभा की इच्छा पर भी कुठाराघात करदे पर यह भी स्वीकार करना होगा कि कुछ मामलों में इस निषेधाधिकार की व्यवस्था से ही न्याय की रक्षा हो सकी है, जैसे कश्मीर के मामले में या भारत-पाक संघर्षों के समय।

7. महासभा विश्व-जनमत का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उसके निर्णय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वस्तुतः 'शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव' पारित किए जाने के बाद भी व्यवहार में महासभा आज भी अपनी उपयोगिता में बहुत कुछ सुरक्षा-परिषद् पर आश्रित है। यदि महासभा किसी कार्य की सिफारिश दो-तिहाई बहुमत से भी करे तो परिषद् उसे अपने विवेक के आधार पर अस्वीकार कर सकती है। यह एक गम्भीर सांविधानिक विरूपता है कि एक ही समय संघ के दो अंग अलग-अलग राय प्रकट कर सकते हैं। शक्ति-वितरण में महाशक्तियों की मनमानी को कायम रखने की व्यवस्था के फलस्वरूप संघ में 'सुरक्षा-परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार' की स्थिति बनी हुई है।

8. संघ के पास अपने निर्णयों को व्यवहृत कराने की स्वयं की शक्ति नही है। उसके पास 'काटने के लिए दांत' नहीं है। उसकी निजी सेना नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर वह सदस्य-राष्ट्रों की सैनिक सहायता पर निर्भर रहती है। यह सदस्यों की मर्जी पर है कि वह सैनिक सहायता दें या न दें।

9 संघ के निर्णयों का महत्त्व सिफारिशों से अधिक कुछ नही है। सदस्य-राज्यों को छूट है कि वे उन्हें स्वीकार करें कि ठुकरा दें। एक बड़ी दुर्बलता यह है कि महासचिव की शक्तियों को भी अभी तक समुचित रूप से स्पष्ट नही किया जा सका है अतः परिषद् द्वारा प्रस्तावित कार्यवाही करना कई बार महासचिव के लिए कठिन हो जाता है।

10 चार्टर में आत्म-रक्षा और आक्रमण के बीच भेद स्पष्ट नही किया गया है। यह साफ तौर पर परिभाषित नहीं किया गया है कि किसी देश द्वारा किए जाने वाले किस प्रकार के कार्य आक्रमण माने जाएँगे। चार्टर के अनुसार आक्रमण का अर्थ 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' है, किन्तु 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' क्या है, यह प्रश्न विवादास्पद है।

उल्लेखनीय है कि अब, लगभग 51 वर्षों के परिश्रम के बाद आक्रमण की परिभाषा 350 शब्दों की करदी गई है। हिन्दुस्तान दिनांक 16 दिसम्बर, 1974 के अनुसार—

"संयुक्तराष्ट्र महासभा ने आक्रमण की परिभाषा को, जो 8 अनुच्छेदों में की गई है, सर्वसम्मति से पारित कर दिया।

आक्रमण की परिभाषा तय करने के लिए राष्ट्र और राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत विद्वान् राजनीतिक विशेषज्ञ सन् *1923* से काम कर रहे थे।

आक्रमण की परिभाषा के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि आक्रमण एक देश द्वारा दूसरे देश की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध सशस्त्र सेना का प्रयोग है या किसी अन्य तरीके का प्रयोग, जो संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के अनुरूप नहीं है।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि संयुक्तराष्ट्र घोषणापत्र का उल्लंघन कर एक देश द्वारा दूसरे देश पर पहले *सशस्त्र सेना का प्रयोग आक्रमण की कार्यवाही का* प्रारम्भिक सबूत होगी, यद्यपि सुरक्षा-परिषद् संयुक्तराष्ट्र घोषणापत्र के अनुरूप यह निश्चित कर सकती है कि आक्रमण हुआ है।

तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि युद्ध की घोषणा किए बगैर भी एक देश द्वारा दूसरे देश पर सशस्त्र आक्रमण, दूसरे देश की जमीन पर कब्जा करना चाहे अस्थायी ही क्यों न हो, बमबारी, बन्दरगाहों व तटों की नाकेबन्दी भी आक्रमण है। एक देश की सशस्त्र सेना द्वारा दूसरे देश की जमीन, समुद्र, वायु सेना, नौसेना और विमानों के बेड़े पर धावा बोलना भी आक्रमण के अन्तर्गत है। समझौते की अवधि के बाद भी दूसरे देश की भूमि पर जमे रहना आक्रमण की कोटि में आता है।

किसी तीसरे देश के विरुद्ध अपनी भूमि का प्रयोग करने की अनुमति देना या किसी दूसरे देश की ओर से किसी अन्य देश पर सशस्त्र कार्यवाही के लिए सशस्त्र गिरोह व भाड़े के सैनिक भेजना भी आक्रमण है।

चौथे अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा-परिषद् भी यह तय कर सकती है कि घोषणापत्र के अन्तर्गत किन-किन कार्यवाहियों को आक्रमण की संज्ञा दी जा सकती है।

पांचवें अनुच्छेद के अन्तर्गत आक्रमण, आक्रमणाही होगा। इसमें इस बात पर कोई विचार नहीं होगा कि राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कारणों से दूसरे देश पर आक्रमण के लिए मजबूर होना पड़ा है।

आक्रमणकारी युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रति एक अपराध है। आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी बढ़ जाती है।

आक्रमण के परिणामस्वरूप मिले क्षेत्र या कोई अन्य सुविधा वैध नहीं मानी जाएगी।

छठे अनुच्छेद में कहा गया है कि इस परिभाषा का अर्थ यह नहीं होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघीय घोषणा-पत्र में वृद्धि या कमी की जा सकती है।

सातवें अनुच्छेद में आत्म-निर्णय, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अधिकार की लड़ाई आक्रमण की परिभाषा में नहीं आएगी।

आठवें अनुच्छेद में कहा गया है कि आक्रमण की परिभाषा सम्बन्धी आठों अनुच्छेद एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।"

11 महासभा की कार्य-विधि भी दोषपूर्ण है। सभा के सम्मुख वाद-विवाद योग्य विषयों की संख्या पहले ही बहुत अधिक रहती है और इस पर भी लम्बे-लम्बे भाषणों द्वारा सभा का अधिकांश समय नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समितियों के समक्ष प्रस्ताव भी कभी-कभी पुनः सभा में पेश कर दिए जाते हैं। इस पुनरावृत्ति से लाभ कम होता है, समय की हानि अधिक।

12. महासभा के अधिवेशनों में राष्ट्रों के प्रमुख राजनीतिज्ञ उपस्थित रहने की परवाह नहीं करते और साधारण प्रतिनिधियों के उपस्थित रहने से सभा की कार्यवाही अधिक प्रभावशाली नहीं हो पाती।

13. संघ के बाहर की गई सैनिक सन्धियों के कारण भी इसका महत्व कुछ कम हो गया है। विवसीराइट ने ठीक ही लिखा है, "क्षेत्रीय सुरक्षा-गुटों के अनियन्त्रित विकास से संयुक्तराष्ट्र चार्टर के मूल उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।"

14. यह भी एक विडम्बना है कि सदस्यगण महासभा और सुरक्षा-परिषद् का प्रयोग प्रचार-संस्था के रूप में करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक कलाबाजियों द्वारा विश्व-जनमत को अनुचित रूप से अपने पक्ष में तैयार करना होता है। नार्मन पैडलफोर्ड और मार्टिन के इन शब्दों में वजन है कि "महासभा और सुरक्षा-परिषद का प्रयोग झगड़ों को सुलझाने के लिए नहीं, अपितु कई बार झगड़ों को बढ़ाने के लिए किया जाता है।"

संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव
(Suggestions to Strengthen the U. N. O.)

नवीन और परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि प्रथम तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में आवश्यक संशोधन किया जाए और द्वितीय, इस प्रकार के विभिन्न उपाय काम में लाए जाएँ जिनसे यह विश्व-संस्था अधिक शक्तिशाली बन सके। पहले उन सुझावों का उल्लेख किया जाएगा जो चार्टर में संशोधन के लिए प्रस्तावित किए जाते रहे हैं और तत्पश्चात् अन्य सुझावों का।

(क) चार्टर में संशोधन अथवा पुनर्निरीक्षण—महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहमति न होने से चार्टर में कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हो सके हैं। यह आशंका की जाती है कि संशोधन से वर्तमान शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जाएगा और संशोधन सम्बन्धी प्रस्तावों से अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद प्रखर रूप में उभर आएँगे तथापि समय-समय पर अनेक संशोधन सम्बन्धी सुझाव दिए जाते रहे हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—

1. महासभा में प्रतिनिधित्व के तरीके में परिवर्तन किया जाए। एक देश के 5 सदस्य और एक वोट के स्थान पर सदस्य तथा वोट जनसंख्या के अनुपात में होने चाहिए ताकि महासभा के निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर हों।

2. सदस्यता के लिए सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिए।

3 महासभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से नए सदस्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करे। केवल महासभा को इस प्रकार सदस्यता प्रदान करने का अधिकार दिए जाने से सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदेबाजी की वर्तमान दुरावस्था समाप्त हो जाएगी।

4. सुरक्षा-परिषद् में स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियों के पक्ष में न रहे। परिषद् को सन्तुलित और निष्पक्ष बनाने के लिए आवश्यक है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के भारत जैसे महत्त्वपूर्ण सदस्यों को भी इसमें समान आधार पर स्थान मिले। यदि स्थायी सदस्यों को कायम रखने का निश्चय हो तो उनकी सदस्य-संख्या बढ़ाई जाए।

5. 'घरेलू क्षेत्र' की व्यवस्था में समुचित सन्तुलन किया जाना चाहिए। यह सुझाव भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जो बातें घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आती हैं उनका संहिताकरण कर दिया जाए तथा उनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहें उन पर शान्ति एवं सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ जो कार्यवाही उचित समझे स्वतन्त्रतापूर्वक करे।

6 यह सुझाव दिया जाता है कि महासभा द्वि-सदनात्मक होनी चाहिए—एक 'मानवता का सदन' हो और दूसरा 'राष्ट्रीय सदन'। मानवता-सदन का संगठन प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के अनुपात में हो तथा राष्ट्रीय सदन का गठन राज्यों की समानता के आधार पर हो और उसमें प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को प्रतिनिधित्व दिया

जाए। सभी साधारण विषयों का निर्णय दोनों के द्वारा किया जाए, लेकिन मतभेद की स्थिति मे वह निर्णय उसी रूप मे मान्य समझा जाए जिस रूप मे मानवता-सदन पुनः तीन-चौथाई मतों से उसे पारित करदे। साथ ही शान्ति और सुरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय मानवता-सदन द्वारा लिया जाए। इस बात के निर्णय का दायित्व कि कौन-से विषय महत्त्वपूर्ण हैं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सौंप दिया जाए।

7 सुरक्षा-परिषद् की बैठकें हमेशा न होकर कुछ निश्चित अवधियों में ही हों ताकि सम्बन्धित देशों के प्रधान मन्त्री या विदेश मन्त्री उसमे भाग ले सकें। यह सुझाव विशेष स्वागत योग्य नहीं है, क्योंकि सुरक्षा-परिषद् यदि एक सतत् कार्यशील अंग न रहा तो शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर अथवा अन्य किसी महत्त्वपूर्ण मामले में तुरन्त कार्यवाही करने की वर्तमान क्षमता जो कुछ भी है उसमें बाधा पहुँचेगी।

8. अनुच्छेद 27 मे सुरक्षा-परिषद् मे मतदान की व्यवस्था मे 'प्रक्रिया सम्बन्धी विषय' तथा 'अन्य सभी विषय' शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि इससे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अत यह उपयुक्त है कि इन शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाए।

9. प्रादेशिक सगठन सम्बन्धी धाराओं मे ऐसा सशोधन होना चाहिए जिससे सैनिक सगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके।

10. शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी निर्णय राष्ट्रों पर बाध्यकारी माने जाएँ, पर यह भी सुनिश्चित व्यवस्था होनी चाहिए कि निर्णय राजनीतिक पक्षपात् से मुक्त हों।

(ख) अन्य सुझाव—समय-समय पर जो अन्य सुझाव दिए गए हैं उनमे से कुछ ये उल्लेखनीय हैं—

1. सदस्य-राज्य अपने उत्तरदायित्वों को अधिक स्वामिभक्ति और रचनात्मक ढग से पूरा करें। महाशक्तियाँ विशेष रूप से स.रा. के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहें और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सैद्धान्तिक शिथिलता न बरतें।

2 महासभा, सुरक्षा-परिषद् तथा अन्य अगों को प्रचार-संस्था के रूप मे काम मे न लाया जाए। इस सम्बन्ध मे एक तो सदस्य-राज्य स्वयं नियन्त्रण रखें और दूसरे आवश्यक सौंविधानिक व्यवस्थाएँ करने का भी प्रयास किया जाए।

3 महासभा के अधिवेशन अल्पकालीन हों जिनमे सदस्य-राष्ट्रों के प्रधान-मन्त्री अथवा विदेश मन्त्री सम्मिलित हों। मन्त्रि-मण्डलीय स्तर के प्रतिनिधि अपने-अपने देशों की निर्धारित नीति के लिए उत्तरदायी होते हैं, अत वे महासभा की कार्यवाही को अधिक प्रभावशाली और निर्णयकारी बनाने में सक्षम हो सकते हैं।

4 चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाया जाए। सुरक्षा-परिषद् की शक्तियों के मूल्य पर यदि महासभा, जो विश्व-जनमत की प्रतिनिधि है, कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले, तो इसका विरोध नहीं किया

जाना चाहिए। मुख्य लक्ष्य तो समस्या का समाधान करना है न कि वैधानिक अडंगेबाजी उत्पन्न कर समस्या को उलझाना।

5. संघ के वर्तमान यन्त्र को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

6. जो क्षेत्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता के बाहर हैं वहाँ पर प्रशासकीय सत्ता स्थापित कर लेनी चाहिए, जैसे बाह्य अन्तरिक्ष।

7. संघ की आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत होना चाहिए। अतः उचित होगा कि वह विकास-कर, सेवा-कर, यात्री-कर आदि लगाए और विश्व बैंक की आय तथा बाह्य अन्तरिक्ष की फीस आदि द्वारा अपनी आय में वृद्धि करे।

मूल्यांकन

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुए लगभग 35 वर्ष हो गए हैं। इन 35 वर्षों में उसका इतिहास-चित्र विचित्र रहा है। कुछ समस्याएँ उसने हल कीं और कुछ उसके मञ्च पर पहुँच कर सुलझने के बजाए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चक्रव्यूह में फँसकर और भी उलझ गईं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए की गई थी। निःसन्देह इन 35 वर्षों में संसार को तृतीय विश्व युद्ध का सामना नहीं करना पड़ा, भले ही केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ ही इसके लिए श्रेय का एकमात्र अधिकारी न हो। बड़े राष्ट्रों ने शक्तिशाली परमाणु-आयुधों से जो विराट् संहार-शक्ति संचित कर ली है, उसने भी विश्व-युद्ध को रोका है। कोई राष्ट्र आज इसलिए महायुद्ध आरम्भ नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिए जो संहारक शक्ति वह प्रयोग में लाएगा वह उसके प्रतिपक्षी को ही नहीं स्वयं उसे भी विनष्ट कर देगी। परन्तु केवल आत्म-विनाश के इस भय ने ही नहीं, संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर शान्ति के समर्थक देशों ने शान्ति के पक्ष में जो वातावरण उत्पन्न किया है, उसने भी महायुद्ध को रोका है, फिर भी यह दुःख की बात है कि छोटे-मोटे युद्ध संसार में चलते ही रहे हैं और संयुक्त राष्ट्रसंघ उन्हें रोकने में सफल नहीं हुआ है। जहाँ तक विश्व के देशों के आपसी विवादों का सम्बन्ध है, यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यतः वाद-विवाद के मंच का काम ही करता रहा है। इस मंच पर खड़े होकर पक्ष-विपक्ष में लोगों ने अपनी भड़ांस निकाली है और भड़ांस निकल जाने से वे विवाद अनेक बार ठण्डे पड़ गए हैं। विवादों के कभी-कभी उलझ जाने का एक कारण यह है कि बड़ी शक्तियाँ न्याय और सत्य की उपेक्षा कर अपने हानि-लाभ की कसौटी पर हर सवाल को परखती हैं और तदनुसार अपने निषेधाधिकार के हथियार (अधिकार) का प्रयोग करती हैं। जिस निषेधाधिकार को अन्याय का निवारक होना चाहिए था, अनेक बार वह स्वयं अन्याय में सहायक बना है।

इन तीन दशकों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्वरूप में एक बुनियादी परिवर्तन आ गया है। पहले जहाँ संयुक्त राष्ट्रीय मंच पर दो ही राष्ट्र-समूह थे, वहाँ आज गुट-निरपेक्ष और विकासशील देशों का समूह भी एक तीसरी शक्ति के रूप में उभर

कर सामने आ गया है। बड़ी शक्तियाँ आज इस समूह की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। अपनी एकाधिक असफलताओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व के लिए एक आशा की किरण है, इसीलिए आज उसके सदस्यों की संख्या 156 हो गई है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ को यदि महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो तो यह संस्था विश्व की बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान कर सकती है। पश्चिमी एशिया तथा साइप्रस में शान्ति की स्थापना जैसी बड़ी समस्याओं का निदान राष्ट्रसंघ के प्रत्यक्ष तत्वावधान में ही सम्भव है। संयुक्त राष्ट्रसंघ को उपनिवेशवाद के उन्मूलन में भी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। इण्डोनेशिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, अल्जीरिया आदि को स्वतन्त्र कराने में संघ के प्रयत्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। संघ की संरक्षण व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में वृद्धि की है और विश्व के अनेक प्रदेशों के निवासियों में स्वशासन की योग्यता विकसित करने में सहायता पहुँचाई है। कुछ वर्ष पूर्व संघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत 11 देश थे जो अब स्वतन्त्र राज्यों के रूप में विश्व के मानचित्र पर प्रतिष्ठित हैं। संघ अफ्रीका में बचे हुए साम्राज्यवादी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है।

गैर-राजनीतिक कार्यों में संघ की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल रही है। इसकी विभिन्न संस्थाओं से विश्व के विभिन्न राष्ट्रों और समाजों को भारी लाभ पहुँचा है। श्रम संगठन ने श्रमिकों की दशा को उन्नत करने और खाद्य तथा कृषि संगठन ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर अकाल को नियन्त्रित करने की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने बीमारियों के प्रतिरोध में और यूनेस्को ने मानव के सांस्कृतिक विकास में बहुत सहायता पहुँचाई है। संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों के मूल्यांकन के सम्बन्ध में एक राज्याध्यक्ष के ये शब्द निश्चय ही सही हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी ऊपरी ही ले रहा है जबकि उसकी विशेष संस्थाओं की तकनीकी सहायता और सहयोग का कछुआ अपनी धीमी चाल से बहुत आगे बढ़ रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जल, थल और अन्तरिक्ष का प्रयोग मानव-जाति के हित में करने पर निरन्तर बल दिया है। संघ अन्तरिक्ष अनुसन्धान के लिए सहायता दे रहा है। संघ दैवी प्रकोप के समय भी सक्रिय होता जा रहा है; बाढ़, तूफान, अकाल और भूकम्प से होने वाले विनाश से राहत पहुँचाने में संघ ने अनेक अवसरों पर बड़ी तत्परता दिखाई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ सहायता एवं विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत अपनी अनेक संस्थाएँ चला रहा है जो मानव-विकास के लिए कार्यरत हैं। इन संस्थाओं में प्रमुख हैं—यूनेस्को, विश्व बैंक, विश्व स्वास्थ्य संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, खाद्य एवं कृषि संघ, विश्व अणु-शक्ति संस्था और संयुक्त राष्ट्र संघीय वाणिज्य एवं व्यापार विकास सम्मेलन। सौ से अधिक देशों को विकास कार्यों के लिए हजारों मिलियन डॉलर की सहायता दी गई है। इसके अलावा खनिज पदार्थों की खोज में भी सहायता दी जा रही है। साथ ही सन्तुलित आहार, पौष्टिक तत्त्व, पुस्तक वितरण, चिकित्सा आदि का कार्य भी कर रहा है। इतना ही नहीं, विश्व की बढ़ती आबादी की

रोकथाम के लिए परिवार-नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत 80 से भी अधिक देशों को लाखों डॉलर प्रदान किए गए है। राष्ट्रसंघ के अनुमान के अनुसार वर्तमान शताब्दी के अन्त तक संसार की जनसंख्या लगभग साढ़े 7 अरब तक पहुँच जाएगी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने आरम्भ से ही भारत के विकास कार्यों में दिलचस्पी दिखाई है।

अन्तिम विश्लेषण के रूप में यह कहना होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक और गैर-राजनीतिक उपलब्धियों का पलड़ा इसकी असफलताओं की तुलना में बहुत अधिक भारी है। यदि महाशक्तियों द्वारा इस विश्व-संस्था को मुक्त हृदय से सहयोग दिया जाए, निषेधाधिकार का संयत और विवेक सम्मत प्रयोग किया जाए, सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर उसमें भारत जैसे महान् देश को स्थान दिया जाए, साम्राज्यवादी और पूँजीवादी देशों के एकाधिकार पर प्रभावी रोक लगाने की दशा में प्रयत्न किए जाएँ, तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता में चार चाँद लग जाएँगे।

संयुक्त राष्ट्र संघ का बदलता हुआ रूप आशा की नई किरणों को उजागर कर रहा है। इस विश्व संस्था पर लगभग 20 वर्ष से संयुक्तराज्य अमेरिका छाया हुआ था, पर अब उसकी मनमानी का अन्त हो रहा है। शोषित और पीड़ित एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील देश अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मञ्च के प्रभावशाली अभिनेता बनते जा रहे हैं। वह दिन समाप्त हो चला है जब अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र विश्व संस्था को अपनी 'बपौती' मानकर चलते थे।



24 वियतनाम की समस्या और पश्चिमी एशिया में समस्या-क्षेत्र
(The Problem of Vietnam and Problem Areas in West Asia)

पश्चिमी एशिया और वियतनाम विश्व-राजनीति के दो महान् विस्फोटक केन्द्र रहे हैं। इन दोनों ने अनेक अवसरों पर महायुद्ध तक का खतरा उपस्थित किया है। पश्चिमी एशिया आज भी विस्फोटक है और जब तक इजरायल और अरब राष्ट्रों के बीच अन्तिम रूप से स्थायी शान्ति-सन्धि नहीं हो जाती, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह एक अशान्ति-स्थल बना रहेगा। वियतनाम युद्ध का अन्त 30 अप्रैल, 1975 को वियतनामी जनता की विजय के साथ हो चुका है, लेकिन आर्थिक पुनर्निर्माण की विकट समस्या अभी सामने है।

वियतनाम की समस्या
(The Problem of Vietnam)

वियतनाम द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक

लगभग 1,27,000 वर्गमील और 3 करोड़ से भी अधिक जनसंख्या वाला वियतनाम कभी हिन्द-चीन का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था। 19वीं शताब्दी में हिन्द-चीन पर फ्रांस के अधिकार के समय वियतनाम भी फ्रांस के अधिकार में चला गया। 1940 में वियतनाम पर जापान ने अधिकार कर लिया। जापानी आधिपत्य के दौरान वियतनाम में राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी और साम्यवादी तत्वों की भूमिगत गतिविधियाँ तेज हो गईं। इनका संगठन 'वियत-मिह्न-लीग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और छापामार नेता होची-मिह्न को नेतृत्व सौंपा गया। 9 मार्च, 1945 को जापानियों ने फ्रांसीसी सेनाओं को पूरी तरह खदेड़ कर हिन्द-चीन की स्वाधीनता का एलान कर दिया। अगस्त, 1945 में विएत-मिह्न-लीग को सत्ता सौंप दी गई। इस नए 'वियतनाम लोकतान्त्रिक गणतन्त्र' के राष्ट्रपति होची-मिह्न बने। बाओदाई ने (जो अन्नाम का भूतपूर्व सम्राट् था और जिसने महायुद्ध के समय वियतनाम की स्वाधीनता की घोषणा कर स्वयं को वियतनाम का शासक घोषित कर दिया था) होची-मिह्न द्वारा हनोई में स्थापित की गई कार्यकारी सरकार के 'सर्वोच्च राजनीतिक परामर्शदाता' का पद प्राप्त करके सन्तोष कर लिया। गैर-कम्युनिस्टों का होची-मिह्न की विचारधाराओं और व्यक्तित्व के सामने टिक पाना

मुश्किल था। होची-मिह्न से अलग विचारधारा रखने वाले लोगों ने वियतनाम के दूसरी ओर जमा होना शुरू किया। ये लोग अपने-आपको राष्ट्रवादी कहते थे। इन राष्ट्रवादियों में भी परस्पर तनाव और सन्देह बढ़ने लगा। 6 सितम्बर, 1945 को इस शेष क्षेत्र में फ्रांसीसियों ने पुनः शासन स्थापित कर लिया। 6 मार्च, 1946 को हनोई और फ्रांसीसी मुख्य आयुक्त ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार वियतनाम लोकतान्त्रिक गणराज्य को हिन्द-चीन महासंघ के अन्तर्गत एक स्वाधीन सरकार स्वीकार किया गया।

वियतनाम का विभाजन : जेनेवा समझौता

उपर्युक्त समझौते के बावजूद दोनों पक्षों में लड़ाई जारी रही। सैनिक साधनों द्वारा होची-मिह्न पर विजय पाने में अपने-आपको नाकामयाब पाकर फ्रांस ने राजनीतिक साधनों का आश्रय लिया। उसने असन्तुष्ट बाओदाई को अन्नाम में एक नई कार्यकारी सरकार (Provisional Government) स्थापित करने के लिए उकसाया। 5 जून, 1948 को बाओदाई ने कोचीन-चीन सहित 'रिपब्लिक ऑफ वियतनाम' के नाम से एक नई सरकार गठित की। इस तरह अब वियतनाम में दो सरकारें काम करने लगीं—दक्षिण वियतनाम में बाओदाई की 'रिपब्लिक ऑफ वियतनाम' सरकार और उत्तर में डॉ. होची-मिह्न का 'वियतनाम गणतन्त्र' जिसे वीतमिह्न नाम दिया गया। 30 दिसम्बर, 1949 को बाओदाई ने सैगोन (Saigon) में स्वयं को 'राज्याध्यक्ष' घोषित कर दिया। सैगोन बाओदाई-शासित वियतनाम की राजधानी बनी। डॉ. होची-मिह्न द्वारा शासित वियतनाम की राजधानी हनोई ही रही।

फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों की कूटनीतिक चालों ने स्पष्टतः वियतनाम में भीषण गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी क्योंकि एक तरफ तो हनोई सरकार स्वयं को सम्पूर्ण वियतनाम की वैधानिक सरकार कहने लगी और दूसरी ओर सैगोन सरकार सारे वियतनाम की वैधानिक सरकार होने का दावा करने लगी। कम्युनिस्टों और राष्ट्रवादियों में लड़ाई शुरू हुई। जो युद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता का होना चाहिए था उसने गृह-युद्ध का स्थान ले लिया।

मई, 1954 में डीन बीन फू में फ्रांसीसी सेनाओं की निर्णायक पराजय ने हिन्द-चीन में फ्रांसीसी साम्राज्यवाद की कमर तोड़ दी और 21 जुलाई को दोनों पक्षों में युद्ध-विराम सन्धि हुई जिसके अनुसार निम्नलिखित बातें स्वीकार हुईं—

(i) यह देश दो भागों में विभक्त हो गया—उत्तर वियतनाम और दक्षिण वियतनाम। 17वीं अक्षांश रेखा के उत्तर में हनोई नदी से लगता हुआ सारा उत्तर वियतनाम साम्यवादियों के अधिकार में रहा और उसके दक्षिण में दक्षिण वियतनाम गणराज्य की स्थापना हुई।

(ii) दोनों भागों के बीच एक बफर क्षेत्र की भी स्थापना की गई।

(iii) फ्रांसीसी सेना द्वारा सारा वियतनाम खाली करने का निर्णय हुआ।

(iv) व्यवस्था की गई कि जुलाई, 1956 में नए निष्पक्ष चुनावों द्वारा दोनों भागों का एकीकरण किया जाएगा।

(v) सन्धि की शर्तों का पालन करने के लिए त्रिसदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की स्थापना की गई । इसके सदस्य—भारत, कनाडा और पोलैण्ड बनाए गए ।

युद्ध-विराम की असफलता और वियतनाम संघर्ष

जेनेवा समझौते से आशा हुई थी कि वियतनाम में निकट भविष्य में पूर्ण शान्ति स्थापित हो सकेगी और आम चुनाव द्वारा उत्तर व दक्षिण वियतनाम का एकीकरण हो जाएगा, परन्तु इस प्रकार की कोई आशा फलीभूत नहीं हुई । दोनों पक्षों में कटुता बढ़ती गई । उत्तर की प्रेरणा से दक्षिण वियतनाम में साम्यवादियों ने 1960 में 'राष्ट्रीय मुक्ति सेना' (National Liberation Front) की स्थापना की । इन सैनिकों को सरकारी बयानों में वियत-कांग कहा गया । यह वियत-कांग संगठन सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने लगा । जनवरी, 1962 में अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को प्रचुर आर्थिक और सैनिक सहायता देने की योजनाएँ घोषित की और लगभग एक माह बाद ही वहाँ एक अमेरिकी सैनिक कमान स्थापित कर दी गई । दूसरी ओर रूस और चीन माँग करने लगे कि अमेरिका दक्षिण वियतनाम में युद्ध सामग्री ले जाना बन्द कर दे और वहाँ से अपने सैनिकों को वापस बुला ले । शीतयुद्ध के साथ ही सैनिक उग्रता भी बढ़ती गई । उत्तर-वियतनाम की ओर से 17वीं अक्षांश रेखा पर दबाव बढ़ता गया । दक्षिण वियतनाम भी अमेरिका की सहायता से प्रबल सैन्य-संचय करता गया । अगस्त, 1964 में वियतनाम में और भी भीषण परिस्थिति उत्पन्न हो गई । 5 अगस्त को अमेरिका ने उत्तर वियतनाम के पनडुब्बी अड्डों तथा तेल-टंकियों पर भयानक बम-वर्षा की । इसके बाद ही साम्यवादियों ने विशाल पैमाने पर छापामार युद्ध आरम्भ कर दिया और वियत-कांग छापामार दक्षिण-वियतनाम के सैनिक अड्डों को तहस-नहस करने लगे । 7 फरवरी, 1965 से उत्तर-वियतनाम पर अमेरिका के भीषण हवाई हमले शुरू हो गए । संघर्ष का हल निकालने के लिए समझौता-प्रयास चलते रहे । सभी शान्ति-प्रयास व्यर्थ हो गए और सन् 1967 की समाप्ति तक उत्तर वियतनाम तथा वियत-कांग सैनिकों और सैनिक ठिकानों पर अमेरिका ने इतने अधिक बम गिराए जितने सम्पूर्ण द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी ने ब्रिटेन पर भी नहीं गिराए थे ।

वियतनामी संघर्ष की तीव्रता के साथ-साथ समाधान के लिए कूटनीतिक गतिविधियाँ भी तेज होती गईं । आखिर वियतनाम में युद्धबन्दी समझौते पर 17 जनवरी, 1973 को पेरिस में चार विदेश मन्त्रियों ने औपचारिक रूप से हस्ताक्षर कर दिए । हस्ताक्षरकर्ता पक्ष थे—अमेरिका, दक्षिण वियतनाम, उत्तर वियतनाम तथा दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार, तथापि युद्ध-विराम के उल्लंघन और सैनिक विवादों का सिलसिला बन्द नहीं हुआ । 1975 का नया वर्ष वियतनामी जनता के लिए और भी अशुभ सन्देश लेकर आया तथा पुनः भयंकर युद्ध-विस्फोट के लक्षण प्रकट होने लगे । मार्च, 1975 के अन्तिम सप्ताह में ऐसा लगने लगा कि वियतनाम-युद्ध निर्णायक स्थिति में पहुँच रहा है । 25 अप्रैल,

1975 को दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति पद पर डुआँग वान-मिन्ह-आगीन हुए और दो दिन बाद ही 30 अप्रैल को सैगोन सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

वियतनाम का एकीकरण और उसकी विदेश-नीति

युद्ध की समाप्ति के बाद अनेक छोटे-मोटे प्रश्नों के निपटारे के साथ ही वियतनाम के आर्थिक पुनर्निर्माण और संयुक्तीकरण की दिशा में काम किया जाने लगा। अन्त में, जून 1976 में दोनों वियतनाम संयुक्त हो गए। जहाँ तक संयुक्त वियतनाम द्वारा अपनाई जाने वाली विदेश-नीति का प्रश्न है उसे भी स्पष्ट कर दिया गया। वियतनामी कामगार पार्टी के प्रथम सचिव ली-दुआन ने कहा कि वियतनाम की विदेश-नीति का प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना में अभिवृद्धि करना है। इसके साथ ही साथ हमें यह भी देखना है कि हम समाजवादी मार्ग का अच्छी तरह से अनुसरण कर रहे हैं या नहीं। इस एक प्रमुख नुक्ते के अलावा ली-दुआन ने राष्ट्रीय असेम्बली में जिन अन्य मुद्दों पर जोर दिया वे ये— राष्ट्रवाद की भावना को बनाए रखना, राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों और समझौतों का पालन करना और साम्राज्यवाद के सभी स्वरूपों का विरोध करना। ली-दुआन ने एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों द्वारा साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और जातिवाद के खिलाफ संघर्ष का पूर्ण समर्थन करने का आश्वासन दिलाया। उन्होंने यह भी कहा कि उनका देश गुट-निरपेक्ष देशों के प्रयासों में अपना सहयोग देगा ही, साथ ही विश्व की नई अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित करने की उनकी योजनाओं का भी समर्थन करेगा। सितम्बर, 1977 में वियतनाम को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गई।

अरब-इजरायल संघर्ष
(The Arab–Israel Conflict)
अथवा
पश्चिम एशिया की समस्या
(The Problem of West Asia)

पश्चिम एशिया अथवा मध्य-पूर्व एशिया की समस्या अरब-इजरायल संघर्ष की समस्या है। यहूदी राज्य इजरायल के निर्माण के बारे में इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते-होते फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियों ने अपने-अपने सैनिक संगठनों की स्थापना कर ली और यह प्रदेश गृह-युद्ध की आग में झुलसने लगा। ब्रिटेन ने 1946 में सारा मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ को सौंप दिया जिसने 1947 के अन्त में फिलिस्तीन के विभाजन का फैसला किया। अरबों के तीव्र विरोध के बावजूद 14 मई, 1948 को मध्य रात्रि के समय फिलिस्तीन पर ब्रिटिश मैंडेट (Mandate) की समाप्ति के साथ ही राजधानी तेलअबीब में यहूदियों ने 'इजरायल' राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। वाशिंगटन ने इस

नवीन राज्य को तुरन्त मान्यता प्रदान की और मास्को तथा लन्दन ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

अरब-इजरायल समस्या (1948–1967)

अरब राज्य इजरायल के जन्म को बर्दाश्त नहीं कर सके। यहूदी राज्य की स्थापना के दिन ही मिस्र, जोर्डन, ईराक और सीरिया की सेनाएँ फिलिस्तीन में घुस पड़ी और इजरायल पर आक्रमण शुरू हो गया। लगभग 4 करोड़ जनसंख्या और 20 लाख वर्गमील क्षेत्रफल वाले अरब लीग के राज्यों की तुलना में 6½ लाख की आबादी और कुछ हजार वर्गमील के प्रदेश वाले यहूदी राज्य ने अपनी साधन-सम्पन्नता, विदेशी सहायता और उत्कृष्ट रणकौशल के बल पर अरबों को पराजित कर दिया। 1949 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से जब युद्ध बन्द हुआ तो इजरायल के पास संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा तैयार की गई विभाजन-योजना से भी 2 हजार वर्गमील अधिक प्रदेश था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से जो समझौता हुआ उसके अनुसार मिस्र को गाजा-पट्टी मिली जिसमें शरणार्थी अरबों को बसाने की व्यवस्था की गई। जेरूसलम नगर दो हिस्सों में विभक्त हुआ—लगभग एक लाख की आबादी वाला बड़ा हिस्सा यहूदियों के कब्जे में आया और 50 हजार की अरब आबादी वाला हिस्सा जोर्डन के अधिकार में रहा। इस तरह दोनों राज्यों की सीमा इस नगर में होकर रखी गई। इजरायल ने भागे हुए अरबों को वापस लौटने की अनुमति नहीं दी। उसकी नीति के कारण लगभग 10 लाख अरबों को 1953 तक इजरायली प्रदेश छोड़कर अन्य अरब देशों में शरणार्थी बन कर रहना पड़ा और बदले में यूरोप, अफ्रीका एवं मध्यपूर्व के विभिन्न देशों से 6 लाख यहूदी आकर वहाँ बस गए। जहाँ 1948 में इजरायल राज्य में 13½ लाख अरब और 6½ लाख यहूदी थे वहाँ 1958 में लगभग 20 लाख की कुल जनसंख्या में यहूदियों की संख्या लगभग 17 लाख हो गई।

इजरायल राज्य की स्थापना और फिर युद्ध में इजरायल के हाथों पराजय ने सम्पूर्ण अरब जगत् में स्थायी रूप से इजरायल-विरोधी अग्नि प्रज्वलित कर दी। प्रतिशोध की आग में जलते हुए अरब राज्यों ने इजरायल को न केवल आर्थिक व राजनीतिक रूप से लगभग वीरान कर दिया बल्कि इजरायली बन्दरगाहों से सामान लाने तथा वहाँ पहुँचने वाले जहाजों के लिए स्वेज नहर का रास्ता भी बन्द कर दिया। इजरायल ने यूरोपीय देशों से व्यापारिक समझौते कर, अमेरिका तथा वहाँ के सम्पन्न यहूदियों से विपुल आर्थिक सहायता प्राप्त करके और सबसे बढ़कर अपने अदम्य साहस के बल पर अरबों की चुनौती पर विजय पा ली। देखते ही देखते इजरायल मध्य-पूर्व का सबसे विकसित और सम्पन्न देश बनने की दिशा में अग्रसर हुआ।

सीमावर्ती अरब राज्यों और इजरायल के बीच छुट-पुट सैनिक झड़पें चलती रहीं। तनाव घटता-बढ़ता रहा और कभी-कभी तो पूर्ण युद्ध के खतरे भी पैदा हुए। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद 29 अक्तूबर को तब विस्फोटक स्थिति

उत्पन्न हुई जब इजरायली सेनाओं ने सिनाई प्रायद्वीप में मिस्र मोर्चों पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का स्पष्ट उद्देश्य फेदायीन अड्डों को नष्ट करना था क्योंकि इन अड्डों से ही भूतकाल में इजरायल पर अधिकांश आक्रमण किए गए थे। ब्रिटेन और फ्रांस ने झगड़े में मध्यस्थ बनने की माँग की और सुरक्षा-परिषद् से माँग की कि मिस्र को सैनिक हस्तक्षेप की धमकी दी जाए, लेकिन ये सभी बातें दिखावटी थी और परिषद् के निर्णय का इन्तजार न कर 31 अक्तूबर, 1956 को दोनों राष्ट्रों ने पोर्टसईद पर आक्रमण कर दिया ताकि स्वेज प्रदेश उनके अधिकार में आ जाए। इस तरह मिस्र को अब अकेले ही तीन शक्तियों से जूझना पड़ा—सिनाई में इजरायल से और स्वेज-क्षेत्र में ब्रिटेन व फ्रांस से। पांच दिनों की लड़ाई के बाद लगभग सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप पर इजरायल का नियन्त्रण स्थापित हो गया। आखिर सोवियत रूस की गम्भीर चेतावनी के फलस्वरूप 6–7 नवम्बर की मध्य-रात्रि से ब्रिटिश फ्रांसीसी सेनाओं ने युद्धबन्दी की घोषणा कर दी। 6 नवम्बर को ही महासभा द्वारा एशिया अफ्रीका के देशों का यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि ब्रिटिश, फ्रांसीसी और इजरायली सेनाएँ मिस्र की भूमि से हट जाएँ तथा स्वेज नहर के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस नियुक्त की जाए। 15 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्र संघीय आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया। आक्रमणकारी सेनाओं द्वारा अपनी सेनाएँ हटाने में ढील करने पर महासभा द्वारा पुनः प्रस्ताव पारित किए गए और आखिर 22 दिसम्बर, 1956 को ब्रिटेन तथा फ्रांस ने और 7 मार्च, 1957 को इजरायल ने अपनी सेनाएँ हटाली। इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएँ हटाना स्वीकार किया। प्रमुख शर्तें ये थी कि अकाबा की खाडी तथा तिरान जलडमरूमध्यों में इजरायल सहित सब देशों के लिए नौ-चालन की पूरी स्वतन्त्रता होगी और संयुक्त राष्ट्रसंघ उस समय तक गाजापट्टी पर अपना प्रशासन रखेगा जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो जाता।

सशस्त्र संघर्ष की समाप्ति के उपरान्त भी तनाव जारी रहा और रुक-रुक कर छोटी-मोटी सैनिक झड़पें भी होती रहीं। 1962 के अन्तिम चरण में जोर्डन नदी के पानी का विवाद तूल पकड़ गया और ऐरिक जॉसटन की योजना के अनुसार यह निश्चित किया गया कि इसके जल का 67% भाग अरब-राज्य और 33% भाग इजरायल अपने उपयोग में लाए। इजरायल ने अपने हिस्से के जल का उपयोग करने के लिए योजना आरम्भ करदी। अरब-राष्ट्र इस स्थिति को सहन करने की मानसिक अवस्था में नहीं थे, अतः 13 अरब-राज्यों ने जनवरी, 1964 में काहिरा में एक शिखर-सम्मेलन आयोजित किया जिसमें मुख्यतः तीन विषयों पर विचार हुआ—(1) जोर्डन नदी के पानी की समस्या, (2) अरब-राज्यों की संयुक्त सेना का निर्माण; एवं (3) सभी अरब-राष्ट्रों द्वारा मिलकर इजरायल को नष्ट करना। सम्मेलन में स्पष्ट हो गया कि अरब-राष्ट्रों में अनेक विषयों पर प्रबल मतभेद विद्यमान थे और इजरायल के विनाश अथवा विरोध के विषय में सब राष्ट्रों में सहमति नहीं थी।

आपसी मतभेदों के बावजूद अरब-राष्ट्रों में इजरायल के प्रति विरोध की भावना ही बलवती रही और एक नए अरब-इजरायल संघर्ष की भूमिका बनती गई। मई, 1967 में संयुक्त अरब-गणराज्य के तत्कालीन राष्ट्रपति नासिर ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-सेनाओं को सीमाओं से हटा लेने की माँग की। महासचिव ऊ-थाँट ने चेतावनी भरे शब्दों में बता दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं के हट जाने से दोनों पक्षों की फौजें एक-दूसरे के आमने-सामने हो जाएँगी और जो शान्ति बनी हुई है वह नष्ट हो जाएगी लेकिन नासिर के आग्रह के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं को हट जाना पड़ा। दोनों पक्षों में छोटी-मोटी सैनिक मुठभेड़ें होने लगीं और साथ ही अमेरिका तथा रूस दोनों के युद्धपोत भी भूमध्यसागर में मोर्चों पर पहुँच गए। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के संकट ने दो महाशक्तियों के टकराने की स्थिति पैदा कर दी।

सोमवार, 5 जून, 1967 को भारतीय समय के अनुसार सुबह लगभग 11.30 बजे इजरायल ने संयुक्त अरब गणराज्य की राजधानी काहिरा पर अचानक भीषण हवाई हमला कर दिया और एक ही चोट में मिस्र के अधिकांश विमान धराशायी हो गए। अकेले इजरायल ने सभी मोर्चों पर अरब-राष्ट्रों की संयुक्त शक्ति पर कहर ढा दिया और 6 दिनों में ही निर्णायक विजय प्राप्त करली। 8 जून तक इजरायली फौजें सिनाई प्रायद्वीप को पार कर स्वेज नहर के पूर्वी कोने पर जा पहुँची। इसी बीच 7 जून को सुरक्षा-परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा माँग की कि युद्धरत और सभी देश रात के 8 बजे से (ग्रीनविच समय) युद्धबन्दी करदें। परिषद् का यह आदेशात्मक प्रस्ताव था। संयुक्त अरब-गणराज्य ने जिसकी कमर बुरी तरह टूट चुकी थी तुरन्त ही युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया। 8 जून को इजरायल और संयुक्त अरब-गणराज्य के बीच युद्ध बन्द हो गया। सीरिया और इजरायल में संघर्ष जारी रहा और 9–10 जून को सुरक्षा-परिषद् को पुनः आदेश देना पड़ा कि दो घण्टे में युद्ध बन्द कर दिया जाए। इस समय तक इजरायल का सामरिक उद्देश्य पूरा हो चुका था और सीरिया की सामरिक क्षमता समाप्त हो चुकी थी, अतः 10 जून को दोनों पक्षों में लड़ाई पूरी तरह बन्द हो गई। संयुक्त अरब-गणराज्य ने अमेरिका और ब्रिटेन पर आरोप लगाया कि उनके विमानों ने इजरायल की सहायता देकर युद्ध में भाग लिया था। अरब राज्यों ने दोनों देशों से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए और यह आदेश भी दिया कि सभी अमेरिकी तथा ब्रिटिश नागरिक अपने देश लौट जाएँ।

अरब-इजरायल तनाव और शान्ति प्रयास (जुलाई, 1967–1972)

युद्ध की समाप्ति के बाद शान्ति-समझौते के कूटनीतिक संघर्ष की शुरुआत हो गई। इजरायल ने विजित क्षेत्रों से हटने के लिए दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया जबकि राष्ट्रपति नासिर ने घोषणा की कि उसे अरब-भूमि पर से हटना पड़ेगा। दोनों पक्षों में छोटे-मोटे आक्रमणों-प्रत्याक्रमणों का सिलसिला भी चलता रहा। जून, 1969 में अरब-देशों में तब बहुत ही उत्तेजना फैल गई जब इजरायल ने जेरूसलम

को विधिवत् इजरायल राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। सुरक्षा-परिषद् में पाकिस्तान, जाम्बिया, सेनेगल आदि ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें इजरायल की निन्दा करते हुए आदेश दिया गया कि वह जेरुसलम को मिलाने की घोषणा वापस ले। प्रस्ताव हो गया, लेकिन इजरायल ने उसे मानने से इन्कार कर दिया।

सितम्बर, 1969 में मोरक्को की राजधानी रबात में इस्लामी देशों के शिखर-सम्मेलन में मुस्लिम देशों की फूट पुनः उजागर हो गई और अरब-राष्ट्रों की यह इच्छा सफल नहीं हो सकी कि सभी मुस्लिम देश इजरायल से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। एक प्रकार से यह इजरायल की ही एक बहुत बड़ी राजनीतिक विजय थी। जुलाई, 1970 में इजरायल की ओर से प्रत्यक्ष-वार्ता का प्रस्ताव रखा गया और लगभग इसी समय अमेरिका ने प्रस्ताव किया कि 90 दिनों तक कोई भी पक्ष आक्रमण न करे तथा इस शर्त पर शान्ति-वार्ता शुरु हो कि इजरायल विजित क्षेत्रों को खाली कर दे तथा अरब देश इजरायल की सीमा में इजरायल की प्रभुसत्ता स्वीकार कर लें। प्रस्ताव दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया और 7 अगस्त से पूरी तरह युद्ध-विराम लागू हो गया। सितम्बर, 1970 में नासिर की मृत्यु से शान्ति-वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। फरवरी, 1971 में संयुक्तराष्ट्र संघ के मध्यस्थ डॉ गन्नार जारिंग ने संयुक्त-अरब-गणराज्य तथा इजरायल के सामने अपना निम्नलिखित पचसूत्री प्रस्ताव पेश किया—

(1) दोनों देशों के बीच संघर्ष की स्थिति समाप्त की जाए।
(2) दोनों एक-दूसरे की प्रादेशिक स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता को मान्यता दें।
(3) मान्यता प्राप्त सीमाओं और सुरक्षा के अन्तर्गत दोनों शान्तिपूर्वक रहने का एक समझौता करें।
(4) दोनों अपनी-अपनी सीमाओं और प्रदेशों से एक-दूसरे के विरुद्ध बल-प्रयोग अथवा इस प्रकार की धमकी का सहारा न लें।
(5) एक-दूसरे के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करें।

डॉ. जारिंग ने यह पुराना सुझाव भी दोहराया कि इजरायल को अपनी सेनाएँ उस स्थान तक पीछे हटा लेनी चाहिए जो संयुक्त-अरब-गणराज्य तथा इजरायल के बीच की परम्परागत सीमा है। युद्ध-विराम की अवधि और भी बढ़ा दी गई।

अप्रैल, 1971 के आसपास इजरायल ने स्वेज नहर पुनः खोले जाने के सम्बन्ध में अमेरिका के सामने प्रस्ताव रखा कि वह स्वेज के पूर्वी तट से अपनी सेनाएँ हटाने के लिए तैयार है बशर्ते कि, (1) संयुक्त-अरब-गणराज्य घोषणा करे कि इजरायल के प्रति उसका आक्रामक रवैया खत्म हो चुका है, (2) स्वेज-तट से इजरायली सेना की वापसी के समय यदि संयुक्त-अरब गणराज्य या सोवियत संघ बलपूर्वक नहर पार करने का प्रयत्न करे तो उन्हें रोकने के लिए ठोस आश्वासनों और प्रतिबन्धों की अग्रिम व्याख्या की जाए, और (3) जब तक अन्तिम समझौता नहीं हो जाता तब तक इजरायल अधिकृत सिनाई रेगिस्तान से वापसी के बारे में किसी

प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रतिबद्धता को स्वीकार नहीं करेगा। इजरायल के प्रस्ताव अरब-पक्ष को मान्य नहीं हो सकते थे।

पश्चिमी एशिया का संकट शान्ति-प्रयास और युद्ध की आशंकाओं के बीच झूलता रहा। 27 मई, 1971 को मिस्र और रूस के बीच 15 वर्षीय मैत्री-सन्धि हो गई। रूस ने अधिकाधिक सैनिक मदद का आश्वासन दिया और इजरायल की पीठ पर पूरी तरह अमेरिका था। जो भी प्रस्ताव-प्रतिप्रस्ताव सामने आए उन्हें किसी भी पक्ष ने स्वीकार नहीं किया। इसी समय मिस्र और रूस के सम्बन्धों में कुछ तनाव पैदा हो गया तथा जुलाई, 1972 में राष्ट्रपति सादात ने रूसी सैनिक विशेषज्ञों को मिस्र छोड़ने का आदेश देकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् को स्तब्ध कर दिया। सितम्बर, 1972 में 'म्यूनिख हत्याकांड' के फलस्वरूप इजरायल-अरब तनाव और भी बढ़ गया। बदले की कार्यवाही कर इजरायल ने लेबनान के छापामार ठिकानों पर हवाई आक्रमण किया। बहुत से छापामार ठिकानों को नष्ट करने के बाद इजरायल शान्त हुआ और उसने कहा कि लेबनान की भूमि पर या नागरिक ठिकानों पर आक्रमण करने का उसका कोई इरादा नहीं है।

अरब-इजरायल संघर्ष (1973-1980)

1973 में संकेत स्पष्ट हो गए कि स्वेज नहर का युद्ध-विराम अधिक समय तक नहीं चल सकेगा। सामान्यत. दोनों पक्ष अपनी-अपनी शर्तों पर अड़े रहे। इजरायल यह माँग करता रहा कि—

1. अरब-राष्ट्र इजरायल को राजनीतिक मान्यता दें।
2. स्वेज नहर और अकाबा की खाड़ी में इजरायल को उसी तरह जहाजरानी के अधिकार मिलें जैसे दूसरे देशों को प्राप्त हैं।
3. जेरूसलम इजरायल के अधिकार में रहे।
4. जोर्डन नदी के पश्चिम की तरफ का क्षेत्र फिलिस्तीनी विस्थापितों के लिए अलग कर दिया जाए।
5. सीरियाई सीमान्त का वह पहाड़ी क्षेत्र जहाँ से इजरायल के विरुद्ध छेड़छाड़ की जाती है, इजरायल के ही अधिकार में रहे।
6. इजरायल से छेड़छाड़ न करने का विश्वसनीय आश्वासन दिया जाए।

स्पष्ट है कि इजरायल की माँगें बहुत अधिक सौदेबाजी की थी जो अरब-राष्ट्रों को मान्य नहीं हो सकती थी। संयुक्त अरब-गणराज्य और उसके साथ ही अरब राष्ट्रों की माँग थी कि—

1. वे एक इंच अरब-भूमि भी हाथ से नहीं जाने देंगे।
2. अपनी प्रभुसत्ता में वे कभी कोई हस्तक्षेप सहन नहीं करेंगे।
3. इजरायल को युद्ध द्वारा हथियाई गई जमीन का लाभ नहीं उठाने देंगे।
4. स्वेज में इजरायली जहाजरानी तभी हो सकेगी जब इजरायल जीते हुए क्षेत्र को खाली कर दे।

अरब-राष्ट्रों और इजरायल में तनाव बढ़ता गया और शनिवार, 6 अक्तूबर, 1973 को अचानक ही मिस्र की सेनाओं ने इजरायल अधिकृत अपने प्रदेश को मुक्त कराने के लिए युद्ध छेड़ दिया। 6 वर्ष पहले जून, 1967 के 6 दिवसीय अरब-इजरायल युद्ध में इजरायल ने पहल की थी और अरब-राष्ट्रों को बुरी तरह पराजित किया था। इस बार पहल मिस्र और सीरिया ने की किन्तु वे इजरायल की तरह युद्ध का भरपूर लाभ नहीं उठा पाए। युद्ध 6 अक्तूबर से 22 अक्तूबर, 1973 तक चला और तब दोनों पक्षों में युद्ध-विराम हो गया। दोनों पक्षों को 1967 की लड़ाई की तुलना में कहीं अधिक क्षति हुई, तथापि यह सिद्ध हो गया कि इजरायली सेना सर्वथा अपराजेय नहीं है और अरबों में भारी युद्ध क्षमता है। युद्ध-विराम सुरक्षा-परिषद् के आदेश पर हुआ। युद्ध-विराम के समय स्थिति लगभग यह थी कि इजरायल स्वेज नहर के पश्चिमी तट पर और सीरिया में सामा के पास तक मोर्चे बाँधकर नई जमीन हथियाने में सफल रहा। इसके विपरीत मिस्र ने स्वेज पार 305 मील की लम्बी पट्टी पर कब्जा कर लिया और सीरिया ने गोलन पहाड़ी क्षेत्र के कुछ भाग पर।

सुरक्षा परिषद् ने युद्ध-विराम सम्बन्धी जो प्रस्ताव पास किया, उसमें आग्रह किया गया कि संघर्षरत सभी पक्ष सैनिक गतिविधियाँ तत्काल रोक दें और स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए सम्बद्ध पक्षों में समुचित तत्वावधान में बातचीत हो। संघर्षरत देशों में सीरिया ने युद्ध-विराम प्रस्ताव स्वीकार करने में काफी देर लगाई।

युद्ध-विराम के बाद मिस्र और इजरायल समझौता वार्ता चालू रहीं। आंशिक समझौते हुए भी, लेकिन समस्या का स्थायी समाधान एक विकट प्रश्नचिह्न ही बना रहा। किंकर्त्तव्यविमूढ़ परिस्थितियाँ बनीं, लेकिन दोनों पक्षों के संयम के कारण संघर्ष नहीं छिड़ा। राष्ट्रपति सादात यह मानकर चले कि इजरायल अपनी घरेलू स्थितियों के कारण शान्ति-स्थापना का इच्छुक है और यदि कटु रुख न अपनाया जाए तो दोनों पक्षों के लिए सम्मानजनक समझौता हो सकता है।

• अरब राष्ट्रों की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने इजरायल जाने का फैसला किया। 29 वर्ष की घोर शत्रुता और युद्ध को ताक पर रखकर 10 नवम्बर, 1977 को उन्होंने इजरायली संसद से पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने में सहायता का अनुरोध किया। सादात के बाद बेगिन ने मिस्र में इस्माइलिया आकर सादात से बातचीत की। एक दूसरे के प्रति समझौतावादी भावना का विकास होता गया, लेकिन मतभेद सुलझे नहीं। अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर दोनों पक्षों में समझौते के लिए विशेष प्रयत्न करते रहे और अन्त में सितम्बर, 1978 में अमेरिका में कैम्प डेविड में पश्चिमेशिया समस्या पर कार्टर-सादात-बेगिन शिखर वार्ता हुई। 13 दिनों की बातचीत अनेक बार नाजुक दौर से गुजरी और अन्त में एक ऐतिहासिक समझौते के साथ समाप्त हुई।

सितम्बर की मिस्र-इजरायल शान्ति-सन्धि के इस दस्तावेज में इजरायल ने कहा कि (1) वह समूचे सिनाई में मिस्र की प्रभुसत्ता को फिर स्वीकार करते हुए वहाँ से अपना हवाई अड्डा समाप्त कर देगा, (2) इजरायली सेनाएँ शान्ति-सन्धि पर

हस्ताक्षर होने के बाद (इजरायली ससद् की स्वीकृति के बाद), तीन महीने से लेकर 9 महीने तक की अवधि मे हट जाएगी, (3) तत्पश्चात् दोनो पक्षों के बीच राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो जाएँगे, (4) दस्तावेज मे स्पष्ट कर दिया गया कि पाँच वर्ष के सक्रान्ति काल मे इजरायल जोर्डन के पश्चिम तक और गाजा पर से अपना सैनिक नियन्त्रण पूरी तरह समाप्त कर देगा, इन क्षेत्रों के लोगों को स्वशासन और पूर्ण-स्वायत्तता प्रदान कर दी जाएगी, लेकिन सुरक्षा-सम्बन्धी कुछ कारणों से इजरायल कुछ इलाको मे अपने सैनिक रखेगा, (5) पश्चिमी तट का मामला तय करने के लिए जोर्डन को बातचीत मे आमन्त्रित किया जाएगा और उसे इजरायल के साथ शान्ति-वार्ता के लिए भी कहा जाएगा।

कैम्प डेविड वार्ता के परिणाम पर मिस्र और इजरायल मे तथा अरब देशो मे तीव्र प्रतिक्रियाएँ हुई। अरब जगत् मे सीरिया ने कैम्प डेविड समझौते की कडी आलोचना की और कहा कि अरब हितो का बलिदान कर दिया गया है। कैम्प डेविड समझौते की अल्जीरिया, लीबिया, सीरिया, दक्षिणी यमन, फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन, सऊदी अरब इन सभी अरब राष्ट्रो ने विरोध किया और सोवियत सघ के साथ सम्बन्धो को सुदृढ बनाने की इच्छा प्रकट की। कैम्प डेविड समझौते के सन्दर्भ मे मिस्र और इजरायल के प्रतिनिधियो मे वार्ता का दूसरा दौर 12 से 22 अक्तूबर 1978 तक चला और समझौते की व्याख्या को लेकर दोनो पक्षों मे मतभेद पैदा हो गए।

राष्ट्रपति कार्टर की प्रतिष्ठा दाव पर लग गई और आखिर मार्च, 1979 के प्रारम्भ मे यह आशा हो गई कि कैम्प डेविड मे मिस्री और इजरायली नेताओं मे शान्ति-सन्धि के लिए समझौतो का जो ढाँचा बनाया था वह शीघ्र ही अस्तित्व मे आ जाएगा। ऐसा ही हुआ और 26 मार्च, 1979 को वाशिंगटन मे राष्ट्रपति कार्टर के हस्ताक्षरो सहित मिस्र और इजरायल मे शान्ति-सन्धि सम्पन्न हो गई। सन्धि पर सादात, बेगिन और कार्टर के हस्ताक्षर हुए। इस शान्ति-सन्धि पर अरब देशो ने तुरन्त विरोध किया और 1 अप्रेल, 1979 को अरब संघ के 16 सदस्यो ने मिस्र का बहिष्कार करने और आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के पहले कदम के तौर पर काहिरा स्थित राजदूतो को स्वदेश लौट आने का आदेश दिया।

मिस्र के प्रधानमन्त्री डॉ. मुस्तफा खलील ने बताया कि सन्धि के लागू हो जाने से पहले नौ महीनो मे इजरायल सिनाई का 75% इलाका उसे लौटा देगा। इसके एक क्षेत्र मे इजरायल की थोड़ी सेना रहेगी। एक-तिहाई क्षेत्र मे सयुक्तराष्ट्र सेनाएँ रखी जाएँगी। सिनाई का पूरा क्षेत्र दो से तीन साल के भीतर मिस्र को सौंप दिया जाएगा। सन्धि की पुष्टि हो जाने के नौ महीने के भीतर मिस्र और इजरायल राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे। मिस्र अपना दूतावास तेलअबीब मे खोलेगा, यरुशलम मे नहीं। फिलिस्तीनी राजनीतिक बन्दियो को रिहा किया जाएगा। सन्धि पर हस्ताक्षर होने के एक महीने के बाद पश्चिमी किनारे और गाजा-पट्टी मे फिलिस्तीनी शरणार्थी लौट जाएँगे। यह संक्रमणकाल पाँच वर्ष तक रहेगा। उसके

बाद फिलिस्तीनियों को अपने भाग्य का फैसला करने का पूरा अधिकार दिया जाएगा। शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर होने के दस महीने के बाद चुनाव होंगे।

मार्च, 1979 के कैम्प डेविड समझौते का अरब और इजरायल के उग्रवादी तत्वों ने तीव्र विरोध किया। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के नेताओं ने माँग की कि फिलिस्तीनियों की सभी समस्याओं पर विचार-विमर्श होना चाहिए। जून, 1980 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों ने वेनिस में पश्चिम एशिया में पूर्ण शान्ति के लिए एक नई नीति निर्धारित करने का प्रस्ताव रखा तथापि मिस्र के राष्ट्रपति सादात ने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी समझौता कैम्प डेविड समझौते के अन्तर्गत ही ढूँढा जाना चाहिए क्योंकि यह बहुत व्यापक समझौता है जो अब केवल इजरायल और मिस्र तक ही सीमित नहीं रह गया है। उन्होंने कहा कि कैम्प डेविड समझौते में परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके लिए यूरोपीय देशों को अमेरिका के साथ-साथ मिस्र और इजरायल की सहमति लेनी होगी। लगभग इसी समय संयुक्त राष्ट्र ने अपने एक विशेष अधिवेशन में इजरायल से सभी विजित अरब क्षेत्रों से हटने का आग्रह किया किन्तु इस प्रस्ताव का इजरायल पर कोई असर नहीं हुआ। यह प्रस्ताव फिलिस्तीनियों के प्रश्न पर सभी प्रमुख अरब देशों ने रखा था और इसमें महासचिव डॉ. कुर्ट वाल्दहीम से अनुरोध किया गया था कि अरब विजित प्रदेशों में इजरायली सेनाओं की हटने की सारी कार्यवाही की देख-भाल के लिए वह संयुक्तराष्ट्र दल तैनात करें। प्रस्ताव में कहा गया था कि संयुक्तराष्ट्र संघ इजरायल से कहे वह 15 नवम्बर, 1980 तक सभी अरब विजित प्रदेश खाली कर दे। भारत सहित अनेक देशों ने माँग की थी कि फिलिस्तीनियों को अपना राज्य बनाने का अधिकार देने के लिए तुरन्त कार्यवाही की जानी चाहिए। भारतीय विदेश मन्त्री पी. वी नरसिंहराव का कहना था कि यरुशलम सहित सभी विजित अरब प्रदेशों से हटने के लिए इजरायल को मजबूर करने का समय आ गया है। भारतीय विदेश मन्त्री ने अपने भाषण में इस बात पर खेद व्यक्त किया कि सुरक्षा परिषद् इजरायल के प्रति कड़ा रवैया नहीं अपना सकी है, वह इजरायल को अपनी बात मनवाने से मजबूर करने के लिए कतराती रही है और यही कारण है कि इजरायल फिलिस्तीनी और अरबों को दबाने में बराबर कामयाब रहा है। उपरोक्त प्रस्ताव में कहा गया था कि इजरायल द्वारा खाली किया गया इलाका फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को सौंप दिया जाए ताकि फिलिस्तीनियों के अपना अलग देश बनाने के अधिकार को मान्यता मिले। कहा गया कि गाजापट्टी और जोर्डन नदी का पश्चिमी किनारा फिलिस्तीनी क्षेत्र माना जाएगा। इजरायल ने संयुक्तराष्ट्र संघ की पूर्णतया अवहेलना करते हुए यरुशलम को अपनी राजधानी बनाने का अन्तिम निर्णय कर लिया।

अरब-इजरायल विवाद 1981–1982

अरबों और इजरायल के बीच विवाद का स्थायी समाधान नहीं हो सका और समय-समय पर स्थिति विस्फोटक बनती रही। मई, 1981 में लेबनान में सीरिया और इजरायल के टकराव से समूचे पश्चिम एशिया में पुनः एक बड़े युद्ध

का खतरा पैदा हो गया। महाशक्तियों के हस्तक्षेप का खतरा पैदा हो गया तथापि स्थिति सम्भल गई। जून, 1981 में इजरायल ने आकस्मिक हवाई आक्रमण में ईराक के परमाणु संयन्त्र नष्ट करके अपनी उग्रवादी और आक्रामक नीति का परिचय दिया और स्पष्ट कर दिया कि वह किसी भी अरब राष्ट्र को परमाणु शक्ति सम्पन्न न बनने देने के लिए कटिबद्ध है।

सऊदी अरब की आठ-सूत्री शान्ति योजना (अगस्त 1981)—पश्चिमेशिया की समस्या के समाधान के लिए सऊदी अरब के युवराज फाहद ने 8 अगस्त, 1981 को एक आठ-सूत्री शान्ति योजना प्रस्तावित की—

(1) यरूशलम के अरब क्षेत्र सहित 1967 के सभी अरब विजित प्रदेशों से इजरायल की वापसी।

(2) 1967 से अरब क्षेत्रों में इजरायल ने जितनी भी बस्तियाँ बसायी है उन सभी का वहाँ से खात्मा।

(3) पवित्र स्थानों में सभी जगह पूजा और धर्म सम्बन्धी सभी कार्यों के पालन की स्वतन्त्रता।

(4) फिलीस्तीनियों के स्वदेश वापसी के अधिकार को मान्यता और जो नहीं लौटना चाहते उनके लिए मुआवजे की व्यवस्था।

(5) पश्चिमी तट और गाजा पट्टी पर संक्रान्तिकाल की अवधि में संयुक्त-राष्ट्र का नियन्त्रण।

(6) फिलीस्तीनियों के स्वतन्त्र राज्य बनाने के अधिकार को मान्यता और इस राज्य की राजधानी यरूशलम होने पर सहमति।

(7) इस क्षेत्र के देशों को अपनी-अपनी सीमाओं में शान्ति और सुरक्षा से रहने के अधिकार की मान्यता।

(8) संयुक्तराष्ट्र द्वारा इन सुझावों को लागू करने की गारण्टी या फिर विश्व संस्था के किसी अन्य सदस्य द्वारा इन सुझावों को लागू करने का आश्वासन।

सऊदी अरब की शान्ति योजना ने पश्चिम एशिया की समस्या को एक नया ही मोड़ दे दिया। इस योजना में फिलीस्तीनियों का एक नया राज्य बनाने की बात तो है ही, साथ ही इजरायल के सभी अरब विजित प्रदेशों से हटने की भी व्यवस्था है। अपनी इस योजना को स्पष्ट करते हुए युवराज फाहद का कहना है समस्या के समाधान में विश्व की दोनों महान् शक्तियों—सोवियत संघ और अमेरिका—की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सऊदी अरब योजना के दो उद्देश्य स्पष्ट नजर आते हैं। कैम्प डेविड समझौता अपने आप ही खत्म हो जाए जिसने पूरे अरब जगत् को दो खेमों में बाँट दिया है, दूसरे इजरायल के साथ झगड़े को लेकर पश्चिमेशिया की समस्या का एक ऐसा समाधान निकले जिस पर सभी अरब देश सहमत हों। पर साथ ही यह भी निश्चित है कि इस योजना को अमेरिका और इजरायल दोनों ही

अन्तकाल तक लटकाए रखना चाहेंगे। खाड़ी देशों ने सऊदी अरब की शान्ति योजना को अपना समर्थन दिया। छः खाडी देशों के रियाद शिखर सम्मेलन में यह तय किया गया था कि सऊदी अरब अपनी योजना को नवम्बर,1981 में होने वाली अरब संघ की बैठक में स्वीकृति के लिए पेश करे। खाड़ी शिखर सम्मेलन में सऊदी अरब, कुवैत, ओमान, संयुक्त अरब अमीरात, कतार और बहरीन के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया था। शिखर सम्मेलन का विचार था कि खाड़ी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा विशेष कर विदेशी सैनिक अड्डों से अलग रखा जाना चाहिए। सम्मेलन के अनुसार सऊदी अरब योजना के आधार पर ही अरब देश फिलीस्तीनी समस्या पर समान रवैया अपना सकेंगे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि खाडी देशों के इस शिखर सम्मेलन के बाद जारी संयुक्त विज्ञप्ति में मिस्र का कहीं जिक्र नहीं किया गया। बस इतना ही कहा गया कि खाडी देशों को आशा है कि मिस्र अरब खेमे में फिर लौट आएगा। इजरायल के साथ 1979 की शान्ति सन्धि के कारण मिस्र को 22 सदस्यों के अरब संघ से हटा दिया गया था।

कुछ तटस्थ यूरोपीय और अरब देश भी सऊदी अरब की योजना का समर्थन कर रहे हैं और इस कोशिश में हैं कि सऊदी अरब की शान्ति योजना इजरायल के पश्चिमी यूरोपीय सहयोगी देशों को भी स्वीकार्य हो। अमेरिका द्वारा इस योजना को मान लेने पर वह इजरायल को भी सहमत करा पाएगा, इसमें सन्देह है। लेकिन बेगिन, इजरायली प्रधानमन्त्री ने अमेरिका द्वारा सऊदी अरब की आठ-सूत्री इस योजना को समर्थन देने पर सख्त नाराजगी प्रकट की थी। उनका कहना था कि इस योजना में अपनी-अपनी सीमाओं में सुरक्षित रहने का अधिकार रखने वाले देशों में इजरायल का वहीं नाम ही नहीं है।

मिस्र के राष्ट्रपति हुस्नीमुबारक ने सऊदी अरब की योजना को समर्थन दिया, और इसे कैम्प डेविड समझौते का, एक विकल्प बताया।

अमेरिका ने सऊदी अरब योजना को कैम्प का विकल्प नहीं माना। जोर्डन के शाह हुसैन की अमेरिका यात्रा के दौरान राष्ट्रपति रीगन ने सऊदी अरब योजना को लेकर शाह हुसैन से अपने मतभेद व्यक्त किए थे। कहा जाता है कि राष्ट्रपति रीगन ने शाह हुसैन से स्पष्ट कह दिया था कि वह किसी भी हालत में कैम्प डेविड समझौते की प्रक्रिया में रुकावट नहीं चाहते। यूरोपीय देशों और अमेरिका के बीच भी इस योजना पर मतभेद नजर आए।

सितम्बर 1981 से मार्च 1982 तक की घटनाएँ—16 सितम्बर को अमेरिका और इजरायल के बीच एक नए मैत्री और सैनिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। 6 अक्तूबर, 1981 को मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात की हत्या से पश्चिम एशिया में शान्ति स्थापना की प्रक्रिया को गहरा आघात लगा तथापि उनके उत्तराधिकारी हुस्नी मुबारक ने स्पष्ट कर दिया कि वे सादात की नीति पर चलते रहेंगे। 1 नवम्बर, 1981 को अमेरिका ने पश्चिमएशिया में शान्ति स्थापना सम्बन्धी सऊदी अरब के शान्ति प्रस्ताव से सहमति प्रगट की, लेकिन इजरायल उसे मानने से इन्कार

कर दिया। मिस्र के राष्ट्रपति हुस्नी मुबारक ने भी 8 नवम्बर, 1981 को सऊदी अरब की आठ-सूत्री शान्ति योजना का अनुमोदन कर दिया लेकिन इजरायल की सहमति के बिना यह शान्ति योजना कोई मायने नहीं रखती थी। 15 दिसम्बर, 1981 को इजरायल ने सीरिया की गोलन पहाड़ियों पर विधिवत् कब्जा करने का फैसला करके अरब-इजरायल तनाव को पुनः बढ़ा दिया। 17 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् ने इजरायल के इस फैसले की भर्त्सना की, लेकिन 18 दिसम्बर को इजरायल ने सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। 21 जनवरी, 1982 को अमेरिका ने गोलन पहाड़ियों पर कब्जा करने के लिए इजरायल पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग किया। संयुक्तराष्ट्र में 30 जनवरी, 1982 को सीरिया ने जोरदार माँग की कि इजरायल के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाए जाएँ। इसके पूर्व दिसम्बर, 1981 के महासभा के एक अधिवेशन में भारत और 15 अन्य देशों द्वारा रखा गया इजरायल विरोधी यह प्रस्ताव पारित हो चुका था कि गोलन पहाड़ियों को नाजायज तौर पर इजरायल में शामिल करने की सजा के तौर पर इजरायल का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाए। प्रस्ताव में अमेरिका की भी निन्दा की गई कि उसने सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का प्रयोग करके बहुत गलत काम किया है। 1 फरवरी, 1982 को सीरिया द्वारा पश्चिम एशिया के बारे में एक तीन-सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जो कि कागजी बन कर रह गया। 6 फरवरी, 1982 को इजरायल ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के अपने विरुद्ध प्रतिबन्ध सम्बन्धी प्रस्ताव को अवैध ठहराते हुए अस्वीकार कर दिया।

पश्चिम एशिया अशान्त है और अरब-इजरायल विवाद कभी भी विस्फोटक रूप धारण कर सकता है तथापि यह स्पष्ट है कि अरब देशों और इजरायल के बीच स्थायी शान्ति के आसार अब जितने प्रबल हैं उतने पहले कभी नहीं थे क्योंकि अरब देश यह समझ चुके हैं कि उन्हें देर-सवेर इजरायल के अस्तित्व को पूरी तरह स्वीकार करना होगा। यदि महाशक्तियाँ एक दूसरे पक्ष को उकसावें नहीं और शान्ति स्थापना की दिशा में ईमानदारी से प्रयत्न करें तो शान्ति की समस्या हल हो सकती है। दुर्भाग्यवश अमेरिका के रीगन प्रशासन ने पश्चिम एशिया के सम्बन्ध में रचनात्मक रवैया नहीं अपनाया है, वह इस क्षेत्र को संघर्ष के मार्ग पर ही ले जा रहा है। अरब देशों के भीतर भी विघटन की प्रवृत्तियाँ कम नहीं हुई हैं। इन परिस्थितियों में शान्ति के साथ-साथ संघर्ष के बने रहने की भी अधिक सम्भावना है।

ईराक-ईरान संघर्ष
(Iraq-Iran Conflict)

ईराक-ईरान संघर्ष भी पश्चिम एशिया की एक गम्भीर समस्या है। इन दोनों देशों के बीच तनातनी काफी लम्बे अरसे से चली आ रही थी और सितम्बर, 1980 के प्रारम्भिक सप्ताह में छुट-पुट सैनिक झड़पें भी हुई थीं लेकिन 22 सितम्बर, 1980 को ईराकी बमवर्षकों द्वारा तेहरान सहित अनेक ईरानी हवाई अड्डों और सैनिक ठिकानों पर बमबारी के साथ दोनों देश पूरे युद्ध पर उतर आए। राष्ट्रसंघ की सुरक्षा

परिषद् ने 23 सितम्बर की रात्रि को ईरान-ईराक की सरकारों से आग्रह किया कि वे शीघ्र लड़ाई बन्द कर दें। बैठक का आयोजन राष्ट्रसंघ के महासचिव कुर्ट वाल्दहीम के आग्रह पर हुआ। महासचिव ने आशंका व्यक्त की थी कि दोनों देशों के बीच सीमा सम्बन्धी लड़ाई भयंकर रूप धारण कर सकती है। सोवियत संघ ने ईरान और ईराक दोनों को सुझाव दिया कि वे शान्तिपूर्ण ढंग से अपने विवाद सुलझा लें ताकि पश्चिमी देशों को दखलन्दाजी करने का मौका न मिले। सरकारी पत्र प्रावदा ने आरोप लगाया कि अमेरिका अपनी साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत ईरान व ईराक के झगड़े से ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाना चाहता है। अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर ने कैलिफोर्निया में बोलते हुए सोवियत संघ को चेतावनी दी कि वह ईरान-ईराक के झगड़े में दखल न दे। उन्होंने धमकी भी दी कि खाड़ी के क्षेत्र में सोवियत खतरे का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त अमेरिकी शक्ति मौजूद है। कार्टर ने कहा कि अमेरिका पूरी तरह तटस्थता की नीति पर कायम है और अन्य देशों को भी यही नीति अपनानी चाहिए। अमेरिकी अधिकारियों ने यह भी कहा कि अमेरिका मध्यस्थता भी करने को तैयार है और उसे ईरान के इस आरोप की चिन्ता नहीं कि हमले के लिए उसी ने ईराक को भड़काया है।

बावजूद शान्ति और युद्ध-विराम की अपीलों के ईरान और ईराक के बीच लड़ाई जारी है, दोनों देशों ने एक दूसरे को भारी क्षति पहुँचाई है। अक्तूबर, 1980 के प्रारम्भ में ईराक ने यह संकेत दिया कि चूँकि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है अतः अपनी ओर से एकतरफा युद्ध-विराम कर देगा और यदि ईरानी आक्रमण जारी रहा तो आत्म-रक्षार्थ युद्ध करेगा। इसके जवाब में 4 अक्तूबर, 1980 को ईरान के धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी ने कहा कि "ईरान बगदाद सरकार के अपराधों का बदला लेकर रहेगा और जब तक हमारी अन्तिम जीत नहीं हो जाती तब तक हम ईराक के साथ युद्ध-विराम नहीं कर सकते।" तथापि यह आशा की गई कि शीघ्र ही ईरान और ईराक के बीच युद्ध-विराम होकर शान्ति-वार्ता शुरू हो जाएगी। 1982 के प्रारम्भ तक यद्यपि दोनों राष्ट्र युद्धरत है, तथापि छुट-पुट सैनिक झड़पों को छोड़कर युद्ध लगभग शान्त है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तेजी से युद्ध पुनः कब भड़क उठे।

जब भी युद्ध होता है लोग प्रश्न करते हैं कि संयुक्त राष्ट्र इसे क्यों नहीं रुकवाता? इस प्रश्न के उत्तर में अब तक के अनुभव के अनुसार संयुक्त राष्ट्र से अधिक उम्मीद नहीं की जा सकती। संयुक्त राष्ट्र ने अधिकांश सदस्य देश ईरान-ईराक युद्ध को ही नहीं बल्कि हर युद्ध को विश्व शान्ति के लिए खतरा मानते हैं लेकिन इस युद्ध में दो देश सबसे ज्यादा अपना ही नुकसान कर रहे हैं। बड़े देश स्थिति को और भी खतरनाक बना रहे हैं क्योंकि वे अपने आपको कहीं न कहीं इसमें उलझाये हुए हैं पर अभी तक बड़े देशों के सीधे युद्ध में शामिल होने का कोई संकेत नहीं मिला है।

उल्लेखनीय है कि ईरान इस मौके पर अपने को बहुत कुछ अकेला पा रहा है। उसके न अरब देशों में मित्र है और न पश्चिमी देशों है। सोवियत संघ से मदद की भी वह आशा नहीं कर सकता। आन्तरिक दृष्टि से वह कमजोर है, क्योंकि इस्लामी क्रान्ति के बाद से उसकी सेना तथा वायुसेना का संगठन गड़बड़ा गया है। उत्तर में कुर्द कबायलियों का विद्रोह पूरी तरह नहीं दबा है, क्योंकि वे अरब मूल के होने के कारण अपने को ईराक के अधिक निकट समझते हैं।

जहाँ तक भारत का सवाल है, वह पश्चिमी एशिया में संघर्ष नहीं चाहता। उसमें बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप के वह बिल्कुल खिलाफ है। हिन्दमहासागर में बड़ी ताकतों की सैन्य उपस्थिति का वह इसीलिए विरोध कर रहा है। भारत की यह आशंका मात्र कल्पना नहीं है कि बड़ी ताकतें पश्चिमी एशिया के स्थानीय संघर्षों में हस्तक्षेप करने के प्रलोभन से नहीं बच सकेंगी, क्योंकि वे पुन. उस भू-भाग में अपने पैर जमाना चाहती है। खाड़ी में संघर्ष का तो तत्काल असर होगा क्योंकि भारत अपनी आवश्यकता का अधिकांश तेल ईरान और ईराक से आयात करता है और अब पश्चिमी एशियायी देशों से हमारे घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध है। आशा करनी चाहिए कि दोनों देश अपने विवाद को युद्ध द्वारा हल करने से बचेंगे तथा शान्ति को खतरे में नहीं डालेंगे।

ईराक-ईरान संघर्ष का इतिहास

ईरान और ईराक का वर्तमान संघर्ष वास्तव में उसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिणाम है कि अरब देशों में दबदबा किसका रहे? उचित होगा कि हम दोनों देशों के संघर्ष के इतिहास की रूपरेखा भी जान लें—

1968 में बाथ पार्टी के ईराक में सत्ता में आने के बाद दोनों देशों के बीच तनाव और भी बढ गए थे, लेकिन मार्च 1975 में शाह ईरान और ईराक में तत्कालीन उप-राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने समझौता करने के बाद एक दूसरे को गले में लगाया। इस समझौते में दोनों देशों के बीच सीमा सम्बन्धी समस्याओं पर सहमति हो गयी थी लेकिन कुछ मामले जहाँ के तहाँ छूट गए थे। इनमें से एक तो कुर्द समस्या थी और दूसरी शत-अल-अरब की समस्या प्रमुख थी। इस जल-मार्ग से जहाजों का आने-जाने का अधिकार दोनों ही देशों के लिए सुरक्षित माना गया था। इसके अलावा फारस की खाड़ी की अन्य समस्याओं पर भी उस समय में कोई सहमति नहीं हुई थी। 9 महीने बाद 120 मील लम्बे जलमार्ग में 50 मील के रास्ते का उपयोग करने पर फिर झगड़ा पैदा हो गया। ईराक इस बारे में 1937 की सन्धि रद्द करने पर जोर दे रहा था। इसके बाद तो समय-समय पर ईरान और ईराक के बीच सीमा सम्बन्धी झगड़े होते ही रहे हैं। 1971 में तीन खाड़ी द्वीपों पर कब्जा कर लिया था, जिसके बाद ईराक ने उससे राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिए थे। 1973 के अक्टूबर युद्ध में शाह ईरान ने ईराक को सीमा सम्बन्धी सुरक्षा के बारे में आश्वासन दिए थे। शायद ईरान के शाह चाहते थे कि सीरिया की सहायता के लिए ईराक कम से कम अपने

दो डिवीजन भेजे। इन आश्वासनों के बाद ईराक ने ईरान से फिर राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दिए।

जब-जब ईरान और ईरान के बीच सीमा-विवाद उठते रहे, अल्जीरिया उन्हें तय कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है, जबकि मिस्र और जुर्दान, ईरान और ईराक के बीच झगड़ा तय कराने में कभी सफल नहीं हो सके। ईरान और ईराक के बीच एक-दूसरे से मिलती हुई सीमा काफी लम्बी है। 1913 के एक समझौते में दोनों देशों की आपसी सुरक्षा के लिए सीमाओं पर निशान भी लगाए गए थे लेकिन धीरे-धीरे ये निशान मिटने गए और सीमा स्पष्ट नहीं रही, फिर कुर्दों की समस्या उठ खड़ी हुई। पिछली सदियों से इस समस्या ने और भी गम्भीर रूप धारण कर लिया। ईराक के उत्तर में पहाड़ों में कुर्दों से लड़ाई किसी न किसी रूप में चलती रहती है। बाथ पार्टी की सरकार ने 1977 में कुर्दों से एक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत उन्हें चार वर्ष में स्वशासन देने का आश्वासन दिया गया। इस प्रश्न पर बातचीत काफी लम्बी चली और पिछले वर्ष मार्च में यह बातचीत टूट गयी। ईराक सरकार ने कुर्दों को उनकी संख्या के हिसाब से कुछ क्षेत्रों में स्वशासन देने की बात कही, लेकिन यह बात कुर्दों ने स्वीकार नहीं की। ईरान के शाह ने कुर्द विद्रोहियों को समर्थन भी दिया। शाह के शासनकाल में उनकी सरकार पर ईराक ने आरोप लगाया था कि लगभग एक लाख कुर्द ईरान चले गए हैं। ईरान उनकी सहायता भी कर रहा है और उन्हें सैनिक प्रशिक्षण भी दे रहा है। अल्जीरिया ने दोनों देशों के बीच जो समझौता कराया था उसके अधीन ईरान को कुर्दों को समर्थन देना बन्द करना था लेकिन ईरान ने पूरी तरह ऐसा न करके विवाद की गुंजाइश बनी रहने दी थी। शाह के जमाने से ईरान ईराक की सत्ताधारी बाथ पार्टी को उग्रवादी कम्युनिस्ट संस्था मानता था। वह समझता था कि खाड़ी के क्षेत्र का केवल दो प्रतिशत ही ईराक के पास है इसलिए उसे शत-अल-अरब खाड़ी के जलमार्ग के प्रयोग का अधिकारन ही है। उधर ईराक ओमान में ईरान के हस्तक्षेप को अपने लिए बहुत ही खतरनाक मानता है लेकिन कुवैत, सऊदी अरब, संयुक्त अमीरात और लीबिया जैसे अन्य ईरान विरोधी अरब देश इस मामले में ईराक का साथ नहीं देते। दूसरी ओर लीबिया रूस के साथ ईराक के मैत्री सम्बन्धों को अनुचित मानता था। कुवैत का भी विचार है कि सोवियत संघ के साथ मित्रता के कारण ईराक अरब देशों के लिए खतरा है और 1961 में तो संयुक्त अरब अमीरात पर ईराक ने हमला करने की भी कोशिश की थी।

1975 में एक बार ईरान-ईराक का सीमा-विवाद अन्तिम रूप से तय हो गया था। उस समय समझा गया था कि अरब ईरान इराक के बीच सीमा सम्बन्धी कोई विवाद नहीं रहा है। दोनों देशों के सीमा विवाद पर समझौता होने की घोषणा के बाद एक समिति गठित करने का भी एलान हुआ था, जो सीमा को अन्तिम रूप से तय कर देगी लेकिन इस समिति

के बारे में ईरान और ईराक के बीच वर्तमान झगड़ा होने तक कोई प्रगति नहीं हुई थी। बताया जाता है कि 1913 के समझौते के आधार पर ही यह समझौता भी हुआ था।

1979 में ईराक के सत्ताधारी दल बाथ पार्टी की ओर से ईरान पर खाड़ी क्षेत्र में अधिकार करने का आरोप लगाया गया था। इससे दोनों देशों के बीच फिर तनाव उत्पन्न हो गया। ईरान की ओर से इस तरह के आरोपों का खण्डन किया गया। साथ ही ईराक को चेतावनी भी दी थी कि यदि वह इस तरह आरोप लगाता रहा तो दोनों देशों के बीच शान्ति और मित्रता बनाए रखना मुश्किल होगा। उस समय ईरान की ओर से जोर देकर कहा गया कि अगर ईराक द्वारा हमला किया गया तो ईरान अपनी रक्षा करने में समर्थ है। साथ ही साथ ईरान ने ईराक पर यह आरोप भी लगाया था कि ईराक की सीमा से मिलने वाले खजूरिस्तान में अरब विद्रोहियों को ईराक सहायता दे रहा है। इस समय ईराकी विमानों द्वारा कुछ ईरानी गाँवों पर हमला भी करने के आरोप लगाए गए थे। जाहिर है कि ईराक ने इन सारे आरोपों का खण्डन किया था। नवम्बर 1979 से ही ईरान और ईराक के बीच तनाव शुरू हो गया था। उस समय भी दोनों देशों ने एक दूसरे पर हमले करने के आरोप लगाए थे। वर्तमान युद्ध से पहले पिछले वर्ष ईरान और ईराक की सीमाओं पर अनेक झड़पें होती रहीं। इसी वर्ष अप्रैल में ईरान विदेश मन्त्री श्री कुतुब जादे ने ईराक को अमेरिका का पिट्ठू बताया था और साथ ही यह घोषणा भी कर दी थी कि हमने ईराक की बाथ पार्टी की सरकार को उखाड़ फेंकने का फैसला कर लिया है। ईरान का कहना है कि तुम्बा और अबू-मूसा के छोटे और बड़े द्वीप ईरान के अभिन्न अंग हैं, जिन पर ईराक ने 1971 में कब्जा कर लिया था। इससे पूर्व ये अरब अमीरात के कब्जे में थे इराक इन्हें हथियाना चाहता है।

ईरान और ईराक की शत्रुता के अनेक कारण हैं, जिनमें मुख्य कुर्द कबीला है। इनकी बड़ी संख्या ईरान जा बसी है और वे अपने लिए एक अलग प्रान्त की माँग कर रहे हैं। वे तुर्की में भी हैं, जहाँ से ये कुर्दिस्तान माँग रहे हैं। इन्हीं को लेकर ईराक के तुर्की से तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। वैसे दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से ही ईरान और ईराक के बीच कटुता पैदा हुई है। यह कटुता कुछ समय के लिए ही कम होती है औरफिर भड़क उठती है। ईरान के अयातुल्ला खुमैनी की सरकार आने से धार्मिक भावनाएँ जिया मुसलमानों में और भी तीव्र हो उठी हैं। ईराक में से शासक सुन्नी मुसलमान अल्पमत में हैं और शियाओं का उनके विरुद्ध होना स्वाभाविक ही है।



25 पूर्वी यूरोप तथा हिन्द महासागर

(Eastern Europe and Indian Ocean)

पूर्वी यूरोप मुख्यतः साम्यवादी प्रभाव मे है। पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बल्गेरिया, रूमानिया यूगोस्लाविया आदि पूर्वी यूरोपीय राज्यो में साम्यवादी सरकारें हैं और यूगोस्लाविया को छोड़कर शेष लगभग सभी साम्यवादी राज्य मास्को के पृष्ठपोषक माने जाते हैं। पूर्वी जर्मनी भी पूर्णतः रूसी प्रभाव मे है। इनमे से अनेक साम्यवादी देशों मे रूसी शिकजे से मुक्ति पाने के लिए समय-समय पर विद्रोह हुए किन्तु रूसी शक्ति और प्रभाव की सहायता से ये विद्रोह कुचल दिये गए। साम्यवादी जगत मे पूर्वी यूरोप वस्तुत- एक समस्या-क्षेत्र बन गया है क्योकि जहाँ पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राज्यो मे उदारवाद पनप रहा है वहाँ सोवियत रूस इस उदारवाद को न पनपने देने के लिए कटिबद्ध है क्योकि उसे आशका है कि तब ये राज्य रूसी प्रभाव क्षेत्र मे रहेगे, पश्चिम की ओर भुक जाएँगे और इस प्रकार शक्ति सन्तुलन पूरी तरह पश्चिम के पक्ष मे हो जाएगा। हिन्द महासागर पिछले कुछ वर्षो से अशान्त हो गया है क्योकि इस क्षेत्र मे महाशक्तियाँ अपने प्रभाव के विस्तार के लिए तीव्र प्रतिस्पर्द्धा कर रही है। हिन्द महासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाए रखने के सभी प्रयास अभी तक असफल सिद्ध हुए हैं। अमेरिका और सोवियत सघ दोनो ही हिन्द महासागर मे अपनी नौसैनिक तथा वैज्ञानिक गतिविधियाँ बढ़ा रहे हैं और चीन भी इस क्षेत्र मे अधिकाधिक सक्रिय होता जा रहा है।

पूर्वी यूरोप
(Eastern Europe)

सोवियत सघ के सैनिक और राजनीतिक प्रयत्नो से पूर्वी यूरोप अधिकांशत 'लाल' है। द्वितीय महायुद्ध में नाज़ी आक्रमण से बुरी तरह विध्वस्त होने के कारण रूस अपने पश्चिमी सीमान्त को इस तरह सुदृढ बनाना चाहता था कि भविष्य मे ऐसी घटना की पुनरावृत्ति न हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि वह पूर्वी यूरोप मे अधिकाधिक प्रदेश प्राप्त करे तथा सीमावर्ती राज्यो मे अपने अनुकूल

साम्यवादी सरकारें स्थापित करे। रूस की लाल सेना ने इसमें बड़ा सहयोग दिया। अस्थायी रूप से लाल सेना ने युद्धकाल में मध्य और पूर्वी यूरोप के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और फिर शनैः-शनैः इन सीमाओं को स्थायी बना दिया गया। अपनी सीमा पर रूस ने सात पृष्ठपोषक राज्य स्थापित किए—पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बल्गेरिया और रूमानिया—पूर्वी जर्मनी उसके संरक्षण में था और युगोस्लाविया भी कुछ वर्षों तक सोवियत गुट में रहा। बाद में टीटो-स्टालिन मतभेद के कारण युगोस्लाविया जून 1948 में सोवियत गुट से अलग हो गया। पूर्वी यूरोप को लाल बना देने से सोवियत संघ को न केवल पश्चिमी सीमा की सुरक्षा प्राप्त हुई है अपितु इन देशों की आर्थिक साधन-सम्पत्ति भी मिली है। जर्मनी के एकीकरण के पश्चिमी प्रस्ताव रूस को इसलिए स्वीकार नहीं हैं कि उनसे मध्य यूरोप में उसे लगभग दो सौ मील पीछे पूर्व की ओर हटना पड़ेगा।

पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार कैसे और कहाँ तक हुआ इसका विवेचन हम 'सोवियत संघ का उदय और उसकी विदेश-नीति' नामक अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ हम मुख्यतः यह देखेंगे कि समय-समय पर पूर्वी यूरोप के कुछ साम्यवादी देशों में रूसी शिकंजे के विरुद्ध विद्रोह होते रहे हैं जिन्हें रूसी सहयोग से सम्बन्धित राज्य सरकारें कुचलती रही हैं। लेकिन यह प्रवृत्ति इस ओर संकेत करती है कि पूर्वी यूरोप 'स्वतन्त्रता की साँस' लेना चाहता है—सम्भवतः युगोस्लाविया की भाँति साम्यवादी बना रहकर भी उन्मुक्त-अवस्था का उपभोग करना चाहता है। 1956 में हंगरी में विद्रोह हुआ जिसे सोवियत संघ ने सीधा हस्तक्षेप कर कुचल दिया। 1968 में सोवियत संघ तथा वारसा सन्धि के अन्य साम्यवादी देशों ने चैकोस्लोवाकिया में सैनिक कार्यवाही कर हंगरी की घटनाओं को एक बार फिर ताजा कर दिया। चैकोस्लोवाकिया में उदारवादी लहर को सोवियत संघ बर्दाश्त नहीं कर सका तथापि सोवियत नेताओं ने मूल कारण यही घोषित किया कि चैकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शासन को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से रक्षा करने के लिए सैनिक हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया था। सुरक्षा-परिषद् में एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें रूसी कार्यवाही को एक स्वतन्त्र राष्ट्र पर आक्रमण की संज्ञा देकर उसकी निन्दा करते हुए यह माँग की गई कि सोवियत संघ और वारसा राष्ट्रों की सेनाएँ चैकोस्लोवाकिया से लौट जाएँ। किन्तु यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ और स्वयं चैकोस्लोवाकिया की रूस समर्थक सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। युगोस्लाविया कुछ ही वर्षों तक सोवियत रूस के प्रभाव में रहा और जून 1949 में ही मार्शल टीटो के नेतृत्व में स्टालिन की निरंकुशता से मुक्त हो गया। पश्चिम देशों ने टीटो के इस विद्रोह का स्वागत किया तथापि युगोस्लाविया पश्चिम के प्रभाव से भी उसी तरह मुक्त रहा जिस तरह वह सोवियत प्रभाव से रहा। सोवियत संघ से पृथक् रहते हुए और पश्चिमी देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करते हुए भी मार्शल टीटो ने यह सदैव ध्यान रखा कि उनका राष्ट्र पूर्णतः एक स्वतन्त्र और सम्प्रभु राष्ट्र रहे जो सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से मुक्त अवस्था का उपभोग करे।

स्टालिन की मृत्यु के बाद यूगोस्लाविया के प्रति रूसी क्षोभ समय के साथ कम होता गया और दोनों ही राष्ट्र अपने पारस्परिक सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने को प्रेरित हुए। एक लम्बे अन्तराल के बाद यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो अगस्त 1977 में सोवियत संघ की राजकीय यात्रा पर गए और इस प्रकार दोनों देशों के बीच पुनः सद्भाव शुरू हुआ। सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने सितम्बर 1977 में यूगोस्लाविया की यात्रा की और बेलग्रेड में इस आश्वासन को दोहराया कि सोवियत संघ यूगोस्लाविया की स्वाधीनता का आदर करता रहेगा और यात्रा के बाद जारी की गई विज्ञप्ति मे दोनो देशों के बीच 'स्वैच्छिक सहयोग' की बात अंकित की गई। सोवियत संघ ने एक तरह से समाजवाद का अपना मार्ग अपने आप तय करने के यूगोस्लाविया के आग्रह को भी मान्यता दे दी। वास्तव में पूर्वी यूरोप में मार्शल टीटो ही एक ऐसे नेता थे जो विश्व मे साम्यवादी आन्दोलन को विघटन से बचाने के लिए चीनी और सोवियत नेताओं से गम्भीर विचार-विमर्श के पक्ष में थे। उनमे क्षमता भी थी कि वे विश्व-साम्यवादी-आन्दोलन को नई दिशा और नई शक्ति दे सकें। 4 मई, 1980 को टीटो की मृत्यु हो गई तथापि यूगोस्लाविया का नया नेतृत्व टीटोवादी नीति पर चलते हुए सोवियत संघ और पश्चिम दोनों से मैत्री सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखने में प्रयत्नशील है।

पूर्वी यूरोप के एक अन्य साम्यवादी राज्य अल्बानिया का राजनीतिक जीवन विचित्र-सा रहा है। बाहरी दुनिया अब तक केवल इतना ही जानती है कि 8 नवम्बर, 1941 को अल्बानियाई कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई थी, 29 नवम्बर, 1944 को फासीवाद के कब्जे से मुक्ति के बाद अल्बानिया मे कम्युनिस्टों ने ही पहली सरकार बनाई और आज के पार्टी नेता एनवर होजा शुरू से ही अल्बानिया के भाग्यविधाता रहे हैं। 1944 से 1948 तक अल्बानिया यूगोस्लाविया का यार रहा, 1948 से 1961 तक अल्बानिया ने रूस की शागिर्दी की और 1961 से 1978 से चीन का सत्संग किया। तत्पश्चात् कुछ समय तक अनिश्चय की ढुलमुल स्थिति के बाद अल्बानिया मार्च 1982 के अन्त तक बल्कान पहाड़ियों मे एक प्रकार से वानप्रस्थ व्यतीत कर रहा है। अल्बानिया का यह राजनीतिज्ञ एकान्तवास कुछ विचित्र-सा है। 1981 में यह सुनने में आया था कि ईरान के आयातुल्ला खुमैनी की खूनी क्रान्ति से अत्यधिक प्रभावित मालूम पडता है और ईरान से सम्बन्ध बनाने की कोशिश कर रहा है। बेतुकी होते हुए भी यह विशेष आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अल्बानिया भी मूलतः एक मुस्लिम देश है और पार्टी नेता एनवर होजा ने भी अपनी जनता का वैसे ही पानी की तरह खून बहाया है जैसे खुमैनी ने, और दोनों शेष दुनिया द्वारा एक ही समान निन्दित एवं उपेक्षित नेता हैं।[1] 1981 के अन्तिम चरण मे तिराना मे अल्बानियाई कम्युनिस्ट

1 दिनमान 7–13 फरवरी, 1982, पृष्ठ 38

पार्टी का 8वाँ पार्टी अधिवेशन हुआ था। एनवर होजा ने इस अधिवेशन के दौरान पार्टी के पोलितब्यूरो में कई परिवर्तन किए और कई नए लोगों को कम्युनिस्ट सत्ता के इस सर्वोच्च निकाय में बैठाया। इस अधिवेशन में एक बार फिर उन्होंने रूस, चीन और यूगोस्लाविया को एक ही पाँत में बैठा कर 'संशोधनवादी' और 'पथभ्रष्ट' घोषित किया, यूरोकम्युनिस्टों को 'साम्राज्यवाद के भाड़े के टट्टू' करार दिया और अपने मुँह मियां मिट्ठू बनते हुए कहा कि सच्चा मार्क्सवाद-लेनिनवाद केवल अल्बानिया में ही रह गया है।

पोलैण्ड (पोल्स्का) को पूरी तरह अपने प्रभाव में बनाए रखने के लिए रूस निरन्तर चौकन्ना रहता है क्योंकि यह सीमावर्ती राज्य रूस की सुरक्षा के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों की तरह पोलैण्ड के साथ भी रूस की सैनिक सन्धि है और पोलैण्ड-वारसा पैक्ट का शक्तिशाली सदस्य है। पोलैण्ड के मजदूर (पोल्स्की मजदूर) काफी अरसे से फौजी शासन का विरोध कर रहे हैं और रूस को यह भय सता रहा है कि मजदूरों का विद्रोह कहीं पोलैण्ड में रूस समर्थक सरकार को उखाड़ न दे। दिसम्बर–जनवरी, 1982 में दिनमान की टिप्पणी थी—"रूस की सम्वाद एजेन्सी 'तास' से मिलने वाली खबरों तथा पुष्ट सूत्रों से प्राप्त जानकारी के अनुसार हड़तालें जारी हैं, जहाँ-तहाँ मजदूर मारे और पकड़े गए हैं तथा दमनचक्र में सोवियत संघ की शिकायत बढ़ती जा रही है।" पोलैण्ड की सॉलिडारनोश्च नामक शक्तिशाली मजदूर यूनियन के शीर्षस्थ नेता सम्भवतः नजरबन्द हैं। यद्यपि पोलैण्ड के देशव्यापी आन्तरिक संकट का भरपूर राजनीतिक लाभ अमेरिका और उसके साथी राष्ट्र उठाने को उत्सुक हैं तथापि पूर्वी यूरोप रूस का प्रभावक्षेत्र है अत: कोई भी विदेशी राष्ट्र पोलैण्ड को रूस के चंगुल से छुड़ाने की कोशिश नहीं करेगा। यह सम्भव है कि अमेरिका सोवियत संघ पर आर्थिक दबाव डाले—अनाज के निर्यात और व्यापारिक लेन-देन पर अंकुश लगाकर तनाव पैदा करे। वैसे 24 दिसम्बर, 1981 को जब राष्ट्रपति रीगन ने पोल्स्का–अमेरिका व्यापार पर प्रतिबन्धों का एलान किया तो सोवियत संघ ने बाकायदा आरोप लगाया कि यह पोल्स्का में हस्तक्षेप है। जनवरी 1982 के दिनमान की टिप्पणी थी . पोल्स्का में कम्युनिस्ट पार्टी विरोधी मजदूर आन्दोलन ने जितनी तकलीफ सोवियत संघ को हो रही थी उससे अधिक खुशी अमेरिका को थी—स्वाधीनता-प्रेमी होने के नाते उतनी नहीं जितनी इस नाते कि अन्तर्विरोध एक विस्फोटक स्थिति में पहुँच कर रूस को चुनौती दे रहे हैं। पोल्स्का लोगों के आन्दोलन से सहानुभूति दिखाकर अमेरिका को शीतयुद्ध तेज करने में मदद मिल रही थी—और अब फौजी हस्तक्षेप के बाद और भी मिल रही है। इस घटना से यूरोप और अमेरिका के अन्तर्विरोध भी सामने आ सकते हैं। शक्ति-सन्तुलन की राजनीति में विश्वास करने वाली महती शक्तियाँ एक-दूसरे के हितों और प्रभावक्षेत्र को बखूबी पहचानती हैं और उसमें दखल देने का दुस्साहस नहीं दिखातीं। अमेरिका सरकार ने खाद्यान्न सहायता पर प्रतिबन्ध लगाकर एक औपचारिकता निभायी है।

लेकिन यूरोपीय समुदाय के पड़ौसी देशों का पोलस्की लोगों के प्रति दूसरा रुख है। उन्होंने पोलस्की जनों के समर्थन में खाद्य पदार्थ भेजते रहने की इच्छा व्यक्त की है।

जब अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों ने साम्यवाद के विरोध में नाटो सैनिक संगठन की स्थापना की तो रूस से पीछे रहने की आशा नहीं की जा सकती थी। दिसम्बर, 1954 में आठ यूरोपीय देशों अर्थात् अल्बानिया, बल्गेरिया, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, रूमानिया, सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन के पर्यवेक्षकों का सम्मेलन पेरिस शान्ति सन्धियों के प्रति अपने रवैये पर विचार करने के लिए हुआ। सम्मेलन ने सन्धियों के पुष्टिकरण का विरोध करते हुए घोषणा के बावजूद जब पेरिस सन्धियों की पुष्टि की गई तो आठों देशों ने वारसा में 11 मई से 14 मई, 1954 तक चार दिन की अपनी बैठक में लम्बे विचार-विमर्श के बाद मैत्री, सहयोग तथा पारस्परिक सहायता की सन्धि की जो वारसा पैक्ट 1955 के नाम से विख्यात है।

यह सन्धि जिसे वारसा सन्धि या पूर्वी यूरोपियन सन्धि संगठन के नाम से सम्बोधित किया जाता है, 20 वर्ष के लिए की गई। इसका उद्देश्य पारस्परिक शक्ति के प्रयोग से बचे रहना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों से निपटारा करना है, परन्तु साथ ही इसमें सदस्य राष्ट्रों को बाह्य आक्रमण के समय सामूहिक सुरक्षा की गारन्टी दी गई है। सन्धि की प्रस्तावना एवं कुछ प्रमुख धाराएँ इसके प्रधान स्वरूप व इसकी शक्ति को व्यक्त करती हैं। सन्धि की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा पद्धति स्थापित करने पर बल देते हुए कहा गया है कि पश्चिमी यूरोप के संघ एवं पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें तथा यूरोप में शान्ति कायम रखें। इस दृष्टि में इसमें आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों में घनिष्ठ सहयोग का वर्णन है। सन्धि की धारा 1 में कहा गया है कि इसके सदस्य शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहने का प्रयत्न करेंगे और यह घोषणा भी करते हैं कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण उपायों से करेंगे, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि हंगरी के मामले में 1956 के इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गई। धारा 3 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे। धारा 4 के अनुसार "यदि यूरोप में सन्धि करने वाले एक अथवा अनेक राज्यों के विरुद्ध कोई सैनिक आक्रमण एक या अनेक राज्यों के द्वारा हो तो सन्धि करने वाला प्रत्येक सदस्य राज्य से आक्रमणकारी राज्य अथवा राज्यों के लिए शीघ्र ही स्वयं ही सहायता करेगा अथवा सदस्य राज्यों के समझौते से उन सभी प्रकार के साधनों को जो आवश्यक हों और आवश्यकता के समय वह सैनिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए तैयार रहेगा।" धारा 5 के अनुसार सन्धिकर्त्ता शक्तियों ने एक सामूहिक शक्ति को निर्माण करने का, जिसका प्रयोग सामूहिक समझौते के अनुसार किया जाएगा, निश्चय किया। इस प्रकार धारा 5 में एक संयुक्त सैनिक कमान (United Military Command)

बनाई गई है जिसके अधीन सब देशों की सेनाएँ होंगी और जिसका एक सर्वोच्च सेनापति होगा जो महामन्त्री तथा सोवियत जनरल स्टॉफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का सगठन और विभिन्न प्रदेशों मे इसका वितरण करेगा। यूरोप मे इसकी उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी यूरोप की तीन कमानों और सुदूरपूर्व की एक कमान रखी गई है। धारा से 6 8 मे शक्ति की 'राजनीतिक परामर्शदात्री समिति' (Political Consultative Committee) द्वारा सब सामान्य प्रश्नो पर विचार करने की सहायक सस्थाएँ स्थापित करने की और वर्ष में दो बार बैठक करने की व्यवस्था है। इस समिति के महामन्त्री का कार्यालय मास्को में है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन करने तथा विदेश नीतियों के बारे आवश्यक सिफारिशें करने के लिए 1956 में एक स्थायी आयोग भी कायम किया गया था। वारसा सन्धि ने अपनी उदारता व्यक्त करने के लिए धारा 9 में यह व्यवस्था दी है कि यह सन्धि सामाजिक अथवा राज्य सगठन के प्रकार की ओर ध्यान न देकर राज्यों के लिए भी खुली हुई है जो इस सन्धि की शर्तों के अनुसार अन्य राष्ट्रों की शान्ति और सुरक्षा के लिए तैयार है। इस प्रकार वारसा सन्धि नाटो का पूरा एव सशक्त जवाब है। इस सम्बन्ध मे एक विशेष बात यह है कि सन्धि करने वाले सभी राज्य केवल रूस के अनुयायी मात्र हैं। यूगोस्लाविया ने साम्यवादी होते हुए भी इस सन्धि में भाग नही लिया और इससे पृथक् रह कर ही अपनी आर्थिक स्थिति को उच्चतर बनाया।

अन्त में यह बात और उल्लेखनीय है कि वारसा सन्धि के अतिरिक्त भी समस्त साम्यवादी देशों—यूगोस्लाविया, पौलैण्ड, रूमानिया, चैकोस्लोवाकिया, हगरी, बलगेरिया और फिनलैण्ड ने पारस्परिक सहायता की 20 और सन्धियाँ कर रखी हैं।

हिन्द महासागर
(Indian Ocean)

भूगोल और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

हिन्द महासागर तथा उसके तटवर्ती क्षेत्र भूराजनीतिक दृष्टि से सदैव से महत्त्वपूर्ण रहे हैं, परन्तु गत कुछ समय से इसका महत्त्व विशेष उल्लेखनीय हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक प्रतिबद्धता का यह एक विवादग्रस्त क्षेत्र बन गया है तथा शान्ति भग होने का डर अत्यधिक बढ़ता जा रहा है। हिन्द-महासागर के लिए राजनीतिक होड़ और भी तेज हो गई है क्योंकि अमेरिका, रूस तथा चीन इस पर प्रभुत्व स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा में हैं। दूसरी ओर हिन्द-महासागरीय देशो की यह इच्छा है कि एक शान्तिमय क्षेत्र बना रहे और इस पर वास्तविक अधिकार अफ्रीका तथा एशिया के तटवर्ती देशों का होना चाहिए, क्योंकि सुरक्षा व्यवस्था में हिन्द-महासागर अपना विशेष स्थान रखता है। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि अब यह महासागर शीतयुद्ध का प्रमुख क्षेत्र हो गया है।

हिन्द-महासागर पृथ्वी पर एक प्रमुख महासागर है जिसका क्षेत्रफल लगभग 7·3 करोड़ वर्ग किलोमीटर है जो एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के महाद्वीपों से घिरा हुआ है तथा दक्षिण में इसकी सीमा क्षेत्र अंटार्कटिक महासागर बनाता है।

दक्षिणी सीमा निर्धारित करना समस्यापूर्ण है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि हिन्द-महासागर की दक्षिणी सीमा लगभग 450 दक्षिणी अक्षांश के नीचे तक है या पश्चिमी वायु धारा (वैस्ट विंड ड्रिफ्ट) इसको अटार्कटिक महासागर से अलग करती है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई लगभग 10,400 किलोमीटर है तथा पूर्व से पश्चिम तक इसकी चौड़ाई 9600 किलोमीटर है। हिन्द-महासागर पृथ्वी के सम्पूर्ण जल-मण्डल का 19 प्रतिशत भाग बनाता है।

हिन्द-महासागरीय तटवर्तीय देशों की संख्या लगभग 40 है। ये देश अफ्रीका, एशिया तथा आस्ट्रेलिया के महाद्वीपों में स्थित हैं। तटवर्ती क्षेत्र का विस्तार लगभग 22 करोड़ वर्ग किलोमीटर है जो कि संसार के थलमण्डल का 15 प्रतिशत भाग बनाता है। हिन्द-महासागरीय क्षेत्र की सम्पूर्ण जनसंख्या (1971) लगभग 106 करोड़ है जो कि संसार की जनसंख्या का 30 प्रतिशत है। इसमें अकेले एशियाई क्षेत्र की जनसंख्या लगभग 93 करोड़ है। भारत, बंगलादेश, इण्डोनेशिया जनसंख्या की दृष्टि से प्रमुख है। अफ्रीकी क्षेत्र की जनसंख्या लगभग 12 करोड़ है और उसमें दक्षिणी अफ्रीका, इथिओपिया और कजानिया जनसंख्या की दृष्टि से प्रमुख हैं।

हिन्द-महासागर को भौगोलिक दृष्टि से दो प्रमुख क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है—पश्चिमी क्षेत्र तथा पूर्वी क्षेत्र जिनका सीमा-विभाजन मध्य हिन्द-महासागरीय जलमग्न श्रेणी के आधार पर किया जा सकता है। यह जलमग्न श्रेणी उत्तर से लक्षदीव, मालदीव से आरम्भ होकर सुदूर दक्षिण में 77° और 80° पूर्वी देशान्तरों के मध्य में जाती हुई समाप्त होती है। पश्चिमी क्षेत्र में ओमन बेसिन तथा सिन्धु जलमग्न शंकु क्षेत्र प्राकृतिक भण्डार के प्रमुख क्षेत्र है। पूर्वी क्षेत्र में गंगा जलमग्न शंकु क्षेत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। अफ्रीका के निकटवर्ती समुद्री क्षेत्रों में मेडागास्कर जलमग्न क्षेत्र प्रमुख है और पूर्व में अंडमान निकोबार जलमग्न क्षेत्र विशेष हैं।

जलमग्न श्रेणियों की स्थिति और फैलाव के कारण हिन्द-महासागर में अनेक द्वीप है जो कि राजनीतिक एवं नौ-सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये द्वीप इतिहास में विशेष रूप से 17वीं शताब्दी से प्रमुख रहे है। इन्हीं के आधार पर यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों ने अफ्रीका तथा एशिया के देशों पर आतंक तथा निगरानी रखी थी। हिन्द-महासागर के प्रमुख द्वीपों में ये विशेष उल्लेखनीय है—सकोतरा, मालदीव, लक्षदीव, मारिशस, मेडागास्कर, ब्रितानी हिन्द-महासागरीय क्षेत्र के द्वीप अलदाबा, देस्रोचस, फार्कुहार, डियागो गार्सिया तथा रियूनियन आदि द्वीप पश्चिमी क्षेत्र में और पूर्वी क्षेत्र में अंडमान, निकोबार, कोकोस तथा क्रिसमस द्वीप। इन्हीं द्वीपों के आधार पर तथा ब्रितानी साम्राज्य के विस्तार के आधार पर हिन्द-महासागर को ब्रिटेन की झील कहा जाता था, परन्तु 1966 में ब्रिटेन के इस निर्णय के बाद से कि वह स्वेज के पूर्व से अपना सैनिक उत्तरदायित्व समाप्त कर देगा। ये द्वीप अमेरिका के सैनिक अड्डे बनते जा रहे हैं। श्रीलंका हिन्द-महासागर का एक विशेष महत्त्व का द्वीप रहा है और उसमें त्रिंकोमाली का प्राकृतिक बन्दरगाह अद्वितीय है तथा

हिन्द-महासागर की सुरक्षा व्यवस्था और निगरानी के लिए इसको संसार की महाशक्तियाँ प्रमुखता देती हैं और कोशिश मे है कि उसके ऊपर उनका अधिकार रहे।[1]

जलमार्ग एव तटवर्ती देश

हिन्द-महासागर पूर्व मे प्रशान्त महासागर से मलक्का जलडमरूमध्य से जुड़ा हुआ है और पश्चिम मे अन्ध-महासागर से भूमध्यसागर, स्वेज नहर तथा दक्षिणी अफ्रीका के केप मार्ग द्वारा जुडा है। 1967 की अरब-इजरायल लड़ाई के बाद से स्वेज नहर बन्द है, अत केप जलमार्ग का व्यापारिक तथा सैनिक महत्त्व अधिक हो गया है। हिन्द-महासागर की मध्य स्थिति होने के कारण एव तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया से घिरा होने के कारण ये हमेशा जलमार्गों के लिए महत्त्वपूर्ण जलक्षेत्र हैं। प्रधान जलमार्गों मे प्रमुख हैं—केप-कोलम्बो-सिंगापुर मार्ग, कोलम्बो—पर्थ मार्ग, केप अफ्रीका का तटीय जलमार्ग, केप-बम्बई तथा कराची मार्ग और स्वेज-अदन-कोलम्बो-सिंगापुर मार्ग सुदूर पूर्व और पश्चिमी-उत्तरी अमेरिका को हिन्द-महासागर से जोडता है। ये हिन्द-महासागरीय जलमार्ग एशिया के प्रमुख प्राकृतिक साधन भण्डारो के क्षेत्रो को यूरोप तथा अमेरिका के औद्योगिक क्षेत्रों से जोडते हैं और व्यापारिक दृष्टि से प्राथमिक समझे जा सकते है। औद्योगिक उत्पादन के वितरण के लिए ये जलमार्ग प्रमुख आयातकर्त्ता देशो से यूरोप तथा अमेरिका के क्षेत्रो को सम्बन्धित करते हैं, अत. यह अनिवार्य है कि ये जलमार्ग सुरक्षित रहे और इनका व्यापारिक महत्त्व कम न हो पाए। इन अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्गों के अलावा अनेक महत्त्वपूर्ण तटीय जलमार्ग हैं जो हिन्द-महासागरीय देशो मे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित रखते है। यदि हिन्द-महासागरीय देशो का आर्थिक तथा व्यापारिक दृष्टि से एक समूह बनाया जाए तो इन तटीय जलमार्गों का महत्त्व भविष्य मे कई गुना बढ जाएगा। वर्तमान राजनीतिक परिवर्तनो के आधार पर परिपूर्ण सकेत मिलते हैं कि निकट भविष्य मे हिन्द-महासागरीय देशों में आर्थिक तथा व्यापारिक सगठन बनेंगे, क्योंकि इसी मे सामूहिक उत्पादन की आशा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये तटीय जलमार्ग विशेष उल्लेखलीय है।

हिन्द-महासागर के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए यह अनिवार्य है कि उसके तटवर्ती देशो तथा क्षेत्रो पर ध्यान दिया जाए। हिन्द-महासागरीय तटीय क्षेत्रो का अध्ययन अनिवार्य है जिसके आधार पर यह समझा जा सकता है कि हिन्द-महासागर का भविष्य क्या होगा ? तटीय प्रदेश तथा देश भू-राजनीतिक दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। लगभग तमाम तटीय देश दूसरे महायुद्ध के आस-पास यूरोप के देशों के अधिकार में थे और वहाँ के उद्योग धन्धो के लिए प्राकृतिक साधनों के भण्डार और स्तम्भ थे। उन देशो के स्वाधीन हो जाने के बाद भी यूरोप और अमेरिका के देश इनको अपने उद्योग-धन्धो का स्तम्भ बनाए रखना चाहते हैं और चिरकालीन आर्थिक दासता को खत्म नही होने देना चाहते हैं। हिन्द-महासागरी देशों को इन

1 भारत, अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन विद्यालय, नयी दिल्ली के प्रो रामचन्द्र शर्मा के विशेष लेख से।

प्रमुख प्रदेशों में बांटा जा सकता है—अफ्रीका प्रदेश, मध्यपूर्व, हिन्दुस्तान का प्रायद्वीप दक्षिण पूर्वेशिया तथा आस्ट्रेलिया प्रदेश। आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका को छोड़ कर अन्य प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अर्द्धविकसित हैं और प्राकृतिक आर्थिक साधनों के भण्डार हैं। औद्योगिक विकासविहीन होने के कारण इन देशों में रहन-सहन का आर्थिक स्तर शोचनीय है और जनसंख्या का घनत्व और वृद्धि की गति अधिक है। वार्षिक जनसंख्या की वृद्धि गति गम्भीर है। जनसंख्या के घनत्व तथा वार्षिक वृद्धि गति के आधार पर हिन्द-महासागरीय देशों को चार प्रमुख वर्गों में बांटा जा सकता है—(अ) अधिक घनत्व या अधिक वार्षिक वृद्धि के क्षेत्र—भारत, बंगलादेश, इण्डोनेशिया आदि, (ब) कम घनत्व तथा साधारण वार्षिक वृद्धि के क्षेत्र—दक्षिण पश्चिम आस्ट्रेलिया, (स) कम घनत्व तथा अधिक वार्षिक वृद्धि के क्षेत्र—दक्षिण अफ्रीका, केन्या, जांबिया, तजानिया आदि तथा (द) साधारण घनत्व तथा अधिक वार्षिक वृद्धि क्षेत्र—सोमालिया, अरब, ईरान, उगांडा आदि। ये सभी क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से समस्यापूर्ण क्षेत्र है तथा इनका उत्थान तभी हो सकता है जबकि आबादी की वार्षिक वृद्धि गति रोकी जाए और आर्थिक उत्पादन बढ़ाया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय घुसपैठ का क्षेत्र, सैनिक महत्त्व एवं क्षेत्रीय सहयोग

हिन्द महासागर काफी समय तक ब्रिटानी झील बना रहा परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद इसमें राजनीतिक परिवर्तन हुए और स्पर्द्धा तथा वैमनस्य के कारण अन्तर्राष्ट्रीय घुसपैठ का क्षेत्र बन गया। आर्थिक शिथिलता और निम्न स्तर के अलावा यहाँ पर राजनीतिक पिछड़ापन भी है। भारत, दक्षिण अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के अलावा इस क्षेत्र के देशों में राजनीतिक स्थिरता की कमी है। अफ्रीका, दक्षिण पश्चिम और पूर्वेशिया मे सरकारें रोज बदली जाती हैं या खतरे में रहती हैं। पश्चिमी देशों ने पारस्परिक झगडे और वाद-विवाद के ऐसे कई मसले छोड़ दिए हैं कि हिन्द-महासागरीय क्षेत्र मे शान्ति तथा पारस्परिक विकास दुर्लभ दिखाई देता है। महाशक्तियों की कूटनीति इस क्षेत्र में दिन प्रतिदिन उथल-पुथल की सम्भावना बनाए रखती है।

अतः राजनीतिक, व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से हिन्द महासागरीय क्षेत्र एक रुचिपूर्ण क्षेत्र है। केन्द्रस्थ भौगोलिक स्थिति होने के कारण यह सैनिक दृष्टि मे भी महत्त्वपूर्ण है। उत्तर मे रूस और पूर्व मे चीन की स्थिति और ब्रिटेन की अनुपस्थिति में हिन्द महासागर अमेरिका के लिए विशेष सैनिक महत्त्व रखता है। इसके अलावा यदि हिन्द महासागर को भू-राजनीतिक मानचित्र मे देखें तो यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यह सैनिक दृष्टि से वह क्षेत्र है जहाँ रूस और अमेरिका को वस्तुतः तटस्थ होना चाहिए, परन्तु वे पारस्परिक वैमनस्य के आधार पर अपनी शक्ति इस क्षेत्र में बढा रहे हैं। यह शक्तिवर्द्धन दो प्रकार से हो रहा है। पहला, हिन्द महासागरीय क्षेत्र के देशों को अमेरिका कई प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक संगठनो मे बांधे हुए हैं। उदाहरण के लिए सेंटो तथा सीएटो संगठन विशेष उल्लेखनीय हैं जिनके आधार पर अमेरिका मध्यपूर्व या दक्षिण पश्चिम एशिया

के एक विशेष क्षेत्र को अपने कब्जे मे किए हुए है ताकि इस क्षेत्र में रूस का आधिपत्य न होने पाये । सीएटो संगठन दक्षिणपूर्व क्षेत्र के देशो को अमेरिका के साथ बांधे हुए हैं । इस प्रकार के सैनिक संगठनों द्वारा अमेरिका द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से साम्यवाद के विस्तार पर अंकुश लगाए रखने का प्रयास करता रहा है । दूसरा, इन विविध प्रकार के संगठनों के माध्यम से अमेरिका हिन्द महासागर मे खुलने वाले प्रमुख जल द्वारों को अपने नियन्त्रण मे रखना चाहता है । जैसे दक्षिण पूर्वेशिया मे मलक्का जलमार्ग जो कि हिन्द महासागर को प्रशान्त महासागर तथा उसके तटीय देशो से मिलाता है । आर्थिक, व्यापारिक तथा सैनिक दृष्टि से मलक्का मार्ग अद्वितीय है । दक्षिण पश्चिम एशिया मे अमेरिका तथा ब्रिटेन स्वेज तथा अदन जल मार्गों पर नियन्त्रण रखते है । दक्षिण अफ्रीका के बल पर अमेरिका तथा ब्रिटेन केप जलमार्ग पर प्रभुत्व कायम किए हुए है ।

दक्षिण पश्चिम एशिया मे अमेरिका के विरुद्ध रूस का प्रयास काफी शक्तिशाली है । रूस इसके लिए प्रयत्नशील है कि इस विशेष क्षेत्र मे उसका बोलबाला रहे ताकि उसका प्रभुत्व हिन्द महासागर पर दिन प्रतिदिन अधिक मजबूत बने । दक्षिण पूर्वेशिया के क्षेत्रों मे चीन का आतंक अधिक है और आशंका है कि चीन दक्षिण पूर्वेशिया पर सदैव नियन्त्रण बनाए रखने की चेष्टा मे है ।

अफ्रीका के क्षेत्र मे कई ऐसे पहलू है जो अमेरिका, रूस, ब्रिटेन तथा चीन के लिए महत्त्वपूर्ण है । उदाहरण के लिए ये देश प्राकृतिक आर्थिक साधनों के प्रमुख भण्डार हैं । आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए है और पक्के माल की खपत के लिए आशाजनक क्षेत्र हैं अत ये राष्ट्र पारस्परिक जलन, वैमनस्य और आर्थिक लाभ की होड मे हैं ।

महाशक्तियाँ अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए हिन्द महासागर तथा उसके तटीय क्षेत्रो मे सैनिक अड्डे भी बनाए हुए हैं और इस प्रयत्न मे है कि किस प्रकार इस क्षेत्र मे और शक्तिशाली बनें । साइमन्स टाउन सैनिक अड्डे से डियागो गार्सिया तथा क्रिस्मस द्वीप अड्डे तक अमेरिका ब्रिटेन की सहायता से 'रायल रोड' बनाये हुए हैं जो सैनिक दृष्टि से अद्वितीय हैं । इसके अलावा अमेरिका सैंटो तथा सीएटो देशो मे, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया मे हवाई तथा समुद्री सैनिक अड्डे बनाए हुए हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि अमेरिका हिन्द महासागरीय क्षेत्र में अपना सैनिक आधिपत्य रूस आदि की तुलना मे मजबूत रखना चाहता है । दूसरी ओर रूस तथा चीन इस प्रयत्न मे हैं कि किस प्रकार अपनी सैनिक क्षमता हिन्द महासागर मे बढ़ाएँ ।

भारत-रूस और 'व७71) और बंगलादेश का अभ्युदय हिन्द महासागर के लिए एक नए युगरत देशेरम्भ होने के द्योतक हैं जिसके द्वारा रूस की पहुँच सीधी हिन्द महासागर तक हो गई है । हिन्दुस्तान प्रायद्वीप मे जो राजनीतिक परिवर्तन हुए है वे रूस को अमेरिका के विपरीत लाभप्रद हैं और रूस की क्षमता हिन्द महासागर भविष्य मे बढ़ सकती है ।

आर्थिक, व्यापारिक तथा पारस्परिक सहयोग की दृष्टि से हिन्द महासागरीय क्षेत्र इसके तटीय देशों के लिए महत्त्वपूर्ण है। महाशक्तियों के अलावा हिन्द-महासागरीय देशों की रुचि कई प्रकार से बढ़ती जा रही है। निःसन्देह यह क्षेत्र प्राकृतिक आर्थिक साधनों के कारण भविष्य का आशाजनक क्षेत्र है। पारस्परिक आर्थिक उत्थान के लिए इस क्षेत्र के देश इस कोशिश में हैं कि किस प्रकार महाशक्तियों के चंगुल से बचे रह कर आपसी सहयोग के द्वारा उन्नति की जाए। भारत, दक्षिण अफ्रीका, इण्डोनेशिया, बंगलादेश आदि ऐसे राष्ट्र हैं जिनकी रुचि इसमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इनके अलावा जापान और आस्ट्रेलिया भी प्रयत्नरत हैं।

स्पष्ट है कि हिन्द महासागर अन्तर्राष्ट्रीय घुसपैठ का अड्डा बन गया है। पारस्परिक वैमनस्य दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अब यह किसी भी मापदण्ड से शान्तिमय क्षेत्र नहीं रहा है। भू-राजनीतिक दृष्टि से हिन्द महासागर पर क्षेत्रीय देशों का सहयोगपूर्ण आधिपत्य रहना चाहिए। आर्थिक और व्यापारिक संगठन बनाना आवश्यक है अन्यथा विदेशी पूंजी और महाशक्तियों की कूटनीति हिन्द-महासागरीय क्षेत्रों की उन्नति में बाधक बनी रहेगी।

हिन्द महासागर और बड़ी ताकतें तथा भारत की नीति

हिन्द महासागर के आस-पास के देशों ने बड़ी ताकतों से अनेक बार अनुरोध किया है कि वे इस क्षेत्र को अपने षड्यन्त्रों का केन्द्र न बनाएँ और इसे शान्ति-क्षेत्र बना रहने दें। लेकिन ये बड़ी ताकतें अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की होड़ में बार-बार इस अनुरोध को ठुकरा कर अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश करती रही हैं। इजरायल और मिस्र की शान्ति-सन्धि तथा अरब देशों द्वारा इस सन्धि का विरोध, ईरान में सत्ता परिवर्तन, अफगानिस्तान की क्रान्ति तथा उसे विफल बनाने की अमेरिका, पाकिस्तान और चीन की साजिशों ने इस क्षेत्र को ताकत आजमाइश का क्षेत्र बना लिया है और इस प्रकार इस क्षेत्र की शान्ति को खतरे में डाल दिया है। *ऐसा मालूम पड़ता है कि अमेरिका ने हिन्द महासागर के लिए एक नया समुद्री-*बेड़ा तथा सैनिक अड्डा तैयार करने का निश्चय किया है। सोवियत संघ के सूत्रों के अनुसार अमेरिका ने हिन्द महासागर के क्षेत्र में जो गतिविधियाँ आरम्भ की हैं, उनके कारण उसे भी अपने हितों की रक्षा के लिए कदम उठाना आवश्यक हो गया है। स्पष्ट है कि सोवियत संघ हिन्द महासागर की मार्फत सुदूरपूर्व के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकता है।

हिन्द महासागर में बड़ी ताकतों के प्रवेश और भारत की नीति पर भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय की 1980-81 वार्षिक रिपोर्ट इस प्रकार है—

"हिन्द महासागर के क्षेत्र में आज जितने बड़े पैमाने पर बड़ी शक्तियों द्वारा सैनिक जमाव किया जा रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ है। इस बढ़ी हुई सैनिक उपस्थिति को उचित सिद्ध करने के लिए इस क्षेत्र की हाल की घटनाओं का बहाना लिया गया है। इस जमाव में डियागो-गार्सिया के अड्डे का विस्तार और इस आशय का कथित निर्णय भी शामिल है कि इसे एक प्रमुख वायु एवं नौसैनिक

अड्डे के रूप मे, और सम्भवत. नाभिकीय सुविधा के रूप में भी विकसित किया जाएगा। इस निर्णय के साथ-साथ ही प्रमुख गैर-तटवर्ती शक्तियों ने इसमे तैनात अपने नौ-सैनिक जहाजो और सैनिक विमानो की संख्या मे वृद्धि कर दी। उधर सयुक्त राज्य अमेरिका ने भी मुख्य रूप से हिन्द महासागर में प्रयोग के लिए एक लाख दस हजार कार्मिको वाली एक द्रुतगति सेना तैयार करने की योजनाओं का एलान किया। तटवर्ती पत्तनो पर ईंधन भरने, पुन.भरण तथा विश्राम और मनोरजन की सुविधाएँ हासिल करने की चेष्टाओ और अड्डे की सुविधाएँ अर्जित करने के प्रयासो से भारत और दूसरे गुट-निरपेक्ष राज्यो मे गम्भीर चिन्ता उत्पन्न हो गई है।"

दूसरी बड़ी शक्तियो यानी सोवियत सघ, यूनाईटेड किंगडम और फ्रांस की नौ-सैनिक उपस्थिति मे भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त इस आशय की भी खबरें मिली है कि ऐसी सुविधाएँ हासिल करने की कोशिशे की जा रही है जिनके अन्तर्गत नौ-सैनिक कार्मिको को ज्यादा लम्बे अरसे तक और ज्यादा सख्या मे तैनात रखना मुमकिन हो सकेगा।

भारत ने हिन्द महासागर मे बड़ी शक्तियो की सैनिक उपस्थिति का बराबर विरोध किया है क्योकि उसके पड़ोस मे नए सघर्ष पैदा होते हैं और उनकी शान्ति और स्थायित्व के लिए खतरा पैदा हो जाता है। हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाने से सम्बद्ध 1971 की घोषणा को शीघ्र क्रियान्वित कराने की दिशा मे भारत दूसरे गुट-निरपेक्ष और तटवर्ती पश्चिम राज्यों के साथ मिलकर काम कर रहा है। इस उद्देश्य से भारत हिन्द महासागर सम्बन्धी तदर्थ समिति मे यह सहमति कराने की दिशा मे भी कोशिश कर रहा है कि हिन्द महासागर के सम्बन्ध मे कोलम्बो सम्मेलन अपने पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बुलाया जाए।

हिन्द महासागर में आणविक युद्ध का खतरा

अप्रेल 1981 मे प्रख्यात लेखक श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिससे हमे हिन्द महासागर मे बड़ी ताकतो की गतिविधियो, भारतीय चिन्ता और इस क्षेत्र मे आणविक युद्ध के खतरे आदि कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओ की जानकारी मिलती है। श्री चतुर्वेदी का लेख इस प्रकार है—

"प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कई बार भारत के चारों ओर बढते हुए सैनिक खतरो की बातचीत की है। सम्भवत राजनीतिक शिष्टाचार के कारण श्रीमती इन्दिरा गाँधी अपनी बात को खुलकर नही कह सकी। यह समझने के लिए कि भारत के चारो ओर खतरा कितना बढ़ रहा है हमे अमेरिकी सूत्रो पर ही ज्यादा भरोसा करना पड़ेगा। हाल ही मे यानी 24 मार्च, 1981 को अमेरिका के प्रतिनिधि सदन के समक्ष निकट पूर्व और दक्षिण एशिया के लिए अमेरिका की विदेश उपमन्त्री जैन एडून ने यह बताया है कि वित्तीय वर्ष 1982 मे दक्षिण एशिया के देशों के लिए कितनी आर्थिक सहायता दी जाएगी। उनका कहना था कि अफगानिस्तान मे

जो आक्रमण हुआ है, ईरान में जो गड़बड़ हो रही है और हिन्द महासागर में सोवियत संघ की जो बढ़ती हुई उपस्थिति है उसको देखते हुए दक्षिण एशिया के देशों के साथ हमारे सम्बन्धों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है। इन गतिविधियों ने इस क्षेत्र को जो हम महत्त्व देते हैं उसे बढ़ा दिया है। हम यह स्वीकार करते हैं कि यह उस क्षेत्र का दाहिना बाजू है जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका के जीवन्त हितों को खतरा हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रस्ताव किया कि पाकिस्तान को 5 करोड़ डॉलर पी. एल. 480 के अन्तर्गत और 17 लाख डॉलर अफगान शरणार्थियों के लिए दिए जाएं। यह धन इसलिए दिया जा रहा है कि पाकिस्तान अधिक मजबूत और अधिक आत्मविश्वासी हो।

जब पाकिस्तान अधिक मजबूत होता है और उसमें आत्मविश्वास की भावना बढ़ जाती है तो भारत पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, यह हमें अच्छी तरह मालूम है। श्रीमती जैन ने संकेत दिया कि पाकिस्तान के लिए सहायता सीमित है और उसे बढ़ाने तथा पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्धों को और दृढ़ करने पर हम विचार कर रहे हैं। बाद में समाचार यह आया है कि पाकिस्तान को 50 करोड़ डॉलर की शस्त्र सहायता देने तथा पाकिस्तान के साथ सैनिक-सन्धि करने का विचार चल रहा है।

श्रीलंका के लिए 10 करोड़ 33 लाख, बंगलादेश के लिए भी 10 करोड़ 33 लाख और नेपाल के लिए 1 करोड़ 82 लाख डॉलर की सहायता प्रस्तावित की गई है। इसके साथ ही कहा गया है कि हम भारत को 25 करोड़ 85 लाख डॉलर की सहायता देंगे जो भारत की दृष्टि से तो कम है परन्तु हम इससे अधिक दे नहीं सकते।

यह तो हुआ वह आँकड़ा जो सहायता के नाम पर भारत के इर्द-गिर्द फेंका जा रहा है। अब हम जरा समझें कि हिन्द महासागर में सैनिक स्थिति क्या है? सन् 1980 के प्रारम्भ में डियागो गार्सिया में 2000 अमेरिकी सैनिक थे और 400 सैनिक सऊदी अरब में थे। फारस की खाड़ी में अमेरिका की एक नौ-सैनिक टुकड़ी थी जिसमें चार जंगी जहाज थे, इसके अतिरिक्त हिन्द महासागर में पाँचवाँ बेड़ा था जिसमें दो विमानवाहक पोत, तीन सेना उतारने वाले जहाज और 16 जंगी जहाज थे। इनके अतिरिक्त हिन्द महासागर में अमेरिकी सैनिक अड्डे भी थे। एक अड्डा ओमन राज्य के अन्तर्गत मसीरा टापू पर था, दूसरा मिस्र के सिनाई रेगिस्तान में था, तीसरा सोमालिया के बरबरा बन्दरगाह पर था और चौथा कीनिया की राजधानी नैरोबी के हवाई अड्डे पर और मोम्बासा बन्दरगाह पर। 5वें बेड़े में उस समय कुल मिलाकर 16000 नाविक और सिपाही थे। सन् 1981 में इस स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ है।

सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ है जैसा कि श्रीलंका के समाचार-पत्र 'फारवर्ड' ने छापा है—डियागो गार्सिया में 19 नाभिकीय (अणु बम या उद्‌जन बम) की नोकें उतार दी गई है जो विमानों या मिसाइलों द्वारा किसी भी हिन्द महासागर स्थित देश तक पहुँचाई जा सकती हैं। डियागो गार्सिया की उड़न पट्टी के विकास पर

4 करोड डॉलर का प्रावधान किया गया है जिससे कि वहाँ पर बी–52 प्रकार के अणुबम ले जाने वाले बमवर्षक उतर सकें। इस समय हिन्द महासागर में अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन के कुल मिलाकर 42 जंगी जहाज हैं जिनमे 2 विमान वाहक पोत हैं, 3 क्रूजर हैं, 26 विध्वसक और फ्रिगेट है, 7 मिसाइल फेंकने वाले जहाज हैं, 2 पनडुब्बियाँ है और कमान जहाज है। अमेरिकी जहाजो के ऊपर 170 विमान हैं और इनमे 80 विमान ऐसे है जिनमे अणुबम या उद्जन बम रखे हुए है। इस प्रकार हिन्द महासागर मे किसी भी क्षण आणविक युद्ध छिड सकता है।

कहने को तो यह कहा जा रहा है कि यह सब इसलिए किया जा रहा है कि इस बात का खतरा है कि सोवियत संघ धीरे-धीरे अफगानिस्तान और ईरान के रास्ते से बढकर अरब सागर और फारस की खाडी मे स्थित तेल क्षेत्रो पर कब्जा करके पश्चिमी यूरोप और अमेरिका को तबाह कर देगा। अमेरिका मे एक ऐसी टुकडी का भी विकास किया जा रहा है जो किसी समय इस क्षेत्र में थल सेना के रूप मे कही उतारी जा सकती है और कहा यह जा रहा है कि उसका मुख्यालय ब्रसेल्ज मे होगा और तैनाती सिनाई प्रायद्वीप मे। कैलिफोर्निया और एरीजोना में 7वी लैण्डिग ब्रिगेड बडे जोर-शोर से यह तैयारी कर रही है। अमेरिकी रक्षामन्त्री श्री कास्पर बेनबरगर ने अमेरिकी सीनेट के समक्ष जो बयान दिए हैं उनमे सोवियत सघ से होने वाले खतरो पर बहुत जोर दिया है। पर उन्होने इस बात को भी स्वीकार किया है कि यदि मध्य-पूर्व या दक्षिण एशिया के किसी देश मे आन्तरिक उथल-पुथल होती है तो उससे भी अमेरिकी हितों को खतरा हो सकता है। यह सभी जानते हैं कि अगर किसी कारणवश अमेरिका और रूस की टक्कर हो गई तो वह सीमित नही रहेगी। यदि हिन्द महासागर क्षेत्र मे अमेरिका अपनी शक्ति बढा लेता है तो जिन क्षेत्रो मे रूस अधिक शक्तिशाली कहा जाता है (यानी यूरोप मे) वह वहाँ पर बदला लेगा और यह युद्ध हिन्द महासागर का सीमित युद्ध न रहकर विश्व-युद्ध हो जाएगा। विश्वयुद्ध के लिए बावजूद सारी विल्लपो के न अमेरिका तैयार है और न रूस। यूरोप मे अमेरिका के जितने साथी हैं चाहे जर्मनी हो या फ्रांस, वे भी तीसरा विश्वयुद्ध नहीं चाहते। वे तो यह भी नही पसन्द करते कि अमेरिका पश्चिमी यूरोप मे कोई ऐसी कार्यवाही करे जिससे रूस भडके। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि अमेरिका द्वारा हिन्द महासागर मे और पश्चिम एशिया तथा दक्षिण एशिया मे जो भी तैयारी की जा रही है उसका उद्देश्य इस क्षेत्र के देशो को धमकाकर रखना है जिससे वे कोई ऐसी कार्यवाही न करें जो अमेरिकी हितों के खिलाफ हो।

इस क्षेत्र में सबसे बड़ा अमेरिकी हित तो यह है कि जो पाँच बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियाँ अमेरिका की हैं उनका मुनाफा बदस्तूर रहे। अमेरिका में आधारित पाँच और ब्रिटेन में आधारित दो, सात तेल कम्पनियाँ सात बहनें कहलाती हैं। इनके नाम हैं एक्सोन, रायल, डचशैल, मोबिल/टैक्साको, ब्रिटिश पेट्रोलियम, स्टेण्डर्ड ऑयल ऑफ कैलीफोर्निया तथा गल्फ। 1979 में इन सात बहनों द्वारा जो मुनाफा कमाया गया वह 20 अरब डॉलर से अधिक था और 1978 की तुलना में उसमें 94%

की वृद्धि हुई। इस मुनाफे में 90% मुनाफा मध्य-पूर्व के तेल व्यापार से प्राप्त हुआ। 1979 में इन कम्पनियों ने कुल 91 करोड टन तेल खरीदा था जिनमें से 57 करोड़ 20 लाख टन तेल फारस की खाडी के देशों से खरीदा गया था। यह तेल पश्चिमी यूरोपीय देशों की कुल आवश्यकता का 68% और जापान की तेल आवश्यकता का 80% होता है। इस प्रकार मुख्य उद्देश्य यह है कि इन क्षेत्रों से जो कमाई होती है वह होती रहे और कोई देश इस हालत में न हो कि विदेशी कम्पनियों की इस नफाखोरी को कम कर सके। साथ ही इस क्षेत्र में तनाव होने से अमेरिका तथा अन्य यूरोपीय कम्पनियों के हथियार बनाने के धन्धे को लाभ होता है। एक तरफ पाकिस्तान को हथियार दिए जा रहे हैं और दूसरी तरफ ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के व्यापारी भारत की ओर दौड़ रहे है कि वह हथियार खरीदे। नतीजा यह है कि इस तनाव से और यदि युद्ध हो जाए तो युद्ध से पश्चिमी कम्पनियों को ही लाभ है, पश्चिमी शक्तियों को ही लाभ है और जो फौजी तैयारियाँ हो रही हैं वे कमजोर राष्ट्रों को दबाने के ही काम मे आएँगी, रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र से लड़ने के लिए नहीं।

26 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ अन्य पहलू और नवीन घटना-चक्र
(Some Other Aspects and New Developments of International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्र एक अविराम प्रवाहमान सरिता की भाँति है जिसमे नित-नए परिवर्तनो के छोटे-मोटे बुलबुले उठते-गिरते रहते है, परिवर्तनो की लहरें हिलोरे मारती रहती हैं। कुछ परिवर्तन अपेक्षाकृत शान्त प्रकृति के होते हैं तो कुछ काफी उग्र और विस्फोटक। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओ, महाशक्तियों की विदेश-नीति, संयुक्त राष्ट्रसंघ, निःशस्त्रीकरण, शीतयुद्ध आदि का विस्तार से उल्लेख पूर्ववर्ती अध्यायो मे किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय मे पुस्तक के समापन के रूप मे हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ अन्य उल्लेखनीय पहलुओ, नवीन घटना-चक्रो तथा दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करेंगे।

डियागो गार्सिया : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक नया विस्फोटक केन्द्र

लागोस द्वीपसमूह मे 7 डिग्री 18 अंश दक्षिणी अक्षाश एवं 72 डिग्री शून्य अंश पूर्वी देशान्तर पर अवस्थित डियागो गार्सिया एक सुदृढ़ और मजबूत द्वीप है। भारत के कन्याकुमारी से नीचे दक्षिण मे इसकी दूरी लगभग 1130 मील है, मारिशस से इसकी दूरी पूर्व की ओर लगभग 500 मील है, यहाँ से सिंगापुर 2560 मील, अदन 2670 मील, आस्ट्रेलिया (पर्थ) 3400 मील, ईराक रिदुंक 3800 मील, ईराक (कर्मन्शाह) 400 मील, दुर्बन 3500 मील तथा बातार 2000 मील दूर है। यह द्वीप हिन्द महासागर के ठीक बीचोबीच स्थित है। यह द्वीप मूलतः मारिशस राज्य का एक भाग था। अंग्रेजों ने जब मारिशस को आजाद किया, तब *इस द्वीप को संचार-साधनो की सुविधा के लिए अपने पास रख लिया।* बाद मे सन् 1965 मे ब्रिटेन ने मेडागास्कर के उत्तर मे फरकुहर से चालीस के दक्षिण मे हेगरोवज के पाँच टापुओं, जिनमे डियागो गार्सिया प्रमुख है, को मिलाकर एक नया उपनिवेश बसाया। इसका नाम 'ब्रिटिश इण्डियन ओशन टेरीटरीज' रखा गया। 18 अप्रैल, 1967 को इन्हें ब्रिटेन ने मारिशस से 10,13,200 पौण्ड मे खरीद

लिया। सामरिक दृष्टि से डियागो गार्सिया की भौगोलिक स्थिति हिन्द महासागर में काफी प्रभावशाली है। आज अमेरिका इस द्वीप को एक सुदृढ़ सामरिक सैनिक अड्डे के रूप में विकसित करने की योजना बना चुका है। 1974 में ब्रिटेन की मजदूर दलीय सरकार ने अमेरिका को यहाँ सामरिक अड्डा बनाने की अनुमति दे दी थी। यह सुनकर कितना अजीब लगता है कि ब्रिटेन की मजदूर-दलीय सरकार ने यहाँ संचार-साधनों के लिए अड्डा स्थापित करने का अमेरिका से समझौता किया और सामरिक सैनिक अड्डे के रूप में उसे परिवर्तित करने के लिए अमेरिका को सुविधा देने का फैसला भी मजदूर-दलीय सरकार ने ही किया।

डियागो गार्सिया अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विस्फोट का एक शक्तिशाली केन्द्र बन गया है। अमेरिका इस द्वीप को एक सुदृढ़ सामरिक सैनिक अड्डे के रूप में विकसित कर रहा है। यह द्वीप हिन्दमहासागर के तटीय देशों के लिए खतरे का एक आधार बनेगा क्योंकि यहाँ अमेरिका की उपस्थिति अन्य महाशक्तियों को आने और अपने-अपने सैनिक अड्डे बनाने का निमन्त्रण देगी। इनमें सोवियत रूस और साम्यवादी चीन प्रमुख हैं। डियागो गार्सिया के सैनिक अड्डे पर अमेरिका प्रक्षेपणास्त्रों से युक्त जहाज तैनात कर रहा है जिनकी मार की परिधि में लगभग सभी तटवर्ती देश और अफ्रीका एवं एशिया महाद्वीपों के अन्दर के देश भी आ जाते हैं। इससे सम्पूर्ण क्षेत्र में तनाव और खतरे का वातावरण तो बनेगा ही, साथ ही यहाँ राजनीतिक आर्थिक, सैनिक घुसपैठ और धाँसपट्टी भी प्रारम्भ होगी।

प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने हिन्द महासागर में अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा परमाणु-अड्डा कायम करने के निर्णय की भर्त्सना की है और इसे शान्ति के लिए एक खतरा बताया है। श्रीमती गाँधी ने कहा है कि हिन्द महासागर में परमाणु-अड्डा कायम करने का निर्णय संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव के विरुद्ध है और इससे तनाव में वृद्धि होगी। हिन्दमहासागर में जो स्थिति बन रही है उसको देखते हुए अपने लम्बे समुद्री तट के कारण अपनी सुरक्षा के बारे में भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक है। भारत ने लगातार माँग की है कि हिन्दमहासागर क्षेत्र को बड़े राष्ट्रों की प्रतिस्पर्धा से मुक्त रखना चाहिए। उसे विदेशी अड्डों और परमाणु-अस्त्रों से भी अछूता रखना चाहिए।

पश्चिमी जर्मनी-पोलैण्ड समझौता, मार्च 1977

12 मार्च, 1976 को पश्चिमी-जर्मनी के उच्च सदन बुण्डेसराट ने भारी रस्साकशी के बाद जर्मनी और पोलैण्ड में पेन्शन समझौते हुए और उससे सम्बद्ध दोनों सन्धियों का अनुमोदन कर दिया। इस समझौते पर 9 अक्तूबर, 1975 को वार्सा में दोनों देशों के विदेश मन्त्री हस्ताक्षर कर चुके थे। समझौते के अनुसार पश्चिमी जर्मनी ने पोलैण्ड को युद्ध पीड़ितों की पेन्शन के लिए 12 लाख जर्मन मार्क तथा नाममात्र के ब्याज पर एक दीर्घावधि ऋण देना स्वीकार किया और बदले में पोलैण्ड ने वचन दिया कि आगामी चार वर्षों में वह पोलैण्ड में रहने वाले जर्मन नागरिकों में से लाख, सवा लाख के करीब जर्मनों को पश्चिमी जर्मनी में वापस जाने की अनुमति

दे देगा। पोलैण्ड ने आश्वासन दिया कि बाद में अन्य लोग भी जर्मनी जाने का आवेदन-पत्र भर सकेंगे और उन्हे भी अनुमति दी जाएगी।

बीस वर्ष पहले नाजियों ने पोलैण्ड के लोगों पर जो जुल्म ढाए थे, उन्हें भुलाकर पोलैण्ड ने मैत्री का जो हाथ बढाया है उसके मूल मे शायद आर्थिक और व्यापारिक कारण भी रहे हो पर सच्चाई यह है कि 1970 मे भूतपूर्व जर्मन चांसलर विली ब्रांट ने पूर्वी यूरोप के देशो से सम्बन्ध सामान्य बनाने की जिस नीति का सूत्रपात किया था यह समझौता उसी का चरमोत्कर्ष है।

अफगानिस्तान में क्रान्ति(1979) रूसी हस्तक्षेप

27 दिसम्बर, 1979 को एक बार फिर अफगानिस्तान की राजधानी काबुल की सड़कों पर टैंक देखे गए। 6 सितम्बर, 1979 को सत्ता रूढ़ हुए राष्ट्रपति हफीजुल्ला अमीन का तख्ता पलट दिया गया। भूतपूर्व राष्ट्रपति नूर मोहम्मद तराकी (अब दिवगत) के उप-राष्ट्रपति बबराक कारमाल ने इस बार तख्ता पलटा था। सफल क्रान्ति के बाद उन्होने रेडियो से घोषणा की कि वह देश को स्वच्छ शासन देगे। स्थिति पर काबू पाने के लिए उन्होने सोवियत सघ से राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक और सैनिक सहायता की माँग की जो उन्हे तुरन्त प्रदान की गई।

अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिको की उपस्थिति के मुद्दे पर संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् मे भी काफी लम्बी बहस हुई। इस बहस मे अफगानिस्तान के विदेश मन्त्री शाह मोहम्मद दोस्त ने रूसी सहायता का समर्थन करते हुए कहा कि रूसी सैनिक हमारे आग्रह पर ही काबुल आए थे। पिछले 13 वर्षों मे सुरक्षा परिषद् का यह छठा आपात्कालीन अधिवेशन था। इससे पहले तीन अधिवेशन पश्चिमेशिया की स्थिति पर, एक 1956 मे हगरी की समस्याओ पर तथा 1960 मे कांगो की समस्याओं पर हो चुका है। अफगानिस्तान के विदेश मन्त्री ने अपने देश की स्थिति को आन्तरिक मामला बताया और यह भी कहा कि इससे उस क्षेत्र की शान्ति को किसी प्रकार का खतरा नही। उनका यह भी तर्क था कि प्रत्येक देश को 'आत्मरक्षा' का अधिकार है और उसके लिए वे किसी भी तरह की बाहरी सहायता का पूर्ण अधिकार रखते है। उनका यह भी मानना था कि अफगानिस्तान अपने आपको 'साम्राज्यवादी' शक्तियों से सोवियत सघ की सहायता से अलग कर रहा है। ज्यो ही उसकी स्थिति 'मजबूत' हो जाएगी, सोवियत सेनाएँ वहाँ से हट जाएँगी। इसी आशय का एक पत्र सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी को लिखकर उन्हें आश्वासन दिलाया था कि सोवियत सेना अफगान सरकार के आग्रह पर तुरन्त वहाँ से हट जाएगी। लेकिन चीन का आरोप था कि सोवियत सैनिको को अफगान सरकार ने नही बुलाया था बल्कि उनका यह अपना निमन्त्रण था। इस तरह के विचार का कोई आधार नही कि अफीजुल्ला अमीन अपने पतन के लिए सोवियत सघ को निमन्त्रित करते। चीनी प्रतिनिधि चेड चू ने सोवियत कार्यवाही को तीसरी दुनिया के देशो सोवियत म विस्तार की गतिविधियाँ करार दिया। यह केवल अफगानिस्तान तक

ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसका विश्वव्यापी प्रभाव पड़ेगा। काफी लम्बी बहस के बाद सुरक्षा परिषद् ने सोवियत संघ से अफगानिस्तान में अपनी गतिविधियाँ समाप्त करते हुए सैनिकों की वापसी का प्रस्ताव पास किया लेकिन इस प्रस्ताव पर सोवियत संघ ने अपने वीटो के अधिकार का इस्तेमाल कर प्रस्ताव को नाकाम कर दिया।

असन्तुष्ट अफगानों की विद्रोही कार्यवाहियों के बावजूद अफगानिस्तान के भीतर सोवियत सैनिक अपना नियन्त्रण निरन्तर मजबूत करते गये। अप्रैल, 1980 में अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं के रहने पर सोवियत संघ और अफगान सरकार में एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। 20 नवम्बर, 1980 को संयुक्तराष्ट्र महासभा द्वारा एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें माँग की गई कि सोवियत संघ अफगानिस्तान से अपनी सेनाएँ वापिस हटा ले लेकिन महासभा का प्रस्ताव केवल कागजी सिद्ध हुआ। 6 फरवरी, 1981 को अफगानिस्तान ने यद्यपि राष्ट्रसंघ की मध्यस्थता स्वीकार कर ली तथापि 21 फरवरी, 1981 को अफगान राष्ट्रपति बबराक कारमाल ने स्पष्ट कर दिया कि अमरीकी षड्यन्त्रों के कारण सोवियत सैनिकों का अफगानिस्तानमें प्रवेश आवश्यक था और वर्तमान परिस्थितियों में वहाँ सोवियत सैनिकों का बने रहना जरूरी है। अप्रैल, 1981 में अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की संख्या और अधिक बढाई गई। अगस्त, 1981 में लगभग 80 हजार रूसी सैनिक अफगानिस्तान में तैनात थे।

अफगानिस्तान की समस्या अभी (मार्च, 1982) यथापूर्व है सिवाय इसके कि इस सम्बन्ध में अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों का विरोध अब ठण्डा पड़ता जा रहा है। अफगानिस्तान के भीतर सोवियत सैनिक अपना नियन्त्रण मजबूत करने में जुटे हुए हैं। उन्होंने अपनी समरनीति तय की है। उधर विद्रोही अफगान सोवियत सैनिकों को बुरी तरह परेशान कर रहे हैं। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव निरन्तर बढ रहा है। केवल अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देश ही सोवियत संघ से अफगानिस्तान को हटने के लिए जोर नहीं डाल रहे हैं बल्कि अरब, एशिया, अफ्रीका आदि देशों का दबाव भी बढता जा रहा है। सोवियत रूस ने संकेत दिया है कि यदि अफगान सरकार को कोई खतरा नहीं रहेगा तथा बाह्य शक्तियों का अफगानिस्तान पर दबाव हट जाएगा तो उसका अफगानिस्तान में बने रहने का कोई इरादा नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नया सितारा इस्लाम[1]

ईरान की क्रान्ति के बाद अन्य मुस्लिम देशों में भी इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित राज्य-व्यवस्था स्थापित करने का जो पुरजोर प्रयास शुरू हुआ है, उससे राष्ट्रों की बिरादरी में बहुत सारी आशंकाएँ उठ खड़ी हुई हैं। सार्वभौमिक इस्लामी बन्धुत्व और इस्लाम के मूल तत्त्वों के आधार पर शासनतन्त्र

1 रमेश दीक्षित का लेख-साप्ताहिक हिन्दुस्तान, जुलाई 1979,

के सचालन का सिद्धान्त आधुनिक धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील राजनीतिक विचारधाराओं के लिए एक सशक्त चुनौती के रूप में उभर कर सामने आया है। जिन देशों में राजसत्ता का चरित्र घोषित सवैधानिक तौर पर इस्लामी है, वहाँ भी उग्रपन्थी धार्मिक पुनरुत्थानवादियों एव प्रगतिशील आधुनिक विचारों मे आस्था रखने वाले तत्त्वों के बीच एक निरन्तर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है। क्या धर्म की बुनियादी पुरातन मान्यताएँ आधुनिक औद्योगिक समाज और राज्य की आधारशिला बन सकती है? क्या स्वतन्त्र राज्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध धार्मिक आधार पर निर्धारित होना उचित है? ऐसे सवालों पर बहस चलनी जरूरी है, पर उससे भी कहीं अधिक जरूरी यह जानना हो जाता है कि इस्लाम का पुनरुत्थान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किन परिस्थितियों और दबावों के चलते हुए सम्भव हुआ है और अनेक-जातीय, अनेक भाषायी तथा एक से अधिक धर्मों वाले आधुनिक राज्यों की क्षेत्रीय अखण्डता और भावनात्मक एकता को किस तरह सुरक्षित रखा जा सकता है?

वैसे तो भारत-विभाजन के समय भी द्वि-राष्ट्रवाद का सिद्धान्त प्रतिपादन कर यह साबित करने की कोशिश की गई थी कि मुस्लिम एक अलग राष्ट्र के रूप में ही रह सकते है और धर्म ही राष्ट्रीयता का सबसे बडा आधार है, किन्तु 1971 में बगलादेश का निर्माण तथा 1947 के बाद से लगातार भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन मे धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को मानते हुए सभी धर्मों के मानने वालो की सक्रिय हिस्सेदारी इस बात का प्रमाण है कि केवल धार्मिक विश्वास व्यक्तियों या राष्ट्रों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धो का कारण नही बन सकते। यदि ऐसा होता तो मलयेशिया और इण्डोनेशिया के बीच 1963–65 तथा पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के बीच 1970–71 मे सशस्त्र सघर्ष की नौबत न आती।

धर्म और राष्ट्रों की बिरादरी

पर धर्म के आधार पर राष्ट्रो की बिरादरी बनाने की कोशिश और उसमें काफी हद तक सफलता हमारे समय की सचाई है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। अपने अस्तित्व मे आने के तुरन्त बाद के वर्षों मे पाकिस्तान ने इस्लामी बिरादरी की स्थापना के प्रयास मे कराँची मे एक सम्मेलन किया था, जिसे अमेरिका का परोक्ष समर्थन प्राप्त था, पर सोवियत सघ ने उस सम्मेलन की नीयत पर शका व्यक्त करते हुए उसकी कड़ी आलोचना की थी। चूंकि भारत उस समय गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की बिरादरी का मुखर प्रवक्ता बन चुका था और मार्च, 1947 मे ही दिल्ली मे 'एशियन रिलेशन्स कान्फ्रेन्स' आयोजित कर चुका था, इसलिए यह भी स्वाभाविक था कि पाकिस्तान एक समानान्तर मच तैयार कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने को स्थापित करने का प्रयास करता। एव इस्लामी बिरादरी को एकजुट कर पाना उस समय ज्यादा आसान नहीं था क्योंकि नवोदित मुस्लिम राष्ट्र तब तक अपने आर्थिक, सामरिक हितों को ध्यान मे रखते हुए सभी राष्ट्रों के साथ समान सम्बन्ध बनाए

रखना उचित समझते थे। इसके अलावा मिस्र, इण्डोनेशिया—जैसे प्रभावशाली इस्लामी देश गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के मंच को विकासशील देशों के लिए राजनीतिक, आर्थिक कारणों से ज्यादा कारगर मानते थे।

वैचारिक आधार मिला

साठवें दशक में पहुँचने के बाद ही इस्लामी विश्व-बन्धुत्व की धारणा को वैचारिक आधार मिला, जिसका एक प्रमुख कारण इजरायल द्वारा समूचे अरब विश्व की सुरक्षा के लिए चुनौती बन जाना भी था। 1948 में इजरायल के विरुद्ध अरब देशों को पहली लड़ाई लड़नी पड़ी थी। 1956 में स्वेज नहर पर इजरायली आक्रमण के समय दूसरा युद्ध मिस्र को लड़ना पड़ा था। इजरायल की आर्थिक, सामरिक और तकनीकी श्रेष्ठता का मुकाबला करने के लिए अरब देशों ने एक संयुक्त मोर्चा इस्लामी बिरादरी के रूप में बनाया था और 1967 के तृतीय तथा 1973 के चतुर्थ अरब-इजरायल युद्ध के दौरान यह एकता और भी मजबूत हुई।

1967 में पहली बार तेल-उत्पादक अरब देशों ने इजरायल को समर्थन देने वाले पश्चिमी राष्ट्रों को तेल की सप्लाई बन्द कर देने की धमकी दी थी और 1973 में तेल की सप्लाई बन्द भी कर दी। यहीं से विश्व-राजनीति में तेल-राजनय की शुरुआत हुई। साथ ही साथ अरब राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहयोग और यहूदीवाद (जिओनिज्म) के खिलाफ एकता की जड़ें भी मजबूत हुईं।

सामूहिक प्रयास की महत्ता

1967 में इजरायल के विरुद्ध संयुक्त प्रतिरोध प्रस्तुत कर सकने के प्रयास में मिली सफलता से अरब देशों को यह सीख मिली कि छोटे और अपेक्षाकृत कमजोर देश भी सम्मिलित प्रयास से अपने से बड़े दुश्मन का मुकाबला कर सकते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति के लिए मान्यता भी पा सकते हैं। इस पृष्ठभूमि में 1969 में रबात में हुए पहले 'वृहत्तर इस्लामी' सम्मेलन के आयोजन और उसमें गठित इस्लामी सचिवालय के महत्त्व को समझा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेख किया जाना प्रासंगिक है कि भारत ने भी रबात-सम्मेलन में इस आधार पर हिस्सा लेने की भरपूर कोशिश की थी कि भारत उस समय मुस्लिम आबादी की दृष्टि से तीसरे नम्बर का देश था, जहाँ सबसे ज्यादा मुस्लिम आबादी है, किन्तु भारतीय प्रतिनिधि मण्डल को रबात सम्मेलन से बहुत बेआबरू होकर वापस लौटना पड़ा था। दूसरे इस्लामी देश केवल मुस्लिम आबादी की बहुलता के आधार पर भारत को इस्लामी बिरादरी में शामिल करने को तैयार नहीं थे, क्योंकि घोषित तौर पर भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है।

रबात-सम्मेलन में जिस इस्लामी सचिवालय के गठन का निर्णय लिया गया था, उसका मुख्यालय रियाद में है। इसके सदस्य राष्ट्रों की संख्या 43 है। राजदूतों तथा विदेशमन्त्री स्तर की इन देशों की आपसी बैठकें विभिन्न इस्लामी देशों की राजधानियों में अक्सर लगभग हर साल होती रहती है, किन्तु शासनाध्यक्षों के स्तर

के शिखर-सम्मेलन अभी तक केवल 1969 में रबात तथा 1974 मे पाकिस्तान मे हुए हैं।

मुस्लिम अल्पसंख्यकों से चिन्ता

मई 1979 मे लन्दन मे इस्लामी देशों का एक सम्मेलन सम्पन्न हुआ था, जिसमें 27 मुस्लिम देशो के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में यह फैसला किया गया कि दुनिया के जिन-जिन देशों में मुस्लिम जनसंख्या अल्पमत में होने के बावजूद कुछ विशेष क्षेत्रों या प्रान्तों में महत्त्वपूर्ण स्थिति में है, वहाँ-वहाँ उन्हे मुक्त कराने का प्रयास किया जाना चाहिए। प्रमुख विदेशी समाचार-पत्रों की रपट के अनुसार दक्षिणी फिलीपीन्स के मिण्डनाओ प्रदेश और भारत के जम्मू-कश्मीर प्रदेश का उल्लेख इस सिलसिले में किया गया, जिन्हें स्वाधीन कराए जाने की जिम्मेदारी इस्लामी देश महसूस करते है। स्वाभाविक ही है कि इस तरह के निर्णयो से उन सभी देशो को चिन्ता होगी, जहाँ मुस्लिम अल्पसख्यक हैं। इसके अलावा इस्लामी-सम्मेलन द्वारा लिए गए इस प्रकार के विवादास्पद निर्णयों से बहुजातीय, बहुराष्ट्रीय राज्यो में मुस्लिम अल्पसख्यको के प्रति वहाँ के बहुसख्यक समुदाय में सन्देह और शका की भावना बढने की भी सम्भावना बनती है।

दुनिया के जिन देशो में शासकीय स्तर पर राज्य व्यवस्था का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष है, पर जहाँ इस्लाम मतावलम्बियो की सख्या अल्पमत में होने के बावजूद महत्त्वपूर्ण है, उनमें भारत, सोवियत सघ तथा चीन प्रमुख हैं। लन्दन-सम्मेलन में इन सभी देशो की आन्तरिक राजनीति मे तनाव की स्थिति बन सकती है, परन्तु यह आशा की जानी चाहिए कि धर्म को राज्य का नियामक तत्त्व न मानने वाले राष्ट्र इस प्रकार के निर्णयो को गम्भीरता से नहीं लेंगे।

मोरक्को के राजदूत का वक्तव्य

इसी सन्दर्भ मे भारत स्थित मोरक्को के राजदूत द्वारा भारत मे अरब देशो के तेरह राजदूतो के प्रवक्ता की हैसियत से भारतीय मुसलमानो की दशा पर दिया गया वक्तव्य भी समझना चाहिए। भारतीय मुसलमान देश की मुख्य सामाजिक राजनीतिक धारा के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और पिछले 32 वर्षों मे वे देश के विकास की प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाते रहे हैं। मोरक्को के राजदूत का वक्तव्य न केवल शरारतपूर्ण था, बल्कि उस संकीर्ण मानसिकता का परिचायक भी था, जो राजनीति को धर्म की तराजू पर तौल कर अपना उल्लू सीधा करना चाहती है।

दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इस्लामी बिरादरी का एक दबाव समूह के रूप मे अभ्युदय पश्चिमी देशो की उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी राजनीति के विरोध के रूप में हुआ था। इसके अलावा पश्चिमी संस्कृति के सार्वभौमिक विस्तार और उसके परिणामस्वरूप एशियाई अफ्रीकी देशों के सामाजिक जीवन में आई विसगतियो के प्रति विक्षोभ भी इस्लामी एकता का महत्त्वपूर्ण कारण था। पश्चिमी संस्कृति के सर्वग्राही प्रभाव से पूर्व के देशों के पारस्परिक जीवन,

पुरातन सामाजिक ढाँचे और नैतिक आचार-विचार का समूचा तन्त्र चरमरा गया था। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से मुक्ति पा चुकने के बाद यह जरूरी और स्वाभाविक था कि नए स्वाधीन देश अपनी जातीय जड़ों और प्राचीन संस्कृति के उत्स को तलाश करने की कोशिश में अपनी परम्पराओं के सन्दर्भ में कुछ नए जीवन-मूल्य गढ़ते। इस्लाम का पुनरुत्थान इस अर्थ में पश्चिमी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभुत्व के खिलाफ असहमति और विरोध का स्वर था, परन्तु इस्लामी विश्व के कुछ महत्त्वाकांक्षी शासक अपने को स्थापित करने के चक्कर में इस्लामी बिरादरी के मंच की सम्मिलित शक्ति का दुरुपयोग गैर-जिम्मेदाराना ढंग से करने के प्रयास में लगे हैं।

इस्लामी बिरादरी की भावना

कुछ वर्ष पहले फिलीपीन्स के दक्षिणी हिस्से में मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त में पृथकतावादी आन्दोलन छिड़ा और लीबिया के शासनाध्यक्ष कर्नल गद्दाफी ने तुरन्त ही विद्रोहियों को शह देनी शुरू की थी। उगाण्डा के अपदस्थ शासनाध्यक्ष ईदी अमीन अक्सर ही ऊलजलूल वक्तव्य देने के आदी थे। पाकिस्तान-बंगलादेश युद्ध के दौरान भी अधिकतर मुस्लिम शासनाध्यक्षों की हमदर्दी पाकिस्तान के साथ थी। इस्लामी बिरादरी की भावना अगर इस्लामी देशों को आर्थिक गैरबराबरी दूर करने और किसी सम्भावित बाह्य आक्रमण के खिलाफ रक्षापंक्ति बनाने में सहायक होती है, तो निस्सन्देह एक अच्छी बात है, पर यदि इस्लामी बिरादरी कुछ महत्त्वाकांक्षी राजनेताओं की सनक के कारण दूसरे देशों के अन्दरूनी मामलों में दखलन्दाजी को बढ़ावा देने का माध्यम बन जाती है तो संयुक्त रूप से सभी शान्तिप्रिय देशों द्वारा उसका विरोध किया जाना जरूरी है।

इसी सन्दर्भ में इस्लामी देशों में इस्लाम के बुनियादी मूल्यों की पुनर्स्थापना का प्रयास भी पश्चिमी देशों की नींद हराम किए हुए है। इस्लाम की आदिम, मध्ययुगीन मान्यताओं की स्थापना के प्रयास का विरोध इस्लामी देशों के प्रगतिशील आधुनिक विचारों वाले तत्त्वों द्वारा किया ही जा रहा है। ईरान, पाकिस्तान या कुवैत में रूढ़िवादी तत्वों का सत्ता में आ जाना कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण और प्रगतिशीलता की बात करने वाले शासकवर्ग ने इन देशों में जिस तरह की अधिनायकवादी व्यवस्था स्थापित कर दी थी, उसका पतन तो कभी न कभी होना ही था और यह आशा की जानी चाहिए कि इन देशों का जन सामान्य धार्मिक कट्टरता के नाम पर उठाए जाने वाले गैर-लोकतान्त्रिक कदमों का विरोध भी पूरी ताकत के साथ करेगा।

आक्रामक शैली

किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि रूढ़िवादी इस्लामी शासक वर्ग देश में अपने लिए विश्वसनीयता का वातावरण बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आक्रामक शैली अपना कर इस्लामी विश्व का नेतृत्व प्राप्त करने का

प्रयास कर सकते हैं। राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धर्म का इस्तेमाल पहले भी होता रहा है और ईरान तथा पाकिस्तान के उदाहरणों में धर्म राजनीतिक सत्ता को बनाए रखने की ढाल के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। इस्लाम के बुनियादी उसूलों की चिन्ता जनरल जिया-उल-हक को किस हद तक है, यह कहना तो मुश्किल है, पर यह साफ जाहिर है कि वे धर्मभीरु जनता की भावनाओं को उभार कर अपनी गद्दी बनाए हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी बिरादरी

पिछले दस वर्षों में इस्लामी देशों में कट्टरपन्थी तत्त्व सक्रिय हुए हैं और इस्लामी बिरादरी की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका निर्धारित करने में भी मुख्य योगदान सऊदी अरब जैसे रूढ़िवादी देशों का है। इन दिनों पाकिस्तान में 'जमायते इस्लामी', मिस्र में 'मुस्लिम ब्रदरहुड', मलयेशिया में 'दाकवाँ'—जैसे कट्टरपन्थी इस्लामी समूहों का असर बढ़ रहा है। अफगानिस्तान में भी तराकी-शासन के खिलाफ सक्रिय गुट रूढ़िपन्थियों का ही है। काहिरा के रूढ़िवादी मुस्लिम पत्र 'अल दावाह' ने ईरान की क्रान्ति के बारे में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था कि 'यहूदियों की चालाकी, ईसाइयों की घृणा और साम्यवादियों के आतंक के बावजूद मुस्लिम सत्ता में आते जा रहे हैं।" पाकिस्तान और कुवैत में भी ईरान की भाँति ही न्याय व्यवस्था को शरीअत के अनुरूप ढाला जा रहा है। मिस्र की संसद् भी शरीअत को लागू करने पर विचार कर रही है, जिसके तहत सारे शराबघर, रात्रि क्लब और जुए के अड्डे बन्द कर दिए जाएँगे। उग्रपन्थी इस्लाम के पुनरुत्थान का मापदण्ड यह भी माना जा सकता है कि हज जाने वालों की संख्या में 1974 से लगातार बढ़ोतरी होती गई है और नवम्बर, 1978 में 20 लाख तीर्थ यात्री हज करने गए थे। मस्जिद जाने की प्रवृत्ति में भी पिछले पाँच-सात वर्षों में वृद्धि हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस्लाम को एक प्रमुख तत्त्व के रूप में मान्यता जिन कारणों से मिली है, उनमें अफ्रीकी राजनीति में धार्मिक विश्वास का अभ्युदय, अरब देशों की तेल के कारण समृद्धि और ईरान की क्रान्ति प्रमुख हैं।

राजनीति के प्रति इस्लाम का रवैया मूलत. लोकतान्त्रिक है, क्योंकि उसमें ईश्वर के सामने मनुष्य मात्र की बराबरी पर जोर दिया जाता है। इस्लाम राज्य को व्यक्ति के रोजमर्रा के कामों में हस्तक्षेप करने की इजाजत नहीं देता। इस्लाम की आर्थिक धारणा पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के ही पक्ष में इस्तेमाल की जा सकती है।

यह उल्लेखनीय है कि कुछ मुस्लिम देशों में 2·5% जकात कर हर व्यक्ति की सम्पत्ति पर सार्वजनिक कल्याण के लिए धन प्राप्त करने के लिए लगाया जाता है। जकात के इसी सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू करते हुए सऊदी अरब अपनी सालाना राष्ट्रीय आय का 7% अपेक्षाकृत गैर-मुस्लिम देशों को दान और कर्ज के रूप में देता है।

मुस्लिम विद्वानों का मत है कि इस्लाम में ऐसी कोई बात नहीं है जो तकनीकी और औद्योगिक विकास के विरोध में जाती हो। उन्हें केवल आधुनिकता के साथ जुड़ी विकृतियों से एतराज है, आधुनिकता या औद्योगीकरण से नहीं।

मलयेशिया के इस्लामी युवा आन्दोलन के अध्यक्ष अनवर इब्राहीम के अनुसार "यदि आधुनिकता का मतलब शराब के कारखाने खोलना है, तो हम उसके विरोधी हैं, पर यदि आधुनिकता का मतलब इलेक्ट्रोनिक्स कारखानों से है, तो हम उसके पक्ष में हैं।"

कुल मिला कर आज इस्लामी विश्व के देशों में आधुनिकता बनाम पुरातन-पन्थता के बीच कशमकश चल रही है, और चीन के सिक्यांग, रूस के ताशकन्द और फिलीपीन्स के मिण्डानाओ जैसे मुस्लिम बहुल प्रदेशों में मुस्लिमों के लिए अधिक अधिकारों की व्यवस्था करने का दबाव पड़ रहा है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक सशक्त गुट के रूप में इस्लामी देश संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य मंचों पर अपनी बातें मनवा सकने के लिए दबाव डालने में सक्षम हुए हैं। पर इस्लाम की यह सम्मिलित शक्ति तभी तक कारगर रहेगी, जब तक वह दूसरे देशों के अन्दरूनी मामलों को हवा नहीं देगी।

इस्लामी देशों का लन्दन सम्मेलन 1979 : नए सन्दर्भ में

फरवरी 1979 में इस्लामी देशों के प्रतिरक्षा और विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन लन्दन में हुआ जो अब तक के सम्मेलनों में अपने ढंग का अकेला सम्मेलन था। सम्मेलन का मुख्य मुद्दा था—प्रतिरक्षा और इस्लामी दुनिया। सम्मेलन में तय किया गया कि इस्लामी दुनिया की प्रतिरक्षा के लिए एक नए सैन्य-व्यूह के निर्माण की परम आवश्यकता है। सम्मेलन ने दुनिया के इस्लामी देशों और उनकी सरकारों से आग्रह किया कि—

(1) वे अपने-अपने दायरे के अन्दर नया इस्लामी समाज बनाएँ जो किसी भी प्रकार के अन्याय और शोषण से परे हो और जिसमें पवित्र कुरान और सुन्नाह के नियमों का परिपालन किया जाए।

(2) अपनी वैचारिक स्वच्छन्दता और अपने देश की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए प्रयत्न किए जाएँ और विदेशों द्वारा बलात् हड़पे गए अपने भू-भागों को पुनः प्राप्त किया जाए।

(3) अपनी और दुनिया की भलाई के लिए अपने संसाधनों का उपयोग किया जाए।

(4) राष्ट्रीय सुरक्षा बनाए रखने के लिए आपसी सम्बन्धों में निकटता लाई जाए और आपसी सहयोग के बल पर आर्थिक, सामाजिक, औद्योगिक और तकनीकी प्रगति में एक-दूसरे का हाथ बँटाया जाए।

सम्मेलन ने इस्लामी देशों से भी अनुरोध किया—

(1) प्रत्येक इस्लामी देश की सुरक्षा के लिए निःस्वार्थ रूप से संसाधनों का उपयोग किया जाए, ताकि दुनिया के सारे इस्लामी देशों की आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्र में प्रगति हो सके।

(2) ज्ञान के प्रसार और तकनालॉजी, शिक्षा और प्रशिक्षण मे एक-दूसरे का सहयोग किया जाए।

(3) प्रतिरक्षा के क्षेत्र मे सम्मिलित रूप से उत्पादन के उद्योगों की स्थापना की जाए ताकि सभी सामूहिक रूप से आत्मनिर्भरता की ओर बढ सकें।

इसके अलावा सम्मेलन ने ये भी सिफारिशें की—

(1) इस्लामी विशेषज्ञों का एक आयोग गठित किया जाए जो इस बात का पता लगा सके कि इस्लामी देशों मे वैयक्तिक और सामूहिक सुरक्षा के लिए क्या कारगर उपाय हो सकते हैं।

(2) यह संस्था इस्लामी देशों मे ऐसे सम्मेलन आयोजित करे, जिनमे इस्लामी देशों की प्रतिरक्षा और सुरक्षा के मुद्दों पर विचार किया जा सके और इस मामले मे उस देश की सरकार उसे पूरा सहयोग दे।

(3) इस्लामी देशों के प्रतिरक्षा, विज्ञान तथा तकनालॉजी के क्षेत्र मे शीघ्र प्रगति करने की आवश्यकता पर ध्यान दिया जाए तथा सस्ती दरों पर रक्षा-उपकरण खरीदे जाएँ।

(4) इस्लामी देशों के विकास के लिए इस्लामी विशेषज्ञों के ज्ञान का समुचित उपयोग किया जाए।

(5) औद्योगिक और तकनीकी प्रायोजनाओं के नियोजन के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएँ।

(6) इस्लामिक इन्स्टीट्यूट ऑफ डिफेन्स का गठन किया जाए जो हर इस्लामी देश को प्रतिरक्षा सामग्री सप्लाई कर सके।

(7) इस्लामी विचारधारा की युद्ध और शान्तिकाल की मान्यताओं का ज्ञान इस्लामी देश के हर छात्र को कराया जाए।

(8) इस्लाम की सुरक्षा से सम्बन्धित बातें पवित्र कुरान और सुन्नाह से ली जाएँ।

(9) इस्लामी सैन्य विद्या विशारदों की समिति का गठन किया जाए जो उपरोक्त तथ्यों को इस्लामी पद्धतियों के अनुरूप ढाल सकें और दूसरी अन्य बातों से उनके तादात्म्य को स्थापित करने की सम्भावनाओं का पता लगा सके।

इस सम्मेलन मे पाकिस्तान ने सबसे अधिक सक्रिय भाग लिया। पाकिस्तान मे जनरल जिया द्वारा शरिअत कानून लागू करने के मूल मे इसी सम्मेलन की प्रेरणा रही है। सम्मेलन की समाप्ति के तुरन्त बाद ही पाकिस्तान के रक्षा उत्पादन प्रतिष्ठान के अध्यक्ष मेजर जनरल सईद अली नवाब ने रेडियो प्रसारण द्वारा घोषणा की कि इस्लामिक बैंक ऑफ स्ट्रेटिजिक मैटीरियल्स की स्थापना के लिए पाकिस्तान ने 1000 लाख पौण्ड स्टर्लिंग सुरक्षित रख लिए हैं।

अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाने और उसमे कुशलता प्राप्त करने में आज पाकिस्तान इतना आगे बढ़ चुका है कि आबू धाबी की मुख्य हवाई शक्ति–32 मिराज

हवाई जहाजों पर पाकिस्तानी एयर फोर्स के पायलटों का ही आधिपत्य है। अकेले सऊदी अरब मे प्रशिक्षणार्थियों सहित रॉयल गार्ड के 5000 ट्रूप्स हैं जिनमे अधिकांश का नेतृत्व पाकिस्तानी करते है। लीबिया में लगभग 1450 पाकिस्तानी मिलिट्री के लोग हैं। उसके चार मिराज स्क्वाड्रनो में 50% पाकिस्तानी पायलट और तकनीशियन हैं। उसके 250 स्थल-सेना और 100 जल-सेना के अधिकारी भी पाकिस्तानी ही हैं। अम्मान के पास 100 पाकिस्तानी ट्रूप्स हैं। अरबों की सहायता के लिए पाकिस्तान ने अपने ट्रूप्स भेजे थे—यह सर्वविदित ही है। एक पश्चिमी पर्यवेक्षक के अनुसार 1973 के युद्ध में लीबिया और सीरिया की सहायता के लिए पाकिस्तान ने अपने पायलट भेजे थे। एक-दूसरे बयान के अनुसार सीरिया की सीमा पर पाकिस्तानी हवाई जहाजो ने सक्रिय भाग लिया था।

स्टॉफ कॉलेज क्वेटा में पाकिस्तान अपने मित्र अरब देशों के प्रशिक्षणार्थियो को प्रशिक्षण देता है। मिराज ट्रेनिंग स्कूल, जिसमें 10 मिराज, 3—डी एस. अरबो द्वारा भेंट स्वरूप दिए गए हैं, सक्रिय रूप मे कार्यरत हैं।

दिल्ली में राष्ट्रकुल का क्षेत्रीय सम्मेलन (सितम्बर 1980)

4-8 सितम्बर, 1980 को दिल्ली के विज्ञान भवन मे एशियाई और प्रशान्त देशों के 16 राज्याध्यक्षों और शासनाध्यक्षों का राष्ट्रकुल का दूसरा क्षेत्रीय सम्मेलन कई प्रकार से महत्त्वपूर्ण था। 1978 मे सिडनी में हुए पहले सम्मेलन की अपेक्षा इसमे कुछ देश अधिक शामिल हुए, जिन्हे 1979 और 1980 मे स्वाधीनता प्राप्त हुई। इन छोटे देशो की भूमिका पर राष्ट्रपति नीलम सजीव रेड्डी ने अपने उद्घाटन भाषण मे विशेष चर्चा की। पहले दिन ही इन छोटे देशो ने अपने भविष्य की भूमिका के बारे मे जिन इच्छाओ को रेखांकित किया उससे लगता था कि वे न केवल राष्ट्रकुल को दृढ़ बनाने मे ही महत्त्वपूर्ण योगदान देंगे बल्कि एशियाई और प्रशान्त क्षेत्रो के विकास मे भी उल्लेखनीय भूमिकाएँ निभायेंगे।

इस तरह के क्षेत्रीय सम्मेलनों का उद्देश्य परस्पर द्वि-पक्षीय सम्बन्धो को दृढ़ बनाना तो होता ही है, अपने क्षेत्र मे एकता और अखण्डता की भावना को दृढ करना भी उनका दायित्व है। इन उद्देश्यो मे सद्भाव की भावना का विकास करना, विभिन्न क्षेत्रो मे सम्बन्ध स्थापित करना, व्यापार के क्षेत्र मे प्राथमिकताएँ निश्चित करना, वैज्ञानिक और प्राविधि सम्बन्धी अनुभवो का आदान-प्रदान करना, औद्योगिक और प्रबन्ध सम्बन्धी क्षेत्रो मे एक दूसरे की सहायता करना आदि प्रमुख है। 1978 मे इन्ही विषयो को आधार बनाकर सयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई थी। सम्मेलन मे भाग लेने वाले देशो ने राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को प्रगाढ बनाने और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र मे सहयोग स्थापित करने पर बल दिया। दिल्ली सम्मेलन का स्वर भी सिडनी जैसा था। छोटे-बड़े सभी देशों का बिना भेदभाव एक मंच पर उपस्थित होना, परस्पर मतैक्य का ही परिचायक था। एक छोटा सा देश नौरू है जिसकी आबादी मात्र साढे सात हजार है लेकिन ससार मे

प्रति व्यक्ति सबसे ऊँची आय वाला देश (साढे बाईस हजार डालर)। इसके विपरीत भारत है जिसकी जनसंख्या 60 करोड के करीब है लेकिन प्रति व्यक्ति आय मात्र 160 डालर है। बगलादेश मे प्रति व्यक्ति आय 80 डालर है। आस्ट्रेलिया अपने आप मे एक महाद्वीप है जो 70 लाख वर्ग किलोमीटर मे फैला हुआ है लेकिन उसकी आबादी केवल एक करोड 40 लाख ही है और प्रति व्यक्ति आय 7200 डालर है। इन सभी देशो की कुल जनसख्या 70 करोड है जबकि सारे राष्ट्रकुल देशों की आबादी एक अरब से कुछ ही अधिक है। निस्सदेह इस तरह के मिले-जुले परिवार मे जिस तरह की एकता की भावना होनी चाहिए उसको दृढ करने में इस तरह के सम्मेलन उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं।

इस सम्मेलन में भिन्न देशो और उनके प्रमुख नेताओं ने अपने देश का नेतृत्व किया उनमें 12 देशो के प्रधानमन्त्री और चार देशो के राष्ट्रपति थे। भारत का नेतृत्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। अन्य देश और उनके नेता इस प्रकार थे—आस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री मालकम फ्रेजर, बगलादेश के राष्ट्रपति जियाउर्रहमान, फिजी के प्रधानमन्त्री रातु सर कामिसेसे मारा, किरीबाती के राष्ट्रपति आयरेमारिया तावाई, मलेशिया के प्रधानमन्त्री दातुक हुसैन आन, नौरू के राष्ट्रपति हैमर द राबर्ट, न्यूजीलैण्ड के प्रधानमन्त्री राबर्ट मान्डून, पापुआ न्यू गिनी के प्रधानमन्त्री सर जुलियस चान, सिंगापुर के प्रधानमन्त्री ली क्वान यू, सोलेमाने द्वीप के प्रधानमन्त्री पीटर कैनीलोरिया, श्रीलका के राष्ट्रपति जे. जयवर्द्धन, टोंगा के प्रधानमन्त्री फातेफेही तू इपलेहो, तुवालू के प्रधानमन्त्री तायोलिपि, वनुआतु के प्रधानमन्त्री वाल्टर लीनी तथा पश्चिम समोआ के प्रधानमन्त्री तुपुआला ऐफी। सम्मेलन के अलावा इन देशों के नेताओं में अनौपचारिक तौर पर भी बातचीत हुई।

13-16 फरवरी, 1978 को सिडनी मे हुए सम्मेलन मे दक्षिण एशिया, दक्षिण पूर्वेशिया, प्रशान्त महासागर, आतकवाद पर अकुश, निःशस्त्रीकरण के प्रसार, दक्षिण अफ्रीका, पश्चिमेशिया आदि समस्याओं के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मुद्दों पर विचार-विमर्श किया था। इसके साथ ही क्षेत्रीय राष्ट्रकुल देशो द्वारा परस्पर सामान्य व्यापार नीति तथा औद्योगिक विकास पर बल देते हुए ऊर्जा की निरन्तर कमी से निपटने के लिए एकजुट कदम उठाने पर जोर दिया गया था। इन कदमों में मानव स्रोतों के विकास, गैर-कानूनी ढग से बढने वाले मादक वस्तुओं के फैलाव को रोकने पर भी जोर दिया गया था। छोटे देशो की समस्याओं को सही ढग से सुलझाने के लिए एक विशेष मच की स्थापना का अनुभव किया गया। इस बात की भी आवश्यकता महसूस की गई कि इन छोटे देशो के पास कच्चे माल की बहुलता का किस प्रकार से इस्तेमाल किया जा सकता है।

इस समय इस तरह के सम्मेलनो के आयोजन को लेकर तरह-तरह के प्रश्न किए गए। कुछ विश्लेषण-कर्ताओं का यह भी मानना था कि वर्तमान सम्मेलन का आयोजन भारत मे जरूर हुआ है लेकिन उसका लाभ आस्ट्रेलिया को होने वाला है। यह भी दिया गया कि भारत के पड़ौसी देशो मे मुख्यतया बंगलादेश और श्रीलका भी आते हैं, जबकि अन्य सभी देश आस्ट्रेलिया के अधिक निकट हैं। यहाँ तक कि

मलयेशिया और सिंगापुर भी अपने आपको भौगोलिक तौर पर आस्ट्रेलिया के अधिक नजदीक पाते हैं। 'एशियन' देशों का महत्त्वपूर्ण होने के नाते आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के साथ इनका विशेष तालमेल है। प्रशान्त महासागर में स्थित छोटे देश भी आचार-व्यवहार तथा परम्पराओं के कारण अपने आप को आस्ट्रेलिया के अधिक पास पाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे आस्ट्रेलिया से हर तरह की सहायता की अपेक्षा भी कर सकते हैं। पापुआ और न्यूगिनी कभी आस्ट्रेलिया के ही भाग थे। बेशक अब वह स्वाधीन हो गया है लेकिन आस्ट्रेलिया का वर्चस्व वहाँ बना हुआ है।

आस्ट्रेलिया बड़ा देश है ही और उसे एकदेशीय महाद्वीप भी कहा जाता है। नामुमकिन नहीं कि आस्ट्रेलिया नव-स्वाधीन छोटे-छोटे देशों जैसे तुवालु, वनुआतु सोलोमन द्वीपसमूह पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करना हुआ उनके विकास-कार्य में योगदान दे। प्रशान्त सागर स्थित ये देश खनिज में खासे सम्पन्न हैं और उनके कच्चे माल के दोहन में आस्ट्रेलिया को यह सस्ता भी पड़ेगा और जल्द भी उपलब्ध हो सकेगा। उनके कच्चे माल के एवज में वह अपना माल बड़े पैमाने पर इन छोटे देशों में खपा कर अपनी व्यापारिक स्थिति मजबूत बना सकता है। इस व्यापारिक स्थिति द्वारा ही वह सरकार और लोगों के दिल में अपने लिए स्थान बना सकता है। समय-समय पर उनके द्वारा चाही गई आर्थिक और सामरिक सहायता भी देने की वह स्थिति में है। इस तरह की अटकलें लगाई जा रही हैं कि प्रशान्त के इन छोटे देशों को अलग-अलग समूहों में गठित करने की आस्ट्रेलिया की एक दूरगामी योजना है। यदि यह योजना कार्यान्वित होती है तो देरसवेर इसका वैसा ही स्वरूप होगा जैसा अमेरिका का पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ है या सोवियत संघ और पूर्व यूरोप के देशों के बीच है। माल्कम फ्रेजर आस्ट्रेलिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर इसलिए जोर दे रहे हैं।

भारत के राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने कहा कि भारत ने राष्ट्रमण्डल के स्वरूप का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उन्होंने कहा कि राष्ट्रमण्डल हम सबके लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है अगर हम इसके गतिशील ढाँचे की उन्नत क्षमता का उपयोग बेहतर उद्देश्य के लिए करें। इस सम्मेलन की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि यह कार्यात्मक सहयोग की व्यवस्था में कितनी जीवन-शक्ति का संचार कर सकता है। इस सम्मेलन से सदस्य देशों के बीच और अधिक सहयोग के लिए सम्भावित नए क्षेत्र सुनिश्चित करने में सहायता मिलेगी। अनौपचारिक वातावरण में विचारों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया राष्ट्रमण्डल की भावना का निचोड़ है।

प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी ने कहा कि हम सच्चे अर्थों में एक दूसरे पर निर्भर रहने में विश्वास रखते हैं लेकिन जब तक सभी के हित समान नहीं होंगे इस प्रकार की परस्पर निर्भरता का कोई अर्थ नहीं होगा। राष्ट्रों तथा लोगों के हितों की यह पारस्परिक समानता, जिसकी कि परस्पर निर्भर रहने वाले विश्व में माँग है, का लक्ष्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि न्याय और समानता पर आधारित एक नयी

विश्व-व्यवस्था की स्थापना करने में हम सफल न हो जाएँ। श्रीमती गांधी ने तेल-संकट का उल्लेख करते हुए कहा कि तेल के संकट से विकसित तथा समृद्ध देश भी प्रभावित हुए हैं जो निरन्तर घटते जा रहे हैं। इस संसाधन के लिए वे काफी बड़े भाग का उपयोग करते हैं। अधिक से अधिक तेल प्राप्त करने के उनके प्रयासों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यह बहुत ही आवश्यक लग रहा है कि तेल-उत्पादक एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करके एक ऐसी योजना बनाएँ जिससे सभी बड़े-छोटे उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकता के अनुसार तेल की सप्लाई सुनिश्चित हो सके। उन्होंने कहा कि शान्ति, समझौते और विकास में हम सबकी जो एक समान दिलचस्पी है उसी वजह से हम सभी यहाँ एकत्र हुए हैं परन्तु शान्ति की सम्भावनाओं में कमी आई है और हम सर्वत्र अस्थिरता की स्थिति देख रहे हैं। शक्तिशाली राष्ट्रों के हितों में टकराहट की वजह से हमारे आस-पास के देशों की स्थिरता और शान्तिपूर्ण विकास को खतरा उत्पन्न हो गया है। सामरिक महत्त्व के संघर्षों के दबाव से कोई राष्ट्र अछूता नहीं रह सकता है न ही वह युद्ध की लपट से बचा रह सकता है। अब सबसे अधिक शक्तिशाली देश भी स्वयं को असुरक्षित समझ रहे हैं। अफगानिस्तान संकट का उल्लेख करते हुए कहा कि यह संकट अक्षुण्ण बना हुआ है। हम किसी भी राष्ट्र के अन्दरूनी मामलों में किसी प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध हैं लेकिन ऐसी जटिल समस्याओं को जिनके दूरगामी परिणाम हो सकते हैं, सुलझाने में तरफदारी का रुख या तात्कालिक सम्मेलन राजनीतिक बुद्धिमता का स्थान नहीं ले सकते। दक्षिण-पूर्व एशिया की स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा कि यह रणस्थली रही है और अभी भी वहाँ अशान्ति है। वहाँ फिर बड़ी शक्तियों के स्वार्थ की टकराहट हो रही है।

ओटावा शिखर सम्मेलन (जुलाई 1981)

विश्व के सात विकसित राष्ट्रों के जुलाई 1981 के ओटावा शिखर सम्मेलन में अनेक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के बावजूद पूर्व-पश्चिम व्यापार, गरीब व अमीर देशों के बीच संवाद तथा विश्व में नई अर्थव्यवस्था लाने के उपायों आदि जैसे प्रश्नों पर अधिक प्रगति नहीं हुई। हाँ, इतना जरूर हुआ कि विकासशील देशों के साथ सहयोग और उन्हें सहायता देते रहने के प्रश्न पर विकसित देशों ने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया। आगामी मैक्सिको शिखर सम्मेलन में उत्तर-दक्षिण आर्थिक संवाद के बारे में ब्रांट आयोग की सिफारिशों पर विचार-विनिमय के लिए सभी विकसित देश सहमत हो गए।

परस्पर हित—विकासशील देशों के साथ सहयोग और उनकी सहायता को विकसित देशों ने परस्पर हित का प्रश्न माना। एक प्रकार से इस शिखर सम्मेलन द्वारा पश्चिमी देशों ने विकासशील देशों को आश्वासन ही दिया कि सद्भाव और सहमति की भावना के साथ सहयोग और विकास में इनकी सहायता की जाएगी। सम्मेलन के बाद प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि सभी विकसित देश विश्व अर्थव्यवस्था पर नये सिरे से विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के लिए

तैयार हैं। इस बातचीत से तीसरी दुनिया के देशो को विकास सहायता देने के पश्चिमी कार्यक्रमो मे समन्वय रखा जा सकेगा। नई अर्थव्यवस्था पर अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता सम्बन्धी सम्मेलन के निर्णय को महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना गया।

नई अर्थव्यवस्था पर अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के बारे में अमेरिका को शिखर सम्मेलन शुरू होने से पहले ही कुछ आपत्ति थी, लेकिन ओटावा शिखर सम्मेलन ने अमेरिकी आपत्ति को अनदेखा करते हुए यही तय किया कि इस प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता की प्रक्रिया शुरू हो जानी चाहिए। निश्चय ही इसके अच्छे परिणाम निकलेंगे। शिखर सम्मेलन के बाद अमेरिकी प्रतिनिधियो ने स्पष्ट किया कि अमेरिकी सहायता के बारे में भावी स्तर को लेकर रीगन प्रशासन ने कोई वचन नही दिया है।

विकासशील देशों के लिए ऊर्जा के नये स्रोतो के ढूँढने के बारे में एक विश्व ऊर्जा बैंक बनाने के यूरोपीय सुझाव का इस शिखर सम्मेलन मे प्रत्यक्ष रूप से कोई उल्लेख नही हुआ लेकिन सभी सात विकसित देशो ने इस पर सहमति व्यक्त की कि इस प्रकार के उपाय ढूँढने की कोशिश की जानी चाहिए और हम इसके लिए तैयार हैं। तेल-उत्पादक देशो से शिखर सम्मेलन की ओर से अनुरोध किया गया कि ऊर्जा के क्षेत्र मे वे विकासशील देशों की भरसक सहायता करें।

संयुक्त विज्ञप्ति—सम्मेलन के बाद प्रकाशित व्यापक सयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि "आज की परस्पर निर्भरता की दुनिया में विश्व की अर्थव्यवस्था में बड़ी तेजी से परिवर्तन आ रहे है और अपनी नीतियाँ निर्धारित करते समय विकसित देशों को इन सभी बातो को ध्यान में रखना होगा। हम सहयोग की भावना से इस आर्थिक चुनौती का सामना करने का अपना निश्चय व्यक्त करते हैं। अपने देश के लोगो की आवश्यकताएँ पूरी करने और विश्व में आर्थिक समृद्धि बढ़ाने तथा उसे सुदृढ करने के लिए विकसित देशों को अपनी अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन लाने होंगे।" विकसित देशो की अर्थव्यवस्था मे बहुत से परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव करने के साथ-साथ शिखर सम्मेलन मे मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण पाने की *आवश्यकता पर सबसे अधिक जोर दिया गया।*

संयुक्त विज्ञप्ति की एक और महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि विकासशील देशों की स्थिरता और स्वतन्त्रता तथा गुट-निरपेक्ष नीति का सभी विकसित देशों ने समर्थन किया और इन सभी देशो की प्रभुसत्ता तथा स्वतन्त्रता का सम्मान करते हुए इनके साथ पूर्ण सहयोग का वचन दिया। यह बात भी विकसित देशो ने स्वीकार की कि विश्व अर्थव्यवस्था मे विकासशील देशो की महत्त्वपूर्ण भूमिका और सहयोग उनके अपने हित में है। साथ ही विकसित देशों ने सोवियत सघ से विशेष रूप से अनुरोध किया कि वह विकास सहायता के लिए और अधिक धनराशि उपलब्ध कराए, और विकासशील देशो के निर्यात मे पहले से अधिक भाग ले, लेकिन साथ ही इन देशों की प्रभुसत्ता और गुटनिरपेक्षता का ध्यान रखा जाना चाहिए।

ओटावा सम्मेलन ने विकासशील देशो में अन्न की उपज बढ़ाने की आवश्यकता को सर्वाधिक महत्त्व दिया। सम्मेलन का विचार था कि इन देशो मे अनाज और

कृषिजन्य पदार्थों के मूल्य कम होना बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार जनसंख्या वृद्धि पर सम्मेलन ने अत्यधिक चिन्ता व्यक्त की। उनका विचार था कि यद्यपि विकासशील देशों में जनसंख्या पर नियन्त्रण पाने के लिए व्यापक उपाय किए जा रहे हैं लेकिन फिर भी इस दिशा में बहुत कुछ करने की जरूरत है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ये प्रयत्न किए जाने चाहिए। व्यापार में उदार नीति अपनाने और 'गेट्ट' समझौते के अनुसार व्यापार प्रणाली को विकसित करने की बात संयुक्त विज्ञप्ति में साफ तौर से कही गई।

उत्तर-दक्षिण संवाद के प्रश्न पर अमेरिका की पराजय—ओटावा शिखर सम्मेलन शुरू होने से पहले ही अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने विकसित देशों के शासनाध्यक्षों से अनुरोध किया था कि प्रस्तावित सम्मेलन में तीसरी दुनिया के देशों को सहायता देने अथवा उनसे सहयोग के प्रश्नों पर उतना नहीं जितना कि विकसित देशों के द्वि-पक्षीय मामलों पर विचार किया जाना चाहिए, लेकिन ओटावा शिखर सम्मेलन के शुरू होते ही अमेरिका के इस अनुरोध की अवहेलना स्पष्ट दिखाई पड रही थी। सात राष्ट्रों के इस शिखर सम्मेलन ने संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित होने से पहले ही विकासशील देशों के प्रश्न पर कुछ ऐसे निर्णय ले लिए थे जिन्हें अन्ततः अमेरिका को मानना ही पडा। नई विश्व अर्थव्यवस्था के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता को लेकर एक प्रकार से इस सम्मेलन में अमेरिका की पराजय ही हुई। फ्रांसीसी राष्ट्रपति फ्रांस्वा मितेरा, पश्चिम जर्मनी के चांसलर हेल्मूट श्मिड्ट और कनाडा के प्रधानमन्त्री पियेरे त्रूदो ने अर्थव्यवस्था सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता में पश्चिमी देशों के भाग लेने की जोरदार हिमायत की। जापान, इटली और ब्रिटेन के प्रधानमन्त्रियों ने भी यही विचार व्यक्त किया।

सोवियत संघ के साथ इस सम्बन्ध में वार्ता को लेकर प्रायः सभी विकसित देशों की राय थी कि शक्ति के आधार पर ही सोवियत संघ से बात हो सकती है। कनाडा के प्रधानमन्त्री पियेरे त्रूदो ने तो यहाँ तक कह दिया कि सामरिक दृष्टि से सोवियत संघ को श्रेष्ठता प्राप्त करने की इजाजत नहीं दी जा सकती, पर इस बात पर सभी सहमत थे कि निःशस्त्रीकरण तथा विश्व शान्ति आज के विश्व की सबसे बडी आवश्यकता है। पश्चिमेशिया के बारे में विकसित देश चिन्ता व्यक्त करके ही रह गए। इजरायल और अरब देशों में संयम से काम लेने का अनुरोध जरूर किया गया लेकिन इस सम्बन्ध में कोई विशेष योजना तथा सुझाव सम्मेलन के सामने नहीं आए।

ओटावा शिखर सम्मेलन की संयुक्त विज्ञप्ति से आभास मिला कि उत्तर-दक्षिण संवाद और विकासशील देशों को सहायता आदि जैसे प्रश्नों पर भी विकसित देश सहमत थे लेकिन कच्चे माल और विकसित देशों के बाजारों में विकासशील देशों के तैयार माल की बिक्री के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ देने तथा मुद्रा-सुधार आदि जैसे प्रश्नों पर विज्ञप्ति में कुछ नहीं कहा गया। कुल मिलाकर नई अर्थव्यवस्था के प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता और विकासशील देशों की सहायता, इस सम्मेलन की

प्रगति कही जा सकती है परन्तु विकसित देशों ने अपनी समस्याओं को लेकर सम्मेलन में जितना विचार-विमर्श किया है उतना विकासशील देशों की तात्कालिक समस्याओं का विचार नहीं किया गया, फिर भी ओटावा सम्मेलन नई विश्व अर्थव्यवस्था की स्थापना की दिशा मे एक बहुत बडा कदम कहा सकता है।

ऐंटिगुआ : 349 साल बाद स्वाधीन

31 अक्तूबर, 1981 को आधी रात के बाद ब्रिटेन ने अपने एक और उपनिवेश ऐंटिगुआ को स्वाधीनता प्रदान कर दी। 349 साल तक ब्रितानी शासन मे रहने के बाद इस द्वीप को आजादी के दस्तावेज राजकुमारी मारग्रेट के हाथों से प्राप्त हुए। *कैरेबियाई सागर मे स्थित ऐंटिगुआ के अलावा बरबुदा* और रिडोंडा द्वीप इस नवस्वाधीन देश के भाग हैं।

प्रधानमन्त्री बर्ड ने क्रिकेट मैदान मे जुडे लोगो से स्वाधीनता दिवस पर दिए गये अपने भाषण में जहाँ ब्रिटेन से पुख्ता मैत्री की प्रतिबद्धता व्यक्त की वहाँ अपने देश के युवाओं से अनुशासन और बड़े परिश्रम से ऐंटिगुआ को नई शक्ल देने का आग्रह किया। बेशक ऐंटिगुआ के ब्रिटेन से औपचारिक सम्बन्ध समाप्त हो गए लेकिन उनसे एक नए तरह का रिश्ता कायम हुआ है—परस्पर मैत्री और समानता का।

यद्यपि अभी तक तीनो द्वीपों में एकता है लेकिन बड़े द्वीप बरबुदा में पृथकतावादी तत्त्व सक्रिय हैं, जहाँ की जनसख्या मात्र डेढ हजार है। 1974 से लेकर अभी तक जो छोटे-छोटे द्वीप स्वाधीन हुए हैं वे हैं ग्रेनाडा, सेंट लूसिया, डोमानिका और सेंट विसेंट। इन सभी द्वीपो की आबादी सवा लाख से कुछ कम ही होगी। देखना यह है कि प्रधानमन्त्री बर्ड किस प्रकार अपने देश के भीतर के पृथकतावादी तत्त्वों और पडौसियो में तालमेल बिठाने में सफल होते हैं।

राष्ट्रकुल सम्मेलन, सितम्बर–अक्तूबर 1981

मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) में 45 में से 41 राष्ट्रकुल देशों के राज्याध्यक्षों और शासनाध्यक्षो का आठ दिवसीय (30 सितम्बर से 7 अक्तूबर 1981) शिखर सम्मेलन कई मायने में महत्त्वपूर्ण और उपयोगी रहा। जहाँ एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका, यूरोप के कई छोटे-बड़े देशो के नेता जुडे हो, उनमें मतभेद होना कोई अनहोनी बात नही। अलबत्ता किन्ही मुद्दो पर सहमति को बेशक उपलब्धि माना जाएगा। मोटे तौर पर आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के मुद्दों पर सभी देशों मे लगभग सहमति थी, औद्योगीकृत उत्तर और अविकसित दक्षिण के देशो में निरन्तर बढती हुई खाई पर भी चर्चा हुई। उत्तर-दक्षिण संवाद द्वारा दूरी कम करने के प्रयास सफल नही हुए। गुटनिरपेक्ष देशो का अगला शिखर सम्मेलन (1983) नई दिल्ली में आयोजित होने के फैसले के बाद मेलबोर्न सम्मेलन सद्भावपूर्ण वातावरण में समाप्त हो गया।

सम्मेलन मे दो बड़े देशों—अमेरिका और सोवियत सघ मे बढती हुई स्पर्द्धा से विश्व और मानव-जाति को सम्भावित सकट की ओर धकेलने की प्रवृत्ति को

ओर भी ध्यान दिलाया गया। 30 सितम्बर को अपने उद्घाटन भाषण में आस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री माल्कम फ्रेजर ने कहा कि राष्ट्रकुल सम्मेलन कुछ ही दिनों बाद होने वाले उत्तर-दक्षिण संवाद के लिए सोचने के विभिन्न मुद्दे छोड जाएगा। उन्होंने नामीबिया के बारे में दक्षिण-अफ्रीका के रवैये की भी आलोचना की। ब्रितानी प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थैचर ने आर्थिक मुद्दों के लिए व्यावहारिक और रचनात्मक रवैया अपनाने का आग्रह किया। उनके अनुसार इस समस्या का समाधान वर्तमान धन का पुनर्वितरण नहीं है, बल्कि नये धन की प्राप्ति के लिए स्थितियाँ और स्रोत तैयार करना है। प्रधानमन्त्री फ्रेजर ने भारत के पहले प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू की भी याद की जो राष्ट्रकुल के सस्थापक सदस्यों में से थे और जिन्होंने अपने जीते जी सभी सम्मेलनों में भाग लिया। जिवाब्वे के प्रधानमन्त्री राबर्ट मुगाबे ने राष्ट्रकुल द्वारा उनके देश को स्वाधीनता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख करते हुए दक्षिण-अफ्रीका के प्रति अमेरिका की मैत्री की नीति का विरोध किया। उनके अनुसार इससे नामीबिया की स्वाधीनता में विलम्ब ही होगा।

पहले दिन के भाषणों में पाँच प्रमुख वक्ताओं में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी थी। जिस प्रकार स्वर्गीय पण्डित नेहरू विश्व-राजनीति का व्यापक सर्वेक्षण करते थे वैसी ही भूमिका श्रीमती गाँधी ने मेलबोर्न सम्मेलन में निभायी। श्रीमती गाँधी ने शुरुआत अपने देश से की। पाकिस्तान का नाम लिये बिना कहा कि आज सुरक्षा और मैत्री के स्थान पर अतिरिक्त आधुनिक सैनिक साज-सामान खरीदा जा रहा है। धीरे-धीरे शीतयुद्ध के खतरे का विस्तार होता जा रहा है जो हमारे द्वार पर दस्तक देता दीखता है। हमने द्वि-पक्षीय वार्ताओं द्वारा शान्तिपूर्ण स्थितियाँ स्थापित करने का हमेशा प्रयास किया।

श्रीमती गाँधी ने कहा कि इस समय विश्व दो बड़े सकटों के दौर में है। पहला और बड़ा खतरा दो बड़े देशों में मुठभेड की भावना है जिसके फलस्वरूप वे अपने अस्त्रों के भण्डारों—परमाणु और परम्परागत दोनों को बढाने की दौड में लग गए हैं। दूसरा मुद्दा अविकसित देशों में आर्थिक क्षेत्र में निराशा की भावना है। इससे मानव-जाति घुटन का अनुभव करती है और विकसित और विकासशील देशों में खाई निरन्तर बढ़ती जा रही है। इन मुद्दों को दृष्टिकोण में रखते हुए राष्ट्रकुल की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है लिहाजा सदस्य देशों ने बड़ी शक्तियों से सचित और सन्तुलित रवैया अपनाने के लिए अपने-अपने प्रभावों के इस्तेमाल का आग्रह किया। आर्थिक मुद्दों पर प्रधानमन्त्री का विचार था कि सम्पन्न देश सरक्षणवादी नीतियाँ अपना रहे हैं। एक ओर तो आयातित मशीनों और औद्योगिक वस्तुओं की कीमतें बढ़ रही हैं जिससे विकासशील देशों की आर्थिक स्थिति दोराहे पर खड़ी है। दिलचस्प बात तो यह है कि बड़े देश अपनी मशीनें तो विकासशील देशों को बेच देते हैं, लेकिन उन मशीनों से बने माल का आयात नहीं करते। बेशक तेल की मूल्यवृद्धि का प्रभाव बड़े औद्योगिक देशों पर भी पड़ा है लेकिन अपने निरन्तर

बढ़ते निर्यात से उस पर वे पार पा ले जाते है जबकि गैर तेल उत्पादक देशों पर चारों ओर से दबाव पड़ता है और बढ़ता जा रहा है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि राष्ट्रकुल की यह आवाज कानकुन मे उत्तर-दक्षिण सवाद के कानों तक पहुँचेगी। आर्थिक स्थिति के बारे मे अलबत्ता राष्ट्रकुल के महासचिव श्रीदत्त रामफल ने 16 सूत्री कार्यक्रम प्रसारित किया।

कम्पूचिया और अफगानिस्तान के मुद्दो पर हुई बहस में श्रीमती गांधी ने कहा कि भारत चाहता है कि सोवियत सेनाएं अफगानिस्तान से हटें लेकिन यह सम्बन्धित पक्षो में राजनैतिक वार्ता द्वारा ही सम्भव है। उन्होंने कहा कि उन्होंने कम्पूचिया में हेङ सामरिन की सरकार को मान्यता सभी पक्षो का जायजा लेने के बाद दी है। प्रधानमन्त्री के भाषण के बाद जाम्बिया के राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा ने कहा—'इन्दिरा जी लुसाका सम्मेलन में हमे आप का अभाव खला था।' प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी का केनबरा मे प्रेस क्लब का दो घण्टे का सवाददाता सम्मेलन वास्तव मे चर्चा का विषय था। सभी मुद्दों पर बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिए गए। जैसे पाकिस्तान को राष्ट्रकुल मे शामिल किए जाने के भारत के विरोध के उत्तर मे कहा कि वह अब राष्ट्रकुल मे क्यो शामिल होना चाहता है जबकि 1972 मे उसने इसकी सदस्यता छोड़ी थी तब तो वहाँ लोकतन्त्री सरकार थी।

अन्तिम दिन की वार्ता के बाद जारी होने वाली संयुक्त विज्ञप्ति के प्रारूप मे 41 देशो के शासनाध्यक्षो ने सोवियत सघ और अमेरिका दोनों से हिन्द महासागर से सैनिक साज-सामान हटाने की मांग की ताकि तनाव समाप्त हो सके। अफगानिस्तान से सोवियत सैनिको और कम्पूचिया से वियतनामी सैनिको को हटाये जाने की मांग भी की गई। यद्यपि सयुक्त विज्ञप्ति के प्रारूप मे दक्षिण-अफ्रीका का जिक्र नही है लेकिन आशा व्यक्त की गई कि 1982 के मध्य तक वह नामीबिया को स्वाधीनता प्रदान कर देगा। प्रारूप मे पश्चिमेशिया, अफगानिस्तान और दक्षिण-पूर्वेशिया के मसलो पर कड़ा रुख अख्तियार किया गया है। प्रारूप मे वेनेजुएला और गुयाना में सीमा विवाद को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने पर भी बल दिया गया और वेनेजुएला द्वारा, गुयाना के दो तिहाई भाग के दावे पर क्षोभ व्यक्त किया गया है। यद्यपि श्रीमती गांधी और अफ्रीकी देश राष्ट्रकुल सम्मेलन मे अपने विचार व्यक्त करने और विश्व के राजनीतिज्ञो का ध्यान आकर्षित करने मे सफल रहे, लेकिन न्यूजीलैण्ड के प्रधानमन्त्री रॉबर्ट मल्डून, ब्रितानी प्रधानमन्त्री श्रीमती थैचर आदि इस सम्मेलन से अधिक प्रसन्न नही दीखे। कनाडा के प्रधानमन्त्री पियेरे त्रूदो ने अलबत्ता अफ्रीका के देशो के साथ नामीबिया की स्वाधीनता के प्रयास और 'स्वापो' को सत्ता सौंपने की मांग का समर्थन किया लेकिन थैचर जो शुरू मे इस मुद्दे पर उदासीन रहीं, बाद मे सदस्य देशो को खासतौर पर अफ्रीकी देशो को, अपनी प्रभावी भूमिका का आश्वासन दिलाया।[1]

1 दिनमान अक्तूबर 1981, पृष्ठ 29-30.

मेलबोर्न सम्मेलन मे भारत का वर्चस्व

मेलबोर्न के राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन का मूल्यांकन भारत के सन्दर्भ में भी करना होगा, क्योंकि यह सम्मेलन एक दृष्टि से भारत की सफलता का सम्मेलन था। विषम परिस्थितियों और प्रबल विरोधी शक्तियो के बावजूद श्रीमती गांधी ने सम्मेलन में भारत की आवाज को ऊँचा उठाया और भारतीय नेतृत्व तथा नीतियों की छाप छोड़ी। भारत के सन्दर्भ मे इस सम्मेलन का सही मूल्यांकन हमे 'शरदेन्दु' के इन शब्दों मे मिलता है।[1]

'मेलबोर्न मे सम्पन्न राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन भारत की नीतियों, विशेषकर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के व्यक्तित्व तथा उनकी नीतियों की सफलता के लिए स्मरण किया जाएगा। अफगानिस्तान, कम्पूचिया, हिन्द महासागर जैसे विवादग्रस्त प्रश्नों पर भारत के दृष्टिकोण को व्यापक समर्थन मिला। तकनीकी सहयोग के लिए राष्ट्रमण्डल कोष को फिर से सक्रिय करने और मैक्सिको मे निकट भविष्य मे हो रहे उत्तर-दक्षिण 'कानकुन' सम्मेलन मे विकासशील देशों की ओर से एक साहसिक रुख अपनाने तथा नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए विकसित विकासशील सवाद को बहुप्रतीक्षित राजनीतिक गति प्रदान करने का भी निश्चय किया गया। यह कम महत्त्वपूर्ण बात नही है। राष्ट्रमण्डल मे सम्मिलित 41 देशो का जो विश्व की एक चौथाई जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर उनकी आवाज का प्रभाव पड़ना निश्चित है।

सम्मेलन की विज्ञप्ति--अफगानिस्तान और कम्पूचिया, इन दोनों प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादो पर विदेशी सेनाओ के हटाए जाने के साथ उनके राजनीतिक हल पर जोर दिया गया। भारत की निरन्तर यही नीति रही है कि श्रीमती थैचर की तथा उनके कुछ समर्थकों की, इस बात को किसी ने गम्भीरता से नहीं लिया कि अफगानिस्तान मे सोवियत सघ से बिना शर्त सेनाएँ हटाने को कहा जाए। साथ ही अफगानिस्तान के अन्दर तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र की स्थिति और उसके फलितार्थ पर गहरी चिन्ता प्रकट कर राज्याध्यक्षों ने भारत की चिन्ता और आशका को ही अभिव्यक्ति दी। भारत बराबर यह कहता रहा है कि इस क्षेत्र मे पाकिस्तान को आधुनिकतम हथियार दिए जाने से नए तनाव पैदा होंगे और शान्ति-सुरक्षा को खतरा बढ़ेगा।

हिन्द महासागर के प्रश्न पर सम्मेलन ने इस बात पर निराशा व्यक्त की कि तटवर्ती तथा पृष्ठराज्यों की इच्छाओं के विपरीत उसमें बाहरी शक्तियों की सैनिक गतिविधियाँ बढ़ी हैं और शान्ति-सुरक्षा की स्थिति मे बिगाड़ हुआ है। इससे 1971 के संयुक्त राष्ट्रीय घोषणा-पत्र मे हिन्द महासागर को शान्ति-क्षेत्र मानने की धारणा को आघात पहुँचा है। सम्बद्ध राज्यों के क्षेत्र मे तनाव के स्रोत दूर करने के उपाय खोजने मे सहयोग की माँग भी की गई है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मेलबोर्न सम्मेलन भारत की सफलता का

[1] हिन्दुस्तान, 9 अक्तूबर 1981

सम्मेलन रहा, लेकिन इस सफलता को सही-सही और पूरे परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए हमें कुछ अन्य बातों पर भी ध्यान देना होगा।

लुसाका सम्मेलन—मेलबोर्न सम्मेलन से पहले राष्ट्रमण्डल लुसाका (जैम्बिया) में हुआ था। उस समय हमारे देश में जनता पार्टी की सरकार पदारूढ थी। श्री अटल बिहारी बाजपेयी के पाँव अपने देश की धरती पर बहुत कम टिक पाते थे और वह अपनी पार्टी की तथा भारत की विदेश-नीति समझाने के लिए विभिन्न राजधानियों के चक्कर लगाते रहते थे।

यह एक दुःखद सत्य है कि हमारे विदेश मन्त्री के कठोर परिश्रम के बाद भी लुसाका सम्मेलन में और उसके बाद हवाना में हुए निर्गुट सम्मेलन में, हमारे प्रतिनिधियों की आवाज बहुत दबी-दबी सी रही। इस सम्बन्ध में मेलबोर्न में जैम्बिया के राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा के इन्दिराजी से कहे गये ये शब्द दिलचस्प थे : "हमें लुसाका में आपकी बहुत याद आई।"

ऐसी बात नहीं कि हमारी विदेशनीति में कोई मौलिक परिवर्तन आ गया था। जनता सरकार भी नेहरू जी की निर्गुट विदेश नीति पर ही चलने का दावा करती थी। वास्तविकता यह है कि आपसी झगड़ों के कारण जनता पार्टी को विदेश नीति की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला था। मिला होता, तो हमारा ख्याल है, हमारे देश की विदेश नीति भी वैसे ही बदल गई होती जैसे नासिर के बाद मिस्र की बदल गई। शासन से हटने के बाद तत्कालीन विदेशमन्त्री और तत्कालीन जनता पार्टी के प्रमुख नेता आज जिस प्रकार के वक्तव्य दे रहे हैं, उससे हमारे इस ख्याल को बल मिलता है।

भूतपूर्व इजरायली विदेशमन्त्री मोशे दायाँ ने अपनी एक पुस्तक में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के साथ अपनी एक गुप्त भेंट का उल्लेख किया है। वह काफी आशाओं के साथ दिल्ली आए थे, लेकिन यदि मोरारजी उनसे सहानुभूति रखते हुए भी उनकी आशाओं को पूरा नहीं कर सके तो इसीलिए कि जनता में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया होने का भय था। हाँ, यदि जनता पार्टी को कुछ अधिक समय शासन का अवसर मिल जाता, तो परिवर्तन सम्भव था।

अतः पहली बात तो यह है कि लुसाका सम्मेलन की पृष्ठभूमि में हमें मेलबोर्न सम्मेलन में इन्दिराजी की सफलता को आँकना चाहिए।

रीगन प्रशासन का रुख—दूसरी बात वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की है। अमेरिका में जब से रीगन प्रशासन आया है, वह निरन्तर हमको नीचा दिखाने, हमारी कठिनाइयाँ बढ़ाने, हमारी सीमा पर हथियारबन्दी करने और हमको अपने मित्रों से काटने के प्रयत्न कर रहा है। यह एक दुःखद स्थिति है। भारत और अमेरिका विश्व के दो सबसे बड़े लोकतान्त्रिक देश हैं और उनका हित सहयोग में है, टकराव में नहीं। लोकतन्त्र के भविष्य के हित में भी यही है कि लेकिन अभी अमेरिकी नीतियों में परिवर्तन का कोई संकेत नहीं मिल रहा है। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात की हत्या के बाद आए तो वह नहीं सकते।

अफगानिस्तान और कम्पूचिया, ये दो प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवाद ऐसे हैं जिनकी आड़ में हमको काटने के ये प्रयत्न जारी हैं। इन्दिराजी ने राष्ट्रमण्डल

सम्मेलन में जिस प्रकार अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया, उससे हमारे आलोचकों को भी हमारे पक्ष को स्वीकार करना पड़ा।

यही कारण है कि राष्ट्रमण्डल सम्मेलन में भारत और इन्दिराजी की एक नयी छवि उभरकर सामने आई। निर्गुट, विकासशील और अविकसित देशों को पुनः यह विश्वास होने लगा कि नासिर-नेहरू-टीटो त्रिगुट के रंगमंच से विदा हो जाने के बाद अब इन्दिराजी ही उनको सबल नेतृत्व प्रदान कर सकती हैं। लुसाका और हवाना में हमने जो प्रतिष्ठा खोई थी, वह मेलबोर्न में पुनः प्राप्त कर ली, बल्कि उसे पहले से अधिक बढ़ा लिया।

इस सम्बन्ध में हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि मेलबोर्न में इन्दिराजी की टक्कर एक अन्य महिला प्रधानमन्त्री मार्ग्रेट थैचर से थी। एक तो ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री होने के नाते, जिसे राष्ट्रमण्डल का नेता समझा जाता रहा है, दूसरे स्वयं लौह-महिला के रूप में विख्यात होने के कारण थैचर की इन्दिराजी से यह टक्कर अत्यन्त दिलचस्प थी।

मेलबोर्न और कैनबरा में हुआ इन्दिराजी का भव्य स्वागत, उनका संवाददाता सम्मेलन, अन्तिम विज्ञप्ति में भारतीय दृष्टिकोण का ऊपर रहना, इन सब बातों से किसी को सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि दो लौह-महिलाओं की टक्कर में विजय किसकी रही। पहली बार यह महसूस हुआ कि राष्ट्रमण्डल का नेतृत्व ब्रिटेन के हाथों से निकल गया है। श्रीमती थैचर ने भी जरूर वैसा ही अनुभव किया होगा जैसा ऊँट पहाड़ के नीचे आने पर करता है। इसके लिए श्रीमती थैचर की वह नीति ही जिम्मेदार है जिसके अन्तर्गत वह हर प्रश्न पर राष्ट्रपति रीगन की नीतियों के अनुकरण का प्रयत्न कर रही है।

मेलबोर्न सम्मेलन के बाद अब हमें 1983 में नयी दिल्ली में अगले राष्ट्रमण्डल सम्मेलन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

कैनकुन शिखर सम्मेलन
(अक्टूबर 1981)

कैरेबियन सागर के तटवर्ती द्वीप पर बसे कैनकुन शहर में 22-23 अक्टूबर 1981 को निम्नलिखित 22 देशों का एक शिखर सम्मेलन तीसरी दुनिया के आर्थिक संकट के सन्दर्भ में हुआ—

1. संयुक्त राज्य अमेरिका, 2 कनाडा, 3 ब्रिटेन, 4. फ्रांस, 5. पश्चिमी जर्मनी, 6. स्वीडन, 7 आस्ट्रिया, 8 जापान, 9. यूगोस्लाविया, 10. चीन, 11. भारत, 12. सऊदी अरब, 13. नाइजीरिया, 14 तन्जानिया, 15 अल्जीरिया. 16. बंगला देश, 17 फिलिपाइन्स, 18. मैक्सिको, 19 वेनेजुएला, 20. गुयाना, 21. आईवरीकोस्ट, तथा 22. ब्राजील।

सूची से स्पष्ट है कि 14 चुनिंदा देशों के प्रतिनिधि, 8 अमीर देशों के सर्वोच्च नेताओं से विचार विमर्श के लिए कैनकुन में आए। अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन आये ही इस शर्त पर कि बातचीत के लिये कोई पूर्व निर्धारित कार्य-सूची नहीं होगी और

दो दिन के शिखर मिलन के बाद संयुक्त विज्ञप्ति भी प्रकाशित नहीं की जायेगी। इसके कई कारण थे। एक तो यही कि विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सम्मिलित बैठक में वह अपना रवैया प्रकट कर चुके थे। दूसरे, तीसरी दुनिया के आर्थिक संकट के बारे में अपेक्षतया उदार दृष्टिकोण वाले फ्रांस, कनाडा, ब्रिटेन और स्वीडन से उनका मतवैभिन्नय, औपचारिक रूप से प्रकट न हो। तीसरे, अमेरिकी शासक संयुक्तराष्ट्र आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अनुभव से खुश नहीं हैं—उन्हें पसंद नहीं कि तीसरी दुनिया के देश उनकी कारगुजारियों पर टीका-टिप्पणी करें। यदि इस सम्मेलन की कार्यवाही औपचारिक ढंग से होती तो वार्ता विरोधी राष्ट्रपति रीगन को यह श्रेय न मिलता कि उन्होंने संयुक्तराष्ट्र संगठन में इन विषयों पर आगे बात चलाने की सहमति दे दी है।

क्योंकि कैनकुन में गिनेचुने 22 देशों के शासकों को आमने सामने बातचीत करने का, मिलने जुलने का, इसलिए एक दूसरे के दृष्टिकोण को व्यक्तिगत स्तर पर समझने का मौका मिला। इसलिए 'सौहार्द्र और परस्पर विश्वास' की औपचारिक अभिव्यक्ति को भी एक अतिरिक्त उपलब्धि माना गया। लेकिन इसकी जाँच बहुत जल्द हो जायेगी जब संयुक्तराष्ट्र महासभा में जल्द ही ये मामले उठाये जायेंगे।

शिखर सम्मेलनों में पहले से तय विषयों और परस्पर सहमति के मुद्दों को उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है या फिर एक दूसरे का रुख समझने के लिए और मौदेबाजी के लिए उसका उपयोग किया जाता है। कैनकुन सम्मेलन को शिष्टाचार से 'एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की दिशा में एक कदम की संज्ञा दी गई है पर अधिक से अधिक वह अनमने ढंग से दूसरे उद्देश्य की पूर्ति ही करता दिखाई दिया।

कैनकुन शिखर सम्मेलन में विकासशील देशों के निर्यात से जुड़ी समस्याओं के सन्दर्भ में भारत की ओर से एक पाँचसूत्री योजना प्रस्तुत की गई। यह सम्मेलन के दस्तावेजों में सम्मिलित तो कर ली गई, लेकिन विकासशील देशों के 'दृष्टिकोण' से ऊपर का दर्जा नहीं पा सकी। यों इसके सभी सूत्र समय-समय पर अन्य मंचों पर और बैठकों में भी उठते रहे हैं। पाँच सूत्र निम्नलिखित हैं—

(1) जिंसों के आयात-निर्यात के बारे में नये सिरे से समझौते किये जाएँ।

(2) जिंसों के भाव स्थिर करने के लिए अंकटाड (संयुक्तराष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन) के तत्वावधान में साझा कोष बनाने की प्रक्रिया को तुरन्त गतिशील बनाया जाये।

(3) वरीयता देने की सामान्य योजना को व्यापक बनाया जाये और विकासशील देशों में निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रवृत्ति को रोका और घटाया जाये।

(4) रेशों (जूट कपास आदि) सम्बन्धी समझौते के नवीनीकरण के लिए बातचीत जल्द शुरू की जाये।

(5) विकासशील देशों के निर्यात पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों की समीक्षा का बन्दोबस्त हो और उन्हें एक निर्धारित अवधि में क्रमशः समाप्त किया जाये।

इन मुद्दों पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता बताते हुए भारतीय दस्तावेज में कहा गया "ऐसा लगता है कि निर्यात वृद्धि की दर में कमी के साथ निर्यात में उपलब्धि भी घटेगी, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से उधार ली गई पूंजी की लागत (ब्याज दर) भी अधिक होगी और सरकारी स्तर पर मिलने वाली सहायता की संभावनाएँ भी कम होती जा रही हैं।"

विषम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की विषमता घटाने में दुनिया के सम्पन्न देशों की दिलचस्पी नहीं है। इन देशों में दुनिया की एक चौथाई आबादी रहती है लेकिन आमदनी में उनकी हिस्सेदारी 80 प्रतिशत है। इसके बावजूद अगर वे महँगाई, बेरोजगारी और विकास दर में ह्रास का सामना कर रहे हैं तो इसके लिए खुद जिम्मेदार हैं। उनके उत्तरोत्तर अधिक पूंजी बहुल उद्योग देशवासियों को पूर्ण रोजगार नहीं दे सकते। हथियारों या ऐसी ही अन्य स्फीतिकारी मदों पर व्यय महँगाई को जन्म देता है। वे इन असन्तुलनों को ढो पा रहे हैं तो सिर्फ इसलिए कि वे उद्योग, व्यापार और प्रौद्योगिकी के जरिए विकासशील देशों का शोषण कर रहे हैं। इसलिए मौजूदा स्थिति बनाए रखने में ही उनका निहित स्वार्थ है। वे नहीं चाहते कि विकासशील देशों की अर्थ-रचनाएँ उनके चंगुल से मुक्त होने के प्रयास में सफल हो सकें, पश्चिम के कुछ देशों का दृष्टिकोण अगर अपेक्षया उदार दीखता है तो इसलिए भी कि अन्तर्राष्ट्रीय शोषणतन्त्र में उनकी हिस्सेदारी कम है और अमेरिका का आर्थिक, सामरिक वर्चस्व उनके लिए कष्टकर है।

यही वजह है कि अमेरिका के नेतृत्व में विकसित देश कृषि या खनन् में उपलब्ध जिंसों के वास्तविक मूल्य सुरक्षित रखने की कोई बातचीत चलाने के लिए राजी नहीं हुए। ऐसी जिन्सों के निर्यातक विकासशील देश हैं। इन जिंसों के निर्यात मूल्य के कारण विकासशील देशों की आमदनी कहीं इतनी घट जाती है कि वे तबाही के कगार पर पहुँच जाते हैं।

विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और उनकी संस्थाओं से अपेक्षया कम ब्याज पर मिलने वाले ऋणों की राशि बढ़ाने का अमेरिका बहुत विरोध कर रहा है। उसकी मंशा है कि ऐसी 'सहायता' कम कर के विकासशील देशों को मजबूर किया जाए कि वे पश्चिमी देशों के बैंकों से ऊँची दर पर अल्पकालिक ऋण लें अथवा बहुराष्ट्रीय निगमों पर निर्भर हो जायें—इससे न केवल पश्चिमी पूंजी पर मुनाफा बढ़ेगा वरन् विकासशील देशों की अर्थरचना पर पश्चिम के औद्योगिक और व्यापारिक तन्त्र की पकड़ बढ़ेगी।

इसमें यह समझने में देर नहीं लगनी चाहिए कि अमेरिका विश्व-बैंक मुद्राकोष के संविधान को लोकतन्त्री बनाने का क्यों विरोध कर रहा है। उसका अध्यक्ष हमेशा अमेरिकी होता है और पश्चिमी देशों की सहमति के बिना ये संस्थाएँ कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं ले सकतीं। मैकनमारा के कार्यकाल में तेल आयातक देशों की सहायता के लिए एक ऊर्जा कोष बनाने का फैसला किया गया था, मगर

अब वह खटाई में पड़ गया है। इस सम्मेलन में केवल यह मनवाया जा सका है कि ऐसे देशों की सहायता के लिए कुछ अतिरिक्त राशि मुहैया की जाएगी।

विश्व बैंक और मुद्रा कोष को अन्तर्राष्ट्रीय जरूरतों के मुताबिक सक्रिय करने के प्रस्ताव भी विकसित देशों ने अनदेखे कर दिए क्योंकि ये न तो अपने अधिकारों में कमी के लिए तैयार हैं और न विशेष ऋणपत्र (एस. डी. आर.) योजना को आगे बढ़ाने या मुद्राकोष में हिस्सेदारी की व्यवस्था में बदलाव के लिए ही।

खनिज तेल के भावों में वृद्धि के कारण विकासशील देशों की कठिनाइयाँ कई गुना बढ़ गयी है। विकसित देश तो लागत मूल्य में वृद्धि के मुताबिक अपने निर्यात का भाव बढ़ा लेते हैं, लेकिन अन्य तेल आयातक विकासशील देशों पर दोहरी मार पड़ रही है। उनके आयात महँगे हुए सो हुए, तेल निर्यात की कमाई का वह हिस्सा जो उन्हें मिल सकता था वह भी पश्चिमी देशों के बैंकों में जमा किया जा रहा है। यानी तेल के धनी अरब देशों का धन या तो सहधर्मी देशों का या पश्चिमी अर्थ-रचनाओं को मजबूत बना रहा है।

कैनकुन सम्मेलन में सबसे बड़े तेल निर्यातक देश सऊदी अरब के राजकुमार फहद और सबसे बड़े लेकिन भिन्न प्रकार के विकासशील देश चीन के प्रधानमन्त्री भी सम्मेलन में पधारे थे। इन दोनों ने मुख्यतः प्रेक्षक की भूमिका निभाई। सऊदी अरब तेल के भाव बढ़ाने के मामले में अन्य विकासशील देशों का समर्थन ले तो लेता है, मगर तेल से अर्जित डॉलरों के निवेश के मामले में पश्चिमोन्मुखी है। चीन ने 1957 से अभी तक तथाकथित विदेशी सहायता के बिना अपना आर्थिक विकास किया है। अब वह पश्चिमी दुनिया से अपनी शर्तों पर ऋण और सहायता प्राप्त कर सकेगा। यदि भारत जैसे अन्य अनेक देश भी पश्चिमी ढर्रे पर चलते तो उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर हो सकती थी और उसी हद तक विकासशील देशों की सौदेबाजी की शक्ति भी।

कैनकुन के खतरे

कैनकुन के 22 राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन में आमतौर से लोगों को इतना ही देखने योग्य दिखा कि वह अन्तर्राष्ट्रीय था और हमारे देश की प्रधान मंत्री बड़े बड़े विश्व नेताओं से मिलीं चीन के प्रधानमंत्री से भी और अमेरिका के राष्ट्रपति से भी। दोनों इस समय एशिया पर जाना चाहते हैं मगर दोनों ने हमारी प्रधानमंत्री से हाथ मिलाया और उसको देखकर मुस्कराये और इस दृश्य की फोटो भी छपी। यह बहुत कम लोग सोच रहे होंगे कि इस विश्व शिखर सम्मेलन का हमारे राष्ट्र की अपनी व्यवस्था और अमन से क्या सबब है। धरती के औद्योगिक कच्चे माल और मानवीय श्रम पर अप्रत्यक्ष रूप से कब्जा ही इस वक्त दुनिया के बड़े औद्योगिक देशों का उद्देश्य है। लगभग 140 विकासशील देशों में दस पीछे एक ने ही इस सम्मेलन के आठ बड़े गुरुघंटालों के साथ मिल बैठकर विकास की नई चिंताओं पर बात करना स्वीकार किया। यह अपने आप में कुछ मायने रखता है : यही कि यह सिर्फ कुछ ऐसे समझौतों के उद्देश्य से हुआ था जिनमें खास खास लोगों की सहमति मिल सकी।

14 विकासशील देशों मे भारत एक था। बाकी तीन धनी तेली देश आदि थे जो किसी न किसी रूप मे बड़े औद्योगिक देशों की नकल करने की कोशिश मे है। भारतीय राष्ट्र से सबध रखने वाला प्रश्न यह है कि क्या हम भी विकसित शोषक देशों की नकल करना चाहते है ? यदि हाँ, तो क्या विश्व के शोषण मे तथा मानवता के खडन मे लगे हुए बड़े राष्ट्रो की षड्यत्र नीति मे कही न कही शामिल हो रहे हैं या कि कुछ ऐसा चितन कर रहे है जिससे उस षड्यत्र का कार्यशील विरोध हो सके। दूसरे शब्दो मे, क्या हम एक भारतीय व्यक्तिगत खोज या बना रहे है जो कि विश्व मच पर शोषित देशों की भी प्रतिछवि हो और भारतीय शोषित जनता की भी। श्रीमती गाँधी ने सम्मेलन के बाद कहा—और विनम्रता मे ही कहा होगा—कि भारत ने नेता बनने की कोशिश कभी नही की। हम मानते है कि विश्व की समस्याएँ इतनी विराट हैं कि हर एक को मिल कर ही काम करना होगा। आशा है कि इसका मतलब यह नही है कि विकासशील देशों के शोषणधर्म और क्रूर चितन के अनुसार अपने-अपने देशो की आतरिक राजनीतिक व्यवस्था बनानी पडेगी। कैनकुन के सम्मेलन मे किसी भारतीय विचारधारा का टकराव रीगन की विश्वविजय की विचारधारा से नही हुआ है। दोनों ही कैनकुन को कमो-बेश प्रगति का सूचक मान रहे है। रीगन कह रहे है कि गरीब देशो को सहायता के मामले मे इस उत्तर-दक्षिण शिखर सम्मेलन मे बहुत बडी प्रगति हुई है। इन्दिरा गाँधी कह रही है कि यह अच्छा लक्षण है कि भविष्य मे ऐसे आर्थिक विषयो पर विश्व बहस का रास्ता बद नही हो गया है। दोनो बातो म क्या अतर है ? क्या केवल यही कि रीगन कहते है कि विदेशी सहायता किन-किन कामो मे बहुत अच्छी तरह इस्तेमाल नही हो पा रही है। उसकी पहचान के वास्ते सम्मेलन मे खुल कर बहस हुई और श्रीमती गाँधी कह रही है कि विकास के लिए गरीब देशो की आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने का महत्वपूर्ण विषय सम्मेलन की साराश विज्ञप्ति मे उल्लिखित नही हुआ। साथ मे उनकी यह शिकायत भी जोड़ लें कि अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ मदद देने के बहाने अपनी विचारधाराएँ न लादने पायें तो दोनो नेताओ के विचारो का परस्पर सम्बन्ध खुल कर प्रकट हो जाता है। दोनो एक दूसरे के विरोधी नही हैं पूरक ही हैं। जिन विचारधाराओं के बहाने इनके प्रवेश क र ज ने की शका श्रीमती गाँधी ने प्रकट की है वे विचारधाराएँ स्वय हमारे राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था मे हमारे ही निर्णयो के कारण प्रवेश कर चुकी हैं और अभी और करती जायेंगी। तब केवल इतना ही करना बाकी रह जायेगा कि अगले सम्मेलन की साराश सूची मे वे सब आवश्यकताएँ बता दी जायें जिनको रीगन भारत या अन्य देशों के लिए ज्यादा बडी आवश्यकताएँ मानते हैं और किसी को यह कहने का मौका न मिले कि अमेरिकी या पश्चिमी शर्तों पर यह सहायता ली गई है क्योंकि तब तक भारत की अर्थव्यवस्था बहुत से अर्थों मे अमेरिकी शोषणवाद के बहुत नजदीक अपने आप पहुँच चुकी होगी।

कैनकुन सम्मेलन ने दिखा दिया है—बशर्ते कि देखने वाले विभिन्न देशो के साथ

बैठ कर अपने यहाँ की जनता पर प्रभाव डालने में मग्न न हो गये हों—कि यदि ऐसे ही सम्मेलन दो-चार बार और हुए और उनमें से किसी तरह की विचारधारा या अर्थव्यवस्था के अंतरों को उभारा नहीं गया तो विकासशील देशों के लिए अमेरिकी और पश्चिम के बाजार चक्र मे फँस जाना ही उनकी नियति हो जाएगी—इस नियति से भाग कर वे किसी दूसरे शिविर मे नहीं जा सकेंगे क्योंकि तब तक सभी शिविरों का उद्देश्य एक ही हो चुका होगा।

भारत-अमेरिका सम्बन्ध सुधार के प्रयास

रीगन प्रशासन का रुख यद्यपि पूर्णतया भारत विरोधी है, तथापि 1981 के अन्तिम चरण से भारत और अमेरिका के बीच सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास शुरू हुआ है। इन प्रयासों के गतिशील बनाने तथा मतभेदों को यथाशक्ति दूर करने के उद्देश्य से अमेरिका के विदेश मंत्री अलैक्जेण्डर हेग की भारत यात्रा को एक शुभ संकेत माना जा सकता है। प्रख्यात समालोचक विनोद कुमार मिश्र ने भारत-अमेरिका सम्बन्धों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करते हुए वर्तमान सम्बन्ध-सुधार के प्रयासों का जो जायजा लिया है वह युक्तिसंगत और तथ्यपरक है।

हमारे देश के प्रति अभी तक अमेरिकी प्रशासन का जो रुख रहा है उससे यही प्रकट होता है कि अमेरिका ने एशिया, मुख्य रूप से दक्षिण एशिया की राजनीति को समझने तथा प्रभावित करने मे भारतीय दृष्टिकोण को कोई महत्व न देने का फैसला कर लिया है। किन्तु कानकुन (मैक्सिको) सम्मेलन मे प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन से वार्ता के बाद अमेरिकी दृष्टिकोण में कुछ अन्तर दिखाई देता है। विदेशमंत्री अलेक्जेण्डर हेग की दिल्ली-यात्रा पर इसी सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए।

भारत तथा अन्य निर्गुट राष्ट्र अमेरिका तथा सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों के साथ किसी सैन्य सन्धि से बंधे तो नहीं हैं, किन्तु दुनिया आज इतनी सिमट गई है तथा राजनीति का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि कोई भी देश यह दावा नहीं कर सकता है कि आधुनिक विश्व के ज्वलन्त प्रश्नों के प्रति उसका दृष्टिकोण बिल्कुल तटस्थ है। जिन राष्ट्रों की निर्गुट नीति में आस्था है वे भी तटस्थ नहीं रह सकते हैं। निर्गुट और तटस्थ दो अलग-अलग शब्द हैं। पहला सुविचारित नीति को प्रकट करता है तो दूसरा नकारात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है। यह आवश्यक नहीं कि निर्गुट राष्ट्र सभी मामलों मे तटस्थ ही रहें। पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सहायता के सवाल को ही लें। निर्गुट भारत इस प्रश्न पर तटस्थ रहकर चुप्पी साधकर बैठा नहीं रह सकता है। इसलिए दक्षिणी एशिया मे अमेरिका की शस्त्रीकरण की नीति का निर्गुट भारत ने खुलकर विरोध किया है। इस प्रश्न पर वह तटस्थ नहीं रह सकता है।

भारत तथा अमेरिका के बीच पिछले 34 वर्षों के सम्बन्धों पर दृष्टिपात करने से जो बात उभर कर सामने आती है वह यह है कि दोनों देशों की राजनीतिक प्रणाली मे समानता के बावजूद प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर दोनों के

दृष्टिकोणों में सदा अन्तर रहा है। यह तो स्पष्ट है कि भारत और अमेरिका विश्व के दो सबसे बड़े लोकतन्त्र हैं। दोनों खुले समाज में विश्वास करते हैं किन्तु अमेरिकी प्रशासन ने आज तक भारत की इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं पर खुले दिमाग से विचार नहीं किया है। अमेरिकी नीतिकारों के लिए कम्यूनिस्ट खेमे का अगुआ रूस सदा चिन्ता का विषय रहा है किन्तु यह अस्वाभाविक नहीं लगता है। वे जो भी रणनीति तैयार करते हैं उसका लक्ष्य सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र का विस्तार रोकना ही होता है। जो राष्ट्र इस व्यापक रणनीति में मोहरे के रूप में फिट होते हैं उन्हें तो अमेरिका मित्र मानता है किन्तु बाकी राष्ट्रों के प्रति उसका रुख यदि शत्रुतापूर्ण नहीं रहता हो तो रूखा तथा उपेक्षापूर्ण तो रहता ही है। भारत की शुमार ऐसे ही राष्ट्रों में की जा सकती है।

हम मानते हैं कि भारत तथा अमेरिका के बीच सहयोग और मैत्री इन दोनों देशों के हित में तो होगी ही, इससे विश्व-शान्ति को सुदृढ़ बनाने तथा दुनिया को परमाणु युद्ध के विनाश से बचाने में भी मदद मिलेगी।

भारत और अमेरिका के बीच नीति सम्बन्धी मतभेदों की सूची बहुत लम्बी है। इनमें कम्पुचिया, अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान को एफ–16 लड़ाकू विमानों व अन्य आधुनिक शस्त्रास्त्रों की सप्लाई करने का अमेरिका का फैसला हाल की घटनाएँ हैं। दोनों देशों के सम्बन्धों में तनाव दूर करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हर प्रश्न पर दोनों के दृष्टिकोण एक समान हों। भारत जैसा विशाल 70 करोड़ की आबादी वाला देश किसी भी महाशक्ति का पिछलग्गू नहीं बन सकता है। यह बात अमेरिका तथा रूस दोनों महाशक्तियों के साथ हमारे सम्बन्धों पर लागू होती है। नीतिगत मतभेदों के बावजूद मैत्री और सहयोग का विकास किया जा सकता है।

किन्तु साथ ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जब तक अमेरिका भारत पर दबाव डालने के लिए पाकिस्तान को अत्याधुनिक तथा घातक शस्त्रास्त्रों से लैस करने का परित्याग नहीं करेगा तब तक सम्बन्धों में तनाव दूर करने की दिशा में असली मायने में कोई प्रगति नहीं हो सकती है। फरवरी 1954 में अमेरिका ने हथियारों की सप्लाई के लिए पाकिस्तान के साथ पहला समझौता किया था। भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में इससे जो दरार पड़ी उसे अभी तक पाटा नहीं जा सका है। अमेरिका ने भारत की निर्गुट विदेशनीति से परेशान और नाराज हो कर ही पाकिस्तान तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ राष्ट्रों को सैन्य सहायता देने का फैसला किया था। इससे न तो अमेरिका को कोई लाभ प्राप्त हुआ न ही भारत तथा इस क्षेत्र के अन्य राष्ट्रों को, यह तो पिछले 25 वर्षों के इतिहास से स्पष्ट है।

पाकिस्तान ने कभी भी लोकतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्षता में आस्था नहीं प्रकट की है फिर भी पाकिस्तान के फौजी तानाशाहों को अमेरिका से लगातार आर्थिक और फौजी मदद मिलती रही। अमेरिका के चाहे जो भी इरादे हों, पाकिस्तानी शासकों का एक मात्र लक्ष्य फौजी ताकत के मामले में भारत के बराबर आना ही था। वे तलवार की ताकत से कश्मीर पर कब्जा करने का स्वप्न देख रहे थे।

अमेरिकी पैटन टैंकों तथा सेबर जेट विमानों के मद मे चूर पाकिस्तान के फौजी शासकों ने 1965 मे कश्मीर हथियाने के लिए पहले तो घुसपैठिये भेजे और फिर भारत पर नग्न आक्रमण कर दिया। भारत वर्षों से जो आशंका प्रकट करता रहा था वह सच साबित हुआ। अमेरिकी प्रशासन का यह आश्वासन झूठा सिद्ध हुआ कि उसने पाकिस्तान को जो शस्त्रास्त्र दिए हैं उनका भारत के विरुद्ध उपयोग नहीं किया जाएगा।

इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। लोकतन्त्री राष्ट्रों का नेता अमेरिका पुनः पाकिस्तान के फौजी तानाशाह जनरल जिया-उल-हक को अत्याधुनिक तथा दूर तक मार करने वाले एफ–16 लड़ाकू विमान तथा अन्य शस्त्रास्त्रों की सप्लाई करने पर आमादा है। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अनेक बार अमेरिकी प्रशासन को भारतीय उपमहाद्वीप में शस्त्रीकरण की होड़ शुरू करने के विरुद्ध आगाह किया है किन्तु अमेरिका पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। यदि अमेरिकी हथियारों के कारण पाकिस्तान के फौजी शासकों का दिमाग नहीं फिरता तो शायद वे पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) की जनता की इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा लोकतन्त्री अधिकारों का दमन करने के लिए टैंकों और मशीनगनों का इस्तेमाल नहीं करते। पाकिस्तान के खण्डित होने तथा स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में बंगलादेश के उदय के पीछे अनेक कारण थे। पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सहायता भी इनमें से एक थी।

अमेरिका पुन. पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर लड़ाकू विमानों तथा अन्य फौजी साज-सामानों की सप्लाई कर रहा है। कुछ लोगों का विश्वास है कि अन्ततोगत्वा इससे पाकिस्तान के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। पाकिस्तान का भविष्य क्या है, हम इस बारे में कोई अटकल नहीं लगाना चाहते हैं किन्तु इतना निश्चित है कि अमेरिका से मिले एफ–16 लड़ाकू विमानों तथा हथियारों का इस्तेमाल वह भारत के विरुद्ध ही करेगा। भारत का इस पर चिन्तित होना तथा प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा देश की जनता व विश्व के नेताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करना स्वाभाविक ही है। भारत के नेता और आम जनता कभी भी नहीं चाहेंगी कि पाकिस्तान विखण्डित हो जाए। पाकिस्तान की राजनीतिक स्थिरता भारत के हित में भी है।

भारत व अमेरिका के बीच सारे मतभेद समाप्त हो जाएँगे, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है। अभी तो मतभेद के अनेक मुद्दे हैं। तारापुर परमाणु संयन्त्र के लिए ईंधन की सप्लाई के लिए दोनों देशों के बीच हुए समझौते को अमेरिका ने जिस भोंडे ढंग से तोड़ा है उससे द्वि-पक्षीय सम्बन्ध सुधारने में मदद नहीं मिलती है। अमेरिका यदि नई परिस्थितियों में भारत को परमाणु ईंधन नहीं दे सकता है या नहीं देना चाहता है तो कम-से-कम आपसी बातचीत द्वारा शालीन ढंग से समझौते को रद्द करने पर तो सहमति हो सकती है।

भारतीय संविधान बहुदलीय लोकतन्त्र में विश्वास करता है। उसमें एक दलीय मार्क्सवादी शासन प्रणाली के लिए कोई स्थान नहीं है। भारत की सोवियत

रूस के साथ मैत्री जरूर है, व्यापक आर्थिक सहयोग भी है किन्तु रूस के साथ भारत किसी सैन्य सन्धि में बँधा हुआ नहीं है। अमेरिकी प्रशासन को शिकायत हो सकती है कि भारत ने कम्पूचिया में हेग सामरिन की सरकार को तथा अफगानिस्तान में बाबरक कारमेल की सरकार को मान्यता प्रदान कर सही मायनों में निर्गुट विदेश नीति का अनुसरण नहीं किया है। अमेरिका चाहता है कि भारत सरकार अफगानिस्तान में रूस के सैन्य हस्तक्षेप की खुलकर आलोचना और विरोध करे। कम्पूचिया तथा अफगानिस्तान के प्रश्नों पर भारत सरकार ने जो दृष्टिकोण अपनाया है उस पर भारत तथा रूस के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की शायद छाया पड़ी हो। या यों कह सकते हैं कि भारत ने अपने राष्ट्रीय हितों को सामने रख कर ही इन विवादग्रस्त प्रश्नों पर अपनी नीति का निर्धारण किया है।

भारत सरकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि अपने राष्ट्रीय हितों को नजरन्दाज कर वह विदेश नीति निर्धारित करेगी। भारत और रूस के सम्बन्धों का लम्बा इतिहास है। प्रश्न कश्मीर का हो, सैन्य सहायता का हो या बंगलादेश के मुक्ति संग्राम का, भारत को रूस से नाजुक मौकों पर मदद मिली है। पाकिस्तान अमेरिकी मदद से पुनः भारत पर आक्रमण की तैयारी कर रहा है। चीन हजारों वर्ग किलोमीटर भारतीय जमीन पर कब्जा जमाए बैठा है। इस अवैध कब्जे को भारत वैध करार दे दे, इस लक्ष्य को सामने रखकर वह पूरे अरुणाचल प्रदेश पर दावा कर रहा है। अरुणाचल पर अपना दावा वापस लेकर अक्साई चीन पर अपने कब्जे पर वह भारत से स्वीकृति की मुहर लगवाना चाहता है।

अमेरिकी प्रशासन की अपेक्षा है कि भारत चीन और पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्ध सुधारे। रूस के साथ भारत की मैत्री उसे खटकती है। भारत की आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय हितों पर यदि अमेरिका गौर करे तो भारत के प्रति अपनी रीति-नीति में त्रुटियाँ ढूँढने में उसे कोई कठिनाई नहीं होगी। भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार की प्रक्रिया तभी शुरू हो सकती है।

अमेरिकी विदेश मन्त्री श्री अलेक्जेण्डर हेग की भारत-यात्रा से उन्हें भारत की विशेष परिस्थितियों को समझने में सहायता मिलेगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। भारत रूसी खेमे में है, यह निष्कर्ष जितना गलत है उतना ही अव्यावहारिक होगा कि भारत को अमेरिकी शिविर में खींचकर लाया जा सकता है। परमाणु हथियारों के ज्वालामुखी पर बैठे विश्व को ऐसे भारत की जरूरत है जो सही अर्थों में निर्गुट हो, जो महाशक्तियों के बीच टकराव टालने में सहायक बन सकता हो।"[1]

अमेरिका और मध्य अमेरिकी राज्य : अलसल्वाडोर : निर्णायक संघर्ष के दौर में

संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य अमेरिकी राज्यों के साथ जो सम्बन्ध है वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण

1 दि हिन्दुस्तान, दिनांक 14 दिसम्बर, 1981, पृष्ठ 4

है क्योंकि अमेरिका जिस विश्व नीति पर इस समय चल रहा है उसका परीक्षण वह सैकड़ों वर्षों से इन्हीं राज्यों में करता रहा है। अलसल्वाडोर नामक एक मध्य अमेरिकी राज्य के वर्तमान निर्णायक संघर्ष के सन्दर्भ में श्री शरदेन्दु ने अपने एक लेख में मध्य अमेरिकी राज्यों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति पर अच्छा प्रकाश डाला है[1]—

"पश्चिम एशिया की भाँति संयुक्त राज्य अमेरिका का पृष्ठ प्रदेश भी राजनीतिक दृष्टि से विश्व के अस्थिरतम क्षेत्रों में से है। इस क्षेत्र में मध्य अमेरिका के अनेक छोटे-छोटे राज्य हैं जिन्हें कैरीबियन खाड़ी के तट पर बसा होने के कारण कैरीबियन राज्य कहा जाता है। सम्पूर्ण दक्षिण अमेरिका भी इसी क्षेत्र में है। इन राज्यों को लेटिन अमेरिका राज्य और केले की बहुतायत के कारण 'बनाना रिपब्लिक्स' भी कहा जाता है। सच कहा जाए तो इनकी राजनीति केले के छिलके की ही तरह फिसलती है।

कहने को तो ये राज्य रिपब्लिक अथवा गणतन्त्र कहे जाते हैं किन्तु वास्तव में वे निकृष्टतम तानाशाही के पालने हैं। आए दिन वहाँ सैनिक क्रान्तियाँ होती रहती हैं, जिनमें सेना का एक जनरल दूसरे जनरल से सत्ता हथिया लेता है। कभी-कभी नाम मात्र को किसी राज्य में असैनिक सरकार भी स्थापित हो जाती है, जो प्रायः अल्पजीवी होती है।

इन राज्यों का सबसे बड़ा अपराध या दुर्भाग्य यह है कि वे पूर्वी गोलार्द्ध से कटे हुए संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश के पड़ोसी हैं। इन देशों की अर्थव्यवस्था पर अमेरिकी कम्पनियों का पूर्ण नियन्त्रण है। वे इनकी प्राकृतिक सम्पदाओं और कृषि-उपज दोनों का खुलकर दोहन कर रही हैं। इनकी सरकारों का अस्तित्व इस बात पर निर्भर रहता है कि वे उक्त कम्पनियों के दोहन-कार्य में कहाँ तक सहायक होती हैं। उनके हितों पर चोट पहुँचते ही, अथवा उनको खतरा पैदा होते ही, अमेरिकी सरकार और सी आई ए की पूरी मशीनरी गतिशील हो उठती है और बाधक तत्त्वों का सफाया करा दिया जाता है। चिली के एलेंदे, अर्जेन्टाइना के पैरों, आदि इसके उदाहरण हैं।

अमेरिका जिस विश्व-नीति पर इस समय चल रहा है, इसका परीक्षण वह सैकड़ों वर्षों से इन्हीं राज्यों में करता रहा है। एक वाक्य में उसकी नीति यह है कि—जहाँ तक अमेरिकी हथियार, सेनाएँ और सहायता पहुँच सकती है वहाँ तक उसका प्रभाव-क्षेत्र है और उस प्रभाव-क्षेत्र को बनाए रखने के लिए उसे उचित-अनुचित कुछ भी करने का अधिकार है।

मध्य तथा दक्षिण अमेरिकी राज्यों को तो वह किसी मूल्य पर अपने प्रभाव-क्षेत्र से नहीं निकलने दे सकता है। पनामा नहर जैसी उसकी जीवन-रेखा इसी क्षेत्र में है। इसीलिए यदि किसी राज्य की सरकार कुछ स्वतन्त्रता दिखाने का प्रयत्न करती है अथवा किसी राज्य की जनता अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठाती है,

1 हिन्दुस्तान, 20 मार्च, 1982.

संघर्ष करती है, तो उसमे अमेरिका को अपने अस्तित्व के लिए खतरा नजर आने लगता है। यही कारण है कि इन राज्यों के जन-संघर्षों में अमेरिका सदा तानाशाहियों का पक्ष लेता रहा है और जो तानाशाही जितनी निरकुश होती है, उसे अमेरिका का उतना ही अधिक समर्थन प्राप्त होता है। इसी नीति का पालन हम अमेरिका को अन्य क्षेत्रो—पाकिस्तान, थाईलैण्ड, कम्पूचिया, वियतनाम, पश्चिम एशिया आदि मे करते हुए पाते हैं।

नई चेतना

लेकिन आज स्थिति यह है कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति और प्रभुत्व के बावजूद अमेरिका के लिए इतिहास-चक्र को रोकना या उलटना अत्यन्त कठिन हो रहा है। सयुक्त राष्ट्रसघ की स्थापना का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि लेटिन अमेरिकी देशो का अलगाव टूटा है और वहाँ की जनता मे नई चेतना आई है। इसका एक प्रमाण यह है कि अधिकाधिक लेटिन अमेरिकी देश निर्गुट आन्दोलन के साथ जुडते जा रहे हैं। निर्गुट आन्दोलन के देशो की दो महत्त्वपूर्ण बैठकें हवाना (क्यूबा) और कारावास (वेनेजुएला) मे हो चुकी हैं।

इस समय मध्य अमेरिका के जो देश सबसे अधिक विश्व का ध्यान आकर्षित कर रहे है, वे है अलसल्वाडोर तथा निकारागुआ।

क्यूबा के कास्त्रो के नेतृत्व मे वामपक्षी तत्त्वो की विजय से अमेरिका के एक दुर्ग मे सबसे पहली दरार पड़ी। इसके बाद क्यूबा को सोवियत सरक्षण मिल जाने के कारण और कुछ अमेरिका को क्यूबा की जनता से वाँछित समर्थन न मिल पाने के कारण अमेरिका द्वारा कास्त्रो को हटाये जाने और इस दरार को भरने के सभी प्रयत्न असफल रहे हैं। निस्सन्देह क्यूबा अमेरिका की आँखो मे निरन्तर काँटे की तरह चुभता रहा है। क्यूबा मे वामपथी तत्त्वों की सफलता ने अन्य लेटिन अमेरिकी राज्यों में भी वामपथी लोकतन्त्रो को अपने अधिकारों के लिए सघर्ष की प्रेरणा दी है।

निकारागुआ एक अन्य मध्य अमेरिकी राज्य है जहाँ के अलोकप्रिय तानाशाह सोमोजा को हटाकर वामपथी सादनिस्ता दल ने शासन पर अधिकार कर लिया है। सी आई ए. ने इस शासन को उखाड फेंकने और सोमोजा को पुन सत्ता मे लाने के लिए एक योजना तैयार की है जिसके अन्तर्गत होडूरा स्थित सोमाजा समर्थक नेशनल गार्ड्स को अमेरिका से पूरी सहायता मिल रही है। उन्होने निकारागुआ मे छापामार कार्यवाहियाँ कर वहाँ के कुछ महत्त्वपूर्ण पुलों को उडा भी दिया है। फलस्वरूप निकारागुआ में तीम दिन के लिए आपातस्थिति की घोषणा कर दी गई।

जीवन-मरण का संघर्ष

अमेरिका का निकारागुआ पर आरोप है कि वह क्यूबा और सोवियत संघ मे बडी मात्रा मे हथियार मँगाकर अलसल्वाडोर के वामपक्षी विद्रोहियो की सहायता कर रहा है। निकारागुआ सरकार ने बार-बार इसका खण्डन किया है। अलसल्वाडोर

इस समय एक खूनी गृहयुद्ध के दौर से गुजर रहा है। वहाँ की घोर दक्षिणपंथी दुआर्ते सरकार जीवन-मरण संघर्ष से जूझी हुई है। यद्यपि वहाँ राष्ट्रपति के नए चुनाव होने में एक महीने का समय भी नही रह गया है तथापि उनके परिणामों का इस गृह-युद्ध पर कोई प्रभाव पडने की सम्भावना नही है। वर्तमान परिस्थितियों मे चुनाव एक *नाटक से अधिक कुछ नही हो सकते। वामपक्षी नेताओं ने उसका बहिष्कार* किया हुआ है क्योंकि वे जानते हैं कि चुनाव क्षेत्र मे कूदते ही उनको ठिकाने लगा दिया जाएगा।

दुआर्ते सरकार के दमन की कहानी उन आंकडो से बोलती है, जो अमेरिका में अलसल्वाडोरवासियों के लिए नियुक्त कानूनी सहायता कार्यालय ने प्रकाशित किए हैं। 12 जनवरी, 1981 को वहाँ फौजी कानून की घोषणा के बाद 1981 मे 12,501 गैर-सैनिक मारे गए। 2127 नागरिको को कर्फ्यू के दौरान गोली के घाट उतार दिया गया। कार्यालय ने जो प्रमाण एकत्र किए हैं उनके अनुसार 9,239 नागरिकों की हत्या के लिए सुरक्षा सैनिक ही जिम्मेदार है।

मजेदार बात यह है, विदेशी सहायता विधेयक मे राष्ट्रपति रीगन ने प्रमाण-पत्र दिया है कि अलसल्वाडोर सरकार अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त मानव-अधिकारो का पालन करने के लिए जोरदार प्रयत्न कर रही है। वास्तविकता तो यह है कि यदि अलसल्वाडोर मे दुआर्ते सरकार का पतन हो गया तो फिर अन्य मध्य और दक्षिण अमेरिकी राज्यों मे इसकी व्यापक प्रतिक्रिया होगी।

यह बात अन्तःअमेरिकी मामलो के लिए सहायक विदेशमन्त्री थॉमस एण्डर्स के इन शब्दो से भी स्पष्ट है—"अलसल्वाडोर मे मध्य अमेरिको के लिए निर्णायक संघर्ष जारी है। यदि निकारागुआ के बाद अलसल्वाडोर पर भी एक उग्र अल्पमत का अधिकार हो जाता है तो मध्य अमेरिका मे कौन भय के बिना रह सकेगा? पनामा नहर, समुद्री मार्ग, तेल सप्लाई जैसे अमेरिका के प्रमुख सामरिक हितो को संकट पैदा होने मे फिर कितनी देर लगेगी?"

अमेरिका अलसल्वाडोर के मामले को इतना तूल दे रहा है, इसका एक और भी कारण बताया जाता है। अमेरिकी बजट की हालत बहुत खस्ता है। घोर दक्षिणपंथी रिपब्लिकन सदस्य भी प्रतिरक्षा व्यय मे कटौती की माँग कर रहे हैं। अतः अमेरिकी प्रशासन को सैनिक व्यय मे वृद्धि की माँग स्वीकार कराने के लिए कोई बहाना चाहिए। इससे अच्छा बहाना और कौन हो सकता है कि खतरा उसके पिछवाड़े मे ही आ पहुँचा है?

अपने पक्ष को प्रस्तुत करने में अमेरिका हर प्रकार के झूठ का सहारा ले रहा है। इसके अनेक दिलचस्प उदाहरण सामने आए हैं।

परराष्ट्र विभाग ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया था जिसका बगूवा, निकारागुआ और अलसल्वाडोर के विद्रोहियों के बीच हथियार-सम्बन्ध दिखाना था। ऐसा दावा *किया गया कि वह छापामारो से पकडे गए कागजों पर आधारित है।*

उनका मित्र देशो मे काफी प्रसार भी किया गया लेकिन चार महीने बाद ही एक अमेरिकी अधिकारी ने स्वीकार किया कि उसमे भारी गलतियाँ हैं और उससे सही निष्कर्षों को निकालना सम्भव नही है।

कुछ दिन पूर्व परराष्ट्र विभाग ने एक 19-वर्षीय निकारागुग्रन छापामार ग्रोर्लोंदो जोसनार्देनशिलास एस्पिग्रोजा को पत्रकारों के सामने पेश किया जिससे वह बता सके कि किस प्रकार उसे क्यूबा तथा इथियोपिया मे छापामारी के लिए प्रशिक्षित किया गया था लेकिन जो कुछ उसने बताया वह ठीक उसका उल्टा था। उसने कहा कि, 'मैं कभी क्यूबा या इथियोपिया नही गया। स्वेच्छा से छापामार सैनिको मे शामिल हुग्रा था।" उसने उत्पीडन की कहानियाँ भी सुनाई।

इससे भी अधिक रोमांचकारी अनुभव एक ब्रिटिश यात्री के हैं जो घूमता हुग्रा ग्रलसल्वाडोर मे पहुँच गया था ग्रौर छापामारी के सन्देह मे उसे वहाँ ग्राठ घण्टे बन्द रहना पडा था। इस बीच उसे भारी यन्त्रणाएँ सहनी पड़ी।

मित्र भी समर्थक नही

कोई ग्राश्चर्य नही कि ग्रमेरिका के यूरोपीय मित्र भी उसकी मध्य-ग्रमेरिकी नीति से सहमत नही है। फ्रांस के राष्ट्रपति मितेरां तो विशेष रूप से इस नीति का खुलकर विरोध कर रहे हैं ग्रौर उन्होने निकारागुग्रा की रक्षा के लिए कुछ हथियार बेचना भी स्वीकार कर लिया है।

स्वय ग्रमेरिका मे रीगन प्रशासन की इन नीतियो का भारी विरोध हो रहा है। सयुक्त राष्ट्र मे 1977 से 1979 तक ग्रमेरिकी राजदूत एड्र यग ने तो यहाँ तक कहा कि इस नीति ने ग्रमेरिका को बीस वर्ष पीछे धकेल दिया है। उन्होंने किसी प्रकार के हस्तक्षेप का विरोध करते हुए ग्रलसल्वाडोर के सकट के राजनीतिक हल के लिए ग्रन्तर्राष्ट्रीय देखरेख मे बातचीन का सुझाव दिया।

ग्रनेक ग्रमेरिकी पत्रो ने यह ग्राशका प्रकट की है कि यदि रीगन प्रशासन ने ग्रपनी वर्तमान नीतियाँ जारी रखी तो ग्रलसल्वाडोर ग्रमेरिका के लिए एक ग्रौर वियतनाम बन सकता है।

कुछ चर्चा ग्रन्य लेटिन ग्रमेरिकी देशो की कर लेना भी ग्रप्रासंगिक नही होगा।

ग्वाटेमाला मे हाल में राष्ट्रपति-पद के चुनाव हुए हैं जिनमें उग्र दक्षिण-पथी सत्तारूढ़ गुट के उम्मीदवार प्रतिरक्षा मन्त्री जनरल गुएवारा को विजयी घोषित किया गया है। ग्वाटेमाला की स्थिति भी ग्रलसल्वाडोर से बेहतर नहीं हैं ग्रौर इन चुनावो का बहिष्कार किया ही। जनरल गुएवारा के तीन दक्षिणपथी प्रतिद्वन्द्वियों ग्रौर उनके समर्थकों के चुनावो में गडबडी के विरोध में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन पर उनके साथ भी भारी दुर्व्यवहार किया गया। वर्तमान शासन उदार दक्षिणपथियों को भी खतरनाक तत्त्व समझता है।

पदासीन राष्ट्रपति जनरल गार्शिया के बारे में 'वाशिंगटन पोस्ट' ने लिखा है—'"उन्होंने चार वर्षों तक अपने से वामपक्षी राजनीतिक नेताओं की हत्याओं, लोप, निर्वासन और डराने-धमकाने के बल पर शासन किया है। निर्विवाद रूप से अधिकांश सरकारी हाथों द्वारा। हजारों व्यक्ति मौत के घाट उतारे गए हैं। उन्होंने अपने शासन के लिए दुनिया का सम्भवत: सबसे खूनी शासन होने का नाम कमाया है।" सरकारी मौत के दस्ते औसतन तीन सौ व्यक्तियों को प्रति मास ठिकाने लगाते रहते हैं। कहना न होगा कि रीगन प्रशासन इस शासन का भी धर्म-पिता रहा है।

"सूरीनाम में गत सप्ताह एक सैनिक क्रान्ति का असफल प्रयत्न किया गया जिसका नेतृत्व दक्षिण पंथी सेनाधिकारियों ने किया था। उसमें एक सार्जेन्ट मेजर बिलफ्रेड हाकर को गोली से उड़ा दिया गया। अन्य विद्रोही नेताओं की खोज जारी है। तीन संसद् सदस्य भी पकड़े गए हैं। कोलम्बिया में सेना ने राजधानी बोगोटा पर अधिकार कर लिया है। ये सभी इस क्षेत्र की अस्थिर राजनीति के परिचायक हैं।"



Appendix–1

जनवरी 1977 से मार्च 1982 तक की महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की झलक

जनवरी, 1977

पांच अफ्रीकी राष्ट्रपतियों की लुसाका में शिखर-वार्ता।

9 जिम्बाब्वे मुक्ति मोर्चे को पूर्ण समर्थन देने का प्रस्ताव पारित कर लुसाका शिखर-सम्मेलन समाप्त।

18 श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा भारत में मार्च में आम चुनाव की घोषणा।

20 जिम्मी कार्टर द्वारा अमेरिका के 29वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ग्रहण।

31 एण्ड्रू यंग द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका के स्थायी प्रतिनिधि के रूप में शपथ ग्रहण।

फरवरी, 1977

1 अमेरिका द्वारा दक्षिण कोरिया से धीरे-धीरे सेना हटाने का निश्चय।

16 मुहम्मद दाऊ अफगानिस्तान के राष्ट्रपति निर्वाचित।

मार्च, 1977

7 काहिरा में अरब-अफ्रीकी देशों के शिखर-सम्मेलन में 60 देश सम्मिलित।

20 तुर्की और सोवियत संघ में मैत्री-समझौता। चीन द्वारा शक्तिशाली नौ-सेना निर्माण करने का निश्चय।

24 भारत में मोरारजी देसाई जनता पार्टी के नेता निर्वाचित और प्रधानमन्त्री पद की शपथ ग्रहण।

अप्रेल, 1977

9 रूस और क्यूबा द्वारा दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष का समर्थन।

21 जनरल जियाउरहमान बंगलादेश के नए राष्ट्रपति।

27 भारत और सोवियत संघ में तीन समझौतों पर नई दिल्ली में हस्ताक्षर। जनरल टिक्का खाँ पाकिस्तान के नए प्रतिरक्षा मन्त्री।

मई, 1977

7 पाकिस्तान को अमेरिका से दो विध्वंसक प्राप्त।

19 अमेरिका तथा सोवियत संघ सहित 31 देशों द्वारा कृत्रिम मौसम का शस्त्र के रूप में प्रयोग करने पर प्रतिबन्ध।

20 हथियारों की बिक्री पर रोक लगाने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर की छः सूत्री योजना।

23 बेगिन द्वारा अरब अधिकृत क्षेत्र को 'मुक्त क्षेत्र' बनाना।

जून, 1977

4 अमेरिका और क्यूबा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने पर सहमत ।

7 प्रधान मन्त्री देसाई और विदेश मन्त्री अटल बिहारी बाजपेयी राष्ट्रकुल सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन रवाना ।

8 लन्दन में राष्ट्रकुल शिखर-सम्मेलन शुरू ।

14 चीन द्वारा जापान और दक्षिण कोरिया के समझौते को अवैध ठहराना ।

15 लन्दन में राष्ट्रकुल सम्मेलन की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति जारी ।

16 लियोनिद ब्रेझनेव सोवियत संघ के राष्ट्रपति निर्वाचित ।

19 वाटरगेट काण्ड समाप्त ।

21 लिकुड के नेता बेगिन द्वारा इजरायल के प्रधानमन्त्री पद की शपथ ग्रहण ।

27 अफ्रीका स्थित जिबूती को स्वाधीनता प्राप्त ।

30 यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों द्वारा फिलिस्तीनियों के लिए पृथक् राज्य का समर्थन ।

जुलाई, 1977

5 पाकिस्तान मे रक्तहीन क्रान्ति । भुट्टो सहित सभी राजनीतिक नेता गिरफ्तार और फौजी कानून लागू ।

20 सुरक्षा परिषद् द्वारा वियतनाम को संयुक्तराष्ट्र का सदस्य बनाने का अनुमोदन ।

28 चीन द्वारा उद्जन बम का विस्फोट ।

अगस्त, 1977

11 सोवियत संघ और चीन मे सीमा वार्ता । अमेरिका की दक्षिण कोरिया को 190 करोड़ डॉलर की सहायता ।

14 विश्व के कम्युनिस्टों में भाईचारे की भावना स्थापित करने के लिए मार्शल टीटो की सोवियत संघ और चीन की यात्रा ।

15 अरब-इजरायल संघर्ष की समाप्ति के लिए अमेरिका द्वारा आठ सूत्री योजना प्रस्तुत ।

सितम्बर, 1977

1 रोडेशिया के चुनाव में इयान स्मिथ के रोडेशियाई मोर्चे को भारी बहुमत प्राप्त ।

6 मास्को मे संयुक्त राष्ट्र के महासचिव डॉ. वाल्दहीम और सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको द्वारा विश्व मे निःशस्त्रीकरण पर जोर ।

21 संयुक्त राष्ट्र की महासभा के 32वें अधिवेशन के अवसर पर वियतनामी समाजवादी गणतन्त्र का संयुक्त राष्ट्र मे प्रवेश ।

अक्तूबर, 1977

1 वाशिंगटन मे भारत के विदेश मन्त्री द्वारा तब तक परमाणु विस्तार निरोधक सन्धि पर हस्ताक्षर न करने की घोषणा जब तक सभी देश इस प्रकार के अस्त्रों को समाप्त करने की कार्यवाही न करें ।

7 चीन और सोवियत सघ के बीच पिछले आठ वर्षों मे पहली बार नौ-सैनिक समझौता सम्पन्न ।

26 नेवादा मरुस्थल मे अमेरिका द्वारा परमाणु बम विस्फोट ।

नवम्बर, 1977

1 सुरक्षा परिषद् मे दक्षिण अफ्रीका विरोधी प्रस्तावो पर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा निषेधाज्ञा के अधिकार का प्रयोग ।

2 अमेरिका द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन से हटना ।

10 मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापना के लिए इजरायल जाने की घोषणा ।

19 यरूशलम पहुँचने पर अनवर सादात का भव्य स्वागत ।

21 सादात और बेगिन द्वारा युद्ध न करने का एलान ।

दिसम्बर, 1977

1 सोवियत सघ द्वारा परमाणु परीक्षण ।

4 यासिर अराफात के नेतृत्व मे सभी फिलिस्तानी गुटो मे एकता ।

7 मिस्र द्वारा सोवियत संघ, पूर्वी जर्मनी, हगरी आदि के सांस्कृतिक केन्द्रो को बन्द करने के आदेश ।

25 इजरायली प्रधानमन्त्री श्री बेगिन और मिस्री राष्ट्रपति सादात के बीच इस्माइलिया मे शिखर वार्ता ।

26 सादात-बेगिन की समझौता वार्ता विफल, मुख्य बाधा फिलिस्तीन समस्या का हल न ढूंढ पाना ।

जनवरी, 1978

1 अमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिम्मी कार्टर का भारत आगमन ।

3 भारत-अमेरिका सयुक्त घोषणा : तीन करारो और घोषणाओ पर हस्ताक्षर ।

11 बेगिन द्वारा पश्चिमेशिया पर पाँच सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत ।

फरवरी, 1978

1 30 देशो का निरस्त्रीकरण सम्मेलन जिनेवा मे शुरू ।

मार्च, 1978

4 हुआ कुओ फेंङ. चीन के पुन. प्रधान मन्त्री निर्वाचित ।

5 श्रीलका अब श्रीलका लोकतान्त्रिक समाजवादी गणराज्य घोषित ।

8 चीन द्वारा नया सविधान प्रकाशित ।

15 चीन द्वारा परमाणु विस्फोट ।

22 वाशिंगटन मे कार्टर और बेगिन मे पश्चिमेशिया समस्या पर वार्ता ।

अप्रैल, 1978

4 अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा न्यूट्रान बम बनाने की योजना समाप्त करने का निर्णय ।

19 फ्रांस द्वारा न्यूट्रान बम का परीक्षण।

25 सोवियत संघ द्वारा न्यूट्रान बम न बनाने का एलान।

मई, 1978

14 चीन द्वारा सोवियत संघ को युद्ध की धमकी।

17 हवाना (क्यूबा) में गुट-निरपेक्ष देशों का ब्यूरो सम्मेलन शुरू।

28 नेपाल और चीन में सीमा सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर।

जून, 1978

9 प्रधानमन्त्री देसाई द्वारा संयुक्त-राष्ट्र महासभा में पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए चार सूत्री योजना।

12 मेजर जनरल जियाउरहमान द्वारा बंगलादेश के राष्ट्रपति पद की शपथ।

23 सोवियत संघ का तुर्की से तेल समझौता।
चीन द्वारा यूरोप में आधुनिक हथियारों की खरीद का अभियान।

जुलाई, 1978

23 इजरायल द्वारा सिनाइ नगर लौटाने से इन्कार। अफ्रीकी एकता संगठन द्वारा दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध कड़े कदम उठाने का निर्णय।

26 बेलग्रेड सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की विभिन्न व्याख्याएँ और अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा अस्त्र सहायता पर रोक की अपील।

30 बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन समाप्त।
मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा इजरायल से शान्ति-वार्ता भंग।

अगस्त, 1978

16 चीन द्वारा पाकिस्तान को परमाणु की जानकारी देने का प्रस्ताव।

सितम्बर, 1978

6 चीन द्वारा अप्रैल, 1979 में चीन–सोवियत सन्धि रद्द करने का निश्चय।

7 अमेरिका और सोवियत संघ में अस्त्र प्रसार निरोध वार्ता (साल्ट) मास्को में शुरू।

16 जिया उल-हक अब पाकिस्तान के राष्ट्रपति।

18 कैम्प डेविड वार्ता सफल तथा मिस्र और इजरायल शान्ति-समझौता करने पर सहमत।

24 चार अरब देशों द्वारा मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद। इजरायली मन्त्रिमण्डल द्वारा कैम्प डेविड समझौते का अनुमोदन।

30 प्रशान्त महासागर में स्थित तुवालु द्वीप को ब्रिटेन द्वारा स्वाधीनता प्रदान।

अक्तूबर, 1978

2 फिलिस्तीनियों द्वारा कैम्प डेविड समझौते की आलोचना।

10 संयुक्त राष्ट्र महासभा में विदेशमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा अपने हिन्दी भाषण में निरस्त्रीकरण के लिए 6 सूत्री योजना प्रस्तुत।

23 चीन-जापान शान्ति-समझौते का दोनों देशों द्वारा अनुमोदन।

नवम्बर, 1978

4 मास्को में सोवियत संघ और वियतनाम में मैत्री समझौते पर हस्ताक्षर।
26 फ्रांस द्वारा चीन को परमाणु सयन्त्र बेचने पर अमेरिका की छूट।
29 सोवियत सघ द्वारा परमाणु परीक्षण।
30 पूर्व और पश्चिम जर्मनी द्वारा सीमा समझौते पर हस्ताक्षर।

दिसम्बर, 1978

11 ओस्लो में मेनाहिम बेगिन और अनवर सादात को नोबेल शान्ति पुरस्कार प्रदान।
16 अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा पहली जनवरी, 1979 से चीन से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा।

जनवरी, 1979

1 अमेरिका और चीन में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित और वुडकाक पीकिंग में प्रथम अमेरिकी राजदूत।
16 फ्रांस और चीन द्वारा परमाणु सहयोग सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर।

फरवरी, 1979

1 निर्वासित धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी को पेरिस से तेहरान लौटने पर भव्य स्वागत।
12 अटल बिहारी वाजपेयी का पीकिंग आगमन।
17 चीन का वियतनाम पर हमला।
19 बंगलादेश के चुनाव में राष्ट्रपति जियाउर्रहमान की बंगलादेश राष्ट्रीय पार्टी को दो-तिहाई बहुमत प्राप्त। ईरान द्वारा अन्तिम 67 इजरायली निष्कासित।

मार्च, 1979

3 चीन द्वारा वियतनाम से अपनी सेनाएँ वापस बुलाने का फैसला।
4 ब्रिटेन चीन द्वारा 14 अरब डॉलर व्यापार समझौते पर पीकिंग में हस्ताक्षर।
7 कार्टर का काहिरा पहुँचने पर भव्य स्वागत।
10 मिस्री नेताओं से वार्ता के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति का तेलअवीव (इजरायल) आगमन।
12 ईरान और पाकिस्तान द्वारा 'सेंटो' से सम्बन्ध विच्छेद।
15 तुर्की द्वारा भी केन्द्रीय सन्धि संगठन (सेंटो) से सम्बन्ध विच्छेद।
21 शान्ति-सन्धि के बाद इजरायल को अमेरिका द्वारा तीन अरब डॉलर सहायता का आश्वासन।
26 वाशिंगटन में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और इजरायल प्रधानमन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर।

अप्रेल, 1979

25 मिस्र और इजरायल द्वारा शान्ति सम्बन्धी दस्तावेजों का आदान-प्रदान।

मई, 1979

8 रूस और अमेरिका द्वितीय अस्त्र परिसीमन सन्धि के लिए सहमत।

25 इजरायल द्वारा सिनाई की राजधानी अल अरिश मिस्र द्वारा सौंपा जाना।

27 मिस्र और इजरायल दोनों देशों के बीच खुले आगमन के लिए सहमत।

29 रोडेशिया में पहले अश्वेत प्रधानमन्त्री बिशप मुजोरेवा द्वारा शपथ ग्रहण।

जून, 1979

10 प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई का ताशकन्द आगमन।

18 वियना में अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और सोवियत संघ के राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव द्वारा साल्ट–2 समझौतों पर हस्ताक्षर।

जुलाई, 1979

6 हवाना के गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात को निमन्त्रण।

21 मोनोराविया में अफ्रीकी एकता सगठन के शिखर सम्मेलन में रोडेशिया की नई सरकार को मान्यता देने से इन्कार।

31 लुसाका में राष्ट्रकुल देशों का शिखर सम्मेलन शुरू।

अगस्त, 1979

7 लुसाका शिखर सम्मेलन रोडेशिया पर नई योजना का अनुमोदन न कर समाप्त।

सितम्बर, 1979

3 गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में 12 और सदस्य शामिल।

5 हैफा में मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और इजरायल के प्रधानमन्त्री मेनाहिम बेगिन में तेल अबीब और सिनाई पर समझौता।

8 चीन द्वारा कई यूरोपीय देशों से भारी मात्रा में अस्त्रों की खरीद।

10 रोडेशिया पर लन्दन में संवैधानिक सम्मेलन शुरू।

19 संयुक्तराष्ट्र महासभा द्वारा पोलपोत की कंबुजिया सरकार को मान्यता प्रदान।

22 चीन द्वारा प्रक्षेपास्त्र परीक्षण।

23 सोवियत संघ के सम्बन्ध सुधार के लिए चीन के एक प्रतिनिधि मण्डल का मास्को आगमन।

28 बंगलादेश द्वारा परमाणु प्रसार विरोधी सन्धि पर हस्ताक्षर।

29 बर्मा द्वारा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बन्ध विच्छेद।

अक्तूबर, 1979

3 ब्रिटेन के विदेशमन्त्री लॉर्ड केरिंग्टन द्वारा रोडेशिया के संविधान का प्रारूप प्रस्तुत।

12 चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष हुआ कुओ फेंङ पहली बार पश्चिम यूरोपीय देशों की यात्रा पर रवाना।

15 ईरान में अयातुल्ला खुमैनी को सर्वोच्च शासकीय सत्ता प्रदान।

23 हुआ द्वारा जर्मनी के एकीकरण को विश्व-शान्ति के लिए हितकर बताना।

27 रोडेशिया के प्रधानमन्त्री बिशप मुजोरेवा द्वारा लन्दन प्रस्ताव स्वीकार।

28 सेंट विसेंट को स्वाधीनता प्रदान।

नवम्बर, 1979

2 लन्दन में ब्रिटेन और चीन में वायु सेवा समझौते पर हस्ताक्षर।

11 जिम्मी कार्टर द्वारा गैर-कानूनी ढंग से अमेरिका में रहने वाले ईरानियों को स्वदेश भेजने की धमकी।

12 अमेरिका द्वारा ईरान से तेल आयात करने पर प्रतिबन्ध।

14 कार्टर द्वारा अमेरिकी बैंकों में जमा ईरानी सम्पत्ति की नाकेबन्दी।

15 इजरायल द्वारा माउन्ट सिनाई का क्षेत्र मिस्र को वापस, रोडेशिया पर देशभक्त मोर्चे द्वारा ब्रितानी प्रारूप स्वीकार।

19 ईरान द्वारा 13 और अमेरिकी बन्धक रिहा।

22 ईरान द्वारा पांच और अमेरिकी बन्धक रिहा।

दिसम्बर, 1979

1 ईरान के बहिष्कार के बावजूद संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा-परिषद् द्वारा ईरान संकट पर विचार-विमर्श।

2 पीकिंग में सोवियत संघ और चीनी अधिकारियों में सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने पर वार्ता।

4 ईरान में जनमत संग्रह के फलस्वरूप अयातुल्ला खुमैनी आजीवन राजनीतिक 'संस्थापक' नियुक्त, बर्मा और बंगलादेश में सीमा समझौता।

5 लन्दन में रोडेशिया समझौते की घोषणा।

8 पीकिंग में जापानी प्रधानमन्त्री ओहिरा द्वारा चीन से सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने का एलान।

11 रोडेशिया की संसद् भंग।

12 रोडेशिया के विरुद्ध ब्रितानी आर्थिक प्रतिबन्ध समाप्त।

13 अमेरिका द्वारा 183 ईरानी राजनयिकों को वापस जाने का आदेश।

14 ईराक का ईरान पर सशस्त्र आक्रमण।

15 अमेरिकी सरकार का सुरक्षा व्यय में बढ़ोत्तरी करने का फैसला, नेटो द्वारा रूस को शस्त्र नियन्त्रण सम्बन्धी पांच सूत्री प्रस्ताव।

17 12 वर्ष बाद रोडेशिया के साथ व्यापार और व्यवसाय पर से अमेरिकी सरकार का प्रतिबन्ध समाप्त।

22 संयुक्तराष्ट्र द्वारा रोडेशिया के विरुद्ध 14 वर्षीय प्रतिबन्ध समाप्त।

27 अफगानिस्तान में क्रान्ति और राष्ट्रपति हफीजुल्ला अमीन सत्ताच्युत।

जनवरी, 1980

1 ईरानी नेताओं से बातचीत करने के लिए संयुक्तराष्ट्र महासचिव डॉ कुर्त वाल्दहीम का तेहरान आगमन।

8 अमेरिकी द्वारा 17 रूसी निष्कासित; संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् द्वारा अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिकों की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पर रूस के वीटो के अधिकार का प्रयोग।

13 अफगानिस्तान मे सोवियत पद्धति के अनुसार सरकार का गठन।

14 पाकिस्तान को 40 करोड डॉलर की अमेरिकी सहायता; ईरान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी अमेरिकी प्रस्ताव पर रूस द्वारा अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग।

15 संयुक्तराष्ट्र महासभा द्वारा अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी सम्बन्धी प्रस्ताव पारित।

20 चीन द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहयोग का आश्वासन।

28 अमेरिका द्वारा 1,000 अरब डॉलर के प्रतिरक्षा बजट की योजना।

फरवरी, 1980

5 बनीसदर द्वारा ईरान के राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण।

14 अमेरिका द्वारा यूरोपीय क्षेत्रों में अस्त्र संग्रहीत करने की योजना।

26 मिस्र और इजरायल में राजदूतों का आदान-प्रदान।

मार्च, 1980

1 फ्रांस द्वारा परमाणु परीक्षण।

14 पाकिस्तान में चीनी सैनिक प्रतिनिधि-मण्डल का आगमन। 18 अप्रैल को रोडेशिया को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान किए जाने की ब्रिटेन गवर्नर लॉर्ड सोमेस द्वारा घोषणा।

22 अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बबराक कारमाल द्वारा ब्रिटेन की तटस्थीकरण योजना अस्वीकार।

24 ईरान के अपदस्थ शाह का काहिरा आगमन और मिस्री राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा उन्हें स्थायी आवास का आश्वासन।

30 अमेरिका और तुर्की द्वारा नई प्रतिरक्षा सन्धि पर हस्ताक्षर।

अप्रैल, 1980

5 अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं के रहने पर सोवियत संघ और अफगानिस्तान के नेताओं में एक समझौते पर हस्ताक्षर।

18 जिवाब्वे स्वाधीन और देश भर में समारोह।
सोवियत संघ द्वारा जिवाब्वे को राजनयिक मान्यता प्रदान।

25 दो हेलिकोप्टरों के ईरान में टकरा जाने से बन्धकों को छुडाने का अमेरिकी प्रयास विफल।
सोवियत संघ द्वारा परमाणु परीक्षण।

28 कार्टर की बन्धकों को छुड़ाने सम्बन्धी कार्यवाही के विरोध में विदेश मन्त्री साइरस वैंस का इस्तीफा, नेपाल द्वारा फिलीस्तीनी मुक्ति संगठन को मान्यता प्रदान।

मई, 1980

1 फिलिस्तीनियों के अधिकार सम्बन्धी प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा सुरक्षा-परिषद् में निषेधाज्ञा का प्रयोग।

4 यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल जोसेफ ब्रोज टीटो का देहान्त।

9 चीन द्वारा प्रशान्त में अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र के परीक्षण की घोषणा।

15 मिजातोविच यूगोस्लाविया के नए राष्ट्रपति निर्वाचित।

16 जापान की मासायोशी ओहिरा सरकार का पतन और जून में संसद के नए चुनाव का एलान।
चीन को विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त।

18 यूरोपीय साझा-बाजार द्वारा 22 मई से ईरान के विरुद्ध व्यापारिक नाकेबन्दी का एलान। चीन द्वारा अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का मध्य प्रशान्त में परीक्षण।

22 गुस्ताव हुसाक सर्व सम्मति से चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति निर्वाचित।

28 याल्जिक शामीर इजरायल के नए प्रतिरक्षा मन्त्री।

30 पाकिस्तान द्वारा 20 अरब रुपये के हथियार खरीदने का फैसला।

जून, 1980

7 चीन और सोवियत संघ में एक व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर।

12 जापान के प्रधानमन्त्री मासायाओ ओहिरा का टोकियो में देहान्त।

15 अयातुल्ला खुमैनी द्वारा सांस्कृतिक क्रान्ति की घोषणा।

19 अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा तारापुर परमाणु संयंत्र के लिए यूरेनियम देने का आदेश।

21 चीन सरकार द्वारा भारत-चीन सीमा में वर्तमान नियन्त्रण रेखा को बनाए रखने का सुझाव।

24 जापान के चुनाव में लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी की भारी जीत।

26 पाकिस्तान के प्रतिरक्षा बजट में 53 करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी।

जुलाई, 1980

1 सुरक्षा-परिषद् द्वारा इजरायल के अरब अधिकृत क्षेत्र खाली करने का आदेश।

7 ईरान-ईराक की सीमा पर संघर्ष।

10 टोकियो में अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर और चीन के प्रधानमन्त्री हुआ-कुओ-फेंङ में पहली बार वार्ता।

17 जापान के नए प्रधानमन्त्री जेंको सुजुकी के मन्त्रिमण्डल में कई नए चेहरे।

26 नेवादा में अमेरिका द्वारा एक परमाणु परीक्षण।

27 ईरान के अपदस्थ शाह मुहम्मद रजा पहलवी का काहिरा में देहान्त।

अगस्त, 1980

6 राष्ट्रपति कार्टर द्वारा नयी परमाणु समरनीति का अनुमोदन ।

15 अमेरिका, ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी में आधुनिक प्रक्षेपास्त्र के विकास पर सहमति ।

25 ईरान के अपदस्थ शाह के पुत्र राजकुमार रेजा द्वारा निर्वासित सरकार गठित करने की घोषणा ।

सितम्बर, 1980

3 मिस्र और इजरायल में पुन वार्ता पर सहमति ।

4 राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी द्वारा राष्ट्रकुल देशों के दूसरे एशियाई और प्रशान्त क्षेत्रीय सम्मेलन का नई दिल्ली में विज्ञान भवन में उद्घाटन ।

7 हुआ-कुओ-फेंड द्वारा चीन के प्रधानमन्त्री पद से त्याग-पत्र और जाओ जियाड नए प्रधानमन्त्री बने ।

8 भारत में राष्ट्रकुल के क्षेत्रीय सम्मेलन की समाप्ति पर सयुक्त विज्ञप्ति जारी ।

12 तुर्की में रक्तहीन क्रान्ति से प्रधानमन्त्री सुलेमान दमरियल सत्ताच्युत और जनरल केनान एवरेन सत्तारूढ ।

29 ईरान द्वारा युद्ध-विराम का प्रस्ताव अस्वीकार।
पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया-उल-हक 40 देशों के इस्लामी शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने बगदाद पहुँचे ।

अक्तूबर, 1980

3 फारस की खाड़ी में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और आस्ट्रेलिया के युद्धपोतों के जमाव का भारत द्वारा विरोध।

5 अमेरिका और ताइवान के बीच बढ़ते सम्बन्धों की चीन द्वारा आलोचना ।

12 राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी सोवियत सघ और बुल्गारिया की यात्रा पूरी कर स्वदेश लौटे ।

23 बीमारी के कारण सोवियत सघ के प्रधानमन्त्री श्री अलेक्सी कोसीगिन का पद से त्यागपत्र । श्री निखोनोव नए प्रधानमन्त्री बने ।

28 ईराक और ईरान में मध्यस्थता के लिए भारत सहित 6 निर्गुट देशों की समिति का गठन ।

नवम्बर, 1980

2 ईरानी मजलिस (संसद) द्वारा अमेरिकी बन्धकों को रिहा करने की शर्तों का अनुमोदन ।

5 रिपब्लिकन पार्टी के रोनाल्ड रीगन अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति निर्वाचित ।

7 पश्चिम जर्मनी में चांसलर हेल्मूट श्मिड्ट के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल द्वारा शपथ ग्रहण ।

10 माइकल फुट ब्रिटेन की लेबर पार्टी के नये-नये नेता निर्वाचित ।

11 अमेरिका द्वारा बन्धकों की रिहाई के बारे में ईरानी शर्तों का उत्तर अल्जीरिया के माध्यम से प्रस्तुत ।

12 ईरान और ईराक मे लडाई समाप्त करने के लिए संयुक्तराष्ट्र महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दाइम द्वारा स्वीडन के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ओलोफ पाल्मे को मध्यस्थ नियुक्त करना ।

13 माद्रीद मे 35 देशो के यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन में अफगानिस्तान मे सोवियत सैनिक हस्तक्षेप की तीखी आलोचना ।

20 सयुक्तराष्ट्र महासभा द्वारा सोवियत सघ से अफगानिस्तान से अपनी सेनाएँ वापस हटाने सम्बन्धी प्रस्ताव पारित।

22 माद्रीद मे यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन मे मानवाधिकार के मुद्दे पर अमेरिका द्वारा सोवियत सघ पर प्रहार ।

दिसम्बर, 1980

10 पोलैण्ड मे सोवियत सघ के हस्तक्षेप करने पर नैटो द्वारा उचित कार्यवाही करने की धमकी ।

11 सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद् ब्रेझनेव की भारत यात्रा की समाप्ति के बाद सयुक्त विज्ञप्ति जारी ।

17 बाली के सम्मेलन मे ओपेक देशो द्वारा भारत को सहायता का आश्वासन । रीगन द्वारा अलेक्जेंडर हेग विदेशमन्त्री नियुक्त ।

19 सोवियत सघ के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री अलेक्सी कोसीगन का मास्को मे देहान्त।

20 मार्क्सवादी प्रणाली पर आधारित वीयतनाम द्वारा नया सविधान लागू ।

26 मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा अफगान छापामारो को अधिक हथियार देने का वायदा ।

27 मिस्री राष्ट्रपति सादात द्वारा निर्वासित अफगान सरकार के गठन का आह्वान

31 यूनान यूरोपीय आर्थिक समुदाय मे शामिल ।

जनवरी, 1981

6 चीन और अमेरिका मे सीधी हवाई सेवा शुरू ।

7 अमेरिकी बन्धकों के प्रश्न पर ईरान द्वारा अल्जीरिया की मध्यस्थता स्वीकार।

14 चीन द्वारा विश्व बैंक से भारी ऋण की माँग ।

18 बगलादेश द्वारा गगा-ब्रह्मपुत्र के बारे मे भारत का प्रस्ताव अस्वीकार । पाकिस्तान को अणुबम बनाने के लिए सऊदी अरब द्वारा 80 करोड़ डॉलर देने का निश्चय ।

20 ईरान द्वारा 52 अमेरिकी बन्धक रिहा ।
अमेरिका के 40वें राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन द्वारा वाशिंगटन मे अपने पद की शपथ ग्रहण ।

26 तैफ (सऊदी अरब) मे इस्लामी विदेशमन्त्रियों के सम्मेलन मे इस्लामी विकास निधि के गठन का निश्चय ।

28 तैफ मे इस्लामी विदेशमन्त्रियों का सम्मेलन समाप्त ।

फरवरी, 1981

1 सोवियत संघ के एक पत्र द्वारा पाकिस्तान में बारह चीनी सैनिक अड्डे बताना।

6 अफगानिस्तान को राष्ट्रसंघ की मध्यस्थता स्वीकार,।

9 गुट-निरपेक्ष देशों का नयी दिल्ली में सम्मेलन आरम्भ। उद्घाटन भाषण में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा विघटन के खतरे के प्रति सदस्य देशों को चेतावनी।

21 अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बबरक कारमाल द्वारा अमेरिकी षड्यन्त्रों के कारण सोवियत सैनिकों का अपने देश में प्रवेश को आवश्यक बताना। सोवियत संघ द्वारा यूरोप के विभिन्न नगरों को निशाना बनाकर 150 एस एस. 20 प्रक्षेपास्त्रों की स्थापना करना।

22 फ्रांस द्वारा नये परमाणु प्रक्षेपास्त्र का विकास।

23 सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की 26 वी कांग्रेस में विश्व तनाव कम करने के लिए 8 सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत।

मार्च, 1981

4 पश्चिम जर्मनी के राष्ट्रपति कार्ल कार्स्तेंस का दिल्ली पहुँचने पर भव्य स्वागत।

10 राष्ट्रपति बनने के बाद रीगन की पहली विदेश यात्रा कनाडा से शुरू।

14 स्विट्जरलैण्ड द्वारा संयुक्तराष्ट्र का पुन सदस्य बनने का फैसला।

19 अमेरिका के विदेश मन्त्री अलेक्जेंडर हेग द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायता पर लगाये गए प्रतिबन्ध हटाये जाने के लिए राष्ट्रपति से अनुरोध।

20 ब्रूसेल्स स्थित नेटो के देशों द्वारा सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव द्वारा 'देतां' प्रस्तावों को अस्वीकार करने का सुझाव।

24 अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को 50 करोड डॉलर के अस्त्र तथा अन्य सहायता का प्रस्ताव

अप्रेल, 1981

1 थाईदेश में सैनिक क्रान्ति और दो व्यक्तियों द्वारा सत्ता पर अधिकार का दावा।

4 हुआ कुओ फेंग के स्थान पर हू याओबाङ, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नये अध्यक्ष।

8 अफगानिस्तान में और सैनिकों का आगमन। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के उपाध्यक्ष तेङ् सिआओ पिङ द्वारा भारत को 'बड़ा भाई' बताना। गुट-निरपेक्ष देशों की शान्ति टोली का बगदाद आगमन।

9 पाकिस्तान द्वारा परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी द्वारा लोकसभा में चिन्ता व्यक्त।

13 फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे द्वारा अमेरिका की पश्चिमएशिया की नीति को उग्र बताना।

15 ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थैचर के दिल्ली पहुँचने पर भव्य स्वागत।

21 संयुक्तराष्ट्र द्वारा एक नया विश्व बैंक स्थापित करने का निश्चय।
ईराक द्वारा पाँच छोटे ईरान गठन करने का सुझाव।

22 अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को ढाई अरब डॉलर के अस्त्र देने का आश्वासन।

29 दक्षिण अफ्रीका द्वारा परमाणु ईंधन का उत्पादन।
सीरिया के सैम प्रक्षेपास्त्रों का लेबनान में मिलना।

मई, 1981

1 दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध व्यापक प्रतिबन्ध लगाने के बारे में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव पर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की निषेधाज्ञा।
नेवादा के पास अमेरिका का परमाणु परीक्षण।

10 फ्रास्वा मितेराँ फ्रांस के नये राष्ट्रपति निर्वाचित।

12 पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी सहायता का नया प्रस्ताव स्वीकार।

13 तेरह दिन की विदेश यात्रा के बाद प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी का दिल्ली आगमन।

14 अपने हित की रक्षा के लिए समय पड़ने पर नैटो द्वारा बल प्रयोग का निश्चय।
बंगलादेश में पिछले नौ वर्ष में 23,400 राजनैतिक हत्याएँ।

16 ग्रेकर द्वारा युगोस्लाविया के नये राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण।

20 ईरान-ईराक युद्ध का फैलाव।

22 भारत और जिम्बाब्वे में व्यापार और तकनीकी सहयोग के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर।

23 एक सर्वेक्षण के अनुसार नवमूर द्वीप को बंगलादेश का नहीं, भारत का भाग बताया जाना।

30 बंगलादेश के राष्ट्रपति जनरल जियाउर्रहमान की चटगाँव में हत्या और उपराष्ट्रपति अब्दुस्सत्तार कार्यकारी राष्ट्रपति नियुक्त।

जून, 1981

4 काठमाण्डो में चीनी प्रधानमन्त्री चाओ च्याङ द्वारा नेपाल की शान्ति क्षेत्र योजना का अनुमोदन।

8 इजरायल द्वारा ईराक का परमाणु रिएक्टर नष्ट।

10 इजरायल के प्रधानमन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा अरबों को परमाणु बम न बनाने देने का निश्चय।

13 संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् में ईराक द्वारा इजरायल के उनके परमाणु संयन्त्र नष्ट करने के कार्य को हमला बताना।

14 ईरानी राष्ट्रपति बनीसदर के देश से पलायन के समाचार।

16 अमेरिका द्वारा चीन को अस्त्र बेचने का निर्णय।

18 इजराइल के प्रधानमन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा सीरिया पर प्रक्षेपास्त्रों से हमला करने की धमकी।

20 दक्षिण कोरिया द्वारा उत्तर कोरिया से एकीकरण वार्ता शुरू करने का आग्रह।

22 बनीसदर ईरानी राष्ट्रपति पद से वंचित।

26 *दिल्ली पहुँचने पर चीन के विदेशमन्त्री हुग्राङ. हुग्रा का भव्य स्वागत।*

सिनाइ प्रायद्वीप के लिए अमेरिका, मिस्र और इजरायल की 2000 सदस्यीय शान्ति सेना के गठन पर सहमति।

29 चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष हुग्रा-कुग्रो-फेंड का अपने पद से स्तीफा और हुग्राग्रोवाङ् नये अध्यक्ष निर्वाचित।

ईराक का युद्ध-विराम प्रस्ताव ईरान द्वारा अस्वीकार।

30 चीनी विदेशमन्त्री हुग्राङ् हुग्रा की कोलम्बो में श्रीलंका के नेताओं से परस्पर सम्बन्धों पर वार्ता।

जुलाई, 1981

6 सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको द्वारा अफगानिस्तान पर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के प्रस्ताव को अव्यावहारिक बताना।

यूगोस्लाविया की असेम्बली द्वारा राष्ट्रपति के पद का कार्यकाल एक वर्ष निश्चित।

9 इजरायल के हमला करने पर सीरिया द्वारा सोवियत संघ से सहायता प्राप्त करने का निश्चय।

मिस्र और ईराक द्वारा एक-दूसरे के राजनयिक निष्कासित।

10 इजरायली विमानों द्वारा तीन फिलिस्तीनी अड्डों पर बमबारी।

13 इजरायल के प्रधानमन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा फिलिस्तीनियों को स्वायत्तता देने सम्बन्धी वार्ता का आह्वान।

17 इजरायल द्वारा लेबनान स्थित फिलिस्तीनी ठिकानों पर हमले।

ब्रिटेन द्वारा बेलीज को 21 सितम्बर को स्वाधीनता प्रदान करने का निर्णय।

21 उत्तर और दक्षिण कोरिया द्वारा एकीकरण का फैसला।

24 लेबनान में इजरायली और फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे में युद्ध-विराम।

चीन द्वारा अफगान-सोवियत संघ की सीमा सन्धि को अवैध बताना।

25 अफगानिस्तान पर यूरोपीय आर्थिक समुदाय का प्रस्ताव सोवियत संघ को अस्वीकार।

27 युवराज चार्ल्स की शादी में भाग लेने के लिए राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी लन्दन के लिए रवाना।

29 लन्दन में युवराज चार्ल्स और लेडी डियाना स्पेंसर का विवाह धूमधाम और राजकीय ठाटबाट से सम्पन्न।

31 दिल्ली में भारत और अमेरिकी अधिकारियों की तारापुर के लिए परिष्कृत यूरेनियम सम्बन्धी वार्ता विफल।

अगस्त, 1981

2 मुहम्मद अली रजाई द्वारा ईरान के नए राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण।

8 पश्चिमेशिया की समस्या के समाधान के लिए सऊदी अरब के युवराज फाहद का 8 सूत्री प्रस्ताव।

10 नैरोबी में प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी द्वारा ऊर्जा सम्बन्धी चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए विश्वव्यापी प्रयासों का आह्वान।
इजरायल द्वारा सऊदी अरब का शान्ति प्रस्ताव अस्वीकार।

11 अमेरिका के रीगन प्रशासन द्वारा न्यूट्रान बमों को बनाने की इच्छा व्यक्त।

13 विश्व-शान्ति स्थापना के उद्देश्य से अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन द्वारा सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव से वार्ता का प्रस्ताव।

16 अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को शीघ्र एफ–16 विमान देने का निर्णय।

19 भूमध्यसागर की वायु सीमा में अमेरिका द्वारा लीबिया के बमवर्षकों को गिराया जाना।

23 खाड़ी के 6 देशों द्वारा लीबियाई विमानों को गिराने के लिए अमेरिकी कार्यवाही की निन्दा।
ब्रिटेन द्वारा अँटिगुआ को 1 नवम्बर को स्वाधीनता प्रदान करने का निर्णय।

30 राष्ट्रपति मोहम्मद अली रजाई और प्रधानमन्त्री बाहोनार की बम विस्फोट में मृत्यु से ईरान शोकाकुल।

सितम्बर, 1981

1 लीबिया, दक्षिण यमन और इथियोपिया द्वारा सयुक्त प्रतिरक्षा सन्धि पर हस्ताक्षर।

3 अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा अपनी 10 दिन की चीन यात्रा की समाप्ति के बाद ताइवान के मुद्दे को ढंग से सुलझाने पर बल।

8 सोवियत सघ अमेरिका और नैटो देशों के न्यूट्रान बम का मुकाबला करने के लिए तैयार।
वाशिंगटन में राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और इजरायल के प्रधानमन्त्री मेनाहिम बेगिन द्वारा सैनिक सम्बन्ध सुदृढ करने पर बल।

10 सोवियत सघ द्वारा न्यूट्रान बम बनाए जाने की सम्भावना।

12 पाकिस्तान द्वारा सयुक्त राष्ट्र के अफगान घुसपैठ की शिकायत।

14 संयुक्तराष्ट्र महासभा में दक्षिण अफ्रीका के बहिष्कार सम्बन्धी प्रस्ताव निर्विरोध पारित।

16 ईराक के इस्मत टी किट्टानी सयुक्तराष्ट्र महासभा के अध्यक्ष निर्वाचित।
अमेरिका और इजरायल के बीच नये समझौते पर हस्ताक्षर।

17 ढाका में बंगलादेश और अमेरिका में परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग पर समझौता।

20 सोवियत संघ द्वारा अंगोला में अपने सैनिकों की उपस्थिति की स्वीकृति।

21 120 साल की पराधीनता के बाद बेलीज स्वाधीन ।
26 बेलीज संयुक्त राष्ट्र का 156वां सदस्य स्वीकार।
29 अफगानिस्तान की समस्या का हल ढूंढने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम की आगाशाही और शाह मुहम्मद दोस्त से वार्ता ।
30 मेलबोर्न (आस्ट्रिया) में राष्ट्रकुल देशों का शिखर-सम्मेलन शुरू ।

अक्तूबर, 1981

1 ईरान के भूतपूर्व राष्ट्रपति अबुलहसन बनीसदर द्वारा पेरिस में निर्वासित सरकार का गठन ।
4 आर्थिक मामलों पर मेलबोर्न शिखर सम्मेलन द्वारा 16-सूत्री कार्यक्रमों की घोषणा ।
6 मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात की हत्या ।
अमेरिका द्वारा हिन्द महासागर में अस्त्रों को बढ़ाने का विचार ।
7 मिस्र की राष्ट्रीय असेम्बली द्वारा उपराष्ट्रपति हुस्नी मुबारक अनवर सादात के उत्तराधिकारी नियुक्त । मेलबोर्न में राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन समाप्त ।
14 हुस्नी मुबारक द्वारा मिस्र के नए राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री पद की शपथ ग्रहण ।
22 कैनकुन (मेक्सिको) 22 देशों का उत्तर-दक्षिण शिखर सम्मेलन शुरू।
प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और चीन के प्रधानमन्त्री चाओ च्याङ् की वार्ता ।
29 हुसैन ममावी के ईरान के नए प्रधानमन्त्री पद पर मजलिस (समद्) की पुष्टि ।

नवम्बर, 1981

1 अमेरिका द्वारा पश्चिमेशिया में शान्ति स्थापना सम्बन्धी सऊदी अरब का शान्ति प्रस्ताव स्वीकार, लेकिन इजरायल का विरोध ।
पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया-उल-हक कश्मीर की वर्तमान विभाजन रेखा को सीमा मानने के लिए असहमत।
6 सोवियत संघ द्वारा अमेरिका पर परमाणु युद्ध की तैयारी का आरोप ।
8 मिस्र के राष्ट्रपति हुसैनी मुबारक द्वारा सऊदी अरब के पश्चिमेशिया के बारे में 8 सूत्री शान्ति स्थापना प्रस्ताव का अनुमोदन ।
9 फिलिस्तीन मुक्ति मोर्चे के नेता यासिर अराफत द्वारा इजरायल के अस्तित्व को मान्यता देने का संकेत ।
10 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि द्वारा भारत को 5 7 अरब डॉलर के ऋण का अनुमोदन ।
16 अमेरिका के ताइवान को हथियार देने पर चीन द्वारा अमेरिका से अपना राजदूत हटा लेने की धमकी । बंगलादेश के नव-निर्वाचित राष्ट्रपति अब्दुल सत्तार द्वारा सेना की भूमिका की व्याख्या ।

18 सयुक्त राष्ट्र द्वारा सोवियत सघ को अफगानिस्तान से हटने का अनुरोध ।

21 सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव द्वारा अमेरिका से सभी मुद्दों पर संवाद का आग्रह ।

23 बान मे ब्रेझनेव और पश्चिम जर्मनी के चान्सलर हेल्मट श्मिड्ट के परमाणु प्रक्षेपास्त्रो पर बातचीत ।

25 भारत 1949 का अनाक्रमण समझौता स्वीकार करने पर सहमत ।

28 इस्लामाबाद मे पाकिस्तान और टर्की मे एक प्रतिरक्षा समझौते पर हस्ताक्षर ।

दिसम्बर, 1981

2 अमेरिकी सीनेट द्वारा पाकिस्तान को एफ–16 विमान देने सम्बन्धी प्रस्ताव का अनुमोदन ।

3 सयुक्त राष्ट्र महासचिव डॉ. कुर्तवाल्दहीम द्वारा चुनाव मैदान से हटने का निर्णय ।

10 पीकिंग मे भारतीय और चीनी प्रतिनिधि मण्डलो मे वार्ता शुरू ।

11 सुरक्षा-परिषद् द्वारा पेरू के जावियर पेरेज द कूलार सयुक्त राष्ट्र के नए महासचिव नियुक्त ।

15 इजरायल द्वारा गोलान पहाडियो पर विधिवत् कब्जा करने का फैसला ।

17 संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् द्वारा इजरायल के गोलान पहाड़ियों पर कब्जे के फैसले की भर्त्सना ।

18 गोलान पहाडियो को अपने क्षेत्र मे न मिलाने सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र का प्रस्ताव इजरायल को अस्वीकार ।

24 अमेरिका द्वारा पोलैण्ड के विरुद्ध व्यापार पर प्रतिबन्ध लागू ।

30 अमेरिका द्वारा सोवियत संघ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध ।

जनवरी, 1982

2 पेरेस दे कूलार द्वारा संयुक्तराष्ट्र का महासचिव पद ग्रहण ।

8 अमेरिका और जापान मे पूर्वेशिया मे सयुक्त प्रतिरक्षा कार्यवाही पर समझौता ।

12 अमेरिका द्वारा ताइवान से एफ. एक्स. समझौता रद्द ।

18 अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन द्वारा रासायनिक अस्त्रो के निर्माण का समर्थन ।

20 इजरायली सैनिको के अप्रेल मे सिनाई से हटने पर मिस्र और इजरायल मे समझौता ।

21 गोलान पहाड़ियों पर कब्जा करने के लिए इजरायल पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा अपनी निषेधाज्ञा के अधिकार का इस्तेमाल ।

24 लीबिया और अल्जीरिया द्वारा विलय का फैसला।
30 संयुक्तराष्ट्र में सीरिया द्वारा इजरायल के विरुद्ध प्रतिबन्धों की मांग।
31 रियाद में फ्रांस और सऊदी अरब में नौसैनिक सुविधाओं सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर।

फरवरी, 1982

1 सीरिया द्वारा पश्चिमेशिया के बारे में तीन सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत।
6 संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रतिबन्धों सम्बन्धी प्रस्ताव को इजरायल द्वारा अवैध ठहराना।
9 रीगन द्वारा रासायनिक अस्त्रों के उत्पादन को पुनः शुरू करने का निर्णय।
20 संयुक्त राष्ट्र महासचिव पेरेज दे कुलार द्वारा ईरान-ईराक में शान्ति की स्थापना की अपील।
25 दक्षिण कोरिया द्वारा एकीकरण की वार्ता का प्रस्ताव।
28 अमेरिका द्वारा दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध प्रतिबन्ध समाप्त।

मार्च, 1982

9 अफगानिस्तान में एक लाख सोवियत सैनिकों की उपस्थिति के समाचार।
10 सिनाई में मिस्री कर्मचारियों का जाना शुरू।
12 अमेरिका के 132 संसद सदस्यों द्वारा परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर रोक का दोनों प्रमुख देशों से आग्रह।
16 सोवियत संघ द्वारा यूरोप में परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक की घोषणा।
17 अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन द्वारा सोवियत संघ के परमाणु अस्त्रों के रोक के फैसले को निरर्थक बनाना।
24 बंगलादेश में सैनिक क्रान्ति द्वारा राष्ट्रपति अब्दुल सत्तार अपदस्थ और ले. जनरल हुसैन मुहम्मद इरशाद द्वारा सत्ता ग्रहण।
29 अमेरिकी प्रशासन द्वारा दक्षिण अफ्रीका को अस्त्र-शस्त्रों के बिक्री की पुष्टि।
30 ईराक द्वारा युद्ध मोर्चे से अपने सैनिकों को हटाए जाने का आदेश।

अप्रेल, 1982

2 अर्जेन्टाइना द्वारा ब्रिटिश बस्ती फाकलैण्ड पर कब्जा।
3 ब्रिटेन द्वारा फाकलैण्ड द्वीप समूह में भारी मात्रा में सैनिक सामग्री भेजना। संयुक्त राष्ट्र में इजरायल के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी प्रस्ताव पर अमेरिका द्वारा वीटो का प्रयोग।
7 गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा ईरान-ईराक में शान्ति स्थापित करने का प्रयास विफल।
फाकलैण्ड की समस्या के हल के लिए अमेरिकी विदेश मन्त्री अलेक्जेण्डर हेग द्वारा मध्यस्थता का एलान।

प्रश्नावली

(UNIVERSITY QUESTIONS)

अध्याय—1 (परिचयात्मक)

1 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' से आप क्या समझते हैं ? 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' और 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' मे भेद प्रस्तुत कीजिए ।

What do you understand by the term 'International Politics'? Distinguish between 'International Politics' and 'International Relations'

2 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की आधुनिक प्रकृति और क्षेत्र के अध्ययन की विवेचना कीजिए ।

Discuss the present nature and scope of the study of International Politics.

3 उन तत्वों की व्याख्या कीजिए जो वर्तमान काल मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए स्वरूप के लिए उत्तरदायी हैं । (1981)

Discuss the factors that are responsible for the changing nature of International Politics in the present era.

4 आधुनिक काल मे 'विदेश सम्बन्ध' के अध्ययन का महत्व बढने के कारण दीजिए । उसके व्यक्ति-निरपेक्ष अध्ययन के मार्ग मे कौनसी कठिनाइयाँ हैं ?

Account for the growing importance of the study of 'International Relations' in Modern times. What are the difficulties in the way of its objective study ?

5 "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का पुनर्गठन हो रहा है जिसमें कि पहले की राज्य व्यवस्था एव राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपो मे बदलती जा रही है ।" इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिए ।

"Contemporary International Relations are going through a reorganization in which the old national state and the old state system are being slowly moulded into new political forms." Elucidate this statement and comment.

6 "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्य राजनीतियो की भाँति, शक्ति के लिए संघर्ष है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तिम उद्देश्य चाहे जो भी हों, शक्ति हमेशा तात्कालिक उद्देश्य होता है ।" (मार्गेन्थो) उपरोक्त कथन के प्रकाश मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र की विवेचना कीजिए ।

"International Politics, like all Politics, is a struggle for power. Whatever the ultimate aims of International politics, power is always the immediate aim" (Morgenthau). In the light of the above statement discuss the nature and scope of International Politics.

7 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सैद्धान्तिक अध्ययन करने से क्या लाभ है ? अपने 'अध्ययन-क्रम' में आधुनिक उभरती प्रवृत्तियों से सम्बन्धित उदाहरण देते हुए उत्तर को स्पष्ट कीजिए।

8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को समझाइए। आप अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्पोषण से क्या समझते हैं ?

Explain International Political System. What do you understand by maintaining the International Political System ?

9 'अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी की प्रक्रिया में प्रवृत्तियाँ' पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

Attempt a brief article on 'Trends in the International Bargaining Process.'

10 "यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था आज भी वही है, जिसमें राज्य इस बात के निर्धारण के लिए एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं कि किसको क्या, कब और कैसे मिला, तथापि वे तरीके बदल गए हैं जिनमें वे एक-दूसरे से प्रतियोगितापूर्ण सौदेबाजी करते हैं और साथ ही बहुत से ऐसे मसले भी बदल गए हैं जिन पर सौदेबाजी की जाती है।" (विलियम कोपलिन) व्याख्या कीजिए।

"The International Political System continues to be a system in which states compete with each-other in order to determine who gets, what, when, and how with only minor influence from International institutions. Even so the ways in which they competitively bargain with each-other and the very issues over which they bargain have changed radically since the classical period"(William D. Coplin.) Elucidate

11 "सौदेबाजी के क्षेत्रीय विभाजन की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के सार्वभौमीकरण का एक स्वाभाविक परिणाम या विकास है।" (विलियम डी कोपलिन) व्याख्या कीजिए।

"Trend towards regional fragmentation of bargaining is a natural outgrowth of the universalization of the International Political System" Explain.

12 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वतन्त्र एवं पृथक् अनुशासन मानने के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों की समीक्षा कीजिए। (1981)

Examine various views regarding International Politics as a separate and independent discipline.

13 उन कारणों की विवेचना कीजिए, जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए स्वरूप के लिए उत्तरदायी थे ?

Discuss the factors that are responsible for changing pattern of International Politics.

14 "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रवाद की समझ अनिवार्य आवश्यक है। वास्तव में हमारे समय की राज्य व्यवस्था का समस्त व्यवहार मुख्यतः राष्ट्रीय आशाओं, राष्ट्रीय भय, राष्ट्रीय आकांक्षाओं तथा राष्ट्रीय टकरावों के आधार पर समझाया जा सकता है।" (शार्प तथा कर्क) समीक्षा कीजिए। (1979)

"For students of International Politics an understanding of nationalism is indispensable. Indeed the total behaviour of State system in our days may largely be explained in terms of national hopes, national fears, national ambitions and national conflicts" (Sharp and Kirk.) Discuss and comment.

अध्याय—2 (सिद्धान्त एवं दृष्टिकोण)

15 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समझने के विभिन्न उपागमों की विवेचना कीजिए तथा उनकी सीमाओं को भी समझाइए। (1979)

Discuss the various approaches to the study of International Politics and their limitations.

16 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक मार्गों (अथवा उपागमों) की व्याख्या कीजिए। (1976)

Examine the scientific and historical approaches to the study of International Politics.

17 "यथार्थवादी सिद्धान्त उन सभी तत्त्वों की उपेक्षा करता है जो उद्देश्यों को प्रभावित या परिभाषित करते हैं" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मार्गेन्थो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की समीक्षा प्रस्तुत कीजिए। (1979)

"The Realist theory neglects all the factors that influence or define purpose." Present a critical assessment of Morgenthau's Realist theory of International Politics.

18 हंस मार्गेन्थो द्वारा प्रतिपादित 'यथार्थवाद के छः सिद्धान्तों' का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (1980)

Critically evaluate the 'Six Principles of Realism' as expounded by Hans Morgenthau.

19 "दृष्टिकोण तथा विवरण सम्बन्धी अनेक मतभेद यथार्थवादी सम्प्रदाय के विचारकों में पाए जाते हैं तथापि हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मार्गेन्थो के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शक्ति सिद्धान्त का वर्णन रंगभूमि के केन्द्र पर अधिकार किए हुए है।" विवेचना कीजिए। (1981)

"Many differences in point of view and on details exist within the realist school of thought; we must recognise, however, that the Morgenthau's version of power theory of International Politics occupies centre of the state." Discuss.

20 मार्गेन्थो के 'राजनीतिक वास्तविकता के छः सिद्धान्त' पर एक आलोचना लिखिए और उन सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कल्पना के क्षेत्र में नए विकास की दृष्टि से मूल्यांकन कीजिए। (1978)
Attempt a study of Morgenthau's 'Six Principles of Political Realism' and evaluate these principles in the light of new developments; in the field of International Political Theory.

21 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से सम्बन्धित यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख लक्षणों का विश्लेषण कीजिए। उसे एक 'वैज्ञानिक सिद्धान्त' के रूप में क्यों स्वीकार नहीं किया गया है?
Analyse the essential features of Realist Theory for studying International Political Theory. Why has it not been accepted as a 'Scientific Theory'?

22 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद के कुछ सिद्धान्तों को समझाते हुए यह बताइए कि वे कहाँ तक वैध हैं? (1980)
Explain some of the main tenets of the Realist Theory of International Politics, and consider their validity.

23 "यथार्थवादी सिद्धान्त उन सभी तत्वों की उपेक्षा करता है जो साध्यों को प्रभावित या परिभाषित करते हैं।" (स्टेनले हॉफमैन)
प्रो० हान्स जे० मार्गेन्थो द्वारा प्रतिपादित यथार्थवादी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूलभूत प्रस्थापनाओं की गहरी समीक्षा कीजिए। (1978)
"The Realist Theory neglects all the factors that influence or define purposes." (Stanley Hoffman).
Critically examine the main thesis of Professor Hans J. Morgenthau about Realist Theory of power politics.

24 "यथार्थवादियों द्वारा प्रस्तुत अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दियों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सही नमूना है।" (स्टेनले एच. हॉफमैन)।
उपरोक्त कथन के सन्दर्भ में मार्गेन्थो द्वारा प्रतिपादित यथार्थवादी सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1977)
"The model of the realists is a highly embellished ideal-type of 18th and 19th Century International Relations." (Stanly H. Hoffman).
Critically examine in the light of the above statement the Realistic Theory as propounded by Hans J. Morgenthau.

25 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन सम्बन्धी 'व्यवस्थापरक दृष्टिकोण' की विवेचना कीजिए। इसमें काप्लान का जो योगदान रहा है, उसकी विशेष रूप से चर्चा करिए।
Discuss the 'System Approach' of the study of the International Politics with special reference to the contribution made by Morton Kaplan in this field.

26 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के 'खेल तथा सौदेबाजी' के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
Discuss the 'Games and Bargaining Theory' of International Politics.

27 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र-सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
Discuss the Field Theory of International Politics.

28 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सामान्य विचारधारा की व्याख्या कीजिए।
Explain The General Theory in International Field.

अध्याय—3 (विज्ञान : पुराने और नए विकास)

29 किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विज्ञान है ? इस सम्बन्ध मे क्विन्सी राइट और मार्गेन्थो के जो विचार है, उनका उल्लेख कीजिए।
To what extent is International Politics a science ? Describe the views of Quincy Wright and Morgenthau in this respect.

30 "विज्ञान और परम्परावाद के बीच विवाद का मुख्य बिन्दु यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए कौन से तरीके प्रयोग मे लाए जाने चाहिए ?" स्पष्ट कीजिए।
"The central issue in the dispute between science and traditionalism is what methods should be adopted for the study of International Politics." Explain

31 "द्वितीय महायुद्ध के बाद की परिस्थितियो मे विश्व राजनीति मे नई प्रवृत्तियों के जन्म और विकास के लिए एकदम नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया।" परिप्रेक्ष्य मे नयापन क्या था और उसने किन नयी प्रवृत्तियो को जन्म दिया ? (1978)
"The post Second World War situation presented a completely new setting for the rise and growth of new trends in World Politics." What was new in the setting and what were the new trends developing therein ?

32 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे जो नए सिद्धान्तो का विकास हुआ उसका सर्वेक्षण कीजिए। (1980)
Attempt a survey of new developments in the theory of International Politics.

33 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सिद्धान्तो से सम्बन्धित नवीन प्रवृत्तियो की विवेचना कीजिए। (1979)
Discuss the recent trends in the Theory of International Relations

34 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का शास्त्रीय अथवा पुरातन दृष्टिकोण क्या है ? हेडले बुल ने वैज्ञानिक विधि को चुनौती दी है, उसकी समीक्षा कीजिए।
What is the classical approach of the study of International Politics ? Examine the challenge given to this method by Hadley Bull.

35 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे 'विज्ञान बनाम परम्परावाद' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
Attempt a short essay on 'Science v/s Traditionalism' in the field of International Politics

अध्याय—4 एवं 5 (राष्ट्रीय शक्ति : अवधारणा, सार एवं तत्व)

36 राष्ट्रीय शक्ति के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। इसके मुख्य निर्णायक तत्व क्या हैं ? (1980)
Define 'National Power' and discuss the various forms of it

37 "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, समस्त राजनीति की तरह शक्ति के लिए संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तिम उद्देश्य जो भी हों, शक्ति सदा ही तात्कालिक उद्देश्य होना है।" (मार्गेन्थो)

इस कथन पर टिप्पणी कीजिए तथा अपना मूल्यांकन बताइए। (1981)

"Power in a political context means, the power of man over the minds and actions of other man." (Morgenthau) Discuss.

Are the elements of National powers stable in their influence ? Account for variations in the influence which these exercise over the power of States.

38 राष्ट्रीय शक्ति के मूल तत्वों की व्याख्या कीजिए तथा भूगोल, तकनीकी, नेतृत्व एव मनोबल के महत्व को समझाइए।

Discuss the basic elements of national power. What is the importance of Geography, Technology, leadership and morale as determinants of national power ?

39 वे राष्ट्रीय शक्ति के कौन से तत्व हैं जो किसी देश की विदेश नीति का निर्धारण करते हैं ? उदाहरण सहित समझाइए।

What are the various elements of national power which have their impact on the evolution of the foreign policy of a country ? Discuss by giving concrete examples.

40 'अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर जो शक्ति हमारे प्रतिनिधि उपभोग करते हैं, वह हमारी शक्ति में परिणत हो जाती है। जो विफलता या नैराश्य हम अपने राष्ट्रीय समाज में अनुभव करते हैं, उसकी पूर्ति से राष्ट्र की प्रत्याविकृत शक्ति भंग हो जाती है।' (मार्गेन्थो)।

राष्ट्रीय शक्ति की धारणा को समझाते हुए उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिए।

"The power our representatives wield on the international scene becomes our own, and the frustration we experience within the national community are compensated for by the vicarious enjoyment of the power of the nation." (Morgenthau).

Explaining the concept of National Power elucidate the above statement.

41 "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में शक्ति एक बहुत ही सामान्य शब्द है। राज्यों को शक्तियाँ कहा जाता है और विश्व शक्तियों, महाशक्तियों, द्वितीय श्रेणी की शक्तियों, दुर्बल शक्तियों आदि के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक समाज के शक्ति के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया है।" (हैराल्ड एवं स्प्राउट) स्पष्ट रूप से व्याख्या कीजिए।

"Power is one of the most common terms—in the vocabulary of International Politics. States are called powers and classified as super powers, world powers, great powers, second rate powers, etc. International Politics has been defined as the study of power in a society." (Herald and Sprout). Elucidate.

42 राष्ट्रीय शक्ति की परिभाषा दीजिए। विज्ञान, तकनीकी एवं नेतृत्व का विशेष उल्लेख करते हुए राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों के तुलनात्मक महत्व की व्याख्या कीजिए। (1977)

Define National Power. Discuss the relative importance of its various elements with particular reference to science, technology and leadership.

43 "राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में, पहली त्रुटि होती है एक राष्ट्र की शक्ति का दूसरे राष्ट्र की शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित न करना, दूसरी एक समय पर वास्तविक शक्ति का भविष्य में सम्भावित शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित न करना, तथा तीसरी यह है कि एक ही राष्ट्र में एक शक्ति तत्व का दूसरे शक्ति तत्व के साथ सम्बन्ध स्थापित न करना।" (मार्गेन्थो) स्पष्टीकरण कीजिए। (1978)

In the evaluation of national power "the first error consists in not correlating the power of one nation to the power of other nations, the second consists in not correlating actual power at one time to possible power at some future time, and the third consists in not correlating one power *factor to others of the same nation."* *(Morgenthau)* Elucidate.

44 यह मानकर कि भारत एक सम्भावित महान् शक्ति है, आप राष्ट्रीय शक्ति के किन दो तत्वों को विकास की दृष्टि से प्राथमिकता देने के लिए चुनेंगे ताकि यह सम्भावना कि भारत एक महान् शक्ति के रूप में ढल जाए, इस शताब्दी के अन्त तक चरितार्थ हो सके। (1978)

Assuming that India is potentially a Great Power, which of the two elements of national power you will pick up for priority development in order to realise that potentiality which will render India as a real Great Power before the close of this century.

45 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और शक्ति-राजनीति (पावर पालिटिक्स) को एक समान क्यों माना जाता है? आप किस हद तक इस समीकरण से सहमत हैं?

Why is International Politics equated with power Politics? To what extent are you in agreement with this identification?

46 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निम्नलिखित भौगोलिक तत्वों का क्या प्रभाव पड़ता है—

(क) स्थिति तथा जलवायु, (ख) राज्य की स्थिति का तत्व,
(ग) भूमि का रूप, (घ) राज्य का आकार,
(ङ) कच्चे माल की उपज, तथा (च) सीमाएँ।

Describe the effect on International Politics of the following elements of Geography—

(a) Location and Climate, (b) The Factor of Position,
(c) Land Form, (d) Size of the State,
(e) Raw Material, and (f) Boundries.

47 राष्ट्रीय शक्ति के मूल सार एवं तत्वों की विवेचना कीजिए। वर्तमान विश्व में उसकी किस प्रकार तुलना तथा मूल्यांकन किया जा रहा है? (1981)

Discuss the main essence and elements of National Power. How is it being evaluated and compared in the contemporary world?

अध्याय—6 एवं 7 (राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्व)

48 राष्ट्रीय शक्ति में भूगोल की भूमिका पर तकनीकी और विचारधारा का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है ? इसकी विवेचना कीजिए। (1981)
Discuss how Technology and Ideology influence the role of Geography on national power ?

49 राष्ट्रीय शक्ति में भूगोल तथा तकनीकी के तुलनात्मक महत्व का विवेचन कीजिए। रूस, भारत तथा चीन से उदाहरण लेकर अपने उत्तर का स्पष्टीकरण कीजिए। (1979)
Discuss the relative importance of Geography and Technology in *national power. Illustrate your answer with examples from the USSR, India and China*

50 क्या आप इस मत से सहमत हैं कि न तो प्राकृतिक साधन ही और न तकनीकी और न कोई और वस्तु अपितु मानव ही एक राष्ट्र की शक्ति में निर्णायक तत्व होता है ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए। (1976)
Do you agree with the view that it is neither natural resources, Technology, nor anything else, but the people who constitute the chief and decisive factor in a nation's power ? Give reasons in support of your answer.

51 राष्ट्रीय शक्ति में जनसंख्या अथवा नेतृत्व की भूमिका व महत्त्व का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1981)
Critically examine the role and importance of population or leadership in national power

52 "राष्ट्रीय शक्ति का जनसंख्या ही सबसे प्रमुख तत्व है।" समीक्षा कीजिए (1979)
"Population is the single most important element of national power." Discuss.

53 किसी देश की जनसंख्या विश्व राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करती है ? अपने उत्तर के पक्ष में विभिन्न राष्ट्रों की जनसंख्या का उदाहरण देते हुए स्पष्टीकरण कीजिए।
How does the population of state affect International Politics ? Illustrate your answer by suitable examples from the countries of the World.

54 "तकनीकी ने शक्ति के स्वरूप तथा राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया है।"
उपर्युक्त कथन के आलोक में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तकनीकी की भूमिका व महत्व का विश्लेषण कीजिए। (1980)
"Technology has completely changed the whole complex of power and relations among nations "
Analyse the role and the importance of Technology in the light of the above statement.

55 राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा से आप क्या समझते हैं? आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। राष्ट्रीय शक्ति में प्रविधि और राष्ट्रीय नैतिकता के तत्वों की भूमिका का उदाहरण सहित परीक्षण कीजिए।

Critically discuss what you understand by the concept of national power. Examine with illustrations the role of Technology and national morale as elements in national powers.

56 'राष्ट्रीय बल' से क्या तात्पर्य है ? राष्ट्रीय बल के तत्व के रूप में विचारधारा का क्या महत्व है ? इसका परीक्षण कीजिए ।

What do you understand by 'National Power' ? Examine the significance of Ideology as an element of 'National Power.'

57 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विचारधारा की भूमिका की विवेचना कीजिए । अपने उत्तर का चीन, भारत तथा पाकिस्तान से उदाहरण देकर स्पष्टीकरण कीजिए । (1978)

Discuss the role of Ideology in International Politics Illustrate your answer by taking examples from China, India and Pakistan.

58 "विचारधारा का महत्व सम्भवत. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अधिकतम होता है क्योंकि विचारधारा उस पृष्ठभूमि को जिसके सन्दर्भ मे निर्माण किया जाना है, निश्चय करती है तथा उस पृष्ठभूमि का अग होती है ।" (श्लीचर) इस कथन के सन्दर्भ में, राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर लोकतन्त्रीय तथा साम्यवादी विचारधाराओ के प्रभाव की व्याख्या कीजिए ।

"Ideology is probably most important in International affairs, as it determines and is a part of the setting within which decision-making takes place." (Schleicher).

In the light of the above statement. discuss the effect of democratic and communist ideologies on International behaviour of states

59 द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में विचारधारा की भूमिका की विवेचना कीजिए । इस सम्बन्ध में इसकी भूमिका की सीमाएँ भी बताइए ।

Discuss the role which Ideology has played in International Relations since the Second World War. In this connection also indicate the limits of its role.

60 शक्ति के अन्तिम स्वरूप जैसे सैनिक शक्ति पर विशेष ध्यान रखते हुए राष्ट्रीय शक्ति के तत्व या उपादानो की परीक्षा कीजिए ।

Examine the elements or ingredients of natural power, with particular attention to those factors which make for the ultimate form of power i. e. military power.

61 "राष्ट्रीय मनोबल, निष्कर्ष रूप मे, कुछ निश्चित और अनिश्चित तत्वो का उलझनपूर्ण समन्वय है ।" (पामर एवं पर्किन्स) राष्ट्रीय शक्ति के एक तथ्य के रूप में मनोबल की विवेचना कीजिए ।

"National morale, we must conclude, is a complex of a few constants and many variables" (Palmer and Perkins). In the light of this statement discuss 'Morale' as an element of National Power.

62 'राष्ट्रीय शक्ति का उदय और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।

63 'राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा' पर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की अवधारणा का प्रभाव बताइए।

अध्याय—8 (राष्ट्रीय हित · अवधारणा और अभिवृद्धि के साधन)

64 राष्ट्रीय हित का अर्थ क्या है ? राष्ट्रीय शक्ति के रूप में इसे परिभाषित कीजिए।

What is the meaning of National Interest ? Define it in term of National Power.

65 'राष्ट्रीय हित' से आप क्या समझते है ? राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के मुख्य साधन क्या है ?

What do you understand by the term 'National Interest' ? What are the main Instruments for the promotion of the National Interest ?

66 राष्ट्रीय नीति के उपकरण के रूप मे राजनय की भूमिका का परीक्षण कीजिए। (1980)

Examine the role of diplomacy as an Instrument of National Policy.

67 "राजनय अब केवल कुलीन सामन्तो तथा व्यवसायी सैनिकों के एकाधिकार मे नही है और न ही राष्ट्रीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एकमात्र महत्वपूर्ण अभिनेता हैं।" (के० जे० होल्स्टी)

उपर्युक्त कथन के प्रकाश मे 'नए राजनय' के मुख्य आधारो का विवेचन कीजिए। (1979)

"Diplomacy is no longer the monopoly of aristocrats and professional soldiers Nor, indeed, are nation states the only important actors in International Politics " (K. J. Holsti)

Discuss the basic premises of 'New Diplomacy' in the light of the above statement.

68 राजनय के बदलते स्वरूप की विवेचना कीजिए और परमाणु युग मे इसकी सगति (प्रासगिकता) का मूल्यांकन कीजिए। (1981)

Discuss the changing nature of Diplomacy and evaluate its Relevance in the nuclear age.

69 बीसवी शताब्दी मे राजनय के ह्रास के लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख कीजिए। (1981)

Mention the factors responsible for the decline of Diplomacy in the Twentieth Century.

70 पुरातन राजनय की प्रमुख विशेषताओ की विवेचना कीजिए। क्या अब इसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है ? (1979)

Discuss the Chief Characteristics of Old Diplomacy Do you think it has outlived its utility today ?

71 'राष्ट्रीय हित' शब्द की व्याख्या कीजिए। राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन के रूप में राजनय की प्रकृति, क्षेत्र तथा सीमाओं की विवेचना कीजिए'(1981)

Explain the term 'National Interest'. Discuss the nature, scope and limits of Diplomacy as an Instrument for promotion of National Interest.

72 'कूटनीति' से आप क्या समझते हैं ? कूटनीति और विदेश नीति में क्या अन्तर है ? कूटनीति के मुख्य कार्यों को समझाइए ।

What do you understand by the term 'Diplomacy'? What is the difference between Foreign policy and Diplomacy ? Also describe the functions of Diplomacy.

73 आपके विचार में राष्ट्रीय हित की वृद्धि के कौन-कौन से साधन आज सबसे महत्वपूर्ण हैं और क्यों ? कूटनीति का महत्व राष्ट्रीय हित के साधन के रूप में बताइए ।

Which Instruments for the promotion of the National Interests of states have, in your view, become the most significant to-day and why ? Assign the importance of Diplomacy as an instrument for the promotion of the National Interest.

74 राजनय का राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप में विवेचना कीजिए । राजनय और विदेश नीति में क्या अन्तर है ?

Discuss Diplomacy as an Instrument of National Power. How is Diplomacy different from Foreign Policy ?

75 'राजनय' की परिभाषा कीजिए और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने की दिशा में उसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए । क्या आधुनिक काल में उसका महत्व कम हो गया है ? क्यों ?

Define 'Diplomacy' and evaluate its contribution towards maintaining International Peace. Has its significance decreased in modern times ? Why ?

76 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में राजनय के कार्यभाग को निर्दिष्ट कीजिए । समीप के गतकाल में राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना होने से इसके कार्यभाग में कहाँ तक परिवर्तन हुआ है ?

Define the role of Diplomacy in the conduct of International Relations. How far has this role been modified in recent times by the Establishment of International Organisation like the League and the U.N.

77 पुरातन अथवा प्रतिष्ठित कूटनीति (राजनय) की तुलना में नवीन अथवा प्रत्यक्ष कूटनीति (राजनय) की क्या परिसीमाएँ हैं ?

What are the limitations of the 'New' or direct Diplomacy as against the old or Classical Diplomacy ?

78 राजनय को पुराने और नए ऐसे रूपों में बाँटना क्या उचित होगा कि जिनकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं ? विगत तीस वर्षों में भारतीय राजनय का क्या स्वरूप रहा है ?

Is it proper to categorise Diplomacy as old and new, having its distinct features ? What has it been like in India during the last thirty years.

79 प्रचार तथा राजनीतिक युद्ध की विचित्र विधियों तथा परिविधियों का परीक्षण कीजिए । द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनके भाग के महत्व का मूल्यांकन कीजिए ।

Examine the various methods and techniques of Propaganda and Political Warfare. Assess the importance of their role in International Politics since World War Second.

80 राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार और राजनीतिक युद्ध उपकरणों का क्या स्थान है, इसका परीक्षण कीजिए। (1976)
Examine the role of Propaganda and Political Warfare as instruments of National Policy.

81 प्रचार की प्रकृति तथा कलापटुता को स्पष्ट करते हुए यह बतलाइए कि यह राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख उपकरण किस प्रकार बन गया है।
Explaining the nature and the techniques of Propaganda show how War can be *an instrument of National Policy.*

82 राजनीतिक युद्ध एवं प्रचार मे अन्तर कीजिए। वर्तमान विश्व में राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में इनमें से कौनसा साधन उपयुक्त है ?
Differentiate between Propaganda and Political Warfare. Which one of those is a suitable instrument for the promotion of National interests in the present day world ?

83 राजनीतिक युद्ध प्रचार से कैसे भिन्न है ? क्या शीतयुद्ध को राजनीतिक युद्ध का एक दृष्टान्त कहा जा सकता है ?
How Political Warfare is different from 'Propaganda'? Can we term the Cold War as a form of Political Warfare ?

84 राष्ट्रीय नीति को प्रोत्साहित करने के साधन के रूप में राजनैतिक युद्ध और प्रचार की भूमिका की सोदाहरण व्याख्या कीजिए। (1977)
Discuss with illustrations the role of Political Warfare and Propaganda as an instruments of promoting National Policy.

85 आप इस दृष्टिकोण से कहाँ तक सहमत हैं कि वर्तमान समय में, राष्ट्रीय हित को आगे बढाने मे प्रचार तथा राजनैतिक युद्ध की अपेक्षा आर्थिक साधन अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए हैं ? अपना उत्तर उचित उदाहरणों द्वारा पुष्ट कीजिए। (1981)
How far do you subscribe to the view that in modern times economic instruments for the advancement of National Interest have proved more effective than Propaganda and Political Warfare ? Illustrate your answer with suitable examples.

86 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष के समाधान मे राजनय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सोदाहरण व्याख्या कीजिए। (1976)
Bring out with illustrations the role of Diplomacy and International Law in conflict resolution on the International Place.

87 "राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार है।" स्पष्ट कीजिए।
"National Interest is the keynote of International Politics." Elucidate.

अध्याय—9 (राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन—साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं युद्ध)

88 उन तरीकों का वर्णन कीजिए जिनके द्वारा बड़ी ताकतें अपने राष्ट्रीय हितों के सम्पादन में आर्थिक तन्त्रों का उपयोग करती हैं। सोदाहरण समझाइए।
Describe the ways in which the big powers use their economic instruments to serve their national interests. Give some instances.

89 आर्थिक उपकरणों से आपका क्या तात्पर्य है ? अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए अरब राज्य तेल को एक उपकरण के रूप में कहाँ तक प्रयोग कर रहे हैं ? (1976)
What do you understand by 'economic instruments'? How far are the Arab Countries using 'Oil' as an instrument for the promotion of their national interest ?

90 राष्ट्रीय हित वर्द्धन में आर्थिक उपकरणों का क्या स्थान है ? (1978)
What is the role of economic instruments in the promotion of National Interest ?

91 आर्थिक उपकरणों से आपका क्या तात्पर्य है ? राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए तथाकथित 'विदेशी आर्थिक सहायता' की भूमिका का विवेचन करिए। (1976)
What do you understand by 'economic instruments'? Discuss the role of the so-called 'Foreign economic aid' for the promotion of national interest.

92 अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति के क्या ध्येय हैं ? इनको प्राप्त करने के क्या विभिन्न उपाय हैं ?
What are the objective of International economic policy? What are the different devices of realising them ?

93 राष्ट्रीय नीति में आर्थिक शस्त्रों से आप क्या समझते है ? आर्थिक शस्त्र एवं युद्ध के आर्थिक शस्त्र में अन्तर कीजिए।
What do you understand by economic instruments of National Policy ? Distinguish between economic weapons and weapons of economic warfare.

94 "जब तक साम्राज्यवाद जीवित है, युद्ध अनिवार्य है।" (लेनिन)
"मानव मन में ही चूँकि युद्धों का जन्म होता है, अतएव मानव मन में शान्ति की रक्षा-व्यवस्था निर्मित की जाए।" (आर्चिबाल्ड मैक्लीश)
उपर्युक्त दोनों कथनों में, युद्ध के 'अर्थ' के सम्बन्ध में कौनसी व्याख्या आपको उचित जान पड़ती है ? (1978)
"So long as Imperialism lives, Wars are inevitable," (Lenin)
"Since it is in the minds of men that wars begin, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed." (Archibald Macleish).
Which of the above two statements is correct in your view as far as the origins of War are concerned ?

95 नव उपनिवेशवाद, नव-साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद के अर्थ और प्रकृति की व्याख्या कीजिए। (1976)
Discuss the meaning and nature of neo-colonialism, neo-imperialism and social imperialism.

96 साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने की दिशा में भारत के योगदान की चर्चा कीजिए। (1977)
Discuss India's contribution in the process of lessening of International tensions and the struggle against Imperialism.

97 "यदि साम्राज्यवाद को राज्यों में शक्ति के संघर्ष के दृष्टिकोण से देखा जाए तो इसके परिणामो का निर्णय इसकी शक्ति राजनीति के योगदान के रूप में किया जाना चाहिए।" (शूमां) क्या आप इस विचार की अनुरूपता को वर्तमान शताब्दी में सिद्ध कर सकते हैं ?

"If Imperialism is viewed as a phase of the struggle for power between States, its result must be judged in terms of its role in power politics." (Schuman) Can you justify this view as relevant to the present century ?

98 "चाहे यह सत्य है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त साम्राज्यवाद अथवा वर्तमान उपयोग के अनुसार उपनिवेशवाद की बडी पराजय हुई है, परन्तु अभी वह अतीत की वस्तु बिल्कुल नहीं हुआ है।" (पामर और पार्किन्स) इस कथन के प्रकाश मे साम्राज्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न उद्देश्यों तथा प्रविधियो की व्याख्या कीजिए।

"Although Imperialism or, in present usage, Colonialism has suffered tremendous reverse since World War II, it is by no means a thing of the past" (Palmer and Perkins).

In the light of the above statement, discuss the various motives and techniques of Imperialism in International Politics.

99 आधुनिक युद्ध के आर्थिक पहलू का उल्लेख कीजिए। अपने उत्तर में प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों का उदाहरण दीजिए। विश्व के पुनर्निर्माण में आर्थिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका का क्या योगदान है ?

Describe the economic aspects of Modern War. Illustrate your answer with reference to the World War I and II. What is the part of U.S.A. towards Economic Reconstruction ?

100 "साम्राज्यवाद मे दूसरे देशों को जीतने का प्रयास निहित रहता है, परन्तु दूसरे देशो को जीतने की नीति को ही हम साम्राज्यवाद नहीं कह सकते।" इस कथन की रोशनी में साम्राज्यवाद की परिभाषा लिखिए।

"Imperialism is a policy of conquest but not every policy of conquest is Imperialism." Define Imperialism in the light of this statement.

101 "साम्राज्यवाद का अन्त नहीं हुआ है। वह अन्य रूपों में अभी भी जीवित है।" विवेचना कीजिए। (1979)

"Imperialism is not dead. It survives only in other forms." Discuss.

102 साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के मध्य अन्तर बताइए। अभी हाल ही में उन्होंने कौन से नए रूप ग्रहण कर लिए हैं ? विश्व राजनीति पर उसके प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए। (1981)

Differentiate between Imperialism and Colonialism. What new forms have recently been taken by them ? Evaluate their impact on World Politics.

103 "साम्राज्यवाद के आर्थिक सिद्धान्तों का विकास तीन विभिन्न सम्प्रदायों में हुआ है, मार्क्सवादी, उदारवादी और वह जिसे उचित ही कहा गया है—साम्राज्यवाद का पिशाच सिद्धान्त।" (हस मार्गेन्थो)

मार्गेन्थो द्वारा बताए गए साम्राज्यवाद के तीन आर्थिक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1980)

"The economic theories of Imperialism have been developed in three different schools of thought, the Marxian, the Liberal and one that has aptly been called the devil theory of Imperialism." (Hans Morgenthau) Critically examine the three economic theories of Imperialism as stated by Professor Morgenthau.

104 "जब तक साम्राज्यवाद जीवित है, युद्ध अनिवार्य है।" (लेनिन) व्याख्या कीजिए। (1981)

"So long as Imperialism lives, Wars are inevitable." (Lenin). Discuss.

105 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे साम्राज्यवाद के भूतकालीन और वर्तमान रूपों की परीक्षा कीजिए। (1980)

Examine the past and the present forms of Imperialism in International Politics.

106 वर्तमान एशिया व अफ्रीका मे बड़ी शक्तियों द्वारा अनुसरण किए जा रहे नव-उपनिवेशवाद की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? (1981)

What are the specific features of Neo-colonialism as practised by Big Powers in the present-day Asia and Africa?

107 "युद्ध राजनीतिक समागम (सम्बन्धो) का केवल एक अंग है, इसलिए किसी भी तरह स्वयं मे एक स्वतन्त्र चीज नही है। युद्ध साधनो के सम्मिश्रण सहित राजनीतिक समागम की निरन्तरता के अतिरिक्त और कुछ नही है।" (कार्लवान क्लाजविट्ज)

उपरोक्त कथन को स्पष्ट करते हुए युद्ध का राष्ट्रीय नीति के उपकरण के रूप मे परीक्षण कीजिए। (1976)

"War is only a part of political intercourse, therefore by no means an independent thing in itself. War is nothing but a continuation of political intercourse with an admixture of her means." (Karlvan Clausewitz.)

Elaborate the above statement and examine War as an instrument of National Policy.

108 क्या यह मानना अभी भी सही है कि राष्ट्रीय हितों की वृद्धि एवं सुरक्षा के लिए युद्ध सबसे अधिक प्रभावपूर्ण साधन है? विश्व-राजनीति के क्षेत्र मे उसका पूरी तरह से बहिष्कार करना सम्भव क्यों नहीं है? (1981)

Is it still correct to maintain that War is the most effective instrument to promote and protect National Interests? Why is it not possible to banish it totally from the field of International Politics?

109 क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि परमाणु युग में युद्ध का महत्व एक राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में समाप्त हो गया है? सिद्ध कीजिए। (1980)
Are you inclined to agree with the view that War has ceased to be an *instrument of National Policy in the nuclear age ? Justify your answer.*

110 युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर आज के गैर-पाश्चात्य लेखकों और विचारकों की प्रमुख देनों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। (1976)
Briefly survey the main contributions made by non-western writers and thinkers of today on problems of War and Peace.

111 "एक समुदाय, समस्त राष्ट्र और विशेषकर सभ्य राष्ट्रों द्वारा युद्ध सदैव ही राजनैतिक उद्देश्य के लिए और राजनीतिक स्थिति में किए जाते हैं……युद्ध अन्य साधनों द्वारा राष्ट्रीय नीतियों की निरन्तरता मात्र ही है।"

(कार्लवान क्लाजविट्ज)

उपरोक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए और राष्ट्रीय नीतियों और उन्हें क्रियान्वित करने के साधनों के रूप में युद्ध और उनके बीच सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए। (1976)

"The War of a community, of entire nations, and particularly civilized nations, is always called forth by a political motive in a political situation. War is only a continuation of State policy by other means."

(Karlvan Clausewitz).

Comment on the above statement and highlight the relationship between national policies and war as an instrument for their implementation.

112 राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहन देने के लिए एक यन्त्र के रूप में सैनिक सहायता के स्थान की विवेचना कीजिए।
Discuss the role of Military assistance as an instrument for the promotion of National Interest.

113 युद्ध के प्रमुख तथा लघु कार्यों की विवेचना करते हुए यह बतलाइए कि युद्ध राष्ट्रीय नीति का उपकरण किस प्रकार हो सकता है ?
Discuss the major and minor functions of War. Show how War can be an instrument of National Policy ?

114 युद्ध की परिभाषा कीजिए। युद्ध के विभिन्न प्रकार क्या है ? युद्ध के विभिन्न विकल्प क्या है ?
Define War. What are the various types of War ? What are the various alternatives of War ?

अध्याय—10 (राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ : शक्ति-सन्तुलन, सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान)

115 राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने के साधन के रूप में शक्ति-सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा के विचार की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए। (1977)
Compare and contrast the concepts of Balance of Power and Collective *Security as instruments to limit the National Power.*

116 शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त की परिभाषा को स्पष्ट करने मे जो समस्याएँ है उनकी विवेचना करते हुए बताइए कि कहाँ तक वे सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे राज्यों के व्यवहार को समझाने में वैध हैं मूल्यांकन कीजिए। (1980)

Examine a few of the problems involved in defining the concept of the Balance of Power and assess the degree of the validity of the concept in explaining state behaviour in International Politics.

117 शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त और व्यवहार की विवेचना कीजिए। क्या आप इस मत से सहमत हैं कि आणविक अवरोध के इस युग मे शक्ति-सन्तुलन सम्भव नहीं है? (1981)

Discuss Balance of Power in theory as well as in practice. Do you agree with the view that in the age of nuclear deterrence Balance of Power is no longer feasible?

118 उन अनेक तरीकों की समीक्षा कीजिए जिनके सहारे सामान्यतः अपने अनुकूल शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की कोशिशें होती है। (1979)

Discuss the various ways which are generally adopted to maintain a favourable balance of power.

119 'शक्ति-सन्तुलन एक चपटे ब्लैक-बोर्ड पर सफेद चाक मे चक्करो व आयातो की एक भावात्मक श्रेणी नही है। यश उन विभिन्न राष्ट्रों व सुदृढ़ निगम व्यक्तियों के बीच नैतिक सम्बन्ध है जो सुरक्षा, धन, प्रतिष्ठा और अपनी जीवन-पद्धति को बनाए रखने और विकसित करने के लिए एक दूसरे से टक्कर लेते हैं।" (हर्मन फाइनर) इस कथन की विवेचना कीजिए।

"The 'Balance of Power' is not an abstract series of circles and oblongs in white chalk on flat black-board : it is a moral connection between diverse nations, though corporate personalities, that jostle each other for security, wealth, prestige and preservation and expansion of their respective ways of life." (Herman Finer) Discuss the statement.

120 "समस्त शक्ति के अनुमानों की यह अनिश्चितता शक्ति के सन्तुलन की व्यावहारिक प्रयोग के अयोग्य ही नही बना देती, बल्कि व्यवहार मे ये इसको नकारात्मक भी बना देती है।" (मार्गेन्थो) इस वक्तव्य का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

121 'शक्ति-सन्तुलन' की परम्परागत अवधारणा की विवेचना कीजिए। वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों में परम्परागत शक्ति-सन्तुलन कहाँ तक व्यावहारिक है? (1976)

Discuss the traditional concept of 'Balance of Power.' How far is the traditional 'Balance of Power' feasible under the present changed circumstances ?

122 "शक्ति-सन्तुलन' के सम्बन्ध में यह परेशानी नहीं है कि इसका कोई अर्थ नहीं है बल्कि परेशानी यह है कि इसके अनेक अर्थ लगाए गए हैं।" (इनिस क्लाड ज्यू.) इन अनेक अर्थों का उल्लेख कीजिए जिसका क्लाड ने जिक्र किया है। (1978)

"The trouble with the 'Balance of Power' is not that it has no meaning *but that it has too many meaning" (Innis Claude Jr.).*
Describe the different meanings that this term has come to acquire as Innis Claude suggests.

123 'शक्ति-सन्तुलन' का आप क्या अर्थ लगाते है? इनिस क्लाड जूनियर ने इस अवधारणा के विरोध में जो तर्क दिए है, उनका संक्षेप में उल्लेख कीजिए। (1976)
What do you mean 'Balance of Power'? Summarise the main arguments of Innis Claude Jr. against this concept.

124 'शक्ति-सन्तुलन' के विचार से आप क्या समझते है? तत्कालीन विश्व परिस्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाएँ रखने मे शक्ति-सन्तुलन के औचित्य की व्याख्या कीजिए। (1976)
What do you understand by the concept of 'Balance of Power'? Discuss its relevance in the context of maintenance of International Peace in the present-day world situation.

125 "शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त प्रथम अर्थ का दावा करता है, परन्तु दूसरे के लिए प्रयत्नशील रहता है।" टिप्पणी कीजिए।

"The 'Balance of Power' theory professess the former but pursues the other." Comment.

126 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'शक्ति-सन्तुलन' के सिद्धान्त का और उसके महत्व का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। क्या आप प्रोफेसर आर्गेन्सकी के इस विचार से सहमत हैं कि 'शक्ति-सन्तुलन' का सिद्धान्त पुराना पड़ चुका है और इसका आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की वास्तविकताओं से मेल नहीं बैठता? (1978)
Critically examine the concept and importance of 'Balance of Power' in International Politics Do you agree with Professor Organski that the 'Balance of power' concept has become obsolete and does not correspond to the realities of Modern International behaviour?

127 "इतिहास की महान् सीढियो पर, शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त शान्ति स्थापित करने के लिए सदैव सफल रहा है क्योंकि इसने सदैव एक राष्ट्र को अधिक शक्तिशाली बनने मे रोका है, जिससे वह दूसरे की शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न न कर दें।" (मार्गेन्थो) क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

"As a method to maintain International order, the Balance of Power has been eminently successful throughout long stages of history, for it has prevented the rise of anyone nation to such power as would have enabled it to destroy the independence of all the other" (Morgenthau) Do you agree with this statement?

128 शक्ति-सन्तुलन स्थापित रखने की युक्तियाँ बतलाइए ।
Give the devices for maintaining the 'Balance of Power'.

129 कौन से मुख्य कारण हैं जो आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में सामूहिक सुरक्षा पद्धति को एक कारगर शान्ति प्रणाली के रूप में कार्यान्वित करने में बाधा डालते हैं ? कारण सहित विवेचना कीजिए । (1980)
Which are the major reasons whom have prevented the Collective Security from becoming a working peace system in Modern International Relations ? Explain with reason.

130 "सामूहिक सुरक्षा-शक्ति के प्रति अयथार्थवादी नहीं है, यह नीति के प्रति अयथार्थवादी है ।" व्याख्या कीजिए । (1980)
"Collective Security is not unrealistic about power; it is unrealistic about policy." Discuss.

131 समय-समय पर विकसित की गई 'सामूहिक सुरक्षा' की धारणा की विवेचना कीजिए । उस लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ बताइए । (1981)
Discuss the concept of Collective Security as evolved from time to time. Enumerate the difficulties coming in the way to achieve that goal.

132 शक्ति-सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध की समीक्षा कीजिए । क्या आप इन दोनों को संगत या परस्पर विरोधी समझते हैं ?
Discuss the relationship between 'Balance of Power' and Collective Security. Would you regard the two as compatible or contradictory ?

133 "राष्ट्रों के मध्य राजनीति और कुछ नहीं केवल राष्ट्रों के परिवार के समर्थ राज्यों द्वारा सर्वहारा राज्यों के शोषण की राजनीति का ही दूसरा नाम है ।" समीक्षा कीजिए । (1978)
"Politics among Nations is nothing but another name of politics of exploitation of 'Have nots by the Haves' of the family of Nations of our present day world." Comment.

134 सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा की विवेचना कीजिए । सामूहिक सुरक्षा की अभिवृद्धि में संयुक्त राष्ट्र के योगदान का परीक्षण कीजिए । (1976)
Discuss the concept of 'Collective Security'. Examine the contribution of the United Nations for the promotion of Collective Security.

135 आज की दुनियाँ में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के निर्माण में भारत का क्या योगदान रहा है ? (1976)
What has been India's contribution to the building up of a system of Collective Security in the World of today ?

136 सामूहिक सुरक्षा तथा शक्ति सन्तुलन के सम्बन्ध की विवेचना संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेष सन्दर्भ में कीजिए । (1978)
Discuss the relationship between Collective Security and Balance of Power, with special reference to the United Nations.

137 सामूहिक सुरक्षा के माध्यम के रूप में संयुक्त राष्ट्र किस प्रकार राष्ट्रसंघ का सुधरा हुआ रूप है ? (1977)

In what ways is the United Nations an improvement over the League of Nations as an *instrument of Collective Security.*

138 आपकी दृष्टि में क्या भारत ने एशिया में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की स्थापना में किसी प्रकार का महत्वपूर्ण योगदान दिया है ? (1976)

Do you think India has made any significant contribution in the building of Collective Security in Asia ?

139 "यदि कोई चाहे तो वह गठबन्धनों व सामूहिक सुरक्षा को एक ही समझने की धृष्टता कर सकता है, परन्तु वह ईमानदारी के साथ यह नहीं कह सकता कि वह उसी व्यवस्था की बात करता है जिसे सामूहिक सुरक्षा के नाम के अन्तर्गत, दो विश्व सगठनों ने अपने आदर्श के रूप मे स्वीकार किया था।" (इनिस क्लाड जूनियर) उपरोक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए और यह बताते हुए कि किस प्रकार सामूहिक सुरक्षा और गठबन्धनों मे कोई समता नहीं है, सामूहिक सुरक्षा की सन्निहित पूर्वधारणाओं की व्याख्या कीजिए। (1977)

"One can identify alliances with Collective Security if he pleases, but if he does; he cannot honestly pretend to be talking about the same kind of system that has been adopted as the ideal of two major world organisations under the name of Collective Security." (Inis Claude, Jr.).
Comment on the above *statement*, highlighting the underlying assumptions of the concept of Collective Security and also bringing out how the concept is incompatible with alliances.

140 एक प्रभावशाली सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के लिए आवश्यक पूर्व परिस्थितियाँ क्या हैं ? समझाइए कि वह तटस्थता तथा शक्ति-सन्तुलन की नीति से किस प्रकार असंगत है।

What are the pre-requisites of an effective system of Collective Security ? Explain how it is incompatible with Neutrality and a Balance of Power policy.

141 "विल्सन से लेकर आज तक 'सामूहिक सुरक्षा' के सभी समर्थक इसे 'शक्ति-सन्तुलन' से भिन्नता दिखाते हुए परिभाषित करते रहे हैं। किन्तु अनेक विचारकों ने यह माना है कि 'सामूहिक सुरक्षा' को शक्ति सन्तुलन का एक परिवर्धित संस्करण मानना चाहिए न कि पूरी तरह से भिन्न और 'शक्ति-सन्तुलन' का विकल्प।" आप इन दोनों विचारधाराओं में किसको सही मानते हैं और क्यों ?

"Advocates of 'Collective Security', from Wilson's day to the present, *have tended to define* and *characterise it is sharp contrast to the 'Balance* of Power System', whereas other thinkers have said that 'the Collective Security System' should be regarded as simply a revised version of '*The Balance of Power System*', *not as a drastically different system substitu*ted for the latter." Which of these two views do you support and why ?

142 "सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त कहने मे जितना सरल है कार्यान्वित करने मे उतना ही कठिन।" (सेसिल वी. क्रैब) । इस कथन पर टिप्पणी कीजिए और समझाइए कि सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित क्या समस्याएँ हैं ?

"Theory of Collective Security is as simple to state as it is difficult to apply." (Cecil V. Crabb) Comment on this statement and explain the problems connected with Collective Security.

143 अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान से आपका क्या तात्पर्य है ? शान्तिपूर्ण समाधान के विभिन्न तरीकों (अथवा विकल्पो) की व्याख्या कीजिए। (1977)

What do you understand by 'Pacific Settlement of Internationl Disputes'? Discuss various methods (or alternatives) of pacific settlement.

144 अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का विशेषकर प्रादेशिक व्यवस्था और सयुक्त राष्ट्रसंघ के सन्दर्भ मे शान्तिपूर्ण निपटारे की पद्धतियो का विस्तृत वर्णन कीजिए।

Explain in detail the methods of the Pacific Settlements of International Disputes with special reference to regional arrangement and the United Nations.

145 क्या क्षेत्रीयवाद विश्व-शान्ति को उन्नत बना सकता है ? नाटो और सीटो के सन्दर्भ मे बताइए ।

Can Regionalism promote World Peace ? Illustrate with reference to NATO and SEATO

अध्याय—11 (राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ : अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं विश्व सरकार)

146 शक्ति सन्तुलन और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्धो की समीक्षा कीजिए। क्या आप इन दोनों को संगत या परस्पर विरोधी समझते है ?

Discuss the relationship between Balance of Power and International Law. Would you regard the two as comparatible or contradictory ?

147 अन्तर्राष्ट्रीय कानून से आप क्या समझते है ? इसकी प्रकृति बताइए । क्या आप समझते हैं कि यह राष्ट्रीय शक्ति पर नियन्त्रण का काम करता है ?

What do you understand by 'International Law' ? Describe its nature. Do you think it has some limitations on National Power?

148 अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा दीजिए। इसके मुख्य स्रोत क्या हैं? अन्तर्राष्ट्रीय कानून कैसे प्रयुक्त किया जाता है ?

Define 'International Law.' What are its main sources ? How International Law is inforced ?

149 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के सघर्ष मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का क्या नियन्त्रणकारी प्रभाव पड़ता है? इस दिशा मे उसकी शक्ति और सीमाओं का विवेचन कीजिए। (1975)

Discuss the role of, and limitations on, International law as a restaining influence upon the struggle for power on the International scene.

150 संकट के समय शान्ति एवं व्यवस्था (आर्डर) बनाए रखने के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भूमिका का विश्लेषण कीजिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए कौनसी प्रभावी शक्तियाँ (सैंक्शन्स) उपलब्ध हैं? (1981)

Analyse the role of International Law for maintaining Peace and Order in crises times. What effective sections are available for the enforcement of International Law?

151 अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा नैतिकता की भूमिका का शक्ति राजनीति पर प्रतिबन्ध के रूप मे विवेचना कीजिए। (1980)

Discuss the role of International Law and Morality as checks on power politics

152 विश्व सरकार के पक्ष व विपक्ष मे दी जाने वाली युक्तियों की विवेचना कीजिए।

Discuss the arguments far and against World Government.

अध्याय—12 (राष्ट्रीय शक्ति की सीमाएँ : नि शस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्व जनमत तथा संयुक्त राष्ट्र संघ)

153 परमाणु युग मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने मे नि.शस्त्रीकरण के उपागम की परीक्षा कीजिए। (1980)

Examine Disarmament as an approach to International Peace in the nuclear age.

154 "सामूहिक सुरक्षा के सगठन के बिना निःशस्त्रीकरण सफल नही हो सकता।" चर्चा कीजिए।

"Disarmament cannot be successful without the organisation of Collective Security." *Discuss*

155 *1945* के उपरान्त नि शस्त्रीकरण से सम्बन्धित समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

Discuss the problems connected with Disarmament after 1945

156 सम्पूर्ण नि शस्त्रीकरण के पक्ष का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। इसकी क्या सम्भावनाएँ हैं? (1977)

Critically examine the case for Complete Disarmament. What are its possibilities?

157 सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण एव नियन्त्रित शस्त्रीकरण के विचारो के बीच अन्तर बताइए। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढाने में तुलनात्मक दृष्टि से इनके महत्व की *व्याख्या कीजिए।* (1976)

Distinguish between the concepts of Complete Disarmament and Controlled Armament. Also discuss their relative importance in promoting International Co-operation.

158 नि.शस्त्रीकरण से आप क्या समझते हैं? द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् किए गए नि.शस्त्रीकरण के प्रयत्नो का इतिहास बताइए।

What do you understand by 'Disarmament'? *Describe the history of* efforts of Disarmament made after the Second World War.

159 संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा नि शस्त्रीकरण और हथियारों पर नियन्त्रण की समस्याओं को सुलझाने के प्रयासो का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

Critically describe the efforts made by the United Nations in solving the problems of Disarmament and Arms Control

160 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

Assess the contribution of Morality in the field of International Politics.

161 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'विश्व लोकमत' की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

Describe the role of 'World Public Opinion' in International Politics.

162 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व जनमत के महत्व का परीक्षण कीजिए। 1956 मे स्वेज संकट के समय उसने क्या प्रभाव डाला है ? (1977)

Examine the importance of World Public Opinion in the International Politics. How did it influence the crisis of Swez in 1956 ?

अध्याय—13 (वर्तमान विश्व की उभरती हुई प्रवृत्तियाँ : एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका का जागरण, महाशक्तियाँ और तृतीय विश्व)

163 युद्धोत्तर काल की उन प्रमुख विशेषताओ की समीक्षा कीजिए जिन्होने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नई प्रवृत्तियो को जन्म दिया। (1979)

Discuss the main characteristics of the Post-War World which brought new trends in International Politics.

164 नवीन राष्ट्रो के उदय से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति किस प्रकार प्रभावित हुई है ? (1981)

How the International Politics has been affected by the emergence of the New States ?

165 क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि एशिया विश्व राजनीति मे अपने आकार, जनसंख्या और सम्भाव्य शक्ति के अनुरूप अधिक सक्रिय भूमिका अदा करेगा ? अपने विचार की पुष्टि मे तर्क दीजिए। (1981)

Do you agree with the view that Asia will play a more active role in World Politics, role more commensurate with its size, its population, and its potential might ? Give arguments in support of your view.

166 नवोदित एशिया के युद्धोत्तर-विकास किन-किन क्षेत्रो मे और कैसे उभरते हुए अफ्रीका से भिन्न लगते हैं ? (1981)

Where and how Post-War developments in resurgent Asia differ from those in rising Africa ?

167 "एशिया इस समय विरोधो का यथार्थ 'कड़ाहा' है और बना रहेगा।" व्याख्या कीजिए। (1980)

"Asia is now, and will continue to be a vertiable 'cauldron' of Confrontations." Discuss.

168 उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनके परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया मे नए राज्यों का उदय हुआ, तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उसका प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

Discuss the circumstances leading to the emergence of New States in Asia the Post-Second World War Period. How did this affect the character of International Politics ?

169 "कई महत्वपूर्ण ढग से एशियाई राष्ट्रीयता पश्चिमी विश्व की राष्ट्रीयता से भिन्न है।" (पामर और पर्किन्स) स्पष्ट कीजिए।

"Asian Nationalism has differed from the Nationalism of the Western World in several important respects" (Palmer and Perkins). Elucidate.

170 "बड़ी शक्तियाँ एशिया को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बाँटने के प्रयत्न मे तेजी से जुट रही हैं।" विवेचना कीजिए। (1978)

"Big Power are furiously making attempts to divide Asia into their respective sphere of influences." Discuss.

171 अफ्रो-एशियाईवाद से आप क्या समझते हैं। अफ्रो-एशियाई एकता के इतिहास का वर्णन कीजिए।

What do you understand by 'Afro-Asian Unity'? Describe the history of 'Afro-AsianUnity development of the Movement

172 समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राष्ट्रवाद को पुनर्जीवित करने में उत्तरदायी कारणों की परीक्षा कीजिए। (1980)

Examine the factors responsible for the Resurgence of Nationalism in comtemporary International Affairs.

173 'एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के जागरण' पर संक्षेप में निबन्ध लिखिए।

Write a short critical essay on the 'Resurgence of Asia, Africa and Latin America'.

174 विशेष रूप से प्रथम महायुद्ध के बाद, एशिया के कौन से भाग अधिकांशतः तथा क्यों बड़ी शक्तियों के प्रभुत्व में आए हैं? उन्हें अब किस सीमा तक वास्तविक रूप से स्वतन्त्र माना जा सकता है? (1981)

Why and which parts of Asia have been mostly subjected, particularly after World War I, to tne domination of Big Powers ? To what extent can they now be regarded as really independent ?

175 वर्तमान अफ्रीका में कौनसी राजनैतिक प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं? विश्व-राजनीति मे इतना बड़ा महाद्वीप अपना व्यक्तित्व स्थापित करने में क्यों नहीं सफल हो सका है? (1981)

What political trends are emerging in Contemporary Africa ? How has this large continent not been able to carve out its own identity in World Politics ?

176 अफ्रीकी राजनीति की नवोदित प्रवृत्तियो का संक्षेप मे वर्णन कीजिए । क्या कुछ ऐसी भी विशेषताएँ है जिन्हे हम केवल अफ्रीकी समाज की विशेषताएँ कह सकेंगे ? (1979)

Summarise the new trends emerging in the African Politics today. Are there any typically African features which we can say the characteristics of African Society only?

177 "अफ्रीकी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अब केवल उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन मात्र ही नही रह गए हैं बल्कि उन्होने नई दिशा दी है।"
इन राष्ट्रीय आन्दोलनो की नई प्रवृत्तियो की व्याख्या कीजिए। (1980)

"The African National Liberation movements are not longer simply Anti-colonial Movements but have attained new direct ones as well"
What new trends you are witnessing in these Liberations Struggles?

178 "हम यह जानते हैं कि विभाजित अफ्रीका, चाहे वह कितने ही जोश के साथ अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा क्यो न करे, बड़ी आसानी के साथ नव-उपनिवेशवाद का शिकार बन जायेगा । कमजोर और विभाजित कभी भी सगर्वित स्वतंत्रता को बनाए रखने की आशा नही कर सकते।"
(जूलियस नैरेरे)

उपरोक्त कथन के सन्दर्भ मे अफ्रीकन एकता को प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयत्नो के महत्व की व्याख्या कीजिये । वे अड़चने क्या है जिन्होने इन प्रयत्नो को सफल नही होने दिया है। (1976)

"We know a balkanized Africa, however loudly it might proclaim to the World its independence, will in fact be an easy prey to the forces of Neo-colonialism The weak and divided can never hope to maintain a Dignified independence" (Julius Nyerere)

Discuss in the light of the above statement the importance of the efforts made so far to achieve African Unity What are the bottlenecks in which these efforts get bogged down ?

179 एशियाई तथा अफ्रीकी पुनर्जागरण ने संयुक्त राष्ट्र को किस प्रकार प्रभावित किया है ? (1977)
How has Asian and African Resurgence influenced the United Nations?

180 दक्षिण-पूर्व एशिया मे साम्राज्यवाद के नाश के परिणामो की विवेचना कीजिये तथा इस सन्दर्भ मे इस प्रदेश मे महाशक्तियो की नीतियो की प्रमुख प्रवृत्तियो की चर्चा कीजिये । (1977)

Analyse the consequence of the collapse of Imperialism in South East Asia and discuss in this context the major trends in the policies of Big Powers with regard to this region

181 अफ्रीका-एशियाई एकता के पतन के कारण लिखिए ।
What led to the erosion of Afro-Asian solidarity ?

182 मध्यपूर्व की द्वितीय युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

Write a short essay on International Politics of the Middle East after World War II.

183 अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के क्षेत्र में मध्यपूर्व के तेल ने जो भूमिका अदा की है उसकी विवेचना कीजिये।

Discuss the part played by Middle East Oil in International Diplomacy.

184 हिन्द महासागर की क्या समस्या है? इस सम्बन्ध में बड़ी शक्तियों और तटवर्ती राष्ट्रों की भूमिका एवं प्रतिक्रियाओं की विवेचना कीजिये। (1976)

What is the problem of the Indian Ocean? Also discuss the role of Major Powers in its regard and also the reaction of the littoral States.

185 'लैटिन अमेरिका' से आप क्या समझते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'लैटिन अमेरिका' की भूमिका की व्याख्या कीजिये। (1976)

What do you understand by 'Latin America'? Discuss the role of 'Latin America' in International Politics.

186 "ऐसा प्रतीत होता है कि लेटिन अमेरिका के अधिकार में अनेक ऐसी बातें हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसका महत्त्व बढाने का साधन बन जाती हैं।" (पामर एव पर्किन्स) । विवेचना कीजिये।

"Latin America would seem to possess a number of conditions that tend to increase its importance in International Affairs." (Palmer and Perkins) Comments.

187 "कल के दो प्रतिबद्ध शत्रु जिन परिस्थितियों के वश में एक दूसरे के इतने नजदीक आ रहे हैं कि लगता है कि एक अपवित्र गठबन्धन होने ही वाला है ताकि अपनी अफ्रो-एशियाई नीतियों मे तालमेल बैठा सकें? विवेचना कीजिये। (1979)

"What factors have brought the two sworn enemies the United States of America and Communist China so close to each other that they appear to be on the verge of forgoing an Unholy Alliance in regard to their Afro Asian Policies?" Discuss.

188 विशेष रूप से पश्चिमी एशिया अथवा दक्षिणी एशिया के सन्दर्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के मुख्य लक्षणों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

Describe the main features of the U.S.A.'s foreign policy with special reference to West Asia and South Asia.

अध्याय-14 (भारत और उसके पड़ोसी)

189 भारत की विदेश-नीति के निर्धारक तत्त्व क्या हैं? 1947 के बाद से उसके विकास के प्रमुख तत्त्वों की विवेचना कीजिये।

What are the determinants of India's Foreign Policy? Discuss the salient points of its evolution since 1947.

190 भारत पाक संघर्ष के प्रमुख कारण स्पष्ट कीजिये। भारत और पाकिस्तान के संघर्ष ने भारतीय विदेश नीति को किस प्रकार प्रभावित किया है?
Explain the major factors responsible for Indo-Pak Conflict. How it has affected the Indian Foreign Policy?

191 भारत-चीन संघर्ष के कारणों का विश्लेषण कीजिये और 1959-62 के बीच भारत के प्रति चीन के रवैये मे जो परिवर्तन आया उसका निरूपण कीजिये।
Analyse the factors in the India-China Conflict and discuss the change in China's attitude towards India during 1959-62.

192 1947 से आज तक के भारत-पाक सम्बन्धों की विवेचना कीजिये। क्या 1971 के बाद इसमे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है?
Discuss the Indo-Pak Relations since 1947 Has there been a major change since 1971?

193 पड़ौसी देशों के प्रति भारत की विदेश नीति का परीक्षण कीजिये। वह किस सीमा तक उप-महाद्वीप मे शांति और सौहार्द का वातावरण बनाने मे सफल रही है?

Examine the Indian Foreign Policy towards neighbouring countries. How far has it succeeded in fostering peace and goodwill in the sub-continent?

194 भारत-चीन संघर्ष पर प्रकाश डालते हुए पुनर्मेल की सम्भावनाओं का विवेचन कीजिये।
Analyse the India-China Conflict and discuss the possibilities of reapproachment

195 1950 से भारत-चीन सम्बन्धों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। (1976-77)
Critically examine the Sino-Indian relations since 1950

अध्याय—15 (सोवियत संघ का उदय और उसकी विदेश नीति)

196 'सोवियत सघ के उत्कर्ष' पर समीक्षात्मक निबन्ध लिखिये।
Write a critical essay on 'The Rise of Soviet Union'.

197 स्टालिन की मृत्यु के बाद एशिया के प्रति सोवियत नीति के विकास की विवेचना कीजिये।
Comment on the development of Soviet Policy towards Asia since the death of Stalin.

198 हाल ही मे पूर्वी यूरोप मे सोवियत नीति को प्रभावित करने वाले कारकों का विवेचन कीजिये। सन् 1968 मे चेकोस्लोवाकिया मे सोवियत हस्तक्षेप की विवेचना कीजिये।
Examine the factors which have influenced the Soviet Policy in Eastern Europe in recent years How do you account for the Soviet Intervention in Czechoslovakia in 1968?

199 आधुनिक वर्षों में सोवियत रूस की विदेश नीति किन रूपों में परिवर्तित हुई या सुधरी है ? उत्तर की पुष्टि में ठोस उदाहरण दीजिये।
In what respect has the foreign policy of the U. S. S. R. modified in recent years? Give concrete instances to illustrate your answer.

200 "सोवियत संघ व चीन दोनों ही साम्यवादी शक्तियों के परराष्ट्र नीति विषयक चिन्तन में जापान एक अज्ञेय तत्त्व बना हुआ है।" विवेचना कीजिये। (1976)
"Japan remains of the two major communist factor in the foreign policy calculations of the two major communist powers, the Soviet Union and China." Discuss.

201 पश्चिम एशिया संबंधी सोवियत नीति के प्रमुख तत्त्व क्या-क्या हैं ? क्या यह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल रही है ? (1980)
What has been the salient features of Soviet Policy in West Asia. Has it failed to achieve its main objectives ?

अध्याय–16 (सं० रा० अमेरिका का उदय और उसकी विदेश नीति)

202 'संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्कर्ष' पर संक्षिप्त आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये।
Write a short critical essay on 'The Rise of the U. S. A.'

203 अमेरिकन विदेश नीति की वर्तमान प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिये। आपकी राय में एशिया के प्रति अमेरिकी नीतियों पर वियतनाम युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा है?
Analyse the modern tendencies of American Foreign Policy. How far the Vietnam War has affected American Policies towards Asia ?

204 "पहले एशिया' अथवा 'पहले यूरोप' के सन्दर्भ में युद्धोत्तर अमेरिकी विदेश नीति में क्या-क्या मुख्य परिवर्तन आए हैं"—विश्लेषण कीजिये।

205 एशिया के प्रति निक्सन की नीति में आपको क्या कोई परिवर्तन लक्षित हुआ ? अगर हाँ, तो बताइये वे परिवर्तन क्या थे ?
Did you notice any change in Nixon's Asian Policy ? If yes, please explain these changes.

206 दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमेरिकी नीति के उद्देश्य क्या हैं और वियतनाम के साथ अमेरिका के संश्लिष्ट होने के बाद इस नीति में क्या परिवर्तन हुए हैं ?
Examine the aims of the American Policy in South-East Asia. How has the American involvement in Vietnam affected these aims ?

207 अमेरिका और भारत के बीच सम्बन्धों का वर्णन कीजिये और बंगलादेश के सम्बन्ध में अपनाई गई अमेरिका की नीति की भी विवेचना कीजिये।
Describe the relations between U.S.A. and India and also discuss these relations with special references to the context of Bangladesh.

208 संयुक्त राज्य अमेरिका और जनवादी चीनी गणराज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की नूतन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिये।
Examine briefly the recent trends in relations between the United States of America and *the People's Republic* of China.

209 "द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्, अमेरिकी नीति-निर्माता साम्यवाद को मात्र सैनिक चुनौती के रूप में मानते थे। नाटो के निर्माण से उन्होंने यूरोप को निरंकुश रूप में ऐसे आक्रमण की सम्भावना के विरुद्ध विभाजित कर दिया था जिसका कोई नियोजन नहीं था।" (जार्ज एफ. केनन)
उपरोक्त कथन के प्रकाश में शीत युद्ध में निहित मान्यताओं की चर्चा कीजिये तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की विश्व राजनीति पर इसके प्रभाव की चर्चा कीजिये। (1977)

"After the Second World War, American policy makers could see communism only in terms of a military threat. In creating NATO they had drawn a line arbitrarily across Europe against an attack no one was planning." (George F Kennan).
Discuss the assumptions underlying the Cold War in the light of the above statement and bring out the main aspects of its impact on International Politics after the Second World War.

210 चीन-अमेरिकी समीपीकरण के विभिन्न पक्षों की विवेचना कीजिये तथा उनकी सीमायें भी समझाइये। (1980)

Discuss the various aspects of Sino-American reapproachment and its limitations ?

211 वियतनाम युद्ध के बाद चीन-अमेरिकी सम्बन्धों की परीक्षा कीजिये। (1979)
Examine Sino-American relations since the end of the Vietnam War.

212 अमेरिका के राष्ट्रपति कार्टर की निगरानी में मिस्र के राष्ट्रपति सादात व इजरायल के बेगिन के बीच जो समझौते हुए ताकि पश्चिम एशिया का सकट हल हो, उस पर अपने विचार प्रकट कीजिये। (1979)

Discuss the agreements reached between Begin of Israel and President Sadat of Egypt under the guidance of President Carter to resolve the West Asian crisis. What are your own views regarding these agreements?

213 "तीसरे विश्व के सैनिक शासन साम्राज्यवादी शक्तियों की सबसे अधिक विश्वस्त अनुचार सरकारें सिद्ध हुई हैं।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को पुनः शस्त्र देने से आने वाले उलझनों की विवेचना कीजिये।

"Military regimes in the Third World have proved to be most reliable client States of the Imperialist powers" In the light of this statement discuss the implications of re-arming of Pakistan by the U. S. A.

214 "युद्धोत्तर परिस्थितियाँ अमेरिका के साम्राज्यवादी दुनिया के सन्तरी (थाजी) बनने की महत्त्वाकांक्षा रखती हैं।" उक्त वक्तव्य के प्रकाश में युद्धोत्तर-काल के प्रथम दो दशकों में अमेरिका की भूमिका का मूल्यांकन कीजिये। (1978)

"Under the Post-war conditions the Imperialists of the U. S. A. aspire to the role of the world genedarme." Assess the role played by America in the light of the above statement during the early two decades of Post-war period.

अध्याय–18 (शीत युद्ध)

215 शीत-युद्ध की प्रकृति, प्रारम्भ तथा मुख्य अवस्थाओं की व्याख्या कीजिये।
Discuss the nature, origin and main phases of the Cold War.

216 शीत-युद्ध और निरपेक्षता के पारस्परिक सम्बन्ध की परीक्षा कीजिये।
Attempt an analysis of the pattern of relationship between the Cold War and Non-alignment.

217 तथाकथित 'शीत-युद्ध' के क्या कारण हैं? जिन मुख्य बातों को लेकर यह लड़ा जा रहा है और 1946 से जिन मुख्य घटनाओं के दर्शन इसने किए हैं उनका वर्णन कीजिये।
What are the causes of the so-called 'Cold War'? Indicate main fronts on which it is being fought and the main episodes it has witnessed since 1946.

218 "जिसे शीत युद्ध कहा जाता है उसने दोनों ही महती शक्तियों की राष्ट्रीय नीतियों के लक्ष्य की पूर्ति में मदद की।" क्या आप इससे सहमत हैं? अपने विचार प्रकट कीजिये। (1979)
"What is called the Cold War served the ends of National Policy of both the Super Powers" Do you agree? Present your views about it.

219 शीत युद्ध के उदय और विस्तार के कुछ मुख्य चरणों की विवेचना कीजिये। क्या शीत युद्ध समाप्त हो गया है? कारण सहित उत्तर दीजिये। (1980)
Examine the major phases in the rise and spread of the Cold War. Is the Cold War now over? Support your answer with arguments.

220 क्या आप इससे सहमत हैं कि "बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकताओं के कारण विश्व को एक स्थायी नये शीत युद्ध की ठंड में जमना सरल नहीं है।" (जार्जी अर्वातोव) तर्कसहित उत्तर दीजिये। (1981)
Do you agree with the view that "It is not easy to freeze the World in a permanent New Cold War because of changed International Realities" (Georgy Arbatov) Give reasons of your answers.

221 शीत-युद्ध के कारण बतलाइये। क्या यह अभी तक फैल रहा है? तृतीय विश्व के देशों पर शीत युद्ध के प्रभाव का संक्षेप में विश्लेषण कीजिये। (1981)
Account for the causes of Cold War. Is it still continuing? Briefly analyse the impact of Cold War on the countries of Third World.

222 शीत-युद्ध की शिथिलता से आपका क्या तात्पर्य है? यूरोप में शान्ति एवं सहयोग की अभिवृद्धि के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के प्रयासों की व्याख्या कीजिये। (1976)
What do you understand by 'Thaw in Cold War'? Discuss the efforts made by the U. S. A. and the Soviet Union to promote peace and co-operation in Europe.

223 द्वितीय महायुद्धोत्तर युद्ध में शीत-युद्ध के विकास को बताइये।
Trace the growth of the Cold War in the Post World War II Period.

224 "शीत-युद्ध से तनाव शैथिल्य तक....इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व की राजनीतिक स्थिति आगे बढ़ी है। शीत-युद्ध और तनाव शैथिल्य के बीच अन्तर बताइए और तनाव शैथिल्य के लिए जिम्मेदार कारणों की विवेचना कीजिये। (1976)

"From the Cold War to detente.... ." that is how the world political situation has moved since the Second World War. Distinguish between Cold War and detente and also account for the development of Detente.

अध्याय–18 (पश्चिमी यूरोप का पुनर्निर्माण और पुनर्संगठन)

225 जर्मनी के पुनर्एकीकरण की समस्या की विवेचना कीजिये।

Discuss the problem of re-unification of Germany.

226 पश्चिम यूरोप मे सहयोग के आन्दोलन की व्याख्या कीजिये और यह स्पष्ट कीजिए कि फ्रांस की नीति के कारण उसमे क्या कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई।

Discuss the movement of West-European Co-operation since 1945 and point out the major difficulties arising out of France.

227 द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोप का पुनर्वास किस प्रकार किया गया था? पुनर्वासित यूरोप 1939 के पूर्व यूरोप से किस प्रकार भिन्न है?

How was Europe rehabiliated after World War Second? How does the rehabiliated Europe differ from the pre-1939?

228 'पश्चिमी यूरोप के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

Write a short essay on 'Re-building and Re-organisation of Western Europe'.

229 यूरोपीय आर्थिक समुदाय के प्रमुख राजनीतिक उद्देश्य क्या हैं? पश्चिमी यूरोप के पुन. निर्माण तथा पुनः व्यवस्था मे यूरोपीय आर्थिक समुदाय कहाँ तक योगदान दे रहा है? (1976)

What are the main political objectives of the European Economic Community? How far is the European Economic Community contributing towards re-building and re-organisation of Western Europe?

230 द्वितीय महायुद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप के आर्थिक और सैनिक एकीकरण के लिए किए गए प्रयासो की व्याख्या कीजिये। (1976)

Discuss the attempts made to Unite West Europe economically and militarily after the Second World War.

231 "जैसे ही पश्चिमी यूरोप युद्धोत्तर सन्दर्भ मे विश्व राजनीति का केन्द्र नहीं रह गया, इसके अमेरिकी नेतृत्व व देखभाल मे पुनर्निर्माण और पुनर्गठन का कार्य अपेक्षाकृत सरल हो गया।" इस कथन की समीक्षा कीजिये। (1978)

"As Western Europe ceased to be the centre of World Politics in Post War setting, the task of its re-building and re-organisation under the over-all supervision and leadership of America became easier." Discuss this statement.

232 द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी यूरोप को एकताबद्ध करने के प्रयासों के राजनैतिक सैनिक तथा आर्थिक पक्षों की विवेचना कीजिये। (1977)
Discuss the politico-military and economic aspects of the efforts to achieve West European Unity after the Second World War.

233 "एक पुनर्गठित पश्चिमी यूरोप शान्ति और प्रगति का कारण बनने के अलावा और कुछ भी कहा जा सकता है।" विवेचना कीजिये। (1980)
"A re-organised Western Europe is proving anything but a factor of peace and progress." Comment.

234 यह कैसे हुआ कि जब पश्चिमी यूरोप का नेतृत्व अपने-अपने देशों की राजनीतिक-सैनिक एव आर्थिक शक्तियों मे, अपने प्रमुख परस्पर-विरोधों को दूर करते हुए, मेल-जोल बैठाने मे सफल रहा, तब एशिया मे किसी पैमाने पर भी ऐसी एकता घटित नहीं हो पाई ? (1981)
How while Western European Leadership succeeded in welding their countries politico-military and economic forces, ironing and their principal contradictions, the same thing could not take place in Asia on any scale ?

235 "यूरोपीय मामलों मे महाशक्तियों की भूमिका को यूरो-साम्यवादी आन्दोलन एक अच्छी दिशा देने की संभावना रखता है।" विवेचना कीजिये। (1979)
"Euro-Communist movement is likely to have some wholesome effect on the role of super-powers in European Affairs." Comment.

अध्याय–19 (आणविक शस्त्रों का प्रभाव)

236 परमाणु अस्त्रों के विस्तार से उत्पन्न खतरे की विवेचना कीजिये। इस खतरे का सामना करने के लिए क्या कदम उठाए गए हैं ? (1977)
Examine the danger posed by the spread of nuclear weapons. What steps have been taken to face this danger ? Discuss.

237 "परमाणु' विश्वसनीयता सर्वत्र विद्यमान है, यह सामरिक चिन्तन, कूटनीति, यहाँ तक कि भविष्य मे मानव (अथवा मनुष्य जाति) दशा के विषय मे अनुमान सम्बन्धी विचारो को प्रभावित करता है।"
(एडमण्ड स्टिलमैन एव विलियम पैफ)
उपरोक्त कथन के सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'परमाणु' की भूमिका की विवेचना कीजिये। (1976)
"The atomic credibility is all-pervasive it affects strategic thinking, diplomacy, and even speculative thought on the future condition of mankind."
(Edmund Stillman and William Pfaff).
In the light of the above statement discuss the role of 'Atom' in International Politics.

238 विश्व-राजनीति मे आणविक शस्त्रों की भूमिका बताइये। उसके और अधिक फैलाव को रोकने के विषय मे महा-शक्तियों के द्वारा उठाये गये कदमो का मूल्यांकन कीजिये। (1981)
Discuss the role of Nuclear Weapons in World Politics. Evaluate the steps taken by Super-powers to prevent their further proliferation.

अध्याय–20 (गुट-निरपेक्षता और बदलते प्रतिमान : भारत की गुट-निरपेक्षता)

239 'असलग्नता' से आप क्या समझते है ? असंलग्नता की नीति के आधार तथा मुख्य तत्त्वो को भारत की असलग्नता नीति के सन्दर्भ मे समझाइये।
What do you understand by the term 'Non-alignment'? Describe the basis and main text of Non-alignment with special reference to India's Non-alignment Policy.

240 असंलग्नता की नीति के प्रमुख सिद्धान्तो कीप रीक्षा कीजिये। वर्तमान मे वे कहाँ तक उपयुक्त है ? भारत के अनुभव के प्रकाश मे विस्तार से विवेचना कीजिये।
Critically examine the main postulates of the policy of Non-alignment. To what extent are they relevant now ? Discuss in detail by drawing up India's experience.

241 असलग्नता की नीति के विचार तथा प्रयोग में वर्तमान प्रवृत्तियो की विवेचना कीजिये।
Examine the present trends in the concept and practice of Non-alignment.

242 गुट-निरपेक्षता के बदलते हुए स्वरूप की विवेचना कीजिये। रूस तथा अमेरिका के सुधरते हुए सम्बन्धो के सन्दर्भ मे यह नीति कहाँ तक ठीक है ? (1978,1980)
Discuss the changing pattern of the policy of Non-alignment. How far is this policy relevant in the content of Detente between USA and USSR.

243 गुट-निरपेक्षता की धारणा का परीक्षण एव व्याख्या कीजिये। किस देश की विदेश-नीति को गुट-निरपेक्ष मानने के लिए कौन-से मानदण्ड हैं ? वर्तमान विश्व में गुट-निरपेक्षता के कौन-कौन से प्रतिमान पाए जाते है ? (1981)
Explain and examine the concept of 'Non-alignment'. What are the criteria to determine a country's foreign policy as Non-aligned ? Are there different patterns of 'Non-alignment' available in the contemporary world ?

244 विश्व राजनीति पर गुटनिरपेक्ष (विलग्न) आन्दोलन के प्रभाव की विवेचना कीजिये और यह भी बताइये कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को निरूपित करने मे किस प्रकार प्रभावी शक्ति बनाया जा सकता है। (1981)
Discuss the impact of Non-aligned movement on World Politics. Also suggest ways and means to make it an effective force in shaping International Relations.

245 भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ मे गुट-निरपेक्षता के आधारभूत सिद्धान्तो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। (1980)
Critically examine the basic postulates of Non-alignment with special reference to the Foreign Policy of India.

246 "विलग्नता की नीति ही भारत की समूची परराष्ट्र नीति नही है। विलग्नता के क्षेत्र के बाहर ही परराष्ट्र मे हो रहे नये विकास पर नजर डाली जा सकती है।" नये विकासो की विवेचना कीजिये। (1979)

"Non-alignment is not the whole of India's Foreign Policy. It is there in arenas other than those belonging to Non-alignment that one has to look for new developments." Discuss.

247 भारतीय विदेश नीति में निरन्तरता और परिवर्तन की व्याख्या कीजिये।
Explain the change and continuity in the Indian Foreign Policy (1981)

248 भारत द्वारा ग्रहण की गई असंलग्नता (गुट-निरपेक्षता) की नीति से आप क्या समझते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ मे असलग्नता की नीति की उपयुक्तता (औचित्य) का परीक्षण करिये। (1976)
What do you understand by the policy of Non-alignment as adopted by India? Examine the validity of Non-alignment under the changing situation *in International Politics.*

249 "भारत की परराष्ट्र नीति के मामले में नेहरू जी के शब्द ही आखिरी शब्द रहेंगे। विचारों की जो दुनिया नेहरू अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गए, उसमें उनके उत्तराधिकारी कुछ भी 'नया' नहीं जोड़ पाए।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? अपने उत्तर के पक्ष मे कारण दीजिये।
"The last words on Foreign Policy of India shall remain those of Pandit Nehru. There is nothing New that his successors could claim to have contributed to that store-house of ideas left by Nehru." Do you agree? Give reasons in support of your answer.

250 नेहरू के बाद की भारत की परराष्ट्र नीति की विवेचना कीजिये। क्या नेहरू की परराष्ट्र नीति मे उनके उत्तराधिकारियो से कुछ भी नया जोड़ा जा सकता है ? (1978)
Discuss Post-Nehru India's Foreign Policy. Has anything new been added to Nehru's Foreign Policy by his successors?

251 भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के सन्दर्भ मे आप भारत-रूस सन्धि (अगस्त 1971) को किस प्रकार उचित ठहरायेंगे ? (1977)
How would you fit in the Indo-Soviet Treaty (August 1971) within the Indian Policy of Non-alignment?

अध्याय–21 (द्वि-ध्रुवीयता और बहुकेन्द्रवाद)

252 "द्वि-ध्रुवीयता और बहुकेन्द्रवाद' पर निबन्ध लिखिये। क्या आप इस बात से सहमत है कि वर्तमान प्रवृत्ति बहुकेन्द्रवाद की ओर है ?
Write an essay on 'Bipolarity and Polycentrism'. Do you agree with the view that the present trend is towards Polycentrism?

253 "यद्यपि विश्व बहुकेन्द्रीयवाद की ओर अग्रसर हो रहा है, ध्रुवीकरण व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का आग्रह अभी भी बना हुआ है।" उपरोक्त कथन का विस्तार कीजिये तथा वर्तमान मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वभाव का परीक्षण कीजिये। (1976)
"Though the world is moving towards Polycentrism the main features of bipolar system still persist." Elaborate the above statement and examine the nature of International Politics at present.'

254 "यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति धीरे-धीरे बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर हो रही है, किन्तु द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था (ध्रुवीकरण व्यवस्था) की मूल प्रवृत्तियाँ अभी भी बनी हुई हैं।" समझाइये। (1976)

"Though International Politics is gradually moving towards Polycentrism, the basic tendencies of the bi-polar system still persist." Discuss.

255 विश्व-राजनीति के द्वि-ध्रुवीयता के रूप में विकास का विवेचन कीजिये। इन दोनों में से विश्व-शान्ति के लिए कौन सी स्थिति अधिक अनुकूल है? (1981)

Bring out the evolution of World Politics from Bi-polarity to Multi-polarity? Which of ths two is more conductive to maintain World Peace?

अध्याय–22 (अमेरिका-रूस-चीन सम्बन्ध)

256 "समकालीन विश्व–राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता है दो भीमकाय दैत्यों (रूस और अमेरिका) के बीच का संघर्ष।" व्याख्या कीजिये और समझाइए कि क्या यह कथन अभी भी सही है? (1977)

"The conflict between two monolithic giants the U S A. and the U.S.S.R. is the dominant reality of the contemporary World Politics." Explain Does it still hold good?

257 शीत-युद्ध के शैथिल्य के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि क्या इसमें यह परिलक्षित होता है कि अमेरिका और रूस के हित मूलत. एक ही दिशा में उन्मुख है।

What are the primary reasons for the thaw in the Cold War and do you think it represents any basic convergence in U.S.-Soviet Interests.

258 "रूस तथा अमेरिका के सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति शान्तिमय प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति है।" टिप्पणी कीजिये।

"Present State of Russo-American relations is of peaceful competitions" Comment.

259 1945 से 1982 तक सोवियत संघ के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीति की विवेचना कीजिये।

Discuss the Foreign Policy of the U.S A towards the U.S S R. from 1945 to 1982.

260 अमेरिका की साम्यवादी चीन सम्बन्धी नीतियों में वर्तमान में पाए जाने वाले परिवर्तनों के क्या कारण है? समझाकर लिखिए।

What are the reasons for the change in the U.S.A. towards Communist China in recent years.

261 गत 10 वर्षों में चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य सम्बन्धों का विवेचन कीजिये।

Discuss the relations between China and the U.S A during the last ten years.

अध्याय–22 (अमेरिका-रूस-चीन-सम्बन्ध)

262 समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर चीन-सोवियत रूस विग्रह के प्रभाव की विवेचना कीजिए। (1980)
Discuss the impact of the Sino-Soviet rift on contemporary International Relations.

263 चीन और रूस के (अ) विचारधारा सम्बन्धी मतभेदों, तथा (ब) सीमा-विवाद के विषय मे दृष्टिकोणों का विश्लेषण कीजिये। चीन-रूस संघर्ष के लिए उत्तरदायी वास्तविक कारण कौन से है? (1976)
Analyse the view-points of China and the Soviet Union on their (a) indeological differences, and (b) border disputes. What are the real factors responsible for Sino-Soviet Confrontation?

264 "चीन-रूस संघर्ष के ऐतिहासिक महत्व का विस्तृत विवरण (या सत्यता बतलाना) आसान नहीं है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, न केवल स्वयं सोवियत गुट, के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया है।" (जैड० के० ब्रेजेजिन्स्की)
उपरोक्त कथन को दृष्टि में रखते हुए चीन-रूस संघर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव की विवेचना कीजिये।
"It is difficult to exaggerate the historical significance of the Sino-Soviet conflict It has influenced every fact of International life, not to speak of the Soviet Block itself" (Z. K. Brazezinski)
In the light of the above statement discuss the impact of the Sino-Soviet Conflict of International Politics.

265 चीन-रूस मतभेदों के मूल कारकों की विवेचना कीजिये।
Discuss the basic factors responsible for Sino-Soviet differences.

266 सोवियत संघ तथा चीन के आपसी विवाद के कारणों का उनके राष्ट्रीय हितों एवं सिद्धान्तों के सन्दर्भ में परीक्षण कीजिये। (1977)
Account for the Sino-Soviet Conflict with reference to the ideology and national interest of these powers

267 "माओ की मृत्यु के उपरान्त चीन की घटनाओं ने यह अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि चीन-सोवियत झगड़े का सम्बन्ध दोनों देशों के नेतृत्व के बीच व्यक्तियों का संघर्ष मात्र न था।" समीक्षा कीजिए। (1978)
"Post-Mao developments in China have now proved beyond any shadow of doubt that Sino-Soviet Conflicts had very little to do with personality conflicts between the two leaderships of Soviet Union and China" Comments.

अध्याय–23 (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रभाव)

268 1945 के उपरान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा कार्य-संचालन में होने वाले मुख्य परिवर्तनों का परीक्षण कीजिए।
Examine the main changes that have taken place in the organization and working at the United Nations since 1945.

269 सुरक्षा-परिषद के संगठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए। इसमे मतदान प्रणाली की विवेचना कीजिए। वीटो सयुक्त राष्ट्र के कार्यकरण को विरुद्ध रूप से कहाँ तक प्रभावित कर पाया है ?

Describe the composition and powers of the Security Council. Discuss the voting procedure. To what extent has the Veto adversely affected the working of the U. N.

270 "सुरक्षा-परिषद का वास्तविक निष्क्रियता के रूप मे पतन उसकी क्रियाओं के सख्यात्मक (मात्रात्मक) पतन तदनुसार महासभा की प्रक्रियाओं की वृद्धि से प्रमाणित (प्रदर्शित) होता है।" (हस जे० मार्गेन्थो)

उपरोक्त कथन का विस्तारपूर्वक परीक्षण कीजिए। (1976)

"The decline of the Security Council to virtual importance is demonstrated by the Quantitative Decline of its activities and the corresponding increase of those of the General Assembly." (Hans J. Morgenthau)

Elaborate and examine the above statement.

271 विश्व समस्याओं को हल करने के साधन के रूप मे सयुक्त राष्ट्र का मूल्यांकन कीजिए।

Fvaluate the United Nations as a means of solving world problems.

272 सयुक्त राष्ट्रसघ की राजनीतिक गतिविधियों मे उसके महासचिव की स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।

Assess the role of the Secretary-General in the political activities of the United Nations.

273 सयुक्त राष्ट्र सगठन के सविधान मे निषेधाधिकार सम्बन्धी प्रबन्ध के निर्माण, परिणाम तथा महत्त्व की चर्चा कीजिए।

Discuss the genesis, implications and significance of the 'Veto' provision of the U. N Charter.

274 सघर्षपूर्ण वर्तमान विश्व राजनीति के सन्दर्भ मे सयुक्त राष्ट्रसघ की उपयोगिता व उपयुक्तता पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (1978)

Write a short note on the relevance of the United Nations Organization in the present day Conflict-ridden World Politics

275 विश्वशान्ति और राष्ट्रों के बीच आर्थिक-सामाजिक समता को प्रोत्साहित करने मे सयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका पर प्रकाश डालिए। (1976)

Bring out the role of the United Nations in promoting World Peace and Socio-economic equality among Nations.

276 सयुक्त राष्ट्रसघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे संघर्षरत हितों के बीच सामजस्य स्थापित करने मे भूमिका की व्याख्या कीजिए। (1977)

Discuss the role of International Organizations like the U.N.O in harmonising conflicting interests in International Politics.

277 यूरोप अथवा मध्य-पूर्व के देशों मे संयुक्त राष्ट्र शान्ति, व्यवस्था एव न्याय बनाए रखने में कहा तक समर्थ हुआ है ? उनकी कुछ समस्याओं को क्यों अनसुलझे रूप मे छोड़ दिया गया है ? (1981)

How far has the United Nations been able to uphold peace, order and justice in European or Middle-East countries? Why have some of their problems been left unsettled?

278 संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान में सशोधन में निहित विभिन्न मुद्दों का विवेचन कीजिए। *(1980)*

Discuss the various issues involved in the revision of U N. Charter.

279 "सयुक्त राष्ट्रसघ के ढाँचे में तात्विक परिवर्तन हो चाहिए।" आपकी दृष्टि में कौन-कौन से सुधारों की तत्काल आवश्यकता है? (1979)

"The United Nations Organization needs basic restructuring now." What reforms you think it urgently needs?

280 विश्व-राजनीति के प्रचल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए। उनमें से सयुक्त राष्ट्र सघ किस प्रकार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है? (1981)

Evaluate the impact of operation of various International Organisations *of World Politics In what way has the United Nations Organization* become the most important of them?

281 सघर्षपूर्ण वर्तमान विश्व राजनीति के सन्दर्भ में सयुक्त राष्ट्र सघ की उपयोगिता या सगति का परीक्षण कीजिए। (1981)

Examine the relevance of the United Nations Organization in the present day conflict-ridden world Politics.

282 "कुर्त वाल्दीम के नेतृत्व में सयुक्त राष्ट्र सघ का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव पडता है।" अपने विचार प्रकट कीजिए। (1979)

"U N O under Kurt Waldheim wields more impact on International Politics now than it ever did". Present your own views on it.

283 अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सयुक्त राष्ट्र कहाँ तक सफल हुआ है? क्या आप इसके प्रसंविधान (चार्टर) में संशोधन के ऐसे सुझाव दे सकते हैं जिनमे यह अपने लक्ष्यो को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन बन सके?

How far has the United Nations succeeded in realizing its objectives? Can you suggest any amendments to its charter which would make it a better instrument achieving its aim

284 "एशिया के विद्रोह और विशेषताओं के झगड़ों के सामने अटलांटिक चार्टर, चार स्वतन्त्रताओं और संयुक्त राष्ट्र के प्रखर वायदे अधूरे रह गये।" विवेचना कीजिए। (1980)

"*The bright promises of the Atlantic charter, the four freedoms and the* United Nations were unfulfilled in the face of the quarrels of the victors and the revolt of Asia". Discuss.

अध्याय-24 (पश्चिमेशिया में समस्या-क्षेत्र और वियतनाम)

285 पश्चिमी एशिया में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the factors which have influenced International Politics in West Asia.

286 नासिर की मृत्यु के बाद पश्चिमी एशिया की राजनीति का वर्णन कीजिए। सादात की नीति का मूल्याकन कीजिए।
Describe the Politics of West Asia crisis after the death of Nasir and the Policy of Mr. Sadat.

287 अरब-इजरायल सघर्ष के स्रोत की व्याख्या कीजिये। अरब-इजरायल सह-अस्तित्व का क्या आधार हो सकता है ? (1976)
Discuss the sources of Arab-Israel Confrontation. What may be the basis of Arab-Israel Co-existence ?

288 अरब-इजरायल सघर्ष के मूल मे प्रमुख विवाद (समस्याएँ) क्या हैं ? इन विवादो का समाधान करने मे सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति कहां तक सफल रही है ? (1976)
What are the main issues at the root of the Arab-Israel Confrontation ? How far has the U. S. Foreign Policy been successful in solving these issues ?

289 इजरायल ने कैसे और क्यो युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति का माध्यम बनाया है ? 1967 तथा 1973 के अरब-इजरायली युद्धो के सन्दर्भ मे विश्लेषण कीजिए। (1977)
How and why has Israel made war as an instrument of National Policy ? Discuss with reference to the Arab-Israel wars of 1967 and 1973.

290 क्या आप यह मानते हैं कि पश्चिम एशिया मे अपनी-अपनी परराष्ट्र नीति के लक्ष्यो की प्राप्ति मे अमेरिकी नेतृत्व सोवियत नेतृत्व से बाजी मार ले गया है ? यदि यही हुआ, तो कैसे ? (1978)
Would you say that in West Asia, the Americans have scored over Soviet Leadership in attaining their Foreign Policy objectives ? If so, how ?

291 क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत है कि पश्चिमी एशिया मे रूस की विदेश नीति का अन्त हो गया है ? अपने उत्तर के पक्ष मे कारण तथा उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। (1977)
Do you agree with the view that the Soviet Policy in West Asia has *collapsed ? Give reasons and illustrations in support of your answer.*

292 चीन-वियतनाम सघर्ष अथवा मार्च 1979 के मिस्र-इजरायली समझौते की प्रकृति तथा परिणामो की विवेचना कीजिए। (1979)
Discuss the nature and consequences of the recent Sino-Vietnamese conflict or Egyptian-Israeli accords of March 1979.

293 वियतनाम की समस्या समझाइए। उसे सुलझाने में यू० एन० ओ० कैसे और क्यों प्रभावहीन रहा है ? (1981)
Discuss Vietnam Problem. How and why was U. N. O. ineffective in dealing with it ?

294 वियतनाम युद्ध की समाप्ति का दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की विदेश नीतियो पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी विवेचना कीजिये।
Discuss the impact of termination of war in Vietnam on the Foreign Policies of the South-East Asia Countries.

295 "संयुक्त वियतनाम सैनिक ही नहीं, राजनीतिक तौर पर भी दक्षिण-पूर्वी एशिया की सबसे बड़ी शक्ति है।" इस कथन के सन्दर्भ में ऐसी शक्ति के भारत के पड़ोस में स्थित होने से उसकी परराष्ट्र नीति के लिए क्या-क्या प्रश्न उठते हैं, उन्हें स्पष्ट कीजिए। (1978)
"United Vietnam is politically no less than militarily, the most powerful State in South-East-Asia." In the light of this statement, bring out the implication of the presence of such a neighbouring power for India's Foreign Policy.

296 वियतनामी जनता की विजय और उनके देश के एकीकरण होने के बाद विशेष रूप से, दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमेरिका और चीन की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1976)
Critically examine the role of the U. S. A. and China in South-East-Asia particularly after the Victory of Vietnamese people and unification of their country.

297 अमेरिकी-वियतनामी सशस्त्र संघर्ष की परिसमाप्ति ने सामान्यतः विश्व-राजनीति पर, और विशेषतः दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति पर क्या असर डाला है? (1978)
How the resolution of American-Vietnamese armed conflict has affected the shape of World politics in general and S.-E. Asian Politics in particular?

298 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर वियतनाम युद्ध के प्रभाव की परीक्षा कीजिए।
Examine the impact of Vietnam War on International Politics. (1978)

299 विवेचना कीजिए कि अफगानिस्तान की अभी हाल ही की घटनाओं ने पश्चिम एशिया की राजनीति को किस प्रकार और अधिक उलझा दिया है। (1981)
Discuss how the recent development in Afghanistan have further complicated the West Asian Politics.

300 "अफगानिस्तान सोवियत वियतनाम नहीं है।" (एरिक्सन) टिप्पणी कीजिए। (1981)
"Afghanistan is not Soviet Vietnam." (Erickson) Comments.

अध्याय-25 (पूर्वी यूरोप और हिन्दमहासागर)

301 सोवियत संघ ने अपने पड़ौसी साम्यवादी देशों के साथ जिस ढंग के सबंधों का तानाबाना बुना है, उसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए। (1979)
Discuss the salient features of pattern of relationship that the Soviet Union has forged with its Communist neighbouring states.

302 हिन्द महासागर को परमाणु आयुद्ध मुक्त क्षेत्र बनाने के पक्ष या विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए। (1978)
Argue out the case for or against making Indian ocean a Nuclear Free Zone.

303 हिन्द महासागर को 'परमाणु शस्त्र विरहित क्षेत्र' बनाने में क्या-क्या अड़चनें आ रही हैं ? इस सम्बन्ध में भारत की नीति की व्याख्या कीजिए। (1980)
What are the impediments in turning Indian Ocean into a 'Nuclear Free Zone.' *Discuss India's position in this regard*

अध्याय–26 (अन्य पहलू और नवीन घटनाचक्र)

304 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के किन्हीं पाँच नवीन घटनाचक्रों का उल्लेख कीजिए।
Describe any five new events of International Politics.

305 नवीनतम राष्ट्रकुल सम्मेलन पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
Write a detailed note on the latest Conference of the Commonwealth of Nations.

अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न एवं टिप्पणियाँ

306 "साम्यवादी चीन आज की दुनिया की सबसे बड़ी और सर्वाधिक शक्तिशाली विलग्न शक्ति है।" क्या आप इससे सहमत हैं ? अपने उत्तर के पक्ष में दलीलें दीजिये। (*1979*)
"Communist China is the present-day world's biggest and most powerful non-aligned country." Do you agree ? Give reasons in support of your position

307 "भारत के पड़ोसियों के सम्बन्ध में चीन की परराष्ट्र नीति शान्तिपूर्ण-सह-अस्तित्व पर आधारित नहीं मालूम देती है।" विवेचना कीजिए। (1980)
"The Chinese Foreign Policy regarding India's neighbour is not a policy of peaceful co-existence " Comment.

308 अक्सर कहा जाता है कि अमेरिका, सोवियत रूस तथा चीन के बीच एक त्रिकोणीय सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि आपकी राय में इस प्रकार का सम्बन्ध एशिया के लिए फायदेमन्द क्यों है?
It is often said that there exists a triangular relationship between U.S.A , U.S S R. and China. How do you analyse this relationship and do you think this type of relationship is useful for Asia ?

309 बड़ी शक्ति और दैत्याकार शक्ति में क्या अन्तर है ? क्या विश्व-राजनीति के क्षेत्र में अमेरिका और सोवियत संघ के स्वरूप और भूमिका में कोई तात्विक अन्तर रहा है ? (1978)
How is a 'Super Power' different from 'Major Power' and are there any fundamental differences between the character and role of the two Super Powers, the U S A. and the U S S.R. in World Politics ?

310 "आधुनिक काल की दो भीमकाय शक्तियों के मध्य संघर्ष ही आधुनिक विश्व-राजनीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है।" इस कथन के प्रकाश में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य पारस्परिक तनाव के कारणों की विवेचना कीजिए। इस तनाव को कैसे कम किया जा सकता है ?

"The conflict between the two monolithic giants of the Modern World is the dominant reality of the contemporary World-Politics." Discuss the main causes of the friction between United States of America and Union of Soviet Socialist Republic in the light of the above statement. How can this friction be made up?

311 संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य देता (तनाव-शैथिल्य अथवा समझौता एवं सहयोग) के आधार की विवेचना कीजिए। इन दोनों महाशक्तियों के मध्य व्यापक समझौते के मार्ग मे कौन से कारक बाधक है?

Discuss the basis of 'detente' between United States and the Soviet Union. What are the factors preventing wider understanding between these two Super Powers?

312 क्या रूस-अमेरिका के वर्तमान सम्बन्धों की स्थिति को 'शान्तिमय प्रतिस्पर्धा' कहना उचित है? अपने उत्तर के पक्ष मे तर्क दीजिये। (1978)

Is it proper to say that the present state of Russo-American relations is that of 'Peaceful Competition'? Give arguments in support of your answer.

313 "विश्व राजनीति मे जो दोनो महाशक्तियो-अमेरिका व सोवियत संघ को जोड़ता है, वह सब तात्विक रूप से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है जो उन्हे विभाजित करता है।" अपनी विवेचना प्रस्तुत कीजिए। (1978)

"What unites the two Super Powers—the U.S.A. and the U.S.S.R. in World Politics is basically more important than what divides them." Give your comments on this statement.

314 "साम्यवादी शक्तियों के बीच अन्तर्विरोधो की प्रकृति उस तरह की नहीं है जैसे पश्चिमी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच अन्तर्विरोध है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए तथा अपने उत्तर का उदाहरणों से स्पष्टीकरण कीजिए।

"The nature of conflicts between the Communist Power is most similar to those between the Western Capitalist-Imperialist Powers." Discuss the statement and illustrate your answer with examples. (1978)

315 चीन और भारत के बीच सम्बन्धो को सामान्यीकरण और ओजपूर्ण बनाने की दिशा मे ले जाने मे कौन-सी शक्तियाँ और तत्व बाधक हैं? उन्हे कैसे दूर किया जा सकता है? (1978)

What are the forces and factors that come in the way of normalisation and warming up of Sino-Indian Relations? How can that be removed?

316 "तृतीय संसार के सैनिक शासन साम्राज्यवादी शक्तियों की सबसे अधिक विश्वस्त अनुचर सरकारें साबित हुई है।" क्या तृतीय संसार के सभी सैनिक शासनों पर यह बात अच्छी तरह लागू होती है? (1978)

"Military regimes in the Third World have proved to be most reliable client states of the Imperialist Powers." It is correct characterisation of all such regimes in the Third World?

317 नई विश्व आर्थिक व्यवस्था की माँग की विवेचना कीजिए। पिछले कुछ वर्षों मे इस दिशा में क्या प्रयास किए गए हैं ? (1978)
Discuss the demand of a new world economic order. What attempts have been made in this direction during the last few years ?

318 "अब किसी तीसरी महती शक्ति के उदय के लिए कतई कोई जगह नही रह गई है।" विवेचना कीजिए। (1979)
"There is absolutely no room for the emergence of any more Super Power now." Discuss.

319 "दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के काल मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकास, अमेरिका व रूस का महानतम् शक्तियो (Super Powers) के रूप में विश्व मंच पर उभरना है।" इस कथन को ध्यान मे रखते हुए विश्व-राजनीति मे इनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिकाओ की विवेचना कीजिए। (1981)
"The most important development in the Post Second World War period is the emergence of the two Super-Powers, the U.S.A. and U.S.S.R. on the World scene." In the light of this statement discuss their different roles in World Politics.

320 नई आर्थिक विश्व-व्यवस्था के निर्माण के लिए हाल ही मे किए गए प्रयासो का विवेचन कीजिए। ये प्रयास क्यो असफल रहे है ? (1980)
Discuss the various efforts that have recently been made to achieve a new economic world order. Why have these efforts failed ?

321 कम्पूचिया के सबध मे चीन-वियतनामी विवाद की विवेचना कीजिए। भारत की नीति इसके सबध मे क्या रही है ? (1980)
Discuss the Vietnam-China dispute over Kampuchean problem What has been India's position in this regard ?

322 अफ्रो-एशियाई क्रान्ति विषयक प्रश्नो पर चीन-सोवियत विवाद की विवेचना कीजिए। (1980)
Discuss the Sino-Soviet disputes as it relates to Afro-Asian problems of revolution.

323 क्या आप जनरल जिया उल हक के पाकिस्तान को एक विलग्न देश मानते हैं और इस रूप मे वह भारतीय उप-महाद्वीप मे शान्ति का एक सम्भावित आधार बनकर उभर रहा है ? अपने विचार प्रकट कीजिए। (1980)
Do you consider Pakistan Gen Zia-ul-Haq a non-aligned country today and as such, a potential factor of peace in the sub-continent. Give your views.

324 "विश्व राजनीति मे पूर्व-पश्चिम संघर्ष का स्थान धीरे-धीरे उत्तर-दक्षिण संघर्ष लेता जा रहा है।" क्या आप सहमत है ? अपने उत्तर के पक्ष मे दलीलें तथा उदाहरण दीजिये। (1979)
"East-West conflict is being steadily replaced by North-South conflict in World Politics." Do you agree ? Give reasons and illustrations in support of your answer.

325 अफगानिस्तान अथवा फिलिस्तीन समस्या पर यू० एस० ए०, यू० एस० एस० आर० तथा भारत के विदेश सम्बन्धी दृष्टिकोणों को बताइए। वे किस सीमा तक साथ-साथ चलने के लिए तैयार हैं? (1981)
Account for the Foreign Policy preceptions of U. S. A., U. S. S. R. and India over Afghanistan of Palestine Problem. To what extent do they appear to go together?

326 "आज अनेकों तनाव-क्षेत्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्याएँ नव-उपनिवेशवाद के कारण हैं।" क्या आप सहमत हैं? अपने उत्तर के पक्ष में दलीलें तथा उदाहरण दीजिए। (1979)
"Large number of tension areas and problems of contemporary International Relations are due to neo-colonialism." Do you agree? Give reasons and illustrations in support of your answer.

327 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त नोट लिखिए :— (1979)
Write short notes on any two of the following—

(अ) चीन-वियतनाम संघर्ष
(Sino-Vietnam conflict)

(ब) ईरान में हाल की घटनायें
(Recent events in Iran)

(स) निक्सन सिद्धान्त
(Nixon doctrine)

328 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त नोट लिखिए— (1979)
Write short notes on any two of the following—

(अ) निक्सन सिद्धान्त
(Nixon Doctrine)

(ब) अणु शक्ति प्रसार निरोध सन्धि
(Nuclear Non-Proliferation Treaty)

(स) साल्ट (SALT)

329 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:— (1980)
Write notes explaining briefly on any two of the following—

(i) रूस-चीन संघर्ष
(The Sino-Soviet conflict)

(ii) पेलेस्टाइन की समस्या
(The Palestian Problem)

(iii) पश्चिम यूरोपीय एकीकरण
(Western European Integration)

330 निम्नांकित में से किन्हीं दो पर आलोचनात्मक लघु-निबन्ध लिखिए.— (1980)
Write critical notes on any two of the following—

(अ) लैटिन अमरीका की समस्यायें
(Problems in Latin America)

(ब) बहु-केन्द्रवाद ग्रौर 'देता' (तनाव-शैथिल्य)
(Poly-centrism and 'Detenta')

(स) भारत-चीन संघर्ष
(Sino-Indian conflict)

(द) सयुक्त राष्ट्र ग्रौर विकासशील जगत्
(U. N. and the Developing World)

331 निम्नलिखित मे से किन्ही दो पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए– (1980)
Write short notes on any two of the following—

(ग्र) ईरान मे ग्रमेरिकी वंधको की समस्या
(The Problem of American Hostages in Iran)

(ब) पश्चिमी यूरोपीय राजनीति पर यूरो-साम्यवादी ग्रान्दोलन का ग्रसर
(Impact of Euro-Communism on Western European Politics.)

(स) ग्रोपेक राजनीति
(OPEC Politics)

332 निम्नलिखित कथनों मे से किसी एक का ग्रालोचनात्मक परीक्षण कीजिए:—
Critically examine any one of the following statements— (1981)

(ग्र) "यथार्थवादी सिद्धान्त उन सभी तत्वो की उपेक्षा करता है जो साध्यो (Purposes) को प्रभावित या परिभाषित करते हैं।" (स्टेनले हाफमैन)
"The 'realist' theory neglects all the factors that influence or define purposes." (Stanley Hoffman)

(ब) "चूँकि मानव मस्तिष्क (मन) मे ही युद्धो का जन्म होता है ग्रतएव मानव मस्तिष्क मे ही शान्ति की रक्षा-व्यवस्था निर्मित की जानी चाहिए।"
(ग्रचिबाल्ड मैकलीश)
"Since it is in the minds of men that wars begins, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed "
(Archibald Macleish)

(स) "ग्रन्य समाधानों की तुलना मे सामूहिक सुरक्षा तथा शान्तिमय समभौते ही सामान्यतः शान्ति स्थापित करने के ग्रधिक ग्राशापूर्ण तरीके माने जाते हैं।" (पामर एवं पर्किन्स)
"Collective security and peaceful settlement of international disputes have been commonly regarded as the most promising of all the approaches to peace." (Palmer and Perkins).

333 निम्नलिखित मे से किन्ही दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:— (1981)
Write short notes on any two of the following—

(ग्र) नामीबिया
(Namibia)

(ब) चीन-भारत सघर्ष
(Sino-Indian Conflict)

(स) इस्लामिक अणु बम
(Islamic Atom Bomb)

(द) सुरक्षा-परिषद् की प्रतिनिधित्वता
(Representativeness of Security Council)

334 निम्नांकित में से किन्ही दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए— (1981)
Write short notes on any two of the following—

(i) ईराक-ईरान संघर्ष
(Iraq-Iran Confrontation)

(ii) हिन्द महासागर और बड़ी शक्तियाँ
(Indian Ocean and Major Powers)

(iii) न्यूक्लियर हथियारों का प्रभाव
(Impact of Nuclear Weapons)

(iv) चीन-सोवियत संघर्ष
(Sino-Soviet Conflict)

335 निम्नलिखित में से किन्ही दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए— (1981)
Write short notes on any two of the following—

(अ) एस० ए० एल० टी० (SALT)

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्य की धारणा
(Concept of State in International Politics)

(स) यू० एस० ए० की आकाश-शटल
(Space Shuttle of U. S. A.)

(द) उत्तर-दक्षिण वार्तालाप
(North-South Dialogue.)



ग्रन्थ-कोश
(BOOK-BANK)

1. *Allen Henry C.* : Great Britain and the U S
2. *Acheson, Dean G* : The Premises of American Policy.
3. *Almond Gabriel A* : The American People and Foreign Policy.
4. *Acheson, Dean* : Morality, Moralism and Diplomacy.
5. *Adler, M.J.* : How to think about War and Peace ?
6. *Andrassy, J.* : 'Uniting for Peace', American Journal of International Law.
7. *Ascher, Charles S.* : Programme-making in UNESCO; 1946-61.
8. *Black and Thompson* : Foreign Policies in a Changing World.
9. *Bozeman, Adda B* : India's Foreign Policy in Today's World Politics.
10. *Bains, J S* : India's International Disputes.
11. *Benno, Wasserman* : The Cultural and Psychological Approach to the Study of International Relations.
12. *Burns, Arthurd, Carleton, William G* . Ideology of Balance of Power.
13. *Buehring, Edward H* . Woodrow Wilson and the Balance of Power.
    : 'From Balance to Deterrence', World Politics.
14. *Brierly, J L.* : The Law of Nations.
15. *Barra Clough, Geoffrey* : 'History, Morals and Politics' International Affairs, XXXIV.
16. *Besterman Theodore* : UNESCO : Peace in the Minds of Men
17. *Chakravarti, P. C.* : India-China Relations.
18. *Cohen* : The Political Process and Foreign Policy.
19. *Colby C.C.* : Geographic Aspects of International Relations
20. *Cobden Richard* : Political Writings.
21. *Corbett, P E.* : Law and Society in the Relation of States.
22. *Coplin, William D.* : Introduction to International Politics.
23. *Corbett, Percy E* : Law and Diplomacy.
24. *Combon, Jules M.* : The Diplomatist.
25. *Chase Eugene P.* : The United Nations in Action.
26. *Cheever, Daniel S & Haviland, H. Field, Jr* : Organizing for Peace : International Organisation in World Affairs.
27. *Coral Bell* : Negotiation from Strength.
28. *Dr. H.V.P.* : Chinese Foreign Policy, 1958-62.
29. *Dallin Alexander* : Soviet Conduct in World Affairs
30. *Denisch, Karl W.* : The Nerves of Government.
31. *Dickinson, Edwin D.* : Law and Peace.
32. *Dunn, F.S.* : War and Minds of Men.

33. *D.L.B. Hamlin* : Diplomacy in Evolution.
34. 'Diplomacy in Transition,' Journal of International Affairs.
35. *Eneny, Brooks* : Mainsprings of World Politics
36. *Eneny, Brooks* : The Strategy of Raw Materials
37. *Eagleton, Clyde* : Analysis of the Problem of War.
38. *Eagleton, Clyde end Swift, Richard N* : Annual Review of United Nations' Affairs.
39. *Eichelberger Clark* : UN-The First Ten Years.
40 *E.A.J. Johnson* : The Dimensions of Diplomacy.
41. *Fox, William T R* : Theoretical Aspects of International Relations.
42. *Fenwick, Charles G.* : International Law, Appleton Century Crafts.
43 *Fox, William, T.R.* : National Interest and Moral Principles in Foreign Policy.
: The Reconciliation of the Desirable and the Possible.
44 *Faster, J W.* : The Practice of Diplomacy.
45. *Feller, A.H.* : United Nations and the World Community.
46 *Finer, Herman* : The United Nations' Economic and Social Council.
47. *Fred Charles Ikle* : How Nations Negotiate ?
48 Govt. of India : White Paper on India-China Relations.
49. *Gross Feliks* : Foreign Policy Analysis.
50. *Gulick, Edward V* : The Balance of Power.
51 *Gulick, Leland M* : 'Korea : Collective Measures against Aggression,' International Conciliation No. 494.
52 *Goodrich, Leland M , and Simon, Anne P.* : The United Nations and the Maintenance of International Peace and Security.
53. *Green, James Frederick* : The United Nations and Human Rights.
54. *Herman Kahn and Irwin Manne* : Game Theory, Washington
55 *Hoffman, Stanley* : Contemporary Theory in International Relations.
56. *Herz, John P.* : Political Realism and Political Idealism
57. *Haus, Ernest B* : The Balance of Power : Prescription Concept, or Propaganda World Politics.
58 *Haus, Ernest B* : Type of Collective Security : An Examination of Collective Concepts
59 *Hogan, Willard N.* : International Conflict and Collective Security : The Principle of Concern in International Organisation.
60 *Haviland, H Field Jr* : The Political Role of the General Assembly
61. *Holcombe, A N* : Human Rights in the Modern World
62. *Hamilton Fish Armstrong* : Neutrality : Varying Tunes.
63 *Ivo D. Duchaeck* : Nations and Men : International Politics Today.
64 *Jacobson, H K* : America's Foreign Policy.
65 *Johnson, Howard C , Jr and Gerhart Niemeyer* : Collective Security : The Validity of an Ideal International Organisation VIII.
66 *Jessup, Philip C.* : International Security.

67 *Jimenez De Arechage, Eduardo Jr* : Voting and the Handling of Disputes in the Security Council.
68. *James L. McCamy* : The Conduct of the New Diplomacy.
69. *Kerman, George* : Soviet Foreign Policy under Lenin and Stalin.
70. *Karunakaran, K P.* : India in World Affairs, 1947-50.
71 *Karunakaran, K P* : India in World Affairs, 1950-53.
72 *Kundra, T C* : Indian Foreign Policy, 1947-54.
73 *Kissinger, Henry A.* : The American Foreign Policy.
74. *Kaplan, Mortan A* : System and Process in International Politics
75. *Keeton George W and Schwarzenberger* . Making International Law Work.
76 *Kelsen, Hans* : The Law of the United Nations.
77 *Kelsen, Hans* : Principles of International Law.
78 *Lanterpacht, H.* : International Law and Human Rights.
79. *Leonard L , Larry* : International Organisation.
80. *Lie, Trygve* : In the Cause of Peace.
81. *Lester B. Pearson* : Diplomacy in World Politics.
82. *Lester B. Pearson* : Diplomacy in the Nuclear Age.
83. *Laurence W Martin* : Neutralism and Non-Alignment.
84. *Miller, J D B* : The Commonwealth in the World.
85. *Macridis, Roy C.* : Foreign Policy in World Politics.
86. *Macridis* . Readings in Foreign Policies.
87. *Morgenthau, Hans J.* . The Purpose of American Politics.
88. *Manning, C A.W.* : International Relations, Paris UNESCO.
89. *Miller, James G.* : Toward a General Theory for the Behavioural Sciences.
90 *McClelland, Charles A.* : Theory and the International System.
91. *Morgenthau, Hans J.* : In Defence of the National Interest.
92. *Morgenthau, Hans J.* : Scientific Man Vs. Politics.
93. *Maurice, A.* : World Politics.
94. *Morgenthau, Hans J* : Politics Among Nations.
95. *Mackinder, Sir Halford J.* : 'The Geographical Pivot' Geographical Journal, XXIII.
96. *Merriam, Charles* : 'Political Power' in a Study of Power History.
97. *Morgenthau, Hans J.* : National Interest and Moral Principles in Foreign Policy : The Primary of the National Interest.
98. *Martin, Andrew* : Collective Security.
99 *Mitrany, David* : The Problem of International Sanction.
100. *Maclaurin, John* : The United Nations and Power Politics.
101. *Mitrany, David* : A Working Peace System : An Argument for the Functional Development of *International Organisation.*
102. *Mortimer, Molly* : Trusteeship in Practice.
103. *M A. Fitzsimons and Stephen D. Kertesz* : Diplomacy in a Changing World.
104 *Nehru, Jawaharlal* : India's Foreign Policy.
105. *Nagle, William J.* : Morality and Modern Warfare.
106. *Nicolson, Harold* : Diplomacy.

107. *Organski, A.F.K.* : World Politics.
108. *Oppenheim, Felix E.* : Dimensions of Freedom.
109. *Osgood, Robert E.* : Ideals and Self-Interest in America's Foreign Relations.
110. *Oppenheim, L.* : International Law.
111. *Palmer and Perkins* : International Relations.
112. *Panikkar, K M.* : Principles and Practice of Diplomacy
113. *Percy, E. Corbett* : Law and Diplomacy.
114. *Peter Worsley* : The Third World.
115. *Padelford, Norman J and Lincoln, George A.* : International Politics : Foundations of International Relations.
116. *Plischke, Elmer* : International Relations, Basic Documents
117. *Quincy Wright* : *A Study of War.*
118. *Robinston, A Z.* : The Foreign Policy of the Soviet-Union.
119. *Rostow, W W.* : The United States in the World Arena
120. *Rajan, M S.* : India in World Affairs.
121. *Rosenbaum, Naom* : Readings in the International Political System
122. *Russell, Bertrand* · Power, A New Social Analysis.
123. *Roosevelt, Eleanor, and De Witt, W.A* U.N.—Today and Tomorrow
124. *Reinsch P* · World Politics.
125. *Snyder, Richard C., H W Bruck and Burton Sapin* : Foreign Policy Decision Making. An Approach to the Study of International Politics
126. *Sprout, Harold and Margaret* · *Foundations of National Power.*
127. *Stanley Eugene* Raw Materials in Peace and War.
128. *Schwarzenberger, George* : *Manual of International Law.*
129. *Smith, H.A.* : The Crisis in the Law of Nations
130 *Steven Rosen and Walter Jones* : The Logic of International Relations.
131. *Savord, Ruth Compiler* : American Agencies Interested in International Affairs
132 *Schleicher, Charles* Introduction to International Relation
133. *Schuman, Frederick L* International Politics : The Western State System in Mid-Century.
134 *Schwarzenberger, George* : Power Politics : A Study of International *Society*
135. *Sharp, W. and Kirk, Grayson* · Contemporary International Politics
136. *Simonds, Frank H. and Emeny Brooks* . The Great Powers in World Politics.
137. *Steiner, H. Arthur* : Principles and Problems of International Relations
138 *Strausz-Hupe, Robert and Possony, Stefan* : *International Relations In the Age of* the Conflict between Democracy and Dictatorship.
139. *Thompson, Kenneth, W* . The Study of International Politics
140 *Thompson, Kenneth W* ; Christian Ethics and Dilemmas of Foreign Policy
141. *Trivers Haward* : Morality and Foreign Affairs.
142 *Thompson, Kenneth W* : "Collective Security Re-examined" American Political Science Review.
143 *Tew, Brian* : International Monetary Co-operation
144. United Nations' Publications . Yearbook of the United Nations.

145. UNESCO : International Reports of Social Documentation Centres.

146. Virginia Quarterly Review XXXIII

147. *Vannever Bush* : Modern Arms and Freedom.

148. *Vandenbosch, Army and Hogan Willard N* : The United Nations Background Organisation, Function, Activities.

149. *Werner Devis* : Modern China's Foreign Policy.

150. *Wolfers, Arnold* : Discord and Collaboration.

151. *Wolfers, Arnold and Martin Laurence, W* : The Anglo-American Tradition in Foreign Affairs.

152. *Wright Quincy* : Contemporary International Law: A Balance Sheet.

153. *Wolfers Arnold* : "Statesmanship and Moral Choice." World Politics

154. *Weldon, T.D.* : States and Morals: A Study in Political Conflicts.

155. *Wolfers, Arnold* : "Collective Security and the War in Korea", The Yale Review XLIII.

156. *Webster, Sir Charles* : The Art and Practice of Diplomacy.

157. *Watts, V. Orval* : The United Nations: Planned Tyranny.

158. *White, Lyman C.* : International Non-Government Organisations: Their Purposes, Methods and Accomplishments

159. *Wightman, David* : Economic Co-operation in Europe.

160. *Wilcox, Francis O. and Marcy, Carl M* : Proposals for Changes in the United Nations.

161. *Walsh E.A.* : The History and Nature of International Relations.

Periodicals, Journals & Dailies

1. Current History.
2. Foreign Affairs.
3. Asian Survey.
4. Link.
5. Dinman
6. Journal of Asian Studie
7. Journal of Politics
8. Pacific Affairs
9. World Politics.
10. International Affairs.
11. Review of Politics
12. International Studies.
13. India Quarterly.
14. Hindustan Times.
15. Navbharat.
16. Hindustan.
17. Span.

